

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj.)

Students can retain library books only for two weeks at the most.

BORROWER'S No	DUE DATE	SIGNATURE

प्रागचात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास

(प्लेटो से मार्क्स)

History of Western Political Thought

(From Plato to Marx)

आभार

हिन्दी-भाषा के इसी सुखविपूर्व और सैन्धु पुस्तकों को भी, प्रेसों के माहौल में, जेबेखा की दृष्टि से देखा जा रहा है और बहुत तर कि कई पुस्तकालयों से एक प्रति का भी भिजवाना देवी और है। ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में भी प्रस्तुत पुस्तक में अपना नाम और स्वागत किया है, यह सभी हिन्दी-प्रेमियों के लिए असाह्यर्हक है।

इस पुस्तक के सबसे सरकरल में आज भी कब छारल किया है उसमें हमें सर्वथी म्याममूनि डॉ. नानेन्द्रसिंहजी, श्री डी. एन. अतुर्वी, डॉ ए. चवसबी, डॉ. चार के चवसबी, डॉ. पी. एन. मल्लिकान, श्री ए. बी. माल, डॉ के पी राय, डॉ पी एस. मुहुरान, डॉ. पी. पी. चर्मा, डॉ. हरद्वार राय, डॉ चार एन बिबेरी, डॉ चार सी. प्रसाद, डॉ. सुभाष कावच, डॉ. बी. चार. पुरोहित, डॉ एम डी सिन्हा, डॉ. एन पी सिन्हा, डॉ. बीरकेसर प्रसाद सिंह, डॉ पी एन. श्रीवास्तव, डॉ एम एम. पुरी, डॉ. ए. डी. पन्त, डॉ जे एन जेन्स, डॉ रघुवीरसिंह, डॉ डी. एन. पाठक, डॉ चार बी श्रीवास्तव, डॉ एन. चार. देवराज, डॉ लक्ष्मणसिंह, डॉ पी एन सेठ, डॉ हरि मोहन जैन, डॉ चार एन चर्मा, डॉ चार भी दुवे, डॉ एन. डी. दाकुर, डॉ एस एस लोती, डॉ एन सी सिन्हाजी, डॉ. चार एस. गीतम, डॉ एन एम भट, डॉ एन एन श्रीवास्तव, डॉ बी सी शाह, डॉ पी एस लोती, डॉ रणवीर चर्मा, डॉ मुरलीधर भटत, डॉ डी पी. सिंह डॉ. चार्ड एन. सिन्हाजी, डॉ. श्री पी. गोपाल लक्ष्मण विद्यापीठ के प्राध्यापक एवं लक्ष्मण सहयोग प्रदाता और विशेष रूप से प्रान्त हुआ है, हम उनके लक्ष्मण से आभारी हैं।

प्रकाशक

पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास

(प्लेटो से मार्क्स)

(विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा स्वीकृत पाठ्य-पुस्तक)

डॉ. प्रभुरत्न शर्मा

एच. ए. (राजनीति एवं इतिहास), पी एच. डी. (अमेरिका)

एच. पी. ए. (अमेरिका), एम्बी-एनएक डिग्री

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

संशोधन

प्रो. ए. पी. लाल

एलएचई इन्वेंसि

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

कॉलेज बुक डिप्टी

83, निपौलिया बाजार (सावित्री गेट के पास)

जयपुर-2 (राजस्थान)

TOPICS FOR STUDY

- 1 The Ancient view of Politics, the Philosophical idealism of Plato, the scientific realism of Aristotle, and the Roman Law and Stoics
- 2 The Christian Doctrine—St. Augustine, The Medieval Schools—Thomas Aquinas and his Scholasticism—Maccabae of Padua—The Conciliar Movement
- 3 Political Thought in the Modern Age—Renaissance and Reformation—Machiavelli, Bodin and Grotius, Age of Social Contract—Hobbes, Locke and Rousseau
- 4 Utilitarianism—Bentham, J. S. Mill, The Historical Empiricism—Baker and Hume.
- 5 Idealist Tradition—Hegel, Kant, Green, Bradley and Bosanquet, Karl Marx and Scientific Socialism.

NOTES

+ Reserved with the Publishers

by College Book Depot, 81, Tripoka Bazar, Jaipur-2

† S. L. Prasad, Jaipur.



प्राक्कथन

पश्चिम के राजनीतिक विचारकों ने आज की समस्या के सूखी और राजनीतिक व्यवस्थाओं को जन्म दिया है। इन महान् विचारों की दार्शनिक उपलब्धियाँ आज के बुद्धि-जगत् को सुरक्षित रखती हैं।

साध्यम की कहिनाई के कारण आज की युवा पीढ़ी इन मान-सम्भार का उपयोग करने में सक्षम की सहायता पा रही है। विश्वविद्यालयों के विद्यार्थी से यह अपेक्षा की जाती है कि वे विभागी होने के कारण संभवतः की एक समस्या का अपनी स्तरीय पाठ्य-पुस्तकों द्वारा हल करेंगे।

असुख पुस्तक हिन्दी माध्यम से इसी विधा में एक सम्पूर्ण प्रकाश है। लेखक का परिचय संभव रहा है। उनकी मौखी कृतक को अधोगम्य ज्यादा है। प्रकाश है डॉ. प्रभुलाल वर्मा का यह प्रकाश हिन्दी माध्यम के नए लेखकों की प्रेरणा दे सकेगा।

दुर्गादि

पञ्चमाल विद्यापीठाध्यक्ष

ए. बी. लाल

संशोधित संस्करण की भूमिका

‘भारतीय राजनीतिक विचारों का इतिहास’ (पीटी से मानस) अपने संशोधित नए संस्करण के आपके सामने प्रस्तुत है। यह संस्करण में दस पुस्तक का जो स्वागत हुआ है और इनसे लाभान्वित होने वाले शिव विद्यापित्री और निखरी ने हमें जो भी प्रतिक्रियाएँ और सुझाव दिए हैं, उन्हें ध्यान रखकर पुस्तक में कितने ही आवश्यक परिवर्तन एवं संशोधन किए गए हैं। कहना न होगा कि विचारों के इतिहास में नए विचार जो नहीं बदलते, किन्तु उन पर चर्चा रहते वाला विचार-मंच और व्याख्याएँ दुब और बाल के साथ-साथ नए रूप ग्रहण करती रहती हैं। इस संस्करण में हमारा यह उद्देश्य रहा है कि भारतीय विचारों को आज की समस्याओं पर सोचने और समझने के लिए दस प्राथमिक विचारधारा प्रदान की जाए। यह संस्करण में जो नई शोध सामग्री इस क्षेत्र में प्रकाशित हो चुकी है उसे भी ध्यान रखते हुए छात्रों-पढ़ने वालों से इन नए संस्करण में सम्बद्धता की जा रही है।

भारत के प्राथमिक विचारों और धर्मों की प्राथमिक महर्गाई की प्रतिकूल परिस्थितियों में जो हम अपने नए संस्करणों को इसी संवेदन से प्रकाशित कर रहे हैं, इसके लिए हमारे प्रकाशक-संस्थान विशेष धर्मों के साथ हैं।

प्रतिकूलता एवं निरन्तरता विचारों की दुनिया की एक महत्व विशेषता है। अतः भारतीय संस्करण के लिए आपके विचार एवं सुझाव सादर प्रार्थना हैं।

प्रभुदास शर्मा

दो शब्द

‘मोरो से मार्स’ पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास एक लम्बी बुद्धिवादी कहानी है, जिसकी दृष्टिकोणों में यूरोप की जनतान्त्रिक सम्प्रदाय विद्यमान एवं वृद्धित हुई है। मोरो और मार्स जैसे गम्भीर चिन्तक, अग्रगण्य, यौनक और सुन्दर जैसे चर्मवादी तथा मरिचकावादी, बोझी, बोझिल और हल्के जैसे नीति निर्देशक मार्सिनको और विचारकों ने पश्चिम के राजनीति-क्षेत्र में उन सभी तरफों का सन्निवेश किया है जो किसी भी दर्शन को पश्चिमीय, व्यावहारिक एवं व्यापक बनाते हैं। लॉक, कण्टे, ह्यूम, बर्क, केम्बल, मिल, कॉन्ट, हीगल, वीन, ब्रैंडन, बोवर्कि एवं पावर्ल यादि इस इतिहास के इतिवृत्त केवल साधक मात्र नहीं हैं बल्कि उनके विचारों की दृष्टिकोणता ही मानव विचारों के बौद्धिक विकास की यह साधना है जिसमें बहुधा पुनः अचरी समय परिवर्तितियों के साथ प्रतिविम्बित एवं प्रतिध्वनित होना मुहूर्त पड़ता है। पश्चिम के राजनीतिक विचारों का यह इतिहास बुद्धिवादी दर्शन की एक बौद्धिक तीर्थ-यात्रा है और पश्चिम की सभ्यता, संस्कृति, राजनीतिक संस्थाएँ एवं राष्ट्रीय चरित्र इन्हीं विचारों के परिश्रेय में जड़े और बर-बर कर चीते हैं।

अस्तुत एवम् पाश्चात्य राजनीतिक विचारों के इतिहास की विद्याविमो के द्विती की दृष्टि से संश्लेष में अस्तुत करने के लिए लोकार की गई है। अस्तुत मोरो के स्पष्ट रूप से के सभी कुछ बातें कहने का प्रयास किया गया है जिसका आधार लेकर एक गम्भीर विद्यावी अथवा अध्वयन करने काय बना सकता है। भावा, नीति एवं विवेचना की दृष्टि से भी सरलता, स्पष्टता और बोधसम्पत्ता की और विशेष रूप से लक्ष्य रक्षा गया है।

यहना है विद्यावी-अथवा इसे उपयोगी पार्श्व और इसके अनुशीलन से लाभान्वित हो सकेगा।

अभुवन मार्स

अनुक्रमणिका

1 राजनीतिक विज्ञान का स्वरूप और महत्व (Nature and Importance of Political Thought)	1
राजनीतिक विज्ञान की प्रमुख समझें	2
राजनीतिक परिस्थितियाँ और राजनीतिक विचारक	6
राजनीतिक विज्ञान के अध्ययन की उपयोगिता और महत्व	7
यूरोपीय एवं अयूरोपीय विचार	10
2 राजनीति का प्राचीन दृष्टिकोण : प्लेटो का दार्शनिक सार्वभौमवाद (The Ancient View of Politics : The Philosophical Idealism of Plato)		12
प्लेटो : जीवन-परिचय	14
प्लेटो के जन्म	16
प्लेटो की मैत्री तथा अध्ययन-पद्धति	17
प्लेटो पर गुरुसत्ता का प्रभाव	19
'रिपब्लिक' : स्वरूप एवं विषय-वस्तु	21
'रिपब्लिक' के स्यास-सिद्धान्त	26
'रिपब्लिक' के शिक्षा-सिद्धान्त	42
'रिपब्लिक' के शासनवाद का सिद्धान्त	55
'रिपब्लिक' के सादर्य-राज्य	73
प्राचीन राज्य का पतन और शासन प्रणालियों का बदलकर	85
कानून का निर्देश	87
'रिपब्लिक' के लोकतन्त्र की मान्यता	88
प्लेटो और आतीवाद	90
प्लेटो : 'स्टेट्समैन' तथा 'लॉज'	94
'स्टेट्समैन' के आदर्श शासक एवं कानून सम्बन्धी विचार	95
'स्टेट्समैन' के प्लेटो का राज्य-वर्गीकरण	101
'स्टेट्समैन' व 'रिपब्लिक' के राजनीतिक विचारों के अन्तर	103
'लॉज'	104
'लॉज' के प्रतिपादित मुख्य सिद्धान्त	107
'लॉज' का सुसमाप्त तथा देन	120
प्लेटो की रचनाओं के मुख्य तथा आधुनिक ज्ञान	121

3 अरस्तु का दार्शनिक दृष्टिकोण (The Scientific Realism of Aristotle)	125
‘फैलिडिफस’ : एक मनुष्य कृति	128
अरस्तु पर ‘नैतिक’ का अर्थ	131
अरस्तु के राज्य सम्बन्धी विचार	132
अरस्तु के शास-प्रथा सम्बन्धी विचार	143
अरस्तु के सम्पत्ति सम्बन्धी विचार	150
अरस्तु के परिवार सम्बन्धी विचार	154
अरस्तु द्वारा प्लेटो के साम्यवाद की स्वीकृति	155
अरस्तु के नागरिकता सम्बन्धी विचार	158
अरस्तु के कानून सम्बन्धी विचार	163
अरस्तु की न्याय सम्बन्धी धारणा	167
अरस्तु के शिक्षा सम्बन्धी विचार	170
अरस्तु एवं प्लेटो के शिक्षा सम्बन्धी विचारों की तुलना	177
संविधान का सर्व धीरे संविधानों का वर्गीकरण	...	178
सर्वोच्च संविधान	186
मादरी राज्य	190
अरस्तु के व्यक्ति सम्बन्धी विचार	196
अरस्तु और प्लेटो	204
अरस्तु के कृषि एवं शिल्पीय तरंग और उनका प्रभाव	208
अरस्तु का प्रभाव : अरस्तु राजनीति का जनक	211
4 रोमन कानून (Roman Law)	215
रोम का सांविधानिक विकास	216
रोमन राजनीतिक विचारों की विशेषताएँ	218
रोमन राजनीतिक विचार—रोमिनिपेन	220
विजयो का राजनीतिक दर्शन	224
सैनिक	232
रोमन कानून	235
रोमन प्रमुखता की धारणा	239
रोमन राजनीति का रोमन	241
5 स्टोइसिज्म (Stoicism)	...	243
प्राकृतिक विधि	...	243
सार्वभौम शास-प्रथा के सिद्धान्त	245
मानव-सम्पत्ति	246

6	रहीरूक दर्शन की आलोचना	—	246
	रहीरूक दर्शन का प्रभाव	248
	राजनीतिक विचार के क्षेत्र में बुद्धि की देन	248
6	ईसाई सिद्धान्त : सेंट ऑगस्टाइन एवं अन्य (The Christian Doctrine : St. Augustine and Others)	—	251
	ईसाई धर्म का सम्मुख और विकास	—	251
	ईसाइयत की विजय के परिणाम	252
	ईसाई धर्म का प्रारम्भिक राजनीतिक चिन्तन	256
	ईसाई आचार्यों का राजनीतिक दर्शन	260
	सन्त अम्ब्रोस	261
	सन्त ऑगस्टाइन	263
	सेनरी महान्	269
	बी हसबारी का सिद्धान्त	271
	ईसाइयत की देन	274
7	मध्यकालीन स्कूल : थॉमस एक्वीनास और उनका सिद्धान्त, मार्शलिनो ऑफ वेहुसा काहि (The Medieval School : Thomas Aquinas and his Schoolmen, Marcellino of Padua etc.)	—	276
	मध्यकालीन राजनीतिक चिन्तन की कुम्भभूमि	276
	स्कूल (अर्मेन) काहिमी के राजनीतिक विचार	277
	सामन्तवाद	279
	पीप की शक्ति का विकास	283
	पवित्र रोमन साम्राज्य	287
	राष्ट्रीयता की भावना का विकास	290
	सन्त बुन का अनुदान और उसकी विशेषताएँ	290
	धर्म और राज्य के सम्बन्ध सम्बन्ध का बुन	297
	14वीं सताब्दी के विवाद की विशेषताएँ	308
	धर्म तथा राज्य द्वारा संप्रो-संप्रो वस में अनुदान काहि	309
	मध्यकालीन के कुछ विचारक	311
	जीन ऑफ मैक्सिमरी	311
	सन्त एडमंड एक्वीनास	313
	एडिडिपस रोमिस	328
	इति : सारांश सामान्य	331
	जीन ऑफ वेरिस	334
	मार्शलिनो ऑफ वेहुसा	337
	विलियम ऑफ ओरुस	346

II	चरित्रहीन मान्योक्तन	349
	(The Characterless Idealism)	
	विद्वान्, मनुष्य के कारण एवं अर्थ	349
	चरित्रहीन	355
	मान्योक्तन की अवस्था	359
	मान्योक्तन का महत्त्व	360
	चरित्रहीन मान्योक्तन के प्रमुख विचारक (जोन माइन्डिफ, जॉन ह्यू, जॉन मॉरिस, रिचार्ड्स जॉन मूर)	362
9	दुर्गमजीवित्व	369
	(Pessimism Theology in the Modern Age - Introduction)	
	दुर्गमजीवित्व : अर्थ एवं परिभाषा	369
	दुर्गमजीवित्व की वृद्धि	370
	दुर्गमजीवित्व के कारण	371
	दुर्गमजीवित्व का कारण और प्रभाव : दार्शनिक का मत-अर्थ	375
	दुर्गमजीवित्व के अर्थ और परिभाषा के दुर्गमजीवित्व	377
	दुर्गमजीवित्व के सामान्य तथ्य	378
10	धर्म सुधारक : जर्मन	380
	(Religionists : German)	
	चरित्रहीन : धर्म-सुधार मान्योक्तन का महत्त्व	380
	सुधार मान्योक्तन के प्रमुख नेता और उनके राजनीतिक विचार	383
	(मॉरिस मूर, रिचार्ड्स, रिचार्ड्स, रिचार्ड्स, जॉन मॉरिस)	
	सुधार मान्योक्तन के विद्वान्-मताद और प्रभाव के बीच	397
	अर्थ सुधार मान्योक्तन की देन और अर्थ सुधार	399
11	सैरिवाकली	401
	(Sairivakali)	
	सैरिवाकली : जीवनी, मान्योक्तन-महानि एवं वृद्धि	401
	सैरिवाकली पुनर्-विचार के रूप में	405
	मान्योक्तन, मान्योक्तन सुधार	413
	सैरिवाकली के धर्म और सैरिवाकली मान्योक्तन विचार	417
	सैरिवाकली के राजन्य मान्योक्तन विचार	417
	सैरिवाकली और वृद्धि	427
	सैरिवाकली मान्योक्तन पुनर्-विचार, अर्थ देन और प्रभाव	429
12	जीन बोर्न एवं ह्यू की जीवित्व	434
	(Jean Bodin and Hugo Grotius)	
	जीन बोर्न, जीवनी, मान्योक्तन एवं वृद्धि	434
	जीन बोर्न के मान्योक्तन और सैरिवाकली मान्योक्तन विचार	437

	बीदा के अनुसन्धान सम्बन्धी विचार	440
	बीदा के मुख्यवर्षित राज्य सम्बन्धी भाव विचार	446
	बीदा और वैदिकवादी की आधुनिकता के समूह के रूप में तुलना	450
	हूनी प्रोविन्स	453
	प्रोविन्स के प्राकृतिक कानून सम्बन्धी विचार	455
	प्रोविन्स का धर्मशास्त्रीय कानून सम्बन्धी विचार	458
	प्रोविन्स के अनुसन्धान सम्बन्धी विचार	460
	प्रोविन्स की देव और उसके महत्व	463
13	सांसारिक अनुसन्धान का. पू. : टॉमस हॉब्स (Age of Social Contract : Thomas Hobbes)	464
	बीदा-वर्षित, हूनी एवं पद्धति	465
	हॉब्स का वैज्ञानिक प्रोविन्सवाद	466
	हॉब्स के मानव-व्यवहार सम्बन्धी विचार	473
	प्राकृतिक व्यवस्था के विषय में हॉब्स के विचार	475
	प्राकृतिक अधिकार और प्राकृतिक नियम	477
	आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति और बुद्धिमत्ता आत्म-रक्षा	481
	राज्य की उत्पत्ति तथा उसका स्वरूप	482
	अनुसन्धान	485
	नागरिक कानून पर हॉब्स के विचार	488
	राज्य तथा धर्म	490
	हॉब्स का व्यक्तिवाद	492
	हॉब्स के विचारों की आलोचना और महत्वपूर्ण	494
14	जॉन लॉक (John Locke)	500
	बीदा, हूनी एवं पद्धति	500
	मानव-व्यवहार, प्राकृतिक व्यवस्था एवं प्राकृतिक अधिकार	502
	लॉक की सामाजिक सन्धि	510
	सरकार के कार्य और उसकी सीमाएँ	515
	लॉक के कुछ भाव विचार	518
	लॉक की सार्वजनिकता	522
	लॉक का महत्व और प्रभाव	524
15	जॉन जैक्सन (John Jackson Rousseau)	528
	बीदा, हूनी एवं पद्धति	528
	मानव-व्यवहार तथा प्राकृतिक व्यवस्था पर जैक्सन के विचार	530
	लॉक की सामाजिक सन्धि सम्बन्धी आलोचना	534

	कसो की सामान्य दृष्टि सम्बन्धी चारुता	539
	कसो की सम्प्रभुता सम्बन्धी चारुता	550
	कसो के शासन सम्बन्धी विचार	552
	कसो के कुछ अन्य प्रमुख विचार	554
	कसो का सुनदीकरण एवं प्रभाव	558
16	ऐतिहासिक अनुभववादी - ह्यूम और बर्क	561
	(The Historical Empiricists : Hume and Burke)		
	डेविड ह्यूम की जीवनी और कृतिर्वा	561
	ह्यूम का अनुभववाद	562
	ह्यूम के राजनीतिक विचार	564
	प्राकृतिक विधि का सिद्धांत	567
	ह्यूम का प्रभाव	570
	एडमण्ड बर्क	571
	बर्क की समकालीन परिस्थितियाँ और उनका प्रभाव	572
	बर्क के राज्य प्रणाली सुझाव और सामाजिक दृष्टि		
	सम्बन्धी विचार	573
	सुविचार, लक्षणीय प्रतिस्थितिक और राजनीतिक दल	577
	प्रतिहार, सम्पत्ति, ज्ञानि आदि पर बर्क के विचार	580
	बर्क का सुनदीकरण एवं प्रभाव	582
17	उपयोगितावादी : जर्मी वेल्स	586
	(The Utilitarians : Jeremy Bentham)		
	उपयोगितावाद का विचार	586
	उपयोगितावाद के सिद्धान्त	587
	जर्मी वेल्स	590
	वेल्स का उपयोगितावाद एवं सुखवादी मानक प्रण	593
	वेल्स का राजदर्शन	598
	वेल्स के सिद्धान्तों की समीक्षा	612
	वेल्स की राजनीतिक विचारों की देव	616
18	जॉन स्टुअर्ट मिल	620
	(John Stuart Mill)		
	मिल के उपयोगितावादी विचार	625
	मिल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी चारुता	632
	मिल की राज्य सम्बन्धी चारुता	644
	मानव की सर्वोच्छ दृष्टि	647
	मिल की प्रतिनिध्यात्मक शासन-सम्बन्धी चारुता	647

जॉन स्टुअर्ट मिल एक असन्तुष्ट प्रजातन्त्रवादी के रूप में—

देवर के विचार 656

जॉन स्टुअर्ट मिल का राजनीतिक धर्म-संश्लेषण का सिद्धान्त 660

मिल का धर्मदान (देन) और स्थान 662

19 आदर्शवादी परम्परा : इडेडुवम कॉन्ट (Idealist Tradition : Idealism Kant) 666

आदर्शवाद का अधिकार और उसकी ऐतिहासिक परम्परा 666

आदर्शवाद का सिद्धान्त 668

जर्मन आदर्शवादी गॉटे 672

कॉन्ट के पूर्वजों के विचारधारा 675

कॉन्ट के दार्शनिक विचार 676

कॉन्ट के नैतिक दृष्टि तथा नैतिक स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार 680

कॉन्ट के राजनीतिक विचार 682

कॉन्ट के दर्शन की आलोचना और उसका पुनर्निर्माण 692

20 जॉर्ज विल्हेम फ्रेड्रिच हीगल 695

(George Wilhelm Friedrich Hegel) 695

जीवन-परिचय एवं रचनाएँ 695

हीगल की दृष्टान्तमय पद्धति 698

हीगल का व्यक्तिवाद तथा राज्य का सिद्धान्त 708

हीगल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा 726

हीगल के दर्शन की आलोचना 733

हीगल का प्रभाव एवं पुनर्निर्माण 739

21 थॉमस हिल ग्रीन 743

(Thomas Hill Green) 743

ऐतिहासिक दृष्टिकोण 743

ग्रीन (जीवित-परिचय एवं रचनाएँ) 745

ग्रीन के विचार-दर्शन के स्रोत 747

ग्रीन पर सामाजिक सिद्धान्त 750

ग्रीन का स्वतन्त्रता सम्बन्धी सिद्धान्त 754

ग्रीन की अधिकार सम्बन्धी धारणा 758

सांस्कृतिक कानून पर ग्रीन के विचार 764

साम्यता पर ग्रीन के विचार 765

प्रतियोग का अधिकार 768

'सामान्य दृष्टि' पर ग्रीन के विचार 771

राज्य के कार्यों पर ग्रीन के विचार 774

राज्य और समाज 778

	विश्वव्यापक एवं दुष्ट पर चीन के विचार	779
	दुष्ट पर चीन के विचार	782
	सम्पत्ति पर चीन के विचार	785
	चीन के दर्शन का मूलमान	788
22	ईदले एवं बीदाईके	796
	(Islamic and Buddhist)	
	जातिगत हर्षदं ईदले	796
	ईदले के राजनीतिक विचार	796
	ईदले के विचारों की आलोचना	798
	बनाई बीदाईके	800
	बीदाईके का दृष्टांत सिद्धान्त	801
	बीदाईके का सत्ता सिद्धान्त	803
	बीदाईके का राज्य सिद्धान्त	804
	राज्य एवं व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक कानों पर बीदाईके के विचार	807
	बीदाईके के राज्य सम्बन्धी विचार	809
	बीदाईके के दर्शन की आलोचना और मूलमान	810
	चीन और बीदाईके	813
23	कार्ल मार्क्स और वैज्ञानिक समाजवाद	815
	(Karl Marx and Scientific Socialism)	
	मार्क्स का वैज्ञानिक समाजवाद	822
	दृष्टान्तक भौतिकवाद	822
	दृष्टान्तक भौतिकवाद का मार्क्स का सार्वजनिक	828
	दृष्टान्तक भौतिकवाद की आलोचना	830
	इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या	833
	सर्व-व्यापक का सिद्धान्त	845
	मार्क्स का मूल्य एवं अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त	861
	मार्क्स का राज्य सिद्धान्त	866
	मार्क्स का मूलमान	870

प्रश्नपत्रिका

(University Questions)

राजनीतिक चिन्तन का स्वरूप और महत्व

(Nature and Importance of Political Thought)

मानव-सम्प्रदाय की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, आदि सभी संस्थाओं के स्वधर्मों की समझना, उनसे सम्बन्धित समस्याओं का मनन और समाधान करना एक गम्भीर बौद्धिक चुनौती है। मनुष्य आदिकाल से ही इस चुनौती को भेदते हुए धीरे बढ़ता रहा है। राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में, विषय की दूर सम्पत्ता के अपने संश्लेषण के ही राज्य और विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं के विभिन्न पहलुओं पर मूलभूत चिन्तन किया है। वर्तमान में भी यह क्रिया निरन्तर चल रही है। राज्य सम्बन्धी नीतिक प्रश्नों पर विचार-विमर्श एक भीमाकार करता ही राजनीतिक चिन्तन है और यह चिन्तन जتنا ही गूढ़ना है जितना स्वयं राज्य। बेनर के अनुसार—“राजनीतिक चिन्तन वह चिन्तन है जिसका सम्बन्ध राज्य, राज्य के आकार, राज्य के स्वभाव तथा राज्य के लक्ष्य से है। इसका मुख्य कार्य ‘समाज के मानव का नैतिक पर्यवेक्षण’ करना है। इसका उद्देश्य राज्य के प्रतिष्ठित, स्थिरता तथा निरन्तरता के लिए विवरण प्रस्तुत करना ही नहीं है, बल्कि राज्य क्या है और किसी को राजशाही का वातन क्यों करना चाहिए, राज्य का कार्य-क्षेत्र क्या है और कोई राजशाही का उल्लापन क्यों कर सकता है, तथा राज्य के बिना समूह मानव की प्रति क्या रह जाती है, आदि का उत्तर देने के लिए भी यह विद्वानों के प्रयत्नशील है।”¹

समुद्र, राज्य, समाज और मनुष्य के परस्परिक सम्बन्ध राजनीतिक चिन्तन के विवेक का है। वे सुदूर, अतीत अतीत से मानव-जीवन की प्रभावित करी रहे हैं। मनुष्य की प्रकृति और उसके कार्य, वेद विषय से उसका सम्बन्ध जिससे कि समूह जीवन का विवेचन अत्यन्त ही है और इन दोनों बातों की परस्पर विभाजितिकता के कारण होने वाली मनुष्य की अपनी सह-जातियों से सम्बन्ध की समस्या ही राजनीतिक चिन्तन का प्रमुख विषय है और इसके अन्तर्गत राज्य का स्वरूप, प्रयोग तथा उसके कार्यों का विवेचन—सभी समाविष्ट हैं।²

1 बेनर : राजनीति का अध्ययन (हिन्दी) पृ. 1

2 *Myrle Doyle : A History of Political Thought*, p. 13.

2. फासफाल राजनीतिक विचारों का इतिहास

राजनीतिक चिन्तन की विषय-वास्तवी का स्पष्ट साक्षात् मिलता है, लेकिन राज्य और उसके सरधानों तथा उनके विभिन्न बहुमुखी से सम्बन्धित प्रश्नों का कोई भी निश्चित व्यवसा सर्वसम्मत उत्तर प्राप्त नहीं होता क्योंकि राजनीतिक जीवन के इच्छित सामान्य जीवन के उद्देश्य से चलन नहीं है। "यह राजनीतिक चिन्तन तथा राजनीतिक विद्वान्त के प्रश्नोंतर, अन्त में, हमारे जीवन और अनुचित की धारणाओं के पर्यवेष्टि पर ही जोरि जाते हैं। राजनीतिक चिन्तन नैतिक दर्शन (Ethical Theory) की एक शाखा है। इसके नैतिक विद्वान्तों के विषय में सदा मतभेद रहा है और सम्भवतः सदा-सर्वदा रहेगा।" राजनीतिक चिन्तन इतना विस्तृत और गहन है कि कुछो से इस पर चिन्तन चला भी रहा है और इसका कोई छोर कवर नहीं जाता। विस्तार का साक्षात् प्राचीन, मध्यकालीन एवं सर्वाधिक विचारकों की रचनाओं में प्राप्त होता है और आधुनिक विचारकों की मान्यताएँ उसकी अपनी धार्मिक धारणाओं से प्रभावित है। इन कृतियों में तत्कालीन दुःख और उसकी प्रमुख समस्याएँ मुखरित हुई हैं।

राजनीतिक चिन्तन की प्रमुख समस्याएँ (Major Problems of Political Thought)

राजनीतिक समस्याओं पर विचार-विमर्श और सीमासा करना ही राजनीतिक चिन्तन है। इन समस्याओं पर विभिन्न युगों में और एक ही युग में विभिन्न विचारकों ने विभिन्न मन व्यक्त किए हैं। ये प्रमुख समस्याएँ निम्न-लिखित हैं -

(1) राज्य की उत्पत्ति की समस्या—राज्य की उत्पत्ति के विषय में इतिहास के कुछो की समझने पर हमें कोई निश्चित सूचना नहीं मिलती अतः अनुमान और धर्मवेष्टा का साध्य लेकर ही हम इस मार्ग पर चल सक रहे पाए हैं। राज्य की उत्पत्ति के विषय में धार्मिक युग के आरम्भ में दो प्रमुख विद्वान्तों—दैवी-उत्पत्ति सिद्धान्त और सांसारिक सृष्टि सिद्धान्त का विशेष प्रचलन था। प्रथम सिद्धान्त के अनुसार राज्य ईश्वरकृत है और द्वितीय सिद्धान्त के अनुसार अनुसृजित। 18वीं शताब्दी में दार्शनिक-सिद्धान्त पुरीय में निरस्त हो गयी राज्यसत्ता के नियन्त्रण के लिए बड़ा सहायक निष्प हुआ, किन्तु 19वीं शताब्दी में ऐतिहासिक ज्ञान में वृद्धि हुई। ऐतिहासिक अनुसंधान के प्रामोचनसाधन बढ़ने का निष्पत्त हुआ, और विरासत के सिद्धान्तों के प्रचार की वजह मिला। अन्ततः सृष्टि सिद्धान्त की वास्तविक और सामान्य समझ आने तथा एवं विरासतवादी सिद्धान्त की लोकप्रियता मिली। यह विरासतवादी सिद्धान्त ही वर्तमान में राज्य की उत्पत्ति का धार्मिक मान्य, उचित और सर्व-सम्मत सिद्धान्त है। मार्क्स के अनुसार, "राज्य नु ही ईश्वर की वृष्टि है, न किसी दैवी शक्ति का परिणाम, न किसी प्रस्ताव अथवा सृष्टि की वृष्टि है और न ही परिणत का विस्तार मात्र कहा जा सकता है। यह विचार और

छन्नति की एक भीषण सतत प्रक्रिया है। यह अनन्तमात्र नहीं बल्कि अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था से धीरे-धीरे निर्मित होकर इससे अपने वर्तमान स्वरूप की प्राप्ति किया है।" राज्य का प्राकृतिक गर्भ-मर्क, मानव समाज में व्यवस्था और व्यवस्था की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए हुआ सम्भव जाता है।

(2) राज्य के स्वरूप और उसके आदेश के वाज्य की सीमा की समस्या—
राज्य के स्वरूप के विषय में विभिन्न विचारकों के वर्तक का प्रभाव रहा है। उन्होंने विभिन्न युगों में और बहुतों तक कि एक ही युग में भी विभिन्न एवं परस्पर विरोधी विचार प्रकट किए हैं। प्लेटो के दूरदर्शी सीवियरों में राज्य की इतिम अवस्था की संज्ञा दी थी। उनके अनुसार मनुष्यों में राज्य की एक ऐसी सतह की प्रति के लिए कहाया है जिसे हम प्राकृतिक व्यवस्था के अनुकूल नहीं मान सकते। कुछ उदासीन एवं शक्तिशाली विचारकों ने जो राज्य की प्रकृति के ही निरूपण बताया है। वे कहते हैं कि अपनी शक्ति के अनुसार दूसरों को अपनी चलाया तथा उनके लिए शासन करना प्रकृति का धर्म है। राज्य स्वयं का निर्बल पर शासन सम्भव कहा देता है क्योंकि राज्य का धर्म है बहुमत की सेवा तथा सुरक्षा और बहुमत सर्व निर्वल व्यक्तिों का रहा है। शक्तिशाली सीवियरों का यह तर्क एक सार्वत्रिक सतहों पर राज्य पर कृपापात्र करने हुए संस्थाकारी राज्यों का समर्थन करता है और इसीलिए प्लेटो (Plato) के शक्ति-विद्वानों पर कपास प्रहार करते हुए राज्य की एक स्वाभाविक व्यवस्था माना है। प्लेटो और अरस्तू (Aristotle) का यह दृष्टि विचार था कि मनुष्य की सामाजिक प्रकृति के ही राज्य की उत्पत्ति हुई है। राज्य का विचार सर्वथा स्वाभाविक है और व्यक्ति राज्य में रहते हुए ही अपने विचार के सर्वोच्च विचार पर पहुँच सकता है। राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में अपना धर्म व्यक्त करते हुए अरस्तू ने कहा है—“राज्य का जन्म जीवन के लिए हुआ और जीवन को श्रेष्ठ व सम्पूर्ण बनाने के लिए मान्य तक सीमित है।”

राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में और भी अनेक विचारार्थ हैं। कुछ विचारकों के अनुसार राज्य धार्मिक दृष्टि होने के कारण सृज्य है, जो कुछ अन्य धार्मिकों के मत में यह एक ऐसा शीमरा-वन्त है जो धर्म और सम्पूर्ण धर्म के द्वारा वे बनते हुए धार्मिक रूप से निर्बल व्यक्तियों का संरक्षण करता है। समुदायतावाधियों के विचारानुसार राज्य मनुष्यों के सामाजिक सम्बन्धों का परिणाम है और राज्यका द्वारा अपने दायित्वों का वाज्य न होने पर वह सम्बन्धीक स्थिति हो जाता है, और ज्ञा राज्यता के आदेशों के अनुपालन के लिए बाध्य नहीं रहनी। इतिहास में ऐसी विचारक भी मिलते हैं जो राज्य की मनुष्य के नैसर्गिक अधिकारों जैसे—स्वातन्त्रता, समानता और सम्पत्ति को सीमित करने वाला धर्म सम्बन्धी हैं। बहुतों ने धर्म कुछ अन्य चिन्तक राज्य की एक अनावश्यक बात मानते हैं और इसीलिए इसके अनुमूलन पर बल देते हुए सामाजिकवाद का समर्थन करते हैं। सामाजिकवादियों : 1 यह मानता है कि केवल मात्र साम्यवादी समाज में ही मानव-जीवन का सर्वोत्तम विचार सम्भव है। इसके एकदम विपरीत उपरोक्तिकादी विचारक राज्य की

राजपारलमारी संस्था के रूप में स्वीकार करते हैं। वे अंगरेज के शासन पर 'राजसत्ता के मादेसों' का पालन आवश्यक बताते हैं। उसी मान्यता है कि राज्य अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख का व्यवस्थापक है और उसी सत्ता का प्रयोग करना द्वारा कर्तव्य है।

स्पष्ट है कि इन पारलमरिक विरोधी पारलमारी में से राज्य की मान करना एक ठोस कार्य है। राजनीतिक विद्वान का इतिहास इस विषय में प्रकट किन्तु यह मान विचारों एवं मत-मतान्तरों का विमर्शन ही प्रस्तुत कर सकता है।

(3) राज्य के कार्य की समस्या—राज्य के बारे में अधिकतर उल्टा रहने वाला एक अन्य मौलिक प्रश्न यह भी है कि राज्य का कार्य क्या है? राज्य की वर्तित की हुई और वह कार्य तक क्यों सीमित है? राज्य की कार्य-सीमा क्या है? कुछ दार्शनिक राज्य की मान्य की सर्वोच्च परमात्मिकी सर्वोत्कृष्ट मानवीय संस्था मानते हैं। तो इसके विपरीत अराजकतावादी राज्य की मान्य-विनाशक संस्था मानते हुए इसकी सीमातिथीय उपाधि चाहते हैं। वे राज्य की "मानव-व्यक्तिगत पर एक योग्य कार्य और उसके पर-स्वयं पर एक 'घर' घर" समझते हैं। इनका यह विश्वास है कि राज्य का निर्यात उसी अनुमति कर दिया आत्मा समाज के लिए वह उल्टा ही प्रेरक होगा। इन दो परस्पर विरोधी प्रश्नों के बीच कुछ ऐसे मध्यमार्थी भी हैं जो राज्य की बुरा समझते हुए भी उसके अस्तित्व की आवश्यक समझते हैं किन्तु वे लोग उसके कार्य-क्षेत्र को सीमित कर देना चाहते हैं। वे लोग जनतांत्रिक के रूप में राज्य की उपाधि चाहते हैं, किन्तु जनतांत्रिक के रूप में उसे आवश्यक मानते हैं। राजनीतिक विद्वान के इतिहास में हमें इस समस्या पर विद्वानों द्वारा प्रकट विचारों का ज्ञान मिलता है। राजनीतिक विद्वानों की मान भी यह एक प्रमुखतम समस्या बनी हुई है कि राज्य का लक्ष्य क्या है या क्या होना चाहिए?

(4) राज्य के शासन की समस्या—राजदरशन का प्रथम प्रश्न राज्य के शासन का है। प्राचीन ग्रीक विचारक राज्य के सीमित शासन और उसकी सीमित जनप्रतिष्ठा के रूप में थे। प्लेटो के 'राज' में अपने घायल मनुष्य-राज्य के निवासियों की संख्या 5040 निश्चित की थी। ग्रीक कुछ में छोटे-छोटे नगर-राज्य होते थे जिनमें शासनमय के शासन अधिकृत में और वर्तमान निर्वाचन-उत्पत्ती का प्रभाव था। नाथन हसीन्ग ग्रीक विचारकों के राज्यो की जनप्रतिष्ठा की कम विधिक करने का प्रयत्न किया। रोमन साम्राज्य की स्थापना के बाद छोटे राज्यों का स्थान विभाग साम्राज्य में ले लिया। मध्य युग के अन्त में 'राष्ट्रीय राज्यों का जन्म हुआ और बहुविधता की एक रास्ते के अशासन विचार के अनेक बुद्धिमान विचारक शासक-राज्य की स्थापना कर बात दे रहे हैं पर वह स्वयं कभी शासन होगा, हमने कहे हैं। विचार के राज्य अपनी सम्पूर्णता का स्वयं सम्प्रदाय नहीं करे।

(5) सर्वोच्च प्रमुखता सम्बन्धी समस्या—राजनीतिक विद्वान का एक महत्वपूर्ण प्रश्न सर्वोच्च प्रमुखता से भी सम्बन्धित है। सर्वोच्चतम यूरोप के निर्णय

राजसत्ता (Absolute Monarchy) का बीतना था, था: उस समय राजा की सर्वोच्च सम्पत्ति माना गया। मुई 14वीं कहा करता था—“राज्य क्या है? मैं ही तो राज्य हूँ (L'Etat C'est moi)।” उस समय राज्य की सम्पूर्ण प्रभुसत्ता को राजा में निहित समझा जाता था। कभी ने इस विचार पर कठोर प्रहार नहीं हुए सर्वजनवादिनी लोकप्रिय प्रभुसत्ता (Popular Sovereignty) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसने इस भाँति यह मान्यता प्रकट की कि प्रभुसत्ता राजा में नहीं अपितु राज्य की सम्पूर्ण जनता में निहित है। 19वीं शताब्दी में लिखित संविधानों के प्रचलन के फलस्वरूप राज्य के विभिन्न अंगों में शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त को अब कम भिन्न रूप विचारकों ने इस अर्थ पर चिन्तन आरम्भ किया कि राज्य के किस अंग में प्रभुसत्ता का निवास है। संसिस्ट, ने संविधान्य प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तो बहुजनवादियों (Pluralists) ने उस पर कठोरतम आपात करते हुए राज्य की प्रभुसत्ता के अस्तित्व की समीक्षा में कलहावा। जर्मनी में तो यहाँ तक कहा जाता कि “प्रभुत्व-अवस्था को खत्म देना राज्य विज्ञान के लिए सपनीय कर्म से उपरोक्षी होगा।” केब (Kraeber) ने भी जर्मनी के साथ सहमत होते हुए कहा है कि “राज्य प्रभुत्व का सिद्धान्त राजनीति शास्त्र से समाप्त कर दिया जाना चाहिए।”

(6) सरकार सम्बन्धी समस्या—सरकार सम्बन्धी प्रश्न भी राजनीतिक चिन्तन का विशेष केन्द्र रहा है और आज भी है। सरकार राज्य के कर्तव्यों की पूर्ति का मध्य है। यह बहु मूर्ति है जो राज्य की इच्छा को न्यायमूर्ति करती है। यह राज्य का क्रियात्मक कर्म है और उसकी आत्मा मानी जा सकती है। ये प्रश्न विचारकों के मन-मानस को सदैव से घेरते रहे हैं। सरकार का संरक्षण क्या होना चाहिए? सरकार के तीनों अंग कार्यपालिका, न्यायपालिका एवं व्यवस्थापिका में परस्पर कौन से सम्बन्ध बंधनीय हैं? सरकार की शक्ति का केन्द्रीकरण एक उपयुक्त विधि है अथवा उसका विकेंद्रीकरण किया जाना आवश्यक होना? ये सभी प्रश्न आज वृद्धि की अवस्था अधिक महत्वपूर्ण बन गए हैं।

(7) कानून के स्वत्व की समस्या—राज्य-व्यवस्था को संचालित करने के लिए कानून का निर्धारण किया जाता है। कानून राज्य की धर्म-भूति और उसके कार्य पालन हेतु एक अधिवास संरक्षण है। कानून के सम्बन्ध में उठने वाले विभिन्न प्रश्नों में विशेष में है कि कानून का स्वत्व क्या है? कानून बनाने का अधिकार किसे होना चाहिए? कानून शासक की इच्छा की अधिष्ठाता है या जनता की सामान्य इच्छा की? कानून का स्वतन्त्रता एवं व्यक्ति से क्या सम्बन्ध है? कानून को नागरिकों के अधिकारों एवं कर्तव्यों के अन्तर्ग में किस प्रकार दुरुपयोगित किया जाए?

आरतीय विचारकों ने कानून के मूल स्रोत धर्मशास्त्रों की व्यवस्था एवं रीति-रिवाजों को माना है। रोमन विचारक भी रीति-रिवाज को कानून का प्रधान स्रोत मानते थे। 13वीं शताब्दी में यहाँ एक नवीन विचार का आरम्भ हुआ कि कानून राजा द्वारा प्रजा के प्रतिनिधियों के साथ परामर्श करके बनाई गई व्यवस्था है।

वर्तमान काल की राजनीतिक व्यवस्थाएँ कानून की राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति मानती हैं जिसका निर्वाह सर्वसाधारण द्वारा निर्वाचित व्यवस्थापिका सभाओं द्वारा होना चाहिए और जिसमें सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार समानानुक्त समीपन होने की बुनियाद अवलम्ब है। स्पष्ट है कि यह विचार आधुनिक लोकतन्त्रात्मक विकास का फल है।

(8) नागरिकता के अधिकार एवं कर्तव्यों की समता—कानून से परिच्छिन्न रूप के सम्बन्धित विषय है 'नागरिकता के अधिकार एवं कर्तव्य,' नागरिक के प्रमुख अधिकार कोल-कोल से हैं ? नागरिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए समान क्या होने चाहिए ? यदि महत्वपूर्ण प्रश्न राजनीतिक विचारों की विशेष सामर्थ्य है।

(9) राज्य के विभिन्न प्रकारों की समता—राजनीतिक विचारों का एक अन्य प्रमुख प्रश्न राज्य के विभिन्न प्रकारों का है। प्लेटो और अरस्तु के समय से ही साम्राज्य विद्वान् राजतन्त्र, भोजतन्त्र आदि शासन के विविध प्रकारों की विवेचना करते रहे हैं। भारतीय जन्मों में भी विविध प्रकार की समता-प्रणालियों का उल्लेख मिलता है।

समय से, राजनीतिक विचारों की समताएँ बहुमुखी और समृद्धि हैं। एक प्रमुख समस्या के साथ अनेक प्रमुख उप-समस्याएँ और फिर उनमें भी उप-समस्याएँ जुड़ी हुई हैं। इनके अतिरिक्त समस्याओं पर पुनः-विचार के काम चिन्तन का स्वरूप बदलता रहा है। अध्ययन में यदि राज्य और चर्च के बीच प्रमुख का विवाद समझ या तो विद्वानों की सैताव्धि में राजतन्त्रीय और लोकतन्त्रीय विद्वानों के प्रतिपादन में समान रहि रही और जब राज्य का बदला हुआ कार्यक्षेत्र विचार महत्वपूर्ण बन गया है।

राजनीतिक परिस्थितियाँ और राजनीतिक विचारक (Political Conditions and Political Thinkers)

राजनीतिक विचारों के विचारों पर सामाजिक आवाजों एवं राजनीतिक परिस्थितियों तथा अनुभवों का बहुत प्रभाव पड़ता है। राजनीतिक विचारकों के देश की स्थिति और ही विचार नहीं विचार है बल्कि अपनी समाजकीय परिस्थितियों के निर्देशांश एवं अनुभव के आधार पर भी समीर विचार करने कुछ परिणाम निकाले हैं। वे परिणाम परिवर्तनीय परिस्थितियों के निरन्तर रूप में प्रभावित होते रहते हैं और साथ ही नवीन परिणामों को जन भी देते हैं। ऐवम् के लोकतन्त्र द्वारा सुलभता की विचारों का एक दिग्गज जाने की बदला में प्लेटो की बात सामाजिक आवाज पहुँचाना का। इसलिए अपने अपने एक 'रिपब्लिक' में सामाजिक लोकतन्त्र की बहु-आलोचना की और एक ऐसी आदर्श व्यवस्था प्रस्तुत की जिसमें सामाजिक एक सुनिश्चित एवं निश्चित रूप से प्रकटित आदर्शों का बुद्धीय बर्णन मिलाने बहु-अनुभवों के सम्यक् हैं। उनमें एक अधोस्थितिक रूप के प्रतीतिधियों द्वारा निम्न समिति का समग्रणीय कोष्ठ देता था। यदि अपने बहु-सब कुछ न देना हीना अपना अपना एक कुछ सामर्थ्यों पूर्व हुआ होता तो समग्रता सर्व-सर्व के

विवादास्पद विद्वान्त पर सम्भवतः यह नहीं पहुँच पाता। यतः यह कहना समझा युक्तिमत्त है कि राजनीति की खोजों और उसके विकास पर बाह्य जगत् की वही छाप पड़ती रही है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि भवति सामान्यतः राजनीतिक विचारों के विचार-मन्त्री सामकालीन सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के कारण सीमाबद्ध रहे हैं, किन्तु कुछ विचारकों ने इन सीमाओं को तोड़ने का भी प्रयत्न किया है। उन्होंने कुछ ऐसे विद्वान्तों एवं विचारों का प्रतिपादन किया है जिनका महत्व एवं प्रभाव सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक है। योंही के छाप एवं छद्मिता के विद्वान्त इसी श्रेणी में आते हैं।

राजनीतिक विद्वान्त सर्वत्र परिस्थितियों की उपज ही नहीं होते किन्तु वे नवीन राजनीतिक परिस्थितियों को भी जन्म देते हैं। हमने वेब की राजनीति की उद्धृति विना। हमने अपनी पुस्तक 'Social Contract' के सामाजिक संविदा-विद्वान्त के प्रतिपादन द्वारा योंही की राजनीति, के विरुद्ध राज्य व्यवस्थों की बाह्यो की जो धर्म की राजनीति में निहित हुई।

इस विचार-संविध का एक प्रमुख कारण परिस्थितियाँ ही हैं ही, किन्तु एक अन्य महत्व कारण सामाजिकता भी बहुत बड़ा कारण है। विचारों के वैयक्तिक रूप में विभिन्नता होना एक स्वाभाविकता है। परिस्थितियों व वातावरण को समझकर सही परिणाम निकालने की क्षमता भी व्यवस्था-व्यवस्था होती है। साम ही व्यक्तिगत जीवन एवं संसार भी एवं वे नहीं होते, यत वस्तु-वस्तु अन्तर में होते हुए भी विचारों में सामान्यता अन्तर की विद्यमानता एक बहुत अनिवार्यता है। परिणामस्वरूप एक ही वस्तु-वस्तु अन्तर-वस्तु-वस्तु में व्यवस्था-व्यवस्था एवं परस्पर विरोधी प्रतिक्रियाओं के कारण में उत्पन्न होती है।

उपरोक्त कारणों के अन्तर्गत राजनीतिक विज्ञान कभी किसी व्यक्ति के व्यक्तिगत उत्तर प्रस्तुत नहीं कर सकता। राजनीतिक विज्ञान अपने आप में सर्वत्र सामेल और समुच्च होता है। राज्य के समाधान अथवा विचारों वस्तु की नवीन परिस्थितियों में समुच्च एवं आन्त विद्वान्त हो सकते हैं। राज्य ही समाधानों के सामाजिक महत्व में भी अन्तर का जाता है। ऐसी अवस्था में यह विज्ञान स्वाभाविक है कि फिर राजनीतिक विज्ञान के अध्ययन की उपयोगिता बना है।

राजनीतिक विज्ञान के अध्ययन की उपयोगिता और महत्व (Utility and Significance of Political Thought)

राजनीतिक विज्ञान के अध्ययन की उपयोगिता पर विचार करते समय सर्वप्रथम ऐसे विचारक सामने आते हैं जो इसे एकदम निरर्थक, अनावश्यक और हानिकारक मानते हैं। इस अवस्था में कुछ प्रमुख तर्क उल्लेखनीय माने जाते हैं—

(1) "राजनीतिक विज्ञान समझाई को अर्थ की हुई नृनायी के समाधान बौद्ध है।"¹

—बैकन (Bacon)

1 "Like a virgin consecrated to God, it is barren."—Bacon, Quoted from Wapner, op. cit., p. 3.

(2) "वे देश सौभाग्यशाली हैं, जिनके पास कोई राजनीतिक दर्शन नहीं है।

राजतंत्रों का ही अस्तित्व जालि की कल्पना है या भावी जालि का स्रोत।"

—लेस्ली स्टीफेन (Leslie Stephen)

(3) "लोकों में राजनीतिक शिक्षा देने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो तो वह बुद्धिमत्त राज्य का एक निश्चित लक्षण है।" —बर्क (Berk)

(4) "राजनीतिक तत्त्व-विमर्श करने वाले दार्शनिक उन व्यक्तियों के समान हैं जो पहले तो पेंसों के तूल उखाड़े हैं और फिर यह सिद्धांत करते हैं कि उन्हें कुछ दिशाई नहीं देना।" —बर्कले (Berkley)

राजनीतिक विमर्श के अध्ययन के में सामाजिक व्यवस्था में समेत दुर्लभता होती है। इसका महत्त्व है कि वह दर्शन की एक विचारधारा और कार्यात्मक है। वह अनु-निर्धार की स्थापना करता है। इसके द्वारा व्यक्ति व्यवस्था के कोई अन्तिम और पूर्ण उत्तर नहीं दे पा सकता है। समाज की परिवर्तितता में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं और इस कारण इन बुद्धिमान राजनीतिक विचारों की उपयोगिता पड़ती रहती है। यतः कोई भी दर्शन हमारा नहीं मार्गदर्शक नहीं हो सकता। राजनीतिक विमर्श की इस प्रवृत्ति पर बर्कले ने इस शब्दों में व्यक्त किया है—“राजनीतिक विचार का प्रत्येक प्रोत्साहन वह अनुमान करता है कि उसके अतिरिक्त अन्य सभी प्रोत्साहन कुछ अर्थहीन बातों की सम-विषय तथ्य मानकर उनके आधार पर चल कर रहे हैं, उनके बुद्धिमान की समझा समझकर है—और उनके द्वारा इनके निकाले जाने वाले परिणाम निश्चित रूप से सत्य हैं।”

अप्रवृत्ति इसी में सत्य का पर्याप्त मात्र विद्यमान होते हुए भी वह महत्त्व सत्य के स्वरूपों को कि राजनीतिक विमर्श के अध्ययन की उपयोगिता और महत्त्व सामाजिक गुण में पड़ रहा है। यतः के तथ्यों की कल्पना में निम्नलिखित प्रवृत्ति में स्पष्ट किया जा सकता है—

(i) राजनीतिक विचार मानव-इतिहास पर महत्त्व प्रभाव डालते हैं। वे व्यक्ति को सामाजिक जालि में करने की प्रेरणा देते हैं। 18वीं शताब्दी भी फ्रांस राज्य-क्रान्ति और 20वीं शताब्दी की सोवियत जालि इसके पुनरुत्पादन हैं। इस प्रकार की जालि में मानव-समाज की भाँति बढ़ने वाली विषय है। इनके सामाजिक जीवन के समझना, समझना और अनुमान की भावनाओं की बन गया है।

(ii) राजनीतिक विमर्श का अध्ययन करते समय राज्य एवं सरकार पर विचार-निर्माण होता जाता है। राजनीति विमर्श द्वारा समाज सामाजिक कार्य निर्धारित होते हैं। समाज में अनुशासन और व्यवस्था बनाए रखने का सर्वोत्तम मध्यम सरकार है जो राज्य का एक अविभाज्य घटक है।

(iii) इस दर्शन के विमर्श में हमें मुलभूतनीय भौतिक जालि-रूप का ज्ञान होता है। व्यक्ति की राजनीतिक पदनामी और सामाजिकों के कारणों तथा परिणामों का ज्ञान समझा है और इन ज्ञान विचारों की जान पाते हैं जिनसे इन पदनामों की

प्रेरणा मिली थी। इन विचारों की समझें बिना इतिहास का वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता और यही ज्ञान की परतों की परतों की सही व्याख्या भी सम्भव नहीं बनती। इतिहास की पूर्ण रूप से देखें समस्त राजनीतिक विज्ञान के इतिहास की जाँचा करना एक घातविरोधी कार्य होता है।

(iv) राजनीतिक विज्ञान के अध्ययन द्वारा दैनिक व्यवहार में प्रयुक्त होने वाली राजनीतिक परिभाषाओं का ज्ञान मिलता है। साथ ही राजनीतिक शब्दों के सकारण स्वरूप का भी बोध होता है। हम लोकतन्त्र, साम्यवाद, राष्ट्रियता, संप्रभुता आदि शब्दों के सही अर्थों की ज्ञान करते हैं। हमें पता चलता है कि इन विभिन्न परिभाषाओं एवं व्यवहारशास्त्रों के पीछे कौन-कौनसी भावनाएँ रही हैं और इनमें कम, कौनसे एवं किन अर्थों में मिलने-जुलने हुए हैं और क्या वर्तमान ज्ञान में इनका क्या अर्थ दिया जा सकता है।

(v) राजनीतिक परिभाषाओं और शब्दों के सकारणस्वरूप की जानकारी का एक और भी बड़ा लाभ है। इनके द्वारा राजनीतिक क्षेत्र में हमारा ज्ञान परिष्कृत होता है। जनतन्त्र के युग में यह ज्ञान राजनीतिक चरित्रों के आत्मिक प्रचार से नागरिकों की रक्षा करता है।

(vi) राजतन्त्र के अध्ययन में हम प्राचीन राजनीतिक चार्मिकों की विचारधाराओं की जानकारी का प्रयास करते हैं। इनकी जानकारी करते हम अधिक विद्वान्, कुशल और दूरदर्शी न बन सकें, किन्तु हमें कोई सन्देह नहीं कि ये हमें अनेक समस्याओं से बचाने में सहायक व्यवस्था प्रदान होती हैं। राजनीतिक विज्ञान के इतिहास का यह ज्ञान हमें सचेत करता रहता है और वह हम के समस्याओं की देखने, समझने एवं सुलझने की प्रेरणा देता है।

(vii) इस दर्शन के अध्ययन के वर्तमान इतिहास की परतों की परतों के समझने में भी सहायक सहायता मिलती है। वर्तमान समस्याएँ राष्ट्रीय की परिस्थितियों के उत्पन्न होती हैं। इसलिए राष्ट्रीय के राजनीतिक विद्वानों का ज्ञान प्राप्त करने ही हम वर्तमान की कभी प्रत्यक्ष समस्या नहीं है। हमें ठीक प्रकार से न समझ जाने पर हमें सामुदायिक समस्याओं का अनुचित समाधान नहीं मिलता। राजनीतिक विज्ञान के इतिहास द्वारा हमें विभिन्न देशों के विभिन्न समस्याओं और विचारों का बोध होता है। हम इनके अध्ययन द्वारा अपने देश की राजनीतिक व्यवस्था में सुधार ला सकते हैं और अपने समाज के राजस्व अधिक के निर्माण का प्रयास कर सकते हैं। अन्य देशों के आदर्शों, विचारों और विद्वानों की समस्याएँ उन्हें अपने अनुभव प्राप्त करते हैं। उन्हें नवीन रूप से अपने राष्ट्रियता में स्थान देकर हम अपने जीवन में ला सकते हैं। उदाहरणार्थ, भारतीय संविधान के चौथे भाग की धारा 39-45 में उन विद्वानों का प्रतिपादन किया गया है जिनके अनुसार अधिकारी के राज्य की नीति का संवर्धन किया जाएगा। इनसे से अधिकारी विद्वान अधिकारी की राजनीतिक विचारधारा के अनुसरण हैं।

(1888) राज-दर्शन का ज्ञान हमारे राज्य सम्बन्धी विज्ञानों को ज्ञान करने में भी बहुत कुछ सहायक हो सकता है। राज्य की उत्पत्ति, उसका विकास, राज्य और प्रत्येक व्यक्ति के प्रत्येक हित के बीच विचारमयी रहने के लिए चुनौती देता है। इनके उत्तर सोचना राजनीतिक ज्ञान का एक विस्तार है और यह विस्तार हमारे नैतिक विकास एवं धर्म के लिए अनिवार्य है। राजनीतिक विज्ञान के इतिहास को पढ़ने के हमें राजनीतिक ज्ञान को समझने और उनका उपयोग करने की दिव्यदृष्टि मिलती है।

कारण रूप में यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि राजनीतिक विज्ञान का सम्पूर्ण अध्ययन उपयोगी और महत्वपूर्ण है। मैन्सफी ने ठीक ही कहा है कि—
“राजनीतिक दर्शन मानव-समाज के प्रति आज भी महत्वपूर्ण जानकारी है और प्रतीति में सर्वत्र रही है।”¹

यूरोपीय एवं अयूरोपीय विचार

(European and Non-European Thought)

विभिन्न देशों में समय-समय पर विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं का उदय हुआ है, फिर भी राज-दर्शन के अध्ययन का भारतीय प्राचीन यूनानी विचारकों से किया जाता है। यूरोप के विभिन्न प्राचीन भारत, मिस्र, चीन, बेबीलोन, ईरान, सीरिया आदि देशों में भी राजनीतिक विचारों का किसी न किसी रूप में सम्बुद्ध हुआ है। इन देशों की महान् और प्राचीन ज्ञानिनी राजनीतिक दृष्टि से अध्ययन सम्बन्धी। महाद्वारा, भारतीय ज्ञानी (सामान्य, महाभारत, मुक्तचित्त आदि) में ऐसे कितने ही राजनीतिक विचार पाए जाते हैं जिनकी तुलना किसी भी वैदिक युगीन राजनीतिक विज्ञान से की जा सकती है। यह ठीक ही कहा जाता है कि—
“भारत में भी ऐसे व्यक्ति उत्पन्न हुए हैं जिनकी वैदिकीय, सीयर, जस्टीनिशन, जॉर्जियन, फोर्डरिंग और ईरोल के साथ ज्ञान-मो से तुलना की जा सकती है और जो अपने गुरुओं के मत पर अपने यूरोपीय समकालीनों एवं समकालीनों को चुनौती दे सकते हैं।” भारत में प्राचीन भारत में राज-दर्शन पर विचार करने वाले धार्मिकों की संख्या कम नहीं है। महाभारत और गीता के सर्वप्रथम के धर्मशास्त्रों में यह अभी-अभी स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में इन विचारों पर विचार करने और महत्वपूर्ण ज्ञानों का निर्माण किया गया था। निम्न यूरोपीय विद्वानों ने अन्य प्राचीन ज्ञानियों के राजनीतिक विज्ञान की समझना की और यह विचार व्यक्त किया कि राजनीतिक दर्शन का बहुधा प्राचीन काल में हुआ और जिसमें केवल राजनीति सम्बन्धी है।

आर्य एवं अर्याय प्राचीन ज्ञानियों के राजनीतिक विज्ञान की जो समझना यूरोपीय विचारों में की है, उसके दो कारण हो सकते हैं—

(1) पूर्वी धर्मशास्त्रों के विचार यूनानी विचारों की प्रति यूरोपीय समकालीनों के मत नहीं रहे।

(ii) पूर्व के देशों में और वह भी विशेष रूप से भारत में राजनीतिक विचारधाराओं की मूलभूतों की प्रति स्वरूप रूप से लेखक नहीं किया गया। प्राचीन भारत के इस तरह का भी महत्वपूर्ण साहित्य का समान अधिष्ठात प्राप्त मात्र भी प्राप्त नहीं है।

राजनीतिक विज्ञान के वर्तमान अध्ययन की परम्परा प्राचीन यूनानी राजनीतिक विचार तक ही सीमित है जिसे तीन भागों में विभाजित किया जाता है—

- (1) प्राचीन राजनीतिक राजदर्शन (प्रारम्भ से 5वीं सताब्दी तक)।
- (2) मध्ययुगीन राजनीतिक राजदर्शन (5वीं सताब्दी से 15वीं सताब्दी तक)।
- (3) आधुनिक (आधुनिक) राजनीतिक राजदर्शन (15वीं सताब्दी से आज तक)।

इसमें से प्रत्येक युग की अपनी विशेषताएँ हैं। प्राचीन राजदर्शन का केन्द्र-बिन्दु नगर-राज्य था। इसे सामाजिक संगठन का सर्वोत्तम एवं पूर्ण रूप समझा जाता था। इस समय राजदर्शन का चरित्र आचार-उपचार था। नगर-राज्यों के जीव होने पर इस युग का अन्त हुआ। बाद के रोमन-साम्राज्य एवं ईसाई धर्म के सम्प्रसारण ने एक नवीन सामाजिक व्यवस्था को जन्म दिया।

मध्य युग के दर्शन का आधार सार्वभौमवाद (Universalism) रहा। इस समय विश्व-राज्य की कल्पना की गई और राजनीतिक विज्ञान का केन्द्र-बिन्दु साम्राज्य होकर धर्म बन गया। राज्य एवं धर्म के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या इस युग के विचारकों के मन-माजस का मन्त्र बन रही।

मध्यकालीन युग की आधुनिक रूप देने का काम पुनर्जागरण (Renaissance) एवं सुधार (Reformation) आन्दोलनों ने किया एवं सार्वभौमवाद का स्थान धर्म-धर्म: राष्ट्रीय राज्य ने ग्रहण कर निम्न की आधुनिक विज्ञान का प्रमुख केन्द्र-बिन्दु है।

प्लेटो : जीवन-परिचय
(Plato : Life-sketch) .

वाक्पात्र राजनीतिक दर्शन के पूर्वज विद्वान् एवं नीतिमी प्लेटो का जन्म ईसा से 427 वर्ष पूर्व एथेन्स के एक कुलीन परिवार में हुआ था ।¹ वाक्पात्र जगत के सर्वप्रथम छात्रों राज्य (Utopia) की काल्पनिक योजना प्रस्तुत करने वाले इस विद्वान् दार्शनिक की माता का नाम परिक्लिन्स-की और पिता का नाम एरिस्टोस था । उनके पिता एथेन्स के दक्षिण राजा कोरैडस (Corydus) के वंशज थे जबकि उनकी माता सोलन (Solon) वंश के उत्पन्न हुई थी । अपनी प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद प्लेटो मुरर्रास के घरलों में बँध कर साठ वर्ष तक उसका शिष्य रहा । बचपन से ही उसे संगीत एवं व्यायाम में रुचि थी । उसका शारिरीक नाम अरिस्तोक्लीस (Aristocles) था, किन्तु उसके सुझौल, सुन्दर और वृष्ट शरीर को देख कर उसके छात्राध्यक्ष उसे 'Platon' कहा करते थे । पुनरावस्था में ही अरिस्तोक्लीस, जिसे उसके समकालीन उसके उत्तम प्लेटो के मानते हैं, मरिचकारा विचारों के प्रयोगों का । यह सम्भवता था कि उसका जन्म दक्षिण राजनीति के लिए ही हुआ है, किन्तु मनन और परिनिपतियों ने उसे एक कुशल राजनीतिज्ञ के स्वरूप पर एक महान् राजनीतिक विचारक बना दिया ।

एथेन्स की जनतन्त्रीय सरकार ने उसके शिक्षक मुरर्रास की हत्या की । इस कुईरता के प्लेटो की नाविक छात्रावत पहुँचा । राजनीति-विज्ञान में जेम होने के कारण उसे पश्चिम राजनीति में पुरा हो गई । प्रजातन्त्र के उपाकर्मित प्रेमी एथेन्सवासियों ने मुरर्रास जैसी महान् छात्रा की केवल इसलिए विचारान के लिए बाध्य किया कि वह ज्ञान और स्वाभ के मए वष दूँकता रहता था । वह पर वह अनिधीन था कि उसने एथेन्स के तबपुसको को गया ज्ञान देकर उन्हें मार्ग भ्रष्ट किया है । राजनीतिज्ञों के अपने बहुत स्वाभों के कारण इस देवता स्वस्व महान् विभूति की निर्मय हत्या को प्लेटो ने जस सम्पनी छात्रों के देखा था । अतः यह स्वाभाविक था कि प्रजातन्त्र एवं पश्चिम राजनीति, दोनों के उसका विचार उठ गया ।

मुरर्रास के प्राधरणा के बाद वह अपने कुछ मित्रों के साथ एथेन्स के निकटवर्ती नगर मेगरा (Megara) में चला गया । इसके बाद उसके जीवन का कारण वर्ष का इतिहास मज्जात-ता है । यद्यपि इस सम्भव में एक अनुश्रुति है कि इस काल में वह लगातार रहनी, पूनाय और मिल के विभिन्न गल्लों में घूमता रहा और वहाँ तक कि उसने गया के उठ तक भारत की यात्रा भी की ।² इस कारण वर्षों में प्लेटो ने देश-देशान्तरों में विभिन्न मत-महान्तरों का अध्ययन भी किया । एथेन्स वापस आने पर 386 ई.पू. के लगभग उसने वहाँ अपना एक निराशाजन्य मोला । वही

1. जॉर्ज जॉर्ज एडविन ह्युज्स ने प्लेटो का जन्म 428 ई. पू. के लगभग माना है । देखिए जॉर्ज : पूर्वोक्त, पृ. 167.

2. *His Discant : Story of Philosophy*, p. 20.

प्लेटो की यह सुप्रसिद्ध प्रकाशनी (Academy) थी, जिसे यूरोप का प्रथम विश्वविद्यालय होने का खीरक प्राप्त हुआ। प्रथमी छात्रों के चालीसवें वर्ष में प्लेटो ने इस प्रकाशनी की स्थापना की थी और उनकी छात्रों के सामने चालीस वर्ष वहाँ पर प्रत्यक्ष-प्रवचन करने में व्यतीत हुए। यह विद्यापीठ 329 ई. में रोमन साम्राज्य जस्टीनियन द्वारा बन्द कर दिए जाने तक लगभग 900 वर्ष तक ज्ञान के प्रसार का कार्य करता रहा। इसी के कारण एपेन्स समूचे यूरोप का ही नहीं बल्कि पूरे यूरोप का बौद्धिक केन्द्र बन गया। इस प्रकाशनी में गणित-शास्त्र, खगोल-शास्त्र आदि भौतिक विज्ञानों की शिक्षा को विशेष प्रभावता दी जाती थी। कहा जाता है कि प्रवेश-द्वार पर यह काकर मखिल था कि "गणित के ज्ञान के बिना यहाँ कोई प्रवेश करने का अधिकार नहीं है।" किन्तु साथ ही यहाँ राजनीति, कानून-वैद्य तथा दार्शनिक शास्त्र करने की शिक्षा भी दी जाती थी।

जब प्लेटो साठ के सुतरां वर्ष की आयु का बीच का तब यह अपने जीवन के साधनों की व्यवस्था में जाने की दिशा में प्रवृत्त हुआ। उसने एक तीस वर्षीय शरण शासक डायोनिजियस (Dionysius) द्वितीय के पद-प्रवर्जन में अपने मित्र दिवोन (Dion) की सहायता करने के लिए सिराकूज (Syracuse) की यात्रा की। दिवोन की प्रेरणा से डायोनिजियस द्वितीय दार्शनिक शासक बनने के लिए तैयार हो गया। प्रारम्भ में प्लेटो उनके शासक का दार्शनिक बनाने की प्रक्रिया में कुछ समय भी हुआ किन्तु अन्ततः यह अभिप्रायकारी शासक उनके परामर्श को स्वीकार करने तथा उचित रूप में व्यवस्था कर राज-काज चलाने में मुराद गया। साथ ही कुछ चातुकारी ने डायोनिजियस को दिवोन के विरुद्ध भ्रष्टाचार तथा निष्ठा परिवर्तन यह निकाला कि दिवोन को निर्वासित कर दिया गया और उसकी संपत्ति जब्त कर ली गई। उसकी पत्नी का दूसरे पुरुष के साथ विवाह कर दिया गया। इन परिस्थितियों से निराश होकर प्लेटो ने एपेन्स छोड़ना ही बेवकूफ समझा। 361 ई.पू. में डायोनिजियस ने प्लेटो को एक बार फिर सिराकूज जाने का निमन्त्रण दिया और उसके उत्प्रेषण पर अपने का आग्रहान्वित भी। यद्यपि अपने मित्रों के अनुमोदों के कारण प्लेटो सिराकूज की जीवनी खाना करने को उत्तुंग नहीं था, किन्तु तारेन्थ (Tarantula) के दार्शनिक शासक आर्केथस (Archytas) की प्रेरणा से अन्तिम यह यहाँ गया ही गया। प्लेटो ने डायोनिजियस को दर्शन-शास्त्र के व्यवस्थापन सम्बन्धी कठिनाइयाँ बता दीं। साथ ही उसने उसे यह परामर्श भी दिया कि वह दिवोन (Dion) के विरुद्ध किए गए प्रवचनों का प्रतिहार करे। अन्ततः दिवोन को भी अपनी वसति एवं व्यक्तिगत व्यवस्था उत्पन्न हो गया। प्लेटो की स्थिति एक प्रतिष्ठित बन्दी जैसी हो गई और अन्ततः तारेन्थ के शासक की सहायता और सामयिक दृष्टिकोण के द्वारा वह किसी तरह सफुल्ल एपेन्स लौट गया। उस प्रयोग की सफलता ने प्लेटो की सम्पूर्ण आदर्शवादी विचार प्रणाली को ठोसकर रख दिया। यह व्यावहारिकता की ओर मुड़ा और अपने जीवन का तेज समय उसने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'Laws' को लिखने में व्यतीत किया।

8। इन का मानुष प्लेटो अपने किसी विषय के अनुसंधान पर एक राति बिना-सुनायीहूँ में सम्मिलित हुआ। उसके सोपान से परेखाव होकर वह विन्ध्यमास एक ऊपर कपड़े में बसा गया। प्रातःकाल जब नर ने कुछ से आसोपास लेने के लिए उसके कपड़े में प्रवेश किया तो प्लेटो निर-निद्रा में विजोष हो चुका था। वह "राजनिकों का राजा और राजाओं को राजनिक बनाने वाला, मृत्यु की रिश्वत में पहुँच चुका था।"

प्लेटो के ग्रन्थ (Works of Plato)

प्लेटो के ग्रन्थ की संख्या 34 या 38 के आकृष्ट मानी जाती है, किन्तु इनमें से प्रायःशुद्ध ग्रन्थ केवल 28 हैं। उसके सभी प्रायःशुद्ध ग्रन्थों का कर्नेट (Berest) द्वारा सम्पादित एवं मॉस्कोवेई द्वारा प्रकाशित दूसरी संस्करण 2462 पृष्ठों में प्रकाशित हुआ है। इनमें से कुछ प्रमुख ग्रन्थों के नाम निम्नलिखित हैं—

- | | |
|---------------------------|----------------------------|
| 1 The Republic (386 B.C.) | 2 The Statesman (360 B.C.) |
| 3 The Laws (347 B.C.) | 4 Apology |
| 5 Crato | 6 Charmides |
| 7 Laches | 8 Euthydemus |
| 9 Protagoras | 10 Gorgias |

प्लेटो के सभी ग्रन्थ सम्वाद पद्धति (Dialogue) शैली में हैं तथा सभी में सविन विद्वान्-वक्ता रहने वाला व्यक्ति सूरराज (Socrates) नामक एक पुरुष है। प्लेटो ने इन कुछ राजनिक ग्रन्थों को अपने सभी ग्रन्थों में प्रस्तुत किया है कि इनके अनुसंधान में सम्वादों की रीति-रिवाज एवं वादों की प्रभावशीलता अनुभव होती है।

प्लेटो ने अपने सम्वादों में राजनीतिक-दर्शन से सम्बद्ध मूल विषयों पर अपने विचार व्यक्त किए हैं लेकिन सम्भवतः वह विन्य विवेचन उनकी तीन कृषियों 'रिश्मिक, होदसर्न और लॉज' में अधिक महत्त्व एवं सुलभ है। उनके राजनीतिक सिद्धान्तों को इन तीन कृषियों के आधार पर सुस्पष्टित किया जा सकता है। इन तीनों कृषियों के रचनाकाल की विविध विषयों के बारे में सिद्धान्तों में मतभेद नहीं है। जॉर्ज एच. सेबार्डन (G.H. Sabine) का प्रसिद्धिपूर्ण उद्धरण इस सम्बन्ध में दृष्टव्य है—

"प्लेटो ने अपनी रिश्मिक की रचना अपने विद्वान् की रचना के एक शास्त्र की अवधि से पहले की थी। इस शास्त्र एक उनके विचार, परिचय हो चुके थे, यद्यपि उसकी अवस्था परिष्कृत नहीं थी। प्लेटो का विचार उसकी अपनी रिश्मिक की एक समग्र-ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत करना था। रिश्मिक की सर्वोच्च धारणाओं का भी वही विचार है, यद्यपि स्पष्ट यह है कि 'रिश्मिक' की रचना कई परास्त्रों में हुई। जीवित आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रथम सम्वादों में स्पष्ट सम्वादी विवेचना आधुनिक मान की रचना रही होती। प्लेटो ने 'लॉज' (Laws) नामक ग्रन्थ की रचना दृष्टव्यता में की थी। अनुसंधानों को नहीं तक नहीं

है कि जब 347 ई.पू. में प्लेटो की मृत्यु हुई, उस समय भी वह इसी युग के प्रमुखन में गतनीय था। इस प्रकार, 'रिपब्लिक' और 'नॉर्म' के रचनाकाल में होश बर्ष का दशम्वे भी अधिक समय का अन्तर लगता है। 'रिपब्लिक' में हमें प्लेटो के साम्य उल्लाह के दर्शन होते हैं। इसी समय पर उसने अपने विद्यालय की स्थापना की थी और उसकी व्यवस्था भी अनेकाकुल रूप रही होगी। 'नॉर्म' में प्लेटो की विरथा अभिव्यक्त होती मिलती है। शिरासमूत्र में मिली घसकलता ने सम्भवतः उसे हतोत्साहित कर दिया था। 'पेटेटुमें' की रचना उपरोक्त दोनों के बीच में हुई है। सम्भवतः वह 'रिपब्लिक' की अनेका 'नॉर्म' के रचनाकाल के अधिक निकट प्रणीत हुई होगी।¹

प्लेटो की रीती तथा साम्यमन-वद्धति

(Plato's Style and Method)

प्लेटो की रीती सम्वाद रूपका चार्मालाप रीती है। वह पटनामो के आचार पर सिद्धान्तों का नियमीकरण नहीं करता बल्कि किसी विचार-विशेष को लेकर उसका विश्लेषण एवं परीक्षण करता है और इस प्रकार के परीक्षण से प्राप्त विभिन्न विचारों की बार-बार परीक्षा करके अन्त में सत्य की प्रतिष्ठापना करता है। उसकी इस सम्मयन विधि को रचनात्मक वद्धति (Constructive Method) कहा जा सकता है जो बौद्धिक दृष्टि से सूचनात्मक थी। उसने गुरुकुल न तो साम्यमन-विधि (Inductive Method) वा निरूपण विधि (Deductive Method) की व्यवस्था और न ही मरालू की भाँति किसी वैज्ञानिक विधि (Scientific Method) की कोई प्रथम दिया। प्लेटो की रचनाओं का रूप-विधान चारम्भ से लेकर अन्त तक सम्मयों का है। व्याख्याता और विद्यार्थ होने के साथ ही प्लेटो एक महान् लेखक भी था अतः जब उसने सायन और कवन का सहारा दिया तो स्वभावतः उसने कही विस्तार-शीली सम्मयारी जो अकारनी में छात्रों के साथ बार-प्रतिवाद की रीती के अनुकूल थी। एक सम्ये शिक्षक की भाँति प्लेटो की भी इच्छा थी कि जौन उसकी शिक्षा के आचार पर चिन्तन करता होवे। लेखक होने के नाते प्लेटो का विचार था कि यदि चारक लेखक के अपने मन की प्रविष्टा का अनुसरण करने जने हो उनमें विचारों की ज्योति इच्छाया से ज्ञान सकेगी।² प्लेटो के सम्मयों में सुकपात एक प्रमुख सम्मयता है जो स्वयं प्लेटो के विचारों की अभिव्यक्त करता है। अपने सम्मयों के साथी का चुनाव प्लेटो ने बहुत सोच-समझकर किया है। अपने साथ विशेषों के द्वारा वह केवल जन्ही विचारों की उद्घोषणा करता है जो वास्तव में उस साथ विशेष के नाते जाते हैं। समुद्र-प्लेटो ने अपना अन्तिम अपने शिक्षक सुकपात के द्वारा अधिक विमिश्रित कर दिया है कि आज यह निर्णय करना असम्भव रहित है कि ऐतिहासिक दृष्टि से कौन-कौन से विचार मूलतः प्लेटो के हैं और कौन-कौन से सुकपात के।

1. Seiler, G. H. : The History of Political Philosophy.

2. शर्कर : पूर्वोक्त, पृष्ठ 179.

प्लेटो ने अपने सिद्धान्तों की पूर्ण दृष्टान्तों से की है। उसने जिन दृष्टान्तों का प्रयोग किया उन्हें कहीं की कलाओं से लिया है और कहीं प्रकृति से। उदाहरणार्थ राज-शास्र के मामलों में ज्ञान और वीर्य के महत्त्व की बतलाते हुए उसने डॉक्टरों और मान-वाचालों की उपमाएँ दी हैं जो बुद्धों की भाँति विषयों की भी परीक्षा के रूप में कार्य करते हैं विचार के समर्थन में वह दुराी का दृष्टान्त प्रस्तुत करता है। रसवाली करने वाली कुत्तों की तुलना कर प्लेटो इस निश्चय पर पहुँचता है कि बुद्धों की भाँति जिनमें भी सरासरी होनी चाहिए। पशुओं में जिस तरह प्रजनन होता है, उसी की अपनी बुद्धि का साधार मानकर उसने विचार के सम्बन्ध में अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। प्लेटो की रचनाएँ में कलाओं के क्षेत्र के लिए वे उदाहरण प्रमुख रूप से मिलते हैं जिनका प्रयोग सुकरात किया था। जब सोक्रिटोस ने विभिन्न ज्ञान की भाँति राजनीति की शिक्षा की एक निश्चय बनाने का प्रयत्न किया, तब उन्होंने राजनीति की एक कला माना था। सुकरात ने भी इसे ज्ञान के प्रति अपने साधक का आधार बनाया। प्लेटो ने भी इस निश्चय पर जो कुछ कहा है, उस सब पर राजनीति की कला मानने के विचार की व्याप है। राजनीति की कला के रूप में बहुत करते हुए उसका साधक है कि ज्ञान कलाओं की भाँति इसके भी ज्ञान की आवश्यकता है। प्लेटो के सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन की यह सम्भवतः सबसे बड़ी विशेषता है और 'रिपब्लिक' के मूल में भी यही मूल निहित है कि ज्ञान सभी कलाकारों के समान राजनर्मक यथा राजनेता की भी यह बात होना चाहिए कि वह जिस वस्तु की स्थापना कर रहा है वह क्या है ?

जनीति की यह सकारणा प्लेटो की ओर आने के जाता है। अपनी कला की स्थापना में कलाकार की शिक्षा-विषयों के अध्ययन से मुक्त होना चाहिए—इस विचार को प्रकट करते हुए प्लेटो की मान्यता है कि पारमेश्वरिणी तो यह है कि राजनर्मक विधि के निष्पत्ति के भी स्थापना हो। इसी आधार पर उसने निरालेस ज्ञान के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और ज्ञान में इसी सम्बन्ध के अंत पर उसने यह भी सिद्ध करने की चेष्टा की है कि प्रत्येक ज्ञानक साधुद्विज हित के विहित साधन करना चाहता है क्योंकि प्रत्येक अपने कलाकार की यह स्थापना होती है कि अपनी कला की उत्थति के लिए वह अपने सामग्री उपनिष्ठ कर सके।

प्लेटो ने दृष्टान्त दिए हैं, पर बुद्धि दृष्टान्तों का प्रयोग कठिन होता है और मानान्वय सतही दृष्टान्त देना सरल होता है, यद्यपि प्लेटो ने भी पूर्ण की है। पशु-जन्म के जिन दृष्टान्तों का उपयोग उसने किया है उन्हें पूर्णतः स्वीकार नहीं किया जा सकता। सब की यह है कि इन दृष्टान्तों से कुछ अधिक सिद्ध नहीं होता। मनुष्य भ्रातृत्व-रूप है और एक मानवमय जीवन के लिए पशु-जन्म से ऐसे निष्पन्न प्रकृत नहीं किने जा सकते की पारिवर्त हो। कलाओं के क्षेत्र से प्लेटो ने जो उपमाएँ और स्वरूप प्रकृत किए हैं उनके प्रयोग पर भी आशेय किए जा सकते हैं। साधारण एक राजनीतिक विचारक की तरह नहीं होता। यदि कोई व्यक्ति अपना कार्य वास्तव-पुस्तक के प्रतिपादों के लिया हो कर सकता है तो उसका यह अधिकार नहीं

कि दूसरे को भी विधि-नियम के बिना ही कोई कार्य करना चाहिए । शरीर के उपचार के लिए बाती की ओर ध्यान देना आवश्यक है, घाला के उपचार में उनके प्रतिरिक्त ओर भी ध्यान रखें देवकी बखी है ।¹

प्लेटो ने, जो एक उत्तम कवि, नाटककार और साहित्यकार भी था, अपने कुछ दार्शनिक सम्बन्धों को भी बहुत ही सजीव, रोचक, सरल और प्रभावशाली स्वरूप में चित्रित किया है । प्लेटो की पद्धति के बारे में एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि यह एक कल्पनावली दार्शनिक था । साम्राज्य उत्तर के कल्पनावली में उसका स्थान सम्भवतः प्रथम और सर्वोच्च है । इतिहास-लिखित वास्तविक राज्यों के वर्तमान में उसका अधिक सम्बन्ध नहीं बन रहा था। एक 'सादर्श' की खोज है । प्लेटो का कल्पित राज्य, राज्य का एक सम्पूर्ण और आदर्श चित्र है तथा गुलाम और समलोचना के माध्यम से प्लेटो उसकी खोज करना चाहता है । 'रिपब्लिक', 'स्टेट्समैन' तथा 'लाज' के नाम परम्पर में जो सम्वाद प्रस्तुत करते हैं उसका उद्देश्य है—आदर्श राज्य की खोज । प्लेटो एक ऐसे आदर्श नगर राज्य की वास्तविक प्रकृति का सम्बोधक है जिसका स्थापन से बहुत कम तरीकार है । यह, एक ऐसे उत्तर के चित्रण के प्रस्तावनीय प्रस्ताव है जो मानव-जीवन के सभी एवं सभी आदर्श सिद्धांतों पर आधारित है । यह सब कुछ एक ऐसे कल्पनावली का चित्र है जिसका इस दुनिया की स्थापना से कोई निरुद्ध का सम्बन्ध नहीं है ।

प्लेटो पर सुकरात का प्रभाव (*Influence of Socrates on Plato*).

प्लेटो पर अपने समकालीन विचारकों का प्रभाव है जिनमें सारासोरास और सुकरात मुख्य हैं । प्लेटो सुकरात का ही कभी तक निष्पक्ष रहा और साथ ही उसका कोई ऐसा विचार हो जिस पर उसके अपने शिक्षक का प्रभाव न हो । इसलिए मैसी (Maezy) ने कहा है, प्लेटो के दिन और विचारों में अपने शिक्षक के विचारों और भावों की पूर्ण रूप से आत्मसात् किया है । वास्तव में प्लेटो की दृष्टि से अपने माचारों की पहली प्राकृतिक कमी प्रतीत नहीं हुई । सुकरात के विचारों का वह पर अधिक सम्पूर्ण रूप से प्रभाव पड़ा अपने से कुछ का निवेदन नहीं उक्तुक होता ।

(1) सद्गुण और ज्ञान में समानता—सुकरात सद्गुण (Virtue) एवं ज्ञान (Knowledge) को समान मानता था । मेयर (Mayor) के शब्दों में, "यदि हम ज्ञान तथा आचरण को एक ही मान लें तो आचरण का एक स्थाई सार्वभौम बन सकता है । जिस ज्ञान का आचरण से कोई सम्बन्ध न हो और जो ज्ञान केवल ज्ञान के लिए ही अस्तित्व में आए, ऐसे ज्ञान का इस मूलानी दार्शनिक की दृष्टि में कोई विशेष मूल्य नहीं था । ज्ञान केवल कुछ मूल्यों का सकारण-भाव

बड़ी है। व्यक्ति के चरित्र-निर्माण के साथ जुड़ा हुआ गहरा सम्बन्ध है। ज्ञान, बुद्धि के माध्यम से ही हमने व्यक्तित्व को प्रभावित किया है। यह दृष्टा-व्यक्ति और मानवों का निर्माण है। साहस, संयम, स्वाध्याय सभी सद्गुणों (Virtues) की उत्पत्ति ज्ञान से ही होती है। सादृशी व्यक्ति बड़ी बन सकता है जो अब हमें निर्भीकता का ज्ञान देता है।" प्लेटो ने सुकृत्य के इसी विचारों को स्वीकार किया।

प्लेटो की 'रिपब्लिक' का केन्द्रीय विचार यही है कि 'सद्गुण ही ज्ञान हैं' (Virtue is Knowledge)। इसका अर्थव्यवस्था यह है कि सत्कार में सदा सत्य, सद्गुण-व्यक्त है और सत्कार ज्ञान प्राप्त हो सकता है। यह ज्ञान किसी सामाजिक सद्गुणित सत्त्व का अर्थ है ज्ञान बड़ी होता, प्रामुख बुद्धि-संगत एवं सर्व-संगत सद्गुण-ज्ञान से ही मिल सकता है। यही सत्य वास्तविक है चाहे इसके बारे में कोई व्यक्ति सदा भी नहीं न सोचे। इसी सद्गुणित केवल इसलिये बड़ी होनी चाहिए कि लोग उसे चाहते हैं अधिक इसलिये कि यह एक अविनाशिक एवं सदा सत्य है। दूसरे शब्दों में यही पर दृष्टा होता है। व्यक्ति बड़ा चाहते हैं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि वे सत्य का अर्थ क्या देख पाते हैं लेकिन कोई सद्गुण सत्त्व विचार केवल इसलिये ही सत्य बड़ी हो सकता कि लोग उसे ऐसा चाहते या मानते हैं। इसके यह निष्कर्ष निकलता है कि यह सत्य ही ज्ञानी है, जिसका नाम सौम्य, विद्वान् या वैदिक सद्गुण भी हो सकता है, जो मानव में निर्यात सत्ति ज्ञान होती चाहिए। इसका ज्ञान ही जो इस सत्ति का अधिकारी बनाता है। 'रिपब्लिक' का यही मूल विचार है जो उसके प्रत्येक पक्ष पर प्रकाश हुआ है।

(II) सद्गुण के स्वरूप—सुख या अज्ञान (Virtue) के स्वरूप के सम्बन्ध में भी प्लेटो सुकृत्य का बड़ा है। सद्गुण के लिए मूल गुणों का नाम 'सौम्य' (Ariste) है जिसका द्वितीय अर्थ होता—उत्कृष्टता। सुकृत्य की भाँति प्लेटो की भी यही मान्यता थी कि प्रत्येक वस्तु की अज्ञान या सुख इसी बात में है कि हमने यह सुख ही जिसकी सम्पत्ति के लिए उत्कृष्ट अर्थ दिया है। सुख का सुख कहना है। इसका अर्थ है सुकृत्य इस बात पर निर्भर करता है कि यह किसकी सत्ति का सुख कहना है। एक ही प्रकार एक सद्गुण भी केवल सत्य सद्गुणों की उत्पत्ति से ही सत्त्व या सुख हो सकता है। उसी यह सद्गुणों मानव सुखों को प्रकार की होती है—एक सत्य सत्ति का सुख दूसरे सत्य सत्त्व सत्त्व सत्त्व। कोई व्यक्ति सत्त्व या सुख निकलता, सुकृत्य, अज्ञान या अज्ञान हो सकता है सत्त्व सत्त्व में सत्त्व बड़ी सत्त्व हो सकता है जिससे दूसरे सत्त्व को सत्त्व बनाते बने सुख सत्त्व सत्त्व में निर्यात हो। सुकृत्य की भाँति प्लेटो के मत में भी सत्त्व व्यक्ति के अर्थव्यवस्था पर सुखों का होता सम्बन्ध है—विद्वान्, साहस, संयम और स्वाध्याय से सौम्य ही सुख सद्गुण-व्यक्त से मानवीय सुख (Human Virtue) सत्त्व उत्कृष्टता (Goodness) का निर्माण करते हैं।¹

(iii) शासन-संघालन—प्लेटो ने सुक़रास से यह विचार भी लिया कि शासन-संघालन डॉक्टरों के समान बीमर-संघालन की भाँति एक विधिगत काम है। शासन का ज्ञान रखने वाले विरोधकों को ही शासन-संघालन का अधिकार दिया जाना चाहिए। जैसे अनेक व्यक्ति एक कुचल सुटिकॉर अपने नियंत्रण में नहीं हो सकते, वही प्रकार अनेक व्यक्ति योग्य शासक भी नहीं बन सकते। शासक की उरका डॉक्टर से होते हुए सुक़रास ने कहा था, “अन्या बीमार है, इसीलिए हमें अपने स्वयंसेवा के द्वारा क़रास चाहिए।”¹ प्लेटो ने भी यह स्वीकार किया है कि अन्या बीमार लोगों के समान होती है और शासक एक सामाजिक डॉक्टर की तरह। जिस प्रकार डॉक्टर को मरीज ठीक करने के लिए क़भी उपायों देनी पड़ती हैं ठीक वही प्रकार शासकता पढ़ने पर शासक को भी क़रीब एक निर्दयतापूर्ण क़दम चलाने पड़ते हैं।

(iv) प्लेटो की दार्शनिक पद्धति का आधार सुक़रास का सत्य का सिद्धान्त है।² सुक़रास के इस सिद्धान्त का अर्थ यह था कि सत्यता (Reality) वस्तुओं के विचारों में आन्तर्निहित होती है। यह पूर्ण सत्य ही सपरिवर्तनशील-सत्य है जो इन्द्रियों से अनुभव होने वाले वस्तुओं के रूप में निवास करती है। प्लेटो ने अपने इस विचार को अपने राजनीतिक चिन्तन का केन्द्र भी बनाया है।

इस तरह प्लेटो के चर्च पर सुक़रास का प्रभाव स्पष्ट है। सुक़रास के विचारों को उसने बीच-बच में प्रयुक्त करते हुए अपने चिन्तन द्वारा उन्हें पुनर्निर्मित और प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। बर्गेस के शब्दों में, “प्लेटो का दर्शन सुक़रास के सत्य के जीवाणुओं का वह विकास है जो प्लेटोनिक विचारों के रूप में ‘रिमिनिस्क’ में उद्भूत हुआ है।” दूसरे शब्दों में सत्य मान्यताएँ सुक़रासी हैं पर उनका दार्शनिक विवरण प्लेटोवादी कहा जा सकता है। सुक़रास को अज्ञान का विरोधी और सत्य तक कहा जाता है क्योंकि वह सत्य ज्ञान (True Knowledge) के साधन में विश्वास करता था। मार्कर में ठीक ही निष्कर्ष है कि यदि “सत्य ज्ञान के सिद्धान्त को दार्शनिक दृष्टि से धार्ये से बाँटे हुए व्यावहारिक राजनीति पर उसे लागू किया जाय तो उसका प्रत्यक्ष परिणाम ‘जागरूक-निरंकुशता’ (Enlightened Despotism) निकलेगा। प्लेटो ने यही प्रयास किया और फलतः दार्शनिक राजा (Philosophic King) का जन्म हुआ और इस कारण प्लेटो को भी अज्ञान का विरोधी, अधिनायकों का विरोध तथा राजा कादीवादी निष्कर्ष तक कहा जाता है।

रिपब्लिक : स्वरूप एवं विषय-वस्तु

(The Republic : Nature and Subject-Matter)

विश्व के लगभग सभी विद्वान् ‘रिपब्लिक’ को प्लेटो की महान्कृत्य एवं सर्वश्रेष्ठ कृति मानते हैं। इस ग्रन्थ में प्लेटो का विचार एवं व्यक्तित्व उसके अपने पूर्णतम एवं सुन्दरतम स्वरूप में प्रकट हुआ है। उसने लगभग चालीस वर्ष की अवस्था

1 Barker : Greek Political Theory, p. 140.

2 Cober : Readings in Political Philosophy, p. 1.

के इस ग्रन्थ की रचना की थी। प्लेटो का यह ग्रन्थ विचारों की विविधता एवं सीसी की दृष्टि में भी सम्पूर्ण कृति है। प्लेटो की सम्पूर्ण रचनाओं का सामाजिक समीची अनुवाद करने वाले बेन्जामिन जेडेट ने लिखा है कि "प्लेटो के ग्रन्थ इनकी में सम्भव नहीं भी इससे अधिक सीसा अन्य, परिष्कार, परिष्करणवादी एवं नाटकीयता नहीं मिलती।" इस ग्रन्थ की साम्प्रदायिक सीसी के-वहीं विचारों का स्वर स्पष्ट स्पष्ट हुआ है, वहीं किन्-किन् दृष्टियाँ के सहज ही-सीन से विचार प्राप्त हुए हैं, इसकी भी सम्भवतावा देखी जा सकती है। कदाचित् सीसी के द्वारा प्लेटो ने अपने गूढ़ विचारों को जर्न-जर्न प्रकट करने में एक विशेष सहजता एवं कुशलता दिखालाई है।

रिपब्लिक में प्लेटो के साम्प्रदायिक विचारों की समझता के दर्शन होते हैं। इसमें स्पष्ट विषयों का वर्णन है। "सार्वभौमिक और उच्च-शिक्षा का इसमें विवाद विवेचन है। मानव की कर्मानुसार सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति का भी इसमें वर्णन है। इतिहास का वर्णन भी इसमें दिया गया है। इसमें के उदाहरण और उदाहरण की प्रत्यक्ष व्याख्या द्वारा उनके पीछे वर्तमान सामाजिक और मनोवैज्ञानिक कारणों की सीमाका भी मिलती है। इस ग्रन्थ में सीन की विशिष्टता की प्रकट सीसी में प्रतिपादित कर प्लेटो ने मानव-जीवन की एक उच्च परास्त पर से जाने का प्रयास किया है। सामाजिक जीवन का पर्याप्त उदाहरण भी इसमें दृश्य है। इन सभी विषयों की एक दृष्टि से दृष्टि एवं समीक्षित करने वाली प्लेटो की 'रिपब्लिक' दर्शन की एक साम्प्रदायिक कृति है।"

'रिपब्लिक' एक ऐसी पुस्तक है, जिसका कर्णिकरत नहीं किया जा सकता। यह साम्प्रदायिक सामाजिक-मानव प्रथा विचारों की किसी भी सीसी में नहीं पायी। इस पुस्तक में प्लेटो के दर्शन के विभिन्न अनुसंधानों पर विचार कर उन्हें विकसित किया गया है। इसकी विषय-वस्तु इसकी व्याख्या है कि यह सम्पूर्ण मानव-जीवन का सांख्यिक चित्र प्रस्तुत करती है। 'रिपब्लिक' का केन्द्रीय विषय समष्टि-समष्टि और उसके आन्तरिक-जीवन की कथावाचनों पर विचार करना है। प्लेटो की दृष्टि में साम्प्रदायिक-समष्टि और साम्प्रदायिक-जीवन केवल समष्टि राज्य में ही सम्भव है। 'रिपब्लिक' में यह भी वर्णित किया है कि इन अनुसंधानों को किस प्रकार जाना और पाया जा सकता है। यह समझता अपने पास में इसकी व्याख्या है कि व्यक्ति तथा समाज के जीवन का कोई भी भग्न इसके सम्बन्ध में नहीं बनता। इस प्रकार 'रिपब्लिक' किसी प्रकार की प्रथा-पुस्तक (Treatise) विशेष नहीं है। यह राजनीतिक, नीतिशास्त्र, सामंसार्य और मनोविज्ञान सभी एक विषय मात्र में सम्बन्ध नहीं रखती। इसमें इन सभी की सम्मिलित है ही एक कला, शिक्षा और दर्शन के ज्ञान भी सम्मिलित है। 'रिपब्लिक' में जीवन की स्पष्ट दृष्टि स्पष्टवाचों पर विचार-समय है। विषय-वस्तु की विविधता के होते हुए भी 'रिपब्लिक' का राजनीतिक-दर्शन एकीकृत है और उसकी लक्ष्य-वृद्धि प्रसार और सम्भवतावा है।

'रिपब्लिक' का प्रारम्भ सामाजिक-मानव और वैदिक दर्शन की समस्याओं के-होता है। इसके प्रारम्भ में ही यह प्रश्न उठाया गया है कि क्या कहा है? "न्याय

एवं मानव-आत्मा के नैतिक गुणों का विवेचन करने के कारण इसे साधारण-मानव का ग्रन्थ भी कहा गया है।¹ इस ग्रन्थ में बतलाया गया है कि नैतिक गुणों का विकास केवल शिक्षा द्वारा ही सम्भव है और उत्तम-शासन के लिए शासकों की शिक्षा की व्यवस्था अनिवार्य है। 'रिपब्लिक' में शिक्षा समस्याओं का विशाल एवं सम्पन्न विवेचन है। इसके शिक्षा सम्भाव को बढ़ाकर ही पं॰ दार्शनिक कसी (Rousseau) ने कहा था कि "रिपब्लिक राजनीति शास्त्र का ग्रन्थ न होकर शिक्षा शास्त्र पर कभी भी लिखा गया एक सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है।" वह सम्भाव-शास्त्र का भी एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें विचारों के विद्वान् तथा ज्ञान के व्यापक-व्यक्त की प्रतिपादित किया गया है। इसे इतिहास के दर्शन का ग्रन्थ भी² इसलिए कहा जा सकता है कि इसमें वह बतलाया गया है कि ऐतिहासिक परिवर्तन की प्रक्रिया के किसी भी राज्य का पतन निरनुप या भ्रष्ट-शासन के किञ्च प्रकार होता रहता है।

'रिपब्लिक' की विषय-वस्तु और उसके स्वरूप के सम्बन्ध में राजनीति शास्त्र के विद्वानों ने जो विभिन्न मत व्यक्त किए हैं, उनमें से कुछ की नीचे उद्धृत किया जा रहा है। इनके प्रकाश में 'रिपब्लिक' के बारे में व्यक्त किए गए विभिन्न विचारों का मूल्यांकन किया जाना उपयुक्त होगा।

"यह मानव के सत्य जीवन दर्शन (Complete Philosophy of Life) के प्रस्तुतीकरण का प्रयास है। किताबीत-मानव (Man as-action) या मनुष्य के कार्य ही इसके विषय हैं। यद्यपि इसका सम्बन्ध नैतिक और राजनीतिक जीवन की समस्याओं से है। मानव एक समष्टि है, उसके कार्य उसके विचारों की जाने बिना समझे नहीं जा सकते। यद्यपि 'रिपब्लिक' मनुष्य के विचारों एवं उसके द्वारा निर्मित कानूनों की भी विवेचना करती है। इस दृष्टि के 'रिपब्लिक' मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन-दर्शन का एक वृत्तांत दर्शन है।"³

'रिपब्लिक' में मानव-आत्मा के उत्थान और पतन का आदर्श चित्र है। इसमें वह बतलाया गया है कि वह किञ्च प्रकार अपने विज्ञान के परम-निष्ठ पर पहुँच कर भी पतन के समये गहरे गहरे में भी गिर सकती है। ऐसा समझते हुए इसमें मानव-आत्मा का और उसकी संपूर्ण प्रकृति का विवेचन किया गया है।⁴

"इस ग्रन्थ में उसके (प्लेटो के) अध्यात्म-शास्त्र, चरित्रशास्त्र, नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, शिक्षाशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और कला विद्वान् प्रतिपादित हैं। इसमें व्यापक सामग्री विस्तारित है, जैसे साम्यवाद, समाजवाद, नारी स्वातंत्र्य, सर्वे निरीध, कुप्रजनन आदि। नीति के द्वारा बतलाई गई नैतिक और कुलीनत्व की समस्याएँ तथा सर्वज्ञ और सर्वज्ञ के मनोविश्लेषण के साथ इसमें सभी कुछ है।"⁵

"रिपब्लिक' केवल एक दार्शनिक-कृति मात्र न होकर सामाजिक और राजनीतिक सुधारों पर लिखा गया एक ग्रन्थ भी है। वह उस व्यक्ति की उच्चा है जो

1 Barker's Greek Political Theory, p. 145.

2 *Nations* : Lectures on the Republic of Plato, p. 3.

3 W.W. Darnet : Story of Philosophy, p. 22.

मानव-जीवन पर केवल चिन्तन ही नहीं करता बल्कि उसे कार्निफिकरी ढंग से सुधारने की भी उपाय ही उल्लेख है ।¹

विषय-वस्तु की दृष्टि से 'रिपब्लिक' की तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(i) Book I—इसमें मानव-जीवन, न्याय की प्रकृति एवं नैतिकता के धर्म समझाए गए हैं ।

(ii) Books II to IV—इसमें राज्य के संरक्षण तथा शिक्षा प्रवृत्ति का वर्णन है । यहाँ प्लेटो एक आदर्श मानव-समाज की कल्पना प्रस्तुत करता है । मानव स्वभाव के तीनों तत्वों तथा मानव-समाज के तीनों वर्गों का समाज में स्थान इस भाग में विवेचित किया गया है ।

(iii) Books V to VII—इस भाग का प्रमुख विषय वर्णन है । इसमें राज्य के उत्तम संगठन का गुरु वर्णन किया गया है जो साम्यवाद पर आधारित होकर वर्तनिक राज्य द्वारा स्थापित होता । यहाँ पर प्लेटो के वर्णन में अष्टाद्वैत का आदर्श (The Idea of good) सामाजिक एवं राजनीतिक सुखों का स्थान से होता है ।

(iv) Books VIII and IX—यहाँ पर मनुष्यों तथा राज्य के विप्लव हो जाने पर जो सम्भवतया उत्पन्न होती है, उस पर प्लेटो ने अपने विचार व्यक्त किए हैं । साथ ही निरक्षरता एवं भ्रान्त की प्रकृति का भी इन दृष्टियों में वर्णन एवं विवेचन है ।

(v) Book X के दो भाग हैं । एक में वर्णन से कला का सम्बन्ध बतलाया गया है और दूसरे भाग में धर्मशास्त्र की समस्या पर विचार-विमर्श मिलता है ।

‘रिपब्लिक’ का उद्देश्य

‘रिपब्लिक’ की रचना करते समय प्लेटो के कुछ उद्देश्य थे । वह इस महान् काम की रचना एक विविध एवं व्यापक उद्देश्य को पाचने एवं कर करता चाहता था । सोफिस्टों द्वारा प्रतिपादित साधन-तुष्टि के सिद्धान्त की जितनी उस युग के अष्टाध्यायी जनतन्त्री राज्यों ने अपना रक्षक का भूमिका और स्थापित करने की उत्तरी सामाजिक मायावादी थी । सोफिस्टों के उपसृष्ट्य व्यक्तित्व का विरोध कर राज्य के वैयक्तिक-स्वभाव (Organic Nature) को प्रतिष्ठित करना प्लेटो का मन्त्र था । वह यह कहना चाहता है कि राज्य और व्यक्ति के द्विती में कोई अन्तर्विरोध नहीं है तथा न्याय-विषय एवं बुद्धिमान साधक नहीं है जो जन-व्यवस्था के लिए अपना सर्वोच्च प्रतिदान करने में राज्य कीटि के भ्रान्त की अनुभूति करता हो । हितात्मक व्यक्तिवाद की प्रकृति तथा अज्ञान के उद्भूत दुःख के विरुद्ध प्लेटो इस दृष्टि द्वारा प्रबल विरोध की स्थापित करना चाहता था । मार्कर के शब्दों में, “प्लेटो के राजनीतिक वर्णन का मध्य एक ऐसे सामाजिक-विचार की स्थापना करना था जिससे

न जो क्षमीर गरीब पर क्षीर न गरीब क्षमीर पर शासन कर सके बल्कि शासक ऐसे व्यक्ति हों जो दोनों से ऊपर हो अपना कम से कम वे दोनों ही सामान में भागीदार हों ।”

प्लेटो पर सबसे बम्बीर प्रभाव सुक्यस की मृत्यु का था जिसके कारण ही उसे अपने समान क्षीर उसकी राजनीतिक स्थिति में शान्तिविरोधी का अहसास हुआ । जो समान एक लक्ष-भाषी दार्शनिक के साथ न्याय न कर सकता हो, वहाँ समुल्लेख को जान न मानकर राज्य की दार्शनिक विभूति को सुलभ समझा जाता हो, उस समान के प्रति प्लेटो के हृदय में श्रद्धा नहीं रही । समान की इन कुछी व्यवस्थाओं को दूर करने की दृष्टि से ही उसने अपनी सभासदी (Academy) सीनी क्षीर एक ऐसे ग्रन्थ की रचना की जिसमें ‘सदगुण ही ज्ञान है’ (Virtue is Knowledge) का आधार लेकर उन सब सुखी की दृष्टि की कई जिन्हे उत्कालीन मृगशी-राज्य क्षीर समान होना तथा निरादर की भावना से देखता था ।

इस ग्रन्थ की रचना में प्लेटो का एक उद्देश्य यह भी था कि वह उत्कालीन पीक-प्रचलन में प्रचलित ‘सोटीरी द्वारा नियुक्ति की व्यवस्था’ को उन्मूलित करता जाहूँ था । इस व्यवस्था के अनुसार “प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक बर के लिए योग्य बनना जाता था तथा विभिन्न बरों पर नियुक्तियाँ लैडरियों द्वारा की जाती थीं ।” समान क्षीर कुशलता के लिए शासक इस प्रथा में एवेंड के उत्कालीन प्रचलन को अधोम्य व्यक्तियों के हाथों में कठजुलाई बना दिया था । महा प्लेटो ने एक ऐसे शासन-रूप का निर्माण करने की चेष्टा की, जिसमें ‘सामर्थ्यवाद’ के स्थान पर सर्वोत्थ का भाव हो, शासनपरिह नृह के स्थान पर एकता हो क्षीर अनुभवहीन शासकों की सकृदलता की बरह ज्ञान साधारण समता क्षीर योग्यता का शासन हो । इसी राजनीतिक बदेल की दृष्टि हेतु उसने अपनी ‘रिपब्लिक’ लिपी जिसमें दो साधनों का अनुमोदन किया गया—(1) विशेषीकरण (Specialisation) क्षीर (2) एकीकरण (Unification) । ‘रिपब्लिक’ के ‘साधने राज्य’ में विशेषीकरण जाने की दृष्टि से प्लेटो ने राज्य की बनकरवा को तीन बरों में विभाजित किया है—(i) साधिक बर, (ii) रैनीक बर, क्षीर (iii) शासक बर । इसमें से प्रत्येक-बर को अपने-अपने निर्धारित कार्य में उत्तर रहने की स्थिति को उसने न्याय बताया है । जर्नेस बार्कर ने ‘रिपब्लिक’ की ऐतिहासिक दृष्ट्युति समझते हुए लिखा है कि प्लेटो के एलेख में साधन संरक्षण के दो सामर्थ्यही दुर्गुल अपनी परमा पर बर्द्ध बुरे थे । एक को उसने ऐसा बताया बताया है जो बुरे ज्ञान के देश में सर्वव्यापी ह चुका था (Ignorance masquerading in the guise of knowledge) । दूसरी दुर्गुलता वह दृष्ट्युति की सकृदलता थी जिसने बर राज्यो का विभाजन कर उन्हें दृष्ट्युल की स्थिति में ला दिया था (Factionalism dividing City States) । इन दोनों दुर्गुलों का निदान केवल दो ही हो सकते थे—बहुता समता ज्ञान का शासन क्षीर दुर्गुल राज्य की वैदिक एकता का विकास । राजनीतिक रसैव की भाषा में इसे ‘प्लेटोनिक जनिह’ क्षीर ‘रिप्रीम बॉक डिमॉसिपरी’ कहा जाता है । न्याय के सामर्थ्य

से जिस विरोधात्मक राज्य सम्पादन का विषय प्लेटो चर्चित कर रहा है वह एक ऐसी स्थिति है जिसमें हर व्यक्ति अपने-अपने कामों का विशेषज्ञ है, केवल एक ही काम पर अपने को केन्द्रित करता है और तीनों वर्गों को एकतापूर्वक सम्न्वय एवं एकता का उद्देश्य दार्शनिक राज्य के समस्त शासन से पुरा किया जाता है। राज्य में जिसकी ऐसी स्थिति है वैसे कि 'मस्तिष्क' की मरीच में। 'भाव' का दर्शन और किताबफार विषय की व्यवहारगत उत्साहीन युवावस्था के मजानी सम्पादन और उसमें स्वातंत्र्यविरोधवाद के प्रभावी निदान के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।

इस तरह यह कहा जा सकता है कि प्लेटो का अपनी 'रिपब्लिक' के प्रस्ताव में सार्वभूत उद्देश्य यह था कि यह उत्साहीन राज्य-व्यवस्था एवं सम्पादन में स्वातंत्र्य विरोधी स्वार्थपरता, अपने-अपने तथा अज्ञान-अनित सुशासन जैसे रोगों का उपचार करता जाहूदा था। "प्लेटो की यह धारणा थी कि राजनीतिक शक्ति को निःस्वार्थ एवं जन-वीर्य की भावना से पूर्ण जानी और स्वामी व्यक्तियों के हाथों में सीमने से ही अपने-अपने तथा राजनीतिक स्वार्थपरता के रोग दूर हो सकते हैं। कहना सही विचार उसकी दार्शनिक राजनीति के शासन की प्रसिद्ध व्यवधारणा में अभिब्यक्त हुआ।"

‘रिपब्लिक’ में न्याय सिद्धान्त

(Theory of Justice in 'Republic')

न्याय की व्याख्या और सम्पाति 'रिपब्लिक' का केन्द्रीय प्रश्न है। 'रिपब्लिक' ग्रन्थ का मूल भीषक या Dekalogos (जो अनुवाद की दृष्टि से 'न्याय प्रश्न' अथवा 'भाव से सम्बन्धित' (Concerning Justice) ग्रन्थ कहला 'रिपब्लिक' की भावना के अधिक समीर होता।

प्लेटो के माध्य 'रिपब्लिक' की व्याख्या सही सम्भव है जब सम्पूर्ण समाज में सुव्यवस्था, समझ और एकता हो। प्लेटो एक ऐसे मनोविज्ञान आधारित राजनीतिक सिद्धान्त को वास्तविकता अनुभव करता है जो अनुष्ठी में कर्तव्य-परम्पराओं की भावना भर सके, सम्पादन की चरचित समझ एवं सके और जिसका अनुसरण कर सभी व्यक्ति अपने वृत्त-वृत्त कार्यों की करते हुए भी एकता के मूल में जुड़े रहे और दूसरों को हानि पहुँचाए बिना अपने-अपने स्वातंत्र्य के विकास की पूर्ण सुविधाएँ प्राप्त कर सकें। प्लेटो के मत में ऐसा सिद्धान्त है 'न्याय'। उसके अनुसार न्याय-सिद्धान्त एक ऐसी धारणा है जो सम्पादन से सम्बन्धित, सम्बन्धित, कर्तव्य-विमुक्तता तथा बुद्धिहीनता मार्गि व्यक्तिों की जो एक साधन समाज के स्वातंत्र्य के लिए पाठक है दूर कर सकती है। प्लेटो चाहता था कि हर व्यक्ति कर्तव्यपूर्वक स्वतन्त्र-व्यवस्था निर्दिष्ट कार्य करता रहे। उसकी दृष्टि में यही सामाजिक न्याय है जिसे दूसरे वर्गों में समाज-जीवन का सच्चा सिद्धान्त कह सकते हैं। प्लेटो की 'रिपब्लिक' का प्रयोजन न्याय के उन सभी सूत्रों विचारों को लिखे व्यवधारण के समाज के कारण धोखिलों की निम्नी विश्वास में कर्तव्यपूर्ण रचना एवं निरोधित कर सभी न्याय-धारणा को प्रतिष्ठित करना था। "प्लेटो चाहे सोचिलों के सिद्धान्त से जोड़ा के रहा हो अथवा समाज की चरचित तथा के सुधार के लिए प्रयत्नशील

हो, उसके चिन्तन की केवल एक ही धुरी है और उसके विवेचन का केवल एक ही भाग है और वह है न्याय ।”¹

न्याय की परिभाषा देते हुए प्लेटो ने लिखा है कि—“समाज में प्रत्येक व्यक्ति को वह उपलब्ध होना चाहिए जो उसको प्राप्त है ।” सेबाइन (Sabine) के शब्दों में, “अर्थ के लिए प्राप्त क्या है, इससे उसका अधिकार बड़ी है कि व्यक्ति को उससे योग्यता, शक्ति एवं शिक्षा-वीर्य के अनुकूल व्यवहार का पान सम्भव आए । इससे वह भावना भी सम्पन्नित है कि योग्यता के अनुसार व्यक्ति को जो भी कार्य दिये जायें उन्हें वह पूरी ईमानदारी के साथ सम्पन्नित कर लेगा ।”² पाठक के लिए न्याय की यह परिभाषा विचित्र है, क्योंकि किसी भी दृष्टि से यह एक व्यापक और संप्रसारक की परिभाषा के मेल नहीं खाती । “आधुनिक पाठक की समझ में इससे यह भाव घटता ही नहीं जो लैटिन (Latin) के मूल शब्द *Ius* या फ्रेंच की पर्वानवाची *Right* के प्रतिस्पर्धित होता है । इन दोनों शब्दों के अर्थ उन ऐतिहासिक शब्दों की समता है जिनके प्रयोग में कानून एक एका का कार्य करता है और राज्य-व्यवस्था उसे मजबूत बनाती है । प्लेटो की न्याय-व्यवस्था में इस आधार का संभाव स्पष्ट है । उसके विचार के न्याय का अर्थ यह कहाँ नहीं हो सकता कि दार्शनिक शक्ति और व्यवस्था को बचाए रखने मात्र के ‘समुचित’ या सही स्थिति की प्राप्ति ही सामाजिक न्याय है । समाज की बाह्य व्यवस्था तो इस व्यवस्था का जिससे राज्य विनिर्मुक्त होता है, एक खुल छोटा-सा घस भाग है । राज्य नागरिकों के लिए केवल स्वतंत्रता और अधिक-रक्षा की व्यवस्था मात्र ही नहीं करता बल्कि उन्हें सामाजिक सम्पत्ति-सम्पत्तियों के विकास के हेतु भी व्यवहार प्रदान करता है जो सम्पत्ति जीवन की आवश्यकताओं और सुविधाओं की उपलब्धि के लिए पूर्व नियतियाँ हैं । इस प्रकार के राज्य में अधिकार भी होते हैं और कर्तव्य भी । लेकिन, वे किसी अर्थ में विशेष से व्यक्ति विशेषों को प्राप्त नहीं होते । उन्हें अधिकारों द्वारा नियमित कार्यें संपन्न सेबाइने ने ही निहित देखा जा सकता है । प्लेटो के इस विवेचन का आधार यह है कि राज्य पारस्परिक आवश्यकताओं और सम्पत्ति-सम्पत्तियों का आधार केन्द्र बना है । यह विनिर्मुक्त सेबाइने पर अधिक कम देता है, शक्तियों पर नहीं । शासक भी इसके सम्पन्न नहीं हैं और उन्हें भी अपने ही अधिकारद्वारा विशेष प्रकार के कार्य करने चाहिए । बाद का रोमन इतिहास मजिस्ट्रेटों में ब्रता संस्था अनुसृत शक्ति निहित मानता है । प्लेटो का अर्थ किसी भी सुसंगत विचारक के राज्यदर्शन में ऐसा विचार नहीं मिलता । प्लेटो के राज्य सिद्धान्त की सामान्य स्वरूपा भी बड़ी पूरी होती है । यह व्यवस्थित सम्पन्न द्वारा ‘सम्पन्न’ का मान प्राप्त करता एक राज्यकीयता मानता है और इसी एक मूल पर उसका समस्त राज्य दर्शन पूर्णतः आधारित है ।”

1. शर्करा : पृ. 259.

2. सेबाइन : पृ. 53.

नियमित का आरम्भ और घन्ट न्याय के वास्तविक स्वरूप की सीमाओं से होता है—उसके क़वाबों से जान लेने वाले राज खेतों के दो, बड़े भाई ग्लास (Glacon) और अदमन्तस (Adcimantus) हैं। सेफ़ेलस (Cephalus) और उसका बेटा पॉलीमार्कस (Polymarchus), लिथियास, चक़ेडीओन (Chakbedon) थ्रसिमार्कस (Thrasymachus) तथा सुक्रास राज्य दर्शन के पुत्र विषयों पर एक परिचर्चा कर रहे हैं। सेफ़ेलस ने अपने इन सभी साथियों को अपने घर पर ज़ेरीस देवी उत्सव की रात्रि पर सम्मिलित होने का निमन्त्रण दिया है। जब वे भोज उसके घर पहुँचते हैं तो सेफ़ेलस इसका स्वागत करता है। अपने विगत जीवन पर दृष्टिपात करते हुए वह महारुचि मित्रों के संझों को उद्धृत करते हुए कहता है कि—“जब कोई मनुष्य अपना जीवन न्याय और सद्भा के साथ व्यतीत करता है तो उसके, धन की बाढ़, लाभ करने के लिए तथा बुद्धि-जनस्य में उसे महारुचि देने के लिए ‘साया’ एक शक्ति की शक्ति मिल उसके साथ रहना चाहती है।” इस पर सुक्रास एक उत्तर करता है कि यद्यपि वह सब स्वामयुक्त है ? और सही नीतिक प्रश्न ‘निरन्तिक’ की विचार-धूमि मन, साथ शक्ति के सम्मान का आधार बनता है।

अपने न्याय विद्वान का प्रतिपादन करने के लिए अपने सभी के सम्बन्धों के सम्मुख के खेती में पहुँचे तो उन सभी का सम्मान किया है जिसका लक्ष्यहीन, कुतन्त्र में पुन-वर्ण के रूप में प्रचलन था। इस सर्व-बुद्ध के खेती अपनी समकालीन न्याय सम्प्रदायों का सम्मान करता है। उसने अपने समकालीन जिन न्याय-विद्वानों की प्रतिष्ठा ज़ाहिर है, उनके के तीन वर्गों में है—

1. न्याय का परम्परावादी दृष्टि सेफ़ेलस का विद्वान (Traditional Theory of Justice)
2. न्याय का प्रगतादी दृष्टि से थ्रसिमार्कस का विद्वान (Radical Theory of Justice)
3. न्याय का व्यवहारवादी दृष्टि से ग्लास का विद्वान (Pragmatist Theory of Justice)

(1) परम्परावादी विद्वान (Traditional Theory of Justice) — ‘निरन्तिक’ के प्रथम अध्याय में ही सेफ़ेलस एवं उसका पुत्र पॉलीमार्कस न्याय के ऐतिहासिक तथा परम्परावादी विद्वान का सम्मान स्थापित करने का प्रयत्न करता है। सेफ़ेलस का मत है कि “अपने सम्झों और सभी में सम्मान होने तथा देशप्रीति और मनुष्य के प्रति अपने श्रेष्ठ की बुद्धि न्याय है।” इस बुद्धि द्वारा विवाद की बात पताते हुए सेफ़ेलस अपने धार्मिक कार्य करने के लिए बाहर गया जाता है और उसका पुत्र पॉलीमार्कस न्याय के परम्परावादी विद्वान का प्रतिनिधित्व करता है। दूसरी परम्परावादी की प्रतिष्ठा की सम्झों द्वारा वह कहता है, “मित्रों के साथ क़ादी तथा शत्रुओं के साथ युद्ध करना ही सच्चा न्याय है।” न्याय एक ऐसा

कता है जो मित्रों के हित और शत्रुओं के बहिष्कृत करने में ही देखी और पहिचानी जा सकती है।

न्याय की इस परिभाषा की समझी एवं समृद्ध विस्तार करने के लिए गुरुकुल कक्ष पर ध्यान है। यह परम्परागतविशेष के प्रमाण है कि यदि एक व्यवस्था किसी वास्तविकता का मित्र हो और दूसरा व्यवस्था उसी वास्तविकता का शत्रु तो इस विद्वान्त के अनुसार क्या उस वास्तविकता को दोनों व्यवस्थाओं के साथ मित्र-मित्र प्रकार का संबंध करना चाहिए? यदि हाँ, तो यह न्याय न होकर सम्भाव्य होगा। चूँकि यदि एक व्यक्ति के साथ एक व्यवहार न्याय-पूर्ण है तो दूसरे के साथ भी वही व्यवहार न्याय-पूर्ण होगा चाहिए। न्याय की दृष्टि में सभी समान होते हैं फिर शत्रु और मित्र में यह भेदभाव क्यों? प्लेटो के गुरुकुल ने (जो 'लिबे्रल' में प्लेटो के विचारों का प्रकाश है) परम्परावादी न्याय विद्वान्त का समर्थन करते हुए इन विद्वान्त के निम्नलिखित दोष बताए हैं—

(क) यदि न्याय बताई और सुनाई करने वाली एक कला है तो अन्य कलाओं की भाँति यह भी दो विरोधी प्रकार के कार्य कर सकती है। डॉक्टर अपनी शिक्षा कला के दोषों को स्वस्थ तथा न्याय व्यक्ति को दोषी बना सकता है। यह उसकी अपनी दृष्टि पर निर्भर करता है कि वह अपनी इस शिक्षा-कला का प्रयोग भलाई के लिए करता है या बुराई के लिए। यदि न्याय की भी इसी तरह कला के रूप में लिया जाए तो उसके स्वस्थ और बुराई की हत्या हो जाएगी। ऐसा करना स्वेच्छाचार होगा, जिसे न्याय नहीं माना जा सकता।

(ख) फिर न्याय की कला मानना अनुचित है चूँकि यह अनुभव द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता। अनुभव द्वारा न्याय का धर्मन इसलिए भी सम्भव नहीं है कि न्याय मान्य ज्ञान (Lesser Knowledge) का विषय न होकर बृहत्तर ज्ञान (Greater Knowledge) का विषय है। न्याय इसलिए भी कला नहीं है कि इसे स्वेच्छा के दो विरोधी विद्वान्तों में से किसी एक विद्वान्त में प्रयोग नहीं किया जा सकता। न्याय कोई प्रविधि या तकनीक (Technique) भी नहीं है यह तो व्यक्ति की भावना का गुण है, जिसे उसके मन का सम्भाव्य भी कहा जा सकता है।

(ग) मित्रों के हित और शत्रुओं के बहिष्कृत की बात करना तो ठीक है, किन्तु किसी विन व्यवस्था शत्रु की पहिचान करना एक कठिन कार्य है। धर्मन व्यक्ति ऊपर से निष्ठा का दर्शन करते रहते हैं किन्तु दूसरे से वे शत्रु हो सकते हैं। क्या ऐसे व्यक्तियों के साथ भलाई का व्यवहार किया जाना उचित होगा? यदि हाँ, तो ऐसा करना भलाई करने वाले के लिए बहिष्कृत होगा; और यदि नहीं, तो न्याय मित्रों के हित और शत्रुओं के बहिष्कृत का विद्वान्त नहीं हो सकता।

(घ) किसी भी व्यक्ति की सुनाई करने के यह बुरा व्यक्ति और व्यक्ति बुरा हो जाएगा और इस प्रकार किसी भी व्यक्ति की स्थिति को बदले की प्रवृत्ति धर्मन प्रसार करना सम्भव न्याय का उद्देश्य नहीं हो सकता।

(ब) निर्यात के हित और वायसी के सहित का विचार व्यक्तिवादी दृष्टिकोण पर आधारित है। यह विचार दो व्यक्तियों के मध्य सम्बन्ध को स्पष्ट करता है और व्यक्ति को केन्द्र मानते हुए उसके हित सचवा सहित का प्रश्न उठाता है; किन्तु सच्चा न्याय तो सर्वत्र हितसाधक और कल्याणकारक ही होता है। न्याय तो एक सामाजिक विचार है जिसमें समर्थन की हित विन्यास ही सर्व-समान है और ऐसी भी चाहिए।

(घ) परम्परावादी सिद्धान्त के अनुसार न्याय देन, जान एवं परिनिष्पत्ति के अनुसार चलना रहता है किन्तु सच्चे न्याय को तो सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक होना चाहिए। देन, जान और परिनिष्पत्ति के अनुसार व्यवहार की मान्यताई बदल सकती है, एक-विधान भी भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, परन्तु न्याय सिद्धान्त को तो सर्वत्र और सर्वत्र समान ही होना चाहिए।

उपरोक्त विरोधाभासों को दूरते हुए प्लेटो मुद्राण्ड के माध्यम से न्याय के परम्परावादी सिद्धान्त को प्रभाव्य ठहराता है। उसकी सारी तर्कना पौलीसार्कस की सचवाण्ड की प्रबोधितता प्रकर कराती है। वादीवाद द्वारा मुद्राण्ड यह सिद्ध करने की चेष्टा कर रहा है कि परम्परागत धारणाई "एक चीज तक और अधिक रूप से ही उपयोगी हो सकती है और यदि हम उसकी गहराई से जाँचें तो कठिनाइयाँ और परस्पर में विरोधी तत्त्व जबरजस्त हमारे सामने स्पष्ट होते हैं।" प्लेटो यह कहकर अपनी तर्क-श्रुतता का अन्त करता है कि न्याय की परम्परागत परिभाषा वैयक्तिक¹ जैसे किसी सत्यवादी शासक सचवा 'वैयक्तिक'² जैसे किसी ऐसे निरनुसन्धता द्वारा दी गई होगी—“जैसे अपनी सति का बड़ा रस” रहा होगा।³ प्लेटो की दृष्टि में न्याय कोई बात नहीं है किन्तु एक ऐसी समता सचवा सम्बन्ध है जो मानव को निमित्त सत्यताओं पर प्रकृत सत्य कर उसे ऐसे कार्य करने से प्रेरित है जिन्हें करने की उसने इच्छा भी होती है और योग्यता भी।⁴

(2) उग्रवादी सिद्धान्त (Radical Theory of Justice)—जिस समय पौलिमार्कस और मुद्राण्ड के मध्य न्याय पर संवाद चल रहा था, प्रीमीनस नामक लोकहित भी है जो एक नया प्रश्न उठाता है। वह पौचकी सत्यता की एक नई प्रामोचनतामक विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है। प्लेटो ने उसे एक उग्रवादी लोकहित (Radical) के रूप में प्रस्तुत किया है। एक लोकहितवादी उस से

1. प्लेटोसट न्याय का एक सर्वत्र का निम्न 625 ई. पू. से 385 ई. पू. तक प्रेरित पर आधारित है उग्रवादी और बाद में निरनुसन्धता सम्बन्ध और बाद में शासक निता।

2. वैयक्तिक 485 ई. पू. से 465 ई. पू. तक शासक का एक सत्यता की सत्यता का प्रश्न है जिस प्रति को सत्य करने से शासक न्याय प्रकृत रूपता निता। शासक से उसे सत्यता निती किन्तु सत्य से वह प्रकृत है।

3. वादीर-पौचकी, पृष्ठ 231.

4. प्लेटो : पौचकी, पृ. 42.

प्रैसीमेन्स सुकराज पर. केवल "क्रांत्तिक आन्दोलन और वाक्-जाल का सहारा लेने का भारतीय लक्ष्य है और मुनिविस्तृत एवं स्पष्ट उन्हें देने का बावजूद करता है।" उसकी व्याप सम्बन्धी भारता उन्नी के शब्दों में इस प्रकार है—

"विभिन्न प्रकार की सरकारें जैसे जनतन्त्री, कुलीनतन्त्री तथा आत्मशासीकतन्त्री ऐसे कानून बनाती हैं जिनका एकमात्र उद्देश्य केवल उनकी अपनी स्वार्थ-सिद्धि होता है। इन कानूनों को, जिसका पालन वे अपनी प्रजा द्वारा करवाती हैं, वे व्याप की सहा देती हैं, और जो व्यक्ति उनकी अवहेलना करते हैं उन्हें सन्ध्यामी और कानून के तहत कड़ कर दण्डित किया जाता है। मेरे ऐसा कहने का अर्थ केवल यही है कि सभी राज्यों में व्याप का केवल एक ही सिद्धान्त है और वह है सरकार का हित। पूर्ण सरकार के रूप में शक्ति होती है इसलिए यह कहना उचित अनुचित नहीं होगा कि व्याप सिद्धान्त सर्वत्र एक ही है और वह है जनता का हित और शक्तिशाली का स्वार्थ।"

अपनी उपरोक्त परिभाषा में प्रैसीमेन्स ने व्याप सिद्धान्त के बारे में दो प्रस्तावनाएँ प्रस्तुत की हैं—

(i) अपने पहली बात यह रही कि व्याप शक्तिशाली का लाभ अथवा स्वार्थ है (It is the interest of the stronger)। इस अवधारणा के अनुसार सब और शक्ति एक ही बात हुई। शक्तिशाली व्यक्ति अपने स्वार्थ-पूर्ति के लिए जो भी कानून बनाता है वही व्याप है। दूसरे शब्दों में कहावत उचित है। प्रैसीमेन्स बातलाता है कि अक्सर वे 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' और 'राजा करे सो व्याप' का सिद्धान्त सर्वत्र चलता रहा है। सभी प्रकार की शासन-व्यवस्थाएँ अपने-अपने कानून अपने आसक्ति के हित में बनाती रही हैं। शासक भी अपने राज्यों की रक्षा ही सबसे पहले और सर्वत्र करते हैं। प्रजा को उनके द्वारा विभिन्न कानूनों का अनुसरण करना पड़ता है। जो उनका अवलम्बन करते हैं वे अन्धधो भोखित किए जाते हैं और दण्डित होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक राज्य में व्याप शक्तिशाली का हित ही चलता है। शासक-गण भी सबसे अधिक बलवान होते हैं, जो ही व्यवस्था देते हैं उसे व्याप कहा जाता रहा है। प्रैसीमेन्स का यह सिद्धान्त कुछ शब्दों में हॉब्स (Hobbes) और स्पिनोसा (Spinoza) द्वारा प्रकट की गई व्याप सम्बन्धी अवधारणाओं से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। एक सीमा तक कार्ल-मार्क्स भी इसे पूर्णतया ही व्याप बनाने की संसार होता।

(ii) प्रैसीमेन्स के कथन का दूसरा निहितार्थ यह है कि अत्याचार करना व्याप करने से अधिक बलवान है (Injustice is better than justice)। प्रत्येक व्यक्ति अपना हित चाहता है। अतः व्याप का अर्थ यदि केवल शक्तिशाली व्यक्ति की दृष्टि या लाभ मात्र माना जाए तो व्यक्ति को कुछ नहीं मिल सकेगा। इसके स्थान पर जो अत्याचारी होता वह अधिक सुखी रहेगा। इस स्थिति में अत्याचार अधिक शक्ति तथा प्रसन्नता देने वाला बन जाता है। बुद्धिमान व्यक्ति अपने हित में कार्य करेगा दूसरी के हित में नहीं, इसलिए यह सन्ध्यामी ही आदमी। पता अत्याचारी

स्वतंत्र न्यायी व्यक्ति के अधिक सम्पन्न हुआ । नीतिक्रम व्यवस्था व्यावहारिक उदाहरणों से बनने मात्र को पुष्ट करता हुआ ब्रिंसीमेकस कहता है कि “प्रात्यहिक व्यवहार का ही उदाहरण के ली । जब कभी न्यायी धीरे धन्वादी व्यक्ति किसी व्यापार में सम्मिलित होते तो शान्ति की सम्पत्ति पर धुन कभी ऐसा नहीं देखते कि न्यायी मनुष्य की सम्पत्ति मनुष्य के अधिक धन मिलता हो । व्यक्ति न्यायी व्यक्ति की सदा कम ही मिलता है । फिर राज्य के इन व्यक्तियों का जो सम्बन्ध है उसे देखो । जहाँ प्रत्यक्ष कर देने का काम करता है नहीं इसी तरह सम्पत्ति पर न्यायी मनुष्य अधिक कर देता है धीरे धन्वादी कम । जब राज्य की धीरे से धन वितरण होता है तो धन्वादी शान्ति बढकर हाथ लाता है धीरे न्यायी के पक्ष में कुछ नहीं करता ।” सरकारों नहीं पर सम्बन्ध होने वाले जपानी (Ugians) व्यक्ति ही अधिक लाभ उठाते हैं धीरे न्यायी (Jims) व्यक्ति व केवल लाभ ही लाभ नहीं उठाते, अनिष्ट के धन से किसी धीरे परिचितों तक की हानि पहुँचाते हैं । अपने धन्वादीपूर्ण मायराष्ट्र द्वारा वे कभी सम्बन्धित नहीं करते । छोटे-छोटे पैमाने पर धीरे, ईर्ष्या, तथा वेन बन्धनों की मूर्त करने वाले धीरे लाभ प्राप्त पहुँचाते हैं । राज्य द्वारा कभी उनके पर वे दण्डित होते हैं किन्तु जब कोई राजा किसी धन्य देश के व्यक्तियों की सम्पत्ति दण्ड कर उसे अपनी बना लेता है तो वह मूर्ख विवेका धीरे प्रतापी धीरे बुद्धिमान नहीं कहना चाहता है; उसके नीचे की साधारण बातें जाती हैं । “अतः हे बुद्धिमान पर्याप्त रूप से उसे पैमाने पर किया गया सामान, न्याय की अपेक्षा अधिक अधिककारी, सम्पन्न तथा अधिक अधिककारी करने है ।”

ब्रिंसीमेकस के इन दोषों नहीं को समित कर, जेरो जहाँ विरल करता है । पहली सम्मानना का सम्बन्ध करते हुए जेरोटी माकता है कि माकल यदि एक करता है तो किसी भी करता का उद्देश्य अपनी परार्थ-वस्तु को सम्पूर्णता प्राप्त करना होना चाहिए । कला परार्थ के दोषों को दूर करता है व कि कलाकार की स्वाधीन-चिन्ति । बुद्धिमान के गुण के इस सम्बन्ध के जेरो ने धन्य उदाहरण विचारते हैं । ईनिटर बरीय का इमान अपने लिए नहीं बरिन्क बरीय के दोषों को दूर कर उसे स्वतन्त्र बनाने के लिए करता है । सम्पत्ति अधिक अपने विद्यालय के परित के दोषों को दूर कर उसे विद्यालय धीरे बुद्धिमान करता है, जो उसके अपना हित साधन नहीं करता या करता । काली ईनिटर धीरे साधन विधक केवल वे ही व्यक्ति ही बनते हैं जो दोषों एवं विषय के सम्बन्ध को ध्यान से रख लेंगे । इसी प्रकार कोई भी साधन, साधक को स्वाधीन-चिन्ति का साधन मान नहीं है । वह बनता के सम्बन्ध-बन्ध करने के लिए है । साधन एक उच्च करता है धीरे साधक एक विद्वत् कलाकार की प्रति बनने मूर्त-सकल के बीच के लिए व होकर जन-सम्बन्ध के लिए जाता है । अपने साधक अपने स्वतन्त्र देखकर जन-सेवा में भीन रहते हैं । अतः यह वह कि न्याय क्षतिपूर्ति का काम या हित है, जनता माय-अपराध नहीं । इसी प्रकार एक साधक

अवधारणाओं में यह के अनुसार न्याय का जन्म तत्त्वज्ञानी व्यक्तियों की स्वीकृत धारणाओं से दुर्बलों की रक्षा करने के लिए हुआ। यद्यपि न्याय एक कृत्रिम-वस्तु है और वह भय की सहायता है। कानून और न्याय दोनों ही प्राकृतिक हैं क्योंकि वे तत्त्वज्ञानी व्यक्तियों के स्वाभाविक हितों के विरोध में होते हैं और दुर्बल व्यक्तियों के हितों का समर्थन करते हैं। स्वयं ग्लाकों के शब्दों में, “मान लीजो की राय यह है कि न्याय वास्तविक सम्बन्धों के रूप में कभी भी स्वीकृत और पसन्द नहीं किया जा सकता, बल्कि यह एक ऐसी वस्तु माना जाता है जिसकी स्वीकृति सम्भव करने की प्रयत्न के कारण उत्पन्न होती है। कोई भी ऐसा व्यक्ति जो सम्भव करने की सामर्थ्य रखता है और दुर्बल कहाने योग्य है वह कदापि किसी व्यक्ति के साथ सम्बन्ध न करने और उसे न खदेड़ने का सम्झौता नहीं कर सकता। यदि वह ऐसा करता है तो सम्भव की कि वह पायल है।” इस तरह ग्लाकों निम्न व्यक्ति को न्याय सिद्धान्त को जन्म देने वाला मानता है। वह इसका आधार तत्त्वज्ञानी की दृष्टि न करता कर दुर्बल व्यक्तियों की भय-भावना मानता है। ब्रिटीश के यह विचार है कि “न्याय सम्भव की स्वीकृति है” ग्लाकों की धारणा है। वह इसे दूसरे रूप से प्रस्तुत करता है। अवधारणाओं न्याय कानूनी के लिए एक आवश्यक स्थिति है। इन दोनों विचारधाराओं के मध्य जो अन्तर है उसे स्पष्ट करते हुए ग्लाकों ने लिखा है—“ब्रिटीश के न्याय की वह एक शक्ति पर आधारित तत्त्वज्ञानी व्यक्तियों का हित मानता है। ग्लाकों उसे भय की भावना से स्थापित कर दुर्बलों के लाभ के लिए एक आवश्यक स्थिति मानता है।” लेकिन एक भिन्न विचार पर ब्रिटीश और ग्लाकों दोनों सहमत हैं, वह यह है कि “न्याय कृत्रिम है, परम्परागत है और, सम्बन्धानुसार आवश्यकता विशेष की पूर्ति के लिए उत्पन्न हुआ है। यह अपने-साथ में कोई नियम या सामान्य नैतिक सिद्धान्त नहीं हो सकता।”

जैसे न्याय के अवधारणाओं सिद्धान्त की स्वीकार नहीं करता। यह कानून और न्याय की सम्झौते पर आधारित किसी भी प्रकार की कोई बाह्य वस्तु नहीं मानता। इसके अनुसार न्याय किसी प्राकृतिक, कृत्रिम या बाह्य-शक्ति द्वारा समाज पर लायी गई कोई व्यवस्था मान नहीं है। न्याय का जन्म भय के कारण नहीं हो सकता। वह तो व्यक्ति की सम्भव-भावना की एक ऐसी धारणा है जो समग्र और दुर्बल दोनों के ही हित में है। किसी भी समाज में न्याय का अनुष्ठान किसी भय या वास्तविक शक्ति के कारण न होकर मनुष्य के स्वभाव के अनुसृत होता है। सर्व-साधारण के लिए होता है, किसी विशेष-विशेष के लिए नहीं।

औरों का यह है कि न्याय मानव-जाति का एक प्राकृतिक गुण है। समस्त काल से वह जाति का वही होने के कारण एक ऐसी सामरिक-वस्तु है जिसे सम्भव के लिये मनुष्य की अपनी सहज प्रवृत्ति का भय आवश्यक है। मानव प्रवृत्ति अपने साथ में बड़ी शक्ति है जिसके सूत्र और विचार दोनों ही स्वयं व्यक्ति का स्वयं दोनों के स्तर पर देखे जा सकते हैं। न्याय को उसके आधार रूप में

जानने के लिए उसे उसके विरुद्ध बल में दृढ़ता या संकल्प है किन्तु न्याय का यह स्वरूप किसी वास्तविक ऐतिहासिक राज्य का न होकर प्लेटो के आदर्श राज्य का है ।

इस प्रकार प्लेटो अपनी 'रिपब्लिक' में न्याय सुम्बन्धी परम्परावादी, उपवादी एवं व्यवहारवादी—हीनी विद्वान्ता का बड़े तार्किक रूप में सुग्मन करता है । प्लेटो के अनुसार न्याय के से उपरोक्त तीनों ही विद्वान्त गलत हैं । अतः ज्ञान यह उदता है कि—“कहीं न्याय क्या है ?” और सुग्मनत ऐसे सम्बन्धता हुआ 'रिपब्लिक' का मूल आधार स्पष्ट करता है ।

'रिपब्लिक' में न्याय-विद्वान्त का विशेषतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दृष्टा है । प्लेटो का विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने समाज का अधिकतम द्रित क्षयन कर सकता है । उसका न्याय विद्वान्त यह मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्तव्य के दृष्टि से और उसकी अनुपालना में अपने सर्वस्व को समर्पण देना चाहिए । साथ ही दूसरों के कर्तव्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप भी नहीं करना चाहिए । मुकरात के सम्बन्ध में, “मान प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में रहता है और यदि वह अपने कर्तव्य को अधिक बल के कहता है तो उसका आचरण स्वयं उसकी न्याय-विद्वान्त का परिचायक है ।” प्लेटो की न्याय-भावना व्यक्ति की मानसिक दृष्टा की अभिव्यक्ति था है । ई. एम. फोउटर (E. M. Fother) के मत में, “जिसे हम नैतिकता कहते हैं वही प्लेटो के लिए न्याय है ।” प्लेटो ने प्रत्येक व्यक्ति की मानस में तीन नैतिक-प्रवृत्तियों का विकास माना है—1. ज्ञान (Reason), 2. आहूत (Spirit), और 3. बूझ (Appetite) ।

समुच्च की मानस के से तीनो ताल धक्के-धक्के कार्य-क्षेत्रों की क्षीमाओं में रहते हुये अपने-अपने कार्य सम्पादित करते रहते हैं जो मानस-व्यवस्था में दृष्टा की स्थापना करते हैं । यदि इन तीनों क्षेत्रों को किसी एक व्यक्ति की मानस में सम्मिलित किया जा सके तो वह व्यक्ति-न्यायी बन जायेगा । जिन व्यक्तियों में ज्ञान की प्रधानता होती है, वे सामान-कार्य का व्यवस्थित अनुसन्धानपूर्वक कर सकते हैं । इसी प्रकार जिन व्यक्तियों में बूझ या आहूत की प्रधानता रही है वे उत्पादन कार्य सम्बन्धे इन और सुरक्षा से कर सकते हैं । यदि सामूहिक-साधक धनता कार्य निष्पन्न इन से सम्पादित कर सके तो सैनिक जीवन भी सुदृढ-योग से उत्ताहित होकर भाव-व्यवस्था के लिये तैयार रह सकेगा । इसी प्रकार उत्पादन कार्य द्वारा कठोर धन करने पर यदि उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन अधिक हो तो समाज में समृद्धता और समन्वय जन्म लेगा । यही आदर्श राज्य की स्थापना है । प्लेटो की मान्यता है कि जब उत्पादकों, वित्तियों एवं व्यापकों के तीनों वर्गें मुख्य रूप से अपना-अपना कार्य करें तो एक दूसरे के कर्तव्यों में हस्तक्षेप नहीं होय और समूची समाज में

न्याय का स्मरण हो सकना । यह राज्य की व्यापकता, भस्महार, मानता है, और इस कारण व्यक्तिगत न्याय और सामाजिक न्याय की दो विभिन्न स्थितियाँ, स्थापना कर एक ही स्थिति के दो स्तर मानता है । 'रिपब्लिक' की समझाएँ राज्य में इसी न्याय की ईश्वरी का प्रयत्न है ।

'रिपब्लिक' का अनुपात न्याय की प्रकृति तथा उसके विस्तार पर व्यक्तिगत विवेचना प्रस्तुत करता है । नगर-राज्यों की सामाजिक एवं राजनीतिक सुधारों को दूर करने के लिए यह न्याय की एक प्रधानमाली, समग्र मानता है । उसके आधार-राज्य को, उसके न्याय, विद्वान्त के रूप में नहीं लिया जा सकता । न्याय राज्य की एक आवश्यक शक्ति है जो अन्य व्यवस्था सुखों से रिक्त है । प्लेटो के आधार-राज्य में यह राज्य-कृषी करीर का आधार-स्त्री सत्य है ।

सामाजिक न्याय की चर्चा करते हुए प्लेटो ने लिखा है कि राज्य के सार्वजनिक शासक, शासक और कुलक—इन तीनों ही वर्गों को अपने-अपने कार्य बिना एक दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप किए करते रहना चाहिए क्योंकि एक व्यक्ति एक समय पर एक ही कार्य सम्पादन से और अधिक लाभ में कर सकता है । ऐसा करने से नागरिकों की क्षमताएँ पूरी हो-उठती और राज्य भी शासन-विशेष बन सकता है । वर्ग विभेद होते हुए भी उनमें विग्रह नहीं होता और समस्याओं को समाप्त हो-उठती । प्लेटो के इस न्याय-विद्वान्त के सामाजिक स्वरूप की विवेचन में इन चर्चों में स्पष्ट किया है—

"न्याय यह व्यवस्था है जो मानव-समाज की एकता के धर्म में बसता है । यह उन व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों का नाम है, जिनमें के अर्थों में समान-समानी सिद्धा-विद्या एवं प्रतिपाद के अनुसार अपने-अपने कर्तव्यों को पूरा किया है और उनकी अनुशासना भी करते हैं । यह एक व्यक्तिगत संप्रदाय है और सामाजिक संप्रदाय भी, क्योंकि इसके द्वारा राज्य तथा इसके सदस्यों का समान एवं ही हित-साधन होता है ।" 1 "कारण ने इसी विचार को इन चर्चों में स्पष्ट किया है— "समाज में विभिन्न प्रकार के व्यक्ति होते हैं (जैसे शायर, वैदिक तथा व्यापक) और एक दूसरे की क्षमताओं की पूर्ति के लिए एक समाज के सम्पन्न होकर तथा स्वयं को वाचन करते हुए समाज की एक ऐसी एकता में युक्त हैं जो अपने-आप में पूर्ण है । यह सम्पूर्ण मानव-मानव की उपज है जिसमें सभी का प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है । सामाजिक जीवन के इसी धर्ममूल विद्वान्त को प्लेटो ने न्याय की संज्ञा दी है । 2 स्पष्ट है कि प्लेटो के अनुसार जो व्यक्ति स्वयं का कर्तव्य करता है वह मानविक है, और जिस समाज में विभिन्न वर्गों के सदस्य अपने-अपने कार्य समान-समानी सम्पन्न एवं धर्म के अनुसार युक्त हैं और करते हैं, वह समाज का राज्य न्याय-समग्र का व्यापक है ।

1 इलाहाबाद, इतिहास, 1905

2 आर्चर । इतिहास, 1905

प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की विशेषताएँ

प्लेटो की न्याय सम्बन्धी व्यवस्थाएँ मूलतः राजनीतिक जीवन के सुन्दर से कुछ ऐसी विशेषवर्ण रखती हैं, जो उसके स्वभाव एवं प्रकृति को स्पष्ट करती हैं। इनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—

1. प्लेटो का न्याय बाह्य व्यवस्था की वस्तु न होकर आन्तरिक स्थिति है। वह किसी बाह्य-व्यक्ति द्वारा किसी बर प्रायोगिक नहीं किया जाता, यह व्यक्ति की आत्मा की प्रतिबिम्बि है जिसे आत्मा का एक विशेष-सामान्यमात्मक गुण (Architectonic quality of the soul) कहना सकारण है।

2. न्याय बहुलक्ष्य के सिद्धान्त (The Principle of Non-interestness) से संतुष्ट है। आदर्श-राज्य के प्रत्येक वर्ग के कार्य निर्धारित हैं और सामाजिक न्याय प्रत्येक सदस्य से यह अपेक्षा करता है कि वह दूसरे सदस्य के कार्यों में हस्तक्षेप न करे।

3. प्लेटो का सामाजिक न्याय कार्य विशेषीकरण (Specialisation of Functions) का सिद्धान्त है। मनुष्य की तीन प्रवृत्तियों—ज्ञान, साहस एवं मूल के आधार पर प्लेटो ने समाज को नाविक, सैनिक एवं उत्पादकी के तीन वर्गों में बाँटा है। इन तीनों वर्गों की विनिष्ट कार्य सीपता हुआ प्लेटो चाहता था कि प्रत्येक व्यक्ति केवल अपना ही कार्य करे तथा उस कार्य विशेष में बरन-हीनता की दृष्टि प्राप्त करके निराला रहे।

4. प्लेटो के आदर्श-राज्य में न्याय की स्थापना दार्शनिक शासन द्वारा की गई है। योग्य-शासन के लिए सैनिक एवं नाविक-वर्ग में समझति तथा नारी के सामन्तवाद की स्थापना है जो निःस्वार्थ समाज-सेवा की परिस्थिति का निर्माण कर सकेगी।

5. प्लेटो का सामाजिक न्याय सामाजिक एकता का सिद्धान्त है। सभी और पुरुषों के आधार पर विभाजित समाज के तीनो वर्ग बिना होने हुए न सामाजिक एकता के प्रतीक हैं। इन व्यक्तियों और वर्गों में एकता और सामन्तत्व स्थापित करना ही सामाजिक न्याय की स्थिति है।

6. व्यक्ति एवं समाज दोनों ही के स्तर पर न्याय-गुण की सम्पत्ति के लिए प्लेटो एक व्यवस्थित शिक्षाक्रम प्रस्तुत करता है (जिसकी चर्चा उसके आदर्श-राज्य में की है) जिसके अन्तर्गत वे आदर्श-शासन एवं आदर्श-राज्य की स्थापना सम्भव नहीं हो सकेगी।

7. प्लेटो का राज्य एक वैश्विक दृष्टि है। राज्य उसका न्याय सिद्धान्त भी एक वैश्विक मान्यता है, जो अग्रणी नहीं है।

8. प्लेटो का न्याय मानव-जीवन की समग्रता को लेकर चलता है और वह व्यक्ति के व्यक्तित्व का कुछ और समाज की सामन्तत्वपूर्ण स्थिति का दृष्टांत मात्र है।

9. व्यक्तिगत स्तर पर न्याय व्यक्ति की अपनी आत्मा में नृति के कारण द्वारा समन्वय की स्थापना है। सामाजिक स्तर पर यह व्यक्तिगत द्वारा अपने-अपने

3-8 शासनात्मक राजनीतिक विचारों का इतिहास

कार्य करते हुए दूसरों के कार्यों में बिना हस्तक्षेप किए सामाजिक दण्डा को बनाए रखना है।

इस तरह न्याय 'रिपब्लिक' का आधार-सामग्री है और प्लेटो की सारी कर्म-सूचना का उद्देश्य न्याय के इसी स्वभाव को उत्पादित करना है। प्लेटो ने सिद्धांतगत, जिस व्यक्तिगत या विरोध किया या, न्याय की अवधारणा उसी का अन्तिम और चरम उत्तर है। इसके अनुसार व्यक्ति कोई अनन्य इकाई नहीं है बल्कि एक ऐसी व्यवस्था का घटक है, जिसका उद्देश्य एक ही आत्मा के मुखों की विविध भाव न होकर उस व्यवस्था में एक विशिष्ट स्थान की पूर्ति करना अधिक है। न्याय राज्य के सदस्यों का भी आधार है क्योंकि जब तक नागरिक अपने कर्तव्य-क्षेत्रों पर ध्यान केन्द्रित नहीं करेंगे, जब तक वे अपने सदस्यों का परिचय भी नहीं दें सकेंगे। 'रिपब्लिक' में न्याय को समाज-जीवन का सच्चा सिद्धान्त उद्घारणा गया है। इसीलिए 'रिपब्लिक' को 'न्याय नीतिशास्त्र का ग्रन्थ' भी कहा जा सकता है।

प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की आलोचना

प्लेटो के न्याय सिद्धान्त को आदर्शवादी तथा राज्य के नैतिक सिद्धान्त की आलोचनाओं से एक कहा जाता है। बौद्धिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाएँ संक्षेप में इस प्रकार हैं—

1. बार्कर (Barker) के मतानुसार, इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि 'प्लेटो का न्याय बहुत न्याय ही नहीं है। यह मनुष्यों की अपने कर्तव्यों तक सीमित करने वाली एक भावना मात्र है। यह कोई ठोस कानून नहीं है।' भाव के न्याय की परिभाषा में न्याय कानून का शासन कराने वाला प्रत्यक्ष है, किन्तु प्लेटो का न्याय केवल एक कर्तव्य-भावना है। नैतिक-कर्तव्य तथा कानूनी-बाध्यता (Legal Obligation) की विभाजन प्लेटो ने एक असमर्थ विधि उत्पन्न की है जो उसके न्याय की व्यावहारिक बनाती है।

2. प्लेटो का न्याय निष्क्रिय है। न्याय के चल पर व्यक्ति अधिकारों के लिए तत्पर रहना चाहिए। किन्तु प्लेटो की 'रिपब्लिक' में यह इतना शासन-समर्थ और वर्गीकृत कर दिया गया है कि यह सामाजिक उत्थान की प्रक्रिया में कोई सक्रिय भूमिका नहीं निभा सकता।

3. प्लेटो के सामाजिक न्याय सिद्धान्त में कर्तव्यों की प्रभावता ही नहीं है, व्यक्तिगत अधिकारों की नहीं। अतः उसके न्याय सिद्धान्त में व्यक्ति का केवल पारिभाषिक स्वभाव ही स्पष्ट हो पाया है। न्याय की शक्ति के लिए राज्य में व्यक्ति का विधीनीकरण हो गया है जो उसके विकास के लिए हानिकारक है। अपने न्याय की अवधारणा में कर्तव्य और अधिकार दोनों का समन्वय होना चाहिए जिससे प्लेटो उद्देश्य करता है।

4. प्लेटो के अनुसार न्याय का धर्म है—प्रत्येक व्यक्ति का अपनी प्रकृतिकतः आवश्यकताओं के अनुसार कार्य करना और दूसरों विशेषीकरण प्राप्त करना। लेकिन इस प्रकार के विशेषीकरण से व्यक्ति के नैतिक-व्यवहारिक जीवन में बाधा पड़ना ही चाहिए।

घोर उमका सर्वांगीण विकास सम्भव नहीं हो सकेगा। समाज के तीन वर्गों को मानव व्यक्तित्व के तीन गुणों के आधार पर समाना दार्शनिक है। यह आवश्यक नहीं कि किसी व्यक्ति में तीनों में से कोई एक ही गुण अधिक हो। फिर एक ही व्यक्ति साहसी, बुद्धिमान् एवं श्रुता-प्रधान भी हो सकता है। प्लेटो के न्याय-सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास सिद्धाई घोर एकांगी होगा। इसी प्रकार प्लेटो द्वारा किया गया वर्ग-विभाजन भी यथार्थ है। यह अनुस्यू-स्वभाव की प्रवृत्तियों के अनुसार समाज को तीन वर्गों में बाँटता है, जबकि इन प्रवृत्तियों के आधार पर यह वर्ग-विभाजन सम्भव नहीं हो सकता। ये सभी दार्शनिक तत्व हैं जो मनोविज्ञान की दृष्टि से मनोव्यापित एवं प्रविभाज्य हैं।

5. प्रो० वेबस्टर (Sabbe) का आरोप है कि "प्लेटो की न्याय-कल्पना यह, शासक-वर्ग, शिक्षक, धर्मिक, सम्भाव्यार्थिक एवं सभितव्यनीय है।"¹ उन्हें प्लेटो का न्याय-सिद्धान्त समझावक सामान्य ज्ञान का सिद्धान्त लगता है। उदाहरण के लिए यदि एक व्यक्ति समस्त वर्ग किसी प्रवृत्ति विशेष से संचालित होता भी है तो उसे यह बताने की बरा आवश्यकता है कि वह केवल अपना एक ही कार्य करे।

सांसारिक न्याय का यह सिद्धान्त स्वावित्व की घोर भ्रमा हुआ है जो व्यक्ति को उसके स्वभाव के साथ बाँध कर वास्तविक न्याय भित्ति के स्थान पर अपनी न्याय-कल्पना के वर्ग-संघर्ष की स्थिति पैदा कर सकता है।

6 प्लेटो की रिश्मिक में कार्य विभेदीकरण एवं वर्ग-विभाजन की न्यायिक स्थिति काति एवं वर्ग-व्यवस्था का-का रूप धारण कर लेती है जो राज्य में एकांगी के स्थान पर विपत्ति उत्पन्न करती है। एक घोर तो यह कहता है कि समाज का कोई भी वर्ग किसी दूसरे वर्ग के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करेगा, किन्तु दूसरी घोर उसने अपने शासक वर्ग की राज्य पर निरकुल शासन करने का सम्पूर्ण अधिकार दिया है जो दूसरे वर्गों के कार्य में घोर हस्तक्षेप कहा जा सकता है। शासन की सुवाह कर के बनाने के लिए यदि शासक-वर्ग, उपशासक-वर्ग के कार्यों में हस्तक्षेप करता है तो यह न्याय के सिद्धान्त के विरुद्ध होगा चाहिए, किन्तु यदि यह ऐसा नहीं करता है तो वास्तविक राज्य में शासन व्यवस्था सुचारु रूप से नहीं चल सकेगी।

अने न्याय सिद्धान्त की किस्मियति के लिए प्लेटो ने दार्शनिक शासकों को इसकी अधिक शक्ति प्रदान की है कि वे निरकुल शासक बन गए हैं। शक्ति के एकाधिकार समस्त सम्पूर्ण शक्ति की निरकुलता के कारण प्लेटो के विभेदी शासकों के उपश्रुत हो जाने की पूरी-पूरी सम्भावना बनती है जो सम्भव को नष्ट देनी। इस सिद्धान्त में केवल वैयक्तिक एवं शासक वर्ग की ही शक्ति महत्त्व दिया गया है जिसके कारण जन-साधारण बहुलक्षणीय हो गया है। यह प्रजातन्त्र के विरुद्ध है। न्याय का यह सिद्धान्त प्लेटो की जालीबाजी और सविभावकवादी बनाता है।

1 "Plato's conception of Justice is too static, subjective, generalising, unpsychological and unrealistic."
—Sabbe

3. प्लेटो के अनुसार राज्य, के वास्तव एवं सैद्धांतिक, बर्त-आधुनिक मुक्त समाज सम्पत्ति से वंचित कर दिव्य वास्तविक, बुद्धिमान, यह, विचार मानव-मानव एवं नारी-मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के प्रतिष्ठित है। मूल, सम्पत्ति एवं अधिकार से विभक्त रहकर राज्य के संरक्षक बनने-कानूनी की पुष्टि नहीं कर सकते।

प्लेटो की न्याय शास्त्राचार्यों पर राजनीति ऐन्थे की राजनीति का सम्मोह प्रभाव है। इस व्यवस्था के तीन मुख्य दोष थे—(अ)-बहुता दोष तो यह था कि राज-काज को समझे बिना ही राज-शासन-रक्षकों, राज-सेना या और हस्तधोष करता था। इस दोष को मिटाने का एकमात्र उपाय यही हो सकता था कि सभी को अपने काम का विशेषज्ञ बनाया जाए और प्लेटो का न्याय यही करने की कोशिश है। (ब) दूसरा दोष था—स्वार्थपरता और भ्रष्ट राजनीति। ऐन्थेवासी अपनी-अपनी स्वार्थ-सिद्धि में लगे थे। किसी को इस बात की चिन्ता नहीं थी कि राज्य पर क्या क्या दुष्प्रभाव पड़ने जा रहा है। प्लेटो ने व्यक्ति का राज्य में विभक्त कर इस घमण्ड से लड़ने का प्रयास किया है। (स) तीसरे, नागरिकों का ऐसे दो प्रमुख दुरी के विभाजन की एक-दूसरे के विनाश पर लगे थे। इसके परिणामस्वरूप ऐन्थे राज्य की एकता बचत प्रायः ही चुकी थी। अपने न्याय के सिद्धान्त के द्वारा प्लेटो एकता स्थापित करने की दुरी-दुरी कोशिश करता है। उसके अनुसार, “राज्य पर लड़ी वर्षों का अधिकार है और प्रत्येक वर्ष का राज्य के प्रति एक ऐसा घटनापरोक्षित कर्तव्य है जो उसकी एकता और एकता का अनुष्ठान रख सके।”

इस प्रकार प्लेटो का न्याय-सिद्धान्त सत्य, समुचित, सम्भव और कर्तव्य-करामत्ता का पर्यायवाची है। व्यक्तिगत स्तर पर न्याय-व्यवस्था व्यक्ति वह है जो अपनी आत्मा के बुद्धि, साहस और मूल के तीनों तत्वों को सम्पत्ति कर बुद्धि के व्यवसाय में अपने व्यक्ति का सम्भव उपस्थित करता है। न्यायी व्यक्ति एक ऐसा समुचित व्यक्ति है जो अपने व्यक्तित्व के विभिन्न गुणों और समताओं की सर्वादा भली-भाँति कहानता है। यह केवल गुणवान ही नहीं बल्कि विभिन्न गुणों को व्यवस्थान और समासकर प्रदर्शित करता भी जानता है। प्लेटो का यह व्यक्तिगत न्याय एक ऐसी सैद्धांतिक विशेषता (Architectonic quality) है जो अन्य गुणों और सामग्रियों को एक दूसरे के साथ सम्मिश्रित कर दुरुस्त बनने से रोकती है। एक गुण या सामग्री विशेष (Departmental Excellence) यदि प्रति की जाय कर दे तो वह व्यक्तित्व का दुरुस्त बन जाती है यद्यः बुद्धि के विशेषगुण नियन्त्रण में गुणों के सर्वाधिक रहने पर ही व्यक्तित्व की कोई भी समता गुण की सीमा में रह सकती है। आत्मा की यही समुचितवाची एवं विवेक-सम्पन्न समता वह न्याय है जो व्यक्ति को उसके कर्तव्यों व्यवसाय सामर्थ्यों के प्रति जागरूक बनाती है।

सामाजिक स्तर पर न्याय की उपस्थिति व्यक्तिगत स्तर के न्याय की विद्यमानता की अनिवार्य मान कर चलती है। प्लेटो यह मानता है कि व्यक्तिगत

न्याय द्वारा स्थापित समरसता एवं व्यक्तिगत-सन्तुलन के बावजूद भी राज्य के सभी नागरिक एक-सा जीवन नहीं जी सकते। उन्हें नृसि, साहस और मौलिक तत्वों की प्रशिक्षण के आधार पर अपनी शक्ति के अनुसार अपना कर्तव्य एवं व्यवहार चुनना होगा। अपने इस सन्तुलन काम की वे जानें, करें और करते समय यह न सोचें कि राज्य व्यक्ति की इसी प्रकार का प्रभाव कर्मस्थ कर रहे हैं वा नहीं।

शेरो मानता है कि इस प्राथमिकीय कर्तव्यसमरसता और सामाजिक-समता से समाज के विभिन्न वर्गों से कर्म-सुखलता एवं सामाजिक एकता की स्थापना हो सकेगी। दूसरे शब्दों में, निश्चित कामों की विशेषताओं की समता से करते हुए समाज में एकता की संख्या का सम्बन्ध और सम्बन्ध ही सामाजिक न्याय है।

सुन मिलकर शेरो का न्याय व्यवस्थित ऐन्ड की प्रमुख समस्याओं का उत्तर है—ज्ञान, सामाजिक ज्ञान और विशेषताओं का निश्चित ज्ञान मिलकर समाज को नष्ट कर सकेंगे और सामाजिक चेतना प्रदीप्त हो सकेगी। जब इस प्रकार के नागरिक व्यवहार-प्रणाली कार्य करते हुए जानी और सामाजिक मामलों की समीक्षा में रहेंगे तो समाज में वैयक्तिक-एकता और कर्तव्यविष्ठा की भावना जागेगी, जिससे धृष्ट, स्वार्थ और लोभपूर्ण कार्य मिटेंगे तथा एक ‘सामाजिक एकीकरण’ (Social Integration) या भावनात्मक एकीकरण (Emotional Integration) सम्भव हो सकेगा। ज्ञान के द्वारा राज्य के एकीकरण का विचार मात्र के रूप के जनसमस्यात्मक समस्या के लिए भी पर्याप्त रूप से उपयुक्त है। समाज की निराले के लिए जिस व्यवस्था की विशेषीकरण का प्रश्न शेरो ने अपनी लिखित में उठाया है, उसे मात्र के बड़े राज्य भी निरर्थक और पोल नहीं मान सकते। न्याय की यह व्यवस्था मात्र के विषयसमरस और समानता मात्रों द्वारा साक्षित जनताओं के लिए जतनी ही बनी चुकी है। जिसकी कि सुकरता के हवाले ऐन्डियन जनतन्त्र के समय रही होनी। मानव-प्रकृति की मूल दुर्बलता और मौलिक समता, जिसके सम्बन्ध के आधार पर शेरो अपनी वर्तमान व्यवस्था में समरसता, सन्तुलन एवं एकीकरण माना जाता है, जनतन्त्र के संरक्षक प्राचीन प्रणाली जाती है। व्यक्ति और समाज दोनों के लिए न्याय के नाम पर जिस निष्ठा, कर्तव्यसमरसता और राज्य-हित के लिए लोग और बलिदान की प्रेरणा और प्रेरणाशक्ति शेरो ने प्रतिपादित की है उसे सभी नागरिक और निवारक अनुसूचित मानते हैं। यह दूसरी बात है कि इसकी उपलब्धि और लोक में अनुशासन की आवश्यकता बताते हुए शेरो स्वयं अपनी पीढ़ी में बहुत दूर जाता रहा है।

इस प्रकार शेरो की न्याय-व्यवस्था व्यक्ति और समाज के तथ्यों पर समाज और स्वार्थ-आधारित लोभपूर्णताओं से निराले का एक राजनीतिक सम्पाद है। व्यक्तिगत न्याय की व्यवस्थाओं द्वारा शेरो यह प्रतिपादित करना चाहता है कि सभी ज्ञान के प्राप्ति से प्राप्ति व्यक्ति अपने कर्तव्य पावन में अपने की वास्तविकता की परीक्षा नहीं मानेगा। ज्ञान, गुण होने के कारण व्यक्ति के व्यक्ति में समरसता, सन्तुलन एवं वैयक्तिक-एकता समरस होनी जिसके फलस्वरूप सुधारों

एवं संकीर्णताएँ विनष्ट होकर सम्यक्ता एवं एकता का भाव जायेगा। इसी तरह सामाजिक न्याय समाज के व्यक्तित्व में एकता की स्थापना है जो उसके विचर्यात्मक स्वल्प की स्वीकृति एवं सार्वजनिक शासक की सचीनता में एकता लाने का प्रयास है। मानव व्यक्तित्व की शक्ति सादर राज्य करने विभिन्न वर्गों द्वारा विरोधीभाव कार्य करने की प्रेरणा करेगा और सामाजिक न्याय इस बहुवर्णी समाज की सार्वजनिक शासक के नेतृत्व में एकता में खड़े रहेगा। जिस तरह व्यक्ति के स्तर पर न्याय-व्यक्तित्व की समरसता स्थान है, वह बलिष्ठा का साक्षात्-पालन है। इसी प्रकार सामाजिक न्याय करने कर्तव्य-बोध और कर्तव्यशायस्यता के द्वारा समाज में सार्वजनिक शासन के शासन में सामाजिक एकता की एक ऐसी उपलब्धि है जो पुरातनक जीवन की सम्भेदायी की सम्भव बना सकेगी।

कार्कर ने लिखा है कि "न्याय रिपब्लिक की आधारभूतता है और रिपब्लिक न्याय की दून व्यवधारणा का तत्कालीन स्वल्प है।" उस समय यह स्थापित करता है कि प्लेटो ने न्याय की व्यवधारणा पहले विकसित की और जब वह उसे सम्यक्ता का रूप देने लगा तो रिपब्लिक बन गई। दूसरे शब्दों में यदि न्याय विचार है तो रिपब्लिक उसका सम्भावित स्वल्प। न्याय की व्यवधारणा एक सादर राज्य का बोध रूप है जो विकसित होकर सार्वजनिक शासक की रिपब्लिक के रूप में सूर्यमान हुआ है। न्याय की व्यवधारणा एकीकृत शरीर की वैयक्तिक कल्पना है, जिसमें विभिन्नताएँ एवं विभिन्न स्तर पर किए गए कार्यों के एककता प्रथमा समरसता है। यह सभी सम्भव हो सकता है जबकि सम्यक्ता का प्रत्येक वर्ग द्वारा, पैर, शरीर की शक्ति व्यवस्था-व्यवस्था कार्य करे, लेकिन जिस तरह शरीर की वैयक्तिक एकता बलिष्ठा के साक्षर पर विनियम करता है, उसी प्रकार एक सादर राज्य की एकता सार्वजनिक शासकों के शासन द्वारा ही सम्भव है। फिर जिस प्रकार शरीर पर बलिष्ठा का शासन साक्षात्कारी प्रक्रिया के शरीर के हित में चलता है, उसी प्रकार अपने सादर राज्य के सामूहिक हित एवं एकता के लिए प्लेटो विवेकशील एवं सादर सार्वजनिकी का अधिनासक्यारी अधिमान प्रस्तुत करता है। वे सार्वजनिक शासक केवल एक उदात्ततावादी एवं राज्य द्वारा सम्भालित शिक्षा प्रणाली से ही पैदा हो सकते हैं और वे सर्व्व सामग्री इस प्रबुद्ध राजनीतिक बलिष्ठा की स्थिति में उन यह उन्हें, इसके लिए प्लेटो सम्पत्ति एवं परिवार का साम्यवाद निर्धारित करता है। साथ न्याय की व्यवधारणा व्यावहारिक सभी बन सकती है, जब एक शिक्षा प्रणाली और शासनवादी व्यवस्था सार्वजनिक शासकों की प्रबुद्ध सादर सभ्यता को जन्म दे सके जिसे प्लेटो रिपब्लिक कहता है। दूसरे शब्दों में यदि न्याय रिपब्लिक की आधारभूतता है तो रिपब्लिक में जो भी व्यवस्था बनी है वह न्याय का व्यावहारिक एवं सूर्यमान रूप है।

रिपब्लिक में शिक्षा सिद्धान्त

(The Scheme of Education in the Republic)

प्लेटो के राज्य की साम्य न्याय है और यदि न्याय में हृदय उन सामग्री पर विचार किया जाए तबके द्वारा उसकी निर्दिष्ट हो सकती है तो इसके लिए

प्लेटो ने दो संस्थाओं की संरचना का मुख्य विषय रखा है—एक है, राज्य द्वारा संचालित की जाने वाली सामान्य शिक्षा प्रणाली, और दूसरी, साम्यवादी समाज-व्यवस्था। सांकेर ने लिप्युक्ति की है कि सामान्य शिक्षा प्रणाली द्वारा विभिन्न कार्य का वह प्रशिक्षण प्राप्त होगा और उसे पूरा करने में निःस्वार्थ भाव से जुड़े रहने की वह महत्व प्रवृत्ति जाग्रत होगी जो न्याय की दृष्टि में आवश्यक है। साम्यवादी समाज-व्यवस्था के इस प्रकार के प्रशिक्षण के लिए आवश्यक समय मिल सकेगा, क्योंकि इस व्यवस्था में लोग प्राचीनिक कर्मों की आवश्यकता से बहुत-कुछ मुक्त हो जाएंगे। हमारे की बड़ी बात यह होगी कि इसके द्वारा उस दृष्टिकोण का विकास होगा जिसके अनुसार व्यक्ति "पूर्ण सभ्यता समर्थ" का धन बनता है और जो प्लेटो की न्याय-व्यवस्था में प्रतिष्ठित है।¹ प्लेटो की दृष्टि में शिक्षा वह भावनात्मक वाचन है जिसके द्वारा मासिक समरसतापूर्ण राज्य की स्थापना के लिए मानव-व्यवृत्ति को सही दिशा की ओर उन्मुख कर सकता है।² प्लेटो ने लिप्युक्ति में शिक्षा का इतना विस्तार के विवेकन किया है और मासिक की शिक्षा को इतना महत्व दिया है कि कभी ने दो लिप्युक्ति की शिक्षा पर सर्वोत्कृष्ट कृति की मजा दी है। उसके समर्थ में, "लिप्युक्ति केवल राजनीति पर लिखी गई पुस्तक मान ही नहीं बल्कि शिक्षा पर लिखी गयी एक ऐसी उत्कृष्ट रचना है जो इतने पहले कभी नहीं लिखी जा सकी।"³ लिप्युक्ति की शिक्षा-जीवन जीवन के मूल्य दृष्टिकोण को बल देकर युवाओं की उम्र पर प्रहार करने और जीवन-मूल्य के मूल्य इस में सुधार करने की एक चेष्टा है। यह एक मानसिक रोग को दूर करने का एक ऐसा दार्शनिक निदान है जिसमें सामाजिक चिन्तना तथा कर्म की अनुवृत्ति मिलती है। शिक्षा का उद्देश्य—आत्मा को उस परिवेश में लाना है जो उसके-विकास की प्रत्येक अवस्था में उसके उत्थान के लिए सबसे अधिक अनुकूल हो। साम्यवाद का धर्म है—राजनीति के परिवेश के उन तरीकों को हटा देना जो आत्मा के समुचित विकास में बाधक हो सकते हैं।⁴

प्लेटो ने शिक्षा को एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया माना है जिसके द्वारा समाज के पदक एक सामाजिक चेतना के अनुप्राणित होकर समाज के प्रति करने कर्तव्यों का पालन करना सीखते हैं। एक सच्चे जीवन में जाने वाली बाधाओं की शिक्षा द्वारा दूर किया जा सकता है। शिक्षा एक ऐसा अभिप्राय है जिसके द्वारा व्यक्ति समाज में अपना समुचित स्थान बना सकता है और उसके अनुसार करने की क्षमता रखता है। सच्ची शिक्षा को सही ढंग से ग्रहण करके मन और चेतना को सुप्रसन्न बनाना जा सकता है। प्लेटो शिक्षा द्वारा समाज के विभिन्न वर्गों में राजनीतिक चेतना और

1 सांकेर : दूरिड, पृष्ठ 273

2 वेगेल : दूरिड, पृष्ठ 57.

3 "The Republic is not a work upon politics but the first treatise on education that was ever written."

—Rowe

4 सांकेर : दूरिड, पृष्ठ 273

कराव्य-प्रत्यक्षता की भावना के सुचारु का भावनीही है। उसके दृष्टि में शिक्षा वह प्रकाश है जो व्यक्ति के अस्तिम्य पर छाए हुए अज्ञान की छाया को मिटा कर ज्ञान की प्रदीपि जगता है। इस प्रदीपि के लभी लभी के करव्य-वप-प्रातीम्य को समझे हैं और राज्य में सुल्ला तथा व्यवस्था की यह समझी है। प्लेटो की शिक्षा-योजना का एक समीपरासीय लक्ष्य भी है और यह है राज्य के महत्त्व का अापर। सुवासिनी के चिन्तन में राज्य एक लसीक संस्था की और इसके अापर अत्यन्त एक समानक सम्मन्य का। सोक्रेटी द्वारा प्रतिपादित अस्तित्ववाद का सम्यन कर प्लेटो समूह का महत्त्व प्रतिपादित करता रहता है। राज्य द्वारा शिक्षा का प्रत्यक्ष उसे समीप है, चूँकि उसकी शिक्षा का प्रयोजन भी यही है कि मनुज के लने अपने-अपने लने पूरी लति और मारवा से दूरे करें। शिक्षा के सामाजिक रहस्य पर लत लेते समय प्लेटो ने ललके अस्तित्व लत की भी लही सुमाया है। उसके लिये शिक्षा केवल सुवास-सेवा का ही एक साधन माय न होकर व्यक्ति के लिये भी एक सुल-सोचक लन है। मानव-मस्तिक्य में ज्ञान की लना प्रवाहित कर शिक्षा व्यक्ति को लत सम्य-हून से निकलती है, लिलते यह लने अस्तित्व का लर्वासी लिलत कर लने।

प्लेटो ने शिक्षा की भी महत्त्व दिया है, लतका एक स्वाभाविक परिणाम यह भी निकलता है कि शिक्षा की अस्तित्व लीन और दृष्टि के व्यापारिक लिलान पर लही लीला का लकटा।¹ लत, प्लेटो की दृष्टि में राज्य का ललके रहता और ललके महत्त्वपूर्ण लने है शिक्षा देना। इस सम्मन्य में प्लेटो मल्लू से महत्त है और इस दृष्टि के लें लीनी ही लुलानी लरमन के ललके प्रतिनिधि हैं। शिक्षा का अस्तित्व ही इसलिए है कि राज्य लललिले की ललने राज्य के लैलिक लीन की शिक्षा में और लिलीमल: राज्य में लावन-व्यवस्था का अस्तित्व इललिय होता है कि यह शिक्षा का ललन्य करे।² प्लेटो की लीनता एक राज्य-लिललिल और ललिलाने शिक्षा-लललली को लेकर लली है। प्लेटो ली यह भी लानता है कि राज्य ललला और ललके लीन लिलल-संललान है।³

सलललीन लुलानी-लदलिल

ललनी शिक्षा-योजना की लललुत ललके समय प्लेटो ने सलललीन लुलानी शिक्षा-लदलिली का भी लिलललन किया है। ललके ललन के लुलान में ली शिक्षा-लदलिली ललल लप से लललल ली—एक ऐलल ने लललल शिक्षा-लदलिल और दूसरी लललली ने लललल शिक्षा-लदलिल।

एक लीनी ही शिक्षा-ललललिले के ललने-ललने लललर के ललु लीन है। ऐलला के लिलल की कीई लललललिक लललीय व्यवस्था लली ली। शिक्षा एक अस्तित्व

1 लैललन: दूलील, लप 57.

2 लललर: दूलील, लप 274.¹

3 लैललन: दूलील, लप 57.

स्वयंसेवा या जो राज्य का हित है, होकर प्रजितो-कर उत्तरदायित्व : माना जाता था राज्य की ओर से शिक्षा व्यवस्था को कोई सहायता नहीं मिलती थी। रोमन साम्राज्य के समय तक यूरोप में स्कूलों की ओर से कोई शिक्षा व्यवस्था नहीं की गई थी। सोलन (Solon) के एक अनुमन द्वारा शाखा-विद्या की यह प्रादेश या कि वे अपने लक्ष्यों की प्रशंसा का शान करार है। नदकिपों के, विपद में सोलन का यह कानून मौलिक था। शिक्षा का प्राथमिक तीन प्रकारवालों में बंटा हुआ था—(1) प्राथमिक, (2) माध्यमिक तथा (3) उच्च। शिक्षा के मुख्य विषय—(जो साक्षरता के बाद शुरू होते थे)—तर्क, विद्या, प्राचीन कविता के साहित्य का अध्ययन, व्याख्यान, वैदिक और समीत कादि थे। साहित्य के माध्यम से धर्म-एव साधारणजन की शिक्षा का भी प्रयत्न करवाया जाता था। प्राथमिक शिक्षा 6 से 14 वर्ष की अवस्था तक और माध्यमिक शिक्षा 14 वर्ष से 18 वर्ष तक की अवस्था तक चलती थी। प्राथमिक शिक्षा के बाद प्रायः अध्ययन की दृष्टा रखने वाले शिक्षार्थी कोलिस्टो या प्राइवेटो के विद्यालयों में शुरू से माध्यमिक शिक्षा ग्रहण कर सकते थे। चूंकि यह शिक्षा सभीों की घत प्रायः घनी लोभ ही दृष्टा लाभ उठा पाते थे। कोलिस्ट प्रतिकासात्मक, भाषा-कला, राजनीति, साक्षरता कादि विषयों का सम्मेलन करते थे। शिक्षा की शैलीय अवस्था 18 से 20 वर्ष तक की थी। दो वर्ष की इस अवधि में विद्यापियों की सैनिक शिक्षा की जाती थी जिससे नागरिक-उत्तरदायित्वों की निभाने की क्षमता प्राप्त करते थे।

स्पार्टा में शिक्षा व्यवस्था सामाजिक थी। सम्मता और विकास की दृष्टि से सर्वोच्च की तुलना में काफी पिछड़ा हुआ स्पार्टा (Sparta) प्लेटो के युग में प्रतिक्रियात्मक स्थिति में था। युद्ध की वहाँ की राजनीति में विशेष धूमिल थी। इस सैनिक राज्य में प्राचीनकाल से ही राज्य की ओर से कठोर प्रतिभाओं को व्यवस्था विद्यमान थी। वहाँ शिक्षा में परिवार का कोई उत्तरदायित्व नहीं था। 7 वर्ष की अवस्था से ही बालक राज्य की ओर दिए जाते थे। राज्य उनकी प्रतिभा, योग्यता तथा अभिरुचि के अनुसार उन्हें शिक्षा देता था, किन्तु शिक्षा का स्वरूप प्रमुख रूप से सैनिक शिक्षा (Military Education), या विद्या एकमात्र, उद्योग, या घनी मनुष्य-रक्त पैदा करना। कला, पद्य, सूत्र, वैदिक विद्या की इस व्यवस्था में कोई सम्भावनाएँ नहीं थी। बड़ी-बड़ी व्याख्यानशालाएँ (Gymnasiums), खेले एवं खेल-कानों के लिए बड़े-बड़े सामान्य कला और युद्ध-खेल—ये ही स्पार्टा की प्रमुख शिक्षा-संस्थाएँ थी। स्पार्टा में, आरम्भ में उच्च शिक्षा एक राज्य का निष्पक्ष था। प्रत्येक शिक्षार्थी को दृष्टिपूर्व सैनिक शिक्षा दी जाती थी जिससे कि वह उस स्पार्टा सैनिक व्यवस्था की सेवा कर सके, जिस पर वह जीवित था। स्पार्टा में विभिन्न प्रकार की पारितोषिक एवं सैन्यिक विद्याओं और परीक्षाओं के द्वारा विद्यार्थियों की सुदृढ़ बनाया जाता था। विषयों के लिए पारितोषिक शिक्षा अनिवार्य थी। स्पार्टा में स्पार्टा के प्रसिद्ध विद्या-निर्वाह-लाङ्कार्यक (Lycargus) की जीवनी में लिखा है कि वहाँ बालक-शालिकाएँ एक साथ व्यवस्था में नारा

प्रकार के स्वाभाव करते थे।¹ "घुमसिरी का बगीर दौड़, कुत्ता, बर्तन, भाता पैराना घादि विविध वृत्तियों द्वारा सम्पुष्ट बनना जाता था ताकि उनको सुन्दर भी कुछ और बतिष्ठ हो।" विरनों और पुष्पों को एक निश्चित प्रकार का बनाया जाता था। परिवार के वैवाहिक जेग को कोई स्थान नहीं था। 20 वर्ष की अवस्था के बाद नागरिकों को विवाह करने की स्वतन्त्रता थी, लेकिन 30 वर्ष तक उन्हें राजकीय गुरुद्वारों (Men's House) में रहना पड़ता था। पारिवारिक जीवन को राजकीय मानवव्यवस्थाओं के सम्मुख नीचा समझा जाता था। विवाह एक पुष्प और धूल का सम्मिश्रण था। पति-पत्नी वैवाहिक तथा पारिवारिक जीवन का उपयोग नहीं कर सकते थे। स्त्रियों की सामाजिक व्यवस्था भी राज्य की सैनिक व्यवस्थाओं के अनुकूल थी। सभी नागरिक सामूहिक-जीवनानधियों में भोजन करते थे। लोहे की मुर्तियाँ प्रचलित थीं। स्त्रियों का शासन कुलीन व्यक्तियों के हाथ में था। वे साप्ताहिक एवं पारिवारिक शिक्षाओं में मुक्त रह कर अपना सम्पूर्ण समय राज्य के कर्मों तथा राज्य द्वारा निर्धारित प्रविशेषों में लगाते थे। स्त्रियों की इस शिक्षा-व्यवस्था की वृत्तानी कथा में इसकी स्मृति प्राप्त थी कि एथेन्स के युवक शिक्षा ग्रन्थि हेतु यहाँ जाया करते थे।

प्लेटो ने एथेन्स और स्पार्टा की दोनों ही शिक्षा-व्यवस्थाओं का अध्ययन किया। उसने दोनों में विभिन्न-विभिन्न प्रकार के गुण और दोष पाए। उसके मन में एथेन्स की शिक्षा बहुत सुन्दर का उचित मानसिक और नारीरिक विकास करती थी। वहीं उसका समीर दोष यह था कि वह राज्य द्वारा न ही जाकर परिवार द्वारा ही जाती थी। एथेन्स में शिक्षा का मुक्त केन्द्र राज्य नहीं बरिक्त परिवार था। इसी शिक्षा राज्य के द्विती की दृष्टि में निरर्थक हो सकती थी। इसी केवल विचारक और सुधारक पैदा हो सकते थे, पन्थे, नाथीरक नहीं। प्लेटो का विचार था कि शिक्षा के द्वारा ही शासक व्यक्तियों के चरित्र का निर्माण कर सकता है और उन्हें निःस्वार्थ भाव से समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करने के लिए प्रेरित भी कर सकता है। अतः ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रधान राज्य के पास होने चाहिये न कि व्यक्ति के हाथों में। एथेन्स में राज्य व्यक्ति को नागरिक होने की शिक्षा नहीं देता था और इसका परिणाम यह होता था कि राज्य के अधिकारी सभोग्य और निकम्मे होते थे। वे भ्रष्टाचार शासक के जो स्वार्थ-चिर्द्वि की ही अच्छा ज्ञान नष्ट मानते थे। स्त्रियों की शिक्षा-व्यवस्था में प्लेटो ने देखा कि उसका माध्यम बहुत ही चतुर्विध एवं एकत्रीय था। वह नारीरिक विकास एवं सैनिक शिक्षा पर ही मुख्यतः केन्द्रित था और मानसिक विकास में उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। बहुत कम स्त्रियोंवासी निभना-पढ़ना जानते थे। अधिकांश लोगों को जो नृमान के इतिहास तक का भी ज्ञान नहीं था। मानसिक एवं बौद्धिक प्रविशेषों को एथेन्स के कारण स्पार्टेन शिक्षा अनुपेक्ष को पूर्ण बनाये में अवगर्भ थी।

प्लेटो की शिक्षा-व्यवस्था की विशेषताएँ

प्लेटो ने अपनी शिक्षा-योजना में एलेन्स और स्पार्टा दोनों की शिक्षा-प्रणालियों के गुणों को सम्मिश्रित किया और दोनों के दोषों को मिटाने की कोशिश की। दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिये कि उसने ऐलेन्स की बौद्धिक शिक्षा के साथ स्पार्टा का सममित नाट्यरिक शिक्षण जोड़ा और इस तरह शिक्षा को व्यक्तिगत और राष्ट्र दोनों के विकास का वाहक बनाया। एलेन्स से शिक्षा का वैयक्तिक रूप लिया गया जिसके अनुसार व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास वैयक्तिक माना गया और स्पार्टा से उसका सामाजिक स्वरूप लिया गया जिसके अनुसार शिक्षा राज्य के नियंत्रण एवं निर्देशन में होनी चाहिए, जिससे वह सभी नागरिक उत्पन्न कर सके। राज्य नियन्त्रित धर्मिक एवं उदात्तात्मक शिक्षा प्लेटो का एक नवीन धार्मिकवाद भी जो एलेन्स से पहले कभी नहीं पाई गई। सेबाइन (Seaborn) के शब्दों में, "हम इसे उस जनतन्त्री प्रथा की एक ऐसी समालोचना कह सकते हैं जो प्रत्येक व्यक्ति को अपने सभी के लिए एक ऐसी शिक्षा प्रदान करने की स्वतन्त्रता देता है जो या तो उसे सभी समता हो या जो वस्तुतः आवश्यक है उपलब्ध हो।" उसकी यह प्रणाली स्पार्टा का आदर्शिकरण या जहाँ राज्य इसका प्रबन्ध करता या कि प्रत्येक व्यक्ति को इस प्रकार की शिक्षा प्राप्त हो सके जो उसे अपने कर्तव्यों का पालन करने के लिए प्रेरणा दे सके।

ऐलेन्स की उत्कृष्टतम शिक्षा-व्यवस्था में प्लेटो ने एक दूसरी नवीन विशेषता यह जोड़ी कि उसने स्त्री एवं पुरुषों के लिए एक ही प्रकार की शिक्षा का व्यवस्थापन किया। उसने अपने पारस राज्य में दोनों को समान रूप से प्रत्येक पद का अधिकारी माना। उसके अनुसार राष्ट्र के निर्माण में पुरुषों का भी उत्तम ही साथ है जो होना चाहिए निम्न कि नाट्यिकी का। नाट्य-कला की अभ्यास करके कोई भी राज्य आदर्श एवं सत्त्वशाली नहीं बन सकता। यतः निम्नों को भी आवश्यक रूप से शिक्षा मिलनी चाहिए। प्लेटो का कहना था कि निम्नों और पुरुषों ने नाट्यिक बनावट के धार्मिक मानसिक बुद्धि और दृष्टता की दृष्टि से कोई भी अन्तर नहीं है, यतः उन्हें भी पुरुषों जैसी शिक्षा धर्मिक एवं वैयक्तिक होनी चाहिए।

यहाँ यह बतानेकी आवश्यक है कि प्लेटो निम्नों और पुरुषों को समान शिक्षा की आवश्यकता करते हुए भी उत्पादक और अधिक बर्ग को उच्च शिक्षा से वंचित रखना चाहता है। यह सभी के लिए धर्मिक एवं शिक्षा की योजना रखता है किन्तु, "सभी से उच्चतम उत्पत्ति उन व्यक्तियों से है जो शिक्षा प्राप्त करने के योग्य हैं और जिन्हें उच्च शिक्षा प्राप्त करने की आवश्यकता है। प्लेटो उत्पादक और अधिक बर्ग के व्यावसायिक विशेषीकरण (Fractional Specialisation) की तो बातें करता है किन्तु उन्हें किसी प्रकार की उदात्तात्मक (Liberal) उच्च शिक्षा देने का प्रावधान नहीं करता। व्यावसायिक शिक्षा को वह शिक्षा नहीं मानता और कुशल से कुशल विशेषज्ञ या उत्पादक की वह आवश्यकता को धर्मिक नहीं देता। इस सम्बन्ध में सेबाइन ने लिखा है, "राज्य में शिक्षा के इतने महत्त्व को मान्य में रखते हुए यह

है और माता तक द्वारा प्राप्त करने के लिए। अतः प्रत्येक बच्चे में शिक्षा-विज्ञान और दर्शन के साधन के तत्त्वों को ही आधार पर ही जानी चाहिए। प्रारम्भिक शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को समाज के प्रति अपने अधिकारों से परिचित कराना तथा उनको पालन करने की शिक्षा देना है। अतः प्रत्येक बच्चे में शिक्षा का यह सामाजिक पहलु कुछ धुनिक-सा पद आता है। यह शिक्षा मुख्यतः शरीर, भाषणा तथा ब्रह्म-दर्शन का एक साधन बन जाती है।

प्लेटो का विचार है कि विकास सम्पूर्ण मानव-मस्तिष्क की एक सतत प्रक्रिया है। विज्ञान और व्यवहार दोनों ही मस्तिष्क की उपज है और मस्तिष्क का दोनों से ही सम्पर्क बनाना आवश्यक है। राज्य मस्तिष्क के विकास का एक आवश्यक तत्व है अतः राज्य और व्यक्ति परस्पर सम्बन्धित है। प्लेटो का यह कहना है कि "मस्तिष्क केवल एक ही आधारों की ओर जाता है और वह है सद्बुद्धि की शक्ति। मस्तिष्क का दूसरा कार्य ज्ञान की खोज करना है। ज्ञान के द्वारा विश्व की एकता का पता चलता है अतः ज्ञान का उद्देश्य भी सद्बुद्धि (Good) की खोज है। प्लेटो की धारणा है कि सद्बुद्धि ही समाज की नींव का आधार है। शिक्षा का उद्देश्य राजनैतिक आधार है। शरीर की दृष्टि में "जो मानव के उस दर्शन की चरम सीमा है जिसका 'रिपब्लिक' में प्रतिपादन तथा है।"

शिक्षा का साधनवाद

प्लेटो ने अपनी शिक्षा-योजना तथा शिक्षा के कार्यक्रम को दो भागों में विभाजित किया (क) प्रारम्भिक शिक्षा, एवं (ख) उच्च शिक्षा। यह विभाजन की आवश्यकता पर किया गया है—बहुला व्यवस्था के आधार पर और दूसरा वर्ग के आधार पर। प्रारम्भिक शिक्षा एक ओर जो नागरिकों से युवावस्था तक के लिए है और दूसरी ओर सैनिक वर्ग के लिए है। इसी प्रकार उच्च शिक्षा एक ओर जो युवावस्था से बीजावस्था तक है और दूसरी ओर नागरिक-वर्ग के लिए है। प्रारम्भिक शिक्षा का ध्येय भावनाओं का परिष्कार कर परिण-विर्माण करना है। उच्च शिक्षा का उद्देश्य विज्ञान और ज्ञान द्वारा बुद्धि का परिष्कार करते विवेक की मूर्ति एवं दिव्य दृष्टि को जन्म देना है। प्लेटो की शिक्षा का यह दोहरा कार्यक्रम निम्नलिखित तरीके पर बन देता है—

(1) शिक्षा राज्य द्वारा ही जानी चाहिए। (2) शिक्षा का उद्देश्य उत्तम नागरिक बनाना एवं उन्हें अपने कर्तव्यों का ज्ञान देना चाहिए। (3) शिक्षा देने वाले परिवारों की समाप्ति की जानी चाहिए। (4) शिक्षा द्वारा मानवी आत्मिक क्षमता राजनैतिक राज्य के लिए बननी चाहिए। इस नीति एक प्रकार से राज्य का निर्माण किया जाता चाहिए।

(क) प्रारम्भिक शिक्षा (Elementary Education)—प्रारम्भिक शिक्षा को प्लेटो तीन भागों में विभाजित करता है—(1) प्रारम्भिक 6 वर्ष तक की शिक्षा, (2) 6 वर्ष से 18 वर्ष तक की शिक्षा, (3) 18 से 30 वर्ष तक की व्यवस्था तक की शिक्षा।

प्रारम्भिक शिक्षा में प्लेटो गणितिक, साहित्यिक और संवैधानिक शिक्षा को सम्मिलित करता है। इस व्यवस्था में विद्युवी और कियोरी को निर्मल, स्वस्थ एवं नैतिकता का सन्देश देने वाली कहानियाँ सुनाई जानी चाहिए। प्लेटो मानता है कि समीत द्वारा वांछित-वास्तविकताओं की प्राप्ति को निर्मल तथा व्यापार द्वारा उनके शरीर की स्वस्थ बनाया जाए। समीत में प्लेटो का मतार्थ केवल ज्ञान-बोधन ही नहीं है। उसकी दृष्टि में ही समीत बहु कला है जो मानव मन को प्रवृत्त करे। समीत काव्य की शिक्षा साहित्य, गीत, नाट्य, मूर्ति चित्र आदि सभी सलितकलाओं को प्रतीक है। प्लेटो के अनुसार सर्वश्रेष्ठ शिक्षा, "प्राप्त्य के लिए समीत और शरीर के लिए व्यायामक व्यायाम है।" वाक्य के अन्ती में, "इसका उद्देश्य शरीर प्राप्ति को उन समस्याओं के बारे में (जिन्हें उसे सुनना है)। सही अनुमूर्ति को प्रेरणा तथा सामर्थ्य देना है और फिर उस अनुमूर्ति को इतना प्रबल बनाना है कि वह अपने और कर्तव्यों का पालन बिना किसी शक के नैतिक सम्प्राप्त के रूप में करती रहे।"

इसी प्रकार व्यायाम में तालम्व केवलमान शरीर को पुष्ट करने वाली प्रशिक्षण की कक्षा नहीं है। व्यायाम एक ऐसे शरीर का निर्माण करता है जिसमें एक स्वस्थ और सुष्ठ मन विकसित होता है और उसमें साहस तथा धैर्य के गुण सम्मिलित हैं। इस प्रकार के व्यायाम के सम्मिलित भोजनशास्त्र और धीवविज्ञान भी सम्मिलित हैं। प्लेटो की इच्छा यह है कि गणितिक शिक्षण से शरीर इतना स्वस्थ हो जाय कि वह बीमार न हो। प्लेटो के मत में रोष शासन और विनाशिता का परिणाम है। वह अन्तिम की रोष का इलाज करने वाली के स्थान पर उन्हें बसाने वाला मानता है और इसकेलिए अपने प्राप्ति राज्य में वह उन्हें कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं देता। उसकी यह दृष्टि भारता है कि समीत की उचित शिक्षा द्वारा व्यक्तियों में नैतिकता तथा व्यायाम द्वारा स्वास्थ्य का निर्माण किया जा सकता है। नैतिकता की विकासप्रक्रिया के समय में न ही अनुरूप और व्यापारियों की प्राप्तिप्रकृति होती और स्वस्थ होने में न ही टोकरों की।

प्लेटो ने हरिण पर कुछ प्रभाव डालने वाले साहित्यिक प्रलो एवं कला-कृतियों पर राज्य द्वारा कठोर उचितन्य (Censorship) लगाने की व्यवस्था की है। इसका विचार है कि "साहित्य से इस प्रकार के सभी प्रलो को निकाल देना चाहिए, जो देवताओं की वृत्ति के प्रतिवृत्त हो, उनके मूर्त काय कराते हो, छात्रों के साहस को कम करने वाले हो, और प्रत्यक्ष तथा भोज-विनाश के प्राप्ति को उत्पन्न करने वाले हो। वह उन्हीं समीत की समीप्य मानता है जो हरिण का संशोधन करें। वह, प्राप्तिप्रकृति और शिक्षा के समीत को बहुप्रवृत्त करता है। केवल शरीर और चरित्र के समीत का जो दुष्टता, नति, ईश्वर-शक्ति और मानविक शिष्टता का सम्मेलन करते हैं, वह अनुवीक्ष्य करता है।" लेब्राइ ने भी लिखा है—“प्लेटो ने प्राथमिक शिक्षा के सम्मिलित काव्य तथा साहित्य के उच्च स्तरों को सम्मिलित किया

या । फिर भी, यह नहीं कहा जा सकता कि प्लेटो इन कृतियों का मौलिकपरम समानोचन चाहता था । यह दण्ड नैतिक और धार्मिक शिक्षा का साधन मानता था, कुछ-कुछ इसी तरह जैसे कि ईसाई बाइबिल को समझते हैं । इस कारण वह न केवल मृतकाल के कवियों की रचनाओं के साहित्यिकमय भागों को हटा देता चाहता था बल्कि यह भी चाहता था कि अधिकांश के कवियों पर राज्य के शासक प्रतिबन्ध लगा दें जिससे युवकों के हृदयों में अराज्य तथा अनैतिक छतर डालने वाली कोई चीज न बहने पाए ।⁷¹

प्लेटो की प्रारम्भिक शिक्षा-योजना में 6 वर्ष तक के बालक की नैतिक और धार्मिक शिक्षा ही जाती थी । 7 से 12 वर्ष तक प्राथमिक एवं मीथ्रिक शिक्षा तथा साथ ही क्रीडा तथा व्यायाम पर बल दिया गया । 18 से 20 वर्ष तक कठोर शैक्षणिक-शिक्षा-व्यवस्था की गई है । 'लिम्बिक' में प्लेटो ने प्रारम्भिक शिक्षा की जो योजना प्रस्तुत की है वह तत्कालीन प्रणाली का सुधार है, यह किसी नई व्यवस्था की योजना नहीं है । इस सुधार में एथेन्स के वादरिक्त के लड़के को मिलने वाली शिक्षा का स्टाई के लड़कों को मिलने वाली राजनीतिक शिक्षा के साथ समन्वय कर दिया गया था और दोनों की ही विषय-वस्तु को काफी बढल दिया गया था ।

(ख) उच्च शिक्षा (Higher Education)—'लिम्बिक' का सबसे मौलिक और महत्वपूर्ण सुझाव उच्चतम शिक्षा की व्यवस्था के सम्बन्ध में है । प्लेटो चाहता था कि इस शिक्षा के द्वारा युने हुए विद्यार्थियों को 20 और 35 वर्ष की आयु के बीच में सरासरी वर्ष के उच्चतम पदों के लिए तैयार किया जाए । प्लेटो ने उच्च शिक्षा में दो स्तरों को मान्य किया—20 से 30 वर्ष तक का शिक्षण और 30 वर्ष से 35 वर्ष तक का शिक्षण । 20 वर्ष तक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् जो विद्यार्थी परोक्षा में योग्य एवं बुद्धिमान् प्रमाणित होंगे, उनके लिए ही इस उच्च शिक्षा की व्यवस्था है । दूसरे शब्दों में यह शिक्षा 20 वर्ष की आयु से प्रारम्भ होती और केवल उन्हीं क्षुधाग्र-बुद्धि युक्त-बुद्धिमानों को ही जायेगी जो अधिकांश के शासक बन सकने की इच्छा रखते हों । उच्च शिक्षा का पाठ्यक्रम इन विद्यार्थियों में उच्च ज्ञान का संचार कर उन्हें तैयारी कराएगा—। प्लेटो की मान्यता थी कि जिस प्रकार एक शैलिक का विशेष गुण समूह सम्पन्न होता है, उसी प्रकार एक शासक का आवश्यक गुण ज्ञान सम्पन्न निकल है । इसकी प्राप्ति करने के लिए प्लेटो ने उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम में केवल उन्हीं वैज्ञानिक विषयों को चुना जो वैशेष्य को विकसित करते हैं । वे विषय थे—गणित, ज्योतिष और तर्क-शास्त्र । प्लेटो का यह अत्यन्त विचित्र था कि वे बचपन से ही तर्क के अध्ययन के लिए उत्तम सुचिता है । उसे मान्य था कि दार्शनिक बनने इस अध्ययन में उसी प्रकार तैयारी और शुद्ध विचार्य विकास तर्कमे जाता कि गणित, ज्योतिष सम्पन्न तर्कशास्त्र के अध्ययन से सम्भव होता है । यही कारण है कि दार्शनिक राज्य की कल्पना में

52 पाठशास्त्र राजनीतिक विचारों का इतिहास

उसने सबसे घन्टा में शिक्षा की यह योजना प्रस्तुत की। इस विद्या के घन्टाकेन्द्र इन सभी विद्याओं का घन्टा-घन्टा होना, नई-नई जोषों की जाँची कीर शासकों को नई जानकारी प्राप्त हो सकेगी।

10 वर्ष तक सर्वाङ्ग 20 वर्ष से 30 वर्ष की अवस्था तक इन विषयों का अध्ययन करने के उपरान्त एक परीक्षा होगी। उत्तीर्ण होने वाले विद्यार्थियों को 35 वर्ष की आयु तक इन्डोयार (Dialectics) की शिक्षा दी जाएगी, क्योंकि इन्डोयार ही यह साधन है जिसके द्वारा विपुल उत्पन्न का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। उत्पन्न सम्बन्धी समस्त विचारों में सर्वोच्च विचार 'उत्त' या शुभ (Good) की समीक्षा है जो समाज उत्पन्न का कारण और ज्ञान का सत्य है। प्लेटो ने 'शुभ' सम्बन्धी विचार का यही स्थान है जो वैदन्त में ब्रह्म का है। जो उत्पन्न शुभ को ज्ञान लेता है वही सम्बन्धी जानी है और इसलिए प्लेटो के अनुसार केवल यही शासन करने का अधिकारी है।

प्लेटो की शिक्षा का औपचारिक कार्यक्रम चाहे केवल 35 वर्ष की अवस्था में ही समाप्त हो जाता हो, किन्तु इसकी सम्बन्धी अवधि के इतने सम्बन्धी शिक्षण के बाद भी यह अपने बरतकी के शिक्षण की अपूर्ण मानता है क्योंकि अभी तक उन्हें कोई बौद्धिक शिक्षा ही मिली है, उन्हें समस्त का व्यावहारिक अनुभव नहीं है। अतः प्लेटो ने अपने 15 वर्ष की अवधि तक औद्योगिक शिक्षा के स्थान पर एक ऐसी व्यवस्था की है कि ये बुद्धिजीवी राजनितिक सरकार को पाठशाळा में 'सूफानी बनें और अपने साकर' व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त कर सकेंगे। इस तरह "30 वर्ष की आयु तक नागरिक जीवन की कठोर परीक्षाओं में लगे रहने वाले और लोक-व्यवहार और शासकों का सम्बन्धी ज्ञान अपने वाले राजनितिक ही प्लेटो की सम्बन्धि में शासन करने के अधिकारी हैं।" प्लेटो का यह भी कहना है कि 30 वर्ष के बाद की उन्हें व्याख्यायण करते रहना चाहिए।

प्लेटो की शिक्षा योजना के मुख्य

1. इसका सबसे बड़ा गुण यह है कि यह उचित आयु में उचित शिक्षा की व्यवस्था करता है। प्लेटो ने शिक्षा का पाठ्यक्रम बालकी, किशोरी, युवकी तथा प्रौढ सभी के लिए सुषुप्त-सुषुप्त बनाया है।

2. प्लेटो की शिक्षा का साधनसम्बन्ध कुछ विषयों तक ही सीमित न होकर ज्ञान-जीवन के सम्पूर्ण अनुभव तक फैला हुआ है और शिक्षा की अवधि भी पूरी तरह जीवन-वर्धन व्यापक है।

3. इस शिक्षा-योजना में प्रत्येक वर्ष की बड़ी शिक्षा दी जाती है जो उसके लिए आवश्यक है, उपरान्त सर्वोच्च वर्ष के लिए दर्शन की कोई आवश्यकता नहीं है और उत्पन्नकी को केवल व्यावहारिक विषयोंकरण पर ही ध्यान दिया गया है।

4. इसका एक बड़ा गुण समीक्षा का अनुपयोग है। प्लेटो बताता है कि कलौट की महान् गति का निरूपण रूप सम्पूर्ण समाज को धन्य कर सकता है और

उनका समुपवीक्ष्य समाज की वैश्विक उन्नति के विचार पर से जा सकता है अतः वह कहाँ एवं सर्वोच्च पर राज्य के नियन्त्रण का अध्यायी है ।

5. प्लेटो ने अपनी शिक्षा-योजना में स्त्री एवं पुरुषों में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रखा है । उन्हें युव में एथेन्स में शिक्षा का कार्य-योग केवल घर की भार दीकारी तक ही सीमित था । ऐसी शिक्षा में प्लेटो द्वारा स्त्रियों को शिक्षा देने की योजना बनाना और उन्हें पुरुषों के समकक्ष मानना निश्चय ही एक अभिनवारी कदम था ।

6. प्लेटो की शिक्षा का उद्देश्य कठोर और मरिचक दोनों का विकास करना है । वह मननशील जीवन की व्यावहारिक जीवन के क्षण करने के पक्ष में है ।

7. वह दर्शनशास्त्र तथा बौद्धिक शिक्षा द्वारा साक्षी साक्षको की उत्पन्न करना चाहता है, क्योंकि उसकी धारणा है कि—“जब एक साक्षीक राजा नहीं होने और राजा दार्शनिक नहीं होने तब तक इस समाज की भुरादनी समाप्त नहीं होगी ।” वह उचित शिक्षा द्वारा ऐसे साक्षी का निर्माण करना चाहता है जिसके द्वारा “साक्षी साक्षको का राज्य विद्वान् सती का राज्य हो जाए ।” साक्षी में प्लेटो विशेष योग्यता और शिक्षा की आवश्यकता द्वारा उन्हें सद्व्युत्पी एवं योग्य साक्षक बनाना चाहता था ।

प्लेटो की शिक्षा-योजना की प्रालोचना—प्लेटो की शिक्षा-योजना में कौन-कौनसे गुण हैं और उनसे प्राथमिक गुण से भी लाभ उठाने का सकते हैं तथापि वह बहुत से महत्वपूर्ण दोषों से ग्रसित है । इसका प्रमुख कारण यही है कि प्लेटो ने साक्षी के निर्माण में व्यावहारिकता को स्थान न देकर सैद्धान्तिक बातों को ही अधिक स्थान दिया ताकि उसका राज्य धारार्थ बन सके । उसकी शिक्षा-योजना अधोनिष्ठित साक्षारी पर प्रालोचित की जा सकती है—

1. सर्वाधिक महत्वपूर्ण दोष यह है कि इसमें उत्पादक वर्ग की शिक्षा को कोई विशेष स्थान नहीं दिया गया है । इसका क्षेत्र अनुचित है । वह केवल सरक्षी (ईनिको) तथा साक्षको के लिए है । उसने राज्य की अधिकता जनसंख्या-हृष्य, कारीगर, मजदूर आदि वर्गों के लिए शिक्षण की कोई व्यवस्था नहीं की । यदि शिक्षा सामाजिक व्यवस्था और राज्य की अनुवृत्ति का साधन है तो उत्पादक वर्ग को उन साधनों से वंचित रखना उचित नहीं कहा जा सकता । प्लेटो की यह व्यवस्था, निश्चय ही अर्थशास्त्रात्मिक है बिना उद्धारवादी नहीं माना जा सकता ।

2. प्लेटो अपने एल्डरमन में प्रतिष्ठ की प्रारम्भिकता में अतिम महत्त्व देता है और तुलनात्मक दृष्टि के साहित्य की उपेक्षा करता है ।

3. प्लेटो ने कवि और कलाकारों को राज्य के विकास में उपजाने का प्रयत्न किया है । उसने कवी एवं सज्जनताओं के प्रतिष्ठ से प्रतिष्ठ पर युवा प्रभाव डालने वाले साहित्यिक वर्गों तथा कलाकारों पर राज्य द्वारा कठोर प्रतिबन्ध लगाने की व्यवस्था की है । यह चाहता है कि, न केवल नृत्यकारों के कवियों की रचनाओं के प्रारम्भिकता वर्गों को ही हटा दिया जाए बल्कि अधिक के कवियों पर

को राज्य के शासन प्रतिष्ठान बना दें। 'प्लेटो द्वारा इस प्रकार का विचारण कला के स्वतन्त्र विकास में बाधक है। 'कला की सुव्यवस्थितता' के लिए स्वाधीनता पड़ती मती है। 'कार्कर के सम्मो में "नैतिक उपदेशों के प्राप्त से जकड़ी हुई कला मानव-हृदय का स्वर्ग नहीं कर सकती और जो कला विमुक्त कला के रूप में मानव-हृदय को गही सुसुता सकती, वह उसके ध्यान-विचारों को भी प्रभावित नहीं कर सकेगी।"

4. प्लेटो की शिक्षा-योजना में विविधता नहीं है। मानव-रूपि वैविध्यपूर्ण होती है और उसमें साहित्य और कला के शास्त्र-शास्त्र दर्शन तथा विज्ञान के प्रति एक विज्ञान का पाया जाता स्वाभाविक है। प्लेटो की शिक्षा योजना में विविधता-पर तो ध्यान दिया गया है, किन्तु रूढ़ि की विविधता पर नहीं। उसने ऐसी व्यवस्था की है कि जिससे सबको एक ही शिक्षा दी जाएगी और उस व्यवस्था में कर्तव्य-पालन के योग्य बनाए जायेंगे। यही पर सप्रता है कि प्लेटो ने राज्य की एकता के लिए व्यक्तित्व की विविधता को बलि चढ़ा दी है।

5. प्लेटो की शिक्षा राज्य द्वारा संचालित होती है। उसकी शिक्षा-योजना शास्त्र में व्यक्ति के विकास के लिए न होकर राज्य के विकास के लिए है। उसकी शिक्षा-व्यवस्था का मुख्य ध्येय न्याय के द्वारा शासन राज्य की प्रशिक्ष करना है। उसमें व्यक्ति को बहुत कम महत्त्व दिया गया है तथा राज्य की उन्नति हेतु उसकी आवश्यकता ही नहीं बलिक उपमात्र किया गया है।

6. प्लेटो की शिक्षा का नाम बड़ा लम्बा है। 35 वर्ष तक की अवस्था तक बालकें बाली शिक्षा बड़ी व्यवसायिक है और उसका लाभ बालकें का जमाए सम्पत्ति सम्पत्तियों में नहीं हो सकता। प्लेटो यह मूल जाता है कि एक विवेक प्रकाश के पश्चात् कोई भी वैयक्तिक शास्त्र मानव सम्पत्ति की सम्पुष्ट रखने में समर्थ नहीं हो सकता। इसके साथ ही लम्बे वर्षों तक विषय बने रहने वाले शास्त्रों में कुछ वर्ष अध्ययन करने की आवश्यकता होती प्रत्यक्ष हो जायगी कि वे प्रजन-निर्भरता तथा स्वातन्त्र्य कायं-संचालन की क्षमता को ही बँडेंगे।

7. प्लेटो विषयों और पुष्पों दोनों के लिए एक ही प्रकार की शिक्षा देने की व्यवस्था करता है। इस तरह यह किसी और पुष्पों की प्रकृति और भावनाओं के प्रकार के अनुसार नो बोल मानता है। रवी और पुष्प में वैयक्तिक संचालना होते हुए भी भावनात्मक व्यक्तित्वों का संचार है जो एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है।

8. प्लेटो का जीवन-दृष्टिकोण विप्रेक्षा उत्पन्न करने वाला है। यह 'विप्रेक्षा उत्त' की भाँति जीवन विप्रेक्षा का प्रत्यक्ष देता है। उसकी शिक्षा-व्यवस्था उन्मत्त बने के वैयक्तिक शास्त्रों को ही लाभ पहुँचाती है।

प्लेटो की शिक्षा-व्यवस्था में जाहूँ जो भी दोष निकाले जायें पर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उसका शिक्षा सम्बन्धी विचार एक प्रगतनीक शिक्षा-दर्शन एवं शास्त्रीयशास्त्री शिक्षा-योजना है। उसने शिक्षा पर जो बल दिया है तथा शिक्षा का जो महत्त्व महत्त्व बताया है उसके लिए सकार उत्त महत्त्व शिक्षा-शास्त्री का सर्वेद जाही रहेगा। जोषट (Jowett) का यह कथन कार्यान्वित है कि "प्लेटो

बहुता संभव है जो स्पष्ट रूप से कहता है कि शिक्षा का काम सामोरीन बनना चाहिए । उनके अन्य वैयक्तिक विचारों की अपेक्षा यह विचार प्राथमिक जीवन में प्रयोज किए जाने की योग्य करता है ।¹

‘रिपब्लिक’ में साम्यवाद का सिद्धान्त (The Theory of Communism in ‘The Republic’)

प्लेटो की शिक्षा-मंडलि का मूलमन्त्र व्यक्ति को राज्य के अनुकूल बनाना था । उसने शिक्षा के द्वारा मानसिक उपचार की व्यवस्था की किन्तु प्लेटो को इस बात की चानका थी कि कहीं सामाजिक वातावरण राज्य के उत्तराधिकारी एवं संविद्धों की कर्तव्य-वश से विचलित न कर दे । अतः अपने आदर्श राज्य में ‘न्याय’ की बजाए रक्षक के लिए शिक्षा-मंडलि के साथ-साथ उसने एक नवीन सामाजिक व्यवस्था का भी विचार किया जिसे प्लेटो के साम्यवाद के सिद्धान्त (Platonic Theory of Communism) के नाम से जाना जाता है । इस सामाजिक व्यवस्था के प्रतिपादन में उसका मुख्य ध्येय वही था कि न्याय और शिक्षा-व्यवस्थाओं के होते हुए भी बाह्य आकर्षण और सांसारिक दुर्बलताएँ उनके उत्तराधिकारियों के चार्गे में बाधा न करें और वे निष्कलता एवं स्वायत्तता से अपना कर्तव्य-पालन कर सकें । इन बाह्य दुर्बलताओं के निराकरण के लिए उपयुक्त सामाजिक वातावरण ही प्लेटो का साम्यवाद है ।

प्लेटो कहता था कि इत्येक व्यक्ति अपने वातावरण की लक्ष्यता से ऊपर उठ कर विराट सामाजिकता का एक सदस्यपूर्ण एवं सक्रिय अंग बन सके । राज्य के वे वर्ग जिनके हाथ में सत्ता हो, व्यक्ति तथा समाज का ऐसा समन्वय प्रस्तुत कर सकें जिससे समता और स्थिरता और शुद्ध प्रतीकणों की कोई स्थापना न मिल सके । इस तथ्य उसने राज्य के सराफक वर्ग की निर्लेख भाव से कार्य करने के लिए अनुकूल वातावरण की एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था का विचार किया है जिससे राज्य के सराफकों के साथ न तो निजी सम्पत्ति होनी और न ही वे अपनी और सन्तान के पारिवारिक बन्धनों में बँध सकेंगे । प्लेटो एक आदर्श वास्तव कहता था और उसकी यह मान्यता थी कि यदि सत्ता की दुर्बलताएँ उनके हाथों की अपने वश से विचलित कर देंगी तो आदर्श राज्य का विनाश हो जाएगा । यह नहीं कहता था कि विशेष नियन्त्रण के अभाव में राज्य के दुष्टक ही संभव बन जाएँ । अतः उसने उनकी कमजोरियों के मूल पर प्रहार कर उन्हें जन्म देने वाली समस्याओं, परिवार और सम्पत्ति की ही राज्य-हित में नियमित कर बाधा । सम्पत्ति और परिवार दोनों को अनुप्राण की मूल दुर्बलताओं, संकीर्णताओं और श्रद्धाओं की जन्म देने वाली दृष्टांतों मान कर अपने ग्राहक वर्ग के लिए सम्पत्ति का अन्त करना चाहता है और परिवार का समुद्दीकरण ।

¹ *Jowett : The Republic of Plato.*

प्लेटो की साम्यवादी विचारधारा पूर्णतया ग्रीक धर्म या मौलिक नहीं थी। प्लेटो के जन्म से पूर्व ही यूनानियों की साम्यवादी व्यवस्था का अनुभव या घोर दहशत व्यावहारिक रूप ज्ञान के नगर-राज्यों में उपलब्ध थी था। उदाहरण के लिए, स्पार्टा में शिष्टों को राज्य-हित की दृष्टि से उपोद्दिष्ट किया जाता था। यूनानी की 7 वर्ष की बाल्यावस्था के बाद ही राज्य द्वारा से तैयार किया जाता था और उनके भरण-पोषण का सम्पूर्ण भार राज्य ही वहन करता था। स्पार्टा में द्वार्वजैनिक जल-यान-पद तथा भोजनार्थको भी व्यवस्था की मिलने रही, पुत्र, बच्चे-बुढ़ी की समान रूप से सामूहिक भोजन प्रारम्भ होता था। थोड़ा नामक नगर राज्य में सहकारी शैली की व्यवस्था थी। एथेंस में भी 5वीं सदी में इसी प्रकार की साम्यवादी व्यवस्था का प्रचलन था। पाश्चात्योत्तर का मत था, "ग्रीकों की सम्पत्ति पर सबका समान रूप से अधिकार है।" उसके इस विचार के साम्यवाद की रम्य थी। यूरिपार्ड ने भी प्लेटो के 'रिपब्लिक' की रचना से बहुत पूर्व ग्रीक-साम्यवाद के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। यद्यपि ऐसी रचना में यह कहना कि प्लेटो ने साम्यवादी विचारों की मौलिक रूप से वस्तुतः निम्न ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं नहीं है। प्लेटो ने इन विचारों की सकलित कर अपने सौवर्ण राज्य की नींव को सुदृढ़ किया। इस सम्बन्ध में मैकडालिन (MacDugal) के विचारानुसार "प्लेटो का साम्यवाद उसकी शिक्षा-व्यवस्था द्वारा ज्ञान की सभी विचारधारा की प्रभावशाली बनाने तथा उसे नवजीवन एवं नवमूर्ति प्रदान करने वाला एक अनुपूरक रूप है।"

संस्कृत राजनीतिक चिन्तनिकता होने के साथ-साथ प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था के मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक एवं दार्शनिक आधार भी हैं। इन आधारों की विवेचना इस व्यवस्था की राजनीतिक उपलक्ष्यता एवं दार्शनिक सकलिकता की सिद्ध करती है।

(1) मनोवैज्ञानिक आधार—प्लेटो राज्य को एक 'सम्पूर्णता' (Whole) मानता है और व्यक्ति को उसकी एक इकाई (Unit)। उसके अनुसार राज्य के बाह्य मानव का कोई अस्तित्व नहीं है। तथा उसका वैयक्तिक एवं मानसिक विकास राज्य में ही रह कर सम्भव है। प्लेटो का साम्यवाद अपने भाव में कोई राज्य नहीं है यद्यपि यह उसके भावार्थ राज्य के साथ करण की दृष्टि का एक साधन मात्र है। अपने भावार्थ राज्य के तीन वर्गों में से प्रथम और द्वितीय वर्ग के लोगों को प्लेटो व्यक्तिगत सम्पत्ति से इसलिए दूर रचना चाहता है कि यह परस्पर वर्ग विस्मय रूप से राज्य की सेवा कर सकें; दार्शनिक चिन्तक अन्त्याचार, प्रतिद्वन्द्विता, प्रलोभन तथा वैयक्तिक सम्पत्ति की लालसा से दूर रख सकें, इसलिए प्लेटो का साम्यवाद सभी वर्गों के लिए है जिस पर ज्ञान का भार होता। मानव मनोविज्ञान प्रकटित है कि सम्पत्ति और परिवार की दो बाधाएँ मनुष्य की उदात्तवृत्तियों को सक्षीप्त बनाती हैं और उसके अधिक हुए विना मानक वर्ग राज्य के सुदृढ़ उद्देश्य के समर्थन को एकीकृत नहीं कर सकेगा।

(2) राजनीतिक आधार—प्लेटो के सम्पत्ति-साम्यवाद का एक आधार

यह भी है कि यदि राजनीतिक तथा धार्मिक शक्तियाँ एक हाथ में केन्द्रित रहेंगी तो इसका दुष्परिणाम निकलेगा। इसलिए राजनीतिक विमुक्तता को वापस करने के लिए यह राजनीतिक तथा धार्मिक शक्तियों को सातम-अलग हाथों में स्थापित करना निश्चित आवश्यक समझता है। अपने आदर्श राज्य में राजनीतिक सत्ता अपने पूर्णतः संरक्षक वर्ग के हाथों में होर दो है। बात उसकी यह मान्यता है कि यदि इनके हाथ में धार्मिक शक्ति भी होर सीध दी गई तो उसका परिणाम सातक होगा और उनके संरक्षक भ्रष्टाचार के शिकार बन जाएंगे। इस प्रकार अपने अपनी गरीब सामाजिक व्यवस्था को केवल शासक वर्ग तक ही सीमित रखा है। उसकी इस व्यवस्था का उत्पादक वर्ग से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह वर्ग बिना किसी प्रतिबन्ध के उत्पादन करो हुए अपनी निजी सम्पदा का स्वामी बना रह सकेगा।

(iii) धार्मिक आधार—इस आधार पर प्लेटो ने अपने साम्यवाद को विशेष कार्य (Special Function) के सिद्धान्त द्वारा पुष्ट किया है। उनके अनुसार शिव व्यक्तियों को शासन का बहुत्वपूर्ण एवं विशेष कार्य सीधा क्या हो, उन्हें अपने कार्य में बाधा सन्धा विभिन्न शास्त्रों वाले उनकी सांसारिक उत्थों से इसी प्रकार बचना चाहिए जैसे ईश्वर की शक्ति में लगे एक साधक या सन्धाही को घर, पत्नी, बच्चे, सम्पत्ति का सांसारिक बाधा-बोह से दूर रहना चाहिए।

प्लेटो के साम्यवाद की व्याख्या

प्लेटो अपने साम्यवाद को, राज्य के दो आवश्यक वर्गों-शासकों तथा सैनिकों तक ही सीमित रखता है। यह तृतीय वर्ग वर्ग के लिए साम्यवादी व्यवस्था की कोई आवश्यकता महसूस नहीं करता। प्लेटो की यह साम्यवादी योजना दो भागों में विभाजित है—

- (1) सम्पत्ति का साम्यवाद, एवं
- (2) परिवार तथा निषेधों का साम्यवाद।

(1) सम्पत्ति का साम्यवाद (Communism of Property)—प्लेटो शासकों और सैनिकों के लिए सम्पत्ति का निषेध करता है। यह इन दोनों वर्गों को सांसारिक रूप से राज्य के सन्निभासक वर्ग (Guardian class) के नाम से सम्बोधित करता है। उसका विश्वास है कि सम्पत्ति एक बहुत बड़ा बाधक है जो किसी भी शक्ति को अपने पर से विचलित कर सकती है। सम्पत्ति पर शासकों का व्यक्तिगत स्थापित सम्पत्ति किया जाना चाहिए जिससे उनके मन और मस्तिष्क से सम्पत्ति के प्रति बोह को मिटाया जा सके। यह शासकों के लिए घर या सम्पत्ति की धार्मिक सम्पत्ति हुए कहता है कि एक व्यक्ति के हाथ में सम्पत्ति और शासन की शक्ति केन्द्रित रहने से यह पर-प्रभु होकर योग्य परिधिपति उत्पन्न कर सकता है। बात सम्पत्ति की शक्ति को शासक की सम्पत्ति से अलग रखना ही आवश्यक है। शासक तथा सैनिक वर्ग निजी सम्पत्ति के अधिकारी नहीं बन सकते। सैनिक का सांसारिक रूप से इनका एक अन्य शक्ति पर हो स्थापित नहीं होना चाहिए। नृमि तथा उनकी संरक्षक के केवल उत्पादक ही अधिकारी है। सन्निभासक वर्ग के शास

माने किसी पर भी नहीं होने चाहिए। ज्योते इसके लिए ऐसे विचारों में छुने की व्यवस्था करता है जो सर्वत्र होने एवं सार्वजनिक हों। धरती 'परिनिन्द' में सावकी की जीवनधर्मों का वर्णन करते हुए उसने लिखा है—

“प्रथम तो जिसकी वन में कम व्यक्तिगत सम्पत्ति मिलाने आवश्यक है, उसके अधिक सम्पत्ति उसके दो किसी को भी नहीं रखनी चाहिए। दूसरे, किसी के पास ऐसा घर घसका भण्डार (खेप) नहीं होना चाहिए, जो उसके स्वेच्छपूर्वक प्रेम के लिए निरर्थक कुछ न पड़ता हो। उसकी सोना चाँदनी इतनी मात्रा में होनी ऐसी होनी चाहिए जो कि सपनी एवं साहसी बौद्ध, भरो के लिए उपयुक्त हो। यदि उसकी योग्यता द्वारा सुविश्रुत एवं सुनिर्णीत दम के उसकी सफलता वृत्ति के रूप में उसकी मात्रा में निरर्थक चाहिए कि न जो वर्ग के समर्थ में सामर्थ्यवत्ता के अधिक रूप रहे और न कमी हो गई। कुछ किसी में रहने वाले बौद्धाधी के लक्षण उनका भोकर एवं पतन सामूहिक होना चाहिए। रही सोने-चाँदी की बातें तो इसके विषय में हम कभी कहेंगे कि सोना और चाँदी जो उसकी अपने देवताओं (देवता) द्वारा दत्त ही सपनी मात्रा के भीतर मात्रा है, वह, उसके सार्वभौम की निम्न कोटि की मात्रा की कोई मापन्यता नहीं है। सार्वभौम की मात्रा के विषय में द्वारा अपने को सम्पन्न करना उन्हें कहें नहीं होना चाहिए।—चाहे अगर निराश्रितों में से केवल इन्हीं के लिए सोने-चाँदी की मात्रा में सेवा प्रथम रूप से करना, वह उनके साथ एकत्र एक घर के नीचे रहना या सामूहिकी के रूप में उसकी अपने अपने में भारत करना प्रथम सोने-चाँदी के साथ या नीचे के लिए उपयोग करना सर्वप्रथम होगा। इस प्रकार रहते हुए वे सपनी को रक्षा कर सर्वोच्च और अपने मन की भी पश्यु जब कभी भी वे अपनी वृत्ति, घर और धन उपार्जित कर लें तो वे अपने कम सामर्थिक जगहों के सहस्रक करने रहने की प्रेरणा उन पर ईश्वरों प्रत्यक्षता करने वाले सामर्थ (Tycoon) बन जायें। उनके जीवन के पहले दिन सामर्थियों के प्रेरणा करने में और उनके द्वारा प्रेरणा मिल जाने में, उनके विषय चुनक रहने में, उनके द्वारा रहे चुनकें वह मात्र करने में तथा साह्य वैदेशिक वस्तुओं की प्रेरणा सामर्थिक वस्तुओं के घर के कर रहने में ही छोड़ि और एक प्रकार मात्र में वे अपने तथा अपने राष्ट्र के सर्वगत का अपने बताव करें।”

ज्योते के उपरोक्त कथन में सम्पत्ति के सम्भार के राजनीतिक तथा सामूहिक आधार पर और दिया गया है। इससे पता चल रहा है साम्प्रदाय राजनीति है कि सामर्थिक और राजनीतिक दोनों प्रकार की शक्तियों की प्रेरणा सावक रूप की प्रेरणा करती है दूसरे शब्दों में सावक की सम्भार तथा चुनकता के लिए कोई और इतनी सावक नहीं होती जिससे कि सामर्थिक तथा सामर्थिक शक्ति का एकीकरण। प्रथम इसी कारण से मोरखान (Moralism) के प्रति चुनकर लु विज्ञान (Theory of Separation of Powers) की प्रेरणा प्रेरणा करने का कार्य किया है। अगर वे लिखा है कि एक ही रूपों में राजनीतिक एवं सामर्थिक शक्तियों के एकीकरण में निम्न में प्रेरणा प्रेरणा की प्रेरणा दिया है। यही वह विज्ञान है जिस पर

मत होते हुए मानते हैं कि यह धार्मिक मत जिसके द्वारा वे राजनीतिक शक्ति होती है, अपने स्वार्थ के लिए राज्य वर्गों का शोषण करता है। राजनीतिक और धार्मिक उद्देश्यों को संलग्न-संलग्न रखते हुए प्लेटो चाहता है कि धार्मिक क्रियाओं में लगे हुए व्यक्ति राजनीतिक शक्ति में कोई भाग न लें और जो राजनीतिक सत्ता के स्वामी हों वे कोई धार्मिक हित न रखें।

प्लेटो के साम्यवाद के राजनीतिक उद्देश्य को सेकंडन ने निम्न शब्दों में इस तरह प्रस्तुत किया है—

“प्लेटो की यह दृढ़ मान्यता थी कि शासन पर धन का बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। इस मुद्दे को दूर करने का प्लेटो को बड़ी उत्पन्न हुई कि जहाँ एक तिमाही को और सामर्थ्य का सम्बन्ध है, धन का ही धन कर दिया जाए। नागरिकों के बीच की दूर करने का एकमात्र बड़ी उपाय है कि उनके पास कोई व्यक्तिगत सम्पत्ति न रहने दी जाए। वे किसी वस्तु को धन नहीं न बड़े करें। शासक अपने नागरिक वर्गों के प्रति निष्ठावान रहें। इस क्षेत्र में उनका कोई व्यक्तिगत प्रतिशब्द नहीं है। स्वार्थ के दार्शनिकों को धन के उपयोग या व्यापार करने का अधिकार नहीं था। स्वार्थ के इस उत्पन्न का प्लेटो के अंदर प्रभाव पड़ा है क्योंकि इस सम्बन्ध में प्लेटो की बुद्धि पर सावधानी के विचार होना चाहिए। प्लेटो धन की विचरताओं को इसलिये दूर नहीं करता चाहता था कि वे व्यक्तिगत की स्वत्ता के लिए सम्भावनी होता है। प्लेटो का उद्देश्य राज्य में अधिकतम एकता की स्थापना करना था। व्यक्तिगत सम्पत्ति एक एकता के मार्ग में बाधा थी। यह महत्व पीक विचारधारा की विशेषता है। धन ने सम्बन्ध की सामर्थ्य इस आधार पर नहीं की कि यह सम्भावनी है, अनुत्पन्न इस आधार पर की कि साम्यवाद से वर्तमान राज्या स्थापित नहीं हो सकते। धन, प्लेटो के साम्यवाद का मुख्य उद्देश्य राजनीतिक है। प्लेटो के साम्यवाद का प्रेरक तत्त्व धन के समाजवादी काल्पनिक राज्य (Utopias) के द्रष्टा तत्त्व के निकटतम विचरता है। प्लेटो धार्मिक समानता प्राप्त करने के लिए शासन का उपयोग नहीं करता। यह शासन के एक विशेषकारी तत्त्व को हटाने के लिए धार्मिक समानता स्थापित करना चाहता है।”¹

धर्मशास्त्रिक वर्ग के लिए ऐसे अधिकारों का विधान बनाने का एक कारण धन भी है। प्लेटो केवल ऊँची व्यक्तियों को रख और सामर्थ्य की सामर्थ्य स्वीकृति चाहता है जो चाहें और बुद्धि से भरपूर हो। दूसरे शब्दों में बुद्धि की श्रेष्ठता की सामर्थ्य में भाग लेने की एकमात्र श्रेष्ठता मानता है। जल्दबाजी विचार है कि यदि राज्य में सम्पत्ति-सम्पत्ति की प्रत्येक की खुली छूट दे दी जाए तो यह सम्भव है कि राजनीतिक शक्ति के लिए चुनाव का आधार धन का संप्रभु (Virtue) न रह कर सम्पत्ति हो जाएगी। उसकी बुद्धि में “निजी सम्पत्ति का विनाश इस बात की कारण है कि शक्तिशाली शक्ति पर नील करने मुझे के कारण सामर्थ्य न कि धन की शक्ति के

साधारण पर ।" इसी बुद्धि को हेबार्डन (Sabine) ने दूर तरह व्यक्त किया है "सरकार के ऊपर जन के अमानक प्रभाव का प्लेटो को इतना दुःख विचिता था कि उसे दूर करने के लिए उसे स्वयं सम्पत्ति का ही विनाश करना पड़ा ।" हारमोन (Harmon) ने भी लिखा है कि प्लेटो अपने जीवन में धार्मिक विपत्तियों के दुष्परिणामों को देख चुका था और वह भी देख चुका था कि व्यक्तिगत सम्पत्ति और व्यक्तिगत धार्मिक यात्रा राजनीतिक शक्ति के लिए स्वयं के साधारणतः कारण है, यद्यः उसने नास्तिक और नैतिक उद्देश्यों के लिए सम्पत्ति के साम्प्रदाय को नोचना प्रस्ताव को शक्ति उसने राजनीतिक शक्ति-शक्ति के लिए कोई प्रतिद्वन्द्विता न रहे ।¹

(2) परिवार व्यवस्था परिवर्तनों का साम्प्रदाय (The Commonwealth of Family or Wives) —प्लेटो ने परिवर्तनकर्म के लिए निम्न सम्पत्ति का विवेक करने के साथ-साथ उन्हें निम्न परिवार का स्थापन कर सारे राज्य को समान नृत्त परिवार मानने के लिए कहा है । इसमें प्लेटो का उद्देश्य यह था कि साधन और शैक्षिक वर्ग कर्म के समान कानिनी के मोह में भी मुक्त होकर अपने कर्तव्यों का पालन करें । वे इनके कारण प्रतीतिमें एक साक्षरप्ले के समीप होकर अपने कर्तव्यों को उद्देश्य न करें । प्लेटो का मत है कि परिवार का मोह जन के मोह के धार्मिक प्रकाश होना है और यद्यपि इनके लिये उनके प्रकाश के अनुबद्ध और धार्मिक कर्म करने के लिये भी प्रेरित हो जाता है । हेबार्डन के समीप में "सम्पत्ति की भाँति ही प्लेटो विवाह का भी अनुमान करता है । यहाँ भी उनका यही उद्देश्य है । प्लेटो का विचार है कि मोह धार्मिक स्नेह-काव्यों के कारण उत्पन्न है । यदि सामक परिवार के प्रति अनुत्पन्न हों, तो वे राजकाज की ओर दृष्टि प्रदान नहीं वे करेंगे । सम्मान सम्पत्ति विना व्यक्ति की स्वाधीन एवं नवीर्ण बनाती है । वह सम्पत्ति सबको साक्षात्ता में भी धार्मिक प्रकाश है । पर्ये पर जनको की शिक्षा-दीक्षा का पूरा प्रकाश नहीं हो सकता । पर्ये की शिक्षा जनको की एक योग्य नहीं बना सकती कि वे राज्य की पूर्ण विपत्ति के साथ सेवा कर सकें ।" पुन हेबार्डन के ही समीप में, "विवाह के सम्पत्ति में प्लेटो का एक और भी उद्देश्य था । कुछ प्रकाश नहीं साधारणतः के समीप करते हैं । इस तरह की साधारणतः पर्ये न जानवरी तक में भी नहीं पाई जाती । किसी भी व्यक्ति की उत्पत्ति सभी ही सकती है जब कि उसके स्त्री-पुरुषों की सम्पत्ति-शक्ति विपत्ति हो और केवल कुछ पुन पुन स्त्री-पुरुषों को समीप करने और सम्मान प्रकाश करने की अनुमति हो जाए ।"

परिवार के अनुत्पन्न के पक्ष में प्लेटो का एक तर्क और है और वह है शरीर-शक्ति की विपत्ति । प्लेटो के समय में युवाव में नारी शक्ति की दशा सामान्य नीचनीय थी । उन्हें पर ही साधारणतः से बाहर नहीं निकलने दिया जाता था । उनका कार्य-क्षेत्र मकान की दीवारी और परिवार की जमीन के अन्तर्गत था ।

1. Harmon : Political Thought from Plato to the Present, p. 39.

2. हेबार्डन : पूर्वोक्त, पृष्ठ 57.

प्लेटो की यह मान्यता थी कि नारी-शक्ति के उद्वाल के सिधे उनका कार्यक्षेत्र अधिक व्यापक और विस्तृत होना चाहिये। यह तभी सम्भव है जबकि परिवार व्यवस्था विवाह व्यवस्था की ही समझ कर दिया जाए। प्लेटो ने विवाह के मन्त्र की व्यवस्था कर एवंश में निरवरी की स्थिति की मान्यता की है, जिनके कार्य-कलाप केवल घरी की बनाने और बच्चों का पोषण-पोषण करने तक ही सीमित है। प्लेटो के विचार में यह अनुचित था। इसके कारण राज्य बनने वाले प्राये भावी सरक्षकों की सेवाओं में बाधित हो जाता था। प्लेटो सभी एवं पुरुषों में कोई साधारण भेद की स्वीकार नहीं करता। उसके विचार में किसी ने इतनी योग्यता है कि वे राजनीतिक तथा सैनिक कार्य तक में भाग ले सकती हैं। सरक्षक वर्ग की महिलाएँ पुरुषों का साथ कर सकती हैं। इसके निम्न जरूरी है कि उन्हें पुरुषों की ही शिक्षा मिले और वे सारे धर्म काव्यों से सुदृढ़ हो सकें।

उपरोक्त धारणाओं के आधार पर प्लेटो परिवार का पल्लियों के साम्यवाद की योजना बनाता है। प्राये इस सिद्धान्त का एकत्र कलकलित रूप करने कहा है— "सरक्षक स्त्री-पुरुषों में कोई भी घटना किसी घर (परिवार) नहीं बनानेवा। कोई भी किसी के साथ व्यक्तिगत रूप में सहवास नहीं कर सकेगा। सातक नियमों सब सातक पुरुषों की समान रूप में परिभाषा होगी, इनकी गतियों भी समान रूप से एकत्री होगी और न ही घाता-पिता घपनी समान को जान सकेंगे और न समान माता-पिता की।" (रिपब्लिक, पुच्छ 133)। स्पष्ट है कि प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था के-अनुसार अभिभावक वर्ग के व्यक्तियों की विवाह करके स्थाई रूप में परिवार बनाने की योजना नहीं है। सुंदर, स्वस्थ और बलवती व्यक्ति ही राज्य की साम्यवादीनुसार गतानुसार के निम्न सम्यगी रूप में विवाह कर सकेंगे और उनमें सेवा होने वाले निम्न राज्य के सरक्षक में पाले जावेंगे। सातक में प्लेटो, सर्वोत्कृष्ट नाटियों को राज्य की सेवा के निम्न करने और उन्हें उच्चतम शिक्षा प्रदान करने के निम्न गृह्य योजना की आवश्यकता से समझन करना चाहता था। इस प्रकार उसके द्वारा विवाह-व्यवस्था का अनुभव नारी-शक्तियों के समर्थन का एक अवसरदाता था। उसने नारी की पुरुष के स्तर पर गतानुसार और इसके विवेक-प्रमाण व्यवस्था की स्वीकार किया।

सार रूप में कहा जा सकता है कि प्लेटो ने अपने परिवार या पल्लियों के साम्यवाद की योजना तीन कारणों के प्रस्तावित की थी—

1. यह परिवार के सातक एवं कमी-कमी-कमी-कमी प्रभावों से अभिभावक वर्ग की मुक्त रखना चाहता था।
2. यह नारी की शक्ति तथा समानाधिकार का पतापती था।
3. उत्तम गतानुसार-व्यक्ति के निम्न प्रजनन-व्यवस्था की दृष्टि से प्लेटो की यह व्यवस्था साम्यवादी प्रतीत होती थी।

उत्तम कल्याण पाने के लिए स्त्री-पुरुष का यौन सम्बन्ध विकसित यौवनकाल में होना चाहिए। परन्तु प्लेटो ने यह व्यवस्था की है कि “एकमात्र 20 वर्ष की अवस्था से लेकर 40 वर्ष की अवस्था तक राष्ट्र के लिए सत्तान उत्पन्न करनेवाली स्त्री पुरुष पूर्ण यौवन की अवस्था कर लेने के बाद 25 वर्ष की अवस्था से लेकर 55 वर्ष की अवस्था तक राष्ट्र के लिए सत्तान बँटा करेगी।” इस व्यवस्था से पहले सत्तान उत्पन्न करने वाली का कार्य शारीरिक, अध्यात्मिक और धन्याधनपूर्ण होगा। जब निर्धारित अवयव अवस्था के पश्चात् “पुरुषों को पुरी और माता तथा उनके पतिव्रत पूर्ववत् समया सत्तान की छोड़कर तथा स्त्रियों को पुन तथा पिता मादि की छोड़कर अन्य किसी के साथ वर्णवित्त सहवास की सहायता होगी, किन्तु इस अवस्था में वर्ग की व्यवस्था न लेने देने की व्यवस्था भी की जाएगी।” (रिपब्लिक, पृष्ठ 158)

माता-पिता का मान न होने पर पिता-पुत्र मादि विहित सम्बन्धों का मान बँटने लगेगा—इसका समाधान प्लेटो ने यह कह कर किया है कि—“पुरुष वर बनने के बाद सातवें मास से लेकर दसवें मास तक के समय में उत्पन्न हुए बच्चों को वर होने वर पुत्र और माता होने पर पुत्री कहेंगे और वे सत्तानों उनकी पिता कहेंगे और इसी प्रकार यह इनकी सत्तानों को पति कहेंगे और वे उनके समुदाय की स्त्रियों एवं पुरुषों को सहा-भावी कहेंगे तथा वे सब बच्चे को कि एक माता-पिताओं के समुदाय के प्रजनन काल में उत्पन्न हुए हैं, एक दूसरे की भाई-बहिन मानेंगे।” (रिपब्लिक, पृष्ठ 158)। प्लेटो का विचार है कि इस व्यवस्था से उत्पन्न सत्तानों स्वयं एवं सम्मान होगी और राज्य एक विशाल कुटुम्ब का रूप धारण करके एकता की ओर बढ़ सकेगा।

प्लेटो के साम्प्रदाय की विशेषताएँ

प्लेटो के साम्प्रदाय की सम्पूर्ण योजना के सम्बन्ध में, चाहे यह साम्प्रदाय सम्पत्ति का हो या परिवार समया विवाह का, यह माणस्य सम्बन्धित है कि साम्प्रदायिक नृपायों को दूर करने की विज्ञा में बहुत कुछ किया जा सकता है। प्लेटो की धर्मविज्ञा में साम्प्रदायिक माह्वार-संक्रम बहुत और मुख्य उपचार है, पर भौतिक पराधी की निर्माण करने के लिए भी उसका एक साधन है। पूर्ण साम्प्रदायिक नृपायों के साथ भौतिक दमार्थ दुर्भी होती है, परन्तु प्लेटो की सत्यता है कि भौतिक दमार्थ साम्प्रदायिक नृपायों के कारण है, और इसीलिए यह जीवन की भौतिक दमार्थों के प्राप्त-मुक्त का पोषक है। प्लेटो का विचार है कि साम्प्रदायी व्यवस्था में आध्यात्मिक जीवन के लिए सबसे अनुकूल परिस्थितियाँ होती हैं। पिता-जीवन की प्रति प्लेटो के साम्प्रदाय का उद्देश्य भी न्याय के नाम पर हुआ है और यहाँ भी प्लेटो का प्रथम लक्ष्य है—आध्यात्मिक उत्थान।

प्लेटो का साम्प्रदाय ‘एक राज्य नहीं बलितु साधन है’। “उसका साम्प्रदाय केवल संरक्षक एवं साधन-वर्ग के लिए है तथा उसका उद्देश्य उन अवयवों और प्रयोगों को दूर करना है जिनके द्वारा राज्य में न्याय की स्थापना में बाधा पड़ती है।” साम्प्रदाय प्लेटो के लिए अपनी व्यवस्था का अनिवार्य परिणाम है।

उसके बादमें राज्य के तीन वर्षों में से दो वर्ष सांघिक और सैनिक साम्यवादी कानून में रह कर ही बुद्धिमत्तापूर्वक धनका काम कर सकते हैं और उसके निःस्वार्थ भाव से मने रह सकते हैं। राज्य से जीवन में मन के जिन आधे व्यवसाय तत्त्वों की वे परिधिबद्ध करते हैं वे हैं विवेक और उत्साह। यदि उन्हें इन तत्त्वों के कार्य-विधेय की पूरा करने में जुटाना हो तो उस गणना बनना श्रुता तत्त्व से छुटकारा पाना होना जिसका प्रतिनिधित्व तीसरे वर्ग के तीन धर्मार्थ विज्ञान करते हैं, वे नहीं। अतः यह आवश्यक है कि वे जीवन के धार्मिक पथ का परिष्कार करें क्योंकि जीवन का यह पथ वासना बनना श्रुता तत्त्व की ही बाह्य परिधिबद्ध है। इस प्रकार, मन के सम्बन्ध तत्त्वों की शक्तों में जो उचित स्थिति है, उससे साम्यवादी जीवन का प्रतिपाद साम्बन्ध है। यही साम्यवादी जीवन का सर्वोत्तम जीवन है जो धार्मिक प्रेरणाओं से युक्त हो। सार्वजनिक उन्नति का कानून, जिसमें विवेक-तत्त्व का प्राधान्य है—यह विवेकतः आवश्यक वर्त है। साम्यवाद के विवेक या ही निद्रा में निरन्तर निरन्तर रहा रहता और यदि वह दक्षिण की दुष्कां की वासना बनना श्रुता उसके काम में रुकावट डालेगी और उसे स्वार्थ-वृत्ति के कामों में प्रवृत्त करेगी। साम्यवाद विवेक के माध्यम की आवश्यक तत्त्व ही नहीं है, बल्कि विवेक का प्रकटीकरण ही साम्यवाद के मन में होता है। विवेक का सर्वोत्तम है निर्यातता। इसका प्रतिपाद यह हुआ कि जो व्यक्ति विवेक से अनुपस्थित होना यह आत्म-परित्रीय की ही बनना मजबूत बना कर नहीं बन सकता अतः अपने धर्म की मूर्तता, इकाई के कलाप वासना में लगते हुए बनना होना।” प्लेटो ने व्यक्ति की स्वार्थ-रहित और दरीयकारी भावना को श्रेष्ठता देने के लिए केवल सम्मति की ही नहीं बल्कि तिनको और बन्धों तक को साम्यवाद के धर्मार्थ में निद्रा ताकि तत्त्वक बने परिवार के सुख-काम्य में न बाँटकर देह-केषा में रह रह सकें। प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था का उद्देश्य राज्य का हितसाधन है, न कि उससे सम्बन्धित नहीं का।

प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था वास्तुतः एक मनोवैज्ञानिक आधार पर आधारित है जिसका उद्देश्य मानव-वृत्ति की वृद्धि की ओर से वे जाने वाली बाह्य वस्तुओं और उनके भौतिक सुखों का निषेध करना है। उसकी विवाह-व्यवस्था की ध्येय धार्मिक व्यवस्था प्रेम एवं आकर्षण आदि न होकर केवल राज्य के लिए स्वस्थ प्रत्याभूति है। विवाह के स्थान पर यह स्वतन्त्र सेवक सम्पर्क पर बल देता है। प्लेटो ने सच्चे साम्यवाद में स्पष्ट किया है कि केवल सुख ही मानव के अधिकारी नहीं हैं बल्कि तिनमें भी इस क्षेत्र के सुखों के समकक्ष हैं। उनमें तिनकी तथा सुखों की धामु की भी निश्चित निद्रा है और उसी व्यवस्था के मध्य बीजाचार से उत्पन्न हुए बन्धों की वंश माना है।

प्लेटो के साम्यवाद की आधुनिक साम्यवाद से तुलना

मैक्सी ने निद्रा है कि “प्लेटो साम्यवादी विचारों का मुख्य प्रेरणा-स्रोत है और लिम्बिक के सभी साम्यवादी और समाजवादी विचारों के मूल बीज मिलते

है।¹ किन्तु यह भारतीय दृष्टिकोण काय नहीं है। वास्तव में दोनों विचारों का व्यवस्थापकों में समानता बहुत कम है और संसद्भावना बहुत अधिक। ब्लेडो के साम्यवाद और मार्क्सवादी साम्यवाद की समानताओं और समानताओं का तुलनात्मक विश्लेषण आस्त्यविक स्थिति को स्पष्ट करने में उपयोगी होता है।

समानताएँ

1. ब्लेडो ने अपने आदर्श राज्य की तुलना में व्यक्ति के अधिकारों को महत्व न देते हुए यह माना है कि बहुधा राज्य में रहकर ही अपने उद्देश्यों की पूर्ति करवाने से कर सकता है। मार्क्सवादी साम्यवाद में भी व्यक्ति राज्य की समानता का एक पूर्ण भाग है जिसे राज्य द्वारा निरिच्छित करके दिये जाते हैं।

2. ब्लेडो ने अनिच्छित व्यक्तिगत अधिकारों को कोई महत्व नहीं दिया है। मार्क्सवाद-साम्यवाद भी अनिच्छित व्यक्तिगत अधिकारों को कोई स्थान नहीं देता।

3. ब्लेडो ने अपने साम्यवाद में व्यक्ति के अधिकारों पर ध्यान न देकर उनके कर्तव्यों पर अधिक बल दिया है। मार्क्सवादी साम्यवाद भी व्यक्ति पर अपने कर्तव्य आरोपित करता है कि वह अपने अधिकारों में अधिक-से अधिक ले ले।

4. ब्लेडो के साम्यवाद की नींव का आधुनिक और साम्यवादी है। मार्क्सवादी नींव का भी यदि नहोई और विस्तार में विस्तार करने की यह साम्यवादी दृष्टि है। ब्लेडोवादी और मार्क्सवादी दोनों ही साम्यवाद की नींव में ही समानता हो सकती है, व्यापक क्षेत्र में नहीं।

5. ब्लेडो ने मानव को स्वयं-भावना पर ध्यान न देकर उसके मूल प्रवृत्तियों का अध्ययन किया है तथा उनके मनोवैज्ञानिक विवेचन की उपाय की है। मार्क्स ने भी व्यक्ति का बहुत-बहुत साम्यवादी और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए उसकी स्वयं की प्रवृत्ति पर ध्यान नहीं दिया है। दोनों ही साम्यवाद व्यक्ति के काम, व्यवहार और मूल प्रवृत्तियों की उपाय करते हैं।

6. ब्लेडो का साम्यवाद एकलौती है क्योंकि वह मानव-समाज के केवल एक पक्ष की महत्व देता है—नीतिज्ञता और साम्यवादीता के पहलू को ही स्पष्ट करता है। मार्क्सवादी साम्यवाद की प्रवृत्ति है क्योंकि उसमें भी नीतिज्ञता तथा साम्यवाद की ही प्रधानता ही नहीं है।

7. ब्लेडो राज्य को अपने के निजी सम्पत्ति रखने पर प्रतिबन्ध लगाता है, मार्क्सवादी साम्यवाद भी व्यक्तिगत सम्पत्ति का विरोधी है।

8. ब्लेडो का साम्यवाद आधुनिक राजा के अधिकारवाद में विरोध रखता है, मार्क्सवादी साम्यवाद का विरोध भी सर्वोच्च वर्ग के अधिकारवाद में है।

9. ब्लेडो के साम्यवाद का एक मुख्य उद्देश्य जैव-जीव तथा वर्ग-भेदों को मिटाकर एकता की स्थापना करना है। मार्क्सवादी साम्यवाद भी वर्गीयवाद के तब पर

उनकी समान अधिक उमर प्रदान करना चाहता है ताकि राज्य में एकता और एकपक्षा स्थापित हो सके ।

10. दोनों ही साम्यवाद राज्य को सुव्यवस्थित और सुदृढ़ बनाना चाहते हैं ।

11. दोनों ही साम्यवाद स्थियों और पुरुषों की स्वतन्त्रता तथा उनके कर्मानुसंगिकता के समर्थक हैं ।

सममानताये

1. प्लेटो के साम्यवाद का दृष्टिकोण साम्यवादी, निराशावादी और निरालम्बनक है जिसमें मानव-वस्तुत्व तथा नैतिक पशुपुंसों पर ही आधार है। यह अभिभावक वर्ग निःस्वार्थ रूप से राज्य की रक्षा और एकता के लिए कार्य करेगा। शासकों और सैनिकों को सम्पत्ति और परिवार से वंचित इर्दगिर्द किया गया है कि उनका जीवन उत्कृष्ट और श्रेष्ठ हो ।

2. इसके विपरीत साम्यवाद का दृष्टिकोण नीतिस्वारी, कानिकारी तथा प्रवर्तित्व है। यह मानवता को साम्यवाद का कथेन देता है और इष्टतमक और नीतिकवाद में विचार्य रगता है, किसी साम्यवादीक दला में नहीं। यह कानि द्वारा सर्वहारावर्ग की लालावाही का पोषक है। सर्वहारा और कानि-विहीन मजदूर की स्वतन्त्रता इसका अपना प्रवर्तित्व मध्य है।

3. प्लेटो का साम्यवाद मानक और नैतिक वर्ग पर ही लागू होता है, कानिवादी वर्ग पर नहीं। कानिवादी के कानिवादी पर उत्पन्नक वर्ग का एकविचार स्थापित किया गया है, किन्तु उपयोग की वस्तुओं के वितरण का अधिकार कानि-वर्ग के पास है। प्लेटो के साम्यवाद में नीतिक अधिकार-वर्ग की साम्यवादी राज्य है, साम्यवादी विचारधारा की नहीं। इस विचारधारा की दूसरी रक्षा-वर्ग के रूप में प्रवर्तित्व किया गया है और पूर्वीवर्ग वर्ग सुव्यवस्थित है।

साम्यवाद साम्यवाद में कानिवादी और मजदूर वर्ग के लिए ही साम्यवादी कोला प्रवर्तित्व है। कानिवादी के कानिवादी और कानिवादी तथा कानिवादी की स्वतन्त्रता पर ही राज्यकी नियन्त्रण रक्षा मध्य है, किसी वर्ग विवेक का नहीं। इस प्रकार सर्वमान साम्यवादी व्यवस्था किसी वर्ग-विवेक के लिए होकर मारे लाला के लिए है— ऐसे लाला के लिए जो वर्ग-विवेक और कानि-विहीन होना। साम्यवाद साम्यवाद में साम्यवादी विचारधारा की सर्वोच्चता प्रदान की गई है।

4. प्लेटो के साम्यवाद में वर्ग विहित है और लाला ही इसके राज्य का भी लोग नहीं होता। साम्यवाद साम्यवाद में वर्ग-विहीन मजदूर की व्यवस्था है, इनके सर्वहारा वर्ग की लालावाही के बाद राज्य के लोग ही जाने का विचार है।

5. प्लेटो के साम्यवाद में साम्यवादी परिवर्तन लालाक रूप से होता है जबकि साम्यवाद साम्यवाद में साम्यवादी परिवर्तन एक ऐतिहासिक अनिवार्यता है।

6. प्लेटो का साम्यवाद एक दार्शनिक कानिवादी राज्यनीतिक साम्यवाद है। जिसका प्रधान मध्य राज्य की द्वि-कानिवादी है। इसके विपरीत साम्यवाद साम्यवाद साम्यवाद है जिसका मध्य लाला की लाला का उत्पन्न है। साम्यवादी प्लेटो

के साम्यवाद के उद्गम का कारण है जबकि साम्यवाद आर्थिक असमानता की उपज है।

7. प्लेटो के साम्यवाद की प्राप्ति का मार्ग नकारात्मक है जबकि साम्यवाद की प्राप्ति का मार्ग अन्तिम और प्रचार है। आधुनिक साम्यवाद प्लेटो की अन्तिम आत्म-न्याय और आत्म-नियन्त्रण के साधनों का उद्घोष नहीं है।

8. प्लेटो के साम्यवाद में राजनीतिक एवं आर्थिक क्रियाओं को पूनर्-सुव्यवस्था देने की बात कही है। इसके विपरीत आधुनिक साम्यवाद में दोनों क्रियाओं को पुनर् नहीं माना गया है। यह राजनीति तथा सर्वे को परिवर्तनाधीन मानता है।

9. प्लेटो के साम्यवाद में सम्पत्ति और परिवार दोनों पर सामूहिक स्वामित्व की व्यवस्था है। आधुनिक साम्यवाद केवल पूँजी के ही सामूहिक स्वामित्व का आलोचन करता है। इसमें परिवारों के समूहीकरण की कोई बात नहीं है।

10. प्लेटो का साम्यवाद उपर्युक्त सभी को प्रभावित करता है, आधुनिक साम्यवाद विज्ञान और भूमििक दोनों का पहला कुनीन तन्त्र का पीछा है, दूसरा कुनीन तन्त्र का विरोधी और तत्कालीन 'अवतन्त्र' का पीछा है।

11. प्लेटो का साम्यवाद सुधारवादी है। यह न्याय की स्थापना द्वारा सुधार का आकांक्षी है। आधुनिक साम्यवाद अन्तिम के माध्यम से परिवर्तन का पीछा है।

12. प्लेटो का साम्यवाद एक राज्य तक ही सीमित है जो कुलान नगर-राज्य की सुदृष्टि में ही सम्भव है। उसके विपरीत आधुनिक साम्यवाद सम्पूर्ण विश्व का आकांक्षी करता पाहता है, यह अन्तर्राष्ट्रीय है।

13. प्लेटो का साम्यवाद विभिन्न वर्गों में समतन्त्रता और एकता स्थापित करता है जबकि आधुनिक साम्यवाद सर्व-सर्व के प्रतिस्पर्धायी मानत है, उसके द्वारा ही सर्व-विहीन समाज की स्थापना का दावा है।

14. प्लेटो के साम्यवाद में कार्य के विविधीकरण पर बल दिया गया है और विभिन्न वर्गों में कार्य का विभाजन किया गया है। आधुनिक साम्यवाद यह मानत है कि सामूहिक कार्य पर है।

अतः हम देखते हैं कि प्लेटो के आधीन और मार्क्स के आधुनिक साम्यवाद में मौलिक अन्तर है। तैलर (Taylor) ने यह भाव ही लिखा है—“रिपब्लिक के समाजवाद और साम्यवाद के सम्बन्ध में बहुत बड़ा जाने के बावजूद भी असुल हम प्रत्यक्ष में न तो समाजवाद कावा आता है और न ही साम्यवाद मिलता है।”¹

प्लेटो के साम्यवाद की सरलता द्वारा आलोचना

प्लेटो की साम्यवादी योजना की एक और सरलता में आलोचना की है, जो

दूसरी ओर सर्वमान्य बुद्धिबोध के भी उसके साम्यावधारक एवं समनीबैज्ञानिक रूप सामने आए हैं। परन्तु के प्रमुख प्रायोगिक-बिन्दु इस प्रकार हैं—

1. प्लेटो की सम्पत्ति विरहक साम्यवाद की योजना समाज में संघर्ष और युद्ध की उत्पत्ति को रोकने वाली है। वैयक्तिक सम्पत्ति में व्यक्तिगत स्वार्थ का एक क्षेत्र उत्पन्न होता है। यद्यः पारस्परिक कलहजन एक प्रमुख कारण स्वयः ही दूर हो जाता है लेकिन प्लेटो के साम्यवाद में इसकाईहकी वैयक्तिक श्रेष्ठ की अनिश्चितता के कारण विवादों की बहावा बिद्यता। इसके समाज की एकता को घनका पहुँचना। समाज की वास्तविक प्रगति सम्पत्तिवादी व्यक्तियों द्वारा नियंत्रित विविध शक्तियों द्वारा ही हुआ करती है।

2. प्लेटो का साम्यवाद विविधता का हनु है और बिना विविधता के बौद्धिकता का विकास नहीं हो सकता। एकता में अनेकत्व भगवत्क है, यदि निर्बीज एकत्वता स्थापित की गई तो यह हासिकारक तथा शतक होती।

3. प्लेटो के सम्पत्ति के मुद्दों की महत्त्वता की है। सम्पत्ति की एक बुझई, एक अवमुख तथा पयभष्ट करने वाली एवं दुर्बलता भाव बढाना घामक है। सम्पत्ति ही एक गुण, एक श्रेष्ठवर्धक और एक स्वाभाविक साम्यवकता है। सम्पत्ति परिवार का एक आवश्यक घन है जिसके बिना स्वयं और सुखी जीवन सम्भव नहीं हो सकता। सम्पत्ति पहुँच करने का भाव ही व्यक्तियों की शीर की अनुमति देता है।

4. प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था से उत्पन्न और विरह में एकता अनुवात होन चला। ये व्यक्ति को कठोर मन के द्वारा अधिक उत्पन्न करते हैं वतना ही प्राय करने बिचना कि कम कम करने वाला व्यक्ति, बहु अनुचित है।

5. प्लेटो का सम्पत्ति सम्बन्धी साम्यवाद ऐतिहासिक साधार पर की शेषवृत्ति है। यदि सम्पत्ति का साम्यवाद एक श्रेष्ठ व्यवस्था होती तो समाज इसे स्वीकार करता और ऐतिहास उससे महवत होता। जिस व्यवस्था को समाज दुकरता है, उसकी मपूर्वता स्पष्ट है।

6. प्लेटो जिस बुझई को दूर करने के लिए साम्यवादी व्यवस्था का प्राकीर्ण करता है, ये बुझईयाँ सम्पत्ति पर स्थापित को समाप्त करने से नहीं मिलेगी। इस व्यवस्था से अनुभव के मन से ईर्ष्या, डेर, सघर्ष, तात्तव और शेषवृत्ति शक्ति ही बाकनाई समाप्त नहीं हो पाईगी। इन साम्यिक शक्तों का उपचार ही मानसिक ही होना चाहिये।

7. प्लेटो का सम्पत्ति का साम्यवाद साम्यावधारक है जिसे मनु करने के अनेक तरीक और अधिक शीघ्र समसाधों का जन्म होता। यह व्यक्ति के व्यक्तिगत को समाप्त कर उसे एक स्थापित मन दान बना देता।

8. व्यक्तिगत और परिष्कार ही बुझन कर एकता की स्थापना के प्रयत्नों को उचित नहीं कहा जा सकता। यह व्यवस्था ही समाज के प्रतिष्ठान की ही वतव

पहुँचाती है। राज्य समस्त लक्ष्यों को एक साथ ही और परिवार ऐसी राज की लक्ष्य को एक दूसरी है।

9. प्लेटो को राज्य के सामूहिक स्वामित्व की योजना से तीन-छेक के सम्बन्धिता उत्पन्न हो जाती है। एक सुन्दर स्त्री की प्राप्ति करने की कामना भेक पुष्ट करने और तब स्वभावतः सप्ली और विवाह का जन्म होता है। पत्नियों के सम्बन्धित के कारण राज्य पुरुष और स्त्री का घर बन जाता है।

10. प्लेटो का परिवार या स्त्री सम्बन्धी साम्प्रदाय मानव नीतिकता और विषयता पर भीषण धावा करने वाला है। पिता को पुत्री, माता को पुत्र और भाई को बहिन का ज्ञान न होने से कोई किसी के भी साथ सहवास कर सकता है बिना पशु-जगत में पाई जाने वाली नीतिक सम्बन्धिता जन्म लेगी।

11. प्लेटो द्वारा सार्वजनिक रूप से बच्चों के भरण पोषण और शिक्षा की व्यवस्था की योजना करने हुए धरन्तु का कहना है कि समन्वय के बालकों के समान ही सार्वजनिक रूप से न तो बच्चों की उच्च शिक्षा-दीक्षा दी जा सकती और न ही उनके नागरिकों के पुराने की अपा जा सकते हैं।

12. प्लेटो के साम्प्रदाय ने उत्साहक रूप की उद्देश्य की गई है, जो जन-कल्याण का अधिकार माना होता है। साथ ही यदि वह व्यवस्था अच्छी है तो इसे पहले अधिक रूप पर ही लागू किया जाना चाहिए या नो अधिकारक रूप की संस्था बन जानी और कम शिक्षित होता है।

13. राज्य की वर्गों में विभक्त करने प्लेटो स्वयं ही उसकी एकता की समन्वय करता है।

14. व्यावहारिकता को दृष्टि से भी परिवार एक ही साम्प्रदाय समुचित है। परिवार तो समान की अधिकारिता का उत्तम स्थान और जोर सबको के निष्ठापूर्वक संचालन की एक समुदायिता संस्था है। जिस समाज में, जिसने अपने लक्ष्य प्राप्त करने के समस्त सामूहिक और सार्वजनिक लक्ष्यों का ज्ञान होता है, व्यवस्था बन होती है परन्तु उस समाज में, जहाँ सब होने ही नहीं, पटनाई और व्यवस्था बहुत अधिक हो जाती है।

15. प्लेटो का साम्प्रदाय प्रतिक्रियाशील है। वह समाज को प्रगति की ओर न ले जाकर पीछे की ओर ले जाता है। विवाह की विभिन्न प्रकार की व्यवस्था की गई है, वह प्राचीनकाल की कठोर व्यवस्था की प्रथाओं का ज्ञान दिखाती है।

16. राज्य द्वारा प्लेटो-स्त्री-पुरुषों के समाज की योजना करने का साम्प्रदायिक है। पशु-जगत के उदाहरणों को मानव समाज पर लागू करना न उपयोगी हो सकता है और न ही वांछनीय।

प्लेटो के साम्प्रदाय की सामूहिक योजना

(1) प्लेटो के साम्प्रदाय की वर्तमान योजना प्राचीनकाल की बहुत कुछ बड़ी है जो बाल्य में की है। कारण से प्लेटो के मानव-व्यक्ति का नया साम्प्रदायिक और

सामाजिक-व्यवस्था का धर्म दिया है। उसने इस तथ्य की उद्देश्यता कर दी है कि राज्य की हर एक व्यक्ति का भी व्यक्तिगत है। राज्य व्यक्ति की सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने का एक साधन है और इसे व्यक्ति की प्रकृति तथा आवश्यकताओं का ध्यान रखना चाहिए। व्यक्ति उद्देश्य है जबकि राज्य इस उद्देश्य की पूर्ति का साधन है किन्तु प्लेटो ने तो राज्य को साम्य बना दिया है।

(2) प्लेटो ने मनुष्य की मूल प्रकृति का भी निकटतम विवरण बतल दिया है। उसका सम्पत्ति एवं परिवार सम्बन्धी साम्यवाद कोरा नात्मनिक है, जो मनुष्य के अस्तित्व पर बल नहीं डालता। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसके सामिक सामाजिकता का प्रारम्भ उसे अपने परिवार में ही प्राप्त होता है। यदि व्यक्ति को पारिवारिक सुख से वंचित रखा जाए तो उसमें उदासीनता और कटुता बढ़ कर लौकी और वह स्नेह, करुणा आदि के भावों के प्रति विरक्त हो जाएगा। उसमें ऐसी सामाजिक-व्यवस्था प्रकृतियों का विकास होगा कि वह विषमताओं और विषमताओं हो जाएगी कि सम्पत्ति, पुत्राचार एवं मनुष्यिक कार्य करने में कोई समान नहीं होगा।

(3) प्लेटो के विद्या-मुद्रा योजना के अर्थ यह है, अर्थ प्रयोजन है। यह साम्यी समाज बना करने की योजना है, यह विषयों के उद्धार की योजना है, यह परिवार के सामाजिककरण की योजना है। उसका उद्देश्य है कि समाज सुख, निजों की और काम ही दुष्टों की भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता देने व्यक्ति के अपनी आवश्यकताओं का अधिकतम विकास कर सके। वे उद्देश्य ऐसे हैं किन्ते इस सामाजिक के सहमति हो सकते हैं, पर उनके साधन अधिकतर करना कठिन है। विषयों के उद्धार की योजना से बहोली की सहानुभूति ही कठिनी है, पर योजना के मूल में जो, तर्क है वे स्नेह बना करते हैं। आशिर, स्त्री-पुरुष के विषय में भी नहीं है कि मूल योजना है और स्त्री बर्षे आरम्भ करती है। स्त्री का प्रयोग कोई समाज-व्यवस्था नहीं होती कि वह केवल स्त्री बर्षे वह पुरुष से भिन्न है। स्त्री तीर्थ-प्रपत्ति प्रकृति से परिवार का प्राण होती है और इस बात को भुलने का अर्थ है परिवार का अस्तित्व। विषय बात है कि प्लेटो यह मूल प्रकृति की कल्पना है। प्लेटो मूल बात है कि प्रकृति से ही स्त्री का अपना एक विशिष्ट कार्य है और यह कार्य जिस पावन-वेन्द को योग्यता उसे कभी स्वीकार न होगा। उसके अन्तों की बड़ा होने में समाज समम करता है, समाज-व्यवस्था के बिना उनका काम नहीं चल सकता, यह काम स्त्री को विन्दनी कर एक करना होगा। अधिकतमता नहीं कठोर के उन्मुख कार्य-वीथ में उत्तर करती है, विचारिता स्त्री का जीवन-कार्य उसके लिए तैयार, राजा है और निरपेक्ष ही किसी की राज्य की सम्पत्ति नीति यह कभी नहीं हो सकती कि मातृत्व का अन्त कर दिया जाए। राज्य का ही यह प्रतीत करतव्य है कि वह मातृत्व की एक विशिष्ट कार्य माने, समाज के प्रति एक देव स्वीकार करे। इसी में समाज की सिद्धि है।¹

(4) प्लेटी की समस्याईं और राज्य विपन्नित विवाहों की योजना भी व्यावहारिक है। माँ-पंखों के सम्बन्ध की तरह पति-पत्नी के सम्बन्ध का नै-
साधोपन महत्व होता है और वह असम्भव है कि कभी-कुरम इस सम्बन्ध के लिए
एक दूसरे के विरुद्ध और फिर अपनी-अपनी राह चले दें। उनके सिद्धांत का पुनः
प्रकीर्णन केवल यही नहीं होता, बल्कि वे "बीच-बीची" के सिद्धांत एक दूसरे के निरुद्ध
हैं, दोनों के सम्बन्ध हैं। इनके परिणाम-रूप का आधार बनते हैं। जीवन की यही
दिशा में आगे बढ़ने की प्रतिक्रिया है। उनमें से एक है—सबसे विवाह की यही
समस्या कदाई व्यावहारिक संबंधों। मनुष्य, प्लेटी के विवाह-रूप के अपने सम्बन्ध के
प्रति ध्यान नहीं किया है और न ही उसने परिवार के नैतिक मूल्य, महत्व एवं
आवश्यकता की ही समझ है।

(3) यह एक आध्यात्मिक और वैराग्यपूर्ण बात है कि व्यक्ति निजी सम्पत्ति पर अधिकार न रखे और राज्य द्वारा निर्मित कल्याण में जीवन करे। यह ही उनके द्वारा एक प्रकार के कमिटी और समूह का यह व्यवहार होता और उनकी अपनी कोई स्वतंत्र सम्पत्ति नहीं रहेगी। ऐसा साम्यवाद साम्यवाद को पैदा कर जिसको की उन्नत सेवा।

(6) श्रोतों के साम्यवाद का एक वाच्यीय दोष यह है कि वह जिस सभी शासन-प्रणाली को अपना चाहता है, उसी के शासन की गण्य करते वह उनमें सम्यक्ता का सम्यक् कर देता है। वह व्यक्ति को सोचने, सुचारु के सम्यक् व लक्ष्य-प्राप्त करने और सामाजिक इच्छा की अभिव्यक्ति करने का अधिकार प्रयोग प्रामाण्य परिमितियों नहीं देता। श्रोतों व्यक्ति के लिए उस मर का नियंत्रण कर देता है जो उसके विचार और कार्य-क्षेत्र की तथा किसी भी इच्छा की अभिव्यक्ति की प्रामाण्य परिमितियाँ हैं।

(7) जोसे की माँ है कि व्यक्ति राज्य के विपरीत स्तर की किसी व्यवस्था में जीवना के अपने आदर्श को अमिज नहीं करेगा। वह मान्यता इसकी है कि मनुष्य एक एक नहीं मर्तब सकता। प्रत्येक व्यक्ति अपने आदर्श को एक व्यवस्था में निभानी योजना और अनुचित व्यवस्था से अमिज कर लेता है और ब्रह्मा किन् विषय यह नहीं सकता। वह व्यवस्था या योजना है—परिवार।

(8) किसानों और मजदूरों का साम्यवाद एक और दृष्टि से भा साम्यवादाधिक है । केवल साम्यवादवाद के लिए ही मार्क्सवादी साधक मौलाचार करने, वह सम्भव नहीं होता । यहाँ की यह मार्क्सवादी नहीं है कि किसी विशेष व्यवस्था के पुनर्गठन के नाम केवल साम्यवादवाद के लिए ही लिये, और यदि ऐसा हुआ तो, यहाँ यहाँ एक व्यवस्था देवी या माएली व्यवस्था से परिवार बनाने का लक्ष्य है । फिर जो मार्क्सवादी मानते, मजदूरों को बहुतायत देने की कोशिश ही पताला भी होना और इस प्रकार एक व्यवस्था के जो और प्योरी में रहे हैं वे प्राप्त नहीं हो सकते ।

(2) पेशी का साम्यवाद स्वतन्त्रिक न होकर अभिजातान्त्रिक (Aristocratic) है। उसके राज्य में केवल धार्मिक राजा-राजिनी ही शासन

करे। उसके साम्यवाद का विद्वान् राज्य के तृतीय उत्पादन वर्ग पर कही जाय
होता क्योंकि वे निजी सम्पत्ति का उपयोग कर सकते हैं एवं परिवार के साथ रह
सकते हैं। इसी प्रकार प्लेटो साम्यवाद की योजना करते समय नागरिकों के बहुसंख्यक
को इस व्यवस्था से बहुत रज़ा है। उसका सम्पत्ति सम्बन्धी साम्यवाद केवल
सुरक्षक तथा शांतक वर्ग के लिए ही है और इसके राज्य के दो वर्ग उत्पन्न होकर
समाज तथा समाजता की स्थापना की मांग पर पहुँचेगा।

प्लेटो के साम्यवाद का रूप : धर्म-साम्यवाद

प्लेटो के साम्यवाद का रूप है, वह रूप में उसे साम्यवाद कहा गया है।
इस सम्बन्ध में प्रो. बर्कर ने अपना विद्वत्पूर्ण विवेक प्रस्तुत किया है—

“प्लेटो का साम्यवाद समूहों सामाजिक इकाई की संस्था नहीं है। विश्व
समाज में इसकी स्थापना होगी, उसके बावजूद से कम लोगों पर और भावों से कही कम
पदार्थों पर उसका असर पड़ेगा। इसमें व्यावहारिक और दैर्घ्यान्तिक दोनों कठिनाइयाँ
उठनी होती हैं। पहली व्यावहारिक कठिनाई यह है कि साम्यवाद की जो
व्यवस्था समाज के एक भाग पर लागू होती है, उसका व्यवहार में व्यक्तिगत
सम्पत्ति की उस व्यवस्था के साथ कैसे सम्मेलन हो सकेगा जो समाज के वेप हितों पर
लागू होती है? यदि व्यक्तिगत सम्पत्ति गूढ़ का कारण है, तो तीसरे वर्ग के सदस्यों
के भी उसे क्यों रहने दिया जाए? उसके कारण इस वर्ग में गूढ़ की प्रवृत्ति बननेगी
और चूँकि अरक्षक शक्ति सामर्थ्य से वंचित होने, घट ही सकता है कि वे उस वर्ग
के लड़ाई-भयों से बचने में असमर्थ रहें जिसके साथ सम्पत्ति का बल होगा। यह बात
भी सामर्थ्य से शक्ति में नहीं जाती कि साम्यवाद-युग के जो व्यक्ति सम्पत्ति के और
उपेक्षा से वंचित श्रेणियों के भी वंचित होंगे, वे सामान्य लोगों के कर्मों
और उनकी श्रेष्ठताओं को कैसे समझेंगे और कैसे उन्हें बल में रहने दें? इस
व्यावहारिक कठिनाई से ही प्लेटो की योजना की दैर्घ्यान्तिक कठिनाई प्रस्तुत होती
है। प्रश्न उठता है कि क्या धर्म-साम्यवाद की पद्धति प्लेटो की सभी मूल
स्थापनाओं का सर्वोत्तम निष्कर्ष है और क्या राज्य के सभी वर्गों पर लागू होने वाली
सामान्य साम्यवाद की व्यवस्था उन मूल स्थापनाओं के अधिक अनुकूल नहीं होती? स्पष्ट है कि इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर भी निर्भर है कि प्लेटो की मूल
स्थापनाओं का वास्तविक स्वरूप क्या है? प्लेटो मान लेता है कि मानव-मन के
तीन तत्वों के अनुकूल ही राज्य में तीन वर्ग बने हैं। यह वह भी मान लेता है
कि जिस प्रकार मन के तत्त्व तत्व को अपने निश्चित काम तक ही सीमित रहना
चाहिए, उसी प्रकार राज्य के तीनों वर्गों को भी मन के जिस-जिस तत्व के अनुकूल
ही, उसी तत्व के कार्य-कलाओं की सीमा की अपनी सीमा सम्भालना चाहिए। इन
कारण प्लेटो साम्यवाद और दोषों वर्गों के लिए जो साम्यवादी पद्धति की व्यवस्था
करता है और उत्पादन वर्ग के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति की पद्धति भी। इसका माध्यम
यह है कि साम्यवाद और दोषों वर्गों के लिए व्यक्तिगत तथा उत्पादन के तिन तत्वों का प्रतिनिधित्व
करते हैं उनके विद्वान्मन के लिए जो साम्यवाद है साम्यवाद की और उत्पादन

अर्ग जिस भाषना या सूत्राकरण की आवश्यकता करता है उसके लिए जकृत है व्यक्तिगत सम्पत्ति को। यदि हम यह मूल सिद्धान्त स्वीकार कर लेते हैं और इस प्रकार नि-वर्ग-व्यवस्था की आवश्यकता लेकर चलते हैं जिसमें शायद अर्ग मन के एक भिन्न तत्त्व की आवश्यकता करता हो, तो हम चार्ट-साम्प्रदाय की उड़ी व्यवस्था पर जा पहुँचेंगे जिस पर प्लेटो पहुँचा था। हम सामान्य साम्प्रदाय की व्यवस्था उड़ी या हमें उस हल भिन्न स्थापना से आशय करें। हम यह समझे हैं कि यदि व्यक्तिगत के मन में हम मन के मन में तीन तत्त्व होते हैं तो समाज के सम-भूत एकाग्र होने के माते भी हम मन में तीन तत्त्व होते हैं—यद्यपि यह सम्भव है कि किसी में एक तत्त्व की प्रबलता होती है जो किसी में दूसरे की, और हम यह भी कह सकते हैं कि यदि हम सब में तीन तत्त्व हैं तो हमें मूल हीनी चाहिए कि हम उन हीनी से काम ले और इसके लिए जो परिस्थितियाँ आवश्यक हो वे हमें मिलें। इसका परिणाम एक और तो यह होगा कि समाजों में सूत्रा व्यवस्था कायना सक्रिय होनी जिसके फलस्वरूप सरलतम शक्तिवर्तिविधि में भाग लेने और जिसमें साम्प्रदाय का स्थान कर देने को उन्हें इस प्रतिविधि से शीघ्रता है, और दूसरी और यह होगा कि सरलतम मन में विवेक सक्रिय होता जिसके फलस्वरूप उसके भी बहुविवेक का विकास होगा और यदि हम विकास के लिए साम्प्रदाय आवश्यक बातें हैं जो यह भी सामान्य साम्प्रदाय में भागीदार लेता। यदि हम इस बात से तर्क करें, यदि हम मान लें कि विवेक मन के भाग्य जाता है और सभी में इसे सक्रिय होना चाहिए, और यदि हम यह भी मान लें कि सबसे विवेक के सक्रिय होने के लिए साम्प्रदाय आवश्यक है, तो हम अपनी मूल स्वाध्यायी से उस पूर्ण साम्प्रदाय का निष्कर्ष निकाल सकते हैं जो प्लेटो अपनी मूल स्वाध्यायी से नहीं निकाल सका, पर हम तर्क-शुद्धता की मूल स्वाध्यायी को बदल कर ही यह परिणाम निकाल सकते हैं। हमने प्लेटो की व्याख्या नहीं की, उसका पुनरावलोकन किया है।”

आर्थर के अनुसार, उपरोक्त विवेचन के अन्तर्गत, “इस बात की व्याख्या की कोई आवश्यकता नहीं है कि प्लेटो सामान्य साम्प्रदाय की व्यवस्था तक क्यों नहीं पहुँचा। सभी सम्मति बात यह है कि इस तरह की व्यवस्था न तो उसके सामान्य सिद्धान्तों के अनुरूप ही है और न यह उन सिद्धान्तों का निष्कर्ष ही हो सकती है। यह ठीक है कि प्लेटो ने समाज पर और दिया है और एकता की बेसी पर स्त्री-पुरुष के जोड़ को लोकावर कर दिया है, किन्तु ये सब और निकलीकरण पर भी उसका कोई कम साधन नहीं रहा है और उन्हीं के लिए उसके नर्क-मेद बना रहने दिया है, अधिक उसे और भी बढ़ाना कर दिया है। यह-विवेक आज समूझ होता है, इसका उल्टा बुझ विचार है। जो लोग इस बात के पक्ष में होते हैं उन्हें और वेब मानव-जाति से अलग होता है—यह भी उसका बुझ विचार है। नृति प्लेटो साम्प्रदाय की उनके पूर्ण उत्कर्ष के लिए आवश्यक व्यवस्था है, यद्यः यह साम्प्रदाय की उन्हीं के ऊपर और किसी उन्हीं के ऊपर लागू करता है।”

रिपब्लिक में धार्षर्ण्य राज्य

• (The Ideal State in 'The Republic')

प्लेटो के समय यूनान में जो राजनीतिक घरायशें व्याप्त थी, उसी की प्रतिबिम्बितरूप उसने एक 'धार्षर्ण्य राज्य' की कल्पना कर उसे 'रिपब्लिक' में प्रस्तुत किया है। प्लेटो का हृदय था कि उसके राजनीतिक ऐसे हो जो अच्छा जीवन बना दें और 'सच्चे' का है—इसे समझें चाहे और उत्तराभास यह समझें कि राज्य का संगठन किस प्रकार किया जा सकता है। प्लेटो का 'धार्षर्ण्य राज्य' सभी धारें वाले समय और सभी स्वामी के लिए एक धार्षर्ण्य का प्रस्तुतीकरण है। उसने सामाजिकता पर ध्यान न देकर धार्षर्ण्य की कोणी कल्पना करने इस रूप में की है और इसी धार्षर्ण्य के हेतु उसने राज्य के सभी यंत्रणों पर विचार किया है। उसके 'धार्षर्ण्य राज्य' की कल्पना बहुत ही एक ही विचारों की तरह है जो अपने विषय को सुन्दर बन देता है, किन्तु बिना किसी समय यह नहीं सोचता कि उसका विषय वास्तविक है या केवल धार्षर्ण्य का। यह उसने, धार्षर्ण्य प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। प्लेटो ने भी अपने 'धार्षर्ण्य राज्य' की कल्पना करते समय उसकी व्यावहारिकता की चेष्टा की है।

जबकि प्लेटो के विचारों में व्यावहारिकता की कमी है लेकिन हमें उस कुछ-कुछ की नहीं भूलना चाहिए, जिसने उसके दृष्टिकोण में 'धार्षर्ण्य राज्य' की कल्पना उत्पन्न की। प्लेटोकापीन यूनानी समाज में जो घरायशें व्याप्त थी, सभी के विचारों हेतु हमने एक धार्षर्ण्य राज्य की कल्पना की। हमने सभी उपस्थित यंत्रणों का विचारण करने का प्रयास किया। अपने देश में व्याप्त सामाजिक दोषों को देखकर ही उसने दूर करने के लिए अपने धार्षर्ण्य राज्य की कल्पना तैयार की और वह राजनीति के दर्शन की ओर उन्मुख हुआ। उसने राज्य के लिए यह धार्षर्ण्यक कल्पना कि राज्य का अधिकार केवल 'आती दार्शनिकों' को ही होना चाहिए जिन्हें 'सच्चे' का 'सुख' का निरूपण जान है।

राज्य का स्वरूप—राज्य और व्यक्ति का सम्बन्ध

प्लेटो व्यक्ति और राज्य में बीजानु और जीव का सम्बन्ध मानता है। उसका विचार है कि जो मनुष्य और विवेकापूर्ण मनुष्य माना है व्यक्ति में पाई जाती है वे ही विचार कर्म में राज्य में पाई जाती है। राज्य मनुष्य मनुष्य की आत्मा का बाह्य स्वरूप है, यद्यपि धारणा (चेतना) अपने मनुष्य रूप में जब बाहर प्रकट होती है तो वह राज्य का स्वरूप प्रकट कर लेती है। राज्य व्यक्ति की विवेकात्मकता का विचारण रूप है। व्यक्तियों की चेतना और मनुष्य ही राज्य की चेतना का निर्माण करते हैं। व्यक्ति की समझों उसके विचार का सम्बन्ध स्वरूप है। यथावृत्त के लिए राज्य के कानून व्यक्ति के विचारों के उत्पन्न होते हैं, जहाँ उनके विचारों से ही उत्पन्न हैं। वे विचार ही निमित्त-कारणों और व्याख्याओं के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं।

प्लेटो ने यह कहा है कि मनुष्य की आत्मा में तीन तत्व होते हैं—निमित्त, उत्साह और बुद्धि (Reason, Spirit and Appetite)। आत्मा में बुद्धि, उत्साह

मनसा जुगुप्सा (Appetite) का जो अनीतिक तत्व होता है, उससे व्यक्ति में राग, ईश, प्रेम, शान्ति करने लगीर को सुखी और समृद्ध करने की माना इच्छाएँ, मायाईआई और अधिमायाई उत्पन्न होती है। दूसरा तत्व विवेक मनसा बुद्धि (Reason) का है। इसके दो काम हैं—इसके कारण मनुष्य ज्ञान प्राप्त करता पाहता है और उनके द्वारा करने कायवरण को समझता है। यह मनुष्यों की कयाता है कि उन्हें नीच-से कार्य करने चाहिए और नीच-से नहीं। यह प्रेम करने में सहायक होकर मनुष्य को एकता के रूप में बाँधता है, मतः वे तत्व राज्य के लिए कायन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन दोनों तत्वों के बीच में 'साहा' मनसा 'उत्साह' (Spirit) का गुण या तत्व है, दूसरे शब्दों में इसे 'बुद्धा' भी कह सकते हैं। इसका काम मनुष्यों को बुद्ध की प्रेरणा देना है। महत्वाकांक्षा और प्रतिपत्ति की भावनाई इसी के उत्पन्न होती हैं। यह गुण विवेक का स्वाभाविक साथी है। इसके कारण मनुष्य मान्यता के पुरा करता है और न्याय का साथ देता है। प्लेटो ने इसे बुद्धि या विवेक (Reason) का गुणायी कहा है। सत्यता के कारण में यह विवेक का काम होता है। मनुष्यों के मान्यता का प्रतिबोध करने तथा न्याय को स्वीकार करने की यह भावना उत्पन्न करता है।

प्लेटो का कहना है कि मानवीय मान्यता में पाए जाने वाले में तीनों गुण कायका तत्व राज्य में भी पाए जाते हैं। इसी के आधार पर राज्य का निर्माण होता है। जिस प्रकार व्यक्ति द्वारा किए जाने वाले सारे कार्य मान्यता-के प्रेरणा लेते हैं उसी प्रकार राज्य के सभी कार्यों का उद्भव उन्हें निमित्त करने वाले मनुष्यों की कायसाधों के होता है। प्लेटो के शब्दों में, "राज्यो का जन्म तुली या बहानी के नहीं, सन्निधु करने करने वाले व्यक्तिों के कारणों से होता है।" और व्यक्तिों का राज्य भी और होता और मनुष्यों का मनुष्यः। जिस राज्य के लोग ही वैदिक बुद्धि के निरे रूप हो वह राज्य वैदिक बुद्धि के पूर्ण नहीं हो सकता। व्यक्ति तथा राज्य की बीरता या मनुष्यता एक ही कयाता में निवास करती है जिसमें भेद नहीं किया जा सकता। यदि व्यक्ति अपने व्यक्तिगत साहस का परिचय तद्वत् पर मनुष्य का मुकाबला करके दे सकता है तो वह बुद्ध-बुद्धि में मनुष्य की सापुद्धि बीरता का भी परिचय दे सकता है। राज्य अपने मनुष्यों की कयाता है, मत यह व्यक्ति स्पष्ट और कायक है।

प्लेटो का विचार है कि वे अनौपम तीनों गुण सभी लोगों में एक समान नहीं होते। कुछ व्यक्तिों में गुण या कयाता की प्रधानता होती है, कुछ में साहस की और कुछ में विवेक की। इसी आधार पर राज्य कायका समाज के तीन वर्ग देखने को मिलते हैं—कारावत्त वर्ग, शैविक वर्ग और कार्मिक वर्ग। पहले वर्ग में वे लोग होते हैं जो पूरी तरह से मनुष्य का कायसाधों कायका इच्छाओं के कायामुल होकर काम करते हैं। इसमें अधिका, निरपकार, गुणक, कायसाधों कायका शामिल हैं। उन्हें कायसाधों का अनुसरण करने में ही कायिक पावद मिलता है। दूसरा वर्ग उन लोगों का होता है जिसमें साहस या कायसाध की प्रधानता होती है। इसी बीरता या शैविक कहा जा सकता है।

इन्हें कुछ और समाज के देन होता है। शीकरा बरत उन लोगों का होता है जो विशेष-प्रधान होते हैं। विवेक के कारण वे अपने धर्म में उत्तम-वैराग्य अपना दार्शनिक होते हैं और उन्हें समाज की सेवा करने में शारीरिक आनन्द आता है। इसलिये वे समाज का आनन्द बनाने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त होते हैं। कार्दर के शब्दों में "प्लेटो मानव-मन के तीन-तरीकों (बुद्धि, उत्साह, विवेक) को लेकर विमलतम से उत्कृष्टतम तक बढ़ता है और यह प्रदर्शित करता है कि इसमें से अधिक उत्तम बनने-बनने क्रम से राज्य के निर्माण में किस तरह से योग देता है। यह मन के विभिन्न तरफों का, जो किसी भी समय उस बुद्धि का निर्माण करते हैं, जिसे हम राज्य कहते हैं, सर्वप्रथम विशेषण उत्पन्न करता है। जब यह जाती-जाती के एक उत्तम को लेता है और हम से विमलतम से उत्कृष्टतम की ओर बढ़ता है तो उसके राज्य-रचना में ऐतिहासिक स्थिति का आभाव होता है किन्तु, यह विश्व साम्य है। प्लेटो की सर्वप्रथम कहा है कि उसने प्रत्येक उत्तम से जो विशेषताएँ आये-पिठ की हैं, वे उसके समय के ऐतिहासिक से भी बड़ी हैं।"

इस तरह अपने उपरोक्त विचारों द्वारा प्लेटो यह स्पष्ट करता है कि राज्य-व्यक्ति का विचार क्या है।

प्लेटो के सादरी राज्य का निर्माण

जिस प्रकार हम अपना मानवीय आस्था का निर्माण आस्था, वास्तु और विवेक के तीन तरफों से हुआ है, उसी प्रकार राज्य को उत्पन्न करने में भी तरह-कायक होते हैं—

- (1) आर्थिक उत्तम (The Economic Factor)
- (2) सैनिक उत्तम (The Military Factor)
- (3) दार्शनिक उत्तम (The Philosophic Factor)

आर्थिक उत्तम—जब प्लेटो अपने सादरी राज्य का निर्माण करता है तो सबसे पहले वह आर्थिक उत्तम पर विचार करता है जो उसके वर्गितत्व के लिए आवश्यक है। वह वास्तव में एक उत्तम की राज्य का आरम्भिक आधार मानकर अपना विवेकन शुरू करता है और फिर यह दिखाता है कि उसने किसी न किसी रूप में वास्तव में निर्मित होता है। वास्तव में आर्थिक उत्तम से अधिक बढ़ है कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में पूर्ण नहीं कर सकता। इसके लिए उसे अनेक व्यक्तियों के सहयोग की आवश्यकता होती है और इससे समाज में अन्त-विभाजन तथा कार्यों का विशेषीकरण उत्पन्न होता है। मानव-जाति के जीवन, मान, आनन्द आदि की विविध आवश्यकताएँ राज्य की आवश्यक बताती हैं। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक-दूसरे की सहयोग देकर आर्थिक कार्यों का निर्माण करता है। कुछ व्यक्ति कृषि का कार्य करते हैं, कुछ लोग उद्योग करते हैं तो कुछ घर बनाने हैं। जवाबदारी का विनिर्देश होता है। विविध वस्तुओं का उत्पादन संलग्नता से ही आता है और मान का स्तर भी उँचा रहता है। मानव की आवश्यकताओं

की वृद्धि के साथ-साथ आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले लोगों के वृत्त का भी विस्तार होने लगता है। समाज में बड़ी, सुदार, सुहार, व्यापारी, कबील, विशिष्टक आदि बने उत्पन्न होते हैं। पारम्परिक समुदायिकता और आदान-प्रदान की यह आवश्यकता ही समाज का आधार है। इसी के उपर्युक्त सामाजिक जीवन दिखा है और इसकी प्रथमा स्वरूप भूमि-विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित है।

यस सर्व विभाजन (Division of Labour) तथा विशेषीकरण (Specialisation) के प्रति यदि हमारे हुए लोग अपने-अपने कामों का कुशलतापूर्वक सम्पादन कर समुदाय की सामाजिक उत्पन्न करते हैं तब हमें, हमें ऐसी स्थिति हो जाती है कि प्रत्येक व्यक्ति केवल एक काम के ही अधिकार करने लगता है और वह भी ऐसे काम में जिसमें उसकी योग्यता अधिकतम हो। ऐसी स्थिति में 'एक व्यक्ति एक कार्य' (One man one job) का सिद्धान्त स्थापित हो जाता है। सेवाओं के आदान-प्रदान के समुदाय आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है। प्लेटो का मत है कि आदर्श राज्य की स्थापना के लिए आवश्यकताओं की सर्वोत्तम पूर्ति और सेवाओं के समुचित आदान-प्रदान की एक सही आवश्यकता है। यदि राज्य एक वैयक्तिक इकाई और नैतिक समुदाय है, यह प्रत्येक का यह कर्तव्य है कि वह अपनी-अपनी काम ठीक इन में करे, अधिकतम योग्यता के साथ करे और इसके प्रति सर्वोत्तम लगन रहे। प्लेटो के अनुसार यही न्याय (Justice) है और इसी न्याय-भावना के अनुसार कार्य करते रहने पर राज्य की आवश्यकताएँ पूरी-आति पूर्ण होती हैं। प्लेटो के मते ही, "प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपनी वृद्धि के समुदाय एक ही काम में लगाया जाए, प्रत्येक व्यक्ति एक ही व्यवसाय करे, अन्य कार्य न करे, तभी राज्य सफल राज्य एक ही होगा।"

भूमिगत तत्त्व—राज्य निर्माण करने वाला दूसरा बड़ा बने 'नैतिक' बने है। आदिम तत्त्व राज्य के समर्थन का मुख्य तत्त्व नहीं बल्कि का करता। "केवल आर्थिक आवश्यकताएँ पूरी करने वाला राज्य ही नैतिक के मते ही, केवल अपना देव अपने माता से सम्बन्ध होने वाला सुदार-राज्य (A City of Souds) होता।" एक राज्य में सभी नागरिकों का परिवार, प्रभावित अधिक नहीं होता। सभी लोग समान नीति से सम्बन्ध होने वाले नहीं होते। प्रत्येक लोग जीवन की नीति, मुख्य और कलात्मक समुदायों के लिए आधारित रहने हैं। इस प्रकार आवश्यकताएँ बढ़ती और अधिकतर होती जाती हैं। तब राज्य आवश्यकता नहीं रह जाता और उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अधिक भू-भाग की जरूरत पड़ती है। ऐसी स्थिति में वह अपने पड़ोसी राज्यों के भू-भाग की और तकने लगता है, जिसका परिणाम होता है—युद्ध। इस तरह सामान्य युद्ध का मूल है और राज्य का एक प्रधान कार्य वर्धमान भू-भाग की प्राप्ति करना और उसे अपने अधिकार में बचाए रखना है। इस काम हेतु तथा युद्ध की आवश्यकता और उत्पत्ति रहने की आवश्यकता के कारण

राज्य के उत्साह (Spirit), छात्र या दूरबीरता के तत्व का उद्भव होता है। इनके संश्लिष्ट वर्ग का दार्शनिकत्व होता है जिसे बुद्ध का दार्शनिक मान्य माना जाता है। इस वर्ग की कक्षा में भी द्वैत होता है और इसलिए यह जगहों पर के लिए उत्तर रहता है। निर्देशकत्व के विद्वान्त के अनुसार राज्य में संरक्षकों की संश्लिष्ट दल बनाया जाता है। इस दल के द्वारा राज्य एक ओर धनही रहता करता है और दूसरी ओर अपने उद्देश का विस्तार। प्लेटो का मत है कि संश्लिष्ट वर्ग में केवल ऐसे ही लोगो को लिया जाना चाहिए जो उत्साही हो और बुद्ध में रूचि रखते हो। इनके प्रतिपाद्य का भी विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। यही प्लेटो का 'रिक्तिक' सुखी मोक्ष की विधा का अन्त बन जाता है।¹

दार्शनिक तत्त्व—राज्य-निर्माण का बीजक दार्शनिक तत्व है जिसका सम्बन्ध धर्म के विवेक या बुद्धि (Reason) से है। प्लेटो का मत है कि उत्साह विवेक की महापदा के आधार का विनाशक और धर्म का रक्षक होता है। संश्लिष्ट राज्य का आधार होता है और उसका स्थापन पर के रक्षकों के वर्ग के समान परीक्षाओं के साथ द्वैत करने का और चोरी के प्रति सज्जता रखने का होता है। कुर्त में यह मान होता है कि वह जिसके प्रति प्रेमपूर्ण और मनु स्थापना की तथा जिसके प्रति एक एव करीर।² ठीक इसी भाँति रक्षक की शक्ति और विवेक द्वारा मनु एव मित्र की स्थापना है तथा उनके साथ सौम्य व्यवहार करता है। दूसरे शब्दों में प्लेटो का मत है कि राज्य के रक्षक में विवेक का गुण विद्यमान होना अनिवार्य है ताकि वह विभिन्न वर्गों की विधाओं की सभी प्रकार निश्चित और सम्बद्ध कर सके। प्लेटो के अनुसार संश्लिष्ट मोक्ष में सामान्यतः 'विवेक' का वह गुण मिलता है, किन्तु विशेष रूप से वह पूर्ण संरक्षक (Perfect Guardian) या वास्तव में ही माना जाता है। उसके मत में वे संरक्षक दो प्रकार के होते हैं—(क) सहायक का संश्लिष्ट संरक्षक (Auxiliary Guardians), तथा (ख) दार्शनिक संरक्षक (Philosopher Guardians)। संश्लिष्ट या सहायक संरक्षकों का विवेक गुण सीमा होता है जबकि दार्शनिक संरक्षकों का विवेक। वास्तव में दार्शनिक ही राज्य के सच्चे संरक्षक होते हैं। वे विद्वान और जीवन की वास्तविकता को समझते हैं। समाज-नीति में सच्चे दार्शनिक मान्य महत्त्व होता है और समाज का धारण बनाने के लिए वे ही सच परिकल्पित होते हैं। वास्तव का विवेक सही में निश्चित है कि वह बुद्धिमान ही, कालिदास के द्वैत करने और राज्य की स्थापना बनाए रखे।

प्लेटो विवेक को राज्य का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्व मानता है पर उनके अनुसार विवेक सम्पन्न दार्शनिक ही ही राज्य का वास्तविक माना जाना चाहिए। प्लेटो का मत है कि विवेक सम्पन्न दार्शनिक प्रकृति केवल ऐतिहासिक लोगों में ही मिल सकती है। 'मनुष्य राज्य दार्शनिकों का राज्य नहीं हो सकता' यह सच वास्तव की दृष्टि परीक्षा उसकी दार्शनिक शक्ति की सीमा परीक्षा है। दार्शनिक

साधारण को 'मानव, सोल्डर्स और संभव के सार' का ज्ञान होना चाहिए ताकि वह अपने भागियों के चरित्र इन्हीं गुणों के अनुकूल बना सके। प्लेटो ने विवेक को दो गुण माने हैं—अपमन, विवेक से व्यक्ति को ज्ञान प्राप्त होता है। दूसरे, विवेक व्यक्ति को धर्म करना सिखाता है। यह अपेक्षित है कि दार्शनिक साधारण विवेकीकरण और वर्गीय भाषा में स्पष्टीकरण हो। उसमें विवेक और बुद्धि के गुण को पराकाष्ठा हो। दार्शनिक राजा (Philosopher King) का विचार प्लेटो के राज्य सम्बन्धी विचारों का स्वाभाविक और सर्व-संगत परिणाम है जैसा कि कार्नेर ने लिखा है, 'एक राज्य का राज्य उसके एक-एक नागरिक उत्पन्न को लेकर होता है जो उसकी परिस्थिति सिर्फ इसी पराकाष्ठा में हो सकती है कि वह न केवल प्राथमिक उपकरण होने के लाले पराकाष्ठा उसका सम्भालन ऐसे जैसे विवेक द्वारा होना चाहिए जो अनुभव के लिए उत्पन्न हो। दार्शनिक नये कोई ऐसी चीज नहीं है जिसे भी हो बाद में प्रत्येक बीच में जोड़ दिया गया हो, यह वह सम्पूर्ण पद्धति का एक संगत परिणाम है जिसके आधार पर प्लेटो के राज्य का निर्माण हुआ है।'

आदर्श-राज्य में वर्ग

राज्य के निर्माण के उपरान्त तीन वर्गों के आधार पर प्रत्येक दार्शनिक विवेकीकरण (Functional Specialisation) तथा सम-विभाजन (Division of Labour) के आधार पर प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य का विभाजन तीन वर्गों में किया है। वे तीन वर्ग हैं—

1. संरक्षक (Guardian) वर्ग—यह एक 'विवेक' गुण का प्रतिनिधित्व करने वाला है। इस वर्ग के लोगों का कार्य संरक्षक-संरक्षक वर्ग तथा उत्पादक वर्गों के बीच समुलन करना रहता है। यह वर्ग बुद्धि-बेगी होना और इसलिए इसका मुख्य कार्य समाज का सामान्य कल्याण करना है। इस वर्ग के लोग जब दार्शनिक होते तब ही वे सामान्य कल्याण के कार्य को पूरी कर पाते हैं।

2. समुदाय संरक्षक या सैनिक वर्ग (Auxiliary Guardians)—इस वर्ग का मुख्य कार्य उत्पादक वर्गों की सुरक्षा एवं राज्य की भूमि की सुरक्षा रहता है। यह वर्ग 'वैराग्य उत्पन्न' का प्रतिनिधित्व करने वाला है। उत्पादक वर्ग के लिए बुद्धि अर्थ की भूमि भी इसी वर्ग के द्वारा की जाती है और इस हेतु यह वर्ग नवीनी राज्यो के कुछ करने के लिए सर्वेस उपर्युक्त रहता है।

3. उत्पादक वर्ग—यह वर्ग 'आपत्ति' या 'धृष्ट' उत्पन्न की प्रति करने वाला है। इसमें कुम्हार, कारीगर, चित्पकार, व्यापारी आदि आते हैं। इसका मुख्य कार्य राज्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना है।

प्लेटो के आदर्श राज्य के निर्माण करने वाले वर्गों और वर्गों को एक दृष्टि से निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है—

1. बुद्धि-	(Appetite)	दार्शनिक उत्पन्न	उत्पादक-वर्ग
2. आत्मा	(Spirit)	सैनिक उत्पन्न	सैनिक-वर्ग
3. विवेक	(Reason)	दार्शनिक उत्पन्न	उत्पादक-वर्ग

दार्शनिक-राजाओं का शासन (The Rule of Philosopher Kings)

। प्लेटो का कहना है कि राज्य सभी धार्मिक स्वस्व प्राप्त कर सकता है जब राज्य का शासन सभी एक विद्वान् दार्शनिक नासकों द्वारा हो। इसी राज्य को ध्यान में रख कर वह राज्य के अन्य विषय पर दार्शनिक को नियुक्त करता है।

दार्शनिक राजा के शासन का यह सिद्धान्त प्लेटो का एक प्रमुख और मौलिक सिद्धान्त है। उसकी धारणा थी कि धार्मिक राज्य में नासक-कार्य परम बुद्धिमान् नासकों के हाथों में रहना चाहिए। उसकी यह धारणा उनके ग्यास, शिक्षा आदि विद्वानों का स्व भाविक परिणाम है। शासन की इस धारणा का प्रतिपादन हमें प्लेटो के इस मतवस्तु में मिलता है—“जब तक दार्शनिक राजा नहीं होते, प्रकृति इस प्रकार के राजाओं में दर्शन शासक के प्रति भावनापूर्ण भक्ति नहीं आगती और राजनीतिक महानता तथा बुद्धिमत्ता एक ही व्यक्ति में नहीं मिलती और वे साधारण मनुष्य, जो इनमें से केवल एक गुण को (इससे को गुणों के सम्मेलनता करते हुए) प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं, प्रकृति हट जाने के लिए विवश नहीं कर दिए जाते, तब तक प्रकृति-राज्य सुखियों में मुक्त नहीं हो सकते और नहीं (यैसा कि मेरे, विचारक हैं) सम्पूर्ण नासक-व्यक्ति को ज्ञान प्राप्त हो सकती है।”

प्लेटो के मतानुसार सैनिक वर्ग के लोगों में सामान्यता, प्रसाह तथा विवेक कीनी प्राप्त होते हैं किन्तु इनमें कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जिसमें प्रसाह की कमी तथा विवेक अधिक पाया जाता है। ऐसे लोगों को प्लेटो ने धार्मिक राज्य के दार्शनिक शासक माना है। बार्कर (Barker) के शब्दों में—“नरशाक वर्ग दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—प्रथम, सैनिक नरशाक हैं जिसकी विशेषता साहस है और जिन्हें ‘सहायक’ (Auxiliaries) का नाम दिया गया है और दूसरे, दार्शनिक नरशाक जिसकी विशेषता विवेक बुद्धि है और जो अपनी श्रेष्ठता के कारण प्लेटो के राज्य के नरशाक हैं। प्लेटो ने विवेक के दो गुण माने हैं—प्रथम, विवेक से व्यक्ति को ज्ञान होता है। द्वितीय, विवेक ही व्यक्ति को प्रेम करना सिखाता है। प्रथम प्लेटो के अनुसार शासक को विवेकशील होना चाहिए और उसके वर्तमान स्नेहनीयता भी होनी चाहिए। प्लेटो का दार्शनिक न केवल विवेकी और स्नेहनीय है बल्कि शासनवाद की आवश्यकता के कारण स्वयं और सुन्दरी के व्यक्तिगत मोह से मुक्त जीवन, निस्वार्थ और कर्तव्य-परायण व्यक्ति है जिसके शासन में प्रसाह के कष्टों का अन्त हो सकता है। राज्य का निर्माण करने वाले तीनों वर्गों में दार्शनिक शासक का स्थान सर्वोच्च है क्योंकि यही राज्य के लोगों को एकता के बंध में बाँधे रख सकता है और उन्हें परस्पर में स्नेह करना सिखा सकता है। उसके सुन्दर प्रकृति के सभी गुण हैं। यह गुणों में नहीं रहता। उसे ग्यास, लोभ, प्रथम तथा परम ‘सद्’ के विचार (Ideas of Good) तथा आनन्दपूर्ण जीवन के अन्तिम प्रयोजन का ज्ञान शिक्षा-व्यक्ति प्राप्त होता है।”

धार्मिक राज्य के प्रथम दो वर्गों की प्रति दार्शनिक शासक वर्ग भी विशेष आवश्यकता-अवश्यक वर्ग होना चाहिए। जिसकी अधिक आवश्यकता कार्य विधेयीकरण की

इस बर्ण के लिए है, उसकी क्षमता दो बर्णों के लिए नहीं और पुँकि 'कभी-कभी दार्शनिक बर्णों के नहीं हो सकते,' अतः राज्य का सूत्रन भाग्य ही इस वर्ण की सदस्यता प्राप्त कर सकेगा ।

प्लेटो के विचार से अनुपम की विरासतों और कष्टों का कारण यह है कि उसके मार्गदर्शक और नेता अज्ञानी होते हैं । "राज्य कभी भीतल की बेने के लिए ज्ञानी, कुशल और निस्वार्थ नायिक की आवश्यकता है जो साधन बदलने योग्य हो, साधनशील के परिवर्तित रहे, यह जानता हो कि न्यायविक सुख क्या है और श्रेष्ठ जीवन का क्या तात्पर्य है । ऐसा शासक एक दार्शनिक व्यक्ति ही हो सकता है । प्लेटो के बादर्न राज्य का दार्शनिक शासक साधारण दार्शनिक से भिन्न है । उसे सम्भवे में तीव्र, जानने की उत्सुक, बुद्धि से अद्वितीय, बाह्य साधनशील के प्रति उपेक्षित, और, तादृशी, सात्वत-समशी तथा स्वाय और शाय का भिन्न होना चाहिए ।"

'रिपब्लिक' के अतिरिक्त बादर्न राज्य में सरकार नियमों द्वारा न होकर दार्शनिक शासकों द्वारा नियमित होगी । राज्य में सर्वाधिक महत्त्व दार्शनिक शासक को दिया है । वह घर कानून यादि का रक्षण नहीं है । वह राज्य की भाषा के 'निर्देश' गुण से संचालित होता है । उसे 'गुम' का ज्ञान है, अतः वह कानून के नियमन से मुक्त है और केवल अपनी धन्य औरता के प्रति उत्तरदायी है । उसके सभा के महित होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती क्योंकि वह समस्त श्रेष्ठ गुणों का साधार, ज्ञान और श्रेष्ठ से परिपूर्ण तथा राज्य के प्रति उत्तरदायी है । प्लेटो उसे विशेष का जेमी और गवर (राज्य) का सच्चा तथा धन्य सरक्षक मानता है । वह सर्वकाल तथा सर्वमाल का दुष्ता है ।

ऐसे दार्शनिक शासक की प्लेटो बादर्न राज्य की भावनाओं की पूर्वा भावता है । इन श्रेष्ठ और विपुल माँझी के नेतृत्व में बादर्न राज्य की भीतल माँझी और दुस्तन के भावनाओं से बचती हुई अपनी महित तथा सचर्य नहीं बाधती । प्लेटो दार्शनिक शासक के कार्य में निमित्त मान भी उपाय उपलब्ध नहीं करता चाहता । उसके मतानुसार इस राज्य के लिए कानून आवश्यक ही नहीं भविष्य हानिकारक भी है । शासन संचालन में विशेष योग्यता रखने वाले तथा ज्ञानकुल शासक के हाथ-पैर कानून की बेडियों में जकड़ देने से बादर्न राज्य के नागरिकों का महित होना । प्लेटो तर्क प्रस्तुत करता है कि जिस प्रकार धन्य विद्विस्तक की विद्विस्त-ज्ञान्य की पुस्तकी से अपना उपचार-पत्र (Prescription) बनाने की भाव्य करना उचित नहीं होता । कानून प्राकृतिक न होकर कृत्रिम है । कृत्रिम कानून को एक धन्यताएँ इस शासन नियोजन पर घोषणा उचित नहीं है । इस प्रकार प्लेटो का दार्शनिक राज्य निरस्त है ।

बादर्न राज्य में जनसाधारण का कोई भाग नहीं है । उन्हें पुनर्चाप शासक वर्ग की भावनाओं का रक्षण करना पड़ता है । नागरिकों की दार्शनिक राजा के सम्भवे हीन उही प्रकार सम्भवे कर देना चाहिए जिस प्रकार एक ऐसी धन्य उपचार करने वाले श्रेष्ठ के सम्भवे कर देता है ।

दार्शनिक राजा सुगुण-सम्पन्न है। बहु नियंत्रित कानून और जनसत्ता के सम्पर्क से सम्बन्ध हो सकता है, किन्तु सविधान के मूलभूत सिद्धान्तों से सम्बन्ध नहीं है। बहु सबसे नाथ्य और उच्च प्राप्त करने के अनुकूल जाफकी भी जानता है। उसे राज्य से वैय है। उसमें कार्यात्मक तन्त्र के सिद्ध नीति उभरता और प्रत्येक प्रत्येक योग्य कानून को ध्यान से देखता निश्चित है। सभी दार्शनिक प्रकृति वाले कानून में पूर्ण मान-समय होता और उभरता हुआ पृथक्, द्वैत, धृष्टता साधि समस्तुली से सर्वथा रहित होता। यह स्वाध्याय होता। ऐसा कानून सात्वत से सात्वत करने योग्य है, इसके प्रति साधुता एक निरकुल प्रकृतियों के प्रतीक होता नहीं है।

गार्डर ने दार्शनिक राजा की चार सर्वांगी कर्तव्य है—

(1) उसे अपने राज्य में सम्प्रभुता या निर्बलता नहीं बढ़ने देनी चाहिए क्योंकि इससे प्रसार कष्ट, सम्पूर्ण एक समस्तता का पर बन सकता है। यह सात्वत और प्रकृति के एक कानून के राज्य की प्रकृति समस्त करता है।

(2) राजा राज्य का साकार इतना न बढ़ने दे कि व्यवस्था रहना कठिन हो जाए। साकार इतना छोटा भी न हो कि नागरिकों की सात्वतकताओं की प्रति करने में कठिनाई अनुभव हो।

(3) वह देही साध-व्यवस्था का साधन करे कि प्रत्येक व्यक्ति अपना व्यवसाय निश्चित रूप से अपनी प्रकार करता रहे।

(4) वह विद्या प्रकृति में परिवर्तन न करे क्योंकि “यह समस्त की तारी बदलती है तो उनके साथ राज्य के मौलिक नियम भी बदल जाते हैं।”

धार्मिक राज्य के मौलिक सिद्धान्त

(From *Jambhanti Principles of the Ideal State*)

(क) साध—साध साध राज्य का प्रारंभ है जिसका कार्य सात्वत, वैयिक और सात्वत कर्तों में अनुभव रहकर उन्हें एकता के मूल में धरि रहता है ताकि राज्य से सभी सब करने कर्तव्यों का प्रारंभ करते रहे।

(ख) राज्य साध का सिद्ध रूप है—साध की सभी विविधताएँ राज्य में पाई जाती हैं।

(ग) विविध कार्य का सिद्धान्त—राज्य या समस्त में सब-विभाजन होता चाहिए ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपने विविध कार्य की पूर्ण समस्त और सात्वत के पूरा करे और राज्य की साध सात्वतकताओं की प्रति करे।

(घ) विद्या—“साध” का साध ही विद्या है। वैय साध, समस्त वैयिकों व दार्शनिक साधकों के निर्मित के सिद्ध उन्हें उचित विद्या दी जाए। प्लेटो राज्य द्वारा निर्मित साध साध विद्या की विस्तृत योजना प्रस्तुत करता है।

(च) नागरिकों के तीन वर्ग—प्लेटो साध के तीन वर्गों (साध, समस्त और वैयिक) के साध पर राज्य के नागरिकों की सात्वत, वैयिक और सात्वत नामक तीन कर्तों के साध है।

3.2. सामन्तवादी राजनीतिक विचारों का इतिहास

(अ) सामन्तिक राजा का शासन—सामन्तों राज्य में दार्शनिक राजा का शासन होगा। जब तक राजा सामन्तिक और दार्शनिक राजा नहीं होने तक तक राज्यों में शासित और सुशासन स्थापित नहीं हो सकता।

(ब) सामन्तवाद—प्लेटो ने व्यवस्था की कि दैनिक और शासक वर्ग वैयक्तिक सम्पत्ति और परिहार न रखें। वे कृषक और कारिगी के मोह से मुक्त होकर अपना कर्तव्य पालन करें। यह सामन्तवाद जलायक वर्ग पर लागू नहीं होता।

(क) गण-शासितों का समान अधिकार—प्लेटो अपने सादरी राज्य में नागरिकों को घर की बाहरी-बाहरी से बाहर निकाल कर किला, शासन आदि सभी क्षेत्रों में दुष्टों के समान अधिकार देने की व्यवस्था करता है।

(ख) राज्य का गठन मिश्रित, साम्प्रदायिक और वैयक्तिक है—प्लेटो दृष्टान्त बन्धु की आवांशिक और उसके विचारों की सामाजिक मानता है। राज्य उसमें जीवन बिताने के लिए है।

(ग) राज्य का द्वितीय प्रधान एवं सर्वोपरि है। व्यक्ति उसका सब मात्र है। सादरी राज्य और दार्शनिक राजा की प्राप्ति के लिए

(Graduation of the Ide. States and Philosophical King)

प्लेटो के सादरी राज्य और दार्शनिक राजा की चतुःप्राप्ति की गई है या प्रमुख रूप से इस प्रकार है—

(1). सादरी राज्य की चारों ओर व्यवस्था करण-प्रधान और साम्प्रदायिक है। प्लेटो ने बाद में स्वयं ही अनुभव किया था कि सादरी राज्य प्रुम्ही पर सम्भव नहीं है।

(2) मानवीय शासक के तीन तत्वों के आधार पर राज्य के नागरिकों का वर्गीकरण करना आवश्यकता के लिए है। व्यक्ति और राज्य के एक तरह की प्रवेष्टता स्थापित करके उसमें वैयक्तिक और राजनीति का विभिन्न सम्बन्ध कर दिया है।

(3) जिन तीन तत्वों के आधार पर व्यक्ति और राज्य को चुनना भी नहीं है, उनकी समझना सामान्य व्यक्ति के लिए कठिन है।

(4) सादरी राज्य का वर्गीकरण न तो सामाजिक है और न वैयक्तिक है। यह साम्प्रदायिक नहीं कि प्रमुख में केवल तीन प्रवृत्तियों को। यह एक राज्य ही वास्तव-प्रधान, सादर-प्रधान और बुद्धि-प्रधान भी हो सकता है, यह एक साम्प्रदायिक विवेका भी हो सकता है और साथ ही जगता साम्प्रदायिक भी। यह भी जरूरी नहीं कि एक ही प्रवृत्ति का अधिकार प्रमुख में जीवन भर बना रहे। एक वैयक्तिक बुद्धि-प्रधान में प्रथमता सादरी और वास्तविकता में प्रवेष्टी एवं कामी हो सकता है। इस तरह प्लेटो का वर्गीकरण, साम्प्रदायिक, साम्प्रदायिक और वैयक्तिक है।

(5) सादरी राज्य में साम्प्रदायिकता नर अधिक बन देते हुए व्यक्ति की प्राप्ति की गई है। राज्य को भी नहीं अनुचित महत्ता में व्यक्ति की प्रवेष्टता और

अधिकारी को चुनत दिया है। हीगल (Hegel) के अनुसार, "प्लेटो के राज्य में व्यक्ति की स्वाधीनता की कोई स्थान नहीं है।"

(6) आदर्श राज्य में उत्पादक वर्ग की उपेक्षा की गई है। उसे दासों के समान बना दिया है। दूसरी ओर उत्पत्तीगत दास प्रथा के सम्बन्ध में मौन रखा गया है। यह स्थिति सर्वथा प्रत्यक्षान्वितिक है। इसे हम न्यायपूर्ण योजना नहीं कह सकते।

(7) स्वयं सिद्धान्त दोषपूर्ण और एकांगी है। उनमें नार्थक्यों को विनाश दिया है और अधिकारों की उपेक्षा की गई है। उसमें अन्तर्विरोध है। एक ओर कहा गया है कि राज्य के अनुसार सभी वर्ग अलग-अलग कार्य करेंगे और कोई किसी कार्य के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करेगा। दूसरी ओर यह माना है कि शासक वर्ग शान्ति और व्यवस्था के लिए उत्पादक वर्ग के कार्यों में हस्तक्षेप कर सकता है।

(8) साम्यवादी व्यवस्था मानव-मानव के मूल तरीके और मानव-स्वभाव के विपरीत है। यह समाज के लिए अहितकर है। यदि साम्यवाद और परिवार अनुष्ठान को पक्षान्तर करते हैं तो क्या वे उत्पादक वर्ग को विचलित नहीं करेंगे? इसी प्रकार अधिशासक वर्ग के लिए पतिव्रता के साम्यवाद की व्यवस्था करके यह विपरीत की नीमन मानवाधी और परिवार के पवित्र सम्बन्धों का निराधार करना है।

(9) जिज्ञा को राजकीय नियन्त्रण में रखने से व्यक्ति का सर्वांगीण विकास नहीं हो सकता।

(10) आदर्श राज्य के निर्माण के लिए प्लेटो यह नहीं बताता कि राज्य के अधिकारियों की नियुक्ति, पदस्थितियों की दृष्ट-विधि तथा न्यायालयों की स्थापना आदि की व्यवस्था किस प्रकार की जाएगी।

(11) प्लेटो का आदर्श राजवर्गी (Oligarchic) होते हुए भी प्रतिक्रितीय नहीं है। आदर्श होने के कारण यह दृष्टवर्गी नहीं हो सकता।

(12) प्लेटो अपने राज्य में कानूनों की आवश्यकता नहीं मानता। व्यवहार के अतिरिक्त नियमों का निर्धारण किए बिना किसी भी राज्य के न हो आवश्यकता यह सकती है और न शान्ति ही। इस क्षेत्र का अनुभव प्लेटो ने स्वयं किया, इसलिए आदर्श राज्य में कानून की ही आवश्यकता बनाकर वह राज्य की रचना की गई।

(13) प्लेटो ने विवेक की दृष्टा महत्व दिया है कि वह विवेक को ही दार्शनिक साधक मान बैठा है। उसने इस सम्भावना पर विचार नहीं किया कि उसके दार्शनिक साधक का भी पतन हो सकता है अथवा सत्ता उसे भ्रष्ट कर सकती है। एक व्यक्ति चाहे कितना ही बुद्धिमान हो लेकिन वह स्वयं 'रिजोन' (Reason) नहीं हो सकता। विवेक प्राप्त नहीं हो सकता, किन्तु दार्शनिक साधक सांसारिक जीव है और इसलिए वह दमनी कर सकता है। सांकेर ने लिखा है, "प्लेटो की पणती मल्लिक के पुष्पहरण तथा विवेक के निरंकुश सिद्धान्त में है।"

(14) प्लेटो के दार्शनिक साधक को प्रथमोक्ति अधिकार देकर निरंकुश शासन का समर्थन किया है तथा राज्य के अन्य व्यक्तियों की शरीर के पुर्न काया

है। अपने नागरिकों के विचार एवं भावना की स्वतन्त्रता छीन कर उनकी स्थिति राजनीति के मूक दर्शकों की बना दी है। इनकी दृष्टि उस झेड़ के समान है जो हर समय राजा की नङ्गियों के निर्दोषन में लगे होती है।

(15) धार्मिक निन्दन और दर्शन के अध्ययन से प्राप्त प्राण: कभी भीरु बनती ही जाती है। वे व्यवहार-भूत होकर शासन के अयोग्य बन जाते हैं जब वह भय निराधार नहीं है कि प्लेटो का दार्शनिक शासक बनती बन जाएगा।

(16) दार्शनिक राजा स्वयं की सर्वगुरु-सम्पन्न मानकर जनता से परावर्त नहीं होता। इससे जनता की मनोवृत्ति भीरु धारणाओं की समझने की प्रवृत्ति नहीं होती। अपने विचारों और सुधारों के कारण वे अन्तिम-सी परिवर्तनों को प्रस्तावित करके बहु समाज में विद्रोह और अशांति उत्पन्न कर देता। जॉर्डे (Jordes) के शब्दों में, "दार्शनिक राजा दूरदर्शी होता है या अतीत की ओर देखता है; वर्तमान से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता।" प्लेटो स्वयं प्रकट करते भी सिधस्यूस के दामोनिस्त्रिक की दार्शनिक राजा नहीं बन सका।

दार्शनिक राजा की धारणा में मौलिक सत्य
(The fundamental truth lying behind
the conception of Philosopher King)

फोर्सर (Forsner) का कथन है कि "प्लेटो का सम्पूर्ण राजनीतिक विचार में दार्शनिक राजा की धारणा मौलिक है।" उसके सिद्धान्त में जिसमें एक साधारण-भूत राजा है जिसे हर देश और हर काल में बदल दिया या बनता है। प्लेटो के एक कथन से कोई एम्फार नहीं कर सकता कि शासन एक कर्म बनता है और इसके लिए विशेष शिक्षा-दीक्षा की आवश्यकता होती है। यदि शासन ऐसे व्यक्तियों के हाथों में चला जाए जिन्हें प्रामाणिक सत्यवादी का वैज्ञानिक ज्ञान न हो और न उन समस्याओं को सुलझाने की योग्यता हो तो, तो शासन-तन्त्र विफल जाएगा, अशांति और अस्थिरता फैल जाएगी तथा अज्ञान-विभ्रत हो जायेगा। अतः एक राजा का प्रतिरोधन करना प्लेटो की मूल्य दूरदर्शिता की कि राजा सर्वत्र बुद्धिमान व्यक्तियों के हाथों में होनी चाहिये। हमारे वर्तमान एकदो और विचार का प्रथम कारण प्लेटो के कथन से विमुख होना ही है। हमारे शासक जनता की अपनी हितवाच नहीं करते जिसकी स्वयं की। उनके द्वारा बनाए गए अनेक कानून उनकी प्रभावकारिता और निष्कलुपता प्रदर्शित करते हैं। गिर नवाते कानून जनता के कानों की बड़ोते हैं, साथ ही जनता में शासन के प्रति अविश्वास के भाव भी पैदा करते हैं। कलात्मकताओं की कलक और निष्कलुपता के कारण ही अनेक राष्ट्रों की क्षान्तिविम जनता को बुझी वे चँदना बढ़ता है और धार्मिक एकदो का शासन करता बढ़ता है अतः प्लेटो का मूल सिद्धान्त कि बुद्धि की ही शासन करने का अधिकार है, सही है।

दार्शनिक राजाओं का शासन सर्व-सर्व की समाप्त करने का सर्वोत्तम प्रयास है। इसका उदय अभी होता है जब शासक सर्व-सर्ववृत्ति के लिए राजनीतिक गति-

का दुराधीन कहे लगे । बड़े-बड़े बड़ों बड़े राजा या मन्त्रा बड़ों जातिमय स्वयं को उन, उन, उन से सम्बन्ध की सेवा में समर्पित कर दें । सामूहिक मानसिक निष्पी कृत्यों के उद्गम कर स्वयं को सामान्य हित की स्थापना में लगे करने वाले हैं और उन्हें इसमें परम आनन्द की प्राप्ति होती है । सामूहिक हित की भाव में स्वाधी की प्रति करना सम्भव नहीं है । यदि वर्तमान समाजारी भी स्वयं, समाज-सेवा और निःस्वार्थता के भावों के संश्लेषित हों तो इसमें संदेह नहीं कि जनता के कष्ट समाप्त हो जायेंगे । इस प्रकार प्लेटो राज्यों की स्वयं और समर्थता का मन्वेन देते हैं । निम्न ही यह मन्वेन राज्य और समाज के लिए महान् कल्याणकारक है ।

प्लेटो समाज के प्रत्येक वर्ग से अधिकार चाहता है । प्राथमिक वर्ग की राजनीतिक शक्ति का स्थापन करना पड़ता है जबकि दो वर्गों की प्राथमिक शक्ति से शक्ति कर दिया जाता है । यदि जनता का प्रत्येक वर्ग स्वयं की भावना के प्रेरित हो तो भारत के लक्ष्य नीति ही निश्चित जायेंगे ।

भारत राज्य की कल्पना में प्रत्येक वर्गों का महान् और स्थायी मूल्य है । अपने और भारत में ही तो "मनुष्य और स्वयं और वस्तु में दृष्टा रहेगा ।" यह उते जैसा उद्योग और मनुष्य और वस्तु की प्रेरणा देते हैं । शरीर के मनुष्य— "यह कल्पना चाहता है कि 'रिपब्लिक' कल्पनिक है, वास्तव में नवर है, एक सुवर्ण के रूप के मान है जो राज्य एक वर्ग के लिए रहता है, समाजान् कल्याण के विचारों से जाता है, वस्तु 'रिपब्लिक' 'बड़ी नदी' का नवर' नहीं है । यह समाज परिस्थितियों पर आधारित और सामूहिक जीवन की योजना या कथ से कम प्रभावित करने के लिए है ।"

भारत राज्य का पतन और समाज प्रत्यागियों का वर्गीकरण (Decline of the Ideal State and Classification of Government)

'रिपब्लिक' में जिस भारत राज्य की कल्पना है । यदि वह स्थापित हो जाय- तो भी स्वाधी नहीं रहेगा, क्योंकि यहाँ सभी कुछ परिवर्तनशील है । प्लेटो भी भारत राज्य की मध्य पर व्यावहारिक और स्वाधी नहीं मानना इतिनिद् 'रिपब्लिक' भारतीय तथा सभी युद्धक में यह भारत राज्य के पतन और समाज मान्य प्रत्यागियों के बारे में विचार करता है ।

प्लेटो का भारत राज्य दृष्टिगत भारत है क्योंकि यह भारत विद्वानों का प्रतिपादन करता है मन्व भारत राज्य का कथ भी उन विद्वानों की कमी के होता । प्लेटो का विश्वास है कि समाज के पतन से राज्य का पतन बहुत शीघ्र होता है । विशेष की उत्तरोत्तर वृद्धि से भी भारत राज्य बड़े-बड़े पतन की ओर पला जाता है । प्लेटो इस पतन के निश्चित कथ की नीच शक्तों से बोलता है—

(1) राजतन्त्र (Monarchy)—प्लेटो ने यह कल्पना की कि जब सरकारों का पतन होने लगता है वे विद्वान्-प्रवस्थाओं से होकर गुजरती हैं और अन्त में अपने

समौच्चतम रूप को स्थापन कर निकृष्टतम रूप धारण कर लेती है। प्लेटो के अनुसार राजतन्त्र में जनता की सर्वाधिक सुख प्राप्त होता है क्योंकि इसमें न्याय-भावना से अनुप्राणित विवेकमय राजनैतिक राजा शासन करता है।

(2) कीटितन्त्र (Timocracy)—अस्य में सामन्तवाद के परिणाम और व्यक्तिगत सम्पत्ति के उदय से एक शासन प्रणाली का उत्पन्न होने बताया है। सरासरी रूप से सारी दुनिया को हविषा पर चरचर नहीं देखा है। समाज आर्थिक दोनों में बँट जाता है और एक राज्य के स्थान पर अनेक बँटा हो जाते हैं। इससे सारी जाति जमींदार मोहताबी के रूप में आ जाती है। 'विवेक' की प्रधानता के स्थान पर उत्साह का भाव बढ़ जाता है। शासक विद्या पर स्थान नहीं देते। जनता साक्षर का भार भीमवत्तम व्यक्ति नहीं समझती और समाज में सम्बन्धता उत्पन्न हो जाती है। प्लेटो के अनुसार यह शासन प्रणाली कीटितन्त्र (Timocracy) है क्योंकि इसमें मोहताबी कीति और बहुभाषीयता बढ़ाने की दृष्टि से राज्य का संभालन करते हैं। यह राजतन्त्र का पहला विकार है।

(3) क्षाततन्त्र (Oligarchy)—कीटितन्त्र का प्रथम रूप 'क्षात' होता है किन्तु क्षाततन्त्र का 'कारण' है। इसमें सम्पूर्ण सम्पत्ति कुछ व्यक्तियों और कुलों के हाथ में आ जाती है। आर्थिक रूप से शासन की ज़रूरत हविषा लेते हैं तथा व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से राज्य का संभालन करते हैं। इस शासन में धनिकों एक निर्यातों के बीच कोई पहलू होती जाती है और स्वयं बढ़ता जाता है।

(4) लोकतन्त्र (Democracy)—क्षाततन्त्र में दण्ड जनता में लोक क्षातों और मिटोह की भावना उत्पन्न होती है। जनता के सत्ता की अपने अपने में कर लोकतन्त्र को स्थापना करता है। लोकतन्त्र में सभी को स्वतन्त्रता और समानता प्राप्त हो जाती है। इस अनुशासन और शासनात्मकता का भाव सुप्त हो जाता है। जनता स्वतन्त्रता का दुरुपयोग कर जनतन्त्र ला देती है।

(5) निरंकुशता (Tyranny)—क्षततन्त्र प्रगति करने के लिए जनता में एक देखा एक सत्ता होता है। यह जनता की बड़े मोहक आत्मात्मक देखा है और उसके कष्टों का प्रगति करने का उपयोग करता है। जनता उस पर विश्वास कर उसे राज्य-सत्ता और वैयक्तिक शक्ति प्रदान करती है, किन्तु यह जनता की आकांक्षाओं को पूरा नहीं करता। करनी स्थिति मजबूत करने के लिए राज्य में दमन करता है और बाह्य युद्ध मचता है। यह स्वेच्छाकारी शासन स्थापित कर देता है। यह निरंकुशतन्त्र (Tyranny) है। यह तत्कालीन उन्नीस सौ सौ का युग पीली है जो अपनी मेहनत से जो जीवन देती है। 'कारण' जल का सर्वाधिक प्राथमिक रूप निरंकुशतन्त्र का शासक है। यह सबसे निकृष्ट शासन प्रणाली है।

निष्कर्ष पर वे श्रमिकों के उत्पन्न की इस विद्या की जाने लिए बाँटे जाया जा सकता है—

नवीन	'क्यूपी ने सिन' द्वारा मान्य की कानून के ज़ीन की है ।	
विषय	वैय मान्य	वर्द्ध कानून का मान्य
कन वरदा	1. एक ज़ीन का मान्य (उपकरण)	4 वरुषी (मिडिने) का मान्य-नौकन
विषयता	2 कुल का मान्य (वनी) (उपकरण)	5 कुल (वनी) का मान्य-नौकन
की ली की		(Oligarchy)
पति लय	3 वरुषी (मिडिने) का मान्य (उपकरण)	6 एक का मान्य-नौकन
कनी है ।		(Tyranny)

कानून का निवेद्य

(The Omission of Law)

प्लेटो के ग्याव सिद्धान्त, सिधा योजना, सादर राज्य प्रादि के विवेचन के प्रत्येक भाग पर भी विचार करना उपयोगी है कि उसने अपनी 'रिपब्लिक' में कानून और लोकमत के प्रभाव की-विलक्षण छेड़ दिया है। इसमें सादेह नहीं कि 'रिपब्लिक' राजनीति सम्बन्धी इनी-विनी पुस्तकों में एक बहुत ही सम्बद्ध और सुप्रसन्न पुस्तक है जिसके विचार बहुत अधिक मौलिक, प्रेरणात्मक और काहसी है, यद्यपि आधुनिक पाठकों की 'रिपब्लिक' का यह पक्ष लटकता है कि उसमें कानून का निवेद्य है। इस सम्बन्ध में श्री केदाय ने कहा तर्किक विवेचन प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि—“यह पुति (कानून और लोकमत के प्रभाव का निवेद्य) विलक्षण हीन है क्योंकि यदि प्लेटो के प्रभाव की बात किया जाए तो उसका तर्क मान्य है। यदि मान्य केवल अपने उच्च ज्ञान के कारण मान्य है जो उनके कार्यों के सम्बन्ध में लोकमत का निर्णय विलक्षण प्रभावशाली है यद्यपि उनके विचार-विमर्श या वरानर्न करना केवल एक ऐसी राजनीतिक बात है जिसमें कि जनता के सम्बन्धों की नियन्त्रण में रखा जाता है। इसी प्रकार, दार्शनिक ज्ञान के हाथों की कानून के विषयों में बर्ध देना भी उसी तरह कुल्लुपुर्ण है जिस तरह किसी योग्य चिकित्सक को इस बात के लिए नियत करना कि वह अपने मुखे चिकित्सा सम्बन्धी पाठ्य-पुस्तकों के से नकल करके से से लेखन यह तर्क हमारी समस्या का समाधान नहीं करता। यह तर्क इस बात की मान देता है कि लोकमत कुछ नहीं है। मान्य की लोकमत के सम्बन्ध में पहले से ही अधिक ज्ञान रहता है। इसी प्रकार इस तर्क की एक अन्य पुति यह है कि यह कानून की भी कोई बहुत नहीं देता। इस सम्बन्ध में प्रस्तु का यह कहना हीन है कि व्यावहारिक ज्ञान विवेचना के ज्ञान के भिन्न होता है। लोकमत इस बात की प्रकट करता है कि मान्य के विचार किया-पलाओं का जलता के ऊपर क्या प्रभाव पड़ रहा है और जनता उनके बारे में क्या सोच रही है। इसी प्रकार कानून की केवल प्रेरणा निवर्ध नहीं होता। यह समर्थ मान्यता के सम्बन्ध में बुद्धि के प्रयोग का परिशुद्ध होता है। यह एक ही मान्यता के साथ सादर सम्बन्धपूर्ण व्यवहार करता है। प्लेटो ने लोकमत और कानून की जोशा करके दोनों की साथ सम्बन्ध किया है।”

कूट भी हो, 'रिपब्लिक' का वास्तव राज्य नगर राज्य के राजनीतिक विभाग का विवेक करता है। नगर राज्य के नागरिक स्वतन्त्र वे जिनसे शासक की काठी की हि प्रत्येक व्यक्ति अपनी जगहों की सीमाओं के भीतर सामन्तवाधिकाओं और कर्मियों के धाम से सजता है। यह वास्तव इस विभाग पर साक्षात्गत है कि कानून की प्रयोगता और किसी अन्य व्यक्ति की प्रयोगता के बीच (चाहे वे अन्य व्यक्ति बुद्धिमान और प्रबुद्ध जागृत हो क्यों न हो) एक दृष्टि नैतिक अन्तर होता है। अन्तर यह है कि कानून की प्रयोगता ही स्वतन्त्रता और शौर्य की भावना के प्रयुक्त है किन्तु व्यक्ति की प्रयोगता नहीं है। कानून की प्रयोगता में स्वतन्त्रता का भाव नगर राज्य में एक ऐसा तरह का जिसे कानूनी धर्म नैतिक नैतिक महत्त्व देते हैं। उनकी बुद्धि में नहीं तब प्रयोगता और कर्मियों के बीच अपने बल अन्तर उपस्थित करता है। कानूनी धर्म का नहीं विचारक अपने नैतिक अधिकार नृश्रेष्ठ शासन प्रणालियों के नैतिक वास्तवों में प्रतिष्ठित हो गया। यह वास्तव इस सिद्धान्त में प्रकट हुआ कि "नगरों के अन्तर्गत स्वतन्त्रता अधिकारी नागरिकों की महत्त्व के आधार पर होती है।" महत्त्व का धर्म स्पष्ट है तथापि यह कहना करना कठिन है कि इन वास्तवों का जोष हो जाएगा। इसी कारण, प्लेटो के वास्तवों राज्य के कानून के विवेक का प्रतिपादक केवल नहीं हो सकता है कि प्लेटो अपने उस कानून (जिसे यह सुधारना चाहता था) के एक अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण नैतिक धर्म की नहीं समझ सका। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि प्लेटो कानून को राज्य के अधिकारों के रूप में उन समय तक प्राप्ति नहीं कर सकता था जब तक कि वह उस सम्पूर्ण नागरिक पद्धति का पुनर्निर्माण नहीं कर सके जिसका कि राज्य एक भाग है। यदि नैतिक ज्ञान लोकतन्त्र में प्रयोज्य है, केवल प्लेटो मानता है, तो फिर कानून को ऐसा महत्त्व देने वाला हो सकता है कि वह राज्य में सम्पूर्ण शक्ति (Sovereign Power) बन जाए।

प्लेटो की 'रिपब्लिक' की वास्तववादी में स्पष्ट रूप से कहा है: "इन मादों में ही कि 'रिपब्लिक' का सिद्धान्त व्यवसायों की एक एक नहीं वर्णित करता है, प्लेटो की अपने जीवन के उत्तर-काल में इस काल की प्रेरणा दी कि वह राज्य में कानून को वर्णित स्थान है। पञ्चायत अपने अपने 'नगर' (Larva) नागरिक धर्म में एक दूसरे राज्य का निर्माण किया जिसने आज नहीं प्रत्युत कानून ही प्रकाश की शक्ति है।"

रिपब्लिक में लोकतन्त्र की आलोचना

(Criticisms of Democracy in Republic)

प्लेटो ने 'रिपब्लिक' में लोकतन्त्र की कठोर आलोचना की है। उसके मतानुसार अपने गुण गुणवत्ता की विपणन कराने वाले व्यक्ति के लोकतन्त्र का क्या बुरा प्रसर है। कानूनी लोकतन्त्र के इस धनवादी और निर्धन रूप में उसके हृदय की बीजक भावनाओं की प्रकटीकरण दिया। 'रिपब्लिक' में उसके लोकतन्त्र के विमोक्षित नैतिक दोष बताए—

1. अपने वास्तववादी राजनीतिक और अधिकारी वास्तवों तथा धर्मों की हि विचारों की अपने-अपने व्यवसाय की जानकारी होती है, किन्तु राजनीतिकों को कुछ भी नहीं पता।

2. शासन की शक्ति वोट (Vote) बटोर सकने वाले स्वयंसेवी एवं सार्वजनिक सेवा के ह्रास से बनी जाती है। प्रत्येक राजनीतिक दल अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लक्ष्य पर है और उसे राज्य के स्वार्थ के ऊपर समझता था है। सामक सम्पत्ति पर कर वने रहने के लिए कानून की बाधबुझी करते हैं। लोकतन्त्र वास्तव में भीरुत्व है। भीरु अपनी सम्पत्तियों पर शासकों से कानून बनवा लेती है। प्रत्येक व्यक्ति शासक बन कर बलमानी करता है। वास्तव में प्लेटो ने लोकतन्त्र का बड़ा ही व्यपमूर्त विवरण दिया है।

3. लोकतन्त्र के स्वतन्त्रता और समानता के दोनो आधार गलत हैं। प्लेटो की मान्यता है कि इससे समाज में घटपट, अनुशासन-हीनता और उन्मत्तता का प्रचुर होता है। उसी के शब्दों में "युव पिता के सुख बन जाता है और अपने बालों पिता के प्रति आदर और भय की भावना नहीं रखता। सम्पत्तिक सम्पत्ति के बन्धन से बंधा है और उसकी बाधबुझी करता है। निवारण अपने उपायवाची का विरोध करते हैं—ऐसे राज्य में दार्शनिक स्वतन्त्रता की परवाहवाही तब होती है, जबकि बीच दास और दासियाँ भी उसकी मूल्य देकर मोल लेने वाले स्वामियों के बराबर स्वतन्त्र हो जाते हैं।" लोकतन्त्र का और उपहास करते हुए प्लेटो अराखिया (Aerachyia) के कथन को उद्धृत करते हुए आगे कहता है "इस राज्य में रहने वाले पशु स्वतन्त्र होते। कुतियाँ भी लोकता की आधारशिला पर खड़ी हुई अपनी स्वामिनी के समान हो जाती है और इसी प्रकार घोड़े और गधे भी मार्ग में सामरिक स्वतन्त्रता के साथ चलने के सम्बन्धी हो जाते हैं। जो भी उनके सामने आकर उनके लिए खाना नहीं छोड़ता वे उसी पर भगद पड़ते हैं और इसी प्रकार सब चीजें सर्वोच्च समानता की भावना से यह करने को तैयार हो जाती हैं।"

4. लोकतन्त्र प्लेटो के 'राज्य' के विचार के अनुकूल नहीं है। प्लेटो की 'न्याय' की परिभाषा है—"प्रत्येक व्यक्ति को उसका प्रोथ उपलब्ध होना।" उसकी न्याय-व्यवस्था कार्य विधेयीकरण तथा धन-विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित है। उसकी मान्यता है कि किसी कार्य को करने के लिए विशेष रूप से प्रशिक्षित होना आवश्यक है लेकिन उसकाहीन एग्रेन्स की अस्वतन्त्रता के 'लॉटरी' प्रणाली द्वारा कोई व्यक्ति किसी भी पद के लिए चुना जा सकता था। दूसरे शब्दों में लोकतन्त्र में एक ही व्यक्ति अनेक कार्य कर सकता है। प्लेटो लोकतन्त्र की इस व्यवस्था को असमता मानकर उसका उपहास करता है।

5. प्लेटो की दृष्टि में लोकतन्त्र अराजकता (Anarchy) है। यह बहुतन्त्र (Polyarchy) है जिसमें अनेक दरजे और अनेक व्यक्तियों का शासन चलता है। ऐसे शासन में 'घरघी-घरघी अपनी अपनी व्यवस्था रख' वाली कहावत परिभाषा होती है जो अराजकता और अस्थिरता की प्रतीक है।

प्लेटो अपनी राय की व्यवस्था में लोकतन्त्र का दृढ़ता बतोर सातोचक नहीं रहा था। स्टेट्समैन (Statesman) ने अपने लोकतन्त्र की अराजकता (Oligarchy) से अधिक श्रेष्ठ स्वीकार किया है जबकि रिपब्लिक में लोकतन्त्र की अराजकता से

कोना स्पष्ट दिया है। बर्कर के कथनों के “यह महत्वपूर्ण परिवर्तन है। अब जो हमने उन दिनों की स्मृति रखी हुई है जब लोकतन्त्रवादी राज्य ने अपनी दार्शनिक (धुक्का) को नारायण, किन्तु अब वह स्मृति उतनी सीसी नहीं रही, जिसकी ‘गोर्गास’ (Gorgias) तथा ‘रिपब्लिक’ विषयों में।”¹ अपनी पश्चिम रचना लॉस (Laws) के अपने लोकतन्त्र को उन्नीस प्रदान की है।

प्लेटो और फासिवाद (Plato and Fascism)

प्लेटो यह कहा जाता है कि प्लेटो इतिहास के समय फासिवाद हुआ है। जो फासिस्टों का प्रयोग भी कहा जाता है।

फासिवाद की विशेषताएँ

1. फासिवाद में तत्काल एक ऐसे राज्य में है जहाँ सामाजिक हो और व्यक्ति का कोई स्थान न हो। हमने एक राज के विरुद्ध किसी राज का प्रतिरोध स्वीकार नहीं किया जाता। यह सर्वोच्चारवाद (Totalitarianism) है जो व्यक्ति के जीवन पर सीसा लगाता है। हमने मनुष्य के व्यक्तित्व की बात और योग्यता के पूर्णतः इग्नोर किया जाता है और व्यक्ति राज्य की पहिए की मशीन के लिए केवल एक दुर्गम भाग रहा जाता है।

2. फासिवाद राज्य व्यक्ति की सम्मानता के विनाश करता है। फासिस्ट तर्क करते हैं कि जब साम्राज्य प्रत्येक देश तथा काल में प्रजापति, व्यवस्थापक तथा भावनात्मक होते हैं, इन कारण हमने राज्य का नेतृत्व करने की क्षमता नहीं हो सकती। विनाश राज्य में नहीं कुछ ही ऐसे योग्य, अनुभवी एवं कार्यकुशल व्यक्ति होते हैं जो राज्य के हित की प्रति-प्रति पहिचान कर उसकी रक्षा कर सकते हैं।

3. फासिवाद प्रजातन्त्र विरोधी है। यह मजबूत प्रजातन्त्र को मूलतःपूर्ण ध्वस्त, धीमी, कार्थनिक तथा सम्मानहीन प्रजापति मानता है। प्रजातन्त्र प्रजातन्त्रिक है और जनसामान्य अपने भाव पर शासन करने के लिए सभी भी योग्य नहीं हो सकते।

4. फासिस्ट राज्य की रूढ़िवादी है। उनका मत है कि राज्य का अपना व्यक्तित्व, अपनी इच्छा तथा स्वतन्त्र उद्देश्य होता है। राज्य कोई व्यक्तियों की भीड़ का भाग नहीं है बल्कि उसका स्वरूप सम्मानात्मक है, केवल एक निश्चित स्-भाष पर रहने वाले व्यक्ति ही मिलकर राज्य कहे जा सकते हैं। अतः राज्य तथा समाज का एक वैश्व स्वरूप (Organic form) है जिसके रूप में रहने पर व्यक्ति एक सम्मानहीन भावनात्मक भाग रह जाएगा। राज्य के इन सब की फासिस्ट व्याख्या करते हैं और इसे जनता के भाव का एकमात्र तथा अन्तिम निर्णय करने वाला मानते हैं।

3. फासीवाद की समीक्षाकारी दृष्टि इसका कहना है कि "राष्ट्र का सामुहिक हित इसी बहुपक्षीय वस्तु है जिसे हमें दृष्टि के लिए कुछ व्यक्तियों का बलिदान छोड़ बहाल नहीं रखता। राज्य की सेवा में ही व्यक्ति का कर्त्तव्य तथा उत्पत्ति है। राज्य के दूसरे व्यक्तियों का विचार कोई स्वतन्त्र उद्देश्य नहीं हो सकता। राज्य के विरुद्ध उनके कोई अधिकार नहीं हो सकते।"

फासीवाद के उपरोक्त विचारों के संदर्भ में फासीवादियों का कहना है कि प्लेटो द्वारा वर्णित आदर्श राज्य दूसरा फासीवादी राज्य है क्योंकि प्लेटो ने दार्शनिक तथा व्याप्तिक रीति के समर्थन में निष्कर्ष निकाला कि दार्शनिक शासन सब पर शासन करने, वे कानून के कल्पन से पूर्णतः मुक्त होने और स्वेच्छानुसार शासन करने की उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता होगी। सुसोशिली ने भी यही बातें कही हैं। दोनों के विचारों में निहित ही अनेक समानताएँ हैं। यदि 'रिपब्लिक' का सम्पादन फासीवादीपूर्ण किया जाए तो उल्टे यही निष्कर्ष निकलेगा कि प्लेटो का राज्य समीक्षाकारणी है। प्लेटो के आधारभूत उसे सुसोशिली का 'साम्प्रदायिक पूर्वज' कहते हैं। फासीवाद और प्लेटो के विचारों में अनेक समानताएँ बताई जाती हैं।

फासीवाद और प्लेटो के विचारों में समानताएँ

1. प्लेटोवादी तथा फासीवादी दोनों अपने देश की तुलना करते हैं। भी जी की केटमिन लिखते हैं—“प्लेटो बचपन से ही यह पाठ पढ़ाता है कि उनके देश के तुलना देश दूसरा नहीं है। यहाँ प्लेटो, देशी विचारधाराओं का ही जन्म भूत है और सुसोशिली भी यही हीन है, सब की कोई समानता नहीं है और स्थानित नहीं है, विरुद्ध सड़ते पर शासन करता है—पूर्णस्वेच्छा समर्थक तथा अनुसूचित प्रतीत होता है।”

2. दोनों ही प्रजातन्त्र विरोधी हैं। प्लेटो ने प्रजातन्त्र को अज्ञानियों का शासन कहा है, उसके अनुसार “प्रजातन्त्र के कानून धन रहते हैं, इसकी स्वतन्त्रता पराजयता है, इसकी समानता असमानता की समानता है।” फासिज्म भी प्रजातन्त्र को साम्प्रदायिक और अष्ट शासन का रूप मानता है। दोनों ही समानता के विद्वान्त की उल्टा करते हैं और उसे धृष्ट की दृष्टि से देखते हैं। व्यवस्था पर आधारित सुसोशिलता के दोनों समर्थक हैं। प्लेटो साम्प्रदायिक दृष्टि से मानवीय समानता के विद्वान्त की स्वीकार करते हुए उत्पादक वर्ग को एक से, रीतिक एवं सामक वर्ग की दूसरी कोटि में रखता है। दूसरे वर्ग के लिए वह शिक्षा और साम्प्रदाय की योजना रखता है। वह ज्ञानियों एवं अज्ञानियों में भेद करता है। फासिज्म भी अनुषा की समानता की मान्यता नहीं देता।

3. दोनों ने स्वतन्त्रता का कोई स्थान नहीं है। प्लेटो के आधार राज्य में नागरिक के सभी कार्यों पर राज्य का पूर्ण एवं कठोर विधान है। इसी प्रकार फासिज्मवादी व्यवस्था में भी अनुषा का राज्य के बाहर कोई अधिकार नहीं है।

4. दोनों विचारधाराओं में राज्य की सर्वोच्चता माना गया है। राज्य के हितों के लिए व्यक्ति के हितों की प्राथमिकता देने की उचित दृष्टिकोण गंवार है। प्लेटो ने दार्शनिक नागरिक के निरनुकूल अनुभव की स्वीकार किया है। कासीवाद भी एक नेता, एक दल की निरनुकूल स्वीकार करता है। दोनों का रूप अधिनायकवादी है।

5. कासिस्टों ने भी प्लेटो के समान नेता की सर्वोच्च, सर्व-व्यक्तिगत तथा सबसे अधिक बुद्धिमान माना है और नेता की आज्ञा का अक्षरशः पालन करना जरूरी का परम-धर्म बताया है।

6. प्लेटोवाद और कासीवाद दोनों का बुद्धिमानत्व में विवाद है। प्लेटो बुद्धि का सातवें स्थापित करने के लिए प्लेटो के चरित्रों की सम्पूर्ण सामान्य जीवन चाहता है। कासीवाद भी एक दल की आज्ञाकारी बनने का इच्छुक है। इस प्रकार दोनों में राज्य की शक्ति कुछ दोनों के रूप ही रहती है।

7. दोनों विचारधाराएँ मनुष्य के कर्तव्यों का उल्लेख करती हैं अधिकारी का नहीं। प्लेटो के अनुसार मनुष्य को अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए तथा दूसरों के काम में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। कासिस्ट में भी अधिकारियों की कोई महत्त्व नहीं दिया गया है और सीनिक की शक्ति "Not to reason why but to do and obey" कला कर्मचारी होता है।

8. शिक्षा के बारे में दोनों के समान विचार हैं। दोनों राज्य द्वारा संचालित योजना प्रस्तुत करते हैं। दोनों शिक्षण का विशेष प्राधान्य देते हैं। दोनों का उद्देश्य मनुष्य की शिक्षा देना है।

9. दोनों के रूप में राज्य का सर्वोत्तम स्थान था, यद्यपि एलियो का रूप विद्वान-मित्र प्रभाव था। प्लेटो के समय गणतन्त्र-राज्य में अधिक शक्तिशाली नहीं थे इटली राज्य-राज्य था।

उपर्युक्त समानताओं के बावजूद यह भी कहा जाता है कि प्लेटो का विचार का पिता था। कार्की ने भी प्लेटो के विचार को योग्य व्यक्ति की निरनुकूलता बताया है। मनुष्य शक्ति में उसके प्रासंगिक की प्राप्ति करना करते हुए कहा है कि यह एक सामान्यतः अवस्था सर्वोच्चतावादी नागरिक बन गया है।

कासीवाद तथा प्लेटो के विचारों में असमानता

प्लेटो को कासिस्ट का अनुयायी कहना अनुचित है। अतः, प्लेटोवाद और कासिस्ट में बड़ी असमानता है। जो निम्नलिखित है—

(1) कासीवाद नहीं सकेवाद और बुद्धिवाद के प्रति एक विरोध है वह प्लेटो के बुद्धिवाद का कासिस्टों के प्रभाव (Influence) से होता विरोध है। कासिस्टों के अनुसार बुद्धि (Reason) सभी सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन की समस्याओं की वही सुलभ तकनीक जबकि प्लेटो के लिए वही एकमात्र मार्ग-दर्शक है जो मनुष्य को सामाजिक सुधारों से दूर दृष्टा करती है।

(2) प्लेटो की निवारणार्थ धारणायाही है जबकि फासिस्ट विचारधारा स्वायत्तवादी है। प्लेटो ने जिस राज्य की विवेचना की, वह केवल कायना के तौरक ने ही स्थानित हो सका, व्यावहारिक अणस् में नहीं। इसके सर्वथा विपरीत कामीवादी विचारों में धारण की कोई स्थान नहीं है। फासिस्ट धारण में नहीं स्वायत्त में, योजना में नहीं, कार्य में निवारण करते हैं और उन्होंने अपने विचारों के प्रयोग दृष्टो, और अर्जन्ती में किये।

(3) फासीवाद भावनाओं तथा प्रवृत्तियों को बुद्धि से जीवा स्थान देता है जबकि प्लेटी ने भावनाएँ भी बुद्धि का स्वरूप कहती प्रतीत होती हैं। वह पारणा कि फासिस्ट अपने रून से सोचते हैं (Fascists think with their blood), प्लेटी के दर्शन के लिए एकदम बहुतरासीय कहो जा सकती है।

(4) प्लेटो ने सामयिक आधार पर एक राजनीतिक व्यवस्था कायदा की। प्लेटो ने राजनीतिक व्यवस्था के आधार पर एक दर्शन बनाया। यहाँ दोनो के बीच एक अन्तर है।

(5) ब्लेडो ने राजनीति पर नष्टों वस्तु नैतिक तथा पर अधिका बल दिया ।
उपरो राजनीति को नीति की दायी बना दिया लेकिन राजनिरादी ने नीति को
राजनीति की अनुयायिनी बनाया है ।

(6) फासीवाद की सत्य एवं नैतिकता की बाधछा व्यावहारिक है जबकि प्लेटी की सम्भाव्यहारिक है। फासीवाद के अनुसार नैतिक सम्प्रदाय तथा सत्य केवल सापेक्षिक सिद्धान्त (Relative concepts) है। जब-तक के मनुष्य के उद्देश्यों व कार्यों की प्राप्ति करने में सहानुभूति है तभी तक इसका प्रभाव है। प्लेटी ने इस विचारधारा का घन-नी पुराण 'रिजलिज्' में वर्णन किया है। उसका कहना है कि सत्य और न्याय वही सत्यतः है और न ही कुछ समय के लिए से बाहरी दान-कर्म होकर मनुष्य के बौद्धिक स्तर के आन्तरिक उत्साह के रूप में माफ़ी पाते हैं। सत्य, नैतिकता तथा सत्य घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होते हैं लेकिन यह सम्बन्धक नहीं कि प्लेटी और भी सम्बन्धित है वह न्यायसमय भी है। सत्य, नैतिकता तथा न्याय के बारे में प्लेटी का सिद्धान्त फासीवाद की व्यावहारिकता के विरुद्ध सीधे सम्मुख है।

(7) प्लेटो साम्राज्यवाद की कल्पना भी नहीं करता था जबकि पश्चिम विचारवादी इसमें सींग्रीत हैं। मुसोलिनी का शब्द था—“इसकी वा का ही विस्तार ही संभवता घन हो जाए।” फासिस्ट विस्तार ही में संभवता जीवन संभवते हैं। प्लेटो के अनुसार साम्राज्यवाद नगर राज्यों के विकास के लिए एक पश्चिमाय था। वह स्वयंसाधित तथा शासन-निर्भर नगर राज्यों की कल्पना प्रस्तुत करता है। प्लेटोवाद के संकेत राज्यवाद के मिथ्यात्व (Theory of Mitatani Nationalism) वा प्लेटो के विचारों में कोई स्थान नहीं है। साम्राज्यवादी विस्तार, संघर्ष घनिष्ठ फासिस्टों के लिए उत्साह और शास्त्र के परिचायक हैं, किन्तु प्लेटो के लिए वे

वीमारियों है। उसके आदर्श राज्य में शासन-व्यवस्था के बनना बुद्ध की मनेखा वही की जा सकती। प्लेटो के लिए बुद्ध-धर्म उदारता एवं धर्म का स्थापन न होकर राजनीतिक वीमारों का एक बिन्दु है और राज्य के धार्मिक अनुष्ठान के लिए उत्तरदायी है। बुद्ध के स्थान पर एवता प्लेटो के लिए मनुष्य और राज्य का भाग है जबकि पश्चीमासी विचारधारा की नींव ही बुद्ध पर रखी है। बुद्ध उनके लिए मनुष्यत्व का सम्मेलन समझें हैं।

(8) प्लेटो साम्यवादी सिद्धान्त प्रस्तुत करता है जिसके अनुसार नागरिक वर्ग को सम्पत्ति एवं परिवार के विरुद्ध खड़ा आवश्यक है किन्तु पश्चिमत साम्यवादी विचारों के समकक्ष है। वे इसका पुरोहित अनुष्ठान चाहते हैं। वे प्लेटो के समान सम्पत्ति और परिवार की सामकों के लिए साम्य नहीं मानते।

प्लेटोवाद और कासीवाद की समानताएँ और विषमताएँ देखने पर यही प्रतीत होता है कि प्लेटो न तो पश्चिमत है और न उसका अनुयायी। उन्हीं विषय विचारधारा को रक्षा यह अपने युग की नींव थी। प्लेटो के विचार 4 शताब्दी ई. पू की उत्पत्ति के सिद्धि के अनुसार वे जबकि पश्चिमत विचारधारा 20वीं शती के प्रथम महानुद्ध के बाद की है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि पश्चिमत पश्चिमत की प्रति प्लेटो ने भी यह घोषणा की थी कि राज्य एक नैतिक कला है जिसके प्रति धर्म का साम्यजनन न केवल का प्रथम कर्तव्य है, किन्तु प्लेटो का यह विचार पश्चिमत साम्यवाद और बुद्ध-धर्म के विरुद्ध था। पश्चिमत की प्रति प्लेटो ने यह भी कहा था कि साम्य करने का विशेषाधिकार कुछ विशेष बुद्धिमान और ज्ञानी व्यक्ति ही है, लेकिन जहाँ उनके ने 'कुछ बुद्धिमान' प्रति प्लेटो, नैतिक और बौद्धिक नवीमासी के समान, समा-प्रति एक पहुँचते हैं वहाँ साम्यवाद में कुछ प्रति प्लेटो, कुछ एक बुद्धिमान व्यक्ति के ज्ञान द्वारा विचारों में विचार करते हैं। इसी तरह वहाँ पश्चिमत लोगों के प्रति के दर्शन को जन्म दिया है वहाँ प्लेटो बुद्ध के दर्शन का हामी है। प्लेटो का आदर्श राज्य अपने राज्य में योग्य और एकतापूर्ण है किन्तु पश्चीमासी राज्य विचारों एवं समाज का प्रतिनिधित्व करता है।

वास्तव में प्लेटोवाद एवं कासीवाद में समानताएँ समानताएँ, सुन्दर एवं बड़ा है। समानता तो यही है कि इन दोनों का अन्तर अभी न भरे जाने का है (Unbridgeable Gulf) की तरह है। प्लेटो की प्रथम पश्चिमत बनाना न केवल अनुचित है बल्कि अव्यवहार भी है।

प्लेटो : 'स्टेट्समैन' तथा 'लॉ' (Plato : The 'Statesman' & the 'Laws')

प्लेटो का उत्तरदायी राजनीतिक दर्शन 'पॉलिटिक' (Politicus) समान 'स्टेट्समैन' (Statesman) तथा 'लॉ' (Laws) नामक ग्रन्थों में निहित है। इनकी रचना 'रिपब्लिक' के अनेक वर्षों बाद हुई। इन दोनों ग्रन्थों में पश्चिमत साम्य दिखायी देता है। इनके सिद्धान्त 'रिपब्लिक' के सिद्धान्तों से बहुत भिन्न हैं। वे दोनों ही नवीमासी के समानताओं के समानता में प्लेटो के विचारों के प्रतिपक्ष प्रस्तुत करती हैं।

स्टेट्समैन (The Statesman)

प्लेटो की यह रचना सम्भवतः 367-361 ई. पू. के मध्य उभय मध्य गिराई गई जबकि विद्वान्मंड में दार्शनिकविमल ग्रीक सुधार के तथा हुआ था। इनके गुण्य बाद के वर्षों में।¹ इसका रचनाकाल 367 और 361 ई. पू. के बीच सम्भव है सम्भवतः अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि इस काल में प्लेटो की एक घोर तो गिरावट के राज्यकाल के बड़ी-बड़ी घातार्थें बंध रही थी और दूसरी घोर विधि (मादुर) में भी उसकी अभिवृत्ति उत्पन्न हो गई थी और वह दार्शनिकविमल ग्रीक के साथ विधियों की प्रस्तावनाएँ संवार करने में तथा हुआ था।² सिम्लेयर (Sicily) के अनुसार रिपब्लिक की रचना के लगभग 12 से 15 वर्ष बाद 362 ई. पू. में प्लेटो ने 'स्टेट्समैन' की रचना की होती है।³ इस ग्रन्थ की ग्रीक भाषा में 'पॉलिटिकस' (Politicus) कहा जाता है। इसकी मान्यता मुख्यतः इसविषय है क्योंकि इसमें प्लेटो ने कानून पर एक नए दृष्टिकोण के विचार किया है और व्यवस्था की उसकी कार्यवाही नहीं की है जिसकी 'रिपब्लिक' में की थी। इसमें विभिन्न विधानों (Mixed Constitutions) का संकेत मिलता है जिसका पूर्ण विकास 'लॉय' में हुआ है। इन दोनों ग्रन्थों में प्लेटो को हूब 'रिपब्लिक' के काल्पनिक आदर्शवादी के स्थान पर व्यावहारिक आदर्शवादी (Practical Idealist) के रूप में देखते हैं। उसमें विचार बड़ा 'रिपब्लिक' की धारणा अधिक उत्कृष्ट और सुनिश्चित है। 'पॉलिटिकस' का लक्ष्य है 'राज्यसुख' या 'राजनीति' (Statesman)। इस प्रकार के विमोक्षोत्थ मुख्यतः और एक विशेषी परस्पर आदर्श राजनीति के स्वयं एक कार्यवाही के विषय में कार्यवाही करते हैं। इस मान्यता के अनुसार विचार के दौरान 'रिपब्लिक' में प्रतिपादित धारणा पर पुनर्विचार किया जाता है और विभिन्न प्रकार की कारण प्रक्रिया के एक तथा उनके गुणगुणों का निवेदन किया जाता है।

स्टेट्समैन में आदर्श शासक एवं कानून सम्बन्धी विचार (Views on Perfect Ruler and Law in Statesman)

'स्टेट्समैन' कोई राजनीतिक कृति नहीं है। इसमें अधिकतर परिभाषायों पर विचार किया गया है और इसका मुख्य निम्न आदर्श शासक के राजनीति (Statesman) है। 'रिपब्लिक' में यह मान लिया गया था कि राजनेता केवल आदर्श शासक एक कलाकार है और उसे जानने करने का अधिकार है, क्योंकि वह 'हृद्' की जानता है। 'स्टेट्समैन' में इसके समर्थन में प्रमाण प्रस्तुत किए हैं और 'रिपब्लिक' की धारणा की विस्तृत व्याख्या की गई है। 'स्टेट्समैन' का निष्कर्ष भी यह है कि राजनेता एक प्रकार का कलाकार होता है जिसकी मुख्य योग्यता जान ले है। प्लेटो ने राजनेता की कुलना यहविषय से की है, क्योंकि यहविषय प्रायः बहु-

1. गार्डर : ग्रीस, पृ. 406

2. Schar : A History of Greek Political Thought, p. 111.

3. वेबल : ग्री. पृ. 68.

सेमूह की भाँति राजनेता भी मानव-समूहों का नियन्त्रण और व्यवस्थापन करता है। राजनेता परिवार के उस मुखिए की भाँति है जो परिवार को इस प्रकार बताता है कि उसके सब सदस्यों का हित हो।

‘स्टेट्समैन’ के पीटो के राजनेता शब्दों प्रभावशाली सर्वोच्च सत्ता का अधिकारी माना है और राजनीतिक नेतृत्व की सभी विज्ञानों में प्रधान बताया है। यद्यपि उसके सम्बन्धों का उद्देश्य राजनेता के स्वयं की सम्पत्ति की समीक्षा यह अधिक है कि सामान्य-वैयक्तिक गरिमा का विकास किया जाए।¹ परन्तु उसके निम्नोक्त शेषवाक्य में पीटो के राजनीतिक जसाद की किराँतें बार-बार चमक उठती हैं और ‘स्टेट्समैन’ का उपाद निरपेक्ष राजनेता शब्दों का सर्वोच्च मानक के वास्तविक स्वरूप का सम्बन्ध बन गया है। उसके-श्रु-कला में पहली कड़ी तो यह निश्चित करने की है कि राजनीतिज्ञता शब्दों राजसम्वन्धता (Statesmanship) का सम्बन्ध किस चीज से है। पीटो ने कारण में ज्ञान की आवश्यकता के दृष्टि माना है तथा राजनीतिज्ञता को या ‘राजनीति-विज्ञान’ को ज्ञान के क्षेत्र में रखा है। उसके-श्रु-कला में दूसरी कड़ी है—ज्ञान का दो शाखाओं में विभाजन। एक आलोचनात्मक (Critical) ज्ञान है और दूसरा आदेष्टात्मक (Imperative) ज्ञान। आलोचनात्मक ज्ञान में निर्णय ही नहीं होता बल्कि निर्णयों की वादी-निष्ठ करने के लिए आदेश भी दिए जाते हैं। राजनीतिज्ञता (Statesmanship) आदेष्टात्मक ज्ञान के सम्बन्ध में आती है, राजनीति विज्ञान का स्वर आदेष्टात्मक होता है। इसका अर्थ यह है कि आदेष्टात्मक ज्ञान की दो भागों में बाँटा गया है—उपान शब्दों में नीचे-पर भाग, या ज्ञान और द्वितीय नीचे या अधोल भाग शब्दों में आता है। कुछ नीचे या आदेश दे सकते हैं वे अनुज्ञा सम्पन्न होते हैं, उनके ऊँचा कोई नहीं होता और उनके आदेशों का शीत में स्वयं ही होते हैं। दूसरे ओर अधोलभा होते हैं और वे ऊँची आदेशों को जारी कर देते हैं जो ऊँचे दिए जाते हैं। राजनेता शब्दों प्रभावशाली की पहली पहली के नीचे में होती है जिसका ज्ञान केवल आदेश देने का ज्ञान नहीं होता बल्कि परस्पर-आदेश देने का ज्ञान होता है। पीटो ने विस्तार के इस बात को सिद्ध किया है कि एक राजनेता बला, सेनापति तथा व्यावसायिक के समानिष्ट बदकर है कि अनुज्ञा सम्पन्न होने के कारण वह ही यह निर्णय करता है कि वे अपनी प्रतिष्ठों का कल और जिन लोगों के अर्थों को। पीटो की दृष्टि में, जिन विज्ञानों का सम्बन्ध करने के है, ऊँचे राजनीतिज्ञता शब्दों राजसम्वन्धता (Statesmanship) उनकी विशेषता है।

‘स्टेट्समैन’ इस सूक्ष्म प्रश्न पर विचार करना है कि “आदेश राज्य में नागरिकों को अपने अधिकारों पर किस नीति तक निर्भर रहना चाहिए? क्या वे उन पर उन्नी प्रकार निर्भर रहे जिस प्रकार ज्ञान के आदेश नागरिकों पर निर्भर रहता है, अथवा वे स्वयं अपने निश्चय करें? स्टेट्समैन’ में बताया गया है कि यदि

जातक वास्तव में कलाकार है और अपने कार्य को धन्य होकर करता है तो उसे पूर्ण निरंकुशता प्राप्त होनी चाहिए।¹ "सासन प्रत्यानिधी में यही कामन प्रत्यानी सबसे श्रेष्ठ है और बड़े वास्तविक सासन प्रत्यानी है जिसमें जातकों के पास सामाजी नहीं, अत्युक्त वास्तविक ज्ञान होता है। वे कानून द्वारा शासन करते हैं अपनी नज़र, उनके प्रभावन राजी है या नहीं, इसका कोई महत्व नहीं है।"² प्लेटो बतलाता है कि राजनेता का उद्देश्यक सामाजी चाहेत बुद्धि का प्रयोग भरतु-वीचरु के लिए करता है और जिन्हें सहारा देने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है वे समुदाय या समुदायों के रूप में संगठित मानव होते हैं। राजनेता मानव-समुदाय के भरतु-वीचरु के लिए नियुक्त प्रत्यानी है। 'भरतु-वीचरु' शब्द में यह कार्य निहित है कि भरतु-वीचरु के प्रभाव का राजनीति विज्ञान के बीच कोई खाई नहीं है। किसी भी परिवार और किसी छोटे राज्य में केवल माया का अन्तर होता है, प्रकार का नहीं।³

प्लेटो ने एकमात्र सम्भाव्य राज्य उसे ही माना है जिसमें ऐसे राजनेता अपना प्रभावक ही ही मान-रूप है। राज्य तब तक राजनीतिक समाज नहीं हो सकता जब तक कि यह मान पर आधारित राजनेताओं की सम्भवप्रकार की शक्ति के आधार पर एक दूसरे के रूप में संगठित न हो जाए। इस ज्ञान का केवल दम-विन शक्ति का ही पूर्ण ही शक्ति है क्योंकि सभी राजनेता इसे अपने श्रेष्ठ ही हो सकते हैं।

प्लेटो ने राजनेता का उद्देश्यक की निरंकुशता अपना निम्नलिखित शर्तों के निम्नलिखित आधारों पर प्रयोग और सम्भव किया है—

- (क) राजनीतिक सम्प्रदाय के तर्कों के आधार पर निरंकुशता का प्रयोग,
- (ख) सामाजिक सम्प्रदाय के तर्कों के आधार पर निरंकुशता का प्रयोग, एवं
- (ग) विधि-शासन के विचार के आधार पर निरंकुशता का सम्भव।

(क) राजनीतिक सम्प्रदाय के तर्कों के आधार पर निरंकुशता की सम्भवप्रकार रूपसे हुए प्लेटो ने दिया है कि राजनीतिज्ञता गुणत चाहेतात्मक विज्ञान है जिसमें निरंकुशता की सर्वोच्च शक्ति निहित होती है। राजनीतिज्ञता कला है और प्रभावक का सार यह है कि कलाकार स्वयं एक राज्य की शक्ति कार्य करता है और अपनी कार्य-सदृश के बारे में किसी भी नियमनकों के सम्भव में सम्भव होता है। कलाकार जिस कार्य पर कार्य करता है उसे अपने ज्ञान के अनुसार अपने वे सम्भव रूप देने का प्रयत्न करता है। कलाकार के माते राजनेता अपना उद्देश्यक की भी प्रभाव होती है कि वह अपने ही शक्ति सम्भव अपनी प्रभाव का दृष्ट करे। इसका अधिकार यह है कि राजनेता की अपनी ज्ञान की सदृशता की कोई सम्भवप्रकार नहीं होती। सभी और सभी की कोई अधिकार नहीं कि जातक या विधिज्ञता की सम्भव के सम्भव के बारे में सम्भव में अपनी सदृशता या सदृशता है। इसके विपरीत छोटे ही अपने ही जातक या विधिज्ञता के सम्भव सम्भव पर छोड़ देते हैं। जातक

1 वेदाङ्ग : पृ. 68

2 मेदुसैर, वेदाङ्ग में पृ. 68.

3 शर्करा : पृ. 408

या चिकित्सक ज्ञान का प्रयोग किस तरह करेंगे—इस बारे में यात्री या रोबी किसी तरह के हस्तक्षेप का दावा नहीं करते। यह जो मौल स्वीकृति का विषय है, सहस्रति का नहीं। यदि चिकित्सक और बालक अपनी कलाओं में परागत होने लगे निश्चय ही रोबी और यात्री का भया करे और उन्हें उनकी मौल स्वीकृति भी निश्चय रूप में मिल जाएगी। यही वास्तव राजनेता के अन्तर्ब में सामु होती है। यदि राजनेता किसी नागरिक की अधिक-आयपूर्ति, अधिक सम्पत्ति और उच्च काम करने के लिए बाध्य करता है तो इसमें उस नागरिक का साथ ही है, हाँनि नहीं और नागरिकों की भलाई का काम करने का अधिकार हर व्यक्ति को है—फिर चाहे वह नागरिकों की इच्छा के अनुकूल हो या नहीं प्रतिकूल। स्पष्ट है कि ऐसी प्रचुर स्वैच्छाधारिता (Enlightened Despotism) के सिद्धान्त की कलाकल कर रहा है।

सच्चे राजनेता ने अज्ञानता के रूप में ग्रहण करने की बारम्बार का पीछे में दुःख निष्कर्ष यह विचारण है कि कसकी कला के लिए विधि सम्पत्ति कायम करना आवश्यक है—यहाँ तक कि हाँनिवारक है। पर वह दृष्टिकोण 'रिपब्लिक' में कुछ भिन्न है। 'रिपब्लिक' में पीछे का तर्क था कि जब सामूहिक कामकाजी विद्या प्राप्त होना एक जीवनकाल प्राप्त हो चुका है तो उसके लिए कायम की कोई आवश्यकता नहीं। 'इंटेल्जेंस' में भी पीछे के कायम को एक मुद्दा बना है, पर उसके विरोध का स्वर विचार है। 'इंटेल्जेंस' में राजन की अधिकतम इस आधार पर बुरा समझ गया है कि कायम के जाने होना है। कामकाजी के ज्ञान के सम्पन्न प्रयोग पर प्रतिफल और सम्पत्ति का आरोपण। कायम के विचार कठोर और स्थायी होते हैं। कायम उस दुःखही और कलाही निरनुस सामक की तरह होता है जो अपना निश्चय नहीं करता। राजन की स्थिति उस चिकित्सक की तरह है जो दुष्पन्न का-प्राप्त्यर इच्छा करता है और उन काम की ओर कोई ध्यान नहीं देता कि विधि पीछे का वह प्रभाव क्या है। इसका तरीका-विधान कैसा है, उसके रीत की बात भिन्न है, जहाँ बात परिवर्तन हो गये है कार्य। किन्तु इस विरोध के सम्पन्न पीछे स्वीकार किया है कि राजनों की अधिकतम होता है और यद्यपि उनके अधिकतम होती है फिर भी वे काम की सम्पन्न रूप के अपनी हीमा में काम लेते हैं। सम्पन्न सम्पन्न और सम्पन्न-सम्पन्न के पीछे के अनुसंधान राजनों के सम्पन्न विधियों का निर्माण हो सके इसके लिए विचारक (कारण) अपनी सम्पन्न बुद्धि का उपयोग करने से कतराते हैं, जनताधारण के लिए इस सम्पन्न विचार क्या करते हैं जो स्मृत बुद्धि से वैयक्तिक विचारों के अनुसंधान होते हैं। पीछे राजनीतिक सम्पन्नता के आधार पर निरनुसता का बीषण करते हुए कहता है कि स्वायत्तारिक दृष्टि के राजनों का अधिकतम अधिक मात्रा का कला है तथापि सम्पन्न की स्मृत है कि राजनेता वा सम्पन्न की तकली में सम्पन्नपन्न रहे और यदि राज्य अपने सम्पन्न की कायम के अनुसार नहीं करने के लिए सम्पन्न कर देता है तो सम्पन्न अपनी तकली के सम्पन्नपन्न से अधिक हो जाता है। कार्यर की यह स्थिति होती है कि पीछे सम्पन्न विधि सम्पन्न कायम की सम्पन्न में ग्रहण करता है। सम्पन्न सम्पन्न सम्पन्न विधि

जीवन विकासशील सामान्य होकर सुखी का हीन रास भी और युवावस्था में उस स्तर बढ़ता का वातन करने की प्रवृत्ति थी। नई उद्भावनाओं से उन्हें भय नष्टा था। ऐसेतक में विधि(कानून)की बदलना मुश्किल था। विधान परिवर्तन के लिए नियम प्रभावों का साधन लेना पड़ता था। प्लेटो में अभी भी रिपब्लिक की धारणा प्रबल थी। उसकी दृष्टि में राजनीति एक कला थी और एक कलाकार राजनेता में ही उसकी प्रतीति थी। उसका विश्वास था कि नियमों और कठिनों की प्रवृत्ति में कला और कलाकार का दम पट जाता है।

(ख) प्लेटो सामाजिक सामञ्जस्य के तर्कों के आधार पर भी निरनुप्राण प्रवृत्ति निरपेक्षता का पोषण करता है। उसकी दृष्टि में राजनेता समानता का प्रथम धर्म होना आवश्यक है। उसका कर्तव्य है कि विभिन्न स्वभावों के व्यक्तियों को सामञ्जस्य के साथ रखे। बिना तरह चुनकर घाने-बाने की इस तरह मिलता है कि उनमें उचित सामञ्जस्य बना रहे, उसी प्रकार राजनेता के लिए भी सामञ्जस्य है कि वह मानव-प्रकृति के विभिन्न तुरकों में एकता की स्थापना करे। जिस तरह स्वीकृतिगत तीव्र स्वर और मन्द स्वर का सामञ्जस्य दूरे निभाता है, उसी तरह राजनेता को भी मानवता के कारण समीप में सामञ्जस्य की खोज करनी चाहिए। मानव जीवन के स्वीकृति में तीव्र स्वर भी है और मन्द स्वर भी। कुछ लोगों में दुःखोन्नित उत्साह का उन्माद छाया रहता है तो कुछ में सर्वाधिक सपन की प्रतीति प्रतीति। जो निश्चित व्यक्तियों की है, वही निश्चित राज्य में वर्षों की होती है। राज्य में नैतिक बर्न करने सहज के उन्माद के कारण मध्यवाद का विवृत प्रतीति बहुत लेता है तो दूसरी ओर शक्तिप्रिय लोगों का वर्षों तकम की प्रति के कारण शक्तिवाद की प्रतीति में होता रहता है। जीवन में लयता है कि एक सन्तुष्ट हमारे सन्तुष्ट में न केवल बिना है बल्कि परस्पर प्रतिवृत्त भी है। एक प्रकार का सन्तुष्ट दूसरे प्रकार के सन्तुष्ट के विपरीत होता है। राज्य में भी एक वर्ग का दूसरे वर्ग के सह और नीच का रिश्ता होता है, परस्पर विरोध होता है। यही राजनेता का प्रवेश प्रारम्भिक है, यही उसे अपने कर्तव्य-कर्म के कर्तव्य होने। उसे मध्यम ज्ञान होना होगा, विभिन्न प्रकृतिवों का नियंत्रण कर सामञ्जस्य केला होगा। राजनेता ऐसी प्रकृतियों को समान करेगा जो किसी काम की न हो। बिना लोगों में न समान है, न सहज है और न समान की प्रवृत्ति है, उन्हें वह या तो मीठ के घाट उतार देना या निश्चित कर देना, और भी नीच प्रजाती न नीच हैं उन्हें वह शक्तिप्रति में लया देना। परीक्षाओं द्वारा पुन लेने और प्रकृतियों द्वारा तैयार कर लेने के बाद लेव लोगों की वह उसी तरह प्रकृति कर देना जिस तरह चुनकर घाने और बाने की प्रवृत्ति कर देता है।

प्लेटो के अनुसार राजनेता समान प्रजातक की उपाधी में वह सामञ्जस्य प्राने का प्रयत्न करेगा। एक उपाध काव्यात्मिक होगा तो दूसरा भौतिक, प्रवृत्ति एक प्रकृतिक होगा तो दूसरा शक्तिप्रति। राजनेता का प्रवृत्ति पड़ता और सबसे महत्वपूर्ण काम यह होगा कि वह सभी सन्तुष्टों में समान प्रवृत्ति करे ताकि हर व्यक्ति समान बर्न समी निश्चित प्रति का अपने निश्चित प्रभाव के मुक्त हो जाय

घौर एक व्यापक सामञ्जस्य प्रत्यक्ष कर सके। उदाहरणार्थ, राजनीति समान गुण धरने वाले सभी-पुरुषों का विवाह करने की जगह विभिन्न प्रकार के गुणों का प्रतिनिधित्व करने वाले सभी-पुरुषों को विवाह द्वारा परस्पर मिलाकरा जिसका परिणाम यह होना कि उन सभी-पुरुषों का मिलन (जिनकी प्रकृति एक दूसरे से भिन्न है) भी एक दूसरे का पूरक बन जाएगा। इस प्रक्रिया के सम्पूर्ण समाज सामञ्जस्य के सौरभ से बहुत उठेगा। इसी प्रकार ब्लेटी का सुझाव है कि रिल्ल वरी की पूर्ति में भी सामञ्जस्य का बड़े विस्तार जानू होना। जब किसी गद के कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए अनेक व्यक्तियों की आवश्यकता हो तो अधिक समुचित कार्य और समुचित सामञ्जस्य लाने की दृष्टि से यह उचित है कि विभिन्न प्रकार के जाहूरी घौर कर्मों, विभिन्न घौर राजन नीतियों को चुना जाए।

(ग) ब्लेटी ने अधिक सामाजिक पराजय पर उठखो हुए, अपने विचार के अगले चरण में विधि-शासन के आधार पर निरकुशता अथवा निरपेक्षाता का सन्तोषन किया है। निरपेक्षा या निरकुश शासन के सम्बन्ध में ब्लेटी के मन में सम्भवतः अनेक प्रश्न उठे होंगे। उसने सोचा होगा कि क्या किसी प्रति बुद्धिमान व्यक्ति के लिए भी यह सम्भव है कि मानव-जीवन के साथ निरानन्द होकर मिलबाह करे? उसने सोचा होगा कि क्या मानव-व्यक्ति को, जो अपने सामुहिक रूप में अपनी प्रति है, अपनी गरजता से दामा या करेगा? उसने स्वयं से यह प्रश्न भी पूछा होगा कि मानव इच्छार्थ कृत्रिम घौर पराजयों के लिए अनेक पुरों से भिरी हुई है, क्या इन घारे पुरों को पराजयी किया जा सकेगा। कार्कर ने लिखा है कि अपने जीवन की सम्पदा में ब्लेटी ने जब सम्भवतः ऐसे प्रश्नों पर विचार किया और जब अपने इसका समाधान किया तो उसने अपने राजनीतिक विचार के एक नए दौर में प्रवेश किया। इस नए दौर में ब्लेटी ने क्या-कैसे के साथ समझौता किया और स्वीकार किया कि राजनीतिक जीवन में सहृदयता, विधि या कानून, अधिपत्यवाद और मानव के समु अथवा की समर समस्तानिक ऐतियों के लिए भी स्थान या सम्भवता होता है। चुनावी लोगों का विधि (कानून) की अनुज्ञा में विश्वास था, और विचार था कि इस स्वतन्त्र साहचर्य में जिसके सम्मर्पण कोई भी एक व्यक्ति एक ही व्यक्ति मिला जाता है, अनेक का प्रत्यक्ष स्वर होता है और 'जब-जबकि तथा एक जैसे' होते हैं। जब तक ब्लेटी ने अपने देशवासियों के इन प्रवृत्तियों और विचारों का विशेष ही किया था, किन्तु जीवन के अन्तिम अहुर में जबकि यह कार्यक्रम जीवन के 70 अन्तर् देन चुन था, उसे उत्कलीन प्रवृत्तियों विचारों और पुस्तकालयी विद्वानों की बहिष्कार का साम हो उठा। उसने जब यह स्वीकार कर लिया कि निरपेक्षा या निरकुश शासन सब राज्यों के लिए नहीं होता। यह भी मनुष्यों के बीच देवता की प्रति है जिसका आधिपत्य कभी-कभी ही होता है। इस प्रकार, अपनी बुद्धावस्था में, ब्लेटी लिखित के नगर के कुछ समस्तवाद को छोड़कर मानव के न्याय नगरों के समुक्तमान का राहो बन गया, उसने इन्हें सम्पत्ति-पुनर्निर्माण का प्रयत्न किया। ब्लेटी ने यह मान लिया कि विधियों अथवा

कानून, निर्वाचनों और अनुसूचियों के सम्बन्ध में प्लेटो का भी इस बातें कुछ कहना होता है कि ये कार्य के निष्पत्ति होते हैं और उसी प्रतिपक्षी प्रस्तुत करते हैं। प्लेटो राजनीतिक कला की सम्बन्ध में एक-वक्ति की प्रवृत्ति करते हुए कहता है कि वहाँ जहाँ कोई भी कला नियमों के सम्बन्ध में चूट जाती है वहाँ सच्ची राजनीतिक कला विचारों के प्रतिपक्ष से सम्बन्ध नहीं होती। यदि हमने राजनीति प्रशासन के 'मान' के स्थान पर 'कानून' रख दिया जाए तो भी राज्य कायम रहेगा और समाज का समझन भी बचा रहेगा। प्लेटो यह भी कहता है कि राजनीतिक कला में यह सम्बन्धना भी अधिक है कि कलाकार अपनी-प्रतिपक्ष प्रवृत्तियों के हित के स्थान पर अपने हित को देखने लगे। अतः यह आवश्यक है कि समाज के एक-वक्ति के विरुद्ध राजा का उपाय हो। प्लेटो यह स्वीकार कर लेता है कि कानून अनुभव और बुद्धिमान व्यक्तियों की उन्नति है। यद्यपि अनुभव स्वयं बुद्धि से नीचा होता है, तथापि यह है बुद्धि का ही रूप। इसका स्वाभाविक परिणाम है कि कानून पर आधारित राज्य आदर्श राज्य का ही एक रूप है। जब एक बार कानून पर आधारित राज्य (Law State) बन जाय तो जहाँ की उस कानून का शासन हो करना चाहिए जिस पर कि राज्य आधारित है। जब कोई विधि अपना कानून हो ही नहीं तो कानून के बिना कार्य करना एक बात है, लेकिन जब कोई कानून हो तो उसके विरुद्ध कार्य करना एक दूसरी बात है। विधि-राज्य में विधि-शासन के शासन द्वारा हमने शासन के शासन के अधिकारिक निष्पत्ति पहुँचाया करता है। प्लेटो विधि-शासन के विचार के आधार पर विरोधता का समझन प्रवृत्ति कर लेता है तथापि उसके हृदय में अभी भी यह बात सूझती रहती है कि विधि राज्य आदर्श शासन और राजनीति की आधार-कला में प्रतिपक्ष का परिणाम है जिसमें कुछ नहीं, कुछ ही कुछ है, जिसमें विरोध स्वयं नहीं होता, विरोध का सम्बन्ध नहीं होता और अधिकतर अपने शासन पर प्रतिपक्ष नहीं होता।

निष्कर्ष रूप में, प्लेटो जीवन की वास्तविकताओं के सामने झुक जाता है। कानून को उचित स्थान पर प्रतिपक्ष कर देता है। 'स्टेट्समैन' ने कानून को स्थान देने हुए प्लेटो मानता है कि दार्शनिक शासन एक भूतल पर स्थित नहीं होगा, अतः अनुचित सामान्य व्यवस्था को कानूनों की कार्य-शैलिकता मानना आवश्यक है। यह दार्शनिकता जनता की परम्पराओं पर आधारित होगी। इसके बाद 'जाय' के यह कानून के उचित स्थान पर प्रतिपक्ष कर देता है।

‘स्टेट्समैन’ में प्लेटो का राज्य-वर्गीकरण

(Classification of States (or Governments) in 'Statesman')

प्लेटो ने 'स्टेट्समैन' में राज्यों का वर्गीकरण किया और इसका यह वर्गीकरण कानून की शासन के लिए आवश्यक मानने के कारण, 'रिपब्लिक' के वर्गीकरण से कुछ भिन्न है। वेबेन के अनुसार इसमें दो ध्यान देने योग्य बातें हैं—पहली बात की यह है कि आदर्श राज्य सम्बन्ध: राज्यों के रूप में प्रवृत्ति राजा

यथा है और दूसरी बात यह है कि लोकतन्त्र को 'रिपब्लिक' में जो स्थान दिया है उससे बहुतभूत स्थान उसे स्टेट्समैन ने दिया गया है। 'रिपब्लिक' में राज्यों के वर्गीकरण का विशेष प्रयत्न नहीं किया गया है। उसमें साधारण राज्य को उच्चतम तथा स्थान दिया गया है और वास्तविक राज्यों को एक के बाद एक करके शासन का विह्वल कर माना गया है। उदाहरण के लिए सीनिक राज्य (Timocracy) साधारण राज्य का विह्वल रूप है। ओलिगार्क या ओलिगार्क (Oligarchy) संघिक शासन का विह्वल रूप है। मोरक्कन सरकार का विह्वल रूप है और सरावाचारी शासन (Tyranny) जो सुन्नी में सबसे नीचे है, लोकतन्त्र का विह्वल रूप है। 'स्टेट्समैन' में राज्यों का अधिक विह्वल वर्गीकरण किया गया है। साधारण राज्य का दार्शनिक शासन के द्वारा वर्गीकृत विह्वल राजतन्त्र देवीय होता है कि मनुष्य उसके क्षमक नहीं होते। यह वास्तविक राज्यों से इस धर्म में भिन्न होता है कि इसमें शासक का शासन करना है और कानून की कोई जरूरत नहीं होती। यह रिपब्लिक का राज्य है। इस सब धर्म में स्थित साधारण शासक दिया गया है। मनुष्य इसकी शक्ति कर सकते हैं, लेकिन इसे प्राप्त नहीं कर सकते। ये वर्गीकरणों को एक दूसरे के बाद कर वास्तविक राज्यों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है। राज्यों के परम्परागत वि-सुली विभाजन को 'स्टेट्समैन' में सब 6 भागों में बांट दिया गया है। इस विभाजन को वास्तविक रूप में निम्नवत् रखा जा सकता है—

राज्यों के प्रकार	शासकों की संख्या	शासन के रूप
(1) कानूनद्वारा या कानून के आधारित राज्य	(i) एक व्यक्ति का शासन	राजतन्त्र (Monarchy)
	(ii) कुछ व्यक्तियों का शासन	मुनीक्रेसी (Aristocracy)
	(iii) बहु-व्यक्तियों का शासन	जनतन्त्र (Democracy)
(2) कानून द्वारा आधारित न होने वाला राज्य	(i) एक व्यक्ति का शासन	निरकुलतन्त्र (Tyranny)
	(ii) कुछ व्यक्तियों का शासन	ओलिगार्क (Oligarchy)
	(iii) बहु-व्यक्तियों का शासन	अतिरिक्त जनतन्त्र (Extreme Democracy)

एक वर्गीकरणों को निम्नलिखित विवेचनाएँ उपलब्ध हैं—

(1) राजतन्त्र या केवल शासन-व्यक्ति है क्योंकि कानून द्वारा आधारित राज्य की इन व्यवस्था में प्रजा का अधिकार नकारा होता है।

(2) निरकुलतन्त्र शासन का निम्नतम रूप है क्योंकि एक व्यक्ति का शासन अधिकाधिक होने पर प्रजा का महान् अधिकार कर सकता है।

(3) प्लेटो की दृष्टि में प्रजातन्त्र कानून पर आधारित जासनी में सख्त बुरा और कानून रहित जासनी में सबसे खराब है। कारण यह है कि प्रजातन्त्र में वहाँ कानून द्वारा शासन होता है वहाँ शासक प्रजातन्त्र कला में अपने प्रवीण और जानी गहरे होते हैंकि मिलने प्रजातन्त्र और कुलीनतन्त्र में होने हैं। इसलिए यह कानून पर आधारित इन दोनों शासनी के निरूपण है, लेकिन जिन राज्यों में कानून द्वारा शासन नहीं होता, उनमें प्रजातन्त्र ही बेला शासन है जिसमें प्रजा का सबसे कम महि होला है क्योंकि वहाँ अधिकारी शासन को जकडा बिटा देनी है। अतः ऐसी व्यवस्था में प्रजातन्त्र श्रेष्ठ है। सेबाइन (Sabine) ने लिखा है—“प्लेटो ने पहली बार लोकतन्त्र के दो रूप स्वीकार किए हैं—सोमन रूप और पणिबारी रूप। इसमें भी प्लाटा शासकसंबन्धक बात यह है कि प्लेटो ने लोकतन्त्र को कानून-बिहीन राज्यों में सबसे खराब और कानून निष्ठ राज्यों में सबसे सराब माना है। प्रजातन्त्र के प्लेटो का मान होता है कि वास्तविक राज्य में जनता की स्वीकृति और सहयोग की ज़रूरत नहीं की जा सकती।”¹

‘स्टेट्समैन’ व ‘रिपब्लिक’ के राजनीतिक विचारों में अन्तर

प्लेटो के इन दोनों ग्रन्थों की भाषा और विधि एक-ही है, किन्तु विचारों में अन्तर है, जो इस प्रकार है—

(1) ‘रिपब्लिक’ धारणावादी है जबकि ‘स्टेट्समैन’ न्यायवादी दृष्टिकोण लिए है। मार्कर के शब्दों में, “न्यायवाद सिगलिन हाव के बहुत दूर है, किन्तु वास्तविक राजनीति के प्रति एक सख्त न्यायवादी दृष्टिकोण के साथ हमका प्रभाव है और हमने ज्ञान, सद्गुण या फायरें उन एक खरीन विचार रखा गया है जो उनके द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य में प्राप्त हुआ।”

(2) ‘स्टेट्समैन’ में प्रजातन्त्र को हेन द्वाि न गरी दला गया है जबकि ‘रिपब्लिक’ में इनकी कहु धारणाका और निग्य हुई है।

(3) ‘रिपब्लिक’ में जलसतक बने को उपेक्षित रखा गया है जबकि ‘स्टेट्समैन’ में उन्हें थोडा गवर-राज्य का वास्तविक स्वीकार किया गया है और वास्तविकता में सम्बन्धित सुविचारों प्रदान की गई है।

(4) ‘स्टेट्समैन’ में राजनेता का कार्य धारणों को प्रतिष्ठित करना है जबकि ‘रिपब्लिक’ में ऐसी कोई सम्भवा नहीं है।

(5) ‘रिपब्लिक’ में धार्मिक-शासनों को सम्झपुल दी गई है जबकि ‘स्टेट्समैन’ में सर्वोच्च राजदुल्य वा राजनेता का महत्व प्रतिपादित है।

(6) ‘रिपब्लिक’ में प्लेटो कानून का बिक नहीं करता। उसमें कानूनों को महत्व नहीं दिया गया है। ‘स्टेट्समैन’ में प्लेटो ने कानून को महत्ता प्रदान की है। उनके अनुसार, “कानून सखित ज्ञान को प्रतिनिधित्व करते हैं और अज्ञान के बावले कार्यवाहि है।”

(7) दोनो दलों में शासन का बर्गीकरण विपक्ष-रहित है। 'रिपब्लिक' में आदर्श राज्य के गठन में परिपूर्ण-वक्त का बहुत किया गया है। 'स्टेट्समैन' में कानून के आधार पर कुछ एक और अनेक व्यक्तियों के शासन की कल्पना प्रस्तुत की गई है।

(8) 'स्टेट्समैन' में प्लेटो के ग्रीक विचारों का वर्णन होता है, क्योंकि यह 'रिपब्लिक' के वर्षों बाद अनुभवों के आधार पर बाद में लिखी गई है। सेबाइन के अनुसार "वे दोनों रचनाएँ ('स्टेट्समैन' तथा 'लॉज') नगर राज्य की समस्याओं के सम्बन्ध में प्लेटो के विचारों के घनिष्ठ परिणाम प्रकट करती हैं।"

'स्टेट्समैन' की आलोचना (Criticism of the 'Statesman')

'रिपब्लिक' की भाँति 'स्टेट्समैन' की भी कर्णाट आलोचना की गई है। इसमें आदर्श राज्य की बहुत ज़ी नज़ निरनुस माना गया है। उसके द्वारा शासित राज्य जगत् के लिए ही है, किन्तु जगत् ही नहीं है। साथ ही प्लेटो लक्ष्मीप्रेम का आशय लेता हुआ कानून की कर्षणरि रचना नहीं करता। वह साम्प्रदायिक चर का अर्थ नहीं मानता। इसके परिणामस्वरूप के अपनी स्वायत्त-सिद्धि में कम सकते हैं। प्लेटो का शासन का बर्गीकरण भी दोष-रहित नहीं है। वह आशयशुद्ध नहीं है कि एक या कुछ योग्य व्यक्तियों का शासन जगत् की सभी इच्छानुसार चला जाए। एक आलोचना यह भी जाती है कि प्लेटो ने 'रिपब्लिक' के अनुसार स्टेट्समैन के प्रशासन का विरोध नहीं किया बल्कि उसका स्वयं हीक के नहीं समझा है और न ही उसे उचित मानता प्रमाण की है।

'लॉज' (The 'Laws')

'लॉज' प्लेटो का घनिष्ठ रचना है जिसका प्रकाशन उसकी मृत्यु के एक वर्ष बाद सम्भवतः 347 ई. पू. में हुआ। आकार की दृष्टि से यह प्लेटो का सबसे बड़ा रचना है। समाज-कारणीय और नीतिक विवेचना की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण रचना है। जहाँ एक साहित्यिक और दार्शनिक विवेचना का प्रयत्न है, 'रिपब्लिक' और 'लॉज' में कोई तुलना ही नहीं है। सेबाइन (Seaborn) के शब्दों में "रिपब्लिक" की सम्पूर्ण दार्शनिक साहित्य में सर्वोच्च कृति माना जाता है, दूसरी ओर 'लॉज' एक नीरस रचना है।" इसमें प्रामाण्यता प्रकट है। यह कृति भी प्रभाव के रूप में लिखी गई है। इसमें सम्भाव्यता तथा तुलनात्मकता का बहुत दोष है। कहा जाता है कि प्लेटो इसका घनिष्ठ तुलनात्मक नहीं कर सका था। 'लॉज' में कुछ रीति व्यवहार भी हैं, इसकी किसी भी कृति से उत्पन्न हो सकते हैं। यद्यपि 'लॉज' के 'रिपब्लिक' की कल्पना के मुक्त विचार का प्रभाव है फिर भी इस रचना में प्लेटो ने साम्प्रदायिक व्यवस्थाओं का विषय के साधना किया है, बल्कि उसने 'रिपब्लिक' में नहीं किया था। 'लॉज' में कम ज़ीने का एक कारण यह है कि जारी रचना किसी एक विचार की लेकर नहीं हुई बल्कि उचित विषय-वास्तु के आधार पर हुई है।

'रिपब्लिक' प्लेटो ने 40 वर्ष की अवस्था में लिखा था, 'लॉज' उसकी बुझावस्था की रचना है। सांसारिक वास्तविकता को इसमें अधिक स्वीकार किया गया है। इसमें मानव विकास की अधिक अवस्थाओं का वर्णन है। राज्यों का संविधान, उनका राजनैतिक व्यव्थन, विभिन्न राज्य का विद्यालय जैसे विभिन्न राजनीतिक प्रश्नों के सैद्धान्तिक पक्षों पर लॉज में प्रकाश डाला है। 'लॉज' में प्लेटो एक ऐसी शासन-प्रणाली का प्रायोगिक करता है जिसमें कानून की प्रमुख होती, किन्तु मानव का स्वाभाविक अंतर् और दर्शन ही रहने। यह के नाम से ही स्पष्ट है कि उसका उद्देश्य एक कानूनी राज्य की रचना है।

'लॉज' के राजतन्त्र-राज तीन है। एक निम्न मान का एनेन्सवासी मुख्य काका है। दूसरा मेगलस (Megallus) है जो स्पार्टा का है। तीसरा बीट का निवासी क्लीनस (Clinias) है। एनेन्सवासी प्लेटो का प्रतिनिधित्व करता प्रतीत होता है क्योंकि उसने वैधानिक व्यव्थित दर्शन के आधार पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। 'लॉज' बारह भागों में विभक्त है। प्रथम दो भागों में लोच तथा मुख्य का विद्या-पद्धति में महत्त्व बताया गया है। तीसरे में राज्य के ऐतिहासिक विकास और नीति में राजनीतिशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों का विवरण है। पाँच से आठ तक के भागों में राज्य के कानूनी, शासन-विधान, कक्षाधिकारियों, राज्य की व्यवस्था, विद्या पद्धति आदि का विवरण है। नवें से बारहवें भाग तक पौरव्यापी और बीजाली निम्न कक्षाओं (Codes) की चर्चा की गई है। वे भाग लॉज के सर्वोत्तम रूप को प्रकट करते हैं, क्योंकि इनमें प्लेटो कवि और दार्शनिक के रूप में ही नहीं बल्कि उत्तम कानून निर्माता तथा राजनीतिज्ञ के रूप में भी निरूपित करता है। बारहवें भाग का विषय दार्शनिक कानून है। इसमें वर्तमानभूत नरकापी अधिकारियों के लिए दण्ड की भाषा है और साथ ही नैय परिवर्त (Nocturnal Council) का वर्णन है जिससे समाजों का समीक्षा सदैव राज को होता है। इस परिवर्त द्वारा लोगों के नैतिक जीवन के निरीक्षण और निगरान की व्यवस्था है।

'लॉज' में प्लेटो ने अपने उप-आदर्श राज्य (Sub-Ideal State) अपना द्वितीय सर्वोत्तम राज्य (Second Best State) का विवरण नीचे के 'रिपब्लिक' की सी अवस्था, सर्व-अभाव एवं कष्टमय अवस्था को प्रकट नहीं किया है। इस बार वह एक ऐसे राज्य की रचना करता चाहता है जो इस भूतल पर ही प्राप्त किया जा सके। वह अपने अनुभव से जान चुका था कि आदर्श शासन और आदर्श राज्य का होना निरव्यायभव है। अतः वह अन्य माननाओं की अपेक्षा अनुभवों पर आधारित है। 'लॉज' में प्लेटो वास्तविकताओं से प्रेरित है, स्वभाविक व्यवस्थाओं के लक्ष्य पर नहीं उठा है। शास्त्र के, "जब प्लेटो ने लॉज की रचना आरम्भ की, तब तक उसके विचारों में आधारभूत परिष्कार ही चुका था और इसका आधार हमें पुस्तक के शीर्षक से ही पता चलता है। जब तक प्लेटो का विचारण ऐसी नैतिक बुद्धि के समुच्च मानव में था जिसे अपने कार्य का अधिक अधिकार मिला हो, पर जो विधियों (कानूनों) की सहायता से एकत्रित सत्ता का उपयोग करती हो। किन्तु सिद्धान्त में

समझता है उसे व्यवहारवादी बना दिया । हिम्मत न होने हुए वह दूसरी राह की तलाश में ब्रुट गया । यदि वह ऐसे सार्थक शासक की प्रतिष्ठित न कर सका जो विधि के बिना और विधि के अन्वय शासन करता, तो क्या वह सम्भव न था कि वह विधि की ही सार्थकता को प्रतीतिष्ठ कर देता और सभी राज्यों के शासन के लिए एक सार्थक इतिहास का प्रस्तावन करता ? थोटी इस भी दर्शन का व्यावहारिक उपयोग करना चाहता था । वह विचार उसे सबसे धिक् था । यदि दर्शन शासकों का शिष्ट नही हो सकता तो वह कम से कम राज्यों का विभिन्नता ही हो ही सकता था । यदि राज्य का शासन विनियमित सार्थक विधि-सहिता के माध्यम से दर्शन के द्वारा परीक्षा पीने से हो सकता तो द्वितीय सर्वोच्च राज्य न सिद्ध हो सकती थी । इन तरह के राज्य के भी विधि की व्यवस्था के लिए किसी न किसी तरह के व्यक्ति शासन की आवश्यकता होगी, थोटी इस बात से परिचित था । सार्थक शासन के अन्तर्गत ऐसे माने का एक ही उपाय इसकी दृष्टि में उचित था और वह था—समा-समा, समीर-समीर, के उन विभिन्न तरीकों का सम्मिश्रण या सम्मिश्रण जो शासकिक अन्तर्गत राज्यों के राजनीतिक सत्ता-हविमानों के लिए स्वयं करते रहते हैं । थोटी की दृष्टि में वह विचार सम्म माने शासकों की पीछे खींच देता है । अतः, थोटी के जीवन के उत्तर काल का प्रमुख राजनीतिक विचार था—विभिन्न सभ्यता में युक्त विधि-राज्य । यह मानक-विचार और वास्तविकता के बीच की खींच है, यह उप-धारण राज्य है जो वास्तविक जीवन की परिस्थितियों के इतने निकट है कि सार्वजनिक शासनिक जीवन में लग सकता है ।¹

थोटी के विचारों में यह एक बहुत बड़ा परिवर्तन है जो उसके राजनीतिक मिश्रण की दो सभ्यता सत्ताओं में जोड़ देता है । 'एक और तो 'रिपब्लिक' का शासन है जो विधि की विधि में सम्मिश्रण है तो दूसरी और विधि का शासन है जो समा-समा है और जिसे समा-समा समा ही थोटी का निरपेक्ष मानने चाहें या और सब भी है । दूसरा पीछे या समा-समा समा है—वह पीछे है 'रिपब्लिक' के मानने की तुलना में और समीर है, एक दृष्टि से कि उसे वास्तविक जीवन की आवश्यकताओं के अनुकूल माना गया है । यह बात भी नहीं है कि थोटी में वह परिवर्तन वास्तविक अन्तर्गत समा-समा समा-समा के द्वारा ही । 'प्रातिष्ठित' अन्तर्गत 'स्टेट्समैन' के पहले ही वह प्रकट हो गया है कि थोटी यह स्वीकार करने के लिए तैयार है कि वास्तविक राज्यों में विधि का होता विधि के न होने से अधिक समीर है । 'स्टेट्समैन' के अन्तर्गत समा है कि थोटी समा, वास्तविक जीवन और मान्य में किसी समुदाय के विविध तरीकों के सम्मिश्रण का महत्व स्वीकार करने की तैयार है । समा-समा में एक समा माने जाने बुझकर ही समा पर समा-समा समा का 'स्टेट्समैन' और 'समा' समा में समा समा है । थोटी के राजनीतिक मिश्रण के

विशाल पर वास्तविक जीवन की जिन घटनाओं का प्रभाव पड़ा था उसमें सिराकूज के इतिहास-प्रवाह का प्रभाव सबसे बलवत् था और परिचित प्रभाव 'प्लेटो-सर्जन' में जिन परिवर्तन का संकेत मिलने लगा था उसे पूरा करने में सिराकूज के घटना-क्रम ने मदद की। सिराकूज की घटनाओं के प्रभावस्वरूप प्लेटो के विचार विभिन्न परिवर्तन और निर्वचनिक विधि संज्ञिता की ओर उन्मुख होने लगे।

‘लॉज’ में प्रतिपादित प्रमुख सिद्धान्त

(Main Theories Propounded in the 'Laws')

(1) आत्म-समय का महत्त्व (Importance of Self-Control)

‘रिपब्लिक’ में प्लेटो ने न्याय की आधारभूत राज्य का आधार माना है। लॉज में यह न्याय की व्यवस्था को स्थापित करने के लिए आत्म-समय (Self-Control) को आवश्यक मानता है। इसलिए वह उत्पत्तिको पर अपनी दार्शनिकों के नियन्त्रण को स्वीकार करता है। उसका विश्वास है कि ऐसा करने से समाज में विवेक, उत्साह और न्याय की प्रगति होगी है। आत्म-समय के कारण विवेक प्रभावित रूप में अपना कार्य करता है। वह राज्य की आधारभूत है। आत्म-समय पर आधारित न होने वाला राज्य झूठा एक दोगलू है। यदि व्यवस्थाएँ ऐसे कानूनों का निर्माण करता है जिससे लोग आत्म-नियंत्रण को अपने जीवन कानूनों की प्राप्ति होती है—स्वतन्त्रता, एकता और न्याय-न्याय। आत्म-समय ही राज्य की पूर्ण और सौख्यीन बना सकता है।

स्पष्ट है कि ‘लॉज’ में प्रतिपादित राज्य ‘रिपब्लिक’ के राज्य का मकर में मिल होता। ‘आत्म-समय’ के कारणों में निरन्तर विविधोद्देशों की कल्पना नहीं रह जाती। कल्पनाएँ लॉज में शासकों के रूप राजनीतिक और सामाजिक दोनों तरह के अधिकार रहते हैं और शासकों के नाम भी। शासकों के पास व्यक्तिगत सम्पत्ति और परिवार बना रहता है, साम्प्रदायिक पर परिवार बना दिया जाता है। हालाँकि भोजन-व्यवस्था सामान्य सभी जाती है और शासकों के निर्दिष्ट में जातिगत का भी नाम होता है, उन्हें अपना मत व्यक्त करने का अधिकार होता है। इस तरह के राज्य में यह एकात्मक नहीं है जो विभिन्न तरीकों के सहयोग से उत्पन्न होती है, जिसमें अनेक तरह झगड़ों का समाज के जीवन में अपने विभिन्न रूपों द्वारा बीच देता है, पर तब ही उसमें आत्म-समय व्याप्त है मत्तः उसमें सहानुभूतिपूर्ण एकात्मकता होगी क्योंकि आत्म-समय सहानुभूति के रूप में प्रकट होता है, मत्तः वह हमें ‘रिपब्लिक’ में एक विश्व शासनरूप में पूर्णता देता है जो दुर्भाग्य कम है पर मानवीय अधिक। वह कठना निर्मित नहीं होता, पर साथ ही उसमें वैसा समाज भी नहीं होता।

(2) कानून-विषयक सिद्धान्त (Theory of Law)

प्लेटो ने ‘लॉज’ में कानून की पुनर्विचार की है। उसने कानून के स्वरूप, आवश्यकता, व्यवस्थाएँ पर प्रकाश डाला है और राज्य में कानून की प्रभुता स्थापित की है। ‘रिपब्लिक’ का आधारभूत राज्य एक ऐसा समाज है जो कुछ विवेक

ऐसे प्रतिष्ठित व्यक्तिों द्वारा नभसित होता है जिन पर निजही सामान्य विचारों का कोई बहुत नहीं होता है जबकि 'नॉर्म' के राज्य में कानून की स्थिति सर्वोच्च है तथा शासक और शासित दोनों ही उसके अधीन रहते हैं।

प्लेटो द्वारा कानून की पुनर्स्थापना निम्नवत् ही एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन है। यह समझ चुका था कि दार्शनिक राज्य व्यवस्था आदर्श शासक का चरही पर मिश्रण दर्ज है। इसलिए समाज में व्यवस्था बनाए रखने के लिए किसी ऐसे व्यक्तिगत धृष्ट (Golden Cord) की आवश्यकता है जो मनुष्यों की एकता के सूत्र में बांध सके और उन्हें करीबों का भान कराता रहे। प्लेटो ने कानून को ही यह 'अविच्छिन्न धृष्ट' माना। उसने कानून की पुनर्स्थापना व्यावहारिकता की दृष्टि से की थी, क्योंकि उसके पूर्वनिश्चयों ने कोई अन्तर नहीं माना था। सेराइन के शब्दों में "कानूनों के बिना शासकों की स्थिति बरकरार बहुतों की तरह हो जाती है लेकिन यदि योग्य शासक ही ही कानूनों की नकल नहीं पढ़ेगी क्योंकि कोई भी कानून या अध्यादेश ज्ञान से बढ़कर नहीं है। इसलिए प्लेटो का जगत् तक उड़ दिव्यात्मक अर्थ रहा कि शासनिक आदर्श राज्य में विमुक्त विवेक का शासन चलना चाहिए। कानून द्वारा शासित राज्य मानव प्रकृति की दुर्बलता के प्रति एक दिवांगत थी। प्लेटो उसे अपने आदर्श राज्य के गणान स्वीकार करने को तैयार नहीं था। यदि दार्शनिक शासकों का निर्वाण करने के लिए आवश्यक ज्ञान उपलब्ध नहीं होगा, तो कानून पर आधारित शासन में विश्वास करना ठीक है।"

प्लेटो ने कानून की पुनर्स्थापना की है, यह मान के कानून के भित्त है। कानून से शासन मानव व्यवहार के ऐसे विधानों से है जो बुद्धि बाध नहीं। उनके अनुसार कानून का अर्थ मानव एवं समाज की दुर्बलता के लिए व्यावहारिक आधार प्रदान करता है। यह कानून का कारण इसलिए स्थापित करना चाहता है क्योंकि कानून ज्ञान तथा ज्ञान का सागर बन है। मनुष्य को दो कारणों से कानून की आवश्यकता होती है—(1) प्रत्येक व्यक्ति में सामाजिक द्विती को समा करने की क्षमता नहीं होती, (2) यदि वह समझ भी जाने तो अपने अंतर्निष्ठ स्वार्थों और आपनाओं के कारण उनके अनुभूत आचरण नहीं करता।

इस प्रकार सामाजिक द्विती की निधि के लिए कानूनों का सर्वांगीण आवश्यक है। समाज के लिए क्या संभवकर है इसका सही उत्तर व्यक्तिगत नहीं दे सकते, बल्कि उद्दिष्ट कानून का चरित्र देते हैं, क्योंकि "कानून मानव समाज के ज्ञान और अनुभव तथा मानवता के अपने आचरण पशुता से ऊपर उठाने के कुल-धुपान्तरकारी उद्देश्य की अभिव्यक्ति है।" मनुष्य आपनाओं के असीमित होकर सामाजिक द्विती के विरुद्ध कार्य करता है। कानून मनुष्य को ऐसे कार्य करने से रोक्ता है तथा बुद्धि के एक विशिष्ट अर्थ का सर्वेक्ष साधन होना चाहिए। प्लेटो 'नॉर्म' के अन्तर्गत राज्य में कानून की सही स्थान देता है जो उसने 'लिबिनिज' के आदर्श राज्य में बुद्धि की दिया था। "नॉर्म के राज्य में बुद्धि कानून का मुख्य आधार करती है। उसके आदर्श राज्य की सही व्यक्ति और राज्य का पूरी तरह

धामन्यवश ही नहीं हो पाता, लेकिन फिर भी कानून द्वारा बनाए गए नियम प्रायः मनोव्यवसायक ही होते हैं। यद्यपि इस प्रकार के राज्य में सबसे बड़ा गुण महान-मयम है। इसका अभिप्राय यह है कि नागरिक कानून का पालन करते हैं, यद्यपि राज्य की नीतियों के प्रति उनके मन में सादर का भाव रहता है और वे कानून की शक्तियों की प्रयोगता स्वीकार करने के लिए प्रसन्न रहते हैं।¹

प्लेटो के अनुसार 'कानून' वे शक्ति सम्पत्ति मर्यादा, शक्ति की मर्यादा की पूर्णता की प्रस्तावना कर्तव्य मानता है। कानून सत्ताशक्त की अभिव्यक्ति है जिसका रूप कर्मकाण्ड है। पुराने प्रचलित रीति-रिवाजों में जो सर्वमान्य एवं योग्यता तथा सार्वभौमिकता के वे बीर-बीर कानून बन गए। मुद्र के परिष्कार, धार्मिक दशाएँ आदि कानून के निर्धारित हैं। कानून व्यवस्था के समस्त उपकरणों रीति-रिवाजों एवं अभिव्यक्तियों को कानून का स्वरूप देकर उसकी सार्वभौमिकता को मान लेता है।

प्लेटो ने बताया कि कानून का निर्माण, एक कानून-निर्माण या संहिताकार द्वारा होना चाहिए। जब समाज में विद्यमान सभी वर्गों के नियमों और कानूनों में समर्थ होता है, तो इस वर्चस्व को दूर करने हेतु संहिताकार कानून बनाता है। उन्हें कार्यान्वित करने का भार किसी नवमुक्त कर्तव्य को दिया जाता चाहिए। प्लेटो ने बताया कि शासक को कानून के अनुसार शासन करना चाहिए। उसका विचार है कि—“राज्य को कानून के अनुसार होना चाहिए, न कि कानून राज्य के अनुसार हो। सरकार को कानून के केवल और दास की भाँति राज्य का प्रशासन करना चाहिए।” सरकार कानून में अपनी दृष्टानुसार परिवर्तन नहीं कर सकती। जब तक सरकार सत्ताशक्ति, जनता और देवताओं की प्रस्तावित परिवर्तन का समर्थन न कर दें तथा वह विशेष रूप से प्रभावशाली न हो तब तक कानून में परिवर्तन नहीं किया जाना चाहिए। इस तरह प्लेटो कानून की निश्चयता (Rigidity) और दीर्घता में विश्वास रखता है। शासन में कानूनी परिवर्तन हो सकता है, परन्तु जब कानूनी की उपमोक्षिता निश्चित हो जाती है तो उनमें किसी के हित में परिवर्तन का स्वीकार नहीं होना चाहिए।

प्लेटो प्रत्येक नए कानून के साथ उसकी प्रस्तावना को आवश्यक मानता है। कानूनों को स्थायी होने के साथ विद्यमानों पर कार्यान्वित होना चाहिए, ताकि सभी व्यक्तियों का कानून में विश्वास हो सके। प्रस्तावना द्वारा प्लेटो को यह बात दिखा जाती चाहिए कि कानून उन लोगों की नीतिमूर्ति है जिनमें उनकी निष्ठा है। ऐसा होने पर ही सत्ता ही कानून की शक्त के अनुसार होगी। इसके लिए सत्ता-प्रयोग की आवश्यकता नहीं होगी। प्लेटो का कहना है कि कानून को निश्चित करने के लिए लोगों का नैतिक विकास चलना आवश्यक है अतः राज्य को कानून शासन की शक्तियों को सशक्त किया जा प्रयोग करना चाहिए।

(3) इतिहास की शिक्षाएँ (Lessons of History)

'लॉक' ने प्लेटो से कहा कि हमें प्राकृतिक-अनुभवों से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। अपने इस ग्रन्थ में वह इतिहास के आधार पर एक निश्चित ज्ञान प्रणाली का समर्थन करता है जिसमें राज्य की सत्ता और जनता की सहमति को स्वीकार किया है। इतिहास के उदाहरणों के आधार पर उनके कानून के नियम और निश्चित सन्धिपत्र की व्यवस्था को पुष्ट किया है। इतिहास से उदाहरण देते हुए ही वह बताता है कि राज्यों के शासन-प्रणाली व रहने और सत्ता के एक व्यक्ति के हाथ में केन्द्रित हो जाने के कारण ही आर्गोस (Argos) एवं मेसिना (Messina) जैसे राज्यों का उन्नीस सत्रह पात्र ही गया जिस तरह अधिक शक्ति वाले बहुतों तथा अधिक शक्ति वाला शरीर बन्ट हो जाता है। ऐन्थ के पीकनर ने शासन-प्रणाली के प्रभाव के कारण ही उसका पतन हुआ।

(4) मिश्रित राज्य (The Mixed State)

प्लेटो ने 'लॉक' से जिस उपार्ध-राज्य (Sub-Ideal State) की विवेचना की है उसकी एक महत्वपूर्ण विशेषता मिश्रित सन्धिपत्र (The Mixed Constitution) यन्त्रा मिश्रित राज्य (The Mixed State) का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का उद्देश्य सन्धिपत्र के अनुकूलन द्वारा समरसता प्राप्त करना है। वह सिद्धान्त विरोधी प्रवृत्ति के अतिशय सिद्धान्तों का कुछ दृष्ट करके संशोधन करता है जिससे वे एक दूसरे को विराक्त करें। प्लेटो द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धान्त राजनीतिक दर्शन के परकीर्ण इतिहास में स्वीकृत हुआ है। जिस विचारों ने राजनीतिक व्यवस्था की समस्याओं पर विचार किया, उन्हें से अधिकतर वे इसे स्वीकार कर लिया। आरतू तथा मोलिस्क्म के लेखों में इसका उल्लेख मिलता है। इसे मोलिस्क्म (Moliscusque) के सति-विभाजन के सिद्धान्त का पूर्वज माना जा सकता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार 'मिश्र' में अतिशय उपार्ध-राज्य के निर्माण के लिए राजा और जन, धनी और निर्धन, बुद्धिमान और अविज्ञानी सभी व्यक्तियों और वर्गों का सहयोग आवश्यक है। 'लॉक' ने अतिशय प्लेटो का उपार्ध-राज्य राजसत्तात्मक, जनसत्तात्मक और जनसत्तात्मक है। केवल के रूपों में, 'लॉक' ने प्लेटो का मिश्रित राज्य राजसत्तात्मक शासन की बुद्धि और लोकसत्तात्मक शासन की समरसता का समर्थन है।" यह बड़ी कठिनाई का प्रस्ताव कि प्लेटो मिश्रित सन्धिपत्र के आधारों के प्रति सदैव विचारमान रहा। उसकी निम्न चारों तरफ से अतिशय ही और अन्त में वह अपनी इस विचार प्रणाली पर आ गया जिसका 'रिपब्लिक' में विचार किया था। फिर भी प्लेटो ने मिश्रित राज्य के सिद्धान्त का जिस रूप में समर्थन किया है, वह बाद के सम्प्रदाय में आज उपयोगी सिद्ध हुआ है। प्लेटो अपने सिद्धान्त के चल में राज्य एवं समस्याओं का महत्त्व देता है। वह 'रिपब्लिक' की तात्त्विक प्रवृत्तियों की हीन पर वास्तविक राज्यों की ओर उन्मुख होता है। उसके अनुसार मानव समाज के विभिन्नता द्वारा राजनीतिक विपत्तियों के निपटारे का अनुपात किया जा सकता है और बुद्धिमान राजनेता मानव-समाज के अतिशयों को उचित दिशा में निर्दिष्ट करने हेतु नियमों का उपयोग कर सकता है।

जगते हैं, जैसे $1 \times 2 \times 3 \times 4 \times 5 \times 6 \times 7 = 5040$ यथा $7 \times 8 \times 9 \times 10 = 5040$; इस तरह यह संख्या 1 से 10 तक सभी संख्याओं में बँटी जा सकती है और 1 से 7 तक की तथा 7 से 10 तक की सभी संख्याओं का गुणनफल है ।

(2) ऐसी संख्या कुछ एवं गतिविज्ञान के उपयोगी होती है । कुछ के इस संख्या वाले नागरिकों की व्यवस्था 'अनेक प्रकार के सम्भव है क्योंकि इसका अनेक भागों में विभाजन हो सकता है । साथ ही नागरिकों में भूमि-वितरण और कर आदि वसूल करने की दृष्टि से भी यह संख्या सुविधाजनक है ।

(3) इस संख्या का मुख्य भाग्य 12 है । प्लेटो ने अपने सफाई राज्य को भी 12 जातियों में बाँटा है और वर्ष के 12 महीनों के काम करने के लिए राज्य परिषद् को 12 समितियाँ बनाई हैं । उसके राज्य की मुद्रा, नाप-तोल आदि की व्यवस्था भी 'द्वादशमूलक' थी ।

(4) प्लेटो की दृष्टि से गणित का इतना महत्त्व था कि वह इसे आध्यात्मिक विद्या की सीढ़ी समझता था ।

(5) प्लेटो गणित के आधार पर स्थापित राज्य की आध्यात्मिक क्षेत्र तक ऊपर उठाना चाहता था । वह राज्य को 12 भागों में विभाजित कर, उनका वर्ग के महीनों के साथ सम्बन्ध जोड़ कर उन महीनों में होने वाली उपवास की कृपाओं के साथ इन भागों को संतुल्य करने का इच्छुक था ।

प्लेटो के मतानुसार राज्य की ऐसे नियम बनाने चाहिए कि जनसंख्या न तो 5040 से अधिक हो और न ही इतने कम । सफाई राज्य की भूमि उपजाऊ और उचित क्षेत्रफल वाली अधिक होना चाहिए ताकि जनता स्वयं और सुखी रहे ।

(6) सामाजिक और राजनीतिक संस्थाएँ

(Social and Political Institutions) .

प्लेटो सामाजिक क्षेत्र में भी विभिन्न व्यवस्था को ही बख्तर करता है । यह विभिन्न वर्गों के सम्बन्ध का दलचाली है । उसके अनुसार विवाह विभिन्न वर्गों और परिवारों का मिलन होना चाहिए और सम्पत्ति किसी स्थापित एवं मान्यविराजित नियमों में होनी चाहिए । परिवारों को स्वच्छ के धारण भग का कुछ भाग निर्धनों को देना चाहिए ताकि नागरिकों में कथर्ष उत्पन्न न हो ।

(क) सम्पत्ति एवं आर्थिक व्यवस्था (Property and Economic Structure)—राज्य में सामाजिक व्यवस्था में राजनैतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण तत्व सम्पत्ति का उपयोग और स्वाधिन्य रहा है । 'रिपब्लिक' में प्लेटो ने सर्वोत्तम व्यवस्था मानने (The Best or Ideal) राज्य की कल्पना की है, इसके अन्तर्गत सम्पत्ति के साम्यवाद की स्वीकार करते हुए व्यवस्था रखी है, "विशेष या सब वस्तुओं पर समान अधिकार होता है, भू-व्यवस्था, विधायी एवं न्यायिक अन्तर्गत रखी है, तथा नैतिक सम्पत्ति विस्तृत न होने के कारण बेच-खेप का भाव निवृत्त सम्पूर्ण राज्य जन-मन में एकता का अनुभव करता है ।" 'जोश' में राजनीतिक दुरन्तताओं की ध्यान

के पहले हुए प्लेटो अपने छाहरी या द्वितीय श्रेष्ठ (Sub-Ideal or the Second Best) राज्य में व्यक्तिगत सम्पत्ति और परिवार, दोनों की अनुमति दे देता है। उसकी सम्पत्ति व्यापार से प्राप्त न होकर भूमि से प्राप्त होने-वाली है। वह इस सम्पत्ति में मकान और भूमि को मिला है। इन पर निजी स्वामित्व की अनुमति देते हुए भी वह सम्पत्ति के प्रयोग और उसकी मात्रा को नियंत्रित कर देता है। इस सम्बन्ध में स्पार्टा की उत्तमानीन व्यवस्था का अनुसरण करते हुए वह राज्य की जनसंख्या 5040 नियंत्रित करता है और चाहता है कि भूमि का सभी नागरिकों में समान विवरण हो। प्लेटो भूमि की बराबर के कई टुकड़ों में बाँट देता है जिन्हें न विभाजित किया जा सकता है और न ही हस्तांतरित। भूमि की पैदावार सार्वजनिक भोजनघर में नचावपी इन के भोजन में लाई जाती है। इस प्रकार भूमिगत सम्पत्ति का सामाजीकरण हो जाता है।

सम्पत्ति के सामाजीकरण के साथ-साथ प्लेटो सम्पत्ति की असमानता को स्वीकार करते उसकी सीमा नियंत्रित कर देता है। सभी एक वर्गीय साम्यिक व्यवस्था के अनुसार वह समाज में चार वर्गों और सांख्यिक स्तरों की व्यवस्था करता है। पहला वर्ग उन व्यक्तियों का होता जिनके पास उनकी दैनिक आवश्यकताओं के पर्याप्त-औरत मात्र के निम्न सम्पत्ति हो। दूसरे वर्ग के पास इतने दुग्धी, तीसरे वर्ग के पास तिग्धी और चौथे वर्ग के पास चार गृही सम्पत्ति होगी। इस तरह साम्यिक साम्यिक असमानता के प्रति अपने विरोधी विचारों को प्रकट करते हुए वह साम्यिक भूमि के समाज में साम्यिक के साम्यिक एक और चार स्तर के अनुपात का अन्तर बनने की संभावना है। उसकी उद्देश्य समीची और गरीबी की प्रारम्भिक विषमताओं को दूर करता है। समाज के समुदाय के वह प्रकट हो गया था कि साम्यिक भेद-भाव ही साम्यिक अन्तर्गत का नून कारण होता है।

प्लेटो ने सम्पत्ति के प्रयोग पर कड़ी प्रबन्ध लगा दिए हैं। कोई व्यक्ति अपने भूमि न बेच सकता है और न निरसी रख सकता है। नागरिक किसी तरह का उद्योग करना, व्यापार वाणिज्य या वास्तविक नहीं कर सकते। वे सारे कार्य 'निवासी विदेशियों' (Resident Aliens) के हाथों में होते हैं। स्वतन्त्र जीन (Free Men) होते हैं; नागरिक नहीं होते। यदि किसी वर्ग के व्यक्ति के पास उनकी नियमित सीमा से अधिक भूमि होती तो राज्य उसको जमा कर लेता, क्योंकि नागरिकों को अब कमाल के नहीं करना चाहिए। वे सभी समुदाय की समुदाय में विचारित कर देते हैं और उसकी मनुष्यता को सीधे से बदल देते हैं। नागरिकों को वह नहीं सुचना चाहिए कि जो कुछ उनका है वह अन्तर्गत सभी का है। सम्पत्ति विषय सार्वजनिक समान प्रत्यक्ष प्रवर्धन है, इसलिए उसका प्रयोग समाज के हित को ध्यान में रखते हुए ही किया जा सकता है। यही कारण है कि यदि स्वतन्त्र निजी है तो उन्नीस साम्यिक है। जो कुछ भूमि के उत्पत्ति हो उसका सभी के द्वारा उपयोग किया जाना चाहिए।

सम्पत्ति विपन्नक उपरोक्त व्यवस्था को निर्वाचन पद्धति से चलाने के लिए प्लेटो राज्य की जनसंख्या को 5040 कर दी। स्वार्थ बनाने रखने की आवश्यकता पर बल देता है। यदि जनसंख्या इससे अधिक होने लगे तो वाम-विरोध के हाथों की धमकाकर या नए उपनिवेश बनाकर इसे नियंत्रित करना चाहिए। यदि जनसंख्या कम होने लगे (प्लेटो के समय स्पार्टा में ऐसा ही हो रहा था) तो निश्चित संख्या (5040) बनाने रखने के लिए अधिकारिण युद्धों की दृष्टि और विवाहित न्यायिनी की पुरस्कृत किया जाना चाहिए। यदि किसी व्यक्ति के कोई वंशान नहीं है जो उसकी मृत्यु के बाद उत्तराधिकार प्राप्त कर सके तो उसे दूसरे का आश्रय और उसे देना चाहिए।

राज्य के पास केवल प्रतीक मुद्रा होती है। वह चांदी स्पार्टा की लौह मुद्रा के समान होती है। खुदों के लिए व्याज नहीं दिया जा सकता। सोना और चांदी भी चलने वाला नहीं रहा जा सकता। प्लेटो नागरिक के सम्पत्ति सम्बन्धी स्वामित्व पर हर प्रकार की पाबन्दी लगा देता है।

(ख) धन-विभाजन (Division of Labour)—प्लेटो ने 'रिपब्लिक' में धन-विभाजन के सिद्धान्त की सम्पूर्ण समझ का मूल सिद्धान्त ठहराया था। 'सॉज' में वर्णित समाज व्यवस्था के विवेचन में ये पता चलता है कि उसने उस सिद्धान्त की खोज नहीं की। धन का तृतीय विभाजन युवविद्या अधिक विस्तृत है। इसके अन्तर्गत राज्य की सम्पूर्ण जनसंख्या का जाती है। उसमें राज्य में सम्पन्न रहने के आधार पर लोगों का वर्गीकरण तीन भागों में किया गया है—

- (1) विदेशियों धरवा परियेन (Resident aliens) के लिए आचार एवं कर्तव्य।
- (2) दासी धर्मदा मृशामों के लिए ऐसी।
- (3) नागरिकों के लिए आचरण प्रकृत धर्मदा राजनीतिक कार्य।

इस प्रकार धन-विभाजन दासी जनसंख्या तक विस्तृत होने के साथ-साथ सर्वजननीय भी है। मार्कर का कथन है—“रिपब्लिक की पुरानी भाषा 'सॉज' के दृष्टों से भी व्यापक है, और यदि 'सॉज' में वर्णित धर्म व्यवस्था 'रिपब्लिक' में वर्णित व्यवस्था से आसानी से कम से कम है तो भी भौतिक धर्म आसानी से सिद्धान्त नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना विशेष कार्य करना चाहिए।”

(ग) सरकार का संभाल (Working of the Government)—प्लेटो राज्य में सर्वोच्च सरकार को न केवल कानून की देता है। उसके अनुसार सभी राजनीतिक सम्पत्ति कानून के अधीन है। वह राज्य की सामान्य पद्धति के बारे में निम्नलिखित व्यवस्था करता है—

(i) सामान्य सभा—राज्य का आचरण बनाने के लिए एक मौखिक सभा (General Assembly) होती। राज्य में सभी नागरिक (5040) इसके सदस्य होते। सभा की बैठक वर्ष में कम से कम एक बार सम्पन्न होती। इसका प्रमुख कार्य राज्य की धन संस्थाओं के धर्मों की पुनरावृत्ति। वह सभा देना

के अधिकारियों का चुनाव करेगी। कानूनों में परिवर्तन और न्याय करना भी इसका काम होगा।

(ii) सलाहकार बोर्ड—राज्य में एक सलाहकार बोर्ड (Advisory Board) भी होगा। इसके सदस्यों की संख्या 37 होगी जिसका चुनाव साधारण सभा करेगी। इन सदस्यों की आयु 50 से 70 वर्ष के बीच होगी। सदस्यों का चुनाव होगा। उसके लिए निहरी चुनाव-प्रणाली की व्यवस्था (Triplet Ballot System) है। इसके अनुसार 5040 सदस्यों की लोकप्रिय साधारण सभा में पहले 300 उम्मीदवार चुने जाएँगे। फिर 300 में से फिर 100 चुने जाएँगे और अन्ततः उन 100 में से 37 चुने जाएँगे। वे कानून के रक्षक होंगे। सलाहकार बोर्ड का कार्य-व्यवहार देना होगा।

(iii) प्रशासनिक परिषद्—राज्य में सलाहकार बोर्ड के आदेशों की निवारक रूप देने वाली और वास्तविक रूप में शासन करने वाली एक सभ्य प्रशासनिक परिषद् (Administrative Council) होगी। इसके 360 सदस्य होंगे। इनमें सम्प्रति के आधार पर 4, 3, 2 या 1 व्यक्ति रहने वाले विभिन्न ब्राह्मणों में से प्रत्येक वर्ग से प्रतिवर्ष 90 सदस्य चुने जाएँगे। इन विभिन्न वर्गों के सदस्य धन्य-धन्य तरीकों से निर्वाचित होंगे। पहले और दूसरे वर्ग अर्थात् 4 और 3 व्यक्ति वाले सदस्यों के चुनाव में सब वर्गों के लोगों की आवश्यक रूप से मता देना पड़ेगा। मत न देने वाले पर जुर्माना किया जाएगा। 2 व्यक्ति रहने वाले सदस्यों के चुनाव में पहले 3 वर्गों की मत (Vote) देना आवश्यक होगा, न देने पर सब दण्ड दिया जाएगा। 1 व्यक्ति वाले वर्गों को मत देने का न देने की स्वतन्त्रता होगी। इन प्रकार चुनाव का पहला दौर पूरा होगा।

इसके बाद दूसरा चुनाव होगा। इस चुनाव में भाग न लेने पर सामान्य जुर्माना के दुगुना अवरोध दिया जाएगा। इस चुनाव में, प्रत्येक वर्ग से 180-180 उम्मीदवार चुने जाएँगे। इसके बाद तीसरी अवस्था में, प्रत्येक वर्ग के लिए इन 180 में से आठवीं द्वारा 90 सदस्य चुने लिए जाएँगे। 360 सदस्यों की प्रशासनिक परिषद् की इस विधुली जटिल निर्वाचन प्रणालि में प्रथम दो वर्गों को उम्मीदवारों के चुनाव में अधिक महत्व दिया गया है। इसके साथ ही उम्मीदवारों के आर्थिक निर्वहन में सभी वर्ग सम्मिलित हो सकते हैं। इनके चलेने की प्रक्रिया में सबसे अधिक होता पड़ता है तथा अन्तिम अवस्था में आठवीं का उपयोग सबसे कम उपयोग किया जाता है। बल्कि (Barker) के अनुसार निर्वाचन की इस जटिल प्रणालि में मार्क्सवादीक मतप्रकार (Marxist Suffrage) तथा वर्ग मतप्रकार (Class Suffrage) का उपयोग भी पूर्ण सम्भव है। यह चुनावी प्रणालि की पूर्णतया वैध मतदाता प्रणाली तथा आठवीं की लोकप्रिय प्रणाली का सम्मिश्रण है। यह चुनाव प्रणाली का मुख्य आधार प्लेटो की यह मान्यता है कि "सभी मतदाता सबसे एक जैसे अधिकार देना नहीं चाहेंगे उन्हें अपनी संस्था और पेशे के अनुसार अधिकार देना है। अतः संस्था वालों को अधिक अधिकार प्रदान करना है।"

उनके साथ ग्यारह करना है और इसी से राज्य में सन्तुष्ट एवं एकता का प्रसार हो सकता है।”

प्रशासनिक परिषद् के प्रमुख कार्य ये हैं—(i) पहले दो वर्षों में स्थानीय एवं जिले की देखभाल करने वाले अधिकारियों की नियुक्ति, (ii) वार्षिक वर्ष द्वारा तीन सेनापतियों का चुनाव, (iii) राज्य की हानि पहुँचाने वाले व्यक्तियों के विरुद्ध मुकदमे चलाना, (iv) यदि कोई कानून बदलने की आवश्यकता हो तो सहाय्य देना, (v) निर्देशों को सौभान्य निर्धारित प्रथम (20 वर्ष) से ही अधिक रखने की अनुमति देना।

सामन की सुविधा की दृष्टि से प्रशासनिक परिषद् 12 भागों में विभक्त होगी और इसका प्रत्येक भाग, एग्रेस की तरह एक महीने के लिए कार्य करेगा। प्रशासनिक परिषद् का कार्यकाल 20 वर्ष होगा। इसका सम्पूर्ण विचार विभाग का सम्पादन भी होगा और उसका निर्वाचन 5 वर्ष के लिए किया जाएगा।

उपरोक्त प्रशासनिक संस्थाओं के प्रतिष्ठित मंत्री में स्थानीय शासन के लिए अनेक सचिवों, पदाधिकारियों एवं उनके कार्यों का उल्लेख किया है।

(ख) न्याय का प्रशासन (Administration of Justice)—मैट्रो क्लर्कन राज्य में न्याय-प्रशासन के लिए 4 प्रकार के न्यायालयों का वर्णन करता है—

(i) सदाई पञ्चानली न्यायालय—ये न्यायालय सामान्य भण्डों का निपटारा करेंगे।

(ii) क्षेत्रीय न्यायालय—राज्य के 12 क्षेत्रों के लिए क्षेत्रीय मंत्री में के चुने जाने वाले ये न्यायालय अपने-अपने क्षेत्र के निवासियों के प्रतिनिधित्व भण्डों का संभाल करेंगे।

(iii) विशेष चुने हुए न्यायाधीशों का न्यायालय—इसके न्यायाधीश प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा चुने जायेंगे। ये सम्पूर्ण राज्य के प्रतिनिधित्व भण्डों के बारे में फैसला कर सकेंगे।

(iv) सम्पूर्ण राज्य का न्यायालय—शासक यह सब इस न्यायालय का कार्य करेंगे। राज्य के प्रमुख तथा राज्य सम्पत्ती वाली भण्डों का प्रतिनिधित्व भी होगा।

इस सम्पूर्ण न्याय विभाग का संरक्षण जिम्मा सभी होगा। यही व्यक्ति प्रधान मंत्री और निधि-संरक्षकों तथा परामर्श सभा (Law Guardians and Advisory Board) का सम्पादन होगा।

(क) स्थानीय शासन (Local Government)—सन् 5040 की जनसंख्या वाले राज्य में मैट्रो स्थानीय शासन की व्यवस्था करते हुए बताता है कि नगरों में दो प्रकार के अधिकारी होंगे—नगर-निरीक्षक (City Inspectors), एवं बाजार-निरीक्षक (Inspectors of the Market Squares)। मैट्रो के लिए नगरों के तीनों द्वारा दो वर्ष के लिए चुने गए सचिव सम्मेलन होंगे। 5 सम्मेलन नगरों के तीनों द्वारा चुने जायेंगे। प्रत्येक सम्मेलन 12 कानूनों का चुनाव करेगा।

इस तरह $5 \times 12 = 60$ सीसी का यह दल राज्यो में भंगलु किया करेगा । गहर में तीन निरीक्षक होने की आवश्यक वर्ष में से होने । 5 मार्केट निरीक्षक भी उपमन दो वर्षों में से चुने जायेंगे ।

(7) विवाह तथा परिवार नियमक विचार

(*View about Marriage and the Family*)

'रिपब्लिक' की भांति 'लॉस' में भी यह स्वीकार किया गया है कि निम्नो एवं पुरुषों को समान शिक्षा पाने एवं समस्त काम करने का अधिकार होना चाहिए । किन्तु इस उद्यम में 'रिपब्लिक' के सिद्धों के सम्मेलन की स्थापना कर दिया गया है । यह इस विचार को स्पष्ट देता है कि निम्नो एवं पुरुषों सम्मेलन होनी चाहिए । प्लेटो निम्नो को घर की बाह्यदीवारी और चर्चों के बाहर निकाल कर उनके राज्य में उन सभी बच्चों पर नियुक्त किए जाने का समर्थन करता है जिनका सम्बन्ध शिक्षा-व्यवस्थापनी प्रवृत्ति और निम्नो के जीवन से है । यह कहता है कि निम्नो की पुरुषों की भांति वस्त्र-व्यापार, युद्ध एवं युद्धकारी करना भी सिखाया जाना चाहिए ताकि भीष्म वाले घर के भी पुरुषों की भांति युद्ध में युद्ध सर्वे और स्वयं की राष्ट्रीय सेवा में कार्यरत कर सकें । यह निम्नो की पुरुषों के समान शिक्षा देकर इतना चाहती बनाना चाहता है कि पुरुषों का साफल्य होने पर वे रोई या चिन्ने नहीं बल्कि उनके सीटों में ।

विवाह के सम्बन्ध में प्लेटो ने 'लॉस' में जो व्यवस्था की है वह बड़ी ऐसीवकारी और रोचक है । यह प्रविष्टा ऐसी धार्मिक सभाओं का आयोजन करना चाहता है जिनमें उचित मानु में जानी-रक्षा के निम्नो का पालन करते हुए पुरुषों में युवक प्रवृत्ति भावी प्रतिभाओं के परिचय प्राप्त करें । प्लेटो यह भी व्यवस्था करता है कि विवाह से पहले भावी प्रतिभाओं एक दूसरे को जानना में रोज और स्वास्थ्य का प्रसारण-वन में । विवाह करने निरोधों परिधों के मध्य होना चाहिए ताकि उनमें लाभ पैदा हो सके । तरुणों में साम्य की स्थापना के राज्य में एकता और सुदृढ़ता आएगी । प्लेटो का मन है कि विवाह का उद्देश्य वैवाहिक सम्बन्ध नहीं मनुष्य राज्य का हित होना चाहिए । विवाह के बाद प्रति-वर्षी को यह कभी नहीं भूकता चाहिए कि उनका कार्य-व्य राज्य के लिए सम्मान उत्पन्न करना है । इसके लिए प्लेटो प्रति-वर्षी की विवाह के उपमन 10 वर्ष तक राज्य के निरीक्षकों की देख-रेख में रखने की व्यवस्था करता है । जब उनके राज्य की जनसंख्या 5040 निगर की है तो इस प्रकार का नियंत्रण आवश्यक हो जाता है । प्लेटो राज्य की जनसंख्या 5040 ही निगर रखने के लिए तीन मुख्य पैर करता है—(1) महिला निरीक्षक साह-पटकार द्वारा प्रति-वर्षी की धार्मिक सम्मान पैदा करने के लिए प्रेरितारहित करें । (2) धार्मिक सम्मान पैदा करने वाले राजा-पिता को राज्यीय सम्मान और विशेषाधिकार दिया जाए । (3) 35 वर्ष आयु तक धार्मिक मानु वाले प्रतिवर्षी या सम्मानहीन व्यक्तिों पर कर लगाया जाए । प्लेटो के अनुसार सम्मान पैदा करना केवल धार्मिक और राज्यीय व्यवस्थापन ही नहीं बल्कि वैदिक व्यवस्थापन भी है ।

11.8 साम्प्रदायिक राजनीतिक विचारों का इतिहास

सबसे अधिकारित रहता धर्म है। साम्प्रदायिकता करने के लिए पुनः पैदा करना चाहिए।

प्लेटो की परिवार सम्बन्धी व्यवस्थाएँ धार्मिक धारणा कोई स्वीकार नहीं करेगा। यह किसी दवायी में उचित हो सकता कि चाही नर-युव की दोस्ती करीबा हो, किन्तु दोषी नभय रूप में विवाह के पूर्व ही एक-दूसरे को देखें, यह मानवीय शांतिपता की दृष्टि में सर्वथा अनुचित है। साथ ही विरोधी गुण सम्बन्ध तर्कों वाली का विचार होने पर साम्प्रदायिक जीवन के सुगम्य होने की धारणा नहीं हो जा सकती। साम्प्रदायिक जीवन के वास्तविक गुण और प्रति-पक्षों के हृदयों का सुन्दर निजान तभी हो सकता है जब दोनों के अनुकूल स्वभाव और अनुचित हो। प्लेटो की योजना में कृत्रिम सम्बन्ध होय यह है कि यह व्यवस्था को गया हो 50-60 पर नियंत्रण रहता चाहता है। व्यवस्था को कार्य के लिए नियंत्रित कर देना न हो सम्भव है और न मान्य हो। इतिहास की एका कोई उदाहरण देने में असमर्थ है। इस विषय में प्लेटो का विचार गतिशील (Dynamic) न होकर अगतिशील एवम् स्थिर (Static) है।

(8) शैक्षणिक और धार्मिक संस्थाएँ

(Educational and Religious Institutions)

'नॉर्न' के प्लेटो न शिक्षा की ओर भी काफी ध्यान दिया है। वास्तविक की सामान्य व्यवस्था 'रिपब्लिक' की भाँति है। सेवाएँ के अनुसार, 'वास्तविक में सर्वोच्च और धार्मिक को बहुत ही दिया गया है। प्लेटो की कविता पर सब की विचारणा नहीं है और यह वास्तविक और कला पर अद्वैत प्रतिष्ठापन होने के पक्ष में है। विपक्षों की पुष्टि के समान ही विचार प्राप्त करने का अधिकार है। समस्त नागरिकों के लिए शिक्षा अनिवार्य है। 'नॉर्न' के प्लेटो ने व्यवस्था धारण किया के समस्त को और दिया है।"

प्लेटो ने 'नॉर्न' के धर्म और राज्य के सम्बन्ध का निरूपण किया है। यह धर्म की सुव्यवस्था रूप देना चाहता है। बहुत 'रिपब्लिक' के धर्म की सामान्य प्रतिष्ठा नहीं की गई थी नहीं 'नॉर्न' की धर्मों पुस्तक में प्लेटो ने धार्मिक विधि का विचारपुर्वक वर्णन किया है। यह विचार की प्रतिष्ठा धर्म की भी राज्य के नियंत्रण में रहता चाहता है। यह धार्मिक धर्मधर्मों का राज्य की व्यवस्था में होना अनिवार्य मानता है। उसने कहा है कि नागरिकों को किसी प्रकार के व्यक्तिगत धार्मिक व्यवस्था नहीं करने चाहिए। धार्मिक व्यवस्था को साम्प्रदायिक व्यवस्था के समान देना नहीं चाहिए। पुरोहितों द्वारा किया जाना चाहिए। सेवाएँ (Sabbat) के अनुसार, प्लेटो की इस विचारधारा के दो कारण हैं—(1) प्लेटो धर्म के गुण सम्बन्धित करने को पक्ष नहीं करता था। उसने एक स्थान पर यह भिन्न भी है कि व्यवस्थापन नीति विवेकपूर्ण विचारों धर्म के धार्मिक धर्मों के बहुत धर्मों हैं। (2) प्लेटो का विचार था कि धर्म नागरिकों की व्यक्तिगत धर्म होना ही यह उन्हें राज्य की नियंत्रण में रहता कर देना।

प्लेटो धर्म नियंत्रण को इसकी तक ही सीमित नहीं रहता। यह यह विचार

प्रकट करता है कि धार्मिक विचारों का वैदिक व्यवहार से घनिष्ठ सम्बन्ध है। कुछ विश्वास निम्न ही ऐसे हैं जो धार्मिक प्रकृति के होते हैं। अतः यह आवश्यक है कि धर्म का कब निश्चित कर दिया जाए और राज्य की यह शक्ति प्रयत्न की जाए कि धर्म के प्रति भ्रष्टाहीन व्यक्तियों को यह दृष्टित कर सके।

प्लेटो की धार्मिक विचारधारा अतिशय ही स्पष्ट है। यह वास्तविकता का निवेध करता है। उसने वास्तविकता के तीन केन्द्र बताए हैं—(क) देवताओं के महत्त्व में अधिष्ठाता, (ख) यह धारणा कि देवता मानव धारणा से सम्बन्ध नहीं रखते, एवं (ग) यह धारणा कि यदि कोई पाप किया जाए तो उसका प्राप्ति से सम्बन्ध ही रहता है।

प्लेटो ने वास्तविकता के लिए दण्ड की व्यवस्था रखी है। इस व्यवस्था के लिए यह धारणाओं और कुछ व्यवस्थाओं में अत्यन्त तक का समर्थन करता है। प्लेटो की यह व्यवस्था निम्न ही सहाय्यीय नहीं है। इसके लो 'नॉक्स' की गणना उन गुणों में ही जाती है जिन्हें धार्मिक उत्पीड़न का प्रतिपादन किया गया हो।

'नॉक्स' के राज्य में एक नवीन संस्था का उल्लेख है जिसे नोक्टेमल काउंसिल (Nocturnal Council) के नाम से पुकारा गया है। प्लेटो की यह संस्था उसके द्वारा प्रतिपादित अन्य संस्थाओं में कोई भेद नहीं जाती। साथ ही राज्य की इस व्यवस्था में भी कोई सम्बन्ध नहीं रहती जिसमें कानून सम्बन्ध हो। यह संस्था प्लेटो के मूल दर्शन के समुच्चय नहीं है। उससे इसका कोई भेद नहीं दिखाई देता। इस परिषद् में कानून के 37 सदस्यों में से 10 परिषद् सम्मिलित होते हैं। जिसका निर्णायक एवं अपने परिषद् सदस्यों के कारण पुनः हुए दुरोहित धर्मि इससे विवेक प्राप्त होते हैं। यद्यपि यह परिषद् कानून से बाहर होती है किन्तु उसे राज्य की वैधानिक व्यवस्था का नियन्त्रण और नियन्त्रण करने की शक्ति प्राप्त है। प्लेटो का मतियम निम्न है कि पहले परिषद् का निर्माण किया जाना चाहिए और फिर राज्य को उसके द्वारा ही भीत देना चाहिए। प्लेटो का विश्वास है कि इस परिषद् के सदस्य जानकार होते हैं, और वे राज्य का हित कर सकते हैं। स्पष्ट है कि नोक्टेमल व्यवस्था में परिषद् 'परिषद्' के दार्शनिक राज्य के स्थान पर है और इसलिए 'नॉक्स' के उपायों में राज्य पर एक प्रहार है। "यह परिषद् पूरी तरह दार्शनिक साक्षक नहीं है। बल्कि उसका अर्थ वास्तविकता के विरोधी और अधिष्ठित दुरोहितों के द्वारा किया गया है, इसलिए इससे दुरोहितवाद की कुछ भाव है। प्लेटो ने उसके संस्थाओं की धार्मिक दृष्टि से जागरण जाना है, यह उच्च उसके दुरोहितवाद को स्पष्ट कर देता है।"

प्लेटो को उपायों राज्य का सर्वाङ्ग रूप (The Whole Picture of Plato's Sub-Ideal State)

प्लेटो ने अपने ग्रन्थ 'नॉक्स' में उसका ही राज्य का जो सम्पूर्ण चित्र लीला है उसकी कथन में अधिष्ठित विवेचनाई है—

- (1) शासन-संयम का महत्व ।
- (2) कानून का सिद्धान्त ।
- (3) मिश्रित संविधान ।
- (4) राज्य की भौतिक विन्यास एवं व्यवस्था ।
- (5) सामाजिक छोटे राजनीतिक संस्थाएँ-इसमें सम्मेलन एवं वार्षिक व्यवस्था, धन-विभाजन, शासन प्रणाली, न्याय व्यवस्था और स्थानीय शासन की सम्मिलित विधा का समावेश है ।
- (6) विवाद एवं परिवार विषयक विचार ।
- (7) शिक्षा और धार्मिक संस्थाएँ ।

उपरोक्त विचारों के प्रतिष्ठित स्रोतों के साथ एवं कुछ ऐतिहासिक शिक्षा, व्यवस्था एवं दण्ड संहिता का भी मिलान किया है ।

‘लॉज’ का मूल्यार्जन तथा देन

(Evaluation and Contribution of the ‘Laws’)

स्रोतों के ग्रन्थों के सबसे प्रभावशाली शब्द ‘रिपब्लिक’ है, किन्तु ‘लॉज’ भी कम महत्वपूर्ण इति व है । यह स्रोतों की एक मूल्यवान देन है और जहाँ इसका प्रभाव वर्तमान समाज पर पड़ा था, वहाँ बाद के राजनितिकी पर भी इसका गहरा प्रभाव है । ‘लॉज’ की देन की विशेष में इस प्रकार रखा जा सकता है—

(1) स्रोतों का सिद्ध धारणा ‘लॉज’ के सत्यविक प्रभावित हुआ । उसने कानून की प्रशंसा, मिश्रित संविधान, राज्य के विवाद, इति-व्यवहार तथा मिश्र-पद्धति के सम्बन्ध में ‘लॉज’ की व्यवस्थाओं का अनुसरण किया है या इनसे लेखा भी है ।

(2) स्रोतों के ‘लॉज’ द्वारा विभाजित राजसत्ता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है । उसके अनुसार राजसत्ता यदि एक हाथ के केन्द्रित होती तो उत्तम शासन की स्थापना नहीं हो सकती अतः राजसत्ता का विभाजन वांछित है । यह लोकतन्त्र एवं राजतन्त्र के मिश्रित सिद्धान्तों को लेकर मिश्रित संविधान का समर्थन करता है । इनसे उसे आधुनिक संविधानवाद (Modern Constitutionalism) का पता चला जाता है । मॉलेटनर का ‘राज्य-विभाजन का सिद्धान्त’ (Theory of Separation of Powers) भी इसी पर आधारित है ।

(3) ‘लॉज’ में शिक्षा की विषय सीमाएं प्रस्तुत की गई हैं और शिक्षा की राश्व द्वारा स्थापित करना गया है । स्रोतों एक सर्वमान्य तथा सामान्य शिक्षा का रूप प्रस्तुत करता है । वर्तमान काल में सम्भव सभी सरकारें शिक्षा की राश्व का कर्तव्य मानती हैं ।

(4) स्रोतों के ‘लॉज’ में उल्लेख है कि नाट एवं लोक का स्तर एक होता चाहिए । वर्तमान में सभी बड़े आपसक मानते हैं कि राज्यों के एक नाट व लोक चाहें ।

(5) स्रोतों के ‘लॉज’ एवं उनकी प्रकाशनों में ऐमन कानून के विवाद की प्रशंसा एवं है प्रभावित किया । न्यायिक व्यवस्थाओं की सभी देन में ऐमन कानून सत्यविक प्रभावित है ।

(6) 'लॉय' में प्लेटो ने ईश्वरवादी आधुनिक विचारों का प्रतिपादन किया है। इन विचारों का ईश्वरवाद के दार्शनिक प्रवर्तकों पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

(7) मध्य काल में मोर(More) की 'रूटोफिना' एवं रूमो(Romansam) की कृतियों पर भी 'लॉय' का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

(8) प्लेटो 'लॉय' में धर्म के बारे में एक विशेष दृष्टिकोण रखता है। अपने धर्म की महत्ता की भी जिज्ञा की भाँति महत्त्व दिया है। यह दृष्टिकोण मनुष्यों की उत्थापन और कदाकदा धर्मधर्म की प्रेरणा देता है।

पला में, जैसा कि सैबाइन (Sabine) ने लिखा है, "लॉय में प्लेटो ने, दार्शनिक सम्प्रदायों का साधना की विवेचनाएँ किया और इतिहास में उनके सम्प्रदाय का संकेत किया। उसने मनुष्यन सिद्धान्त समर्थ एक सर्वव्यापी राज्य का निर्माण करने के लिए एक उचित साधन के रूप में विभिन्न विद्वानों एवं लोगों के निर्वाह का सुझाव दिया है। यह वह हिन्दु है जहाँ से धर्म ने अपना विचार प्रारम्भ किया। 'रिपब्लिक' के सामान्य सिद्धान्तों का त्याग किए बिना ही उसने मनुष्यन साधन नामों में 'लॉय' के सुझावों की प्रस्तावना। अपने अधिक परिष्कृत तथा मनुष्यवर्धक और ऐतिहासिक तथ्यों के धार्मिक विस्तृत विवेचनाएँ से उन्हें अधिक सम्पन्न बना दिया।"

प्लेटो की रचनाओं में यूनानी तथा सार्वभौमिक तत्त्व

(The Hellenic and the Universal Elements in Plato's Works)

प्लेटो की विचारधारा का अध्ययन के इतिहास में पर्याप्त महत्त्व है। उसकी दार्शनिक विचारधारा में दो तत्त्व दृष्टिकोणों पर होते हैं—यूनानी (Hellenic), एवं सार्वभौमिक (Universal)। यूनानी तत्त्व से ज्ञात है कि प्लेटो के दर्शन में कलकलीय परिस्थितियों और वातावरण का प्रभाव है। सार्वभौमिक तत्त्व से स्पष्ट यह है कि प्लेटो के चिन्तन में कुछ ऐसे सिद्धान्त हैं जो सर्वत्र, सब स्थानों और कालों में लागू होते हैं। मैसी (Masey) ने कहा है कि प्लेटो की रचनाओं में बहुत कुछ यूनानी और ग्रीक है, किन्तु उसके दार्शनिक दर्शन की मध्य भागी (Middle) अवस्था एवं सार्वभौमिक है। यूनानी के परवर्ती युग के यूनानी की भाँति वह सामान्य सिद्धान्त का विरोधी, प्रस्तावना का प्रतीक, वास्तविकता की प्रेरणा करने वाला, व्यापारवाद का शत्रु तथा सत्य के सैनिकवाद का समर्थक था। किन्तु सामाजिक और राजनीतिक चिन्ताओं के विवेचनाएँ तथा धार्मिक के संकेत के रूप में वह परवर्ती युग के उत्तरावृत्ति वाले दार्शनिक दार्शनिक दार्शनिक दर्शन, यूनानी विषयक राजनीतिक सिद्धान्तों और आधुनिक दार्शनिक चिन्ताओं का समर्थक और प्रेरक रहा है।¹

प्लेटो के विचारों में यूनानी तत्त्व (Hellenic Elements in Plato's Ideas)—प्लेटो ने अपने समय के सत्य व वैदिक जैसे अविद्वानों की विभिन्न परिस्थितियों का अध्ययन किया। उनके सिद्धान्तों में ऐसे बहुत कुछ यूनानी प्रभाव अवस्था तत्त्व मिलते हैं। इनमें से कुछ संक्षिप्त हैं—

1. प्लेटो अपने उपासकों राज्य की जनसंख्या 5040 नियंत्र करता है जो उस काम के लिये राज्यों के अनुकूल है। उस समय के यूनानी राज्यों की संकुचित सीमाओं से ऊपर दृष्टि उठा कर राज्य की सीमाओं के बारे में प्राथमिक रूप से यह नहीं सोच सकता था।

2. राज्य-प्रथा गणतन्त्रीय यूनानी संघाज का आवश्यक घटक थी। यूनानी लोग राज्य-प्रथा की अपनी सम्प्रदाय का प्रतीक मानते थे। प्लेटो ने भी राज्य-प्रथा को महत्व दिया है। 'मौर' में कुछ सम्कथी समस्त कार्य वह दासों पर ही छोड़ता है।

3. प्लेटो शासक वर्ग के लिए सार्वजनिक भोजनस्थानों के भोजन की व्यवस्था करता है। उसकी यह योजना गणतन्त्रीय यूनानी राज्य स्पर्श से प्रभावित है। शासक वर्ग की सम्पत्ति से प्रथम समस्त खीर उन्हें केवल शासन का कार्य देना स्पर्श की शासन प्रणाली का ही अनुकरण है।

4. वह नर-नारिणी के समान सार्वजनिक निवास को व्यवस्था करता है। वह मैजिक निष्ठा पर बल देता है। उनकी इन व्यवस्थाओं पर भी स्पष्टतः स्पर्श की छाप है।

5. उसने ऐन्थे ने शिक्षों की हीन व्यवस्था और स्पर्श के उनकी पुस्तों के आधार पर स्थिति को देखा था परन्तु उसने अपनी रचनाओं में स्त्री-पुरुषों की समान अधिकार देने के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया।

6. प्लेटो ने अपने उपासकों राज्य में ऐन्थे के अधिकार का अनुकरण किया है। यू-सन्धिता के आधार पर नागरिकों का 4 वर्गों में विभाजन, प्रत्येककी तथा प्रशासनिक परिवर्द्ध की व्यवस्थाएँ ऐन्थे से ग्रहण की गई हैं। प्लेटो ने अपनी रचनाओं में ऐन्थे से अधिकार और उदारता को लिया है जो स्पर्श के विवेकी-करण तथा निरन्तर सलाहवाद को ग्रहण किया है।

7. उसकी शिक्षा-व्यवस्था स्पर्श और ऐन्थे की शिक्षा-व्यवस्था का बहुत कुछ सम्मिश्रण है। उसका पाठ्यक्रम ऐन्थे के रूप का है जो सफल स्पर्श के अनुसार है जहाँ शिक्षा राज्य द्वारा उपलब्ध होती थी। प्लेटो ने ऐन्थे की बौद्धिक शिक्षा के साथ स्पर्श का सम्मिश्रण सार्वजनिक निवास जोश्वरद शिक्षा की व्यवस्था और राज्य योगी के विचार का सम्मिश्रण बना दिया है।

8. प्लेटो ने एक एक परिवार के सम्बन्धों की जो योजना प्रस्तुत की है उस पर स्पर्श एक थोट का स्पष्ट प्रभाव है।

9. प्लेटो राज्य की वर्गीय व्यवस्था देता है और स्थिति को गौर। यह भी स्पर्श की व्यवस्था से प्रभावित उत्पन्न है जहाँ समाज की मुख्य एक व्यक्ति की योग्य सम्झा जाता था।

प्लेटो के दर्शन में सार्वभौम राज्य (Universal Elements in Plato's Philosophy) — उपरोक्त सामयिक यूनानी उत्पत्ति के होते हुए भी प्लेटो के दर्शन में प्रत्येक ऐसे साम्राज्य और सार्वभौम राज्य हैं जिनके कारण प्लेटो सरा के लिए समस्त बन गया। इन तथ्यों के कारण ही उसे 'सब जगहों एवं कामों का बुद्धा' कहा जाता है। उसके दर्शन के उपयोगी एवं प्रमुख सार्वभौम तत्व प्रमाणित हैं—

(1) प्लेटो का न्याय-सिद्धान्त मानव समाज के लिए सर्वत्र मान्यतापूर्ण एवं उपयोगी है। वह न्याय का सर्व धर्म धर्म-धर्म कर्तव्यों का शासन करना तथा दूसरे के कामों में हस्तक्षेप न करना बताता है। निष्कर्ष है वह एक सार्वभौम तत्त्व है।

(2) प्लेटो भी सुकरात की भाँति कहता है कि "वैदुष्य ही ज्ञान है (Virtue is knowledge)।" वह बुद्धिमान् एवं विवेकी लोगों को ज्ञान ने प्रमुख स्थान देता है। कोई व्यक्ति ज्ञानियों के अधीनस्थ होने का कभी समर्थन नहीं करेगा। अज्ञान नागरिक और सैनिक दोनों में अतिव्योक्ति से भए हुए व्यक्तियों के शासन की इस बुद्धिवादियों का शासन कह सकते हैं।

(3) प्लेटो वह पुराना व्यक्ति या जिसे निम्नो की पुस्तकों के समकक्ष अधिकार देने की आवश्यकता है। आज स्त्री-पुरुषों के समान अधिकारों के लिए सिद्धान्त को निरव के समर्थन वाले समय परिधान स्वीकार करते हैं, प्लेटो ने हजारों वर्ष पहले स्त्री को लोगों के सामने रख दिया था।

(4) प्लेटो 'न्याय' में कानून की प्रमुखता की सर्वोपरि स्थान देता है। आज भी कानून ही राज्य के सर्वोच्च है। प्लेटो के न्याय-शास्त्रीय सिद्धान्त, दीवानी और फौजदारी कानूनी के अन्तर्गत, दण्ड के सुधारवादी सिद्धान्त, कानूनी के शासन में प्रस्तावनाएँ जोड़ने का विचार आज भी अनुकरणीय आदर्श माने जाते हैं।

(5) 'सू-व्यवस्था' के एक अधिकारी की राज्य द्वारा प्रतिष्ठा दी जाए और उनके राज्यीय सर्वोत्तम (Sovereign) के विचार सर्वोच्च शासक के सभी राज्यों में मान्यतापूर्ण माने जाते हैं।

(6) प्लेटो ने सत्यता के लिए निश्चित अधिकार का समर्थन किया, समर्थन के लिए की व्यक्ति के लिए के अधिकार प्रदान की, सन्तानोत्पादन के व्यवस्था-मान के निम्नो की महत्त्वपूर्ण समर्थन। राज्य की एकता और ज्ञान के महत्त्व का प्रतिपादन किया। उनके के मूल विचार आज भी अनुकरणीय आदर्श माने जाते हैं।

वे महापुरुष इस बात को स्पष्ट करते हैं कि प्लेटो ने प्रतिपक्ष ऐसे शासन और शासकीय तत्त्वों पर रख दिया जिससे जातीय और धर्मोत्तम सभी पुत्रों के दार्शनिक, विचारक, विद्वान् और लेखक प्रभावित होते रहे हैं। कोई उसे सादरवाद का विचार करता है तो कोई साम्यवादी बन जाता है कोई कल्याणवादी बनता है तो कोई न्यायवादी, कोई साम्यवादी करता है तो कोई उसे आश्रित मानता है। वास्तव में वह प्लेटो के दर्शन के सार्वभौम प्रभाव का ही फल है कि सभी उसे अपने मन से देखते हैं। प्लेटो की महत्त्वपूर्ण इस बात में है कि उसने राजनीति विज्ञान के के शैक्षिक ज्ञान बढ़ाए जिसकी प्रकृति साम्य है। महापुरुष, प्लेटो ने इस बात पर विचार किया कि राज्य और व्यक्ति का क्या सम्बन्ध होना चाहिए तथा राज्य और वैयक्तिकता में क्या सम्बन्ध है। वे दोनों ही वैयक्तिक सम्बन्धों प्लेटो ने लेकर प्राथमिक पुनः एक के विचारों के लिए निश्चित विज्ञान-साधनी रही है। राजनीतिक विचारवादी महत्त्वपूर्ण इस दोषों सम्बन्धों के दर्द-विद्वेष्ट प्रतीति रही है। प्लेटो ने राजनीति और वैयक्तिकता के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किए उनकी ही प्रतिष्ठा

सर्वोपनिषद् दर्शन, और सर्वोपनिषद् दर्शन में ब्रह्म छोड़ दे। राजनीति नैतिकता के समीप है, राजनीति और नैतिकता के बीच-रास्ते का नाम है, राजनीति और नैतिकता में कतलार विरोध है—इस प्रकार की समझाओ पर विचार की सामग्री हमें प्लेटो के दर्शन से मिलती है। यदि हम प्लेटो के विचार से सहमत हैं तो राजनीति और नैतिकता को विभिन्न नहीं कर सकते, राजनीति को नैतिकता के समीप मानकर चलना होगा। यदि हम प्लेटो से असहमत हैं तो हम राजनीति और नैतिकता से विरोध बात सकते हैं। पर हम प्लेटो से सहमत हो या असहमत, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि प्लेटो ने एक ऐसी मौलिक समस्या इस्तुत की जो उसके समय से अब तक हमारे चिन्ता के एक महत्वपूर्ण पहलू का आधार बनी हुई है।

[illegible][illegible]

अरस्तू का वैज्ञानिक यथार्थवाद

(The Scientific Realism of Aristotle)

पारमर्सी के सनाथ उपासक और दर्शन के प्रकाश-स्तम्भ अरस्तू (Aristotle) का जन्म मूनार के स्टिगिरा (Stagira) नामक नगर में ई. पू. 384 में हुआ। उसके पिता निकोमैकस (Nicomachus) मेसोटीनिया के राजा के दरबार में चिकित्सक रह चुके थे। राजदरबार के सम्बन्धित होने के कारण अरस्तू का जीवन सनाथ और सुखमय रहा।

विज्ञान से चिकित्सा की शिक्षा प्राप्त करने के कारण भारत में विज्ञान के प्रति रुचि बढ़ाया हुई, किन्तु यह रुचि उस दुर्लभ भारत में अधिक समय तक नहीं रह सकी। उससे आग्रह-व्यभिक्त की चिकित्सा करने के प्रति एक विचित्र रुचि थी। इसलिए 18 वर्ष की आयु में यह एम्बेल्स धाकर प्लेटी की किशु प्रसिद्ध 'मकादमी' में चली हुआ और 3-47 ई. पू. में प्लेटी के देहावसान तक 20 वर्ष रही रहा। अपने भारत निष्ठा की शुरु के बाद भारत में भी 'मकादमी' की स्थापना किया, क्योंकि उसे वहाँ जन्मदा स्थान नहीं दिया गया। 'मकादमी' में भारत के स्थान पर प्लेटी के एक निष्ठा सम्बन्धी की मानाई बताया गया जिसे भारत में बहुत की कर सका।

एवम् लोक देने के बाद अपने 12 बन्नों के घरानू के विभिन्न कार्य किए । 346 ई. पू के बहु मकडुमिया के राजकुमार विजयार का निर्माण बना । बहु विक्रन्दर के पराजयप्राप्त और विभिन्नक के रूप में भी कार्य करता रहा । कतिपय इतिहासकारों की यह धारणा है कि विजय-विजय के लिए अतिथि विक्रन्दर के साथ-साथ घरानू भी भूमता रहा और भारतीय संस्था के भी उसने दर्शन किए । विक्रन्दर के साथ आबाद-काल में 342 ई. पू. के उसके विजय हनिमास (Jinamass) को एक दिवसीय सेवापति के बोधों से बहुत निष्ठा और कुछ संसार उठती हुआ कर दी । घरानू की इस चलाय से सर्वजनिक दुःख हुआ । उसने हनिमास पर एक सौद-काल्य निष्ठा । इस चलाय के उठती यह धारणा बनी कि विदेशी कौर जातिवां कुशमियों के साधन में ही रहनी चाहिए । अपने एवं 'अतिथि' में उठने इस विज्ञान का प्रतिपादन किया है ।

‘पॉलिटिक्स’ (Politics) है। उसके द्वारा विभिन्न विषयों पर लिखे गए प्रमुख ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

1. राजनीति पर—Politics, The Constitution.
2. गार्हपत्य में—Euthanas or Soul, Protrepticus, Poetics तथा Rhetoric आदि।
3. तर्क शास्त्र व दर्शन पर—Physics, De-Anima, The Prior Metaphysics, Categories, Interpretation, The Posterior Analytics तथा The Topics आदि।
4. भौतिक विज्ञान पर—Meteorology (वायु वायु) तथा अन्य ग्रन्थ।
5. जलीय विज्ञान पर—Histories of Animals तथा दस अन्य ग्रन्थ।

अरस्तू की पद्धति (Aristotle's Method)

अरस्तू पहला राज्यवेत्ति वैज्ञानिक है। आदर्श राज्य और उसके मर्यादों की रचना करने में प्लेटो ने कल्पना-प्रधान पद्धति की व्यवस्था की वहीं अरस्तू ने अपनी ‘पॉलिटिक्स’ की रचना करने में पूर्ण तथ्यवत् 158 सत्त्वानों का अध्ययन कर अपने निष्कर्षों को सकार के समक्ष रखा। इस तरह उसने एक वैज्ञानिक पद्धति का अनुकरण किया। अरस्तू ने सर्वप्रथम राजनीति शास्त्र को प्रायः सामाजिक शास्त्रों के बीच कर एक स्वतन्त्र शास्त्र का स्थापन प्रदान किया। उसने इस शास्त्र के अध्ययन में प्राथमिकतात्मक पद्धति (Inductive Method) का प्रयोग किया न कि निष्कर्षात्मक पद्धति (Deductive Method) का। विवेक पहचानने से सामान्य नियम निकालने की पद्धति को प्राथमिक पद्धति कहा जाता है और इसके विपरीत पहले कुछ सामान्य नियम निश्चित कर उनके आधार पर विवेक सिद्धांत बनाने की पद्धति निष्कर्ष पद्धति कहा जाती है। अरस्तू को इस बात का ध्येय है कि उसने सर्वप्रथम राजनीति शास्त्र में प्रथम प्रकार की पद्धति अपनाई। इसके माध्यम से उसने विश्लेषणात्मक पद्धति (Analytical Method) का भी प्रयोग किया। अरस्तू की निष्कर्ष पद्धति का दूसरा मुख्य गुण सतत्त्वप्रतिष्ठा है। अरस्तू प्लेटो के समस्त धारणावादी या कल्पनावादी न होकर पर्यवेक्षणवादी (Observational) था। उसने पहले कुछ तथ्यों का अध्ययन किया और फिर उनहीं तथ्यों से निष्कर्ष निकाला। रणनीति और पहचानने का विश्लेषण और विवेक करने के बाद उसने निम्नी निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयत्न किया। अरस्तू की रचना की मुख्य आधार यह है कि उसने राजनीतिक पहचानात्मक के अध्ययन में तुलनात्मक पद्धति की व्यवस्था और मूलभूत के अन्तिम अनुभव और बुद्धिमत्ता का सम्मान किया। इसीलिए वह शान्तिवादी न होकर एक सुधारक बना और सिद्धांत तथा व्यवहार का अर्थ उनके मानने में प्लेटो की संस्था नहीं बल्कि अन्तिम समझाई उत्पन्न करता रहा। अरस्तू ने प्लेटो की मर्याद-वादी को खड़ी करवाया।

यहाँ तक अरस्तू की कृति की सीमा एवं सीमा का ज्ञान है, उसके न ही सीमा का मापन है और न व्यवहार की सीमा है। उसकी सीमा निश्चित है,

सम्बन्धता और व्यावहारिकता पर बल देती हुई है, किन्तु प्रस्पष्टता और दृढ़ता के आरसे दबी हुई भी है।

‘पॉलिटिक्स’ : एक अधूर्ण कृति -

(‘Politics’ : An Incomplete Work)

अरस्तू की ‘पॉलिटिक्स’ राजनीति शास्त्र पर लिखा गया एक बहुमुख्य ग्रन्थ है, जिसमें पृथ्वी भर राजनीति को एक वैज्ञानिक रूप दिया गया। उसने तत्कालीन समाज-व्यवस्था तथा राजनीतिक स्थिति का विवेक सम्भव करने के बाद अपने विचार निरिच्छा किए थे और इस ग्रन्थ में, उन्हें वैज्ञानिक रूप से प्रस्तुत किया।

किन्तु वह दुर्भाग्य की बात है कि इस महान् ग्रन्थ के विषय में आज कभीक विशेषी माध्यमार्थ और विचार मिलता है। न इसका काम विमर्शित हो गया है और न ही इसका स्वरूप। जो ‘पॉलिटिक्स’ आज हमें उपलब्ध है वह एक अधूर्ण कृति लगती है। कुछ लोगों का सम्यक् है कि इसको वर्तमान रूप स्वयं अरस्तू ने नहीं दिया बल्कि उसके कई छात्राचार्यों ने उसकी पाण्डुलिपियों के आधार पर सम्पादित किया है। ‘पॉलिटिक्स’ एक एकीकृत, सुवर्णित एवं समन्वित रचना नहीं मान्य पड़ती। इस ग्रन्थ की पुस्तक 7 में अरस्तू ने भारतीय राज्य की रचना प्रस्तुत की है। यह पुस्तक 3 के अन्त में प्रारम्भ होती हुई समाप्त पड़ती है। पुस्तकें 4, 5 और 6 भारतीय राज्यों का नहीं, प्रस्तुत सामाजिक राज्यों का वर्णन करती हैं। ये ग्रन्थों में एक वर्ष का निर्माण करती हैं। इसलिए 7 की और 3 की पुस्तकों की पुस्तक तीन के अन्त में और बीच, पाँचवी तथा छठी पुस्तकों को उनके बाद के रूप में रखा जाना चाहिए। तीसरी पुस्तक के अन्त में राजतन्त्र का और चौथी पुस्तक में लोकतन्त्र तथा पब्लिक ग्रन्थ का वर्णन किया गया है। वहीं तक पुस्तक के पढ़ने का सम्बन्ध है बाह्य कोई भी कम कमो न ऐसा जाए काफ़ी बहिष्कारपूर्ण उपनिषद होती है।

डॉ. नाउन (Dunn) का कहना है कि ‘पॉलिटिक्स’ सर्वाधिक प्रभावशाली और महान् ग्रन्थ है तथा उसका सम्पूर्ण सम्बन्ध समेकित है। डॉ. टैलर (Taylor), का मत है कि हमने उसे विषय का निरूपण करने का कारण है इस ग्रन्थ में मिलता है अथवा अरस्तू की किसी अन्य कृति में नहीं है।¹ ‘पॉलिटिक्स’ के इस उपाखण्ड का कारण नहीं है कि हमने कहीं-कहीं जो किसी विषय का उल्लेख इस प्रकार किया गया है जैसे उसका विवेचन पहले ही हो चुका हो जबकि पहले उसकी और संकेत तक नहीं मिलता और कहीं-कहीं इन बातों का उल्लेख कर दिया गया है जिनका विवेचन करने पर हमें हुआ है। साथ ही सम्भवतया एवं विषय-वर्तमानों के अर्थ पता है। ‘पॉलिटिक्स’ की सम्बन्धता और कृति सम्बन्धी समस्या का समाधान (Sabine) के मतानुसार एम्बेल्ड समाधान कर्नर जेकर (Werner Jaeger) के प्रस्तुत किया है। जेकर का समाधान अरस्तू के राजनीतिक दर्शन के विकास की काफी सुनिश्चितता प्रदान करता है। जेकर के अनुसार ‘पॉलिटिक्स’ अरस्तू की ही कृति

है, किसी सम्मेलन की नहीं। मैक्सिम ग्लुज की रचना दो कालों में हुई थी, इसलिये इनके दो भाग हैं। पहला भाग आदर्श राज्य और साम्यवादी पुनर्जातीय सिद्धान्तों से सम्बन्ध रखता है। इसमें दूसरी पुस्तक भी शामिल है। इसमें पूर्ववर्ती सिद्धान्तों का ऐतिहासिक अध्ययन किया गया है और पीछे की साम्यवाद की गई है। तीसरी पुस्तक में राज्य और साम्यवाद के स्वरूप का अध्ययन किया गया है। यह आदर्श राज्य के सिद्धान्त की भूमिका है। चारथी और साठवीं पुस्तकों में आदर्श राज्य की स्मृति। अस्तित्व की गई है। जैवर के अनुसार उन चार पुस्तकों में रचना घरस्तू के अंशों की पुनः के उपरान्त ऐसे से बिना लेने के कुछ समय बाद की थी। इनके साथ के अंशों 4, 5, 6 आते हैं। इनमें घरस्तू ने वास्तविक राज्यों का, विशेषकर सोवियत और अमेरिका का अध्ययन किया है। उनमें यह भी बताया है कि इन राज्यों के जन के बराबर कारण हैं तथा राज्यों को निम्न प्रकार स्थापित किया जा सकता है। जैवर का विचार है कि इन पुस्तकों में रचना घरस्तू ने अपने विद्यालय की स्थापना के बाद की होगी। उनके विचार से घरस्तू इस बीच में ही 158 सविधानों की अभिलेखावली कर रहा था। घरस्तू ने बीबी, एचबी और एचडी पुस्तकें नए प्रकार के बीच में रच दी हैं। परिष्कारवादी आदर्श राज्य सम्बन्धी रचना बहुत बड़ी हो गई है और यह साम्यवाद मान्य का एक सामान्य रूप बन गई लगती है। जैवर का विचार है कि पहली पुस्तक सबसे आगे में लिखी गई थी। यह इन पुनर्जातीय की सामान्य भूमिका है। इस प्रकार जैवर के अनुसार 'पॉलिटिक्स' एक वैज्ञानिक पाठ है लेकिन उसकी दुसरा नहीं लिखा गया। फलतः इनके विभिन्न भाग एक दूसरे से सम्बन्धित से मान्य पड़ते हैं। इसमें पूरी रचना में मात्र 15 वर्ष लगे थे।¹

'पॉलिटिक्स' की सम्पादन के जाने में कुछ लोगों का कहना है कि यह उन Notes का संपूर्ण भाग है जो घरस्तू के व्याख्यानो के उनके लिखों से तैयार किए थे। कुछ लोग कहते हैं कि वे नोट्स इन घरस्तू ने ही अपने लिखों को पढ़ाने के लिए तैयार किए थे जिन्हें बाद में उनमें एक अन्य के रूप में संशोधित कर दिया। कुछ विद्वानों का विचार है कि 'पॉलिटिक्स' की रचना घरस्तू ने नहीं बल्कि जीवितव्य के उनके लिखों में ही थी। मैक्सिम ग्लुज को अपने साहित्यिक विचार यह प्रतीत होता है कि पॉलिटिक्स के विभिन्न अनुसूचों में नोट्स हैं जिन्हें घरस्तू ने समय-समय पर अपने व्याख्यानो के लिए तैयार किया होता। यह भी कथन है कि उनमें में कुछ उसके उस व्यक्ति विस्तृत रूपों के साथ ही जो घर उपलब्ध नहीं है।

'पॉलिटिक्स' साठ भागों में विभाजित है जिन्हें निम्न की दृष्टि से बांटे हुए (Books) के अनुसार तीन खंडों में बांटा जा सकता है—

(1) पहले खंड में पहली, दूसरी तथा तीसरी पुस्तकें हैं। पहली पुस्तक में राज्य की उत्पत्ति, राज्य के स्वरूप और साम्यवाद के स्वरूप तथा समाजवाद का वर्णन

है। दूसरी पुस्तक में प्लेटो जैसे विचारकों द्वारा प्रतिपादित आदर्श-राज्य एवं सभा, पीठ, कांग्रेस आदि लोकतांत्रिक राज्य की समीक्षा है। तीसरी पुस्तक में राज्य की वर्गीकरण, नागरिकता और धर्म के स्वतंत्रता का विवेचन है।

(2) दूसरे वर्ग के चौथी, पाँचवीं और छठी पुस्तकें हैं। चौथी पुस्तक में विभिन्न प्रकार की नागरिक शासन-प्रणालियों का, पाँचवीं पुस्तक में विभिन्न शासन-प्रणालियों में होने वाले वैधानिक परिवर्तनों और शासित के कार्यों का प्रतिपादन है तथा छठी पुस्तक में वे उपाय वर्णित हैं जिनसे लोकशासी और पल्लतन्त्री (Oligarchical) को सुदृढ़ बनाया जा सकता है।

(3) तीसरे वर्ग में राजनी और आदर्श पुस्तकें हैं। इनमें आदर्श राज्य और उसके सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है।

संवाद का विचार है कि 'पॉलिटिक्स' हमें सरकार की राजनीतिक विचारधारा के दो चरणों की प्रकट करती है जो एक दूसरे से काफी दूर हैं। इनके मध्य की कड़ा बतलाता है कि सरकार ने प्लेटो के शासन के युक्त होने का प्रयास किया है या इसी बात की अधिक समझी तरह में जो कहा जाय कि "सरकार ने अपनी स्वतंत्र विचारधारा के निर्माण का प्रयास किया है।" जयन्त यह कि सरकार 'हेर्मुनैक' और 'लॉज' के अनुसरण पर एक आदर्श राज्य का निर्माण करना चाहता है और इसे ही राजनीतिक वर्णन का मुख्य उद्देश्य मानता है। 'राजनीति शास्त्र' के बारे में प्लेटो के शासन ही उसकी भी वैधता उचित है। ये सब व्यक्ति और ये सब नागरिक उनके लिए भी एक ही हैं। हमारे मन में भी राज्य का उद्देश्य उच्चतम नैतिक अनुष्ठान का निर्माण करना है। यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि सरकार ने इस दृष्टिकोण की आवश्यकता को छोड़ दिया है। इसका कारण यह है कि सरकार ने आदर्श राज्य सम्बन्धी प्रश्नों को 'पॉलिटिक्स' का एक बहुतबूझा बहाना मान लिया था। लेकिन, लीक्यस (Lyceum) की स्थापना के कुछ समय बाद ही उसने एक व्यापक आधार पर राजनीति के विज्ञान अन्वेषण का भी अध्ययन को। उसका विचार था कि वह विज्ञान का क्षेत्र सामान्य होना चाहिये। उसने कहा कि और नागरिकों से भी प्रकार की शासन-प्रणालियों का विवेचन होना चाहिये तथा शासन की कार्य और राज्य के मत समझ बनने की विज्ञान का विज्ञान भी राजनीति का यह तथा विज्ञान केवल अनुष्ठान-नैतिक और विचारधारात्मक ही नहीं था। कुछ दृष्टिकोण में नैतिकता में उसका कोई सम्बन्ध नहीं था क्योंकि राजनीति के लिए यह आवश्यक है कि वह पूरे राज्य का सम्बन्ध करने में भी निरुद्ध हो। यह राजनीति विज्ञान में सामेल और विवेचित दोनों प्रकार के राजनीतिक विचारों की आवश्यकता सम्मिलित थी। हमारे उस राजनीतिक व्यवस्था की भी आवश्यकता लीक्यस की विज्ञान पूरे उद्देश्य के लिए प्रयोज्य होता है। राजनीति वर्णन की परिभाषा में यह निवारण सम्पूर्ण की एक प्रयत्न देना है।

संवाद में अपने अन्य 'पॉलिटिक्स' में आदर्श राज्य की स्थापना तथा प्लेटो का विवेचन एक ही मान कर सरकार ने एक नये राजनीति विज्ञान की जन्म दिया है। हमारे यह मत प्रतिपादित किया कि प्लेटो आदर्श के विचारों को दूर कर

न ही, घबरेलगा वही स्वीकी चाहिए । राजनीतिक विज्ञान के सभी बुरे सभी प्रकार के राज्यों का जालन एवं समझ करने की कला ज्ञानको को सिखानी चाहिए । सरसू के राजनीति के इस कवीन और व्यापक विज्ञान में न केवल राज्य का वैज्ञानिक उद्देश्य शामिल है, बल्कि उसमें उसके सामाजिक तथा राजनीतिक तत्वों, पारलभिक परिवर्तनों, इनके सम्मिश्रण और उद्भवित परिणामों का एक अनुभवमय अध्ययन भी शामिल है । विशेषतः एवं विशेष राजनीतिक क्षेत्र और क्षेत्र-बुरे सभी प्रकार के राजनीतिक क्षेत्र के लिए सामाजिक राजनीतिक मन का जाल कवीन विज्ञान का एक भाग है । राजनीतिक विज्ञान की परिभाषा और क्षेत्र को इतना विस्तृत करना इस विषय में सरसू की सबसे बड़ी देन है । जेजर (Zeller) के शब्दों में, "सरसू की पॉलिटिकल साइन्स का निराकरण में प्राप्त होने वाली एक सर्वाधिक सुस्पष्ट विधि है और राजनीति-विज्ञान के क्षेत्र में प्राप्त होने वाला महत्त्वपूर्ण योगदान है ।"¹

सरसू पर 'लॉज' का प्रभाव

बार्कर ने सरसू पर 'लॉज' के प्रभाव का बड़ा योग-पूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत किया है ।² सरसू का जन्म ई. पू. 384 के सम्भव रूप से या और बह ई. पू. 367 के सम्भव एक विचारों के रूप में प्रवेश प्राप्त था । उस समय प्लेटो 'लॉज' की रचना में लगा हुआ था और निश्चित है कि सरसू पर प्लेटो का प्रभाव पड़ा था । बार्कर ने बहुधा सरसू के शब्द 'पॉलिटिकल' तथा प्लेटो के 'लॉज' में प्रत्येक समुच्चय है—

(1) प्लेटो की पॉलिटिकल में भी निम्न की प्रभुता के सिद्धान्त को स्वीकार किया है और ज्ञानको को 'विधि के सरकार' तथा उनका 'विचार' माना है ।

(2) 'पॉलिटिकल' का वह सुस्पष्ट अर्थ सरसू ने कहा है कि राज्य और उसकी विधि के प्रति समुच्चय या तो पद है या देवता, विचार और सम्मिश्रित दोनों में 'लॉज' के एक सुन्दर अर्थ सरसू के समुच्चय है (874E-875D) 766 A के सुझाव को देखें) । लगता है कि यह सब निम्न लेख सरसू के सामने 'लॉज' का उपर्युक्त अर्थ सरसू था ।

(3) सरसू ने परिवार के राज्य के विकास का और प्राथमिक राज्यों के पैटर्न सरकार का भी वर्णन किया है उसमें वह उसी तरीके पर जाता है जिस पर प्लेटो 'लॉज' के तीसरे अर्थ में जाता है । प्लेटो ने साइक्लॉस के बारे में होमर का भी उद्धरण दिया है वही सरसू ने किया है ।

(4) सरसू ने प्लेटो की एक पुक्ति को दोहराया है कि युद्ध का लक्ष्य 'लॉज' की स्थापना करना होता है, वह अपने साथ में सम्मिश्र नहीं होता ।

(5) सरसू ने, 'एथिक्स' में भी और 'पॉलिटिकल' के सातवें अर्थ के उन अर्थों में भी निम्न सिद्धांत का विश्लेषण किया गया है—स्वभाव-निर्माण पर और विधि है । इसका सादृश्य 'लॉज' के दूसरे अर्थ में सम्मिश्र होता है ।

1 E. Zeller : Aristotle & the Earlier Peripatetics, Eng. Trans. Vol. II, p. 288.

2 प. 81 : पृ. 82, पृ. 389-82.

(6) मिथिल मरिचान की कल्पना 'पॉलिटिक्स' और 'लॉज' दोनों जगहों में समान रूप से पाई जाती है और दोनों में ही स्पष्टता की हमका उदाहरण लगता है।

(7) धरमू ने दुर्ग के महार और मुदो आधार तथा मूद-मोरी के बारे में जो विचार व्यक्त किए हैं वे वास्तव में विचारों में अधिक हैं जिनका प्लेटो ने 'लॉज' के माउने साउ के रूप में और मारश्वेल् मूद के मारम्भ में उल्लेख किया है। इसी प्रकार, प्लेटो ने मार-मूद की रोकथाम के लिए 'लॉज' में विचार प्रकट किया है कि मरिचों को चाहिए कि वे रोकथाम के तरीकों को भी उन-मरिचों में ही खोजें। इस विचार की अभिव्यक्ति 'पॉलिटिक्स' में भी हुई है।

(8) धरमू ने 'पॉलिटिक्स' के लक्ष्यों और माउने साउ में अपने माउने राज्य की कल्पना प्रस्तुत की है। उसके माउने राज्य के लक्ष्यों और 'लॉज' के लक्ष्यों में मरिचों में बहुत अधिक समानता है। धरमू अपने लक्ष्यों राज्य का विचार करते समय प्लेटो के द्वितीय लक्ष्य राज्य का लक्ष्य करने—यह बात विचारों में ही और मरिचों में भी।

निष्कर्ष यह है कि "धरमू ने 'पॉलिटिक्स' के दूसरे जगह के मारम्भ में 'पॉलिटिक्स' तथा 'लॉज' दोनों की समानता की ही है, पर वास्तव में उसकी 'लॉज' में अधिक अभिव्यक्ति की और जहाँ उसके सामान्य राजनीति-विज्ञान पर 'लॉज' का बहुत काफी था वहाँ उसके माउने राज्य के लिए पर 'लॉज' का बहुत लक्ष्य अभिव्यक्ति था। यह ठीक है कि 'पॉलिटिक्स' की रचना धरमू ने की थी और उसने राज्य की विचार-मरिचों का माउने मरिचों के लक्ष्यों में किया था, पर इस विचार-मरिचों का अभिव्यक्ति भाव प्लेटो का था।"

धरमू के राज्य सम्बन्धी विचार (Aristotle's Conception of State)

'पॉलिटिक्स' की प्रथम पुस्तक में धरमू ने राज्य सम्बन्धी विज्ञानों का वर्णन किया है। उसने राज्य के स्वरूप, जगह और लक्ष्य का सुन्दर प्रतिपादन किया है। उसके राज्य सम्बन्धी विचार होने लक्ष्य-विचार हैं कि धरमू के बाद हजारों वर्ष बाद आज भी उसकी प्रासंगिकता की स्वीकार किया जाता है। उसने राज्य सम्बन्धी इन विज्ञानों के कारण ही उसे राजनीति के सबसे विज्ञान का प्रतिपादन माना जाता है। अपने कुछ प्लेटो के माउने ही उसका लक्ष्य भी पॉलिटिक्स के इस मरिच का लक्ष्य करता है कि राज्य एक परम्परागत लक्ष्य है जिसका मरिच लक्ष्यों की मान्यता पर कोई वास्तविक अभिव्यक्ति नहीं। धरमू यह सिद्ध करता चाहता है कि राज्य का लक्ष्य विकास के कारण हुआ है। यह एक सामाजिक लक्ष्य है। उसके लक्ष्य और लक्ष्य लक्ष्य हैं तथा यह लक्ष्य लक्ष्यों में लक्ष्य और लक्ष्य है।

(1) राज्य का प्राकृतिक—धरमू ने बहुत राज्य का निरीक्षण व्यक्ति का व्यक्ति-मरिचों ने प्राकृतिक मरिचों और लोक-विचार मरिचों की बात में लक्ष्य लक्ष्य किया। राज्य एक प्राकृतिक लक्ष्य है जिसका लक्ष्य और लक्ष्य प्राकृतिक रूप में हुआ है। यह कहता है कि "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है जो अपने लक्ष्य के ही

राजकीय जीवन के लिए बना है।" अपनी स्वाभाव-अपेक्ष भौतिक, मरिक्तािक एवं वैज्ञानिक आवश्यकताओं को मनुष्य के लिए स्वामी तथा दास और स्त्री एवं पुरुष एक दूसरे की ओर आकृष्ट होते हैं। इस प्रकार उनके उपयोग तथा भोग से परिवार का जन्म होता है। परिवार प्रकृति द्वारा स्थापित मनुष्य की दैनिक आवश्यकताओं को पूरा करने वाली कथा है। जब परिवारों का एकत्रीकरण हो जाता है और इन समूहों का उद्भव दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के कुछ अधिक हो जाता है, तब एक ग्राम का अस्तित्व बनता है। सबसे अधिक प्राकृतिक ग्राम बनी है जहाँ एक ही माता के दूध से बने बच्चे और बच्चों के बच्चे रहते हैं। गर्भ-जन्म, मरण ग्राम एकत्रित और संगठित होकर एक समाज के रूप में इतने बड़े हो जाते हैं कि वे अपनी आवश्यकताओं के बारे में व्यवस्था आत्म-निर्भर हो जाते हैं, तब मगर अपना राज्य का जन्म होता है। इस प्रकार राज्य का जन्म मनुष्य की भौतिक कुल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होता है और वह इसीलिए कायम रह जाता है कि वहने व्यक्ति को जो कुछ जीवन सम्भव है उसे समाज या राज्य के जन्म के अनुरूप सर्वप्रथम परिवार में देखने को मिलते हैं। एही कारणों के गर्भ-जन्म, विकसित एवं प्रसफुटित होने के साथ वे राज्य का जन्म होता है। स्पष्ट है कि "राज्य प्रकृति की जन्म है और अन्तिम स्थापना में ही राजनीतिक प्राप्ति है। जो व्यक्ति अपनी प्रकृति से (य कि उदीर के) बिना किसी राज्य के जीता है-वह मनुष्य की श्रेष्ठि के वा तो ऊपर है या नीचे।"¹

घरालू के उद्घोषित नियम से उनका यह मत स्पष्ट हो जाता है कि राज्य विकास का परिणाम है और इन विकास का जन्म परिवार से प्रारम्भ हुआ है। तीन सम्बन्ध एवं अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के कारण नर-मादी एकट्ठे रहते हैं। भौतिक वंशों की बुराई के लिए दासों को जान पर लगाया जाता है, जिससे स्वामी-सेवक के सम्बन्धों की उत्पत्ति होती है। इस तरह प्रजनन (जीन सम्बन्धों) एवं अल्प-भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्त्री-पुरुष, स्वामी-सेवक धर्म के जन्म मान रहते हैं तथा परिवार एक स्वाभाविक समूह है। यह मनुष्य की प्रकृति और एकता का स्वाभाविक परिणाम है। मानव की राजनीतिक जागरूकता के दूरवा प्रभाव पाता है ग्राम। परिवारों का समुदाय या समूह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ज्ञान का रूप प्राप्त करता है। एक दूसरे के साथ के लिए बड़ी हुई मायिक समस्याओं की पूर्ति के लिए तथा एक सम्बन्ध के पारस्परिक प्रेम के कारण एक दूसरे पर निर्भर रहते हुए परिवार ग्राम को जन्म देते हैं। विकास का यह जन्म बनना रहता है और धर्म के शक्ति के मगर-राज्य का जन्म होता है। जहाँ हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही धर्म ज्ञान समूह का नर नगर-राज्य के रूप में एकत्रित हो जाते हैं। इस मगर-राज्य से परिवार और ग्राम की आवश्यकताएँ पूरी होने के साथ-साथ कुछ अन्य आवश्यकताएँ भी पूरी होती हैं।

जाति है। वह उन लोगों का समूह है जो एक दूसरे से मिल होते हुए भी सामान्य आवश्यकताएँ रखते हैं और वस्तुओं एवं सेवाओं के वारम्बारित आदान-प्रदान द्वारा उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रकृति से प्रेरित होते हैं। भारत के ग्रामों में "जो व्यक्ति राज्य के बाहर रहता है वह वा भी पशु है भयभीत देवता।"

राज्य की प्राकृतिक मानने के पक्ष में भारत निम्नलिखित कारण प्रस्तुत करता है—

(1) भारत का कहना है कि "यदि जिन संस्थाओं पर राज्य आधारित है वे हमेशा स्वाभाविक हैं तो निश्चय ही उन स्वाभाविक संस्थाओं का विकसित रूप भी स्वाभाविक होगा।"¹ कोई भी विचारक, यहाँ तक कि सोवियट भी परिवार को मनुष्य पर खड़ी हुई कृत्रिम व्यवस्था नहीं मानते। परिवार स्वाभाविक व्यवस्था प्राकृतिक प्रकृति की परिणति है। वह मानव के आत्मसमक जीवन की अभिव्यक्ति है, इसीलिए वह स्वाभाविक है और मानव-विकास के मार्ग में बाधक न होकर सहायक है। "यह एक पोखरे के समुद्र है, निचले की तरह नहीं।"² यदि परिवार एक स्वाभाविक संस्था है तो राज्य और भी अधिक स्वाभाविक हुआ क्योंकि परिवार की इस स्वाभाविक व्यवस्था से ही राज्य का विकास हुआ है।

(2) भारत के अनुसार राज्य एक स्वाभाविक संस्था इसीलिए भी है कि राज्य का काम मनुष्य की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति और उसके व्यक्तित्व के सभी योग्य विकास के लिए हुआ है। उसके ग्रामों में, "मानवीय आवश्यकताओं पर आधारित मानव समुदाय के बने हुए घेरे की जरूरत परिपूर्ण राज्य है।"³ सामूहिकता मनुष्य का एक स्वाभाविक गुण है। इसी गुण के कारण मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति सामूहिक स्तर पर करता पाहुता है। परिवार और सामान्य विकास के लिए आवश्यक समस्त सुविधाओं, साधनों या आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करते, परन्तु के निरंतर नगर राज्य में परिणत होते हैं जिसमें मनुष्य की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है। आत्म-निर्भरता (Self-sufficiency) प्लेटो और भारत के अनुसार केवल राज्य में ही प्राप्त हो सकती है। 'आत्म-निर्भरता' से तात्पर्य केवल आर्थिक स्वतन्त्रता से ही नहीं है, बल्कि प्लेटो और भारत का हमसे अभिप्राय यह है कि राज्य उन समस्त स्थितियों और साधन-संसाधनों की पूर्ति भी करता है जो व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए आवश्यक है। समाज के साथ जैसे निम्नतर रूप अवस्थित केवल इसलिए नहीं हैं कि वे मनुष्य की समस्त दृष्टिकोण आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते, बल्कि इसलिए है कि वे उसकी नैतिक आवश्यकताओं की अनुचित रूप से पूर्ति नहीं कर पाते। इनकी पूर्ति केवल एक

1. Aristotle : "If the earlier forms of society are natural so is the state, for it is the end of them and the nature of a thing is end."

2. "Therefore it does not thwart human growth but fosters it. It is like a nest not like a cage." —Foster : *Elements of Political Thought*, p. 128

3. Aristotle : "The state is the culmination of widening circles of human association as human wants."

राजनीतिक समाज में, जो कि व्यापक समाज से अलग है, हो सकती है। मनुष्य की नैतिक प्रकृति का पूर्ण विचार राजनीतिक चिन्ता में हो सम्भव है जो कि व्यापक चिन्ता से भिन्न है।¹

(ii) मनुष्य की प्रकृति में निर्यास के समुद्र निहित है। चिन्तित उसका स्वभाव है। मनुष्य की यह निराशावादी प्रकृति एक जति है जो उसे सदैव किसी नैतिक लक्ष्य की ओर प्रेरित और प्रेरितमान बनाती है और यह लक्ष्य राज्य ही है।

इस प्रकार प्रारम्भ की मान्यता है कि राज्य एक सर्वज्ञ स्वाभाविक व्यवस्था प्राकृतिक मर्यादा है। मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है और राज्य एक स्वाभाविक व्यवस्था। वे दोनों कल्प एक दूसरे में निहित हैं। राज्य मनुष्य का स्वाभाविक मध्य है। यहाँ एक अन्तर्लनीय बात यह है कि मनुष्य की राजनीतिक प्राणी बनाने वाली शक्ति उसकी भावना-शक्ति है। मनु मनु दून-बागी (Gregarious) है, विन्दु केवल मनुष्य ही राजनीतिक प्राणी है क्योंकि उसका स्वाभाविक लक्ष्य राज्य है और केवल उसे ही भावना-शक्ति प्राप्त है। अपनी इन शक्तियों के कारण ही मनुष्य गुण और समुच्चय एवं भाव और सम्भाव में विभक्त करने में सक्षम है। भाव के कारण ही वह एक दूसरे के सुख-दुःख की वेदना का अनुभव कर सकता है। आहार, निद्रा, मरण, वैधुन आदि प्रकृतियों की दृष्टि में ही मनुष्य और अन्य पशु में कोई भेद नहीं है। मनुष्य की विशिष्टता उसके विवेक और उसकी भावना-शक्ति में है। राज्य में ही मनुष्य की प्रकृति से प्रवृत्त करने की शक्ति का व्यवहार किया है। व्यक्ति विकसित होकर राज्य में ही उस परम शक्ति तक पहुँचता है और उन कार्यों का नवी प्रकार सम्पादन कर सकता है जिनके लिए प्रकृति में व्यवस्था निर्धारित किया है। ऐसे स्थिति वास्तविक व्यवस्था स्वाभाविक होती है और इसीलिए राज्य स्वाभाविक व्यवस्था है। अन्य प्राकृतिक व्यवस्थाओं में राज्य की अभावता इसी में है कि यहाँ राज्य के लक्ष्य राजनीतिक जीवन विभागे हैं यही राज्य प्राकृतिक व्यवस्थाओं के बीच राजनीतिक जीवनसाधन नहीं बन सकते और न उनमें मनुष्यों की प्रति प्रतिष्ठ, बुद्धि-व्यवस्था और भावना-शक्ति पाई जाती है।

(3) राज्य सर्वोच्च समुदाय के रूप में है (The State or the Supreme Association)—प्रारम्भ राज्य की समुदायों का समुदाय ही ही शक्ति सर्वोच्च समुदाय मानता है (The State is not merely an association of associations, it is the supreme association)। राज्य सर्वोच्च समुदाय इसलिए है कि वह सब के ऊपर है और अन्य सब इसके सब में निहित हुए हैं। निम्न व्यवस्था के समुदाय मनुष्य की विभिन्न भावना-शक्तियों की प्रति करने हैं। उदाहरण स्वरूप सम्पूर्ण मनुष्य की भावनाओं की समुचित कर्तव्य है जो व्यापक मर्यादा उसकी उत्तर-प्रति के साधन बुराती है। अन्य स्वाभाविक मर्यादा उसकी अन्य व्यवस्थाओं को बना धर्म, विद्या आदि की प्रवृत्त करती है। वैयक्तिक राज्य इन सबमें बड़ी और ऐसी

संसा है जिससे सामाजिक विकास का चरण रूप निहित है, जो मनुष्य की बौद्धिक, नैतिक, साप्ताहिक सभी साधनसक्तियों की पुनः करता है। इसके विकास में वेग संस्थाओं का विकास निहित है। राज्य इसलिए सर्वोच्च समुदाय है कि इसका मध्य ही सर्वोच्च है और वह है—घरने सदस्यों के जीवन को सुख बनाना। राज्य घरने सदस्यों की सदस्यता जीवन की प्राप्ति के लिए उद्योग करता है। जहाँ घन्य मनुष्यों मनुष्य को धार्मिक रूप से साधननिर्भर बनाती है, वहाँ राज्य उसे पूर्ण रूप से स्वायत्तता बनाता है। प्रत्येक घन्य समुदाय का उद्देश्य किसी विशेष एवं निम्नतर पुनः की प्राप्ति करना है जबकि राज्य का उद्देश्य परम सुख और समुदाय विकास की प्राप्ति करना है। सदस्यता जीवन की प्राप्ति के लिए घन्य संस्थाओं में कम अवसर मिलते हैं जब कि राज्य में इस सुखी जीवन की प्राप्ति समुदाय रूप से होती है। सुख जीवन के अनन्त मानव की नैतिक और बौद्धिक विकास सम्मिलित है। इसे पूर्ण करने का घन्य समुदायों की ध्येया राज्य में अधिकतम बीच है भवः निश्चय ही राज्य सर्वोच्च एवं सर्वोत्तम संस्था है।

(4) राज्य मनुष्य से पहले (The State is prior to the individual)—

घरातू का यह भी कहना है कि राज्य मनुष्य से पहले है। सही और वर घरातू का यह कथन विविध वा प्रतीत होता है क्योंकि राज्य का जन्म मनुष्यों के द्वारा हुआ है। व्यक्तिों के प्रभाव में राज्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जब केवल मनुष्य के हित के लिए ही राज्य का जन्म हुआ है तब राज्य मनुष्य से पहले कैसे बना? यह भी घरातू स्पष्ट करता है कि ऐतिहासिक विकास की दृष्टि में घरातू में व्यक्तिों से निम्नतर परिवार वन, परिवारों में राज्य और राज्य में राज्य। इस तरह राज्य-कर्म की दृष्टि में व्यक्ति पहले है और राज्य सब में अन्त में है। तब वह मानता कि राज्य "मनुष्य से पहले है या व्यक्ति का पूर्वगामी है"—इससे क्या उत्तर ही सारा है?

घरातू में घरातू के उत्तरोक्त कथन को ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं लिया जाना चाहिए। वह मनोवैज्ञानिक एवं तर्क-सम्मत सम्मन्ध की दृष्टि में राज्य को व्यक्ति का पूर्वगामी मानता है। उसका तर्क है कि राज्य एक समग्रता (Whole) है और व्यक्ति इसका घन है अर्थात् राज्य और व्यक्ति वर वही सम्मन्ध है जो शरीर का उसके घनो में होता है। यदि समग्र पहले जाता है और घन बाद में। इसलिए हम मादुम के आधार पर राज्य पहले का हुआ। घरातू ने कहा कि यदि शरीर नष्ट कर दिया जाए तो हृदय घनका घन-कर्म भी अस्तित्व नहीं रहेगा। पापक का पापक का हृदय घनका घन हृदय घनो ही बना में लेकिन सम्मन्ध एवं कर्तव्य की दृष्टि में उसे मादुम में हृदय का घन नहीं कहा जा सकता। किसी भी मनुष्य की परिभाषा उसके कर्तव्य में ही जाती है। स्पष्ट है कि शरीर घनका घनघनो के बिना इसके विभिन्न घनो वर कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। व्यक्ति के सम्मन्ध में भी वही बात लागू होती है। यदि व्यक्ति को राज्य से विलग कर दिया जाए तो वह स्वायत्तता नहीं हो सकता। व्यक्ति का राज्य से पूर्वक कोई अस्तित्व नहीं है जो व्यक्ति राज्य

धर्म या समाज के बिना रह सकता है और संकेता होने पर भी राजवत्तमी हो जाता है यह धरातु की सम्भावना में, या जो पशु है या पेखत। इस तरह धरातु कदा पाहता है कि जीव के विचार की दृष्टि से व्यवस्था में से पहले होना चाहिए, क्योंकि व्यवस्था के सम्बन्ध में उसके धर्मों की व्यवस्था नहीं की जा सकती। राम एक जैविक इकाई है, अतः उसकी व्यवस्था सम्बन्ध व्यक्ति से पूर्ववर्ती होनी चाहिए। धर्म की व्यवस्था समाज के बिना नहीं की जा सकती। लगभग धर्म समाज के धर्म होते हैं और समाज की धरातु के बिना धर्म महत्त्वहीन है। धर्म के अस्तित्व के लिए समाज का पूर्ववर्ती रूप में उपस्थित होना अनिवार्य है। यही बात व्यक्ति और राज्य के बारे में है। व्यक्ति की परिभाषा और महत्त्व के लिए समाज धर्म या राज्य ही चाहिए। अतः सामाजिक दृष्टि से राज्य व्यक्ति से पहले धर्म है और प्राकृतिक है।

(5) राज्य अन्तिम एवं पूर्ण संस्था (State as the final and perfect form of human association).—धरातु की हीमा तत्कालीन व्यवस्था में अन्तिम व्यवस्था तक थी। यह व्यवस्था की व्यवस्था-समाज का अन्तिम अनुपात और अनुपात का अन्तिम लक्ष्य मानता है। परिवार और राज्य के बाद राज्य में मानव के विकास-लक्ष्य की प्राप्ति होती है। धरातु के अनुसार व्यवस्था के बाद राज्य का कोई धर्म कार्य नहीं रह जाता। उसकी दृष्टि में यह सामाजिक विकास का अन्तिम रूप है। परिवार में व्यवस्था होने वाला विकास नगर राज्य के रूप में परिवर्तित हो जाता है। यद्यपि धरातु के सामर्थ्य ही धरातु के नगर राज्य की व्यवस्था करने के लिए (Phillip) ने धर्म सामाजिक की व्यवस्था कर दी थी किन्तु व्यवस्था की वैचारिक दृष्टि में व्यवस्था वाला धरातु सम्भवतः इस परिवर्तन के महत्त्व को नहीं मान सकता। बाद में धर्म होने वाले राष्ट्रीय राज्य का धर्म यह नहीं देख सकता। सामाजिक रूप के विकासक्रम राज्य तक उसकी दृष्टि तत्कालीन धर्म में नहीं पहुँच सकती। उसने नगर की ही सामाजिक विकास का अन्तिम रूप मानते हुए उसे धरातु के सामाजिक विकास का अन्तिम लक्ष्य स्वीकार किया।

(6) राज्य का जैविक स्वभाव (Organic Nature of the State).—धरातु अपनी लक्ष्य प्रधान नीतिशास्त्र के कारण यह प्रतिपादित करता है कि राज्य का स्वभाव जैविक है क्योंकि दूसरे शब्दों में राज्य की प्रकृति एक जैविक, जीवधारी के समान है। प्रत्येक व्यवस्था जीव का विकास सामाजिक रूप से होता है। उसके कार्य उसके विभिन्न धर्मों द्वारा किए जाते हैं। व्यवस्था के विभिन्न धर्मों में कार्य का अन्तिम होना है और वे उन धर्मों की कार्य के लिए धरातु पर आधारित होते हैं। यदि धरातु का कोई धर्म अनुपात से बड़ा बड़ा होता है तो परिणामस्वरूप व्यवस्था धरातु निर्मित हो जाता है। धर्म से ही धर्म राज्य पर भी धरातु होती है। राज्य का भी सामाजिक रूप से विकास होता है। उसके भी धर्म कार्य उसके धर्मों (व्यक्तियों) द्वारा किए जाते हैं। विभिन्न धर्मों में कार्य का अन्तिम होना है

घोर से समस्त पटक राज्य के लक्ष्य की प्राप्ति हेतु अपने-अपने कार्य करते हैं। जिस तरह नाना प्रकार के धातु के मिलकर सामग्र्यी जीवन का निर्माण होता है, उसी तरह राज्य भी नाना प्रकार के धातु (व्यक्तियों, समुदायों) के मिलकर बना हुआ एक सम्मिश्र अवस्था समुदाय (Compound of whole) है। जिस तरह समस्त धातु का महत्व घोर उनकी उपयोगिता उनकी नैतिक एकता से है, उसी तरह व्यक्तियों घोर समुदायों का महत्व घोर महत्व भी राज्य की उपयोगी शक्ति के कारण है। राज्य के विभिन्न पटक अपने अस्तित्व के लिए राज्य पर आश्रित हैं। राज्य के अभाव में उनका विनाश एक स्वाभाविकता होगी।

राज्य के नैतिक स्वरूप में इस प्रकार वास्तव राजते हुए भी अरस्तू राज्य की पूर्ण तरह जीवन नहीं मानता। होमर (Homer) घोर उसके अनुयायियों की शक्ति यह राज्य की प्रतिपाली (Super beauty) भी स्वीकार नहीं करता। यह व्यक्ति को राज्य के पूर्णतः अज्ञान नहीं बनाता। व्यक्ति से राज्य की केवल ऊपर मानते हुए यह कहता है कि राज्य के बिना व्यक्ति की कोई कल्पना सम्भव नहीं है क्योंकि राज्य ही में मानव-व्यक्तित्व का विकास सम्भव है। अरस्तू राज्य की केवल व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास के लिए आवश्यक मानता है। उसके अनुसार राज्य का अभाव कोई स्वतन्त्र उद्देश्य नहीं। उसका उद्देश्य केवल नागरिकों का सुखार्थन एवं नैतिक विकास ही है। इस तरह राज्य के स्वरूप की नैतिक बताते हुए भी अरस्तू अराजकतावादी व्यक्तिवाद और निरंकुशतावाद (Anarchic Individualism and Absolutism) दोनों के दोषों से मुक्त है।

(7) राज्य का आत्म-निर्भर (Self-sufficient) होना—अरस्तू राज्य की एक बहुत बड़ी विशेषता यह मानता है कि वह आत्म-निर्भर इकाई है। आत्म-निर्भरता का सामान्यतः अर्थ यह होता है कि अपनी आवश्यकताओं की रचना ही पूरा कर केना लेकिन अरस्तू ने पारिवारिक अर्थ में इसका प्रयोग किया है। यह अपने 'मावार मानव' में निश्चय है कि "आत्म-निर्भरता यह गुण है जिसके द्वारा स्वतः जीवन संयोजन बन जाता है, तथा उसमें कोई अभाव नहीं रह जाता।"¹ आत्म-निर्भर में उसका अर्थ केवल रोटी, कपड़ा और घराने की समस्त सुखभरने मात्र से नहीं है। 'आत्म-निर्भर' का अर्थ है—कोई कमी न होना। राज्य में, अरस्तू के अनुसार, मनुष्य केवल अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की ही पूर्ति नहीं करता बल्कि अपना जीवन बिताता है। उसका आर्थिक, नैतिक एवं सामाजिक विकास होता है। राज्य में मनुष्य सुखी एवं सम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत करता है। नगर राज्य की 'आत्म-निर्भर' कहने से अरस्तू का बड़ी अभिप्राय है कि नगर राज्य उन समस्त विधियों और आवश्यकताओं की पूर्ति करता है जो व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए आवश्यक है। यह अपने का कार्य ही यह भी करते हैं। मनुष्य का अनुप्राण इसी में है कि वह अपनी विविध गुणों का विकास करे और वह केवल 'आत्म-निर्भर' राज्य

में ही सम्भव है। इसीलिए बरन्तू का कहना है कि "राज्य की उत्पत्ति जीवन की आवश्यकताओं मान के कारण हुई, किन्तु उसकी सत्ता मनुष्य जीवन की सम्पत्ति के लिए बनी हुई है।" बरन्तू के 'आत्म-निर्भर' राज्य के विचार को स्पष्ट करते हुए फोर्स्टर ने लिखा है—"समाज का एक मात्र सटीक विचार केवल इसीलिए व्यवस्थित नहीं है कि वह मनुष्य की इष्टि-व्यवस्था आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता बल्कि इसलिए कि वह उसकी बौद्धिक आवश्यकताओं की भी समुचित पूर्ति नहीं कर सके इनकी पूर्ति केवल एक राजनीतिक समाज में ही (जो कि आर्थिक समाज से भिन्न है) हो सकती है। मनुष्य की बौद्धिक प्रवृत्ति का पूर्ण विकास राजनीतिक विचार में ही सम्भव है जो कि आर्थिक विचार से भिन्न है।"¹

(8) राज्य का एकत्व और बहुत्व (Unity and Plurality of the State)—

प्लेटो ने आदर्श राज्य की एकता बनाए रखने के लिए एकत्व (Unity) पर बहुत बल दिया है। 'राज्य नागरिकों की सभी बातों को नियमित तथा नियंत्रित करे' यह प्लेटोवाद का सिद्धान्त है। इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसके सम्बन्धित और विपरीत के सम्बन्धित तत्त्व का समर्थन किया है। राज्य में व्यवस्थापक शक्ति (Organism) की भाँति एकता होती चाहिये। जिस तरह वेर में बीजा चुम्बने पर जारे शरीर की उसकी भाँति एकता होती चाहिये। जिस तरह वेर में बीजा चुम्बने पर जारे शरीर की उसकी समुच्चय होती है, उसी प्रकार की एकता की समुच्चय जारे राज्य की व्यवस्था रखने के नागरिकों में हो ही चाहिये। बरन्तू बरन्तू ने राज्य की एकता की समर्थन करने के लिए इसके विपरीत विचारों को समर्थन दिया है। उसका सिद्धान्त है कि राज्य नागरिकों की कुछ बातों का नियंत्रण एवं नियमन करे तथा अन्य कुछ बातों के लिए यह कार्य की कुछ बातों का नियंत्रण एवं नियमन करे तथा अन्य कुछ बातों के लिए यह कार्य की पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करे। यह राज्य की एकता का समर्थन नहीं है। उसने राज्य में विविधता में एकता (Unity in Diversity) का समर्थन किया है। उसकी दृष्टि में एकता ही राज्य का आदर्श स्वरूप नहीं है। यदि राज्य में प्लेटो के विचारों के अनुसार एकता ही राज्य का आदर्श स्वरूप नहीं है। बरन्तू के अनुसार मनुष्य के समुच्चय एकता ही नहीं तो यह राज्य, राज्य नहीं रहेगा। बरन्तू के अनुसार मनुष्य के राज्य का स्वरूप बहुत्व (Plurality) के है।² उसके मत में राज्य विभिन्न प्रकार के तत्वों से मिलकर बना है। यदि उसकी विविधता का समर्थन करके एकता स्थापित की जाती है तो राज्य का प्रत्यक्ष ही नाश हो जाता है। जिस प्रकार एक चित्र विभिन्न रंगों से मिलकर बना है तथा जिस प्रकार समीप की दृष्टि राखी व दूरी के दृष्टि में होती है, जिस प्रकार वे राज्य की एकता उसके विभिन्न तत्वों के समुचित समर्थन पर निर्भर करती है। बरन्तू अपने विविधता में एकता के विचार के मत में निम्नलिखित एवं समर्थन करता है—

(क) राज्य एक समुच्चय है। समुच्चय के निर्माण के लिए विभिन्न तत्वों के समर्थन का ही वास्तविकता है। विविधता में एकता के उच्च प्लेटो की समर्थन का समर्थन होता है। यदि राज्य की एकता इस सोच तक बढ़ाई जाए कि उसकी

1. Foster : Masters of Political Thought, p. 179.
2. Barker : Politics, p. 40-42.

विभिन्नता समाप्त हो जाए तो राज्य एक बहुत ही निम्न स्तरों का समुदाय हो जाएगा। राज्य वास्तव में एक सर्वोच्च समुदाय है और हमकी सर्वोच्चता तथा एकता सभी विवर रद्द नकनी है जब विभिन्नता में एकता के सिद्धान्त का प्रामाण किया जाए।

(घ) प्रत्येक संस्था के सदन की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि उस संस्था का प्रतिष्ठान बना रहे। इसलिए राज्य के सदन की बुद्धि के लिए राज्य का कार्य प्रवृत्ता अनिवार्य है। सरलू के मतानुसार यदि राज्य की पूर्ण एकता स्थापित करने का प्रयास किया जाएगा तो उसका परिणाम यह होगा कि अन्तर्गत यह विभिन्नताओं में विहीन होकर एक व्यक्ति का राज्य रद्द जाएगा।

(ग) राज्य का प्रत्येक सदन को सर्वोच्चताओं की बुद्धि करना है। इस हेतु राज्य में विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों का रहना आवश्यक है। राज्य की पूर्णतया एकता में सब उद्देश्य की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि इससे विभिन्नताओं का खोब हो जाएगा। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि वही राज्य स्वयंसेवा हो जाएगा और न राज्य में इसके सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकेगी।

सरलू के मत का सार यही है कि राज्य में एकता होनी चाहिए किन्तु वह ऐसी के विचारानुसार व्यक्तियों के विभिन्न क्षेत्रों का प्रत्येक करने स्थापित नहीं होनी चाहिए, यद्यपि विभिन्न प्रकार के समुचित समस्त द्वारा स्थापित होनी चाहिए।

(9) राज्य के उद्देश्य और कार्य (The Aims and Functions of the State) — सरलू का विश्वास है कि मनुष्य का उद्देश्य जीवन ही नहीं यद्यपि एक पक्षों और सौष्ठव जीवन की प्राप्ति है और इस सौष्ठव जीवन की प्राप्ति करना राज्य का उद्देश्य है। राज्य सदस्यों जीवन की प्राप्ति के लिए मनुष्यों का एक वैज्ञानिक संगठन है अतः उसका सदन अपने सदस्यों की प्रतिष्ठान अन्तर्गत करता है। मनुष्य की वृद्धि अन्तर्गत अन्तर्गत है और राज्य का कार्य अन्तर्गत अन्तर्गत प्रवृत्तियों की अन्तर्गत रूप में अन्तर्गत है। राज्य को चाहिए कि वह मनुष्य को भला और सदस्यों बनाने तथा उसके वैज्ञानिक और वैज्ञानिक मूल्यों के विकास का प्रयत्न करे। सरलू का स्पष्टतया है कि "राज्य की सत्ता उत्तम जीवन के लिए है न कि केवल जीवन व्यतीत करने के लिए।"¹

सरलू द्वारा प्रतिपादित राज्य के कार्य उसकी राज्य की इस परिभाषा में ही निहित है—“राज्य परिवारों तथा क्षमों का एक पूर्ण एवं स्वयंसेवा संगठन है जिसके द्वारा हम मनुष्य एवं सम्मानपूर्ण जीवन की प्राप्ति करते हैं।” अतः उसके अनुसार राज्य को ऐसे कार्य करने चाहिए जिससे मनुष्य की उत्तम मूल्यों की प्राप्ति हो। सरलू, यदि एक स्पष्टतया वैज्ञानिक व्यक्तिवादियों की भाँति राज्य के कार्यों को अपने सदस्यों के अधिकारों की रक्षा करना और स्वायत्त प्रयत्न करने तक ही सीमित नहीं

1. "The end of the State is not mere life; it is, rather a good quality of life."
—*Annals of Politics* (Baker's Trans.), p. 118.

करता और न ही वह राज्य को प्रभाव के बचाने वाला संगठन मानता है। उसकी दृष्टि में राज्य के कर्तव्य सकारात्मक और रचनात्मक (Positive and Constructive) है। वह बेव्यव जीवन को सकारात्मक तथा निष्पक्षतात्मक नहीं मानता। वह चाहता है कि राज्य मानव जीवन को सुखी बनाने के लिए व्यापक कार्य करे, मानव-जीवन को नैतिक और चरित्रमय बनाये। सरकार के विचार में यदि राज्य केवल इतना ही कार्य करता है कि उसके द्वारा एक दूसरे के विरुद्ध कोई संपराय न करे, एक दूसरे को कोई हानि न पहुँचावे तो इससे राज्यों के कार्यों की प्रभाविता नहीं होती। ऐसी अवस्था की राज्य अब तक नहीं बना या संभव जब तक वह मनुष्यों की प्रकृति, भला और सदगुणी बनाने के प्रधान कर्तव्यों को पूरा न करे। सरकार ने 'पॉलिटेनिक्स' की सीखी पुस्तक के नये सम्पादन में उदाहरणों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि राज्य की नागरिकों की संपाद के लिए प्रचलन-जीवन होना चाहिए और उन्हें सम्भारित और सदगुणी बनाना चाहिए। राज्य यदि दूसरे के अधिकारों के व्यवहार करने वाले कार्यों की रोकता है और अन्य बुरे कार्यों की नहीं रोकता तो वह करने कर्तव्य का पूरा पालन नहीं करता। राज्य का नवम धर्म नागरिकों के ऊँची नदियों में गरी है जो दूसरी के लिए चाहिए ही, बल्कि उसका आन्तरिक जीव मनुष्य सम्मान करने नागरिकों को सम्भारित बनाने में है। नाक में बुरे काम कर ही न सके। सरकारों को केवल रण के धर्म से ही संपराय से विरक्त नहीं करना चाहिए, किन्तु राज्य को उसे ऐसा सम्भारित बना देना चाहिए कि वह संपरायों की ओर प्रवृत्त ही न हो।

संस्कृत के अनुसार मनुष्य मृत्यु और शोक दोषों का सम्मिश्रण है। यदि हमके शरीर पर मृत्यु न पड़ा जाए तो मनुष्य भी सबसे बड़ा पशु है। मृत्यु संसार में स्वाभाविकता स्थापित करना और व्यक्ति में उसके शरीर को दूर कर उच्च जीवन की सुविधाएँ प्रदान करना राज्य का कर्तव्य है। राज्य मनुष्य के वैयक्तिक जीवन में एक प्राध्यात्मिक कल्याण है। इसका कर्तव्य शक्ति के उच्च जीवन का विकास करना है।

[illegible]

गीत स्वर से पब्लिकर राष्ट्र का उत्पादन कर करने प्रथम प्रतिकूल बढ़ाने का भी वसपाती न था । यह बिनीफोन (Xenophon) के इस विचार का भी समर्थन था कि "मानव-मात्र का यह उत्पन्न नियम है कि विभिन्न राज्यों के निवासियों की वे तथा सम्पदा पर नियंत्रणों का अधिकार होता है ।" दास के बारे में अपने विचार प्रकट करते हुए धरातु ने 'पॉलिटिक्स' में लिखा है—“स्वाधी केवल दास का स्वाधी है, यह (स्वाधी) उनका दास नहीं है जबकि दास केवल अपने स्वाधी का दास ही नहीं बल्कि पूर्ण रूप से उसी का है । जो अपनी प्रकृति से ही अपना नहीं है बल्कि दूसरे का है और फिर भी अनुपम है, यह विचार ही स्वभाव से दास है । यह दूसरे की सम्पत्ति है या उसका कर्म है और एक कर्म की परिभाषा यह है कि वह कार्य करने का केवल एक साधन है जो कर्म करने वाले के पुण्य है ।”

धरातु का कहना है कि जिस प्रकार मनुष्य सम्पत्ति रखता है उसी प्रकार यह दास भी रखता है । उसके कठानुसार सम्पत्ति दो प्रकार की होती है—

1. सजीव (Animate), 2. निजीव (Inanimate)

निजीव सम्पत्ति में मकान, भेड़ और अन्य अचल सम्पत्ति आती है जबकि सजीव सम्पत्ति में हाथी, घोड़े अन्य वगैरे एवं दास आदि सम्मिलित हैं । किसी भी परिवार की सक्रियता और उसके कल्याण के लिए इन दोनों ही प्रकार के उपकरणों का होना आवश्यक है ।

धरातु दास को एक पारिवारिक सम्पत्ति मानता है । उसकी दृष्टि में परिवार के लिए दास अधिक आवश्यक है, क्योंकि यह एक सजीव सम्पत्ति है जो परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक है । “सम्पत्ति सातव में सजीव और निजीव उपकरणों का समूह है । दास सम्पत्ति का सही उपकरण है और जिस प्रकार कुछ उपकरण अन्य उपकरणों के बड़े-बड़े होते हैं उसी प्रकार दास, जो कि सजीव उपकरण है, अन्य निजीव उपकरणों की तुलना में प्रमुख है । निजीव उपकरणों से सभी काम लिया जा सकता है जब उन्हें पहले सजीव उपकरण मिलाना हो ।”¹ दास के सम्बन्ध में धरातु ने विचारों को प्रकट करते आता मार्कर का यह कथन उल्लेखनीय है कि “उत्पादन और कार्य करने में भी अन्तर है, उनका आधार धरातु की यह विचारधारा है जिसके अनुसार उत्पादन व्यक्ति के उस कारण का परिणाम है जो उसे उस कार्य की सम्पत्ति के लक्ष्य मिलता है । किन्तु यह कार्य उस सेवा के रूप में दिया जाता है जो उसका परिणाम दास के सम्पत्ति होने पर, दास की सम्पत्ति के अधिकृत और कुछ नहीं होता । जोर भी इनका एक काम है न कि काम का एक परिणाम, यद्यपि एक दास काम के लक्ष्यवरण के लक्ष्य केवल एक केवल है ।”

दास प्रथा के आधार

धरातु ने इस प्रथा के नैतिक और शैविक दोनों पहलुओं का समर्थन करते हुए उसके अधिकार की निम्नानुसार विवेक किया है—

1. Aristotle : Politics (Barker's Trans.), pp. 10-11.

1. वास्तव प्रकाश एक स्वाभाविक व्यवस्था है—धरमू के मतानुसार वास्तव प्रकाशकृतिक है। "प्रकृति ने मनुष्यों को छोटे रूप में ही मनुष्यों ने बनाया है, जिसकी आवश्यकताओं से प्रकृति ने शासन करने में धारणा बनाने का सिद्धान्त बनाया है। जो मनुष्य वास्तविकता बनाने के लिए पैदा हुए हैं वे प्रकृति के दास हैं और ऐसे मनुष्यों को पशुपक्षा में रखना स्वाभाविक है।" और चूंकि कुछ व्यक्ति प्रकृति से दास होते हैं और दूसरे स्वतन्त्र होते हैं, धर्म स्पष्ट है कि जहाँ किसी व्यक्ति के लिए दासता लाभप्रद हो नहीं उसे दास बनाना स्वाभाविक है।¹ धरमू का कहना है कि प्रकृति ने सर्वत्र ही यह नियम वृष्टिबोधर होता है कि उत्कृष्ट-निकृष्ट पर शासन करता है। मनुष्य में स्वाभाविक रूप से असमानता होती है। धर्म मनुष्य एक ही बुद्धि, योग्यता व्यवस्था को एक केन्द्र के चारों ओर घुमाए रखता है। कुछ व्यक्ति श्रेष्ठतम परिस्थितियों में भी मूर्ख और मनुष्य बनते हैं। वास्तव में प्राकृतिक असमानता का परिणाम है। कुछ और बुद्धिहीन व्यक्ति दास बनने के योग्य हैं और कुछ तथा बुद्धिमान व्यक्ति स्वामी बनने के। धरमू कहता है कि विषमता प्रकृति का नियम है, कुछ व्यक्ति धर्म से स्वाधीन हो कुछ धर्म धर्म से दास होते हैं। कुछ व्यक्ति शासन करने के लिए पैदा होते हैं तो कुछ शासित होने के लिए। कुछ दास देने के लिए जन्म लेते हैं और कुछ दास बनने के लिए। दास देने का मत स्वामी छोड़-दास बनने वाले दास होते हैं। शासक और शासित का स्वाधीन और केन्द्र का वह अन्तर जारी रखे बिना प्रकृति से व्याप्त है। प्रकृति ने जिन्हें स्वाधीन बनाया है उनसे बौद्धिक बल की और जिन्हें दास बनाया है उनसे शारीरिक बल की प्रधानता होती है। धरमू के मते में "प्रकृति स्वतन्त्र पुत्र और दास के शरीरों में भेद करता चाहती है, धर्म, वह एक (दास) के शरीर को आवश्यक सेवा-दासों के लिए बनवाने बनाती है तथा स्वतन्त्र पुत्र के शरीर को स्वतन्त्र और सीधा बनाती है, चूंकि वह शारीरिक धर्म के लिए पैदा होता है।" इस तरह बौद्धिक असमानता और शारीरिक समता के आधार पर वह दास-स्वामी सम्बन्ध प्रारम्भ हुआ।

2. वास्तव प्रकाश दोनों स्थितियों को व्याख्याती—धरमू दास प्रकाश की इस वृष्टि में भी व्याख्याती करता है कि वह न केवल स्वाधीन ने लिए सन्तुष्ट दास के लिए ही उपयोगी और लाभकारी है। बुद्धिमान और शिकारी-पशुपक्षा की आवश्यकताएँ एक अन्य पुत्रावर कार्य बनाने के लिए तथा धर्म के बौद्धिक और वैज्ञानिक मूल्यों के विकास के लिए समग्र और विशाल ही आवश्यकता होती है। वह व्यवस्था उन्हें सभी शक्ति देता है जब उनकी धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु धर्म धर्म करे। यदि स्वाधीन की शारीरिक और कुछ काम स्वतन्त्र करता रहे तो उनकी वैज्ञानिक और बौद्धिक उन्नति कभी नहीं हो सकती। धर्म की उपकृति के विषयों का निर्धारण और प्रस्तावना तथा मनुष्यों के निर्धारण के लिए स्वाधीन को कर्मकाण्ड समझ चाहिए। धर्म उन्हें पैदा के कार्य कर और उनके धर्म करने के लिए जारी कर उनसे

कार्य के बोध को हल्का करते हैं तथा उन्हें विकास और उन्नति के लिए आवश्यक समय और विश्राम प्रदान करते हैं। वास्तव में जिन प्रकार एक कठोरतम तबीयत की सहाय में उत्तम सुनील की निष्पत्ति नहीं कर सकता, उनी प्रकार एक दुर्बल तबीयत स्वामी शक्तों के बिना सुखी एवं सुमस्कृत जीवनगतन नहीं कर सकता। यही स्वाधी के दृष्टिकोण से दास-श्रवा उचित है।

स्वामी के दास-भाव दास के दृष्टिकोण से भी यह प्रथा उत्तमी ही उचकोमी है। दास निर्बुद्धि और पशोभ्य होते हैं जिनमें समझ और चिन्तन का अभाव होता है। वे समय और प्रान से परिचित नहीं होने एवं उनका सम्बन्ध नहीं समझते हैं जब वे बोध तथा समझी एवं विवेकपूर्ण स्थिति में के मरझते हैं वही। धारम्भ के मय में दास की स्थिति एक कथने के समान है। यदि माता-पिता अपने घर स्थान में वे का अपना समुचित विकास नहीं हो सकता। जिन निर्बुद्धि के प्रभाव में अपना स्थिति का अर्थ (न पाने योग्य) अभाव में वे समुचित कथनों के अपने की प्राप्ति नहीं कर सकते हैं। टीक उनी प्रकार दास भी अचिन्तनीय प्रान्ति होने के कारण अभाव में रह कर अपने प्रेरणा और धर्म-दर्शन प्राप्त करते हैं। उन प्रान्त में धारम्भ प्राप्त करने का दृष्टान्त समुचित करता है। उनका कथन है कि मानवीय अनुमानन न होने के कारण ही काय वस्तु भी अनेक प्रकारों वाले होते हैं और वही काय दासों पर भी पाव होता है।

उन यह धारम्भ के अनुसार दास के बिना स्वामी और स्वामी के बिना दास निष्पन्न, अप्रत्यक्ष तभी प्रकट होते हैं अर्थात् दास-श्रवा समिन्त है। तारीखिक दृष्टिकोण (Historical approach) होने पर भी दास स्वामी के तभीर का एक अंग का जीवात्त है।

3 धारम्भ वैदिक दृष्टि से भी दास-श्रवा की आवश्यकता मानता है। उनका मत है कि स्वामी तथा दासों के वैदिक उत्तर में अर्थात् माया से जेद होता है। स्वामी दुष्टी और दास सुलभित होते हैं। यह स्वामी का कर्तव्य है कि वह दासों के प्रति अनेकपूर्ण और उपायों से उनका दास का साथ है कि वह स्वामी की छात्रा का अर्थन करे। दासों के दुष्टों की दृष्टि होता तभी स्वाभाविक है जबकि स्वामी और दास दोनों का सम्पर्क ही एक स्वामी दास का सम्बन्ध ही। वैदिक के दास के मध्य में दास धर्म (True Virtue of Temporalism) का अर्थनत कभी नहीं हो सकता अर्थात् उनमें अपनी समझ नहीं होती कि वह अपने चिन्तन में अपनी दासवादी या दुष्टादी को अर्थन कर सके। धारम्भ यह एक पथी स्वामी के अर्थन पर कर उनके दासों का अर्थन करते हुए एक प्रकार का मध्य (Derivative Temporalism) प्राप्त कर सकता है। उनके अर्थन मानव-दुष्टों के दुष्टों और

निम्नतर स्तरों के बीच बचन का छोट का प्रश्न नहीं है बल्कि उसने सामने से तुम्हें
क विपक्षर का प्रश्न उठने अन्त में बचन का छोट का प्रश्न है ।

दानता के प्रकार

घरस्तु दात-प्रथा पर विचार करते हुए दानता के दो प्रकार जाना है

1. न्यायिक दानता (Legal Slavery)

2. वैधानिक दानता (Moral Slavery)

जो व्यक्ति जन्म से ही मन्दबुद्धि, अनुमन एवं अयोग्य होते हैं वे न्यायिक
दात (Legal Slavery) होते हैं । किन्ती भी राज्य में इस प्रकार की दानता
न्यायिक दानता है । इनके अतिरिक्त कुछ वे अन्य राज्य को पराजित कर मातृ
ता बन्ती भी दात बनाए जा सकते हैं । कुछ-बन्दिनों की इस प्रकार की दानता
वैधानिक दानता कहलाती है किन्तु इस प्रकार की दानता को घरस्तु पुरान
विधानों पर मान्य नहीं करता । उसके अनुसार पुरान विधानों कुछ में पराजित हो
जाए के बाद भी दात नहीं बनाए जा सकते क्योंकि कठिनी के उन्हें दात नहीं बन्दि
नमाने के लिए वैसा किया है । तर्कनान के परिचित घरस्तु का यह लक्ष्य स्थापना
न करना कर नहीं वैसा-वास की परिधि-वति के बाहर कुनर्क-सा मन्ता है । घरस्तु
न वैधानिक रूप से वैधानिक दानता को समाप्त करता है । यह विभिन्न देशों की
न पुरान विधानों दात बनाने के विधि-नमान परिकार का इस आधार पर विरोध
रहा है कि कुछ वे ऐसे व्यक्ति भी नहीं जा सकते हैं जो वैधिक और वैधिक दुर्लभ
की बुद्धि में उन्नत हो । ऐसे व्यक्ति दात नहीं बनाए जाने चाहिए फिर यदि बाद
में कमजोरी कारणों से भी दात बिल् जाते हैं जब ऐसे कुछ वे बन्दिनों की
न बन्दिन न्यायोचित नहीं कहा जा सकता ।

दात-प्रथा के बारे में घरस्तु का नालचीय व्यवस्था

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि दात-प्रथा का यह प्रश्न होने पर भी घरस्तु इस
प्रश्न में कुछ लोगों मानवीय व्यवस्थाई करता है जिनके कारण दात-प्रथा द्वारा
लौन लने दानताओं और दोषों का कुछ अन्त तक प्रतिकार हो जाता है—

(क) घरस्तु की पहली व्यवस्था यह है कि स्वामी और दात के द्विज ममान
है और दात-प्रथा का उद्देश्य दोनों का ही द्विज साधन है अतः स्वामियों को दात
प्रधिकारी का दुरुपयोग न करने हुए दातों के प्रति ऐसे ही लक्ष्य मन्तीपूर्ण व्यवहार करना
चाहिए । घरस्तु पूरा दात-प्रथा का समर्थक नहीं है । यह दात और स्वामी के सम्मान
को मान्यपूर्ण और अन्तर्निधी के रूप में देखना चाहता है । उसके अनुसार स्वामी
का कर्तव्य है कि दात की वैधिक और वैधिक मुनिधायों का ध्यान रखे ।

(ख) घरस्तु दातों की सहाय करने के पक्ष में नहीं है । यह उनकी सहाय
साधनमानुसार सीमित करना चाहता है ।

(ग) घरस्तु की तीसरी व्यवस्था उसकी यह चाहता है कि दात-प्रथा प्राकृतिक
गुणों के कारण होती है अतः कोई कानूनी पैदा नहीं है अतः इसे दान-प्रमाणिक
होने का रूप नहीं दिया जाना चाहिए । दात की सहाय गर्व ही दात नहीं होती ।

यदि उसमें विवेक-शक्ति है तो वह दास नहीं है। दास को योग्य और बुद्धिमान मनुष्य को मुक्त कर दिया जाना चाहिए।

(घ) अरस्तू का मत है कि समस्त दासों को अपने सम्पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्ति का अधिकार प्रदान करना चाहिए।

अरस्तू की दास-व्यवस्था की आलोचना

(*Criticism of Aristotle's Conception of Slavery*)

अरस्तू ने दास-व्यवस्था सम्बन्धी को विचार प्रकट किए हैं, उनका समर्थन करना बड़ा प्राकृतिक और अनुचित-सा लगता है। दास-व्यवस्था की आवश्यक मानव, समानता और स्वतन्त्रता के सर्वोच्च नीतिक अधिकारों के प्रतिभूत अनुभव होता है। मानवता के आधार पर किसी भी रूप में दास-व्यवस्था सम्भव नहीं है। फिर, अरस्तू द्वारा प्रतिपादित दासता का सिद्धांत स्वयं अपने-बुद्धि को भंग है। अरस्तू की दास-व्यवस्था सम्बन्धी उनका धारणा की आलोचना निम्नलिखित आधारों पर की जा सकती है—

(1) अरस्तू की दासता की परिभाषा के अनुसार कुछ व्यक्ति धात्रा देने के लिए तथा कुछ धात्रा मानने के लिए पैदा होते हैं। कुछ मानव करने के लिए अन्य लेते हैं तो कुछ पाठित होने के लिए। वे दासों और धात्रा-दासक व्यक्ति अरस्तू के मत में दास हैं। यदि इन धारणा को स्वीकार कर लिया जाए तो मानव के भौतिक पुत्र ने अविज्ञान व्यक्ति दास की स्थिति में ला जायेंगे जबकि वास्तव में ऐसा है नहीं।

(2) दास-व्यवस्था प्राकृतिक नहीं है। मनुष्य के विभिन्नता तथा बुद्धि की कुशलता में अन्तर होते हुए भी, एक प्राकृतिक समानता होती है जिसकी अवहेलना करना मानव अधिकार का अपमान करना है। 'पॉलिटिक्स' में दास-व्यवस्था के वर्णन को देख कर मैक्सी (Maxey) ने ठीक ही कहा है कि एक पुस्तक को भी समर्थन प्रेषित कर दिया जाना चाहिए।¹

(3) अरस्तू के मत में दास वर्ग की धारणीय शक्ति अधिक प्राप्ति होती है। मैक्स दासके साथ ही उसने यह भी सम्भव माना है कि कभी-कभी वह धारणीय शक्ति भी नहीं होती है।

(4) रीट (Rites) के अनुसार अरस्तू का मानव-जाति को विवेक और इच्छा तथा वास्तव और अस्तित्व के आधार पर दो वर्गों में विभाजित करने के विचार का समर्थन नहीं किया जा सकता। यह वर्गीकरण सर्वथा कृत्रिम और अस्वाभाविक है। दासित्व व्यक्ति अनुकूल बुद्धि-मूल्य नहीं होते। धात्रापालन करने वाले कर्म नहीं अनुमान जा सकते। फिर अरस्तू स्वयं यह स्वीकार करता है कि दासों ने स्वामी के हितों को संभालने और पालन करने की बुद्धि होती चाहिए। साथ ही यह यह की

बहुता है कि दासों के साथ दासों वैसा नहीं धर्मसू मनुष्य की तरह संवेदीपूर्ण व्यवहार किया जाना चाहिए । जब धरमसू दास को मनुष्य मानता है तो उसे सभी दृष्टियों से मनुष्य ही मानना चाहिए । समर्थ ने ठीक ही निराला है—“अदि दास को किसी दृष्टि में भी मनुष्य समझा जाता है तो उसे सभी दृष्टियों से मानव मानना हीना और अदि, उसे मनुष्य मान लिया जाए तो, यह उसे पूर्णतः बुद्धि-बुध्द दास मानने की उस धारणा का अन्त्य करना होगा जिसके आधार पर धरमसू ने उसके दान बनाए रखने को व्यापकित उद्देश्य है ।”

(5) धरमसू चाहता है कि दास अपने व्यक्तित्व को स्वामी के व्यक्तित्व में जीन कर दे किन्तु मनोवैज्ञानिक आधार पर यह सर्वथा असम्भव है । हमें एक व्यक्ति की अपनी कुछ अनुभूतियाँ होती हैं, कुछ इच्छाएँ और भावनाएँ होती हैं, तब बला दास द्वारा अपने व्यक्तित्व का स्वामी के व्यक्तित्व में सम्पूर्ण विलय किस प्रकार किया जा सकता है । किसी विशेष परिस्थितियों के सम्मुख यह अपना प्राचीनिक सम्पूर्ण भवे ही करते, लेकिन मानसिक-स्तर से यह किसी के सम्म सम्पूर्ण नहीं कर सकता ।

(6) धरमसू यह सिद्ध करने में सर्वथा असफल रहा है कि स्वामित्व प्राप्त करने का अधिकारी कौन है और दासता का कौन ? जब तक यह स्पष्ट न हो जाए कि दासता क्या स्वाधीन के द्वारा किस से है और किस से नहीं, तब तक स्वामी और दास का विचार नहीं किया जा सकता । पुन यह भी स्पष्ट नहीं है कि इस बात का निर्णय कौन करेगा कि कौन योग्य है और कौन अयोग्य ? यदि 'योग्य का अयोग्य पर शासन' का विधान स्विकार कर लिया जाए तो यह निर्णय करना आवश्यक होगा कि कौन किस पर शासन करे, क्योंकि योग्यता और बुद्धिमत्ता की दृष्टि से सभी में कुछ-न-कुछ अन्तर होता है । प्रत्येक व्यक्ति योग्यता में किसी के कम तथा किसी अन्य से अधिक होता ।

(7) धरमसू एक ओर तो दासता को प्राकृतिक बताता है और दूसरी ओर कहता है कि दासता से मुक्ति भी मिल सकती है । धरमसू के ये परस्पर विरोधी विचार हैं । यह यह कहने का कष्ट भी नहीं करता कि जब किसी की प्रकृति द्वारा ही दास बनाकर एक प्रकार से रखा किता गया है तो उसकी दासता से मुक्ति कैसे हो सकती है ।

(8) दास-व्यवस्था के सम्बन्ध द्वारा धरमसू समानता और स्वतन्त्रता के आकांक्षी विद्वानों पर भीतर आघात करता है । जबकि यह विचार सम्भवपूर्ण है कि जो व्यक्ति गुण की प्राथमिक और शैक्षिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं उन्हें ही गुण द्वारा प्रदत्त अन्य बुद्धिमानों से अलग कर दिया जाए । धरमसू दासों की वर्गीकृत स्वाभाविक अज्ञानता समान में दो विरोधी बात बता देता है जो सम्मान करने से बहुत दूर तक अक्षमक होते हैं ।

(9) धरमसू के दास-व्यवस्था सम्बन्धी विचार प्राकृतिक हैं । यह मनुष्यों का मनुष्यों के अन्तर्गत दासता है । कोई भी प्रजा जो मनुष्य की मनु-मनु सम्बन्धी दूर

अन्तः आत्म-योग बन् । ती अनुपमि केरी हो, कभी भी वैज्ञानिक नहीं हो सकती । दास का जीवन अनु-सूय बताते हुए स्वाधी के साथ पारस्परिक शक्ति का निरूपण भी अपने मन में निरोपकाय है ।

अपेक्षक सभी व्यक्तियों के आधार पर दासत्व की उत्पत्ति का समझी पाया जाता है। दासत्व का नाम है और बताया है । इसमें प्रकट होता है कि उस जमाने में दासत्व की शक्ति सभी समाजिक समस्याओं और उन्हें दूर करने के लिए प्रयत्न करने के लिए था । दासत्व के मत में केवल नहीं कहा जा सकता है कि दासों की सामाजिक सामाजिक समस्याओं की शक्ति के लिए सामाजिक मानते हुए भी उसमें एक प्रयास के सुधार करने के लिए प्रयत्न किए । उनमें परम्परागत दास-व्यवस्था का विरोध किया और केवल उसी व्यक्ति की शक्ति बनाने के योग्य माना जो प्रकृति द्वारा हमें दिया है । उन्हें दासता के दुरुपयोग करने के लिए भी वैज्ञानिक स्पष्टता का परिचय दिया । और दास-व्यवस्था का विरोध करने के लिए वैज्ञानिकता का प्रयोग किया, चाहे हम वैज्ञानिक और मानवीयता का अनुमान प्रकृति ही नहीं हो ।

दासत्व के सम्बन्धित समाजिक विचार (Aristotle's Views on Property)

दासत्व के सम्बन्धित की परिभाषा करते हुए उसे राज्य के दासत्व प्रयोग के साथ माना जाने चाहिए कि सामाजिक मान्यता बताता है । किता सम्बन्धित के कोई भी परिचार अपने जीवन की व्यवस्थापन तथा प्रत्यक्षतः प्रकृति नहीं कर सकता । एही स्थिति में मान्य और अनुसूय परिवार की शक्ति भी नहीं हो पा सकती । मान्यता सम्बन्धी विचार व्यक्त करते हुए दासत्व के विचार है कि सम्बन्धित परिवार का एक व्यवस्थापक बन है । उनके विचार ईश्वर-जीवन सम्बन्धित है । अनुसूय की वैज्ञानिक सामाजिकताओं की शक्ति के लिए परिवार की शक्ति मान्यता की सामाजिकता भी सामाजिक है । सम्बन्धित की परिवार का सामाजिक व्यवस्था है, उसका सामाजिक व्यक्त है । सम्बन्धित और परिवार सम्बन्ध की प्रकृति-व्यक्त है । अनुसूय की शक्ति मान्यता में जो जीवन शक्ति, विचार के लिए मान्य एक प्रकृति द्वारा व्यवस्थापक शक्ति-व्यक्त है उसमें के लिए मान्य । के मत सम्बन्धित के ही मान्य है । दासत्व के प्रयोग के सम्बन्धित सम्बन्धी व्यवस्थापक की शक्ति सम्बन्धित की है । बताया गया है कि प्रयोग के सम्बन्धित के सम्बन्ध और शक्ति की व्यवस्थापक की है । व्यक्त उसमें मान्य-प्रकृति का शक्ति व्यवस्थापक की विचार है ।

दासत्व के सम्बन्धित की ही शक्ति के विचार दिया है—

1. निजी (Private)—इस सम्बन्धित में मन, मर्यादा, वेतन, शक्तिमान शक्ति व्यवस्थापक यह शक्तियों का प्रकृति है ।

2. सार्वजनिक (Public)—इस सम्बन्धित में राज, वेतन शक्ति व्यक्त है । व्यवस्थापक मान्यता की सम्बन्धित परिवार के लिए व्यक्त है ।

घरलु में सम्पत्ति, परिवार तथा उच्चतर सम्बन्धी सभी क्षमताएँ उस मानव सम्पत्ति के रूप में व्यक्त होती हैं। एक ओर सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता का ध्यान करता है, तो दूसरी ओर यह धार्मिक सम्पत्ति-सम्पत्ति का भी ध्यान करती है। घरलु सम्पत्ति को कुछ नीतियों के अन्तर्गत रखता चाहता है। सम्पत्ति सामान्य है, व्यक्ति को आवश्यकताएँ पूरी करता है। घरलु सम्पत्ति को नीतिगत रूप से तब तक होना चाहिए जब तक हमारे सामान्यताएँ पूरी हो सकें। ई. एम. जोन्स के शब्दों में, "घरलु कार्य करने के लिए हमारे भारी होना चाहिए, घरलु हमारे सामान्यता को अधिक से अधिक भारी बनाने का इच्छुक नहीं होता। जिस कार्य के लिए हमारे भार की आवश्यकता होती है, वही कार्य वह भार की नीतिगत कर देता है। एक सुन्दर उस शीघ्र का पालन करता है।" घरलु का कहना है कि सम्पत्ति का महत्त्व उसके उद्देश्य द्वारा निर्धारित किया जाता है। घरलु सम्पत्ति तब तक होना चाहिए जिससे एक धर्म जीवन के लिए प्रेरित हो। सम्पत्ति के पीछे सामान्यता की भाँति सामान्यता किसी भी सामान्य के पालन का कारण हो सकता है। सम्पत्ति एक मान्य नहीं, सामान्य है। घरलु सामान्यता का उपयोग सामान्य को ध्यान में रख कर उसी के अनुकूल होना चाहिए।

घरलु सम्पत्ति के लिए दो विशेषताएँ बताता है—

(1) सामान्य में उसकी प्रविष्टि सम्पत्ति हो। सम्पत्ति सामान्यता की दृष्टि में यह स्वीकृति प्राप्त कर चुकी हो।

(2) सामान्य की ओर से सम्पत्ति के लक्षणों की उच्चतर आवश्यकता हो।

उपरोक्त दोनों कार्य सम्पत्ति के वैशेष्य हैं। घरलु उस सम्पत्ति को व्यक्तिगत रूप से नहीं मानता जिस पर केवल व्यक्ति का अधिकार हो। सामान्यता विचारणा, नहीं उस पर नहीं। घरलु सामान्यता द्वारा ऐसी आवश्यकता करती है कि कार्य की सामान्यता की आवश्यकता सम्पत्ति-का प्रयोग करने के लिए वह घरलु सामान्यता के लिए कर ले।

सम्पत्ति का उपाय (Acquisition of Property)

सम्पत्ति प्रयोग के वैशेष्य सम्पत्ति की प्रविष्टि के लिए है। घरलु सम्पत्ति की प्रविष्टि तथा उच्चतर उपायों द्वारा की जाती चाहिए। उसके अनुसार सम्पत्ति के उपयोग के दो रूप हैं—

(1) सामान्य एवं व्यक्तिगत रूप — घरलु के सम्पत्ति-उपाय में प्रविष्टि की महत्त्वता केवल अनुकूल रूप से परिवर्तन द्वारा सम्पत्ति होता है। घरलु में सामान्य रूप पर केवल घरलु का कर अनुकूल रूप सम्पत्ति का उपयोग करता है। घरलु के सम्पत्ति में सभी सम्पत्ति केवल घरलु का व्यक्तिगत रूप से होती है। सम्पत्ति का यह उपयोग प्रयोग के माध्यम से होता है। घरलु प्रविष्टि प्रयोग में जो भी घरलु हम देखते हैं वे सब इसी प्रकार के होते हैं। घरलु के जीवन में घरलु महत्त्वपूर्ण स्थान है। घरलु महत्त्वपूर्ण है। घरलु सम्पत्ति का उपयोग करता है। घरलु है।

(2) मानवीय व्यवस्था प्रक्राण्टिक रूप — इस उपार्जन में प्रकृति का कोई हाथ नहीं होता पर, ज्ञान के माध्यम से मनुष्य की कृत्रिमता से प्राप्त किया जाता है। अर्थात् यह व्यवस्था बनाना, व्यवहार में लाय बनाना आदि ऐसे कर्म हैं जो सम्पत्ति-परिचय के मानवीय रूप के उदाहरण हैं। इस प्रकार की सम्पत्ति से उत्पादन में मनुष्य अपनी मानवीयता का परिचाय करके मानवीय रूप प्रकट कर सकता है। यहाँ पर उसके समस्त धर्मों की भावना नियन्त्रण नहीं रहती। जब मध्य काल का समाज और परिवर्तित सम्पत्ति का प्रकट करना हो तो यह विज्ञान प्रक्राण्टिक एवं निरन्तर ही जाता है। अतः सुल्तानों की इस दृष्टि से प्रेरणा है, क्योंकि इसमें धन द्वारा व्यापार की विवशता, दरिद्रता और दुर्बलता का लाभ उठाकर अधिक धन पैदा किया जाता है। अतः वे ही कहते हैं—“वित्तपरिचय का सबसे अधिक प्रकट उपाय धन लेना है और इसका निष्कट होता विज्ञान युक्तिमय है क्योंकि इन पद्धति में मुद्रा का उपयोग करने वाली विविध पद्धति में लाभ कमाने की प्रवृत्ति स्वयं मुद्रा में ही लाभ कमाया जाता है। मुद्रा का उपयोग विविध के माध्यम से रूप में हुआ वह, न कि धन लेकर धन बनाने के लिए।” — अतः धन कमाने के उपायों में धन लेना सबसे अधिक प्रक्राण्टिक उपाय है।¹ अतः के अनुसार सामर्थ्य सम्पत्ति विहीन भी समाज में मानव-व्यवस्था में लेना सकती है।

सम्पत्ति का विनिमय (Exchange of Property)

अतः के अनुसार सम्पत्ति के विनिमय के दो रूप हैं नैतिक (Moral Exchange) और धर्मनिरपेक्ष (Immoral Exchange)। सम्पत्ति का विनिमय व्यापार विज्ञान की दृष्टि से एक ही होता चाहिए। अतः-निश्चित यह है कि सम्पत्ति के विनिमय में अधिकाधिक मनुष्य की भाव हो। अतः यह प्रकट है कि न केवल सम्पत्ति के उपार्जन में ही मनुष्य अपने विनिमय के भी अपने नैतिकता का आलोक रहता चाहिए और मनुष्यों के आदान-प्रदान का आधार मान्य मान्य होना चाहिए। एक मनुष्य का अपना ही कृत्य होना चाहिए जिसका एक व्यक्ति अपनी मनुष्य का कृत्य दूसरे में प्रदान करता है। किसी की विशेषताओं से अनुचित लाभ उठा कर विनिमय करना निन्दास्पद है। इस प्रकार के विनिमय के परिणामस्वरूप समाज में एक विचित्रता धन पैदा हो जाता है। यह वह लोगो की अनिच्छित मनुष्यों के सम्पत्ति-परिचय से अभिन्न लाभ कमाता है। इस तरह समाज में व्यापार का विनिमय प्रेरित होकर ही समाज का विकास-प्रगति बन जाता है। ऐसा विनिमय धर्मनिरपेक्ष है। समाज का विकास है कि वह धर्मनिरपेक्ष विनिमय पर कठोर नियन्त्रण रहे। समाज की कला धन औरन के लिए है, “विनिमय में सुविधा प्रदान करने तथा आर्थिक सम्बन्धों में वृद्धि करने के लिए नहीं।”²

¹ See — The Politics of Aristotle, p. 28-29.

² “It is not the end of the State to have exchange and promote economic intercourse” — Aristotle's Politics, p. 113.

सम्पत्ति का वितरण

घरानू के अनुसार सम्पत्ति-विभाजन के तीन प्रकार हैं—

1. सार्वजनिक अधिकार और सार्वजनिक प्रयोग
(Common ownership & Common use)
2. सार्वजनिक अधिकार और व्यक्तिगत प्रयोग
(Common ownership & Individual use)
3. व्यक्तिगत अधिकार और सार्वजनिक प्रयोग
(Individual ownership & Common use)

दूसरी प्रकार के विभाजन को जो कोई भी विचारक स्वीकृत नहीं करेगा इसीलिए घरानू ने पहले और तीसरे प्रकार के विभाजनो की परीक्षा की है और पहले का खण्डन करके तीसरे प्रकार के विभाजन का समर्थन किया है। घरानू ने प्रथम प्रकार का खण्डन यह कह कर किया है कि जो वस्तु सभी की है, वह किसी की नहीं है, क्योंकि जिस सम्पदा को सभी स्वामी होते हैं उसको और सभी नागरवाही करते हैं, और जिस कार्य में समुच्च सहकार्य दिखाता है, वह काम अधिक उत्पन्न, उत्पन्न तथा वृत्तमान के किया जाता है। इसके प्रतिष्ठित सार्वजनिक स्वामित्व में कहा तथा समर्थ उत्पन्न होने की बड़ी मांगका रहती है।

घरानू ने सम्पत्ति के तीसरे विभाजन को व्यावहारिक तर्क सामर्थ्यात् कहते हुए कहा है कि व्यक्तिगत स्वामित्व के सम्पत्ति का उत्पन्न करने। उसमें उत्पादक, मानवीयता तथा व्यक्तिगत-कारण जैसे सदगुणों का समुत्पन्न होना। घरानू समुच्च की वैदिक दृष्टियों की पूर्ति के लिए जो निजी सम्पत्ति का होना अनिवार्य मानता है। यह कहता है कि निज सामरिक के साथ कुछ भी निजी सम्पदा नहीं है और जो राज्य को कुछ भी दे नहीं सकता, उसके लिए एक सम्पूर्ण सामरिक जीवन व्यतीत करना असम्भव ही नहीं है वरन् यह उसमें वर्धित हो रहता है। उसके अनुसार निजी सम्पत्ति यह अर्थ है जिसमें व्यक्ति अपना स्वयं का प्रतिनिधित्व देखता है। इस प्रकार घरानू सम्पत्ति के व्यक्तिगत अधिकार के सिद्धान्त का समर्थन करता है। साथ ही यह निजी सम्पत्ति के सिद्धान्त द्वारा समुच्च को अधिक से अधिक वैदिक बनाना चाहता है और सार्वजनिक उपयोग के लिए उनके उपयोग पर बल देता है। यहाँ एक बात और भी है कि घरानू न केवल व्यक्तिगत सम्पत्ति को ही स्वीकृति देता है बल्कि उसके विचारों में कुछ हद तक सममानता को भी आवश्यक मानता है क्योंकि उसके विचार में मन का सममान वितरण जलनेवा कब अकार प्रदान करता है। घरानू यह सब कुछ होते हुए भी यह निजी सम्पत्ति को मर्यादित हो रखना चाहता है, इन सब के नि पराधिक प्रकृत्यवत्ता से कहीं पूर्व-समर्थन न उत्पन्न हो जाए।

घरानू का सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व और सार्वजनिक उपयोग संबंधी के इतिहास सिद्धान्त का स्मरण करता है जिसमें एक व्यक्ति सम्पत्ति का स्वामी होते हुए भी पूर्णतः उसके उपयोग का अधिकारी नहीं होता। वरन् व्यावहारिकता की कसौटी पर, मोटो के सामर्थ्यात् का सामाजिक उपयोगवादी घरानू यह पूरा सब

कि मनजबे ही वह सभ्यता के मार्ग पर चल रहा है। नवीन सभ्यता पर व्यक्तिगत स्वाधिन्य और उसके सामूहिक उपयोग समस्त सभ्यतावहारिक है। अरस्तु के समर्थ विद्वानों पर उचित की टिप्पणी है कि उसने उत्साह और विनिमय के प्रारम्भिक विचारों को उचित रूप से प्रस्तुत किया है। तथा सभ्यता के प्रयोग और विनिमय के महत्व के अन्तर की भी समझने में वह सफल हुआ है। वह पुँजी के महत्व का अनुमान करने में पूर्णतः असफल हुआ है और इसीलिए मूल (Interest) के बारे में उसके विचार प्रतिप्राचीन और सांकेतिक (Very primitive and abused) हैं।¹

अरस्तु के परिवार सम्बन्धी विचार (Aristotle's Views on Family)

अरस्तु ने सभ्यता और परिवार की व्यक्तित्व विशेषज्ञता माना है। उसने सभ्यता की परिवार के लिए आवश्यक बताया है, अतः सभ्यता पर विवेचना करने के उपरान्त उसके परिवार सम्बन्धी विचारों की व्याख्या करना आवश्यक है।

अरस्तु के अनुसार परिवार सामाजिक जीवन का प्रथम बीज है। वह वह आधारभूत है जिस पर सामाजिक जीवन का विस्तार भवन स्थिर रहता है। यही है व्यक्ति का जीवन प्रारम्भ होता है। परिवार नागरिकों की प्रथम पाठशाला है। परिवार में बालक माता की सेवा और पिता के परामर्श में वादित-नियमित होकर नागरिकता की प्रथम शिक्षा ग्रहण करता है और यही घर उसे जीवन-मार्ग से सत्य के लिए तैयार किया जाता है। परिवार में ही नवी संसारी की उसकी अपनी सकलता का विकास का कारण बनती है। अपने जन्म के समय से ही व्यक्ति समाज के प्रथम भाग परिवार का भाग बन जाता है। बाल्य में परिवार एक छोटा समाज है जहाँ मनुष्य के जीवन की शिक्षा होने का अवसर मिलता है। व्यक्ति का विकास परिवार की सहायता में सम्पन्न होता है।

यहाँ छोटी परिवार की प्रगति के मार्ग में एक व्यवस्था, एक भाषा मौजूद है, यहाँ अरस्तु परिवार को उचित, आवश्यक और श्रेष्ठता का शीत सम्प्रदाय है। इसकी दृष्टि मान्यता है कि सामंजस्य, सामाजिकता और मनुष्य की जीवन-भावनाओं की अनुपम के कारण परिवार सर्वथा सामाजिक और आवश्यक है। मनुष्य का स्नेह, प्रेम, सत्यता और प्रेम की सेवा में स्थान करना परिवार में रहकर ही सम्भव है, सम्भव नहीं। विकास और सभ्यता के मार्ग की प्रशंसा करने वाली सबसे पहली संस्था इस परिवार का नाम, नीतिगत आवश्यकताओं की पूर्ति तथा सत्य भावनाओं की अनुपम के लिए हुआ है।

अरस्तु के अनुसार परिवार एक विशेषाधिकार सम्बन्धी वा स्वरूप है। "यदि और पत्नी, स्त्री और दास तथा माता-पिता और नागरिक-इन तीन सम्बन्धी के अन्तर्गत विषयानुसार व्यवहार का नाम ही परिवार है।" परिवार के अन्तर्गत मन वा ही हम समझें वह सबसे है नवीन राज्य एक ऐसा अनुपम है जिसमें घने परिवार

होते हैं। मनुष्य की प्रायश्चित्तिक भावा में परिवार बहुत ही घीली है। परिवारों में मिलकर काम और कामों में मिलकर नजर रख्य करता है। परिवार अपना काम के अभाव में न कालि का विचार हो अथवा है और न उमरी कोई सता हो है। परिवार की सदावस्था संतुष्टि है। व्यक्ति जन्म से ही परिवार का सदस्य हो जाता है जब इसी महत्ता के लिए विकार करने का उद्यम हो नहीं उठता।

घरस्तू के अनुसार परिवार का प्रत्यक्ष पैतृक है और परिवार के सदस्य सदस्यों का कार्य अपने अपने होते हैं। गुण परिवार का सामाजिक और आत्मिक है। वह इसी की अनेक अधिक गुणवान और अपने होने के कारण परिवार पर पूर्ण नियंत्रण रखता है। यह नियुक्ति और नियंत्रण होता है जब जब पर किसी का सामान्य सामान्य है। महान् अनुभवहीन होने के कारण मार्ग से अलग रहती है का अपना अधिकार कर सकती है, जब उन पर नियंत्रण का नियंत्रण होता आवाजना है। इन प्रकार घरस्तू के अनुसार परिवार का वैयक्तिक गुण ही परिवार का मुखिया होता चाहिए।

घरस्तू का कहना है कि परिवार के सदस्य में परस्पर पूर्ण नियंत्रण का आवश्यक होता चाहिए। परिवार एक जीवमयत्व नियंत्रण का नाम है। नियंत्रण के पूर्ण अनुमान और नियंत्रण के नाम ही परिवार का सामाजिक अनुमान और स्पष्ट में परिपूर्ण रहता चाहिए। परिवार के महान् सामाजिक महान् द्वारा अपनी नैतिक और धार्मिक आवश्यकताओं की गरमता में पूर्ण कर सकते हैं। परिवार के किसी भी सदस्य की उन्नति की दृष्टि में नती केन्द्र आता चाहिए। घरस्तू का कहना है कि सभी-सभी परिवार का सामाजिक में अधिक मोड़ उठनी मार्ग से विचलित कर देता है। जब समय का कर्तव्य है कि वह परिवार की नियंत्रण में रहने के लिए सदा-सदा नियंत्रण करता रहे।

इस तरह घरस्तू द्वारा भी 'महान् मार्ग' का अनुमान करता है। एक ओर वह परिवार का दिन मोलकर समझें करता है और दूसरी ओर परिवार को पूर्ण सतर्कता भी उठाए नहीं करता चाहता। वह कहता है कि व्यवस्था की दृष्टि की देखने के लिए समय की सभी समय उपाय करने चाहिए।

घरस्तू द्वारा प्लेटो के साम्यवाद की आलोचना
(Aristotle's Criticism of Plato's Communism of Property & Family)

प्लेटो ने अपने मादक-रूप में अधिभार-वर्ग के लिए साम्यकारी व्यवस्था का आलोचना किया है, जिसके अनुसार उन्हें सम्पूर्ण करने वाले सभी सामाजिक-सम्पत्ति और परिवारों का सामूहिकता होना आवश्यक है। जिससे घरस्तू प्लेटो की धारणा का प्रत्यक्ष करने हुए उसे व्यावहारिकता, वैयक्तिकता, सामाजिकता और सामाजिकता की कमी पर बड़ा उल्लेख करता नती करता है।

सम्पत्ति के साम्यवाद की आलोचना
घरस्तू के प्लेटो के सम्पत्ति के साम्यवाद की आर्थिक और नैतिक आधार पर आलोचना की है। उनके अनुसार उन्हें इन प्रकार है -

(1) प्लेटो के सम्प्रति के साम्प्रदाय में उत्पादन और वितरण एक ही मनुष्य के होते हैं। कठोर श्रम के द्वारा अधिक उत्पादन करने वालों को भी उत्पादन ही प्राप्त करने की आवश्यकता है जिससे कम श्रम करने वाले को भी परसु पर्याप्त मनुष्य है। इस व्यवस्था में समाज में सभी और कलह की उत्पत्ति होने का डर है क्योंकि अधिक और कठोर श्रम करने वाले व्यक्ति कम श्रम करने वाले व्यक्ति के समान ही कम प्राप्त करने के कारण असंतुष्ट रहेंगे।

(2) सामूहिक उत्पन्न एवं सामूहिक उत्पादन के साथ-साथ सामूहिक सम्प्रति में विभिन्न नवीन समस्याओं को जन्म मिलेगा और उनके समाधान होंगे। समाज के सदस्यों में, "मनुष्यों के साथ रहने और सब प्रकार के मानवीय सम्बन्धों को परस्पर सहानुभूति के बंधन में बंधने में सहायता दी गईगी है। हर के विभिन्न रूप में सब जाती है जब सम्प्रति पर सामूहिक अधिकार होता है।"¹

(3) मनुष्य को अधिक परिष्कृत, समता और सच के साथ कार्य करता है जब उसे अधिकतम लाभ की प्राप्ति की सम्भावना होती है। सामूहिक लाभ की दृष्टि के लिए जाने वाले कार्यों में सामान्यतः व्यक्ति को कोई विकल्प नहीं होती और न ही वह इसके लिए अपने विचारों पर विचार करना चाहता है।

(4) प्लेटो के सम्प्रति के सुखों की सम्भावना की है। सम्प्रति ही एक श्रेष्ठतावर्ति और सामाजिक समानता है जिसके बिना स्वयं और सुखी जीवन सम्भव नहीं है। मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की दृष्टि के लिए सम्प्रति एक आवश्यक साधन है।

(5) व्यक्तिगत सम्प्रति मनुष्य को आत्म-सम्मान की भावना प्रदान करती है। यह उनके व्यक्तित्व के विकास में सहायक है।

(6) समाज में कलह और सभी नास्तिक के व्यक्तिगत सम्प्रति के कारण जन्म नहीं होते क्योंकि मानवीय प्रकृति की दुष्टता के कारण ही वे उत्पन्न होते हैं। यदि जिना द्वारा मानवीय प्रकृति को सुचारु दिशा प्राप्त हो में अपने पैदा नहीं होते।

(7) ऐतिहासिक दृष्टि से भी प्लेटो के सम्प्रति के साम्प्रदाय की आवश्यकता गत है। इतिहास में ऐसी व्यवस्था का कोई प्रमाण नहीं मिलता है। यदि यह कोई ऐसी व्यवस्था होती तो विभिन्न देशों में इसे अपनाया जाता। सम्भव और अलग प्रकृति के एकत्र प्रविष्ट होने के कारण हमारी भी के इतिहास में इसे किसी ने नहीं अपनाया। अतः यह है कि जिस व्यवस्था को समझ चुका है, वह मानवक रूप से दीर्घायु होती है।

(8) अतः के समाजकारण जिस उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए साम्प्रदायी व्यवस्था का प्रयोग किया गया है, इसके द्वारा उन उद्देश्यों की प्राप्ति नहीं हो सकती। ईश्वर, देव, स्वर्ग, जीवन, मोक्ष आदि की प्राप्ति के लिए साम्प्रदायी व्यवस्था का प्रयोग नहीं हो सकता। ईश्वर, देव, स्वर्ग, जीवन, मोक्ष आदि की प्राप्ति के लिए साम्प्रदायी व्यवस्था का प्रयोग नहीं हो सकता।

1 "There is always difficulty in men living together and having things in common, but specially in their having common property." —Aristotle

सम्पत्ति का साम्यवाद इनका उन्धार नहीं है। इनका उन्धार तो मानविक होता चाहिए।

(9) यदि सम्पत्ति का साम्यवाद भौतिक-व्यवस्था है तो इसे सैनिक और जासूस बने तक ही सीमित क्यों रखा गया है। इसे उत्पादक वर्ग पर भी लागू किया जाना चाहिए।

(10) प्लेटो का सम्पत्ति का साम्यवाद समाज को दो भागों में बाँट देता है। एक भाग में सरल और सैनिक होने को दूसरे भाग में कुपक, नित्यी और साधारण मानविक। इस प्रकार के विभाजन के समाज में एकता के स्थान पर विरोध उत्पन्न होता है। घरलु के शब्दों में, "एक राज्य में आवश्यक रूप से दो राज्य बन जायेंगे और वे दोनो परस्पर विरोधी होंगे।"

परिवार के साम्यवाद की आलोचना

घरलु ने प्लेटो के परिवार सम्बन्धी विचारों की तीव्र आलोचना में वे तर्क प्रस्तुत किए हैं—

(1) व्यक्तिगत और परिवार की कुचल कर न एकता की स्थापना की जा सकती है और न वह उचित ही है। परिवार के अस्तित्व के तब पर राज्य में विशेष एकता स्थापित करने की कामना करना व्यर्थ है और वह भी ऐसी कल्पना जिसमें राज्य के अस्तित्व को ही खतरा पहुँचता है क्योंकि राज्य सब समुदायों का एक समुदाय है और समुदाय के रूप में राज्य की इकाई परिवार है।

(2) विरक्तों के साम्यवाद से समाज सैनिक पतन की ओर प्रवृत्त होता है। इस मान्यवादी व्यवस्था में एक स्त्री एक समय में एक पुरुष के और दूसरे समय में दूसरे पुरुष के साथ सहवास कर सकती है। इस तरह कोई पुरुष एक समय में एक स्त्री का ही दूसरे समय में दूसरी स्त्री का पति हो सकता है। साथ ही वह एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें निष्ठा, शांति-पुन और भाई-बहिन एक दूसरे के साथ सहवास कर सकते हैं। इससे जीवन क्षेत्र में सफाईकता उत्पन्न हो जाएगी और समाज के सविनय एवं वैदिकता का साथ बँध जाएगा।

(3) कथन और कानिनी तो सभी के लिए मानवैय और सीध की बाबुर्र है। इन पर सामुहिक स्वाधिन समाज में प्रसा और ड्रेव कीताएय। एक सुन्दर स्त्री प्राप्त करने की अनेक पुरुष कामना करेते तो स्वाधिनिक रूप से अपने अंगमें उत्पन्न हो जाएय।

(4) परिवार सैनिक पुरुषों की खडमाया है जिसमें यह कर अलि, उताएय नि स्वाधिता, पलीनकार और सबय आदि के अनुमुखों का विकास करता है। यह सार्धिता की प्रथम पाठ्याला है। यह ऐसी उल्लेखीय मर्या का विवाह करना अनेक दुर्मि में अनुचित है।

(5) प्लेटो के अनुसार परिवार की साम्यवादी मान्यता के उत्पन्न करने राज्य की मर्या हीनी। सभी नीलो को अन्तो को सचय यह समझता चाहिए,

मेकिन वस्तु-विवेचि दृष्टि के बिना होती। सबसे ज़रूरत किसी की भी समझ नहीं हो पाएगी। कोई भी व्यक्ति किसी भी बच्चे को अपना पुत्र नहीं समझेगा। बच्चे को वह स्नेह और ममतामय वातावरण नहीं मिलेगा जो व्यक्तिगत परिवार-व्यवस्था के 'मिलता' है। समस्त व सामूहिक उत्तरदायित्व का धर्म है, किसी का भी उत्तरदायित्व न होगा।

(6) घरस्तू वह कह कर भी पोटो की परिवार सम्बन्धी व्यवस्था की प्रस्तावना करता है कि यदि वह व्यवस्था सम्पूरी है तो इसे केवल प्रतिमात्रक वर्ष पर ही स्वीकार किया जाये। यदि ही बच्चे बढ़ते उत्पन्नक वर्ष पर लागू किया जाय तो चाहिए क्योंकि इन वर्ष के पोषी की सुरक्षा ही अभिप्रेत है।

(7) परिवार सामाजिकव्यक्ति और बीच सम्बन्ध के निम्नानुसार सञ्चालन के लिए एक अनुशासित सम्बन्ध है। वह एक भौतिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकता का परिणाम है जहाँ आवश्यकता की दृष्टि के अन्तर्गत का साम्यवाद अनुचित है।

(8) पोटो समझता है कि जब सम्पूर्ण राज्य एक परिवार बन जाय तो केन्द्रे-केन्द्र के मध्य भगवत् मिटकर निवासियों में एकता और प्रेम का प्रसार होगा। किन्तु घरस्तू इन विचारों की विपरीत उल्लेख करते हैं कि प्रेम का क्षेत्र शिथिल ही अधिक विस्तृत होता है, उपर्युक्त और प्रभावशाली की भाँति उभरी ही कम हो जाती है। इन कारणों का प्रेम-व्यापार उन पाण्डु की भाँति उभर ही नहीं आती जो कभी भी सफलता कर सिर सक्ती है।

(9) परिवार की बलवत्ता राज्य की बलवत्ता के निहित है। परिवारों के संयोग से राज्य का निर्माण होता है, व्यक्तियों के प्रेम के नहीं।

(10) साम्यवादी व्यवस्था में परास्तर सम्बन्ध न होने के पोषी, जहाँ एक सम्बन्ध घरस्तू की ओर भी अधिक बोलचाल मिलेगा। "इन समाज में प्रकृति अपने लक्ष्य प्रयत्नों के लक्ष्य आर्थिक और सामाजिक स्थितियों का ज्ञान है, ऐसे घरस्तू कम होते हैं। परन्तु उच्च समाज में, जहाँ साम्यत्व होने ही नहीं, ऐसी प्रस्तावों और ऐसे घरस्तू बहुत अधिक हो जायेंगे।"

पोटो की साम्यवादी व्यवस्था की घरस्तू ने जो प्रस्तावना की है, जहाँ एक सम्बन्ध मध्य पुत्र के लक्ष्य वांछित परिवारस्थितियों के भी निवास या और परिवार के भी किया जाता है। सम्बन्ध और परिवार सम्बन्धी पोटो की व्यवस्था में प्रस्तावना न करने हुए ही घरस्तू के इन कथनों की सत्यता का अनुमान नहीं किया जाय तो चाहिए कि समाज और परिवार पर राज्य का आवश्यक नियन्त्रण होना चाहिए क्योंकि सामाजिक जनसंख्या और वार्षिक सामाजिक समानता किसी भी राज्य के विकास का कारण बन सकती है।

घरस्तू के नागरिकता सम्बन्धी विचार (Aristotle's Conception of Citizenship)

घरस्तू ने अपनी इति 'पॉलिटिक्स' की चौथी पुस्तक में राज्य एवं नागरिकता सम्बन्धी विचार उल्लेख किए हैं। उन्होंने नागरिकता की परिभाषा देने का बीड़ा

नियम प्रचल नहीं किया है। नागरिकता का प्रश्न तो राज्य 'को' परिभाषा देने के लिये ही उठ खड़ा हुआ है। भारत को ज्ञात करना है कि—“राज्य क्या है?” इसके उत्तर के लिये स्वयं ही कहता है कि—“राज्य (Polis) का लक्ष्य पृथिवी में नागरिकों (Politai) का एक समुदाय (Koinonon) है।” राज्य नागरिकों के मेल से बनता है। इनके साथ प्रत्येक स्वतः ही यह उठता है कि—“नागरिक कौन है?” एवं “नागरिकता से क्या सम्बन्ध है?” भारत ने इन प्रश्नों का उत्तर निम्नलिखित रूप में नहीं दिया है, बल्कि इन सम्बन्धों की व्याख्या निम्नलिखित रूप में की है। हमने सर्व-प्रथम यह बताया है कि क्या नागरिक नहीं हो सकते हैं। इस सम्बन्ध में हमने नागरिकता की अन्तर्लीन प्रचलित मान्यताओं का परीक्षण किया है। उन्होंने किसी मनुष्य के राज्य में निवास करते हुए भी नागरिक न होने की सम्भविति के लिये दृष्टान्त प्रस्तुत किये हैं—

1. राज्य के किसी स्थान-निवेश में निवास करने वाला नागरिकता नहीं प्राप्त करेगा, क्योंकि उसे, अपने, राज और विदेशी विषयों में भाग लेने के लिये नहीं का नागरिक नहीं माना जाता।

2. किसी पर अधिकार प्रभाव का अधिकार करने वाले व्यक्ति को भी नागरिक नहीं माना जा सकता, क्योंकि व्यक्ति द्वारा वह अधिकार विदेशियों को भी प्रदान करता है।

3. उन व्यक्तियों को नागरिक नहीं माना जा सकता जिन्होंने अपना निवास किसी दूसरे राज्य में नागरिक हो करके ऐसा करने में इस नागरिकता निर्धारण के किसी विधान का निर्माण नहीं किया।

4. निष्कारण तथा अमान्यता के लिये व्यक्ति को राज्य के नागरिक नहीं हो सकते।

नागरिकता की परिभाषा

उपरोक्त नियमों के आधार पर परिभाषा प्रस्तुत की जा सकती है—
नागरिक कौन है? उनका उत्तर देने के लिये भारत कहता है—“नागरिक कौन है जो स्वतन्त्रता का एक अवधारणा के एक मध्य के रूप में भाग लेता है—कोई न वा एक के, क्योंकि वह दोनों ही समुदाय के लिये कार्य करता है।” भारत की इस परिभाषा से नागरिक और अनागरिक के बीच स्पष्ट होता है। यह परिभाषा नागरिकों की सम्भविति के लिये दृष्टान्त प्रस्तुत करने के लिये—

1. नागरिक राज्य का विधानमंडल होने के लिये न्यायिक प्रशासन और कार्यकारी कार्य में भाग लेता है।

2. वह साधारण सभा का सदस्य होने के लिये विधान-कार्य में भाग लेता है।

1 “A citizen is one who participates in the administration of Justice and Legislation as a member of Debating Assembly, either or both these being essential functions of State”
—Aristotle

भारत में अन्धे मानव और अन्धे नागरिक में अन्तर बताया है। अन्धे जन्म का कारण यह राजा ने एक कथान है। उसके मृत विरोध है किन्तु अन्धता नागरिक जीन है, इस बात का निरुपेक्ष हय विवेक नगर-राज्य को ध्यान में रखकर ही कर सकते हैं। इसनिम्न यह सिद्ध होता है कि अन्धे नागरिक के गुण साधन है। भारत में बताया है कि राजपुत्रों और उन नीचे के जो राज-कार्य का संचालन करते हैं, गुण न केवल अन्धे नागरिक के बलितु अन्धे मानव के भी होने चाहिए।

“अन्धे मानव का जीन जाल पर आधारित है, किन्तु अन्धे नागरिक का जीन मंड पर आधारित है। तात्पर्य यह हुआ कि अन्धता मानव जिन जीन का आधारित करता है उसने यह वृद्धि किन्तु और उसके दार्शनिक आधार का उसे मान है। किन्तु अन्धता नागरिक सामाजिक परम्परा की देखते हुए ही अन्धता बनने का प्रयत्न करता है, अपने आधारों की विचारणात्मक उत्पत्ति उसे मान्य नहीं।”¹

नागरिकता पर प्लेटो और भारत के विचारों में अन्तर

नागरिकता सम्बन्धी विचार प्लेटो की कुलना में भारत के संकुचित प्रतीत होते हैं—(1) ‘प्लेटो अपने ग्रन्थ रिपब्लिक’ में राजा और नागरिकों में कोई अन्तर नहीं रखता। वह अपने आदर्श राज्य में व्यवस्थित तथा साराजनीतिक व्यक्तियों के समूहों की भी राज्य में निवास करने के कारण नागरिकता का अधिकार प्रदान कर देता है। परन्तु इसके विपरीत भारत एक सर्वोच्च राज्य में प्रतिष्ठित, साराजनीतिक, राजा तथा व्यक्तियों की नागरिकता के अधिकार के बंदि कर देता है। (2) प्लेटो की मान्यता है कि एक अन्धता व्यक्ति ही अन्धता नागरिक है, जबकि भारत इस बात से सहमत नहीं है क्योंकि उसके अनुसार एक नागरिक और एक अन्धे समुच्च के गुण समान हो, वह मान्यवला नहीं है। एक अन्धे व्यक्ति के गुण तथा समान रहते हैं, किन्तु एक अन्धे नागरिक के गुण समिपल के स्वरूप के अनुसार बदल सकते हैं। (3) प्लेटो सातह वर्ष के लिए व्यावहारिक शासन-शिक्षण के स्थान पर उसके ज्ञान की धीरे-धीरे देता है, लेकिन भारत के अनुसार नागरिक में शासन-शिक्षण होने चाहिए। इस तरह बड़ा भारत व्यावहारिक की महत्व देता है, वहीं प्लेटो स्नेहापूर्ण विद्यालय की। (4) नागरिकता के क्षेत्र में प्लेटो ने इस बात से भी अन्तर रखता है कि वहीं प्लेटो के अनुसार शासन की योग्यता कुछ में ही सम्भव है वहीं भारत इसकी सीमा विस्तृत रूप देता है।

उपरोक्त कुछ अन्तरों के होते हुए भी यह कहा जाता होगा कि भारत के नागरिकता सम्बन्धी विचार प्लेटो से अधिक उदार नहीं हैं। प्लेटो भी उपायक वर्ग को राज्य के मान्य और निर्विनिर्भर सम्बन्धी कार्यों से मुक्त रखता है तथा भारत भी। जो व्यक्ति भारत के अनुसार नागरिक बनने के अधिकारी हैं वे शासन में प्लेटो के समिपलक वर्ग के समान ही हैं।

अरस्तू के नागरिकता सम्बन्धी विचारों की प्रालोचना

प्राथमिक रूप से अरस्तू के नागरिकता सम्बन्धी विचारों की सामयिक प्रालोचना की गई है—

1. अरस्तू के नागरिकता सम्बन्धी विचार सामान्य अनुसार और अनिवार्यतापूर्ण (Aristocratic) हैं। वे यूनानियों के प्रायः प्रजातन्त्र वाले छोटे राज्यों के लिए भविष्य की राह दिखाते हैं। किन्तु वर्तमान प्रतिनिधि प्रजातन्त्रिक विचार राज्यों पर लागू नहीं हो सकते।

2. प्लेटो और अरस्तू ने शर्मिष्ठा की नागरिकता से संबंधित कर दिया एवं उसे समाज के उच्च वर्गों तक ही सीमित रखा है। इस तरह उन्होंने समाज के बहुत बड़े भाग को नागरिकता से वंचित होने वाले जनता की व्यवस्था से वंचित कर दिया है। यह बड़ा सामाजिक और सामाजिक दुष्टिकारी है। प्राथमिक राज्यों में अधिक नागरिक की नागरिकता का अधिकार है और इसलिए प्रत्येक को जनता का अधिकार मिलता है। "बहुजन मूलक नागरिकता का निम्न आधार प्लेटो और अरस्तू की इस भयंकर धारणा से नहीं अधिक मूलवान है जो गुरुतीव्र नीति ही प्राप्त कर सकते हैं।" अरस्तू द्वारा सभी, धर्म, जाति, धर्म नागरिक नहीं माने गए हैं जो वर्तमान राजनीतिक दृष्टि से ठीक नहीं है। वर्तमान में सभी व्यक्तियों की समान स्वतंत्रता का अधिकार है और सभी भयंकर नागरिक बहुजन के अधिकारी हैं। वे अपनी योग्यता द्वारा सत्ता में भाग ले सकते हैं।

3. अरस्तू ने नागरिक और अनगरिकों में ही भेद नहीं किया है बल्कि अनगरिकों को राज्य का सदस्य भी नहीं माना है। उनको केवल कर्तव्य उपकरण (Instruments) माना है। उनके अनुसार नागरिकों की एक व्यवस्था होती है जो प्लेटो के कर्तव्य या अभिभावकों की धारणा के समान ही निर्धारित होती है। अरस्तू की नागरिकता सम्बन्धी यह धारणा समाज में एकता की समीक्षा करने वाली और अनगरिकों को उच्च देने वाली है।

4. अरस्तू के अनुसार नागरिक स्वाधीनता भी है तथा निधि-निर्धारण करने वाला भी। प्राथमिक नागरिक-व्यक्तियों में प्रत्येक व्यक्ति स्वाधीनता और निधि-निर्धारण नहीं हो सकता। यह कबल अपने प्रतिनिधियों के निर्वाचन में भाग लेता है। साथ ही अरस्तू का यह विचार इस दृष्टि से भी स्वीकार्य नहीं है कि नागरिक और अनगरिकों में एक ही रूप में पूरा नागरिक और स्वतंत्रता की दृष्टि से समानता है।

5. अरस्तू ने नागरिकता की प्रत्यक्ष संकुचित परिभाषा दी है। केवल निधि-निर्धारण और स्वाधीनता सम्बन्धी बातों में भाग लेने वाले व्यक्ति ही यदि नागरिक हैं तो प्रजातन्त्र और कुलीनता में नागरिकों की संख्या विषय कम होती है।

6. अरस्तू ने नागरिकों के कर्तव्यों पर अधिक ध्यान दिया है, उनके अधिकारों का स्पष्टीकरण करने नहीं किया है। नागरिक शब्द कभी किसी के दो समान पहलू हैं—एक तरफ कर्तव्य की छाप है तो दूसरी ओर उसे अधिकारों का मुकुट चूहासा बना है। अरस्तू ने नागरिकों की परिभाषा देते समय इस दूसरे पहलू की अनदेखी की है।

7. अरस्तू ने आदर्शित सम्बन्धी अपने विचारों से राज्य में कई बर्ण उपलब्ध कर दिए हैं जिससे राज्य की साम्यारिक स्थिति सुसंस्थित और मान्यमान नहीं रह सकती है।

8. राज्य का उद्देश्य अधिकतम व्यक्तियों को लाभ पहुँचाना है—इसका सामाजिक अर्थ यह है कि अधिकारिक अनुष्ठानों के अनुषंगी और उनके वास्तविक फायदों से लाभ उठाना चाहिये। यदि नागरिकता केवल ऊँची स्थितियों को प्रदान की जाती है जिससे लाभ बन होने के कारण परोक्ष अर्थसाधक है और ऐसे ही व्यक्ति शासन-कार्यों में भाग लेते हैं, तो इससे कोई संदेह नहीं कि ऐसे अल्पसंख्यक अधिकतम संख्या में बनेंगे जो बनी बर्ण के पक्ष में हों। इसका फल यही निकलेगा कि जनताधीन शासन के स्थान पर वर्गताधीन शासन स्थापित हो जाएगा, अर्थात् व्यक्ति अधिक संख्या में होने वाले बर्णों के अधिकारों और अधिक बर्णों बन जाएंगे। अरस्तू की इस अवस्था में शासन-तन्त्रि शासन-तन्त्र नागरिकों तक सीमित होकर बहुसंख्यक जनता के अधिकांश का शासन बन सकती है।

9 अरस्तू का नागरिकता सम्बन्धी यह विचार उसके राज्य के नैतिक स्वभाव सम्बन्धी सिद्धान्तों के भी विपरीत है। अथवा विभिन्न अर्थों में मिलकर बनता है, दूसरे शब्दों में राज्य व्यक्तियों और अनुष्ठानों में मिलकर बना है। अरस्तू एक अनुष्ठान की सामर्थ्यता में बलित कर देने बाद कर पेश देता है अथवा कार्य पूरा बना देता है।

अपरोक्ष रूपों के होते हुए भी अरस्तू का नागरिकता का विचार इस दृष्टि से उच्चोत्तरी है कि यह अर्थिक नागरिक के सिद्ध अर्थसाधन में प्राप्त केवल सामाजिक सम्पत्ति है। समाजिकता होने के नाते यह मानता है कि नागरिकों के गुणों का निश्चय शासन-व्यवस्था द्वारा होता है। लोकतन्त्र के उत्तम नागरिक के गुण शासकता (Oligarchy) के नागरिक के गुणों में भिन्न होने हैं।

अरस्तू की कानून सम्बन्धी विचार (Aristotle's Conception of Law)

प्लेटो ने अपने नैतिक मानक प्राप्त करने की राह में अपने कल्प 'मीन' में कानून की सर्वोच्च स्थान देने हुए इसका विस्तृत प्रतिपादन किया है। अरस्तू ने भी अपने कल्प 'पोलिटिक' में कानून की राज्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान देने हुए इसके स्वभाव की सीमास्था की हैं।

“राज्य में सर्वोच्चतम शासन का उस राज में अधिक सम्पन्न है कि वह सर्वोच्च व्यक्ति द्वारा शासित हो अथवा सर्वोच्च कानूनी द्वारा क्योंकि वह सामान्य

अपने राजाओं की भलाई के लिए कानून के अनुसार भी होता है। इसलिए, अरस्तु ने कानून की सर्वोच्चता को अत्यन्त सामान्य का एक विशुद्ध माना है, केवल एक सामान्यपूर्ण सामान्यता ही नहीं। प्लेटो ने 'स्टेट्समैन' के बुद्धिमान शासक के शासन और कानून के शासन को वैकल्पिक माना है। अरस्तु के विचार से प्लेटो की यह त्रुटि है। बुद्धिमान ने बुद्धिमान शासक भी कानून के बिना अपना काम नहीं चला सकता। इसका कारण यह है कि कानून निर्विवादिक होता है। किसी व्यक्ति ने, चाहे वह जिसका ही भला क्यों न हो वह निर्विवादिकता नहीं ला सकता। प्लेटो चिन्तित शासन और राजनीति के अन्तर्गत सुलभ किया करता था। अरस्तु इस सुलभता को सर्वोच्च मानता है। अरस्तु के विचार में यदि राजनीतिक सम्बन्धों में सफलता की प्राप्ति होती है तो राजनीतिक सम्बन्ध कुछ इस प्रकार का होता चाहिए कि इसका अन्त अपने विरोध और अविरोध को न छोड़ दें। यह उसी समय सम्भव है जबकि शासक और नागरिक दोनों को कानूनी स्थिति हो। कानून के उद्देश्य से रचित सत्ता मजिस्ट्रेट का स्थान नहीं लेती। लेकिन वह मजिस्ट्रेट की सत्ता को नैतिक महत्त्व प्रदान करती है। मजिस्ट्रेट की सत्ता को यह नैतिक महत्त्व इसके बिना प्राप्त नहीं हो सकता। सर्वोच्च शासन प्रजापति की नीति को काम में लाता है। व्यक्तिगत या निरनुसृत शासन प्रजापति नीति को काम में लाता है। अरस्तु ने द्वायकिक रूपों पर कहा है कि सर्वोच्च शासन द्वायक प्रजापति के ऊपर काम करता है। यह मजिस्ट्रेट के द्वारा प्रदान करता है और अधिकार के विस्तृत विषय होता है। अरस्तु जिस प्रकार नैतिक विवेकता की बात करता है वह जानी ही इसका अर्थ है कि शासन के सिद्धान्तों के अन्तर्गत की महत्त्व। लेकिन, इसकी आवश्यकता के ऊपर प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता।¹⁴

अरस्तु के विचार से सर्वोच्च शासन में तीन मुख्य तत्व हैं—(1) यह शासन जनता अपना सर्वोच्चारण्य की अर्थात् के लिए होता है, किसी भी प्रकार व्यक्ति विशेष की भलाई के लिए नहीं। (2) यह एक निर्विवादिक शासन होता है अर्थात् वह सामान्य सामान्य विधियों के अनुसार चलता है, मनमानी या अविश्वसनीय व्यक्तिगतों के अनुसार नहीं। मान ही यह शासन प्राचीन ग्रीक-रोमन और अधिपतिक विधियों का भी विरोध नहीं करता। (3) यह द्वायक प्रजापति का शासन है। यह केवल तब तक शासन निरनुसृत शासन नहीं होता। अन्तर्गत है कि जबकि अरस्तु ने अधिपतिक शासन की दृष्टि विशेषताओं का स्पष्ट गीति से वर्णित किया है तथापि उसने इसकी व्यवस्था रूप से कही प्रतीति नहीं की है तथा यह सूची पूर्ण है। उन्हे इस बात की भी प्रतीति नहीं की है कि इन तीनों में वास्तविक सम्बन्ध क्या है। हाँ, अरस्तु इस बात के परिचित था कि हो सकता है कि शासन में इन तीनों में से एक विशेषता न हो। उदाहरणार्थ, प्रजापति शासन निरनुसृतता से अपनी प्रजा की भलाई का कार्य कर सकता है अथवा अधिपतिक

मानव धनुचित रूप से किसी एक वर्ग के साथ व्यवहार कर सकता है। भारतू ने सर्वज्ञानिक मानन पर इसका जोर द्योतित् दिया कि वह लोग के इस सुभाव से सहमत था कि कानून की एक व्यापनी व्यवस्था नहीं प्रत्युत वैज्ञिक और सम्म जीवन की एक अचरित्त्व व्यवस्था मानना चाहिए।

कानून की सम्प्रभुता के सम्बन्ध भारतू की कानून की परिभाषा व्यापक एवं सकारणमक है। उसने कानून की उद्य अमरत कल्पनी का कानूतिक नाम दिया जिसके अनुसार व्यक्तिपों से कर्मों का नियमन होता है। वह कानून तथा विवेक-बुद्धि (Reason) को समान तथा बदविधानी मानता है। उसके अनुसार विवेक-बुद्धि मानव-कर्मों के नियमन के लिए एक आध्यात्मिक कल्पन है। इस प्रकार एक तरह से नीति और कानून की समानार्थक सजाएँ हैं। भारतू के मत में नीति (Morality) के समान कानून का भी एक निश्चित तत्त्व होता है जिसकी जाति के लिए राज्य के नागरिक अवलंबी रहते हैं। उसकी मान्यता है कि नैतिक जीवन का उद्देश्य सद्गुणी जीवन को पाना है, कानून के अनुकूल जीवन का महम ग्याय को पाना है। इस तरह ग्याय और सद्गुण दोनों एक ही हैं।

कानून के मूल-स्रोत के नियम में चर्चा करते हुए भारतू का कहना है कि इस सम्बन्ध में संहिताकार (Law-maker) का महत्वपूर्ण स्थान है, जो लिखित कानूनों को कोषित करने के साथ-साथ अनलिखित प्रथाओं तथा रीति-रिवाजों को भी चलाता है। इस तरह वह बताता है कि कानून का मूल स्रोत राज्य न होकर संहिताकार है। यद्यपि दार्शनिक साधार पर वह इसमें परिवर्तन करने के पक्ष में है। वह कानून द्वारा मानव हृदय की सुधारना चाहता है और इसके लिए ऐसे विज्ञा के विद्वानों का निर्धारण करता है जिसके नागरिकों में स्वतः कानून के अनुकूल आचरण करने के भाव उत्पन्न हो जाईं। भारतू कानून द्वारा काछ आचरण को बदलने का परिश्रम प्रयास कानित का समर्थक नहीं है। अतः वह कानूनों के सवाजी तथा अचरित्त्वजीन होने के पक्ष में है। उसके अनुसार यदि मनुष्य सामाजिक रूप से बुरे कानूनों के अनुकूल आचरण करते हैं तो उनका स्वतः उन अच्छी विधियों के अन्वयन हो जाता है, जिसकी आशा की जाती है। उसका निश्चय है कि परिवर्तनी द्वारा राज्य में अतिव्यथा तथा अराजकता पैदा हो जाती है।

कानून के स्वल्प को बताते हुए भारतू का माने कथन है कि कानून प्राकृतिक (Natural) होते हैं। राज्य एक वैज्ञिक अनुदाय है। इसका मुख्य लक्ष्य सद्गुणी जीवन को पाना है। अतः उसके लिए प्राकृतिक तथा स्थायी व अचरित्त्वजीन विधियों की आवश्यकता है। जहाँ एक सामाजिक राज्य का प्रल है उसमें भारतू के अनुसार कानून प्राकृतिक न होकर सविदा तथा लोकधार पर आधारित होते हैं, भारतू भारतू सविदा तथा लोकधार पर आधारित कानूनों को प्राकृतिक विधियों तथा नियमों से चर्चया भिन्न नहीं मानता। उसका कथन है कि लोकधार पर आधारित कानूनों के अन्वयम में प्राकृतिक नियम अर्थ में मिले रहते हैं तथा उनको दृक्-दृक् नहीं किता का सकत है। इस प्रकार एक असीतय राज्य के लिए भारतू

प्राकृतिक जगत् सौकर्यकार १२ साधारण नियमों को महत्त्वपूर्ण स्थान देता है। सबाइन के शब्दों में, "घरस्तू लिखित कानून से उपाययुक्त कानून को अधिक प्रशंसा समझता है और वहाँ तक मानने की तैयारी है कि यदि केवल लिखित कानून का ही जमान हो तो कानून को समाप्त करने की चेष्टा की योजना को स्वीकार किया जा सकता है लेकिन, घरस्तू स्पष्ट रूप से इस बात को सामान्य मानता है कि सर्वाधिक बुद्धिमान शासक का ज्ञान उपाययुक्त कानून से बेहतर होता है। सुकरास और प्लेटो ने प्रकृति और बुद्धि के बीच भारी अंतर माना था और इसी कारण से बुद्धिवाद समस्त उर्ध्ववाद के भी कटुत उपाययुक्त बन गए थे। घरस्तू ने इस अंतर को दूर कर दिया। एक वैयक्त राज्य में राजनेता के विवेक को उस विवेक से समान नहीं किया जा सकता जो उसके द्वारा मानव समस्त के कानून और जगत् दोनों में लिखित होता है।" कानून की वैयक्त और सम्य जीवन की एक अतिशय आवश्यकता मानने समझने दुर्लभताएँ सब तक प्रसक्त हैं जब तक यह न मान लिया जाए कि समुदाय के मान-साध विवेक का भी विकास होता है और यह सामाजिक ज्ञान कानून और कविता दोनों में लिखित होता है।

घरस्तू के मतानुसार अधिपत्य तथा सामन्त एक है और यह अधिपत्य के लिए कानूनों की आवश्यकताओं पर बन जाता है अर्थात् यह विधियों की अधिपत्य के लिए आवश्यक मानता है। घरस्तू चाहता है कि सरकार कानून की सम्प्रभुता (Sovereignty of Law) के अन्तर्गत रहे। सरकार चाहे एक व्यक्ति की हो या प्रत्येक की, उसे स्वयं-हित रखने के लिए विधियों का होना अधिपत्य है। घरस्तू सादर राजा या देशस्य ज्ञान व्यक्ति की कानून के अधीन नहीं करता चाहता। घरस्तू मान ही किसी व्यक्ति को शासन-विधि के अन्तर्गत से पूर्णतः मुक्त भी नहीं रखना चाहता। सादर राज्य में सब समस्त कार्य बुद्धि विवेक से करने पड़ेंगे तो वे कानून के अनुसार ही होने स्वयं कानून और बुद्धि विवेक एक है। वही कारण है कि घरस्तू के अनुसार एक व्यक्ति की सरकार को विधि की सम्प्रभुता को स्वीकार करना चाहिए और इस व्यक्ति को कानून की विधियों तथा कमजोरियों को दूर करने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। घरस्तू घरस्तू इन मत पर स्थिर न रहते हुए इसके विपरीत एक दूसरे मत का अधिपत्य करता है। इस दूसरे मत के अनुसार यह विधियों तथा कमजोरियों को दूर करने का अधिकार एक व्यक्ति को न देकर प्रत्येक व्यक्ति को देना है। घरस्तू एक जन के मत से उत्पन्न करता है कि व्यक्ति चाहे जिसना ही होय एवं सरकारी को न हो, लेकिन यह वह शास्त्री नहीं है सकता कि उसका कुछ समस्त उपाययुक्तों की प्रत्येक एक सरकारी होना और वही प्रत्येक रखते हुए घरस्तू कानून की सम्प्रभुता स्थापित करता है तथा राज्य की समस्त सत्ता को कानून में अन्तर्निहित के अन्तर्गत विधायक है।

घरस्तू का मत है कि कानून मानव की पूर्ण स्थान के लिए आवश्यक है क्योंकि कानून बुद्धि के अधिन अनुभवों तथा बुद्धिमान का आधार बन है। उसके ही शब्दों में "सामाजिक बुद्धिमत्ता का अर्थ है यह कानून और सामान्य में लिखित है।"

कानून में एक ऐसा निराकार गुण है जिसे बुद्धिमान से बुद्धिमान व्यक्ति भी ज्ञाप्त नहीं कर सकता। कानून का साधन केवल व्यवधान और बुद्धि का शासन है, किन्तु अनुभव के साधन में कुछ अन्तों में वस्तु (प्राकृतिक आवश्यकताओं) का भी शासन है। कानून एक प्रकार की साधना से रहित विवेक है और इस प्रकार का विवेक सामाजिक उपायों में भी प्रतिभूत हो जाता है। जो नैतिक व्यवस्थाएँ कानून को प्रतिस्थापन कराती हैं, वे राज्य के नैतिक साधनों के रूप में भी कार्य होनी चाहिए। इसका अविज्ञान यह है कि तत्त्व-राजनीतिक साधन में प्रजाजन की कानून की परीक्षा स्वीकार करनी चाहिए, उनमें स्वतन्त्रता की भावना होनी चाहिए और साधन उनकी सहृदयता पर आधारित होना चाहिए।

अरस्तू की न्याय सम्बन्धी धारणा (Aristotle's Conception of Justice)

अरस्तू ने 'पॉलिटिक्स' में न्याय सम्बन्धी अपने विचारों का वर्णन किया है। न्याय की ज्ञान सभी विचारक न्याय की महत्ता को स्वीकार करते थे और अरस्तू भी उन विचारों के अनुयायी नहीं बन सका है। प्लेटो के मतानुसार वह भी न्याय की राज्य के लिए महत्त्वपूर्ण स्वीकार करता है। वह भी न्याय का सर्व 'वैक कामों का व्यवहार का वे प्रवृत्त करना' उल्लेख है, लेकिन दोनों के न्याय के अन्वय में कुछ भिन्नता है।

अरस्तू के अनुसार सम्पूर्ण ज्ञान विज्ञान का सर्वोच्च लक्ष्य कहा जाता है। न्याय समस्त गुणों का समुदाय है। वह न्याय का अन्वय स्पष्ट करते के लिए उसके दो स्वरूप बताता है—(1) सामान्य न्याय (General Justice), (2) विशेष न्याय (Particular Justice)।

सामान्य न्याय से उसका अन्वय यही होती है कि जिस विषय के बारे में हमें सभी बातों से है। सामान्य न्याय में नैतिक गुण एवं व्यवहारों के सब काम का आगे है। व्यवहारों के सभी कार्य—सभी सदगुणों (Virtues) तथा समस्त सामुदायिक (Righteousness) की ही अरस्तू सामान्य न्याय समझता है।

विशेष न्याय से अरस्तू का अन्वय यही है कि विशेष करने में है। इस न्याय को वह सामुदायिक समानता के सर्व में लेता है। इसका सर्व यह है कि जिस व्यक्ति को जो मिलावा चाहिए उसकी भाँति इस कोटि में धारणी है। विशेष न्याय को सामुदायिक समानता की दृष्टि से अरस्तू इसे न्याय की व्यवस्था के बाँटता है। ये निम्नलिखित हैं—

(क) वितरणप्रमक न्याय (Distributive Justice)—राज्य को चाहिए कि वह अपने नागरिकों में राजनीतिक शक्ति, सम्मान तथा सम्पत्ति और दुरस्तियों का वितरण या वितरण न्यायपूर्ण रीति के करे। अरस्तू विशेष समानता के पक्ष में नहीं है। उसके अनुसार भी योग्य है उसकी ही यह शक्ति, सम्मान या सम्मान मिलावा चाहिए। सामाजिक शक्ति पर किसी को विशेष की शक्ति नहीं होनी चाहिए। राजनीतिक शक्ति को सर्व विशेष की ही दिया जाना राज्य में समुदायिक शक्ति

करने की पूर्णिकर ठीकार करना है। यद्यः धरस्तु दन्दे धानुपातिक समानता के आधार पर (On the basis of proportionate equality) निर्धारित करता बाधता है।

राज्य में जो धनतर प्राप्त जाता है उसका एकमात्र आधार साधक एवं का स्वयं ही नहीं होता बल्कि राज्य के वरत एवं धर्मिकारों के विवरण का उपर्युक्त सिद्धान्त भी होता है। धरस्तु के इस विचारित या विवरणतक सिद्धान्त को सामान्यतः इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—मान लीजिए, अ, ब, ग, द धर्मिक धनकी, व्यक्तित्व सेवा एवं गुरु द्वारा राज्य के हित में समान देन देते हैं। यद्यः राज्य की ओर से दन्दे दिया जाने वाला धुरस्कार धर्मिक पर एवं सम्मान भी उनकी देन के अनुपात में होना चाहिए। यदि इनका योगदान समान है तो धुरस्कार भी समान होना चाहिए, यद्यपि 'अ' राज्य के लिए जिस मात्रा में योगदान देता है यदि 'ब' और 'ग' उसके समान या उसके कम या उसके अधिक योगदान देते हैं तो 'ब' की प्राप्त होने वाले धुरस्कार के समान या उसके कम या उसके अधिक मात्रा में उचित अनुपात की ध्यान में रखते हुए 'ब' और 'ग' को भी धुरस्कार मिलने चाहिए।

उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि धरस्तु के 'विवरण' भाष का सामान्य राज्य के सभी धर्मिक धुरस्कारों के विवरण में है। धरस्तु प्रत्येक व्यक्ति को वे वर और धुरस्कार उस मात्रा में अनुपात में देना चाहता है जिस मात्रा में उसके सभी योग्यता और धन से राज्य की लाभ पहुँचाया है। धरस्तु का मत है कि वह एक ऐसी व्यापक व्यवस्था है जो समान में समान और समान को समान देती है। विष्णुदेव के हस्तों में धरस्तु की इस भाषा की इस इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—“यूँकि धर्म और सेवा राज्य के नीतिक आधार हैं, यद्यः धर्म और बुद्धि, समन्वय एवं सन्धिरणों के सर्वाधिक उपायवासी बरतते हैं। धानुपातिक समानता और विष्णु व्यवहार की अनुपनिबन्धन राज्य के समान की ओर से जाने वाली है और नगर की दुकानों-दुकानों में मिलने देती है। जब समान के एक पक्ष को वर मिलना ही जाता है कि उसकी धर्मिकारों को समान दिया जा रहा है और उसके प्रति भाव नहीं दिया जा रहा है तो कोई सेवा सम्मान नहीं पद सकती।”¹

धरस्तु के धुरस्कार विवरणतक ध्यान का सिद्धान्त सब राज्य में समान नहीं होता। इस सिद्धान्त के सीमित को सामान्य रूप के सभी व्यक्ति धन देने दोनिक व्यक्तित्व गुरु और राज्य के हित में योगदान के मानक के विवरण में पतयेर होते। विष्णु देव के समान भाष की मानने हेतु विष्णु भाषा का उपयोग करते हैं। धरस्तु के विभिन्न भाषों के बन्धन समान जाने वाले भाषाओं का इस प्रकार वर्णन किया है—

1. सन्धिरणतन्त्रधर्मों की धरणा है कि धरस्वारी व्यक्ति करने धरस्वारी द्वारा राज्य का कल्याण करते हैं, यद्यः राज्य के वर एवं गति उनको ही मिलनी चाहिए।

2. अतिरिक्तवादिनों का कहना है कि अतिरिक्त व्यक्ति ही राज्य को सबसे अधिक योगदान देते हैं, अतः वे ही राज्य के सद एवं शक्ति के अधिकारी हैं।

3. अनुसूक्तवादिनों का दावा है कि स्वतन्त्रता एवं समानता का आधार मानकर राज्य के पक्षों का विचारण होना चाहिए।

घरस्तू का विचार है कि व्यापक रूप में विज्ञान के आधार पर किसी शासन प्रणाली को उत्कृष्ट या निम्न मानना का अधिकार है। उसने इस आधार पर सर्वोच्च स्थान राजतन्त्र को दिया क्योंकि इसमें सर्वोच्च कयाचार का प्रारण होता है। उसके अनुसार दूसरा कम अतिरिक्तवादी (Aristocracy) का है जिसमें उच्च समाचार का प्रारण किया जाता है और तीसरे कम पर प्रजातन्त्र या मजदूरवादी (Polity) का है जिसमें सामान्य कयाचार को मानकर पक्षों का विचारण किया जाता है। शासन के विभिन्न स्वरूपों में वह अनुसूक्त (Democracy) को सर्वोच्च मानता है। इसके बाद उसकी दृष्टि में अतिरिक्त और निरनुसूक्त राजतन्त्र (Oligarchy and Tyranny) हैं।

घरस्तू का कहना है कि व्यापक रूप में अनुसूक्त, कम, स्वतन्त्रता एवं समानता आदि को आधार न मानकर मूल्य (Values) को आधार मानना चाहिए। उसकी मान्यता है कि हम एक मुख्यवादी व्यक्ति से हर प्रकार के मूल प्राप्त कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त हमें यह भी देखना चाहिए कि व्यक्ति के समाज के लिए क्या किया है। इस विज्ञान के द्वारा मूल्यवादी व्यक्ति को समझना से सीखा जा सकता है जिसमें वैदिक, बौद्धिक एवं धार्मिक आदि सभी तरह मिल जायेंगे। इस तरह राज्य के पक्षों को मूल्यों के आधार पर विचार करना चाहिए और यही सच्चा विचारणात्मक व्यापक है।

बहुत कुछ तर्क-वितर्क के बाद घरस्तू इस विचार को और मजबूत है कि सर्वोच्च शक्ति जनता के हाथ में होनी चाहिए। वह 'अतिरिक्त' में लिखता है— "यही विज्ञान स्वीकार करने योग्य है कि सर्वोच्च शक्ति कुछ पक्षों से व्यक्तियों के हाथ में न होकर जनता के हाथ में होनी चाहिए।" यह विज्ञान यद्यपि धार्मिकों से मुक्त नहीं है, फिर भी इसमें एक सत्य का प्रारण निहित है। घरस्तू का मत है कि ऐसा करने से राज्य की स्थायित्व बढ़ाना किया जा सकता है। शक्ति जनता के हाथों में न होने पर अन्त-प्रारणों से अत्यन्त उल्लेख होने का प्रारण होता है। अतः शक्ति से बचने के लिए सर्वोच्च शक्ति को जनता के हाथ में होना अनिवार्य है। इस विज्ञान का अर्थ है कि घरस्तू आधुनिक आधुनिकता के विज्ञान का अर्थ है। इस तरह एक आधुनिक विचार के निकट आते हुए वह कहता है कि इसके बने समाज एवं राज्य की कुछ-कुछ सेवा प्रारण होता है, अतः हमें उत सेवा का प्रारण करने उनी अनुसूक्त में पक्षों को भीट देना चाहिए। घरस्तू का मुख्य ध्येय राज्य की स्थायित्व बढ़ाना है और इसलिए हमें व्यापक के विचारणात्मक विज्ञान की रचना की है।

(ख) संशोधनसत्यक या सुधारसत्यक न्याय (Rectificatory or Corrective Justice)—सुधारसत्यक न्याय एक नागरिक के दूसरे नागरिक के सम्बन्ध को नियमित करता है। यह नुस्ख रूप से धनात्मक (Positive) है। राज्य के विभिन्न सदस्यों के पारस्परिक व्यवहार में कलह होने वाले दोषों को ठीक करके उनमें यह सुशोधन करता है।

सुखोपनादमन्त्र न्याय का परिष्कारक न्याय भी हो प्रकार का है—

(1) प्रथम प्रकार के न्याय को ऐच्छिक कह सकते हैं, जिसमें विभिन्न सर्वोच्च न्यायाधीशों के द्वारा एक व्यक्ति दूसरे से करता है। उनके सोझे पर न्यायालय उनकी डीक करता है।

(2) दूसरे प्रकार का गंध संवेक्षक होता है, जबकि कोई नागरिक किसी दूसरे को गंध पहुँचाने को कोशिश करता है, तो राज्य गंध छहाने वाले व्यक्ति को सजाई करता है, व्यवस्था को दण्ड देता है।

सारस्वत के सरोधनसमक म्याय के द्वारा राज्य का यह कामजबस्व कुलसंनिहित हो जाता है जो नागरिकों के अनर्जबिहार साधारण के कारण विनाश माला है ।

प्रस्तुत व प्लेटी के ग्राफ समझनी विचारी की तुलना

(1) जहाँ पौंदरी के अनुसार ग्याय का धर्म है अर्थात् जो द्वारा अपनी योग्यता के अनुसार राज्य में अपने विभिन्न कामें करना, जहाँ धर्म से विभक्त ग्याय के विद्वान्त से शासन है—राज्य की सेवा में लगाई गई या राज्य की दी गई अपनी अविच्छिन्न योग्यता या कवचों के आधार पर राज्य में पर या पुरस्कार प्राप्त करना ।

(2) पीढी के सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन को ध्यान में रखते हुए, समाज के विकास के लिए आवश्यक शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, आवास, परिवहन, मनोरंजन, सुरक्षा, आदि सुविधाओं का प्रबंधन करना है।

(3) धारस्तु सामान्य व्यापक व विशिष्ट व्यापक में विभक्त है। पीछी इन प्रकार के किसी एक को लगे कायदा। "विशेषित" के विशिष्ट धारतन राज्य में पीछी का व्यापक धारस्तु के पूर्ण व्यापक या सामान्य व्यापक के समान है। उसने विशिष्ट व्यापक की कल्पना को जोड़कर धारस्तु में व्यापक को आधार को अधिक विस्तृत कर दिया है।

(4) सरसू की न्याय कल्पना ध्येयी की न्याय कल्पना से अधिक स्पष्ट विचार और वैज्ञानिक है।

कुछ विद्वानों ने मरुतु के गिटरशास्त्रिक न्याय की समीक्षा की है। वे मरुतुिक दृष्टि से ऐसे न्यायकारिकता नहीं मानते। नवनि साङ्गना गिटरशास्त्रिक न्याय के आधार पर पर नहीं दिए जाते किन्तु फिर भी विद्वानों के ध्यान में लीयी हुई सत्यता और न्याय भावना से सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण है।

परन्तु के शिक्षा सम्बन्धी विचार

(Aristotle's Conception of Education)

निष्ठा एक ऐसा वाक्य है जिसके द्वारा व्यक्ति को पञ्चनिहित सतियों का

निकास होता है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति के निहित सामाजिक गुणों का सुदिकरण एवं परिष्कारित होता है। शिक्षा के द्वारा व्यक्ति की भावना की वृद्धि बनाया जा सकता है। वह राज्य में अपने अधिकारों और कर्तव्यों को जान पाता है।

यूनान के प्रायः समस्त दार्शनिकों ने शिक्षा को बड़ा महत्त्व दिया है। यूनान की समता और समृद्धि में इसका एक विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। प्लेटो और अरस्तू जैसे महारथियों ने शिक्षा-व्यवस्था पर बड़े मनोबोध से विचार करके अपने मत प्रकट किए हैं।

भारतू ने अपने शिक्षा सम्बन्धी विचारों का विशेष 'पॉलिटिक्स' की चौथी पुस्तक में किया है। प्लेटो के अनुसार वह भी, नागरिकों के चरित्र निर्माण के लिए शिक्षा को आवश्यक मानता है। उसके अनुसार शिक्षा सर्वोत्तम मनुष्य भावने राज्य के लिए एक अनिवार्य उत्तर है। आदर्श राज्य के निर्माण और स्थिरता के लिए उत्तुंग शिक्षा-व्यवस्था पर आवश्यक है। भारतू को शिक्षा का उद्देश्य नागरिकों की सुविधान के अनुगुण करना है। ताकि राज्य और अपने किसी प्रकार का विवेक न वह वायु और नागरिकों के सामाजिक-स्तर की भी उन्नति हो जाए। इसी दृष्टि से उसके अनुसार शिक्षा अविनाश योग्य में न होकर राज्य के क्षेत्र में होनी चाहिए।

शिक्षा के तीन मूल सिद्धान्त

(1) राज्य के निवासियों को इस प्रकार की शिक्षा में मिलित करना है जिससे राज्य के निवासी स्वयं को राज्य का योग्यतम अंग बनकर स्वयं का और राज्य का विकास कर सकें। वह सब नागरिक के लिए एक जैसी शिक्षा की व्यवस्था करता है।

(2) भारतू के अनुसार शिक्षा राज्यवैधि का एक मूल है, मरत इसका एक राज्यवैधिक उद्देश्य है, जिसकी प्राप्ति सभी हो सकती है जब शिक्षा राज्य के नागरिकों को परिष्कार और नैतिक बनाये।

(3) शिक्षा नागरिकों की सुविधान के अनुगुण बनाए।

भारतू की शिक्षा का मनोवैज्ञानिक आधार

भारतू का कहना है कि शिक्षा का उद्देश्य सर्वोत्तम विकास होना चाहिए। इस सम्बन्ध में उसने भी प्लेटो की 'पॉलिटिक्स' मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को आधार बनाकर शिक्षा का विशेषतः किया है। शिक्षा का परम उद्देश्य मानव-विकास है और भारतू के अनुसार मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से मानव-विकास के इस विकास के तीन सीमान हैं। ये तीनों सीमान सम्बन्धित हैं—

(1) प्राकृतिक गुणों का सीमान (Stage of Natural Endowment)—प्रथम सीमान के सम्बन्ध प्राकृतिक या कुछ मनुष्यव्यक्त विशेषताओं की बहुलता रहती है। मनुष्य शिक्षा प्राप्त की प्राकृतिक गुणों में आधार ही परिवर्तन जा सकती है, किन्तु भारतू अपनी शिक्षा योजना द्वारा इन गुणों में परिवर्तन माने के लिए प्रयत्नशील है। उनका मत है कि नवजात शिशुओं की धातुवर्धक प्रवृत्तियों की

गतिविधि को सर्वोत्तम राज्य के दुर्गों के अनुसूच योग्य कर सकता है। गति विनाई सम्पूर्ण और अनसूच्य पर नियन्त्रण रखा जाए तो निम्न ही कुछ धर्म के दो प्रभावित विद्या आना सम्भव है।

(3) **स्वाभाविक प्रवृत्तियों का सीधन (Stage of Innate Tendencies)**—साधन-विद्यार्थ के दूसरे सीधन में स्वाभाविक प्रवृत्तियों की प्रकटता रहती है। उसका विचार है कि इस स्तर पर शिक्षा-व्यवस्था का उपयोग करके उन्हें प्रष्टे परिणाम निकाले जा सकते हैं, क्योंकि इन प्रवृत्तियों को शिक्षा प्रणाली में सम्मिलन करनेवाले के साथ जा सकता है। यह सीधन भावना-प्रधान और जीवन का सुखीकृत काल होता है। इस काल में विवेक धर्मों तीव्रतापूर्वक में रहता है। बुद्धि इसकी परिपक्व नहीं होती कि वह कोई उचित निर्णय ले सके। किन्तु स्वार्थ के समक्ष प्रकट इच्छाएँ और भावनाएँ रहती हैं जिनसे वह कर उसके मन में विचलित हो जाने का भय रहता है। मत- यह उचित है कि शिक्षा द्वारा उसकी आवश्यकताओं और इच्छाओं को नियन्त्रित किया जाय। किन्तु इसकी विवेकपूर्ण प्रवृत्तियों के नियन्त्रण में ऐसा कामा उपयुक्त है। उपर्युक्त शिक्षा द्वारा उनके मनमाने में ऐसा बाधाबल प्रदान किया जा सकता है जिससे उन्हें बाह्य, तबम मानि सद्वृत्तियों का विकास हो सके तथा उनकी इच्छाओं पर अनुकूल प्रभाव हो जाय। परन्तु यह विचार है कि इस काल में ही यदि उपयुक्त शिक्षा विद्यार्थी को सुधार कर अपने की प्रेरित करेगी, इसकी बुद्धि को प्रकटता प्रदान करेगी। परन्तु बाह्यता है कि इस स्तर पर शिक्षक धर्मों छात्रों शिक्षण पद्धति द्वारा विद्यार्थी में कुछ ऐसी विवेकपूर्ण प्रवृत्ति कर दें कि उनकी धर्म जीवन-परिणाम बनी रहे।

(3) **बौद्धिक स्वायत्त-निर्णय का सोचना (Struggle for Rational Self-determination)**—एक व्यवस्था में मनुष्य कोई चीज धारित या धारित के बर्तनपूत होकर नहीं करता है, बल्कि अपनी मुक्ति एवं स्वतंत्रता के लक्ष्य में लड़ता है। एक स्वतंत्र विचार द्वारा व्यक्ति के विवेक और तर्क की प्रशिक्षण दिया जाता है जिससे बौद्धिक मनुष्य को अपनी विवेक और तर्क-शक्ति से परिचित करके स्वतंत्र उपयोग करने के लिए उत्तरदायी करता है। व्यवस्था की मान्यता है कि इस तरह पर मनुष्यित विचार द्वारा स्वतंत्रता की पहुँच से परिचित होकर व्यक्ति स्वतंत्रता पाने के लिए प्रयासशील हो उठता है। यदि व्यक्ति अपने व्यवस्था के लक्ष्य समझता है तो व्यवस्था उसे जीवन की पूर्णता प्राप्त होती है। व्यवस्था का विचार है कि जिस तरह राज्य अपने विचारों की विभिन्न शक्तियों को धार करके अपने प्राप्ति के लक्ष्य में अपनी पूर्णता की प्राप्ति होता है, उसी शक्ति मानव-व्यवस्था की विचारों के विभिन्न शक्तियों को धार करके अपने लक्ष्य के प्राप्ति करती है क्योंकि अपने विचार पर निर्भरता है।

समस्या को गिनना का जटिलता

यहाँ पोली के साथ ही जंगल की शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य 'पर्यावरण की रक्षा' का नहीं, पर्यावरण का विविध प्रविष्टिभोज है। पर्यावरण की रक्षा के

विज्ञा का उद्देश्य नहीं है कि व्यक्ति की भावनात्मक स्थितियों को दूरवा प्राप्त कर विज्ञा जगत् जिसके बुद्धि धरम विवेक की विज्ञान का धरमर मिल करे । धरमू की विज्ञा का उद्देश्य लोगों को उत्तम नागरिक बनाना है । नागरिकों को शांता-पालन करने और शासन करने की विज्ञा दी जानी चाहिये । धरमू चाहता है कि राज्य में निष्ठा की ऐसी व्यवस्था की जाय कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने विवेक की विवक्षित करने का धरमर मिले । यदि व्यक्ति के विवेक का पूर्ण विकास होना हो उसके अनुगुल उत्पन्न हो जाये । व्यक्ति का यह विवेक उत्तम उद्ये जीवन में शांति की प्राप्ति कराएगा और उसे भावन्, चिन्तन्, सुन्दरन् को और सदर करेगा । तार रूप में कहना चाहिये कि धरमू की विज्ञा का उद्देश्य व्यापक एवं सार्वभौमिक है ।

विज्ञा का राज्य द्वारा नियन्त्रण

धरमू के विचार है विज्ञा का उत्तरदायित्व राज्य पर होता चाहिये, क्योंकि (१) हमारे राज्य की शासन-व्यवस्था को सुनि चढ़ाने की सम्भावनाएँ पूर्णित हो जायँगी और यह विज्ञा द्वारा नागरिकों को अपनी शासन-व्यवस्था के लिए अनुकूल भावे में डाल सकेगा, तथा (२) राज्य अपनी निष्ठा-व्यवस्था द्वारा स्रेष्ठ नागरिकता का विकास कर सकेगा और इस प्रकार अपने विविध लक्ष्य की पूर्ति की विज्ञा में कर सकेगा । धरमू विज्ञा पर राज्य का नियन्त्रण चाहता है क्योंकि विज्ञा की अपने अधिकार में केवल ही राज्य सभी नागरिकों को समान जानते हुए उनके विकास में भी समावृत्ता का निर्देशन कर सकता है । राज्य की दृष्टि में उसके सभी सदस्य समान हैं, वह राज्य अपने सदस्यों के लिए ही कुछ भी व्यवस्था करने का यह सबके लिए होती, उसका उद्देश्य भी एक ही होता । व्यक्तिगत लक्ष्यों द्वारा विज्ञा का ऐसा शासकन सम्भव नहीं है, क्योंकि उनके उद्देश्यों में विविधता होती है । धरमू राज्य में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए एक ही प्रकार की शिक्षण-व्यवस्था को आवश्यक मानता है और यह केवल सभी सम्भव है जब निष्ठा पर राज्य का नियन्त्रण हो । नागरिक अपनी भावनाओं और दृष्टियों के स्वामी नहीं है अतः वे ही राज्य के अधीन तथा राज्य की शक्त है । इसीलिए उन्हें राज्य द्वारा ही विज्ञा प्रेरित करनी चाहिये ।

धरमू यह भी चाहता है कि विज्ञा निःशुल्क, अनिवार्य और सार्वभौमिक हो, क्योंकि प्रतिष्ठित मनुष्य राज्य के लिए मार हैं, प्रतिष्ठित विद्या सभ्य के समय भर का धरमर बन जानी है और प्रतिष्ठित मायक अपनी नैतिक एवं मानसिक शक्तों का विकास नहीं कर पाये । धरमू यह यथ में भी है कि राज्य द्वारा नियन्त्रित शिक्षण-व्यवस्था में नैतिक उद्दिष्टानु को मुख्य स्थान दिया जाय । व्यक्ति और नागरिक में कोई धरमर नहीं होता, 'धरमर व्यक्ति ही धरमर मानसिक होता है । नैतिक प्रतिष्ठित इस व्यक्ति को धरमर बनाना आवश्यक है क्योंकि सभी यह सब धरमर जीवन व्यतीत करेगा और राज्य को धरमर बनाने में योग देगा ।

धरमू की विज्ञा का स्वल्प या उसकी स्मरण

कहो और धरमू दोनों को ही इस बात का भारी बोध था कि नहीं सारी के बालों और पुत्रों की विज्ञा के लिए नहीं उत्तम योजना की नहीं ऐसेक इस

विद्या की महत्त्व देना चाहिए। धरन्तू इस धारणा में, मनीषा की शिक्षा को प्रधान करता है। नैतिक जीवन की उत्पत्ति की दृष्टि से वह मनीषा को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान देता है।

(3) 15 से 21 वर्ष तक—यह अवधि शिक्षा की तीसरी सीढ़ी है। इस अवधि में छात्रों की उम्र मस्तिष्क के स्वरूप के अनुसार प्रविष्टिजि ज्ञान जाना चाहिए जिसकी समीक्षा में उन्हें रहना है। इसके प्रविष्टिजि छात्रों के मानसिक एवं शारीरिक विकास की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। धरन्तू ने छात्रों के प्रविष्टिजि मानसिक विकास के लिए अवधि के प्रारम्भिक तीन वर्षों में निरन्तर मनीषा अध्ययन की आवश्यकता की है। इस अवधि में छात्रों के मस्तिष्क के विकास की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए और अध्ययन विषयों में पठना, लिखना, सुनना, चित्रकला, संगीत, प्रयोगशाला, रसायन विज्ञान आदि समस्त होने चाहिए। इन तीन वर्षों की अवधि के प्रारम्भ छात्रों के बीच अवधि के दौरान कठिन परिश्रम और स्वायत्तता कायम करना चाहिए। उनको वैज्ञानिक प्रविष्टिजि भी दिया जाना चाहिए।

विद्या की इस तीसरी सीढ़ी में धरन्तू ने शारीरिक या मानसिक एवं शारीरिक समस्त सम्बन्धी दोनों ही प्रकार की शिक्षा पर पर्याप्त धन दिया है। मानसिक और शारीरिक प्रविष्टिजि को दो अलग-अलग भागों में रखने का कारण बताते हुए धरन्तू ने कहा है कि 'मस्तिष्क और शरीर के एक ही समय में कार्य किया जा सकता है'। दो विभिन्न प्रकार के कार्य स्वाभाविक रूप से विभिन्न और विपरीत परिणाम उत्पन्न करते हैं। शारीरिक कार्य मस्तिष्क को सुनिश्चित करता है जो मानसिक कार्य शारीरिक कृति को प्रेरित है। धरन्तू की इस विद्या का कार्यक्रम 21 वर्ष की अवस्था पर समाप्त हो जाता है लेकिन धरन्तू इसका अर्थ यह नहीं बताते कि विद्या की अवधि 21 वर्ष तक की हो सकती है। उनके अनुसार विद्या जीवन का एक कर्म है जो जन्म से प्रारम्भ होकर जीवन के अन्त तक चलता रहता है।

बोटी की सम्पूर्ण विद्या योजना एक बुद्धिबोधित, अनिवार्य विद्या प्रणाली को प्रस्तुत करती है। विद्या की दृष्टि से भी वह मध्यम मार्ग की ही महत्त्व देता है। वह न केवल शरीर का ही विकास चाहता है और न केवल मन का ही, परन्तु दोनों का समुचित विकास है।

धरन्तू के विद्या सिद्धान्त की मुख्य विशेषताएँ

(1) विद्या की एक मूल्य, परिणामी के द्वारा धरन्तू व्यक्ति को सुयोग्य, सक्षम बनाने का उद्देश्य करता है।

(2) धरन्तू की विद्या योजना का मनोवैज्ञानिक आधार है जिसके अनुसार बच्चों की उनकी मनोवैज्ञानिक क्षमताओं के अनुसार विद्या प्रदान की जाती है। इसमें प्राकृतिक, स्वाभाविक अनुकरण आदि प्रणालियों का समावेश है।

(3) धरन्तू के अनुसार विद्या का उपयोज्य व्यक्ति का शारीरिक विकास करने के साथ-साथ उसकी 'इच्छा' (Will) का विकास करना है इसलिए वह

घावनी शिक्षा में संघीय एवं कला को विशेष स्थान देता है। स्पष्ट है कि घावनी की शिक्षा पद्धति का राजनीतिक तथा नैतिक महत्त्व होने से साथ ही साथ कलात्मक महत्त्व भी है।

(4) सरलता की शिक्षा योजना व्यवस्थापनवाद से मुक्त है क्योंकि सरलता व्यवस्थापनवाद की स्वतन्त्रता के लिए पाठक समर्पण है।

(3) सरकार ने अपने शिक्षा-यन में नैतिकता को राज्य की सुनिश्चिता का आवश्यक अंग स्वीकार किया है।

साइंस के जिधा सिद्धांत की प्रालोचना

(1) भारत में सूचीत की अनावाक्य एव अत्यधिक विविधता प्रदान की है। इस तरह शिक्षा के अत्यधिक महत्व की अधिक जानकारी में आया गया है। कार्कर (Barker) ने इस पर लिखा है कि सूचीत शिक्षा पर महत्व देने हुए वह अपने गुरु शिरो के भी बाद अन्य साथे कर दिया है।

(2) भारत की निम्न योजना सम्माननिय है। काङ्ग्रेस के सम्मान पर उभने बहुत ही कम महत्त्व दिया है जबकि काङ्ग्रेस किसी भी राज्य एवं समाज के निर्वाण में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

(3) भारत की शिक्षा प्रणाली में, बौद्धिक विकास के लिए व्यवस्था नहीं है। 14 वर्ष तक बालकों के लिए ऐसी किसी भी शिक्षा का अवकाश नहीं है जिससे उनका बौद्धिक विकास हो सके। इस अवधि तक बालकों को शारीरिक शिक्षा ही प्रदान करता है। उनके अनुसार ही 21 वर्ष की आयु में प्राप्त मुक्त भी बौद्धिक दृष्टि से सम्भव नहीं हो पाता।

(4) मित्रता का पूर्ण प्राप्तीकरण सर्वोच्च समीकृतान्तरिक है जिसका कभी समर्थन नहीं दिया जा सकता है ।

(5) सरकारी शिक्षा योजना केवल भाषाईको के लिए रहता है। हम तरह-तरह की प्रयोगशालाएँ, जो भाषाईको के सम्बन्ध में होती हैं, शिक्षा योजना के अन्तर्गत नहीं आती हैं।

अरस्तू की शिक्षा-बोझना का महारण

[illegible]

समर्पित कर घरस्तू का प्रभाव स्पष्ट है, भदुरी, घरस्तू द्वारा प्रयुक्त अनेक शब्द प्राच्युनिक शिक्षा दर्शन और विज्ञान में देखने को मिलते हैं एवं यद्यपि, घरस्तू ने ज्ञान का जो वर्गीकरण किया उसके आधार पर आज भी यूरोप के बहुत से विश्वविद्यालय अपनी विभिन्न विषय-पुस्तकों का वर्गीकरण करते हैं।¹

कुछ विद्वानों का तर्क है कि घरस्तू की शिक्षा का स्पष्ट व्यक्तित्व का विकास करना नहीं। अतः सन्निधान के अनुकूल सामग्रियों का चरित्र निर्माण करना है। इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह अपनी यह शिक्षा-योजना प्रस्तावित करता है और इसमें राज्य की महत्वपूर्ण स्थान देकर यह व्यक्ति को उसके सम्पूर्ण ज्ञान देता है लेकिन प्राच्युनिक शिक्षा आधुनिक शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य व्यक्तित्व का विकास करना मानते हैं। वे व्यक्ति को राज्य के लिए विलीनित नहीं होने देते। उनके अनुसार राज्य व्यक्ति के विकास के लिए साधन के रूप के कार्य करता है।

घरस्तू एवं प्लेटो के शिक्षा-सम्बन्धी विचारों की तुलना समानताएँ

(1) दोनों मानव आत्मा के प्रतिष्ठान्त में विश्वास रखते हैं। अतः केवल नहीं है कि प्लेटो के अनुसार मानव आत्मा त्रैविधित्व होती है तथा शिक्षा का उद्देश्य केवल 'देवी को उन्नतोग्मुख कर देना है' जबकि घरस्तू इसकी प्रतिष्ठान्त को भू-वर्तित्व कम से अनुसार करता है।

(2) दोनों की शिक्षा योजना राज्य द्वारा नियंत्रित है।

(3) दोनों शिक्षा के वैज्ञानिक स्पष्ट में विश्वास करते हैं। दोनों ने ही चरित्र तथा स्पष्टता के प्रतिष्ठान्त पर ध्यान दिया है।

(4) शिक्षा योजना को कार्यनीति करके दोनों ने मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणों का सहारा लिया है। दोनों का यही विचार है कि पाठ्यक्रम एक ऐसा स्थल है जहाँ 'मनो' के प्रति प्रेम तथा 'बुद्धि' के प्रति प्रयत्न की आवश्यकता पैदा होती है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए दोनों ही ने लक्ष्य का सहारा लिया है।

(5) दोनों ने शिक्षा व्यवस्था का उपयोग राज्य की सुविधा के लिए किया है।

(6) दोनों ही ने शिक्षा का एक निश्चित कार्यक्रम निर्धारित किया है।

(7) दोनों विचारक स्वार्थों की शिक्षा प्रणालि से प्रभावित हैं और इसलिए प्राथमिक चरण, व्यापक प्रादि पर बल देते हैं।

(8) दोनों ने ही शिक्षा के सामर्थ्य के विचार और सन्तुष्टि-विषय का प्रयोग किया है।

समानताएँ

(1) घरस्तू की शिक्षा का अर्थ विवेक की शिक्षा का सर्वोत्कर्ष में होता है, जबकि प्लेटो की शिक्षा का अर्थ 'अद्विष्ट' की प्राप्ति के रूप में होता है।

(2) भारत में सभी शिक्षा पाठ्यक्रम में साहित्य की उल्लेख करता है। साहित्य के अध्ययन पर बल देता है। यह केवल साहित्य के सामाजिक जीवन पर प्रतिबन्ध लगाता है।

(3) सभी के स्वतन्त्र के सम्बन्ध में दोनो दार्शनिकों के विचार समान नहीं हैं।

(4) शिक्षा के क्षेत्र में भारत की शिक्षा व्यवस्था दूसरी समझ नहीं है, जिसकी ओरों की शिक्षा नहीं पड़ती है। भारत की शिक्षा का कार्यक्रम भी ओरों में मिश्र है। ओरों की शिक्षा योजना वहीं बुझावस्था तक के लिए शिक्षा का कार्य प्रस्तुत करती है वहीं भारत की शिक्षा योजना में 21 वर्ष की आयु तक के लिए शिक्षा का प्रस्ताव किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत की ओरों की शिक्षा व्यवस्था वहीं समझ नहीं है, वहीं उसके समानता भी समझ नहीं है। इसका प्रमुख कारण यह है कि ओरों का विचार होकर हुए भी भारत में पूर्ण रूप से अपने रूप के विचारों का प्रस्तुत नहीं किया है, बल्कि अपनी मौलिकता का परिचय देने की उल्लेख करता है।

संविधान का अर्थ और संविधानों का वर्गीकरण (Meaning of the Constitution and Classification of Constitution)

'संविधान' के लिए भारत द्वारा प्रयुक्त यूनानी शब्द है 'पोलिटिया' (Politeia) जिसका समानार्थक है 'कॉन्स्टिट्यूशन' (Constitution)। यह वह समानार्थक 'पोलिटिया' शब्द में निहित सामाजिक मान की व्यक्त नहीं करता क्योंकि भारत ने इसका प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में किया है। भारत के अनुसार, 'संविधान राज्य के सभी की वह व्यवस्था है, जिसमें यह निर्धारित किया जाता है कि राज्य का जीवन यापन नियंत्रण सर्वोच्च पर, किसे मिले।¹ राज्य का निर्धारण संविधान ही करता है तथा शासक वर्ग का स्वतन्त्र संविधान के स्वतन्त्र का निर्धारण करता है। इस तरह राज्य एवं संविधान एक ही बात है। यदि किसी राज्य के संविधान में परिवर्तन कर दिया जाता है तो उस राज्य में भी परिवर्तन हो जाता है। इसमें यह बात भी निहित है कि राज्य और वन एक बात है। यदि कोई नया राज सत्ता प्राप्त कर लेता है तो वह संविधान को परिवर्तित कर देता है और इस तरह राज्य में भी अनुक्रम परिवर्तन या जाता है। प्राथमिक रूप में हमें भारत की उपरोक्त कारणों का प्रतीत होती है। इसका कारण यह है कि हमारी दृष्टि में भारत के अनुक्रम संविधान का व्यापक महत्व नहीं है। भारत संविधान को राज्य का एक घन और उसके अर्थों की एक कानूनी आधार मान नहीं मानता। उनके

1 - The Constitution is an arrangement of a state determining their distribution, the exercise of sovereignty and the ends of political association."

लिए तो संविधान स्वयं राज्य है, यह सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन की अभिव्यक्ति है। भारत के महानुद्भूत यही यह ध्येय है जिसे पत्रों के लिए नागरिकों ने स्वयं को एक राज्य के रूप में समर्पित किया है। भारत में संविधान के प्रति मूलानी दृष्टिकोण प्राथमिक दृष्टिकोण की अपेक्षा बहुत अधिक स्वातंत्र्य था। उसकी दृष्टि में संविधान में परिवर्तन हो जाने का तात्पर्य केवल मात्र पर-स्वयंस्था में परिवर्तन हो जाना ही नहीं था अपितु जनता के नैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक सुखों का पतन जाना भी था। इसके लिए यह निश्चित एक तरह की अपेक्षा थी।

भारत की संविधान सम्बन्धी उपयोग्य धारणा मूलान के उत्कृष्टतम दृष्टिकोण के प्रकाश में नहीं थी। उस समय प्रायः अत्यंत गहर-राज्य में वर्तमानियों एवं जनतन्त्रियों में सुझाव रहता था। किसी भी एक दल की जीत का अर्थ केवल यही नहीं था कि उसके नेता सरकार बना दें, बल्कि उस जीत से यह निर्णय भी होता था कि राज्य की सर्वोच्च शक्ति कुछ दलितों की शक्तियों के हाथों में रहे अथवा भारत की बाह्यद्वार वर्तमानधारण के हाथ में नहीं जाए। यदि जनतन्त्रियों की विजय होती तो ही राज्य में प्रजा या सर्वोच्च सत्ता का एक सामाजिक वर्ग में निहित होगा या और वर्तमानियों की विजय का अर्थ था—राज्य में एक दूसरे वर्ग का प्रधान होगा। इस तरह मूलान में संविधान प्राथमिक रूप के वर्तमान के समान समस्त सुझाव से ऊपर नहीं होता था। उनके लिए तो संविधान स्वयं-विन्दु था। भारत की दृष्टि में राजनीति में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि राज्य की सर्वोच्च शक्ति किस सामाजिक वर्ग के हाथ में है, उसका स्वरूप क्या है।

भारत के इन विचारों से उसके द्वारा द्रष्टा राज्य और सरकार का भेद मूलान में स्पष्ट हो जाता है। जहाँ राज्य नागरिकों का समुदाय है वहीं सरकार एवं नागरिकों का समूह है जिन्हें हमारे में राजनीतिक शक्ति और साधन-सम्पत्ति का कार्य है। उच्च राजनीतिक दलों वाले व्यक्तियों में परिवर्तन आने पर सरकार में भी परिवर्तन आ जाता है, परन्तु राज्य में उन्हीं परिवर्तन आते हैं, जब इनके संविधान में परिवर्तन हों।

संविधान का वर्गीकरण (Classification of Constitution) ✓

भारत द्वारा संविधान का वर्गीकरण राजनीति शास्त्र की कोई भी दृष्टि देव नहीं है। अपने छोटी द्वाया 'स्ट्रुक्चर' में लिए यह राज्यों के वर्गीकरण की ही प्रकाश आधार बनाता है।

भारत ने संविधानों का अपना वर्गीकरण की विद्वानों के आधार पर किया है—

- (1) संख्या (Number) वर्गीय भारत सत्ता निम्ने व्यक्तियों में निहित है ?
- (2) समय का उद्देश्य (Purpose) वर्गीय राज्य का उद्देश्य सामाजिक है या धार्मिक शासन ?

उद्देश्य की दृष्टि से सरकार ने राज्य की वस्तु-विविधियों को दो भागों में वर्गीकृत किया है—(1) सामान्य रूप (Normal Form), तथा (2) विपरीत रूप (Perverted Form)। जब राज्य शक्ति का प्रयोग जनसाधारण के हित में किया जाता है तो उसे सरकार राज्य का सामान्य रूप कहता है, किन्तु जब उसका दुष्प्रयोग स्वार्थ-विविध के लिए किया जाता है तो वह उसे राज्य का विपरीत रूप कहता है।

अब हमें विद्वानों का विशेषज्ञता करते हुए सरकार ने कहा है कि “यदि एकलव्य एक व्यक्ति होता है वह एक व्यक्ति जिसके द्वारा वे सर्वोच्च होता है, उस राज्य का प्रयोग सर्वोच्चारण्य के हित के लिए करता है। वह राज्य जिसका शासन एक व्यक्ति से अधिक, किन्तु कुछ व्यक्तियों के द्वारा ही हो वह कुलीनराज्य या अरिस्टोक्रसी (Aristocracy) कहलाता है। जब राज्य की वस्तु-विविध प्रयोग में निहित हो और वह उनके विचारों की दृष्टि से अथवा शासन स्वरूप बना रहे तो उसे लोक-राज्य या संघ-प्रजातन्त्र या समाजतन्त्र (Polity) कहते हैं।”

समिति के उपरोक्त दोनों रूप (एकलव्य, कुलीनराज्य और संघ-प्रजातन्त्र) का मूल-विषय है। देखी, सरकार ने राज्य कुछ और वर्गीकृत करी, होता है परन्तु मूल-विषय ही होने के कारण उनमें भी वही समिति प्रष्ट हो जाती है। इनके शासन की वस्तु-विविध वही होने पर भी इनका उद्देश्य अलग-अलग है। इस प्रष्ट शासन का सर्वोच्चारण्य विरुद्धराज्य, अधिकतन्त्र और अतिव्यक्ति-सोवरेन या वीरतन्त्र के रूप में होता है। सरकार ने विद्वानों के विचारों के अनुसार राज्य का ही हित होता है। कुछ राज्य का अधिकतन्त्र के अन्तर्गत शासन की वस्तु-विविध ही होता है। कुछ राज्य का अधिकतन्त्र के अन्तर्गत शासन की वस्तु-विविध ही होता है।

सरकार द्वारा समिति के उपरोक्त वर्गीकरण को निम्नलिखित पारं-द्वारा और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है—

समिति का रूप या शासन की वस्तु	शासन-रूप की सामान्य-विविध शासन की वस्तु-विविध	अपने राज्य की सामान्य-विविध शासन की वस्तु-विविध
एक व्यक्ति का शासन कुछ व्यक्तियों का शासन	एकलव्य (Monarchy) या अरिस्टोक्रसी (Aristocracy)	विद्वानों का शासन (Tyranny) अधिकतन्त्र या अतिव्यक्ति-सोवरेन (Oligarchy)
अनेक व्यक्तियों का शासन	संघ-प्रजातन्त्र (Polity or Moderate Democracy)	अधिकतन्त्र सोवरेन (Democracy)

सर्वोच्चारण्य की व्याख्या—सरकार का उपरोक्त वर्गीकरण स्पष्ट है। इसकी प्रमुख व्याख्या निम्नानुसार है—

(1) एकलव्य (Monarchy)—सरकार के अनुसार शासन सर्वोच्च शासन प्रजातन्त्र है जिसमें राज्य का शासन एक व्यक्ति के द्वारा ही होता है। वह

शक्ति 'गुप्त' को जानता है एवं उसी 'गुप्त' को प्रियान्वित करने वाले कानूनों का निर्माण करता है। घरलू का राज्यतन्त्र प्लेटो के बादर्न शासक द्वारा साधित राज्य के विपरीत नहीं है, यद्यः उसके मत में वह सर्वोपेक्ष शासन है लेकिन लाभ ही उसका यह मत भी है कि बादर्न शासक गुप्त नहीं है। इसीलिए वह राज्यतन्त्र की प्रशंसा मानता है। उसका यह भी कहना है कि यदि औद्योगिक सर्व सम्पुष्टसम्पन्न शासक मिल जाये तो वह आशायक यही है कि उसका उत्तराधिकारी भी इसी प्रकार का गुप्तसम्पन्न व्यक्ति होगा।

(2) निर्बलता (Tyrrany)—यूँकि राज्यतन्त्र शासन प्रसूनी सर्वोत्तम होने पर भी सर्वत्र प्रियात्मक नहीं है यद्यः वह विह्वल होकर तानाशाही या निर्बल शासन में बदल जाती है। राज्यतन्त्र परिस्थितियों के कारण स्वेच्छायाही उन्म में परिणत हो जाता है या बादर्न शासक ही अष्ट हो जाता है या उसका उत्तराधिकारी अष्ट निकलता है। इस शासन का सर्व सामंजसिक भलाई न होकर स्वार्थ-सिद्धि होता है। इसमें शक्ति, दोषा-बढ़ी और स्वार्थ-सिद्धि का आश्रय होता है। ऐसा शासन सर्वथा स्वार्थ है।

(3) कुलीनतन्त्र (Aristocracy)—जिस राज्य में शासन वृत्ता कुछ व्यक्तिवों के हाथ में हो और जहाँ शासन-सत्ता का प्रयोग सामान्य लोगहित के लिए तथा कानून के अनुसार हो, उसे कुलीनतन्त्र कहा जाता है। कुलीनतन्त्र बंदानुगत भी हो सकता है और धानु के अनुसार भी। घरलू के बादर्न राज्य में धानु पर आधारित कुलीनतन्त्र ही चलता-चला रहा है यद्यः प्रौढ़ व्यक्तिवों को ही शासन-संचालन का अधिकार दिया गया है। यद्यपि कुलीनतन्त्र भी बुद्धि और धन द्वारा संचालित कानूनादिवा शायन प्रजाधी है, लेकिन यह भी स्वार्थ नहीं है। शासन के इसका भी पतन हो जाता है।

(4) धनिक वर्णतन्त्र (Oligarchy)—कुलीनतन्त्र या अधिकांशतन्त्र धनिक होकर भनिकतन्त्र या धन्यतन्त्र या कुलीनतन्त्र में परिवर्तित हो जाता है। इसमें कुछ धनी व्यक्ति कानून की अक्षरतन्त्रा करके अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए शासन करने लगते हैं। ये धनिक शासक अष्टाचार का सहारा लेकर वेध जनता की स्वतन्त्रता का अधिकार करने लगते हैं। सम्पूर्ण शासनतन्त्र कुछ स्वार्थी धनी व्यक्तिवों द्वारा स्वहित में प्रयोग करना राज्य के लिए अधिकांश है यद्यः घरलू धनिकतन्त्र को सर्वथा असह्यी, स्वार्थ तथा अधिकांश मानता है।

(5) संवत् प्रजातन्त्र (Polity)—संवत् प्रजातन्त्र या सर्व ज्ञातन्त्र का सर्व धारी जनता का और धारी जनता के हित के लिए चला जाने वाला शासन है। सम्पूर्ण जनता अपनी दृष्टा से, 'गुप्त' के धान के आधार पर कानून के अनुसार शासन का संचालन करती है। इस शासन में न ही किसी सर्व विशेष का सम्पत्ति पर अधिकार होता है और न ही वेध वही का होयल। घरलू का यह संवत् प्रजातन्त्र धनिकतन्त्र एवं अष्ट प्रजातन्त्र या कीदतन्त्र के बीच का मार्ग है। यद्यपि इस स्वर्णिम मध्यमार्थ (Golden mean) द्वारा घरलू एक ऐसे धनिकतन्त्र की स्वीकार करता

बाह्यता है जो निरक्षुब्ध राज्य और पनिकतन्त्र के दोषों से मुक्त हो और जिसमें सम्पूर्ण जनता की भाग्यशक्तता भी न हो ।

(6) प्रजातन्त्र या भीड़तन्त्र (Democracy)—मरालू के अनुसार निर्धनी की संख्या अधिक होने से संघर्ष प्रजातन्त्र दुर्लभ होकर भीड़तन्त्र या अधिकांशी प्रजातन्त्र में बदल जाता है । इस शासन का धर्म है केवल निर्धनों के हित के लिए जनता का शासन । ऐसे राज्य में शासन का संचालन कानून के अनुसार न होकर धनी की धनवी-धनवी दृष्टानुसार होता है ।

राज्यों का परिवर्तन-चक्र (Theory of Cyclic Change)—मरालू का मत है कि राज्यों में परिवर्तन की स्वरूप एक निश्चित क्रम से बदलते रहते हैं । जिस प्रकार ऋतुएँ स्वाभाविक रूप में बदलती रहती हैं, वही प्रकार राज्यों में भी परिवर्तन का चक्र चलता रहता है । राज्य का सर्वप्रथम रूप पुरुषतन्त्र है किन्तु सर्वप्रथम जन-हित की दृष्टिकोण से सर्वोत्तम शासन में लग जाता है जो राजतन्त्र ध्वस्त होकर निरक्षुब्ध राज्य या अन्धधारी शासन में परिवर्तित हो जाता है और फिर धीरे-धीरे इस अन्धधारी शासन के विरुद्ध क्रान्ति होती है । कुछ गुणी तथा योग्य व्यक्ति मिलकर जन-हित के लिए अन्धधारी शासन को समाप्त कर देते हैं और एक नए प्रकार की शासन व्यवस्था का निर्माण करते हैं जिसे कुलीनतन्त्र कहा जा सकता है । समय के साथ-साथ कुलीनतन्त्र भी पतन के चाले पर जाने लगता है और शासन निजी स्वार्थ-व्यक्ति के लिए होने लगता है जब इसका रूप पनिकतन्त्रात्मक या तुलना-शासनिक बन जाता है । अतः इस व्यवस्था का जब बड़ी बहुतायत की सार्वजनिक विरोध के बाद इसका संघर्ष प्रजातन्त्र में होता है जिसे सर्व जनतन्त्र, बहुजनतन्त्र या समाजतन्त्र के नाम से भी पुकारा जाता है परन्तु वेदा कि धन्य शासकी की मान होता है, कालान्तर में संघर्ष प्रजातन्त्र भी क्षीय लगता है । मरालू इसके निकट रूप को भीड़तन्त्र या अधिकांशी प्रजातन्त्र के नाम से पुकारता है । इस संघर्षकार के बाद पुनः कोई योग्य व्यक्ति धनवी व्यक्ति के कानून और व्यवस्था स्थापित करता है और इस तरह राजतन्त्र की फिर से स्थापना हो जाती है । इस प्रकार राज्य का यह चक्र पुनः हो जाता है और पुनः नए चिह्नों से इसी चक्र का फिर से प्रारम्भ होता है । पुरुषतन्त्र, निरक्षुब्ध राज्य, कुलीनतन्त्र, पनिकतन्त्र, संघर्ष प्रजातन्त्र तथा भीड़तन्त्र एक के बाद एक, पहिए की तरह क्रम से चले और चलते हैं । अधिकांशी वा राज्यों (मरालू) का यह परिवर्तन चक्र निरन्तर चलता रहता है ।

इस परिवर्तन चक्र के बारे में मरालू के स्वयं के शब्दों को बड़ी उचितता करता सर्वथा उपयुक्त होगा । मरालू ने लिखा है कि—“पहले-पहले देवी में राजतन्त्र स्थापित हुए थे, जिसका कारण सम्भवतः यह था कि प्राचीन युग में नगर छोटे थे और अधिकांश कुलीन व्यक्ति बहुत कम थे । ये व्यक्ति धनी बने, धूम्र के परीषकारी थे और विशेषकर केवल धन्य व्यक्ति ही कर सकते हैं । परन्तु, जब एक के पुरो को जाने धनिक व्यक्ति धीमे धीमे और वे एक ही व्यक्ति को प्रभाव तक प्रतिष्ठित मानने के चलते गये, तो उन्होंने राज्य को सभी का राज्य (Commonwealth) बनाते

घोर संनिधान निश्चित करने की इच्छा प्रकट की। इससे मानक-वर्ग का पतन हुआ और जन-जीव से घन उड़ाकर वे घनमान बनने लगे। घन-सम्पत्ति सम्मान का साधन बनी घोर इस प्रकार कुछ व्यक्तिओं के मानन (Oligarchies) की स्थापना स्वाभाविक बनी। यह मानन धीरे-धीरे घटता-घटती मातृभू में बदल गया घोर घनत्व में, छायाकारी मातृभू में प्रजातन्त्रीय मातृभू का का-घरस्तू उभर उठा, क्योंकि मानक-वर्ग की घन-जीवधरा ने अपनी कक्षा की संवेग कम से कम रखने की चेष्टा की इससे सर्वसाधारण का कद बढ़ा और उन्होंने घनत्व में घटने स्वामियों की दबीय किया जिसका फल निकला अर्ध जनतन्त्र की स्थापना।¹

घरस्तू के वर्गीकरण के मध्य आधार

(1) पहला आधार धार्मिक है। धर्मिकतन्त्र में धर्मिकों का घोर जनतन्त्र में गरीबी का मातृभू होता है।

(2) वर्गीकरण का दूसरा आधार निश्चित प्रकार के भौतिक गुण या लक्षण हैं, जैसे जनतन्त्र में समानता एवं स्वतन्त्रता के लक्षण पर, धर्मिकतन्त्र में घन-पर, कुलीनतन्त्र में सुखी-पर घोर सघन जनतन्त्र (या सर्व जनतन्त्र) में घन व स्वतन्त्रता के लक्षण पर बल दिया जाता है।

(3) वर्गीकरण का तीसरा आधार मातृभू सम्बन्धी कार्य-प्रणाली है। कहीं पर कहीं पक्षों का निर्वाचन धार्मिक सम्पत्ति वाले व्यक्ति ही कर सकते हैं तो कहीं पर मातृभू सम्पत्ति वाले भी राज्य कार्य में भाग ले सकते हैं।

घरस्तू के वर्गीकरण की आलोचना

(1) मानक का कहना है कि घरस्तू राज्य घोर सरकार में भेद नहीं कर पाया, जनतन्त्र उठके द्वारा जिस बड़ा वर्गीकरण राज्य का वर्गीकरण न होकर सरकारों का वर्गीकरण है। घरस्तू राज्य तथा सरकार का यह भेद आधुनिक युग की देन है घोर घरस्तू जैसे नृवासी सामंजसिक के बिना राज्य तथा सरकार का एक समान वर्गीकरण कर संभव कोई संभव नहीं माननी चाहिए। कर्बल का विचार है कि घरस्तू की मातृभू का वर्गीकरण वैज्ञानिक घोर होश है—यदि हम उनके 'राज्य' घोर 'सामंजसिकता' सम्बन्धी के स्थान पर 'सरकार' घोर 'मातृभू' सम्बन्धी का प्रयोग करें।

(2) किन्तुवेर की दृष्टि में घरस्तू के वर्गीकरण की कोई व्यावहारिक उपयोगिता नहीं उठती क्योंकि उठने अपना वर्गीकरण सुविधाओं की कार्य-विधि के निर्देशानुसार के आधार पर प्रतिष्ठित नहीं किया है।²

(3) घरस्तू में कुलीन-तन्त्र घोर सर्व-तन्त्र में भेद माना है किन्तु कर्बल में इन दोनों सम्बन्धी में कोई फरक नहीं माना जाता। मान्य का युग जनतन्त्र का युग है घोर कुछ व्यक्तियों का मानन इस युग में सामान्य है।

(4) किन्सेयर के अनुसार, भारत ने अपने बर्गीकरण में काफी घोर शरीर के झटके को बहुत अधिक महत्व दिया है। उल्टे-इस प्रकार की संस्था के अनुसार वे भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण समझें हैं। विविध विद्वानों ने कि भारत बहुसंघिक शासन के लिए भी अल्पसंघ (Oligarchy) का प्रयोग करने की तैयारी है, यदि संसार संस्था में गरीबों से अधिक हो जाएँ।

(5) बीजे का कहना है कि भारत ने अपने समय के नगर राज्यों का बर्गीकरण किया था जो आज के राष्ट्रीय एवं बहु-राष्ट्रीय तथा विजातीय राज्यों पर लागू नहीं होता। वर्तमान में राजतन्त्र तथा बहुतन्त्र जैसा शासन नहीं पाया जाता। इससे अधिक राज्यों में राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और बहुतन्त्र का उल्टा-बाढा पाया जाता है। इसके प्रतिष्ठित इंग्लैंड और अमेरिका दोनों में ही प्रजातन्त्र है, किन्तु इंग्लैंड में राजतन्त्र स्वीकार की गई है जबकि अमेरिका में ऐसा नहीं है। इसी भाँति जाँट और सिद्धार्थ दोनों में लोकतन्त्र होते हुए भी दोनों राज्यों में भेद है। कांस केन्द्रात्मक राज्य है तो सिद्धार्थकेन्द्रात्मक।

(6) आलोचकों का यह भी कहना है कि भारत का बर्गीकरण किसी सुसंवाधक आधार पर आधारित न होकर केवल संस्था पर आधारित है, यद्यपि संस्था महत्त्वपूर्ण है। किन्तु यह आलोचना मान्य नहीं है। यह ठीक है कि भारत में राजा की राजनीतिक जाति के विकास की अपनी पहिचान की उल्लेख की है, फिर भी शासन का रूप चाहे राजतन्त्रीय हो, कबीर-जनताओं का बोझ के मुद्दिसालों का हो या समझित राज्य हो उसकी विशेषता और कमी की का आधार साम्प्रदायिक तथा मानसिक है। उसके राजनीतिक दर्शन में अपने रूप में भले ही मतभेद हो, फिर भी गेहरी की गहरी, अपने भी एक सु-शासन की परीक्षा का आधार साम्प्रदायिक तथा आधारभूत सम्बन्धी ज्ञान ही माना है। विधानों को विभिन्न करने वाला हेतु तब के, बोझ के तथा बहुते के परिणाम पर आधारित है। बोझ (Bozzes) ने ठीक ही कहा है—“भारत का विधान साम्प्रदायिक है, संस्थात्मक नहीं।”

(7) भारत द्वारा किन्ट नई विशेषता की यदि पूरी तरह लागू किया जाए तो विधानों के रूपों का जोन एक-वर्णन नहीं संभव होगी। जॉन के अनुसार, “इस बात में कोई शक नहीं कि ‘पॉलिटिक्स’ में एक रूप का दूसरी से स्पष्ट रूप में अंतर नहीं किया गया है।” केवल ने भी भारत के बर्गीकरण की इस आधार पर प्रतिष्ठित आलोचना की है। भारत ने राज्य का जो चरित्रों में विशेषता दिया है। एक तो अपने राज्य की राजनीतिक शासन माना है। दूसरे, अपने राज्य को अधिक हितों की समानता के आधार पर वर्ग के रूप में देखा है। यदि भारत इन दोनों को अलग-अलग रखता और दोनों की एक दूसरे के अंतर बिना-विशिष्टता का निष्कर्ष न करता, तो भारत के विशेषता को समझने में आसानी होगी। जब भारत लोकतन्त्र (Democracy) और अल्पसंघ (Oligarchy) के बोझ का

वर्णन करता है, तो यह समझ में नहीं आता कि वह क्या करता के प्रति विद्वान्त पर चल रहा है। वह हरेक की खोली मूर्खता देता है और यह नहीं बताता कि इसमें क्या अन्तर है। यह अवश्य प्रतीत होता है कि एक में तो यह राजनैतिक सन्निधान के बारे में सोच रहा है तथा दूसरी में प्राथमिक सन्निधान के बारे में। भारत में अपने वर्गीकरण में एक और उलझन बात देता है। वह कानूनविरुद्ध और कानूनसिद्ध संस्कारों के बीच भी भेद मानता है। यह भेद सन्निधान के अन्तर बिलकुल ही मान्य नहीं होना चाहिए। एक भेद का आधार वही ही सकता है कि परो या परो की क्या व्यवस्था है। यद्यपि भारत का यह विवेचन दोषनाशक नहीं है, लेकिन उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत को दीक नगर-राज्य के सामाजिक वर्गीकरण का कुछ अन्त था। भारत के परम्परा किसी भी सामन-ब्रह्माली के बारे में ऐसे सामाजिक अन्त का परिचय बहुत कम एक-दो-तीसरे दे दिया है। भारत की विचारधारा का आधार यह है। "नकलता की महत्ता (Qualification) और पर की पाकता जैसे कुछ राजनैतिक विनियम (Political Regulations) दूधा करते हैं। इन विनियमों में के कुछ लोकतन्त्र की विशेषताएँ होती हैं और कुछ सन्निकतन्त्र की। इनके साथ ही कुछ प्राथमिक विशेषताएँ भी होती हैं, जैसे कि पन किन्तु अन्तर देता हुआ है या राज्य के किन प्राथमिक वर्ग का आशय है। प्राथमिक विशेषताएँ भी यह प्रकट करती हैं कि राज्य लोकतन्त्र है या सन्निकतन्त्र है तथा अपने बीच-बा राजनैतिक सन्निधान प्राथमिक अन्त हो सकता है। राजनैतिक और प्राथमिक दोनों व्यवस्थाओं में मात्रा का अन्तर होता है—कोई प्राथमिक प्रतिवादी होता है तथा कोई कम प्रतिवादी। लोकतन्त्र और सन्निकतन्त्र के लक्ष्यों के क्षेत्र में भी अनेक प्रकार के राज्यों की रचना हो सकती है। उदाहरण के निम्न नाम (Assembly) का समझन लोकतन्त्रात्मक हो सकता है और सामाजिक-जन-सम्पन्नों कोयताओं के आधार पर पुनी जा सकती है।"

(8) भ्रातृभती (Bourgeoisie) का मत है कि भारत के वर्गीकरण में इसे केवल प्राथमिक राज्य की का ही वर्णन मिलता है प्राथमिकिक अन्त नहीं। उसके वर्गीकरण में कम तथा राजनीति के विद्वान्तों को कोई स्थान नहीं मिलता जाता; परन्तु यह मान्यता मान्य अन्त नहीं है। भारत के पुन का दूधान पूर्णतः प्राथमिक था, अतः वह कम और राजनीति के सम्पन्नों की कल्पना नहीं कर सकता था।

(9) भारत के वर्गीकरण के अनुसार अन्ततन्त्र सबसे निम्नष्ठ आशय व्यवस्था है जबकि प्राथमिक पुन में अन्ततन्त्र की सर्वोत्तम आशय व्यवस्था माना जाता है।

(10) अनेक मतोपकी का कहना है कि किसी राज्य में सर्वोच्च तथा का सामाजिक स्थान नहीं है, यह पता चलता पुन ही नहीं, बल्कि अन्ततन्त्र कार्य है। सामाजिक के राज्यों में यह और भी अन्त हो गया है। उदाहरणार्थ दुनापेटे स्टेट्स प्रायः अमेरिका में सर्वोच्च तथा के सामाजिक स्थान का पता चलता अन्त ही

कठिन है। वर्तमान के ऐसे राज्य राज्य के समान हैं जहाँ सर्वोच्च सत्ता एक व्यक्ति कुछ व्यक्तियों तक ही सीमित हो। इस दृष्टि से धरतू का वर्गीकरण उचित नहीं रहता।

धरतू के वर्गीकरण का औचित्य

इसकी आवश्यकता के बाद भी उपयोजित और औचित्य की दृष्टि से धरतू का वर्गीकरण मात्र भी महत्वपूर्ण है। प्रथम, इस वर्गीकरण में राज्यों के नैतिक आधार पर बड़ा ध्यान दिया गया है जो लोक-कल्याण की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है। धरतू ने सामान्य और विद्वत् स्वरूप के नैतिकता और विवेकमयता के आधार पर और देखे हुए अन्तर स्पष्ट किया है। द्वितीय, धरतू का परिवर्तन-युक्त भी सामुहिक गुण के दृष्टिकोण से होता है। जनरल कपीन द्वारा गिरा का शासन सम्मान तथा आत्म, सम्पत्ति के लक्ष्य-वर्त प्रशासन की दृष्टि करते जनरल कपुल द्वारा शासन की दृष्टि से, यदि धरतू की दूरदर्शिता के प्रमाण हैं। तृतीय धरतू ने धरतू के वर्गीकरण की ही राज्यों का वर्गीकरण बताया है, यह बहुत उचित नहीं है। सरकार ही-राज्य की दृष्टि को प्रकट करती है। सरकार का वर्गीकरण ही सरकार के राज्यों का वर्गीकरण है। शासन में दृष्टि-दृष्टि नहीं किया जा सकता कि धरतू के विचारों के उपरीष्ठ यहाँ से हरे बहुत कुछ सीखना है। धरतू ने बड़ी सुदृढ़ता के साथ यह कहा है कि बुद्धि किसी भी राज्य नीति के समस्त मामलों का उद्देश्य निश्चित ही अपनी सत्ता की सुरक्षा होनी चाहिए, यद्यपि उस अधिकार की वजह से भी, जो कि उस सुरक्षा का आधार है, प्रत्येक बात को त्याग दिया जाना चाहिए और किसी सार्वजनिक का अधिकार की सीमा के बाहर का कोई भी कार्य (चाहे वह सार्वजनिक सरकार के द्वारा किया गया कोई भी सार्वजनिक कार्य हो जैसा कि-सार्वजनिक सत्ता द्वारा की गई कोई भी सार्वजनिक सीमा सार्वजनिक हो) एक सत्ता के लिए भी सहज नहीं किया जाना चाहिए। यह एक ऐसा तर्क है जिसका धरतू के प्राचीन लेखों (प्रशासन) के समय की प्रवेश सामुहिक लोकशासन के अधिक महत्व है। इसके परिचित इस तर्क का प्रतिपादन करना कठिन है कि धरतू के समय के प्रभाव के विना-विशिष्ट के द्वारा तथा सत्ता के चक्र के आधार पर प्रत्युत कि जो उनके विचारों की दृष्टि करी है।

सर्वोच्च संविधान
(Best Policy)

अथवा

सर्वोच्च व्यावहारिक राज्य
(The Best Practicable State)

धरतू ने इस प्रश्न पर भी विचार किया है कि ऐसी नीति यादव प्रणाली है जो सर्वोच्च राज्यों के लिए सर्वोच्च है। यह किसी राज्य मामले की विवेक-परिस्थितियों की धीरे-धीरे है। यह राज्यों के सामान्य सर्वोच्च प्रणाली सामुहिक

नीति को अपेक्षा रखता है एक प्रकार का राज्य किसी भी प्रकार प्राप्त नहीं है। वह सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक सीमांत राज्य है। यह राज्य लोकतन्त्र तथा धनिकतन्त्र की उन शक्तियों को छोड़ देता है जो अनुभव से अमानक सिद्ध हुई हैं। इस वास्तव प्रणाली को भारत सरकार (Polity) अथवा संवैधानिक शासन (Constitutional Govt) कहता है। भारत ने सीमित पुस्तक से उसका नाम मध्य लोकतन्त्र (Moderate Democracy) रखा है। भारत उन व्यवस्थाओं में नहीं सुविधान लोक शासन से ज्ञान प्राप्त हो कि उसे सीमा लोकतन्त्र न कहा जा सके, अधिकृततन्त्र अथवा कुलीनतन्त्र कहने के अधिकार नहीं है।

भारत ने सर्वोत्तम सुविधान अथवा सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक राज्य पर विचार करके एक व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया है। यह यह मानकर जाता है कि इस प्रकार के ऐसी किसी व्यवस्था का शासन प्रणाली का विचार नहीं करना चाहिये, जो किसी विमानक और व्यावहारिक रूप प्राप्त हो न कर सकती हो। इसके विपरीत ऐसी श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था एवं जीवन-दृष्टि पर विचार करना चाहिये, जो अधिकृततन्त्र राज्य एवं व्यक्तियों के लिए व्यावहारिक रूप से सम्भव हो। किसी विशेष प्रकार की सीमा के ही जो शासन व्यवस्था बन सकती हो उसमें अधिकतम अनुपम भाग नहीं के समझे जाते। उत्तम शासन-प्रणाली नहीं हो सकती है जो विभिन्न अथवा अनेक राज्यों के समान रूप से चल सके।

भारत का मत है कि एक शासकी व्यवस्था में शासन सर्वोत्तम स्थितियों के हानों में रहना चाहिये। यदि किसी राज्य को ऐसी के सादर राज्य का शासनिक शासन मिल सके तो राज्यतन्त्र सर्वश्रेष्ठ शासन व्यवस्था है लेकिन ऐसे शासनिक शासन का मतलब इस सूत्र पर दुर्लभ है। इसी भाँति कुलीनतन्त्र में भी शासन तथा लोक स्थितियों के हानों में रहती है किन्तु इस तरह के लोक शासन-व्यवस्था भी व्यवहार में पाए नहीं जाते। यदि सीमात्मकता कभी शासनिक शासन या लोक शासन एवं उपलब्ध भी हो जाए तो वे एक व्यवस्था की ओर स्थायी विचार से चल नहीं सकते और न ही यह व्यवस्था है कि उनके उत्तराधिकारी भी ऐसे ही निकलें। राज्यतन्त्र और कुलीनतन्त्र—ये दोनों शासन-प्रणालियाँ व्यावहारिक एवं विमानक रूप से नहीं पाई जाती और इसलिए ऐसी शासन व्यवस्था की ओर करना उपयुक्त है जो व्यवस्था के शासन पर ही न टिकी हो बल्कि जो व्यावहारिक रूप से स्थितियों द्वारा समर्थित की जा सकती हो और किसी समाज की नियमानुसार स्थितियों में सर्वोत्तम हो।

भारत की मान्यता है कि बड़ी शासन कला है जो धनिक राज्यों के संघर्ष हो और जिसमें शासनिक शक्ति या शक्ति न हो। समाज के सामाजिक सम्पत्ति और निर्धनता दोनों का होना सम्पूर्णतः है क्योंकि वे दोनों ही निर्धनता समाज के दोनों को कम देते हैं। इसके अर्थ धनिकों में बहुततरा और अज्ञान के दोष एकत्रित हैं नहीं निर्धनता में राज सम्पत्ति को कम मिलता है। इसके अतिरिक्त जहाँ जनता का विशाल संघर्ष और निर्धन—इन दो कर्मों में होता है, वहीं शासन और शासन

को स्थान नहीं मिल सकता। जिस चौद्वार के संघर्ष का समुदाय का बचपन भी संभव नहीं है।

धार्मिक सम्प्रदाय और विनियम—दोनों ही का प्रचुरता में होना कुछ सामान्य के लिए अनिवार्य है, यद्यपि धर्मशास्त्र मध्यम मार्ग (Golden Mean) प्रस्तावित है। उसकी दृष्टि में मानव जाति-वस्तुओं की प्रधान विशेषता मध्यममार्गी होना है। धर्मशास्त्र के जन्मों में “मध्यम मार्ग का अनुसरण करने वाला जीवन ही धर्मवर्धन: श्रेष्ठ जीवन है और वह मध्यम मार्ग भी ऐसा है, जिसको प्राप्त कर केवल अत्यधिक व्यक्ति के लिए संभव है।” उसके अनुसार सभी नगर राज्यों में तीन वर्ग बंध जाते हैं—धार्मिक सम्प्रदाय, धार्मिक निर्धन और इन दोनों के बीच का मध्यम वर्ग। धर्मशास्त्र मध्यम-वर्ग की स्थिति को ही सर्वोत्तम मानता है क्योंकि “जो अनुपम ऐसी स्थिति में होते हैं, वे विवेक की शक्ति का प्रयोगपूर्वक सामान्य करने काहे होते हैं।” इस तरह धर्मशास्त्र जहाँ सामान्य व्यवस्था की श्रेष्ठ योजना है वित्त में मध्य वर्ग का प्राधान्य है।

सामान्य प्रजापति के मध्यम-मार्गी होने की उपयोगिता की दृष्टि से हमने पहले में यह निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करता है—

1. धार्मिक सम्प्रदाय, सुख और अतिमान्य व्यक्ति बनाकर तथा धर्मोपर धर्मशास्त्री की ओर अधिक प्रवृत्त होते हैं; जो धार्मिक निर्धन और अत्यधिक व्यक्ति दुर्लभता तथा सुख अत्यधिक के प्रति आकर्षित होते हैं। इस प्रकार वे दोनों ही वर्ग विवेक मार्ग पर नहीं चलते और निम्नलिखित सामान्य के इसकी प्रधानता होती है कोशपूर्ण होता है।

2. सम्प्रदाय और अतिमान्य व्यवस्था-वृत्ति रखते हैं तथा राज्य के कार्यवाही की व्यवस्था करने में नहीं हिचकते। दूसरी ओर, दोनो ही एक निर्धन व्यक्तियों में शास्त्र-मनोवृत्ति बनती है, वे शास्त्र नहीं हो सकते। यद्यपि किसी राज्य में केवल यही दो वर्ग होते तो वह राज्य अत्यन्त मनुष्यों का राज्य न रह कर केवल शास्त्री व व्यवस्थियों का नगर या राज्य मान रह जायेगा।

3. यह भी धार्मिक निर्धन वर्ग के राज्य में ईश्वरी भाव बढ़ेगा और सम्प्रदाय से प्रजापति भावना बननेगी। स्वभावत: ऐसा राज्य ईश्वरी और प्रजापति के कारण में अवस्था-बुद्धि। यहाँ निम्नलिखित एक सामाजिक भावना नहीं रहेगी।

4. राज्य का लक्ष्य तो यही होना चाहिए कि मध्यममार्ग समाज में निष्कला का बना हो और अत्यधिक तथा अत्यन्त मनुष्यों का समाज बन सके। मध्यम वर्ग के लोगों में ही ऐसा होना अनिवार्य सम्भव है।

5. मध्यम वर्ग की श्रेष्ठता के लक्ष्य में धर्मशास्त्र एक प्रमाण यह भी देता है कि सोलन (Solon), लाइक्रेयस (Lycurgus) आदि श्रेष्ठ नियम-निर्माताओं का जन्म मध्यम वर्ग में ही हुआ था।

6. मध्यम वर्ग की धर्मशास्त्र एक और दृष्टि में भी उपयोगी एवं महत्वपूर्ण मानता है। यही धार्मिक निर्धन—दोनों ही मध्यम वर्ग पर समान रूप से निष्काय करते हैं किन्तु यही धार्मिक निर्धन अत्यधिक एक दूसरे पर निष्काय नहीं करते।

उपरोक्त सब कारणों के ही भारत में मध्यम वर्ग की वास्तविक व्यवस्था की श्रेष्ठ, व्यावहारिक और अनुकरणीय योजना है। उसके अनुसार जब ऐसा वर्ग नहीं होता तभी धनिकतन्त्र या लोकतन्त्र का प्रादुर्भाव होता है और ये शीघ्र ही निरनुद्यत वास्तव में बदल जाते हैं। अधिकतम राज्य लोकतन्त्र या धनिकतन्त्र इसीलिए होते हैं क्योंकि इनमें मध्यम वर्ग की संख्या कम होती है। मध्यम वर्ग की प्रधानता होने से समाज में पारस्परिक सम्पर्क कम होते हैं और एकता या सुदृढ़ता की कम मिलता है। भारत इसका कारण स्पष्ट करते हुए लिखता है—“केवल बड़ी सरकार सुदृढ़ हो सकती है जिसमें मध्यम वर्ग अन्य दोनों (बड़ी तथा निर्धन) वर्गों से अधिक शक्ति में हो। इस व्यवस्था में इस बात की सम्भावना नहीं होती कि शासकों का विशेष करने से बड़ी वर्ग निर्धन वर्ग के साथ मिल जायगा। इनमें से कोई भी एक वर्ग दूसरे की सेवा करने की इच्छा नहीं रखता। यदि वे अपने दोनों वर्गों के लिए कोई अधिक अनुद्यत वास्तव-वस्तुओं को देना चाहे तो इसमें अधिक शक्ति कोई दूसरी व्यवस्था नहीं हो सकती क्योंकि बड़ी और निर्धन एक दूसरे पर विश्वास नहीं करते और वे बायीं-बायीं के शासन और प्रतिष्ठित बनना चाहते नहीं करेंगे।”¹ मैकसी ने भारत की इस श्रेष्ठता के विचार पर कहा है—“यद्यपि मध्यम वर्ग के लोगों ने बुद्धि की प्रधानता नहीं होती, वे राज्य की स्थापना के लिए कार्य नहीं हो सकते, फिर भी यहूदों ने राज्यों में होने वाले परिवर्तनों को देखते हुए सुदृढ़ता की दृष्टि से भारत की वास्तव-व्यवस्था उचित प्रतीत होती है।”²

भारत इस तरह व्यावहारिक दृष्टि से सयत जनतन्त्र (Polity of Moderate Democracy) की प्रशंसा देता है, जो मध्यम वर्ग के द्वारा चली है, जहाँ न अधिक शक्ती है और न अधिक शक्ती। मध्यम-वर्ग सुरक्षा सुन्दरता की दृष्टि से भी सुन्दर है।

भारत ने अपने सर्वोत्तम व्यवस्था आदर्श सुविधान का कोई वास्तविक उदाहरण नहीं दिया है। हाँ, अपने इसमें स्पष्ट निर्देश व्यवस्था दिया है कि केवल एक ही व्यक्ति ऐसा हुआ है जिसने इस तरह की वास्तव-वस्तुओं की स्थापना के लिए स्वयं की सहायता होने दिया।³ लेकिन रॉस (Ross) का विचार है कि भारत का मध्यम-वर्ग 411 ईसा पूर्व के एथेन्स में स्थापित होने वाले सुविधान की श्रेष्ठ स्वीकार करता था। अपने वास्तव-वस्तु 5040 व्यक्ति की संख्याओं में विहित थी, वे अपने स्वयं से राज्य एवं भागी बनने रखते थे। इनकी संख्याओं की संख्या में शामिल होने के लिए दिया जाने वाला भत्ता बन्द कर दिया था। इस विधान के निर्माण का श्रेष्ठ थेरासिनेस (Theatanes) नामक यूनानी राजनीतिज्ञ को है। बार्कर का विचार है कि “भारत का सुविधान नहीं सम्भवतः विचार के यूनानी प्रतिनिधि और उसके

1. Gasker : Politics, p. 182.

2. Mayne : Political Philosophy, p. 72-73.

3. Gasker : Politics, p. 182.

4. Ross : Aristotle, p. 279-80.

विश्व सन्निवृत्तता के उक्त परिधान से है, जिसमें शासन सत्ता 9000 नागरिकों से घनी की होती गई।¹

निम्नलिखित शासन प्रणालियों में श्रेष्ठता का क्रम—उपरोक्त वर्णन से यह प्रकट हो चुका है कि भारत के अनुसार मध्य वर्ष की प्रयुक्त वाली शासन व्यवस्था सर्वश्रेष्ठ है और इसे उचित सर्व-जनतन्त्र या समत-जनतन्त्र (Polity of Moderate Democracy) कहा है, किन्तु यह श्रेष्ठता केवल व्यावहारिक दृष्टि से है यद्यपि भारतीय की दृष्टि से तो राज्यतन्त्र ही श्रेष्ठ है। श्रेष्ठता की दृष्टि से भारत ने शासन-प्रणालियों यद्यपि परिधान का राज्य का भी एक निश्चित किया है, वह डब्लिंग (Dunning) के अनुसार इस प्रकार है—

- (1) आदर्श राज्यतन्त्र (Ideal Royalty)
- (2) शुद्ध कुलीन'तन्त्र (Pure Aristocracy)
- (3) मिश्रित कुलीनतन्त्र (Mixed Aristocracy)
- (4) समत जनतन्त्र (Polity)
- (5) अधिकतम उदार जनतन्त्र (Most Moderate Democracy)
- (6) अधिकतम उदार अधिकतन्त्र (Most Moderate Oligarchy)
- (7) जनतन्त्र तथा अधिकतन्त्र के बीच के दो प्रकार
- (8) अति-जनतन्त्र (Extreme Democracy)
- (9) अति-अधिकतन्त्र (Extreme Oligarchy)
- (10) विरुद्धतन्त्र (Tyranny)

भारत के अनुसार उक्त परिधानों की की यह सूची दी है, जहाँ यह सर्वोत्तम जनतन्त्रीय परिधान (Polity) ही सबसे उत्तम परिधान है।

आदर्श राज्य (Ideal State)

भारत ने 'पॉलिटिक्स' की पाठ्यी व आठवीं पुस्तक में आदर्श राज्य (The Ideal or the Best State) का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है, किन्तु स्पष्ट नहीं है कि उसने एक आदर्श राज्य का विवरण दिया है या एक ऐसे राज्य का चित्रण किया है जो सबसे उत्तम प्राप्त राज्य हो। यह आदर्श की व्यावहारिकता के साथ मिलित कर देता है। उसने राज्य का विवरणायक वर्णन नहीं किया है किन्तु सर्वाधिक सामान्यक तथ्यों का वर्णन किया है। राज्य का वास्तविक वर्णन वही होता चाहिए जो वर्णन को यह सर्वोत्तम राज्य के सम्बन्ध में भी सम्बन्धित है।²

1 Barker : Politics, p. 184.

2 Dunning : op. cit., p. 80.

3 "In this sense, democracy is best when the poor greatly exceed the rich in number, oligarchy, where the superiority of the rich in resources and power more than compensates for their inferiority in numbers, polity when the middle class is clearly superior to all the rest."

—Dunning : A History of Political Theory, p. 80.

भारत की दृष्टि में व्यवहार में या करने वाला सर्वोत्तम परिवर्तन या राज्य की सम्भवता को प्रधानता देने वाला 'प्लेटी' या सर्वोत्तम है। लेकिन इसका विकास सभी राज्यों में सम्भव नहीं है और इसके लिए कुछ विशेष परिस्थितियों की आवश्यकता होती है। अतः जिस राज्य में ये परिस्थितियाँ सम्भव हों, वह सर्वोत्तम यादर्श राज्य (Best Ideal State) है।

भारत का यह दृष्टि निम्नलिखित है कि नून जीवन की दृष्टि के लिए राज्यों में विशेष परिस्थितियों का होना आवश्यक है और इन परिस्थितियों तक राज्यों की पहुँच होनी चाहिए। इस तरह भारत नून जीवन के लिए कुछ यादर्शों की स्थापना करता है जिन्हें प्राप्त किया जा सकता है। उनके ये ही यादर्श एक यादर्श राज्य का निर्माण करते हैं। लेखाइन के शब्दों में, "भारत यादर्श राज्य वह ही नहीं बल्कि राज्य के यादर्शों पर पुनरांकित निम्नलिखित है।"¹

न चाहते हुए भी भारत जिस यादर्श राज्य का विचार कर रहा है वह पहले नून की 'प्लेटी' के यादर्श राज्य से बहुत भिन्न है क्योंकि प्लेटी वहाँ एक पारिवारिक यादर्शवादी के रूप में समय को व्यतीत करता है वहीं भारत हमारे सामने एक धनुषाद समावेषवाद के रूप में व्यतीत होता है। मैन्सी (Mansel) के शब्दों में, "प्लेटी एक नवीन अवस्था पर उठने वाले धनुषाद में बैठा हुआ वह व्यक्ति है जो किसी के परे जाकर उस भू-भाग के सर्वोत्तम, समुद्र तटी प्रायद्वीप की सीमा-रेखाओं को धौंकता है जबकि भारत ऐसा व्यक्तिवत् है जो वहाँ जाकर नए लोगों का निर्माण करता है।"

भारत ने यादर्श राज्य के लिए आवश्यक भौतिक एवं मानसिक स्थितियों का वर्णन किया है। इनके राज्य की जनसंख्या, उनके प्रकार तथा वर्ग, क्षेत्र तथा उनकी स्थिति और स्वरूप आदि के निश्चित विवरण भी दिए हैं। भूगोल, जलवायु, भूमि के विशेषताओं के स्वाभाविक गुण, राज्य के ढाँचे आदि का विस्तृत विवरण देते हुए भारत दृष्टिपूर्वक पर पहुँचा है कि जनसंख्या और क्षेत्र के दृष्टिकोण से यादर्श राज्य को न अधिक कम होना चाहिए और न अधिक छोटा। भारत के यादर्श राज्य की डॉ. मैकलवेल (McLellan) ने इन शब्दों में वर्णन किया है—“भारत का सर्वोत्तम राज्य वह है जिसमें अनुकूल स्थितियों के होते हुए सीमाएँ प्रकरण में प्रतिपादित निम्नलिखित धर्मिक से अधिक लानु होती हैं। भारत के धनुषाद ऐसा राज्य न हो समीर होना और न अधिक नदी। वह राष्ट्रीय याचनता से सुरक्षित होना, अधिक घन सड़ तथा व्यत्यय या क्षेत्र के प्रसार की दृष्टि से नष्ट रहित होना, नष्ट व्यत्यय, जनजीन, सुमरकृत, सरलजीव होना, नष्ट महत्वाकांक्षियों से परे होना, नष्ट स्वयंसेवक होना, किन्तु दूसरे पर आक्रमण नहीं करना, नष्ट सहाय होना किन्तु निरुद्ध नहीं। वह एक सुमरकृत छोटा तथा स्वतन्त्र

1. "What he does is to write a book not on an Ideal State, but upon the locale of the State."

समर होना जिससे सर्वोच्च शक्ति एक व्यक्तिगत वर्ग के हाथ में होनी जिसके उच्च अपने जीवन को भौतिक विचारों से मुक्त रखने से तथा सर्वोच्च वर्ग तथा समुदाय के शासक करने से और सबसे कमजोर तथा धान्य की खोज करने से बने हुए राष्ट्रीयता से शासन करने तथा दूसरों का शासन करने। राज्य की भौतिक मानसिकता की प्रति में मोल करने जो सर्वोच्च के कारण उच्चतर जीवन तथा राजनीतिक कार्यों के लिए उपयोग है किन्तु अपने से नैतिक, बौद्धिक तथा इसलिए राजनीतिक रूप से बेधतर व्यक्ति को की देखरेख तथा निर्देशन में रहकर शारीरिक करने करने के लिए समर्थ नहीं है। वे निम्नतर वर्ग राज्य के जीवन का आवश्यक भग्न है, परन्तु राजनीतिक रूप से और नैतिक दृष्टिकोण से वे उसके भाग नहीं समझे जा सकते, चाहे कानूनी रूप से स्वाधीन हो या नाह।

अस्तु का बादर्न राज्य स्पष्टतः प्लेटो के 'रिपब्लिक' के बादर्न राज्य से बहुत भिन्न है किन्तु 'वर्ड्स' के परिचित बादर्न राज्य से काफी मिलता-जुलता है। एसे सेनाइन (Sabin) के शब्दों में हम की कह सकते हैं कि "अस्तु जिसे बादर्न राज्य मानता है, वह प्लेटो का उत्तमर्त वा द्वितीय सर्वोच्च राज्य है।" उनसे 'कॉम' के एक महत्वपूर्ण विद्वान्—"बेथ राज्य में कानून ही मन्त्रिमन्त्र्य होना चाहिए"—को आधार बनाया। अस्तु के बादर्न राज्य की विशेषता है—"कानूनी जीवन का उपपन्न।" 'रिपब्लिक' के बादर्न राज्य की दृष्टिसे हुए अस्तु ने कहा है कि जो जीवन अपनी प्रजा की भलाई के हेतु होता है, वह कानून के अनुसार होता है, उसका आधार मानव प्रकृति के स्वरूप पर होता है और इसीलिए ऐसे शासन की प्रशंसा के लिए आवश्यक शर्तें सम्भव तथा सम्भव नहीं होनी चाहिए। प्लेटो का एक बड़ा दोष यह रहा है कि उसने एक और मानव-व्यवस्था की जहाँ में जमी हुई प्रजा का सम्मुख करना चाहत है जो दूसरों और सर्वथा सम्भावहारिक वा किन्तु न कर सकने योग्य शर्तें जोड़ दी हैं। को. बेन्सी के अनुसार, "प्लेटो का राज्य धर्म विचारों का एक शीला है जिसे शर्तों रूप एक सामाजिक प्रजा देना जो अपने अपने वर्तमान समस्त सम्पत्तियों को ब्रह्म से उधार लेनेवा और सन्तति शासन तथा शिक्षा द्वारा एक निर्दोष सामाजिक व्यवस्था में मनुष्यों की एक मन्त्री तथा बेधतर शक्ति प्राप्त करेगा। अस्तु का भजन उस सामग्री से बना है जो पहले से ही मौजूद है, जिसे मन्त्री तरह परखा जा चुका है, अपनी तरह समझा जा चुका है और जिसे कोई भी बुद्धिमान राजनीतिक प्रयोग कर सकता है। जो भी प्लेटो विचारकों में एक का ही नैतिक योग है, एक ही ही व्यवस्था की चाह, एक ही ही समुदाय का योग, एक ही ही न्याय तथा बुद्धि के प्रति मान्यता, एक ही ही विद्या में विश्वास, एक ही ही मान्यता में साक्षात् तथा पुनः जीवन की प्रशंसा के लिए एक ही विनियम दिखाई पड़ती है।"

1 "What Aristotle calls the Ideal State is always Plato's Second Best (or Ideal) State."

—Sabin : A History of Political Theory, p. 31.

भारत का आदर्श राज्य प्लेटो के उपादर्श राज्य का ही समीक्षित रूप है। प्लेटो जब स्वयं अपने आदर्श राज्य की तुलना कर ऐसे उपादर्श राज्य की स्थापना करता है जो निर्मित किया जा सकता है तो भारत के विकासवादी मन को प्लेटो की योजना प्रसन्न सा जाती है। यह एक तथ्य है कि जीवन के अन्तिम काल में प्लेटो जिन आदर्शों की स्थापना करता है, वे भारत को स्वीकार्य हैं। सिन्क्लेयर (Sinclair) के शब्दों में, "भारत वहीं से आरम्भ करता है जहाँ प्लेटो खड़ा होता है।"

भारत के आदर्श राज्य की विशेषताएँ

(1) जनसंख्या (Population) — भारत के अनुसार राज्य में जनसंख्या में बहुत अधिक घोर न बहुत कम होनी चाहिए। जनसंख्या का इतना अधिक होना अनुचित है कि राज्य में व्यक्तियों को न व्यवसाय मिले और न रहने के लिए स्थान। इसी प्रकार जनसंख्या इतनी कम नहीं होनी चाहिए कि गर्व-गर्व राज्य का अस्तित्व ही पतले में पड़ जाए। इस सम्बन्ध में भारत एक उदाहरण का उदाहरण देते हुए कहता है कि 6 इन्च चौड़ा घोर 1200 फीट व्यास, कोरी ही बेकार है। इसी तरह राज्य की जनसंख्या भी बहुत कम या बहुत अधिक होना ठीक नहीं है। भारत प्लेटो की भाँति राज्य की कोई निश्चित जनसंख्या नहीं देता। उसके अनुसार एक अच्छे राज्य में इतनी जनसंख्या होनी चाहिए जिस प्रकार एक दूसरे की जानता हो जिससे वह विभिन्न स्थानों के लिए उपयुक्त व्यक्तियों का निर्वाचन कर सके। राज्य की इतनी जनसंख्या होनी चाहिए जो राज्य को आत्म-निर्भरता प्रदान करे और उसकी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए पर्याप्त हो। इस तरह भारत का संकेत जनसंख्या की ओर ही है, क्योंकि कल्पना राज्यों में तो वह प्रत्यक्ष-सा लगता है कि वार्षिक एक दूसरे के परिचित हों।

भारत का कहना है कि राज्य की चाहिए कि वह ऐसा दूर-गमन प्रदान करे जिससे जनसंख्या में तो आवश्यकता के अधिक बड़े और न ही उससे कम हो। राज्य आवश्यकता पहले पर विवाह आदि के नियम निर्धारित करे। विवाह के लिए कम से कम और अधिक से अधिक आयु निर्धारित की जाए। साथ ही ऐसी बातों को सन्तान उत्पन्न नहीं करने दिया जाए जो अस्वस्थ या विह्वल हो। विह्वल मन वाले बच्चों को राज्य नहीं भी डर सकता है।

(2) प्रदेश (Territory) — राज्य का क्षेत्र भी आवश्यकतानुसार होना चाहिए। वह न इतना छोटा होना चाहिए कि आजीवनिका कठिन हो जाए और न प्रस्तावित हो कि बीच विनाशिता का जीवन बिताएँ। राज्य की भूमि इतनी होनी चाहिए जिसके जीवन की आवश्यकताएँ पूरी हो सकें और जब पर नियंत्रण करने वाली जनता 'सुख और उपाख्या के समीकृत अवकाशपूर्ण जीवन' बिता सके। राज्य का प्रदेश और उसकी सीमाएँ ऐसी होनी चाहिए कि राज्य बाह्य आक्रमण से सुरक्षित हो तथा आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हो। भारत का यह विचार है कि राज्य की भूमि अनुद के मुकौब होनी चाहिए ताकि आवश्यक सामग्री का आगमन हो सके।

भूमि का इतना छोटा होना उचित है कि किसी ऊँचे स्थान का ऊँची चोटी से घनी प्रकार देखा जा सके, क्योंकि ऐसी भूमि की रक्षा सरलता से हो सकती है। इसके साथ ही राज्य की भूमि का ऐसे स्थान पर होना कलम है जहाँ जन और स्वतन्त्र दोनों भावों से सरलता से पहुँचा जा सके। इस सम्बन्ध में प्लेटो के विचार परम्परा से निर्र हैं। वह अपने आदर्श राज्य की समुद्र से दूर रखना चाहता है ताकि असीमानीम विदेशी घोर आघातों उत्पन्न का सामना न हो सके। परन्तु तो राज्य की सुरक्षा के लिए एक सक्रियताशील जन सेवा और राज्य के बाह्य और एक सुदृढ़ परकीय नीति व्यवस्था करना है।

परन्तु का यह भी मत है कि राज्य की भूमि दो भागों में बँटी हुई होनी चाहिए—सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत। युवा-युद्ध एवं राजनीतिकी भूमि सार्वजनिक तथा शेष व्यक्तिगत होगी।

(3) **लक्ष्य का चरित्र (Character of the People)**—परम्परा के अनुसार आदर्श राज्य के नागरिकों का चरित्र और उनकी योग्यता युवावी निरपेक्षताओं के अनुकूल होनी चाहिए जिसमें उत्तरी जातियों का उत्साह और एशियन लोगों का विवेक-बोनों का विश्वास राधा जाता है। परम्परा की चारणा है कि आदर्श राज्य में अनुभव और नागरिक गुण समाप्त होने से सभी अच्छे अनुभव ही अच्छे नागरिक होंगे।

(4) **राज्य में आवायक वर्ग (Classes in the State)**—परम्परा के आदर्श राज्य में 6 प्रकार की आवायकताएँ मुख्य हैं—मौजन, सलाह-कीर्तन, सत्त, सम्पत्ति, सार्वजनिक देव युवा और सार्वजनिक हित का निर्धारण। इन आवायकताओं की प्रति के लिए आदर्श राज्य में 6 प्रकार के वर्ग होने चाहिए—कुपक, किल्ली, बीडा, सम्पत्तिज्ञाओं वर्ग, पुणेहित और प्रतापक। इन 6 वर्गों में से प्रथम दो वर्गों सम्पत्ति कुपक और किल्ली की परम्परा नागरिकता के अधिकार नहीं देता। केवल अन्य चार वर्गों को यह अधिकार देता है।

परम्परा के इस सामाजिक वर्गीकरण की एक विशेषता यह है कि यह जनजात धर्म या कर्म के आधार पर व्यक्तियों को विभिन्न वर्गों में नहीं बाँटता। यह वह वर्गीकरण मातु के अनुसार करता है। उसकी व्याख्या यह है कि नागरिक गुण-व्यवस्था में बीडा के रूप में कार्य करें, प्रोत्साहना में सामान्य लक्ष्यी विषयों का विश्वास करें और प्रोत्साहना में सार्वजनिक देव युवा और पुणेहितों का काम करें। इनका सामाजिक परिणाम यह होगा कि प्रत्येक वर्ग का वृत्तार्थ वर्ग आधार होने के बावजूद सभी व्यक्ति किसी न किसी भाग में सभी वर्गों से रह चुकेंगे।

परम्परा की उपर्युक्त सामाजिक व्यवस्था से प्रकट होता है कि वह व्यवस्थानुसार प्रत्येक नागरिक की जीवन कार्य देता है जबकि प्लेटो एक व्यक्ति को एक ही काम देने के लक्ष्य में है।

परम्परा की इस वर्ग-व्यवस्था में कुपकों और किल्लियों की नागरिकता के अधिकार रखना आदर्श राज्य के अस्तित्व पर एक कलक भवता है। परम्परा द्वारा आदर्श राज्य में सभी की ओर व्यवस्था की गई है उसे उचित नहीं कहा जा सकता।

बाहिर यह चीज आदर्श राज्य है जिसमें समस्त अपने अधिकारी की नागरिक ही न समझा जाए ?

(5) शिक्षा (Education)—प्लेटो की भाँति ही भारत भी धर्म-राज्य में शिक्षा पर बहुत महत्व देता है। आदर्श राज्य का उद्देश्य एक शुभ जीवन की प्राप्ति है और शुभ जीवन के लिए व्यक्ति का परिचयान, स्वस्थ तथा कर्तव्य-परायण होना अनिवार्य है। यह कार्य शिक्षा द्वारा ही हो सकता है। शिक्षा ही मनुष्य का शैक्षिक, मानसिक और वैश्विक विकास करती है। भारत में समाज प्रायः सभी के लिए एक ही अनिवार्य और सामान्य शिक्षा प्रदान करता है। उसके अनुसार शिक्षा बाल्यकाल से राज्य की देख-रेख में प्रारम्भ होती चाहिए। 7 से 14 वर्ष की अवस्था तक स्वाभाविक और वैश्विक विकास सम्बन्धी शिक्षा तथा 14 से 21 वर्ष की आयु तक शैक्षणिक शिक्षा और बाद में व्यावहारिक सम्बन्धी शिक्षा पर बल दिया गया है। प्लेटो की भाँति भारत भी अनिवार्य वैश्विक शिक्षा की व्यवस्था करता है और वर्णित तथा शरीर की विशेष स्थान देता है।

(6) अन्य विशेषताएँ (Miscellaneous Characteristics)—भारत अपने आदर्श राज्य के लिए अन्य विशेषताओं का भी वर्णन करता है, जैसे बाह्य मानसों से बचने के लिए राजा के चारों ओर से, राज्य में राजा, राजकी, किन्ने आदि की सुधार व्यवस्था हो। आदर्श राज्य में यह शासन की तीन समस्याओं का भी उल्लेख करता है। इसके अनुसार जीवन का कार्य करने के लिए समस्त नागरिकों की एक सभा (Popular Assembly) होनी चाहिए जिसके समस्त शासन के अधिकार निर्यात प्रस्तुत किए जाएँ। दूसरा धर्म परिवर्तन की तथा तीसरा धर्म व्यवस्था का होना चाहिए।

भारत और प्लेटो के आदर्श राज्य : एक तुलना

(1) भारत प्लेटो की तरह राज्य की एकता पर अधिक बल न देते हुए इसे स्थापित करने के लिए अधिकतम सम्पत्ति और परिवार की व्यवस्था का उन्मूलन नहीं करता।

(2) भारत का नागरिक प्लेटो के नागरिक की भाँति राज्य में पूर्णतः विनीत नहीं होता। वह ही राज्य के प्रति अपने कर्तव्य निभाता हुआ अपने धर्म की प्राप्ति करता है।

(3) प्लेटो की तरह भारत के सभी पर न उड़ी-हुए भारत अपने आदर्श राज्य की व्यावहारिक और प्रियकरक रूप देना चाहता है।

(4) प्लेटो अपने आदर्श राज्य का निर्माण विशेष धर्म विस्तृत नामन के विधान पर करता है जबकि भारत 'धर्म' के एक विधान को अपनाता है कि 'एक देश राज्य में अनिवार्य प्रत्येक विधि का कानून की होनी चाहिए।'

(5) भारत प्लेटो से दूर बात में सहमत नहीं है, परापूर्वार्थ यह अपने आदर्श राज्य के लिए संसद-द्वय के निष्कर्षों को स्वीकार की अधिक प्रस्ताव करता है।

(6) जैसा कि मैकली ने लिखा है "प्लेटो का आदर्श राज्य अपूर्ण विचारों का औषध है जिसे दार्शनिक नरेश द्वारा यथार्थ स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है। दार्शनिक राजा सभी वर्गीयान् संस्थाओं का अनुमूलन करके और विद्या एवं सभ्यता प्राप्त होकर निर्दोष सामाजिक व्यवस्था स्थापित करके एक नवीन और श्रेष्ठतर मानव जाति उत्पन्न करता है। इसके विपरीत, धरस्तू का आदर्श राज्य उस सामर्थ्य से बना है जो पहले से मौजूद है, जिसे भली-भाँति परखा और समझा जा चुका है तथा जिसे हर बुद्धिमान राजनीतिज्ञ प्रयोग में ला सकता है।"

इन असमानताओं के बावजूद, यह स्वीकार करना होता है कि अपने-अपने आदर्श राज्य के विषय में प्लेटो और धरस्तू जिन विचारों में निर्देशित हुए हैं उनके पर्याप्त समानता है। दोनों दार्शनिकों ने लगभग एक-सी आदनाओं से प्रेरित होकर अपने आदर्श राज्य का चित्रणवाच किया है। मैकली के शब्दों में, "दोनों विचारों एक का ही नैतिक उद्देश्य, व्यवस्था के लिए एक ही दृष्टि, समय के लिए समान प्रेम, स्वयं और विवेक के प्रति समान भिन्नता, विद्या में समान विश्वास, मानकता में समान आस्था और गुण जीवन की मान्यता के लिए समान विस्तार व्यक्त करते हैं।"

धरस्तू के क्रांति सम्बन्धी विचार

(Aristotle's Conception of Revolution)

राज्यक्रांतियों किसी भी राज्य और समाज के लिए सर्वत्र महान् समस्याएँ होती हैं और उनके पीछे कोई न कोई कारण रहे हैं। इतिहास इस बात का दायी है कि विश्व में जब तक होने वाली सभी क्रांतियों मनुष्य के मनोवृत्ति से उत्पन्न हुई चले में पुनर्जात के निम्न क्रिया-व्यवस्थाएँ हुईं हैं और चले कुछ महत्वाकांक्षी व्यक्तियों के स्वार्थ की भावना से उत्पन्न हुईं हैं। सिस्लेयर (Sisclair) ने लिखा है कि "म्याच एन मैकली राज्य के आधार हैं, म्याच एन यूना राज्य के फल और परिवर्तन के लक्ष्य विज्ञ हैं। राज्य में समानता और म्याच के कारण द्वैतभाव एन यूना की भावनाएँ पैदा होती हैं। जिस राज्य में नागरिक अनुभव करें कि उन्हें समान परिवर्तन नहीं दिए जा रहे हैं और उनके साथ न्याय नहीं किया जा रहा है, उन्हें कभी भी सहयोग एवं एकता की भावनाएँ उत्पन्न नहीं कर सकती।"

धरस्तू के समय युना के राज्यों के राज्य के स्वरूप और परिस्थानों में शीघ्र परिवर्तन होने लगे थे। यह परिवर्तन और निरन नई परिवर्तनशीलता युना की राजनीतिक जीवन की सबसे बड़ी विशेषता बन चुकी थी। लगभग प्रत्येक नगर राज्य विभिन्न सामान प्रणालियों—राज्यत्व, परिवर्तन, अनन्त, विप्लवपूर्ण मार्गों के से गुजर चुका था। धरस्तू के लिए यह स्वाभाविक था कि राजनीतिक स्थिरता के उच्चतम जीवन।

धरस्तू ने 'पॉलिटिक्स' की चौथी पुस्तक में व्यक्तियों का गुण मिलान करने हुए इनके कारणों पर प्रकाश डाला है और इनके समाधान करने के महत्त्वपूर्ण

उपानुक्रम है। वैज्ञानिक कहता है—‘सैनिटिक्’ राजनीतिक दर्शन का समग्र अध्ययन ही नहीं बल्कि ज्ञान की कला पर एक ग्रन्थ है जिसमें भारत द्वारा बुनानी-नवर-राज्यों में उपस्थित बुराई को और उनके राजनीतिक व्यवस्था के दोषों का विश्लेषण किया गया है और ऐसे व्यावहारिक सुझाव दिए गए हैं जिन्हें लागू करने से ही निराकरण किया जा सकता है। ज्ञानियों के प्रति भारत के अपारंपरिक दृष्टिकोण के कारण ही पोलॉक (Pollock) और अन्य विचारक मानते हैं कि भारत ही ज्ञान वैज्ञानिक है जिसने राजनीति को नीतिशास्त्र में रूप दे दिया है। यही वह मैकिवावेली (Machiavelli) के निकट या जाता है।

भारत के अनुसार सैनिटिक् का अर्थ

सैनिटिक् सम्बन्धी भारत की धारणा सर्वप्रथम सैनिटिक् सम्बन्धी धारणा से भिन्न है। भारत के अनुसार सैनिटिक् से तात्पर्य किसी विशेष युग और देश से सम्बन्धित सैनिटिक् से नहीं है। वह सैनिटिक् का अर्थ उस अर्थ में नहीं होता है जिस अर्थ में हम चीन की सैनिटिक्, एक की सैनिटिक्, इस्लाम की सैनिटिक् सैनिटिक् को लेते हैं। उसके मत में किसी राज्य में जनता का जनता के किसी भाग द्वारा सत्तारूढ़ किया जा रहा है सैनिटिक् नहीं है। उसके अनुसार सैनिटिक् का अर्थ है सविधान के दूर छोटा-बड़ा परिवर्तन। यह आवश्यक नहीं है कि सविधान में पूर्ण परिवर्तन होता है या आंशिक, सत्तारूढ़ होता है या बिना किसी विशेष कारण के। सविधान में पूर्ण परिवर्तन के परिणामस्वरूप राज्य का सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और प्रशासनिक स्वरूप पूर्णतः परिवर्तित हो जाता है—इसे हम पूर्ण सैनिटिक् की कला में मानते हैं। किन्तु जब सविधान के परिवर्तन के प्रत्यक्ष रूप में किसी एक भाग में कोई बहुत भाग में परिवर्तन होता है तो इसे आंशिक सैनिटिक् कहा जाता है। सविधान में परिवर्तन, निर्वाचन द्वारा, भोले के, प्रत्यक्ष निर्वाचन से या अन्य रणनीति उपायों द्वारा हो सकता है।

भारत में इस विषय में सैनिटिक् के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए सैनिटिक् के अवलोकित मुख्य प्रकार बताए हैं—

(1) सैनिटिक् और पूर्ण सैनिटिक्—यदि सम्पूर्ण सविधान बदल दिया जाता है तो वह पूर्ण सैनिटिक् है और जब केवल कोई महत्वपूर्ण भाग बदला जाता है तो वह आंशिक सैनिटिक् है।

(2) रणनीति और रणनीति सैनिटिक्—सत्तारूढ़ एक रणनीति द्वारा किया जाने वाले सविधान में परिवर्तन रणनीति सैनिटिक् है, अन्यथा इसे रणनीति सैनिटिक् कहा जाएगा।

(3) व्यक्तिगत और अंतः-व्यक्तिगत सैनिटिक्—जब किसी महत्वपूर्ण व्यक्ति की हत्या कर सविधान में परिवर्तन किया जाए तो वह व्यक्तिगत सैनिटिक् कहलाएगी किन्तु बिना सत्तारूढ़ की बदले सविधान में किए जाने वाला परिवर्तन अंतः-व्यक्तिगत सैनिटिक् होगी।

(4) जंग विशेष के विरुद्ध कान्ति—जनकलन्य या अन्य किसी जंग विशेष के विरुद्ध कान्ति करते किया जाने वाला सर्वप्रथमिक परिवर्तन इस प्रकार की कान्ति की कोटि में आया ।

(5) वैचारिक कान्ति—जब किसी राज्य में कुछ वादग्रस्त अपने आपसे या संसदजन द्वारा राज्य में कान्ति ला दें तो इसे वैचारिक या राजनीती की कान्ति (Demagogic Revolution) कहा जाएगा ।

कान्ति के कारण

अतस्तु ने कान्तिनो के कारणों की खोज करते हुए उन्हें तीन श्रेणों में विभाजित किया है—

1. कान्तिनो के मूल कारण,
2. कान्तिनो के सामान्य कारण एवं
3. विविष्ट साक्षर-प्रजातियों में कान्ति के विशेष कारण ।

(1) कान्तिनों के मूल कारण—अतस्तु कान्ति का कारण समानता की भावना की मानता है । यह समानता दो प्रकार की होती है—सम्प्रत्यक्ष समानता और बोधता सम्प्रती समानता । बोधता सम्प्रती समानता से अतस्तु का समिन्नाय अनुपातिक समानता (Proportionate Equality) से है । अतस्तु का मत है कि सभी मनुष्य ज्ञान, दृष्टि, बल पर सहमत हो जाते हैं कि निरपेक्ष (Absolute Justice) योग्यता के अनुसार ही होनी चाहिए, किन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में योग्यता के अन्त पर इनमें मतभेद होता है । वे सोचते हैं कि जब मनुष्यता की दृष्टि से सभी समान हैं तो फिर अधिकारी, मन-कान्ति आदि से भी किसी प्रकार की विषमता न होकर समानता होनी चाहिए । जब वही सदा प्रचली समानता की तुलना दूसरी से करता है । जब वह देखता है कि एक ही प्रकार से जन्म होने पर भी उसे कम अधिकार प्राप्त हैं तो उसमें असन्तोष जाग्रत होता है और सभी असन्तोष विकारात् क्रम पारण करते कान्ति में परिवर्तित हो जाता है । अतस्तु समानता की इच्छा को राज्य कान्ति का जनदाता होव के पक्ष में अपने उपाधुरण देता है । उसके अनुसार जनतन्त्री (Democrat) कहते हैं कि मनुष्य प्रकृति से ही समान उत्पन्न हुआ है, अतः साम्प्रतिक दृष्टि से उन्हें पूर्णरूप से समान होना चाहिए । अयोग्य अतस्तन्त्री कहते हैं कि कान्ति किसी विधिवे बात से सम्भव है, अतः वे सभी बातों में समान रहते । अतस्तु के अनुसार समानता की इन विरोधी विचारधाराओं के संघर्ष से कान्तिनो जन्म लेती है । अधिकारी की नियन्त्रण समानता के सिद्धान्तों से विचलित रहने वाली जनता की सहन नहीं होती । विषमता का अन्त करके समानता स्थापित करने की भावना से एक वर्ष दूसरे वर्ष के विरुद्ध कान्ति करता है । अतस्तु ने कान्ति का सबसे बड़ा कारण माना का यह दृष्टान्तों दृष्टि दृष्टिकोण ही है । जब कभी जनता का कोई भाग यह अनुभव करता है कि उसके साथ अन्याय हो रहा है तो राज्य में कान्ति के बीज पैदा हो जाते हैं ।

(2) कान्तिधर्मों के सामान्य कारण—(क) तापधर्मों की दृष्टता और ताप की साधना—जब शाश्वत या शाश्वत-वर्ग दृष्टताजब अनन्ति की विमता नहीं करता मयवा सार्वजनिक कथाएँ की भावना की छोड़कर धारणा पर करने की शक्ति ने तब जाता है तो अनन्ता में उनके विपक्ष अनन्तताय बाधक उठता है जो उस होकर कान्ति का रूप में जाता है ।

(ख) सम्मान की साधना—सम्मान जाने की दृष्टता सभी को होती है; लेकिन जब शाश्वत-वर्ग किसी को अनुचित रूप में सम्मान देता है या किसी को अनुचित रूप में समर्पणित करता है तो धर्म-वर्ग, अनन्ता के लिए शाश्वत धर्म का यह धर्मवा धारणा हो उठता है और यह उसके विपक्ष भावना उठती है ।

(ग) श्रेष्ठता की भावना—जब समाज में कुछ लोग सत्य लोगों से अपने को श्रेष्ठ समझने लगते हैं और अपने धर्म और धर्म की कुलीनता के आधार पर शासन की हथियाने का प्रयत्न करते हैं, तो वे अनन्ता में कान्ति के बीजों को बोते हैं । कालांतर में राज्य के प्रति विपक्ष न रहने की भावना का निरपेक्ष हो जाता है और यह कान्ति के रूप में प्रकट होती है ।

(घ) पूछा और परस्पर विरोधी विचारधाराएँ—पूछा और विरोधी विचारधारा की साम्य-कान्ति की जन्म देती है । साम्य में जब एक वर्ग सत्ता को बहुत किए हुए रहता है तो दूसरा वर्ग उसके पूछा करने लगता है । जब यह पूछा करमाग्य पर पहुँच जाती है तो कान्ति उस रूप धारण कर लेती है । इसी तरह परस्पर विरोधी विचारधाराएँ समाज में विरोधी साम्यवैधिक धर्मों की जन्म देती हैं । वे धर्म एक दूसरे की सत्ता और सत्ता को स्वीकार नहीं करते । कालत कान्ति हो जाती है । धरतू की कान्ति सम्बन्धी यह धारणा धारणविकता के अन्तर्गत निकट है साज की पूर्वाधार और साम्यवाद एवं दो कालपर विरोधी विचारधाराओं और इसके मध्य की पूछा ने समाज की साम्यवैधिक कान्तिधर्मों का समन्वय बना रहा है ।

(ङ) भय—धरतू के अनुधार भय की प्रकार से, व्यक्तिधर्मों की कान्ति के लिए सत्य करता है—(1) धर्मधर्मों दृष्ट-भय के अन्तर्गत के लिए विद्रोह कर लेते हैं, (2) कुछ व्यक्तिधर्मों को यह भय होता है कि उनके साथ सम्मान होने वाला है, भय इसके प्रतिकार स्वरूप में विद्रोह कर लेते हैं । कभी-कभी यह भय कि समुक्त धर्म या समुक्त दल द्वारा राज्य में कान्ति न हो जाए, दूसरे धर्म की कान्ति की प्रेरणा दे देता है । परिणामात् भय की जन्म देता है और भय कान्ति की ।

(च) ईश्वर-भावना—साम्यवैधिकधर्मों के पारस्परिक सम्बन्ध के परिणाम स्वरूप की कान्तिधर्मों का जन्म होता है । उनके व्यक्तिधर्म व्यवहार और सार्वजनिक के श्रेष्ठ न अनन्तता होकर लोग विद्रोह का भावना जाता कर देते हैं । साथ ही पारस्परिक ईश्वर-भाव के कारण व्यक्तिधर्मधर्मों की एक दूसरे के विपक्ष कान्ति का बीजाधारण करने से नहीं चूकते । वर्तमान काल में अनेक राज्यो में हम वाली कान्तिधर्मों के श्रेष्ठ माहल और देश के महत्वाकीय व्यक्तिधर्मों का जितना हाथ रहता है वह साम्यवैधिक के और विपक्ष के सामान्य धर्मधारो म धर्म राज्य कान्ति किसी की सामान्य और के लिए एक सुधी बीबी है ।

(घ) जातिधर्मों की विविधता—भारत के मत में जाति का एक भारत जातियों की विविधता भी है। विभिन्न जातियों के बीच सख्ती से सम्बन्ध बनाना नहीं बनाए जा सकते। जाति-विविधता समाज के एकता की भावना का सम्बन्ध नहीं करती। इसके कारण राज्य में देव, कलह, झूठ आदि के बीच विद्यमान रहते हैं जो कभी-कभी जाति को जन्म दे देते हैं।

(ज) राज्य के किसी धर्म की अनुप्राण से जातिक समुदाय वृद्धि—यह भी जाति का एक दुर्घटन कारण है। यदि देश की नीतिगत व्यवस्था धर्मही होती है धर्मवा राज्य के किसी धर्म, प्रदेस, वर्ग आदि में विशेष वृद्धि होती है तो इसके दूसरे प्रदेशों तथा वर्गों में विन्यास और देव ही जाति समाजात्मिक है। इसका परिणाम कभी कभी जाति के रूप में सामने आता आता है। इस प्रकार की जाति का उदाहरण भी भारत में दिया है—“430 ई.पू. के पश्चात् रोमन का धर्मनिरपेक्ष (Polity) लोकतन्त्र के परिणत हो गया क्योंकि समाजविघ्न जाति के धर्मनिरपेक्ष के कारण इस तरह के धर्मनिरपेक्ष गुणों के कारण जाति जाति की सत्ता में वृद्धि हो गई। ऐसे में लोकतन्त्र के प्रगत होने का कारण कैथोलिकधर्मिता गुण (431-404 ई. पू.) के प्रतिष्ठित जातिधर्मों का बड़ी सत्ता में जाति जाति था।” लोकतन्त्र के निर्माण की सत्ता जातिक बड़ जाने पर कालान्तर में यह बड़े, सत्ता, धर्मनिरपेक्ष आदि के प्रतिष्ठित होकर सत्ताधर्म वर्ग के विरुद्ध विद्रोह कर बैठता है।

(झ) निर्वाचन सम्बन्धी अनुप्राण—निर्वाचन सम्बन्धी अनुप्राण भी बड़े-बड़े विस्फोट करते हैं। निर्वाचन सम्बन्धी अनुप्राणों की सत्ताधर्म करने के लिए कभी-कभी जातिक के रूप की ही सत्ता सत्ता करते हैं।

(ञ) जाति-परिवर्तनों की उद्देश्य—राज्य जाति जाति-परिवर्तनों की उद्देश्य है भी होती है। परिवर्तन प्रवृत्ति का नियम है। कभी जातिकों के परिवर्तन होता रहता है। इन का ही इन जाति-परिवर्तनों की सम्बन्ध नहीं करते हैं या इनकी उद्देश्य करते हैं। कालान्तर में वे जाति के कारण बन जाते हैं। उदाहरणार्थ राज्य के वर्ग विशेष किसी न किसी प्रकार धर्मनिरपेक्ष और परिवर्तन की भावना को उत्पन्न किए रहते हैं। यदि सत्ता पर इन परिवर्तनों पर प्रतिक्रिया नहीं जाति जाति है तो वे जातिकों के जातिकों करके राज्य जाति का रूप जातिक कर लेते हैं। जातिकों की सत्ता कभी विकृत रूप जातिक कर जाति की जन्म देती है। उदाहरणार्थ सम्बन्धिता (Ambrosia) में जातिकों की जातिकों में जातिकों परिवर्तन करने के ही जातिक में जाति हो गई थी।

(ट) विवेकधर्मों की सत्ता की जातिक सत्ता—यह राज्य जातिक जातिकों के जातिकों का जातिक में जातिकों की जातिकों की जातिकों है तो एक प्रकार से यह जातिक का जातिक जातिकों करती है। जातिक में यह जातिक भी है। यदि जातिकों जातिक जातिकों, जातिकों जातिकों जातिकों जातिकों में न जातिकों देते तो सम्बन्धित जातिक का इतिहास ही जातिक होता है।

(४) पारिवारिक विवाद—पारिवारिक संबंधों की कानि का सुवर्ण करने हैं। अनेक बार दो राजकुमारों के प्रेम का कलह कानि का कारण बन जाता है।

(५) शासक वर्ग की असावधानी—कभी-कभी शासक वर्ग की असावधानी और असावधानी के कारण राजकुमारों की मृत्युपूर्व पदों पर नियुक्त कर दिया जाता है। समय और अवसर पर मिलने पर वे व्यक्ति शासन का उत्तरा उत्तर देते हैं।

(६) मध्यम वर्ग का अभाव—मध्यम वर्ग समाज के संतुलन बनाए रखने में सहायक होता है। इसके अभाव में कानि और निर्बल के मध्य कोई बहुत बड़ी हो जाती है। अतः इस वर्ग की समाप्ति पर कानि और संभव है।

(७) शक्ति-अनुपस्थिति—सामान्य में परस्पर विरोधी वर्गों में शक्ति के संतुलन होता भी कानि को जन्म देता है। बहुत ही विवेक का प्रयोग पर के साथ लड़ाई मीमांसा में का शक्ति सम-शक्ति अनुपस्थिति पर दोषों की संकलन की सम्भावना रहती है और कोई भी एक पर विरोध कर बैठता है।

(३) विभिन्न शासन प्रणालियों में कानि के विरोध कारण—(1) एकतात्मक में कानि—एकतात्मक में कानि को जन्म देने वाले अनुसूचित कारण पारिवारिक अंगों का अंतर्गत होना-कार, हस्त, शासक द्वारा जनता पर शासनाचार आदि हैं। अत्यधिक सत्ता के पर जनता विरोध कर बैठती है। स्वतंत्रकारी शासन में शासक की विरोधता ही कानि का कारण बन जाती है।

(ii) कुलीनता में कानि—इस शासन में भाव देने वाले व्यक्ति की कक्षा सीमित होती है। सीमित सीमा की पर एव प्रतिष्ठा की कानि और अन्य लोगों के प्रति शासकी की अनेकता तथा शासक वर्ग द्वारा प्रत्यक्ष रूप से बहुत करना यदि ऐसे कारण हैं शिरो अनेक में असावधानी पर बन जाता है और सम्पूर्ण जनता का उत्तरा कोई वर्ग कानि कर देता है। विभिन्न वर्गों में उचित सामयिक का अभाव ही कुलीनता की अर्थ सीमित है।

(iii) प्रजातन्त्र में कानि—प्रजातन्त्र में अनेकताओं की अधिकता के कारण कानि पैदा होती है। वे नेता निर्बल का प्रतिनिधित्व लेकर अपनी वर्ग के निष्ठ जनता काचित करते हैं। परिणामतः सभी वर्ग कानि को उत्तर देता है। कॉस (Cass), रोड्स (Rhodes) और मेजर (Megara) के उत्तर सभी में अत्यधिक के निष्ठ होने का भी बड़ी कारण का। अतः हम कारण भी कानि होती है कि भाषण और (Bismarck) उत्तर अभाव का उत्तरा लेकर जनता की अनेकता है, अपने पर के करते हैं और सब सत्ता हविष कर शासनाधी की रास्ते पर चल पड़ते हैं। अतः अनेक में कानि उत्तर समय होती है जब सभी साधारण मनुष्य की शासकी की समान सदस्यता अनेकता करते हैं।

यदि हम भारत द्वारा असावधानी कानि के उत्तरा कारणों पर विचार करें तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि संसार की अनेक कानि के पीछे भारत द्वारा असावधानी न कोई कारण संभव रहता है।

क्रान्तियों से बचने के उपाय (Means for Preventing Revolutions) :-

मरसू ने राज्य शक्ति के कारणों पर व्यापक प्रकाश डालने के साथ-साथ क्रान्तियों को रोकने के उपायों पर भी प्रकाश डाला है। डेनिंग (Denning) के मन्त्री ने, "मरसू क्रान्तियों को उत्पन्न करने वाले कारणों की विस्तृत सूची देने के सम्बन्ध उसके समान ही प्रभावशाली उनको रोकने वाले उपायों की सूची भी देता है।" मरसू की इस बहुमूल्य देन के बारे में मैन्वी (Mauney) का मत है कि, "सांख्यिक राजनीतिक विचारक सामान्य ही क्रान्ति को रोकने का, मरसू के उपायों के परिचित कोई अन्य ठोस उपाय बता सकें।"

मरसू द्वारा क्रान्ति के दो विरोधात्मक उपाय बताए गए हैं, वे निम्नलिखित हैं—

(i) शक्ति पर नियन्त्रण—राज्य में किसी भी वर्ग के हाथ में अधिक शक्तियाँ नहीं देनी चाहिए, विशेषतः एक शक्ति के हाथ में शक्तियों का केन्द्रीकरण होने से विद्रोह की सम्भावना अधिक होती है। यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि "शक्ति भ्रष्ट करती है और पूर्ण शक्ति पूर्णतः भ्रष्ट करती है (Power corrupts, absolute power corrupts absolutely)।" सत्य शक्ति का विभाजन होना चाहिए। शक्ति का वास्तव्य ही राज्य में समन्वीय का जनक होता है। -

(ii) जनता में सहिष्णुता के प्रति आस्था बनाए रखना—जनता में श्वास और सहिष्णुता के प्रति आस्था बनाए रखना क्रान्ति से बचने का बहुमूल्य उपाय है। शासक वर्ग को इस बात का हृदयस्पर्श उपाय करना चाहिए कि राज्य के समस्त नागरिकों के हृदय में कानूनों के प्रति आस्था और प्रतिष्ठा की भावना जलज ही जाए ताकि वे विधि-विधान का उल्लंघन न करें और जनता शक्ति को मान्य न दें। चूंकि नागरिकों में सुम्बलितचित्त विद्रोह के द्वारा ऐसी आस्था का विकास किया जा सकता है, यह मरसू नागरिकों की समुचित शिक्षा पर विशेष बल देता है।

(iii) सम्मान, पदों आदि का श्वासपूर्ण वितरण—मरसू का कहना है कि पदों में समतावस्था और सम्मान में अतिनम्रता के कारण राज्य में क्रान्ति की सम्भावना रहती है। यह पद, नाम, सम्मान, पुरस्कार आदि निम्न श्रेष्ठि से अधिक से अधिक लोगों को दिए जाने चाहिए जिससे संतुष्ट नहीं की श्रेष्ठि हो। राज्य में कोई भी व्यक्ति यह न समझे कि राजनीतिक पदों की प्राप्ति करना असम्भव है, बल्कि उसने यह आस्था बँटानी चाहिए कि योग्यतानुसार कोई भी व्यक्ति इन पदों की प्राप्ति कर सकता है। निम्न पदों की कमीविविध श्रेष्ठि समय के लिए कर दी जानी चाहिए। किसी भी अक्षम व्यक्ति को राजनीतिक पदों पर कामीन नहीं किया जाना चाहिए। इसके परिचित किसी भी नागरिक को राजनीतिक पदों पर एकाधिकार न करने देना क्रान्ति को रोकने में बड़ा बहुमूल्य है।

(iv) राज्य की परिस्थितियों के प्रारम्भ में बचाना—क्रान्ति का सर्व 'परिणत' है यह जहाँ तक हो सके, राज्य की परिस्थितियों के प्रारम्भ से बचाया चाहिए।

इस परिस्थिती के मूल में ही कान्ति के बीच निहित रहते हैं। राज्य की कान्ति की ओर प्रसरण करने वाली कान्तिवीर प्रतिबन्ध लगाने के लिए सज्जद रहना चाहिए।

(१) सांघिक प्रसमानता कम करना—समाज में सांघिक सांघिक प्रसमानता कान्ति की जनक होती है। धरन्तु का मत है कि राज्य की ओर से निरन्तर यह प्रयत्न होना चाहिए कि समाज में सांघिक विषमता कम से कम हो। यह भीहित है कि धन का वितरण इस प्रकार हो जिससे न तो सर्व-विशेष सांघिक सम्पत्ति कम जाए और न दूसरा नई सम्पत्ति निर्धन।

(ii) समाज में सम्पत्ति वर्गों को बढ़ावा—कान्तिवो से बचने का एक महत्वपूर्ण उपाय यह है कि समाज में पुराने सम्पत्ति वर्गों को जान दिया जाए। यह सम्पत्ति वर्ग, धनिकी और निर्धनो के बीच सम्बन्धन का कार्य करेगा।

(iii) दो विरोधात्मक प्रवृत्ति के लोगों के हाथ में सत्ता—कान्ति की नियमित करने वाला एक अन्य उपाय यह है कि राज्य की सत्ता दो विरोधात्मक प्रवृत्ति के लोगों के हाथ में होनी चाहिए। प्रतिभावाली नुस्ती क्षतिवीर और धनिकी के मध्य एक सामन्त की स्थापना की जानी चाहिए। राज्य का सगठन धनी और निर्धनो के बराबर प्रतिभा के आधार पर किया जाना चाहिए ताकि सम्पत्ति का नाम हो और कान्तिवादी दल का उदय न हो पाए।

(iv) धनिकीयन की भावना का दमन—राज्य का सगठन इसका दुष्ट होना चाहिए कि राजनीतिक धनिकीयन प्रथम पक्ष का अनुचित लाभ उठाकर धन-सम्पत्ति न कर सकें। रिश्वतखोरी और इसी तरह के अन्य प्रतिवन्धित कार्यों को करने से उन्हें रोक्ना चाहिए। राज्य में एक ऐसा सामाजिक वातावरण पैदा किया जाना चाहिए कि राज्य के पदाधिकारी अथवा सम्पत्तिधारी पक्ष-विशेष और धनिकी स्थापित नुस्ती सम्पत्तिधारी की ओर ध्यानित न हो सकें।

(v) धरन्तु का विचार है यदि सामाजिकधारी की क्षमति कम रही जायेगी तो कान्ति का प्रतिकार किया जा सकता है। यह चाहता है राज्य में ऐसी सम्पत्ति स्थापित की जाए जिसके अनुसार किसी भी धनिकीयन वर्ग की छद्म सत्ता की क्षमति दमन करने के लिए न दी जाये। इसका बहुत बड़ा लाभ यह होगा कि विहित वर्ग से सम्पत्ति की जारी-जारी के पर प्राप्त कर सकेंगे धरन्तु उन्हें भी दमन करने का प्रयत्न मिल जाएगा और उनकी महत्वाकांक्षा या धनिकी क्षमतायन की पूर्ति हो जायेगी।

(vi) कान्ति को रोकने के लिए एक मनोवैज्ञानिक उपाय का धरन्तु सुझाव देता है कि राज्य को चाहिए कि वह सभी लक्ष्य से नागरिकों को प्रभावित रहे। राज्य गण-नर लक्ष्य से उन्हें धमक कर वे तात्किक कान्तिवादी कदम उठाने का उन्हें समय ही न मिल सके। धरन्तु के ही शब्दों में—“शासक को राज्य की चिन्ता करने है, उन्हें चाहिए कि वे नर लक्ष्य का धनिकीयन करें, दूर के लक्ष्य को मस्तिष्क मार्ग तात्किक अज्ञान रहनेसार की प्रति सम्पत्ति रक्षा के लिए सर्वेसं सचेत और उत्तर रहे।”

(vii) धरन्तु कान्तिवो की रोकने का सर्वोत्तम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण

उपान 'विद्या' को बताता है। शिक्षा द्वारा राज्य के नागरिकों में राज्य के प्रति निष्ठा की भावना उत्पन्न की जा सकती है, उन्हें ज़रूरतों के दीप से प्रभावित करता जा सकता है। शिक्षा से उनमें कर्तव्य-भावना जागृत की जा सकती है। धरतू के मतानुसार शिक्षा की व्यवस्था और कार्यक्रम ऐसा होना चाहिए जिसमें युवकों में सविधान के प्रति श्रद्धा और सामाजिक ऐतिह्यो के प्रति आस्था बनी रहे।

(xii) धरतू निरंकुश राज्यत्व में नागरिकों को रोकने के लिए दो साधन उपलब्ध है—(क) प्रथम साधन व्यक्ति का है जिसके द्वारा प्रजाप्राणी शासन राज्य के बड़े लोगों को सन्तान करके सब पर प्रभाव रूप से शासन कर सकता है। यह विशेषी केसार्सों का प्रदर्शन करता है लोगों को सम्भोज कर सकता है। इन उपार्थों में नागरिकों का नैतिक सम्पन्न हो जाना और वे निरंकुश शासन के विरुद्ध नागरिक करने का प्रयत्न नहीं करेंगे। (ख) दूसरा साधन यह है कि प्रजाप्राणी या निरंकुश शासन एक ऐसा साधन रहे जिससे नागरिकों की सम्भावना और उनका प्रेम प्राप्त किया जा सके। यह साधन सम्भवतः कार्य होगा चाहिए। इसके द्वारा एक ओर तो नागरिकों की नैतिक एवं धार्मिक भावनाओं की देख बड़ी पहुँचानी चाहिए और दूसरी ओर वेष्ट नागरिकों को दुरुस्त करना चाहिए ताकि लोगों में यह भावना व्याप्त हो जाए कि यह राज्य का धर्मक है।

(xiii) अनुसूचित वैयक्तिक जीवन की परिधिपतिमें से जनसंख्या भी जातिकारी बन जाते हैं। यतः एक ऐसा राजकीय धर्मकारी नियुक्त किया जाना चाहिए जो इस बात पर सर्वत्र चोखनी दृष्टि रखे कि लोग अपना साधन-व्यवस्था से अनुसूचित एवं रहे हैं तथा शासनव्यवस्था से नीति के अनुसार ही जीवनयापन कर रहे हैं।

(xiv) व्यक्ति को रोकने के सभी कार्यों में धरतू राज्य की सुरक्षा की सर्वोच्च प्राथमिकता प्राप्त करता है। उसका कहना है कि विविध प्रकार के सविधानों को व्यक्ति के अपने और अपने नियमन करने के लिए अपने के ऐसे सभी तत्त्वों का नियंत्रण कर दिया जाना चाहिए जिसके द्वारा व्यक्ति में उत्पन्न हो सकती हैं। राज्य की सुरक्षा के लिए यह आवश्यकता पड़ने पर व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन तक में राज्य की हस्तक्षेप का सम्भोज करता है। उसका तो बड़ी तक विचार है कि यदि राज्य में पारम्परिक विचार एवं नियमों के कारण व्यक्ति होती है तो राज्य को उसमें भी हस्तक्षेप करना चाहिए।

धरतू और प्लेटो

(Aristotle and Plato)

कुछ विचारकों ने इन दोनों गुरु-विषयों को एक-दूसरे का पूर्णतः विरोधी बताया है। यह विचार केवल सैद्धिक रूप से ही मान्य है क्योंकि धरतू पर उसके गुरु प्लेटो का प्रभाव स्पष्टता देखने में मिलता है। ड. एन. पोल्टर के शब्दों में, 'धरतू सभी प्लेटोवादियों में गहलू है।' धरतू जीव जगत् तक प्लेटो का निष्ठा

रहा। प्लेटो अपने इस कहान् विषय को अपने अकादमी (Academy) का मन्त्रिमन्त्र कहा करता था और सम्भवतः वह उसे ही अपना उत्तराधिकारी मानता भी चाहता था। इस सम्बन्ध में सेनारत्न ने कहा है—“इसके बाद दार्शनिक प्लेटो का प्रत्येक पुष्प हम सम्बन्ध में बसाहू है।”¹ भारतू ने भारतू पर अपने गुरु का प्रभाव बड़ा ध्यानक है। उसके विचारों की नींव प्लेटो के अमर्क पर टिकी है।

सममानताएँ

भारतू और प्लेटो की पद्धति में, निम्नार्थ और दृष्टिकोण में कई जाने वाली समीर सममानताएँ हैं—

(1) प्लेटो दार्शनिकी, अकादमी और हवाई योजनाएँ बनाने करता है तो भारतू दार्शनिकी, व्यापक, व्यावहारिक और इस पद्धति की वास्तविकताओं के र्था हुआ है। प्लेटो का उत्तरार्थ ‘अत्य, निव, सुन्दरम्’ पर आधारित है, जब कि भारतू व्यावहारिकता पर ध्यान देते हुए कोरे विचारों का विद्वान् (Conceptualism of the ideas) को मान्यता नहीं देता। वह प्लेटो के विचारों अकादमी के अकादमी पर भारतू का उत्तरार्थ का निर्माण करना चाहता है। जेडरिक पोल्क (Fredrick Pollock) के हकी में, “प्लेटो पुनर्गर्त में अककर नए प्रयोगों में पुनर्गर्त हुआ कभी-कभी वैज्ञानिक के अकादमी को और कर किसी दृश्य की अकादमी स्थापना के र्था करता है, किन्तु भारतू एक अकादमी अकादमीवादी की अति उह अकादमी के अकादमी और मार्ग का निर्माण करता है।”

(2) प्लेटो की पद्धति निवकायक (Deductive) है, जबकि भारतू की अकादमीवाक (Inductive)। इस अकादमी प्लेटो अकादमी में अकादमी निवनों की अकादमी करता है वहीं भारतू अकादमी अकादमी व अकादमीवाक के अकादमी पर अकादमी निवनों का अकादमी करता है। प्लेटो ‘अत्य, निव, सुन्दरम्’ अकादमी अकादमी विचारों का अकादमी करने हुए अकादमी के अकादमी की अकादमी है, भारतू अकादमीवाक पद्धति पर विचार करने हुए अकादमी अकादमी पर अकादमी की अकादमी करता है। अकादमी प्लेटो की अकादमी भारतू के विचार अकादमी स्थापना, व्यावहारिक, अकादमी और अकादमी है।

(3) प्लेटो दार्शनिक अकादमी का अकादमी के अकादमी को सर्वश्रेष्ठ मानता है, किन्तु भारतू के अकादमीवाक वह अकादमीवाक और अकादमीवाक पर निर्भर है। वहीं प्लेटो दार्शनिक अकादमी द्वारा अकादमी अकादमी का निर्माण करना चाहता है वहीं भारतू ऐसा अकादमी बनाना चाहता है अकादमी निर्माण किन्तु अकादमी पर अकादमी हुए अकादमी अकादमी की अकादमी अकादमी अकादमी है। अकादमी (Mastery) के अकादमी, “प्लेटो ऐसे अकादमी (Sophocles) की अकादमी में है, जो अकादमी अकादमी की अकादमी

1 “Every page of his later philosophical writing bears witness to the observation.”
—Schober

करे, परन्तु ऐसे प्रतिष्ठान (Super-Science) की खोज करना चाहता है जो राज्य को अच्छे से समझा बता सके।"

(4) प्लेटो 'रिपब्लिक' में सामंजसिक शासक को निरकुल-ता बना देता है। केवल 'सोव' में वह कानून की उपानता मानता है। परन्तु शास्त्र से ही कानून की प्रभुता को स्वीकार करता है।

(5) परन्तु जिस राज्य को सादर मानता है, वह प्लेटो के उपानर्त राज्य के समान है, सादर राज्य के समान नहीं।

(6) प्लेटो के राज्य की एकता तर्क पर टिकी हुई है जिसमें वह व्यक्ति को पूर्ण रूप से निर्जीव कर देता है। इसकी स्थापना के लिए वह निजी सम्पत्ति और निजी परिवार को भी समाप्त कर देता है। यद्यपि 'सोव' में वह निजी सम्पत्ति और परिवार रखने की व्यवस्था करता है लेकिन इस अधिकार को सदैव प्रतिबन्धी से बड़ा सीमित किया गया है। परन्तु जो यद्यपि राज्य की एकता स्थापित करना चाहता है, किन्तु वह व्यक्ति को उसमें पूर्णतः निर्जीव नहीं करता। वह तो राज्य की 'समुदायी का समुदाय' मानता है। वह बहुल में ही राज्य के स्वरूप और प्रतिस्पर्ध को मानता है। निजी सम्पत्ति और निजी परिवार को राज्य में स्थान देते हुए वह प्लेटो के साम्यवाद को समुचित ठहराता है।

(7) प्लेटो राज्य की उत्पत्ति मनुष्य की आवश्यकताओं के संतुलन मानता है। उसके अनुसार व्यक्ति अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सहयोग करने की वात्स्य होता है और यही 'राजनीतिक' व सामाजिक जीवन का आधार है। उसकी दृष्टि में मनुष्य ने यदि एक कार्य करने की योग्यता भी प्राप्त होती है। इन विभिन्न योग्यताओं और कार्यों में सामंजस्य स्थापित करने के लिए राजनीतिक संगठन की आवश्यकता पड़ती है। ऐसा सामंजस्य केवल राज्य द्वारा ही सम्भव है। प्लेटो के इन विचारों के विपरीत परन्तु राज्य को परिवार के समान एक प्राकृतिक मानव स्वीकार करता है। उसका कहना है कि प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु स्त्री-पुरुष, स्त्री-पुरुष मिलकर परिवार में संगठित हो जाते हैं, परिवार मिलकर ग्राम बनते हैं और ग्रामों के समुदाय होने पर राज्य का निर्माण होता है।

(8) प्लेटो राज्य की उत्पत्ति का दृष्टि रूप मानता है, जबकि परन्तु इसे परिवार का दृष्टि रूप समझता है।

(9) प्लेटो के विचार राज्य में परिवर्तन की दृष्टि के क्रांतिकारी (Radical) हैं, जबकि परन्तु के कटिवादी (Conservative) हैं। प्लेटो अपने सादर राज्य की स्थापना में सामाजिक रीति-रिवाजों में अनुमति पर परिवर्तन करता है जबकि परन्तु को मान्यता है कि हमें दुखी से बने जाने वाले मनुष्यों की रक्षा नहीं करनी चाहिए। वास्तव में प्लेटो यही कटिवादी (Extremist) है, यही परन्तु मध्य मार्ग (Golden mean) का अनुसरण करने वाला है। इस बारे में विल द्यूरेंट (Will Durant) ने कहा है कि "प्लेटो के क्रांतिकारी विचारों का एक कारण यह था कि उसके समय में राजनीतिक वातावरण द्वारा मान्य था, यहाँ सामाजिक

आत्मता से परिचर्य के प्रस्ताव सरलता से प्रस्तुत किन् या सकते थे, लेकिन घरस्तू का युव राजनीतिक दृष्टि से सकारात्मक का युव था, यद्यपि उसने समाज में नैतिक परिवर्तनों का विरोध किया।¹

(10) घरस्तू ने राजनीतिक विचारों को नैतिक विचारों से युक्त किया है। ये दोनों दोनों विचारों का विचार करते हुए राजनीति को नीतिशास्त्र का अंग मानता है। यह ब्रह्माई (Goodness) को सार्वभौम धर्म विचार मान स्वीकार करता है, लेकिन घरस्तू ब्रह्माई को निरपेक्ष मान न मानकर उसका कानुमी और परिमितियों से निर्धारित होना मानता है। उसकी दृष्टि में व्यक्ति का अधिकतम करवाण राज्य में ही सम्भव है, यद्यपि इसका विशेष राजनीति-शास्त्र का काम है। इस तरह वह राजनीति-शास्त्र को नीति-शास्त्र से युक्त करके एक स्वतन्त्र विज्ञान बनाता है।²

ये दोनों घरस्तू के राजनीतिक विचारों में पाए जाने वाले उपर्युक्त प्रकार उनकी नैतिक प्रवृत्तियों के भेद के कारण हैं। इसका कहा जाता है—“ये दोनों राजनीतिक दर्शन के धार्मिकवादियों, रोमांटिकवादियों (Romanticists), आन्तिकाधिकारवादियों (Utopians) का विचार है और घरस्तू व्यावहारिकवादियों, वैज्ञानिकों, व्यावहारिकवादियों (Pragmatists) तथा उपयोगितावादियों का जनक है।”³

समावृत्तार्थ

उपर्युक्त प्रकार के होते हुए भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि घरस्तू पर उसके साम्प्रदायिक विचारों का बड़ा प्रभाव है। यद्यपि वह अपने युव के प्रति सम्बन्धित नहीं है, किन्तु वह उसकी महान् दार्शनिकता और योग्यता के प्रभाव से घेर-घेर सम्बन्धित है। दोनों विचारों में सम्पूर्ण प्रकारों के लाभ-हानि महान् साधन या समावृत्तार्थ की दृष्टिकोण होती है। जहाँ घरस्तू ने अपनी कृति में अनेक मोड़ पर दोनों का अन्वेषण किया है, वहाँ अनेक स्थान पर वह उनका आलोचना भी है। इन दोनों महान् विचारों के राजस्वर्य के पाए जाने वाली कुछ समावृत्तार्थ एक प्रकार हैं—

1. दोनों ही युवा के राजनीतिक जीवन की परिवर्तता और नैतिक व्यवस्था को मानने की दृष्टि से देखते हैं। दोनों ही उनका उदात्त नैतिक जीवन को स्वीकार करते हैं। दोनों ही भी मान्यता भी कि—“अर्थ से नगर-राज्य में ही सर्वोत्तम नृवी जीवन-व्यवस्था किया जा सकता है। उसे प्राप्त करने में वे व्यक्ति ही समर्थ हो सकते हैं जिनके पास विद्या और साधन हैं।” दोनों ही नगर-राज्य के स्वशासित और शासन-निर्भर होने के पक्ष में हैं।

2. दोनों ही दार्शनिकों ने लाभ-हानि का समर्थन किया है। यद्यपि ये दोनों ने इसका स्पष्ट रूप से-व्यपेक्षित नहीं किया है किन्तु विरोध भी नहीं किया है।

1. H.W. Davenport : *Story of Philosophy*, P. 11.

2. Davenport : *A History of Political Theories*, Part I, pp. 49-51.

3. Macy : *Political Philosophy*, P. 11.

3. दोनो विचारक राज्य के लिए विद्या को आवश्यक मानते हुए उसे राज्य के विघ्नरहित में रहने के पक्ष में हैं। वे स्वस्थ और सुन्दर जीवन तथा कर्तव्य-पूर्ति के लिए विद्या को बड़ा महत्त्व देते हैं।

4. यदि प्लेटो 'सॉज' में व्यावहारिकता की पराजय पर जरासा दुःसा कानून की उच्च स्थान प्रदान करता है जो अरस्तू भी 'पॉलिटिक्स' में कानून की उच्चता को स्वीकार करता है।

5. दोनो ही विचारक सामरिकता को सीमित करता रहते हैं। दोनो का ही मत है कि समस्त पारौलिक वष दासो तथा मनस्वरिको को ही करना चाहिए।

6. दोनो ही विन्ताक एक मिथित उविपान मे विवशत करते है यद्यपि उनके वर्गीकरण मे कुछ भन्तर है।

7. दोनो ही विचारक स्थितिगत पक्षो को महत्त्व नहीं देते।

8. दोनो ही राज्य के एक नैतिक एवं साम्यात्मिक स्वरूप को मान्यता देते हैं। दोनो ही नगर-राज्य का साम्यन नैतिकता के आधार पर करते हैं। इस तरह दोनो के राजनैतिक विचार नैतिक विचारो के प्रभावित हैं।

9. दोनो प्रजातन्त्र के विरोधी है और पूर्ण समताता मे विश्वास नहीं करते।

10. दोनो ही विचारको की दृष्टि मे राजनीति एक व्यावहारिक विज्ञान है। "जिन तरह किमी 'राजनीति' के लिए प्लेटो के 'पेरिपेटिक' और 'सॉज' महत्त्वपूर्ण है वनी प्रकार अरस्तू की 'पॉलिटिक्स' भी उसके लिए एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सिद्ध हो सकता है।"

स्पष्ट है कि दोनो विचारको मे कलक नीतिक समताताएँ और समताताएँ हैं। श्री० मेन्सी को लिखती है कि—“प्लेटो का राज्य प्रभुर्त विचारो का एक हीका है जिसे प्रभाव रूप एक दार्शनिक राजा देना जो अपने सामने वर्तमान समस्त सवाधो को जग मे उताव्र फैकेला और क्षति क्षरप तथा विधा द्वारा एक निरीष साम्यात्मिक व्यवस्था मे मनुष्यो की एक कर्मीन तथा क्षेत्रतर जाति उपरन करेगा; अरस्तू का भजन उस साम्यो मे क्या है जो पहले से ही धीरूर है, जिसे सम्झी तरह बरखा या बुका है, सम्झी तरह समस्त का बुका है और जिसे कोई भी बुद्धिमान राजनीतिज्ञ प्रयोग कर सकता है जो कि साम्य मे भिन्नता-युक्तता नयून रेंवार करना चाहे। जो भी दोनो विचारको मे एक-सा ही नैतिक बोध है, एक-सी ही व्यवस्था की चाह, एक-सा ही समुत्पन्न का डेम, एक-सी ही न्याय तथा बुद्धि के प्रति मान्यता, एक-सा ही विद्या मे निष्ठाता, एक-सी ही मान्यता मे आधार तथा नृप जीवन की प्राप्ति के लिए एक-सा चिन्ता दिखाई पड़ती है।”

अरस्तू में यूनानी एवं सार्वभौम तत्व और उसका प्रभाव

(The Hellenic and Universal Elements in Aristotle and His Influence)

अरस्तू के राजनैतिक चिन्तन मे कुछ ऐसे कर्तन है जिनमे यूनानी (Hellenic) तत्व निहनाई पड़ते है जो कुछ ऐसे है जो सार्वभौमिक महत्त्व रखते हैं।

यूनानी तत्त्व (Hellenic Elements)

भारत पर अन्तराष्ट्रीय मुद्रानी परिस्थितियों का प्रभाव बहुत ही दुर्लभ रहा था । इस प्रभाव के कारण ही इसकी निवारणकाय उस समय के अनेक मुद्रानी तत्वों से वर्णित है । अन्तिम के रूपों में, “वर्द्धित राजनीति शास्त्र की शास्त्री के लिए भारत की ऐतिहासिक जीव ने मुद्रानियों (Medals) के प्रादेशिक क्षेत्र की सीमाओं का प्रतिबन्ध किया था, लेकिन अपने विश्व वृद्धि का निर्माण किया उसके आवश्यक रूपों का निर्धारण मुद्रानी क्षेत्र की सीमाओं में निश्चयान परिस्थितियों के द्वारा ।”¹² भारत के राजदरबार के मिलने वाले प्रथम मुद्रानी तत्व के हैं—

1. भारत के प्राचीन राज्य की कल्पना नगर-राज्य तक सीमित है। मध्यम कृषि की सीमा के आगे अनेक नगर-राज्य नष्ट हो गए थे किन्तु उनकी दृष्टि नगर-राज्य से ऊपर नहीं उठ सकी। स्पष्टतः यह उस वर व्याप्त दुस्खी प्रभाव ही था।
2. भारत ने पूना के अतिरिक्त दास-व्यापार का अनुसंधान किया है। भारत के अनेक विद्वानों की इसी का स्वीकृति थी।
3. विश्व के विश्व काल का अर्थ भारत के विद्वानों ने किया है यह बहुत सीमा तक अत्यन्त ही पूना के अर्थ का अनुसंधान है। विश्व की अत्यन्त ही और राज्य द्वारा अत्यन्त ही मानना उन दिनों पूना का अर्थ ही था।
4. भारत का अर्थ अत्यन्त ही और पूना के अर्थ का अर्थ ही है। अत्यन्त ही मानना पूना के अर्थ का अर्थ ही है।
5. अत्यन्त ही, अत्यन्त ही और अत्यन्त ही के अर्थ ही है। अत्यन्त ही मानना पूना के अर्थ का अर्थ ही है।
6. भारत द्वारा अत्यन्त ही अत्यन्त ही के अर्थ ही है। अत्यन्त ही मानना पूना के अर्थ का अर्थ ही है।

घरलु के राज्यर्शन में यह जगह बाले इन सुखी तरली में से एक को भी चर्चाना बाध में सत्य स्वेकार नहीं दिया जाता है । घरलु के पुन में इनका बदलन भले ही रहा हो निन्तु पुन के सत्य-मान के मरु भी गष्ट हो गए हैं और मरु उन्हें मान्य प्रत्यावाधिक, अत्यन्तहीन और मरुतुत अमरुत माना जाता है ।

सार्वभौमिक तत्व (Universal Elements)

घरालू के राजदरबारा का सम्बन्ध मनुमान का है वह उनसे कुछ ऐसे वक्त मिलते हैं जिसका प्रतिबिम्ब-प्रकाश है, जो साह भी उलझे ही मारी है जिसने कि घरालू के मुँह में है। उसके बिचारों के ऊपर-उपर से साहजीन मनु मनुमान निम्नलिखित है—

1. "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है"—यह एक सत्य-विज्ञान है।
जससे ही यह सत्यके प्रथम विचारक है किन्तु इसे जो सामाजिक, वैज्ञानिक और
वैयक्तिक रूप से इसे व्याख्या किया है।

2. "राज्य का जन्म जीवन के लिए हुआ और मृत तथा सुखी जीवन के लिए वह जीवित है"—इस विद्वान् को ऐतिहासिक अधिष्ठाता भरतृ ने ही ही है, मरवि प्लेटो के विचार इसका आधार है ।

3. भरतृ ही वह प्रथम विचारक है जिन्होंने सर्वप्रथम यह अनुभव किया है कि राज्य की अन्तिम उत्पत्ति व्यक्ति की स्वतन्त्रता और राज्य की सत्ता में सामन्त्यस्य स्थापित करना है । कानून की प्रवृत्ति, कानून की विमुख बुद्धि समझता आदि की जो आरम्भ भरतृ ने व्यक्त की है उनमें स्वतन्त्रता और सत्ता का सामन्त्यस्य निहित है । भरतृ का यह कथन भी एक सार्वभौमिक सत्य है कि जनता ही सरकार के आधार पर अन्तिम निर्णय करने की अधिकारिणी है । भारत के जनमत सभी प्रजासिद्धों में राज्यों में इसे निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जाता है ।

4. भरतृ जनमत की विज्ञानी या विवेचनी की रूप के अधिक महत्त्व देता है । आज भी सत्ता के अधिकारी जनता के हित को देखकर विचारते हैं ।

5. भरतृ का सुविधानवाद पर बल देता एक महत्त्वपूर्ण सार्वभौमिक सत्य है । सुविधानवाद के इस एक सत्य में वह सब कुछ समाया हुआ है जो यूरोप एवं वर्तमानकालीन विश्व के विचार की भरतृ के ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' में उत्तराधिकार में आया हुआ है । वास्तव में कानून को सर्वोच्च बनाकर और राज्य की कानून के अधीन स्वीकार करते भरतृ ने समय-समय के सुविधानवादियों का पिता होने की कसौटी प्राप्त कर ली है । सन्त टॉमस का कानून के प्रति सम्मान और उनका सुविधानवाद प्रमुखतः भरतृ द्वारा ही प्रेरित है । मार्कर के शब्दों में, "भरतृ ने सन्त टॉमस की शिक्षा, सन्त टॉमस के द्वारा कृष्ण के बीचिक यूरोप की शिक्षा, सन्त टॉमस के द्वारा करते रिचर्ड हूकर को भी सिखाया जिसके कानून तथा सरकार के विद्वान् का वर्णन यही है ".....न्यायविद हूकर डॉक के शिक्षकों में से एक था.....डॉक का विद्वान् बर्क को मिला । भरतृ की 'पॉलिटिक्स' तथा 17वीं तथा 18वीं शताब्दी के अनेकी राजनीतिक विचार के आगमन में न केवल बुद्धिमान का साम्य है बल्कि एक ही एक सद्वीर भी है ।"

6. भरतृ का मध्यम मार्ग (Golden Mean) का विचार वर्तमान राजनीति के नियन्त्रण एवं अनुकूलन (Checks and Balances) के विचार का जनक है । केटलिन (Cathol) के शब्दों में, "न्यायविद के बाद, सामान्य मान और मध्यम मार्ग का सर्वोच्च सुधारक भरतृ ही है ।"¹

7. भरतृ के दर्शन का उत्तरी उत्तर उत्तर उत्तर लोकतन्त्र (Liberal Democracy) का समर्थन है । भरतृ ने अन्तिम अन्तिमी लोकतन्त्र (Extreme Democracy) और लोक द्वारा शासन करने वाले लोकतन्त्र का विरोध किया, लेकिन साथ ही सब तरह के अन्तिमार्थी अन्तिम आगमनों के नाश का भी वह कह-विरोधी है ।

1 "After Confucius, Aristotle is the supreme apostle of commonness and of golden means."
—Cathol

8. अरस्तु के दर्शन का छाठवीं शताब्दी तक राज्य के सम्बन्ध में बहुत उदार विचार है कि राज्य बुद्धि द्वारा शासित होता है तथा उसका उद्देश्य उत्तम जीवन है न कि प्रेष का विस्तार करना। राज्य का सर्वोच्च प्रयोजन नागरिकों के सुसुख की बुद्धि, न्याय का निरस्त और शासक का प्रसार करता है। राज्य के विषय में अरस्तु के इस उदात्त विचार की समझ से कोई इनकार नहीं कर सकता।

9. प्राधुनिक प्रक्रियाओं के विभाजन या वृक्षकरण का सिद्धान्त (Theory of Separation of Powers) अरस्तु के शक्ति-विभाजन सिद्धान्त पर ही बहुत कुछ आधारित है। वर्तमान में राज्य की शक्ति व्यवस्थापिका, न्यायपालिका तथा कार्यपालिका में बंटी होती है। अरस्तु इन तीनों विभागों को विचारालम्बक (Deliberative), विधि-निर्माण करने वाली (Legislative) तथा न्याय कार्य करने वाली (Judicial) का नाम देता है। इस तरह शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त का मूल अरस्तु के दर्शन में देखने की शक्ति है।

10. अरस्तु की प्राधुनिक व्यक्तिवाद का चित्र कहा जाता है। उसका दर्शन प्योटो से अधिक व्यक्तिवादी है। वह व्यक्तिगत सत्ता का विरोधी है और लोगों की समझ सम्बन्धी समस्याओं को स्वीकार करता है। निजी सम्पत्ति की यह प्राकृतिक मान्यता है। साथ प्रत्येक राज्य निजी या व्यक्तिगत सम्पत्ति को मान्यता देता है।

11. अरस्तु के राजदर्शन में एक अन्य उल्लेखनीय विशेष-व्यक्तिगत यह है कि उसने राजनीतिक और पर्यवेक्षण के पारस्परिक सम्बन्धों को पहचान कर राजनीतिक व्यवस्था और विचारों पर होने वाले प्राकृतिक प्रभाव को बड़ा महत्व दिया है। राजनीति और सर्व-व्यवस्था का महत्व सम्बन्ध बताते हुए वह कहता है कि शासन की अनेक समस्याओं का कारण शक्ति और निर्बलता का अन्तर है। हमने सरकारों का आ सर्वोच्चतम किन्तु और प्रतिकूल और अन्तर्गत के ही बहुत से विभाग किए हैं जैसा अन्तिम आधार शक्ति है। अरस्तु की यह मान्यता कि यदि राज्य में व्यवस्था नहीं और व्यवस्था अन्तर्गत होने की शक्ति और सुसुख नहीं बन सकती, साथ ही साथ है। वर्तमान की व्यक्तिगत राजनीतिक उच्च-गुणवत्ता अधिक कारणों से ही होती है।

12. अन्य में, अरस्तु उपयोगितावादी विचारों का प्रेरक भी है। राज्य प्रथा के सिद्धान्त की यह उपयोगिता के आधार पर ठीक मान्यता है। 'उपयोगिता' की महत्व देने के कारण हम उसे उपयोगितावादियों में अवश्य मान सकते हैं।

अरस्तु का दर्शन निम्नलिखित ही अनेक शास्त्र सिद्धान्तों का आधार है। उसका ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' 'मानव में शासन' है।

अरस्तु का प्रभाव : अरस्तु राजनीति का जनक
(Influence of Aristotle : Aristotle as the Father
of Political Science)

अरस्तु के इस दोनो सम्बन्धों में उनकी पद्धति और उनके दर्शन में सांख्यिक तथ्यों के विवेक में यह स्पष्ट है कि यह राजदर्शन के क्षेत्र में अस्तुतः प्रथम वैज्ञानिक

विचारक (First Political Scientist) का । उसे वरि 'राजनीति विज्ञान का जनक समया गया' (The Father of Political Science) की उता की उाव ती इससे कोई प्रतिपादित नही होती । सरलू न केवल राजनीति विज्ञान का उम्माकाता या नरलू उसका विकासकर्ता भी था । उसने राज्य, अाति आदि के बारे में जो कहा उसमें से सनेक बातें पाव भी सही हैं । राजनीति विज्ञान का क्षेत्र लपकन उन्ही मूल विन्धुओं के इर्द-गिर्द घूमता है जिसका निवेधन सरलू हजारों वर्ष पूर्व कर चुका था । राजनीति विज्ञान का अधिात समयन उही प्रकार का है जिसकी कल्पना सरलू ने सहीवी वर्ष पूर्व कर ती थी ।

सरलू ने जो भी निष्कर्ष निकाले वे वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर निकाले । बदाहस्तावर्ष उसने समयन 158 सकिषानी का विस्तृत सम्मन, विलेपलू आदि करने के उपरान्त अपने कतिपय सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया । उसने हूर राज्य की राजनीतिक विविधियों का विलेपलू करके अपने निष्कर्ष निकाले और उनके आधार पर राज्य के सिद्धान्तों का विकास किया । उसने शासकाय कल में सर्वप्रथम राज्य का सामीपान सिद्धान्त प्रस्तुत किया । राज्य के काम और विकास से लेकर उसके स्वरूप, अधिात की रचना, सरकार का निर्माण, नागरिकता, कानून की सम्प्रभुता, नाति आदि विविध महत्वपूर्ण पहलुओं पर उसने इतने सुपडित, सुनभरित विचार प्रस्तुत किए कि वहां मान भी टुकराना कठिन है । उसने कहा कि राज्य एक स्वाभाविक सम्ता है और वही अधिात समये प्रकट है जो सबसे अधिक स्थायी रहता है । सरलू का यह निष्कर्ष उसके अपने समय में भी उतना ही सत्य था जितना कि आज है । नागरिकता और अधिात की स्थाता में सरलू के विचार लमय प्राधुनिकता हैं, बांि सरलू का राज्य केवल एक नगर-राज्य रहा हो । सरलू की इस बात के मान भी प्रसह्यत होता कठिन है कि व्यक्ति के लिए जो आदर्श और धेयस्कर हैं वही राज्य का लिए हैं । "मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है" इस कथन की प्रोत्सारिक अधिाति सरलू ने ही की और यह मानव राजनीतिक विमन के इतिहास में सर्वत्र एक सम निरिा के रूप में स्वीकार किया जाता गया । नाति के प्रारंभों की जो विस्तृत व्याख्या सरलू ने की, उसके उति हम आज भी सरलू के सही हैं । बदाहस्तावर्ष सरलू का ही अधिात वैज्ञानिक निष्कर्ष की आति प्रासाशिन है कि प्रातिक विपन्नता कानिना के लिए समीर कल से उपरानवी होती है । सरलू के इस विचार को सही रहता था सक्ता कि किसी भी सरकार की सुदृता के लिए राज्य की प्रातिक सुधृति निरालत आवश्यक है । सरलू के दम स्थापान से हने उसके वैज्ञानिक विमन पर सर्व होता है कि नति सम्पति पर ती वलितवत स्वावित रह पर उसका उपयोग सामंजनिक हो सपान्द वलितवत स्वावित और सामंजनिक उपयोग के बीच समुचित आल-धेय वैधायता या सके ती राज्य की अपने समयवर्ष आगानी से सुलभ कर्ता है । सरलू का यह विचार भी उसके वैज्ञानिक विमन की सुनभूत है कि जब तक एक राज्य में सुदृ और विज्ञान समयन वर्षे न होता सपान्द राज्य के न ती अधिात सुधीयति हो और न अधिात नीन सरलू समयन वर्षे ? जीनों का आहूत हो, नर

उक्त राज्य प्रत्यक्ष-निर्भरता की ओर अनुचित रूप से धक्का न होना । घरस्तू के इस विचार की उद्देश्य करना यहिन है कि विचार के माने में सबसे बड़ा अवरोध सामान्यतः है, चाहे वह सामान्यतः राजनीतिक हो या सामाजिक या आर्थिक । अन्तिमो के एक बड़े कारण को मिटाने के लिए इस सामान्यतः को समाप्त करते और 'घरस्तू' को दूर करके सम्भव माने का अनुसरण किया जाय—यह घरस्तू का एक वैज्ञानिक उपचार ही माना जायगा ।

घरस्तू ने स्वतन्त्रता और सत्ता के सम्बन्ध की बात की, और साथ ही यह एक सबसे बड़ी राजनीतिक समस्या है । यह घरस्तू की वैज्ञानिक दूरदर्शिता की कि उसने 'घनेकता में एकता' के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर सत्ता और स्वतन्त्रता के बीच सामाजिक सामन्तत्व माने का प्रयत्न किया । इसे अपने प्रयत्नों में चाहे स्वतन्त्रता न मिली, पर 'घनेकता में एकता' का आदर्श प्राप्त हो राजनीतिक-सामाजिक समस्याओं के हल का एक अनुकरणीय मार्ग है—इससे झुकाव नहीं किया जा सकता । यह समझना घरस्तू के समय भी अशुद्ध थी और साथ ही अशुद्ध है । घरस्तू ने कानून की सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और यह सम्प्रभुता आधुनिक राजनीतिक चिन्तन का एक प्रमुख विषय है । कोर्टों, पेरियड, डेन्मार्क, हॉम्स, मॉन्टेन, मोन्सी आदि ने सम्प्रभुता की समस्या पर विचार किया और आज भी वैज्ञानिक सम्प्रभुता की व्याख्या का मुख्य आधार घरस्तू का विवेचन ही है । मॉन्टेन और हॉम्स की सम्प्रभुताएँ आधुनिक युग की होकर भी घरस्तू की व्याख्या की आधुनिकता को नहीं वा रही हैं । घरस्तू की विवेचना इस बात में भी है कि सरकार के तीन-बोले-नीति निर्धारक, प्रशासकीय और आर्थिक—का बड़े वैज्ञानिक इन के निष्कर्ष किया । घरस्तू का यह निष्कर्ष चाहे सरकार के आधुनिक घटो के निष्कर्ष के विस्तृत अनुसंधान न हो, लेकिन बहुत कुछ उसके समान ही है । हमें यह स्वीकार करना होगा कि घरस्तू की यह सोच ही अखिर में सत्ति-सुषमकरण, निष्कर्ष एवं अनुसंधान के सिद्धान्त का एक आधार बनी । घरस्तू ने सामरिकता की भी व्याख्या की यह भी एक आधुनिक विचार है । साथ ही घरस्तू की व्याख्या ही मूलभूत सामरिक हेतु के परिचित बहुत कुछ प्रामाणिक बनी हुई है । घरस्तू द्वारा प्रतिपादित विभिन्न विचार का मार्ग आज भी अनुकरणीय है और मॉन्टेन की स्वतन्त्र-व्यवस्था, राजकाय, कुलीनतन्त्र और प्रजातन्त्र का एक सुन्दर मिश्रण सम्भव है ।

सार रूप में, घरस्तू स्वयं राजनीतिक वैज्ञानिक या, राजनीति विज्ञान का जन्मदाता था । उसने न केवल सामन्तवादात्मक विधि का अनुसरण कर राजघराने के क्षेत्र में वैज्ञानिक पद्धति की नींव डाली परन्तु राजनीति और गैर-राजनीतिक समस्याओं को समान-प्रकार करते राजनीति के विषय-क्षेत्र को बढ़ती गति स्पष्ट किया और साथ ही उन सभी महत्वपूर्ण पहलुओं को अपने चिन्तन के क्षेत्र में समेटा जो आज भी हमारी चिन्तन को समझी बने हुए हैं । इस प्रकार राजनीति विज्ञान का जन्मदाता भी या और विचारकर्ता भी । घरस्तू के चिन्तन में अविश्व पर विविध प्रभाव डाला ।

इस प्रभाव की परामर्शित रूप में डॉ. विन्स्टनचर्चसाद बर्मा ने अपने ग्रन्थ 'पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारा' में निम्नानुसार प्रकट किया है—

“यूरोप की विचारधारा पर अरस्तू का सबसे प्रभाव रहा। रोमिनिमस का निश्चित सरकार का सिद्धान्त अरस्तू के 'पॉलिटिक्स' के आधार पर ही निर्मित किया गया है। सन् 529 ई. में सम्राट जस्टिनियन ने अरस्तू के ग्रन्थों का सम्पादन करने वाले विद्वानों को कथ्य कर दिया। रोमिनिमस ने अरस्तू के दो ग्रन्थों—'पॉलिटिक्स' और 'द एथेनेसियन्स' का मेट्रिज में अनुवाद कर मध्ययुगीन दर्शन पर इसके तर्क-साधन के प्रभाव के बिना मान्य प्रकट किया। बारदवी सदी के प्रन्त तक अरस्तू के सम्पूर्ण तर्क शास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ हो गया। अलबर्ट महान् (1193-1280) ने अरस्तू के पारंपरिक विचारों को ईसाईयन के धर्मशास्त्र के तर्कानुसार में लाने की चेष्टा की। एक्वीनास के बादरों के प्रसिद्ध ग्रंथ सोमर्स ने अरस्तू के अनेक ग्रन्थों का अनुवाद किया। अरस्तू ने मूल्य की राजनीतिक प्रणाली बना। इस मूल्य का एक्वीनास और माथिलियो की परिभाषाओं पर प्रभाव पड़ा। सोरे की 'मीनार्जी' पर भी अरस्तू के तर्कशास्त्र का प्रभाव है यद्यपि मध्ययुगीन विचारों की विचार-धारा 'विश्व प्लेटो' के 'हाटमिक्स' में ही प्रसिद्ध प्रभावित थी यद्यपि यूरोपीय पुनर्जागरण पर अरस्तू के बौद्धिक निष्पत्तिप्रता के अनुवीरण का प्रभाव प्रकट रहा। अरस्तू के अनुसार सम्बद्ध विचार प्रणाली की शक्ति का नाम प्रकृति है और प्रकृति वह कल्पना बौद्धिक विज्ञान द्वारा प्रतिपादित प्रकृति की कल्पना के समान ही है। अरस्तू द्वारा समर्थित समरथीय मध्यम प्रतिफल का नैतिक सिद्धान्त, साधारणस्थितियों की प्रभावित करता रहा। चीन, जापान, हावहाउस ने समर्थित कल्पना तथा तर्कानुसार का प्रभाव प्रकट किया जो बुनाबी दर्शन की धारा के सबसे प्रभावित है। ग्राय का द्वितीय दर्शनिक-प्रेमस्थितिक (विश्वस्थितिक) तथा समर्थितिक (निर्धनस्थितिक) की अरस्तू ने प्रकट किया है उस तर्कानुसार की 'पॉलिटिक्स' नामक ग्रन्थ में हीन ने भी स्वीकृत किया है।”

4

रोमन कानून

(ROMAN LAW)

रोम ने कानून की तरह पेट्रो और सरतू जैसे महान् एवं नीतिज्ञ विचारकों को जन्म नहीं दिया और न ही राज्यपालों को नवीन विचारों से समृद्ध बनाया, फिर भी नागरिक राजनीतिक विचारधारा में उसका जगता विशेष स्थान है। राजनीतिक विचारों तथा कानून के क्षेत्र में रोम ने जो योग दिया वह अस्तेवनीय है। मैसी (Maisy) के कथनानुसार, "रोमन नागरिक राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में अपने विचारों की नीतिज्ञता के कारण प्रसिद्ध नहीं है। रोम के विचारक राजनीतिक विचारों को उत्तम करने वाले नहीं थे, किन्तु इनकी व्याख्या और उनका (यूनान के मध्यकालीन तथा सर्वासीन दूरीय तक) बहुत करने वाले थे।"¹ इसमें कोई सन्देह नहीं की नीतिज्ञता का समर्थ होते हुए भी रोमन वैचारिक और विचारक अनेक अन्तर्विधों तक प्राचीन यूनानी विचारधारा के प्रकार के अधिकारणी साधन और साधन बने रहे। इनके विचार स्वीकृत विचारधारा के वैज्ञानिकता के सत्र रोमन कानून और व्याव-वास्तवी को विकास का सम्पन्न अवसर मिला। वह समय भी नहीं गुजराया या समझा कि यहाँ यूनानी सम्पत्ता का प्राचुरिकता की ध्यान नहीं की यहाँ रोमन सम्पत्ता में प्राचुरिक सम्पत्ता की स्पष्ट भ्रमक देखने की मिलती है। इसके परिचित रोमन लोगों ने यूनानियों के विचारों को व्यावहारिक रूप प्रदान करते हुए उनमें भिन्न विचारधारा को भी सम्मिलित किया। यहाँ यूनानी विचार ने व्यक्ति के महत्व की राज्य के सम्बन्धित माना जाकर उसके स्थिति का सोच राज्य में कर दिया गया यहाँ रोमन विचारकों ने व्यक्ति और राज्य की धूमक करते हुए दोनों के अधिकारों और कर्तव्यों को समन्वय-समन्वय माना तथा राजनीतिक चिन्तन में व्यक्ति को केंद्र बनाया। राज्य के सम्बन्ध में उनका विचार था कि वह एक वैधानिक व्यक्ति है। उन्होंने नागरिकों के अधिकारों की सुरक्षा की दृष्टि से स्थितिगत कानूनों का विकास किया। राज्यों को उन्होंने एक स्वायत्ताधिकार तथा माना और वैधानिक सिद्धान्तों में सामान्य प्रकट की। नागरिक की दृष्टि को सम्मिलित मानते हुए उन्होंने यह मत रखा कि कानून नागरिक और नागरिकों का सम्बन्धित है।²

क्षेत्रों के राजनीति की परिस्थितियों का विस्तार से समझने के लिए यह सुनिश्चित होगा कि उनके सामंस्थानिक विकास की बात लिखा जाए।

रोम का सामंस्थानिक विकास

(Constitutional Development of Rome)

इतिहास में रोम का सामंस्थानिक एक राजसत्तात्मक मगर राज्य के रूप में हुआ जिसने समुदाय के रूप में बहुत प्राप्त की और अपने राजन कार्य में बहुत निरनुमति और सामंस्थानिकी रहा।

रोम की स्थापना (लगभग 753 ई. पू.) से 510 ई. पू. तक राजसत्तात्मक काल रहा। उस समय राज्य का सम्पूर्ण राज्य सम्पूर्ण राज्य (1) राजा एक राज्य ही (1) जनता का समस्त और निरनुमतिमक सुविधा, (2) समुदाय का मुख्य गुणोद्दिष्ट, और (3) राज्य का निर्वाचित शासक होता था। राजा की महत्त्वा के लिए उसके द्वारा चुने हुए 300 सदस्यों की एक सीनेट थी। राजा की क्षमता पर इन्टररेक्ट (समस्त राज्य) की नियुक्ति करना उसका विशेषाधिकार था। सीनेट सर्वोच्च करवा नहीं थी क्योंकि राजा के चुनाव पर समुदाय के अनुमति के भी आवश्यकता थी और राजा उसके सदस्यों की स्वीकार करने के लिए बाध्य न था। इस राजसत्तात्मक काल में समुदाय के केवल एक भाग पैट्रिशियन (Patrician), जो उच्च एवं कुलीन परिवार था, की ही राजनीतिक अधिकार दिए गए थे। केवल, उनके पास राजनीतिक अधिकार न थे, प्लेबियन (जन-साधारण) के नाम से प्रसिद्ध थे। राज्य के सभी वृद्ध पर पैट्रिशियन लोगों के साथ थे। बाद में राजाओं के समय में प्लेबियन के सामने प्लेबियन के लिए प्लेबियनों का काल पर गया और कॉमेडिया कॉन्सुलारा (Comitia Censuaria) नामक नई कला कलाई नई जिसमें प्लेबियन और पैट्रिशियन दोनों का समावेश था।

सन् 510 ई. पू. में रोम के अन्तिम राजा टार्क्विनियस सुपरबस (Tarquinius Superbus) के विस्थापन के साथ ही राजसत्तात्मक युग की समाप्ति हो गई और समुदाय युग का प्रारम्भ हुआ। इस राज्य के नागरिक और नैतिक दोनों ही प्रकार के अधिकारों की कठिनाई (Consuls) नाम के दो पराधिकारियों को और दिया गया किन्तु रोम के इस समुदाय में सभी एक समान की समान राजनीतिक अधिकार प्राप्त न थे। प्लेब्स (Plebs) या जन-साधारण की तीन प्रकार की समोच्चताई थी—राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक बात. स्वाभाविक था कि वे अपनी इस समोच्चताई विधि का विरोध करते हुए दूसरे समस्त एक समस्त कार्य के समस्त होने का प्रयास करते। साधारण पैट्रिशियनों के साथ समस्त दो महासभों के वर्षों में कई-कई नई नई अधिकार प्राप्त हुए। उनकी एक प्रमुखता या कंसुलर (Concilium Plebis) कमी जो उनके लिए समस्त समस्तों की और विभिन्न तरीके के लिए सुविधों का चुनाव करती थी। प्रमुख पर विशेष रूप से चुने गये बार ट्रिबूनी (Tribunes) का जन-साधारणों के वे विपक्ष मुख्य कार्य

प्रतिनिधी को अधिकारी की रक्षा करना था। सर्वे-सर्वे साधारण जनता को सभी राजकीय पदों पर चुने जाने का अधिकार निम्न और चौथी शताब्दी ई. पू. के दो में से एक कॉन्सल (Consul) जनता का होने लगा। सब प्रतिनिधी (साधारण जनता) की सीनेट में ही प्रवेश का धनसुर प्राप्त हुआ।

इस तरह स्पष्ट है कि (गणतन्त्रीय) शासन के तीन तत्त्व में जो एक दूसरे पर नियन्त्रण रखने वाले और शासक में अनुसर रखने वाले समझे जाते थे। प्रथम तत्व—एकतन्त्रीय तत्व (प्रारम्भिक राजाओं से स्वायत्तचित्त) था, जो दो कॉन्सलों के रूप में ब्रह्म हुआ। दूसरा तत्व, अधिराज्यतन्त्रीय सीनेट में समाविष्ट था। तीसरा, प्रथम लोकतन्त्रीय तत्व दूमि या जनता के विभागों के अनुसार तीन प्रकार की जनसभाओं (क्यूरीय, पैन्तुरीय एवं ट्रिबुन) में विद्यमान था।

किन्तु लगभग दूसरी शताब्दी ई. पू. के मध्य में रोम में गणतन्त्रात्मक मर्यादा खलनाम होने लगी। 113 ई. पू. के बाद बार-बार विस्तृत कथंकारी गति एक ऐसे व्यक्ति के हस्तों में केन्द्रित हो जाने लगी जिसको जसमत् विशेष रूप से कर्नोलीय करता था। गणतन्त्र सर्वे-सर्वे साधारण के रूप में परिचित होने लगा और शासन का जो रूप गणतन्त्र के लिए अधिकार विद्या गया था—बहु शासनात्मक के शासन के लिए अनुपयुक्त पाया गया। गणतन्त्र एक प्रभावशाली निरक्षरजन में बदलने लगा। क्रिस्टन पीटर 43 ई. पू. में अनिश्चित काल के लिए शासनात्मक बना दिया गया। कोइलस के पैन्तुरीयेट काय में बहु निरक्षरता और एकतन्त्रवाद और भी स्पष्ट हो गया। सीनेट कथंवि जीवित रही और नाम मात्र की इसको और भी अधिकार दिए गए किन्तु यह सब केवल प्रदर्शन ही था, क्योंकि सीनेट को कुछ भी करनी थी, यह सब शिष्टियों की छाया में ही करनी थी। जनप्रिय मर्यादा भी जीवित रही, किन्तु उसकी गति मरत्यव यह गई।

कोइलस के समय में रोम को एक विशाल साम्राज्य का प्रकाश करना पड़ता था। इस साम्राज्य पर शासन करने के लिए रोमन लोगों ने किसी नई पद्धति का आविष्कार नहीं किया, किन्तु जान्ती के प्रकाशन हेतु अधिधान को ही अनुकूल बना दिया। रोम का राज-समुदाय जान्ती में विभाजित था, जान्ती के प्रशासन के लिए राजशासन उत्तरदायी होते थे जिन पर अनेक प्रतिबन्ध थे, किन्तु जो व्यवहार में अनिश्चित थे। रोम की शासक-वर्ग को केवल अपने लाभ के लिए जान्ती का शोषण करने में दिलचस्पी थी। साम्राज्यकाल में इस शासन-पद्धति में सुधार का प्रयत्न किया गया। राजशासन की कार्यविधि नका की गई और उन्हें निर्दिष्ट केवल दिया जाने लगा। गृह-कार करने पर रोक लगा दी गई। चौथी और पाँचवी शताब्दियों में सर्वोच्च के द्वारा शोषकत्वों से रोमन राजनीतिक व्यवस्था बन हो गई।

इस तरह रोमन अधिधान का कारण "एकतन्त्रात्मक, अधिराज्यतन्त्रात्मक और लोकतन्त्रात्मक तत्वों के एक सम्मिश्रण के रूप में और उसका अन्त एक अनुसरणशील निरक्षरता के रूप में हुआ।" रोमन अधिधानवाद के मूल में राष्ट्रीय भावना का निहित रह ही प्रमाण था।

रोमन संविधानवाद का प्रभाव

डी एच. स्ट्रॉंग (C. F. Strong) ने इस प्रभाव की निम्नवत् प्रकट किया है—

“सबसे पहले तो रोमन विधि का बहुदलीय पुरोचन के विधि-इतिहास पर बड़ा प्रभाव पड़ा। पश्चिमी साम्राज्य के द्रुतवर्धन जातीय-आक्रमणकारी द्वारा लॉर्ड नई क्विंटा और विभिन्न रोमन राष्ट्रों में जो उन्हें नहीं मिली, पुनर्मिल गई, और इस सम्मिलन ने उन विधि प्रणालियों को जन्म दिया जो घात पश्चिमी पुरोचन बहुदलीय में प्रचलित है।

दूसरे, रोमनों का व्यवस्था और कृत्तव्य का वैयक्तिक प्रभाव था कि सम्मिलन के बीच विपदनाकारी शक्तियों के होते हुए भी विचार की राजनीतिक एकता की धारणा से भाविष्ट थे। धार्मिक विचार के उत्तर विचारक आज जो बहु-व्यक्त देख रहे हैं कि सामान्य जन्म में युद्ध के विचारों के लिए एक सार्वभौमिक व्यवस्था सार्वभौमिक सत्ता की स्थापना की जा सकेगी—यहका जन्म एकता के लिए रोमनों के उत्कृष्ट प्रेम और सम्मिलन ने एक पाठ्य के रूप में अभी हुई। उसके प्रति निष्ठा में पाया जा सकता है।

तीसरे, सभा के प्रमुख के बारे में दूसरी धारा—एक और यह कि नरेश की क्षुब्ध की विधि का वन रहती है और दूसरी और यह कि उसकी शक्तियाँ सार्वजनिकता से ज्ञात होती हैं—कई सार्वभौमिकता के रूप में रही, और इसने नागरिक और नागरिकों के सम्मिलन के बारे में दो मुख्य सार्वभौमिक विचारधाराओं को जन्म दिया। सम्मिलन के प्रारम्भ में इसके सार्वभौमिकता के सत्ता की धारणा में नरेश की शक्ति के लिए, किन्तु उस समय के अन्तिम दिनों में इस विचारधारा का जन्म हुआ कि प्रारम्भ में सभा के शक्ति सीमा की ज्ञातता उसे शक्ति के रूप में पुनः सबसे हाल में से सकती है। विचार सार्वभौमिकता के धार्मिक पुनः का प्रारम्भ हुआ, उसका सार्वभौमिक आधार नहीं बर्क था।”

रोमन राजनीतिक चिन्तन की विशेषताएँ

(Characteristic Features of the Roman Political Thought)

रोमन राजनीतिक विचारकों पर जाने से पूर्व रोमन राजनीतिक चिन्तन की शक्ति प्रमुख विशेषताओं पर दृष्टि डाल लेना लाभ हो सकती। राजनीतिक चिन्तन से उसकी शक्ति को समझ लेना सुविधान्वित होगा—

1. पुरानी सार्वभौमिकवाद और सार्वभौमिकवाद की तुलना में रोमन चिन्तन विशेष रूप से सार्वभौमिकता का। रोमन विचारकों और विधिवेत्ताओं ने राजनीतिक विद्वानों के प्रतिपादन को ध्यान रखते हुए उनके व्यवहारिक पक्ष के विचार में, सार्वभौमिक राजनीतिक व्यवस्थाओं, राज्य, प्रशासन आदि के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया। इसलिए वॉन बोर्डे ने लिखा है कि “रोमन सार्वभौमिक सार्वभौमिक नहीं था किन्तु व्यवहारिक, ऐतिक और विधानवादी था।” हम्बर्टन के मतानुसार, “सार्वभौमिक

जनता में नागरिक और राजनीति की व्यवधारणाओं तथा व्यवहारों की विधि और प्रथाओं के क्षेत्र में रोम ने महान् योगदान किया।¹

2. दूसरी राजनीतिक चिन्तन के कतिपय धारणाएँ (स्टोइक, एपिक्कुरियन और चिनिक विचारधाराओं) की छोटकर धारणा के साथ एक व्यक्ति को राज्य की रक्षा पर बाधित किया गया और राज्य की एकता के रूप में ही उसके व्यक्त को स्वीकार किया गया जबकि रोमन चिन्तन ने व्यक्ति को राज्य के व्यक्तित्व से मुक्त करके उसके सार्वजनिक व्यक्तित्व को मान्यता दी गई। रोम निवासियों की बहुकमी धिक्कर रही हुआ कि राज्य की व्यक्ति का विचारसरण स्वरूप मानकर राज्य में उसे विभोज कर दिया जाय। उन्हें बहुत स्टोइक और एपिक्कुरियन विचार ही स्वीकार करा कि व्यक्ति राज्य से वृत्तव्द छूटकर भी अपनी पूर्णता की प्राप्ति कर सकता है।

3. दूसरी राजनीतिक चिन्तन की भाँति रोमन राजनीतिक चिन्तन ने राज्य को कोई नैतिक एकता नहीं माना गया। रोमन राजनीति समावर्तवादी थी जिसने राज्य की साम्राज्यिकता से अधिक ज़ेबा स्वीक देना धिक्कर न था। प्रचलन रोमन विचारक सिद्धों ने राज्य को एक ऐसी कक्षा बताया जिसका निर्माण लोगों की सहमति से हुआ है। उसने राज्य की प्रभावशीलता के लिए सम्पूर्ण जनता के समर्थन की आवश्यक माना।² राज्य का लोकतान्त्रिक गुण सिद्धों के इन सिद्धांतों की ही पुष्टि करता है। प्रो० बैरुगानेन के शब्दों में, "एक दूसरी राजनीतिक सामूहिक के लिए राज्य या तो अधिकतम या कमसे कम राजा जबकि एक रोमन गान्तावादी की दृष्टि ने राज्य प्रभावशी की सम्बुधित कार्यवाही था।"³ सिद्धों ने राज्य को एक वैधानिक कार्यवाही (Legal Societies) कहा और रोमन व्यावहारिकियों ने राज्य को एक वैधानिक व्यक्ति की कक्षा दी।

4. रोमन राजदर्शन ने राज्यशास्त्र, कर्मशास्त्र और जनशास्त्र की कतिपयों का एक सम्बुधित और सामञ्जस्यपूर्ण मिश्रण प्रस्तुत किया गया। यह माना गया कि सिद्धों के सम्बुधित और सामञ्जस्यपूर्ण मिश्रण की स्थिति ही राज्य के उत्कर्ष का साधन हो सकती है। रोम सरकार के राजनीतिक ढाँचे में बार प्रमुख हस्तियों—क्विन्ट, सीनेट, सम्प्रदाय कक्षा (कमेडिना प्लेबिस) और कोल्लि की स्थापना की गई और सरकार ने नियन्त्रण एवं सम्बुधन का व्यावहारिक विद्वान्त सम्पादा गया।

5. रोमन राजदर्शन की एक कृष्ट ही महत्त्वपूर्ण विशेषता प्रमुखता या राज्यसत्ता (Sovereignty) के विचार का विकास था जिसे उन्होंने 'इम्पीरियम' (Imperium) का नाम दिया। रोमन इम्पीरियम ने आगे चलकर ही सम्पीर प्रभाव शक्ति—इसमें, इसका सर्व विशेष स्वेच्छाकारी शक्ति के लिए समानता और द्वितीय, इसका सर्व लोकमत द्वारा सम्बुधित राज्यसत्ता के भी निवा गया। अन्य गुण

1. *Elements : Great Political Thinkers*, p. 123.

2. *John Bowle : Western Political Thought*, p. 112.

3. *Adkins : The Growth of Political Thought*, pp. 12-13.

ने अपनी निरपेक्ष सत्ता का खोज खोज दम्भीत्व में था। तो प्राथमिक पुनर्-लोकमत की सम्पन्नता के दर्शन करने लगे ।

6. रोमन राजनीति की सबसे बड़ी विशेषता नैतिकता के वैधानिक उर्ध्वार (Legalistic Argumentation) थी जहाँ यूनानी राजनीतिक विमर्श में सामान्य के साथ एक सादर्य पर साक्ष्य रहा वहीं रोमन विमर्श और व्यवहार की कर्तव्यता के कानून की व्यावहारिक वृद्धि के निर्माण और उसकी व्याख्या पर दल दिया गया । यूनानी विचारकों ने कानून के खोज का सम्बन्धन किया, स्वयं कानून का नहीं । उन्होंने कानून के निर्माण, कानून के संहिताकरण, कानून की साक्षिक व्याख्या और व्यावहारिकता के क्षेत्र में कोई योगदान नहीं किया । नैतिक उर्ध्वार यूनानी विमर्श के लिए एक दूर की बात थी ।

7. वहीं यूनानियों ने राज्य और समाज के बीच भेद नहीं किया और नैतिकता और राजनीति की बात. एक ही बात माना, वहीं रोमन राजनीतिक विमर्श में राज्य और समाज के, नैतिकता और राजनीति में भेद किया गया—कोई का निरुपेक्ष समझ-समझ हुआ । विचारों ने 'स्वयं कर्तव्य' के कहे कि समाज राज्य के अधिकार और अधिक सुनिश्चित बात है । यह कहा गया कि व्यक्ति को राज्य का अधिकार नहीं माना जा सकता, वह राज्य के स्वयं एक वृद्धि अस्तित्व रहे हुए है और राज्य का नागरिक होने के पूर्व समाज का कर्तव्य है । यूनानी विमर्श में समाज की मनुष्य की ऐसी व न बिनकर परे, बात सम्बन्ध के रूप में देखा गया जबकि रोमन वैधानिक वृद्धि में समाज की मानवीय व्यवहार वाले का अधिकार बिना । वेनेका ने समाज की एक बात समझ की बात कहना, जिसका केवल ऐतिहासिक विमर्श ही सकता था । रोमन विमर्श ने इस विचार को समझा कि सामाजिक रूप के सभी व्यक्ति स्वयं व्यवहार करने हैं ।

रोमन राजनीतिक विचारक : पोलिबियस

(Roman Political Thinkers : Polybius)

रोम के राजनीतिक विमर्श के जन्मदाता महान् यूनानी इतिहासकार पोलिबियस (Polybius) का जन्म यूनान के 204 ई. पू. में हुआ था । इस यूनानी राजनीतिज्ञ की रोमन लोगों ने यूनान विमर्श के बाद पहले ही 16 वर्ष (167 ई. पू. के 131 ई. पू. तक) अपने यहां एक राजनीतिक सम्प्रदाय के रूप में रखा किन्तु बाद में उसके ज्ञान और अनुभव को देखकर उसे सम्प्रदाय प्रदान किया । पोलिबियस ने भी इस अवसर के लाभ उठाया । रोम में रहे हुए पहले वहीं के कोटिक तथा सैनिक नेताओं के सम्मुख स्थापित किए और रोमन परिवर्तन तथा रोमन समाजों के बारे में ज्ञान प्राप्त किया । पोलिबियस ने रोमन विचारों का सम्पूर्ण सम्बन्ध किया । वह रोमन राजनीतिक व्यवस्था का परम समर्थक और समर्थक बन गया । उसने रोम के बारे में अपने विज्ञान ज्ञान की उपयोगिता को समझाने की दृष्टि के रोमन महान्तर का इतिहास लिखना सामान्य कर दिया तथा 'रोम का इतिहास' नामक अपने इस ग्रन्थ में रोमन लोगों की अद्भुत समझौताओं के बारे में

अनुदान लगाने का सबसे बड़ा साधन किया। उसने इसका कारण रोम की असाधारण रूप से सर्वाधिक घोर विपद वास्तव प्रणाली को माना।

'रोम का इतिहास' लिखने में उसने राज्य के उद्भव से प्रारम्भ किया। 40 वर्षों में लिखे गए रोमन इतिहास की छठी पुस्तक में उसने शासनतन्त्रों के विभिन्न प्रकारों पर विचार किया। उसने वास्तव प्रणालियों के उत्थान और पतन के रूप का तथा रोम के अधिपति के विभिन्न शक्तों का सुन्दर विवेचन किया और उनके स्वामित्व के कारणों की विवेचना की। पोलिबियस ने जिन प्रमुख राजनीतिक विचारों का वर्णन किया उन्हें हम निम्नलिखित शीर्षकों में प्रकट करने—

पोलिबियस के अनुसार राज्य का प्रादुर्भाव और
शासन-प्रणालियों का परिवर्तन-चक्र

राज्य की उत्पत्ति के बारे में पोलिबियस ने मनुष्य की ऐसी स्थिति का विवरण दिया जिसमें सम्पत्ति और सामाजिकता का सर्वथा अभाव था, पर हाथ ही उसने मनुष्यों में स्वाभाविक भावना के अभाव को स्वीकार किया। उसके अनुसार यही कारण मनुष्यों को राज्य का निर्माण करने के लिए प्रेरित करता है। जब बाढ़, भूकम्प, महामारी आदि के कारण मानव-जाति की संख्या बहुत घटती रह जाती है तो वे पीढ़े के व्यक्ति बहुत प्रवृत्ति और भावना के कारण एक दूसरे की ओर आकर्षित होकर एकत्र होते हैं और मनुष्यों की शक्ति करने ऊपर सबसे अधिकारी व्यक्ति का वास्तव स्थापित होने देते हैं। पोलिबियस ने समिति या सम्झौते (Contract) के रूप में शक्ति को राज्य की उत्पत्ति का आधार माना है जिसके अनुसार सबसे पहले राजतन्त्र की स्थापना होती है।

पोलिबियस ने माने बताया कि "दृष्टि और अनुभव के विकास के साथ साथ घोर कर्तव्य के विचार की प्रचलना मिलती है और राजतन्त्र नीतिकता पर आधारित माना जाने लगता है। इस तरह आनुवंशिक स्वैच्छाचार (Natural Despotism) राज्य में परिवर्तित होता है।" लेकिन जर्न-जर्न राजा स्वयं और नीतिकता का प्रतिपादन करने लगता है। इस तरह राजतन्त्र अत्याचारतन्त्र (Tyranny) में बदल जाता है अर्थात् राजा विभक्त राजा (Tyrant) बन जाता है। जल्दा ही कष्टपूर्ण स्थिति को सहन नहीं कर पाती और कुछ वर्षों में व्यक्ति इस स्थिति का अन्त करने के लिए प्रकट होते हैं। राज्य के वे सदस्य (Virtuous) एवं प्रतिभाशाली देखा विरमुख राजा (Tyrant) को हटाकर अधिराज्य (Aristocracy) की स्थापना करते हैं। अन्ततः में वह शासन भी पतन हो जाता है और कुछ मूर्खों पर अधिराज्य के सम्भवपूर्ण कारण अर्थात् अधिराज्य (Oligarchy) में परिवर्तित हो जाता है। अन्ततः जल्दा ही 'राज्य' के अन्तर्गत वे अक्षुण्ण होकर विद्रोह करके अन्त करने हुए में वे शक्ति हैं। जब राजतन्त्र की स्थापना होती है तबसे मानव का अन्तर्गत नहीं जाये के अन्तर्गत की दृष्टि म दिया जाता है। दुर्भाग्यवश कुछ वर्षों बाद वह शासन भी विद्रोह होने लगता है। विद्रोह और अन्तर्गत का अन्त होता है तथा अधिराज्य विद्रोहों का योग्य रूप

समता है। सीधेतन्त्र अपने इस दूषित रूप के 'भीड़तन्त्र' या भीड़ के शासन (Ochlocracy) में बदल जाता है। धन शक्तों की दशा बँधी ही हो जाती है, जैसी शक्ति पर आधारीत राजतन्त्र के पूर्व की। सीधे ही भीड़तन्त्र की सम्भवस्था या विरोध करने के लिए किसी आह्वानी नेता का आह्वान होता है। यह जन-समर्थन प्राप्त करके पुनः राजतन्त्र की स्थापना करता है। इस तरह विभिन्न शासन-प्रणालियों के परिवर्तन का एक क्रम या चक्र गूँघा होने पर पुनः इसका चक्र चलने लगता है। आधुनिक कथों द्वारा इस प्रकार की परिवर्तनियाँ बार-बार जलन होती रहती हैं और उपर्युक्त चक्र के अनुसार सरकारों का स्वरूप परिवर्तित होता रहता है।

नीतिविद्युत के अनुसार सरकारों का वर्गीकरण (Classification of Governments)

शासन-प्रणालियों के उपरोक्त परिवर्तन चक्र से नीतिविद्युत द्वारा निश्चित शासनतन्त्रों का वर्गीकरण स्पष्ट स्पष्ट हो जाता है। सरकार की शक्ति यह भी शासनतन्त्र के तीन विभुद (Pure) रूप और फिर उनके तीन विभुद (Perverted) रूप मानता है। ये इस प्रकार हैं—

विभुद रूप

- (1) राजतन्त्र (Monarchy)
- (2) अधिशासितन्त्र (Aristocracy)
- (3) प्रजातन्त्र (Democracy)

विभुद रूप

- निरकुलतन्त्र (Tyranny).
- अनिजतन्त्र (Oligarchy)
- भीड़तन्त्र (Ochlocracy)

नीतिविद्युत कहता है कि राज्यों में शासन के ये तीन शुद्ध एवं विभुद रूप में क्या की रहते हैं यद्यपि परस्पर सादृश्य में, यानी जनता के साथ-साथ शासन के बीच होते रहते हैं। नीतिविद्युत के ही शब्दों में, "राजतन्त्र में पराकाष्ठा की ओर, पराकाष्ठा में निरकुलतन्त्र की ओर, निरकुलतन्त्र में अकुलतन्त्र की ओर, अकुलतन्त्र में प्रजातन्त्र की ओर, प्रजातन्त्र में भीड़तन्त्र की ओर, और भीड़तन्त्र में आनायाही से पुनः राजतन्त्र की ओर प्रवृत्ति का, ये दो विचारानुसार विचार होता है।"

नीतिविद्युत का मिश्रित संविधान (Mixed Constitution)

नीतिविद्युत ने शासन में शिथिलता लाने और परिवर्तन-चक्र को रोकने के लिए निम्न-लिखित और संयुक्त यहित विभिन्न संविधान की व्यवस्था की। पहले यह कहना कि विभिन्न शासन-प्रणालियों के उत्कृष्ट तत्वों का सम्मिश्रण किया जाए और इनके द्वारा शासन में ऐसे विरोध एवं समुन्त (Checks and Balances) स्थापित किए जाएँ जिनसे वे सभी तत्त्व दूर रह सकें जो शासन-प्रणाल्य में कभी सादर उनके स्वरूप को बदल देते हैं। अतः, नीतिविद्युत की विभिन्न संविधान की यह व्यवस्था नीतिक नहीं थी। लाइफरल (Lyttelton) ने भी एक ऐसे ही संविधान की कल्पना स्थायी के लिए की थी यद्यपि उसकी स्थायी में स्वाभाविक रूप प्रदान नहीं किया या वक्ता जबकि रोम में नीतिविद्युत के विभिन्न संविधान की प्रयोग में लाया गया। लाइफरल

के साथ प्लेटो और अरस्तू ने भी मिश्रित संविधान की स्तुति की थी, किन्तु उन्होंने इस संविधान को साधारण शासन-व्यवस्था का स्वरूप दिया था। उन्होंने इसमें अधिकता नहीं घाते दी थी। वह पोलिटिकल ही था जिसने सर्वप्रथम दुकान के साथ मिश्रित संविधान का समर्थन किया। उसके विचार के रोमन शासन की विधेयता का कारण उसका मिश्रित चरित्र ही था। वह राजतन्त्री, कुलीनतन्त्री तथा जनतन्त्री तन्त्रों का एक सुन्दर सम्मिश्रण था। राजतन्त्री तन्त्र का प्रतिनिधित्व कौंसल (Censors) कुलीनतन्त्री तन्त्र का प्रतिनिधित्व सीनेट (Senate) और जनतन्त्री तन्त्र का प्रतिनिधित्व जनता की सभाओं (Popular Assemblies) द्वारा होता था। इन तीनों सभों ने सामंजस्य स्थापित करना और सुव्यवस्था बनाना ही रोमन संविधान की सफलता का रहस्य था। पोलिटिकल के अनुसार रोमन संविधान ने सभ्यता द्वारा संविधान प्राप्त करना सम्भव था। शादकरमक-प्रणीत स्वार्थ के संविधान के भी उन्हे इसी मिश्रित सरकार प्रणाली के बीज दिखाई दिए थे। स्वयं नाम की दृष्टि से पूर्णतः होने के कारण राजनीतिक शासन प्रणालियों को सामान्यक म्यात्रा और उनके व्यवस्थापकी तन्त्र में विभक्त करते हुए भी पोलिटिकल यह मानता था कि पत्तन की प्रक्रिया को सभ्यता संविधान तक सकलता था। यदि प्राकृतिक कारणों से संविधान का उद्भव और विकास होता है तो यह मानना ही पड़ता है कि प्राकृतिक कारणों से ही उसका पतन भी होता; पर साथ ही यह मानना कि मिश्रित संविधान की पद्धति से इस प्राकृतिक पतन को रोका जा सकता है, विवेचना भी उस कल्पना का विरोध करता है जो साधारणतः होने पोलिटिकल के रीति में मिलती है। किन्तु यह भी ध्यान में रखना होगा कि प्रभावशाली पोलिटिकल यह कदापि नहीं कहता कि राजनीतिक साम्यम से प्रकृति-निष्ठ पत्तन को सर्वदा के लिए रोका जा सकता है। उसकी दृष्टि में यही कहना युक्तिमत्त है कि मिश्रित शासन-व्यवस्था राजनीतिक पत्तन को रोकने का एक साधन है। पोलिटिकल ने स्पष्टतः कहा कि एक उत्तम राजनीतिक व्यवस्था में सभी वर्गों के हितों का संतुलन बना रहना चाहिए। इसीलिए उसने अपनी मिश्रित संविधान की कल्पना में सभी वर्गों के हितों की रक्षा प्रदान किया और एक दूसरे के स्वार्थी समझा हितों पर नियंत्रण भी स्थापित किया।

राज्यों के वर्गीकरण से प्लेटो और अरस्तू की सम्झनाओं की मर्यादा पोलिटिकल ने स्वीकार किया किन्तु वह उल्लेखनीय है कि वहीं अरस्तू विभिन्न धर्मिकतन्त्र और जनतन्त्र के मिश्रण का द्वािभावकी था, वहीं पोलिटिकल राजतन्त्र, परिमयातन्त्र या कुलीनतन्त्र के मिश्रण का समर्थक था। साथ ही वह इस भीमपरा की विरोध और 'सन्तुलन' के सिद्धान्त पर आधारित होने का समर्थन करता था। उसने रोमन संविधान से इसी प्रक्रिया का मिश्रण देखा था। प्लेटो और अरस्तू शासन की परिवर्तता को दूर करने के लिए मिश्रित शासन प्रणालियों के तन्त्रों का मिश्रण करना चाहते थे, वहीं पोलिटिकल इस उद्देश्य की दृष्टि के लिए साम्य के तीन सभों के साम्यवर्तिक विरोध को भी सामान्यक मानता था। उसके समय

के लोबी घनों में प्रति-सन्तुलन के सिद्धान्त का सम्प्रदायीय विचारधारा पर बहुत प्रभाव पड़ा और प्राबुद्धिक विचारधारा भी इस प्रभाव के शिकारी नहीं है। एम्पोरिक, जोकि और मॉरिस्मस ने यदि इस सिद्धान्त का सम्बंध किया तो संयुक्त राज्य अमेरिका के राजनीति-विचारक अंपरॉन और एम्मा भी पोलिबियस के सिद्धान्त से प्रभावित रहे। अमेरिकन संविधान में 'निरीब और संतुलन' के सिद्धान्त को जो महत्व दिया गया है वह किसी के बिना नहीं है।

सिसरो (Cicero)

रोम का दूसरा प्रसिद्ध राजनीतिक विचारक मार्कस जूनिवस सिसरो (Cicero)। मध्ययुग की किताबें जहाँ पर प्रभाव डालने वाला और विश्व के परम प्रसिद्ध बख्तामी के बिना जाने वाला वह सचल गद्य-लेखक और विद्वान राजनीतिज्ञ, ऐसे समय हुआ जब पोलिबियस द्वारा प्रभावित रोमन कण्ट्रान्स चरन की ओर झकझोर था।

सिसरो का जन्म 106 ई.पू. में हुआ। 64 ई.पू. में वह कंसल-(Consul) नियुक्त हुआ। कुछ समय तक वह मिनीसिया का राज्यपाल रहा ई.पू. 58-57 तक सिसरो रोम में निर्वासित रहा। रोम के सैनिकों की वीर-कायूनी का वह जान लेने का मन कर आदिशेष था। ई.पू. 57 में उसे निर्वासन से वापिस बुला लिया गया। सिसरो ने अपनी प्रसिद्ध बख्तामी द्वारा कण्ट्रान्स की ओर पुरानी सम्प्रदायी की बुराईयें बसाए रहने के लिए जूनिवस भीजर और मार्क एन्टी का विरोध किया। ई.पू. 44 में भीजर की हत्या हुई। ई.पू. 43 में सिसरो पर अभियोग लगाकर उसे प्रशस्ति दण्ड दिया गया। जब चलने लगे बचाने के लिए वह भाग रहा था तभी वह मार डाला गया। वास्तव में सिसरो ने समय की परिस्थितिगतता का ध्यान न रखकर ही अपनी मौत को दुखाड़ा था। सेबाइन (Sabinus) ने कहाँ लिखा है—
“वह मरने की मुई को घाने की ओर न बहाकर पीछे की ओर चलाना चाहता था।”

सिसरो की रचनाएँ—सिसरो प्लेटो की बुद्धिों से पूर्णतः परिचित था और उसने अपनी बुद्धिों के नाम भी प्लेटो की बुद्धियों के मिलते-जुलते रहे। उसने निम्नलिखित दो कर्मी की रचना की—

1. डि रिपब्लिका (De Republica)—इसमें सिसरो ने बादर्न राज्य की कल्पना की, यद्यपि वह प्लेटो के बादर्न राज्य के चित्र है। सिसरो का बादर्न राज्य वास्तविकता के अनिवार्य है। इसमें सिसरो ने सवाद ग्रीसों की कल्पना है।

2. डि लेजिबस (De Legibus)—इसमें सिसरो ने उपरोक्त राज्य के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किया है। उसने बताया है कि नागरिक तथा अधिपारिक विधियों का आधार प्राकृतिक विधियों को ही होना चाहिए। वे समस्त विधियाँ, जो प्राकृतिक विधियों तथा विवेक बुद्धि पर आधारित नहीं होती, सर्वत्र है।

सिसरो का राजनीतिक दर्शन

(The Political Philosophy of Cicero)

सिसरो के राजदर्शन में कीर्ति पोलिबिया नहीं है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता

यही है कि उसने थोड़े-एक सरसू के विचारों को, स्टीवरक सम्प्रदाय के प्राकृतिक कानून के सिद्धान्त को, राज्य का स्वरूप और नीतिक उद्देश्यों को तथा मानवीय सभ्यता के मन्तव्य की अपने व्यक्तित्व की उच्च मूर्ताकर प्रति प्रोजेक्चर और पारा-प्रोजेक्शनी के इस तरह प्रकट कर दिया कि कानूनमन्त्री-राजदरजन और ईसाईयत के सिद्धान्तों पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा।

सिखरों के मानव स्वभाव सम्बन्धी विचार

सरसू की नीति विचारों की मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्तियों के पूर्ण मानता है परन्तु सरसू मानव स्वभाव को असम्पूर्ण मानता है वहाँ सिखरों उसके समानता के दर्शन करता है जिसका कारण यह है कि ऐसा कोई समाज नहीं होता जो सर्वथा कुलहीन हो या पूर्णतः को प्राप्त करों की क्षमता नहीं रखता हो। इसी आधार पर वह समता की अवधारणात्मिक और कृत्रिम बतलाता है। इसी मानव स्वभाव की समानता के आधार पर उसके तिन-दफ्ता और तिन-कानून के सम्बन्ध में विचार प्रकट किए हैं। सिखरों के ही 'सम्बन्धों' में—“कोई भी कानून किसी दूसरी कानून के साथ समान में रहना गहरा मादृश्य नहीं रखती जिसकी एक मनुष्य के साथ मनुष्य की मनुष्यो से ऊँचा उठने वाली बुद्धि सबसे समान रूप से पाई जाती है। वह इसका पर्याप्त प्रमाण है कि मनुष्य में कोई अन्तर नहीं होता।”

सिखरों के राज्य सम्बन्धी विचार

सिखरों के अनुसार राज्य का निर्माण इसलिए नहीं हुआ कि स्व-समूह के लोग अपने आपसे निर्जन सम्बन्धों में बान्धु इसलिए हुआ कि अपनी इस स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्ति के कारण वे साथ-साथ रहना चाहते थे। राज्य की उत्पत्ति अन्तः की स्पष्ट सहमति तथा मानव की समाज-निष्ठा के कारण हुई न कि स्वच्छीने प्रकृत प्रवृत्ति द्वारा।

सिखरों ने राज्य को ‘अच्छा या मानता’ कहा। उसके ही सम्बन्धों में, ‘जब फिर राज्य जनता का मानता है। जनता मनुष्यों का प्रत्येक समूह नहीं होती, जिसका विश्व एक से पाए सम्बन्ध कर लिया जाए। जनता का निर्माण उस समय होता है जब मनुष्य पर्याप्त संख्या में एक दूसरे के सम्बन्धीक ‘सार्थ’ इन मनुष्यों में कानून और अधिकारों के बारे में कुछ सम्बन्धिता होना चाहिए और उनके वह दृष्टा भी होनी चाहिए कि वे एक दूसरे के साथ के विश्व कार्य कर सकें।” सिखरों के विचारों का निष्कर्षण करते हुए केम्ब्रिज ने लिखा है कि उसके विचार का मूल तथ्य है कि मानव एक अन्तर्भूत कर्तुव है और जब तक राज्य नीतिक प्रवृत्तियों का समाज नहीं और नीतिक कर्तव्यों से न बँधा हो जब तक वह कुछ नहीं है। इस स्थिति में, जैसा कि पहले चर्चकर केम्ब्रिज ने कहा, वह एक बड़े पैमाने पर मूर्खी प्रकृतिक है। नीतिक कानून अनिवार्यता की अवस्था नहीं अवस्था। राज्य भी अन्तर्भावही हो सकता है और प्रजा पर अनुरूपक मान्य कर सकता है, लेकिन तिन

सीमा तक राज्य इस प्रकार की स्थिति पैदा करता है उस सीमा तक वह अपने सामाजिक स्वयं से अभिन्न हो जाता है।¹

केसादर ने माने लिया है कि इस प्रकार, जिसरी की दृष्टि में, राज्य एक सामूहिक सम्पदा है जिसकी सदस्यता के द्वार सभी सदस्यों के लिए खुले हुए हैं और जिसका उद्देश्य अपने सदस्यों की सामाजिक सहृदयता तथा स्वायत्तता कायम के साथ प्रदान करना है। इस विचार के तीन परिणाम निकलते हैं—

प्रथम, नैतिक राज्य और उसका कानून जनता की समान सम्पत्ति है इसलिए उसकी कला का आधार जनता की सामूहिक शक्ति है। जनता अपना जीवन अपने आप पर कर सकती है। उसमें किसी रक्षा करने की शक्ति है।

द्वितीय, सामाजिक शक्ति जनता की सामूहिक शक्ति उसी समय होती है जब कि उसका स्वायत्तता और नैतिक दम से प्रयोग हो। जो सामाजिक राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करता है, वह अपने पद के कारण करता है। उसका आदेश कानून है और वह कानून की दृष्टि है।

तृतीय, स्वयं राज्य और उसका कानून ईश्वरीय कानून, ऐतिक कानून अथवा आधुनिक कानून के अधीन है। वह कानून सम्पूर्ण कानून है और मनुष्य की इच्छा व मनुष्य की क्षमता से परे है। राज्य में मन का प्रयोग बहुत कम होता चाहिए और अनिवार्य होने पर उसका प्रयोग उसी समय होता चाहिए जब न्याय और नीतिरत के विद्वानों की कार्यान्वित करने के लिए वह आवश्यक हो।

जिसरी द्वारा राज्य की जनता की सम्पत्ति और जनता का समूह मानने का नैतिक दम निरनुपपन्न का विरुद्ध करना है। जिसरी की यह सम्पत्ति कि राज्य की स्वतन्त्रता न्याय की प्रतिष्ठा करने के लिए हुई है एक और दो चीजों का समरूप करती है तथा वह दूसरी और सामाजिक के विचारों पर अपना प्रभाव डालती है। सामूहिक सम्पत्ति को प्राप्त करता हो राज्य का उद्देश्य है। जिसरी के अनुसार कानून का प्रदान करने की सम्पत्ति है जब समस्त जनता राज्य-कार्य में हिस्सा ले। राज्य के समस्त लोगों का 'मान' या 'हिस्सा' मानने का विचार माने जाकर सब द्वारा भी समझाया गया। जिसरी यह नहीं मानता कि राज्य रक्षा प्रदान करने वाला मनुष्य-अधिष्ठित (समन्वित) है। सामूहिक सम्पत्ति का साधन ही उसकी दृष्टि में व्यवहार है। कुछ निजी स्वार्थों का शेषण राज्य के विफल का कारण है। वास्तव में राज्य सम्पत्ति जिसरी की यह धारणा स्वीकृत करने से प्रभावित है।

जिसरी का प्राकृतिक कानून का विचार

जिसरी की विचारधारा में सबसे प्रमुख बात 'प्रकृति की एक सार्वभौमिक विधि' के सम्बन्ध में है। इन विधि के दो चीजें हैं—

1. केसादर : दूसरी, पृष्ठ 153.

1. ईश्वर का ईश्वर पर दयालुता कायम, और

2. मनुष्य की बौद्धिक तथा सामाजिक प्रकृति ।

सभी बौद्धिक एवं सामाजिक प्रकृति के कारण मनुष्य ईश्वर के निष्ठ है । जिस राज्य का यही परिधान है जो स्वतंत्रतावादी है और सभी मनुष्यों एवं राज्यो पर लागू होता है । इसका उल्लंघन करने वाला कोई भी विधान विधि (कानून) की सजा देने का अधिकारी नहीं हो सकता । किसी भी शासक और राज्य में यह शक्ति नहीं है कि वह राज्य बात को यही कहा मकें । अपने इस प्राकृतिक कानून को निचरी में इन राज्यो में यही ही सुन्दरता से स्पष्ट किया है—

"कानून: वेबस एक ही कानून है वह यही विवेक है । यह प्रकृति के अनुसार है, यह सब मनुष्यों के ऊपर लागू होता है और परिवर्तनशील तथा नाशक है । यह कानून अपने मनुष्यों को धार्मिक देता है कि वे अपने कर्तव्यों का पालन करें । यह कानून मनुष्य की समस्त काम करने से रोकता है । इसके धर्मों और अनिष्टों को धार्मिकों पर प्रहार डालने है, लेकिन उनका बुरे प्रभावों पर कोई प्रहार नहीं करता । कानून को मानवीय विधान द्वारा सर्वत्र करना मूलिक दृष्टि से कभी नहीं नहीं है । इसके संचालन को सीमित करना भी उचित नहीं है । इसकी पूरी तरह पर कर देना सम्भव है । सीमित का अन्तर्गत होने यह स्पष्ट नहीं है कानून कि इस इसके पालन से दायित्व के सब ऊपर । इसकी व्याख्या करने के लिए किसी मेलननेनियम की जरूरत नहीं - है । यह देना नहीं करता कि एक नियम ही रोम में बनाए और दूसरा एक्स में । यह देना भी नहीं करता कि मात्र एक नियम बनाए और सब दूसरा । निर्णय एक कानून होता है जो स्वतंत्र और स्वतंत्रतावादी है । यह सब कानों के सब मनुष्यों के ऊपर समानकारी है । मनुष्यों का केवल एक समान स्वाधी और मानक है—यह ईश्वर है । यही इस कानून का निर्माता: व्याख्याता और प्रतीक है । जो व्यक्ति इस कानून का पालन नहीं करता वह अपने स्वतंत्र स्वतंत्र से वंचित हो जाता है । जो व्यक्ति अपने नास्तिक स्वतंत्र से वंचित होना उसे कठोरता सब मिलेगा । यह दूसरी बात है कि यह व्यक्ति ऐसे कुछ परिणामों से सब जाए जिन्हें जीव साधारणता सब कहते हैं ।"

विषय की इस निश्चित समझकी से यह साबित किया गया है कि साबित कानून के अनुसार सभी मनुष्य समान हैं । "वे विद्या-भुक्ति में समान नहीं है । राज्य के लिए भी यह उचित नहीं है कि वह उनकी समानता बराबर कर दे लेकिन यही एक विवेक का सम्बन्ध है, मनुष्यों की वैज्ञानिक दृष्टा का सम्बन्ध है, उनकी उन्नत और समय सम्बन्धित आवश्यकताओं का सम्बन्ध है, सभी मनुष्य समान हैं । किसी का कहना है कि जो बीच मनुष्य की समानता में बाधा डालती है, यह भूल है, कारण बाधा है और बहुत राय है । सभी मनुष्य और मनुष्यों की सभी जातियाँ एक से मनुष्य की समानता रखती हैं और उचित तथा मनुष्य के बीच वेद करने की भी उचित समान समता है ।"

यहाँ धरालू का विचार था कि "समस्त नागरिकता केवल सनातन व्यक्तियों के बीच ही रह सकती है, लेकिन पूर्ण अनुम्य सम्मान नहीं है। अतः नागरिकता केवल धर्म के और नागरिकता के पुनः हुए व्यक्तियों तक ही सीमित रहनी चाहिए।" यहाँ विपरीत का विचार है कि "धर्म अनुम्य कानून के अधीन है, अतः वे सनातन ही नागरिक हैं और उन्हें एक धर्म से सम्मान होना चाहिए।"

निम्नोक्तों के 'रिपब्लिकन' की तीव्ररी पुनरांक में बार-बार प्राकृतिक कानून का उल्लेख स्पष्ट हो जाता है—'नवम्बा कानून प्रकृति के साथ अनुकूल रहने वाली धर्मवृद्धि है। यह सामाजिक व्यवस्थितनशील और सदैव बना रहने वाला है। यह अपने आदेशों के कर्तव्य की प्रेरणा देता है और नियमों द्वारा व्यक्तियों को सुरक्षित रखता है।.....इस कानून को बदलना पाप है।.....इसका पूर्णरूप से अनुमूलन करना प्रसन्नकर है। सीनेट अपना जनता द्वारा दत्त इसके कर्तव्यों से मुक्त नहीं हो सकते।.....यह आवश्यक, व्यवस्थितनशील कानून सब राष्ट्रों और कानूनों के लिए वैध है।.....हम अपना एक स्वामी और प्रभु के भयमन इस नियम का निर्धारण, घोषणा करने वाला तथा इसे लागू करने वाला मान्यता है।' एक अन्य स्थान पर अपने निष्ठा है कि—'कानून उच्चतम बुद्धि द्वारा चिन्तित (Highest reason) है। यह प्रकृति के प्रतिष्ठित है और हमें करने योग्य कानूनों का आदेश देता है तथा न करने योग्य कानूनों से रोकता है।.....कानून बुद्धिमत्ता है। इसका कर्तव्यिक कार्य नहीं है कि हमें उचित व्यवस्था करने का आदेश दे तथा अनुचित कार्य करने से रोकें।' १४

विद्यार्थी प्राकृतिक कानून की समीक्षा के निम्न कानूनी से प्रारंभ करेगा है, क्योंकि उसके मतानुसार—“यह प्रकृतिक और कृत्रिमिक से उत्पन्न वर्तमान का मनवसानीय (Contract) है। यद्यपि ईश्वर का मान, बुद्धि के प्रभाव से नहीं बल्कि स्वार्थी और ईश्वरीय बुद्धि के बन्धन-प्रणाली के विवेक की शक्ति रहता मान्यता है।”¹ अतः “प्राकृतिक नियम राष्ट्रीय के निश्चित कानूनों से बहुत पहले का, उनकी समझ से विद्यमान है, जब से वह काल से ईश्वर की शक्ति है। यह प्राकृतिक कानून² (Law) प्राकृतिक नियमों की ही प्रतीति है, जिसके समझ से उनका प्रभाव प्रकृतिक स्वार्थीय नियमों की प्रतीति विद्यमानाचार्य ही कानून कहा जाता है। मानव समझ से बुद्धिमान व्यक्ति भी अपनी बुद्धि द्वारा यह मान्यता देते हैं कि जीवन-से कभी कभी प्रकृतिक प्रभाव है।

चिन्ता की आवश्यकता है कि सामाजिक व्यवस्था का आधार क्यों माना जा रहा है। यह सामाजिक व्यवस्था व्यवस्था की दृष्टि में प्रत्येक एक केन्द्र, बुद्धिमान व्यक्ति व्यवस्था के अनुसार चलाने वाली है। व्यवस्था अनुष्ठी की राज्यस्वी माना जा रही है। यह प्रयोग ही मान्य है कि माना कि मान्य मान्य। यह

¹ *Scrutator* Book III, P. 28. Trans. by Salovey and Smith.

² See, e.g., J. A. Hobbes, *Elements of Political Theory*, Pt. I.

John F. Sallis: *Masters of Political Thought*, Page 153

एक राज्य का शीर्ष है। विश्वरी के ही शब्दों में कानून, 'प्रकृति' सम्मत विवेकपूर्ण बुद्धि है, जो सब मनुष्यों में प्रसारित है, जो निरव घोर जाग्रत है, जो अपनी भाषा द्वारा कार्यवाही का पालन करता है और विवेकाभा द्वारा अन्तर्दिष्ट में रोचता है। सभी मनुष्यों का व्यवहार यद्यपि इसी के अनुसार चलता है, लेकिन इसका पालन करने के लोको के अपने-अपने धर्मों द्वारा विभिन्न-विभिन्न रूप होते हैं। अब अलग प्राकृतिक व्यवस्थागत उसके बंधा हुआ है, मनुष्य की विवेकपूर्ण यह प्रकृतियों के कारण उसके निर्देशन में रहते हैं, वे इसका पालन भी करते हैं किन्तु वे नहीं जानते कि यह क्या है? मनुष्य घोर केवल मनुष्य अपनी बुद्धि द्वारा उस कानून को जानने की सामर्थ्य रखता है और ऐतन्त्रपूर्वक उसके अनुसार काम करता है। दूसरे शब्दों में, इस वह जो यह कहते हैं कि भौतिक मनुष्यें तथा निम्नतम प्राणी प्रकृति के कानून के अनुसार व्यवहार करते हैं, किन्तु मनुष्य उस कानून के सम्बन्ध में अपनी क्षमता के अनुसार व्यवहार करता है।

उपरोक्त व्याख्या का धर्म यह हुआ कि प्राकृतिक कानून का विश्वरी का सर्व प्राकृतिक वैज्ञानिक रूप से निम्न है। गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत (Law of Gravitation) मानव शक्ति और परमेश्वर पर समान रूप से लागू होता है, लेकिन मनुष्य की कारीरि सिद्धांतों का उसके अनुसार होने के लिए वह जरूरी नहीं है कि वह अपने व्यवहार में एवं उसके अनुसार व्यवहार करे। कोई व्यक्ति उसका अनुसरण भी नहीं कर सकता है। विश्वरी का प्राकृतिक कानून मनुष्यों और मानव-मात्मा पर स्वयंसेव लागू नहीं होता, यद्यपि मनुष्य स्वयंसेवा द्वारा उसे बहुत करके स्वेच्छा से ही अनुसरण करता है। दूसरे शब्दों में जहाँ गुरुत्वाकर्षण का सिद्धांत सब का केवल परमेश्वर पर अनिवार्यता स्वयं ही लागू हो जाता है, वहाँ प्राकृतिक कानून को मनुष्य स्वयं अपने ऊपर लागू करता है और इसीलिए इसका पालन करने हेतु कोई व्यक्ति निम्न नहीं है, यद्यपि उचित और खेद नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति उसका पालन करे। इस प्रकार विश्वरी का प्राकृतिक कानून भौतिक नियमों से निम्न है। इसका समान वैज्ञानिक सिद्धांत जैसा है और इसे ईश्वरीय कानून ही कहना उपयुक्त है।

यदि प्राकृतिक कानून नियम एवं व्यवस्थागत है तथा यह सब राज्य का शीर्ष है। किसी भी राज्य विशेष द्वारा निर्मित कानून प्राकृतिक कानून परमा बुद्धि के अनुसार होने चाहिए और न्यायिक उसका पालन करने के लिए उसी शीर्ष तक काम है जिस सीमा तक वे प्राकृतिक कानून के अनुसार हैं। इस तरह विश्वरी यह मानता प्रकट करता है कि यदि राज्य निम्न कानून उसके अनुसार न हो तो न्यायिक के लिए उसको मानना अनिवार्य नहीं। जो भीज स्वयं माना है उसे कोई भी व्यक्ति कोट्ट तथा कर नहीं कर सकता।

उपरोक्त विवरण से प्रकट है कि विश्वरी के अनुसार मनुष्य दो कानूनों के अधीन है—1. प्राकृतिक कानून, और 2. राज्य निर्मित कानून। प्राकृतिक कानून का पालन करने का उसका कर्तव्य निरपेक्ष और अवश्य है। राज्य निर्मित कानून के प्रति उसकी शक्ति कम है। प्राकृतिक कानून के विरुद्ध होने ही राज्य के कानून

प्रत्येकी क्षमता को देखते हैं। शिक्षण का विधान है कि, "एक राम और एक मायू-दीनोसोर बनाने, वैज्ञानिक कानून का आनुवंशिक कानून के समान है। नई कानून व्यवहार कानून है और मनुष्य को दबाना हन मनुष्य की समस्याओं से बरे है। राम में बल का प्रयोग बहुत कम होता चाहिए और समझाने होने पर उसका प्रयोग लगे गया किता जाना चाहिए जब न्याय और धर्मिक के विद्वानों को सम्मानित करने के लिए यह चाहिए हो।"।

[illegible]

सिगारों के बिगारों का राजनीतिक दर्शन के महत्त्व

मिसरो के विचारों ने योगिपद्धति में सुविधा दी थी जिनका राजनीतिक विचारों में होना ने कल्याणकर महान् है किने के कारण ने यह ही वास्तविक रूप में ज्ञानमय विद्या है-

“मिसरो के पारमैशिव दार्शन के दो विचार प्रमुख थे । तिसरो इन विचारों को बहुत बढ़ावा देया ना लेकिन उसके तुरन्त बाद निचाये का केमा ऐतिहासिक महान हो गइ गया था । वे विचार थे—“निश्चित नविधान की संकेता” में निश्चित और नविधानों के ऐतिहासिक काल का सिद्धान्त” । निचाये ने इन दोनो विचारों की योग्यविषय के और सम्मन्धन, पारमैशिव के बहुत किया था । हाँ, उन्ने इन विचारों की योग्य विविधा के सम्मन्ध में अपने ज्ञान के समर्थ के समर्थित करने की क्षमता कोशिश की । वास्तव में निचाये की योग्य बहुत समझी की लेकिन इस योग्य को समर्थन का में परिचित करने के लिए उसके साथ वास्तविक क्षमता नहीं थी । निचाये का उद्देश्य एक पूर्ण दायन (निश्चित नविधान) के सिद्धान्त का निष्कर्ष करना था । वह उसके सिद्धान्तों की योग्य नविधान (यक सिद्धान्त के समुदाय) के निष्कर्ष के समर्थन के पारमैशिव करना चाहता था । निचाये का विचार था कि येन का नविधान

अपने प्रभित स्वामी और पूर्ण-सविधान था। इस सविधान का निर्माण विभिन्न व्यक्तिों ने, विभिन्न परिस्थितियों में ज्यों-ज्यों राजनीतिक समस्यार्थ उठती गई थी, उनके समाधान के लिए किया था। राज्य के विकास का वर्णन कर और उसके विभिन्न घटो का एक दूसरे के साथ सम्बन्ध बताने से राज्य के एक सिद्धान्त का निर्माण सम्भव है, जिसमें कल्पना का कुछ कम से कम रहे। लेकिन दुर्भाग्यवश सिसरो ने रोमन समुदाय के अनुसार एक ऐसा नया सिद्धान्त निराकृत की धमकी नहीं की जो उसके नूतनी सोचों की अवहेलना करता हो। सविधान के चक्र के सम्बन्ध में पेरिप्लिग ने भी एक सिद्धान्त प्रस्तुत किया था। उसका कहना था कि सम्पूर्ण रोम रोम सविधान जारी-जारी से चलता रहता है। राज्यतन्त्र के बाद प्रजातन्त्र शासन आता है; प्रजातन्त्र शासन के बाद कुलीनतन्त्र, कुलीनतन्त्र के बाद प्रजननतन्त्र, प्रजननतन्त्र के बाद सीम्ह-प्रजातन्त्र और फिर सीम्ह-प्रजातन्त्र के बाद भीड़ का शासन आता है। तब दृष्टि से यह चक्र ठीक था, तथापि यह विचार मुख्यतः नगर राज्य के समुदाय के ऊपर आधारित था। जिसकी की यह सम्झी तरह बात था कि यह विचार रोम के इतिहास के सम्बन्ध में उसके विचारों से मेल नहीं खाता। फल यह हुआ कि यह सविधानों के चक्र के सिद्धान्त की प्रशंसा तो करता रहा तथापि अपने उसकी तार्किक सुन्दरता की भी नन्द कर दिया। इसी तरह सिसरो विभिन्न सविधान के गुणों की प्रशंसा करता था। उसका स्वाद्य था कि रोम की कौनसी सम्पूर्ण विधित सविधानों के किम तरह की प्रकट करती है? इस सम्बन्ध में उसका विवरण साहित्य के इस अवलोकन की सच्चा सिद्ध कर देता है कि विधित सविधान की प्रशंसा करना उसकी कार्यविधित करने की प्रेरणा साधन है। रोम की सम्प्रदायों के इतिहास के सम्बन्ध में राज्य के एक सिद्धान्त को प्रस्तुत करना बहुत भेद्य कार्य था। लेकिन इसे एक ऐसा व्यक्ति नहीं कर सकता था जिसने सच्चा सिद्धान्त नूतनी सोचों में न बना बनाया कि निम्न और उसे रोम के इतिहास के विवरण पर लागू किया।"

राजनीतिक दर्शन के इतिहास में सिसरो का वास्तविक महत्त्व यह है कि अपने सरोहसों के प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त की ऐसी व्यवस्था की जो उसके समय में उदीयमान क्लासिकी तक सम्पूर्ण पश्चिमी यूरोप में समझे जात रही। यह सामान्य विचार के पास से रोम के विधि-वेत्ताओं के पास गई और वहीं से अपने की सम्प्रदायों के पास। इस सामान्य के महत्त्वपूर्ण प्रती की सम्पूर्ण साम्य युग में अनेक बार दोहराया गया। यह स्पष्ट होने योग्य है कि यद्यपि "रिपब्लिका की मूल कुलक 12वीं सताब्दी से बाद की गई थी और" उसका मत केवल 19वीं सताब्दी में ही आता, उसके महत्त्वपूर्ण महत्त्व प्रोपगण्डा और लैबरायन्सिज्म की कुलकों में समाविष्ट हो गए थे। इस तरह से सम्प्रदाय की सम्प्रदाय जागृता की गई थी। यद्यपि सिसरो के विचार मोहित नहीं थे लेकिन सिसरो ने उन्हें सम्पूर्ण साहित्यिक जीवन में प्रस्तुत किया था। सिसरो की रचनाएँ क्लासिक साहित्य की सम्प्रदाय हैं। पश्चिमी यूरोप में सिसरो के विचारों के प्रसार का एक प्रमुख कारण अपनी साहित्यिकता भी है।

जो कोई भी व्यक्तिनाम की प्रत्यक्षियों के राजनीतिक दर्शन का अध्ययन करना चाहता है, उसे विहारी के येष्ठ प्रस्तावनों को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए।”

युन सेनादन महोदय का कथन है कि—“शास्त्र के वे सामान्य सिद्धान्त कि सत्ता का आधार जनहित होना चाहिए, उसका प्रयोग कानून के अनुसार होना चाहिए और सत्ता का सीमित्व केवल नैतिक आधार पर ही सिद्ध किया जा सकता है—विहारी के रचना काल के कुछ समय बाद ही सर्वत्र स्वीकार कर लिए गए। वे कई अज्ञानियों तक राजनीतिक दर्शन के सामान्य सिद्धान्त रहे। सम्पूर्ण मध्ययुग में इन सिद्धान्तों के बारे में कोई मतभेद न था। वे राजनीतिक विचारों की समान सम्बन्ध बन गए थे। यह अवश्य सम्भव है कि इन सिद्धान्तों के प्रयोग के बारे में, लोगों में, उन लोगों में भी जिसमें इन सिद्धान्तों में बड़ा विश्वास था, कुछ मतभेद रहा हो। फ्राइरुड के लिए इस बात में भी सहमति है कि सामान्य विचारों के प्रयोग होता है। उनका मतानुसार जनता के ऊपर भारी प्रभावकार है लेकिन विहारी यह स्पष्ट नहीं कर पाता कि बीच सामान्य विचारों का ध्यान की विधि में क्या करें या लोगों की ओर से कौन भक्ति कार्य करे या वह सामान्य विचारों द्वारा निकट होना चाहिए जब कि इसके विचारों कोई कार्यवाही की जाए। विहारी यह अवश्य मानता था कि राजनीतिक सत्ता जनता में प्रत्यक्ष होनी चाहिए लेकिन, उनके दृष्ट कथन का अभिप्राय वे राजनीतिक प्रारम्भिक नहीं थी जो प्रायः प्रचलित की गई है। विहारी ने इसे यह भी कहा है कि जनता का हीन प्रतिनिधि है, यह जनता का प्रतिनिधि कैसे बन जाता है, यह यह जनता ही कोन है जिसका यह प्रतिनिधित्व करता है। वे तारे प्रत्यक्ष सामाजिक दृष्टि में अवश्य महत्वपूर्ण है। राजनीतिक सत्ता की सीध जनता है—साधुनिक प्रतिनिधि कायम प्रत्यक्षियों की सम्बन्ध के लिए इस प्राचीन सिद्धान्त का प्रयोग, एक दुसरे विचार का कई विधि में प्रयुक्त करता भर ना।”

सेनेका

(Seneca)

सेनेका ने विहारी के साथ एक अज्ञानी के कई रोमन साम्राज्य के प्रारम्भिक दिनों में रचनाई की। यह स्टीवन्स विचारों के सिद्धान्तों का बहुत बड़ा प्रभावक सौर रोमन सम्राट नीरो (54-68 ई.) का युग था। सेनेका ने सामाजिक रूप से समग्र हुआ था जब रोम के विरुद्ध सम्राटों का नीरवस्था था और उनके प्रशासन दिन-प्रतिदिन बढ़ते जा रहे थे। सेनेका के समय राज्य जनता के नैतिक विकास का स्थापन नहीं रहा था, अतिरिक्त स्वार्थ, ज्ञान और प्रशासन का घर बन गया था। नागरिक सम्बन्धों का प्रभाव हो गया था। राज्य विरुद्ध हो चुका था तथा जनता भी जनता ही रहित हो चुकी थी, जिसका कि अन्तः। राजनीतिक और सामाजिक जीवन के इस नैतिक पतन को देखकर निराशा होती थी। यही कारण है कि हमें उसके लेखों में इस समय सामाजिक विचारवाहक का प्रतिनिधि स्पष्टतः देखने की आवश्यकता है। यह एक बड़ी बात है जो इसे विहारी ने नहीं सुनाई पाती। यही विहारी ने

इस वैदिक उद्देश्य की तैयारी-रचनाएँ की थीं कि रोमनों के परम्परागत नागरिक मनुष्यों की पुनर्जीवन मिले, बहुतों केनेका इसे स्वयं मान्य हुआ वह अनुभव करना था कि एक सभ्य व्यक्ति किसी सामाजिक व्यवस्था पर बैठकर देवतामियों का अधिकार दिय नहीं कर सकता ।

सेनेका 8 वर्ष तक सारासट नीरो का परामर्शदाता रहा, लेकिन जब नीरो के साम्राज्य बढ़ते गए तो सेनेका ने इस पर सक्रियता प्रकट किया । परिरुहाम वह हुआ कि नीरो ने अपने कुछ केनेका पर परमज्वर करने और राजदोह का कुछक चलाने का कारण बताया । उसने दिखाया केवल यही की कि कुछ की पहली केनेका की भावना में क्यों हुए गुन की (सेनेका की) स्वयं मान्यता करने का दण्ड दिया । सेनेका ने भी स्टोइक सिद्धान्तों का मान्य करते हुए उसे सभ्य से अपनी नाटिका वह करने हुए कहानी, "मेरी परमाह मर बीजिए । मैं सामाजिक सम्पत्ति की अपने अधिकार स्वीकार करने की उदाहरण आपके लिए छोड़कर जा रहा हूँ ।"¹

सेनेका के राजनीतिक विचार

(Political Philosophy of Seneca)

सेनेका इस उक्ति का समर्थन था कि—"सरकार के सब के लिए सेवा पूरी आवश्यक है, सर्वोत्तम सरकार यही है जो सर्वोत्तम सब से बनाई जाए ।" इस समय ने केनेका सेनेका के विचारों की प्रकट करते हुए लिखते हैं—"सेनेका ने विभिन्न मानव-प्रणालियों के व्यवहारों की महत्त्वपूर्ण मान्य है । ये मानव-प्रणालियाँ सब एक ही सभ्य-वृत्ति हैं । कोई भी मानव-प्रणाली विशेष कार्य नहीं कर सकती फिर भी सेनेका का यह दृष्टिकोण कदापि नहीं है कि बुद्धिमान व्यक्ति मान्य में प्रकट हो जाए । विचारों की भाँति अपने भी इन बात का ध्यान किया कि सभ्य व्यक्ति की किसी न किसी सभ्यता में अपनी सेवाएँ सभ्यता प्रदान करनी चाहिए । विचारों की भाँति सेनेका ने भी एथिक्लिक विचारों के इन दृष्टिकोणों की मान्यता कर दिया है कि व्यक्ति को सार्वजनिक हिंस्रों की उपेक्षा कर अपने व्यक्तिगत जीवन का प्रयत्न करना चाहिए, लेकिन विचारों के विपरीत और अपने से पहले के समस्त सामाजिक और राजनीतिक विचारों के विपरीत, सेनेका ने एक ऐसी सामाजिक सेवा की कल्पना की है जिसके अनुसार न तो राज्य के कोई पर कारण होना ही आवश्यक है और न कोई राजनीतिक कार्य करना ही आवश्यक है ।" स्पष्ट है कि सामाजिक 'मिलिशिय' तथा 'स्टोइक' की भाँति सेनेका ने सामाजिक जीवन का प्रतिपादन करने की समझ नहीं दी । स्टोइकों का प्राचीन विद्वान यह था कि प्रत्येक व्यक्ति दो राज्यों का सदस्य होता है—विशाल राज्य का जिसकी वह भाग होती है तथा गृहस्थ राज्य का जो समस्त बुद्धिमान व्यक्तियों से मिलकर बनता है । व्यक्ति इस राज्य का सदस्य अपनी मान्यता के कारण होता है । सेनेका ने स्टोइकों के इन प्राचीन विद्वानों की एक नवीन सब देने हुए बताया कि "गृहस्थ

राज्य एक राज्य नहीं, बल्कि एक समाज है। इस समाज के कथन नैतिक बलवा धार्मिक है, कानूनी बलवा राजनीतिक नहीं। इस विद्वान के अनुसार बुद्धिमान और श्रेष्ठ व्यक्ति अपने हाथ में राजनीतिक शक्ति रखने पर ही मानकता की सेवा करता है। वह अपने नागरिकों के साथ नैतिक सम्बन्ध होने के कारण वा श्रेष्ठ बलवा दार्शनिक विचारों के द्वारा ही करता है। अपने सद्-विचारों के कारण मानव-जाति का विशाल होने वाला व्यक्ति राजनीतिक शासन की दृष्टि से अधिक भद्र और अधिक प्रभावशाली होता है। ईसाई विचारकों का कहना है कि मनुष्य की उपमन्यता ही ईश्वर की सच्ची सेवा है। सेनेका का भी इसी सिद्धान्त में विश्वास था।

उपरोक्त व्याख्या के स्पष्ट है कि सेनेका के हाथ में जाकर स्टीडिक्वाद ने एक धार्मिक दर्शन का रूप ग्रहण कर लिया। सेनाइन मनीष्य का भी विश्वास है कि "एक सत्ताधीन और मार्कस आरेलियस (Marcus Aurelius) के स्टीडिक्विज की भाँति सेनेका का स्टीडिक्विज भी एक धार्मिक विश्वास था। उसने एक प्रकार के उचित और मनीष्य प्रदान करने के साथ-साथ साम्प्रदायिक विचारों का भी द्वारा अनुमोद किया। ईसाई धर्म मुख्यतः समाज में विकसित हुआ था। उसने सांसारिक और साम्प्रदायिक स्थावरी को धर्मनाराज माना था। उसका विश्वास था कि 'सहीर आत्मा के लिए सहीर और सभ्यता है' अतः 'आत्मा को सहीर के भार से निरत करके सहीर करने शुरू कीजिए।' साम्प्रदायिक सहीर की सहीर हुई साकारता ने धर्म की मनुष्य के जीवन में उपलब्धता प्रदान की और इसे लौकिक स्थावरी के धर्मनाराज माना। धर्म आधीन बलवा में लौकिक जीवन की एकता दूर रही थी। धर्म निरतार सम्बन्ध समाज मान्य करता था रहा था। उसका सहीर राजनीतिक जीवन से अधिक था। धर्म के धर्म सहीर धर्म की एक मर्यादा में बलवा होने लगे थे। वह धर्म की दृष्टि सहीर और सहीर की शक्ति करता था जिसका मनुष्य को सहीर मर्यादा का सहीर होने के साथ वास्तव करता करता था। वह धर्म का मनुष्य की शक्ति पर अधिकार रखती थी। इस सम्बन्ध में वह राज्य का दस्तखत करने की विलुप्त अनुमति नहीं देती थी। जो राजा के सम्बन्ध में सेनेका की वह मान्यता ईसाईयों के विद्वानों से मिलती-जुलती है। सेनेका और ईसाई विचारकों में सहीर भी कई बातों में साम्य है। इन मान्यताओं के कारण आधीन काल में वह कल्पना की जाने लगी थी कि सेनेका तथा सन्तपान (St. Paul) के बीच एक-दूसरे-द्वारा हुआ था, लेकिन वह बात सत्य है।"

सेनेका की विचारधारा के दो पक्षों का उसके दर्शन के धार्मिक तन्त्र में सम्बन्ध था—एक सहीर तो उसकी मान्यता थी कि मनुष्य वास्तव में सहीर है मर्यादा सहीर प्रकृति में ही पाया गया हुआ है। दूसरी सहीर उसका नीति शास्त्र मान्यता की प्रकृति निर्धारित था। सेनेका का विश्वास था कि बुद्धिमान व्यक्ति वास्तव-निर्भर होता है जिससे मानव दुष्टता का भाव उसे वास्तविक मान्यता देता है। इस दुष्टता की प्रकृति से कोई भी व्यक्ति बच नहीं सकता। सेनाइन के ही शब्दों में, "सेनेका का विश्वास था कि वास्तविक सहीर प्रकृति दुष्टता को मान्य करने में नहीं, बल्कि प्रकृति के

लिए अनन्त उपर्ण करते थे है।" सुत्रक: "सेनेका ने "पाप और दुःख की केला की सामंतिगक अनुभूति के कारण ही मानवी सङ्गनुभूति और उदारता को बहुत महत्त्व दिया।"

पाप और दुःख की देख कर ही सेनेका ने एक 'स्वर्णिम युग' (Golden Age) की कल्पना की, जिसमें मनुष्य सामरिक सत्ताय का अधिपति होने में पहले रहता था। स्वर्णिम युग के मनुष्य सामन्तलुत्, सरल एवं विष्णुय जीवन यापन करते थे। उनमें एक समष्टि स्थिति उनका सातक था। सत्तन की बाधोंर तुष्टिमान स्थितियों के हाथ में भी को निर्बन्धी की सक्तिशालियों से रहता करते थे, जना की सब साधनमयताओं की पूर्ति तथा सफ्टी का निवारण करते थे। कोई स्थिति किसी प्रकार का दुःखकार्य नहीं करता था किन्तु मनुष्यों के लोभ उत्पन्न होने से इस स्वर्ण युग का अन्त हो गया। सेनेका का स्वर्ण युग का बहुत वास्तव में सीरो के जलन काल में रोमन सम्राट के पतन के सम्बन्ध में उसके विचारों की अधिपत्यि माय है। सेनेका के अनुसार स्वर्ण युग का अन्त मनुष्य स्वभाव में स्वार्थ-भासना घटने से हुआ। स्वार्थ की प्रवृत्ति ने सम्पत्ति की भासना को पैदा किया सम्पत्ति की लेकर विवाद और मर्त्य हुए जिनके परिणामस्वरूप राज्य का अन्त हुआ। उस तरह राज्य की उत्पत्ति मनुष्य में घटने वाली दुराद्यों के कारण हुई। सेनेका ने कहा कि राज्य का प्रथम कर्त्तव्य निर्वेदात्मक या प्रतिपदात्मक है अर्थात् यह देखना है कि कोई व्यक्ति किसी के अधिकाओं को छीने नहीं, किसी की सम्पत्ति को हथके नहीं और किसी की स्वातन्त्र्य का अपहरण नहीं करे। सेनेका के ये विचार नीतिक नहीं थे। स्टीवनन इसे पहले ही कह चुके थे। दाहो को लेकर ईसाई पादरियों ने राज्य की उत्पत्ति या विवेक किता और उसे एक साधनक दुराई बताया।

सेनेका का राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त बहुत अधिक मिलित नहीं है। उसकी दृष्टि और आरम्भिक प्रवृत्तियों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उसने राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्धित सिद्धान्त का ही विवेचन किया था। कोई नीतिक विचार न देने के कारण ही उसे महत्त्वपूर्ण विचारक नहीं समझा जाता।

रोमन कानून (The Roman Law)

"रोमन कानून" (Roman Law) राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में रोम की एक महत्त्व देन है। रोमन लोगों ने प्राचीन विश्व में सर्वाधिक सर्वश्रेष्ठ और पूर्ण कानूनी प्रणालि (Legal System) का विकास किया था। "राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्तों के लिए रोम का सर्व, कानून और विधिशास्त्र है।"¹

रोमन कानून की विशेषताएँ

(1) भाषात्मक कानून का विचार (The Idea of Positive Law)—
रोमन लोगों ने कानूनों के समान साक्षात् में उद्घटन नहीं की। उन्होंने कानून की

घातान से भरती पर लाकर उसे सेक्यूलर (Secular) रूप दिया। नूतनी कानून को भावजनक (Positive) धारणा नहीं करते थे। वे नैतिक दृष्टिकोण से विचार करते हुए उसे ईश्वर को मानता मानते थे। लेकिन रोमन विचारकों ने कानून पर व्यावहारिक एवं व्यवस्थित दृष्टिकोण से विचार करते हुए उसे यथार्थ एवं राजनीति के दम्भन से मुक्त किया। रोम एक विशाल साम्राज्य था जिसमें विभिन्न धर्मों के अनुयायी रहते थे, यतः रोमन लोगों के लिए यह सम्भव न था कि वे इनमें से किसी एक के धर्म और नीतिशास्त्र के साथ कानून का सम्बन्ध करते।

रोमन विचारधारा में कानूनों को धार्मिकीय मान कर उनकी रचना की गई। कानूनों को काफ़ी घोर धार्मिकीय का सम्बन्धता माना गया। साम्राज्य के नागरिक कानूनी का मानन करने के लिए बाध्य थे, पर इसलिए नहीं कि कानून व्यावहारिक, धर्मोपदेशक प्रकृति का है, बल्कि इसलिए कि वे जनता की इच्छा को प्रकट करने वाली सर्वोच्च राजनीतिक वास्तविकता के प्रति हैं।

स्पष्टतया है कि भावजनक कानून के इस विचार का विकास धीरे-धीरे हुआ। कुछ में कानून का आधार धर्म मान्य और ऐति-रिवाज रहे। लगभग 450 ई. पू. में रोमन ऐति-रिवाजों पर आधारित कानूनों की संहिताबद्ध किया गया। यह काम 12 पट्टिकाओं (Twelve Tables) में हुआ। इनमें न केवल प्रचलित ऐति-रिवाजों को लिखित कर दिया गया बल्कि कुछ नवीन कानूनी तथ्यों का भी समावेश हुआ। जब 'राज्य के विरुद्ध सरकारों की देवताओं के विरुद्ध किया गया पाप कबलने का घोर कानून के धार्मिक होने का विचार सम्भव हो गया।' 12 पट्टिकाओं के रूप में संहिताबद्ध कानून में सर्वोच्च अज्ञात की इच्छा से ही हो जनता का घोर ऐनोड, क-कुलोट तथा सामन्ती के अधिकारों में जनता की इच्छा प्रकट होती थी जब ऐति-रिवाज कानून का श्रोत नहीं रहे थे। कानून को राज्य की इच्छा समझा जाने लगा था। कानून के इस विकास-क्रम में स्पष्ट है आकर वह सिद्धान्त दृष्टापूर्वक स्थापित हो गया कि कानून राजकीय धर्म के धार्मिकीय मुद्दे नहीं है। इसे राज्य द्वारा ही बनाया जाता है और राज्य द्वारा ही उसका मानन करवाया जाता है।

(2) नैतिक सचिकारों का सिद्धान्त और राज्य की कानूनी रूप प्रदान करना—रोमन लोगों ने अपने नागरिकों को कानून के सामने समानता का अधिकार दिया। कानूनी अधिकारों की उचितता धीरे-धीरे राज्य की घोर से की गई। इनका निर्धारण कंसुल (Consuls), प्रोक्तर (Praetors), ट्रिबुनी (Tribunes), सीनेट के सदस्यों एवं अन्य राजकीय उच्च अधिकारियों ने किया दूसरी 'अधिकारों' को कानून के स्तर पर घोर पूर्ववर्ती समझते थे। उनके अनुसार 'अधिकार' में ही सार्वभौमिकता थी—'मर्यादा का विचार और किसी व्यक्ति या समूह के सम्बन्ध रखने वाले विशेषाधिकार। रोमन लोगों ने घुसरे विचार को धार्मिक महत्त्व दिया और अधिकार को कानून का अवयव बना दिया। जब प्रत्येक व्यक्ति के कुछ विशेष अधिकारों को कानून द्वारा स्थापित करने का लक्ष्य था तो राज्य की इच्छा रखते हुए लोगों के अधिकार और कर्तव्य को स्थापित कर। रोमन लोगों ने राज्य के स्थाप

पर व्यक्ति को अपने कानूनी विचारों का केन्द्र बनाता है राज्य की सत्ता का मुख्य प्रयोजन व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा का माना गया है। "इस प्रकार राज्य मुनिश्चित सीमाओं के भीतर ही अपने सत्ता का प्रयोग कर सकता था और नागरिक भी ऐसे अधिकार रखने वाला व्यक्ति माना जाता था, जिसकी रक्षा अन्य व्यक्तियों से तथा सरकार के प्रबंध व्यवहार (Encroachment) से की जायी चाहिए।"¹

(3) प्रभुसत्ता का विचार (The Idea of Sovereignty)—रोम में काफी पहले से यह मान्य था कि राज्य की सर्वोच्च व अन्तिम सत्ता का सीत जसता है, और निरंकुश व सार की भी सत्ता जनता से ही प्राप्त है। कौतुन या सप्पाट अपनी सत्ता का प्रयोग जनता की ओर से ही करते हैं। रोमन विचारों की इस मान्यता से ही लोकप्रिय सभ्यता (Popular Sovereignty) के सिद्धान्त की बहुत मिली, जो प्रायः के लोकतन्त्रीय राज्यों की आधारभूतता है। रोमन लोगों ने यह भी कहा कि जनता की यह सर्वोच्च शक्ति अप्रतिपक्ष और अनिश्चित है जिस पर किसी प्रकार का दबाव नहीं हो सकता।

(4) विभिन्न प्रकार के कानूनों का विकास—रोम ने तीन-वर्गी तीन प्रकार के कानूनों की विचार का विकास हुआ—

- (1) जन कानून (Jus Civile),
- (2) जन जेन्सियम (Jus Gentium), एवं
- (3) जन नेचुरली (Jus Naturale)।

'जन कानून' रोम का दीवानी कानून था जो 12 पट्टिकाओं पर प्रामाणित था। यह दीवानी कानून न्युनिश्चित कानून (Civil or Municipal Law) रोमन नागरिकों के कारगरिक कानूनी सम्बन्धों को नियमित करता था। यह केवल जन विवादों में ही लागू किया जाता था बहुत विवाद के पक्ष रोम के नागरिक ही।

रोमन साम्राज्य का विस्तार होने पर एक अधिक व्यापक कानून की आवश्यकता हुई। व्यापक समानार्थ यह जाने से नागरिक या दीवानी कानून (Jus Civile) पर्याप्त अनुभव कि जाने लगे। निदेशकों ने अपने होने की निश्चित पर उनके विचारों का दीवानी कानून से निर्लंब करना उचित नहीं समझ गया था निदेशकों के सामग्री पर विचार एवं निर्लंब करने के लिए व्यापक कानून के ऐसे सिद्धान्तों का विकास करने लगे जो रोमन लोगों और निदेशकों पर सामान्य रूप से लागू किए जा सकें। इस प्रकार जब विकसित कानून को 'जन जेन्सियम' कानून कार्यभारिक कानून का नाम दिया गया जिसका आधार उन सिद्धान्तों से है जो विभिन्न जातियों के कानून तथा परम्पराओं के लिए सामान्य से और इसलिए जो सामान्यतः सभी की लागू थे। 'जन जेन्सियम' कानून को विकसित करने का प्रधान श्रेष्ठ व्यापक प्रेरितिक को दिया जाता है।

'जन जेन्सियम' रोम के दीवानी कानून पर्याप्त जन कानून से कई बातों से भिन्न था। "यह जातियों के सामान्य सामान्य और परम्पराओं पर प्रामाणित नियमों

का पक्ष था, यह निरा रोषन न था बल्कि किनायरिक कानून था, इसलिए यह सम्पूर्ण मानव जाति के लिए सामान्य था। इसका निर्वाह किसी व्यवस्थानिका द्वारा नहीं होता था और न ही इसका आधार जनताधारण की इच्छा थी। इसकी रचना न्यायिक और प्रशासनिक पदाधिकारियों द्वारा होती थी। यह वास्तव में विरासत न्याय के सिद्धान्तों का साकार रूप था।" गिबान रोषन कानून-वेत्ता गैबन (Gaius) के अनुसार, "परिचित नगरों ने अपने लिए कोई कानून निश्चित किया है और यह केवल उसी तक सीमित है तो उसे जस सिविली (Jus Civile) या उन राज्य का विशेष कानून कहेंगे। दूसरी ओर जिसे प्राकृतिक बुद्धि ने सब मनुष्यों में प्रतिष्ठित किया है और जिसका पालन समान रूप से सब देशों (अन्तर्गतों) में होता है उसे जन जेनिचम (Jus Gentium) कहा जाएगा।" 'जेन जेनिचम' का एक भाग वास्तव में स्टोइक दर्शन से लिया गया था। इस कानून में प्रमुखतः इन विषयों का समावेश था—राष्ट्र की सीमाओं एवं कुछ सम्झौतों नियम, सैन्य, शरीर, दादायाद, स्व-विपणन, किराए पर बस्तुओं के देने-लेने के नियम आदि।

कानून का तीसरा और सबसे प्रमुख प्रकार प्राकृतिक कानून (Jus Naturalis) है। इसका विचार भी थोरे-थोरे ही हुआ। साम्राज्य के विस्तार होने के साथ-साथ कानूनों विवाद भी बढ़ते गए और सम्राट के पास सभी प्रदेशों में जड़ित कानूनी प्रणाली के निर्णयों के लिए जजों वाले लगे। सम्राट ऐसे मामलों में कानूनी विषयों में मर्यादा लगाया था जिनसे यह पता की जाती थी कि वे ऐसे सामंतीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन करें जिन्हें सम्पूर्ण साम्राज्य पर लागू किया जा सके। इन विधि कारिगारों ने कानून, परिवारों और न्याय की सूक्ष्म सीमाओं करने सब देशों एवं जातियों और सम्पूर्ण प्रकृति में पाए जाने वाले सामान्य तत्वों के आधार पर प्राकृतिक कानून की अवस्था को जन्म दिया। गिबान कानूनवेत्ता उलिपियन (Ulpian) ने प्राकृतिक कानून के स्वरूप की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि "यह कानून द्वारा सब प्राणियों की ही जाने वाली विधा है। यह कानून मनुष्यों पर ही नहीं पतित पृथ्वी, प्रसन्नता और वनस्पति में पाए जाने वाले सभी प्राणियों पर भी जगजगत् रूप से लागू होता है। इसी में सरकारी वन मवेशी, मत्तान का उत्पादन, पालन और प्रविष्टि होता है क्योंकि हम देखते हैं कि मनुष्य तथा पशु इस कानून से परिचित हैं।

स्पष्ट है कि जहाँ जस नेचुरली सभी पर लागू होता है वहाँ जस जेनिचम केवल मनुष्यों पर लागू होता है, जिन्हे इस प्रश्न में यह प्मान देने योग्य है कि प्राकृतिक कानून धर्मात् जस नेचुरली की दृष्टि में दास प्रभा प्रमुखित है जबकि सामंतीय कानून धर्मात् जस जेनिचम की दृष्टि में यह प्रभा प्रचलित थी। प्राकृतिक कानून का विकास हो जाने पर ऐसे किसी देश विदेशों के कानूनों के बीच समझौता होने लगा। उसे यह समझौता प्रभा जिस पर वास्तविक राज्यों के कानूनों की कमा खाना चाहिए और जिसके अनुसार उनकी प्रभावना होनी चाहिए।

जस्टीनियन द्वारा रोमन कानून का संकलन—रोमन कानून के संकलन, परीकरणा और समष्टीकरण का महत्वपूर्ण कार्य करने की दिशा में रोमन सम्राट् जस्टीनियन (Justinian) ने पच्चीसवीं शताब्दी में महत्वपूर्ण कदम उठाया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निम्नलिखित यह कानून-शास्त्रियों ने कानूनों का जो विचारण करके लिखा वह विधि संहिता (Code) या जस्टीनियन की संहिता (Code of Justinian) कहलाया है। रोमन कानून का यह प्रामाणिक संकलन है जिसने परवर्ती राजनीतिक विचारधारा पर एक व्यापक प्रभाव डाला है। मान के बिना का कोई भी राष्ट्र रोम के इस अनुदाय से अछूता नहीं रहा है। जस्टीनियन संहिता के प्रमुख भाग में है—

(क) डाइजेस्ट (The Digest)—इसमें रोम के प्रसिद्ध कानून विद्वानों के विचार लिखे गए हैं। इसमें विभिन्न विषयों पर उन लोगों के विस्तृत उद्धरण हैं। ऐसा कहा जाता है कि इसे 16 कानून विद्वानों ने तीन वर्ष में तैयार किया था। इसमें तीसरी से पच्चीसवीं शताब्दी तक के रोमन विचारों का सुन्दर परिचय मिलता है।

(ख) इन्स्टीट्यूट्स (The Institutes)—इसमें रोमन कानून के सिद्धान्तों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। विद्वानों की सुविधा की दृष्टि से यह रोमन कानून के सिद्धान्तों की सुन्दर सविष्ट सीमांता है।

(ग) नोवेल्स (The Novels)—यह सम्राट् जस्टीनियन के कानूनों का संग्रह है।

रोमन प्रभु-शक्ति की धारणा

(The Roman Concept of Imperium)

प्राचीन विचारक प्रभुत्व की धारणा से संपरिचित थे। रोमन लोग ही के पहले विचारक के जिह्वासे इस धारणा को जन्म दिया। इनमें पहले से यह विश्वास बसा जाता था कि संसभन प्रत्येक अनुदाय के ऐसी क्षमशरीर एवं सम्मंजस शक्ति निहित रहती है जिसके द्वारा वह अपने सदस्यों को आदेश देता और उनसे आज्ञा पालन करवाता है। इस आदेश देने और आदेश का पालन करने के लिए राज्य करने की शक्ति को वे इम्पीरियम (Imperium) कहते थे, जिसका अर्थ सम्मंजस रही था जो प्रायःकल प्रभुशक्त का प्रभुत्व (Sovereignty) का है। रोमन लोगों ने इम्पीरियम के सिद्धान्त का वर्णन मुख्यतः निम्नलिखित रूप से परिचर्चित नहीं किया, किन्तु भी उनके आधार पर उन्होंने विभिन्न-प्रकारों का अर्थ बहुत समर्थन प्राप्त कर लिया। रोम के राजतन्त्र के आधार से ही यह माना जाता था कि प्रभु-शक्ति अन्तः में निहित है और किसी व्यक्ति को प्राप्त करने का अधिकार वक्त-परम्परा या ऐसी-विशेषताओं के कारण नहीं बल्कि अन्तः द्वारा निर्धारण से प्राप्त होता है और एक बार अधिकार प्राप्त कर लेने पर वह प्राप्त आजीवन उत्तम उपजीव करता है। जब प्राप्त की कुछ वर्षों पर यह अधिकार प्राप्त अन्तः के पाठ लीट जाता है जो नए राज्य की पुष्टि है। रोमन गणराज्य में नहीं सिद्धान्त कुछ हुआ कि अन्तः प्राप्त अन्तः के द्वारा है कि इसे वह अपनी इच्छा से किसी एक प्रकार के अन्तः को दे सकती है।

समुदायीय व्यवस्था के समाप्त होने पर जब राज्य की शक्ति सभाओं के हाथों में आई उस समय भी दम्पीरियम या प्रभुशक्त का विद्वान्त चलता रहा, यद्यपि व्यवहार में उसका कोई महत्व नहीं था। सम्राट अपनी इच्छानुसार आदेश जारी करते और सभा का पालन करवाते थे। साम्राज्यवाद के इस युग में भोग देवीय अधिकारों पर आधारित निरंकुशवाद का समर्थन करते थे लेकिन सभा ही इस परम्परागत विद्वान्त के अनुयायी थीं वे कि प्रतिभन्त रूप से सभा सम्पूर्ण जनता में निवास करती है। गैस (Gaius) ने दूसरी सताब्दी ई० में लिखा था कि एक प्रकार की कानूनी सभा का अस्तित्व जनता (Populus) है। रोमन साम्राज्य स्थापित हो जाने के बाद भी समुदाय का पुराना ढाँचा और आधार बना रहा था। सम्राट के (जिसे प्रथम नागरिक कहा जाता था) पालन सम्बन्धी अधिकारों के बारे में रोमन कानून कारिगमों का यह विचार था कि अपने एक विशेष कानून (Lex regia) द्वारा जनता सम्राट को सर्वोच्च सामान शक्ति (Imperium and Potestas) प्रदान करती है। उनके मतानुसार सम्राटों की अपनी सत्ता नागरिकों से मिलती थी और वे जनों के प्रति जवाबदेह माने जाते थे। सम्राट की विशेष कानून (Lex regia) द्वारा जीवन-काल तक के लिए ही प्रभु-शक्ति दी जाती थी। सम्राट के मरने के बाद उसके राज्यों की स्वतः ही कोई अधिकार प्रदान नहीं किया जाता था लेकिन यह सब कुछ केवल वैधानिक था। व्यवहार में सम्राट निरंकुश सामक बन गए थे। उद्योगिक युग की मान्यताओं ने यह स्वीकार करते थे कि सम्राट की इच्छा में वही शक्ति है जो कानून में है। सम्राट अपनी आज्ञाओं द्वारा जनता के कार्यों को रद्द कर सकता था। वही एक मात्र विधि-कर्ता था।

जनता की प्रभुशक्ति द्वारा शक्ति या दम्पीरियम के हस्तान्तरण का आधार सविदा का विचार था। रोमन विधिशास्त्री राज्य की उत्पत्ति इस समझौते में मानते थे, किन्तु उनके राजनीतिक चिन्तन में उस सामाजिक समझौते विद्वान्त का कोई स्थान न था जिसके अनुसार लोगों ने अपने प्राकृतिक अधिकारों को त्याग कर एक राज्य की स्थापना की थी। रोमन विचारकों ने जिस प्रकार की सविदा के विद्वान्त का विकास किया, उनके अनुसार जनता ने अपनी सत्ता अधिकारों को खीन दी थी। इस समझौते के सम्राट को एक बार अधिकार मिलने के बाद इसका अपहरण नहीं हो सकता था। जब एक बार जनता ने किसी अधिकारों या प्राकृतिक की पुनः किया तो अपने कर्तव्यों की रीति-रिवाज के भीतर उस अधिकारी या नागरिक की शक्ति पूर्ण थी। फिर जनता को यह अधिकार नहीं रद्द जाता था कि वह दो हुई शक्तियों को वापिस ले। वास्तव में रोमन विचारकों ने सम्राटों के अवेच्छाकारी शासन को व्यापकता बढ़ाने के लिए ही इस सविदा विद्वान्त का प्रतिपादन किया था। रोमन विचारकों ने शक्ति के अधिकार को स्वीकार नहीं किया था। उनका अपना ही सविदा का यह विद्वान्त हान्ति के मत के समुदाय समझ था न कि लोक के मत से। इस विद्वान्त के रचयिता यह सर्व निश्चय था कि एक बार जनता द्वारा सम्राट की प्रभु-शक्ति देने के बाद फिर वह किसी के प्रति

उत्तरदायी नहीं रहा था। यद्यपि उसकी विपत्ति कानून के ऊपर हो गई थी। बारम्बार मैं यह एक विचित्र घोर मनोरञ्जक विरोधाभास है कि एक घोर नो रोमन कानून सभा के निरन्तर राजसूता का सम्बर्धन करना है और उसकी उभय की ही कानून करता है तथा दूसरी ओर यह भी जानना है कि सभा के इन्वीरियम अथवा प्रवृत्ति अन्तः प्रथम भिन्न होती है।

रोमन राजदर्शन का योगदान
(Contribution of Roman Political Thought)

दुसरी विप्लव के विपरीत रोमन राजदरबान ने इसे राजनीतिक विप्लव की संज्ञा दी। रोमन साम्राज्य के राजदरबान ने इसे राजनीतिक विप्लव की संज्ञा दी। रोमन साम्राज्य के राजदरबान ने इसे राजनीतिक विप्लव की संज्ञा दी।

साधुनिष्ठ लोकपाल-नरक प्रणाली में हिन्दू-बौद्ध धर्मशास्त्रों द्वारा कुछ ऐसी नीति और कमेटीका की ही नकल कही जा सकती है। क्रिश्चियन का यह धार्मिक वैधानिक रूप में ब्रिटिश साम्राज्य और निर्वाचित क्रिश्चियन धर्म देशों में राज्य का प्रमुख मान्य जा सकता है। विधि-निर्माण का अधिकार लगभग सभी देशों में ऐसी कमी की प्राप्ति है और जगद्गुरु में जायसिकता (अमेरिकन व्यवस्था की दोहरा) नीतिवशात् अपना प्रतिनिधि सदन को दी जाती है। रोमन मार्कन के समुदायवादीक रूप में 'कमेटीका' का स्थान राज्य के प्रतिनिधि सदन देता ही था। जब रोम में कुछ राजदूत की स्वाभिमानी हुईं तब भी साम्राज्य स्वयं को निर्वाचित अधिकारी और उनके राज्य का स्वयं अधिकारी कहलाना ही बख्श कर रहा। इन प्रकार निरंकुश होने हुए भी साम्राज्य में जनता की सत्ता के प्रति सम्मान प्रकट नहीं किया और पोषणात्मक रूप से नीति द्वारा उसे सत्ता का हस्तान्तरण होता रहा। जनता को अधिकार और अधिकार करने की यह मान्यता बहुत ही महत्वपूर्ण बात थी जो सामयिक लोकतन्त्र की प्रथम गतिवादी धारा थी।

रोमन प्रजासत्ता के स्वतन्त्र ने भी विरासत में बहुत कुछ छोड़ा। रोमन साम्राज्य सम्भव एक हजार वर्षों से भी अधिक समय तक सम्पूर्ण यूरोप और अफ्रीकी अफ्रीका पर शासन रहा। रोमन साम्राज्य ने कठोर तथा व्यापक नीति-राजनीति द्वारा विद्यालय प्रशासन मन को पराजित और सभ्य-विकास रखा। जब रोमन साम्राज्य विघटित हो गया तब भी यह नीति-राजनीति परम्परा के रूप में यूरोप में शासन में बनी रही और आज नीति-राजनीति का प्रशासन के क्षेत्र में जो स्थान है वह किसी के विचार नहीं है। रोमन कानून-विचारों ने कठोर परिश्रम से कानून की जिस कमबख्त और वैज्ञानिक प्रकृति का निर्माण किया उसके आधुनिक विचार ने बहुत-कुछ सीखा और कार्य-दर्शन प्राप्त किया है। कानून की अतिप्रकृति को सुव्यवस्थित करि रोमन विधि-शास्त्रियों के प्रभाव प्रति मुख्यतः सिद्ध हो रहे हैं। कानून के विकास की एक सुदृढ़ स्पष्ट-व्यवस्था का समझ भी रोमन लोगों की महत्त्वपूर्ण देन है। रोम की इन देन को मुताबक नहीं जा सकता कि उसने नागरिकों को कानून के समक्ष समता (Equality before Law) का अधिकार दिया।

'इम्पीरियम का सिद्धान्त' (Theory of Imperialism) भी रोमन राजनीति की एक बहुत ही आधुनिक और महत्त्वपूर्ण देन है। इसका वर्तमान नाम सम्प्रभुता का सिद्धान्त है। रोमन विचारकों ने बताया कि राज्य की वास्तविक सत्ता जनता में निहित है और प्रशासक तथा न्यायाधीश सभी जनता की एक शक्ति के सामने पर ही अपने दलों पर जनता की ओर से कार्य करते हैं। रोमन विचार के यह नये आधुनिक लोकतन्त्रों ने बहुत ही विकसित रूप में विद्यमान है।

रोम ने राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय प्रशासन के बहुमूल्य सिद्धान्त (Principles of Colonial and Municipal Administration) प्रदान किए। साम्राज्य के सम्पूर्ण प्रशासकों को पराजित भाषा में मुताबक का अधिकार दिया गया था कि उन व्यवस्था से जाने की कीमतों ने बहुत कुछ सीखा। मुताबक, रोम का कार्य-प्रणाली तथा स्टीडम-इन्साई नीतियों के रूप में अन्तर्गत के प्रशासन के आधुनिक इतिहास की नींव रखी। यह मानते रोम के पतन के बाद भी जीवित रहें। पुनर्जागरण ने उन्हें नवजागरण विचार और फ्रेंच क्रांति के दिनों में क्रांति की नवजागरण सम्प्रदाय में उन्हें मुख्यतः प्राप्त हुआ।

अन्तु रोमन साम्राज्य नष्ट-व्यथित हो चुका है किन्तु रोम की देन आधुनिक विचार-राजनीति का विश्व आज भी बरतान है।

साम्राज्य राजनीतिक विचारों के विकास में एपीक्युरियनवाद की विशेषता स्टीइकवाद ने अधिक बहुमुखी हो कर दिया। यह विचारधारा सिनिक और एपिक्युरियन दोनों से न केवल अधिक प्रबल सिद्ध हुई बल्कि इसका प्रभाव भी सबसे बड़ा रहा। इसका प्रवर्तन 300 ई. पू. में ज़ेनो (Zeno) ने किया जो एक फ़ोनिशियन (Phoenician) था। उसके नाम-लिख ने से एक सेमिटिक (Semitic) था। सिकरी, सेनेका (Seneca), मार्कस ऑरिलियस (Marcus Aurelius) तथा चार्सिडियस जैसे विचारक इस विचारधारा के समर्थक थे। इसकी समझदारी का चरित्रक स्टीवा (Chrysippus-the Sage) ने दिया जिसके कारण इसका व्यापक प्रभाव रहा। स्टीइकवाद ने एक सहायक, न केवल विचारों की प्रभावित करता है। इसकी सहाय्य के सिद्धि रोम निवासियों इसके व्यापक प्रभावित हुए।

जिस प्रकार एपिक्युरियन दार्शनिकों का विचार जीवन में अधिकारिक गुरु एवं आनन्द की प्राप्ति था, उसी प्रकार स्टीइक दार्शनिकों का लक्ष्य भी आनन्द की प्राप्ति था, किन्तु इनका आनन्द और उसको प्राप्त करने की प्रक्रिया एपिक्युरियन विचारों से भिन्न थी। स्टीइक दर्शन के प्रेरितों दोनों के बारे में कहा जाता है कि यह 'सिक्ल' (Cycle) सहाय्य के नेता क्रेटीस (Crates) का विषय था। यह स्टीइकवाद, सिनिकवाद (Cynicism) का ही एक विकसित रूप कहा जा सकता है। सिनिकवाद की मूल धारणाएँ पूर्ण आत्मनयस, प्रकृति के अनुकूल जीवन, पूर्ण आत्म-निर्भरता, परिस्थितियों से स्वतन्त्रता और स्वयं-सहायता हैं। ये धारणाएँ मूल धारणाएँ ही स्टीइकवाद का आरम्भ-बिन्दु भी हैं, किन्तु यहाँ सिनिकवाद के विपरीत नियोजनमय और अनुशासकी हैं यहाँ स्टीइकवाद उपरोक्त मूल धारणाओं की एक नियोजनमय और स्वतन्त्र व्याख्या करता है।

स्टीइकवाद दर्शन के मुख्य विचारों की हम विस्तारित रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं—

(1) प्राकृतिक विधियाँ

(Laws of Nature)

स्टीइक दार्शनिकों के विचार का केन्द्र प्रकृति है। उनके लिए प्रकृति ही जीवन की धर्मिकाओं है और यही समस्त वास्तव की शेरक है। स्टीइक के मत में

“प्रकृति के अनुसार जीवन का आशय यह है कि जीवन को ईश्वर की इच्छा पर छोड़ दिया जाए, मानवी शक्ति से परे की एक ऐसी शक्ति पर भरोसा किया जाए जो अपारखूँ है तथा मन की ऐसे रसा जाए जो सकार की व्योमज्ञा और धीमेधन में निराला रहने में उत्कृष्ट होता है।”¹ प्रकृति की सर्वोत्कृष्ट निर्देशक शक्तों हुए उनका मत है कि “प्रकृति उस एक एवं अनिवार्य शक्ति की प्रतीक है जो इस विश्व के प्रत्येक भौतिक वस्तु में उपस्थित और उसके द्वारा समस्त वस्तुएँ एक दूसरे से सम्बन्धित हैं और जिसका साधारण समुचित विवेक बुद्धि है।”² एडोल्फ वॉन का वेन्ड विन्दु ‘प्रकृति’ उसकी उपासना देती है। यह उसकी समस्त कामनाओं का सत्य है, उनकी समस्त क्रियाओं का स्रोत है।³ उनकी मान्यता है कि “मानव जीवन का परम अर्थ प्रकृति के साथ सहानुभूति हो जाना है, उसी में अपना विलीन कर देना है। प्रकृति में जीवन और विकास के सम्बन्ध में हम, जिस निश्चयी और विविधता का अनुभव करते हैं, वही मानव के भी जीवन-सत्य है और यदि सर्वोत्कृष्ट जीवन की प्राप्ति करना है तो ‘प्रकृति’ के सकेतों के अनुसार आचरण करना पड़ेगा। विज्ञान में अपनी कृति ‘ऑन दि लॉ’ (On the Law) में प्राकृतिक विधि का वर्णन करते हुए लिखा है—“यह विधि देखायी और अनुष्ण दोनों के साथ कार्य की निश्चय है। क्या सम्माननीय है और क्या अधम है—इस सम्बन्ध में यह विधि ही हमारी पन-परबल है। यह विधि विश्व की नियन्त्रक, संचालक और मार्ग-दर्शक शक्ति है तथा भाव और सम्पादन का साक्षर है। जो प्राणी प्रकृति से सामाजिक है उन्हें यह विधि इस बात का उपदेश देती है कि वे क्या करें और क्या न करें।”

एडोल्फ वॉनिकी की मान्यता है कि प्रकृति और कुछ नहीं है, केवल उस प्रतीक विराट सत्ता की अभिव्यक्ति मात्र है। विवेक से प्राकृतिक नियमों से दुरिद मित्रता है परन्तु यह का कर्तव्य है कि वह उस प्रतीक विराट सत्ता के प्रतिफल की ओर आचरण न करे। प्रकृति के नियम सुनिश्चित, सामान्य, मानवीय और ईश्वरी बुद्धि पर आधारित हैं। वे सत्य और अपरिवर्तनीय हैं जिन्हें मनुष्य अनुभूति बुद्धि द्वारा जान सकता है। अतः मनुष्य को सदा विवेक का सहारा लेकर प्राकृतिक नियमों अथवा विधियों का पालन करना चाहिये। एडोल्फ का विश्वास है कि प्रकृति सामाजिक चरित्र होने वाली पशुजन्तुओं का अपभट नहीं है बल्कि एक बुद्धिमत्त व्यवस्था है जिसमें नियम नहीं बल्कि पनबद्धता है। प्रकृति में देव और मानव दोनों सम्मिलित हैं। इस पर ईश्वरी बुद्धि शासन करती है। ‘प्रकृति’ सामाजिक मानव का सकारण रूप है। ‘प्रकृति’ के अनुसार जीवन का अर्थ है—बुद्धि के अनुसार जीवन। चूँकि बुद्धि मनुष्य के अनुसार कार्य करती है अतः प्रकृति के अनुसार जीवनसाधन का लक्ष्य अर्थ हुआ—कानून के अनुसार जीवन। मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपना जीवन प्राकृतिक विधियों के अनुसार बिताए। “प्रकृति सर्वोच्च

1. वॉन्डर : पूर्वोक्त, पृष्ठ 137.

2. *Physis Deity* op. cit. p. 33.

सार्वभौम कानून का सुर्वेक्षण है तथा सार्वभौम जीवन इस सार्वभौम कानून का अनुसरण करता है।¹

(2) सार्वभौम विचार जनित राज्य का सिद्धान्त अथवा सार्वदेशिकता या विश्व नागरिकता (World State or Cosmopolitanism)

स्टोइक दर्शन का दूसरा प्रमुख विचार सार्वदेशिकता अथवा विश्व नागरिकता का था। सर्वप्रथम जिनिक सार्वभौमिकी ने कहा था कि वे किसी नगर विशेष के नागरिक न होकर विश्व के नागरिक हैं, लेकिन सत्ताधीन राजनीतिक परिस्थितियों में यह विचार पनप नहीं सका। बाद में मैसिडोन और रोम का साम्राज्य स्थापित होने पर राजनीतिक परिस्थितियाँ विश्व नागरिकता के विचार के अनुकूल हो गईं तथापि जब स्टोइक दर्शन के जन्मदाता जीनों ने विश्व नागरिकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तो यह बड़ा लोचप्रिय हुआ। जिन (Diogenes) के अनुसार "उन यूगशील और बर्बर जातियों को गृहस्थ करने वाली दीवार टूट गई, द्येम्स, जॉन, एलिया और निराल में रहने वाले व्यक्ति वस्तुतः एक राजनीतिक प्रजाति के सदस्य बन गए जो विश्व की नागरिकता का विचार विन्तनशील मनुष्यों के लिए प्राकृतिक हो गया।"²

स्टोइक सार्वभौमिकी का विचार था कि "मानव-मानव के कोई अन्तर नहीं है क्योंकि मानव प्रकृति में समानता है। दुष्टि सार्वभौमिक है क्योंकि एक ही दुष्टि सर्वत्र व्याप्त है और समता प्रत्येक वस्तु पर निरन्तर है। स्वयं ही स्टोइक विचारक मनुष्यों विश्व पर एक ही सार्वभौम सत्ता का शासन करने हुए इस परिभाषा पर पहुँचे कि विभिन्न जातियों और राष्ट्रीयताओं के होते हुए भी मनुष्य समान हैं, यह उन्हें यूरे-यूरेफ़ राज्यों में रहता छोड़कर एक ही प्रभु के शासन का मन बनना चाहिए।'

केसाइन महीदस के अनुसार स्टोइक जीनों का विचार था कि "समाज के प्रत्येक प्राणिमयी वे सर्वत्र मनुष्य ही सामाजिक जीवन व्यतीत कर सकता है। उनके लिए सामाजिक जीवन प्राथमिक भी है। मनुष्य ईश्वर के पुत्र हैं, यहाँ वे एक दूसरे के भाई हैं। स्टोइक की दृष्टि में ईश्वर में विश्वास रखने का सर्व सामाजिक प्रयोजनो में और इस बात में कि मनुष्य का इन सामाजिक प्रयोजनों के प्रति कुछ कर्तव्य है, विश्वास रखना है। इस विश्वास ने स्टोइकवाद को एक नैतिक और सामाजिक शक्ति बना दिया है।"³ स्टोइक के इन विचारों का विवेचन करते हुए केसाइन ने माने लिया है कि "स्टोइक के अनुसार एक विश्व-राज्य है। ईश्वर और व्यक्ति दोनों ही इसके नागरिक हैं। इसका एक अविभाज्य है जो उचित विवेक है। यह व्यक्ति को इन बात की सिखाता है कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं। सर्वत्र विवेक प्राकृतिक कानून है और यह हमें जगह उचित तथा स्वाभूषित।

1. Dancy : A History of Political Theory, p 104-105

2. केसाइन : स्टोइक, पृ 137

उनके सिद्धान्त अतिरिक्तनीतिगत हैं। वह सब मनुष्यों, नामकी और नाकियों पर समान रूप से लागू होता है।

स्टोइस का मत था कि प्राकृतिक कानून का पालन करने का भाव मनुष्यता की एक महान् समानता में सम्मिलित करता है। उन्हें उन सभी लोगों की एक निराल-बिना राज्य का सबसे मान्यता चाहिए जिसका एक ही जीवन मार्ग है और एक ही व्यवस्था है। स्टोइस ने सुनानी और बर्बर, कुम्भीय और जनसाधारण, दाम और स्वतन्त्र, धनी और गरीब सबकी समानता बताना और उनकी सामुदायिकता का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। इस सिद्धान्त द्वारा उन्होंने व्यक्ति को मनुष्य-राज्य को मनीषी सीमाओं से ऊँचा उठा कर निराल-नागरिक बना दिया। स्टोइसवाद ने न केवल व्यक्तियों के बीच सामाजिक भेद-भावों को कम किया बल्कि राज्य के बीच एकता का विकास किया।

(3) मानव-स्वभाव (Human Nature)

मानव-स्वभाव के बारे में स्टोइस का विचार था कि मानवता की यह सामुदायिक रूप में देखा जाए तो ऐसा प्रतीत होता कि वह प्रहुरणों, स्वामी और दासताओं की बात है। पर यदि मानव स्वभाव का स्वरूप के अनुकूल विवेचन किया जाए तो अतिरिक्त सब वही निकलता कि वह सहिष्णुताशील है, वह अपनी भलाई का इच्छुक है तथा वह अपना स्वार्थ पूरा करना चाहता है। स्टोइस यह जानते थे कि मानव-स्वभाव स्वतः दुष्ट है क्योंकि वह अपनी वाक्यालों की पूर्ति में गया रहता है।

स्टोइस विचारों का यह भी कहना था कि मनुष्य को व्यक्तिगत मानव और अपनी सुख-आकांक्षा की पूर्ति के लिए समाज के सम्बन्ध छोड़ देना चाहिए। वास्तव में स्टोइस दार्शनिकों का यह व्यक्ति का कार्य है, समाज या लोक चले नहीं। वे व्यक्तियों को अस्वस्थ स्थिति में पहुँचा कर उनके स्वभाव की समानता की समस्त परिस्थितियों के प्रति सहनशील बनाना चाहते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति की इकाई है और समस्त समाज अपनी अन्तः-क्रिया का है। अपनी हित साधना के इस स्वभाव के प्रेरित होने के कारण ही मनुष्य स्वयं ही समाज में अपने व्यक्तिगत विकास तथा उन्नति की ओर अधिक ध्यान देता है।

समाज और राज्य के प्रति व्यक्ति के सम्बन्धों का विवेचन करते हुए स्टोइस दार्शनिकों ने बताया कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता वंचित आवश्यक है किन्तु फिर भी व्यक्ति समाज के चलेना शुरू नहीं हो सकता। इसलिए यह समाज की ओर आवश्यकता से व्यक्तियों की भी एक आवश्यकता बुराई के रूप में स्वीकार करना चाहिए।

स्टोइस दर्शन की आलोचना

स्टोइस दर्शन की अनेक आलोचनाएँ पर बहुत भावी-बुरा की गई हैं। कार्नेडीय (Carneades) के अनुसार वह दर्शन मर्यादित और अमानवीय है क्योंकि उसकी सम्बन्ध है। मनुष्य में अनुकूल और इच्छा-पूर्ति की आवश्यकता एक ऐसी

बुल होसी है जिसकी वृत्ति स्टोइक दार्शनिकों की काल्पनिक बर्दश-निष्ठा और प्रत्यक्ष-जनन से सम्भव नहीं है। कार्नेगीज की दूसरी आलोचना के अनुसार स्टोइक दर्शन द्वारा प्रतिपादित नार्चोथीक सिद्धि स्वयं में एक कलम्बा के सिवाय और कुछ नहीं। इस भौतिकवादी दृष्टि के व्यक्ति के विचारों और कर्मों में बड़ा फर्क है। मानव व्यक्ति के स्वार्थपूर्ण कामों की एक 'कम्पाजिबल उपाधि' है। यदि इस प्रकार के प्राकृतिक स्वभाव होता तो हमें स्वयं और सम्पादक से दूतना बड़ा फर्क नहीं दिखाई देता।

जो. सेबाइन के मतानुसार स्टोइक दर्शन राजा के देवी अधिकार के सिद्धान्त की प्रतीका द्वारा करने वाला सिद्ध हुआ। रोमन गुप्त के स्टोइक विचारकों ने गुप्त दर्शन से प्रभावित करके रोमन साम्राज्य के प्रसार का मार्ग प्रशस्त किया और एन्टीमोखा सम्राट बुला (Worship of Emperors) की स्टोइक दर्शन में शामिल किया जाने लगा। राजा की देवी राजा द्वारा सम्भव वाली जाने लगी। स्टोइक विचारकों ने राजा की शक्ति को देविक शक्ति की समझ दी, यह धरती पर राजा की इस शक्ति का प्रतिनिधि स्वीकार किया जाने लगा और जर्ने-जर्ने राजा के देवी अधिकार के सिद्धान्त ने और एकदम लिया। जो. सेबाइन का यह भी धारण है कि स्टोइक दर्शन बहुत ही असम्भव है क्योंकि कभी तो यह विरल जीवन का उदयन पैदा है और कभी सामान्य किसानों का जीवन का निर्माण करता चाहता है। हम यह स्पष्ट नहीं कर पाते कि स्टोइक दार्शनिक साधुवाद चाहते हैं या कर्म की प्रशंसा के दृष्टिकोण हैं। इनका ही नहीं स्टोइक विचारधारा में सिद्धि दर्शन की समुल्लेखों का भी पैदा है।

जो. डनिय ने प्रारम्भिक स्टोइक दर्शन (The Early Stoicism) का धर्मशास्त्रीय और निरर्थक मतवादा है किन्तु थ्यो के रिक्तिक के अनुसार ही मतवादी का कहार बसा है। उसका विचार-निरर्थकता का विचार केवल एक पावन है। डनिय ने यह भी कहा है कि स्टोइक दर्शन का सार्वभौमिकतावाद (Cosmopolitanism) सर्व व्यापक है। विचार-निरर्थकता के सिद्धान्त में भौतिक शक्ति के विरुद्ध एक बौद्धिक प्रतिक्रिया परिलक्षित होती है।¹

जो. टाउबेस (Taubes) के मत में स्टोइक दर्शन वास्तव में प्रत्यक्ष यह नार्चोथीक जीवन के प्रति जगमें कोई उत्साह नहीं था।

यद्यपि स्टोइक दर्शन की सम्पूर्ण नवी आलोचनाएँ सम्पूर्ण हैं तथापि इस बात की प्रेरणा नहीं करती चाहिए कि स्टोइक दर्शन भारतीय दर्शन के अधिकृत है जो धर्मशास्त्र है तथा धर्मशास्त्रीय होने के कारण अर्थव्यवस्था है जबकि वास्तविक विचारधारा के अनुसार जिस राज्य में मुक्तता प्रत्यक्ष बहुमतवाद न हो वह धर्मशास्त्रीय है। स्टोइक दर्शन वास्तव में साम्यवादी दर्शन का विरुद्ध जगत् राजनीतिक नहीं बल्कि धर्मशास्त्र जीवन की शक्ति था। यदि किसी भी दर्शन का प्रसार बिना राजनीतिक

मरुतल के मन्त्रय नहीं हो पाया, यह स्टीडक विचारको ने भी रोमन साम्राज्य का सहारा दिया और साकारावीन राजनीति ने लाभ उठाने की चेष्टा की। यदि यह वस्तु स्थिति की ध्यान में रखा जाए तो स्टीडक दर्शन की धामीयता कुछ निमित्त प्रभाव पड़ जाती।

स्टीडक दर्शन का प्रभाव

जो भी धामीयता की जाए, हम हमसे इनकार नहीं कर सकते कि स्टीडक दर्शन ने दक्षिण क्षेत्रों में घटती विविध रूप छोटी। हम बात में समानता, स्वतन्त्रता और आतुर के घावों की बात निला तथा आधुनिक विज्ञान के स्पष्ट विचार सामने आए। बुद्धि, ध्यान और आधुनिक नियम पर स्टीडक विचारको ने वर्दीय का दिया। उन्होंने मानव-व्यक्ति की सुधारन तथा उसका विनाश करने में काफी महत्व दिया। सांकेतिक आधुनिक वातुन, मार्क्सवैतिकता, मानव की प्रकृति समानता, सांकेतिक मानवियता धर्म के घावों का प्रतिरोधन करके हम विचारधारा ने परकीर्ण कार्यविधि की बात उभरविन किया। हम दर्शन का प्रभाव सांकेतिक यूरोप के उन क्षेत्रों पर पड़ा जिनके द्वारा वे मानव शक्ति थी। जर्मन राज्य के शक्ति में "हमने कर्तव्य-विधि की भावना की बढ़ाकर उस अनुपात में राजनीति पर प्रभाव प्रभाव डाला जिसने कितना ही रोमन प्रजासत्ता के वैदिक प्रजाह की बढ़ाया तथा रोमन कदुन की शक्ति की उभर उभरता। किसी जैसा रोमन सांकेतिक हम विज्ञान से विशेष रूप से प्रभावित हुए। पाल और रॉमरन (रोमन साम्राज्य के प्रधान विधिशास्त्री) ने आधुनिक वातुन तथा वह वस्तुओं के बीच समान रूप से व्याप करने के सिद्धांतों को सुते का दिया।" इसी प्रकार दक्षिण के शक्ति में "मार्क्सवैतिक ने रोमन साम्राज्य के सिद्धांत और व्यवहार की बुद्धि में स्वीकार किए जाने वाले हम विचारों की बहुत कम और सम्पूर्णतः परिष्कारों के साथ हमें वर्तमान रूप की प्रभाव दिया।"

राजनैतिक विचारों के क्षेत्र में यूनान की देन

(Contributions of the Greeks to Political Thoughts)

(1) स्वतन्त्रता का विचार—यूनानियों की स्वतन्त्रता के बात धार था।

जब हमारा पात्रियों के क्षेत्रों के बात हुआ था तब भी मुरी पर यूनानियों ने हमारा के मानने स्वतन्त्रता का घावों प्रस्तुत किया और स्वतन्त्रता की घावों की जीवित रखा। प्रत्येक यूनानी का धार था कि नगर-राज्य की स्वतन्त्रता और नगर-राज्य के भीतर हम की स्वतन्त्रता मुरीकृत रहे। ऐमेन्तावैतिकों को इस बात का दर्थ था कि उनका कोई राजा या स्वामी नहीं है लेकिन औरतमन होते हुए भी यूनानियों की स्वतन्त्रता की यह भावना औररहित नहीं थी। यह हमने उस की कि प्रत्येक नगर-राज्य की 'घरनी-घरनी अपनी, अपना-अपना राज' की स्थिति थी। अपने इस धर्मवैदिक स्वतन्त्रता देश के वरतु यूनानी परतकर सवर्धित व यह उनके और उन्हें पराधीन हो जाना पड़ा। यूनानियों की स्वतन्त्रता भावनाकता से अधिक उस होने के साथ ही संकीर्ण थी थी। ऐमेन्ता भी जो कि एक सर्वोच्च नगर-राज्य था, सभी

के भरा हुआ था। राज्य के उत्पन्नकर्ता होने की स्वतन्त्रता प्राप्त थी। बहुमतवादी दाम और विशेषी स्वाधीनता इनके अधिकार थे। निम्नो की उपाय प्रकीर्ण नगर-राज्यो के स्वतन्त्रता की थी। ऐसे के बराबर का यह भी मुख्य कारण था कि वह दूसरे नगर-राज्यो का विरुद्ध आशय बनना चाहता था। इस तरह गैर के मता से वह कहता उचित होता कि "यूनान ने वर्तमान जगत की स्वतन्त्रता का विचार मान ही प्रदान किया है।"¹

(2) विचार और व्यक्ति की स्वतन्त्रता—यूनानियों की दूसरी दो विचार एवं व्यक्ति की स्वतन्त्रता है जिसे ऐसे के द्वारा ही प्रोत्साहन दिया। मकरात के द्वारा प्रतिदान देकर भी इस विचार का सर्वप्रथम विचार और यह विचार की कि व्यक्ति को अपनी स्वतन्त्रता के अनुसार स्वतन्त्र विचार रखने एवं उसनुसार आचरण करने का अधिकार है।

(3) समानता—यूनान की सौंदर्य विचारधारा ने अनुभवी की समानता और सर्वोच्च अधिकारी पर दत्त दिया। सौंदर्य चरित्रों ने प्राकृतिक नियम तथा विज्ञान-समुच्चय के सिद्धांतों का पोषण किया। समानता के इस विचार की देकर ही अधिकार के सभी और अन्य चरित्रों ने समानता के अधिकार की विशेष महत्त्व दिया जो वर्तमान राजकीय का भी यह एक प्रमुख नीतिगत तत्त्व है।

(4) कानून की सर्वोच्चता—यूनानी कानून का बहुत अधिक सम्मान करते थे। प्लेटो ने 'लाइ' में और अरस्तू ने 'पॉलिटिक्स' में कानून की सर्वोच्चता का बात प्रस्तुत। प्लेटो ने अपने चरित्रिक मता के दूसरे नगर पर राज्य के कानूनों की श्रद्धा दिया। अरस्तू ने मानव प्रभुता के ऊपर कानून की प्रभुता को रखा। कारण वे कानून ही यूनानी नगर-राज्य के सभी को समानता माना सीमित रहता। मकरात ने कानून की रक्षा के लिए ही हथियार-हथियार की शक्ति से ही। कानून की विचार के सभी नगर राज्यों में कानून की सर्वोच्चता की यूनानी परम्परा की भूमिगत मान्यता दी गई है।

(5) नीतिगत का विचार—यूनान के नगर-राज्यों में उनकी नीतिगत विधि और व्यवस्था के कारण प्रत्यक्ष नीतिगत प्रभावों प्रचलित थी। कारण वे नगर नीतिगत के इस दान के लिए यूनानियों का श्रेणी है। यूनानियों का यह विचार था कि राज्य के सभी में प्रत्यक्ष व्यक्ति की भाग लेना चाहिए।

(6) नीतिशास्त्र और राजनीति का सुंदर मिश्रण—यूनानियों की सौंदर्य महत्पूर्ण दो राजनीति और नीतिशास्त्र का सम्बन्ध है। प्लेटो तथा और नीतिशास्त्र के अन्य प्राचीन विचार प्रस्तुत था। अरस्तू भी नीति की पूर्ण समझ ही राज्य का लक्ष्य मानता था। इन दोनों ही महत्पूर्ण चरित्रों ने नीतिशास्त्र और राजनीति के विकाश द्वारा राज्य की सामाजिकता के उच्च स्तर पर जाने का प्रयत्न किया। बाद की राज्य के अधिकारिक व्यक्तियों के कारण प्रमुख सिद्धांत निम्न प्रभुता वाले आ रहे हैं।

¹ Grant : A History of Political Thought, p. 61.

(7) वेष्टमिथि—नगर-राज्यों के प्रति अपने अग्रगण्य वैम द्वारा यूनानिटी ने वेष्टमिथि के धारकों का प्रचार किया। उन्होंने राज्य की सामयिक महत्व तथा इन प्रभाव से व्यक्ति के जीवन की कल्पना ही इनके विषय की थी। शास्त्र भी राज्य का यह सर्वप्रथम स्वरूप हमारे समक्ष दिन-प्रतिदिन साम्यमय स्पष्ट होता जा रहा है।

(8) राज्य और व्यक्ति की एकता—यूनानिटी ने राज्य और व्यक्ति की एकता तथा राज्य के जैविक सिद्धान्त (Organic Theory) का प्रतिपादन किया। ब्लेटी एवं वरसू दोनों ने बड़े प्रभावशाली ढंग से यह बताया कि राज्य व्यक्ति का विस्तार का है और इन दोनों के हितों में किसी प्रकार का भेद नहीं हो सकता। वरसू ने यह जोर दिया कि यदि कोई व्यक्ति राज्य के बिना रहता है तो वह या तो देखा होता या मरता। यूनानी विचारकों की राज्य और व्यक्ति की एकता की यह धारणा प्राधुनिक फासिस्टों और फासीवादियों ने स्वीकार की है।

(9) सम्बन्धी मार्ग का विचार (Theory of Golden Mean)—यूनानी धार्मिकों ने सम्बन्धी मार्ग का बड़े प्रभावशाली ढंग से प्रतिपादन किया। ब्लेटी और वरसू ने इस मार्ग की धारणा को दोहराया कि सम्बन्ध की सामयिक प्रभावशाली प्रभावशाली है तथा यदि सम्बन्ध और प्रति विचार व्यक्ति को वास्तविक राज्य ज्ञान एवं विचार नहीं रह सकता। यह वास्तविकी की जड़ देता है। यूनानिटी ने यह धारणा आज भी जितनी मजबूत और स्पष्ट है, उन्ने लिखने की आवश्यकता नहीं। इनके धार्मिक ब्लेटी और वरसू का विभिन्न संविधान का सिद्धान्त भी प्राधुनिक विचारों की एक महत्वपूर्ण देन है।

स्पष्ट है कि यूनानी राजदरशन की प्राधुनिक चिन्तन की प्रत्येक महत्वपूर्ण देन है। ब्लेटी और वरसू जैसे यूनानी धार्मिक विचारों का प्राधुनिक धर्म के समय में से, उन्ने ही प्राधुनिक धर्म भी है और कल भी रहेगा।

ईसाई सिद्धान्त : सन्त ऑगस्टाइन एवं अन्य

(The Christian Doctrine : St. Augustine and Others)

ईसाई धर्म का सम्बुदय और विकास (The Rise and Growth of Christianity)

पश्चिमी यूरोप के इतिहास में, राजनीति और राजनीतिक जीवन दोनों की दृष्टि से, ईसाई धर्म का सम्बुदन सबसे महत्वपूर्ण घटना थी। इस धर्म का सम्बुदन रोम साम्राज्य से हुआ था। रोमन सम्राट ऑगस्टस (29 ई पू से 14 ई तक) के समय, जब रोमन साम्राज्य चरम कर्कश पर था, रोमन प्रान्त पैलेस्टाइन के यहूदियों ने 4 ई पू. में महान्या ईसा का जन्म हुआ। 30 वर्ष की वयन अवस्था में ही महान्या ईसा ने तत्कालीन यहूदी धर्म में प्रचलित गुराहों को दूर करने के लिए विभिन्न प्रदेशों में घूमते हुए प्रचार आरम्भ किया। इस प्रचार से मूग्ध होकर यहूदियों ने उन्हें पकड़वा कर रोमन राजशासन वाइसेट के सामने प्रस्तुत किया। राजदोह का परिचय लेा। 29 ई. के दस महान्या को जेसलैम की एक गहाड़ी पर हुली पर चढ़ा दिया गया। महान्या ईसा के अभिधान में गुबार धाम्बोलन में वह प्राण फुँट दिए। ईसा के 12 शिष्यों (Apostles) ने अपने गुरु की शिक्षाओं का प्रचार जारी रखा और रोमन साम्राज्य के पतन के साथ-साथ ईसाई धर्म का सम्बुदन देखी से होने लगा।

ईसाई धर्म का प्रथम पहचानने के सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य दारुन विपत्ती काय पति (समय 16-64 ई.) ने किया। काय पति यहूदियों में और ईसाइयत के पोर विरोधी थे। किशक्यों के अनुसार एक बार दमिष्क के पास रोमदर के समय उन्हें बाफला में बालन दीव दिम्प प्रकाश में महान्या ईसा के दर्शन हुए और वह बाफावकाशी मुनाई दी कि ईसाई धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है भला उसे उन जातिनो और देशों में फैलाया जाए। काय पति ने जब यह कहते हुए कि ईसाई धर्म में ही निम का समाप्त हो सकता है, अपने शक्तियों के साथ 20 वर्ष तक रोमन साम्राज्य के विभिन्न भागों में इस धर्म का प्रचार किया। काय पति ने कहा कि ईसा की दृष्टि में सब व्यक्ति समान हैं। उन्होंने विविध स्थानों पर धर्म स्थापित किए और

इन्हीं एक मुद्दों पर ध्यान दिया। उनके धर्म प्रचारों के पाश्चात्य ईसाई धर्म का व्यापक हो गया। रोमन साम्राज्य की परिस्थितियों ने ईसाई धर्म के प्रसार में काफी सहायता दी। एक तरह की साम्राज्य भर में फैली सड़कों ने ईसाई जनताओं को सर्वत्र मान-मान की सुविधाओं की परिस्थितियों प्रदान की और दूसरी तरह रोम के पुराने प्रशासनिक धर्म (Paganism) के बाह्य आदर्शों और धर्म मान्यताओं को धर्म एक सुखी ईसाई धर्म की ओर 'सांकेतिक विचार'। रोमन साम्राज्य के कठोर से लड़ी और प्रान्तीय जीवन से प्राप्त अवस्था के लिए यह सम्भव न था कि ईसाई धर्म जैसा सुन्दर, स्पष्ट और समझने के योग्य धर्म की सामने आकर भी वह भय-आय और साम्राज्य-व्यवस्था उदाहरणों के बिना ही रद्दी। ईसाई धर्म के धर्म और सुगम सिद्धांतों ने बहुत जल्द ही निम्न वर्गीय समाज में गहरी प्रजा का गहरा किया। यह समाज कभी से ही इस धर्म की स्वीकार करने लगा। चौथी शताब्दी में बहुत जल्द ही रोमन समिति ने ईसाई धर्म प्रसार कर दिया और ईसाई साम्राज्य की स्थापना करने से इनकार कर दिया। इस जड़ित राजनीतिक समस्या और लड़ाई से उभरने के लिए बिना होकर साम्राज्य कास्टेडान (Constantine) ने नवीन धर्म (ईसाई धर्म) की स्वीकार कर दिया। इसी प्रकार राजनीतिक कारणों से दूसरे 380 ई. में रोम सम्राट थियोडोसियस (Theodosius) ने साम्राज्य का एक मात्र धर्म-विहित धर्म घोषित कर दिया। इस तरह ईसाई धर्म न केवल धर्म एक व्यवस्था की हल्का-पहलू बिना-लगातार प्रसार की जल्द ही प्रसारित हो गया और साम्राज्य माने का धर्म स्थापित कर दिया।

ईसाई धर्म की इन अनुपम सफलता के भूत न प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान (Gibbon) के अनुसार मुख्यतः ये कारण थे—(1) ईसाई जनताओं का धर्म उन्माद, (2) धर्म जीवन का सिद्धांत, (3) धर्म के धर्म के व्यक्तियों की समझौतापूर्ण नीतियाँ, (4) ईसाईयों का सुन्दर एक धर्म प्रचारण, तथा (5) ईसाईयों की प्रजा, अनुमानों और धर्म का प्रसारण।

ईसाइयत की विजय के परिणाम (The Effects of Triumph of Christianity)

ईसाई धर्म द्वारा धर्म 'प्रतिष्ठानों धर्मों को दबाकर देना और साम्राज्य का एकमात्र राजनीतिक धर्म के रूप में प्रतिष्ठित हो जाना साम्राज्य में एक धर्म-व्यवस्था प्रस्थापित करने का इतिहासिक प्रजा की। ईसाई धर्म की इस ऐतिहासिक विजय के कई दूरगामी परिणाम हुए। इनमें साम्राज्य तथा अन्य ईसाई धर्म में गहरी परिवर्तन हुए।

(1) ईसाई धर्म में लड़कता और कट्टरता का जन्म—ईसाई धर्म धर्म समुदाय का एक विभाजन करने और धर्म का धर्म में ही रहा, उन्होंने लड़कता और कट्टरता का रई। राजनीतिक धर्म के रूप में धर्म में जाने पर ईसाई धर्म को मान्यता एक रईय हो गया, पर धर्मों का यह धर्म-परिवर्तन केवल साहस का।

कहते ईसाई धर्म की इतिहास बहुत कम या शरीर के लिए राजनीतिक समस्या का था । इस तरह उनका धर्म-परिचय किसी दूसरे-परिचय का परिचय नहीं था और उनमें ईसाई धार्मिक सिद्धान्तों के प्रति बहुत विषय का जो भी हो नहीं था इसका बहुत कम प्रभाव था । उनके मन और चित्तिक ने प्रभावित, पैर-ईसाई विचार और व्यवहार पर किन्हीं कुछ के विषयों ईसाई धर्म की चित्तिक समस्या और परिवर्तन को प्रभावित किया । यह व्यवहार ने ईसाई धर्म का वह स्वरूप नहीं रखा जो ईसा और उनके शिष्यों ने जनता के सामने प्रस्तुत किया था । विषय का ईसाई धर्म की नहीं हुई जिसका प्रसार ईसा तथा उनके शिष्यों ने किया था, बल्कि उस ईसाई धर्म की हुई जो मैरी (Mary) के शिष्यों ने—“एक भविष्य की पुनर्जाति जिसे ईसाइयत के कुछ लोग और उन सभी पैर-ईसाई धर्मों में से उधार ली हुई बातों के साथ मिले हुए ने जिन्हें उनके पुरातन कर दिया था ।”

(2) ईसाई धर्म का एक धार्मिक-राजनीतिक शक्ति बन जाना—ईसाई धर्म का एक व्यापक धार्मिक धार्मिक बन रहा कर एक धार्मिक-राजनीतिक शक्ति बन गया । यह वह राज-धर्म बन गया जो अनेक परिस्थितियों ने इसके विचारों और व्यवस्थाओं ईसाई मठों (Christian Churches) की शक्ति प्रदान की । रोम ने यह न केवल ईसाई धर्म के प्रतीक रहे बल्कि उसका संचालन भी रोमन साम्राज्य के राजनीतिक संचालन के साथ एक साथ बना क्योंकि रोम के राजनीतिक संचालन व इन मठों के संचालन का आधार सामाजिक ही था । इन मठों के प्रधान और राजनीतिक संचालकों के प्रधान का चुनाव बहुमत द्वारा होता था ।

राजकीय धर्म बन जाने पर मठों का व्यवस्था धर्म का सम्मान बढ़ गया । राज्य ने अनेक करने के उपरान्त धर्म केवल धार्मिक परिधि तक ही सीमित न रहा बल्कि राजनीति के सभी मामलों में दखल दे करने लगा । इसका कारण यह था कि राज्य के उत्तराधिकारी निर्वात एवं राजकीय शासक ने अनेक इन मठों से सेवा लेने थे । राजनीतिक कला की दुर्बलता का सामाजिक परिवर्तन यह हुआ कि धार्मिक नेता राजा पर अधिकार की चेष्टा करने लगे । धर्म राज्य का एक विभाग बन गया और उसके प्रमुख सदस्य सभी विभागों सरकार के जाने हुए अधिकारी बन गए । धर्म के से अधिकारी अधिकारिक भाषा ने राजनीतिक शक्ति को बढ़ाते गये । सामन्त व्यवस्था (Feudal System) के सुविधित होने के साथ विचार, एक एवं न्याय पारसीय राज्य के केवल बन गए । धर्मों ने विचार सम्पत्ति प्राप्त कर ली । पारसीय रोम सामन्ती राजनीति के तुलना में इतना फीट था कि साम्राज्य के उत्तराधिकारी के राज उस लगे होने पर वे बाहरी पुनर्जाति के पदकों और राज्यों से भी बाधित नहीं रहे । यह राज्यता के साथ-साथ बिल्कि उनसे भी बढ़ कर ईसाई धर्म ही रोमन विचारों का प्रतिनिधित्व करने लगे । इन तरह ईसाई धर्म का स्वरूप धार्मिक सामन्तीय का नहीं रहा बल्कि उसने धार्मिक और राजनीतिक शक्तियों का सम्मिश्रण हो गया ।

(3) रोम के रोम की कला कला रोमकाही (Pompae) का विकास— ईसापूर्व के राज्यधर्म बनने से रोम के रोम की कला का तेजी से विकास होने लगा। पहले ईसाई धर्म का संगठन स्थानीय एवं लोकतन्त्रात्मक था। उसमें ऐसी कोई राष्ट्रीय शक्ति नहीं थी जो स्थानीय एवं प्रांतीय शासकों पर नियन्त्रण रखती। मगर साम्राज्य के पथी बड़े जुड़ने से धर्म स्थापित से मिलके विचारों को पथीय स्थानगता थी। मगर वे धर्म के विकास का प्रांतीय विचारों पर सबसे कुछ नियन्त्रण का विन्धु स्वयं मन्त्रीय विचारों से सभी का दर्जा अवश्य बराबर-सा था, धर्मात् कोई एक-दूसरे के धर्मीय न था।

ईसापूर्व के राज्यधर्म बन जाने पर धर्म के स्वरूप में बड़ा अन्तर पाने लगा। सब रोम का विचार सम्राट के धार्मिक सहायक के रूप में कार्य करने लगा। इस ही सम्राट के वैधानिक सहायक के रूप में भी प्रशंसा सम्मान बढ़ने लगा। वही ऐसा धार्मिक बन गया वही के सभी प्रकार के धर्म एवं धर्म सम्बन्धी मामलों सम्राट के पास मुनवाई के लिए जाते थे। रोमों के इस विचार से भी कि रोम के धर्म की स्थापना महात्मा ईसा के प्रमुख शिष्य संत पीटर द्वारा हुई थी, रोम के धर्म का स्वरूप धर्म धर्मों के धार्मिक होने लगा और उसका विचार ईसागोत्र का सामर्थ्य उत्तरोत्तर बढ़ने लगा। रोमी शासकों में एक कैथोलिक कुतर्क नहीं मिलने मिलने कि विचार सम्बन्धी विचारों से स्वयं की मुनवाई का सर्वोच्च धार्मिकारी रोम का विचार होना। रोमी शासकों में रोम के रोम की प्रशंसा में और भी बृद्धि हुई। धर्म के रोमन सम्राट केनेनटाइनियन मर्यादा केनेनियन कृषीय (425-453 ई.) से रोम के विचार की धर्म का सर्वोच्च धार्मिकारी बना दिया और वह रोमका की कि रोम का विचार धर्म विचारों के ऊपर है। सब रोम का विचार साम्राज्य के सभी भागों से पाने वाले धार्मिक विचारों की धर्मीय होने वाले सर्वोच्च धार्मिकी स्थापना के धर्मीय निकलने लगे। इस प्रकार उक्त एक बड़ी रोमका तक सब विचारों पर प्रशंसा प्राप्त हो गई। रोम ईसाई धर्म का केन्द्रीय स्थान बन गया। धर्म का महान होने लोकतन्त्रात्मक या विन्धु सब केन्द्रीयकरण की दिशा में तेजी से बढ़ने लगा।

कांस्टान्टिन रोमन साम्राज्य की राजधानी रोम से हटकर कन्स्टान्टिनोपल (Constantinople) का पहुँची। कांस्टान्टिन रोमन साम्राज्य से धर्मों में बँट गया। पूर्वी भाग की राजधानी कन्स्टान्टिनोपल बनी। पश्चिमी भाग का केन्द्रीय स्थान रोम बना रहा। ईसापूर्व की राज्यधर्म बनने वाले कन्स्टान्टिनोपल से शासन से 476 ई तक पश्चिम में रोमन साम्राज्य के पथी तक की मर्यादा 150 वर्षों में धर्मक बराबरी के रोम के विचार की प्रशंसा बढ़ती रही। धर्म धर्मों के धार्मिकों का धर्मोत्तर करने में धर्मों और धर्मोत्तर रोमन सम्राटों की धर्मोत्तर इरोपीय धर्म (402-417 ई.) एवं धर्मोत्तर (440-461 ई.) धर्म धर्मों के धर्मोत्तर रोमका और धर्मोत्तर का पश्चिम दिशा। रोम धर्मोत्तर धर्म का धर्मोत्तर पर धर्मोत्तर धर्मोत्तर। धर्मोत्तर धर्मोत्तर 452 ई में धर्मोत्तर धर्मोत्तर (Atala) के रोम की धर्मोत्तर

नगरी (Eternal City) की बनने काकमलु से बापुत रखा और केवल इतनी से विनाश का तीव्र मय कर आपस हुये लौट गया । इसके बाद सन्ध बनत वर पीन का प्रभाव छा गया । इसके अतिरिक्त रोमन वर्ष से सत एम्पोज, जेरोम चीन बापिस्ताइन जैसे रोमन और विनाशगु महापुरुषों से अन्य दिना । एम्पोज ने अनेक बार सम्राट के आदेशों का सकल प्रतिरोध करने, जेरोम ने ईसाई मिशुओं के आदेशों को स्थापित करके और बापिस्ताइन ने 'ईश्वर की नगरी' (City of God) ने वर्ष की उत्तम कला का प्रतिपादन करके पीनवाही की अनेक प्रभाव-उत्पन्न बनाया । 476 ई. में सम्राट ऑगुस्टस (Augustus) के मर्ी से उत्तरे जाने के बाद रोम का पश्चिमी साम्राज्य विज-विज हो गया और रोम के विनाश की प्रवृत्ति के बहुत बृद्धि होने लगी । इस समय पश्चिम के कर्नर राज्यों में बड़ी एकमात्र सम्पत्ता और सभ्यता का प्रतीक रह गया । रोम साम्राज्य का राजधानी कुस्तुनुमियाँ के बहुत दूर होने के कारण रोमा बिना नगर में सबसे महानपूर्य अधिकाधी रह गया । अन्ततः उस समयी स्वतन्त्र गता विकसित करने का स्वर्ण अवसर मिला । अन्ततः दुर्ी वर्ष और पश्चिमी वर्ष (जो अमल कृतनी केवीनिक वर्ष और रोमन केवीनिक वर्ष के नाम से विख्यात हुए) एत-दुनरे म पूरुह हो का जिसमें रोमन विनाश पश्चिमी वर्ष का सर्वेसर्ी हो गया । इन तरह पीनवाही का काम हुआ । 6वीं सताब्दी में इटली पर लम्बाई आगि के आक्रमण में इटली की रक्षा करने में सम्राट के अन्तर्न होने पर पीन ईश्वरी अवय (590-604 ई.) ने सम्राट की और के नवाही के नाम स्थापीता किया । इधी समय से बहुत रोम का और बाद में इटली का राजनीतिक प्रमुख वस्तुतः पीन के रूप में छा गया । आर्थिक क्षेत्र में अन्तर्ाही के लक्ष स्वाधीन आर्थिक सम्पत् के रूप में प्रतिष्ठित होने में अधिकाधिक पूर्ी मन्नाही की अनन्तर्ना ने बड़ी सहायता दी ।

राजनीतिक क्षेत्र में कर्नीय अतिवानी हो जाने पर भी पीन गवेक्षा (Ravenna) के स्थान मन्नाट के सीमाकर्ी इधेनों के मानक (Etruschi) की समकाल की प्रवृत्ता स्वीकार कछत रहे । लेकिन 7वीं सदी में रोम का उनका प्रभाव विपुल-ना हो गया क्योंकि उन्हे अथनी सन्तुर्ी अति रोम पर हुए इसामी आक्रमण का सामका करने में असमर्थी पड़ी । इधी समय रावेन्ना विजय के लिए लम्बाई आगि ने इटली पर पुनः आक्रमण कला आरम्भ कर दिया । चूँकि रोमन सम्राट में पीन मन्नाता मिलने की कोई धाया न थी का इटली की और अथनी रक्षा के लिए सत सैन्त के नाम पर पीन ने अतिवानी कीक आगि के नेता चार्ल्स मार्टन में अर्पना की मिलने मन्नाही की मन्नाकर इटली का एव रोम का आसन पीन की दे मिला । पीन ने इनमें अन्त में पेपिन (Pepin) को, जो चार्ल्स मार्टन का पुत्र था, पीन आगि का वर रखा स्वीकार किया । बाद में पेपिन के पुत्र चार्ल्सम (Charlemagne) अथवा चार्ल्स महान् (768-814 ई.) द्वारा अधिकाधिक पश्चिमी यूरोप का पीन नेन पर पीन नियी कृतिन (795-816) ने उन्हे पुनर्ने रोमन मन्नाट का उपाधिकारी मानने का निगन मिला और 800 ई. में पीन की रीट पीन ने

निर्देश में क्रिस्तमय के दिन उसके सिर पर सम्मोह का मुकुट रखा गया। इस प्रकार सब उस पवित्र रोमन साम्राज्य (Holy Roman Empire) का प्रारम्भ हुआ जिसके बारे में 18वीं सताब्दी में वाइटेवर ने यह लिखा था कि "यह वही पवित्र है, न रोमन है और न साम्राज्य है।" पोप जिसो तृतीय द्वारा चार्ल्स महान् का अभिषेक किया गया था उसी के प्रति सम्मान प्रकट करने का संकेत था, क्योंकि चार्ल्स अपनी शक्ति से साम्राज्य जीत चुका था। लेकिन इस घटना से स्पष्ट चल कर यह सिद्धान्त विकसित हुआ कि पोप द्वारा नामन-समाप्त सम्राट की प्रधानता की गई है, अतः पोप के धर्मियों का पालन करना सम्राट का कर्तव्य है। बाद में जब सम्राटों द्वारा सिद्धान्त की धर्मोन्मूलक किया जाने लगा तो पोप और सम्राटों के मध्य तीव्र लक्ष्मण का उदय हुआ। इन भावी घटनाओं का उत्तेजक महात्मान किया जाएगा। यही इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि पोप राजवाला सम्राट ने सर्वोच्च धर्मगुरु बन गया। धार्मिक मामलों में राजा भी उसके अधीन हो गया। इसी में पोप का सुबुद्ध साधन स्थापित हो गया और धर्मियों के रक्षा के लिए उसे सम्राट जैसा विष भी सम्राटों की ओर पर मिला गया।

(4) धर्मिक के विकास को प्रभावित करना—ईसाई धर्म की विजय का सन्निध उत्प्रेक्षणीय परिणाम यह हुआ कि हमने अपने सत्ताधियों एक धर्मिक के विकास को प्रभावित किया। साम्राज्य का एकमात्र और कानूनी धर्म बन जाने पर विभिन्न धर्मों के अनुसन्धियों के उत्तर दुर्धितियों में ईसाई धर्म विमुक्त हो गया और इसी साम्राज्य के भीतर धर्म धर्मों की लड़क करने के उन्मूलक कर दिया। जब मुख्यतः इस साधारण पर पैर-ईसाई धर्मों का नियमित रूप सम्बद्ध उत्प्रेक्षणीय कारण हुआ कि ईसाई धर्म ही परमाणु द्वारा स्थापित एकमात्र सच्चा धर्म है, अतः राज्य का पालन कर्तव्य है कि वह प्रत्येक ऐसे धर्म को कुचल दे जो धर्मों की परमात्मा से विमुक्त करने वाला है। इस सिद्धान्त की साद में राज्य द्वारा पैर-ईसाई को कुचलने की प्रवृत्ति लगातार एक हजार वर्ष तक प्रभाव रही। इस सम्बन्ध संबंधि में "मानव-दुष्टि कट्टरता की जनीरी में उन्मूलक रही और दर्शन-सारण ईसाई धर्म के रूप की कट्टरताओं बना रही।" यही कारण है कि मध्य युग की मान्यता-युग तक यह दिना जाता है, क्योंकि उस युग के धार्मिक वातावरण में मान की उन्मूलक बीरा का प्रभाव ही नहीं था।

ईसाई धर्म का प्रारम्भिक राजनीतिक चिन्तन (Early Political Ideas of Christianity)

केसाइन ने लिखा है कि "धर्मियों युरोप के इतिहास में राजनीति और राजनीतिक दर्शन दोनों की दुर्धितियों में ईसाई धर्म का सम्पूर्ण सबसे महत्वपूर्ण घटना थी।"¹ ईसाई मत के प्रारम्भिक राजनीतिक दर्शन की सुन्दर भवक हमें 'न्यू टेस्टामेंट' (New Testament) एवं महात्मा ईसा के 12 शिष्यों (Apostles)

की विचारधारा में मिलती है। ईसाइयत धारम्भ में कोई राजनीतिक विद्वान्त या आन्दोलन न होकर केवल एक धार्मिक आन्दोलन था। दर्शन व्यवसाय राजनीतिक विद्वान्त के सम्बन्ध में ईसाइयों के विचार पैगोन्स (Pagans) में मिलते-जुलते थे। स्टोइको की भाँति ईसाई विचारक भी प्राकृतिक-विधि (Law of Nature), जगत् के ईश्वरीय शासन, न्याय के सम्बन्ध में विधि और शासन के दायित्व तथा ईश्वर की दृष्टि में सभी मनुष्यों की समानता में विस्वास रखते थे। इन प्रकार के विचार ईसाई धर्म के उदय के पूर्व ही व्यापक रूप से स्थापित थे। 'यू टैस्टामेंट' के अनेक अवसरों पर ज्ञात होता है कि वे विचार ईसाई धर्म के उद्गम से सम्भावित कर लिए गए थे। प्राकृतिक विधि, मानव समानता और राज्य में न्याय की आवश्यकता के सम्बन्ध में धर्म के सहायक सिद्धांतों (Catecho) और सेनेका से सहमत थे। यह सही है कि पैगोन्स केवल एक अश्वत्थ-वैदिक विधि से परिचित थे, जो ईसाइयों के विचार से गहरी या ईसाई धर्मग्रन्थों में विहित है, लेकिन अश्वत्थ-वैदिक का विस्वास इन विस्वास से अलग नहीं था कि प्राकृतिक विधि ईश्वरीय विधि है। ईसाई धर्म के स्थापनाकर्त्ता ने ईसाइयों के लिए यह भी आवश्यक उद्घाटन दिया था कि वे विहित सत्ता का आदेश विरोधार्थ करें।

ईसाइयत में स्टोइक आदर्शों के सम्मानता रखने वाले मानवीय समानता, निष्क-आधुन्य, सार्वभौम, प्राकृतिक विषय, राज्य के प्राधुन्य धर्म के सम्बन्ध में जो पहले अज्ञात राजनीतिक विचार रहे थे रोमन साम्राज्य के उदयकर्म में गहरे हो गये थे और निम्न धर्म ने इनका प्रचार होने पर वे सर्वमान्य हो गए।

इन अज्ञात धर्मों के बाद यह देखना उपयुक्त होगा कि 'यू टैस्टामेंट' में ईसाइयत के निम्न धार्मिक विचार के दर्शन होते हैं—

(1) प्राकृतिक नियम का विचार—ईसाई धर्म के नेताओं ने प्रकृति के नियम का विचार स्टोइको से लिया था। ईसाइयों ने राज्य द्वारा निर्धारित नियम और प्राकृतिक नियम में अंतर स्थापित किया और बताया कि प्राकृतिक नियम मानव की निम्न दृष्टि के द्वारा प्रदर्शित होता है। यह निम्न एवं अविच्छिन्न है। प्राकृतिक नियम की ही ईश्वरीय नियम (Divine Law) समझा जाना चाहिए।

(2) समानता और अलग-अलग समानता का विचार—ईसाई धर्म ने मानव समानता और निष्क-आधुन्य में अलग-अलग अंतर की लेकिन राज्य-व्यवस्था के उद्गम का समर्थन नहीं किया। समानता की अनेक अलग-अलग व्यवस्था में इतनी गहरी पुनर्निर्माण की ईसाई धर्म के धार्मिक अवधारणा 'राज्य' की व्यवस्था के विरुद्ध प्रचार करने का साक्ष्य नहीं कर सके। ईसाई धर्म के उद्गमों ने यह घोषित करके ही मानव-मानव कर दिया कि वास्तविक जीवन सामाजिक या व्यक्ति राज्य-व्यवस्था केवल भौतिक सम्पत्तियों की प्रदर्शन करती थी। मन और और अन्य चीजें जैसे नेताओं की भी यह विस्वास नहीं था कि समान की व्यवस्था में अलग-अलग व्यवस्था का उद्गम किया जा सकता है। इन उद्गमों में प्राकृतिक नियम के विरुद्ध घोषित नहीं किया गया केवल गरीब प्रचार

किसी कि दासी के साथ बना या पान-बहार किया गए। अन्य भीत के रक्षा कि दास प्रका से कारखानों से उचित है—(१) इस प्रकार का उद्देश्य समाज में सुरक्षा की विशेष करता है। मनुष्य अपने पापों के कारण दास बनता है। जो भी पापी समाज की हानि न पहुँचा सके, इसलिए उसे अपने बचपन के दौरान रक्षा चाहिए। (२) स्वयंभवा अन्तर्गत कथन मन एवं धारणा की सामाजिक दमन है। दासता केवल भौतिक बन्धन है। यदि भारतवा बुद्ध है तो वह बन्धन नष्टकरेगा है। इन बन्धन को यह मानकर समाज किताब बनाया चाहिए कि समाज में पापों की वहीदा से रक्षा है।

(3) राज्य का सम्बन्ध एवं परिधिस्थ—ईसाई मत के राज्य सम्बन्धी विचार ईसाई सन्ती द्वारा रोमनों की निम्ति यह बनने (Epistles to the Romans) में विद्यमान हैं। इनके अनुसार राज्य की सामल-सामस्य ईसाई द्वारा की गई है। मूल परीत द्वारा रोमनों की निम्ति यह बनने के अनुसार -

[illegible]

इस तरह ईनाई धर्म के अनुसार राज्य का उद्देश्य स्थापित करना है। धर्म के बिना राज्य हीन क कारखाने की भी समान भाव की लागू होती है वह भी नहीं है। धर्म राज्य के अधिकारियों की भावना मानने वाली चाहिए। सामंजस्य स्थापना द्वारा राज्य को हम देशी व्यवस्था का प्रतिपादन करना चाहते हैं और जो लोग नहीं हैं वे ऐसा न करने को राज्य शुरू के ही उन्हें चुनने देता। लेकिन धर्म की यह भी है कि राजकीय व्यवस्था-व्यवस्था के कर्तव्य को हमने अधिक धर्म और प्रभावशाली भावना से भावना भी नहीं किया यह कहता है। ईनाई धर्म की उत्कृष्ट भावना न चाहते। एक सामंजस्यारी व्यवस्था निर्मित है। इससे वह अभावपूर्ण भाव है

कि मनुष्य का उत्तम्य दोहरा है—एक राज्य के प्रति है या दूसरे ईश्वर के प्रति । दोनों में समर्थ की स्थिति के एक मध्ये ईसाई का धर्म ईश्वर के प्रति अपने कर्तव्य की विभाता है । राज्य-भक्ति पर सैद्धान्तिक रूप के मत में के बावजूद इस शिक्षा में एक ऐसे राज्य के संबंध होते हैं या राज्य की निरंकुश शक्ति का विरोधी है । ईसाई धर्म का यह कथन है कि “लौकिक विषयों व राजा की धीरे प्राणीकृत स्थिति में ईश्वर की आज्ञा का मानन करो”—दूसरी दार्शनिकी के इस सिद्धान्त पर करारा प्रहार है कि “भक्ति जीवन के समस्त भूतों की प्राणि राज्य की सदस्यता द्वारा ही कर सगता है ।”

(4) सम्पत्ति-विषयक विचार—‘न्यू टैलेंटमेंट’ में ईसाई धर्म की सम्पत्ति की साम्यवादी विचारधारा मिलती है, परन्तु यह धर्म की साम्यवादी विचारधारा के विरुद्ध है । इसमें केवल यह कहा गया है कि सम्पत्ति का बँटवारा अधिक समानता के आधार पर होना चाहिए । इसमें मनुष्य की मानन करने या राज्य की शक्ति द्वारा सम्पत्ति पर राज्य द्वारा अधिकार करने की भावना नहीं है बल्कि यह दर्शाया गया है कि धर्मियों के द्वारा में समानता के भाव राजा और दया के भावों पर आधारित होने चाहिए । ईसा ने अपनी शिक्षाओं के धर्मियों की धीरे निम्ना करते हुए कहा था कि “यह सम्भव है कि जैत जूरी को लोक में से निकल जाए किन्तु यह असम्भव है कि धर्मिक धर्म के द्वार के से निकलकर उनमें प्रविष्ट हो सके ।” ब्रूकि महत्त्वा ईसा का मन्त्र सर्वप्रथम निर्देशों में ही फैला था, वह उनके शिष्यों ने प्रारम्भ में वैदिक सम्पत्ति के रहित साम्यवादी समाज की कल्पना धीरे सम्पत्ति पर सांख्यिक स्वाधिन की भावना की थी । १ के इसकी साम्यवादी भावना की समझने में उपाधिः उनका कहना था कि धर्मो धर्मियों का यह कर्तव्य है कि वे निर्देशों की माननी या मान करें । उन्होंने अपने सिद्धान्त को राज्य के साम्य से मानू करवान का प्रयत्न नहीं किया । ईसाई का यह प्राथमिक सिद्धान्त उस महत्त्व के बदल गया जब धीरे-धीरे पाँचवी सदी तक धर्म के मान विज्ञान सम्पत्ति एकत्रित होने लगी ।

(5) दोहरी प्रकृति (Dualistic Nature) का विचार—जहाँ दूसरी धीरे रोमन विचारों ने धर्म एवं राज्य-भक्ति में कोई भेद नहीं किया तथा राज्य के साम्यवादी एवं लौकिक दोनों प्रकार के कार्य मतलब नहीं ईसाई मत में हमने भेद माना । ईसाई ने धार्मिक कार्यों के लिए धर्म का राज्य में दूसरे एवं स्वतन्त्र स्थिति स्थापित किया । उन्होंने धर्म की राज्य के अलक्ष्यता प्रदान की धीरे यह विचार प्रकट किया कि पाप की धीरे प्रकृत मनुष्यों का उद्धार करने के लिए अन्तर्गत ईश्वरों की देखता रहा है तथा ईश्वरों की भी ऐसे ही एक ईश्वर में । यह उनके बाद यह कार्य उनके द्वारा स्थापित किए धर्म के हो रहा है ।

(6) परिवार धीरे वैदिक अधिकार की पुनर्जीवित करना—धार्मिक ईसाई ने परिवार तथा वैदिक अधिकार की भी पुनर्जीवित किया क्योंकि इसमें उस नवीन साम्यवादी व्यवस्था की एक बड़ा आधार मिलता था जो उस समय राज्य के

रही थी । रोमन साम्राज्य के समय सम्राट् पर फ़िरा का नियन्त्रण राज्य के ह्वाय के कारण नष्ट हो गया था । साथ ही विवाह को एक कानूनी सम्झौता माना जाने लगा था जिसे दोनों पक्ष स्वेच्छा से करी और छोड़ सकते थे । प्रारम्भिक ईसाइयों ने मिलते हुए वैधूक अधिकार और दुर्बल होने हुए पारिवारिक सम्बन्धों को सम्बल प्रदान किया । उन्होंने दोनों पक्ष पुनर्जीवित करने का सफल प्रयास किया । एक तरह उन्होंने फ़िरा के सम्राट् पर पूर्ण नियन्त्रण रखने के अधिकार को साम्बाध की ओर दूसरी तरह विवाह की ऐसा व्यवहार माना जिसे मन नहीं किया जा सकता । स्थिति यह हो गई कि "परिवार के ऊपर परिवार के प्रधान का अधिकार राज्य के अधिकार का प्रतिद्वन्द्वी बन गया । सब प्रत्यक्ष ईसाई मुख्य राजनीतिक शक्ति की पुनर्प्राप्ति के पक्ष में पर्वर्तिक सम्बन्ध दृढ़ विचारों था कि विवाह एक बलिष्ठ सम्बन्ध है और ईश्वर ने उसे परिवार का प्रधान बनाया है । इस पर पर अपने को ईश्वर द्वारा विमुख समझते हुए यह सरकारी अधिकारियों की ओर से कोई हस्तक्षेप सहन करने के लिए तैयार न था । प्रारम्भिक ईसाइयों द्वारा परिवार इकाई की पुनर्जीवित करना राजनीतिक समाज की एक नवीन व्यवस्था के निर्माण की ओर उनका पहला महत्त्वपूर्ण कदम था ।"¹

ईसाई आचार्यों का राजनीतिक दर्शन

(Political Philosophy of the Fathers of the Church)

'न्यू टेस्टामेन्ट' के बाद ईसाइयों के राजनीतिक विचार होने ईसाई धर्म के प्रमुख आचार्यों की विचारों की ओर कृतियों में मिलते हैं । इन्हें ईसाई पिता (Church Fathers) कहा जाता है । रोमन कैथोलिक धर्म में पाँच व्यक्ति प्रधान रूप से ऐसे आचार्य (Fathers) माने जाते हैं—

1. सन्त एग्नेसियस (लगभग 293-373 ई.),
2. सन्त अम्ब्रोस (लगभग 340-397 ई.),
3. सन्त जेरोम (लगभग 340-420 ई.),
4. सन्त ऑगस्टाइन (लगभग 354-430 ई.) एवं
5. सन्त बेनरी (लगभग 540-604 ई.) ।

इन आचार्यों ने पहली सताब्दी से लेकर सातवीं सताब्दी तक विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न राजनीतिक विचार प्रकट किए । ये विचार होने ईसाई धर्म के प्रारम्भिक सिद्धांतों में परिवर्तन के दर्शन कराते हैं । यतः उचित होना कि प्रमुखतः आचार्यों के विचारों पर मुख्य प्रकाश डालने के पूर्व पहले संक्षेप में इन सभी धर्म पिताओं द्वारा व्यक्त प्रमुख विचारों को जान लिया जाए—

(1) राज्य—ये धर्म पिता सैद्धांतिक रूप से सत्त पौर के समुदाय की स्थापना करते हैं कि राज्य एक ईश्वरीय व्यवस्था है तथा राज्य की ईश्वर से शक्ति मिलती है । पर राज्य की ऐसी स्थापना मानते हुए भी ये आचार्य सरकार को आदर्श

(Adam) के उस आदिम प्राण (Original sin) का परिणाम मानते थे जिसके कारण मनुष्य में प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ जलज्ज हुई थीं और जिसके निरोध के लिए सरकार की स्थापना की गई। इस विचार के फलस्वरूप चर्च की राश्व हो अधिक उत्कृष्ट थीर महत्त्वपूर्ण मानने की प्रवृत्ति बड़ी थीर बाद में पोप यह दावा करने लगा कि उसके कुछ अधिकार तो इतने दुरुई हैं कि उनमें सम्मिश्र इरादोंन नहीं कर सकता। धीरे-धीरे स्थिति इसनी बदल गई कि दो कृष्ण साधन-सत्ताओं का अधिकार माना जाने लगा—चर्च की सत्ता का थीर सम्मिश्र की सत्ता का। दोनों ही सत्ताएँ अपनी-अपनी क्षेत्रता सिद्ध करने के प्रयत्न में लपरी-रत हुईं। यह लपरी सपरा विचार मध्यकालीन राजनीतिक विम्वन का एक प्रमुख विषय बना। मध्ययुग में चीर का निरन्तर बहि प्रवाह रहा कि राजश्व चर्च के अधिकार बना रहे।

(2) सम्मिश्र—चर्च के प्राथमिक दिनों में सम्मिश्र के सम्बन्ध में सम्मिश्रकी विचार प्रवृत्ति में, किन्तु सन्-चर्च-विम्व यह स्वीकार करने लगे कि जब तक सम्मिश्र का प्रयोग अपने ईसाई भाइयों के साथ हेतु किया जाए तब तक सम्मिश्र सम्मिश्र में रहना बंध तथा स्वाधीनित है। सम्मिश्र एम्ब्रोस ने कहा कि सपरी एवं चीर के कारण मनुष्य समुची पर सम्मिश्र स्थापित स्थापित कर लेते हैं। यदि सम्मिश्र का उपयोग राजश्व-समाज के कल्याण के लिए हो तो हम पर सम्मिश्र स्थापित मान्यकर है। सम्मिश्र ऑगस्टाइन का विचार था कि ईसाई ने सम्मिश्र पर विचार करके उसे सम्मिश्र का स्थापी बनाया है यह एकका प्रयोग बंध स्थिति में करना चाहिए।

(3) साधन—साधन के सम्बन्ध में ईसाई साधनों ने सिमरी (Cicero) तथा सन्त पौल (St. Paul) का मार्ग ग्रहण किया। उन्होंने प्रोचित किया कि प्रवृत्ति में मनुष्य की स्थापना बनाया है थीर सभी मनुष्य प्रवृत्ति में समाज हैं। पर साधन प्रवा के सम्बन्ध में उनकी मान्यता मान्य हो रही। साधन प्रवा के अधिकार की स्वीकार करते हुए उन्होंने केवल बड़ी उपदेश दिया कि स्थापितों का अपने राज्यों के प्रति अधिकार बहुत धमापूरत थीर उत्तर होना चाहिए। उन्होंने साधन प्रवा की राश्व का एक थीर इरादा मतभाव। सन्त अम्ब्रोस (St. Ambrose), सन्त इसादोर (St. Isidore) तथा जेनरी (Gregory) ने सपरी साधन प्रवा का सम्मिश्र किया, किन्तु वे इस प्रवा में मुक्त होने का कोई अधिकार मान्य नहीं मान्य लगे, सन्त उन्हें भी इस प्रवा की सहा हो करना पडा।

राश्व में ईसाई सत्त का विकास मध्यकालीन राजनीतिक विम्वन में एक विम्वोट का जिसने किम्वन की राश्व में एक मान्यता-ता का दिया।

सन्त अम्ब्रोस

(St. Ambrose, 340-397 A.D.)

विम्वन का यह सन्त ईसाई विचारधारा के निर्माणकारी युग का अधिकार। उसने चौवी सताब्दी के उत्तरार्ध में ईसाई चर्च की बड़ी हुई मान्यकरण एवं अधिकार अधिकार किया। उसने ऐसे विचारों की स्थापना की ईसाई वि.

के शासक एक से और जो वर्ष दस वर्ष के सम्मानों के विषय में ईसाई विचारधारा के एक अभिन्न अंग बन गए। सन्त अम्ब्रोस ने साम्प्रदायिक मामलों में वर्ष की स्वतन्त्रता पर जोर दिया। उसने स्पष्ट रूप से कहा कि "साम्प्रदायिक मामलों में वर्ष का यही ईसाइयों के ऊपर, सम्राट के ऊपर भी अधिकार है। राज्य किसी ईसाई की भाँति सम्राट भी वर्ष का ही पुत्र है। यह वर्ष के समुद्र है, वर्ष के ऊपर नहीं।"¹

वर्ष की स्वतन्त्रता और नैतिक बल की प्रमुख को प्रतिपादित करने के किसी व्यवहार की सम्भावना सन्त अम्ब्रोस ने हाथ में नहीं आने दिया। जब सम्राट वैलेरियियन (Emperor Valerianus) ने किसी व्यक्ति पर बाइबिल का विचार सम्बोधन के आधारों से हाथ कर सम्राट के स्वायत्तत्व में क्षेत्रों की बाधा दी तो अम्ब्रोस ने इसका तीव्र प्रतिकार करते हुए कहा "यदि के विषय में विश्वों के लिए यह स्वाभाविक है कि सम्राटों का निर्णय दिया करें, न कि सम्राट विचारों का।" उसने एक अन्य अवसर पर सम्राट की शक्ति का कि, "कुछ मामलों में सम्राट की हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। सम्राट कर ले सकता है, वर्ष की भूमि ले सकता है, किन्तु वह भगवान का धर्म या निर्वा नहीं ले सकता। मनुष्य पर सम्राट का स्वायत्तत्व है, वर्ष पर विचारों का। जो वस्तु भगवान की है, वह सम्राट की शक्ति के अधीन नहीं हो सकती।"

सन्त अम्ब्रोस ने यह कभी नहीं कहा कि नागरिक कला का आदेश नहीं मानना चाहिए। पर उसने यह अवश्य कहा कि पर्यायों का यह अधिकार और उत्तम है कि वे सम्राटों के सम्मुख में नैतिक शक्तों का विवरण करते रहें। उसने इस अवस्था की न केवल शिखा दी बल्कि इसका चमत्कार भी दिया। एक क्षण पर उसने सम्राट थियोडोसियस (Emperor Theodosius) की उपस्थिति में इकोनॉम (Eichonius) का कथारीह करने में इसलिए हथकड़ी कर दिया कि सम्राट ने थेसासोनिया (Thessalonica) में हत्याकाण्ड करवाया था। अम्ब्रोस ने सम्राट को यह पर विचार कर अपने सामुदायिक तत्वों के लिए कड़ी निन्दा करते हुए उसे क्षमाचिन्तन करने की चेष्टा की। सम्राट ने अम्ब्रोस के परामर्श को स्वीकार करना शुरू अपनी गम्भीर पीड़ा को उजाड़ी और विचारों के विषय में आन्दोलन रूप में प्रत्यक्ष विचारों के आदेश में यह नैतिक बल की विचारों की और एक समय का उत्तम विचारक दर्शन था कि "कुछ विषयों में राज्य की वर्ष के सम्मुख नागरिक होना चाहिए।"

सन्त अम्ब्रोस ने यह कभी नहीं माना कि सम्राट के आदेशों या सामुदायिक विरोध किया जाए। यह ठीक करने और साधक करने के लिए संसार का नैतिक हमने जवना की निर्दिष्ट करने के लिए कभी प्रेरित नहीं किया। उसने वर्ष के अधिकार की रक्षा के लिए ही साम्प्रदायिक मामलों का समर्पण किया, इतिहास का

1. बेराह्न : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृष्ठ 1, पृ. 173

2. Bernard Renssly : History of Western Philosophy, p. 360.

बही । रमैल ने सम्बोधन का मुल्यमिर्न करने हुए विगा है, “यह सन्त वीरोन की प्रेरणा पटिया दर्जे का विद्वान और सन्त आनरहाइन की मरता पटिया दर्जे का दार्शनिक था । निम्नु वर्ष की सक्ति को चतुर्दई और मारुन के लक्ष सुकुड करन वाले रामैनीलिक के रूप में यह प्रथम खेल्डी का स्थिति था ।”¹ डनिन के अनुमार उसने प्रसिद्ध धार्मिक विषयो में वर्ष के प्रमुख का प्रधानवादी समर्पन किया लेकिन सभी एक समता सेन बहा सीमित था । सभी राज्य की ही सक्ति मरुतबुसुं मान्य जाता था ।²

अथ योगसंज्ञा

(St. Augustine, 134-430 A.D.)

[illegible][illegible]

[1] Giovanni Sartori: *History of Western Philosophy* p. 200
Danto: *A History of Political Thought*, Part I, p. 176.

‘दी सिटी ऑफ नॉब’ की रचना मुख्यतः इन्हीं जट्टेसों की बुद्धि के लिए की थीर प्रसंगगत धारने सभी पारंपरिक विचारों का विकास किया। यह ग्रन्थ 22 सर्गों में विभाजित है जिनमें मूल के धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक सभी प्रकार के विचार विहित हैं। ग्रन्थ की प्रथम 10 पुस्तकों में ईसाई धर्म की रीतों की सामोभवा के विरुद्ध रसा की गई है और केव 12 पुस्तकों में ईश्वर की नगरी के स्वल्प की व्याख्या मिलती है। यह पुस्तक में मॉरस्टाइन ने यह कहने का प्रयास किया है कि ईसाइयत रोम की मष्ट किन् जल्मे से नहीं बना लकी जो कम से कम योयो के कल्लो को कम करने में उसने अवल्य ही सहायता दी और कुछ से अमानक इतली को कम करने का प्रयास किया। मॉरस्टाइन ने यह भी कहा कि रोम पर साममण ईश्वर की नगरी से हुमा था, ताकि ईश्वर की नगरी की बुनियाद रखी जा सके। अन्तिम पल्लियों में सर्वप्रथम मॉरस्टाइन के इस ईश्वरीय नगर की ही चर्चा की गई है।

दो नगरों का विद्वान्त (सौमरिक नगर तथा ईश्वरीय नगर)—मॉरस्टाइन ने अपने ग्रन्थ में दो प्रकार के नगरों का विवरण दिया है—1. सौमरिक नगर, एवं 2. साम्मार्मिक या ईश्वरीय नगर। उसके अनुसार, “मानव प्रकृति के दो रूप हैं—साम्म और सौमरिक। इसलिए मनुष्य इस मसार का सामरिक है और ईश्वरीय नगर का भी। मानव-जीवन का साम्मरभूत अल्प मानव द्विती का विभाजन है। मनुष्य के सौमरिक हित उनके सौमरिक से सम्बन्ध रखते हैं। मनुष्य के साम्मार्मिक हित समसी साम्म के सम्बन्ध रखते हैं।”¹ इस तरह मॉरस्टाइन ने यह बताया कि मानव प्रकृति द्वितीय है यर्वात् सौमरिक और साम्मार्मिक दोनों। मानव के हित और र्वावे सौमरिक तथा साम्मार्मिक दोनों तरह के होते हैं यर्वात् उसने सौमरिक एवं साम्मार्मिक दोनों प्रकार की प्रकृतियों का सम्बन्ध होता है। इसी कारण मनुष्य सौमरिक तथा ईश्वरीय दोनों नगरों का सामरिक होता है। सौमरिक नगर का सामरिक स्थिति कम के कारण होता है। सौमरिक नगर का सम्बन्ध सौमरिक से होता है और ईश्वरीय नगर का साम्म से। सौमरिक नगर मनुष्य की साम्मार्मिकी पर साम्मार्मिक है और उसमें जीवन का मानव हाता है। इसके विपरीत ईश्वरीय नगर में काइस का साम्म होता है। यह नगर उस साम्म की साम्मार्मिक करता है जिसका सौमरिक साम्मार्मिक में मिलता है। यह नगर और इसकी सत्ता सौमरिक है।

सम मॉरस्टाइन के उपरोक्त विचारों पर श्री जी. एच. सेसाइन ने बड़ा ही सार्मिक विमर्शण प्रकट किया है जिसे जन्ती के सौमरी में प्रदपूत करण उपलुक्त होता—

“सम मॉरस्टाइन ने इस (उपरोक्त) विद की मानव इतिहास का बड़ा प्रयास करने की सुझाई मान किया है। मानव साम्म सर्वत्र ही दो नगरों के साम्म द्वारा विभजित होता है। एक और सौमरिक का नगर है। यह मनुष्य की सौमार्मिकी प्रकृति

काम, शोध, घर, मोक्ष, मोह आदि के ऊपर आधारित है। दूसरी ओर ईश्वर का नगर है। यह स्वर्गीय शान्ति और आभासमय सुख की छाता के ऊपर आधारित है। पहला जीवन का राज्य है। दूसरा इतिहास उस समय से आरम्भ होता है जब से जीतान ने देवदूतों की सभाओं आरम्भ कर ली। इसके मुख उत्तर प्रतीतिता और रोम के केवल साम्राज्यों के विशेष रूप से पाए जाते हैं। दूसरा साम्राज्य ईसा का है। यह पहले राष्ट्र के और फिर बाद के वर्षों से तथा ईसाई धर्म की समीकृत करने वाले साम्राज्य में विहित रहा है। इतिहास इन दो राज्यों के संघर्ष की नाटकीय कथा है। अन्त में विजय ईश्वरीय नगर की ही होती है। शान्ति केवल ईश्वरीय नगर में ही सम्भव है। केवल आध्यात्मिक राज्य ही स्वर्गीय है। रोम के पतन के सम्बन्ध में ऑगस्टाइन की यह व्याख्या है : सभी सांसारिक राज्यों का नाश होना जरूरी है। सांसारिक शक्ति नगर और धराधर है। यह मानव प्रकृति के उन पक्षों पर आधारित है जिनके कारण निर्दिष्ट रूप से नष्ट हो तथा साम्राज्य विस्तार की निष्ठा खत्म होती है।

संघर्ष इस विद्वान की व्याख्या करते समय और विशेष रूप से इसे ऐतिहासिक तथ्यों के ऊपर लागू करते समय एक सावधानी की आवश्यकता है। ऑगस्टाइन का यह मतलब नहीं था कि सांसारिक नगर की सभाओं ईश्वरीय नगर की सर्वोच्च मानक-सम्पादों के साथ ठीक दस से समीकृत किया जा सकता है। बल्कि एक दुर्घटनात्मक संघर्ष संपन्न था। लेकिन यह ईश्वर का राज्य नहीं था। लौकिक मानव के दो पुराणों की सत्तियों के नाम और भी नाम समीकृत किया जा सकता था। सांसारिक राजसीतिष्ठ की शक्तिशाली के समान के लिए साम्राज्य की शक्ति का महान केवल था, मानव की जीतान के राज्य का प्रतिनिधि नहीं बना सकता था। सुप्रसन्न ईसाईयों की भाँति ऑगस्टाइन का भी यह विश्वास था कि 'समस्त सत्तियों ईश्वर की ही हुई हैं।' उक्त यह भी विश्वास था कि मानव के मन का प्रयोग पाप के कारण आवश्यक हो जाता है और यह पाप वह ईश्वर की ओर से निर्धारित व्यवहार है। इसके कारण ऑगस्टाइन ने दोषों नपनों को देखने में क्षम-क्षम नहीं माना। सांसारिक नगर जीतान का और सभी दुष्ट वस्तुओं का राज्य है। स्वर्गीय नगर इस ओर के और परलोक के मुख सम्पादों का समय है। सांसारिक जीवन में ये दोनों समाज एक दूसरे के विरुद्ध हैं। ये केवल अन्तिम निष्कर्ष के अनुसार नर ही मानव होते हैं।¹

करोटक सन्दर्भ में सन्त ऑगस्टाइन की ईश्वरीय राज्य व्यवस्था नगर और वर्षों का पारस्परिक सम्बन्ध कुछ अधिक स्पष्ट रूप से उल्लेखनीय है। ऑगस्टाइन वर्षों की ईश्वरीय राज्य का प्रतिनिधि समझता था, 'ईश्वरीय राज्य' नहीं। 'ईश्वरीय राज्य या नगर' में देखते और वे स्वर्गीय व्यवस्थाएँ भी सम्मिलित हैं जो इस दुनियाँ की छोड़ चुकी हैं। यह दस दृष्टि से वर्षों की अवस्था 'ईश्वरीय नगर'

की सदस्यता प्रविष्टि आवश्यक है। यद्यपि ये दोनों एक कथ नहीं हैं, फिर भी इनमें परिच्छिन्न सम्बन्ध है क्योंकि 'ईश्वरीय राज्य' का लक्ष्य सामान्यतः धर्म की शिक्षाओं का प्रचलन करके ही बना जा सकता है। पुनः 'ईश्वरीय राज्य' एक समुद्र-कल्पना है, यह कोई ऐतिहासिक तथ्य नहीं है, ईसाई धर्म की उनका मान्यता का समर्थन जा सकता है। धर्म और ईश्वरीय राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध की ओरर ने इस धर्मि अंकट किया है—“धर्म 'ईश्वरीय नगर' का वह भाग है जिसमें वे सब सदस्य सम्मिलित हैं, जो सभी धर्मों विश्व-वासी ही कर रहे हैं और जिसमें वे सब (या नवमय सब), जो ईश्वरीय राज्य के सदस्य हैं, पुनः पुनः हैं।”¹

अमेरिकाईन का 'ईश्वरीय राज्य' साम्य है। यह कभी भी नष्ट नहीं होता। इसके विपरीत साम्यारिक राज्य व्यवस्था ही मान्य है।

ईश्वरीय नगर की विशेषताएँ (न्याय एवं शान्ति)—न्याय अमेरिकाईन के 'ईश्वरीय नगर' की उपरीष्ठ व्याख्या से अंकट है कि इसकी दो प्रमुख विशेषताएँ हैं—(क) धर्म या न्याय (Justice), एवं (ख) शान्ति (Peace)।

अमेरिकाईन के मत में धर्म एक ऐसा प्रविष्टि है जो व्यक्ति को अपने कर्तव्य प्रत्यक्ष के उपरान्त निरुत्ता है। जो व्यक्ति अपने कर्तव्यों का प्रत्यक्ष प्रती प्रत्यक्ष करता है वही धर्मवान कहलाता है। अमेरिकाईन धर्म व्यवस्था न्याय की व्यवस्था (Order) का वर्गीकरणशी मान्यता है। उसके अनुसार धर्म या न्याय एक व्यवस्थित एवं अनुशासित जीवन का निर्वाह करने में निर्दिष्ट है। अमेरिकाईन का यह धर्म सिद्धान्त किसी काल या स्थान विशेष की सीमाओं के बंधा हुआ नहीं है। यह धर्म का क्षेत्र परिवार, समाज एवं राज्य तक व्यापक कहला है।

अमेरिकाईन ने अपने सार्वभौमिक समाज की शान्ति के साक्षात्कार का प्रतीक माना है। नगर में शान्ति का साक्षात्कार होता है। उसके शान्ति के दो कथ माने हैं—सांसारिक शान्ति और साध्यात्मिक शान्ति। सांसारिक शान्ति में सामर्थ्य निर्वाह का प्रतीक का व्यवस्थापन है; धर्मात् सांसारिक व्यवस्था में व्यवस्थापन का होता है, परन्तु साध्यात्मिक शान्ति का लक्ष्य ईश्वर एवं ईश्वर के समाधि हुए मनुष्यों के साथ सामर्थ्य स्थापित करना होता है। अमेरिकाईन की मान्यता है कि साध्यात्मिक शान्ति सांसारिक शान्ति के प्रचलन ही अर्थ है। सांसारिक शान्ति का क्षेत्र मनुष्य के अन्तर्गत साध्यात्मिक शान्ति का क्षेत्र विश्व-व्यापक है। सांसारिक शान्ति की शान्ति हनु व्यक्ति को अपने विचार-व्यवस्था पर तात्का आधारित करता है जबकि साध्यात्मिक शान्ति के यह स्वयं ही स्थापित रहता है। सांसारिक मनुष्यों द्वारा शान्ति शान्ति या व्यवस्था प्रचलन करना रहता है। इनके केवल सांसारिक शान्ति ही प्रचल नहीं होती जबकि साध्यात्मिक शान्ति का मूल्य भी प्रचल होता है और प्रतीक की बुद्धि के बाद ही साध्यात्मिक बुद्धि की शान्ति ही प्रचल है। यह साध्यात्मिक बुद्धि मानव की विद्यता की ओर प्रत्यक्ष करणी है। अमेरिकाईन की शान्ति मनुष्यी विचार की एवं ईश्वरीय व्यवस्था है क्योंकि सभी मनुष्य ईश्वर के धर्म हैं।

राज्य तथा सरकार के विषय में ऑगस्टाइन के विचार—सन्त ऑगस्टाइन इस परम्परागत ईसाई विचार को स्वीकार करता है कि राज्य को ईश्वर ने मनुष्य के पाप के उत्पत्ति के रूप में स्थापित किया है। यद्यपि राजा का शासन हीनता चाहिये। मनुष्य की बुरी प्रवृत्तियों के विरोध के लिए ही सरकार द्वारा इसका निर्माण किया गया है। राजा ईश्वर का प्रतिनिधित्व करता है। किन्तु संशय उत्पन्न होता है कि हमने अपने द्वारा नैतिक कर्तव्य-पालन द्वारा अपने-आप को पाप-कालिमा में रखा कर चर्चें। इस तरह ऑगस्टाइन के अनुसार राज्य मनुष्य की राह से मुक्ति दिलाने का एक प्रयत्न करता है। ऑगस्टाइन ईश्वरी उत्पत्ति के कारण राज्य की माताओं की मानने का समर्थन करते हुए यह भी प्रकट करता है कि यदि वे माताएँ धर्म-विरुद्ध ही तो उनका शासन नहीं होना चाहिये।

दूसरी दार्शनिकी और विचारों धारि के इन विचार में ऑगस्टाइन ने समझाया प्रकट की है कि 'राज्य का आधार न्याय है।' सैनारिक राज्य पर शासन का स्थापित होने से पहले न्याय नहीं रह सकता। सैनारिक राज्य सम्पाद पर प्रतिष्ठित है, अन्य राज्यों के अधिकारों का व्यवहार करने वाला है और ईश्वरीय अधिकारों का सम्पादन करता है। ऑगस्टाइन के अनुसार राज्य धर्म-ईसाई भी ही मंगता है, जबकि न्याय केवल ईसाई राज्य में ही मिलता है। यह न्याय वास्तव में राज्य का गुण नहीं है, धर्मगुण का गुण है। धर्म की मता राज्य की मता से भिन्न है।

• सैनारिक धर्म पिताओं (Church Fathers) के समान सन्त ऑगस्टाइन राज्य की समझावट दुराई नहीं मानता। राज्य धर्म के लिए समझावट है क्योंकि धर्म की धृति और धर्म की धृति तो राज्य द्वारा ही की जाती है।

ऑगस्टाइन के सम्बंधित एवं वास्तविक सम्बंधी विचार—सन्त धर्म पिताओं की धृति सन्त ऑगस्टाइन द्वारा भी सम्बंधित सम्बंधी अधिकारों का सम्बंधित किया गया है। यह सम्बंधित की एक स्वाभाविक कथा न मानकर परम्परागत सम्बंध मानता है। सम्बंधी मान्यता है कि सम्बंधित के अधिकारों की प्रवृत्ति केवल राज्य द्वारा ही हो सकती है और सम्बंधित के सम्बंध में व्यक्ति सैनारिक एवं साम्प्रदायिक धर्मों का एक रूप के शासन नहीं कर सकता। धर्म और व्यवस्था की रक्षा के लिए निजी सम्बंधित आवश्यक है; किन्तु न्याय ही उसकी यह भी धारणा है कि मनुष्य की केवल उत्पत्ति ही सम्बंधित रखने का अधिकार है जिसकी उत्पत्ति के लिए आवश्यक है। आवश्यकता में धर्मिक सम्बंधित का उपयोग जन-सम्बंध के लिए होना चाहिये।

सन्त ऑगस्टाइन दासों को निजी सम्बंधित का ही एक रूप समझता है और एनीलिस् दूसरी विचारों की धृति ही उसने भी समझावट का अनुमीलन किया है। लेकिन दास-व्या के ऑगस्टाइन और इसलू द्वारा सम्बंध के वास्तविक एकदम भिन्न है। ऑगस्टाइन इसलू के समान दास-व्या को स्वाभाविक नहीं मानता है। उनका यह विचार नहीं है कि स्वाभाविक कुछ मनुष्य समी और कुछ दास होते हैं।

उसके मत में दाऊता मनुष्य के पाप कर्मों का बहु फल होता है जो मनुष्य को ईश्वर द्वारा प्रदान किया जाता है। दाऊता को बहु पाप का दैविक प्रतिकार समझता है। मनुष्य जो पाप करता है उसी के प्रतिकार स्वल्प उसे क्षमावृत्ति करनी पड़ती है। यदि मनुष्य पाप न करता तो ईश्वर दाऊता की व्यवस्था न करता। वास्तव में मनुष्य के पापों ने उसे उस समानता से वंचित कर दिया जो भवमान धारम्भ में स्थापित करना चाहुता था। मरीनस्टाइन के अनुसार जहाँ दाऊता मनुष्य के पापों का ईश्वरीय उपकार है, वहीं वह उनके लिए दण्ड भी है। मनुष्य जो कुछ अपराध करता है उसके लिए क्षमावृत्ति दण्ड के शासन के रूप में उसे भेजनी पड़ती है। स्वामी को कुछ दण्ड से सेवा करके स्वार्थ दाऊता से मुक्त हो सकता है।

मरीनस्टाइन के दाऊता सम्बन्धी उपरोक्त विचार वर्ष-समय प्रतीत नहीं होते। एक स्थान पर तो वह समुपूर्ण जाति को सभी पोषित करता है तो दूसरे स्थान पर इस बात को स्थान में न रखकर दाऊ-प्रथा को पाप का दण्ड पोषित करता है। मरीनस्टाइन कहता है कि मनुष्य को पाप का बोध करने के लिए दाऊता करनी चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि अपने अपने राजाचार के कारण सम्पूर्ण समाज को क्षमावृत्ति करनी चाहिए। परन्तु अवश्य रूप में यह सम्भव नहीं है।

संत मरीनस्टाइन का प्रभाव—संत मरीनस्टाइन की पुस्तक 'दि सिटी ऑफ़ दॉम' तथा उसकी विचारधारा अनेक सत्राश्रमों तक यूरोप के विचारों को प्रभावित करती रही। वेस्टाइन के शब्दों में, "समीक्ष्य युग का सबसे महत्वपूर्ण ईसाई विचारक सम्मोत्र का महान् गिण्ट सेंट मरीनस्टाइन था। उसका दर्शन केवल कोरा-न्या ही व्यवस्थित था। लेकिन, उसने प्रार्थना-काल के शास-विज्ञान को व्यवस्थित कर दिया था। वह ज्ञान-विज्ञान उसने द्वारा ही अल्प युग में बढ़ावा। उसकी रचनाएँ विचारों को ज्ञान की बिल्के बाद के कैंपोलिटिक और प्रोटेस्टेंट विचारकों में खोया है। उसका सबसे महत्वपूर्ण विचार एक ईसाई राज्य का विज्ञान है। उसने इतिहास के एक निश्चित दर्शन का भी प्रतिपादन किया है। इस दर्शन के अनुसार वह राज्य मनुष्य के धार्मिक विकास का अवलोकन है। मरीनस्टाइन की प्रासासिकता के कारण वह विज्ञान ईसाई विचारधारा का एक मरिन्स्टेड्स-मन बन गया। वह विज्ञान मन्वजुन से तो बना ही बना, 'साधुनिक काय तक' भण्डा पाया है। इस निदान पर रोमन कैंपोलिटिक ही नहीं, प्रत्युत प्रोटेस्टेंट भी मन्व मरीनस्टाइन के विचारों से प्रभावित रहे हैं।"

संत मरीनस्टाइन ने चार्लमैग्ने तथा मोटी महान् (Charlemagne and Otto the Great) के विचारों को आधार प्रदान किया जिसके ऊपर पवित्र रोमन साम्राज्य का अल्प प्रबल बना। उसने सामंतीनिक कला को मानकर सकीर्ण राज्य सत्ता सम्बन्धी सीमा की सीमा। शासक का सामंतीनिक सुभाव उसके विचारों में विशेष रूप से प्रकट है। मरीनस्टाइन ने व्यवस्था रूप में चर्च की श्रेष्ठताओं का सबसे निचा और काय ही राज्य एक चर्च में धार्मिक सहयोग पर बन दिया। वास्तव में रचनात्मक चर्च के इस महान् प्रतीक ने कठिन युग का प्रवर्तन किया।

सामान्य की कनेक परिभाषाएँ की गई हैं। किन्तु बरजब्रत उसकी सर्वोत्तम परिभाषा यही है कि 'यह मौलवादायन के विचारों के साथ आरम्भ होता है और इनकी सन्तति के साथ ही इसका अन्त हो जाता है।'¹ मौलवादायन की रचनाएँ और उसके विभिन्न विचार विद्वानों के लिए विन्तन और बेरखा के स्रोत बने रहे। विख्यात पोप ग्रेगरी दसम (1073-1085 ई.), एलेक्जेंडर दुसरे (1161-1216) तथा बेनीफेड दसम (1294-1303) ने उसके विचारों का अनुसरण किया। टॉमस एक्वीनास (1225-1274 ई.), रानो (1265-1321 ई.), बिस्लिफ (1327-1384 ई.), एवं बेकिन्स आदि प्रसिद्ध विचारक बड़ी सीमा तक मौलवादायन के पक्षी हैं। इसीकिस, कोलोना, मास्टिन् नूकर एवं धर्म विद्वान भी किसी न किसी रूप में मौलवादायन के विचारों से प्रभावित हुए थे। 19वीं सताब्दी में भी ग्लेडस्टोन (Gladstone) ने कहा था कि राज्य की भी सहायता होती है जो मूठ और लज में सफर करता है। मौलवादायन के प्रभाव की दृष्टि हुए गेटल (Gertel) ने लिखा है—'मौलवादायन के कार्य का महत्त्व यह था कि उसने चर्च को उसके इतिहास के एक और संकट में एक सुनिश्चित और स्वरचित विचारधारा प्रदान की, उसके समित्व को स्पष्टता और सपनाचन दिया और उसके उद्देश्य की सात्व पैठना मूलक बनाया। जब चर्च ने अपने प्रसारकीय क्षति की निश्चित करके सांसारिक कार्यों की ओर धार्मिक स्थान दिया तो उसके लिए जलिक के उस चिस्तर पर पहुँचना निश्चित हो गया जिसका प्रतिनिधित्व आने चलकर पोप ने किया।'²

ग्रेगरी महान्

(Gregory the Great, 540-604 A. D.)

ग्रेगरी महान् चर्च-वितासी को कोर्ट में प्रतिन दूँया। लल सम्मोज और लल मौलवादायन ने चर्च की स्थायत स्वधीनता पर और दिया था, और ग्रेगरी महान् ने भी उस परम्परा को कायम रखा। रोम के बिस्व पर की कलिक और सम्मान की सत्यत जैसा उसने का रोम पतिवनी रोमन चर्च के इली दिग्गज पर्वीवारों की है। रोम के सत्यत सम्मान और सम्मान-मूल के जमन मेने तथा समुन के सुविधित होने के कारण आरम्भ में उसे रोम का प्रचार माकक (Patric) बनने का सीनाप्य मिला। लेकिन अपने रिता की कृषु के बाद वह ईसाई मागु हो गया और उसने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति और भूमि 7 कली (Monasteries) की स्थापित करने हेतु दे दी। 590 ई. में वह पोप चुना गया। उस समय इरली एवं पश्चिमी रोमन साम्राज्य की दशा सत्यत खोबनीय थी। इरली में सम्मान कोष गलत नवा रहे थे और सताब्दी की दुर्बलता तथा मुरी के हथनी के कारण सक्षीका सत्यतता का स्थान नवा हुआ था। इरलीय का वेकल-साकलरी के कारण मुरा हुआ था। वहीं ईसाइयत मिदली-सी था रही थी। बिस्व वैदिक पतन के सिचार हो रहे थे। वहीं भी उत्तरी एवं दक्षिण राजासी के सपर्व का सीनापन नवा हुआ था।

1 Murray : The History of Political Science from Plato to the Present.

2 Gertel : History of Political Thought, p. 102.

ऐसी सिम्ट वृद्धियों ने दिसम्बर 13¹ को एक रोम का कार्यभार बना रहा । युल्ल प्रेसरी ने सम्बन्धी के खिलाफ इटली को रखा करने के बर्तुल्ल सफलता प्राप्त की । वृद्धियों वृद्धि एव उत्तरी पक्षीय में स्थापित गुप्तकाल के सम्बन्ध के रूप में उनकी स्थापित बहुत अधिक होती । उनके प्रभाव के प्रभावस्वरूप रोमन कार्य की वृद्धि बढ़ गई ।

नैतिकता नामकी की दुर्बलता ने दिसम्बर महान् को इस बात के लिए विवश बन दिया कि वह राजनीतिक मामलों के कर्तव्यों को धारण करे । उसने मान्य इटाली का सामान्य वास्तविक रूप से अपने ह्रास में ले लिया तथा अपने सभी द्वारा इटली के, पारसियों को धर्म के साथ अपने लोक सम्बन्धकारी कार्यों को करने का प्रभावकारी प्रभाव दिया । इटली में राष्ट्राट के साम्यपाल (Ecclesiastical) की प्रेरणा के प्रभाव के मार्ग विचार ने गहरे प्रेसरी के घादों की नहीं माना लेकिन कुछ समय बाद उसे यह निष्कर्ष बना—“मैं उस राजनीतिक क्षेत्र का विरोध करने का साहस कैसे कर सकता हूँ जो सर्वोच्च कार्य की अपनी सामर्थ्य देता है ।” वास्तव में प्रेसरी ने रोम के बीच की प्रभुता और महान् का क्षेत्र बना हो गया और सम्बन्ध बन गया । प्रेसरी के ह्रास में एक बहुत बड़ी नैतिक एव धार्मिक शक्ति की स्थापित उसने राज्य को कार्य के सम्बन्ध नहीं किया बल्कि साम्राज्य-वास्तव के कर्तव्य का समर्थन किया । ईसाइयत का कहना है कि “समाधानों में एकमात्र प्रेसरी ही ऐसा विचारक है जो राजनीतिक शक्ति के साधनों का अधिकतम भाग में वास्तव करने पर और देता है । प्रेसरी का यह विचार मान्य बन गया है कि कुछ मानक की शक्ति का भी कुछ होकर अधिकतम भाग में वास्तव करना चाहिए । उन बात की जो मान्य देता है कि भी स्वीकार कर लेते कि कुछ मान्य की शक्ति का समर्थन होता चाहिए लेकिन वह सामान्यतः प्रभाव निमित्त भाग में हो, इनको कोई स्वीकार नहीं करता । प्रेसरी ने अपने ‘Pastoral Rules’ नामक ग्रन्थ में इस बात पर विचार किया है कि विचार अपने अनुयायियों को विचार प्रसार की शक्ति दें ? उन पुस्तक में अपने यह भी और देकर कहा है कि प्रभावों की न नेमान अपने मानकों की सामर्थ्य का वास्तव हो करना चाहिए ताकि उन्हें अपने मानकों के जीवन की न तो सामर्थ्यता हो करती चाहिए न उनके सम्बन्ध में कोई निर्णय हो देना चाहिए ।”²

“यदि मानकों के कार्य दीर्घायु हो न तो उन्हें धर्म की लक्ष्य से बाधना नहीं चाहिए । यदि किसी वस्तु में वास्तव अपनी सामर्थ्यता की करने वाले की ह्रास से प्रभावों की मान्यता में न तो वास्तव चाहिए बल्कि वास्तव भी अपने मानकों मान ले । यदि वास्तव अपने ऊपर की शक्ति की सामर्थ्यता करती है तो उसे एक ईश्वर की निर्णय में भय माना चाहिए जिसने उस शक्ति को स्थापित किया है ।”³

प्रेसरी के द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त विचार भाग की परिचितियों ने बात की सामर्थ्यता मान्यता है । विन्तु मान्य की परिचित का यह विचार सामर्थ्यता

¹ वेल्स—सामर्थ्यता कार्य का इतिहास, भाग 1, पृष्ठ 172.

² Carlini : A History of Medieval Political Theory in the West, Vol. I, p. 132.

जो उन परिस्थिती में सामाजिक नहीं था जब सम्राटों द्वारा चर्च के निष्पत्तियों की घोषणा प्रशासकता एक धर्मिक उद्देश्य के रूप में सुदृढ़ की गयी थी। फिर भी पैनरी प्रत्येक परिस्थिति में कोरा मुक्त राजनैतिक बनना स्वीकार नहीं करता। वह उन कार्यों पर विरोध करता है जिन्हें वह सामाजिक समझता है। लेकिन वह सम्राट का पालन करने से मुंह नहीं मोड़ता। "उसका विचार यह प्रतीत होता है कि सम्राट का सर्वोच्च कार्य करने का भी अधिकार है बसकि कि वह सिद्ध करने के लिए तैयार हो। शासक की शक्ति ईश्वर की शक्ति है। सम्राट से बड़ा केवल ईश्वर है और कोई नहीं। शासक के कार्य प्रथम रूप से ईश्वर तथा उसके सम्मुखता के बीच में है।"¹

दो तलवारों का सिद्धान्त

(The Theory of Two Swords)

पूनायी और रोमन विचारकों ने व्यक्ति के जीवन की एकता पर बल देते हुए भौतिक और साम्प्रदायिक-जीवन की एक-दुसरे से पूर्ण नही किया या और न ही वह कहा या कि दोनो प्रकार के जीवन की पूर्णता के लिए दो अलग-अलग रूप के सामाजिक व्यवस्था होने चाहिए। उनका विचार था कि राज्य प्रत्येक व्यक्ति से कुछ और अधिक लेता है जिसके द्वारा मनुष्य का भौतिक एवं साम्प्रदायिक दोनों ही प्रकार का जीवन पूर्ण हो सकता है। ईसाई चर्च की स्थापना से राजनीतिक विचारों में दोहरे एक नई शक्ति हो गई। चर्च के समर्थकों के पुनः ईसाई विचारकों ने एक दोहरे समर्थन की आवश्यकता प्रकट की। वह दोहारा समर्थन दो प्रकार के मूल्यों की रक्षा के लिए आवश्यक था—भौतिक मूल्यों का द्विती के लिए और साम्प्रदायिक मूल्यों का रक्षा द्विती के लिए। उन्होंने कहा कि साम्प्रदायिक द्विती और सामर्थ्य शक्ति चर्च के विरुद्ध है और वे सर्वोच्चता की विद्या के सम्मुखता में हैं। साम्प्रदायिक व्यवस्था भौतिक द्विती तथा शक्ति, व्यवस्था और शक्ति की रक्षा सामर्थ्य प्रथम के विरुद्ध है और शक्ति को द्वारा इन उद्देश्यों की पूर्ति का प्रभाव किया जाता है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि मनुष्य की दोहरी शक्ति है और उसका दोहारा जीवन-समर्थ है। अपने साम्प्रदायिक एवं भौतिक द्विती तथा सामर्थ्य शक्ति एवं समर्थता का उपयोग करने के लिए मनुष्य को राज्य का प्रथम स्वीकार करना चाहिए, प्रथम सामर्थ्य शक्ति एवं शक्ति प्रथम करने के लिए जो वह अनुमान में रहना चाहिए।

स्पष्ट है कि ईसाई विचारकों ने बताया कि मनुष्य दो विभिन्न शक्तियों के अधीन है, दो तलवारों के अधीन है क्योंकि तलवार सामर्थ्य-शक्ति का प्रतीक है। इन प्रारम्भिक चर्च सिद्धांतों ने कहा कि व्यवस्था में, जो समर्थ शक्तियों का संग्रह है एक व्यवस्था सम्राट की की है और दूसरी शक्ति की। इनके प्रमुख ईश्वर ने वह अधिकृत किया है कि इस प्रकार वे दो प्रकार की शक्तियाँ हैं—राज्य और चर्च। इन शक्तियों शक्तियों के मध्य साम्प्रदायिक महाप्रभाव का भाव रखा चाहिए।

मित्रों इसका जड़ अभिप्राय नहीं है कि यदि चर्च में अष्टाचार का आण तो राज-सत्ता हस्तक्षेप नहीं करे और यदि अराजकता उत्पन्न हो तो चर्च हस्तक्षेप नहीं करे। वैसे सामान्यतः दोनों क्षेत्राधिकारों को अलग-अलग रहना चाहिए और उन्हें एक दूसरे की मदद की राह करनी चाहिए। ईसा की दस उल्लि में कि 'भौतिक विपत्ती से राजा का एकाधिकारिक नियन्त्रण में ईश्वर के आदेश का आलोक करो' यह स्पष्ट है कि राज्य और चर्च में किसी प्रकार के सम्पर्क की आवश्यकता नहीं की जानी चाहिए और यह निश्चयित किया जाना चाहिए कि दोनों में पूर्ण अलगाव और संतुलन रहे।

हो सलबारी क्षयका मलायो के उपर्युक्त विद्वान्त को हस्त मिले। इन के बाद पाँचवीं शताब्दी के अन्त में पोप गिलेसियस प्रथम (Pope Gelasius I, 492-496) ने छत्रपति प्रभावशाली घोर कानूनी भाषा में प्रतिपादित किया : उसने इन विद्वान्त का सामाजिक नियोजन प्रस्तुत किया : उसकी चारणा थी कि धर्म-विद्वान्त के विषय में सम्राट को अपनी इच्छा धर्म के प्रादेश के अधीन रखनी चाहिए । धार्मिक मामलों में सम्राट का कर्त्तव्य दिखती है कुछ सीमाएँ हैं, उन्हें सिखाया नहीं । यहाँ तक सांसारिक विषयों का सम्बन्ध है जिसमें तो सम्राट द्वारा बनाए हुए कानूनों का शासन करना चाहिए । गिलेसियस ने सम्राट अनस्टैसियस (Anastasius) को जो पत्र लिखे, उनमें इसका स्पष्ट रूप से स्पष्ट हो जाता है—“महान् सम्राट, इस महार वर की शक्ति—विद्यमान तथा राजाओं का शासन है । इन दोनों में पावरियों का उत्तरदायित्व अधिक भारी है, क्योंकि उन्हें स्वयं राजाओं के कार्यों के लिए भी ईश्वर की शिक्षा देना है” — तुम्हें भद्रपूर्वक निराकरण के लक्षणों पर मुझको चाहिए जो धार्मिक विषयों के समाधान के लिए उत्तरदायी हैं; मुझे मार्ग वर अपने के लिए तुम्हें उनकी चरण में जाना चाहिए और हमेशा धार्मिक समस्याओं की प्राप्ति तथा समाधान में, तुम्हें यह स्वीकार करना चाहिए कि तुम्हारा धर्म प्रादेश देना नहीं अधिक उनके प्रादेशों का शासन करना है—लेकिन समस्त विषयों में तुम्हें उनके निर्णय वर निर्भर करना चाहिए और जबसे अपनी इच्छा का शासन करने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं है—हमेशा मौखिक व्यवहार में धर्माधिकारियों तुम्हारे कानूनों का शासन करते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि तुम्हें अपनी शक्तों उत्तर के मिली हुई हैं ।” गिलेसियस ने आग्रह किया कि जहाँ सांप्रदायिक मामलों का सम्बन्ध हो, धर्माचार्यों के लिए धार्मिक अदालतों में सुनवाई करना चाहिए, मौखिक प्रशासकों में नहीं ।

मेजाइन का कहना है कि "एक व्यावहारिक विचारों के पीछे जो दार्शनिक सिद्धान्त था, वह सत्य परिस्थितियों को विद्या के अनुसार था। सत्य प्रकटान के मत से प्राध्यात्मिक ज्ञान और लौकिक ज्ञान यह भेद ईसाई धर्म का एक प्राधान्यक बात था। परास्वल्प ईसाई धर्म का अनुसरण करने वाले प्रत्येक मानव के लिए यह एक नियम था। प्राध्यात्मिक और लौकिक ज्ञान का एक ही हाथ में सम्मिलित ईसाई धर्म के विरुद्ध है। ईसा के अनुसरण के पूर्व ही यह सम्भवा: विधि सम्पन्न हो

सम्झा था, लेकिन यह बहु स्पष्ट रूप से संज्ञान का कार्य है। अनुप्य की दुर्बलता और प्राकृतिक अभिमान तथा सहकार की कृचनने के लिए ईसा ने दोनों शक्तियों को समतल-समतल कर दिया था। ईसा यही है। स्वयं राजकीय और साम्प्रदायिक शक्ति का एक साथ प्रयोग नहीं किया। ईसाई धर्म के अनुसार एक व्यक्ति का एक ही स्वयं में राजा और ग़दरी होना वैर-सन्तुनी है। हाँ, यह सम्भव है कि दोनों शक्तियों की एक दूसरे की जरूरत है।¹

इस तरह स्पष्ट है कि सार-सम के दो लक्ष्यों के विद्वान्त का अभिप्राय यह है कि सन्तुर्न मानव शक्ति एक समान है, किन्तु उसकी दो प्रकार की (सांसारिक एवं भौतिक) साम्प्रदायिकताओं की शक्ति के लिए ईसा ने दो सत्ताओं का सूचन किया है—एक साम्प्रदायिक सत्ता का और दूसरी भौतिक सत्ता का। दोनों का समतल-समतल क्षेत्र है और समतल-समतल क्षेत्र में दोनों समतल हैं; किन्तु दोनों की एक दूसरे की सहायता करनी चाहिए और यह उचित है कि दोनों एक दूसरे के अधिकारों का सम्मान करें। हाँ, सत्ताधारण परिस्थिति में एक सत्ता, दूसरी सत्ता के क्षेत्र में हस्तक्षेप कर सकती है।

सन्तुर्न के धर्म के संज्ञानिकों तक इस विद्वान्त की स्थिति रही रूप में नहीं रही और राज्य तथा धर्म के बीच 'सारसारिक' सम्बन्ध नहीं हुए। किन्तु धर्म-राज्य राज्य और धर्म के प्रति दोहरी निष्ठा के कारण धर्म के विवाद उत्पन्न होने लगे। सन्तुर्न के धर्म के उत्तर-काल में धर्म रोमन सम्राट होने की अनुप्य और दोष सेगरी सन्तुर्न के धर्म के विवाद उत्पन्न हो गए, जिनके मूल में दो लक्ष्यों का विद्वान्त ही था। शक्ति धर्म और राज्य दोनों एक ही समान पर समतल करते थे, और दोनों के क्षेत्र दुर्लभ, सुरक्षित नहीं थे, इसलिए धर्म के अधिकार ही गए। समतल विवादों की निष्ठा को लेकर हुआ। पहले से ही विवादों की निष्ठा को भौतिक शक्ति करते आए थे। विवाद क्षेत्र धर्म की शक्ति का समतल किया करते थे। उनकी निष्ठा राजा के सामन्ती के समतल समतल नहीं थी। लेकिन सेगरी सन्तुर्न ने यह बात विवर दिया कि धर्म एक समतल समतल है, सत्ता विवादों की निष्ठा भी क्षेत्र द्वारा ही होनी चाहिए। यह विवाद धर्म के परम सीमा पर पहुँच गया—इसका कि क्षेत्र में विवाद रोमन सम्राट को ईसाई समान के अधिष्ठा कर दिया और उसके ईसाई न रहने की घोषणा भी कर दी।

इस निष्ठा का सत्ता ही धर्म-समता की परिणाम हुआ। सत्ता तथा ईसाई धर्म को मानने वाली थी; लेकिन यह वैर-ईसाई सम्राट की सत्ताओं का समतल करने के लिए समतल नहीं थी। धर्म यदि वह ईसाई धर्म के अधिष्ठा सम्राट के सादेमों की समतलता कर देती तो भी इसे जान नहीं समतल जाता। सम्राट ने इस निष्ठा का विरोध किया और यह घोषणा की कि मुझे मेरी सत्ता ईसा के मिली है, इसलिए मैं समतल हूँ। दोष के अधिकार क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं कर सकता।

राज्य और चर्च के मध्य विवाद बढ़ता ही गया। चूंकि बीच साम्प्रदायिक जीवन का निवामक था, अतः यह संघर्ष को उसके सर्वप्रथम कार्यों के लिए धार्मिक रूप दे सकता था। इस अधिकार की छात्र लेकर बीच के समर्थकों ने एक कदम और आगे बढ़ाया। उन्होंने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि राजा की सत्ता का अन्तिम स्रोत चर्च है और दोनों राजाओं वास्तव में चर्च की ही हैं। उन्होंने कहा कि चर्च ने ही अपनी सत्तार (शक्ति) राज्य की अपनी ओर से प्रयोग करने के निमित्त दे रखी है जिसे जब चाहे जब यह राज्य से पुनः वापस ले सकता है। बीच के अनुयायियों ने यह भी घोषणा की कि चर्च की सम्पत्ति राज्य के अधिकार बीच में नहीं है। जब सौंठ के राजा ने चर्च की सम्पत्ति पर कर लगाया चाहा तो बीच के समर्थकों ने न केवल उपर्युक्त बात ही प्रकट किया, बल्कि यह भी कहा कि राजा की सम्पत्ति पर भी बीच का पूरा-पूरा अधिकार है और राजा द्वारा उसका प्रयोग करने के लिए बीच की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक है। इस विवाद में और बाद में आकर नकारिका के मुर्दे एवं बीच के मध्य उठने वाले विवाद के दौरान राज्य की ओर से यह तर्क उपस्थित किया गया कि चर्च का सम्मान केवल साम्प्रदायिक जीवन से है। अतः उसे केवल चर्च सम्मानों वाली तक ही अपने अधिकारों का प्रयोग करना चाहिए। इस सिद्धान्त का सर्वोत्तम प्रतिपादन अन्तिम रोचक मामलों ने किया, जिसकी चर्चा आगे संचारस्थान की जाती है।

वास्तव में दो राजाओं के सिद्धान्त ने मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन पर तो बहुत प्रभाव डाला ही, लेकिन यूरोप की राजनीतिक विशेषताओं की निर्धारण करने में भी बड़ा योग दिया। "मध्य युग ने मुख्य प्रश्न दोनों कलाओं के अन्तर्गत सम्मान का था लेकिन इसका प्रभाव मुद्दों स्थायी हुआ। साम्प्रदायिक स्वतन्त्रता के विचारों और साम्प्रदायिक स्वतन्त्रता के अधिकार ने ही सामुदायिक काल के व्यक्ति-अधिकार और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के विचारों को जन्म दिया।"¹

ईसाइयत की देन (The Contribution of Christianity)

(1) आधुनिक विचार एवं संस्कृति की ईसाइयत की प्रमुखतम देन यह है कि इसने मनुष्य के भौतिक एवं साम्प्रदायिक हितों में एक स्पष्ट विभाजन किया है। इसके अनुसार मनुष्य का दो कसों के निर्माण हुआ है—बरीर और मजमा। बरीर का हित मजमा के हित के विरुद्ध होता है। बरीर के रूप में मनुष्य—इन्द्रिय बुद्धि, सामाजिक शक्ति एवं समृद्धि आदि की कामना करता है। मजमा के रूप में यह पक्ष है चूंकि ओर मोक्ष की प्राप्ति चाहता है। प्रथम की वह भौतिक प्रकृति भौतिक समाज का सदस्य होकर एवं उसके सदस्यों का ध्यान करते या करता है, जबकि दूसरे की ईसाई चर्च की सदस्यता एवं ईश्वर की अनुकम्पा द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। यद्यपि दोनों के प्रति निष्ठा रखता व्यक्ति का कर्तव्य है, किन्तु

कभी-कभी भक्ति और राज्य-भक्ति में समर्थ की स्थिति हो जाती है। ऐसे समय में वर्ष की भक्ति प्रकृति पारमौलिक हित का स्वतन्त्र प्रथम होना चाहिए। धार यह है कि "रोमन साम्राज्य के केन्द्र बिन्दु पर ही एक दैविक वर्ष की स्थापना करके ईसाई धर्म ने एक नई रात उत्पन्न की। उसने एक ऐसे और सर्वथा नवीन समय की प्राप्ति को जन्म दिया जो राज्य के सामने खड़ा हुआ उससे स्वातन्त्र रह कर कार्य करने का दावा कर रहा था।"

(2) ईसाइयत ने जीवन के व्याप्यात्मिक क्षुब्धों की प्राप्ति को राज्य के कार्य-क्षेत्र में घुसकू कर दिया। ईसाइयत ने राज्य के कार्य-क्षेत्र को सीमित करते हुए कहा कि उसका कार्य केवल मौलिक या भौतिक कार्यकलापों की देखभाल करना है, मनुष्य की धार्मिक उन्नति के उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस क्षेत्र में उसकी सहभागिता के लिए बर्मे हैं।

(3) ईसाइयत ने मानव के भौतिक हितों की समेक्षा उसके धार्मिक कल्याण पर अधिक महत्त्व देते हुए यह सिखा दी कि व्याप्यात्मिक हितों की पूर्ति किए बिना जीवन की गुण नहीं कहा जा सकता।

(4) वरसात्ता के विद्वल और मनुष्य के प्राकृतिक के अपने विद्वान्त द्वारा ईसाइयत ने मानव-समानता के बटीरक विद्वान्त को साकार रूप दिया। उसने मनुष्य के व्यक्तित्व का सम्मान करने का हन्देश देते हुए मान्य की कि उसे साम्य समझा जाना चाहिए, साधन नहीं। ईसाइयत का जैन-विद्वान्त सर्वोत्कृष्ट तथा मानवतावादी दोनों का प्रतिरूपण कर रहा। उसका कल्याणशील तथा समता प्रधान दृष्टिकोण सभी में पारस्परिक सहृदयता का एक अभिन्न घन बना हुआ है।

धनरा: वेसाइय के सम्यो ने कहा जा सकता है कि, "ईसाई धर्म का एक ऐसी सत्ता के रूप में किसे मनुष्य के धार्मिक विषयों के ऊपर राज्य के स्वातन्त्र रह कर शासन करने का अधिकार हो, सम्मुख होना पारसाय मूलोव के इतिहास में, राजनीति और राज्यभौतिक वर्जन के दृष्टिकोण में, एक अन्तिकारी बनता भी।"

मध्यकालीन स्कूल : टॉमस एक्वीनास और उसका विद्यानुराग, मार्सो लियो ऑफ पेडुआ, आदि

(The Medieval School : Thomas Aquinas and his
Scholasticism, Marsilio of Padua, etc.)

मध्यकालीन राजनीतिक चिन्तन की पृष्ठभूमि

(The General Background of Medieval Political Thought)

रोमन साम्राज्य की नीवुनि पर यूरोपीय इतिहास में जिस नवीन प्रस्थान का प्रारम्भ हुआ, राजनीतिक विचार की दृष्टि से उसे मध्ययुग (Medieval Period) कहा जाता है। मध्यकाल के प्रारम्भ होने की निम्न विवादास्पद है। नई हमारे लिए इसका ज्ञान का भी है कि प्राचीनकाल के अन्त और मध्यकाल के प्रारम्भ की सूचना देने वाली घटना जर्मन एवं दक्षिण आशिया की परिवर्तनी रोमन साम्राज्य पर विद्यमान है। मध्ययुग के 'प्रारम्भ' की अनिश्चितता के समान ही उसके 'अन्त' का भी ठीक-ठीक निश्चय नहीं हो पाया है, क्योंकि इस युग की भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न समय पर समाप्त हुई थी। फिर भी राजनीतिक विचार की दृष्टि से इसका अन्त सामान्यतः मैकिवावेली (1469-1527) के जन्म माना जाता है। मैकिवावेली को राजतन्त्र के विरुद्ध मध्यकाल के अन्तिम और आधुनिक काल के प्रथम राजनीतिक विचारक की दृष्टि से स्वीकार करते हैं। ईसा के जन्म से मैकिवावेली तक देखा हुआ लगभग 1500 वर्ष के दूर युग का राजतन्त्र के इतिहास में अपना विशेष महत्त्व है। प्रस्तुत प्रसंग में सर्वप्रथम हम उन प्रधान व्यक्तियों का उल्लेख करेंगे जिन्होंने मध्ययुगीन राजनीतिक विचारों पर अत्यन्त प्रभाव डाला। ये मुख्य निम्नलिखित थे—

1. दक्षिण (जर्मन) आशिया के विचार ।
2. सामन्तवाद ।
3. पोप की शक्ति का विकास ।
4. नवीन रोमन साम्राज्य ।
5. राष्ट्रीयता की भावना का सम्मुख ।

1. द्यूटन (जर्मन) जातियों के राजनीतिक विचार (The Political Ideas of the Teutonic People)

द्यूटन द्यूटन जाति ने न केवल बहुत होते हुए रोमन साम्राज्य के सुने को चुल्लू भर कर दिया बल्कि साम्राज्य जगत् को नवीन राजनीतिक विचार भी प्रदान किए । द्यूटन जाति अपने साथ जो कुछ नई चीजें रोमनों से लीं जो कुछ उत्तरा-विचार से मिली, उन दोनों की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया के कारण ही उस साम्राज्यवाद का जन्म हुआ जिसका वर्तमान हम जाने करते हैं । रोमन साम्राज्य को पदाच्छन्न करने के बाद द्यूटन जातियों ने जहाँ-जहाँ भी सामन-सत्ता स्थापित की वहाँ वे अपनी राजनीतिक परम्पराएँ और कानूनाएँ लेते गए । इन द्यूटन जातियों में प्रमुख फ्रैंक, मैसोन, एंगल तथा यूट, डर्लमर तथा बर्मेन्डिगन, ब्रह्मन, मुएन तथा लम्बाई जातियाँ थी । साम्राज्य यूरोप में जो वर्तमान राज्य आए जाते हैं, उनमें से अधिकांश के निर्माण में इनही जातियों का विशेष भाग रहा है और आज भी इन पर उनके राजनीतिक विचारों की स्पष्ट छाप परिलक्षित है ।

द्यूटन जातियों ने जिन प्रमुख राजनीतिक विचारों को पुनर्रिक्त किया वे हमारे सामने निम्नलिखित हैं—

(1) वैयक्तिक स्वतन्त्रता—द्यूटन (जर्मन) लोग राज्य की गुणता के व्यक्ति को हीरकपूरुष मानते प्रयत्न करते थे । इसका मुख्य कारण यह था कि वे लोग योद्धा थे और उनके लिए यह सम्भव नहीं था कि वे व्यक्ति की शौर्य-भावना का भगवान् करें । वास्तव में वे कहते हैं, “उनके हृदय में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और राज्य की गुणता के व्यक्ति के मूल्य और वर्तन का बहुत बड़ा सम्बन्ध था ।” वैयक्तिक महत्त्व का यह भाव उनकी भाव-भावस्था में भी स्पष्टतः अभिव्यक्त होता था । वे सम्राटों को सेवा देने का कार्य राज्य का नहीं मानते थे । वे सम्राटों को उस व्यक्ति को मानते थे जिसके प्रति सम्राट्य किया गया हो । इस तरह—केवल नहीं व्यक्ति सम्राटों को श्रेष्ठ देता था जिसे प्रति पहुँचती थी । यह विचार उस समय भी प्रचलित रहा जब सम्राटों को श्रेष्ठ देना राज्य का बर्तमान माना जाता, क्योंकि द्यूटनों ने सम्राटों को दमिस्त करने का कार्य अपने हाथों में ले लिया । उस समय भी सम्राटों को लिए जाने वाले सर्वोच्च का एक भाग उस व्यक्ति को दिया जाता था जिसे सम्राटों ने श्रेष्ठतः या श्रेष्ठतः किया हो ।

द्यूटन जातियों की समस्त प्राथमिक चरित्रों में लोकतन्त्र के तत्त्व मौजूद थे । सामाजिक जीवन की दृष्टि व्यक्ति का, राज्य नहीं । ईसाइयत भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और व्यक्ति के मूल्य पर बल देती थी । अतः उस समय यह सोचना स्वाभाविक था कि इन दोनों विचारधाराओं में ताल-मेल हो जाएगा । लेकिन यह सोचना कभी नहीं हुआ कि ईसाई व्यक्ति के महत्त्व और मूल्य के विचार साम्राज्यवाद का वही बीज ही चुल्लू भर रहे हैं । मध्यकाल के निम्न, बेछी, समुदाय भक्त का धर्म ही लोकतन्त्र के जीवन में व्यक्ति के स्वतन्त्र अभिव्यक्ति को समर्थन कर दिया । परन्तु फिर भी साम्राज्य व्यवस्था के राजनीतिक संरक्षण में व्यक्तिगत अधिकारों की

हुए थे जो तक नुरक्षित रहने का बीमार्थ मिला। इस तरह व्यक्ति की मर्यादा के विचार का समुप मोड़ नहीं हो पाया। 'पुनरुत्थान' (Renaissance) तथा 'पुनार' (Reformation) के दो महान् पाण्डेयों में व्यक्ति की मर्यादा के विचार की पुनर्जीवन मिला। फलस्वरूप यह सिद्धान्त आधुनिक युग तक या पहुँचा।

(2) प्रतिनिधि शासन-प्रणाली का विचार—यूरोप में प्रतिनिधि शासन-प्रणाली (Representative Government) के विचार की पुनः करने का श्रेय भी वास्तव में दुरुद्धन जाति को ही है। शासन में दुरुद्धन लोगों ने दो प्रकार की सभाएँ थी—राष्ट्रीय सभा और स्थानीय प्रतिनिधि सभा। राष्ट्रीय सभा में जन-जाति के समस्त स्वतन्त्र सदस्य होते थे। यह सभा सुविधाओं का निर्धारण करती थी, अपने सम्मुख पेश किए गए प्रस्तावों पर निर्णय देती थी और कभी-कभी विशेष मुकदमों की सुनवाई तथा उन पर निर्णय देने का कार्य भी करती थी। किन्तु राजधानी के स्थापित होने पर इस सभा का मोड़ हो गया। स्थानीय प्रशासन के क्षेत्र में, स्थानीय लोगों में, स्थानीय प्रतिनिधि सभाएँ होती थी। ये सभाएँ स्थानीय प्रश्नों का विचार तथा विवादों का निर्णय करती थी। ये सभाएँ यूरोप में मध्ययुग के अन्त तक मौजूद रही। पुनर्जाति राजन-कानून के ऊपर आधारित एक नवीन स्थान प्रणाली में उन्हें सम्पन्न कर दिया, किन्तु स्थानीय प्रतिनिधि सभाओं का विचार विद्यमान रहा। इंग्लैंड में लोकसभा का विचार इसी प्रकार की सभाओं का आधार बकर हुआ। परिचरित केवल इतना ही किया गया कि स्थानीय प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त की सम्पूर्ण समुद्र की लोकसभा के निम्न स्वीकार किया गया। दुरुद्धन की स्थानीय प्रतिनिधि सभाओं में ही मिला (Borough) और ग्राम (County) परिचरित जैसी स्थानीय सभाओं की स्थापना के निम्न आधार प्रदान किया।

(3) श्रेष्ठ शासन—जर्मन जातिओं में शासन में राजा के निर्धारण की मर्यादा थी। बाद में यह पद राजानुपवन बन गया तथापि शैक्षणिक रूप से राजा के चुनाव के विचार की स्वीकार किया जाता रहा। अनेक सत्राणियों तक सम्राट का निर्धारण सम्पन्न द्वारा होता रहा। अंत में धीरे-धीरे शासनप्रणाली में बदल होने पर भी यह विचार बना रहा कि जनता राजा को अपनी कार्यक्षम पालन में करने पर हटा सकती है। 1688 की अन्ति तथा हेनोवर पद के विद्रोहनामक होने पर यह सिद्धान्त स्पष्ट रूप से स्थापित हो गया कि जनता के प्रतिनिधियों की निहालन प्रदान करने का अधिकार है। इस प्रकार नर्ममात्र का शासन वास्तव में मर्यादों में परिचरित हो गया। स्पष्ट है कि निर्धारित राज्यतन्त्र के दुरुद्धन सिद्धान्त ने वर्तमान श्रेष्ठ शासन प्रणाली के सिद्धान्त की 'निर्धारित' करने में बड़ा महत्व दिया।

(4) कानून का विचार—दुरुद्धन लोगों की मान्यता थी कि कानून का निर्धारण सम्पन्न सम्पूर्ण जनता की सम्पन्न है होता है, यथा जनता की समुपति में ही इसे 'राष्ट्र' किया जाता चाहिए। व्यक्ति की कानूनी अधिकार केवल व्यक्ति होने के नाते प्राप्त हैं न कि राज्य का सम्पन्न होने के नाते। कानून सम्पन्न

यह कारणों से रोमन कानून की धारणा से भिन्न थी। रोमन साम्राज्य में कानून-निर्माण की शक्ति अलग से निहित न होकर सम्राट में केन्द्रित थी। रोमन कानून का आधार क्षेत्रीय या स्थित साम्राज्य के अर्थात् सब जगहों पर लागू किया जाता था। दूसरी ओर कानून का आधार वैयक्तिक था। दूसरे कानून प्रणाली में प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार था कि वह अपने कानून के आधार पर न्याय प्राप्त करे। दूसरे समय अर्थात् जहाँ कानून को एक कमीसे विवेक की बहुत मानती थी। कानून कमीसे विवेक का एकता-पूर्ण था जो कमीसे के साथ-साथ धर्म का होता था। जहाँ से दूसरे कानून ऐति-विशेषों पर आधारित होता था। राजा प्रायः प्रशिक्षित ऐति-विशेषों को सहित-बद्ध करके उन्हें कानून का रूप देता था और सब को उनके बीच हूँदा अनुभव करता था। यह अपनी दृष्टि से किसी कानून में परिवर्तन नहीं करता था। दूसरे समय में कानून का पता लगाना, उसकी परिभाषा और उपयोग करना न्यायाधीशों का कार्य था, जो स्थानीय सामंजसिक सुधारों होती थी।

जब द्रुपद और रोम ने बात की तो वे रोमन कानून के सम्मान नहीं हुए बल्कि उन्होंने अपने कानून और उनके अनुसार शासित होने के अधिकार की वजह रखा। उन्होंने यूरोप में यह विचार लुप्त किया कि कानून का कृम्य आधार बनता है प्रकृतित रोहि-निवाह है और कानून का प्रकृतित आधार बनता है। उन्होंने वैयक्तिक कानून के विचार भी दूर किए।

इस तरह हमने देखा कि प्रतिनिधि स्वामीय संघार्थ, निर्धारित राजस्व तथा एक सामान्य कानून की आवश्यकता—ये तीन मौलिकीय संघार्थ स्थापित जाते हैं। इन संघार्थों की पूर्ति के लिये वृत्त के स्वतन्त्र संवैधानिक शासन के माध्यम से एक नया प्रयास होगा ।

2. सामप्रदायिक (Franchise)

मध्ययुगीन राजनीतिक विचारों पर प्रभाव डालने वाला दूसरा प्रधान ग्रन्थ सामन्तवाद था। यह प्राचीन रोमन व्यवस्था और लैटिन दार्शनिक कुम्मासो की एक दूसरे के ऊपर किया-प्रतिक्रिया का परिणाम था। केसरन के अनुसार, "सामन्तवादी संस्थान मध्ययुग पर चलने की पूर्ण रूप से छाए हुए के शिखर जगत्-राज्य प्राचीन काल पर।"

साफ़त यथा 'ने सेवल यूरोप के सामाजिक जीवन को है। उपनिष्ठा 'हो
 किता, बलिब साधार, भाण्ड सादि देतो मे जो बहु पुन विकसित हुई। चार्लेमैन
 (Charlemann) द्वारा स्थापित रोमन साम्राज्य की स्थापति पर जो अग्रगण्यता
 पैदा हुई उसके 9वीं से अन्ततः 13वीं शताब्दी तक सामन्तवाद विकसित होता रहा।
 इसके बाद स्वातन्त्र की उन्नति के कारण यह पतन की ओर बढ़ गया। बाहुन उन
 यूरोप में किसी सर्वोच्च सत्ता का अभाव था तब सामन्ती यथा ने शक्ति बनाए
 अपने छोटे-छोटे जीवन को सुरक्षित करने पर बहुसंख्यक कार्य किया। पी. एफ. लुडिन

के समर्थ में, "सामन्तवाद एक प्रकार का राज्यदानीय दण्डिमानवाद था, क्योंकि यह कुछ हद तक सामाजिक और राजनीतिक संरचना के साधारणतः स्वीकृत रूप में व्यक्तित्व था। इसका मूल मकसद भूमि का छोटी इकाइयों में विभाजन था, जिसका सामान्य सिद्धान्त यह था—प्रत्येक व्यक्ति का एक स्वामी होना चाहिए।"

सामन्तवाद का विकास पूर्व साम्यवादीय युग की व्यवस्था और धार्मिक राज्य की व्यवस्था की सम्मिश्रणों काई की पारने के लिए एक परिणाम युग के रूप में हुआ था। यह साकल-प्रशासी कृत्रिम-कृत्री राजतन्त्र में (उदाहरणार्थ इंग्लैंड में) परिणतित हो गई। यही स्वेच्छाकारी राजतन्त्र और फिर वैधानिक राजतन्त्र की स्थापना हुई। केन्द्रीकरण के सबसे बड़े उपलब्ध दूरीय के परिणामी और में हुए—विशेषकर इंग्लैंड एवं फ्रांस में। कुछ प्रमुख स्तरों में भी हुए। राजाओं द्वारा विधान सामन्तिक शासीयों की नियन्त्रित और समाप्त करके अपने हाथों में शक्ति का केन्द्रीकरण करने की नीति के प्रभावशील प्रथम स्थायी शताब्दी में अपनाए गए।

सामन्तवादी विधिविभाजक संरचना में शीर्ष पर राजा का स्थान था और उसके नीचे उपान सामन्त, उप-सामन्त आदि होते थे। उपान सामन्तों में कुछ कावन्ट, मार्सेन, मार्कविशप, बिशप आदि उच्च पदावीय व्यक्ति थे। वे अपनी अधिकारी भूमि की ऊँची शर्तों के आधार पर कावन्ट, मार्क कावन्ट आदि उप-सामन्तों (Sub-Vassals) में बाँट देते थे जिन शर्तों पर राजा उन्हें अपनी भूमि विभाजित करता था। वे उप-सामन्त भी दम्पे प्रकार की शर्तों पर अपनी भूमि वास्तव कहलाते वाले छोटे सामन्तों में विभाजित कर देते थे।

इस प्रकार सामन्तवाद के प्रमुखतः दो प्रचलित रूप थे—एक राजनीतिक, दूसरा सामाजिक। वे दोनों रूप सत्ता-सत्ता होते हुए भी अपनी दण्डित व्यवस्था में एकीकृत हो गए। राजनीतिक सामन्तवाद केन्द्रीकरण के रूप में प्रकट हुआ जिसने सन्तर्गत सुरक्षा, न्याय, सैनिक शक्ति की व्यवस्था आदि के सङ्गठनपूर्ण कार्य राजा की शक्ति उनके सामन्त करीब थे। सामन्तवाद के इस विधिविभाजकी (Hierarchy) रूप में व्यक्ति अपने से ऊपर वाले इकाइयों के और से स्वामी अपने से उच्चतर स्तरियों के अधीनस्थ थे। इस रूप में शक्ति में उच्चतम स्वामी राजा का सेवक होता था। सामन्तवादी व्यवस्था में राजा का अवकाश से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता था, अवकाश की विनियम सेवक की-सी थी जिसका प्रमुख कार्य अपने उच्च परिसरों के सारे-सी का राज्य करना था। परिणत सामन्तवाद का सर्व भूमि अधिकारण (Land Tenure) की ऐसी प्रणाली है या जिसके सन्तर्गत भूमि जोड़ने वाले लोग एक भूमि की किसी दूसरे से जागीर (Fief) के रूप में प्राप्त करते थे। वे उस भूमि के वास्तविक स्वामी नहीं होते थे किन्तु उनके हित होते ही होते थे जैसे स्वामियों के थे। जब तक भूमिदार शर्तों और कर्तव्यों का पालन करते थे तब तक भूमि पर उनका अधिकार बना रहता था, अन्यथा भूमि उनके वापिस लौटी जाकर दूसरों की दे दी जाती थी। शर्तों का पालन किया जाने पर भूमिदारों से भूमि का अधिकार उनके उत्तराधिकारियों को हस्तान्तरित कर दिया जाता था। जैसे सैनिक

का सर्वोच्च स्थायी राजा होता था जो अपने अव्यक्त अधिकारों ने स्वयं सम्पूर्ण भूमि पर फैली कराने में सक्षम होने से भूमि को अधिक टुकड़ों में विभक्त करके बहुत से व्यक्तियों (सामन्तो आदि) में बाँट देता था। ये सामन्त उन्हें मनीं पर अपने से छोटे उप-सामन्तो और वे उप-सामन्त अपने से भी छोटे अन्य व्यक्तियों में उन्ही मनीं पर भूमि विभाजित कर देते थे। इस तरह सू-सामन्तो के विभाग, उप-विभाग होते चले जाते थे।

सम्राट तथा सामन्त का सम्बन्ध

सामन्ताधीन प्रथा में राजा या सम्राट और उसके सामन्तों का सम्बन्ध बराबर का नहीं था। सामन्त को सम्राट समझें राजा या सम्राट के प्रति निष्ठावान रहना पड़ता था और उसकी आज्ञा भी माननी पड़ती थी। सामन्त का कर्तव्य था कि वह आवश्यकतानुसार सम्राट की सैनिक सेवा करे। वह सम्राट की दरबार में हाजिर होता था और उसे सम्राट की सेवा देनी पड़ती थी। उसे अपने प्रसार में सुवृत्त करने पड़ते थे। उसके से निश्चित कर्तव्य निश्चित और सीमित थे। उदाहरणार्थ, वह तब था कि किस सामन्त की सैन्यी और किस प्रकार की सैनिक सेवा करनी है? सम्राट की भी अपने सामन्तों की सहायता और रक्षा करनी पड़ती थी। वह उन आचारों मर्यादा आदिों का पालन करता था जो सामन्तों के अधिकारों और सुविधानों की व्याख्या करते थे।

सैद्धान्तिक रूप से सामन्त अपनी आज्ञा की छोड़कर सम्राट के प्रति अपनी पराधीनता से मुक्ति पा सकते थे। लेकिन, व्यवहार में ऐसा ऐसा बहुत ही कम होता था। यदि सम्राट सामन्त को उसके अधिकारों से वंचित करता तो सामन्त अपनी को अपने अधिकार में रखते हुए अपने अधिकारों को विभाजित से दूसरों को देकर देता था। मेराइन के हम्बो ने बसकुतः "एक सामन्ती व्यवस्था में पारम्परिक ऐच्छिक करने-लानेदार और वंचित सम्बन्ध एक ऐसा-बाब था जो सामुहिक राजनीतिक सम्बन्धों से पूरी तरह भिन्न हो गया है। यह निश्चित कुछ ऐसी भी कि जब एक सामन्त की स्वतन्त्रता का मान्य न हो, वह एक निश्चित सीमा से जाने कर देना सम्भव कर दे, निश्चित समय से परे सैनिक सेवा न करने का दायी चीजों से दम्भ कर दे। इस दृष्टि से राजा की निश्चित सिद्धान्त से ही भुक्त थी ही, वह व्यवहार में दुगुनी कमजोर थी। सामन्ती सामन्त सामुहिक राज्य की सुवृत्त में बहुत अधिक निश्चित सीमा होता है। दूसरी ओर सामन्ती भूमि व्यवस्था के सम्बन्ध कभी-कभी राजा या विशेष रूप से कोई परिवार केवल ही जैसे विविक्त ज्ञानों द्वारा अपनी वक्ति में वृद्धि कर करता था। वक्ति में कैपेटियन वन (Capetian Dynasty) की वक्ति राज सामन्त के स्थानान्तरण के कारण ही सीमा ही बढ़ गई थी।"¹

सामन्ती दरबार (The Feudal Court)

समिति और उसके सामन्ती या दरबार एक विशेष सामन्ती निकाय थी। यह ऐसी परिषद् थी जो सामन्ती-व्यवस्था के विभिन्न विचारों का निर्णय करती थी। समिति अपने सामन्त जब कभी यह अनुभव करती थे कि उनके अधिकार का अधिकतम हुआ है तो वे दरबार के अन्य सदस्यों से उचित निर्णय हो प्रोत्त करती थे। यह मुग़ ऐंग या जब चार्टरी और परम्परागत अधिकारों की कड़ी-लाचुर्बक रहा भी जाती थी। ऐसा नहीं था कि राजा या समिति अपनी इच्छानुसार ही निर्णय कर ले।

सामन्ती दरबार नैदानिक रूप से प्रत्येक सामन्त की गारन्टी देता था कि विशेष करारों या चार्टरी और कानून के अनुसार उसके नामों की सुरक्षा की जाएगी। दरबार द्वारा किए जाने वाले प्रत्येक निर्णय की दरबार के सदस्यों की सम्मति से शक्ति द्वारा लागू किया जाता था। वहीं अधिकतम निर्णय सामन्तों के विचारों के सम्मेलन से किए जाते थे, वहीं कुछ मामलों में निर्णय राजा के विरुद्ध भी हो जाते थे। मैग्नाकार्टा की 61वीं धारा में राजा जॉन (John) के 25 बंधनों की एक समिति को चार्टर लागू करने का अधिकार दिया गया था। "यह समिति राजा के ऊपर आरोपित विचारों की रोक कर लेने की एक बैठक थी।"

वास्तव में सादरी सामन्ती समझन में राजा 'समन्तों में प्रथम' (Primus inter pares) था। 'एडाइजिय सॉफ़ि जेक्केशन' (Adages of the Jurisdiction) में यह स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट कर दिया था कि सामन्तगण अपनी उन व्यापकृत स्वतन्त्रताओं की रक्षा के लिए समिति को बाध्य कर सकते हैं जो दरबार द्वारा निर्धारित कर दी गई हो। दरबार में दरबार स्वयं या राजा और दरबार दोनों मिलकर समुक्त जाहल करती थे किसे सामुदायिक राजा के विचारों, कार्यकारी तथा न्यायिक—जो प्रकार के कार्य सम्मिलित थे।

सामन्तवाद और राज्य (Feudalism and Commonwealth)

मध्ययुग में सामन्त के ऊपर ने ही विचार थे। प्रथम विचार के अनुसार राजा का करने सामन्तों के साथ समिन्तों सम्मेलन था। राजा स्वयं इसमें एक रहता था। द्वितीय विचार के अनुसार राजा राज्य का प्रधान था। लेकिन वे दोनों ही विचार परस्पर दुर्लभित नहीं थे। एक और तो यह माना जाता था कि विधि में राजा का निर्माण हुआ है और यह विधि के अधीन है। दूसरी ओर यह भी माना जाता था कि राजा के विरुद्ध न तो कोई घातक ही विचारता आया और न उसे अपनी स्वातन्त्र्य की सामान्य प्रक्रिया द्वारा बाध्य किया जाता था। सम्भवतः इन दोनों विचारों के सम्मेलन में ही सामन्ती दरबार की एक ऐसा झेल बना दिया जिसके उत्तर मध्ययुग के सार्वजनिक सिद्धान्त और तर्कारों विकसित हुईं।

सामन्त प्रथा का मध्ययुगीन राजनीतिक विचारों पर प्रभाव

(1) राजा का नियन्त्रण—सामन्त-प्रथा के कारण राजा की प्रजा पर 16वीं, 17वीं शताब्दियों के यूरोपियन राजाओं की शक्ति निर्दुक्त अधिकार प्राप्त

गयी है। उनकी शक्ति समर्पित, बहुत सीमित तथा नियमित थी। राज्य के अनेक कार्य सामन्ती द्वारा किए जाते थे। केना की दृष्टि से राज्य सामन्ती पर निर्भर था। सामन्ती का प्रभाव राजा के प्रतिष्ठित तन्त्र की संरक्षित में बल सकता था। सामन्तमित्र के समक्ष सामन्त राजा से अन्त्या के सम्बन्धों और रीति-रिवाजों की रक्षा की प्रतिज्ञा करवाते थे। राजा की निरकुशलता पर एक नियन्त्रण मध्ययुगीन गानून की बहुत पारख्य थी जिसके अनुसार राज्य रियासत २ रूप में बंटे जाते जाते कानूना के शासन के लिए राज्य या और अपनी दम्पत्य से किसी कानून की नहीं बदल सकता था।

(2) अधिकार कर्तव्य का सिद्धान्त या सविद्या का तन्त्र—सामन्ती व्यवस्था की एक बड़ी विशेषता अधिकारी एवं कर्तव्य का अवयव होता था, अर्थात् स्वामी तथा सेवक के सम्बन्ध सम्भक्ति से नियमित होती है। स्वामी के अधिकार सेवक के कर्तव्य थे ही इसी प्रकार सेवक के अधिकार स्वामी के कर्तव्य थे। राजा भी इन सम्बन्धों में रीति था। कुछ विद्वानों के अनुसार इसी का विवक्षित रूप 'सांसारिक सम्भक्ति का सिद्धान्त' हुआ।

(3) सत्ता का विभेदीकरण—सामन्त चरित्र में वास्तव-वर्तित राजा से विभक्त बने एक के सामन्ती और सरदारों से विभक्त थी जो अपने-अपने स्वतन्त्र प्रदेश में सर्वोच्च अधिकारी होते थे। इसी दशा में सर्वोच्च अनुसत्ता (Sovereignty) के विचार की कोई स्थान न था।

(4) सामन्ती-भक्ति का महत्त्व—इस व्यवस्था में स्वामी-भक्ति को बहुत उच्च स्थान दिया जाता था। सामन्ती न, बल्कि न छोड़ ही का बड़े, साम्राज्यत्व तथा कर्तव्यपरायणता का भाव विद्यमान थे। इससे वर्तमान राष्ट्रीय राज्यों के विकास में बड़ी महत्त्वता मिली। राजा न सामन्ती की पराधारी का साथ उठाकर विजात साम्राज्य का विरोध किया। कुछ एवं सन्धि के दोनों ही सम्बन्धों में सामन्ती की अनुसत्ता और राजा की सेवा करनी पड़ती थी। अतः इस विचार को बत बिना कि प्रत्येक भक्ति का राज्य एवं समाज के प्रति कुछ कर्तव्य है जिसका पालन किया जाना चाहिये।

3. धर्म की शक्ति का विकास (Growth of the Papal Power)

मध्ययुगीन राजनीतिक विचारों पर सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव धर्म एवं उसके चर्च का पड़ा। साम्राज्य सर्वोच्च से ईसाई धर्म, चर्च विज्ञानी और चर्च चर्चणियों के प्रति बढ़ा दी। चर्च में भी विभिन्न जातियों की ईसाई धर्म के प्रति बढ़ा का पूरा साथ उठाया। उसने एन्गे ईसाई धर्मोपलब्धी बना दिया और उसने सामन्ती के चक्र पर। राज्य की शक्तियों में राज्यपूर्णक स्वे चर्च के कारण ही चर्च न केवल धार्मिक रक्त प्रत्युत उसने चर्चों की और भी अधिक शक्ति बनाया। चर्च की शक्ति का इनका विराट् हुआ कि मध्ययुगीन राजनीतिक विचारों की चर्चणों निमित्त करने में वह सबसे अधिक प्रभावशाली शक्ति बन गया। धर्म इसे धर्म के धार्मिक चर्च (The Holy Catholic Church) कहकर बुलाते थे। चर्च एक महत्त्व धार्मिक शक्ति

के रूप में विकसित हुआ। उसके प्रधान तथा ईश्वर के प्रतिनिधि पौप की व्यवस्था में सम्पूर्ण पश्चिमी ईसाई संसार एकता के सूत्र में बँध गया।

पौप रोमरी महान् ने अपनी योग्यता, राजनीतिकता और दूरदर्शिता के चर्च के प्रभाव को बढाया। उसने पश्चिमी अफ्रीका के सासकी को बेल्जियम और नीडरलैंडों के साथ पुराने प्रभाव के साथ जोड़ा। उसने सम्बन्धों के विनाशकारी को रखा करने में शुरू में सफलता प्राप्त की। मध्य एवं दक्षिणी इटली में शासन का कार्य कियात्मक रूप से उसने अपने द्वारा वे के लिए। उसने विदेशों को चर्च की जायरी के सुझाव स्थापित करने और धार्मिक कार्यों के सम्मान्य लोक-संस्थापकरी राजनीतिक करने करने की कहा। इस तरह रोमरी ने पौप की पौप की प्रवृत्ति के क्षेत्र को विस्तार और सर्वमान्य बनाने का प्रयत्न किया। उसने पावरियों के नियमों के सम्बन्ध में एक पुस्तक (*A Book of Pastoral Rules*) द्वारा भी पौपशाही के प्रभाव का विस्तार किया।

पुनः समय बाद सम्बन्धों ने इटली पर कुछ प्रभावशाली कर दिए। इस समय रोमन सम्राट इटली की शासन करने में व्यस्त था। मध्य पौप के फ्रैंकिश राजा चार्ल्स मार्टेल (*The Frankish King Charles Martel*) ने सहायता दी। उसने और उसके पुत्र पेरिन ने सम्बन्धों को चार प्रभाव की प्रवेश उन्होंने सम्बन्धों के धार्मिक होने और जिस पर पहले इटली के पूर्वी सम्राट का अधिकार था, वे उन्होंने पौप की दे दिए। इस तरह मध्य पौपशाही की द्वारा में राजनीतिक दृष्टि से भी वह राजनीतिक शक्ति का गई जो साम्राज्यिक रूप से उसके पास पहले के ही थी। पौप ने इस उपहार के करने से 754 ई. में पेरिन को फ्रैंको का बंध राजा स्वीकार किया।

पौप की शक्ति में दृढ़ि का एक महत्वपूर्ण घटक पौप विषय तृतीय के समय माना। फ्रैंकिश राजा पेरिन के पुत्र कार्लमैन (768-814 ई.) ने यूरोप के अधिकांश भाग को जीत लिया। उस समय पौप विषय तृतीय और उसके राजनीतिक विशेषियों के बीच बल रहे विवाद का कार्लमैन ने सफल निराकरण किया। इससे उपरान्त ने एक धार्मिक संस्थान का स्थापन किया गया। जब कार्लमैन रोम के ग्रेट पीटर चर्च में कार्यवाही करते हुए महत्त्वपूर्ण हुआ, तभी (800 ई. क्रिस्तिस का दिन) पौप विषय तृतीय ने उसके लिए पर सम्राट का मुकुट रख दिया। यह घटना शून्य की दृष्टि से बड़ी ही असाधारण सिद्ध हुई। इसके बीच परिस्थान निकले—बलम्, यह घटना इस बात को सूचित हुई कि चर्चों के सामन्त ने धार्मिक स्थापनाओं का राज की कुछ निज गई है; द्वितीय, इस घटना के बाद यह सिद्धांत स्थापित गया कि पौप ने इस विधि द्वारा शासन-सत्ता सम्राट को बढाने की है और सम्राट को पौप के आदेशों का पालन करना चाहिए; तृतीय, यह घटना लौकिक विषयों में पौप के हस्तक्षेप का प्रारम्भ बिन्दु बन गई। जब पौपशाही की साम्प्रदायिक संस्था का राजनीतिक क्षेत्र में अधिकधिक प्रवेश होने लगा।

मध्ययुग में रोम और चर्च की सर्वोच्च सत्ता का समर्थन करने के लिए कुछ भूरे ब्राह्मण-रथ बड़े गए जिसका उद्देश्य, "विशेषी की स्थिति को मजबूत करना, विशेषकर लौकिक शासकों द्वारा उनकी परम्परा और सम्पत्ति की रक्षा के रोमन, अपने शोभाधिकार के सम्बन्ध में जाने वाले पादरिषी के ऊपर अपने नियन्त्रण को बढु करना, और उनकी धर्मो-परिषदों (Synods) के प्रतिरिक्त अन्य किसी विरोधार्थ से स्वतन्त्र करना था। इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए वे पार्सियनको की सत्ता को कम करना (क्योंकि पार्सियन लौकिक शासकों के अधिकारों को समर्थन देते) और रोम की शक्ति को बढ़ाना चाहते थे। इन सत्ताधियों ने विश्वको कई धर्मिकार दे दिया कि वे अपने मामलों की रोम से सल्लाह कर सकते थे और जब तक निर्णय न हो जाता, वे अपनी परम्परा और सम्पत्ति की रक्षा से बच सकते थे। रोम का दरबार किसी भी धर्मिक मामलों का निर्णय नहीं हो शक्तिशाली भाषा में करता था। इसलिए, नवीं सताब्दी की वे भूरी पर्याप्तियों इस प्रकृति को प्रकट करती थी कि चर्च को लौकिक क्षेत्र से रोम की गद्दी से केन्द्रित किया जाए, विश्व की चर्च के माध्यम से एक इकाई बनाया जाए, उसे लीगे रोम के प्रति प्रत्यक्षी बनाना जाए और पार्सियन की स्थिति को रोम और विश्व के बीच एक सम्बन्ध की सी रखने दिया जाए। स्कूल रूप में रोमन चर्च में बड़ी शासन-प्रणाली प्रचलित हो गई। जब 11वीं सताब्दी में रोम इन भूरी पर्याप्तियों को अपना मानने लगे, उस समय इनके माध्यम से वे अपने लक्ष्य उपस्थित किए गए कि चर्च को लौकिक नियन्त्रण से स्वतन्त्रता प्राप्त हो, तथा धर्मिक शासन में रोम की सर्वोच्चता रहे।¹ अनेक सत्ताधियों एक ओर इन सत्ताधियों की अपने अधिकारों के समर्थन का पुष्ट प्रमाण मानते रहे। मरिन 1439 ई. में लोरेन्जो वाला (Lorenzino Valla) ने इनका बचावार्थ कर दिया, लेकिन फिर भी मध्ययुग के इन रोम के प्रभुत्व का महत्वपूर्ण प्रमाण समझा जाता रहा।

गालियन के द्वार पर रोम द्वारा मुकुट सुशोभित करने के बाद से रोमशाही का राजनीतिक महत्व ऐसी से बढ़ने लगा। पर साथ ही रोम-वाद का निर्वाचन सम्बन्ध रोम कटुतापूर्ण बन गए जिनमें कभी-कभी तो हिंस्रान्तर प्रहारों तक होने लगे। 10वीं सताब्दी में रोम का लौकिक और व्यक्तिगत चरित्र इसका निरूपण कि चर्च मुबारक का साम्बोधन शुरू हुआ और रोम के निर्वाचन का अधिकार कार्डिनली (Cardinals) के सम्बन्ध की हस्तान्तरित कर दिया गया (इससे पूर्व यह अधिकार पादरिषी तथा रोम निवासियों को था)। मुबारक-साम्बोधन का आरम्भ मरिन 910 ई. में क्लूनी के मठ (The Monastery of Cluny) की स्थापना में हुआ लेकिन मुबारक अब तक नहीं हो सके जब तक हिडेलबेर्ग (Hildebrand) रोम रोमरी क्लूनी के रूप में 1073 ई. में पदासीन नहीं हो गया। उसने 1075 ई. में विनो की पुनः लौकिक शासकों का हस्तान्तरित निकटुय बन्द कर दिया। अपने वर्ष प्रसार होने पर (Emperor Henry IV) ने रोमरी की परम्परा करने का

प्रमत्त किया लेकिन यहाँ से पीप वेबरी ने ही सम्राट की धर्म-बहिष्कृत घोषित कर दिया। उन्हीं सामन्तों को गवर्नरी सभ में भी दिलाया। वेबरी और सम्राट में घर्ष बढ़ता गया। 1080 ई. में सम्राट हेनरी ने वेबरी की जगह एक दूसरे पीप को पदस्थ करने के लिए रोम पर बढ़ाई कर दी। वेबरी ने भागकर एक मिले में शरण ली। हेनरी की आज्ञा से रोम के राजाजसाद से कुत्ताई कई वर्ष की एक परिपद में वेबरी को पदभुक्त करते हुए मुहम्मद को कैथेड गृहीत के नाम से पीप बनाया (24 मार्च, 1084 ई.)। इसपर वेबरी ने दक्षिण इटली के नार्मन लीओ को अपनी सहायताार्थ बुलाया। हेनरी उर्बन नाम गया। रोमवासियों को नार्मन लीओ ने बुरी तरह मारा। हमले में रोम वेबरी से राख हो गए। फल में जारुल्ला के लिए वेबरी बहुत से भागकर सलेमी में नार्मन लीओ की शरण में चला गया, जहाँ 25 मई, 1085 ई. को उसकी मृत्यु हो गई।

वेबरी सम्राट् ने वर्ष की स्वायत्तता और प्रभुत्व के बारे में जो नीति अपनाई उसके प्रमुख उद्देश्य थे—वर्ष पर पीप के प्रभुत्व की सम्पूर्ण स्वायत्तता, पाद्रीजों की वैवाहिक सम्पत्ति, वही की शरीरद्वे के धार्मिक सम्पत्ति और राजनीतिक अधिकारों द्वारा पद प्रदान करने के स्वायत्तकारी सम्पत्ति के मुक्ति प्रदान करना। उसके द्वारा इस नीति को, जो 'जस्टीसिया' (Justicia) कहलाई, विचारणित करने के प्रयासों के परिणामस्वरूप ही वर्ष और राज्य के मध्य का विकास विचार प्रारम्भ हुआ।

दुपार सम्राट्ज ने वर्ष में नवीन शक्ति का प्रचार दृष्टा। पीप की प्रभुता के सिद्धान्त और पीप के अधिकार की धारणा की सम्मान्यता में पीपों तथा मेमोरी के धार्मिक मुनिविषय रूप दिया। वेबरी सम्राट् के योग्य उत्तराधिकारियों के 12वीं तथा 13वीं शताब्दियों में इसे और आगे बढ़ाया। पीप स्वयत्त इस बात का दावा करते थे कि राजा के बिना कोई पदार्थ किन्हीं ही ऊँचे पद अधिकार है कि वे सिविलों की नियुक्त या पदभुक्त करें, उनका एक वर्ष से दूसरे वर्ष में सम्मान्यकरण करें और अपने प्रतिनिधियों द्वारा स्थानीय प्रशासन के लोगों को दूर करें। वे दावे वर्ष और सम्राज्य के मध्य करने का रहे मध्य में वर्ष का पद अधिक उन्नत बनाने के लिए प्रयत्न किन्हीं रूप में, किन्तु इससे स्वयं वर्ष के भीतर पीप के हान भी धार्मिक सम्पत्ति रूप। इसी बातों के आधार पर आगे चल कर पीप के फ्लोरोन्स की फ्लोरोन्स (Florentine Protection) के सिद्धान्त की प्रतिपादित किया गया जिसका मूलप्रत्यय भाव है—राजसत्ता का प्रभुता। सर्वप्रथम चोर इन्फ्लेन्स कर्तुव तथा एजिडियस कोलोना ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त में पीप की शक्ति की तीन प्रमुख बातें निहित थी—

1. वर्ष की नीतिक शासन शक्ति का स्वाधीन तथा अन्य सभी अधिकारोंवाला की शक्ति का स्रोत पीप है।

2. पीप की सभी मानवीय कानूनों एवं प्रशासकीय आदेशों की बनाने व बिनादने का अधिकार है।

५. कोई सांसारिक व्यक्ति पौष की चुनौती नहीं दे सकती। किसी भी भौतिक व्यक्ति को यह अधिकार नहीं है कि वह पौष की यात्रा एवं निर्लुप्त की व्यवस्था करे। पौष परमात्मा का अतिनिष्ठ है, यह उसका निर्लुप्त परमात्मा का निर्लुप्त है। यह परमिष्ठ निर्लुप्त है किन्तु कोई व्यक्ति नहीं हो सकती।

पीप वगर्भुक्त दासों से भी एक कदम आगे बढ़ गए और साम्प्रदायिकता को भी निचोड़कर रखने का दावा करने लगे। पीप इन्फोर्मेट कृष्ण ने तो यह भी घोषित किया कि इसे यह निर्णय करने का अधिकार है कि निर्वासित तथात पीप है या असोपि। उसने यह भी दावा किया कि सत्ता के विवादों पर निर्वाचन को रद्द करने का भी उसे अधिकार है। पीप के दावों का यही अन्त न था। वह यह भी दावा करने लगा कि—(i) यह कुछ एव मान्य का एकमात्र अधिकारक है, (ii) यह दासों के सत्त सत्ताओं तथा अधिकारों को पुष्ट करने और उनका निर्णय करने का अधिकारी है, (iii) यह निर्णयों को दण्डित करने एवं विचाराधीन तथा न्यायिकों का संरक्षक होने और सत्ताओं की वैयक्तिक अनुशासन में बाधे रखने का अधिकार रखता है, और (iv) राजकीय न्यायालयों से दण्डानुसार मुक्त होने अपने दास मेंका सत्ता है।

हम सभी बापों की पुष्टि के लिए वह उन्हें दिया गया कि ईसा ने पीटर को चर्च का प्रमुख अधिकारी बनाया था और रोम के बिना पीटर के बिना उत्तराधिकारी होने के बिना प्रभु पर ईश्वर के प्रतिनिधि हैं। यह सभी ईसाइयों पर बांधे गए हैं। वे एक ही चीज की समझते हैं। पीपी ने पीपी-भापी जनता के हृदय में यह विश्वास डाल दिया कि चर्च के साथी-पीटर के समान में जोड़ शामिल नहीं हो सकती। केवल चर्च की अनुकूलता ही गारंटीबद्ध मान्यताओं के सुदृढ़ता दिया जाती है।

पोली की शक्ति के विद्यमान में निम्नलिखित तीन कारणों ने भी योग दिया—

1. **कॅनोपिड्स (Canopids)** गीब के हाथों में शक्ति के केपीकरण में महत्वपूर्ण सिद्ध हुए क्योंकि वे लोग ही जादुई कानूनों की व्याख्या करने में पीर उन्हें मान्य करते थे।

2. रोमन साम्राज्य के पतन के समय मरुवासीयों और मैदानी स्थितियों के चर्च की अपनी भिन्न-भिन्न धारणाएँ थीं। जब समय चर्च ने इसके लिए परीक्षा लेता था।

3. विश्व और विश्व पर अपना एकान्वित होने से कारण भी वर्षों को अपने साथी से अति के बेवसीकरण से सहानुता मिली ।

4. दक्षिण रोमन साम्राज्य (Half Roman Empire)

सामान्य प्रथा और रीत के सम्मुख के प्रतिरिक्त जविन रोमन साम्राज्य के विकास में सभ्यतागत राजनीतिक द्वैतत्व पर महत्व प्रदान करता है। इस साम्राज्य का उदय कैथिल राजाओं ने तो हुआ किन्तु स्थापना क्लौडिय (Claudis) ने की

कैसरी के द्वारा कैंक जाति ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था। कैंक जाति का एक अन्य महान् नेता वाल्टर मार्टल हुआ था। इटली पर सम्बन्ध जाति के सम्बन्ध होने पर पोप ग्रेगरी प्रथम की प्रार्थना पर वाल्टर मार्टल और उनके पुत्र वेनिग ने सम्बन्धों को इटली से भगाकर बर्डी का सामन पोप की दे दिया। इससे प्रसन्न होकर पोप ने वेनिग को कैंक का रैष आधिक पुनर्कार किया। वेनिग के बाद उनके पुत्र जालियेन नामक बना। जालियेन ने अधिकृत परिवर्तनी पुरीय जीत लिया। यह रोम साम्राज्य के ईट सीटर के निर्देश में प्रार्थना करते हुए घुटने टेकने पर और लियो पुरीय ने 800 ई. में विजय के दिन उनके शिर पर सम्बन्ध का मुकुट रखा। यही से पवित्र रोमन साम्राज्य का आरम्भ हुआ, यद्यपि इसकी वास्तविक स्थापना बाद में ही हुई जिसका वर्णन हम आगे कर रहे हैं।

जालियेन की मृत्यु के बाद 843 ई. में उसके साम्राज्य पर, जर्मनी और इटली बीच सम्बन्धों में विभक्त हो गया, किन्तु साम्राज्य का विचार कुछ नहीं हुआ। सम्बन्ध की उत्पत्ति का सम्बन्ध का रहा जिसने विभिन्न दावेदारों में सम्बन्ध की स्थिति देना की। सम्बन्ध में सम्बन्ध जर्मन राजा छोटी प्रथम (छोटी महान्) की निजी। 10वीं सदी के ईटली की सम्बन्ध का सम्बन्ध के लिए रोम और 12वीं में छोटी प्रथम की निम्नित करके पवित्र रोमन सम्बन्ध बनाने का प्रयत्न किया। सम्बन्ध छोटी ने इटली पर सम्बन्ध कर दिया और रोम तथा ईसाई प्रदेश को छोड़ कर रोम इटली को अपने सम्बन्ध में मिला लिया। 962 ई. में पोप जॉन बारहवें ने सम्बन्ध पवित्र रोमन सम्बन्ध के रूप में अधिक किया। यही से पवित्र रोमन साम्राज्य का वास्तविक आरम्भ हुआ। छोटी प्रथम ने ही पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना की। इसी समय से यह मत प्रचलित किया गया कि सम्बन्धों तथा रोम के सम्बन्ध में पवित्र सम्बन्ध रहना चाहिए। छोटी महान् ने रोम के सभी तथा ईसाई प्रदेश पर पोप का अनुग्रह रहे दिया और रोमनीय तथा इटली इटली की अपने सम्बन्ध में रखा। जर्मन सम्बन्ध इटली को अपने प्रदेश सम्बन्ध में। वे पोपों के निर्वाचन में सहित विचारणीय में रखा। पोप यह मानने में कि कोई व्यक्ति उनके अधिकार का सम्बन्ध रोमन सम्बन्ध नहीं बन सकता। छोटी प्रथम को पुराने रोम सम्बन्ध सीटर, सम्बन्ध आदि के उत्तराधिकारियों में मानने लगा। ईसाई सम्बन्ध ने भी यह विचार प्रचलित किया कि धार्मिक सम्बन्धों की पूर्ति के लिए सम्बन्ध सम्बन्ध है जिसका सर्वोच्च अधिकारी पोप है और राजनीतिक सम्बन्धों की पूर्ति के लिए एक साम्राज्य सम्बन्ध है जिसका सर्वोच्च अधिकारी सम्बन्ध रोमन चाहिए। छोटी महान् जर्मनी का सम्बन्ध था, सम्बन्ध उनके बाद जर्मन के राजा ही पवित्र रोमन साम्राज्य के सम्बन्ध बनने लगे। पोप बहुत पर साम्राज्यिक विचारों में और सम्बन्धों की विचारों में सम्बन्ध सम्बन्ध जाने लग। रोम ही सम्बन्धों में रोम में सम्बन्ध और सम्बन्धों में, पर रोमों एक दूसरे को परपर सम्बन्ध और सम्बन्ध सम्बन्ध में। इस तरह सभी ईसाई 'सम्बन्धों' (Mythic idealism) में विचार रखा हुए सम्बन्ध सम्बन्ध में रहे।

होकर सन् 1059 ई. में पोप निकोलस द्वितीय ने घोषणा कर दी कि भविष्य में पोप "रोम की अलगा और वास्तव्यो द्वारा नहीं बल्कि काबिल विचारों अर्थात् रोम के चर्चों के वास्तव्यों द्वारा निर्वाचित होंगे।" इस घोषणा द्वारा पोप के निर्वाचन पर न ही सामन्तों और न सम्राट का ही कोई नियन्त्रण रहा। साम्राज्य एमेक ने निकोलस को धमका कर रोम करने के लिए जर्मन विचारों का सम्मेलन बुलाया और दूसरी तरफ निकोलस ने पॉपीसी राजा विभिन्न प्रथम इस्को के गवर्नर को तथा दक्षिणी इटली के नॉरमन लोगों को धमका भिन्न बढ़ाया। नॉरमन नेता रॉबर्ट गिस्कार्ड ने बचन दिया कि वह जर्मन सम्राट से पोप की रक्षा करेगा। इसके बदले पोप ने उसे दबक बनाना और कैथेड्रिक तथा एपुलिया के प्रदेश देना स्वीकार किया। स्पष्ट ही सम्राट विरोधी कार्य या और साथ ही सर्वव्यापक भी, क्योंकि उस समय इटली की स्थिति जर्मन साम्राज्य के एक घन के रूप में थी, यद्यपि सम्राट के प्रतिष्ठित राज्य किसी व्यक्ति को साम्राज्य के प्रदेश का छोटा करने का अधिकार न था। सम्राट और पोप के बीच बढ़ता हुआ यह संघर्ष पोप ग्रेगरी सप्तम् के समय बरख सीमा पर पहुँच गया। पोप ग्रेगरी सप्तम् और उसके उत्तराधिकारियों ने जर्मनी और इटली को समुक्त करने के साम्राज्य के प्रयत्नों का और विरोध किया। छोटी लड़ाई की मूल्य के बाद साम्राज्य की इटली तक विस्तृत करने के विचार को त्याग दिया गया क्योंकि जर्मनी में अनेक रियासतें बन गई जिन्होंने जर्मन राजा से अपनी स्वाधीनता की माँग की और जर्मन राज्य की अलग-थलग दिया। यह परिणाम रोमन साम्राज्य अनेक संघर्षों का सामना करता हुआ कुछ समय तक चलता रहा। सन् 1306 ई. में वेरोलियन ने इसका अन्तिम सरकार कर दिया और पपिय रोमन सम्राट के पद को मिटा दिया।

5. राष्ट्रीयता की संरचना का विकास

मध्ययुग के राजनीतिक चिन्तन की राष्ट्रीयता की भावना के विकास ने भी प्रभावित किया। उस समय अफिसानी सामन्त विभिन्न स्थानों पर अपने राज्य स्थापित कर रहे थे। उन क्षेत्रों में, जहाँ भाषा और संस्कृति की समानता थी, राजनीतिक शासन की स्थापना द्वारा राष्ट्रीय राज्यों के घनुर घटने लगे। 1300 ई. तक इंग्लैण्ड और फ्रांस में राष्ट्रीय राज्य स्थापित होकर पोप की कक्षा की चुनौती देने लगे। इन देशों की जनता रोम के चर्चों की विदेशी मानती थी, यद्यपि अपने राजाओं का पूर्ण समर्थन करते हुए वह पोप के प्रधान से मुक्त होने की प्रयासशील होने लगी। इस प्रकार पोपशाही का सूर्य ढेरी से अस्त होने लगा।

मध्ययुग का अनुशास और उसकी विशेषताएँ

(Contribution & Chief Features of the Medieval Period)

मध्ययुग पराजनीतिक था

(Medieval Period was Unpolitical)

मध्यकाल की छोटी शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक के लगभग एक हजार वर्षों के लम्बे युग में सम्प्रदाय की कोई ऐसी अन्तिमानीय प्रवृत्ति नहीं हुई जैसी

उसके पूर्ववर्ती और उत्तर काल में हुई। इस युग में प्राचीन कला की प्रगति रुक गई। सर्वर वर्धन कालिनी के मूलनी-रोमन सम्प्रदाय, कला और ज्ञान के एक नये भाग को सृष्ट कर दिया क्योंकि उनके मूलनी-रोमन सम्प्रदाय की समझने तथा उसका मूलनीय करने की समझ नहीं थी। अमेन साधकों के साधारणतः के साधनों के प्रति भी और ज्ञान प्रवर्धित की, यज्ञः सृष्ट, पुत्र सादि नष्ट हो गई और वास्तविक तथा व्यापार की समीप प्रति पहुँची। यज्ञाय और समस्त वर्धन साधक, जो रोमनी के राजनीतिक उत्तराधिकारी बने, समूही और प्रसारकीय सोचता की दृष्टि के बारे में, अतः उनके साधनगत में समान्ति और प्रसारकता का प्रसार होता रहा। विन्तन, साहित्य और कला की दृष्टि हो गई। कैबन कैरोलिनिज्म (Carolingians) के मध्यकालीन साधनगत में विवर्ति कुछ ठीक रही, सम्यय साधनी कलाओं तक यूरोपीय विन्तन कोई प्रगति नहीं कर सका। मीडिक जीवन पुण्डे मेककी की रचनाओं की पुनरावृत्ति तक ही सीमित रहा। डोयल (Doyle) के साधनगत तन्त्रों में—“विशुद्धों की प्रति नीति राष्ट्र मीडिक वर्तमानता का ज्ञान प्रति कर रहे थे तथा सम्ययक प्राचीन युद्धों की रचनाओं को समझने को समझनीय थे।”¹ इस मीडिक साधनगत और साधन की समझ साधन को देख कर ही विद्वानों ने सम्ययुग को ‘साधक युग’ (Dark Age) तक की कला दे साधी है और डनि (Dunag) ने इसे ‘साधनीतिक’ (Unpolitical) कह कर साधक है।

‘सम्ययुग साधनीतिक था’—इस कथन का सम्य मूलतः इस सम्य के विषय जाता है कि इस युग में साधनीतिक-ज्ञान और दर्शन की सम्ययुग एक सीध का सम्यय विवर्ध नहीं सम्यय जाता था। इस युग का सम्यय कोई विवर्ध सम्यय न था। साधनीतिक दर्शन का सम्ययुग होना ही दूर रहा, साधनीतिक साधनगत ही साधन साई रही थी। मेककी के दर्शन का सीध एक तरफ कर साधनीतिक न होकर सम्यय राधनी कर साधनीतिक था। कुछ नीति ने साधनीतिक को साधन कला, कुछ ने रोमन कानून कर विवर्ध किया, जो दृष्टी के साधनीतिक ‘साधनीतिक’ की साधन कलाया। यह युग साधन साधनीतिक में साधनीतिक सम्यय गया और साधनीतिक सम्यय नीति होते बने गए। इसके साधनीतिक सम्यय पर सीध साधनीतिक और यह भी साधनीतिक सम्यय में सम्यय रहा। एक साधन साधन का रहा ही दृष्टय सम्यय का। इस साधन के सम्यय सम्यय सम्यय हो गया और सम्यय सम्यय कर गया। इसके भी सम्यय, सम्यय का सम्ययक रहा साधनीतिक सम्यय को साधनीतिक ही सम्यय को साधनीतिक की कला की गई। सम्यय-साधन एक प्रकार के सम्यय-साधन का साधन सम्यय साधनीतिक सम्यय कर गया। ऐसी साधनीतिक में न ही सम्यय साधनीतिक विन्तन ही ही सम्यय और न सम्यय सम्यय हो सम्यय सका। ईसाई सम्यय-साधनीतिक का सम्यय-साधनीतिक नीति सम्यय में इस सम्यय सम्यय दिया गया कि सम्यय विवर्ध में

मध्ययुग की विशेषताएँ (Chief Features of the Medieval Period)

उत्प्लुत दृष्ट्युक्ति के बाद मध्ययुग की विशेषताओं की समग्र-समग्र सीरीजों के निम्नरूप प्रस्तुत करना अनुपपन्न न होया—

(1) सार्वभौमिकतावाद और विश्ववाद (Universalism)—यह मध्य-युगीन राजनीति की एक प्रमुख विशेषता थी। प्रो. बार्कर के अनुसार—“कमाल मध्यकालीन विचार की बात है उसकी सार्वभौमिकता यर्थात् उसका विश्ववाद। यह एक ही सार्वभौमिक समाज को मान कर चलाता है जो अपने भौतिक पक्ष में प्राचीन रोमन साम्राज्य की विरासत और निरन्तरता है, तथा धार्मिक पक्ष में एक दृष्टान्त चर्च ने ईसा का साकार रूप है।”¹

प्रारम्भिक ईसाई विचारकों का मत था कि सारी मानव जाति एक विरासदी है, सब मनुष्य भाई-भाई हैं। साथ ही उनकी यह भी मान्यता थी कि ईसा की शरणा में ही मनुष्य की पूर्ति मिल सकती है, और पूर्ति ईसा ही चर्च का वास्तविक स्थापक है, अतः मानव जाति को ईसाई चर्च के समीप लाना चाहिए। अन्तर्गत ईसाईयत ने विश्ववाद के इस विचार को और भी स्पष्ट करते हुए कहा कि सब मनुष्य एक ही वस्त्र के हैं और ईसाई चर्च मनुष्यों के लिए है। चर्च दृष्टी पर ईश्वरीय राज्य का प्रतीक है। ईसाईयत ने राज्य की वास्तविकता और चर्च की सत्यता को एक ही वस्तु के दो रूप माना।

यही चर्च ने मनुष्यों जीवन को तथा उनके राजनीतिक, सामाजिक, भौतिक तथा धार्मिक सभी स्तरों की एक ईसाई विज्ञान की धर्मीयता में निमग्नित करने का ‘क्षेत्रातुरीय प्रयास’ किया और उसकी चर्च के समीप बना कर सार्वभौम चर्च का विकास स्थापित किया, यही सार्वभौम राज्य का विचार भी साथ ही बना। मनुष्यों मध्य-युग में सार्वभौम राजनीतिक एकात्मता का आदर्श प्रस्तुत रहा और इसी आधार पर ही उनका ही के विज्ञान का उदय हुआ, जिसका आधार था कि मनुष्यों मानव मन्त्र एक समान है, किन्तु मानव जीवन के दो रूप हैं—एक भौतिक और दूसरा धार्मिक। धार्मिक जीवन की पूर्ति के लिए एक चर्च और भौतिक जीवन की पूर्ति के लिए एक राज्य होना चाहिए। अतः चर्चों के आधारों के, धर्मिकी पृथक में अनेक स्वतन्त्र राज्यों ने, और नए ईसाईयत द्वारा समग्र-समग्र स्थायी चर्चों की स्थापना में सार्वभौमिक साम्राज्य एक चर्च की एकता की बन कर दिया, किन्तु धर्मिकी ने अन्तर्गत साम्राज्य स्थापित करके राजनीतिक क्षेत्र में सार्वभौमिकवाद की पुनर्स्थापना कर दी। आठवीं शताब्दी (800) में पवित्र साम्राज्य की स्थापना करते वह सब समाप्त रहा। धार्मिकीय प्रयास में हिलरिड ने रोम के सार्वभौमिक चर्च की स्थापना करके सार्वभौमिकतावाद को पुनः प्रतिष्ठित किया। इस तरह भौतिक अन्तर्गत राजनीतिक एवं धार्मिकीय दोनों ही क्षेत्रों में सार्वभौमिकवाद का पुनः उदय हो गया। लेकिन सार्वभौम परिस्थितियों में इस तरह की दो स्वतन्त्र चर्चों का

राज्य नहीं निभ सकती थी, यद्यः पोंप और सम्राट दोनों ने धर्मोत्तम चर्च और राज्य में, हीन विचारों और दुश्मनों के जन्म से निवृत्ति जिन्होंने मध्ययुगीन सामाजिक तथा राजनीतिक समाजों और विचारों को संक्रमित किया।

(2) चर्च की सर्वोपरिता (Supremacy of the Church)—मध्ययुग में चर्च का स्थान राजनीति में बढ़ा हो गया कि मनुष्य तथा रोम की अत्यन्त सत्कृति की भी चर्च के रूप में देखा जाने लगा। एक युग के धार्मिकता भाव में राजसत्ता चर्च में केन्द्रित हो गई। उसकी विभिन्न धर्मसत्ता के 'धार्मिक-विचार' पेशे बन गई। चर्च एक राजसत्ता का सा कार्य करने लगा। 'मार्कि' का 'हिन्दु' की राजसत्ता और वास्तविक जीवन ईश्वर से सम्बन्धित सम्बन्ध जाने लगा विचारों के अन्तर्गत राजसत्ता चर्च के नियन्त्रण में हो गया। चर्च के अन्तर्गत समर्थन में 'सो राजसत्ता का सिद्धान्त' और वास्तविक जीवन के राजसत्ता का आधार प्रस्तुत किया। धार्मिक-राजसत्ता की स्थापना से राजसत्ता बनी हो गई। लेकिन 13वीं सदी के अन्त में चर्च में धार्मिक परिवर्तन हुआ और राजसत्ता राजसत्ता को पुनः समर्थन मिलने लगा। यह विचार बन गया कि चर्च अत्यन्त विचारों की प्रस्तुति है। फिर भी 14वीं सदी तक यूरोप में चर्च एक अत्यन्त महत्वपूर्ण शक्ति बन रहा।

(3) राजसत्तावादी सरकार की प्रधानता—मध्ययुग में राजसत्ता के सिद्धान्त पर बड़ा काम किया जाता था। चर्च और राज्य में राजसत्ता की इच्छा सर्वोपरि समझी जाती थी। गीर्क (Gierke) के शब्दों में, "मध्ययुग के विचारों का यह मानना था कि सामाजिक जीवन का मूल तत्त्व एकता है और यह मानना करने वाले यह कि 'हीन' चाहिए और यह चर्च तभी बनने लगेगा जब हीन राजसत्ता है अन्य राजसत्ता चर्च स्वयमेव एक दूसरी तथा परिवर्तित एक शक्ति है।" मध्ययुगीन राजनीति का विचार था कि राजसत्ता राजसत्ता का एक केन्द्र होता है और चर्च राजसत्ता एक राजसत्ता है, यद्यः राजसत्ता ही राजसत्ता का एक केन्द्र होता चाहिए। एक सिद्धान्त के आधार पर बहुत कुछ धार्मिकों ने राजसत्ता का केन्द्रोद्धार पोंप के शब्दों में किया, बहुत दूसरों ने राज्य की सत्ता के केन्द्रोद्धार का समर्थन किया। पर अन्तर्गत, प्रकृति राजसत्तावादी सरकार की हीन हो रही।

(4) राजसत्ता पर प्रतिक्रिया—मध्ययुग में राजसत्ता निरन्तर नहीं थी। उस पर अनेक प्रतिक्रिया थी। उदाहरणार्थ पहला प्रतिक्रिया राजनीतिक के राज्य की जाने वाली प्रतिक्रिया थी, दूसरा प्रतिक्रिया राजनीति अन्तर्गत भी और तीसरा प्रतिक्रिया यह था कि राजसत्ता राजनीति के रूप में जाने जाने वाले राजसत्ता के राज्य के लिए बाध था।

(5) चर्च और राजसत्ता का सिद्धान्त—मध्ययुगीन धर्म-विचारों ने राज्य की चर्च और चर्च की राजसत्ता का प्रतीक बना। राज्य एक बाहरी धर्म माना गया जबकि चर्च की एक निरन्तर के रूप में प्रस्तुत किया गया। यह कहा गया कि

सबसे पहले साम्प्रदायिक जीवन की धीरे-धीरे राज्य केवल नागरिक तथा राजनीतिक मामलों में हस्तक्षेप करता है—लेकिन राज्य की शरीर का प्रतिरूप धर्म के प्रतिरूप पर निर्भर है। धर्म-संस्था, राज्य-शरीर दोनों एक हैं, समान नहीं; केवल इनका क्षेत्राधिकार अलग-अलग है। धर्म के क्षेत्राधिकार विषय धर्म के अधीन हैं, और शरीर के क्षेत्राधिकार विषय राज्य के।

(6) समाज का साम्यीकरण तथा केन्द्रीय सत्ता का प्रभाव—रोमन साम्राज्य कई जातियों के साम्यकरण के बलबाले हुआ और यूरोप दुबली में बँट गया जिसका कारण स्थानीय सामन्तों के हाथों में सत्ता बढ़ा। सामन्तवादी व्यवस्था के कारण एक ही केन्द्रीय सत्ता का विकास हो गया, दूसरे, यूरोप में साम्य समाज तथा साम्य का विकास हुआ। इस विकास में सामन्तवाद के कारणों की कमी में पूरी सहायता की। सामन्तवाद के अस्तित्व पर सामन्तवाद के कारणों की कमी के कारण नये का भी अन्त हो गया। साम्यीकरण में शिक्षा-व्यवस्था के प्रभाव में भी सहायता प्रदान की। नीचे निरूपित हो गई। इनका दृष्टिकोण सीमित होता गया। ईसाई धर्मियों के सामन्तवाद-प्रकार के सामन्तवाद के अन्त में धर्म और धर्मिक व्यवस्था अन्त न कर सकने पर भी दुनियाँ और रोमन साम्यता की प्रगति-व्यक्ति की दुबली नहीं गिरा।

(7) लोक-सत्ता का विकास—साम्यवाद में धर्म के विचारों ने राजतन्त्र का अन्त कर दिया और राज्य के दैविक अधिकारों का अन्तिम अन्त किया। धर्म-सत्ता के विचार परिलक्षित हुआ और उन्होंने एक धर्म लोक-सत्ता की कल्पना की। यह सत्ता प्रकट किया गया कि विद्वानों पर सामन्त होने का अधिकार देवी प्रदान है, किन्तु राज्य की सत्ता अन्त में ही प्राप्त होती है। धर्म: राज्य सामाजिक सीमाओं का प्रतिरूप नहीं कर सकता। धर्म लोक-सम्प्रदाय का भी यह विचार था कि राज्य और राजतन्त्र देवी होने के साथ-साथ मानवता भी है।

(8) सामुदायिक जीवन की प्रगति—सम्य-धर्म की एक प्रमुख प्रगति सामुदायिक जीवन के अन्त में की थी। यह विविध प्रकार के धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक समूहों में व्यक्त किया जाता था। धर्म के साम्यवादों की प्रति व्यक्ति समुदाय में यह कर ही पूरी कर पाया था। समुदायों का समूहों के प्रभाव-कारण ईसाई धर्म, परिपालक सम्प्रदाय (Monastic Orders), धार्मिक गैलियर्स (Guilds), सम्प्रदाय और धर्म के। सामुदायिक जीवन की प्रगति के कारण ही यह धर्म में धर्म के अधिकार उपलब्ध रहे। वैयक्तिक अधिकार और स्वतन्त्रता सम्प्रदाय विचार लोक तथा राज्य की प्रगति के अन्त में नहीं करके थे। सामुदायिक जीवन की प्रगति धर्म के अन्त में ही धार्मिक, धार्मिक सामाजिक धर्म को भी धर्म अन्त में प्रगति नहीं पाया था।

(9) निगम सम्प्रदाय विद्वान्त—सम्य-धर्म में सामुदायिक जीवन की प्रगति होने के कारण निगमों के विद्वान्त (Theory of Corporations) का विकास हुआ। इस विद्वान्त का उद्देश्य धर्म, विविध सम्प्रदायों के अन्त में धर्म की अन्त में

करता था। समर्थकों का कहना था कि, "जिन लोगोंमें वह उद्देश्य प्राधान्यपूर्ण तथा लौकिक जीवन का विकास करता है उन्हें अपना कार्य अधिक रूप से करने के लिए इस प्रकार सहाय-सन्तान कर दिया कि उनके कार्यों में किसी बाह्य शक्ति को हस्तक्षेप करने का अवसर न मिले तथा वे राजनीतिक धर्मों के दूर रहते हुए अपना कार्य सुचारु रूप से कर सकें।" मध्ययुग में निचोरी के मुख्य रूप ईसाई-संघ या चर्च, चर्च की परिषद्, विश्व-विद्यालय, स्वातन्त्र्य चरक सम्मेलन आदि थे। सोचो का कहना था कि चर्च, चर्च, विश्व-विद्यालय और उनकी प्रत्यक्ष-प्रतिष्ठा प्रतिष्ठित एक स्तर की सत्ता के समूह हैं तथा दूसरी ओर वे अपने-आप में पूर्ण भी हैं। उनके स्वतन्त्र, कार्य, उनके भावनाओं और इच्छाओं तथा व्यक्तिगत चरक-विश्व है। उनके अपने कुछ निश्चित उद्देश्य भी हैं जिन्हें प्राप्त करने के वे सर्व प्रयत्नशील रहते हैं। यतः उन्हें अपना शासन-कार्य स्वयं करने का पूर्ण अधिकार मिलना चाहिए। उदाहरणार्थ चर्च या आधिकारीकी करने के लिये निम्न करने और उस पर अनुशासन करने का पूर्ण अधिकार होता चाहिए।

मध्ययुग के इन निम्न सिद्धान्त द्वारा एक ही राज्य में समवायन, स्वातन्त्र्य और अधिकार सम्पन्न होने के अवसर उत्पन्न हो गए जिसका राजनीतिक चिन्तन पर विशेष प्रभाव पड़ा। इसी सिद्धान्त के आधार पर नवयुग में यूरोप के अनेक देशों, विशेषकर इंग्लैंड में समवायन चरक-विश्व का विकास हुआ। प्राच्ययुग के शासन में चलने वाला बहुवाद (Pluralism) मध्ययुगीन निम्न-सिद्धान्त पर ही आधारित है। स्वातन्त्र्य, स्वातन्त्र्य और प्राच्ययुगीन इन्सुल्टों के सिद्धान्त में निम्न राज्य-सत्ता की सीढ़ी बनेक कर लोकतन्त्र प्रमुखता (Popular Sovereignty) के विकास को विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा। इस सिद्धान्त के आधार पर उस समय यह स्वीकार किया जाने लगा कि राजाओं को अपना राजा बनना द्वारा ही जाती है तथा चर्च की परिषद् प्राच्ययुगीन ईसाई धर्म का प्राच्ययुगीन प्रतिनिधित्व करती है। मध्ययुग में राज्य का शासनहीन होने के लिये के ही इसका सिद्धांत में निम्न-सिद्धान्त के निम्नित्वात् (Corporate Personality) के लिये विकास का प्रत्यक्ष विषय जिसमें प्रतिनिधित्व के परिषदीय सिद्धान्त (Coercive Theory of Representation) का विकास हुआ।

(10) प्रतिनिधि शासन प्रणाली का सिद्धान्त—मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन में प्रतिनिधि-शासन-प्रणाली के बीच विकास था। चर्च-संघ के इसका उद्देश्य था। लोक-संघों का प्रतिनिधि था। प्राच्ययुगीन निर्वाचन करने के और सम्बन्धित रूप के प्रत्यक्ष-प्रत्यक्षता और चर्च-संघ का आरोप तथा कर उसे पद के रूप में करते थे। चर्च-संघों द्वारा वे भी उक्त-प्रतिष्ठित प्रतिष्ठित रहते थे। प्रतिष्ठित निर्वाचन का अधिकार प्राच्ययुगीन की प्रमुख परिषद् को था।

• प्रतिनिधि शासन की राजनीतिक संस्था में भी होने का प्रभाव किताबें बताते हैं। संघ-संघ का निर्वाचन करने वाले व्यक्ति सर्वप्रथम के प्रतिनिधियों के समान थे। प्रतिनिधि के सिद्धान्त को कहते थे चर्च और राज्य के राजाओं-सर्वों के लिये

एहाला पहुँचाई । निम्नोपस, जैन बाँध पैरिल बीर मासिकियो जेसे विचारको ने मे समझ प्रदान किया ।

निम्नोपस चर्च तथा राज्य दोनों ने प्रतिनिधि सासन बीर विवेकीकरण के विधान का पक्षपाती था । उसका विचार था कि चर्च के सुधार एवं मासन के सवासन के लिए सब प्राप्ती के प्रतिनिधियों का निर्वाचन किया जाना चाहिए । प्रतिनिधियों की तथा ही चर्च बीर राज्य की केन्द्रीय शक्ति होनी चाहिए । जनता ही इस शक्ति का सन्निध असे होना चाहिए । राजा की प्रता की दुष्प्रभावपूर्ण ही शासन का पर प्रहार करना चाहिए । उसने सुझाव दिया कि जर्मन साम्राज्य की शक्ति प्राप्ती में बाँध जाए बीर सम्राट एक स्थायी परिषद् के परामर्श में कार्य करे ।

जैन बाँध पैरिल ने कहा कि चर्च की बड़ी सहा पोष की व्यवस्था कर सकती है । उसने वह भी सुझाव दिया कि यदि चर्च के लिए सर्वश्रेष्ठ सरकार का निर्माण करता है तो सब प्राप्ती के प्रतिनिधियों का निर्वाचन किया जाना चाहिए । उसने कहा कि साम्राज्य की भी प्रतिनिधित्व द्वारा सभ बनाना चाहिए ।

पार्सिलियो निर्वाचित साम्राज्य का समर्थक था । उसने शासन की संपर्क समस्त कार्य के लिए विचारिका के प्रति उत्तरदायी ठहराया । उसके विचार में सबसे बड़ी विचारिका-शक्ति जनता की बीर राजा कार्यकारिणी का प्रभाव था जिसे समुचित कार्य करी हुए न पाले पर जनता हठा समझी थी । कानून-निर्माण का अधिकार जनता का बीर राजा का प्रमुख कार्य उसकी स्थापना करना था । पार्सिलियो साम्राज्य का प्रभाव समर्थक था । उसका विचार था कि 'राज्य की कार्यशालिका बीर राज्य-स्थापिका सहायी का निर्वाचन आवश्यक होना चाहिए । चर्च का समर्थन भी प्रभावशालक होना चाहिए । उसने भी सन्निध सहा सही सहा में होनी चाहिए जिसका निर्माण पार्सिलियो तथा लौकिक प्रतिनिधियों द्वारा किया जाना चाहिए । यह इस बात का पक्षपाती था कि जनता ही सहा द्वारा सजाय कर में जोर का निर्वाचन करे बीर वही शासनकला करने पर जोर की सजाय करने में भी सहा हो ।

चर्च बीर राज्य की सध्य संघर्ष का मुग

(The Era of Conflict Between the Church and the State)

समय के राजनीतिक विम्वन का प्रभाव विषय चर्च बीर राज्य का सघर्ष था । समय के सारथ्य होने के पहले से ही वह चारला प्रचलित थी कि ईश्वर ने सजन सवास के ससन के लिए दो सहायी को नियुक्त किया है—जोष बीर सम्राट बीर धार्मात्मिक शासन का प्रभाव था जो सम्राट लौकिक शासन का । यह माना जाता था कि दोनों समझी सहा का प्रबल देवी तथा साङ्कृतिक विधि के अनुसार करते हैं बीर कोई भी व्यक्ति धार्मात्मिक एवं लौकिक-माला का एक साथ सनेत्र नहीं कर सकता । दोनों सहायी में कोई सभर्ष नहीं होना चाहिए बीर दोनों को एक दुसरे की सहायता करनी चाहिए ।

ग्यारहवीं सताब्दी में पूर्व तक चर्च और राजनीति के सम्बन्ध, वाक्ताव्य उदार पक्षाधी की शोइकर, सामान्य से दने रहे । दसवीं सताब्दी में, पोपी के व्यक्तिगत चरित्र के बहुत सीधे गिर जाने पर और पोपशाही के व्यवस्था हो जाने पर, सम्राटों ने मुबार के लिए कुछ कदम उठाए और पोपी को उनके पद से उतारा । ग्यारहवीं सताब्दी तक सामान्य रूप से पोपशाही पर सम्राट का ही अधिक स्पष्ट नियन्त्रण रहा, जबकि इस व्यवहार के अनेक सप्रवाद भी थे । शान्त सम्बन्ध सटीक शक्तिशाही विचार सम्राट की उन शाखाओं का चालन करने से इन्कार कर देते थे जो उनकी दृष्टि में सम्भाव्यपूर्ण होती थी । धार्मिक परिवर्तन और व्यक्तिगत चर्चाचार्य कलाचारों के लिए राजाओं की आलोचना करने में सम्बन्ध के दुष्प्रभाव का अनुसरण करते थे । मानकों के बुझने और अपसरण करने से बिनाचो का भी बड़ा हाथ रहता था । चर्च का इस तरह का विशेष महत्त्व शक्तिवाली पोपी के समय ही स्थापित होता था जिनका शाधारणतः सम्राट का पीव पर नियन्त्रण अधिक वास्तविक था । दोनी सताब्दी के सम्बन्ध कुछ इस प्रकार के थे यदि एक सत्ता अपनी बात पर बड़ जाती थी तो दूसरी उसके सामने झुक जाती थी और इस तरह उनमें अचर्च होने की नीकत नहीं जाती थी ।

ग्यारहवीं सताब्दी में स्थिति में बड़ा आना शुरू किया और चर्च तथा राज्य के अचर्च की प्रक्रिया कहानी का नूतनता हो गया । निम्नोक्त द्वितीय (1059-1086 ई.) के समय पोप की निर्वाचन-प्रणाली में परिवर्तन की पोपशाही की गई और सम्राट हैनरी चतुर्थ की वाक्ताव्य का साथ उठाते हुए और चर्च सम्राटों के प्रभाव से बचता हो गया । जब हैनरी चतुर्थ ने चुनने सम्राटों के अधिकारों का प्रयोग करना चाहा तो हठी और महत्वाकांक्षी पोप ग्रेगरी सप्तम (1073-1085) के साथ उठना चर्च शुरू गया । 11वीं सताब्दी में शुरू होने वाला चर्च और राजशाही का यह चर्च व्यवस्था 4 सताब्दियों तक चरता रहा । शुरू के इसमें पोप की विजय हुई, पर बाद में सम्राट का पाला प्रथम हो गया । मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन के इन चर्चपूर्ण चरणों पर टिप्पणी करते हुए पैटन ने लिखा है—“पोपी की शक्तिशाली वाक्ताव्य और चर्चा तथा राजाओं और सम्राटों के साथ उनका चर्च—ने ही मुख्य विचार थे जिनके बारे में और मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन बनकर आठता रहा ।”¹

चर्च और राजशाही के बीच अन्तर्गत के चर्च समर्पित होकर विरोध प्रारम्भ होते का सबसे मुक्त कारण यही था कि नीतिक और धार्मिक कानूनों के अन्तर का कोई सम्बन्धपूर्ण नहीं किया था । यद्यपि चर्च का साथ उठाते हुए चर्च और राज्य दोनों में यह बहुत प्रारम्भ कर दिया कि उनके बीचों का एक दूसरे के द्वारा अधिकतर किया जा रहा है । विवाद उठाकर अपने हितों का समर्थन करना ही

1 “The rise and decline of the secular power of the popes, and their contacts with emperors and kings were the issues about which medieval political theory revolved.”
—Gierke : History of Political Thought, p. III.

ऐसे पक्षों का संघ था। धर्म-दत्ता और राजसत्ता के समर्थ के कुछ और भी कारणों से जिन्हें मैकले ने एक प्रकार भ्रष्ट किया है¹—(1) राज्याधिकारियों द्वारा विभागों का पद-स्थापन समर्थित उनकी नियुक्ति द्वारा तथा, (2) जब की सम्पत्ति पर राजा को कथोपकथ का अधिकार, (3) लोकिक स्थायित्वों के अधीनस्थ पादरियों द्वारा जिसे दानों और ईश्वर बना किए जाने जैसे आचारिक कार्यों का किया जाता, एक (4) राजा और राज्य वाले पादरियों द्वारा अपने स्थायित्वों के प्रति कर्तव्यों का अनुष्ठान। इन विभिन्न कारणों से सम्बन्धित विवादों का धर्म और राजसत्ता के समर्थ का और इनसे निहित राजनीतिक विचारों के विकास का वर्तमान व्यवस्था रूप से प्रभावित धर्मों में करना अनुचित होगा—

राज्याधिकारियों द्वारा विभागों की नियुक्ति

(Lay Investiture)

सन् 1073 ई. में वेनरी कन्सल के बीच होने के बाद ही धर्म और राजसत्ता के मध्य विवाद का भीतरलक्ष हो गया। प्रारम्भ में यह विवाद विभागों के पद-ग्रहण के समर्थ उच्च धर्माचार्यों के भुगतान में लोकिक मामलों के भाग में सम्बन्ध रखता था। मगदुर में राजाओं और सामन्तों ने धर्म की विचारण सु-सम्पत्ति प्राप्त की थी। राजाओं की धर्म का राजा समझा जाता था, यत् उनका दावा था कि उनके प्रदेश के अपने वाले धर्म के सभी उच्चधिकारी उनके अधीनस्थ हैं। उदासीन प्रथा के अनुसार इन्हें नए विभाग और गटाधीन की नियुक्ति करने समय उनके धार्मिक स्थलों के प्रमुख स्वयं एक चट्टी और छड़ी (Ring and Staff) यह कहते हुए ही जारी की कि हम धर्म की प्रवृत्ति करें (Accipere claustrum)। विभागों की इस नियुक्ति को धर्मिक विधि (Investiture) कहा जाता था। राजा और सामन्तों का यह दावा था कि विभागों की नियुक्ति करने का अधिकार उनका है क्योंकि वे का धार्मिक स्वयं भीतकस्वयं का रूप महत्त्वपूर्ण है। राजा और सामन्त किसी महाधीन का विभाग की प्रवृत्ति पर उनकी सम्पत्ति अपने अधिकार में ले लेते थे और उनके उच्चधिकारी की नियुक्ति स्वयं के अपने करते थे। राजा घोषणा कर देता था कि प्रमुख धर्म की विभाग बनाने की उनकी इच्छा है। यदि किसी पादरी अपना राजा बनता द्वारा समर्थित धर्म की पुन लेते थे तो राजा रिक्त-स्थान पर धर्मिक स्वयं धर्म की प्रवृत्ति कर देता था। ऐसा न होने पर यह निर्दिष्ट धर्म के विभाग पर न ही नियुक्ति ही करता था और न उसे सु-सम्पत्ति ही प्रदान करता था। राजाओं का दावा था कि उनके प्रदेश में सु-सम्पत्ति अपने वाले विभागों एक गटाधीन की सु-सम्पत्ति तथा धर्म विभाग (चट्टी और छड़ी) राजा के प्रवृत्ति करणी चाहिए। धर्म इन व्यवस्था का विरोधी था कि यह धर्माचार्यों की नियुक्ति सम्बन्धी विधि राजा और सामन्तों के अधीनस्थ चाहता था। ऐसा कथनित रूप कोई धर्मिक-धर्म घोष हो उठा करता था। भीष्मस्वयं वेनरी

सम्राट् के रूप में चर्च की देखा पोष मिल गया। उसने 1073 में बिस्सों के चुनाव में लौकिक शासकों का हस्तक्षेप बन्द कर दिया। उसने राज्य के सचिवकारियों द्वारा बिस्सों की नियुक्ति (Lay Investiture) को सर्वप्रथम खोपित करते हुए राजा के 4 प्रमुख बिस्सों को चर्च से निकाल दिया। उसने एक प्रस्तावद्वारा बिस्सपसुत का साम्प्रदायिकारियों के हाथों से पद-च्युत करना निषिद्ध रखते हुए पोपसुत की कि दण्डा व्यवस्था करने वाले पोपों पदों को चर्च अधिकार का दण्ड दिया जा सकता है। स्पष्ट ही सम्राट हेनरी चतुर्थ की यह एक सुनी चुनौती थी।

ऐनरी सम्राट् और सम्राट हेनरी चतुर्थ का संघर्ष

केदारान्त के अनुसार, "ऐनरी की दृष्टि में पोप समुल्लेख चर्च का अनुवृत्तापारी प्रचार था। यह बिस्सों की नियुक्ति और समस्तत्व कर सकता था। इसका धार्मिक प्रतिनिधि (Legate) बिस्सों तथा चर्च के अन्य सचिवकारियों से उन्मत्तर स्थिति का उपभोग करता था। यही जनरल कोपिल की रैडक गुता कनका था और साक्ष्यियों को पालु कर सकता था। पोप की साक्ष्यियों की कोई रद्द नहीं कर सकता था। यदि कोई कामना एक बार पोप की कसबा में जाता था तो उस पर अन्य कोई सत्ता निर्धार्य नहीं हो सकती थी। उसके में, ऐनरी का चर्च सामान सम्बन्धी सिद्धान्त राजशासनात्मक था। यह सामन्ती राजशासन नहीं था, प्रभुत्व साम्प्रदायिक पोप की परम्परा के राजशासन था। इसपर तथा देवी-विधान के सभीन पोप सर्व-सत्तावादी था। पोपशाही का यह पैदावन सिद्धान्त (Papal Theory) यदि सत्यकर स्वीकार मान्य हो गया था, लेकिन उस समय को देखते हुए यह एक नई चीज थी और ग्यारहवीं शताब्दी में इसकी सर्वप्रथम मान्यता नहीं थी। इस सिद्धान्त के कारण कभी-कभी ऐनरी और उसके बिस्सों में मतभेदोंकी पैदा हो जाती थी।¹ सत्ताधार सम्बन्धी प्रश्नों के बारे में चर्च का अधिकार मान्य था। ऐनरी ने दण्डा प्रतिपादी विकास किया। यह सर्वप्रथम-विधान के अन्तर्गत के बारे में केवल अन्तर्गामी पक्षोंवादी के विषय ही कार्य नहीं करता था बल्कि लौकिक शासक के विषय भी कार्य करता था। 25 वर्ष तक पोप के सभीन कार्य करते हुए ऐनरी सम्राट् के नाम में पोप बनने वाले हिल्डेब्राण्ड (Hildebrand) का यह दृढ़ समस्त्य था कि यह चर्च की तीन नहीं कुछानों का अवशिष्ट पदों के पत्र-विधान (Synod), पादरियों के विषय करने तथा साम्प्रदायिकारियों द्वारा बिस्सों की नियुक्ति करने का अनुमत्त करता।

बिस्सों के चुनाव में लौकिक शासकों का हस्तक्षेप बन्द कर देने की कार्यवाही में मुख्य होकर सम्राट हेनरी चतुर्थ ने जब ऐनरी की 1076 के पदच्युत करने का आदेश दिया तो पहले में ऐनरी ने सम्राटों को चर्च अधिकृत घोषित कर दिया और उसके सामन्ती की सामन्ती व्यवस्था नहीं दिखाई। ऐनरी ने अपनी साक्ष्यियों को चर्च अधिकार के दण्ड के साथ पालु करने का प्रयास किया। यह कोई नई चीज नहीं थी। मैकिन ऐनरी ने इसके साथ यह बात भी जोड़ दी कि चर्च-अधिकृत एका

ईसाई समाज से बाहर होने के कारण अपने अमानवी की सेवाओं और निष्ठा का अधिकार नहीं होता ।

देवरी ने अपने इस कार्य का आधार चर्च का वह अधिकार मानना था कि वह ईसाई समाज के प्रत्येक सदस्य पर वैयक्तिक अनुशासन का प्रयोग कर सकता है । तथा सम्बोध की भाँति उसका भी ठहरे था कि लौकिक शासन समय ईसाई होता है, यद्यः वैयक्तिक तथा साम्प्रदायिक मामलों में वह चर्च के विषयों में रहता है । इसका चर्च वह था कि चर्च-वर्द्धिपुत्र करने के अधिकार के साथ-साथ अवश्य करने का अधिकार भी हुआ था । चर्च नागरिकों से वह सकता था कि वे सम्राट के प्रति निष्ठा रखें । इसका प्रतिपादन वह निकलता था कि चर्च ऐसा प्रतिनित्तान्तरण हो रहा था जिसके नियंत्रण पर शासन की शक्ति निर्भर थी ।

हम नहीं कह सकते कि देवरी अपनी नीति के प्रतिस्थापकों के बारे में और उनके राज में ही गई मुक्तियों के बारे में स्वयं कहीं तक स्पष्ट था । सम्भवतः देवरी विश्व यह चाहता था कि चर्च की वैयक्तिक अनुशासन स्थापित करने का अधिकार होना चाहिए । वह चर्च की कानूनी शक्ति स्थापित करने में कोई दिक्कत नहीं पाता था । उसका उद्देश्य साम्प्रदायिक विद्यालय से बहिष्कृत होकर व्यवस्था के सम्बन्ध चर्च की स्वतन्त्रता की रक्षा करना था ।

देवरी ने अपने एक राज में निष्ठा कि शासन की उत्पत्ति वाप के हुई है, पर समर्थितः वह राज्यवाद पर इस प्रकार का आरोप नहीं करना चाहता था । वह भी राज्य पर केवल ऐसा अनुशासन योजना चाहता था जैसा योन के रूप में किसी ईसाई के ऊपर । देवरी का यह भी निष्कर्ष था कि "योन यूरोप के सत्ताधारी का निर्वाह हो सकता था और कोई दुर्लभही शासन उसके साम्प्रदायिक तथा वैयक्तिक नियंत्रण को नहीं रोक सकता था ।" चर्चवादी को यूरोपीय विषयों में क्या भूमिका दया करनी चाहिए ? इस विषय में 1080 में रोम की एक कौन्सिल में अपने से निवारण प्रकट किन्तु ये—

"चर्च चर्चवादी । शासकीय इस प्रकार का आधार रखना चाहिए, जिससे शासन से वह शास हो जाए कि यदि शासकीय वह शक्ति प्राप्त हो जाए कि शास किनी शक्ति की शक्ति के सम्बन्ध में शास सकते हैं, जो शासकीय यूरोपीय पर वह भी शक्ति प्राप्त है कि शास अनुष्ठान की उनकी लोकतन्त्रनुसार सामान्य, राज्य विनिर्देशितार्थ एडुकाशन, कार्टिनी तथा अन्य सम्पत्तियाँ प्रदान कर सकते हैं । शासन के सम्बन्ध शासकीय और शासकीय की यह बात शास होने चाहिए कि शास किनी महान् हैं और शासकीय शक्ति किनी विद्यालय है । इन छोटे शासकीयों की शासकीय चर्च के शासकीय की शक्ति करने से करता चाहिए ।"

देवरी के निवारण की इस प्रतिनित्तान्तरण चर्च के बाद हम पुनः उसके और सम्राट के सम्बन्धों उपर्य की कहानी पर लौट आते हैं । सम्राट देवरी द्वारा योन देवरी और

वेनरी द्वारा सम्राट हेनरी की पराजय की घोषणाओं द्वारा और चर्च और राजसत्ता के बीच उठ खड़े हुए सम्बन्धों के सम्बन्ध में यूरोप सम्मिलित रहा। पाश्चात्य जनता ने बीच का साथ दिया। बीच ने एक महान्वयी राजा की हेनरी के विद्रोह का समापन करने के लिए भी उभरना। हेनरी के विद्रोही सरदारों ने भी इसे विद्रोह करने और स्वतन्त्र होने का स्वयं कायार समझा। उस परिस्थिति में हेनरी बीच से साथ मिलने हेतु कॅनोसा (Canossa) दुर्ग के दरवाजे पर पहुँचा। वहाँ बीच सुरक्षा की दृष्टि से रहरा हुआ था। उसने बीच से क्षमा करनी ली। हेनरी ने उसे बड़ा सम्मानित और स्वागत किया। 25 जनवरी, 1077 ई. के दिन दुर्ग के द्वार पर पहुँचने वाला सम्राट हेनरी समयकर सड़ों में और कमानों की बर्क में तीन दिन तक बसे पर्व श्रद्धा रहकर प्रायश्चित्त और क्षमा-वाचना करता रहा। अन्त में वेनरी ने क्षमा रिखाई। उसने महिम्नवर का राज वापिस लेना हेनरी को दुःख पड़ने चर्च की शरणा में से लिया।

अपनी कूटनीतिक भाव द्वारा विद्रोह की सुरक्षा कर लेने के बाद हेनरी वेनरी से दृष्टिपूर्व लेने का व्यवहार सोचता रहा। जब उसका निश्चय यह था और उसने रोम की ओर दिया तो उसकी माता से बुलाई गई चर्च परिषद् ने बीच वेनरी की पराजय एवं चर्च-महिम्नवर करने हुए दुर्ग बर्क की सैनिक सृष्टि के नाम से बीच बताया (24 मार्च, 1084 ई.) जिसने हेनरी का पश्चिम रोमन सम्राट के रूप में सम्मिलित किया। वेनरी ने दक्षिण इटली के नार्थन लोगों की अपनी महासत्ता के लिए बुलाया। लगभग 36,000 सैनिकों की विद्रोह नार्थन लोगों के साथ पर हेनरी अपनी भाव गया। इस बीच के रोमन पर सत्ताचार किए और रोम की सृष्टि। परिणामस्वरूप इन्हीं निर्मित करने वाले वेनरी का रोम में रहना समुचित हो गया। वह प्रजा-रक्षा के लिए सैनिकों में नार्थन लोगों की शरणा में भाग गया जहाँ 23 मई, 1085 ई. को उसकी मृत्यु हो गई। कुछ समय बाद हेनरी चतुर्थ भी बना गया। इन दोनों मुख्य सम्मिलितियों की मृत्यु तक राज्य द्वारा विद्रोह के रूप में रहने के प्रश्न का कोई अन्तिम निर्णय नहीं हो पाया। प्रमुख प्रश्न यह है कि हेनरी प्रथम और पाश्चात्य द्वितीय (Paschal II) के मध्य इस आधार पर एक सम्मिलित हो गया कि सम्मिलित अपने समस्त राजनीतिक कार्यों को त्याग दें। लेकिन अन्तर्गत में वह सम्मिलित प्रभावित हुआ। जो भी हो, 1122 ई. में वॉल्म (Wolms) के सम्मिलित (Concordate) के साथ विवाद का पहला चरण समाप्त हो गया। हेनरी के शब्दों में, "इस सम्मिलित के अनुसार सम्राट ने मुद्रा और धर्म (Ring and Stick) की सम्मिलित शक्ति के प्रतीक के साथ पर रहने करने का तकलीफ़ अधिकार त्याग दिया। लेकिन, उसने सम्मिलित देते और विद्रोह के चुनाव में भाग्य रक्षकों के अधिकार को कायम रखा। किन्तु इस सार्वभौम के बाद भी वह सार्वभौम समय-समय पर कानूनी शक्तों के अन्त तक प्रायः

जो इस के चलता रहा। रोमनों के लगभग 100 वर्ष बाद रोम इम्पेरियल यूरोप के समय लिखते हुए: चमत्कार जिसमें रोम ने अपने विदेशी तथा सुदूर देशों से सफलता प्राप्त की।¹

इम्पेरियल यूरोप (1198-1216 ई.) और राजाओं में विवाद

रोम बनते ही इम्पेरियल यूरोप ने अपने को सर्वोच्च सत्तापूर्ण बनाने और राजाओं को अपने का बलपूर्वक करने की दिशा में पुनः प्रभावशाली प्रयत्न शुरू कर दिए। इनकी प्रथम और प्रमुख दिशा में 1122 ई. में जो सम्झौता हुआ था उसने इस धार्मिक सम्झौता का कोई हल नहीं निकाल पाया था कि साम्राज्य और पोपसाही में क्या सम्बन्ध है? यद्यपि बिना अधिकारों का उत्प्रेषण सम्झौते में नहीं था, उन पर प्रत्येक राजा अपना दावा उठाते तथा। अपने-अधिकारी ऐसे दावे प्रस्तुत करने लगे जो निरन्तर एक के राजनीतिक सम्झौते के अधिकार-क्षेत्र में थे। परिणामस्वरूप पोपसाही एवं जर्मन सम्राट फ्रीडरिक बारबरोस (Frederick Barbarossa) तथा उनके उत्तराधिकारियों के बीच लगभग उठ सड़ा हुआ। रोम की शक्ति 12वीं शताब्दी में निरन्तर बढ़ती रही जो रोम इम्पेरियल यूरोप के समय में बरत सीधे चले लगे।²

इम्पेरियल यूरोप एक प्रत्यक्ष ही शक्तिशाली रोम शक्ति हुआ जिसने यूरोप के सर्वाधिक शक्तिशाली राजाओं तक को अपने प्रत्यक्ष मानने की दिशा में प्रेरित किया। अपनी 13 वीं शताब्दी में उसने 7 राजाओं को दण्ड दिया और दो जर्मन राजाओं को अपने के अधीन कर दिया।

रोम इम्पेरियल यूरोप अपना यह प्रयत्न कर्मन्ध्व सम्भलता था कि वह राजाओं के धार्मिक मान्यता का विरोध करे। यह निर्धारण तथा राज्याभिषेक के मामले में रोम साम्राज्य में सर्वोच्च शक्तियों का प्रयोग करता था और लोगों के सम्झौते होने के दावों को बरी ही धारणाओं से दूर कर देता था। यह साम्राज्यिक और धार्मिक दोनों दिशा में अपने को पर्याप्त शक्ति का समर्थक था। जब धर्म के राजा निर्णय प्रवर्तित थे अपनी राजा को त्याग दिया तो इम्पेरियल यूरोप की धारणा से उसे दूरे दूर दूर कर देता था। फ्रीडरिक, अरागान, हबर्ग और बल्गेरिया के राजाओं ने अपनी-आपको रोम का सामन्त कहा। वे उसे धार्मिक कर भेजते लगे। इंग्लैंड के राजा जॉन ने भी उसके साथ समझौते किया था। जॉन की हत्या के संबंध में रोम रोम के केन्द्रबिन्दु के धार्मिक प्रयत्न के पर पर स्वीकार्य व्यवस्था को नियत किया। राजा के न मानने पर रोम ने उसे अपने के अधीन कर दिया और जॉन के राजा की उम्र पर धारणा करने को कहा। उसने यह धारणा निराधार किया कि इंग्लैंड ने अपने के धर्म-धर्म बन्द कर दिए जाएँ। यद्यपि रोम जॉन को रोम के सामने नमस्कार होता रहा और वह भी रोम का सामन्त बन गया। उसने रोम की 1,000 मार्क धारणा कर देना स्वीकार किया। अपने साम्राज्य और रोम में दुरानी

अनुशासित। सोमासबस इस समय बहुत राज्यही के लिए स्वयं चल रहा था। घाटी चतुर्थ, फंडरिक द्वितीय और स्नेनिय के विभिन्न राजघरों के बाबदार थे। पीप ने पहली कूटनीति का परिचय देते हुए पहले ही चिलिय के विरुद्ध घाटी का समर्थन किया और बाद में घाटी के विरुद्ध चिलिय का पक्ष लिया। साथ ही उसने फंडरिक द्वितीय के विरुद्ध घाटी का और घाटी के विरुद्ध फंडरिक का पक्ष लिया। परिणाम यह हुआ कि इटली के पीप के प्रथम वर्चस्व प्रमुख से मुक्त हो गए। वास्तव में पीप इंग्लैंड की पीप ने पीप की तरह नहीं बल्कि राजा की तरह व्यवहार किया। सन् 1216 ई. में उसके देशान्तर के समय चर्च शक्ति, ब्रैन्क और स्वाति के चरम बिस्तर पर पहुँच चुका था। चर्च इतना प्रभावशाली हो गया था कि इंग्लैंड की मृत्यु के लगभग 100 साल बाद तक भी यूरोप में उसकी तुली बोलती रही।

फंडरिक द्वितीय और इंग्लैंड चतुर्थ

इंग्लैंड की पीप के अन्तिम काल में ही फंडरिक द्वितीय का शासन आरम्भ हुआ। राजा फंडरिक ने दावा किया कि साम्राज्य के शासन सम्बन्धी विषयों में वह पीप से सर्वोच्च स्वतन्त्र है तथा उसे शक्ति ईश्वर ने प्रत्यक्ष रूप से प्रदान की है, पीप के आश्रय से नहीं। फंडरिक ने लौकिक विषयों में पीप की कला की मानने से इनकार करते हुए केवल धार्मिक विषयों में उसके अधिकार को स्वीकार किया। पीप इंग्लैंड चतुर्थ ने उत्तर दिया कि लौकिक विषयों पर भी पीप का अधिकार है जो उसे ईश्वर बाबेल द्वारा दिया है। पीप ही राजा की नई धर्म की शक्ति बोलता है, घाटी राजा उसके अधीन है। पीप के इस सिद्धान्त का विकास और बसे मनु करने में कैथोलिक (Catholics) ने बड़ी सहूलता की। कैथोलिक के धर्म में ही धार्मिक कर्मों की आध्यात्मिक और धार्मिक करने में। जब सन् 1250 ई. में फंडरिक द्वितीय का देशान्तर हुआ, तब स्थिति यह थी कि चर्च का कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं था और ऐसा लगता था कि चर्च स्वयं में पूर्ण विजयी हो गया है यथा नियम की अन्तिम सीमा पर पहुँच चुका था। चर्च अब अपने दावों को और भी बड़ा-बड़ा कर प्रस्तुत करने लगा था। पर फ्रांस के राजा 'फिलिप दी फेयर' (Philip the Fair) के रूप में पीप ही एक बड़ी और शक्तिशाली प्रतिद्वंद्वी का उदय हुआ, जिसने चर्च और राजसत्ता के स्वयं में एक नया मोड़ लाया और पीपशाही का पक्ष आरम्भ हो गया।

पीप कैथोलिक प्रष्टम् (1294-1303 ई.) तथा

फिलिप चतुर्थ (1285-1314 ई.) का संघर्ष

फिलिप चतुर्थ यद्यपि फिलिप दी फेयर ने इटली के कैथोलिकों की शक्ति पर निर्णायक आघात किया। इस समय चर्च-मुद्रों और आचार-वास्तव्य की वृद्धि के कारण उत्पन्न हुई परिस्थितियों में एक नवीन राजनीतिक और धार्मिक विषय उत्पन्न हो रहा था तथा फिलिप चतुर्थ की अधिकतर उदात्त भला-विशेषता और देशभक्ति की भावनाओं ने दृढ़ता ली थी। फिलिप चतुर्थ के समय पीप के रूढ़ पर कैथोलिक प्रष्टम् विद्यमान था। इन दोनों के मध्य विवाद, चर्च की विज्ञान सम्पत्ति

पर कर लगाने के राजसीय प्रणाली के फलस्वरूप, गम्भीर रूप से उठ खड़ा हुआ। उस समय जब राजा विलियम वरुण और इन्वेन्स का राजा एडमंड मुद्रता थे। मुद्र को खाने के लिए बीजों ही को धन की आवश्यकता थी। अतः उन्होंने राजकर के कुछ वर्षों की विनाश सम्पत्ति पर कर लगाने का निश्चय किया। अतः के बाद की प्रत्येक सम्पत्ति के साथ राज्य की प्रतिरक्षा के लिए कर देने का कर्तव्य स्वीकार करने थे, किन्तु उन्हें यह भी भय था कि इस तरह राज्यता की स्वतः ही एक ऐसा नाशिली हथियार मिल जाएगा जिससे गृहयुद्ध से यह वर्षों की अतः की तरह करने की और मुक्ततापूर्वक व्यवहार हो सकेगा। अतः अतः के एक धार्मिक सम्प्रदाय ने राज्य की कर्तव्यता प्रकृति का विरोध करते हुए पौप कोनीफेस से इस सम्बन्ध में धर्म की। यद्यपि पौप अतः की राज्यता के प्रति विनाश और बीजपूर्ण वा किन्तु यह वर्षों की सम्पत्ति पर कर लगाने के राजसी के अधिकार को स्वीकार करने करने की तरफ कुतूहली मारने की उम्मीद नहीं हुआ। अतः उसने एक आशापन (Ball Clericals Laicos) जारी किया जिसमें यह घोषित किया गया कि पौप की आशा के बिना वर्षों की आशा में से कर देने वाले पादरियों की और ऐसा कर वसूल करने के लिए वर्षों की सम्पत्ति को जप्त करने वाले राज्यधिकारियों की धर्म-वहिष्कार कर दिया जाएगा।

राजा विलियम ने पौप के आदेश का विरोध करते हुए अतः से पौप को भेजे जाने वाले बहुमुख्य व्यवहारी पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिया। उन्होंने बीज, चाँदी, बहुमुख्य महिषी और अन्तः अतः के अतः से बाहर जाने पर प्रतिबन्ध लगाने के साथ-साथ शिष्टी व्यापारियों और प्रतिनिधियों की भी अतः से बाहर जाने का आदेश दिया। इस कठोर नीति के दो प्रमुख परिणाम निकले—(1) पौप की आशा की एक बड़ा झटका मिला ही गया, एवं (2) पौप के उन प्रतिनिधियों को भी के जाने जाना पड़ा जो वर्षों-मुद्रों के लिए अन्तः अतः करते थे।

पौप कोनीफेस विलियम के जाने हुए प्रथम वर्षों में टिक नहीं पाया। उन्होंने अक्टूबर, 1296 ई. के अपने दूसरे आशापन (Ball Indifference) में यह अनुमति प्रदान कर दी कि वर्षों के अधिकारीय स्वेच्छा से राज्य की प्रतिरक्षा हेतु अन्तः से सके हैं। साथ ही राजा को भी यह अधिकार दिया गया कि वह राज्य की प्रतिरक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं का निर्धारण करे। अतः विलियम ने भी वर्षों के विरुद्ध आग्रह एवं कठमो को वापिस ले लिया।

कुछ समय बाद ही पौपों के बीच युद्ध भयंकर उठ खड़ा हुआ। पौप के एक इन बर्नार्ड साल्वेस (Bernard Salves) को किसी भयंकर में विलियम ने मारी बना लिया और उस पर अन्तः में मुद्रता पनामा। पौप ने अपने दूत की रिहाई की नीति की और राजा किया कि वर्षों के अधिकारों पर राजसी मुक्तता नहीं बनाया जा सकेगा। इसके साथ ही अतः के धर्मधिकारियों को राज्य की लिए जाने वाले धार्मिक कर देने से मना कर दिया। अतः वह राजा भी घोषणा कि सन्तानि

पापसी में भी राजा को रॉय के आदेश का पालन करना चाहिए। जेफर फिलिप ने यह भी कहा—“धार्मिक मामलों में हम निजी के मामलों नहीं हैं।” बोनी हो ने अपने-अपने पक्ष में विभिन्न धार्मिक परिषद् बुलाना प्रारम्भ की। रॉय द्वारा 1302 में बुलाई गई धार्मिक परिषद् ने घोषित किया कि “मुक्ति (Salvation) के लिए सब धर्मियों का रोम के रॉय के अधीन रहना आवश्यक है।” फिलिप ने इसके बदले में 1303 ई. में दो धार्मिक परिषद् बुलाकर इसका समाप्त किया कि वह “अपराधी जाहूर, हथारा, पवन करने वालों, अभिचारों, चर्च के पक्षों को बचने वाला, कुटिलक और कपिर” है। रॉय द्वारा कोई प्रतिरोधात्मक कदम उठाने से पूर्व ही फिलिप ने दो प्रतिनिधियों को दो हजार सैनिकों के साथ रोम भेज दिया जिन्होंने रॉय से त्यागपत्र की माँग की। तीन दिन तक रॉय इनकी रंड में रहा। बाद में अपने समर्थकों की सेवा के सा पहुँचने पर उसे मुक्ति मिली। फिलिप 75 वर्षों बुढ़ा रॉय इस समझौते को सहन नहीं कर सका और कुछ ही दिनों बाद 11 मई 1303 ई. को वह दस मंसार से पत्र भेजा।

बोनीसेन के बाद डेवीडिस्ट एकदम (1303-4) रॉय बना। उसने बोनीसेन के समय रॉय के महल पर हमला करने वाले प्रतिनिधियों को बर्से बहिष्कृत कर दिया। पर डेवीडिस्ट के समय में रॉय को गद्दी अधिक समय तक नहीं मिली थी। एक वर्ष बाद ही उसे बहुर देकर पार दिया गया। तत्पश्चात् फिलिप ने बोनी के धार्मिकतम बहुर डिप्लोम को अपनी कुछ शर्तों पर रॉय बुलाकर स्वीकार किया। फिलिप द्वारा जम्मा किये गये रॉय—(1) रॉय समझौते की नीति पर चलेगा, (2) बोनीसेन के महल पर हमला करने वालों को दिया गया दण्ड वापिस लेगा, (3) रॉय 5 वर्ष की अवधि के लिए फ्रांस के धार्मिकों पर 10 प्रतिशत धातुकर लगाना स्वीकार करेगा, एवं (4) बोनीसेन पर परमाणुधर अभिचार बलाकर रॉय उसे दण्ड देगा।

उपरोक्त शर्तों को स्वीकार करने पर बहुर कोर्मेन्ट पत्रम् के नाम से रॉय की गद्दी पर बैठा। फिलिप द्वारा अपनी शर्तों को मानवाने का स्पष्ट उद्देश्य नहीं था कि बोनीसी पर उसका प्रभाव रहे और चर्च के साथ समर्थ की पुनरावृत्ति न हो। रॉय कोर्मेन्ट पत्रम् ने रॉय में रहता निराश्रय न समझकर 1309 ई. में अपना निवास स्थान रॉय से हटाकर एम्बोली (Amboise) की बना लिया। यहाँ उसे बड़ी सरलता से फ्रांस का हरभरा प्राप्त हो सकता था। वास्तव में बोनीसी की यह दता दरमिनी थी। रॉय नहीं स्वतन्त्र न होकर फ्रांसीसी राजाओं के प्रभुत्व में रहने लगे। 1309 से 1377 ई. तक एम्बोली ही बोनी की राजधानी बनी रही। बाइबिल के प्राचीन इतिहास के अनुसार पर लगभग 30 वर्ष के दण्ड वाले युग को बालीनियन बन्धन (Babylonian Captivity) के युग के नाम से पुकारा जाता है। दण्ड युग में बोनीसी पर फ्रांस के राजाओं का प्रभाव कम गया। अतः सब रॉय जर्मनी और इटली के राजाओं की मदद का साथ नहीं रहा। मैन्डी के हस्तों में

‘एविमोन के अपने केमिस्ट्रीविदन समन में पीपसाही के राजनीतिक और साम्प्रदायिक क्षेत्रों प्रकार के प्रभावों को बहुत धारात पहुँचा ।’

पीप जॉन’ बाईलरवा (1316-1334) एवं जर्मन सम्राट
नर्वेरेसन लुईस चतुर्थ (1314-47) का विवाद

चर्च और राज्य के विवाद में एक और महान् महत्पूर्ण समय हुआ । 1314 ई. में चेकिया के लुईस चतुर्थ की पवित्र रोमन सम्राट चुना गया । इसी समय कुछ निर्वाचकों द्वारा फ्रांसिया के फेडरिक को भी सम्राट चुन लिया गया । इस तरह एक ही समय में दो सम्राटों का निर्वाचन हुआ, यद्यः यह-युद्ध छिड़ गया । 1316 ई. में जॉन बाईलरवा एविमोन ने पीप को बड़ी पर बैठा । वह इसी की जर्मन सम्राट के प्रभाव में मुक्त करता चाहता था । यद्यः उसने पीपछा कर दी कि सम्राट के पर पर बिना पीप की स्वीकृति के बैठना पीप के अधिकारी का हक है । लुईस को चर्च में सहिष्कार कर दिया । इस पर लुईस ने भी पीप पर प्रत्येक आरोप लगाए और इसी जाकर उसने एक नए पीप का चुनाव करवाया । लुईस की शक्ति इस समय बढ़ी हुई थी क्योंकि यह-युद्ध में फेडरिक को बन्दी बनाकर इस शर्त पर छोड़ चुका था कि वह सम्राट के पर के लिए अपने राज्य का वसतिमान कर देता ।

लुईस के द्वारा लगाए गए आरोपों और नए पीप का निर्वाचन करने के प्रतिकार-स्वरूप जॉन ने लुईस की नास्तिक नीति पर करते हुए ईसाई जनता को उसके विरुद्ध सस्त्र धारण करने का आह्वान किया । लेकिन इसी समय जर्मनी के निर्वाचक राजाओं की एक परिषद् ने पीपछा की कि सम्राट का अधिकार और माही सुपुट निर्वाचन के द्वारा प्राप्त होता है । इस सम्बन्ध में पीप की स्वीकृति की कोई आवश्यकता नहीं है । इस पीपछा से पीप का पर बहुत कमजोर पर गया और उसे पीप सम्बन्ध नहीं मिल गया । एक मान्य कहना है भी पीप जॉन 22वें के विरोधियों की अधिक संख्या बनाया । यद्यः फ्रांसिस द्वारा स्थापित बिशु सम्राटवा ने इस विद्वान् का प्रचार किया कि जीवन की आधुनिक आवश्यकताओं के लिए दितनी सम्पत्ति आवश्यक हो, उसमें अधिक सम्पत्ति का प्रचलन नहीं किया जाना चाहिए । आवश्यकता के अधिक सम्पत्ति रखना साम्प्रदायिक दृष्टिकोण में उचित नहीं है । लेकिन सम्पत्ति और ऐश्वर्य के सम्बन्ध जॉन ने विरोध करते हुए पीपछा की-कि यह विद्वान् ईसाई चर्च के विपरीत है । यही नहीं उसने फ्रांसिसवा सम्राटवा के प्रभाव की भी परम्परा और चर्च बहिष्कृत नीति किया । पीप के इस मार्ग ने बहुत ईसाइयों को भी विरोधी बना दिया । इन लोगों ने सम्राट और पीप के सम्बन्ध में प्रभाव का प्रत्यक्ष किया ।

14वीं शताब्दी में पीप की शक्ति निरुत्तर पड़ती गई । चर्च की शूट में पीपसाही की प्रविष्टि को बड़ा प्रभाव पहुँचाया । पीप के व्यक्तिगत जीवन में भ्रष्ट होने से प्रत्येक पादरी पीपसाही के बालीवर्क हो गए । उन्होंने अपनी रक्षा में

किरू पायकीय स्वाभावकी की वरलु ली घोर तर्क दिना कि धार्मिक बिषयों मे सम्मिलित अधिकार नीय की नहो दलित जर्न-परिषद् की हे ।

14वीं शताब्दी के विवाद के विशेषताएँ (Characteristics of 14th Century Controversy)

14वीं सताब्दी के उत्पन्न का सुनपाठ पर्व की सम्पत्ति पर करारोपण के जन पर दुष्सा लेकिन पून में यह प्रश्न निहित था कि जब राजा राज्य का प्रभु है तो क्या उसे राज्य की सुरक्षा और कल्याण की दृष्टि से पादरियों तथा जनसाधारण पर समान रूप से करारोपण करने का अधिकार नहीं था ? चित्तिय का उत्तर था कि राज्य की रक्षा के लिए पादरी बुद्ध-सौम में नहीं जाते, बल्कि दूसरी को जाना जाता है, मह. उस राज्य के पादरियों और पर्व का यह दर्शन है कि वे उनकी रक्षा के लिये जाने जाते जाते के लिये और उनके व्यव-भार को सहन करने के लिए राज्य को अपनी विद्यात सम्पत्तियों में से कुछ धन प्रदान करें । पादरीकण और जन-साधारण भी यह समझते थे कि पादरियों की सम्पत्ति पर करारोपण न होने पर बुद्ध और प्रजापति के नाम की वृत्ति करना सम्भव न था । यही कारण था कि कई के पादरियों ने इस राष्ट्रीय प्रश्न पर बीच-बीचों में वक्त न लेकर चित्तिय का समर्थन किया । पराधीन चेतनाही लोगों के हृदयों में हिलोई पादरी हुई राज्य भावना का सुतर्कन व कर लगी और इसलिए उनकी पराजय हुई । इस समय के पूर्व राष्ट्रीय भावना इतने दुर्लभ रूप में कभी प्रकट नहीं हो पाई थी । चित्तिय का उत्तर एक राष्ट्रीय राजा के रूप में हुआ जिसने चेतनाही के तात्त्व की समझा दिया । इस तरह 14वीं सताब्दी के विचार की प्रथम प्रमुख विशेषता राष्ट्रीय भावना का उत्पन्न होता था । यही निम्नलिखित कठाम्पियों में सर्व चेतनाही और शास्त्र-ज्ञ को राजनीतिक अधिकार क्षेत्रों में था यही 14वीं सताब्दी में यह उत्पन्न हो चित्तिय, चेतनाही तथा राष्ट्रीय राजा के मध्य था ।

14वीं सदी के विवाद की क्रिश्चियन विवेचना यह रही कि यहाँ सिखों ने शास्त्रात्मकता को अपने बचाव के लिए प्रयत्नशील रहे यहाँ इस शास्त्रों में दोषदाही को अपने बचाव के लिए अपने पास एक ऐसे राष्ट्रीय धर्म के रूप में प्रकट हुआ जिसे दोषदाही के विरुद्ध अपने में सम्मिलित भावी में सम्मिलित किया है।

जीसदी महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि चीनवादीयों ने बहुत ही उच्च अर्थ-साम्राज्यात्मिक रूढ़िवादी धारणाएँ हुए कट-काट कर अपने अपने देश भरना शुरू कर दिया। चीन ने सम्पत्ति के प्रति अपनी धारणाओं को सुले कन ने प्रकट करते हुए यह घोषणा कर दी कि साम्राज्यवादी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सम्पत्ति का होना आवश्यक है। चीन के समाजवादी ने कहा है कि पार्ष्णीयों द्वारा निजी सम्पत्ति रखना चीन पार्ष्णीय विद्वानों का ध्यान न करना वैसावृद्ध के विरुद्ध है। साम्यवादी का सर्व-साम्यवादीक धारा मान्यताएँ या किसी अधिकारी जनता का समर्थन मिला।

प्राचीन विवेचना यह थी कि इस मतभेदों के बाद-विवाद का स्वर पूर्ववत् बना रहता था। प्राचीन को अधिक शक्ति कम से कम तथा तथा पुनः उनकी को नए आलोचनात्मक रूप से प्रस्तुत किया गया। प्राचीन ऐतिहासिक दृष्टियों की फिर से परीक्षा हुई। इस बाद-विवाद के विकास का हिस्सा भी बन गया और राजा के समर्थन वाली को रचनाओं के राजनीतिक समर्थन का प्रभाव तथा प्रजासत्ताक व्यवस्थाओं का विचार प्रस्तुत हुआ। वेस्टमिंस्टर के चर्चों में, "यह यूरोप के भौतिक जीवन में विविध और व्यावहारिक रूप से प्रतिष्ठित नहीं कि सामर्थ्य हो गया।"

चर्च तथा राज्य द्वारा अपने-अपने पक्ष में प्रस्तुत दावे

(Arguments for the Supremacy of the Church and the State)

इस प्रश्न को निवेदन के उपरान्त चर्च और राज्य द्वारा अपने समर्थन में प्रस्तुत किए गए दावों का संक्षेप में विचारणीयता प्रस्तुत होगा।

चर्च-समर्थक दावे

(1) चर्च ही सच्चा राज्य है। चर्च तथा ईसाई धर्म की स्थापना स्वयं परमात्मा द्वारा की गई है जिसने मानव-समाज के शासन के लिए साम्प्रदायिक और सांसारिक शक्ति की दो सत्ताओं को सौंपा है। साम्प्रदायिक शक्ति का प्रभाव पौरुष है और सांसारिक शक्ति का राजा, किन्तु पौरुष की स्थिति उच्चतर है और अधिक शक्ति में उन्नत निर्यात ही अस्तित्व है।

(2) भौतिक जीवन की अनेक साम्प्रदायिक जीवन अन्तर्गत है तथा अनेकों के तरह से उद्धार के कार्य को सम्पन्न करने वाले पादरीयों भौतिक शक्तों से अधिक शक्ति और शक्तिपूर्ण है। सन्तों का कहना है—'धीरे धीरे और धीरे धीरे की चर्च में जो शक्ति है, वह शक्ति राजाओं के तथा विचारों के शक्ति में है।'

(3) दो सत्ताओं के सम्बन्ध के आधार पर कहा गया कि पौरुष के ईश्वर से प्राप्त सांसारिक शक्ति की अन्तर्गत अन्तर्गत ही राजाओं की ही तथा साम्प्रदायिक शक्ति की अन्तर्गत अन्तर्गत अपने पक्ष रखी। इस तरह राजा पौरुष के साम्प्रदायिक ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है और उसे पौरुष की सहायता से राज्यता का प्रयोग करना चाहिए।

(4) भौतिक शासन अपनी शक्तिपूर्ण ईश्वर के पुरुष रूप में नहीं बल्कि चर्च के साम्प्रदायिक प्राप्त करते हैं, अतः भौतिक शक्तों में भी वे पौरुष के समीप हैं।

(5) चर्च-सत्ता की प्रधानता सिद्ध करने के लिए बाइबिल के अनेक पुराने और नए निवेदनों और उदाहरणों को प्रस्तुत किया गया। उनकी व्याख्या इस तरह की गई कि पौरुष तथा चर्च की स्थिति सुस्पष्ट हो।

(6) चर्च ही राज्य की नीतिभूता के लिए उत्तरदायी है, और पौरुष को अधिकार है कि वह राजाओं के शासन पर नियंत्रण रखे।

(7) अनेक ऐतिहासिक घटनाओं और प्रमाणों द्वारा राजाओं पर चर्च-सत्ता की प्रभुता सिद्ध की गई। अपने अनेकों सन्तों का कहना है कि चर्च-सत्ता ही सच्चा राज्य है। दूसरा प्रमाण यह दिया गया कि मेरोविन्गस के अन्तिम राजा चिल्पेरिक (Chilperic) की अन्तिम मृत्यु के कारण पौरुष-साम्प्रदायिक

(Zacharias) ने बयस्बुर्द किया था। तीसरा प्रमाण 'कॉन्स्टेन्टाइन के दान' (Donation of Constantine) का दिया गया। वास्तव में यह प्रमाण एक जाली दान-पत्र बना कर पेश किया गया जो 1439 ई. में अगस्तोर्द होने तक प्रायोगिक समझा जाता रहा। चौथा प्रमाण पोप निको कृतीय द्वारा चार्ल्समैन को मुकुट प्रदान करने का पत्र दिया गया। इस राज्याधिकार का यह सर्व प्रमाणित किया गया कि पोप राजा की राजकीय प्रदान करता है और उसे पवित्र से सम्बन्ध है।

(8) पोप अपने दण्ड-कारणों और अधिकार देने के पत्र से भी सम्राट् के प्रभाव का विस्तार करता रहा। सम्राट्-बहिष्कृत कर देने की धमकी और उनकी क्रियाविधि सम्बन्ध में विवेक बहुरूप रखती थी।

पोपचारित्र्य ने अपने पत्र में बड़े-बड़े दावे प्राप्ति किए। उनसे वास्तव में हेराही होती है। इसके भी अधिक हास्यास्पद बात यह लगती है कि किस तरह अतिशयोक्ति प्रभाव प्रारम्भ में पोपचारित्र्य के सम्पूर्ण भ्रुते और पत्र पत्रों रहे। वास्तव में इन सब के मूल में यही बात निहित होती है कि प्रारम्भ में ही बहुत पोपचारित्र्य के हारपी के रही जिससे उन्हें प्रारम्भिक सफलताएँ मिली। उस समय जनता पक्षाधीन थी और पत्र के पत्रिक दण्ड के भय से सर्व्व वस्तु और दली हुई जाती थी। राज्याधिकारी इती कारण जन-समर्थन प्राप्त नहीं कर पाते थे। साथ ही वे यह भी स्कार नहीं कर सकते थे कि साम्प्रतिक अधिकारी के अधिकार के अधिक प्रेक्ष्य है। इसके अतिरिक्त वे सम्राट्-बहिष्कृत करने जाने का अर्थ भी नहीं उठा सकते थे। यतः उनकी स्थिति और नीति अतिरिक्तः रक्षा और बचाव की थी। 14वीं शताब्दी के पूर्व तक इन्हीं कारणों से वर्ष और पोप की लड़ी होती रही।

राज्यता के समर्थक दावे

(1) राजा के दली अधिकारी पर जन विश्वास था। यह कहा गया कि राज्य की उत्पत्ति की पर्व की अति बड़ी है। राजा की अति ईश्वर के प्रत्यक्ष रूप में मिली है जिससे अयोग करने से वह अनेक ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है तथा केवल ईश्वर ही राजा के कार्य का नियंत्रक है। राजाओं का कर्त्तव्य है कि वे श्राव करें, पर्व की रक्षा करें और प्रजा का हित करें, किन्तु यदि वे कर्त्तव्यभङ्ग होते हैं तो इससे उनके दली अधिकार समाप्त नहीं होते और न ही वर्ष लौकिक दण्ड देने के लिए पाये जा सकता है। ईश्वर अपने सर्व्व की शक्ति के लिए भूतल पर से प्रसार के राजा करता है—स्वाधु और पूर। यदि राजा स्वाधु है तो इसका पर्व यह है कि वह देश की रक्षा पर ईश्वर की कृपा है। यदि राजा पूर है तो वह समझता चाहि कि वह देश की रक्षा के ईश्वर पूर है। यतः राजा का यही कर्त्तव्य है कि वह अनेक दण्ड से राजा की साम्प्रतिक रक्षा करे। राजा के साम्प्रतिक की वह अपने पर्व का परिणाम समर्थ और उनके अपने के लिए ईश्वर की श्रमणा करे।

(2) पोपो का यह दावा कि लौकिक विषयो पर पोप का नियन्त्रण हो, इसरीय व्यवस्था के विरुद्ध है। ईश्वर ने समार की धार्मिकता और लौकिक इन दो शक्तियों के शासन में रखा है। परन्तु पोप द्वारा दोनों ही शक्तियों को अपने हाथ में लेने की चेष्टा करना ईश्वर के आदेश का उल्लंघन है।

(3) राजसत्ता के समर्थन में न्यायविदों ने कई तर्क-सम्मत युक्तियाँ प्रस्तुत कीं। 12वीं शती में पीटर केसल ने कहा कि राजा हेनरी ने अपनी गद्दी उत्तराधिकार के सिद्धान्त द्वारा प्राप्त की है, न कि पोप से अपना जगत से। परन्तु हेनरी को सन्तुष्ट करना ठीक ऐसा ही कार्य होगा जैसा किसी व्यक्ति की निजी सम्पत्ति की छीनना। एक अन्य युक्ति द्वारा इस धारणा का खण्डन किया गया कि राजा से पपरी अधिक श्रेष्ठ है और जिससे वे पोप अधिक श्रेष्ठ है। यह कहा गया कि राजपद का स्वयं ही है, परन्तु राजा की शक्ति पोप और पादरियों दोनों से अधिक श्रेष्ठ है। यह बात कि पोप राजा को पर-व्यतिथि करता है, किसी भी रूप में इसके राजा से श्रेष्ठ होने का प्रमाण नहीं है। यदि पर-व्यतिथि के ही श्रेष्ठता का निर्धारण होता तो पोप को यह प्रतिष्ठित करने वाले काजिले पोप से श्रेष्ठ होते। पर-व्यतिथि ही केवल-मात्र एक सरकार का सम्पन्न करना है। इसके साथ ही यह भी कहा गया कि सभी नियम समान हैं और उन्हें ईश्वर से समान शक्तियाँ मिली हैं, परन्तु उनसे अधिक प्रमुखता और श्रेष्ठ नहीं है। राजसत्ता के समर्थन में ही गई और पोप की श्रेष्ठता पर आघात करने वाली ये युक्तियाँ इस दृष्टि से भी निश्चय ही धार्मिक बहुल्यपूर्ण थी कि इनमें मनुष्य का नियंत्रण उसके पर से नहीं बल्कि उसके कम और परिण से करने का विचार भ्रमकृत था। अपनी युक्तियों और कानूनी व्याख्याओं द्वारा लुक्सेमबर्ग विधि-शास्त्रियों ने 'परिच्छिन्न साम्राज्य शक्ति' (Imperium Continuatum) के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया और कहा कि रोमन साम्राज्य के समय से साम्राज्य की शक्ति सर्वोच्च रूप में चली आ रही है जिसे पोप द्वारा प्रदत्त नहीं किया जा सकता। विस्वात विभिन्नता कार्रवाई (1314-73) ने यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि साम्राज्य पृथ्वी पर ईश्वर का अवतार है जिसकी अनुपस्थिति होती है और उस पर विचार करना भी कार्य विरुद्ध है।

(4) ईसाई धर्म के कुछ पादरियों ने पोप की अव्यतिथि सत्ता के विरुद्ध राज सत्ताधारियों को समर्थन दिया। वे पादरी सत्ता का उपयोग कार्य-परिपरीक्षा में आहो वे, पोप द्वारा नहीं। इस गृह ने साम्राज्य की शक्ति को खत्म करने में भी दिया।

जोसाई और साम्राज्य के मध्यकालीन काल में नवीन राजनीतिक सिद्धांत रचना की अनुमति दिया और लोपो की इस बात के लिए प्रोत्साहित किया कि वे धार्मिकता और राजनीय दोनों शक्तियों के आभास पर प्रतीक करें।

मध्यकाल की कुछ विचारक : जॉन ऑफ सैलिबरी.

(John of Salisbury)

पोप केनरी सन्तुष्ट के साथ पोप की प्रमुख के प्रमुखता अधिकारों की पुनर्स्थापना नाम जॉन ऑफ सैलिबरी (1115-1180) का माना है। उसकी

मानसिक शक्ति की परम्परा जन्मबोध की थी। सन् 1176 ई. में चार्ल्स चौथा (Charles) का विजय विद्रुह हुआ और चार वर्ष बाद उसकी मृत्यु हो गई। जॉन बॉल वेलिंगटनरी ने 1159 में 'पॉलिटिकल' (Political) नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमें फ्रान्सुनीय राजनीतिक दर्शन पर विस्तृत और व्यवस्थित रूप से चर्चा की जा विचार किया गया। रोबार्ट के अनुसार 'चरलस के सुधारों से पहले इस ढंग की चर्चा बरेली दुम्हक थी जिसमें उस प्राचीन परम्परा का सकल निरास था जो सित्तरी, सेनेका, चर्च के संस्थापकों और रोमन विधिशास्त्रियों के पास से होती हुई 12वीं सताब्दी तक आई थी। इस ग्रन्थ में चर्चा ईमानदारी से उन विचारों को उलट करने का प्रयत्न किया गया पर जिन्हें 12वीं सताब्दी में सब लोग मानते थे और जहाँ तक उस समय ज्ञात था, हमें ज्ञात है मानते आए थे। जिस समय जॉन बॉल वेलिंगटनरी ने ग्रन्थ प्रस्तुत किया था, समाज में सामन्तवाद का बीजबाला था। लेकिन "इस ग्रन्थ पर समाज के सामन्तवादी सगठन की बहुत कम ध्यान है।" इस पुस्तक को जिसे 'पेट्रुसमैन बुक' भी कहते हैं, डॉ. विलिंगटन ने 'सामन्तवाद में राजनीति पर सबसे पहला मान्यतापूर्ण ग्रन्थ' कह कर पुकारा है। इसमें सरकार के संगठन, उसके कार्य विभागों और उसके पारस्परिक सम्बन्ध और सरकार के विभिन्न कर्तव्यों का कोई उल्लेख न होकर केवल सरकार के एक रूप राजतन्त्र का वर्णन किया गया है। पुस्तक में शासन का सीधा साम्राज्यवादी व्यवस्था पर आधारित है। वेलिंगटनरी के राजनीतिक दर्शन का तरब बन्दूकी और मार्क्सवादी की प्रवृत्ति नैतिक शक्ति है।

वेलिंगटनरी के राजनीतिक विचार

(Political Ideas of Salisbury)

जॉन के राजनीतिक विचारों में सर्वप्रथम महत्वपूर्ण बातें निम्नलिखित हैं—

(1) चर्च की सर्वोच्च शक्ति अथवा राज्य का चर्च के प्रति अधिकार होना— जॉन बॉल वेलिंगटनरी का विश्वास था कि सर्वोच्च और राजनीतिक शक्तियों के अधिकार क्षेत्र भिन्न थे, तथापि पार्षिक और लौकिक शक्तियों में सम्मिश्रित होने से उत्पन्न चर्च की ही प्रधानता हो गई थी। चर्च ने इनमें से साम्राज्यिक शक्ति की उत्पत्ति करने काग रची और लौकिक शक्ति की उत्पत्ति राज्य की इन शक्तियों पर होने की कि वह उत्पत्ति प्रयोग चर्च की ओर से और चर्च की अनुमति से करता है। जॉन के शब्दों में, "इस उत्पत्ति (लौकिक शक्ति) को राजा चर्च से प्राप्त करता है। तथापि इस उत्पत्ति उत्पत्ति को चर्च अपने द्वारा से नहीं प्राप्त तथापि इस पर उनका अधिकार है। चर्च इसका प्रयोग राजा के द्वारा से करता है और (लौकिक विषयों में) उसे शक्ति का अधिकार देता है, जबकि साम्राज्यिक विषयों का अधिकार पार्षिकों के लिए ही सुरक्षित रखा जाता है। इसलिए राज्य एक तरह से चर्च का ही एक

कानून है सभी राजाओं को इस कानून के अधिनियम में रहना चाहिए। "कानून के कुछ चरम बिंदु हैं जिनसे सर्वेसामयिकता बनी रहती है, जो सभी राज्यों पर समान रूप से लागू होते हैं। यदि उन्हें छोड़ा जाए तो दण्ड मिथ्या साबित्यक है। शासकों के प्रत्येक क्रियाकलाप यह कह सकते हैं कि शासक कानून के अधिनियम में नहीं है उनकी इच्छा ही कानून है, उनके ऊपर किसी प्रकार के प्रतिबंध नहीं है; लेकिन, फिर भी मैं मंजूर करूँगा कि राज्य कानून द्वारा रोक होते हैं।"¹

जॉन ने अपने और सरावाचारी राज्यों के बीच की बड़ा महत्व प्रदान किया है। मध्ययुग के राजनीतिक साहित्य में जॉन ने पहली बार कहा कि सत्ताधारी शासक का पक्ष करना ठीक है क्योंकि जो व्यक्ति सत्ताधार को हाथ में लेता है उसका उत्तरदायित्व है करना स्वयं समर्थ है। उसने बताया कि, सरावाचारी शासक और शासक में एकमात्र अंतरा मुक्त अंतर है कि शासक विधियों का पालन करता है और जनता पर उनके अनुसार ही शासन करता है। यह समय की उनका ऐक्य-भाव मानता है तथा विधि के कारण ही राज्य के शासन प्रणाली में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थिति रखता है।²

जॉन ने सरावाचारी शासक के पक्ष का समर्थन करते हुए लिखा है, "यदि शासक की शक्ति ईश्वर-प्राप्तियों का विरोध करती है, ईश्वर के विरुद्ध किए जाने वाले मुद्दे में बूढ़े शामिल करना चाहेंगे हैं जो मैं मुक्तकण्ठ से मंजूर करता हूँ कि इस भूतल पर किसी भी व्यक्ति की तुलना में ईश्वर को महत्व देना चाहिए। सरावाचारी शासक का पक्ष करना न केवल वैधानिक है, बल्कि अधिक और व्यापक है।"³ हालाँकि का कथन है कि एक धर्म-युगीन के लिए ऐसा कहना सरावाचारी हैन था। इससे पहले नहीं कि यह विद्वान् चर्चित रूप में अपने-आप में एक सुराई थी, किन्तु हमें यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि जॉन की विचार-प्रणाली में इस विद्वान् का कोई प्रमुख स्थान नहीं था। उसने राजा के पक्ष के लिए अनेक बड़ी-बड़ी समस्याएँ इस अधिनियम को सीमित कर दिया था। प्रथम तर्क यह था कि शासक का धर्म-विरोध धर्म द्वारा प्रभावित किया जाए। उसकी दूसरी तर्क यह थी कि हालाँकि राजभक्ति की धारणा में सम्बन्ध-मुक्त व्यक्ति होता चाहिए। जॉन सरावाचारी शासक के पक्ष करने का सर्वाधिक सुरक्षित एवं उपयोगी ढंग धर्मशास्त्र के प्राप्ति को मानता था।

सेलिस्वरी का मूल्यांकन

जॉन और सेलिस्वरी मध्ययुग का एक प्रमुख लेखक और विचारक था जिसे रोम रोमरी चर्च के बाद रोम की प्रमुख के प्रमुखतः चर्चितताओं की पेशी में रखा जाता है। लेकिन धर्म की लक्ष्य-मार्ग का समर्थन करते हुए भी उसने विधि और न्याय पर साधारण आदर्श राज्य का निर्माण किया। उसका महत्व मुख्यतः

1. जेफरीस : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, कृष्ण, 227-228.

2. *Quinn* : A History of Political Theories, p. 187.

इसलिए है कि मध्ययुग के राजदरबान पर मुख्यतः विचार करने वाला यह प्रश्न होगा था । केनिज़बरी ने कानून सम्बन्धी विद्वान्त और कानून की छात्र-भौष मान्यता के कुछ विरोध व्यक्त किया और राजसत्ता का प्रभाव उपर्युक्त होने के बावजूद, यह चर्च कर यह आरोप लगाये थे नहीं जिसका कि चर्च करने-लाभ तथा अन्य पाप पुनियों के प्रेरित होकर अपने अधिकारों का दुरुपयोग करता है । केनिज़बरी ने विरोध के अभाव ही एक ऐसे प्रश्न की कल्पना की जो कानून और अधिकारों के बारे में किसी सामान्य सम्बन्धों के बंधा हो । मध्ययुग के राजनीतिक चिन्तन ने केनिज़बरी ने पहली बार यह विद्वान्त प्रतिपादित किया कि धर्मशास्त्री शासक का रूप करने के कोई सम्बन्धित नहीं है । जॉन ने कहा कि "जो व्यक्ति राजकार की रूप में होता है, उसका राजकार से भ्रमण अधिक है ।" केनिज़बरी का सुनवाई करते हुए वेदम ने लिया है कि—इस बात का उपदेश देकर कि राजाओं की ईश्वरीय कानून के अनुसार स्याय एक धर्म का सर्वज्ञान करना चाहिए, जॉन ने रोम तथा चर्च के आरम्भित क्षेत्रों की परम्पराओं को स्थापित प्रदान किया । इसके परिणित, धर्मशास्त्री मानकों के हटाने की सीधितकृत एवं सुनिश्चित दूरकर अपने सर्वोच्च शासन-प्रणाली के विकास के भी योग दिया ।¹

सन्त टॉमस एक्वीनास (St. Thomas Aquinas)

जीवन परिचय

सन्त टॉमस एक्वीनास 13वीं शताब्दी का महानतम व्यक्ति था । जैसे मध्य युग के समस्त विचारकों ने भी महानतम माना जाता है । रोमन ही जैसे समस्त काल के ऊपर टॉमसिन्की में स्थान देता है । उसके अनुसार एक्वीनास की सभी-विनिष्ठता यह भी कि अपने समय-प्रभाव प्रभावित विचार की विभिन्न भाषाओं को एक ही प्रणाली के समित्त करके एक कर दिया ।

एक्वीनास का जन्म मेपल (Meples) राज्य के एक्वीनो नगर में हुआ था । कुछ व्यक्तियों के अनुसार उसका जन्म 1225 ई. में तो दूसरों के अनुसार 1227 ई. में हुआ था । टॉमस एक्वीनास कथन के ही बात प्रभावशाली था । उसके पिता एक्वीनो नगर के काउन्ट पर कर कार्य करी थे । उसके माता-पिता की जानका थी कि उनका पुत्र भी उच्च राज्याधिकारी बने । लेकिन टॉमस ने रोमनिकन सम्प्रदाय का अदान करकर उन्हें बड़ा निराश किया । जिसका ही उसे दस सम्प्रदाय के हटाने का प्रयत्न किया गया, उनका ही यह उसका कट्टर अनुयायी बन गया । उसे न तो माता-पिता का और विरोध और न ही सामाजिक कमीशन देने के लिए उनके पास किसी भी सुनरी का मोह रोमनिकन सम्प्रदाय की कल्पना से निराश कर गया । एक्वीनास ने उस सुनरी पर अपनी हुई अपनी पंक्ति और यह भाव गई ।

टॉमस एक्वीनास पेरिस पहुँच कर योग्य युव धीरे धार्मिक नेता बनकर महान् के घरलोगों में बार-बार तक सम्मान करता रहा । अन्ततः उसने अपने गुरु से भी अधिक स्थिति प्राप्त की । उसने मरस्तु की राजनीति और उसके लक्ष्यताप का गहरा अध्ययन किया । अपनी धार्मिक श्रेष्ठता एवं मौलिकता के कारण वह विख्यात हो गया । टॉमस का पेरिस विश्वविद्यालय ने कोई उपाधि नहीं दी । उन दिनों वह चिलवित्वालय विश्व की उपाधि प्रदान नहीं करता था । किन्तु पोप की सिफारिश पर 1256 ई. में पेरिस विश्वविद्यालय ने उसे 'Licenciatus and Master of Theology' की उपाधि से विभूषित किया । उपाधि के बाद उसने ईसाई गुरु की श्रुति लेना की । सन् 1256 से 1268 तक उसने विभिन्न धार्मिक विषयों पर लेख लिखे तथा भाषण दिए । वह अपने समय में राजनीति-शास्त्र, धर्म-शास्त्र और तर्क-शास्त्र का इकाग्र विद्वान् सम्मान जाता था । बड़े-बड़े राजा उससे राजाओं के कर्तव्यों पर प्रस्ताव बनाने की प्रार्थना करते थे । स्वयं पोप ने अपने-विभिन्न सम्बन्धी कठिनाइयों के निवारण हेतु अनेक बार उससे सलाह ली थी ।

टॉमस एक्वीनास को अनेक बार उच्च धार्मिक पदों से ग्रहण करने के अवसर दिए गए, किन्तु उसने स्पष्टतः कह दिया कि उसने विद्याध्ययन किसी पद पर आसीन होने की वात्सल्य से नहीं किया है । दुर्भाग्यवश ऐसा महान् विद्वान् और गुरु केवल 49 वर्ष की आयु में 1274 ई. में परलोक सिधार गया । उसके मृत्यु की प्राप्ति करने के लिए विभिन्न सम्प्रदायों में भावना बसा । मृत्यु में पोप के हस्तक्षेप के कारण बौद्धिक सम्प्रदाय की रूप प्राप्ति हो गया ।

एक्वीनास की वदति और उसकी रचनाएँ

मृत्यु टॉमस एक्वीनास की वदति सम्प्रदायिक और सकारात्मक थी । वह रचनात्मक कार्य करता आदता था । उसने अन्ततः महान् के साथ मरस्तु के रूप 'सोमिनिस्टर' का नाम सम्प्रदान करके अपने विख्यात ग्रन्थ 'Commentaries on Politics of Aristotle' का रचना किया । एक्वीनास ने धीरे धीरे लगभग 30 ग्रन्थों की रचना की, जिनमें से प्रमुखतम ये हैं—

1. सुम्मा थियोलॉजिका (Summa Theologica),
2. दि रूल ऑफ प्रिंसेज (The Rule of Preachers)
3. सुम्मा कन्ट्रा गेंटिलेज (Summa Contra Gentiles)

इन रचनाओं के रचना की वदति, उसके कई विधि, प्रादि विषयों का उल्लेख है ।

धार्मिक पृष्ठभूमि

टॉमस एक्वीनास के विद्वानों पर सकारात्मक परिनिष्ठाओं के धीरे बड़ी क्षेमा तक मरस्तु के विचारों ने प्रभाव डाला । आरम्भ में मरस्तु के दर्शन की ईसाई-धर्म-विरोधी माना गया किन्तु एक जलजली से कम समय में ही उसका ईसाई-धर्म की दृष्टि से पुनरावलोकन किया गया । यह कार्य अन्ततः महान् धीरे महान् विषय टॉमस एक्वीनास ने किया । उसने सैमेन्टिडिज्म एवं हेतीनिज्म

का तथा प्रतिस्थापन एवं धारण का सुन्दर सम्मेलन स्थापित करने का लक्ष्य प्रकट किया। उसने राजनीति-शास्त्र की सामाजिक विज्ञान में बड़ी स्थान दिया जो धारण ने दिया था। पर उसके विन्दन में धर्म की प्रधानता थी, जबकि धारण के विन्दन में विवेक पर आधारित ज्ञान की। एक्वीनास धारण के इस विचार के प्रत्यक्ष यह कि मानव का धर्मिक जीवन आनन्द प्राप्त है, लेकिन वह इसके लिए धर्म की सहायतापूर्ण सहायता समझता था। उसकी दृष्टि में राज्य-व्यवस्था आनन्द नहीं बल्कि मोक्ष सर्वोत्तम आनन्द का और धर्म राज्य का प्रतिद्वन्द्वी न होकर सामाजिक जीवन में उसका सहयोगी था।

एक्वीनास के दर्शन का मूल मन्त्र समरस्यता (Harmony) और समन्वयता (Coeherence) पर आधारित सार्वभौमिक समन्वयता (Universal synthesis) बना सार्वभौमिक व्यवस्था (An all-embracing system) के निर्माण का प्रयास था। उसने कहा कि सर्वव्यापक ईश्वर और प्रकृति के विद्यमान प्रमाण में हर प्रकार की विरोधता सम्भव है। सम्पूर्ण मानव-ज्ञान एक ऐसे विरामित के समान है जिसका आधार धर्म के विभिन्न विज्ञानों से मिलकर बना है और जिसमें प्रत्येक का अपना एक स्थान स्थित है। इन सबके ऊपर दर्शन है जो एक बुद्धिमानत मान्य है और समस्त विज्ञानों के सार्वभौमिक विज्ञानों की रचना का आधार करता है। धर्मकी दार्शनिक बुद्धि धर्मका विवेक की दर्शन का सर्वोत्कृष्ट साधन समझते थे और दर्शन की मान का आधार समझते थे। एक्वीनास एक कदम धर्म काकर दर्शन और बुद्धि के ऊपर सर्वव्यापक की मानता है जिसका साधन धर्म और समन्वयता है, विवेक नहीं। उसके मन में ईश्वर धर्म-ज्ञान सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान की परमावस्था है।

एक्वीनास के प्रकृति सम्बन्धी विचार और उसका सामाजिक एवं राजनीतिक दर्शन
(Views on Nature and his Social and Political Philosophy)

प्रकृति सम्बन्धी विचार तथा राज्य एक प्राकृतिक संस्था—रॉबर्ट एक्वीनास ने प्रकृति की जो उत्पत्ति की थी वह उसकी ज्ञान सम्बन्धी योजना से पूरी तरह केन जाती है। वह प्रकृति की कोहेन मानता है। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु का अपना महत्व है। प्रत्येक प्राणी अपनी प्रकृति के अनुसार पूर्णता प्राप्त करता चाहता है और अपनी सामाजिक व्यवस्था के अनुसार ही कार्य करता है। जो प्राणी कुछ अधिक पूर्ण होता है, वह अपने से निम्नतर प्राणी पर अधिक उत्तम प्रकार काका करता है जैसे ईश्वर मानव पर और मानव प्राणी पर। हर प्राणी का अपना स्थान, कार्य और अधिकार होता है। इनके द्वारा ही वह सम्पूर्ण योजना में योग देता है। इन सम्पूर्ण योजना की व्यवस्था में मनुष्य का एक विशिष्ट स्थान होता है। इसीलिए प्राणी-प्रकृति के धर्मिकत्व के साथ ही उसने एक नैतिक और सामाजिक व्यवस्था की रचना की मिलती है। एकमात्र मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जिसके शरीर और मानस दोनों ही धर्म इसी तथ्य पर मानव-जीवन की स्थापित करने वाली

सबसे सर्राहें और विविध दिखी हुई है। स्पष्ट है कि एक्वीनास ने मानव प्रकृति के दो स्वरूप माने हैं—सामाजिक और आध्यात्मिक। सामाजिक प्रकृति सर्वत्र ही समाज के कार्यकलापों में रत रहती है और विभिन्न चीजों से युक्त होती है। इसके विपरीत आध्यात्मिक प्रकृति का सम्बन्ध आत्मा का ईश्वरीय जगत् से होता है। यह सामाजिक प्रकृति के दोषों से मुक्त होती है। दोष रहित होने के कारण ही आध्यात्मिक प्रकृति मानव-स्वभाव में ईश्वरीय प्रकृतियों का प्रतिनिधित्व करती है।

इससे एक्वीनास का सामाजिक और राजनीतिक जीवन सम्बन्धी विद्वान्ताप प्रकृति सम्बन्धी विद्वान्ताप का ही एक घन है। प्रकृति की भाँति ही समाज भी विभिन्न उद्देश्यों और साधनों की एक व्यवस्था है जिसमें विभिन्न स्तर के प्राणी रहते हैं। इस सामाजिक व्यवस्था में छोटा या निम्न प्राणी अपने से बड़े या उच्च प्राणी की सेवा करता है। यह उच्च प्राणी उस निम्न प्राणी की आवश्यक निर्देशन देता है और उसका पक्ष-प्रदर्शन करता है। अस्तु की भाँति ही एक्वीनास भी मानता है कि राजा जो उच्च जीवन की प्राप्ति हेतु की जाने वाली सेवाओं के सामाजिक विनिर्गम की व्यवस्था है। समाज में विभिन्न व्यक्ति और व्यवस्थाओं अपना सहयोग प्रदान करते हैं। हर वर्ग अपना-अपना कार्य करता है।

एक्वीनास सामाजिक व्यवस्था के शासक के मन की पूर्ण महत्त्व देता है। उसका होता समाज के हित के लिए बड़ा मान्यत्व है। जिस तरह आत्मा शरीर पर अपना उच्च प्रकृति निम्न प्रकृति पर शासन करती है, उसी तरह शासक-वर्ग समाज के अन्य वर्गों पर शासन करता है। इतिहास ने "सम्राटों की स्वायत्ता और शासन, कर्मों का प्रायोजन, प्राज्ञाओं के निर्वाह, राजाओं की स्थापना और शिक्षा की प्रतिवृत्ति की ईश्वरीय नीति के पुष्टता की है। ईश्वर अपनी एक सीला क्रांति ही समाज का निर्माण और शासन करता है।"¹

एक्वीनास इस मनुष्यीय आस्था से प्रसन्न है कि राज्य की उत्पत्ति मनुष्य के मन पतन और पाप के कारण हुई है तथा राज्य एक प्राकृतिक व्यवस्था न होकर आवश्यक बुराई है। उसके अनुसार राज्य की एक प्राकृतिक सम्भावना है, एक समाजोपयोगी संस्था है। मानव सामाजिक और राजनीतिक प्राणी है। राज्य इसलिए आवश्यक नहीं है कि वह मनुष्यों की बुराइयों को दूर करता है, बल्कि इसलिए आवश्यक है कि राज्य के भीतर रहकर ही मनुष्य अपना पूर्ण विकास कर सकता है। राज्य के बाहर रहकर वह पूर्ण मानव-साधारणता नहीं कर सकता। राज्य एक सर्वथा सामाजिक संस्था है। यदि मनुष्य का पतन न हुआ होता तो भी वह मानव-समाज में पाई जाती।

राज्य के कार्य—एक्वीनास, गुनामी, रोमन और ईसाई धर्म के विचारों का सम्बन्ध नहीं हुए राज्यों के कार्यों का निर्धारण करता है। उसके अनुसार राज्य एक ऐसा नर है जो सम्पूर्ण समाज के लिए है। सामाजिक हित में योग देने में ही

राज्य की सार्वभौमता है। इसी के लिए वह अपनी शक्ति ईश्वर से प्राप्त करता है। राज्य का वैश्विक उद्देश्य बड़ा उच्च है। उसका कार्य राज्य के प्रत्येक वर्ग को ऐसी स्थिति में ला देना है कि वह खुशी और सद्गुणी जीवन-यापन कर सके। राज्यों को चाहिए कि वह प्रजापन के लिए उत्तम जीवन शिक्षा को परिचितिपूर्वक उत्पन्न करें और राज्य में एकता तथा शान्ति बनाए रखें। राज्य को प्रत्येक नागरिक को बाह्य शत्रुओं से समाज की रक्षा के लिए सर्वत्र संरक्षित रहना चाहिए और कानूनों के शासन के लिए पुरस्कार तथा सख्त-सजाया द्वारा प्रजा को नियन्त्रण में रखना चाहिए। राज्य में जीवन को विनियमित करने के लिए जनश्रमका घर आवासक नियन्त्रण करना, शत्रुओं को सुरक्षित और चोर-दास्यों के उपद्रव से मुक्त रखना, राज्य के लिए निरपेक्ष मुद्रा-नियंत्रण चलाना, धर्म और नीति की समुचित प्रशंसा निश्चित करना, शत्रुओं के भय-भीषण की व्यवस्था करना आदि भी नागरिक के कर्तव्य हैं। वस्तुतः एक्वीनास ने मुख्यतः राजनीतिक जीवन की मानव-जीवन के सुख और शान्ति की दृष्टि से बड़ा महत्त्व देना है।

सरकार के रूप—एक्वीनास ने शासन के विभिन्न रूपों का वर्गीकरण भी किया है। सरकार की शक्ति वह संबंधितकारी शासन-प्रणाली की शक्ति एवं आवश्यकता तथा केवल मान नागरिक के हित साधने वाली शासन-प्रणालियों की विच्छेद बताता है। अपने राज्यों की राजतन्त्र, अधिपत्यतन्त्र, निरंकुश शासनतन्त्र, सामन्ततन्त्र, सामन्तीय जनतन्त्र, लोकतन्त्र आदि में विभक्त किया है। राजतन्त्र और जनतन्त्र के बीचा नागरिक सम्बन्ध है? इस पर सरकार की तरह उसका एकमत नहीं है। फिर भी अपने राजतन्त्र को सर्वोच्च शासन-प्रणाली माना है और इस विषय में सरकार के रूप 'पॉलिटिकल' की तर्क-हीनता का अनुसरण किया है। उसके अनुसार एक्वीनास का मुख्य ध्येय है, सत्ता-सरकार के समर्थन में एकता लाने के लिए शासन को शान्त और एक ही शक्ति के हाथ में रखनी चाहिए। जिस प्रकार शत्रुत्व के शरीर के विभिन्न अंगों पर हृदय शासन करता है, इस विस्तृत संसार पर केवल एक ही शक्ति ईश्वर का शासन है। मनुष्यशक्तियों पर राजी प्रजा की शासन है, उसी प्रकार राज्य में एक शक्ति का शासन होना उचित है। राजतन्त्र में शान्ति, सुव्यवस्था, एक समन्वय भलीभाँति स्थापित किया जा सकता है। शासन में मध्यमाल की सरासरी और समान राजनीतिक परिस्थितियों में शान्ति स्थापित करने में राज्य राजतन्त्र की एक्वीनास द्वारा मोक्ष काया जाना स्थापनित भी था। वस्तुतः एक्वीनास ने राज्य की शक्ति सीमित होने की बात कही है पर अपने अपने शासन की स्पष्ट नहीं किया है। केवल के अनुसार, "सामन्ततन्त्र, एक्वीनास का धारणा यह था कि राज्य की शक्ति शक्ति का प्रयोग राज्य के अन्य प्रजा अधिकारियों, जो उनके परामर्शदाता तथा निर्वाचक थे, के साथ करना चाहिए।"

सामन्तकारी शासन—एक्वीनास ने राजतन्त्र में एक शान्ततन्त्र रूप भी देना है जिसके कारण राजतन्त्र निरंकुशतन्त्र में परिवर्तित हो जाता है। यह निरंकुशतन्त्र प्रजा शासनात्मक (Tyranny) निरंकुश राजतन्त्र है जिसमें शासन के हित

का ध्यान न रखकर अपने हितार्थ काम करना है। उसका यह भी विश्वास है कि राजतन्त्र में अधिक निरनुसन्धन स्वायत्ताधिकार प्रत्युत्पत्ति में होता है। जो भी हो, हमें कोई संदेह नहीं कि वह जैन धर्म के ऐतिहासिकों की भाँति ही धर्मशास्त्री शास्त्रों को मान्यमान करता है तथापि यह उसके यह का समर्थक नहीं है। यदि सम्पूर्ण जनता चाहें तो प्रतिरोध कर सकती है। प्रतिरोध के इस आधार पर नैतिक प्रतिबन्ध नहीं है कि “प्रतिरोधियों को बर्बरवादी से सामान्य हित को छत्र बुवाई की संस्था निकले विचारों का ये प्रकाश कर रहे हैं, जब हानि पहुँचनी चाहिए।” मर्यादाओं कायम के यह का विरोध करते हुए हमने लिखा है कि “जब ऐसी कार्य सम्पन्न नहीं बलित दुर्बल किया करते हैं और दुर्बलों को धर्मशास्त्री शास्त्रों के शासन की कल्पना कल्प राजाओं का शासन द्वारा नष्ट है। यह धर्मशास्त्री शास्त्रों के यह के अधिकार को स्वीकार कर देना इस सम्भावना को स्वीकार कर देना होता कि धर्मशास्त्री शास्त्रों की व्यवस्था शासन कायमों का ही अधिकार यह होने लगेगा।” एकीनाथ राजद्वीह (Sardesai) की भ्रष्टाचार पर मानता है, विभिन्न धर्मशास्त्री शास्त्र के प्रतिरोध को यह राजद्वीह नहीं समझता। मेवादा के शब्दों में, “धर्मशास्त्री शास्त्र के सम्बन्ध में हमें एकनिष्ठता में पुरानी कान्यकुक्षी परम्परा का धर्मों की विचारधारा के साथ सम्बन्ध स्थापित कर देना और इसमें उसे कोई कठिनाई नहीं हुई। इसका कारण यह है कि वे दोनों ही विज्ञान प्रमाण से निकले थे। प्रमाण में धर्मशास्त्रों की विचारधारा की दृष्टि से क्या कहा जा सकता था। दोनों विचारधारा के अनुसार कर्मों का सब तक धर्मशास्त्रों की अब तक यह सामान्य हित का प्रतिपादन करती है।”

एकीनाथ ने धर्मशास्त्री शास्त्र के विरुद्ध उपरान्त दो कामों का उल्लेख किया है। पहला साक्ष्य यह है कि कुछ शास्त्रों में एकता भाँति की बातें होती हैं, यद्यपि यह उन बातों को मान्य कर सकती है किनके अनुसार सत्ता दी गई हो। दूसरा उल्लेख साक्ष्य यह है कि यदि किसी शास्त्र का राजनीतिक प्रभाव हो तो विचारों को दूर करने के लिए उन्मत्त साक्ष्य से संशय को आ सकते हैं। एकीनाथ ने इन दोनों ही साक्ष्य-प्रमाणों को दो विभिन्न प्रकार की साक्ष्य-प्रमाणों की स्वीकार किया है, यद्यपि ऐसा लगता है कि राजनीतिक सत्ता के क्षेत्र के विषय में यह कोई सामान्य सिद्धान्त नहीं रखता था।

राज्यसत्ता और धर्मसत्ता के बीच सम्बन्ध—एकीनाथ के उपर्युक्त उल्लेख और धर्मसत्ता के बीच सहयोग स्थापित करने का प्रयत्न किया। हमने इस प्रश्न का समाधान करने की चेष्टा की कि दोनों के बीच क्या सम्बन्ध होना चाहिए? एकीनाथ ने बताया कि प्रमाण के दो उद्देश्य हैं—सांसारिक सुख की प्राप्ति तथा धार्मिक सुख की प्राप्ति। दोनों के लिए दो उपाय हैं—एक राज्य की, दूसरी धर्म की। किन्तु वे दोनों उपायों एक दूसरे के नष्टानाश का प्रमाण-प्रमाण दोनों में नहीं है। धर्म का जीवन ही एक ही है, केवल उद्देश्य दो हैं। एक ही व्यक्ति

वार्त्तिक भी है और चर्च की दृष्टि से ईसाई भी । यतः एक ही जीवन के दो ऐसे पाठक नहीं होने चाहिए जो परस्पर संघर्ष करके व्यक्ति के जीवन को ही समान कर दें । इसलिए यह निरन्तर सम्बन्धक है कि राज्य और चर्च परस्पर संपर्कित न होकर एक दूसरे के साथ विविधत सम्बन्ध स्थापित करके व्यक्ति को नियन्त्रित करें ।

मानव-जीवन का सर्वोच्च मध्य मुक्ति प्राप्त करना है । राज्य का कर्त्तव्य है कि वह ऐसी स्थितियाँ पैदा करे जिनमें यह कर अनुभव सद्वृत्तों का उद्धारन करे और लोग के मन पर माने मड़े । लोग के लिए धर्म-मुक्ति का होना सम्बन्धक है, यह चर्च चर्च सम्पन्न करे । एस्कीनास ने कहा कि भौतिक उद्देश्य धार्मिक उद्देश्य का एक साधन है, यतः राज्य धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति करने वाले चर्च का साधन है । इसलिए राज्य को चाहिए कि वह चर्च के माध्यम रहते हुए सच्चाई का सम्पादन करे । जिस तरह व्यक्ति का धार्मिक उद्देश्य व्यक्तिगत रूप से साक्षात् की मुक्ति है वही तरह सामूहिक रूप से राज्य का कर्त्तव्य भी ईश्वर की प्राप्ति है । इनके लिए ही इस की आवश्यकता है जो चर्च के माध्यम से प्राप्त हो सकती है । चर्च की सम्बन्धन पर ईश्वरीय कल्याण के रहस्य प्राप्त होते रहते हैं, यतः राज्य का कर्त्तव्य यही है कि वह चर्च के माध्यम से रहे तथा उसी के निर्देशन से धार्मिक रूप पर माने को ।

एस्कीनास ने यद्यपि चर्च अपना चर्च की प्रमुखता का उद्धारन किया, किन्तु यह भी है कि राज्य और चर्च एकता पाई । उसने कहा कि धार्मिक मुक्ति प्राप्त करने वाली व्यक्ति सम्बन्ध ही उस व्यक्ति से श्रेष्ठ है जो केवल बाह्य साधनों की मुक्ति है, किन्तु फिर भी दोनों सत्ताओं का अपने-अपने स्थानों पर महत्त्व है, इसलिए उन्हें परस्पर सहयोग करना चाहिए । राज्यपाल के अधिकारियों को चर्चवृत्तों के अधिकारियों से धार्मिक स्थिति कह्य करनी चाहिए । यदि सम्पूर्ण सत्ता ईसाई चर्च स्वीकार करके लोग को ईश्वर का प्रतिनिधि मान ले तो अनुभव के सभी कर्मों का मन्द हो सकता है ।

एस्कीनास ने लोग के इस अधिकार का उद्धारन किया कि धार्मिक सत्ता को सेवा करने पर वह राजाओं को पदच्युत कर दें । उसका निर्यात था कि यदि लोग को एकाकाकी स्थिति का ह्रास हो जाय्वा तो सामन्तवर्गों यूरोप धारण में गत-निर्गम का रूप हो जाय्वा । पर इतना होने पर भी उसका यह विचार नहीं था कि राजा एकाकाकी को अपने अधिकार लोग के मिले हो । उसका यह विचार उसके इस निर्यात का स्वाभाविक परिणाम था कि राज्य एक प्राकृतिक सत्ता है और राजा सभी स्थिति ईश्वर से प्राप्त करता है ताकि वह, सत्ता-कल्याण के नैतिक उद्देश्यों को पूरा कर सके ।

स्पष्ट है कि एस्कीनास एक सम्बन्धकारी विचारक था जिसने लोग को राजा के उपाय की सम्बन्ध अधिकार नहीं होता । उसने यह कहने में भी कोई हिचक नहीं की कि निरीक्षक स्थिति में धार्मिक स्थिति स्थिति की अन्तर्गत स्थिति स्थिति । सम्बन्धवृत्तों ही यदा चाहिए । फिर भी सामन्तवर्गों को इस धारणा को स्वीकार

करना होता कि एक्कीनास का सामान्य किन्तु परिवर्तन निरूप्य यही था कि नीतिगत विषयों में चीन का प्रत्यक्ष नहीं बरन् अप्रत्यक्ष अधिकार है। वास्तव में बात यह थी कि वह चर्च के सर्वमान्य प्रापचारिक अधिकार को कानूनी प्रभुता का रूप नहीं देना चाहता था। वह एक तथ्य घोषणाहीन था।

सम्पत्ति—घरलु के हवान एक्कीनास ने भी व्यक्तिगत सम्पत्ति का समर्थन किया और उसे मानव जीवन के लिए आवश्यक माना। लेकिन अपने पुत्र के धार्मिक प्रभावों के प्रभावपूर्ण सम्पत्ति के सम्बन्ध में उसके विचार दुविधाग्रस्त रहे। इसीलिए मध्ययुगीन ईसाई चार्चियों के विचारों से सहमत होते हुए, एक्कीनास ने कहा कि सम्पत्ति पर चर्च और पोष का अधिकार अधिक उपयुक्त है, क्योंकि चीन के अधिकार में रहने के सम्पत्ति का स्वरूप वह नहीं रहता जो किसी सामान्य रूप या धार्मिक व्यक्ति के अधिकार में रहने से होता है। चीन के अधिकार में रहने वाली सम्पत्ति का उपयोग विदेशों की सहजता के लिए होता है, धार्मिक विषयों के प्रयुक्त होता है। एक्कीनास ने कहा कि व्यक्ति सम्पत्ति की अधिकता पाप का एक मुख्य कारण है पर जिस सम्पत्ति पर चर्च की जाए तब जाती है उसके सभी चीज तथ्य ही होते हैं।

कानून पर एक्कीनास के विचार (Aquinas on Law)

एक्कीनास के कानून सम्बन्धी विचारों पर स्टीरुडवाइ और घरलु का प्रभाव है। कानून की नीमईता में रहने विषयों, घोषणाएँ तथा रोमन विधि-शास्त्रियों के विचारों का भी सम्बन्ध किया। दूसरी दृष्टि कानून की विवेक-बुद्धि का परिष्कार समझता था, व्यक्ति-विवेक की दृष्टि की अभिव्यक्ति नहीं। रोमन विधि-शास्त्री कानून को बुद्धिनिष्ठ और शाब्दिक धारि किसी व्यक्ति-विवेक की दृष्टि की परिष्कारित मानते थे। एक्कीनास ने कानून को विवेक-बुद्धि का परिष्कार भी समझा और दृष्टि की अभिव्यक्ति भी स्वीकार की। उसने कहा, “कानून विवेक का वह सम्पादन है जिसे लोक-हित के लिए किसी ऐसे व्यक्ति ने प्रस्तावित किया हो जो समाज के उत्थान के लिए उत्तरदायी हो।” एक्कीनास के मत में ईक्कीनास कानून का केवल साधक द्वारा जाना किया जाता है मान्यता नहीं है जबकि समाज विवेक-सम्पन्न होता भी नहीं है। ऐसा कानून कभी सम्पन्न नहीं हो सकता जिसका उद्देश सामान्य हित न हो। यदि ऐसा द्वारा जारी किया गया आदेश विवेकपूर्ण और सामान्य हित के उद्देश्य से किया नहीं है तो वह सम्पन्न कानून नहीं है और इसी तरह विवेक का वह आदेश भी कानून नहीं है जब तक ऐसा द्वारा जारी किया जाकर वह पशु-वैयक्तिक रूप में प्रयुक्त करे।

एक्कीनास कानून की सत्ता को सर्व-शुद्ध मानते हुए मानवीय कानून को वैधता कानून के साथ उपयुक्त करने का प्रयास करता है। मानवीय विधि (Human Law) उन वैध सामान्य-प्रत्यक्षता का एक मान्य मान है जिसके अनुसार सर्व तथा पृथ्वी पर प्रत्यक्ष समुदाय का सम्बन्ध होता है। वह व्यवस्था सीधे ईश्वर के विवेक से

उत्पन्न हुई है और सभी प्राणियों का नियमन करती है। अनुचित मानवीय कार्य में यह (विधि) एक सार्वभौमिक दर्शन की धारणा है।

एक्वीनास ने कानूनों को चार श्रेणियों में बाँटा है—

1. शाश्वत कानून (Eternal Laws),
2. प्राकृतिक कानून (Natural Laws),
3. देवी कानून (Divine Laws), तथा
4. मानवीय कानून (Human Laws)।

इन 4 वर्गों में केवल एक वर्ग ही मानवीय है। कारण यहो है कि वह मानव-व्यवहार और उसके ही सम्बन्धों को नियम-नियन्त्रण का एक निश्चित स्तर मानता है।

(1) शाश्वत कानून (Eternal Laws)—शाश्वत कानून का सम्बन्ध दैविक व्यवस्था ईश्वरीय विवेक से है जो सभी पृथ्वी हुई वस्तुओं में व्याप्त रहता है। केम्ब्रिज के बन्दी ने, “वह देवी बुद्धि की शाश्वत योजना है जिसके द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि व्यवस्थित होती है। यह विधि स्वयं अपने में मनुष्य की भौतिक प्रकृति के उत्तर है और मनुष्य की समझ से बाहर है, लेकिन इसी कारण वह मनुष्य के विवेक के प्रतिबुद्ध नहीं है। जहाँ तक मनुष्य की मान्य प्रकृति अनुमति देती है, ईश्वर की बुद्धिमत्ता और धन्यता में मनुष्य का भी भाग रहता है। ईश्वर की ये विधुतिर्मा मनुष्य के समर्थ भी प्रकट होती हैं; तन्नाम, मनुष्य की प्रकृत देवी-पुरुषता का केवल निष्ठ बिन्दु ही अनुकूल कर जाती है।”¹ एक्वीनास के अनुसार समस्त बुद्धि-देव, मानव, पशु और वह वस्तु-व्यवस्था कानून के अधीन है। शाश्वत विधिमाँ सर्वोच्च विवेक की शक्ति है, उन्हें पूर्णत्व से न समझ पाने के कारण ही मनुष्य भाग्य के चपेटे में पड़ता है। बुद्धि अपनी सीमित बुद्धि के कारण शाश्वत कानूनी का अज्ञान मनुष्य को स्पष्ट रूप से नहीं हो पाता अतः प्राकृतिक कानून के रूप में ईश्वर मनुष्य को शाश्वत कानून का आभास करा देता है।

(2) प्राकृतिक कानून (Natural Laws)—एक्वीनास के मतानुसार प्राकृतिक कानून सृष्टि के प्राणियों में देवी बुद्धि का प्रतिबिम्ब है। इसी कारण से सभी जगह धन्यता की प्राप्ति और दुर्घटि की दूर करना चाहते हैं। इन कानूनों की उत्पत्ति शाश्वत कानूनों से ही होती है किन्तु वे उनके धार्मिक स्पष्ट और बोधगम्य होते हैं। ये कानून भौतिक रूप से समझे लिए समझ होते हैं, परन्तु कुछ विवेक काय और ध्यान के लिए निष्कर्ष-निष्कर्ष भी हो सकते हैं। प्राकृतिक कानून पितृ की सभी वस्तुओं से उद्भास रूप से व्याप्त हो सकते हैं, चाहे मनुष्य हो, पशु हो या अन्यजति हो। अतएव नहीं है कि मनुष्य में इनका अन्तःपुर इतने से धर्मव्यवस्थितकाल इया है क्योंकि वह विवेक से कार्य करता है जबकि पशु, पक्षि व्यवस्थित रूप से कार्य करते हैं। प्राकृतिक कानून ईश्वरीय विवेक से उत्पन्न होते हैं अतः वे सर्वव्यापक

होने के काम ही आवश्यक भी हैं। प्राकृतिक विधि में वे सभी बातें शामिल हैं जो मनुष्य की प्रकृति को सशक्ततम आधार देती हैं : भक्षणरक्षा की प्रवृत्ति, जीवन-सम्भोग, सम्मान की इच्छा, समाज में रह कर जीवन बिताने की इच्छा, सरल का शीघ्र, बुद्धि का विकास आदि सभी प्राकृतिक कानून से सम्बन्धित हैं। विवेक के उत्पन्न होने के कारण ये कानून सभी ईसाइयों और ईरानियों में समान रूप से लागू होते हैं।

(3) देवी कानून (Divine Laws)—देवी कानूनों की एकलोकता में प्राकृतिक कानूनों से निम्न स्थान दिया है। इनकी प्राप्ति उपलब्धि (Revelation) द्वारा होती है। बाद में उन्हें धर्म-ग्रन्थों के लिखित रूप दिया जाता है। जब कोई मनुष्य विवेकहीन होता है अपना अपनी बुद्धि को त्याग देता है तो वे देवी कानून उसके उत्पन्न कबितों और बुद्धियों को दूर करते हैं। वे विधियाँ ईश्वर की देन हैं। इनके सम्बन्धन और अनुसरण से मनुष्य मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। देवी कानून ईश्वर द्वारा एक उपहार है, मानव-बुद्धि की सौज नहीं। यह जीवन के साम्प्रदायिक पक्ष की विवक्षा विधीकृत करता है उसका नैतिक पक्ष को नहीं। विविध जातियों और कालों में देवी कानून का कम और तब अधिक-निम्न होता है जबकि प्राकृतिक कानून मानव-भाव के लिए एक है। प्राकृतिक कानून और देवी कानून में विरोध नहीं हो सकता, क्योंकि वे विवेक-उत्पन्न होते हैं। सेबास्ट के शब्दों में, "जीवित की प्रशस्ती विवेक और शब्द पर आधारित है और उसने कोई सन्देह नहीं किया कि दोनों मिलकर ही भवन का निर्माण करते हैं।"

(4) मानवीय कानून (Human Laws)—मानवीय कानूनों की एकलोकता में सबसे निम्न स्थान का माना है। सामान्य, प्राकृतिक और देवी विधियाँ मनुष्यों पर लागू अवश्य होती हैं किन्तु न तो मनुष्य एक ही सोचित हैं और न केवल मानवीय प्रकृति के उत्तर ही आधारित हैं। जो विधि विवेक रूप से मनुष्य के लिए है उसे एकलोकता मानवीय विधि का नाम देता है। उसके सबसे भी भेद करने हैं—राष्ट्रों के कानून (Jus gentium) और नागरिकों के कानून (Jus civile)।

मानवीय कानूनों का स्रोत प्राकृतिक विधि है। जब धीरे-धीरे प्राकृतिक विधियाँ परम्परा में प्रचलित हो जाती हैं तो राज्य इन कानूनों का सम्बर्धन करता है। राज्य द्वारा सम्बर्धन अपना इन कानूनों का सम्पुष्टिकरण होने पर मनुष्य उन्हें मानने के लिए बाध्य हो जाता है। इनके पालन से सामाजिक व्यवस्था को बल मिलता है। इनका पालन न करने पर व्यक्ति राज्य द्वारा दण्डनीय होता है। मानवीय कानून समाज के सशक्त धर्मात्मा राज्य द्वारा लागू होता है लेकिन इसे बनाने में राजा सम्माननी नहीं कर सकता। उसे यह ध्यान रखना पड़ता है कि वे कानून विवेक सम्मत्। हाँ और प्राकृतिक कानून से सम्बन्धित न हो। एकलोकता मानवीय कानून को प्राकृतिक कानून के समीप रखता है। उसके अनुसार विवेक विरोधी किसी भी मानवीय कानून को मानने के लिए कोई नागरिक बाध्य नहीं है। इस तरह यह मानवीय कानून को मानने के कर्तव्य को पक्षीय एवं सम्बन्धित नहीं मानता। व्यक्ति

न्यायोचित और विवेक-सम्पन्न राजकीय शाखाओं का ही पालन करने के लिए बाध्य किया जा सकता है। संशोधनरत किसी दुष्परिणाम से बचने के लिए यदि किसी कानून को उसके न्यायोचित न होने पर भी मान्य पड़े, तो पालन बात है। मानवीय कानून के निर्माण से मानक पर एक्वीनास का एक अन्य प्रतिपाद यह है कि कानून किसी व्यक्ति या वर्ग-विवेक के द्वितीय नहीं बल्कि सामान्य हित के लिए बनाया जाना चाहिए। पुनर्यः राजा की विधि-निर्माणी शक्ति केवल सीमित विषयों तक ही सीमित है। साम्प्रदायिक विषय इसकी सीमा से नहीं पारें, वे ईश्वरी कानून की सीमा से हैं।

एक्वीनास द्वारा समझाए गए कानूनों के पारस्परिक सम्बन्ध की दृष्टि से इस प्रकार स्पष्ट किया है, "सामान्य कानून विषय को नियमित करने वाली योजना है जो ईश्वर के प्रतिपाद से विद्यमान है। प्राकृतिक कानून समुच्च का, एक बुद्धिपरक प्रणाली के रूप में, सामान्य कानून से भाग लेता है, जिसके द्वारा वह चले बुरे की प्रशंसा करता है और प्रशंसा नहीं एवं अच्छा लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास करता है। मानवीय कानून, मानवीय बुद्धि द्वारा, प्राकृतिक कानून के सिद्धान्त का विशिष्ट धार्मिक स्थितियों में प्रयोग करता है। विवेक दुधितोः से दैविक कानून यह है जिसके द्वारा मानव-विवेक की सीमाओं और अनुसृतताओं की पूर्ति की जाती है और समुच्च से पारस्परिक लक्ष्य प्राप्त विद्याभ्युदय की ओर निर्दिष्ट किया जाता है, वह दैविक ज्ञान का कानून है।"

एक्वीनास को दास-प्रथा के बारे में विचार
(*Aquinas on Slavery*)

एक्वीनास पर प्रतिपादन एवं आरम्भिक चर्च-विचारों के समान ही दासता की स्थापना का ईश्वरी लक्ष्य समझता है और उसका समर्थन करता है। वह दास-प्रथा की परापूर्व की भाँति कुछ कठोरों के लिए लाभदायक मानता है। वह एक सामाजिक प्रथा है और ईश्वरीय से नीरता का समार करता है। ईश्वरीय मुक्त-संघ से दास बनाए जाने के भय से नीरता और दाससुर्वक लक्ष्य कर विवेका करने का प्रयत्न करते हैं। इस तरह के समर्थन से एक्वीनास ने इतिहास और मॉडर्न टेरासिस्ट की 'सिद्धान्तों' मानक पुस्तक से प्रभाव भी दिए हैं।

एक्वीनास का सुस्थापन

समस्त एक्वीनास का सुस्थापन तीन प्रमुख सिद्धियों से वैधता दिया जा सकता है—

प्रथम, वह महानतम मध्य-युगीन दार्शनिक (*Greatest Medieval Philosopher*) था।

द्वितीय, वह मध्ययुग का परापूर्व (*Aristotle of Middle Ages*) था।

तृतीय, राजदरबार की उसके अनेक प्रमुख अनुयाय (*Contributor*) हैं।

मध्य-युग का अनुयायन दार्शनिक—एक्वीनास मध्ययुग का एक सर्वोच्च प्रतिपादनात्त दार्शनिक था जो "मध्य-युग के समस्त विचार का प्रतिनिधित्व करता

है।¹ उसका विशेष महत्व यह बात में है कि उसने लम्बे समय से चलने-चलन बहती विचारधाराओं को एक पद्धति में समीकृत करने का प्रयत्न किया। एक्वीनास ने विभिन्न ब्रिज-बेलाओं, धर्मशास्त्रियों, टीकाकारों, ईसाई उपचारकों, चर्च एवं राज्य के समर्थकों के विभिन्न धीरे परस्पर विरोधी विचारों तथा दृष्टिकोणों में एकता और समन्वयता लाने का प्रयत्न किया। सेकाइन के शब्दों में, “एक्वीनास के दर्शन का मूल मंत्र यह था कि उसने समरसता और समन्वयता पर आधारित एक सार्वभौमिक धर्मशास्त्र और एक सार्वभौमिक पद्धति के निर्माण की चेष्टा की।”²

एक्वीनास ने सम्पूर्ण मानव-जान को एक विशुद्धित के समान माना जिसका आधार विभिन्न ज्ञान-विज्ञानों से मिलकर बना है और जिसने दर्शन का स्थान उपोत्तरित है। उसने कहा कि धर्म और दर्शन, बुद्धि और विवेक, अज्ञा तथा विचार में कोई विरोध नहीं है। “विज्ञान एवं दर्शन जिस पद्धति की धारण करते हैं उसे धर्मशास्त्र पूर्ण करता है। धर्म विवेक की पूर्णता है। धर्म एवं विवेक मिलकर ज्ञान के मन्दिर का निर्माण करते हैं और इनका परस्पर एक दूसरे से कभी संघर्ष नहीं होता।”³ सत्य एक्वीनास के विचार बार्मिक थे, फिर भी मध्ययुगीन विचारकों से वे नहीं अधिक विवेक और बुद्धि पर आधारित थे। एक्वीनास ने सार्वभौमिक राज्य-काय का प्रतिपादन किया और ईसाई धर्म के प्रथम प्रसार की चेष्टा की उसने अपनी दृष्टिमी में पुरानी, रोमन तथा मध्ययुगीन चर्चरतों के विचारों का समन्वय किया। मोक्ष प्राप्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके वह विश्व के समस्त एक धर्म नहुलपूर्ण व्यक्तिवादी के रूप में प्रकट हुआ। उसकी मानवीय कानून की विचारधारा में होने साधुनिकता की ध्वज देखने को मिलती है।

अध्य-युग का धारम्भ—एक्वीनास मध्य-युग का धारम्भ था।⁴ उसने धारम्भ के दर्शन की नींव पर चर्च धर्म-धारणीय विचार और धर्म के धेष्ठता की प्रथम का निर्माण किया। धारम्भ के आधारभूत विचारों का आदर्श को सिद्धांतों से समन्वय प्रथम सम्भवित करके उसने एक नई विचारधारा की रूप दिया। एक्वीनास ने धारम्भ के विज्ञान बहल किया प्रथम यह धारम्भ का सिद्धांत कहली था—इस पर एक्वीनास के दर्शन के दर्शन के प्रथम में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। एक्वीनास ने धारम्भ के समान यह स्वीकार किया कि कुछ ऐसे सत्य भी हैं जो बुद्धि से परे हैं और जिसका ज्ञान केवल अज्ञा तथा ईश्वरीय कृत से ही सम्भव है। उसने धारम्भ के समस्त ही यह भी माना है कि मानव समस्त की रक्षा एवं व्यक्तिगत के हित के

1 “Thomas Aquinas represents the totality of medieval thought,”

—Foster : *Masters of Political Thought*, Vol. I, p. 258.

2 “It was the essence of Thomas's philosophy that it escaped a unifying synthesis, an all-embracing system, the key-note of which was harmony combined.”

—Sabar : *Op. cit.*, p. 248.

3 “Aquinas is the sanctified Aristotle of Middle Ages.”

—Marey : *Op. cit.*, p. 116.

निराहूत है। तबानि यह प्रत्यक्ष है कि उसने मानव-समाज के श्रेष्ठतर स्थान देवी समाज को दिया है। भरस्तू की ही भाँति एस्कीनास राज्य की स्थिति के साथ रिक जीवन के लिए अनिवार्य मानते हुए राज्य के कार्य-क्षेत्र को व्यापक बनाने के पक्ष में है और इसलिए उसे सांख्यिक, वैज्ञानिक तथा सामाजिक कार्य समीक्षा है। पर राज्य की श्रेष्ठता और उन्नयनिका की स्वीकार करते हुए उसका प्रारम्भ इस बात पर है कि सर्वोच्च मानव-सत्ता नहीं है, न कि राज्य। भरस्तू की भाँति एस्कीनास भी मानता है कि समाज श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति हेतु की जाने वाली सेवाओं के कारगरिक विनियम की आवश्यकता है। ईसाई धर्म के प्रारम्भकाल विचार की एस्कीनास ठीकठा बता है कि राज्य की उत्पत्ति साव के और मनुष्य के पतन के कारण हुई है। यह भरस्तू के दर्शन के इस आधारमूल विचार से सहमत है कि राज्य एक प्राकृतिक सत्ता है, मनुष्य के सामाजिक स्वभाव का परिणाम है तथा उसका उद्देश्य नागरिकों की मूल जीवन की प्राप्ति में सहयोग देना है। पर एस्कीनास चाहता है कि गुप्त जीवन इस प्रकार का होना चाहिए जिससे कोश की प्राप्ति हो सके और इसके लिए यह धर्म की आवश्यक मानता है।

शासन के विभिन्न काल के वर्गीकरण में भी एस्कीनास ने भरस्तू का अनुसरण किया है। भरस्तू की भाँति यह सर्वोच्चकारी शासन प्रणाली की प्रशंसा और स्वायत्तता तथा केवल मान साधक का हित साधने वाली शासन-प्रणाली की निन्दा करता है। भरस्तू की भाँति यह भी विभिन्न शासन-प्रणाली का समर्थन करता है। एस्कीनास के कानून सम्बन्धी विचारों पर भी भरस्तू का प्रभाव है। वह कानून की श्रेष्ठ बुद्धि का परिणाम मानता है। पर साथ ही वह कानून में ईश्वर प्रदत्त सामर्थ्य और देवी कानून की भी शक्तिता को मानता है। भरस्तू की नीतिकला सम्बन्धी सत्ता साधारणतः (Ethics) की विचारप्रणाली को भी एस्कीनास ने स्वीकार किया है, क्योंकि उसके मत में भरस्तू का एक बात खोब यह है कि उसने इस साथ की प्रेरणा कर दी है कि मनुष्य का उन्नति के परे भी एक उन्म है और यह है मोक्ष एवं भावी मानन्द की प्राप्ति।

स्पष्ट है कि एस्कीनास पर भरस्तू का बहुत प्रभाव था, पर जहाँ भरस्तू के विचारों का प्रभाव नहीं-रिखा है वहाँ जहाँ पूर्ण साथ भी नहीं बना है एस्कीनास ने भरस्तू के विचारों को अपनी सीमा तक स्वीकार माना है वहाँ तक भ्रष्टा रहित मानव बुद्धि की पहुँच है। एस्कीनास ने भरस्तू की प्रारम्भिकों की स्वीकार करते हुए भी ईसाई धर्म के प्रारम्भों और शिक्षाओं की उनसे जीवित स्थापन दिया है। मनुष्यः यह कहता उपयुक्त होता कि भरस्तू के दर्शन की नींव पर एस्कीनास ने ईसाई धर्म का निर्माण किया है, और इसलिए एस्कीनास की 'ईसाईकृत भरस्तू' (Christianized Aristotle) तथा उसके दर्शन को 'ईसाई भरस्तूवाद' (Christian Aristotelianism) तक यह कहा जाता है।

मनुष्य मनुष्य—प्रारम्भिक के इतिहास में एस्कीनास के अनेक प्रमुख अनुवाद हैं जिन्हें अर्थ में समर्थ एवं वा समझा है—

(i) एक्वीनास ने कानून की सर्वोच्चता का प्रतिपादन करते वैधानिक राजतन्त्र की नींव डाली।

(ii) उसके विचारों ने यूरोप के विधानवाद (Constitutionalism) को जन्माया। उसने अपने विधानवाद के अस्तित्व का अनुसरण किया किन्तु अपने व्यक्तित्व की प्रभावशाली छाप लगा दी।

(iii) उसने मध्ययुगीन अन्तर्राष्ट्रीयता (Cosmopolitanism) का निर्माण करते नागरिकता की अवधारणा प्रस्तुत किया, जिसे बाद में वैदिकवादी जैसे चार्समिथो ने अपनाया।

(iv) उसने राज्य के बाधों की निरुद्ध विवेचना करते हुए कहतला कि राज्य का उद्देश्य लोक-कल्याण होता चाहिए। सामुहिक राजतन्त्र में भी इसी भावना की आवश्यकता है।

(v) एक्वीनास ने विधि शासन (Rule of Law) की नींव डाली।

(vi) अपने अपने राज-दर्शन में विवेक एवं ईश्वरी सदैवों के सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की।

अन्त में लेवाइन के शब्दों में हम कह सकते हैं कि "समस्त एक्वीनास ने एक ऐसी व्यावहारिक प्रणाली खोजने की चेष्टा की जिसके अनुसार ईश्वर, प्रकृति एवं मानव के मध्य परस्पर सम्बन्ध हो और जिसमें सत्ता एवं शासन सत्ता एक दूसरे का साथ देने के लिए तैयार हो।"

एजिडियस रोमेनस

(Egidius Romanus)

पोप के साम्राज्यवाद का सबसे प्रबल सार्व एजिडियस रोमेनस मध्य एजिडियस कोलोना (Egidius Colonna) द्वारा 1302 में लिखे गए 'डी एक्क्लेसियास्टिका पोटेस्टाटे' (De Ecclesiastica Potestate) नामक ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया था। इस पुस्तक में पोप के पक्ष को एक कानूनी सार्व के रूप में अधिक दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रतिपादित किया गया। एजिडियस ने बताया कि पोप, सम्पूर्ण विश्व का, साम्प्रदायिक एवं नीतिक दोनों विषयों के सर्वोच्च स्वामी है और सभी राजा उसके अधीन हैं। इस ग्रन्थ की तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहले भाग में पोप की प्रभुता की चर्चा है; दूसरे भाग में इस विद्वान्त के आधार पर सम्प्रति और शासन सम्बन्धी कुछ निष्कर्ष दिए गए हैं और अन्तिम भाग में विविध सामाजिक, विशेषकर पोप की सम्प्रति, के बारे में सत्ताओं का सम्बन्ध किया गया है।

पोप की प्रभुता के बारे में विचार

एजिडियस ने कहा कि पोप में निहित साम्प्रदायिक सत्ता सर्वोच्च है। साम्प्रदायिक-सत्ता नीतिक-सत्ता की स्वतन्त्रता और उससे परीक्षा कर सकती है। चर्च की समस्त सत्ताओं आवश्यक रूप से पोप की हैं, अन्य किसी की नहीं। एजिडियस

का प्रमुख तर्क यह था कि "प्राथम्यार्थिक शक्ति लौकिक शक्ति से उन्मत्तर होती है और प्रकृति का यह सार्वभौम नियम है कि उन्मत्तर शक्ति निम्नतर शक्ति पर शासन करती है। प्रकृति ने व्यवस्था किसी भीनता के द्वारा कायम रद्द सकती है और यह नहीं माना जा सकता कि ईसाई धर्माग्र में प्रकृति की व्यवस्था कम व्यवस्था है।"¹ एन्विस्मिथ ने अपने तर्क देते करते हुए एक अन्य स्थल पर कहा है कि "सृष्टि के भौतिक तत्त्व प्राथम्यार्थिक तर्क द्वारा शासित होता है। केवल भौतिक शक्ति की ये शक्तें ऊँचे हैं और सभी शक्तियों पर नियन्त्रण करती हैं, किन्तु प्राथम्यार्थिक तत्त्व उन पर भी शासन करते हैं। मत. सीद्ध है कि ईसाइयों ने भी शक्तें लौकिक शायक एवं सकारिक शक्तियाँ प्राथम्यार्थिक तथा शायिक शक्त की बराबरी रद्द। यह भी सारासक है कि उन पर शोध का विशेष रूप से नियन्त्रण रद्द क्योंकि प्राथम्यार्थिक शक्तियों और चर्च में शोध की स्थिति सर्वोच्च है।"

एन्विस्मिथ चर्च की अधिकारियों की एक डिस्क्रिप्शनी व्यवस्था मानता था जिसमें नीचे के अधिकारी अपने उच्च अधिकारियों से शक्तियाँ प्राप्त करते हैं, उच्च अधिकारी अपने से निम्न अधिकारियों पर नियन्त्रण रखते हैं। उतका कहना था कि यह व्यवस्था के नीचे स्थान पर शोध है जो सर्वोच्च शक्ति-व्यवस्था है और चर्च का निर्धार प्रदान है। यद्यपि एन्विस्मिथ ने यह विचार भी प्रकट किया है कि शोध की पूर्ण निरहुता न बनाकर साधारणतः सामान्य कानून के अनुसार ही विपरीत शोध प्रसारणिक कार्य करते चाहिए तथापि यह शोध की शक्ति पर प्रत्यक्ष रूप से प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाहता था। दसवीं पुस्तक के प्रविश्य प्रस्ताव के उल्लेख स्पष्ट कहा है कि शोध की प्रमुखता एक व्यवस्था और स्वतः प्रेरित शक्ति है जिसके द्वारा यह कोई भी कार्य कर सकता है। प्राथम्यार्थिक शक्तियों में शोध ईसाई के शरीर रहता हुआ प्रमुख निरहुत है जिसे न तो व्यवस्था ही किया जा सकता है और न उत्तरदायी ही द्वाारा या सकता है। सारथ्य में, यह चर्च है। यह जिता निर्वाचनों के भी शक्ति का निर्माण कर सकता है। हाँ, यह व्यवस्था है कि सामान्यतः उसे निम्न के रूप कायम रखने चाहिए।

एन्विस्मिथ ने यह भी कहा कि प्राथम्यार्थिक और शायिक शक्ति शक्त-शक्त हैं और शोध की दृष्टि से उन्हें शक्त-शक्त ही रखा चाहिए। चर्च यह नहीं जाहता कि दोनों शक्तियाँ एकत्र ही जाईं। लौकिक शक्ति की शक्तिमान करने की चर्च की दृष्टा नहीं है। केवल व्यवस्थागत चर्च पर और उपरान्त कारण होने पर ही प्राथम्यार्थिक शक्तों की रक्षा की दृष्टि से चर्च हस्तक्षेप करता है। उदाहरणार्थ ऐसे किसी भी प्रक्रम में हस्तक्षेप किया जा सकता है जिसमें लौकिक शक्ति या शक्ति का प्रयोग शरीर के शक्त के विरुद्ध हो। एन्विस्मिथ के मतानुसार, चर्च की यह शक्ति प्रतीति निरहुत है कि इसमें सभी लौकिक शक्ति या जाते हैं। शायिक के शोध शक्ति बनाए रखने और उनके द्वारा शक्तियों का शासन करने का

शक्तिशाली पक्षों पर ही है। उन्हें ऐसे किसी भी विषय में हस्तक्षेप कर सकता है जहाँ वास्तव में ऐसा उचित नहीं है। वह नागरिक-सामूहों के सम्मुख होने पर भी हस्तक्षेप कर सकता है। पोल सचिवी दम्कानुसार किसी भी मामले का क्षेत्राधिकार कर सकता है। पर वास्तव में यह है कि पोल सचिवी शक्तियों के प्रयोग में क्षेत्राधिकारी और वेल्फेयर प्राधिकार न रहे।

संश्लिष्ट सम्यन्वी धारणा (Conception of Dominion)

एजिटिवम की स्वाभिव्यक्त सम्पत्ती कायस्थान उसके नियन्त्रण का केन्द्र स्थल है। स्वाभिव्यक्त धर्मार्थ सोशियलिज्म के सन्दर्भित सम्पत्ति का स्वाभिव्यक्त व प्रयोग और राजनीतिक सत्ता भी शामिल है। इस तन्त्र का प्रयोग मध्ययुग में किसी व्यक्ति से सेवा करतु पर अधिकारपूर्वक चरित्र का बोध करने के निम्न किया जाता था। एजिटिवम का साधक वह कि पदाधीन पर राजनीतिक शक्ति का स्वाभिव्यक्त सभी गुण हैं जब उनके मनुष्य का कल्याण हो। नीतिक कल्याणी द्वारा प्रदत्त स्वाभिव्यक्त सभी मांग है जब उसका उपयोग ईश्वर के समीप हो, उसकी इच्छा का पात्र हो। उसका कहना यह कि मनुष्य का सर्वोच्च कल्याण साम्प्रदायिक कल्याण है, अतः उसकी शक्ति और सम्पत्ति सभी कार्यक है जब उनका प्रयोग साम्प्रदायिक प्रयोजन में किया जाय। ऐसा न करने से समाज पतन की ओर सरसर होती है, और मनुष्य की मौल्य नहीं बिल सकता। स्वाभिव्यक्त का अधिकार ईश्वर की अनुकम्पा द्वारा मिलता है और ईश्वर की अनुकम्पा केवल वर्ष द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है और मौल्य का एकमात्र साधन भी वर्ष ही है। अतः यह आवश्यक है कि समाज 'सोशियलिज्म' धर्मार्थ स्वाभिव्यक्त वर्ष के समीप रहे। सम्पा स्वाभिव्यक्त केवल नहीं है जो वर्ष के समीप ही प्रस्ता वर्ष द्वारा दिया गया हो।

एजिप्टियन का यह दृढ़ मत था कि स्वाभिमन्य का वास्तविक प्रोत्साहन इस साम्राज्यिक बुनसलवान ने निहित है जो चर्च के माध्यम से होता है। एजिप्टियन द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त के वास्तव में सम्पूर्ण परिचय निकलते हैं। इसके अनुसार नमस्त साम्राज्यिक वस्तुओं पर सामान्य स्वाभिमन्य चर्च में निहित हो जाता है। इस तरह नीतिगत क्षेत्र में चर्च के इस क्षेत्र का सुदृढ़ आधार मिल जाता है। यह राजा की सम्पत्ति, भूमि धर्म के अधिकार और स्वाभिमन्य की सुरक्षित रखते हुए भी जो चर्च में मिलान कर देता है। इस सिद्धान्त से सभी वस्तुओं और स्थितियों पर चर्च का स्वाभिमन्य स्थापित हो जाता है। चर्च की शक्ति राजा की नज़र में बेमिसल सिद्ध होकर एक ही जगह जाती है कि चर्च उसकी सम्पत्ति के स्वाभिमन्य तक में परिवर्तित हो सकता है, राजा की निष्ठा कर सकता है और उसके व्यवहार में निर्यात हो सकता है।

एन्जिस्मिन्स पीमेन्स समया एन्जिस्मिन्स कोलोना के उपर्युक्त विचारों की कारगुरु सुन्दर विवेचना है। मैकलेन के इस कथारण में मिश्रता है—“यह कुछ करने के बाद निष्कर्ष रूप में यही प्रतीत होता है कि उत्तर मध्यकाल में राजदरबान के परिवर्तन में एन्जिस्मिन्स कोलोना महत्वपूर्ण भाग में है। अपने ग्रन्थ ‘De Regi-

max Principum' के अपने चरित्र के राजनीतिक विचारों को मध्यकाल में बड़े ही स्पष्ट और स्पष्ट रूप से समीकार दिया है, भले ही वह इस क्षेत्र में सादर से एक न हो। 15 वीं के उपरान्त अपने उसी विचारों को रोम की प्रभुता के विषय में फेनिस्मस के उपरान्त विचारों के साथ सम्मिश्रित कर दिया है और इस सम्मिश्रण में रोम की प्रभुता का सांकेतिक आधार पर अपने व्यापक समर्थन परिलक्षित होता है। अपने ग्रन्थ 'De Potestate Ecclesiastica' में जिस स्वातंत्र्य के उद्घाटन का अपने उद्घाटन किया है, उसने अपने इन दो विचारधाराओं को, स्वातंत्र्य प्रतिकारों को, स्वतंत्र और वेबो में विचारित करने की एक तीव्रता साफल्यवादी धारणा के बिना दिया है।¹

दांटे : आदर्श साम्राज्य

(Dante : The Idealized Empire)

1265 ई. में फ्लोरेंस में जन्मा दांटे एल्बिगिरे (Dante Alighiere) 15 वीं की शुरुआत में फ्लोरेंस का पब्लिसिट नियुक्त हुआ। किन्तु उस वर्षी में फ्लोरेंस के कारण उसकी सम्पत्ति खत्म कर दी गई और उसे नगर से विस्थापित कर दिया गया। सम्पत्ति पुनः प्राप्त करने के लिए उसने अनेक घसपका प्रयत्न किए। जब वह बन्धन घोषित किया गया कि वह उसे जाने पर उसे जीवित ही वापस किया जाएगा तो वह पकड़े जाने के क्षेत्र से भाग बहा गया। इसी घसपका समस्या में अपने 'Divine Comedy' तथा 'Monarchia' नामक ग्रन्थों अपनी रचना की। 'मोनार्किया' में दांटे के राजनीतिक विचार अपने को मिलते हैं। 1321 ई. में 56 वर्ष की अवस्था में इस सुनीत-वैसी किन्तु राजनीतिक और रोम के विचारों विचारों का देहान्त हो गया।

दांटे का 'मोनार्किया' क्षेत्र सम्बन्धों में विचारित है। प्रथम शब्द में सुधार के प्रस्ताव के लिए एक साम्राज्य की आवश्यकता पर, द्वितीय में रोमनों के साम्राज्य निर्माण पर, और तृतीय में रोम तथा सम्राट के सम्बन्धों पर प्रकाश डाला गया है।

दांटे का राजनीतिक दर्शन

(Political Philosophy of Dante)

अपने युग के समयों, सभ्यता और दुर्दैव के अध्ययन के दांटे इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि राजनीतिक अराजकता और सामाजिक असन्तुष्टि का मूल कारण रोम की लौकिक क्षेत्र में स्थापना होती हुई महत्वाकांक्षा की। दांटे इस परिणाम पर पहुँचा कि इटली और विश्व की सभ्यता के सुदृढता की समीक्षा के जब रोमवादी की लौकिक क्षेत्र के बिल्कुल हटाकर एक सर्वोच्च मान सम्राट की अवस्था में एक सर्वव्यापक साम्राज्य की स्थापना हो जाए। अपने ग्रन्थ 'मोनार्किया' में अपने आदर्श साम्राज्य (The Ideal Empire) की बड़ी ही प्रभावशाली समीक्षा प्रकाश की है।

दति का निश्चय था कि समुच्च विवेकहीन प्राणी है। विवेक मूलक जीवन का साक्षात्कार करना उसका इहंम था जिसकी प्राप्ति तभी सम्भव है जब लोग सहयोग और शान्ति से रहें। यदि पीढ़े लोग भी इस सहयोगपूर्ण जीवन के पुनर्प्राप्ति के लिये तत्परता के साथ ही शान्ति का मार्ग प्रशस्त हो जायगा। दति ने कहा कि मानव समृद्धि तभी सम्भव है जब सम्पूर्ण मानव जाति एक राजनीतिक इकाई में बंध कर रहे और एक सम्राट की अध्यक्षता में गुल होगे। एक विश्व-साम्राट ही सार्वभौमिकता और विवेकक मतिमता का समर्थन करके पीढ़ित मानवता को सुख तथा समृद्धि का अनुभव करा सकता है। छोटे-छोटे राज्यों का प्रतिष्ठित मानव-संस्थाओं के मार्ग के मार्गक है क्योंकि वे विविध स्वाधीनता के बलीभूत होकर सम्पन्न रहते हैं। एक विश्व-साम्राट में वे छोटे राज्य सर्व-सम्पन्न सदस्यों के रूप में सम्मिलित होकर सम्पूर्ण मानव जाति के संस्थाओं में बने रह सकते हैं। एक अन्तर्गत साम्राट के लिए ही यह सम्भव है कि स्वाधीनता सर्वथा ऊपर उठ कर बहु उदार, स्वाधीन और शान्ति का धर्म व्यवस्थाओं में कर सकेगा। उनकी मनीषा की शक्ति को सम्पूर्ण मानव जाति का समर्थन मिलेगा। सर्वत्र मानव, समृद्धि और शान्ति का प्रसार हो सकेगा।

समृद्ध साम्राज्यीय सार्वभौमिकतापूर्ण स्थिति में यह प्रस्तावनाबलक न था कि दति एक सामान्य सार्वभौमिक साम्राज्य की कल्पना करता। उसका ध्यान बराबर प्राचीन रोमन साम्राज्य की ओर जाता था जिसने महाभारती तक यूरोप तथा एशिया के एक बड़े भाग को सार्वभौमिकता के मुक्त रखा था और मुक्त एवं समृद्धि प्रदान की। 'मोनाकिया' के दूसरे लक्ष्य में दति ने प्राचीन रोमन साम्राज्य के पुनर्वास करने हुए कहा कि रोमनी के मरना सन्निवार साम्राज्य और शक्ति ईश्वर की दृष्टि में शान्ति की थी। उनकी समुच्चूर्ण सफलता उनके मानव के दीर्घ होने का प्रमाण थी। पुराना रोमन साम्राज्य लक्ष्य के सिद्धांत पर स्थापित था। ईश्वरीय समुच्चूर्ण में ही रोमन लोग साम्राज्यवीय जाता और प्रतिष्ठा को प्राप्त कर पाए थे। उन्होंने साम्राज्य का निर्माण विविधों के हित के लिए किया था। उन्होंने सर्वथा विश्व-शान्ति और स्वतन्त्रता के महान् प्रयत्नों को सम्पन्न करके सर्वे विश्व और मानव जाति के हितार्थ अपने स्वार्थों की उपेक्षा की। रोमन लोगों ने ही युद्धों में समस्त प्रतिद्वन्द्वियों को हराकर सम्राट पर राजतान करने में सफलता प्राप्त की। इसका कारण यह था कि ईश्वर की यही दृष्टि थी। दति ने ईसाद्वय के इतिहास द्वारा भी अपने विचार सिद्ध करने का प्रयास किया। उन्होंने कहा कि ईसा मसीह ने सम्पूर्ण मानव-जाति के प्राण अपने शिर पर धीरे कर और स्वयं समर्पित होकर उसकी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया था। रोमन लक्ष्य के बंध होने का प्रमाण ही यह है कि वह ईसा को समर्पित कर सभी, क्योंकि कानून की दृष्टि से ईसा मसीह ने सफलता है जिसे ईश्वर देने का अधिकार है।

रोमन साम्राज्य के उपरोक्त आधार को लेकर ही दति ने 'मोनाकिया' के अन्तिम लक्ष्य में यह प्रतिपादित किया कि साम्राज्य की शक्ति और के सम्पन्न से

सकता है। जहाँ चर्म-सलाहकारों ने नैतिकता को चर्म का एक रूप स्वीकार किया वहीं दलित ने नैतिकता को चर्म से वृषभ मानते हुए कहता था कि वह चर्मरहित का प्रतिफल नहीं है। इस तरह दलित ने नैतिक प्रगति में चर्म के हस्तक्षेप करने के अधिकार पर भी मुहरपास करने की चेष्टा की। दलित ने चोपरादियों पर प्रहार करते हुए चर्म की केवल दैहिक स्वयं तक सीमित कर दिया।

दलित का मूलनीतिज्ञ

दलित अपने समय का बहुत ही प्रतिभाशाली, विद्वान्तावादी और बुद्धिमत् अनुमान वाला राजनीतिक विचारक था जिसने अन्तराष्ट्रीय समस्या को धर्मोपेक्षित रूप में और राज्य के पूर्ण सार्वभौम का समर्थन किया और एक विश्व-राज्य का नीतिक विचार प्रस्तुत करके यूरोपवासियों को स्थाई शान्ति और एकता का मार्ग दिखाया। दलित ने विश्व राज्य की घोषणा द्वारा यूरोप को रोष-मुक्त करना चाहा, लेकिन राष्ट्रवाद के उदय ने उसके निदान को अक्षय्यमयि ठहरा दिया। दलित ने भी, एकीकरण की भांति ही अराष्ट्र का अर्थगत अनुकरण करने की भुल की। एकीकरण और दलित दोनों ने अपने सार्वभौमिक अनुमान के विकास में अराष्ट्र का अनुकरण किया लेकिन इनके अन्तर्गत रही और ईश्वरगत का सामन्तत्व ने स्वाभाविक रूप से गड़बड़ कर पाए। दलित ने रोमन साम्राज्य की पुनर्जीवना का अक्षय्यमयि रोष घाला। उसके राज्य पर चर्म के विघटन के दावों का उत्तर करते हुए साम्राज्य की पूर्ण स्वतन्त्रता स्थापित करने का प्रयास किया और एक ठेके धारता साम्राज्य की कल्पना की जिसकी इस मूल-तल पर स्वाध्याय समर्थन सामन्तत्व ही ही है।

पर वर्तमान के आधुनिक राजनीतिक विचार के इतिहास में दलित का स्थान महत्वपूर्ण है, क्योंकि महायुग में विश्व राज्य और अन्तराष्ट्रीय सरकार के विद्वानों को प्रतिपादित करने वाला यह प्रथम राजनीतिक चिन्तक था। उसके घोषणा पर टिप्पणी करते हुए कैटलिन ने लिखा है—“दलित ने न केवल रोमन साम्राज्य का उत्तराधिकार दिया बल्कि राष्ट्रवाद (League of Nations) की भूमिका भी उबार की। दलित ने राष्ट्रवाद को यह समझाव नहीं प्रदान किया कि राज्य द्वारा शान्ति स्थापना का सर्वप्रमुख कार्य पूरे तरह सभी सम्पन्न किया जा सकता है जब यह ‘विश्व राज्य’ हो।”¹

जॉन जॉन्स पैरिस

(John of Paris)

मध्यकाल में चर्मनिरलेखता के समर्थकों में जॉन जॉन्स पैरिस (1269-1306) का नाम महत्वपूर्ण है जिसने मध्यकालीन राजधर्मन को तथा चाही विचारणी की जहाँ बीस तक प्रभावित किया।

जॉन जॉन्स पैरिस ने राजा के पास में अपनी महत्वपूर्ण पुस्तक (*De Potestate Regis et Papae*, 1302-3) लिखी। इसमें किसी प्रमुख राजनीतिक

दर्शन का निष्कर्ष नहीं मिलता है, पर इससे राजा के पक्ष में जर्नि का दृढ़ समर्थन परिलक्षित होता है। उसने साम्राज्य को विशेष महत्व नहीं दिया है क्योंकि वह मध्य-कालीन साम्राज्य की आध्यात्मिक शक्ति का प्रतीक नहीं है। इसकी विचारधारा पर धर्मशास्त्र का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। मध्यमजिह्वी समाज का विचार उसने धर्मशास्त्र के दृष्टि से लिया है क्योंकि उसका यह धारणा साम्य है। यह इस तरह के सभी स्वतन्त्रतावादी एकता के सत्ता स्वीकार करने की इच्छा है। यह धर्मशास्त्र के इस विधान की भी स्वीकार करता है कि नागरिक शासन केवल जीवन के लिए आवश्यक है। यह धर्म के धर्मशास्त्र के कारण ही एनिलिज्म के इस विचार की नहीं मानता कि लौकिक सत्ता को देव होने के लिए चर्च के आध्यात्मिक की आवश्यकता है। इसकी मान्यता है कि यूरोपियनवाद की अवस्था लौकिक शक्ति प्रथम प्राचीन है, मध्य यूरोपियनवाद इसका शीत नहीं है। पर चर्च के निष्कर्ष के पक्ष में एक तर्क यह दिया जाता है कि राज्य का मूल मान्य यदि वास्तविक में प्रकृत होने के लिए तो चर्च द्वारा इसका सुदृढीकरण होना चाहिए, लेकिन जर्नि ने कहा कि राज्य एक वैधानिक सत्ता है जिसका सत्तन सामाजिकता के आधार पर हुआ है, मनुष्य के जीवन के परिणामस्वरूप नहीं। राज्य के साम्य में सामाजिक और व्यक्तिगत मुक्तों का विकास होता है। इस तरह राज्य एक कल्याणकारी वस्था है जिसके सुदृढीकरण का प्रयत्न ही नहीं करता।

आध्यात्मिक और लौकिक सत्ताओं के बिना की शक्ति करने और साम्राज्य का समर्थन करने में जर्नि ने परम्परागत तर्कों का आधार लिया है। उसने कोणी सत्ताओं की शक्ति-प्रत्यय माना है। लौकिक सत्ता का प्रत्यय शीत ईश्वर है। सर्वप्रथम उसने ने 42 कारण बताए हैं जिनके आधार पर लौकिक सत्ता की आध्यात्मिक सत्ता के सभी सत्ताओं का कहना है। सत्तावाद उसने एक-एक कारण का समर्थन किया है। पुनः उसने पहले यूरोपियन की आध्यात्मिक सत्ता का विवेकपूर्ण किया है और उस यह कहा कि कि इसके कारण यूरोपियन की लौकिक शक्ति पर क्या निष्कर्ष प्राप्त हो जाता है? जर्नि के अनुसार धर्मशास्त्र, सरकार, प्रचार और प्रिया देने के अधिकार यूरोपिय आध्यात्मिक है, इनके लिए लौकिक शासन आवश्यक नहीं है। कुछ करने वाले का निर्णय करने और उनको डीक करने के क्षेत्र में धर्मशास्त्रों की शक्ति केवल धर्म-अहिंसा के है। लौकिक शक्ति से यह अधिकार प्रकृत है। लौकिक सत्ता कल-प्रयोग की शक्ति की अधिकारिणी है। धर्मशास्त्रों के धर्म-अहिंसा के अधिकार का यह धर्म नहीं है कि आध्यात्मिक सत्ता लौकिक शासकों पर कल-प्रयोग करने का अधिकार है। जर्नि का कहना है कि "शासक भी चर्च में जीवन निहाल कर जीवन के साथ इसी प्रकार का व्यवहार कर सकता है। विधि में जीवन की राजा की व्यवस्था करने का अधिकार देना ही है जैसा कि राजा को जीवन को व्यवस्था करने का अधिकार। कोणी विधि कर सकते हैं। विधि का प्रयत्न ही करता है। कोणी की सामुदायिक जीवन के व्यवस्था किया जा सकता है। लेकिन उन्हें व्यवस्था नहीं निर्दिष्ट सत्ता कर सकते हैं जो उनका

निर्वाचन करती है। साम्प्रदायिक सत्ता को दो शक्तियाँ प्राप्त हैं—धर्मवाची वर नियन्त्रण करने की शक्ति और साम्प्रदायिक कार्यों के लिए सम्पत्ति के स्वाधिन्य की शक्ति। चर्च की साम्प्रदायिक सत्ता के नियन्त्रण और इसे सीमित करने का यह कार्य एक धर्मचार्य ने किया था, यह कभी साम्प्रदायिक है।”

जैन ने अपनी पुस्तक के अन्तिम अध्यायों के स्पष्ट रूप से तो नहीं किन्तु अन्तिमार्थ से चर्च में पोप की प्रमुखता को एक तरह से विस्तृत धर्मवीर्य कर दिया है। “साम्प्रदायिक सत्ता की दृष्टि से सभी बिषय हैं। यद्यपि पोप का यह अनुपम है और ईश्वरीय है किन्तु उसका पुत्राव मानवीय सद्वीर्य के होता है। जब पोप का निर्वाचन हो रहा होता है, उस विधान काल में कहीं न कहीं पोप की शक्ति निहित रहती है। यद्यपि यदि पोप की शक्ति प्रदान की जा सकती है तो उसे वापिस छीना भी जा सकता है। पोप त्याग-व्रत दे सकता है मरणा अष्ट साक्षरता होने पर उसे परम्परा भी पिया जा सकता है। जैन के अनुसार संवरण कीर्तिम पोप की परम्परा कर सकती है। उसकी अपनी राय तो यह भी है कि कतिपय धर्म विचारों भी पोप को परम्परा करने का अधिकार रखते हैं। वह कतिपय और पोप का सम्बन्ध कुछ बेसा ही मानता है बेसा साम्प्रदायी सत्ता का राजा के साथ था।”¹

जैन का अपने ग्रन्थ ‘De Potestate Regia et Papali’ का प्रमुख उद्देश्य धार्मिक सम्पत्ति की वस्तुता को कुलनाम था। वह दो धर्मवादी धारणाओं के बीच में सम्बन्धी मार्ग निकालने का इच्छुक था। एक धारणावादा यह थी कि धर्मवादी के पास कोई सम्पत्ति नहीं रहनी चाहिए। दूसरे धर्म का कहना था कि अपनी साम्प्रदायिक शक्ति के कारण प्रत्येक धर्म के धर्मवादी को समस्त सम्पत्ति पर और लौकिक शक्ति पर भी नियन्त्रण प्राप्त है। किन्तु जैन ने कहा कि धर्मवादी को साम्प्रदायिक कार्यों के लिए सम्पत्ति का स्वाधिन्य प्राप्त होना चाहिए, लेकिन उस पर वैधानिक नियन्त्रण लौकिक सत्ता का रहना चाहिए, साम्प्रदायिक सत्ता का नहीं। सम्पत्ति का स्वाधिन्य न तो पोप में ही निहित है और न किसी एक व्यक्ति में ही बल्कि उस पर ही सम्पूर्ण समाज का स्वाधिन्य है। पोप सम्पत्ति का शासक मान है जिसे उसके दुष्प्रयोग के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। जैन ने चर्च की सम्पत्ति के साथ-साथ लौकिक शासकों के सम्पत्ति सम्बन्धी धर्मवादी की भी सीमित किया जिसे उसके राजा की व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकारों का सम्मान करना चाहिए और उनका नियन्त्रण सभी करना चाहिए जब साम्प्रदायिक धर्मवादीता था यह। वह एक्टिविज्म द्वारा प्रतिपादित स्वाधिन्य के सिद्धान्त को दुहराते हुए प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति पर स्वाधिन्य और उसके प्रयोग के अधिकार का सम्बन्ध करता है—लौकिक यह अधिकार उस परिधि का फल है जो उसे सम्पत्ति प्राप्त करने में उदात्त करता है। व्यक्ति की किसी सम्पत्ति पर स्वाधिन्य स्थापित करने या उसका प्रयोग करने का अधिकार न पोप को है न स्वयं राजा को। केवल

छूट गयी है कि राजा किसी सम्पत्ति का विनियमन केवल जनहित के लिए कर सकता है और उस पर कर लगा सकता है।

जॉन ने लौकिक राज्य के समर्थन के बारे में विधेय कुछ नहीं लिखा है। साक्ष्यतः वह मध्यकालीन धार्मिक-राज्यतन्त्र के पक्ष में है।

राजनीतिक दर्शन के इतिहास में जॉन डॉक वेरिग के महत्त्व को प्रकट करते हुए केम्ब्रिज ने ठीक ही लिखा है कि "यद्यपि जॉन ने किसी व्यवस्थित राजनीतिक दर्शन का निर्माण नहीं किया, फिर भी उनका कार्य उस युग के लिए और भविष्य के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। वह खींचने या धीरे पादपी था। उसने ऐतिहासिक और वैधानिक आधारों पर जॉन राज्यतन्त्र की स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थन किया था। उसने चर्च या सामान्य व्यक्तियों के सम्पत्ति के स्वामित्व और राजा द्वारा उनके राजकीय अधिकारों सम्बन्ध चर्च के लिए बीच द्वारा अपने प्रभाव में ब्रह्म स्थापित किया। उसने धार्मिक-राज्यतन्त्र और लौकिक सत्ता की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया। उसने धार्मिक-राज्यतन्त्र के स्वतन्त्र और प्रजापति का विरोध किया। इस विरोध के अनुसार धार्मिक-राज्यतन्त्र का वैधानिक सत्ता नहीं है। उसे बल-प्रयोग की आवश्यकता नहीं है। यदि उसे बल-प्रयोग की आवश्यकता पड़ जाए, तो वह बल-प्रयोग लौकिक सत्ता की ओर से आना चाहिए। जॉन ने धार्मिक-राज्यतन्त्र के वैधानिक और राजनीतिक स्वरूप पर विशेष बल दिया है। वह वह स्वीकार नहीं करता कि विधि को चर्च के बीच में हस्तक्षेप करना चाहिए। सत्ता में, उसने बीच की निरंकुशता का विरोध कर राज्यतन्त्र में प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का समावेश किया। भविष्य की राजनीतिक चर्चाओं में इन बुद्धिों का काफी महत्त्वपूर्ण ह्रास पड़ा। जॉन ने कट्टरता की सीमाओं के भीतर रहते हुए धर्म के प्रभाव को लौकिक और बुद्धिमत्ता आधार देने का प्रयास किया। इस दृष्टि से उनकी विचारधारा ऐतिहासिक से विस्तृत विषय की।"¹

मार्सीनियो डॉक वेदुआ (Marsilio of Padua)

जीवन-परिचय और रचनाएँ

मार्सीनियो का जन्म इटली के उत्तर-पूर्व में स्थित वेदुआ नामक नगर में लगभग 1270 ई. में हुआ था। 70 वर्ष की उमिर में वे वेनेटिया में लगभग 1340 ई. में वह एक सहाय सहाय को छोड़कर चल गया। उसके पिता वेदुआ निरवधिपालय में नोटरी (Notary) के रूप में कार्य करते थे।

बीच जॉन डॉक वेरिग और उनके उत्तराधिकारियों के साथ समर्थन में लुई बॉन वेनेटिया (Lewis of Bavaria) का साथ देने वाला मार्सीनियो पीरुजी बाल्बोले का सबसे अधिक शक्ति विचारक था जिसने अपने समयकालीन को नहीं, बल्कि अन्य

जाने यूरोप को भी देखा। 1313 ई. में उसने डॉक्टर की उपाधि प्राप्त की। वह पैरिस विश्वविद्यालय का रेक्टर (Rector) भी बना। उसे मार्क गिजर मित्तान (Archbishop of Milan) भी बनाया गया किन्तु उसने यह सब नहीं सम्भाला। उसने कभील, पिपाही और राजनीतिज्ञ की भूमिका ही अपने जीवन में निभाई। इस प्रतिभावाली विचारक ने धर्मकापीन परम्परागत विचारों और सिद्धान्तों से स्वयं को बिल्कुल सभुता रखा उसका उत्साह कोई भी प्रतिष्ठित समाजवादी नहीं कर सका। पैरिस में रहते समय मार्तीनिको का सम्पर्क मिलियन प्रोफेसर से हुआ। वे दोनों ही मित्रान एक दूसरे से बड़े प्रभावित हुए। दोनों ने ही चर्च की सनैतिकलाओं और निर्वनताओं का गूढ़ सम्पन्न करके यह सत्य स्थापित किया कि राजसत्ता को किसी भी रक्षा में सम्मिलित से निर्वन नहीं होना चाहिए और यदि चर्च राज्य के समीप ही हो जाए तो यह और भी उत्तम होगा। वे विचार अपने भाव में बड़े अन्तिकारी से सिद्धे स्वीकार करने का सर्व पीपलाही की शक्ति को हमेशा के लिए हवाफ करना था। सतः पीप को जब इन विचारों का पता चला तो उसने मार्सीनियों की बहिष्कृत कर दिया। पर उसके विचारों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, क्योंकि पीप के अष्टाचार को यह पीप जाया के दीपन बननी चाहते से देख चुका था। इसके बाद यह चर्चन समाप्त हुई अनुर्व के दरबार में चला गया। उसने वहाँ से पीप एवं चर्च पर बड़े ही लक्ष्यमय और कठोर प्रहार किए। लगभग 1340 ई. में उसने अपने महान् ग्रन्थ 'डिफेंसर पैरिस' (Defensor Pacis) की शुरुआत किया। यह ग्रन्थ सन् 1300 से सन् 1500 तक के प्रकाशित हुए दो युग-निर्मातृक ग्रन्थों में से एक माना जाता है। यह तीन भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में 19 अध्याय हैं जिनमें राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त दिए गए हैं और राज्य का वर्गीकरण किया गया है। राज्य के समय, उद्देश्य, कानून एवं कानून-निर्माता के कार्यों औरों की नियोजना भी इसी भाग में है। द्वितीय भाग में 33 अध्याय हैं, जिनमें चर्चसत्ता के काम, विकास तथा उत्पत्ति की व्याख्या की गई है और यह बतलाया गया है कि किस भाँति चर्चसत्ता यूरोप की शक्ति को नष्ट कर रही थी? तृतीय भाग में तीन अध्याय हैं जिनमें प्रथम दो भागों में स्वतंत्र विचारों को सम्मिलित रूप में व्यक्त किया गया है। तृतीय भाग की प्रथम दो भागों का विष्कर्ष कहा जा सकता है। मार्सीनियों का दूसरा प्रमुख ग्रन्थ 'डिफेंसर माइनर' (Defensor Minor) एक प्रकार से प्रथम पुस्तक का ही स्पष्टीकरण है।

मार्सीनियों द्वारा पीपलाही का विरोध करने से यह स्पष्ट नहीं निकाला जाता चाहिए कि यह साक्षात्कारवादी था। मूलतः ये उसने साम्राज्य की रक्षा के लिए कुछ नहीं किया। प्रथम दो उसे पीप दरबार के सांसारिक विस्तार और संभव को देखकर घृणा हो गई थी; दूसरे, उसे यह देखकर भावो दुःख हुआ था कि विभिन्न नगर-राज्यों के पारस्परिक कलह का मूल कारण पीप का हस्तक्षेप था। तेम्पल के अनुसार, "उसके विचारों का उद्देश्य और के साक्षात्कारवाद की अनुसृत व्यवस्था को जो इन्फोर्ट तृतीय और पार्थिक विधि के सिद्धान्त के रूप में विकसित

हुई भी, नष्ट करना था। उसका उद्देश्य साम्प्रदायिकता को इस सीढ़ि पर निकलाना था कि वह मौलिक धर्मकार्यों पर प्रयोग या उत्पन्न रीति से कहीं तक निरन्तरता लायू कर सकती है? इस क्षेत्र में मार्सीलियो मध्य युग के अन्य किसी भी लेखक से घाटे बढ़ा हुआ था। उसने चर्च को राज्य की अधीनता में रखा दिया। उसे पहला इरादिलेखन (Erasianism) कहना अनुचित न होगा।¹ मार्सीलियो के हृदय में पोपपाप्टे के विरुद्ध विद्रोह की भाव बहाने का एक प्रमुख कारण यह भी था कि पौर जैन बाइसर्गों ने 'फ्रांसिस्कन सम्प्रदाय' (Franciscan Order) के इस सिद्धान्त की निन्दा की कि पादरियों द्वारा प्रयोग चर्च का राजन किया जाना चाहिए क्योंकि केवल उन्हें उन्हीं ही सम्पत्ति रखनी चाहिए जिसकी उनके साम्प्रदायिक कार्यों को सम्पन्न करने की दृष्टि से आवश्यक हो। मार्सीलियो ने पोप के इस कार्य की कड़ी निन्दा की।

मार्सीलियो ने अपने सिद्धान्त का दार्शनिक आधार भरतु से बहुत लिया था। उसने अपनी पुस्तक की प्रस्तावना में लिखा है कि उसके ग्रन्थ की 'पॉलिटिकल' के वह भाग का दूरक भाव या कबला है जिसमें भरतु ने मान्य तथा सामाजिक चरित्रों के कारणों का विवेचन किया है। उसने बताया कि इस सम्बन्ध में भरतु पौर द्वारा मौलिक कारणों पर अपनी कर्तव्यता के उक्त दानों से प्रभावित था जिसके कारण अन्तर्गत दुरीय और विवेचन इतनी में भवकर घुट एव प्रभावित कार्य हुई की फल: उसने इसी बुवाई की दूर करने का प्रयास किया।

मार्सीलियो के राज्य-विषयक विचार
(Marsilio's Ideas on the State)

भरतु की भांति मार्सीलियो ने राज्य को एक ऐसी संजीव जल: बताया है जिसके विभिन्न भाग उसके जीवन के लिए आवश्यक कार्य करते हैं। राज्य सभी संजीव शरीर का स्वास्थ्य उसके विभिन्न अंगों जैसे—कृषक, कारीगर, योद्धा, कुमारी पारि द्वारा अनुचित और व्यवस्थित रूप से कार्य करते रह निर्भर है। किसी घर द्वारा अपने कार्य-का ठीक तरह से पूर्णपदन न करने पर घरका अपने घर के कार्य के बाधा डालने पर सभी और सम्प्रदाय: जन्म लेते हैं। भरतु की भांति मार्सीलियो राज्य को एक साम-निर्भर एकाई (Self-sufficient Unit) मानता है जिसका उद्देश्य सभी जीवन को निरन्तर तथा सामर्थ्य का लोक-कल्याण करना है। राज्य का जन्म ही मनुष्य की विविध सामर्थ्यताओं की दृष्टि के लिए हुआ है यहीनिष्ठ राज्य स्वत: विकसित सम्पन्न है और इसका प्रचार सेवाओं का परस्पर आदान-प्रदान है।

मार्सीलियो ने भरतु की तरह यह भी माना कि नगर-राज्य की उत्पत्ति परिहार से हुई है। नगर एक पूर्ण समाज है और क्षेत्र जीवन की सम्पूर्ण आवश्यकताएँ पूरी करता है। राज्य का उद्भव जीवन ही नहीं धर्मिष्ठ उत्तम जीवन है। मनुष्य मनुष्य और राज्य की भांति केवल जीना ही नहीं चाहता धर्मिष्ठ उसकी माकाशा होती है कि वह उत्तम रीति से जि:। भरतु का उत्तम जीवन केवल दार्शनिक त:ज

सीमित या जबकि मासौलियो के अनुसार उत्तम जीवन के दो धर्म हैं। एक धर्म है दार्शनिक जीवन की खोजता या उत्तमता और दूसरा धर्म है पारलौकिक अथवा आध्यामी जीवन के उत्तमता। दार्शनिक अथवा सांसारिक उत्तम जीवन का परिचय दर्शनशास्त्र से मिलता है। पारलौकिक उत्तम जीवन का साक्षात्कार धर्मशास्त्र से होता है। पहले का आधार बुद्धि और विवेक है; दूसरे का आधार भ्रष्टा और विश्वास है। विवेक यह बताता है कि दार्शनिक और व्यवसाय के लिए नागरिक शासन की आवश्यकता है, लेकिन धर्म के धर्म की भी आवश्यकता है क्योंकि उसका इस जीवन में भी उपयोग है और दूसरे जीवन में भी।

पारसू की तरह ही मासौलियो धर्मों को समाज का निर्माण करने वाले विभिन्न वर्गों का विच्छेदण करता है। कुलकर्ण और मित्तली मौखिक पंदाओं एवं राजस्व का प्रबन्ध करते हैं। समाज में विभाही, पदाभिव्यक्ति और पादरी हैं जो वास्तव में राज्य का निर्माण करते हैं। मासौलियो की पादरियों के कार्यों की उपयोगिता इसी स्पष्ट दिशावादी नहीं पड़ती जिसकी अन्य वर्गों के कार्यों की। तथापि अपने बताया है कि पादरियों का कार्य धर्म-शास्त्रों का अध्ययन, शिक्षा देना और बुद्धि करने के लिए आवश्यक बातें शिक्षितान्त है। ईसाई और वेर-ईसाई सभी लोगों ने यह माना है कि समाज में एक बड़े ऐसा होना चाहिए जिसका काम बुद्धि-वाद करता हो। मासौलियो ईसाई पादरियों और अन्य पादरियों में यह अन्तर करता है कि ईसाई धर्म सच्चा है जबकि अन्य धर्म सच्चे नहीं हैं। मासौलियो ने कहा कि पादरी नरक का भय दिखाकर लोगों की आत्मा का पावन करने और आपाचार के बर्तने का परिचय और सच्चा कार्य करते पुनित एवं ग्लावाधीन के कामों में सहायक हो सकते हैं। उनका समाज कार्य बोध-दार्शनिक में सहायक होगा है। अतः उन्हें नैतिक नियमों से कोई सम्बन्ध न रखकर अपना क्षेत्र सांसारिक विषयों तक परिमित रखना चाहिए। मासौलियो समस्त सांसारिक विषयों में पादरियों के ऊपर राज्य के नियन्त्रण का पक्षपाती था। यह धर्म को राज्य का एक विभाग माना जाता था। यही बहुत सम्बन्धहीन विचारक का विचार 'ले उत्तमारी' के परम्परागत सिद्धान्तों पर कठोरान्न प्रहार करते हुए स्पष्ट धर्मों के धर्म के ऊपर राज्य के प्रभुत्व का स्थापन किया। हेमाइन के कारणवित्त धर्मों में—

“राजनीतिक दृष्टि से मासौलियो के विचारों का महत्वपूर्ण मत यह है कि नैतिक सम्बन्धों में पादरी धर्म समाज में अन्य वर्गों के साथ एक धर्म है। मासौलियो नैतिक दृष्टिकोण से ईसाई पादरियों की अन्य पादरियों की भाँति ही समझता है क्योंकि ईसाई पादरियों की शिक्षा भी उन्हें से परे होती है और केवल आधी जीवन से ही सम्बन्ध रखती है। इसलिए, राज्य को नैतिक मामलों में पादरियों पर उही प्रकार नियन्त्रण रखना चाहिए जिस प्रकार यह इति अथवा वास्तविक पर नियन्त्रण रखता है। सामुहिक सम्बन्धों में धर्म एक सामाजिक धर्म है। यह नैतिक उपकरणों का उपयोग करता है और एकके कुछ सामाजिक परिवर्तन करता है।”

— दृष्टियों से उस पर समाज का वैसे ही नियन्त्रण होता चाहिए जैसा कि धर्म

मान्य दिनों पर होता है। वहाँ तक उसकी सम्झाई का सम्बन्ध है इस बारे में विवेक-मूलक मनुष्यों में कोई मतभेद नहीं हो सकता। विवेक और निष्ठा का यह पुनर्गठन मानिक संवेदना का नवीनीकरण है। यह नीतिकला का प्रतिपादन है, जो सभी विरोधी भी है और ईसाई विरोधी भी। मार्सीजियो ने उन कुछ साम्प्रदायिक दिनों की सीरी प्रस्तोषणा नहीं कि किसी चर्च में प्रतिक्रिया करोना है और जिन्हे ईसाई मान्य-जाति के परम हित समझते हैं। वे नीचे इसकी पवित्र हैं कि उन्हें बुद्धि की वसाद पर नहीं लेता जा सकता। लेकिन व्यवहार में सत्यता पवित्र और सत्यता सत्य में कोई मतभेद नहीं है। वे चर्च वहाँ तक नीतिकला मान्यता के सम्बन्ध रखता है वह हर तरह भौतिक राज्य का एक भाग है।”

मार्सीजियो के उपरोक्त विचारों में नीतिकला की सत्यता मान्य कर दिया। चर्च ने उसके सत्य “डिसेम्बर वेसिग” पर प्रतिबन्ध लगा दिया, उसे धर्म बहिष्कृत कर दिया और चीन नवीनेड छोड़े, जो उसे निष्पक्षता विधर्म तक ही जाता है जारी।

मार्सीजियो के विधि और विधायक सम्बन्धी विचार (Marsilio on Law and the Legislator)

राज्य के स्वतन्त्र और सत्यता पर चर्चा के उपरान्त मार्सीजियो सरकार के निर्माण का विवेक करता है जिसका सर्वाधिक साधारणतः मत उसकी विधि और विधायक सम्बन्धी धारणा है। उसने अपने सत्य “डिसेम्बर वेसिग” में विधि के चार भेद बताए हैं, जहाँ मनुष्यों का ही विधि और मानवीय विधि की है। अपने बाद के सत्य “डिसेम्बर वेसिग” में उसने अपने सभी चर्च मानवीय के सत्य किया है। उसके सत्य में ही विधि और मानवीय विधि की परिभाषाई इस प्रकार है—

“हीन विधि हीन ईश्वर का आदेश है। इसमें मनुष्य के लोक-विचार के लिए ज्यादा दुःसाध्य नहीं है। हीन विधि में मनुष्य को कहलाया जाता है कि वह क्या कार्य करे और क्या कार्य न करे। इस विधि में मनुष्य को कार्यभार सत्य प्राप्त करने तथा सामाजी सत्य के लिए नीतिकला परिस्थितियों के निर्माण का उत्तर भी बताया जाता है।”¹

“मानवीय विधि मानवीय के सम्पूर्ण अनुभव का अर्थ उसमें मनुष्य भाव का आदेश है। जो नीन विधि की कमान की शक्ति रखते हैं, वे लोक-विचार के पश्चात् इस विधि की जारी करते हैं। मानवीय विधि में मनुष्य को बताया जाता है कि वह इस सत्य में क्या कार्य करे और क्या कार्य न करे। इस विधि में मनुष्य को कार्यभार सत्य प्राप्त करने बताया इस सत्य के लिए नीतिकला परिस्थितियों के निर्माण का भी उत्तर कहा जाता है। मानवीय विधि एक ऐसा आदेश है जिसका प्रत्यक्ष करने पर प्रत्यक्षकर्ता की इस सत्य में सत्य मिलता है।”

इन परिभाषाओं से पता चलता है कि देवी एवं मानवीय विष्णु व अन्तर का वास्तविक अन्तर्गमन पर निर्भर करने वाले दण्ड का फेर है। दोनों के बीच और और अन्तर्गमन है। एक को ईश्वर बनाया है, उसका सम्बन्ध पारलौकिक जीवन से होता है और उसे लौढ़ने पर ईश्वर दण्ड देता है। वह दण्ड इस लोक में नहीं बल्कि परलोक में मिलता है। दूसरे का बीच मानवीय दण्ड है, उसका सम्बन्ध सामाजिक जीवन से होता है और उसे लौढ़ने पर दण्ड राज्य द्वारा दिया जाता है। मार्सीनिमो के द्वारा कानून के इस वास्तविक (Coercive) स्वरूप पर बल देने का स्वाभाविक कार्य नहीं है कि जो भी नियम दण्ड-भय के लागू नहीं किया जा सके वह कानून नहीं है। मार्सीनिमो केवल राज्य व्यवस्था व्यवस्था को ही समाज की नियन्त्रिका शक्ति (Coercive Force) मानता है, यद्यपि सम्पूर्ण कार्य-कानून का केवल यही भय कानून ही बनता है जिसे राज्य स्वीकार करे। मार्सीनिमो के अनुसार मानवीय कानूनों का निर्माण सामाजिक व्यवस्था के लिए होता है। प्रो. हर्नो के तर्कों के, "कानून व्यवस्था, इस बात का निर्णय है कि समाज के लिए कानूनों और व्यवस्थापक है? यह व्यवस्था व्यवस्था की एक व्यवस्थापक व्यवस्था है जिसकी रचना मानव बुद्धि द्वारा होती है। व्यवस्था प्राप्त शक्ति इसे कार्यनिष्ठ करती है और इसके पीछे शक्ति की स्वीकृति होती है।"

मानवीय कानून निर्मित होता है यद्यपि यह स्वाभाविक है कि इसका निर्माण करने वाली और इसे लागू करने वाली भी कोई शक्ति हो। दूसरे शब्दों में मार्सीनिमो के अनुसार विधि के लिए विचारक व्यवस्था है; जो फिर बल प्रदान है कि मानवीय विधानक (Legislator) कौन है? इस प्रकार का उत्तर देने उसके राजनीतिक दर्शन के मुख्य तत्त्व पर ला देता है—

"विधानक व्यवस्था विधि का प्रथम और उचित बुद्धिमानतापूर्ण कारण बनता व्यवस्था मानविकी का सम्पूर्ण कानून व्यवस्था उसका सम्पूर्ण भाग है। वह अपने मादेल और निर्णय से व्यवस्था सामान्य सभी को दण्ड से निर्दिष्ट व्यवस्था में वह व्यवस्था देता है कि मनुष्य मनुष्य कार्य करे और मनुष्य कार्य न करे। यदि मनुष्य निर्दिष्ट कार्य का अतिक्रमण करते हैं, तो उन्हें दण्ड मिलता है।"

दूसरे शब्दों में, विधि का निर्माण करने वाली और इसे लागू करने वाली शक्ति मार्सीनिमो के अनुसार "समस्त व्यवस्था या सम्पूर्ण नागरिक समूह या उसका प्रधान भाग" है और इसे वह विधानक या व्यवस्थापक (Legislator) की शक्ति देता है। विधि व्यवस्था यद्यपि का और सदा ही व्यवस्था या व्यवस्था प्रमुख बन होता है। यह धारणा है कि यह भाग व्यवस्था यद्यपि सभी-सभी नागरिक के द्वारा या सामान्य की स्थिति में सत्ता द्वारा कार्यशील हो सकता है। इस व्यवस्था में सत्ता शक्ति ही होती है सभी राज्य के मानवीय द्वारा निर्मित कानून भी व्यवस्था द्वारा निर्मित हो समझे जायें क्योंकि राज्य व्यवस्था मानवीय व्यवस्था के भाग में और व्यवस्था की और के ही कार्य करे। मार्सीनिमो का विचार था कि व्यवस्था के विधान में ऐतिहासिक भी शामिल रहते हैं।

माथीलिथी को विधायक सम्बन्धी पारखों में एक भागक भाग 'प्रधान या प्रबुद्ध भाग' (Prevailing or Weightier Part) है। कुछ माथीलिथी ने इसका धर्म सम्पादन बहुमत लगाया है जबकि बाह्यतन ने ऐसा नहीं है। 'प्रधान भाग' की अपनी परिभाषा है माथीलिथी ने ये शब्द लिखे हैं, "ये कहता हूँ कि उम्माज में सम्पादना गुणवत्ता दोनों की दृष्टि से प्रबुद्ध भाग की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए।" इस तरह स्पष्ट है कि 'प्रबुद्ध या प्रधान भाग' से उसका अभिप्राय जनता के उस भाग से है जिसको बात में सरसता और गुण के दृष्टिकोण से सर्वाधिक प्रभाव हो। यह वह नहीं चाहता था कि हर व्यक्ति को एक ही माना जाए क्योंकि समाज के प्रमुख व्यक्ति जन-साधारण की अपेक्षा अधिक महत्व रखते हैं। उसका विचार था कि हमें जनता की वक्तव्यता के विचार धारणों का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

माथीलिथी के अनुसार शासन के कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के विभाग शासिकों द्वारा बनाए जाते हैं। निर्वाचित होते हैं। शासिकों को माथीलिथी ने विधायक धर्मता व्यवस्थापक माना है, यद्यः हम यह कहते हैं कि उनके अनुसार व्यवस्थापक का एक मुख्य कार्य कार्यपालिका और न्यायपालिका को चुनना था। कार्यपालिका का मुख्य कर्तव्य व्यवस्थापिका द्वारा निर्दिष्ट कानूनों को कार्यान्वित करना और यह देखना है कि राज्य का प्रत्येक घन सम्पूर्ण समाज के हित के लिए चलना-चलना काम उचित रूप से करे। समस्त कार्यपालिका को यह ज्ञान मिलने (प्राप्त करना) उसे निर्वाचित किया था, व्यवस्था भी कर सकती है। माथीलिथी ने कार्यपालिका की चुनवटता और एकता पर जो बड़ा बल दिया और सम्भवतः पूरी कारण उसने प्रजातन्त्र के ऊपर राजतन्त्र की तरफ़ीह दी। यद्यपि सरकार के रूप के बारे में उसने विशेष कुछ भी नहीं कहा किन्तु यह निश्चित है कि यह समाजवाद समाज की अपेक्षा निर्वर्धित समाज को ज्यादा पसन्द करता था। वहीं भी उसका ध्यान नगर-राज्य की ओर था, समाज की ओर नहीं। उसने समाज के बारे में बहुत ही कम विचार प्रकट किए। माथीलिथी ने कार्यपालिका के एकीकृत और एकीकृत होने पर जो बल दिया उसका एक महत्वपूर्ण परिणाम यह निकलता है कि यहाँ का कोई समाज अधिकार क्षेत्र नहीं हो सकता।

कुछ समाजीयक माथीलिथी द्वारा किए गए व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के संसार को नैतिक-विभाजन के सिद्धान्त के रूप में देखते हैं, जबकि मैकग्रेन एवं अन्य विद्वानों का कहना है कि माथीलिथी के विचारों में जनतन्त्र, बहुमत का शासन और नैतिक-विभाजन के सिद्धान्त किसी भी तरह का नहीं है। माथीलिथी का विधायक और कार्यपालक साधुनिक विधायिका तथा कार्यपालिका के समान नहीं है। इस विचार की पुष्टि दो बातों से होती है—प्रथम तो माथीलिथी का विधायक विधि का नहीं बल्कि विधि की नैतिक का क्षेत्र है और द्वितीय उसका कार्यपालक पर ऐसा नियन्त्रण नहीं है जैसा साधुनिक व्यवस्थापिकाओं का सैनिकमन्त्रालय धर्मता करने-पालिकाओं पर पाया जाता है। माथीलिथी के सिद्धान्त का धर्म बहुमत का सामन्य भी नहीं है क्योंकि 'प्रबुद्ध या प्रधान भाग' से उसका और गुणवत्ता दोनों सम्बन्धित

है। उनके विचार-दर्शन में यदि बहुतसारी बात यह है कि वह समाज को उन्नत का भयक मानता है और उन्नत को यह संविचार देता है कि वह उसके प्रति गुरे ब्यवहार के लिए राजा को दण्डित करे। इस प्रकार मार्सीनियो हमारे सम्मुख सीमित राजतन्त्र (Limited Monarchy) का विचार प्रस्तुत करता है।

मार्सीनियो के चर्च और धर्माचारों विषयक विचार

(Marsilio's Ideas about Church and the Clergy)

मार्सीनियो ने उन्नत को अनुकूलता और सम्यक् विचारक एवं विद्वानों की चर्च पर गानू करते हुए चोप के सभी धर्मियों को निर्मूलत और समाज के लिए पातक बनताया। उसने कहा कि चर्च की पूरी क्षमा चोप से लवीन्व है और चर्च की प्रतिम प्रतिपक्ष में केन्द्रित न होकर चर्च की सामान्य सभा (General Council) में केन्द्रित है जिसमें सामुदायिक और धार्मिक दोनों प्रकार के सदस्य सम्मिलित होते हैं जिन प्रकार राज्य की उन्नत में अनुकूलता का निवास है उसी प्रकार चर्च की प्रतिम मता सम्पूर्ण ईसाई जनतु में और इसके निर्वाचित सामान्य सभा में रहती है। यह सभा चर्च के विचारों पर इस करने वाली सक्त है। इसकी बहुमत द्वारा चर्च चर्चों की स्थापना करने का चर्च-दृष्टिकार (Ex-communicatio) पर, इस देने का, चर्च के कदाधिकारियों को विमुक्त करने का और चर्च में धार्मिक दुष्टा के स्वयं को निरिचय करने का अधिकार है। इन विषयों में चोप का कोई अधिकार नहीं है। चोप के दुर्ब्यवहार करने पर सामान्य सभा उसे पदभुङ्गी भी कर सकती है। मार्सीनियो का दृष्ट मता था कि सामान्य सभा द्वारा ही चोप निर्वाचित होना चाहिए और उसके प्रति ही उसे उत्तरदायी होना चाहिए।

सामान्य सभा सम्मन्त ईसाइयों की अवयव उनके प्रतिनिधियों की देखी निर्वाचित परिषद् है जिसमें जनसत्ता के अनुपात में प्रतिनिधि ईसाई होते और इन प्रतिनिधियों में धर्माचारों और जन-सत्ताएँ दोनों ही रहते। चोप की चर्च की इसी सामान्य परिषद् में अधिकार राज्य होना चाहिए। मार्सीनियो इस सामान्य सभा को चोप के सर्वोच्च मान्य पर न धार्यते हुए इसे धार्मिक सरकारी के ऊपर निर्भर करता है और कहता है कि इसके प्रतिनिधि चर्च के सक्तों के धादेसम्बुद्धा किमी सुविचारक सत्ता में सम्मिलित होकर कदाचित् को विचारों को सत्ता में पहुँचे हुए धार्मिक विचारों या धार्मिक सत्ताओं से सम्मिलित विचारसत्ता प्रस्तो कर विचार करेंगे और उनके द्वारा ईसाइयों के सक्त बहुत उत्पन्न होने की सम्भावनाओं को दूर करेंगे। सामान्य सभा के निर्वात राज्य के मत प्रयोग द्वारा कदाचित् हो सकेंगे।

मार्सीनियो ने सामान्य सभा के सिद्धान्त द्वारा, जो राष्ट्रीय ईसाइयों और स्पानवाद (Episcopalism) के कारण सक्त न हो सक्त, चोप की सक्ति और स्वतन्त्रता पर भारी सक्त की लताया है, सक्त ही इस स्वाभाविक दृष्टिकार की भी प्राम्ये रक्त कि चोप के धर्मिकारों द्वारा सक्तों का स्रोत देवी-जति नहीं की।

मार्सीनियो ने चोप की अनुकूलता को एकदम दन्कार करते हुए उसे चर्च का भयक मुख्य सत्ताधीन धर्मिकारी मताया और घोषित किया कि चोपवादी की सत्ता ईश्वरद्वत रही है धर्मिक ऐतिहासिक सक्तों की सक्त है। उसने नू टेरायें की

समोधा करते हुए यह बताया कि बादमिल में पीटर को दूसरे तिथी पर कोई अधिकार नहीं दिया गया था और पीटर का रोष के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था। दूसरे वर्ष रोष के विचार के परामर्श लिया करते थे और इसी कारण भूल से यह माना जाने लागू रहा कि वर्षों पर रोष का अधिकार है। उन्होंने कहा कि यह-पूछी और वर्षों के भूल में दोषदाही की दुरावस्था ही है।

मार्क्सिस्टों वर्ष के अधिकार को केवल धार्मिक और साम्प्रदायिक नियमों तक ही सीमित रखना चाहता है। "उन्होंने वर्षावर्षों के कर्तव्य की तुलना चिकित्सक की कलाह से की है। धार्मिक धर्मशास्त्रों को करने के प्रतिष्ठित धर्मधर्म केवल समझ और ज्ञान ही दे सकते हैं। दुष्टों को बर्त-बर्त करते हैं और बता सकते हैं कि पान के भावी परिणाम क्या होंगे? लेकिन किसी मनुष्य को लक्ष्य करने के लिए बाध्य नहीं कर सकते। मार्क्सिस्टों ने साम्प्रदायिक और धार्मिक शक्ति को वैधानिक शक्ति से अलग करने पर शिन्हा और दिना है, जन्म सम्पत्ति के सम्बन्धित क्षेत्र से नहीं दिया है।"¹

मार्क्सिस्टों के अनुसार वर्ष के कानून की कोई शक्ति नहीं है, क्योंकि यह केवल दो ही तरह के कानून है—परलोक में लागू होने वाला ईश्वरीय कानून और इस लोक में लागू होने वाला मानवीय कानून। ईश्वरीय कानून के उल्लंघन का दण्ड ईश्वर द्वारा परलोक से मिलता है; यह: पोंपो के लिए मनुष्यों को दण्डित करने का अधिकार नहीं है। मान-मुक्त का निराधिकार और दण्डात्मक ईश्वर है, पोंपो और पादरी को उनके नीकर बँधे हैं।

मार्क्सिस्टों ने यह भी कहा कि वर्ष के पान अन्तर्गत कोई सम्पत्ति नहीं होती। जो भी धार्मिक सम्पत्ति उनके पास होती है वह मनुष्य के साथ राज्य-सहायता के रूप में जाती है। राज्य द्वारा वर्ष को दी जाने वाली सहायता सार्वजनिक उपभोग के रूप में होती है। मार्क्सिस्टों को, माल-वैयक्त के लिए विना आवश्यक है, सबसे अधिक नहीं रखना चाहिए। यह धार्मिक सम्पत्ति और धार्मिक परो पर नीतिक अधिकारियों के नियन्त्रण का प्रतीक है। धर्मशास्त्रों को धार्मिक कार्य करने के लिए वह बाध्य किया जा सकता है जब तक उन्हें आर्थिकिक ज्ञान होती रहती है। नीतिक सामान रोष से लेकर नीचे तक के प्रत्येक पराधिकारों को परम्पुद कर सकता है।

एस्प है कि मार्क्सिस्टों राज्य पर वर्ष की प्रभुता का सबसे अधिक उदाहरण है। यह रोष की प्रभुता के दावे को दुरुपयोग का सबसे बड़ा माने नहीं मानता था कि वर्ष की राज्य के अधीन बना दिया जाए और उसकी विनाशकारी शक्ति (Coercive force) से दण्डित कर दिया जाए।

रोष विरोधी विचारों के कारण मार्क्सिस्टों के राज्य की प्रतिष्ठा बिना और इसकी नीतिप्रणाली नहीं। कुछ वर्ष बाद ही एलिमीन और रोष में दो विरोधी पक्षों का उदय हुआ और वर्ष पृष्ठ से छीन लेने तक। उस समय विचारकों का ध्यान

मार्सीनियो द्वारा प्रतिपादित चर्च की सामान्य परिधि की घोर गथा मिलने-पैलिसीव मान्दोलन (Conciliar Movement) की रत प्रथान किया ।

मार्सीनियो का मूल्यांकन

मार्सीनियो एक बहुत मूढ-मूढ आत्मा, दूरदर्शी और मौलिक विचारों के सम्मत् प्रतिपत्ताधी विचारक या जिते भरस्तु के बाद पाश्चात्य राजनीति का बहुत ही सम्मानित विद्वान माना जाता है । मार्सीनियो ने राज्य पर चर्च की प्रवृत्ति का विशेष करके अपनी तथाकथित बुद्धि का परिचय दिया । 14वीं सताब्दी के प्रारम्भ में मानसवादी राजनीतिक श्रृंखलाओं के जकड़ी हुई मूलों की जगह की अपने जन्म-प्रवृत्ति और प्रतिनिधित्व प्राप्त-व्यवस्था के विचार दिष्ट जिन्हें धार के पुन में सर्वत्र मान्यता प्राप्त है । मार्सीनियो ने चर्च सभल के सम्मान में जो विचार प्रस्तुत किए उन्हें 16वीं सताब्दी के सभी सुधार के उपरान्त सामान्यतया स्वीकार किया जाने लगा । वास्तव में मार्सीनियो ने अपने समय में पहले धार्मिक विचारों की प्रस्तुत किया और इसलिए उसे 'धार्मिक राजनीतिक विचारक' का सम्मानित कर दिया जाता है । एन्गस्टीन के शब्दों में, "मार्सीनियो निरिचय रूप से धार्मिक है क्योंकि उसने बड़े संवेदन रूप से अपने पुन की श्रृंखलाओं की लीने का प्रयास किया है ।"¹ मार्सीनियो का महत्व इस बात में भी है कि उसकी कृतियों के भरस्तु और पुनानी विचारवादा का पुनर्प्रधान हुआ ।

विलियम ओक मोकन

(William of Occam)

14वीं सताब्दी में पीपियाही के बिष्ट राज्य की स्वतन्त्रता का अपने समकालीन मार्सीनियो की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप से समर्थन करने वाले विलियम का जन्म 1290 के लगभग हुआ और उसकी मृत्यु 1347 के निकट हुई । मोकन विवादी विलियम एक धर्मज्ञ था । उस पर अपने पुन रत एडवर्ड (Edward III) का बड़ा प्रभाव पड़ा । वह बहुत व्यापक कार्य में लगा किन्तु बाद में सक्रिय राजनीति में उतर आया । 'प्रीतिरकन सम्प्रदाय' (Franciscan Order) का प्रदान बन जाने के कारण और धर्मोप विद्वान बन हुयी होने के कारण उसे पोप का कोप-भाजन बनता रहा जिसने उसे चर्च-बहिष्कृत कर दिया । मार्सीनियो के प्रयास ही उसके विचारों में भी पोप के कोप से कोई परिचय नहीं आया । मार्सीनियो के समान वह भी मुई के दरबार में गया और लगभग 8 वर्ष तक वहाँ रहा ।

1330 से 1349 के मध्य उसने धर्मोप लेख जिते जो धर्मोपनिष्ठ: वैज्ञानिक आधार पर थे । उसके राजनीतिक दृष्टियों के सबसे महत्वपूर्ण रूप 'Decision Upon Eight Questions Concerning the Power of the Supreme Pontiff' थे । उसके लेखों का मुख्य उद्देश्य पोप का विशेष करना था, नवनि धार्मिक दृष्टियों के प्रति अपने महत्व अनुपान के कारण इस सम्मान में वह मार्सीनियो की अपेक्षा अधिक उदार था ।

विलियम का मुख्य उद्देश्य किसी राजनीतिक दर्शन का निर्धारण करना नहीं

1 "Marullo is essentially modern, because he seeks so consciously to break the letters of his age."

था। मुख्य रूप से वह एक धार्मिक और कर्मशास्त्री था। राज्य के किसी कमबद्ध 'राजन' का निर्माण न करने के कारण ही उसके विचार मार्गदर्शकों की प्रेरणा कम सिद्धान्तकारी थे। धर्मरूप के विचार राजन का उस पर प्रभाव पड़ा और शाहीवन वह एक स्कांतिविराट् चर्चवास्तवी बना रहा।

विलियम के बीच विरोधी विचार

विलियम की शक्ति के बीच की निरंकुश शक्ति का कट्टर अनुयायी था। उनके विचार का आधार यह था कि महानुत्तम शक्ति का उद्देश्य द्वारा सीमित होता है जिसके लिए वह ही जाती है, यद्यपि यह स्पष्ट है कि उस शक्ति का प्रयोग सामान्य कल्याण के लिए किया जाए और ऐसा करने में बुद्धि तथा स्वाभाविक न्याय का पूर्ण ध्यान रखा जाए। बीच और सम्राट के संबंध में भी उनके सम्बन्धों सम्बन्ध निर्धारण में उसने सम्बन्धमय ही सिद्धान्त का पालन किया।

विलियम ने सर्वप्रथम और राजसत्ता के परम्परागत क्षेत्र को स्वीकार करते हुए स्पष्ट मत प्रकट किया कि बीच का अधिकार केवल धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित है, उसे शौकिक मामलों में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। उसने बीच और 22ई द्वारा शौकिक विषयों के लिए जाने वाले हस्तक्षेप की धार्मिकपूर्ण चेष्टा माना और बीच को नागरिकतात्मक शक्तियों से विरक्त बनाने के लिए केवल प्रशासनिक शक्तियों से विरहित किया। उसने कहा कि यदि बीच राजसत्ता के कार्यों में हस्तक्षेप करता है तो उसके कार्यों की प्रभाव की जा सकती है। शौकिक क्षेत्र में हस्तक्षेप की बात तो दूर रही, धार्मिक क्षेत्र में वह चर्च चर्चों की अवहेलना नहीं कर सकता। विलियम ने बीच की निरंकुशता को एक नई और चर्च विरोधी बीच बतलाया। इस ने बीच को चर्च का सम्बन्ध विरक्त करने को राजनीतिक एवं धार्मिक विषयों में कोई निरंकुश शक्ति प्रदान नहीं की थी, बल्कि उसकी निरंकुश सीमाएँ निर्धारित की थीं। राजाओं, राजकुमारों और अन्य व्यक्तियों के अधिकार बीच द्वारा स्पष्ट किए जा सकते थे। बीच का क्षेत्र केवल का था, शक्ति का नहीं।

विलियम ने भी पादरियों की जन-विपत्ति की निन्दा की। शौकिक सम्पत्ति पर स्वाभिव्यक्ति से चर्च धार्मिकतात्मक क्षेत्र में सीमित होकर शौकिक भावनाओं में विस्तृत हो जाता है। राज्य को चाहिए कि वह चर्च की सम्पत्ति और धर्म सम्पत्ति में कोई अन्तर न रखे हुए सामान्यतानुसार चर्च की सम्पत्ति पर कर लगाए और उसे अपने अधिकार में ले ले। राजकीय विषयों को मजबूत करने या पोषण और पादरियों का निर्णय भी नहीं न्यायालयों में होना चाहिए जिनसे धर्म नागरिकों का निर्णय होता है।

विलियम यह स्वीकार करता था कि प्रत्येक राज्य स्वतन्त्रता का उपयोग करने के साथ एक दूसरे की शक्तियों को भी सुधार सकती है। उसका विचार था कि यदि दोनों पक्षों में दोषों तथा प्राकृतिक विधि द्वारा निर्धारित धर्म-धर्म की भावों के सम्बन्ध का कार्य करें तो वे एक दूसरे को सहारा दे सकती हैं और हिंसा-विनाश कर रहे सकती हैं। धर्म की परिस्थितियों में उसे यह विचारों को विवश कर दिया था कि बीच की स्वेच्छाकारी शक्ति के अन्तर्गत कुछ प्रतिनिधिक नियंत्रण रहना

चाहिए। तथापि, यदि कोई सम्माननीय हो, तो उसके हाथ में विधान सभियों की शक्तियाँ भी यह सम्झी हैं। दूसरे शब्दों में, सैन्यी क्षेत्राधिकारों का कानूनी षेड उसे ज्यादा महत्वपूर्ण नहीं बना। उसके लिए महत्वपूर्ण प्रश्न न्यायिक नहीं, प्राकृतिक थे।

सामान्य सभा के सिद्धान्त का प्रतिपादन

पहले में रोम की सन्निवसित शक्ति पर रोक लगाने के लिए विटिजिय ने सामान्य सभा (General Council) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसकी दृष्टि में रोम की शक्ति पर यह एक सर्वाधिक उपयुक्त रोक थी। उसने कहा कि सामान्य परिषद् का निर्माण समस्तका रूप से होना चाहिए। एक पैरिस (Parish) में रहने वाले ईसाई दायोसीज (Diocese) के निर्वाचक सम्मेलन के लिए अपने प्रतिनिधि चुनते। दायोसीज के सदस्य प्रांतीय सभियों के सदस्यों को और प्रांतीय सभियों के सदस्य सामान्य सभा के सदस्यों का निर्वाचन करते। सामान्य सभा में सादरियों और जनजाधारण दोनों ही के प्रतिनिधियों का होना आवश्यक है। अपने इस सम्बन्ध में सिक्को को भी पुनर्परी के समान-प्रतिकार प्रदान किए। इस सभा की धर्मग्रन्थों की व्याख्या करने, धर्म-वर्द्धित करने, विवाद-ग्रस्त प्रश्नों पर निर्णय देने एवं धर्म विपुल रोम को समस्तका करने के अनिवार्य हिस्से पर।

सम्राट की शक्तियों का विवेचन

सामान्य सम्मेलनी नियंत्रण करते हुए विटिजिय ने यह नहीं माना कि 'सम्राट की शक्ति रोम से प्राप्त होती है, राज्याभिषेक के संस्कार से उसकी विधि समस्त सत्ता में वृद्धि होती है और निर्वाचन के सम्बन्ध में रोम की स्वीकृति मान्यता होती है।' उसके मत से 'सम्राट की शक्ति निर्वाचन से प्राप्त होती थी। निर्वाचन सम्मेलन जनता के स्थान पर था और उसका प्रतिनिधि था।' विटिजिय ने सम्राट की शक्ति को सीमित भी करना चाहा। सम्राट की पदों में सुधार करने की दृष्टि से इंग्लैण्ड की व्यापक शक्तियाँ देने के साथ ही यह मत भी प्रकट किया कि सम्राट को इन शक्तियों का प्रयोग केवल समजाधारण स्थितियों में ही करना चाहिए। सम्राट का कर्तव्य बनने ताकत की व्यापकता और प्रजा के लिए उपयोगी बनाना है। सम्राट को चाहिए कि वह ईसायीय-दृष्टि स्थानाधिक विवेक एवं न्याय के सादेव के अनुसार अपने कर्तव्य निर्वाह और राष्ट्रीय के सामान्य कानूनी का सादर करे। सम्राट की कानूनी शक्ति का भी यह जतना ही विरोधी था जितना कि रोम की शक्ति का। उसका उद्देश्य समस्तता और लोकता दोनों को नियन्त्रित करना था।

मार्सीलियो के-समान विटिजिय भी सन्निवसित शक्ति जनता से ही उत्पन्न मानता था। उसने राजतन्त्र को श्रेष्ठ शासन कहा था। निरंकुश राजतन्त्र, जाकाधारी राजतन्त्र और कुछ राजतन्त्र से वह सन्निवसित सर्वादि कुछ राजतन्त्र का समर्थक था।

विटिजिय शक्ति स्रोत की मूल्य के साथ ही अपने और राज्य के ऐतिहासिक धर्मों की भी रक्षायी हो गई।

परिपदीय आन्दोलन

(The Conciliar Movement)

बाप्टिस्टियों की मृत्यु के उपरान्त लगभग 150 वर्ष के संक्रमण-कालीन युग में पश्चिम यूरोप में उत्पन्न हुई चर्चों में सर्वोच्च उन्मुखतापूर्ण घटना की घोषणा की जा रही थी। यह चर्चा थी कि परिपदीय का उद्देश्य सर्वोच्च चर्च का उद्देश्य के परिपदीय सिद्धान्त (Conciliar Theory) का विकास।

परिपदीय आन्दोलन : सिद्धान्त, प्रारम्भिक के कारण एवं उद्देश्य
(The Conciliar Movement : Theory, Causes and Purposes)

परिपदीय सिद्धान्त की दो समस्याओं में विभक्त करना उचित होगा। प्रथम समस्या यह थी कि कैसे जहाँ भी चर्चा, बाप्टिस्टियों की मृत्यु, विभिन्न धर्मों के बीच की विचारों में कहा कि चर्च की क्षमता चर्च का निम्नतम सामान्य परिपद (General Council) में है। द्वितीय समस्या में परिपदीय सिद्धान्त के विकास का प्रश्न कि चर्च के कारण का क्या रूप हो ? क्या चर्च का रूप के लिए तीन परिपदों का निर्धारण है ? ये परिपदों तीन की शक्ति, कोरडेन्स की शक्ति और चर्चों की शक्ति के साथ में विद्यमान है। इन द्वितीय चर्च के प्रमुख नेता पर्वत (Gerson), पियरी डे-कासी (Pierre D'Ailly) एवं निकोलस ऑफ़ कूसा (Nicholas of Cusa) हैं। यह परिपदीय आन्दोलन 15वीं शताब्दी के प्रारम्भ होकर लगभग 16वीं शताब्दी तक चल रहा था।

परिपदीय आन्दोलन के मौलिक सिद्धान्त

1. चर्च की प्रमुखता सामान्य परिपद (General Council) में निहित है, जो चर्च में नहीं। इसलिए चर्च का उद्देश्य एवं कारण इस तरह होता कि चर्च के लिए चर्च की अधिकारिता सामान्य परिपद में है।

2. चर्च चर्च का प्रमुखता मान है, चर्च का प्रमुखता नहीं, क्योंकि चर्च के लिए चर्च निर्माण का अधिकार केवल चर्च की शक्ति में है और चर्च उन चर्चों के कारण है।

3. सामान्य परिपद चर्च की अधिकारिता नहीं है, चर्च उसका चर्च पर अधिकार नहीं है न कि चर्च का उस पर।

4. पौब की प्राकृतिकता उदैव ही मान्य नहीं है । यदि उन्हें मान्य होना है तो उन्हें लोगों के अधिकारों को ध्यान में रखना चाहिए । कानून का आधार जन-सहमति है और पौब की प्राकृतिकता का कानून की तरह तभी बालन हो सकता है जब जन वर वर्षों की सामान्य परिपक्व की स्वीकृति की मुहर हो । पौब को अपनी अधिकारों का प्रतिफल नहीं करना चाहिए ।

5. वर्षों की परिपक्व सर्वोच्च शक्ति सम्पन्न है । यह एक पूर्ण समाज है जिसके पास स्वयं की वृद्ध रखने के साधन हैं । अपनी वृद्धता बनाए रखने के लिए वह परिपक्व एवं सामाजिक पौबों की सपदायन कर सकती है ।

6. पौब मनुष्य है, अतः मृत करना उसके लिए असामान्य नहीं है । वह पापी हो सकता है ।

7. सामाजिक विषयों में समित्व दायित्व शक्ति सामान्य परिपक्व की होती चाहिए न कि पौब की ।

8. पौब प्राकृतिक विधि को समझनेवाला नहीं कर सकता क्योंकि प्राकृतिक विधि का स्थान उनके व्यक्तिगत कानूनों में ऊँचा है । प्राकृतिक विधि ही उसकी शक्त का स्रोत है ।

9. पौब मृत्यु पर वर्षों का प्रतिनिधि (Vicar) है, ऐसा बचवा पीटर का नहीं । पौब के समाज में विषय का उद्धार हो सकता है लेकिन वर्षों के समाज में नहीं ।

परिपक्व विद्वानों की प्रचलित अवस्था का ये संकाशन ने प्रमाणित किया है । उनकी के शब्दों में—

परिपक्व विद्वानों का सार यह था कि वर्षों का सम्पूर्ण विकास, ईश्वर की शक्तिशाली शक्तों का सम्पूर्ण समुच्चय अपनी विधि का स्वयं स्रोत है । पौब तथा अन्य समीपवर्ती उसके धन का संयक है । वर्षों का प्रतिनिधित्व देवी तथा प्राकृतिक विधि के कारण है । उसके कारण प्राकृतिक विधि के तो समीप है ही, वे वर्षों के अपने समस्त बचवा जीवन की विधि के भी समीप हैं । यह सही है कि उन्हें इस विधि की सीमाओं के भीतर रहना चाहिए । उनके ऊपर वर्षों समस्त के अन्य धर्मों का भी नियंत्रण रहना चाहिए । वर्षों को अपनी 'प्रतिनिधित्व', सत्ता और अनुमोदन के लिए एक प्रतिनिधिक शक्त के धारणे देना करना चाहिए जिससे कि उन्हें वर्षों स्वीकार कर लें । यदि वह ऐसा नहीं करता है और अपने वर के अधिकारों में अधिक शक्तिपूर्ण प्रहार करता है तो उसे त्यागना सपदायन किया जा सकता है । वदन्त्युक्ति के आधार पर स्पष्ट है । सबसे प्रबल आधार और ऐसा आधार जिसे परिपक्व विद्वानों के समर्थक दुर्भाग्यही पौब के ऊपर लागू करने का प्रयास करते, विधिविषय का था । कुछ लेखकों का कहना था कि पौब की अन्य सपदायरी वर भी वदन्त्युक्ति किया जा सकता है । इस बात को सब मानते थे कि 'सामान्य परिपक्व (General Council) पौब की वदन्त्युक्ति कर सकती है । लेकिन जॉन डॉक वेरिंग की

हो। यदि चीन ऐसा न करता तो उसकी निम्नता भी भी जा सकती थी। दरिद्र चीन की शक्ति के दुर्लभयोग को ठीक कर सकती थी। यह कुछ इस तरह का चीन कि ब्रैक्शन (Bracton) के शब्दों में देश के प्रतिनिधि राजा से जवाबदेही कर सकते थे। दरिद्र सम्पूर्ण चर्च की प्रतिनिधि बनता थी। इस कारण चर्च के शर्तों में जाका सबसे ज़्यादा स्थान था। किन्तु दरिद्र के कर्म मुख्यतः निरामक थे। यह विचार नहीं था कि दरिद्र जनता को सक्रिय करे सचवा जनको सचवा एवेन्ट बना ले। विचार कुचीनतम् द्वारा निर्दिष्ट ऐसे राजतन्त्र का था जिसमें राजा सम्पूर्ण चर्च में निर्दिष्ट नहीं है और उसका प्रयोग उसके प्रतिनिधिक रूप स्थान रूप से करते हैं। प्रत्येक चर्च का यह अधिकार, और कर्तव्य था कि वह दूसरे चर्चों को अपने स्थान पर रहे। लेकिन यह सभी चर्च सम्पूर्ण नरणा की संवत्सरिक विधि (Organic Law) के अधीन थे।¹

दरिद्रोंय आन्दोलन के आयुर्भोज के कारण

(1) इस आन्दोलन का बहुत प्रमुख कारण ईसाई चर्च की महान् गृह (Great Schism) था। सप्तम-दशक चर्च का गृह की यह स्थिति 1378 से 1417 ई. तक चर्च और पोपों की शक्ति एवं प्रतिष्ठा को निरस्त करी जा रही। 1378 ई. में पोप ग्रेगरी एकादश (Pope Gregory XI) के मरने पर रोमन जनता के विशेष दबाव से निर्वाचन करने वाले अधिकारी कार्डिनलों ने इसकी विचारों चर्चन चर्च को पोप चुना। किन्तु शक्ति ने इसे स्वीकार नहीं किया। पोप राजा दितिप में पोप ग्रेगरी एकादश के चुनाव को चर्चन पोपित करते हुए कीसीसी चर्चनिकारी को कर्मेन्ट सम्पत्ति के नाम के चर्चन-चर्च पर विस्तृत करा दिया जो एक्विमोन में रहने लगा। इस तरह चर्च एक की जगह दो पोप हो गई—एक रोम में और दूसरा एक्विमोन में। दोनों ही चर्चों की वास्तविक और वास्तव सम्पत्ति पोप दत्ताने लगे। प्रत्येक ने स्वयं को ईसा का प्रतिनिधि घोषित किया और प्रधान चर्च का होने के नाते उस प्रमुख का स्वाधी होने का दावा किया जिसका जनश्री चर्च रोमरी सम्पत्ति, एक्विमोन ग्रीसीय एवं एक्विमोन चर्चुर्न जैसे अधिकारी पोपों ने किया था। दोनों ही पोपों ने परस्पर एक दूसरे को चर्च के अधिकृत किया। दोनों ने अपने पुष्क-पुष्क कार्डिनल विचार एवं चर्च के अन्य अधिकारियों को विस्तृत किया। इस घटना के चर्च में सम्पूर्ण गृह बढ़ गई और सम्पूर्ण ईसाई समाज को चर्चों में विभाजित हो गया। कीसी और उसके मित्र देश—स्कॉटलैण्ड, बेल्जिय, स्पेन, पुर्तगाल आदि एक्विमोन के पोप का समर्थन करने लगे। इटली एवं कीसी के गार् देश—जर्मन, फ्लेमिश, हंगरी, पोलेण्ड, एक्विमोनिकन आदि देश रोम के पोप के समर्थक थे। इस परिस्थिति में प्रतिद्वन्द्वी पोपों के चर्चों के बीच चर्च-विवाद होने लगा और यह प्रश्न उत्पन्न गया कि क्या कोई ऐसी जनतन्त्र नीतिक शक्ति है जो चर्च के विचारों को नियंत्रित करे। इस दृष्टि से कीसी चर्च में एकता स्थापित करने के लिए

सोनी पक्षी के कुछ कार्डिनलों द्वारा इटली के पीडा (Pisa) नामक स्थान पर एक छोटे परिपक्व मुसाई गई। इस परिपक्व ने दोनों पक्षों को समझना करके उनकी तरह एक नए पक्ष का निर्माण करके चूट को समाप्त करना चाहा। किन्तु दोनों पक्षों ने इन्हें से इनकार करते हुए नए पक्ष को स्वीकार नहीं किया। अतः परिपक्व के निर्णय पर परिणाम यह हुआ कि दो-दो तरह के पक्ष हो गए और चर्च के निवारण पूर्ण की अपेक्षा बहुत बढ़ गया। इन विवादों को हल करने के लिए चर्च की सामान्य परिपक्व के सिद्धान्त पर भरोसा करने लगा तथा बाद में अनेक परिपक्वों की प्रामाणिकता सिद्ध हुई।

(2) परिपक्व मानवों का मुख्य कारण यह था कि तत्कालीन पक्षों और चर्च का भीषण वैज्ञानिक पक्ष हो चुका था। अतः स्वाभाविक था कि पाश्चात्य और जनसाधारण ने चर्च तथा पक्ष के विरुद्ध विरोध को सह्य कर दिया। उनकी दुर्गति को दूर करके मुबार के साधन के रूप में सामान्य परिपक्व के विचार को मन मिलने लगा। विनिमय (Wycliffe) तथा हूब (Huss) ने चर्च की कमिनी तथा पक्षों के भ्रष्ट जीवन को जनता के सामने रखा। उनके लेखों ने एक प्रकार की प्रतिक्रिया पैदा की।

(3) पक्ष की निरन्तर शक्ति राजसत्ता और प्रभुसत्ता दोनों के समर्थकों के लिए ईसाई और पैर-ईसाई चर्च के अधिकारियों के लिए, सामान्य ईसाईयों के लिए-कभी-कभी के लिए भारी विरोध का बोध भी। उनके निरन्तर कार्यों पर चर्च ने कोई प्रतिपक्ष नहीं था। इसका नाम ईसाईय साधन था वह सभी और नए का था। अतः ईसाई और पैर-ईसाई सभी पक्ष पक्ष के निरन्तर बहुत से छुटकारा देने और किसी साम्प्रदायिक शक्ति-समर्थक कम-से-कम किसी प्रतिनिधि शक्ति के प्रतिष्ठ होने की इच्छा से। पक्ष के निरन्तर शक्ति-प्रयोग की प्रतिक्रिया ने परिपक्व मानवों की उन्नत सत्ता और इस मानवों के सत्ता में जनता की सहभागिता मिली।

(4) पक्ष अन्तर्गत सम्पत्ति का स्वामी था और उसके जीवन ऐक-साधन और विनाश-संज्ञक का था। मानवों के अनुसार 1250 में पक्ष की शक्ति यूरोप के लगभग सभी राजाओं की शक्ति के बीच से भी अधिक थी। चर्च की शक्ति सम्पत्ति को खर्च करने का अधिकार पक्ष की था और उस पर किसी भी प्रकार का नियन्त्रण चर्च विरुद्ध तथा प्रभु ईसा की इच्छा के विरुद्ध सम्पन्न होता था। बहुत से पक्ष पक्ष के इस विरोधी जीवन के दृष्ट से, अतः जब चर्च के मुबार का प्रभाव उठा तो पक्ष की सम्पत्ति के सभी उपयोग की समझा उठ लगी हुई।

(5) और सर्वत्र, सामाजिक, विनिमय और प्रत्यक्ष, सभी पाश्चात्य, हम सर्वत्र ने पक्ष और चर्च की अन्तिकताओं और चर्चों की निर्भीकतापूर्वक समझना की और कहा कि पक्ष की एक शक्ति ही है जिसने कमिनी तथा दुर्जनताओं का होना स्वाभाविक है। अब उनकी शक्ति पर समुचित नियन्त्रण लगाया जाना चाहिए और ऐसी शक्ति की जानी चाहिए कि वह यूरोप की राष्ट्रीय एकता के

साध्या न बन सके। यह विचार प्रस्तुत किया गया कि धर्म की एक सामान्य परिपद द्वारा ही बीर पर समुचित नियन्त्रण की स्थापना सम्भव है। इस परिपद के माध्यम से व्यक्ति बीर पथों का समुचित प्रतिनिधित्व होता, पालनपालन, निरंकुश शासन की स्थापना हो जाती। इस प्रकार के विचार परिपदीय या अक्षोतन की गृह्यभूमि को बीर कात्यायन में यह सोचा जाने लगा कि परिपद का संगठन बीर चुनाव से किया जाए।

(6) राष्ट्रीयता के क्षेत्र के साथ जोड़ने में वर्ष के प्रति साथ साथ का कम होने लगी और दूसरी ओर राजभक्ति की भावनाएँ बढ़ने लगी। राजसत्ता की वर्ष के प्राकृतिक मामलों में हस्तक्षेप करने का मौका मिला और एक बार जब धर्मसत्ता और राजसत्ता के बीच अनुसूत विवाद तो पश्चिमीय आन्दोलन की प्रति मिली राजाजी ने इस आन्दोलन का सामयिक लाभ उठाने की नीति अपनाई।

(7) राज्यसत्ता में प्रतिनिधित्व की भावना का सम्मान करना पना । इसमें मे पालिचामेण्ट तथा फ्रीड में स्टेड्स जनरल के निर्माण से प्रतिनिधित्व की चारख का प्रसार हुआ और सामन्तवादी शक्तियाँ सामुद्रिक प्रतिनिधित्व चारख करने लगी । जब राज्यसत्ता में प्रतिनिधित्व की भावना में पैर जमाए ही धर्म-सत्ता भी इस चारख में सङ्गुली न रहे सगी । धार्मिक क्षेत्र में भी प्रतिनिधि सरकार बनाने के सुझाव का स्वागत किया जाने लगा, क्योंकि इस सुझाव में पोन की निरकुसता को निवर्णित करने का एकमात्र प्रभावशाली उपाय निहित था । किन्तु और अन्य धर्माधिकारियों में यह विचार बल पकड़ता गया कि एक व्यक्ति विशेष यथात् पोन की समेक्षा एक समूह में कम चुन और कम निरकुसता की सुझावक है । इस विचार की अधिकधिक स्वीकार किया जाने लगा कि सत्ता पाहे वह राज्यनीतिक हो वा धार्मिक-सार्वजनिक है सत किसी एक व्यक्ति द्वारा उसका प्रचरण नही किया जा सकता ।

(४) उत्तर मध्य-युग में यूनानी विचारधारा का प्रभाव परिलक्षित हुआ और यूनान का पराजित युरोप में पुनः जागृति का कन्देब देवे लगा। योपवाद धर्मवाद के विकासवादी सिद्धान्त के अनुकूल नहीं था और न ही व्यक्ति की बुद्धि के अनुकूल। जब धर्मविज्ञान और धर्म मान्यताओं की विवेक और बुद्धि से सीधी टक्कर होये लगी तो योपवाद के विरुद्ध जबरदस्त प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। इस प्रकार यूनानी विचार के प्रभाव में परिपक्वीय प्रतिक्रिया को धर्मवाद-बुद्धि कहना सही।

मत्स्यीशिमो, जिनिनय आदि ने चर्च की सामान्य परिषद् के सिद्धान्त का प्रतिपादन किसी न्यायव्यवहारिक व्यवस्था को सुलभ करने के लिए नहीं। बल्कि पोषकाष्टी के सिद्धान्त का उत्तर देने के लिए निम्न का घोर दलील यह एक सार्वजनिक सलोकन का रूप ग्रहण नहीं कर सका था। किन्तु चर्च की मद्द्वात् पुरु, पोषी के सिद्धान्तों जीवन, उनके निरकृत बलि, प्रयोग आदि ने इसे एक सामाजिक साम्योन्नत बना दिया।

परिचर्यात्मक मानकीकरण के अर्थ में

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि परिषदीय छात्रों के प्रमुख उद्देश्य पर्याप्त हैं—

(1) चर्च की गूट की दूर करने अपने एकता का सफार करना ।

(2) चर्च में व्याप्त भ्रष्टाचार को रोकना और उसका निवारण करना तथा चर्च की पूर्वसलीन इतिवृत्त को दाय्य करना ।

(3) चर्च की निरंकुशता को मिटाकर उसकी प्रशुता का स्थान चर्च की सामान्य परिचद् को देना और इस तरह चर्च-प्रकाशन में एक नई व्यवस्था करना ।

(4) चर्च की सफार सम्पत्ति पर समुचित नियन्त्रण स्थापित करते हुए धार्मिक कार्यों के लिए उसके अनुपयोग की गारंटी करना ।

सारांशतः परिपटीय मान्योक्तन चर्च के नैतिक त्वात को रोकर उनके पूर्वसलीन धोरण की पुनः स्थापना करना चाहता था ।

परिषद्

(The Councils)

अपने उद्देश्यी और सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देने के लिए मान्योक्तन कर्ताओं ने पीसा, काउन्सेल तथा केविल की परिषद् बुलाई ।

(1) पीसा की परिषद् (The Council of Pisa)—1409 ई. में पीसा में बुलाई गई इस परिषद् को न तो सभात में ही धामनित किया, या और न ही पीसा में । केवल दोनो बजों के बहुत से काउन्सिल और विचारक-व्यवहार द्वारा पीसा में एकत्रित हो गए और इस सम्मेलन को उन्होंने चर्च की परिषद् घोषित कर दिया । परन्तु के अनुसार ऐसी काविक समारोहों को ही पीसा स्वयं धामनित करता था सचचा राजा द्वारा भी वे बुलाई जाती थीं । पीसा की परिषद् की संबानिकता को सिद्ध करते हुए जॉन गर्सन ने तर्क दिया कि चर्च की गूट का सफार करने के लिए पीसा इस प्रकार की परिषद् बुलाने में सफल रहा है, जब मान्योक्तनीन स्थिति में पीसा द्वारा परिषद् बुलाए जाने के नियम को नष्ट करते हुए दूसरे तरीके से सामान्य परिषद् को सम्मेलन करना संबानिक है । जॉन गर्सन ने कहा कि इस प्रकार सम्मेलन की नई परिषद् चर्च के विचार को समाप्त करने के लिए सत्ता स्पष्ट दाय्य कर सकती है ।¹

पीसा की परिषद् में 26 कार्डिनल, 4 बैटिफार्स, 12 आर्चबिशप, 80 विचारक तथा कही मर्याद में अन्य धर्माधिकारी और हजारे, मेयर, लेन, स्टेनड्रेनेविया तथा स्कैटलैण्ड को छोड़कर अन्य सभी यूरोपीय राज्यों के हुए एकत्र हुए । बुलान और सत्ता के अधिकारी चर्च का इस परिषद् में कोई प्रतिनिधित्व नहीं था । परिषद् के सामने प्रमुखतम समस्या पीसा की स्थिति की थी क्योंकि इस समय यूरोप में दो पीसा थे—प्राच्य, रोम में और द्वितीय, एक्सोन में । परिषद् ने सर्वप्रथम ही स्पष्ट की ईसाई धर्म की सर्वोच्च ईशानिक प्रति घोषित किया और तत्पश्चात् दोनों प्रतिद्वन्दी दोनों बैनेडिक्ट और जेनरी को परिषद् के सामने उपस्थित होने का सम्मेलन भेजा । जब दोनों पीसा उपस्थित नहीं हुए तो परिषद् ने उन्हें सफार करने उनके । तब पर

ब्रिटेन के काउन्सिल की शीघ्र निर्वाचित किया गया। उसे शीघ्र एलेक्जेंडर चतुर्थ का नाम दिया। परिषद् ने निर्णय किया कि 1412 के पूर्व ही यह नया शीघ्र सामान्य परिषद् का सम्मेलन आयोजित करे।

शीघ्र की परिषद् वर्ष की पूरा करना करने के लिए आयोजित हुई थी, पर परिणाम उलट निकला। चूंकि दोनों शीघ्रों ने स्वेन्हाटुर्विक इटने के इन्कार कर दिया और चतुर्थ परिषद् ने एक नया शीघ्र चुन लिया, अतः मूल दो के स्थान पर तीन शीघ्र हो गए और ईसाई सभ में तीन गुट बन गए। परिषद् के निर्णयों ने सिविल को और भी अधिक उत्तम बना दिया। शीघ्र एलेक्जेंडर चतुर्थ की 1410 में मृत्यु हो गई और उसके उत्तराधिकारी जॉन हेईलैंड ने परिषद् की बैठक आयोजित करने में जान-बूझकर हाथमरोज की।

(2) काउन्सिल की परिषद् (The Council of Constantine)—परिषदीय सिद्धान्त यूरॉप में व्यापक स्वरूप में प्राप्त कर चुका था, अतः इसके एक बहुत ही प्रभावशाली प्रतिपादक जॉन गेरार्ड (John Gerard) ने समस्या के समाधानार्थ एक दूसरी एवं अधिक प्रतिनिधि परिषद् बुलाने पर कल दिया। परिणामतः काउन्सिल काउन्सिल सिविलिज्ड (Synodum) द्वारा आयोजित की गई। इसके आयोजित करने में शीघ्र जॉन हेईलैंड की भी सलाह थी। परिषद् की कार्यवाही सन् 1414 के सितंबर 1418 तक चलती रही। इसने न केवल सिद्धान्त एवं उच्च कोटि के पादरी उपस्थित के शक्ति आधारित पादरियों के प्रतिनिधि भी भाग लेने भाग्य में; राजाओं के प्रतिनिधि भी मौजूद थे। इस परिषद् की आयोजित करने के प्रमुख उद्देश्य थे—
(1) शीघ्र से सम्मेलित वर्ष के विच्छेद का अन्त करना, (2) धर्महीनता को समाप्त करना, एवं (3) धर्म में सुधार करना।

काउन्सिल परिषद् ने सम्भव 3,000 प्रतिनिधि एकत्र हुए जिनमें तीनों शीघ्रों के प्रतिनिधि, 29 काउन्सिल, 22 कार्डिनल, 150 बिशप, 100 महापौर, 300 धर्मशास्त्री, 26 राजा, 140 कुलीन जमींदार और 26 विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधि तथा 4,000 दुरोहित थे। शीघ्र जॉन इस परिषद् में अपने एक के साथ आता था किन्तु अपने स्वयं की और दुष्टचारों की शीघ्र लाने जाने के भय से यह वेष्ट बदल कर मार्च, 1415 में भाग लेता हुआ। उसने यह घोषणा की कि उसे मारने की धमकी देकर यह परिषद् बुलाई गई है, यह इसे स्वीकार नहीं कर सकता।

गुट की समाप्ति करने के लिए परिषद् की शीघ्रवादी पर अपनी प्रभुता स्थापना आवश्यक थी। इसलिए परिषद्वादीयों के सम्पूर्ण प्रयत्न का ध्येय यह सिद्ध करना हो गया कि धर्म शक्ति की प्रभुता का स्वामी शीघ्र नहीं बल्कि सामान्य परिषद् थी क्योंकि वही समस्त ईसाइयों की सच्ची परिषद् थी। अन्त में शीघ्रवाद-विवाद के बाद 1415 ई. में यह निष्कर्ष प्रत्यक्ष जारी किया गया जिसे रोमन बिशप ने 'विश्व के इतिहास में सबसे अधिक अन्तिमकारी अधिकृत दस्तावेज' कहकर पुनरावृत्ति है। इस दस्तावेज में निम्नलिखित सिद्धान्त अंकित किया गया—

"यह परिषद् सर्वोच्च वर्ष की प्रभुता है। इसे अपनी शक्ति सीधे ईसा से प्राप्त हुई है। अतः इसमें कोई भी तत्त्व यह और शीघ्रों के बीच भी शीघ्र शीघ्र

जर्म, संघ-वेद के निवारण और जर्म के सुधारों के सम्बन्ध में उसके आदेशों को मानने के लिए बाध्य है।”

स्पष्ट है कि सांख्यिक क्षेत्र में परिपद् को पीप के उच्चतर माना गया और यह सिद्ध किया गया कि चर्ब का एक कार्बोहाइड्रेट प्रधान होने के नाते पीप जमाव का एक अधिकृत अविकसित भाग था, उसका प्रमुखगुण स्वामी नहीं है। ईसा के दस शतको से, "जहाँ दो या तीन भेरे नाम में एकीकृत होते हैं, तो मैं भी उसके बीच में होता हूँ", यह धारणा दिया गया कि परिपद् पीप की अपेक्षा उच्चतर है। यतः पीप को परिपद् के अनुशासन में रखा चाहिए। इसके साथ ही प्रकृति, 1417 ई. में परिपद् ने एक अन्य प्रत्यादेश जारी किया जिसका उद्देश्य यह था कि परिपद् को बंडर नियमित रूप से प्रत्येक 10वें वर्ष होनी चाहिए और पीप को उसके स्वयं तथा स्वयं परिदृश्य का अधिकार नहीं होना चाहिए। यदि यह प्रत्यादेश कोर्तित किया गया होता तो चर्ब में एक सांख्यिक शासन की स्थापना हो जाती और पीप पर परिपद् का नियमित नियन्त्रण हो जाता।

1413 ई. के घपने प्रत्यादेश के बाद चर्च की गूट को समाप्त करने के लिए परिषद् ने पौन पौन डेढ़-दोहों को स्वागमन देने का आदेश दिया। जब कोई कतर नहीं मिला तो 34 पौन सवाकर उसे 29 मई, 1415 को अन्तर्गत कर दिया गया। इस तरह चर्च यूरोप के दो पौन गूट गूट। बाद में वेमरी के इस चर्च पर घपना स्वागमन देना स्वीकार किया कि इसे पौन के रूप में इस परिषद् को पुनः आमन्त्रित करने का अधिकार दिया जाए। 4 जुलाई, 1415 को इस तरह आमन्त्रित की गई परिषद् ने उसके स्वागमन को स्वीकार कर लिया। जब डीकरा पौन वेनेटिक डेक्कन के अन्तर्गत होने की राखी नहीं हुआ तो 26 जुलाई, 1417 को परिषद् द्वारा उसे अन्तर्गत कर दिया गया। चर्च परिषद् ने मार्लिन पंचम् नामक पौन का निर्वाचन किया। इस तरह यूरोप में पुनः एक बीच पौन पञ्चमीन हुआ। चर्च की गूट गूट का अन्त दोहो ही काल्पनिक की परिषद् का भी अन्त हो गया।

यद्यपि यह परिणाम चर्च की एकता को पुनः स्थापित करने में सफल हुई किंतु चर्च के मुद्दा-निर्धारण अपने अन्तर्गत की प्रार्थना नहीं कर सकी । इसका प्रमुख कारण यह था कि चर्च-सम्मेलन में सामूल-मूल परिचर्चा करने एवं बीच की प्रवृत्तियों को समाप्त करने के प्रयत्न पर सामान्य एकता का अभाव था । परिणाम में जब विवादों पर वोट प्रतिष्ठा, नहीं दिए जाते थे, वस्तुतः फ्रेंच, इटालियन, इंग्लिश और जर्मन—इन चार राष्ट्रीय वर्गों के आधार पर दिए जाते थे । एक-निर्वाचित बीच वार्षिक सम्मेलन के एक मुख्य राजनीतिक विभागी की तरह इन राष्ट्रीय के मतधरों का पूरा साथ उद्घाटन, अपने अन्तर्गत अपने कर कोई सर्वसम्मत निर्णय नहीं होने दिया । अपने सभी के साथ समान-समान स्थिति और समझौते कर लिए तथा परिणाम द्वारा प्रस्तावित मुद्दों को प्रभाव-मूल्य बना दिया । सम्मेलन 2 अक्टूबर, 1918 ई. को मुद्दा के प्रतिष्ठित प्रश्न का बिना हल किए ही कॉन्फरेन्स परिणाम बना ही गई । बीच सम्मेलन चर्च का सम्मेलन बन गई और चर्च के बीच नवी के रसों देने रहे । फिर भी परिणाम

का राजनीतिक चिन्तन पर अत्यन्त ही काफी प्रभाव पड़ा। इस परिपद् ने चतुर्थी बार विपुल राजनीति के क्षेत्रों को बड़े पैमाने पर प्रदर्शित किया। इस परिपद् द्वारा वैधानिक शासन के विचार यूरोप द्वारा स्वीकृत हुए। इसके द्वारा राजनीति-शास्त्र में ऐसी पद्धति का प्रतिपादन हुआ जिसने राजाओं के अधिकारों की रक्षा करते हुए जनता को उसकी स्वतन्त्रताएँ प्रदान करा दी।—इसने भावी पीढ़ियों के वैधानिक गुणों का मार्ग प्रशस्त किया।¹

(3) बेसिल की परिषद् (The Council of Basel)—कॉन्स्टेन्स की परिषद् के निर्णय तथा राजाओं एवं जनता का हवाला करने पर चौर साइन पत्र पर देखा (Pacta) ने तीसरी परिषद् की बैठक जुलाई। वहीं महामारी फैली हुई थी, यद्यः परिषद् की चतुर्थी बैठक सीना (Siena) में हुई। सम्मेलन की प्रतिनिधित्व काल के लिए स्थापित करने के बीच के प्रकल्पों को संतोषकार करते हुए प्रतिनिधियों द्वारा यह तय किया गया कि परिषद् का सर्वोच्च अधिकार बेसिल में होगा। इन् 1431 में बेसिल की परिषद् का अधिवेशन शुरू हुआ। इस समय साइन पत्र के स्थान पर यूरोप चतुर्थ (Edward IV) बीच के पद पर शाहीन था। परिषद् की बैठक ने भाग लेने के लिए केवल 15 प्रिसेट (Prælate) भाए। यद्यः परिषद् के नवावधि विचारों ने उसे स्थापित करना चाहा। किन्तु परिषद् तैयार नहीं हुई। परिषद् द्वारा बीच को यह प्रकल्प दी गई कि तीन माह के अन्दर परिषद् के समक्ष उसके उपस्थित न होने पर ईसाई तप की चलाने के लिए अन्य व्यवस्था की जाएगी। यद्यः वे बीच की उपस्थित होना ही चाह, यद्यपि उन्होने यह स्वीकार करने के अन्तर् कर दिया कि परिषद् का स्थान उसमें श्रेष्ठ था।

बेसिल की परिषद् विरुद्ध-चतुर्थी लगभग 17 वर्ष बाद 1448 ई. तक चलती रही। 1432 ई. में इस परिषद् द्वारा कॉन्स्टेन्स परिषद् को अन्तर्, 1415 ई. वाली साइन की फिर से बिकलाया गया और यह घोषित किया गया कि परिषद् की अन्तर् शक्ति सीधे ईसा से प्राप्त हुई है, यद्यः बीच एवं अन्य प्रान्त अन्तर् उसके प्रादेशों की मानने के लिए बाध्य हैं। यह काफी उप कार्यवाही थी। कुछ समय के लिए ऐसा दिखाई दिया कि परिषद् अपने में वैधानिक शासन माने में सफल होगी, किन्तु अन्त में इसे निष्फलता ही प्राप्त हुई।

बेसिल की परिषद् ने बीच के अधिकारों को सीमित करने के प्रयत्न पर विचार किया। इस पर विचारों तथा निकोलस मॉन्टे स्मूरा अपने प्रत्यक्ष ही कह। उन्तर बीच ने अपने अन्तर् के लिए यूरोप के राजाओं के अन्तर् की। इस समय बीच के पास पूर्वी चर्चों के प्रतिनिधियों का एक घोषा कि सम्मेलन ऐसे स्थान पर किया जाए जहाँ पूर्वी ईसाई के बीच मुख्यतापूर्वक पहुँच सकें। इस प्रयत्न पर अन्तर् ही राजा और बीच ने अन्तर्-चर्चों का साथ देकर सम्मेलन का स्थान बदल कर चरेरा (Niracra) कर दिया। 1236 ई. में चरेरा में की दूसरा अधिवेशन मूलान

यथा उसने पूर्वी और पश्चिमी वर्षों का संयुक्तिकरण कर दिया गया। साथ ही सम्मेलन ने बहुमत द्वारा किसी दस्तावेज को पास करने का निश्चय भी लिया गया। इसने सम्मेलन की तीन वर्षों से बोझ हटा। एक वर्ष में राजमत्ता तथा बिड़ानी के प्रतिनिधित्व से यह। दूसरे से विधान, चौथे विधान एवं कठिनता तथा तीसरे से विरोध एवं एकरूप से यह। यदि दो वर्ष किसी बात की स्वीकार कर लेते तो यह परिषद् का निर्णय माना जाता था। तीसरे वर्षों के सम्मुख चलन-चलन तीन रतने की प्रथा को अपनाया गया। 1439 ई. में परिषद् ने पोष की सर्वोच्चता के आरोप पर पदच्युत कर दिया और यह पोष का निर्वाचन किया दिये सूचीय के राजाओं ने स्वीकार नहीं किया। अन्ततः परिषद् जने-वर्षों विघटित हो गई। पोष की विनयि वर्षों की लगे कठिनायों वर्षों रही और परिषदीय आन्दोलन का अन्त हो गया।

आन्दोलन की असफलता

(The Failure of the Movement)

समय 50 वर्ष तक चलने वाला परिषदीय आन्दोलन मुख्यतः निम्नलिखित कारणों से असफल हुआ—

(1) आन्दोलन का मुकाबला पोषवादी के था, अतः यह आवश्यक था कि इस आन्दोलन के नेता पोषवादी के नेताओं की तुलना में अक्षम, लक्ष्मीय, व्यावहारिक एवं कुशल होते, किन्तु ऐसा न होने से यह आन्दोलन जने-वर्षों, शीघ्र फलता गया।

(2) ऐतिहासिक परिषद् ने यह सिद्ध कर दिया कि यह वर्षों का दमन करने में अक्षम थी। यह राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा और ईश का विचार बन गई। इस तरह वह अधिकारियों के समक्ष हिंसे पर सहनशीलपूर्वक मान्यता नहीं कर सकी। पोष 'बूढ़े राजाओं और शासन करो' के सिद्धान्त से लाभ उठाता रहा।

(3) परिषदीय आन्दोलन वैयक्तिक अधिक था, अतः इसे सर्वसाधारण का आवश्यक सहयोग नहीं मिल सका। आम जनता ने इसे आन्दोलन के रूप में नहीं देखा।

(4) परिषदीय आन्दोलन ऐसे वर्षों का सर्वोच्च अन्तर्गत आदृत था जो सम्पूर्ण सूक्ष्म में फैला हुआ था। अन्ततः सूक्ष्म के लिए वर्षों का सर्वोच्च केवल आन्दोलनीय सहयोग तथा केल-मिलान के ही संसार किया जा सकता था। उसके लिए राजावरण की आवश्यकता थी जिससे सर्वोच्च, सहमति और सावधान्य हो। लेकिन उस समय राष्ट्रीय एवं स्थानीय भावनाओं का जोर था। वर्षों की परिषदीय, विरोधकर कार्यवाही की परिषद् का राजावरण उस रूप से राष्ट्रीय था। राष्ट्रीय भावनाओं के कारण वर्षों की परिषद् पारम्परिक सहयोग से कार्य नहीं कर सकी। परिषदीय आन्दोलन वर्षों का सफल व्यवहार्य आधार पर वर्षों के निर्मित वर्षों की अन्ततः राष्ट्रीय मान्यता प्रदान करके उदय पा रहा था। राष्ट्रीयता की ये आवश्यकता वैयक्तिक कार्यवाही में बड़ी आवश्यक थी।

(5) परिषदीय आन्दोलन का उद्देश्य वर्षों की संवत्सरक आधार पर सर्वोच्च करना था, परन्तु पोष के बद की गवाह कि वह बिना अपने सफलता मिलना

सम्भव न था। चीन को यह धान्योत्पन्न नहीं से हुआ नहीं तथा चीन यह वर्गीकरणकारियों से मिलकर धान्योत्पन्न की शक्ति की ओरुता रहा जिहने अन्ततः परिपटीय धान्योत्पन्न की हो समाधि कर दी।

(6) धान्योत्पन्न का मुख्य उद्देश्य चीन की स्थिति की व्याख्या करना था। जैसे ही यह कार्य समाप्त हो गया, जैसे ही धान्योत्पन्न के नेताओं की छवि भी समाप्त हो गई। इङ्ग्लैन्ड और चीन इस अन्तराष्ट्रीय धान को छोड़कर अपनी राष्ट्रीय समस्याओं में लग गए। यूरोप में अन्य राज्यों के सामने भी उस समय अनेक वर्षों की समस्याएँ थी जिन्हें वे पहले सुनभाना चाहते थे।

(7) प्रो. कुक का विश्वास है कि परिपटीय धान्योत्पन्न के नेताओं के पूर्व-पूर्व कर कदम रखने और उनकी सम्भवशक्ति का भी इस धान्योत्पन्न की निष्पत्ता में बड़ा हाथ रहा। उनकी धारणिक सम्पत्ति ने उन्हें सहायी बना दिया।

(8) परिपटीय धान्योत्पन्न के सम्पर्कों ने किसी नीतिकला का परिचय नहीं दिया। उनके विचार माहौलियों और वित्तियम के भुराए हुए थे। परिश्रान्तः धान्योत्पन्नकर्ताओं के विचार प्रभाव और इष्टित्वोत्पन्न की व्यापकता नहीं ला सके।

(9) बेहिस की परिपद के मन होने के बाद परिपटीय धान्योत्पन्न का महान् नेता लिओनल चीन से मिल गया और तब चीन को छोड़कर अन्य राज्यों के साक्ष्यों के बीच से सन्धि कर लेना ही योयस्कर सम्पत्ति। इस कारण उन्हें कुछ रिपार्समें किसी और जगह में उन्होंने चीन की निरकुशता का विरोध करना छोड़ दिया।

(10) यह धान्योत्पन्न एक निवेष्टित रूप के रूप में था जबकि चीन समस्त शक्ति की वर्ष के केन्द्रित करके निरकुशतम्भ स्थापित करना चाहता था। इस धान्योत्पन्न में चीन के स्वतन्त्र की जीवित रहा। एक बार जब धान्योत्पन्न ने उसके प्रतिपक्ष की स्वीकार कर लिया तो चीन के पीछे निपट चीन की उपस्थित नीकरवाड़ी के धान्योत्पन्न के उन समान प्रचाली को विफल कर दिया जिनके द्वारा यह चीन की सत्ता को कम करना चाहता था। सम्पर्क के बीच की विषय हुई जिसका वर्ष या परिपटीय धान्योत्पन्न की वृत्तु तथा निरकुशता, केन्द्रीयवाद एवं नीकरवाड़ी की जीत।

(11) अन्त में, चीन की शक्ति की परम्परा नहीं बढ़ी और कुछ थी। परिपटीय धान्योत्पन्न की परिपटी केवल यदा-कदा ही सम्पन्न होती थी जबकि चीन सर्वत्र मौजूद रहता था। परिपटी के बादें और नीति की कोई एकता नहीं थी, जबकि चीन एक था और परिपटी के बनाए हुए नियमों को नियमित करने में उसके साम एक-विध के महान् शक्ति थी।

धान्योत्पन्न का महत्त्व

(The Importance of the Movement)

- यद्यपि परिपटीय धान्योत्पन्न चीन की निरकुशता का कम करने और संपादिक धान्योत्पन्न की स्थापना करने में सफल न हो सके, तथापि यह पूर्ण रूप से निष्पन्न नहीं रहा। यह धान्योत्पन्न निरकुशता के सम्बन्धितवाद के समय ऐसा प्रथम प्रयत्न

निष्ठ हुआ जिसने भविष्य में ऐसे विचारों को जन्म दिया जिनका निरनुस राजा और अराजा के मध्यवर्ती संघर्ष में अत्यन्त प्रयोग किया गया। सेवान के शब्दों में, "चर्च के विवाद ने ही सबसे पहले निरनुस एवं साम्यवादीक नगराज के मध्य निर्णय होने वाले प्रश्न की स्पष्टता निर्धारित की, एवं उस विचार-धारा का प्रसार किया जो निरनुसवाद के निष्ठ प्रमुख धारण बना। प्रभु के संघी अधिकार एवं समाज की अनुसारा-सोनी ही लौकिक शासन को प्राप्त हुई।"¹

आन्दोलन ने श्रमों में सुधारवादी आन्दोलन का सुवर्ण कर दिया। इनके स्पष्ट कर दिया कि कोई भी व्यक्ति समाज का हित किए बिना अपने पद पर नहीं रह सकता, चाहे वह राजसत्ता का अधिकारी हो या सर्व-सत्ता का। आन्दोलन ने जनता को सारी सत्ता का समित्व होत माना और निरनुस सत्ता के विरोध एवं निरनुस शासन की परम्परा को रोक ठहराया। सन् 1688 ई. की ग्रेट-रिबेट की घोषणा के बाद 1789 ई. की फ्राँस राज-क्रान्ति के बीच इस आन्दोलन में निहित थे। इस आन्दोलन ने वह भी सत्ता दिया कि ईश्वर का प्रत्यक्ष रूप समाज में निहित है।

परिषदीय आन्दोलन शेष को अपने धर्मों नहीं कर मना किन्तु इसने यह प्रमाणित कर दिया कि चर्च शेष में ऊँचा है तथा चर्च का प्रमाणन शेष के द्वारा न होकर सत्ता द्वारा होना चाहिए। इस आन्दोलन ने चर्च के लिए एक प्रतिनिधित्वपूर्ण शासन की माँग की। यह कि आन्दोलन के अन्त में शेष की विचार हुई किन्तु भविष्य के लिए शेष शासन हो गए। वे समझ गए कि उन्हें अपनी शक्ति का प्रयोग इस तरह नहीं करना चाहिए जिससे चर्च का अधिक हो। आन्दोलन का एक दूसरा परिणाम यह हुआ कि शेष की विधायिकी शक्ति सर्व-सत्ता, समाज हो गई और उनका मुख्य कार्य शासन का प्रबन्ध करना मात्र रह गया।

परिषदीय आन्दोलन द्वारा चर्च के राष्ट्रीयकरण के लिए प्रयत्न शुरू हुए जिसका प्रथम सुवर्ण इंग्लैण्ड में हुआ। इस राष्ट्रीय चर्चों का विकास प्रारम्भ हुआ। इंग्लैण्ड, जर्मनी, स्विट्जरलैण्ड, हॉलैण्ड आदि में स्थापित होने वाले राष्ट्रीय चर्चों की स्थापना से राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति स्पष्ट हुई।

आन्दोलन की विफलता ने मन-सुधार आन्दोलन के जन्म में-सहयोग दिया। चर्च की सुधारों का प्रयोग करने में इसके अग्रणी रहने में ही चर्च-सुधार आन्दोलन के जन पैदा और 16वीं शताब्दी में लुवर तथा कैपिटल का आविर्भाव हुआ।

परिषदीय आन्दोलन ने राज्य सम्बन्धी अनेक समस्याओं को अपने आधुनिक रूप में उठाया। इसने वह विचार दिया कि कानून का सर्व सहायक है। इनके अनुसार कि "समस्त शक्ति एक शरीर है, सरकारों शक्ति अपने उद्देश्य में सीमित है, एवं शासनकर्ता परिषदों का सर्व एक उचित आधार है।" परिषदीय आन्दोलन ने प्राकृतिक अधिकारों की भावना पर जन हित और उनी भावना पर लोक

36.2 मानवज्ञान राजनीतिक विचारों का इतिहास

कन्वेंशन का निदानार्थ निर्भर करता है। मान्दोलन में दृढ़ बात पर जोर दिया गया कि धर्मसत्ता अथवा राजसत्ता के कार्य किसी अपरिवर्तनीय ईश्वरी सिद्धान्त पर आधारित नहीं है, बल्कि मानव कन्वेंशन के लिए है और अनुभव और विवेक के आधार पर उनमें मजबूत तथा परिवर्तन किए जा सकते हैं। इस प्रकार के विचारों में लोक परमाणुकारी सिद्धान्त का बल बना।

परिपटीय मान्दोलन के अन्त के साथ-साथ सम्बन्ध का भी अन्त हुआ और इसके बाद दूसरा युग आरम्भ हुआ। यह मान्दोलन वास्तव में जितना धार्मिक मान्दोलन नहीं था उतना राजनीतिक था। इस मान्दोलन में राजनीतिक विचारों की दृष्टि अधिक दृढ़, साफ़-सुथरी ने धर्म के नाम पर राजनीति का रोग फैला और पूरी की अन्त में निजम हुई। चाहे यह राजनीति रोग की रही अथवा उनके विरोधी पक्ष की। 'धर्म पर राजनीति की निजम' की हम परिपटीय मान्दोलन का एक महत्वपूर्ण परिणाम मान सकते हैं जिसमें अन्त युग के सम्पूर्ण चिन्तन और व्यवहार का नई दिशा में मोड़ दिया।

परिपटीय मान्दोलन के प्रमुख विचारक (Main Thinkers of the Movement)

जॉन वाइक्लिफ (John Wycliff)

इंग्लैण्ड में बोर्डोकायर जिले में उत्पन्न जॉन वाइक्लिफ (1320-1384) उनमें से ही धार्मिक प्रवृत्ति का था। अपनी योग्यता और अपने वास्तविक ज्ञान से उसका विश्वविद्यालय के अधिकारियों की प्रभावित किया और उसे प्राध्यापक नियुक्त कर दिया गया। धार्मिक सम्बन्ध के मान-भाव जॉन वाइक्लिफ का पोषण के निम्नांक करता था। उसने रोग का विरोध करना आरम्भ किया और फलतः 1382 में उसे धर्म-व्यतिक्रम कर दिया गया। वाइक्लिफ की समस्त रचनाएँ धर्म में भ्रोक की गईं। इस सबके को वाइक्लिफ वर्णित व कर सका और 1384 में उसके से उसकी मृत्यु हो गई। वाइक्लिफ के विचारों को 'वाइक्लिफ कीतादी' व सार्वजनिक किया जिसमें में रचनाएँ विधेय प्रसिद्ध हैं—

- (1) डी डोमिनियो (De Domino)
- (2) डी सिविली डोमिनियो (De Civilis Domino)
- (3) डी ऑफिसियो रेगिस (De Officio Regis)

वाइक्लिफ धार्मिक सक्ति का पोषक था। उसे परिपटीय मान्दोलन का मार्गदर्शक और मार्गदर्शक की सुधारवादी मान्दोलन का वाइक्लिफ नहीं था करता है। वाइक्लिफ की चिन्तनधारा और सुधारवादी नेताओं की चिन्तनधारा में कोई सीमाएं अन्तर नहीं था। दोनों में किसी में भी वाइक्लिफ के विचार अपने अन्तिम का साया नहीं गया। जहाँ वाइक्लिफ चाहता था कि धर्म में व्याप्त अन्धकार समाप्त हो और धर्म योग्यता के अन्तर्गत में मुक्त हो। उसकी इच्छा थी कि धर्म धर्म में आधुनिक विचारों की ओर लौट आएँ तथा धर्म में प्रवेश कर गए नवोद्भूत सिद्धान्तों का अन्तर्गत निवास दिया जाए। उसने यह भी अनुभव दिया कि

एक नवीन समाज का निर्माण और एक नई व्यवस्था की स्थापना राष्ट्रीय सत्ता द्वारा ही सम्भव है। पौरतन्त्र और राज्य के बीच संबंधों-संबन्धी शक्तियों की उत्पत्ति और आदि के बारे में सचई प्रभावशालक, सामाजिक और तर्कहीन है।

बाइबिलिक ने राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तनों को सम्भव बनाने की दृष्टि में एक नए सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। राजनीतिक सिद्धान्त के क्षेत्र में उसने 'साहित्य के सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया जिसमें उसने सामन्ती व्यवस्था के नष्टों पर आधारित एक आदर्श राजनीतिक योजना प्रस्तुत की। उसने कहा कि साहित्य और सेवा मनुष्य को ईश्वर से जोड़ने वाली असीर के दो सिरे हैं। ईश्वर का साक्षिण्य सर्वोपरि है जिसका प्रयोग उसके द्वारा स्वयं प्रत्यक्ष रूप में किया जाता है। बाइबिलिक ने अपने सिद्धान्त में एक पुरोहित और साधारण व्यक्ति को ईश्वर की दृष्टि में एक जैसा स्थान प्रदान किया। उसने ईश्वर की चर्च और राज्य दोनों का सर्वोपरि और प्रत्यक्ष स्वाधीन बतलाते हुए कहा कि सभी प्रकार की सत्ताएँ ईश्वर से प्राप्त होती हैं। वेब और राजा दोनों का कर्तव्य है कि वे ईश्वर के प्रति समान रूप में भद्रा रहें। सामन्ती सिद्धान्त के अनुसार यदि एक परोक्ष है और वेब तथा राजा दोनों को यह साहसकर बतला चाहिए कि वे उसी ईश्वर के प्रति उत्तरदायी हैं। भू-दास पर कोई सत्ता अस्तित्व नहीं है क्योंकि सत्ताओं का श्रोत ही वह ईश्वर है।

एक विचार है कि चर्च और राज्य दोनों ही सीधे ईश्वर से प्राप्त प्रदान की हैं, बाइबिलिक ने वेब की सर्वोच्चता के सिद्धान्त का विशेष विचार और कहा कि वेब तथा चर्च के अधिकारियों को राजनीतिक सत्ता का प्रयोग करने का कोई अधिकार नहीं है। प्रत्येक सत्ता अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र है और किसी को भी दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। चर्च सामाजिक प्रतिष्ठान है, जब उसे बाह्य जीवन के कार्य में भाग नहीं लेना चाहिए। बाइबिलिक के इन विचारों ने इंग्लैण्ड तथा अन्य देशों में वेबतन्त्र के विरुद्ध राजतन्त्र की प्रतिक्रिया उत्पन्न करने में बड़ी महत्त्वपूर्ण थी। बाइबिलिक ने यह भी कहा कि राजतन्त्र भी ईश्वरीय सत्ता का ही अंग है जब वह वैध है और यदि लोग अनिष्टपूर्ण व्यवहार करते हैं तो राजतन्त्र कुछ और मान्य हो स्थापना करने लायी है। मनुष्य लायी है और राज्य उसके लिए मुक्ति का काम प्रस्तुत करने वाला साधन है। जो ईश्वर से आस्था रखता है उसके लिए राजतन्त्र कभी बाधक नहीं हो सकती और यदि बाधक होती है तो यह मानना चाहिए कि वह राज्य नहीं है और इस निष्पत्ति में उसे सही रूप में राज्य बनाने का प्रयत्न करना उपयुक्त है। प्रत्येक सत्ताकारी ईश्वर का प्रतिनिधि है, जब सत्ता का प्रयोग मानव-व्यवस्था के लिए ही किया जा सकता है। बाइबिलिक ने विश्व प्रमाण वेब की निरंकुशता का विशेष विचार उन्नी प्रकार व्याख्यायी राजतन्त्र के विरुद्ध भी करने विचार व्यक्त किए। उसने कहा कि किसी भी निरंकुश प्रणाली व्याख्यायी बाधक या असाक्षिण्य को लोक-व्यवस्था के विरुद्ध राजतन्त्र के प्रयोग का अधिकार नहीं है और यदि यह देखा जाता है तो उसे निष्पत्ति करना अनिवार्य

जॉन बर्नार्ड पोप को एक धर्मविचारों मानते हुए उनके अधिकार क्षेत्र को परिपक्व द्वारा निर्मित कानूनों से सीमित करना चाहता था। उसकी मान्यता थी कि पोप कानूनों में किसी प्रकार का परिवर्तन, संशोधन या नया परिवर्तन कर सकता था। पोप की शक्ति को परिपक्व के सम्मेलन सीमित करते हुए भी अपने इस सम्मेलन में सहायता से काम लिया था। उसने अपने की सर्वोच्च अधिकारिता की दो और बातें की पोप की परम्परागत शक्ति पर कोई विरोध प्रभाव भी नहीं पहुँचाया। पोप पूर्ववत् शासन का मुख्य अधिकारी बना रहा और महत्त्वपूर्ण विषयों में विनाश विरोधात्मक शक्तियाँ भी उसके हाथ में बनी रहीं।

बर्नार्ड के अनुसार राज्य के द्वितीय से साक्षात् की शक्ति का भी विशेष किया जा सकता था। उसका यह भी मत था कि लौकिक शासक किसी भी प्रकार अपने की सामान्य परिपक्व की बुद्धि समझता था जो पोप के बारे में निर्णय दे सकती थी और आनुवंशिक व ईश्वरीय नियमों के तहत करने पर उसे पराधीन कर सकती थी। यह दोष और सभ्यता के अधिकारों का विविध सीमाओं के भीतर रहना चाहता था और साथ ही जनता की स्वतन्त्रता की भी रक्षा करना चाहता था।

जॉन बर्नार्ड का, परिपक्व शासकीय के प्रमुख नेता के रूप में, कॉन्स्टेंट की परिपक्व का बड़ा प्रभाव था। इन परिपक्व की भावनाओं में प्रतिपादित सर्वत्र के विचारों ने सबसे यूरोप में मध्यकालिक सरकार के सिद्धान्त का प्रचार किया और परन्तु गुप्तरी के लिए मार्ग तैयार किया।

निकोलस ऑफ क्यूसा (Nicholas of Cusa)

निकोलस का जन्म 1400 ई के लगभग जर्मनी में बहुतना नामक स्थान पर हुआ था। वह परिपक्व शासकीय का एक बहुत ही प्रमुख नेता था। बेसिल की परिपक्व पर, जिसकी बैठकें 1431 से 1448 तक चलती रहीं, निकोलस की जनसंघीय भावनाओं का विशेष प्रभाव पड़ा था। वह अपने यूरोप के विभिन्न देशों में पोप के सम्मेलनार्थक के रूप में कार्य कर चुका था, किन्तु उनके ईसाई मत के गुप्तरी के रूप में सर्वप्रथम जीवन का वास्तविक आरम्भ बेसिल की परिपक्व के द्वारा वह आत्मार्थ की बात है कि परिपक्व के सम्मेलन होने-दोने वह पुनः पोप का सर्वप्रथम मत था। इस महत्त्व विचारों की प्रारम्भ 1464 ई. में हुई।

निकोलस ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'De Concordantia Catholica' में बेसिल की परिपक्व के लिए सर्वत्र के भी अधिक आत्मिकता की प्रथम सीमित विचार प्रस्तुत किए। निकोलस के दो सिद्धान्त प्रमुख रूप में उल्लेखनीय हैं—बहुता सामन्त्यत्व या एकता (Concordantia) का एवं दूसरा जनता की समष्टि की अनन्त एवं भाग्य का भाग्य मानने का। उनके पहले सिद्धान्त के अनुसार विश्व की साम्प्रदायिक एवं भौतिक सभी वस्तुओं में एकता और सामन्त्यत्व विद्यमान है। वह विविधता के बीच की एकता की बात करता है। वह एक ऐसी कड़ी के अन्तर्गत का प्रयत्न करता है जो भौतिक एवं साम्प्रदायिक दोनों शक्तियों की एक साथ दिशा दे। निकोलस राज्य और चर्च के मध्य पूर्ण महत्त्व प्रस्तुत चाहता था क्योंकि समस्त मानवीय कार्य और व्यापार इन दो शक्तियों में ही व्यवस्थित हैं और इस दोनों के सभी कार्य एवं

ही। निकोलस के इन विचारों का स्वर यह है कि सम्पूर्ण सामन्य सहमति पर आधारित है। शासन का आधार व्यक्ति की स्वतन्त्रता है। निकोलस के ही शब्दों में—

प्रकृति की दृष्टि में सभी व्यक्ति स्वतन्त्र हैं। यदि किसी सत्ता द्वारा प्रत्याज्य बुराई करने में रोके जाते हैं और उन्हें यह दिखाया जाता है कि यदि वे बुराई नहीं करेंगे तो उनकी स्वतन्त्रता सीमित की जाएगी, तो यह सत्ता समरसता और प्रत्याज्यों की स्वीकृति से प्रसन्न होती है। यह सत्ता चाहे तो विविध विधि के रूप में और चाहे सखीय विधि के रूप में हो सकती है। यदि यह सखीय विधि के रूप में हो, तो इसका अधिकार शासक होता है। यदि प्रकृति की दृष्टि में सब व्यक्ति समान रूप से अधिकारों और सखीय रूप से स्वतन्त्र हैं, तो शासक में भी वरावर शक्ति है, तो एक व्यक्ति की दूसरे व्यक्तियों के ऊपर सत्ता दूसरे व्यक्तियों की स्वीकृति होने पर ही स्थापित हो सकती है।

निकोलस का विचार था कि सर्व का नैतिक सुधार योग की अवस्था स्थानीय परिषदों द्वारा अधिक सत्ता और सखीयता के साथ सम्पन्न हो सकता है। अतः वह सर्व की शक्ति के विकेन्द्रीकरण का समर्थन करते हुए योग की शक्ति की राष्ट्रीय सीमाओं के आधार पर विभिन्न राष्ट्रीय परिषदों में बाँट देना चाहता था। उनका विचार था कि राजाओं को सर्व सुधार के लिए राष्ट्रीय परिषदें चुननी चाहिए तथा सदस्यों एवं माध्यमों जनता के प्रतिनिधियों के सुधारों के विषय में परामर्श करना चाहिए। किन्तु यह यह नहीं चाहता था कि नैतिक शासक धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप करें। यह सर्व के समान ही सामान्य में भी प्रतिनिधि शासन की विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त को लागू करने के लक्ष्य में था। इनके सामान्य की 12 श्रेणियों में विभक्त करने का प्रस्ताव रखा जिसमें न्याय का प्रबन्धन अधिक रूप से हो सके। उसका कहना था कि सम्राट की एक खाई परिषद् के परामर्श से कार्य करना चाहिए। उसने सम्राट का यह कर्तव्य बताया कि वह पूर्ण एवं आन्तरिक समुदाय में ईश्वरी सर्व की रक्षा करे।

निकोलस द्वारा प्रतिपादित लोगों की समरसता, स्वतन्त्रता, सामान्य सहमति, जनता की प्रमुखता, प्रतिनिधि परिषदों द्वारा शासन, राष्ट्रीय आधार पर सत्ता के विकेन्द्रीकरण आदि सिद्धान्तों में बहुत कुछ समीपता थी। इन विचारों में इनके उसकी राजनीतिक सम्बद्धि, पुरुरता और नृसिम्हा के दर्शन होते हैं। रोमन विधिकानिष्ठों ने जनता की प्रमुखता की नैतिकता और व्यक्तिगत कानून के क्षेत्र तक ही सीमित रखा था, जबकि निकोलस ने इसे सामंजसिक कानून और राजनीति के क्षेत्र में भी लागू किया। किन्तु उसके ने विचार सर्वश्रेष्ठों के बहुत जाने के थे। इसलिए उसके युग में उन्हें अत्यन्त महत्व नहीं दिया जा सका। जब वेनिस की परिषद् ने इस विचारों और भनरी के कारण उसे अपने विचारों की व्यावहारिक रूप देना असम्भव प्रतीत हुआ तो वह निराश होकर युग योग के भाँतिता। उसे अस्वीकृत बना दिया गया और वह अन्तर्गत में योग की प्रमुखता का समर्थक हो गया।

पश्चात्काल इतिहास में कुछ विशेष घटनाएँ और घटनाक्रम ऐसे हैं जो उसके प्राचीन युग, माध्यम युग और आधुनिक युग को एक-दूसरे से जोड़ते हैं। साथ: 15वीं सताब्दी के साथ यूरोप के मध्य युग का अन्त और 16वीं सताब्दी से नवीन, अर्थात् आधुनिक युग का प्रारम्भ सम्भव होता है। इस युग के पहले और इस काल में अनेक ऐसी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटित हुईं जिन्हें नवीन युग की प्रवृत्ति का सम्बन्धकारी माना जाता है। इनमें से कुछ प्रमुख हैं—पुनर्जागरण, औद्योगिक, अनुसन्धान, सर्व-पुनार आन्दोलन, औद्योगिक क्रान्ति, आदि। यहाँ हमारा अन्तर्ध्व पुनर्जागरण की सम्बन्धना है।

पुनर्जागरण : अर्थ एवं परिभाषा

(Meaning & Definition of Renaissance)

जेम्स एडगर स्टीन ने लिखा है "पुनर्जागरण के ऐसे आधुनिक शब्द का बोध होता है जिसमें मध्यकाल की सत्ताशक्ति और आधुनिक काल के आरम्भ तक के ऐतिहासिक परिवर्तन का सम्बन्ध हो।" साहित्यिक दृष्टि से पुनर्जागरण का अर्थ है 'नूतन आगम' किन्तु आधुनिक दृष्टि से यह वह आन्दोलन या विचित्र प्रवृत्ति के जीवन और उसकी विचारधारा में नूतन परिवर्तन का अर्थ है। पर यह कोई राजनीतिक अथवा धार्मिक आन्दोलन नहीं था। यह तो मानव सभ्यता की एक सर्वोच्च विज्ञानात्मापूर्ण विपत्ति थी जिसके अन्तर्गत मध्यकालीन सम्प्रदायवादी विचारों के प्रति सप्रश्ना उत्पन्न हुई और सभ्यतागत उन सभी बातों का आलोचनात्मक दृष्टि से आधुनिक युग में विचारार्थ प्रवृत्ति है।

आधुनिक युग के इतिहासकारों ने पुनर्जागरण का अर्थ ऐतिहासिक आन्दोलन में रखा है। टॉमस जॉन्सन के अनुसार पुनर्जागरण नाम का अर्थ इटली के उन साहित्यिक परिवर्तनों से है, जो चौदहवीं सताब्दी में आरम्भ होकर 1600 ई तक अन्तर्गुप्त प्रवृत्ति में चल गए। सीमोन्ट के अनुसार पुनर्जागरण एक ऐसा आन्दोलन था जिसके अन्तर्गत सभ्यता के राष्ट्र मध्ययुग में निरुद्ध वर सर्वमान्य युग का विचार तथा जीवन की प्रवृत्तियों को प्रवृत्त करने लगे। ईश्वर के सम्बन्ध में पुनर्जागरण

राजनीतिक व्यवस्था धार्मिक मान्योलन न होकर मानव की एक निश्चित स्थिति को उजागर करता था । निकर्नेट ने इसे मनुष्य तथा सत्ता का प्रकटीकरण कहा है । अतः यह मनुष्य की सत्ताओं के धार्मिक मान्योलन की तरह बौद्धिक मान्योलन या अज्ञान यूरोप के धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक विकास से सम्बन्धित था ।

युनर्जगरण कोई ऐसी शक्ति नहीं थी जिसने मध्यकाल और आधुनिक काल का विभाजन कर दिया हो । युनर्जगरण की स्थिति किसी एक व्यक्ति, एक समय अथवा एक विश्वव्यापक के कारण थी नहीं बल्कि । यह तो वास्तव में उन सब महत्वपूर्ण सांस्कृतिक और बौद्धिक परिवर्तनों का आधुनिक संकेत है जो चौदहवीं शताब्दी से आरम्भ होकर 1680 ई. तक प्रायः सारे यूरोप में व्याप्त हो गई । इन शताब्दियों में चीरे-चीरे से सभी बातें, जिसका सम्बन्ध मध्यकाल से था, मिटने लगी गई । तथा के सभी बातें जो आधुनिक काल से सम्बन्ध थी, प्रकटित और विकसित होती गई । मध्य बौद्धिक जाति ने लोगों के मानवीयतात्मक और अन्वेषणात्मक प्रवृत्ति पैदा की । लोग प्रकटित विचारों और प्रथाओं को लक्ष्य की कसौटी पर कानून लगे । जीवन के बारे में लोगों के दृष्टिकोण में परिवर्तन आया और उनके दृष्टान्त साक्ष्य पैदा हो गया कि वे सर्वव्यापी कोपों को चुनौती देने लगे । इन शताब्दियों में सामन्तवाद का प्रभाव घीसा चर कर समाप्त हो गया । कुलीन वर्ग की प्रतिष्ठा बढ़ने-पड़ने लगी हो गई । सत्य-व्यवस्था स्थिर-स्थिर हो गयी, धर्म का प्रभाव क्षीण हो गया और विज्ञान, लोक, आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक की प्रवृत्ति जाग्रत हुई । ये सभी परिवर्तन चीरे-चीरे हुए और उन सबका परिणाम यह हुआ कि इतिहास के एक युग का अन्त होकर दूसरे का सुरुवात हुआ । चौदहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी में धर्म युनर्जगरण काल के दौरान यूरोपीय राजनीतिक चर्चा में अनेक दिशाओं में उभार पड़ी और सम्बन्ध तथा प्रवृत्ति के विभिन्न क्षेत्रों में व्यापक विकास का आरम्भ हुआ ।

युनर्जगरण की पृष्ठभूमि

(Background of Renaissance)

जैसा कि प्रो. डब ने कहा है कि युनर्जगरण का आरम्भ यूरोपीय इतिहास की कोई आकस्मिक घटना नहीं थी, बल्कि इसके कई पूर्वानुष्ठान पहले से विद्यमान थे । चौदहवीं शताब्दी से पहले की समय-समय पर वैज्ञानिक प्रथा आधुनिक मानसिक उत्थे, विचार और मनन के उदाहरण मिलते हैं । ऐसे अनेक अवसर पर नवीन विचार का प्राचीनता से कुछ न कुछ सम्बन्ध अवगत रहता था । युनर्जगरण से पूर्व इस तरह का संस्कार महत्वपूर्ण बौद्धिक मान्योलन कैथोलिकिज्म तथा आत्म से सम्बन्धित था । कैथोलिकिज्म युनर्जगरण से भी लोक-रोषण सम्बन्ध के लक्ष्य और प्रभाव निहित थे । परन्तु यह मान्योलन समयपूर्व पर । पाठ्य की कृष्ण के बाद यूरोप में युवा प्रवृत्ति का प्रकटार चल गया, यद्यपि कैथोलिकिज्म युनर्जगरण की पृष्ठभूमि किन्हीं कुछ समय के लिए यूरोपीय आत्म-विचार की मोहक बनाई रही । कुछ उदाहरण धर्मविचारविमल मान्योलन का दिया जा सकता है ।

कारणों तथा तैरहूँ कलाओं का यह मान्योपन धार्मिक से भी अधिक बौद्धिक, सामाजिक और साहित्यिक विचारों का उदाहरण था। बहुत सम्भव था कि यही से पुनर्जागरण का वास्तविक शुभारम्भ हो जाता, किन्तु आत्म-निर्भर, धर्मनिरपेक्ष और आधुनिकता से युक्त इस मान्योपन से बादरी बने अवस्थित हो उठा और इसे पुनरात्मिक बना दिया गया। तीसरा पुनर्जागरणपूर्व मान्योपन सम्राट जॉर्जिक द्वितीय (1212-50) के सम्बद्ध था। जॉर्जिक धार्मिक सर्वोपेक्षा का विरोधी और मानविक स्वतन्त्रता तथा आत्म-निर्भरता का, जो पुनर्जागरण के प्रमुख लक्षण थे, समर्थक था। एक शब्द में, यह आधुनिक, व्यक्तित्व था। यह अपने समय से कई शताब्दों आगे था। इसका कारण था कि उस पर पूर्व और आन्धारा धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्थाओं तथा ग्रीक-रोमन प्राचीनता का समान रूप से प्रभाव पड़ा। अपने अन्तर्गत तथा अभ्युदय के कई धर्मों का भेंटन में अनुवाद करवा, वेदस्थ विम्विद्यालय की स्थापना की और बाइबेलों स्थित अपने दरबार में अत्यधिक एनक्विरेसिप्स विद्याओं को आश्रय प्रदान किया। इस तरह उसके सरक्षण में शिक्षा से उस बौद्धिक एवं साहित्यिक वातावरण का गूहन हुआ जिसका पुनर्जागरण के युग में अनेक दशकियन वासकों ने अनुसरण किया। अस्तुतः ग्रीक-रोमन तथा धर्म नवकृति के जिस आलोचक से तैरहूँ कलाओं का यूरोप आलोचित हुआ, उसमें कई तरह जॉर्जिक द्वितीय की ही देन थे। जॉर्जिक द्वितीय की ही तरह यति ने भी पुनर्जागरण युग का पूर्वाभास किया था। यति सन्निधिपेरी का 1365 में फ्लोरेंस में जन्म हुआ था। सन् 1302 ई. में यहाँ से निर्वासन के बाद 1321 में नेपल्स में रहने लगे हुए। उनकी 'विद्यादान कविता' की 'मध्ययुगीनता का महाकाव्य' कहा गया है। यह मध्ययुगीन जीवन और निवारणारा का मूर्त रूप है। यति का धर्मशास्त्र मध्यकालीन धर्म का धर्मशास्त्र है, उसका दर्शन वेदाङ्गियों का दर्शन है और उसका विज्ञान समाजपरिधि है। अपने युग के अन्य लोगों की तरह यह जीवन का साधन के दृष्टि उद्गम में विश्वास करता है। मशाय उसे प्रभावित करते हैं और धर्मोद्देश से उसे निरुद्ध और भय है। अपने इन मध्यकालीन लक्षणों के बावजूद यह अपने यति नवयुग का महीला तथा पुनर्जागरण का समर्थक था। ग्रीक-रोमन प्राचीनता से उसकी दृष्टि थी। अतिस उत्तम आदर्श था, प्राचीन ईसाई धर्म विद्वत् साहित्य प्रेरणा का प्रमुख स्रोत था। अपनी आत्म-निर्भरता, तात्त्विक प्रवृत्ति और धर्मनिरपेक्ष व्यक्तित्व के कारण, यह मध्यकालीन से भी अधिक धर्मोपेक्ष प्रदान करता है।¹

पुनर्जागरण के कारण (Causes of Renaissance)

अपूर्वक कृष्णधर्म के धार्मिक पुनर्जागरण का कारण मध्य कारणों और परिस्थितियों के भी द्वारा—

1. सामंतवाद—मध्यकालीन पुनर्जागरण का प्रथम और प्रत्यक्ष कारण सामंतवाद के निहित था। अपने उदय के कुछ समय बाद सामंतवाद यूरोपीय जीवन की एक प्रमुख विधा के रूप में प्रतिष्ठापित हो गया। सामंतवाद का प्राथमिक आधार मेनार के विद्यालय और वेतों में काम करने वाले कर्मियों थे। अतः मध्यकालीन संस्कृति, जिसकी अभिव्यक्ति पुनर्जागरण के रूप में हुई, कर्मियों के धर्म और कृषि पर आधारित थी।

2. चर्च—पुनर्जागरण का दूसरा आधार चर्च था। अतः इसका स्वयं निजी दृष्ट तक प्राथमिक था। ईसापूर्व का यूरोपीय साहित्य पर पूर्ण प्रभाव था। डेनरी महान् से दसि तक की यूरोपीय सम्प्रदाय ईसापूर्व से प्रोत्साहित थी। डेनरी महान् के समय के ही प्रेरणार्थक प्रसिद्धि विद्वानों और कर्मियों की भावनात्मकता को अनुभव करने लगा था। अतः यूरोप के अनेक भाग से विद्वान साहित्यी की रोम जाने के निम्न प्रोत्साहित किया जाता था। पर-प्रतिष्ठापन के चर्चों को लेकर चर्च के पक्ष की मजबूत करने की दृष्टि से यथेष्ट साहित्य की सृष्टि हुई। इसी में बौद्ध धर्मियों प्राथमिक साहित्य के प्रमुख सम्प्रदाय केन्द्र के रूप में विकसित हुआ। विष्णु का केरकट, जो बाद में विष्णुदेवदर द्वितीय के नाम से प्रचलित हुआ, यूरोप में प्रचलित विद्या के प्रसार के पहले, यूरोपीय वैज्ञानिक ज्ञान का प्रारंभ था। प्राग्वही ज्ञानाब्धी के प्रथम चतुर्थांश में उसका विषय पुनर्जागरण के विचारों का प्रसारण कर मनीष ज्ञान विकसित करता रहा। दूसरे विषय उसका विषय केरकर मध्यकालीन विद्वानों में सम्भवतः पहला व्यक्ति था जिसने चर्च के विद्वानों तथा मठों की चर्च की कड़ी-कड़ी पर कस कर ही स्वीकार करने की कहा। इसका मतलब यह नहीं कि वह चर्चान्तर्गत के विद्वानों के विचारक था। अन्य वैज्ञानिकों की तरह वह भी केवल नहीं सिद्ध करता चाहता था कि ईश्वरिय ज्ञान और साहित्यिक मूल के कोई भौतिक प्रसार ही ही नहीं सकता है, क्योंकि ज्ञान अनिश्चित है। अनेकमय ईसाई चर्च के विद्वानों की चर्च द्वारा सिद्ध करने में पूर्ण विश्वास करता था। उसने केवल तर्कों के प्रसार पर ईश्वर के धर्मिकता को सिद्ध करने का प्रयास किया। तब तक के उपलब्ध प्रमाण के अधिन स्तंभों पर आधारित प्राथमिक वैज्ञानिक धर्मिकता का चरमोत्कर्ष विमर्ष सवेनरि (1079-1142) में देखने की मिलता है। उसके विचारों में प्रथम का धर्मिकता, पीटर बोम्बार्डे और पोप अलेक्जेंडर तृतीय जैसे महान्पुरुषों लोग शामिल थे। ईसापूर्व के ज्ञान ज्ञानी प्रेरणात्मक ज्ञान के प्रसार का कारण नहीं, परन्तु प्राथमिक विद्वानों के बौद्धिक एक सांकेतिक विचारों में वह प्रथम केन्द्र था। परन्तु विरोधी मठों की चर्च द्वारा सुनभवा, उनकी विशेषता थी। सवेनरि के जीवनकाल में ही प्रथम विद्वानों का प्रचलित भाषा के लैटिन दर्शन, प्रथम और द्वितीय के प्रथम ज्ञान-प्रसार से प्रेरित हो रहा था। बाद में दूसरे, वैज्ञानिकता और दस्तावेज के प्रथम ज्ञान-प्रसार से प्रेरित हो रहा था। बाद में दूसरे, वैज्ञानिकता और द्वितीय की प्रथम की एक नवीन और बलिष्ठ विधा प्राप्त हुई। सवेनरि, धर्म और वैज्ञानिक के विचारों के बीच की स्थापना हुई और एक प्रयोग का

पड़ा जिसे रीजिमेन्टिजिम्न प्रतीत 'रिजिडन-यस' कहा गया है। इससे विद्याभ्यसन एवं वाद-विवाद को सार्वभौमिक प्रोत्साहन मिला। तबभग केरहूची गताम्ही तक इस विचार प्रवृत्ति की प्रगतिशील प्रवृत्ति हुई। अब तक प्रत्यः घरगृह के सार्वभौमिक सिद्धान्तों की ही प्रधानता थी, किन्तु केरहूची गताम्ही के प्रतिष्ठित सार्वभौमिक एवं विचारक राजर बेकन ने इसका तीव्र विरोध किया। यह सार्वभौमिकता का जवाब वैयक्तिक था। उसने अपने पुत्र को सत्ताशक्त का भेंट कहा। उसका कहना था कि यूरोपीय विज्ञान भरतु के नई गैरिन प्रभुवादी द्वारा सत्ताशक्तता को प्रोत्साहन दे रहे थे, उसके आगे में कुछ देल ही रही रहे थे। तबभग इसी समय एक नए 'सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो मानवतावाद के नाम से विख्यात हुआ। इसके प्रवर्तकों में नैतिकता, वैयक्तिक, रीजिमेन्टिजिम्न, द्वायसन, टीमस मूर तथा ऐलेन कार्टि विद्वानों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानों की गैरनी के प्रभाव से 'अन्तःसारण' में एक नई भेजना का प्रसार हुआ। तब अब लौकिक जीवन के मानक से तक कुछ तीव्र सगे तथा सांसारिक जीवन की कलंकता से परिचित हुए। अतः धर्मशास्त्र चर्चे तथा गार्दरियों इत्यादि में लोचनी की प्रवृत्ति कम होने लगी। 'भिराज' की 'बेधधा योग' अब तक एक मुक्ति के अधिक काम लेने लगे। इस तरह पुनर्जागरण की नैतिक प्रवृत्ति की वृद्धि हुई।

3. प्राचीन साहित्य का अध्ययन—तबभग 13वीं सदी के ही प्राचीन साहित्य के अध्ययन के प्रति लोचनी में रवि उत्पन्न हो गई। यूनान और रोम की प्राचीन संस्कृति की सम्पदा की वृद्धि से देखा जाने लगा। यूनानी भाषा के पुनः अध्ययन से लोचनी को—विशेषकर नैतिक चर्चे की—एक नई संस्कृति, नए विचार और जीवन की नई प्रवृत्ति का ज्ञान हुआ। उनके हृदय में विज्ञान प्रवृत्ति विकसित हुई, सत्ताशक्त वृद्धिकोश बनने लगा, नैतिकता में सत्ताशक्तता का स्वरूप हुआ और वे चर्चे तथा सत्ता की साक्षात् की तर्कों की तरफ़ नज़र मोड़ने लगे। प्राचीन साहित्य के अनुसन्धान ने 'मनिक' के गहरन में वृद्धि की।

4. धर्म-वृद्ध—पुनर्जागरण का एक प्रमुख चरण है धर्म-वृद्ध में जो यूरोप के ईसाइयों और धर्म प्रवृत्ति के दुर्गों के बीच, ईसाइयों के लीज-नवान वैयक्तिकता गार्दर के अधिकार के लिए लड़े गए। इन युद्धों में लोचनी के लोच विभिन्न प्रेरणाशक्त बानिष्ठ हुए। यद्यपि इसलाम के विनय-प्रवृत्ति को लोचनी के लोचनी का पता चला, तथापि ईसाइयों को इन युद्धों के फलस्वरूप कई नवीन बातों का पता चला। इन युद्धों ने यूरोप के हजारों धर्मियों की नए विचारों और सत्ताशक्त लोचनी के सम्पर्क में ला दिया, और वे अब अपने देशों की सत्ताशक्त लोचनी के अनुभव की चर्ची की। इसके फलस्वरूप यूरोप के निवासियों में तथा वृद्धिकोश उत्पन्न हुआ, जन्म मुक्त जीवन काय का और उन्होंने प्रवृत्ति की तरफ़ लोचनी का पता चला कर दिया।

5. व्यावहारिक साक्षात् और विवेकी से सम्पर्क—धर्म-वृद्धि से यूरोपीय व्यापार की नया नुकसान पहुँचा क्योंकि इससे प्रवृत्ति व्यावहारिकता का मान बना हो गया। अतः यूरोपियों ने भूमध्यसागर की लोचनी को और कर, व्यापार की लोचनी में दूर-दूर के देशों की नया शुरू की। वेनिस और मिलन, तुवा और गैरिज

मनोहर के महत्त्वपूर्ण केंद्र बन गए। बाहर की दुनिया के सम्पर्क होने से यूरोप के लोगों ने एक नए दृष्टिकोण का विकास हुआ और उन्होंने पुनः जो पराजितता जमाता से बहुत कुछ सीखा। उनके सौंदरिक जीवन पर अपने का विकासतु कुछ बीना हुआ, दूसरे विचारों की बर्बाद होने लगी थी। सांख्यिक तथा सामाजिक वैज्ञानिक का जन्म हुआ।

6. साहित्यकारों और विद्वानों का योग—अनेक साहित्यकारों और विद्वानों के अपनी-अपनी वैयक्तिकी से स्व-आत्मता का प्रसार किया। उदाहरणार्थ, लेखकों बालमयी में शिरोर के वेदना वाक्य विचारक के लक्ष्य और योग पर बहुत बल देने हुए विचारों की उत्पत्ति में अपना निराला प्रकाश किया। उसके ज्ञान के सम्भवतो किसी का प्रभाव लोगों के विचारों में पर्याप्तता जता रहा। सामाजिक साधकों के सम्भवतः पुनर्जागरण विचारों परियोजना के बाहर बहने लगे। उनके द्वारा औरकृत्य सांख्यिक विचारों के विद्वानों का प्रसार हुआ।

7. सांख्यिकी का साहित्यिक—पुनर्जागरण के विकास में साहित्यिकों के साहित्यिकों ने भारी योग दिया। साहित्यिक प्रकाशन ने केवल समझ ही नहीं बल्कि बुद्धि की भारी मात्रा में अपने-अपने और परस्परसाधक की सुलभ हो गई। अब विचार केवल बर्बाद-बर्बादों तक ही सीमित नहीं रहे, बल्कि स्व-आत्मता के अपने के महत्त्व की समझ और उत्तरी पुनर्जागरण की दूर करने की चेष्टा ली। वैज्ञानिक के ज्ञान पर स्वाधीन साधकों ने दुम्हले निष्ठा अपने-अपने विचारों को केन्द्रों के लक्ष्य में पर्याप्तता जताया।

8. सांख्यिकी का विकास—'सांख्यिकी' नाम की उत्पत्ति वैज्ञानिकों के द्वारा 'ह्यूमनिक' के लक्ष्य, विचारों अपने ही 'विचारित ज्ञान'। इस विचारधारा के अनुसार अपने की अनुचित निष्ठासाधक की लक्ष्य मानने में। उनका दृष्टिकोण सांख्यिकी का। वेदार्थ और उसके अनुसंधानों ने सांख्यिकी का प्रसार किया। सांख्यिकी ने ही बर्बाद-बर्बादों ने प्रकाश विचारों किया, बल्कि बर्बाद-बर्बादों ने ही निष्ठासाधक विचारित हो गई, जिससे सांख्यिकी प्रकाशकों की अनुचित हुई और सम्भव विचार का प्रसार हुआ।

9. वैज्ञानिक साहित्यिक—पुनर्जागरण वैज्ञानिक साहित्यिकों और सांख्यिकी के सांख्यिकी पुनर्जागरण की लक्ष्य लेनी से अपने-अपने और पुनर्जागरण के लक्ष्य गई। पुनर्जागरणों के सम्पर्क के द्वारा ने लोग के बीच सांख्यिकी बर्बाद—सांख्यिकी और लक्ष्य, लक्ष्य के सांख्यिकी के लिए पुनर्जागरण ज्ञान पुनर्जागरण के लिए प्रकाश। इस साहित्यिकों के ज्ञान के लक्ष्य के बीच के अनुसंधानों पर किया। जो पुनर्जागरण के लक्ष्य में सांख्यिकी और लक्ष्य के सम्भवतः प्रकाश में ज्ञान का प्रकाश हुआ, पुनर्जागरण ने नए-नए लक्ष्य ज्ञानों की बीच होने लगी और सांख्यिकी के सांख्यिकी बर्बाद किया गया ज्ञान केन्द्रों पुनर्जागरण ज्ञानों की लक्ष्य होने लगी।

एक ही विचारों के पुनर्जागरण की उत्पत्ति सांख्यिकी पर की, जो सांख्यिकी का विकास किया और लक्ष्य पर के लक्ष्य-लक्ष्य सांख्यिकी पुनर्जागरण

ही गया। गुनर्जागरण की प्रगति में इस बात से मोह दिया कि मरीच, दुर्मेख, मेरीचक आदि देशों के नाशकों और सभी व्यक्तियों में बढ़ी कुरा में साहसी नाशकों, साहित्यकारों और कलाकारों को आर्थिक सहयोग प्रदान किया।

गुनर्जागरण का प्रारम्भ और प्रसार : इटली का भ्रम-प्रदर्शन

गुनर्जागरण के प्रारम्भ के समय में सर्वप्रथम अलबिजेनसिजस बुद्धिवादी मान्यता का उल्लेख किया जा सकता है। गुनर्जागरण आर्थिक प्रतिक्रियावाद के कारण इस मान्यता का सामाजिक मान्य हो गया। उसी तरह वैज्ञानिक द्वितीय और तृतीय ने गुनर्जागरण के सामाजिक भ्रमता महत्वपूर्ण योग दिया था। परन्तु गुनर्जागरण का सामाजिक प्रारम्भ इटली में हुआ, ठीक उसी तरह जैसे धर्म-सुधार मान्यता का जर्मनी में हुआ। इसके कई कारण थे। सर्वप्रथम इसके लिए इटली का सांस्कृतिक मान्य ही अनुकूल था। इटालियन नगर गुनर्जागरण के प्रोत्साहक थे। दूसरा कारण था उस प्रायद्वीप में विभिन्न जातियों का रहना। इन जातियों में गाय, लोन्गार्ड, बर्क, घरक, नारकन और जर्मन जातिवाँ प्रमुख थे। रोमन वैयक्तिक, घरक मान्यताओं के सांस्कृतिक सम्पर्क और समय के सांस्कृतिक मान्यता उभरना तथा सांस्कृतिक सामाजिक एवं बौद्धिक मान्यताओं का होना स्वाभाविक ही था। इटालियन स्कूलों तथा विद्यालयों के सर्वनिष्ठ स्वभाव में भी इटली में गुनर्जागरण के विकास में सहायता दी। पश्चिमी यूरोप के अन्य देशों की तरह इटली की प्राचीन सम्प्रदाय प्राचीन रोमन सम्प्रदाय से बहुत अलग-थलग थी। इटलीवादी अपने ही रोमन विचार-विज्ञानों के प्रभाव बहाल एवं उत्पत्तिवादी मानते थे। रोम की प्राचीन गरिमा से सम्बद्ध होने का एहसास उनकी कल्पना को पक ही लगा ही देता था, साथ ही उनकी प्राचीन सम्प्रदाय एवं सत्ता की पुनर्जागरण को पुनर्जागरण भी उन्हें मिलती थी। इटली में गुनर्जागरण की जन्म देने एवं उसे विविध दिया प्रभाव करने में प्राचीन रोमन स्मारकों का भी विशेष महत्व था। इटालियन नगर वास्तु: प्राचीन वास्तव्य के सर्वनिष्ठ विद्युत थे। विद्युत महानता के ये सर्वनिष्ठ विद्युत इटाली मानव पर महदा प्रभाव डालते थे। यूरोपीय गुनर्जागरण के इटली के प्रारम्भ होने का एक अन्य कारण यह था कि पुस्तकालयों के रखरखाव के पत्राई यहाँ के विद्वानों ने आरंभ कर इटली के नगरीय में आरंभ किया। इसके उन नगरीय थे पुनः प्राचीन विद्या एवं ज्ञान का प्रसार शुरू हुआ और वास्तव्य में ही इन विद्वानों की विद्या की विद्या यूरोप के अन्य देशों में फैल गई।

इटली में गुनर्जागरण के दो चरण थे—प्राचीन साहित्य एवं ज्ञान का पुनर्जागरण तथा प्राचीन कला का पुनर्जागरण। गुनर्जागरण के बौद्धिक और साहित्यिक चरण की 'मानववाद' और इसके समर्थकों की मानववादी कहा गया है। मानववादियों में फिलिपो नेवीस (1304-1374) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। नेवीस को समझता स्वयं गुनर्जागरण की समझता है। नेवीस इटालियन गुनर्जागरण के मानववादी चरण का प्रथम और सर्वोच्च प्रतिनिधि था। मध्यकाल का वह प्रथम विद्वान था जिसने वैज्ञानिक दृष्टि से प्राचीन साहित्य के महत्व को समझा। उसने प्रथम परिचय द्वारा ज्ञान को ही प्राचीन वास्तुविज्ञानों का सहज होना दिया।

मेरोना के एक मुक्तकायम से अपने लेटिन भाषा के लिखित विरोधी के पत्र प्राप्त किए। उसे ग्रीक भाषा का ज्ञान नहीं था, फिर भी उसने लेटिन के साव-साव ग्रीक पाण्डुलिपियों की एकत्रित की। मुस्तुफुनिर्वा से उसने पीटो के सोनटु पन्थ और होकर की एक प्रति हासिल की। प्राचीन लेखकों से उसकी भाषिक अभिरुचि भी और वह उनके काल्पनिक पराभार किया करता था। वह सम्बन्धीय प्रकृति का और विरोधी था। वह विद्वत्-व्य के वह विशेष रूप के विस्तार था। वह उन्हें सार्वभौमिक न मानकर भिन्ना सांस्कृतिक समझता था। विश्वविद्यालय, जो पश्चिम-वर्ष के पद थे, उसकी दृष्टि से और सभ्यता के बंध थे। जब उसके विरोधी पराभू का भाष्य लेते थे तो वह कहता था कि पराभू की बहुत-सी बातें समझ थी और मनुष्य होने के नाते वह मानवीय धर्मों के बंधे नहीं था। उस युग में पराभू की क्षातीकता स्वयं वाद्विषय की धारणावा करने की तरह था। अतः उसका भाषात केवल पराभू पर न होकर स्वयं वर्ण और समूहों सम्बन्धीय व्यवस्था पर था। अस्तुतः उसका प्रमुख कार्य था साहित्य-विकास के क्षेत्र में वैज्ञानिक मनोवृत्ति की प्राप्ति करना। वह स्वयं एक बहुत सांस्कृतिक या लघु उसकी यह दार्ष्टिक दृष्टि थी कि लोक प्राचीन साहित्य की जनसम्य सामग्री को व्यवस्थित प्रकृत न करें; बल्कि धार्मिकता-वर्धनवादी द्वारा अन्य समुहों से उसकी सुगम्य भी करें। प्राचीन साहित्य की ही तरह प्राचीन रोमन स्मारकों में भी उसकी रुचि थी। पुनर्जागरण से पहले प्राचीन स्मारकों का प्रत्यक्ष अनुभव ही होता रहा था। पराभू वैज्ञानिक इन स्मारकों की सांस्कृतिक दृष्टि से देखता था। वैज्ञानिक के कई उन्मुखनीय मानववादी सिद्ध थे, जिनमें विरोधवादी वीकासियों (1313-1373) प्रमुख था। मानववादी के रूप में उसने प्राचीनता के प्रति अपार श्रद्धा का प्रदर्शन किया। दृष्टान्तिन मानववादियों की प्राचीन पाण्डुलिपियों से विशेष रूचि थी। मानववादियों के धर्मक प्रसार के पक्षधर, प्राचीन साहित्य की समुच्च निधि भाषी पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रखी जा सकी, सम्बन्धी कुछ समय बाद इसका अधिकतर भाग ध्वस्त हो गया होता। दृष्टान्तिन पुनर्जागरण का एक महत्वपूर्ण पक्ष था—पुस्तकालयों की स्थापना। ज्ञान के जीवन को सुरक्षित रखने और विद्वानों के लिए सुलभ बनाने की दृष्टि से पुस्तकालयों की स्थापना की गई। इस तरह इटली के कुछ सबसे बड़े पुस्तकालयों की स्थापना हुई। फ्लोरेंस में मेडिकी ने प्रसिद्ध मेडिकी लाइब्रेरी की स्थापना की। रोम की वैदिकता लाइब्रेरी में सबसे बड़े निजीयत रूप में ही बीच हजार पाण्डुलिपियाँ जमा की थी। प्राचीन साहित्य का पुनर्बन्ध, प्रतिनिधियों से अभिवृद्धि और पुस्तकालयों की स्थापना दृष्टान्तिन मानववादियों के प्रारम्भिक कार्य थे। उनसे भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य थे—यूनानियों की बुद्धि और पुनर्जागरण पक्षधर, ग्रीक पाण्डुलिपियों का लेटिन में अनुवाद, प्राचीन साहित्य की व्याख्या, पुनर्जागरण की कबीला। इस दिशा में जिन दृष्टान्तिन विद्वानों ने कार्य किया उनमें पोपिनिजियानो (1454-1494) सर्वश्रेष्ठ था। फ्लोरेंस में लोक और पीटो के मिश्रण के रूप में उसने लैटिन ज्ञान की विरोधी करने से महत्वपूर्ण योगदान किया। पश्चिमी सभ्यता के दृष्टान्तिन विद्वानों में एक अन्य उल्लेखनीय नाम निम्न होता मिलेटोना

(1463-1494) का है। उसने ईसाइयत और ग्रीक ज्ञान के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया। पुनर्जागरण युग के इतालियन कवियों में धर्मियता का नाम प्रमुख है। इसी युग के कुछ धर्म-साहित्यकारों का भी प्रभावित हुआ, जिनमें टासो और जेरार्डो के नाम बड़ी प्रसिद्धि है। इतालियन पुनर्जागरण का दूसरा पक्ष या प्राचीन कला का पुनर्जन्म।

परीषद् के अन्य भावी में बनानगर

मौलहूयी तताम्बी के सम्यक् तत्त्व इष्टान्तिमन पुनर्जागरण की चारा प्रान्ति सूच गई । परन्तु तब तक मानववाद का अन्तर्गत पर्यवेक्षण की चार कर जर्मनी, फ्रांस और इंग्लैंड के प्रभाव पर नुका था । मन्दहूयी तताम्बी के माध्य से ही जर्मन स्वतन्त्र इहमी नृपति कर वहाँ के विद्वानों से मुनामी भाषा सीखने जाने से । इष्टान्तिमन मानववाद कोर और मेडिनि साहित्य के सम्भवतः तत्त्व ही सीमित था, परन्तु उत्तरी यूरोप के मानववादियों की प्राचीन द्विष्ट और ईसाई साहित्य और अन्तर्हि मे भी समान रूप से रचि थी । मन्तुन, जर्मन और अन्य उत्तरी मानववादियों की साहित्यिक और बोद्धिक समिति ने बाद के चर्च-मुधार मानवोत्तम की नृष्टभूमि को तैयार किया । साहित्यिक दृष्टिकोण के चर्चि पुनर्जागरण का आरम्भ इहमी मे हुआ तथापि इहमी उत्तरी अधिकतर यूरोप के अन्य देशों मे ही हुई ।

मानववादी मान्योपन का जर्मनी पर भी प्रभाव पड़ा। फाइरबी जलज्यो के उत्तरार्द्ध में नवोदय, धार्मिकीय, दार्शनिक और धर्मशास्त्री के रूप में सेना का कार्यकर्ता निकोलस फायरबी प्रसिद्ध हुआ। उसने अपने नैतिक तथा धार्मिक मान्युनिविदा एकत्रित की। डेमेन्टर का हेनरिक प्रसिद्ध मानववादी निराल का। उसके अनेक शिष्यो में, जिनमें इराकमन भी शामिल था, नवीन ज्ञान की अनुविद् पैदावा। दूसरे फायर मानववाद भी के जो जर्मनी के विश्वविद्यालयों, गद्य और स्वतन्त्र गद्यों में बिखरे पड़े थे। उनमें कुछ जलज्योय नाम डेमेन्, एडिबोला, निकोलन, टियेनियस, जोहान्न एडिबिड और रिचियोमोनेनक के हैं। इन लोगों ने द्वितीयक, तृतीयक, चतुर्थक, प्रारम्भ तथा निराल के मानववाद का प्रचार किया। फायरबोला इनकी संस्थापि धर्मशास्त्रों तथा धर्म-विचारों का शिष्य में भी। इसके फलस्वरूप जर्मन मानववाद का एक अत्यन्त विविध स्वरूप विनियमित हुआ जो अपने अन्तर्गत धर्म-सुधार मान्योपन का एक प्रमुख कारण सिद्ध हुआ। इसकी वीही ही तरह कुछ जर्मन मानववादियों की द्विष्ट साहित्य में विशेष रुचि थी। डेमेन् तथा टियेनियस द्विष्ट के विद्वान् थे, वरन् टियुबिनिन द्विष्ट भाषा का पत्राधिक ज्ञान था। एलेन में, जर्मनी में भी पुनर्जागरण का सांस्कृतिक रूप था—ज्ञान के क्षेत्र का निराल और प्राचीनता के प्रति आकर्षित।

पुनर्जागरण काल में विज्ञान के क्षेत्र में भी प्रभूत्वपूर्ण उपलब्धि हुईं। चीन में प्रभुकार विज्ञान मनुष्य की संतुष्टि के लिए नष्ट कर दिया था। मनुष्य ने अपने विज्ञान की प्रगति के मार्ग में सबसे बड़ा रोड़ा था। परन्तु मोनहोरी कागर्नी ने विश्व के प्रति लोगों की जागरूकता की। विज्ञान की प्रगति निरन्तर रूप से जारी रखी। मोनहोरी कागर्नी की प्रेरणा पर कई-कई प्रयोगात्मक सम्प्रदायों की स्थापना हुई।

हुए । इस युग में सर्वाधिक उत्तेजनीय अवधि न्योडिय तथा यूरोप के क्षेत्र में हुई । भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में भी महान् विज्ञानियों का प्रतिपादन हुआ । पुनर्जागरण युग में विकसित साम्य तथा उत्थापन मानव की भी समुर्ध्व अवधि हुई । पुनर्जागरण-काल के प्रारम्भ से ही यूरोपवासियों ने भौमौलिक सम्बन्धता कार्य में महान्मूर्त कदम उठाया ।

पुनर्जागरण के सामान्य प्रभाव

पुनर्जागरण के वैज्ञानिक, साहित्यिक, कलात्मक, दार्शनिक और नीतिक प्रभावों के परिचित कुछ सामान्य प्रभाव भी पड़े । डॉ. जी. पीरोलम ने इनका सारसहित वर्णन इस प्रकार किया है—

सर्वप्रथम, पुनर्जागरण ने जीवन और जगत सम्बन्धी कुछ नवीन मान्यताओं को जन्म दिया । पश्चिमी ईसाई जगत में नीतिक और नीतिक जीवन में ठीक उसी प्रकार की जाति का गई जैसा कि प्राचीन काल में ईसाई धर्म के प्रकार के कारण हुआ था । नवीन ज्ञान मनुष्य: नवीन धर्मशास्त्र को तरह था । बिस्व किम्पटन के सम्बन्ध में 'इसका उद्देश्य सम्पूर्ण यूरोप में एक नवीन सभ्यता की फैलाना था ।' इस नवीन मनुष्य की वास्तविक प्रकृति और महत्ता से परिचित हुए । लोगों ने समझा कि जीवन में सम्यक मान्य है ही एक विशेष प्रकार का सुख है जिसका परलोक के नाम पर त्याग करना उचित नहीं । धार्मिक का हस्त किए बिना भी ज्ञान की विचारों की मान्य किया जा सकता है । इस नवीन विचारों से मानव जाति के विकास में प्रत्यधिक सहायता मिली । इस तरह धर्म, राजनीति, साहित्य, कला, विज्ञान, साधिका और उत्थोप ज्ञान, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रकृति का कार्य प्रसरत हो गया । दूसरे सम्बन्ध में, पुनर्जागरण के कलात्मक, मानव जाति में साधुनिक युग से प्रवेश किया ।

दूसरी बात कि पुनर्जागरण ने ऐतिहासिक साहित्य की विमर्शित हुई श्रुतता को फिर से जोड़ा । ग्रीक-रोमन जगत में प्रवेश करते ही ईसाई धर्म ने प्राचीनता के प्रति मुद्र-का देख दिया था । विपत्तिता पर ईसाइयत की विमर्शता धर्म का प्राचीन सम्बन्ध से विच्छेद । यह सही है कि प्राचीन सम्बन्ध एक सभ्यता के कुछ उत्तम पूर्व-मध्यकाल में ईसाइयत में भी प्रवेश कर गए थे, परन्तु प्राचीनता का धर्मिकतर परिचाय हो किया गया था । इस तरह यूरोप में ऐतिहासिक साहित्य विमर्शित हो गया था । परन्तु पुनर्जागरण काल की उत्थापन और उत्साह के कारण ईसाइयत तथा प्राचीन सम्बन्ध के बीच सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव हुआ । इस तरह प्राचीन एक साधुनिक जगत के बीच की सार्ई पट गई । मानव जाति के लिए यह अत्यन्त लाभप्रद बात हुई, न्योकि प्राचीन सम्बन्ध में साहित्य, कला और विज्ञान के समन्वय सब निहित थे जिसकी उपयोग करना न सम्भव हो था और न उचित हो इस जगत उचित सुम्भितन और उपयोग होने तथा जिससे प्राचीन जीवन एक कार्य की जानकारी साधुनिक जगत की हो सकी ।

तृतीयतः पुनर्जागरण ने शिक्षा में सुधार हुआ । मानवजाती सामन्तत्व के कलात्मक शिक्षा के क्षेत्र में कर्मन्तकारी परिवर्तन हुए । मध्ययुग में लेटिन भाषा का ज्ञान हुआ था, नीचे ग्रीक भाषा की ज्ञान: पूर्ण-पुके थे । परन्तु यह सम्यक समझा नहीं था जो युवा था । जेरो की ही सम्बन्धीन निष्कर्ष प्राप्ता प्राप्त हो चुके थे । परन्तु

मानववादी मान्योपन के कारण डेडिन भाषा की, उसके मुल रूप में, पुनर्जागरण हुई। बीच भाषा के साथ भी सम्बन्ध ऐसा ही हुआ। स्पेरी के दर्शन के साथ-साथ प्रीक-रोमन साहित्य की प्रायः विनष्ट समस्त विधि-विधानों की सब उपलब्ध हुई। इनके साधुनिकता के उदय और विनाश ने महावक्ता मिली। स्कूल और विश्वविद्यालय भी इस नवीन मानववादी मान्योपन के झुल्ले नहीं रहे। प्रायः सभी प्राचीन और नवीन विश्वविद्यालयों में बीच एवं डेडिन भाषाओं की पढ़ाई होने लगी। पश्चिम-यूरोपीय विश्व-विधि का स्थान अब मानववादी शिक्षण-विधि ने ले लिया। यह नवीन शिक्षण-विधि साधुनिक वैज्ञानिक शिक्षण-प्रणाली के जन्मज तक गयी रही।

चतुर्थतः पुनर्जागरण ने लोक भाषाओं के विकास में महावक्ता मिली। प्रीक-रोमन साहित्य के अध्ययन के बादको का सम्पर्क दो सभ्यत समूह भाषाओं में हुआ। इनके नवीन साहित्य के सुजन का मार्ग प्रकट हुआ। इसी, लीन, स्पेन, इंग्लैण्ड तथा जर्मनी की जनभाषाओं पर इसका प्रभाव विशेष रूप से पड़ा। यह सही है कि प्रीक-रोमन साहित्य का अत्यधिक प्रभाव दिष्ट जाने के कारण नहीं-कही लोक भाषाओं की उदया भी हुई, परन्तु अधिकतमः मानववादी मान्योपन के कारण-रूप स्थानीय भाषाओं का परिचर्चन ही हुआ।

पुनर्जागरण के उत्तरवर्धन पुरातत्व, विज्ञान तथा ऐतिहासिक आलोचना-विधि का भी जन्म हुआ। वस्तुतः पुनर्जागरण में विज्ञान की विभिन्न विधाओं में अनेक तत्व निहित थे। परन्तु यहाँ तक पुरातत्व विज्ञान का प्रश्न है, इनका उत्तरम् पुनर्जागरण क्यों है ही माना जा सकता है। इतालियन विद्वानों का ध्यान स्वभावतः सर्वप्रथम रोम के प्राचीन स्मारकों की ओर गया। पाइरूची मनास्वी के सन्त में पलेमिओ विरोसी ने 'रोम ऐटोर्न' नामक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी। उसने भी लूरे रियेन्सी ने 'ऐतिह्यन सीक सी सिटी सीक रोम एण्ड इट्स एम्पेयर' नामक पुस्तक लिखी थी, परन्तु पुरातत्व विज्ञान की दृष्टि से, पलेमिओ की पुस्तक अधिक अच्छी थी। इसके इतिहास की २-४ कर्षवा नवीन विधा का जन्म हुआ जिससे जाने कतकर प्राचीन विश्व सभ्यता के अनेक अज्ञात ऐतिहासिक कथों का उद्घाटन सम्भव हुआ। पुरातत्व की ही तरह ऐतिहासिक आलोचना-विधि भी पुनर्जागरण से प्रभावित हुई। पुनर्जागरण-काल की मार्क्सिस्ट आलोचनात्मक तथा विज्ञान भी। नीचे लिखी भी बात की सीन मुंदरर मान लेने की सम्भवतः सहीत का परिचय कर उसकी प्रामाणिकता पर अधिक ध्यान देने लगे थे। वेसीड इस नवीन स-सोदति का सृजक था। उसने प्राचीन लेखों का सुन तथा आलोचनात्मक अध्ययन किया और केवल इन्हीं लेखों की सही प्रणय जिसकी सामाजिकता धर्मस्थ थी। परन्तु प्रोफेसरमन-ऐतिहासिक विधि का कारनिकत जन्मदाता मोरेमिनस बामर (1407-1457) था। उसने इतिहास प्रसिद्ध 'ऐतिह्यन सीक कन्सलनटाइन' की 'आदा-विज्ञान तथा इतिहास आधार पर सामाजिक सिद्ध किया। उसने निम्नी की प्रकाशितता की भी पुष्टी की और केनेका तथा सन्त बरि के बीच के उपाध्वित बचाकार की गली बतलाया। यह तरह सामाजिक सूत्रों पर आधारित आलोचनात्मक इतिहास-लेखन की एक प्रविधा का उत्तरम् हुआ जिसके उत्तरवर्धन प्राचीन तथा

मध्यकालीन एचिवाई तथा यूरोपीय इतिहास को प्राथमिक रूप दिया जा सके। यह नही इतिहास के लेखन पर अधिक जोर दिया जाने लगा। उस प्रकार के लेखनों में वॉरेन के रॉबिन्सन् (1489-1527) और बुर्गोमार्स्को (1482-1540) सर्वाधिक प्रसिद्ध हुए। वे अपनी मानवतात्मक एवं निष्पक्ष प्रवृत्ति के कारण रॉबिन्सन् तथा वॉरेन मध्यकालीन इतिहासकारों के सर्वोच्च स्थान पर हैं। इसीलिए उन्हें सर्वप्रथम धार्मिक-इतिहासकार माना गया है।

मध्य-युगजीनरण ने सभी यूरोपीय धर्म-सुधार आन्दोलन को दृष्टिपूर्वक प्रेरित किया। मानववादी आन्दोलन जब मध्य-युग के उत्तर की ओर बढ़ा तो वहीं के विद्वान्-शास्त्रीय युगानी-युगानी साहित्य में भी नई अधिक प्राचीन, हिब्रू साहित्य की ओर आकृष्ट हुए। धर्मशास्त्रों के गुप्त ज्ञान के कारण बाइबिल की प्रतियाँ अब मूल हिब्रू तथा ग्रीक के प्रतिरिक्त लेखी जावादी में भी सहज उपलब्ध थीं। इस सब बाइबिल का अधिक जराहपूर्ण और विस्फोटकत्व सम्भव होने लगा। फलस्वरूप, जबकि पश्चिमी यूरोप की मुख्य धार्मिक प्राचीन साहित्य एवं कला तक ही सीमित रही, उत्तरी यूरोप के मध्य-युग आन्दोलन एवं विद्वान् ईसाई धर्म के गुप्त नैतिक एवं धार्मिक विद्वान् की ओर अधिक आकृष्ट हुए। इन वहाँ का मानववादी, धर्म-सुधारक बन गया। इसीलिए साइमन ने कहा है कि 'धर्म-सुधार आन्दोलन जर्मन युगजीनरण था।' मानववादी स्वतन्त्र चिन्तन की प्रवृत्ति का धर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण से उत्पन्न होना स्वाभाविक था। यही कारण था कि जर्मन काल-विज्ञान ने इस सम्पूर्ण धार्मिक आन्दोलन का विरोध किया, जबकि आधुनिक विज्ञान ने कई चीजें इसके प्रयोजन सम्बन्ध में हैं। मानववादी धार्मिक क्षेत्र में जर्मन आन्दोलन-विरोध के भी धर्म-सुधार काल की व्यक्तिवादी या विरोधी प्रवृत्ति का पूर्णतया देना था। वास्तव में मानववाद न केवल मध्यकालीन धर्मशास्त्रों के विरोधी था, बल्कि वह सम्पूर्ण मध्यकालीन व्यवस्था का ही विरोधी था। इस तरह उत्तरी यूरोप के महान् मानववादी चिन्तन और दूरदर्शक आदि क्षेत्रों की गतिशीलता के धर्म-सुधार आन्दोलन के वास्तविक सङ्गत थे।

यूरोप में, युगजीनरण-काल मध्यकालीन इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय था। इससे सबसे बड़ी देन थी, प्राचीन धर्मविश्वासों के अन्त की शुरुआत की शुरुआत द्वारा उत्तरी विकास करना। युगजीनरण के ही फलस्वरूप, यूरोप ने मध्यकालीन अवस्था का परिज्ञान कर आधुनिकता के क्षेत्र में प्रवेश किया। प्राचीन चरित्रों तथा धर्मविश्वासों की अवस्था का ही एक स्वतन्त्र चिन्तन की अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। इससे आधुनिक वैज्ञानिक युग की नींव पड़ी और धार्मिकता का अन्त हुआ। राष्ट्रीय एवं व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का भी प्रारम्भ इसी युग में हुआ। ज्ञान-विज्ञान की कमी की वजह से धर्म तथा धार्मिक विचारों को कहा जाने लगा। इसी यूरोपीय धर्म-सुधार आन्दोलन की प्रेरणा हुई जिसके अनेक व्यापक परिणाम मिले।

परिचयात्मक : धर्म-सुधार आन्दोलन का स्वरूप
(Introductory : Nature of Reformation Movement)

यूरोपीय देश आन्दोलन के पश्चात् राजनीतिक विचारों के इतिहास को मचीन मार्ग देने का येव धर्म-सुधार आन्दोलन को है। इस महात् आन्दोलन ने गतिकाली रोमन धर्म में परिवर्तन लाने और एक सिद्धान्त को समस्त यूरोप एक स्पर्ई समान है जिसका सर्वोच्च प्रधान सोच है, नष्ट करने का महात् कार्य किया। मगरि 16वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही धार्मिक, राजनीतिक और बौद्धिक सभी क्षेत्रों में लचीन गतिकी और विचारधाराओं का प्रादुर्भाव हो रहा था किन्तु महात् धर्म-सम्पा रोमन धर्म अभी तक इन सब परिवर्तनों से सम्भावित था।¹ सोच की निरकुलता, साठम्बर विषया और उनके समाचारों में किसी प्रकार का समार नहीं थाया था। धर्म का समाव-क्षेत्र सब भी आवन्त व्यापक था। जब तक रोमन धर्म मध्यकालीन बना हुआ था तब तक यूरोप का सामुहिकीकरण करना दुष्कर था। मगरि सुधारकारी आन्दोलन ने इस कार्य को दुनि की दिशा में निरुपिक भूमिका घटा की, तथाकि यह मध्यकालीन विचारों और सामुहिकता का सम्मिधरु था। यह सामुहिकन मैफिदाबनी से बहुत बोद्धे था। कैलियाबनी ने धर्म को राजनीति से बहिष्कृत करने का भरसक प्रयत्न किया था जबकि आन्दोलन के लून प्रकलक मरिने लूथर (Martin Luther) एवं कैलिवन (Calvin) ने धर्म तथा राजनीति को अनिष्ठ सम्बन्धों में जोड़कर पुनः मध्यकालीन विचार की पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। मेबाइन के अनुगार "गोटेनटेंग रिफॉर्मेशन" के परिणामस्वरूप राजनीति और राजनीतिन विचारों का धर्म के साथ और घामित बदलेने से इनका अनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ जिसका मध्य-युग में कभी नहीं रहा था।

धर्म-सुधार आन्दोलन किसी एक स्थान तक सीमित नहीं था। यह ऐसा आन्दोलन था जिसने यूरोप की सम्पूर्ण सङ्गति को सम्भावित किया। प्रश्न उठता है कि यह आन्दोलन जान्ति था क्या प्रविश ? एल्डन (Eldon) के अनुसार धर्म के सोच में यह एक जान्ति थी, किन्तु धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में

श्रीकृष्ण की निरन्तरता। कोह्लर (Kohler) के अनुसार यह धर्म के क्षेत्र में भी एक प्रक्रिया ही थी। यदि ध्यान से देखा जाए तो दो-दो ही चरण-चरणे दृष्टिकोण से सही प्रतीत होते हैं। एस्टन वहाँ तक नहीं है जहाँ तक यह मानना है कि सुधार-साम्प्रदाय केवल धर्म की सुराही के प्रति विद्रोह न था बल्कि इसने धर्म को एक नया दर्शन दिया। जहाँ तक सुराही के विद्रोह का सम्बन्ध है उसका आरम्भ यही ही हो चुका था पर ईसाई धर्म-दर्शन पर पुनर्विचार नहीं हुआ था। यह धर्म-सुधार साम्प्रदाय द्वारा सर्वप्रथम हुआ। ईसाई का सिद्धांत मानव की क्षाम्यकताओं के परीन ही था था, किन्तु सुधार ने इसे दृष्टि किया। उसने कहा कि ईसाई विनयधर्म का केन्द्र है। यही से मानव-क्षाम्यकताएँ ईसाई की कल्पना के चारों ओर घूमने लगती हैं। एस्टन के अनुसार धर्म-सुधार के बाह्य और आन्तरिक पक्ष थे। बाह्य पक्ष का सम्बन्ध धर्म की सुराही से था जिसके प्रति विद्रोह किया गया। इस विद्रोह का सीधे-सीधे मध्ययुग में ही हो गया था। धर्म के समूह ने सुधार करने, धर्म से बीन की निरपेक्ष शक्ति के दावे को दूर करने और धर्म के अधिकार के विरुद्ध एक व्यापक आचार की प्रति करने की सीमाओं में यह परिपक्व साम्प्रदाय (Conciliar Movement) की ही प्रभावशालि कहा जा सकता था।¹ यदि परिपक्व साम्प्रदाय सफल हो जाता तो सम्भवतः धर्म-सुधार साम्प्रदाय का जन्म ही नहीं होता। परिपक्व साम्प्रदाय के विफल होने पर भी उसकी प्रेरक शक्ति सही-सी थी जिसने धर्म-सुधार साम्प्रदाय के रूप में अपना विद्रोह किया। आन्तरिक पक्ष ने सर्वप्रथम धर्म-सुधार के बाद ईसाई-दर्शन पर पुनर्विचार किया गया। ईसाई की धर्म्य की क्षाम्यकताओं की प्रति की क्षाम्य माना गया जहाँ तक यह शक्ति की क्षाम्यकताओं को केन्द्र माना जाता था जिसके चारों ओर ईसाई की कल्पना घूमती थी। इस तरह एस्टन ने इस साम्प्रदाय की धार्मिक क्षेत्र से शक्ति का रूप प्रदान किया। कोह्लर का कहना कि यह साम्प्रदाय धर्म के क्षेत्र में भी एक प्रक्रिया ही था, एक सीमा से सही है। कोह्लर ने केवल धर्म-सुधार के सम्बन्ध में यहू की ध्यान की है। उसके अनुसार साम्प्रदाय ने इस सिद्धांत पर ध्यान दिया जो वह कहता था कि रोम का पोप धर्म का सर्वोच्च धर्म्य होता बाह्य और धर्म का समूह परस्पर सम्बन्धित निरपेक्षधर्म आचार पर होता बाह्य। उसके निरोध में यहू ही माना जाये उठने लगे की। राष्ट्रीय सम्मेलन धर्म का विचार उत्तर मानव से शुरू हो चुका था जो पद-निरोध समूह के विरुद्ध था। धर्म-सुधार ने इस प्रक्रिया की ही धारें बढ़ाया जो उत्तर मध्ययुग में शुरू हो गई थी।

इस साम्प्रदाय का प्रथम जन्म किन्तु शक्ति सुधार (1433-1546 ई.) था। उसने 31 अक्टूबर, 1517 ई. को सैक्सनी राज्य के विटेंबर्ग नगर के धर्म के धर्म के दरवाजे पर उत्कृष्ट ईसाईयत और पोप के सिद्धांतों से सम्बन्धित धर्म करने वाले अपने 95 धर्म्य (Theses) कीन से टॉपर प्रोटेस्टेंट धर्म-सुधार साम्प्रदाय का सूत्रार किया। सुधार की धर्म धर्म पूर्ववर्ती सुधार साम्प्रदायों

की संवेष्टा अधिक सकलता प्राप्त हुई। इस सकलता में धर्मिक राजनीतिक एवं धार्मिक कारणों ने योग दिया। सबसे प्रमुख कारण यह था कि उत्तरी जर्मनी के विभिन्न राज्यों ने उक्त सहयोग और जनता ने समर्थन प्रदान किया। जर्मन राजा जर्मनी में रोमन चर्च की विनाश सम्पत्ति पर अपना अधिकार जमाना चाहते थे और ऐसा अभी हो सकता था जब वे रोम का सफल प्रतिरोध कर पाते। वे यह भी चाहते थे कि उनके अपने देश में चर्च के निश्चित प्रकार के कठोर द्वारा रोम की जाने वाला विनाश धन-प्रवाह रुक जाए। अतः भी इन विभिन्न कर-धारी एवं चर्च के प्रस्थापकों से उन चुकी थी। उन्होंने यह मानना पर करने लगी थी कि उनके कठोर धन से उपायित धन का इटली वल्लो के भोग-विनाश पर समन्वय किया जाता है। इस मानना से धर्म-सुधार सान्दीजन की राष्ट्रीय रूप मिल गया। मार्टिन लूथर की इस नीति ने जनता के मन-मानस पर बड़ा प्रभाव डाला कि—“इस धरती पर सब एक हुए और अविश्व में होने वाले भोगों और लुटेरी में रोम सबसे बड़ा है। हम सभी जर्मनों को उपाय कर रहा है। हमारा जन्म शासक बनने के लिए हुआ था किन्तु हमें धर्मोपचारियों के लुट के नीचे अपना धर्म भुलाने की बाध्यता पड़ गई है। अब यह समय आ गया है, कि स्वाभिमान की दृष्टिकोण (जर्मन) काटि रोम के योग की कठोरता को जाने रहना बन्द करेंगे।”¹

स्पष्ट है कि साम्राज्य और उद्देश्य के दृष्टिकोण से सुधारवादी सान्दीजन धार्मिक होने पर भी सत्ता-सकल दृष्टिकोण तथा सेंटिनल जाति की राजनीतिक संघर्ष की दृष्टि से अपने एक तरह का जटिल राजनीतिक प्रत्यक्ष दर्शाते हैं कि और दूसरी तरह इन प्रयोग पर राजनीतिक विमर्श के लक्षण प्रदान किया। मैसी (Maxey) के शब्दों में, “यह निरीह वास्तव में धार्मिक एवं राजनीतिक था।”²

सुधार सान्दीजन के प्रमुख नेता और उनके राजनीतिक विचार
(*Prominent Leaders of the Movement and their Political Ideas*)
मार्टिन लूथर (Martin Luther, 1483-1546)

इस महान् सान्दीजन के प्रवर्तक मार्टिन लूथर का जन्म दृष्टिकोण जाति के एक कुशल परिवार में 1483 ई. में हुआ था और 1546 ई. में उसका देहावसान हो गया। मैक्सिमिलियन से केवल 14 वर्ष छोटा होने के कारण वह उसका जनमत समझाते थे। अतः वह अस्वाभाविक नहीं था कि उस पर भी पुनर्जागरण का कुछ प्रभाव पड़ा हो। अपनी भावना और प्रवृत्ति में वह मानववादी था, अतः इस दृष्टि से पुनर्जागरण का शिष्ट था, किन्तु अपने धार्मिक निरीह में वह अपने सर्वथा पराधीन था। यह कहा ही चाहिए उपर्युक्त है कि पुनर्जागरण (Renaissance) का यह एक शिष्ट था क्योंकि “स्वभावतः वह उत्तरी (पुनर्जागरण की) भावना

¹ H. S. Petrosian : *Documents of the Christian Church*, p. 238-79.

² “The great revolt was almost as much a political as a religious rebellion.”
—Maxey : *Political Philosophy*, p. 224.

का उत्तराधिकारी नहीं था और न ही उसकी समस्त प्रवृत्तियों का। वह उसकी प्रवृत्तियों और सिद्धान्तों को केवल एकत्रित रखकर करता था, क्योंकि वे उसके लिए आवश्यक थे।¹ उसके द्वारा प्रारम्भ किए गए चर्च-मुफार धान्दीजन के मूल में पुनर्जागरण की भावना नहीं थी।

सूवर प्रारम्भ से ही धार्मिक प्रवृत्ति का था। 1507 ई. में एक पादरी के रूप में प्रतिष्ठित होकर वह बिटेनबर्ग के निम्नविद्यालय में प्राध्यापक पद पर नियुक्त हुआ। 1510-11 ई. के बीच उसने रोम की धार्मिक यात्रा की। प्रथमी रोम-यात्रा में रोम की अनेकिकता और धर्म-अधिकारियों की मन-मोशुकता ने उसके हृदय में चर्च-मुफार की बीज दबड़ा जमा दी। उस समय तक उसके मन में सम्भवतः ऐसा कोई विचार न था कि उसे चर्च से सम्बन्ध विच्छेद कर लेना चाहिए अन्यथा कोई मठा ही धार्मिकारी करने उद्योग पाड़े। किन्तु नीति ही एक और घटना ने उसके धार्मिक हृदय को चम्पीर धापाज पहुँचाया। टेरेल (Tetzel) नामक एक पादरी ने बिटेनबर्ग में पाप-विमोचन के लिए क्षमा-पत्र (Indulgences) नामक एक प्रचलित ही निकुण्ड सिद्धान्त का प्रचार प्रारम्भ किया, जिसके अनुसार कोई भी चली चर्च को कुछ भय डेकर अपने पापों का क्षमन कर सकता था और मोक्ष-लाभ का अधिकारी बन सकता था। अब सूवर चुप न रह सका। इन उपदेशों के विरोध और अपने धार्मिक सुधारों के पक्ष में उसने बिटेनबर्ग में चर्च के द्वार पर 95 धार्मिकारी प्रस्ताव प्रपत्रा मतम्ब (Theses) लिख कर चिपकाए जिनमें चर्च की मर्यादाओं का उल्लंघन करने के लिए कहा गया कि चर्चपात्र के प्राप्त से मोक्ष नहीं मिल सकती। इन पर रोम के अधिकारियों के साथ उसका बहुत बह-विवाद हुआ और उसे चर्च-विक्षुब्ध कर दिया गया। इस प्रकार सूवर के सुधारवादी धान्दीजन का बीजसूत हुआ। वह घटना 1516-17 ई. के घासनाम गयी।

मार्टिन सूवर के राजनीतिक विचार (Political beliefs of Martin Luther)—मार्टिन सूवर का कोई सपरिवर्त राजनीतिक दर्शन नहीं है और जो कुछ भी है वह एक मिलजुल विरोधाभास है।

सूवर ने रोम के विरुद्ध चर्चन की राष्ट्रीय भावनाओं को जाग्रत करते हुए स्पष्ट किया कि रोम ने चर्चन एवं से जति क्षमने क्षमों से नवित कर रखा है। नीतिगत मामलों में रोम का हस्तक्षेप अनुचित है। रोम का रोम के चर्च से राष्ट्र के प्रदेशों पर कोई अधिकार नहीं है और चर्चनी में तथा क्षम देशों में चर्च की सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार नहीं है। रोम तथा क्षम पादरी केवल चर्च के अधिकारी हैं और नीतिक मामलों के लिए अपने तथा क्षम मन्त्रियों में कोई श्रेष्ठ नहीं है। अपने धार्मिक कानून (Canon Law) को सामाजिक कला, नति और सम्पत्ति हस्तगत करने का चर्चपात्र विरोधी क्षमन करता था।

रोमान मरीदव के अनुसार, "चर्च तथा क्षम के सम्बन्ध में सूवर के विचारों की परम्परा बीदहरी जगजगों से गयी सा रही थी। अपने रोमन चर्च के

ही सुधार का साधन बन गया और वही यह निर्णय करने लगा कि सुधार क्या किया जाए।¹

धर्म-सुधार की सफलता के लिए शासकों पर निर्भर हो जाने से सुधार के लिए यह साधनबल ही गया कि यह इस क्रिद्वन्द्व पर कम दे कि प्रजा की विवशता-दुर्बल अपने शासकों की आज्ञा कागरी चाहिए। उसने शासकों को देवता स्वल्प और सामान्य मनुष्य को 'मौतान' मानते हुए कहा—“इस प्रकार के शासक देवता है और सामान्य मनुष्य मौतान है। सामान्य मनुष्यों के शासन से ईश्वर कभी-कभी ऐसे काम करता है जो वह सीधे मौतान के शासन से करता है। उदाहरण के लिए वह मनुष्य के पापों के दण्ड के तौर पर बिरोध करवाता है।” सुधार ने कहा—“मैं जनता के ग्राह्यपूर्ण कार्य की तुलना में शासक के ग्राह्यपूर्ण कार्य को छूट कर लूँ।” निष्क्रिय आज्ञाचालन (Passive Obedience) का प्रथम समर्थन करते हुए उसने घोषित किया—“अपने से ऊँचे लोगों की आज्ञा का पालन करना और उनकी सेवा करना, इसके अन्धकार और कोई नहीं है। इसीलिए ममता, हठ, अविवशता, चोरी और बेईमानी, इन सबके बड़े पाप हैं।”

सुधार ने एक और ही आशय में यह शिक्षा दी कि पादरिषी सबका समर्थिकारियों के दुश्मनों की रोककर उनका सुधार करना व्यक्ति का कर्तव्य है किन्तु जर्मनी के कुछ ही राजा राजनिक ग्यान के नाम पर अपने शासकों के विरुद्ध बिरोध करने पर शासकों का पन लेते हुए सुधार ने शासकों की आज्ञा को कि वे बिरोध को दबाने के लिए निर्दयतापूर्वक बिरोधियों की हत्या कर दें। राजाओं के सविचार का समर्थन करते हुए अपने घोषण की—“इन परिस्थितियों में हमारे राजाओं की समझना चाहिए कि वे जनमान के प्रकोप को क्रिद्वान्धित करने वाले सविचारों हैं। ईसी प्रकोप ऐसे दुष्टों की दण्ड देने की आज्ञा देता है। इन परिस्थितियों में जो राजा राजाओं से बचना चाहेंगे, वह उन सब हत्याओं और अपराधों के लिए उत्तरदायी होंगे, जो वे सुधार (बिरोही निगलन) कर रहे हैं। यह बहुत कम के कम पर अपने कर्तव्य समझाए जाने चाहिए।”²

पुनश्च, वही सुधार ने एक और ही व्यक्ति के लिए सविनय आज्ञापालन का विद्वान्त राजा और राजाओं के प्रति सक्रिय विरोध की शिक्षा भी दी। दूसरी ओर सम्राट के पक्षीय राजागण द्वारा सम्राट की अवहेलना करने के विचार का पीछा किया, यदि वह (सम्राट) अपनी शक्ति का उत्थपन करे। पालन में सुधार का यह परस्पर विरोधी दृष्टिकोण था। एक विचार का एक स्थान पर समर्थन करके दूसरे स्थान पर उसने उसी विचार का अन्वय कर दिया था। उन्नी सत्रह उन्नीस बीच और सम्राट दोनों की शक्ति का विरोध करते हुए राजाओं की शक्ति का समर्थन किया।

1. केलन : राजनीतिक धर्म का इतिहास, भाग 1, पृष्ठ 327-28

2. Jewell : Western Political Thought, p. 275.

इस मंगलहीन एवं विरोधी दृष्टिकोण का एक उदाहरण यही था कि सूत्र सभा के प्रति कब करने का सर्वोत्तम उपाय का नाम था या कि राजाओं को अपने पक्ष में कर लिया जाए। साथ ही राजाओं को अपने पक्ष में करने का ही यह पक्ष को उभावहीन बना सकता था। केसाइन के अनुसार—“राजों के उत्तर सभा के वास्तविक प्रति केवल नाममात्र की थी। इसलिए, इस संस्था का व्यवहार में कोई विशेष महत्व न था। यह निराकर सूत्र निर्णय रूप से इस विद्वान्त का समर्थन था कि राजा संस्था विरोध करना नैतिक दृष्टि से अनुचित है।”¹

सूत्र के विचारों में विरोधाभास इस बात में भी है कि इस तरह के उन्नी राजाओं को ‘देवता’ कहा और दूसरे राजा पर उन्हें साम्राज्य का पट्टा पर लगी बना पूर्ण और निष्पक्षता पूर्ण कहा। ‘तब ऐसे सूत्रों और सूत्रों की आशावादन के सर्वसाधारण के समर्थन कर्तव्य पर बात देना कहा। तब मुक्ति-संपन्न था? भागे उसने कहा कि यदि कोई राजा भक्ति से अपना कर्म-संग्रह करने को बड़े ही व्यक्ति को राजाता दुरुप्राप्ति के लिए और अपने एक मुक्त देना चाहिए। इन सबका धर्म यही निकलता है कि सूत्र की विचार-राज्य में ‘राज्य के प्रति भक्ति ईश्वर के प्रति भक्ति से सीमित’ थी।

यह कि वह कहना होगा कि सूत्र के सभी विद्वान्त राजाओं की व्यक्तिगत के प्रतिष्ठाम में। राजाओं ने वैयक्तिक स्वार्थसूत्र सूत्र का समर्थन किया और उसे संपन्न दिया, यही सूत्र में उन्हें और एक सभा के सत्ता का समर्थन हुए उनके ईश्वरी अधिकारों का घोषणा किया। पारसीय के साम्राज्य वास्तविक होने और उत्तम राजकीय कायों की गवाहों के समर्थन होने के विचार में 16वीं सदी के राजाओं को बड़ा सहारा दिया। आधुनिक यूरोपीय विचार में सूत्र सत्तावाद का उल्लेख नहीं, बल्कि राज्यवाद (Statism) का उल्लेख है कि हुआ। मैकगवर्न ने सूत्र के विचारों पर लिखी करते हुए एक ही लिखा है “सूत्र में धर्म में सुधार करने के उद्देश्य से, धारण किया और धर्म किया राज्य-सुधार के पक्ष में। अपने कारण तो किया वैयक्तिक स्वतन्त्रता और धर्म की स्वतन्त्रता के पक्ष को लेकर किन्तु धर्म में उनके विद्वान्तों ने प्रतिपादित यही किया कि राजाओं की ईश्वरी अधिकार प्राप्त है तथा उन्हें व्यक्तियों के बीच धार्मिक विद्वान्तों के प्रकार का भी पूर्ण अधिकार है। सूत्र ने कारण तो किया धर्मराष्ट्रीयतावादी की भक्ति सभी राज्यों की जनता के लिए एक उद्देश्य के साथ किन्तु धर्म किया एक देशी अधिकारी राष्ट्रीयता के विद्वान्त के साथ जो धर्म के लिए उन्हें एक दूसरे का विरोधी बना देता है। अपने कारण किया इस विचार से कि राजा भक्ति में नैतिक रूप से क्षमता है किन्तु उपसंहार किया इस विचार में कि सभी लोगों को यही सूत्र अपने राज्याधिकारियों की निरंकुश दृष्टि के समर्थन रहना चाहिए।”²

1. केसाइन : राजनीतिक धर्म का इतिहास, पृष्ठ 1, पृष्ठ 329.

2. *My Government : From Luther to Hitler*, p. 31.

मूवर की रचनाएँ—मार्टिन मूवर ने व्यक्तिगत: अपनी लेखनी सामिक साहित्य-निर्माण में ही बनाई किन्तु: इसी काल में अपने राजनीतिक विचारों का भी रचनाकरण किया। राजनीतिक विचारों की दृष्टि से उनके प्रमुख उत्पत्तिकाल है—

1. 'टेबल टॉक' (Table Talk),
2. 'लेटर टू द जर्मन नोबिलिटी' (Letter to the German Nobility)
3. 'ऑफ़ सेकुलर ऑथोरिटी' (Of Secular Authority), तथा
4. 'लिबर्टी ऑफ़ अ क्रिश्चियन मैन' (Liberty of a Christian Man)

मेलान्थिया (Melancthon, 1497-1560)

मार्टिन लूथर का शिष्य द्वितीय जर्मन मेलान्थिया (1497-1560) रोम की दृष्टि से लुथरवादी आन्दोलन का वास्तविक दार्शनिक या कथोक्त बहु लूथर की प्रेरणा प्रदत्त बुद्धिवादी, विचार, मान्यतावादी और समन्वयवादी था। उसने लुथरवादी आन्दोलन का वैज्ञानिक वर्णन प्रस्तुत करने की चेष्टा की और इसीलिए अपने विचारों को व्यवस्थित करने का प्रयास किया, लेकिन आन्दोलन में आए लेखों के प्रत्यक्ष रूप उसे लूथर के समान ही निकट परिधिपरिधियों का अनुसरण करना तथा और समन्वय उनके विचारों में भी मान्य-विरोध और असंगतियाँ प्रवेश कर गई।

मेलान्थिया ने राजनीतिक और वैज्ञानिक विचारों की व्यक्तिगत रचनाएँ कुछ 'ओपेरा' (Opera) में हुई हैं। मेलान्थिया ने अपने राजनीतिक चिन्तन का आधार प्राकृतिक विधि और प्राकृतिक अधिकार को बनाया तथा यह मान्यता प्रकट की कि विश्व में कोई एक ऐसी प्राकृतिक व्यवस्था व्यवस्थित है जो प्राथमिक के जीवन को सुचारु करती है। मेलान्थिया ने प्राकृतिक विधि के दो श्रोत माने—प्रकृति, वाद्विल में और द्वितीय, प्रत्यक्ष प्रकृति में। उसने कहा कि वाद्विल के Decalogus में दिए गए प्रथम दशवीय आदेश और मन्तिन का दूसरी दशवीय आदेश प्राकृतिक विधियों तथा प्राकृतिक अधिकारों के स्वरूप और प्रकृति पर प्रकाश डालते हैं। इन दशवीय आदेशों में दश बात का विशेषण मिलता है कि अनुभव का दूसरे के प्रति और अपने प्रति के प्रति बरा बरा है। मेलान्थिया के अनुसार वाद्विल के Decalogus से निर्धारित किए गए व्यवस्था प्रकृति के विरोधालय से व्यक्तिगत विरोध द्वारा मानव प्रकृति के सम्बन्ध में निकटित किए गए सभी मानवीय सम्बन्ध वास्तव में प्राकृतिक अधिकार हैं।¹

मेलान्थिया ने दूसरे की दृष्टि को राजसत्ता का आधार माना और कहा कि सभी द्वारा भी उसे प्राकृतिक सिद्ध किया जा सकता है। मेलान्थिया ने राजसत्ता का मुख्य कर्तव्य यह माना कि वह मानव स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की रक्षा करे, शान्ति को व्यवस्था करे, व्यवसायियों को समझ दे और नीची में व्यक्तिगत तथा वैयक्तिकता का प्रसारण और विकास करे।

स्वतन्त्रता और सम्पत्ति दोनों को मेतार्क्या ने प्राकृतिक मान्य और इसके पक्ष में ग्राह्यित के Decalogue के उक्त कथन का हवाला दिया जिसमें सम्पत्ति के लिए कहा गया है कि उसका व्यवहार नहीं किया जायगा। पर मेतार्क्या ने ज्ञान ही यह भी कहा कि यदि इस देव ऊपर सम्पत्ति का दुरुपयोग किया जाए तो राजघराना को उसे चीन केरा चाहिए। कारण वे मेतार्क्या यह चाहता था कि मैथॉनिक मछो और रोमन चर्च की सम्पत्ति का दुरुपयोग न होने जाए, उन् पर सम्बन्धित नियमों के लिए राजघराना का हस्तक्षेप बना रहे।

बर्मेघराना और राजघराना के बीच सम्बन्ध पर अपने विचार व्यक्त करी हुए मेतार्क्या ने कहा कि "राज्य का कार्य केवल पेट-पूसा की भाषणा ही नहीं है वरन् सत्यता का कवचाण भी है।" धार्मिक कवचाण के लिए राज्य द्वारा उन काष्ठ व्यवस्थाओं का निर्माण किया जाना चाहिए जिनमें सत्यता का सामाजिक विकास हो सके। मेतार्क्या ने कहा कि धार्मिक और भौतिक कार्यों के बीच ऐसी कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती कि दोनों एक दूसरे के करीबा पुनर् और स्वतन्त्र रहे तथा एक के बिना दूसरे का काम चल सके। दोनों के अनिवार्य सम्बन्ध है और इस सत्य की स्वीकार किया जाना चाहिए। राज्य के कार्य ऊपर से देखने पर भले ही भौतिक कार्य पर ध्यान कम से कमका प्राप्त उद्देश्य की साम्याविवन ही है। बर्मेघराना का प्रमुख कार्य ईश्वरीय उपदेशों की सीधी तक पहुँचाया और ईश्वर की सहायता में सीधी का विचारवादा बनाए रखना है लेकिन इस उद्देश्य की शक्ति के लिए भौतिक साधनों की प्रेरणा नहीं की जा सकती।

जिन्गली (Zwingli, 1484-1531)

धर्मविमर्श (1484-1531) नूबर का समकालीन और मुबारकारी कर्मिता का एक मुख्य अवलोकन का विस्तृत सिद्धांतकार के धर्मिता की साथ जुड़ाई जिन्गली का प्रोटेस्टेन्ट चर्च नूबर के प्रोटेस्टेन्ट चर्च की प्रेरणा धर्मिता उक्त और धर्मिताकारी था। जिन्गली ने प्रारंभिक चर्च की धर्मिता स्वतन्त्रता और चर्च की की राजनीतिक स्वतन्त्रता में विश्वास प्रकट किया। चर्चों के बीच के विचारों की सीध की देवघर जिन्गली का मन मुख्य है उक्त और चर्चों के बीच की शक्ति की सीध विचारों का हस्तक्षेप के किया। उसे यह धर्मिता लगा कि चर्च के ऊपर राजघराना का धर्मिता, यह शक्ति धर्मिता व्यवस्था पर विचार न हो सके। सिद्धांतकार के इन धर्म-मुबारक ने 1519 ई. में सत्य-चर्चों के विचारों की प्रेरणा में विचार दिया, चर्च द्वारा सत्य चर्चों को केरा के चर्चों करने का विचार किया और 1529 ई. के चर्च के विचार चर्चों प्रेरित "47 धर्मिता" के प्रकट किए। जिन्गली ने चर्च की दृष्टियों को प्रकट किया और चर्च, नादरी, यह धर्मिता का चर्च करने का सिद्धांत गया। नूबर के साथ चर्चों के चर्चों नूबर नहीं सके। 1531 ई. के सिद्धांतकार की धर्मिता केचरी की सीध और प्रोटेस्टेन्टों की सीध में पुनर् द्वारा विचारों प्रोटेस्टेन्टों की प्रेरणा हुई और जिन्गली पुनर् में साथ गया।

जिन्सनी ने नूबर के लिखित पत्रों का सुधार लगभग के दस वर्ष पहले से निम्नलिखित धर्म की ओर करने विचारों को कार्यान्वित भी किया। पर लिखित धर्म कायम से ही मतभेद था, उन्हें वे नहीं और इतिहास परिष्कार की दृष्टि से नूबर तथा जिन्सनी दोनों ही सुधारवादी चार्च का प्रायोगिक के दो धर्म थे। नूबर की चार्च ही जिन्सनी ने धर्म को एक समुदाय और दूसरे: साम्प्रदायिक संस्था माना और कहा कि इस साम्प्रदायिक धर्म के लिए धर्मवादी जाने वाली पुस्तक तथा जमायना प्रचारितवादी बाह्य हैं, यतः उनका साम्प्रदायिक के धर्मार्थ होने उचित है। नूबर ने सभी में जिन्सनी ने धार्मिक क्षेत्र में उन सभी बातों पर राज्य का क्षेत्राधिकार माना जिन्हें बाह्य से देखा जा सकता था और जो बाह्य रूप से धर्मकारिक थे। जिन्सनी ने कहा कि धार्मिक समूहों और समुदायों भी साम्प्रदायिक से होकर बाह्य वस्तुएँ हैं। यतः उन पर राज्य का क्षेत्राधिकार होगा चाहिए। जिन्सनी के इन विचारों पर लिखनी करने हुए रॉबिन ने कहा कि "उनकी अवस्था ने मुख्य और धर्म को एक ही समूह में काम दिया।"

राज्यवत्ता की निर्दिष्टता पर नूबर के समर्थन रखते हुए सुनिवर ने भी निम्नलिखित साक्षात्कार की नीति का समर्थन किया और कहा कि जब तक राजा का धर्मविषय न हो तब तक जमायना की उसका प्रतिष्ठा करने का उसकी धर्मता करने का अधिकार नहीं है यदि राजा का धर्मविषय नहीं है तो उसका हर मूल में धर्मता जिन्सनी माना चाहिए, चाहे उस धर्म से न्याय को प्रेरित हो होगा न। जिन्सनी ने यह भी कहा कि धर्म की धार्मिक सम्पत्ति बाह्य वस्तु है यतः उस पर राज्य का अधिकार प्रेषित है। धर्मता ने जिन्सनी राष्ट्रीयता का धर्म या और विदेशीकरण की धार्मिक व्यवस्था पर उसका ध्यान प्राप्त तक केन्द्रित रहा। उसका यह निष्कर्ष था कि राज्य की धर्म के सहारे ही धार्मिक क्षेत्र में सुधारवादी विचारों का प्रसार सम्भव है।

कार्लिबन (Calvin, 1509-1564)

जॉन कार्लिबन नूबर के प्रभाव ही अवसरदाता धर्म-प्रचारक था। धर्म-सुधार राजनीतिक विचारों को कथन रूप से रखने और उनका धार्मिक परिणीत विवेक करने का क्षेत्र कार्लिबन को ही दिया जाता है और इसलिए सभी-सभी उसकी सुधार धर्मोत्थान का 'विधानधर्म' (Law-giver) भी कहेंगे हैं। उसके प्रति सम्पूर्ण 'इंग्लिशमन' धर्म विनिर्माण विनिर्माण' (Institution of Christian Religion) में उसके द्वारा प्रोटेस्टेंट धर्म का एक सर्वोच्च, कथन एवं धार्मिक विवेक मिलता है।

जॉन के विचारों का एक नमूना में वर्ष 1509 ई. में उत्पन्न हुए कानून के विवेक कार्लिबन का प्रारम्भ से ही धर्म और राजनीति-धर्म की ओर सुधार था। समकालीन धर्मधर्मों के अध्ययन में उसकी कुछ विचारों हो गया कि धर्म-सत्ता और राज्य-सत्ता में समीर नूबर की धर्मवत्ता है। यतः उन्हें करने विचारों का प्रसार नूबर कर दिया जिन्सनी प्रभाव और जमायना के कारण यह

सुधारवादी मान्यताओं के एक महत्त्वपूर्ण विचारक के रूप में उल्लिखित हुआ। 1533 ई. के तत्काल प्रोटेस्टेन्टवाद में परिणत हो जाने के बाद उनके ईश्वरीय प्रमाण का ही मान कर सिद्धांतवाद में घातक देखा गया। यहाँ बेरिग (Barla) ने अपने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'इन्स्टीट्यूट ऑफ़ क्रिस्चियन रिजिजन' लिखी। येनेवा (सिद्धांतवाद) ने वह लगभग 3 वर्ष तक अहम और प्रोटेस्टेन्टों के सम्मुख में प्रकाशता देता रहा। किन्तु अपने कठोर व्यवहार और नियमों के कारण उसे अच्छा का कीमती मान बन कर येनेवा के चले जाना पड़ा, पर धीरे-धीरे उसे मान्यता प्राप्त हो गई। उसकी अनुपस्थिति में येनेवा का सिद्धांत ने महत्त्व कम हो गया कि उसके बिना उनका काम नहीं चल सकता था। कात्थिक एक मतवादी ही सुप्रसिद्ध प्रकाशक या धीरे-धीरे येनेवा का अनुयायी को उस जैसे व्यक्ति की मान्यता थी। यहाँ उसे अपने विचारों के अनुसार धर्म प्रकाश मान्यता स्थापित करने में सफलता मिली। उसकी लोकप्रियता और सक्ति दिन-दिन बढ़ती गई। 1564 ई. में अपनी मृत्यु तक वह इस तरह का धार्मिक और राजनीतिक आकाशवादी बना रहा।

कात्थिक के राजनीतिक विचार (Political beliefs of Calvin)—
'इन्स्टीट्यूट ऑफ़ क्रिस्चियन रिजिजन' लिखने में कात्थिक के सिद्धांत उद्देश्य थे। प्रथम, वह कात्थिक के उपदेशों के अनुसार उत्तम ईश्वरीय व्यवस्था करने के बारे में मान्यता है कि मान्यता व्यवस्था की एवं सुप्रसिद्ध सिद्धांतों का प्रतिपादन करना चाहता था। वह प्रोटेस्टेन्टों के लिए एक ऐसी शक्ति चाहता था जो उनके लिए उसी तरह का काम करे जैसे रोमन चर्च, ईश्वरीयों के लिए करता था। दूसरे, कात्थिक नहीं के प्रोटेस्टेन्टों पर 1535 ई. में प्रकाशित हुए वह मान्यता का सुझाव उत्तर देना चाहता था जिसमें उन्हें अपने शक्ति को बढ़ाकर अहमता प्राप्त हो और अहमता का गुरु कहा गया था।

कात्थिक ने बताया कि ईश्वर की निरपेक्ष सम्प्रदाय सम्पूर्ण विश्व में विद्यमान है। यह सम्पूर्ण विश्व विचार ईश्वरीय नियमों के चर्च में रखा हुआ है और समस्त परमार्थ ईश्वरीय व्यवस्था का परिणाम है। सामाजिक और राजनीतिक समस्याएँ, अहमताएँ, परिणाम, सम्प्रदाय, धर्म और राज्य भी ईश्वरीय व्यवस्था का ही एक चर्च में उल्लिखित करती हैं। धर्म और राज्य मिलकर पृथ्वी पर ईश्वरीय साम्राज्य स्थापित करें, यही कात्थिकवादी काव्य है।

कात्थिक के धर्म का मूलमूल्य था—अनुग्रह ईश्वर का गुण होता है अहमता है। अनुग्रह की दृष्टि की शक्ति धीरे-धीरे उसके हृदय की कठोर बनाने के लिए उसके सम्प्रदाय और कोई सिद्धांत नहीं हो सकता था। कात्थिक के इस विचारों के सिद्धांत का धार्मिकीय दुर्घटना की संवेदन सम्प्रदाय से कोई सम्बन्ध न था। उसने अहमता और अनुग्रह के अहम ईश्वर की सम्प्रदाय का अहमता मान्यता किया था।

कात्थिक ने विश्व विचारक सिमोनी (Zwilling) के इस विचार का अहमता दिया कि धर्म तथा राज्य का एक ही व्यवस्था के अहमता एकीकरण किया जाए। सिमोनी ने धर्म और राज्य की अहमता मान्यता है कहा था कि समाज की अपने

राजनीतिक और धार्मिक विषयों के निष्कर्षों का अधिकार होता चाहिए। इसके विपरीत कार्लिन का विचार था कि जब भी राज्य दोनो ईश्वर द्वारा सर्वोच्च पुण्य प्रयोगों की पूर्ति के लिए स्थापित है मगर उन्हें स्वतन्त्र एवं पुनश्च ही स्थापित करना चाहिए। उसने कहा कि ईश्वर ने मूसा (Moses) को जो कानून प्रदान किए थे, उनके दो भाग हैं। पहले भाग में वे नियम हैं जो ईश्वर के प्रति मनुष्य के साधरण को निर्धारित करते हैं दूसरे भाग में वे नियम हैं जिनके द्वारा यह नियम होता है कि मनुष्य के साथ कैसे व्यवहार होना चाहिए। इन दोनो भागों को लागू करने के लिए ही ईश्वर ने दो महान-महान शक्तियों को प्रतिष्ठित किया है। पृथ्वी शक्ति के अधिकारी पादरीयों और दूसरी के राजागण हैं। पादरीयों का जन्मा एक वर्ष है जिसका अर्थ है मासिक है। उसे अपने को केवल धार्मिक विषयों तक ही सीमित रखते हुए, नीतिक मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

कार्लिन ने जब भी राज्य की पुनर्रचना स्वीकार करते हुए भी यह माना कि दोनो स्थापना से एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। दोनो की स्थापना ईश्वरीय कानून की पूर्ति के लिए हुई है। दोनो का मार्ग ईश्वरीय इच्छा का ही प्रतिनिधित्व करती है, मगर दोनो को मिलकर पृथ्वी पर ईश्वरीय शासन का स्थापना करनी चाहिए पर दोनो में सबसे नीचिय मामलों को अधिक महत्व दिया। "नीतिक" शासन की चाहिए कि जब तक इस मनुष्य के बीच रहे, यह हमारे भीतर ईश्वर की वास्तविकता की मानना उत्पन्न करे, विमुक्त धार्मिक सिद्धान्त तथा धर्म की रक्षा करे, हमारे जीवन को मानव-मानव के अनुकूल करे, राजनीतिक मान के अनुसार जीवन का निर्माण करे, हम के पारस्परिक सम्बन्धों की भावना उत्पन्न करे तथा शांति बनाए रखे।" कार्लिन ने धर्म को राज्य की स्थापना मानते हुए बताया कि धर्म की रक्षा करना राज्य का सर्वोच्च कर्तव्य है। धर्म एवं व्यवस्था को रक्षा करना राज्य का सर्वोच्च कर्तव्य है। केवल के अनुसार, "यह सही है कि कार्लिन ने ईसाई धर्म के इस दृष्टिकोण को दोहराया कि धर्म धार्मिक विचारों को बल पूर्वक आरोपित नहीं किया जा सकता, लेकिन व्यवहार में वैयक्तिकता लागू करने की राज्य की शक्ति के ऊपर उसने कोई अनुपम नहीं रखा।"

कार्लिन ने राज्य का प्रथम कर्तव्य माना कि यह शक्ति धर्म धर्म का दोषण करे तथा मुक्ति-पुनरा, नास्तिकता और मन्त्र धर्म की निन्दा का प्रयत्न करे। धर्म अपने सिद्धान्त और नीतियों का निर्धारण करे तथा राज्य द्वारा उनके पालन की व्यवस्था की जाए। इसका अर्थ होता कि वैयक्तिक रूप से राज्य को धर्मशास्त्र (Theologians) बना दिया गया। इसका सर्वोच्चतम उदाहरण केवल मनुष्यत्व की व्यवस्था का दिया जा सकता है जो कार्लिनवादियों का यह था और जहाँ कार्लिन एक तालाब-का बना दिया था। बहुत पादरीयों और राजनीतिक धार्मिक विचारों को निर्देश देते थे। इनका प्रभाव और शासन पर व्यापक प्रभाव था। कार्लिन ने सुधार की राष्ट्रवादी धार्मिक अनुभूति का प्रभाव था। जहाँ सुधार ने धर्म के

सांस्कृतिक पक्ष पर बल दिया। बहुतों का लिखन ने धार्मिक-निराकरण, अनुशासन और शैक्षणिक-संशोधन में अपने छात्रियों के प्रति सम्मान को विशेष महत्व दिया। यही प्रेरित (Prestige) चर्च की सार्वभौम नैतिक शिक्षाएँ बन गईं। अनुशासन और पाठियों के क्षेत्रों पर बल बल देने का परिणाम हुआ "सन्धी का प्रसङ्गीय साधन, प्रत्यक्ष व्यक्तिगत विषयों का घोर विनिर्देश जो विश्व-व्यापक जामुनी पर साधारण या घोर विशिष्ट सार्वजनिक व्यवस्था की स्थापना, वैयक्तिक धार्मिक पर पूर्ण निरन्तर और विमुक्त निरन्तर तथा उपासना के बजाए रखने में अन्तर प्रत्यक्ष सम्पन्न था।"

कार्लिन ने चर्च के सङ्गठन पर भी विचार व्यक्त किए। उसने लोकतांत्रिक कर्तव्यों का समावेश करते हुए इन बातों पर बल दिया—(1) उचित धार्मिक के विषयों की निश्चित करने वाले महा अधिपति (Elders) की एक सभा (Assembly) हो, (2) नास्तिकों को चर्च से बहिष्कृत करने का अधिकार हो, एवं (3) राज्य धार्मिक मामलों के दृष्टि और स्वयं की (चर्च को) भौतिक कार्यों के समग्र रक्षा जाए।

कार्लिन के चर्च का सङ्गठन गणतन्त्रीय था। चर्च के मुख्य अधिकारी वार्षिक संसदों द्वारा चुने जाते थे। इस पद्धति के द्वारा निरन्तर सङ्गठन करने में समझौता होती थी। औद्योगिक रूप से चर्च की सक्रिय सम्पूर्ण ईसाई समाज पर थी। जेनेवा के पादरी चर्च की सक्रिय करी सम्मान थी। कुछ देशों में बहुतों कार्लिन के सहायकों की कम संख्या में के बहुतों राज्य द्वारा इन पर बहुसंख्या का चर्च मानने के लिए धार्मिक होते थे। ऐसे देशों में इन्होंने लोकतन्त्रीय विधानों पर अधिक बल दिया।

कार्लिन ने मानव-व्यवस्था को स्वार्थों, कोरी एवं पक्षीय प्रवृत्ति का बहाकर उसको राज्य द्वारा नियंत्रित किए जाने का समर्थन किया। उसका बल था कि राज्य की उत्पत्ति समुच्च की मुख्य प्रवृत्ति पर विरोध करने के लिए हुई है। उसने घोषित किया कि निरन्तर की व्यवस्थाओं और व्यवस्था को दूर कर सुरक्षा की मानवीय भावना में ही राज्य की उत्पत्ति का रहस्य निहित है। कार्लिन के इन विचारों से सभी अनुकरणवादियों के लिए प्रेरणा मिली है।

सुनर की भाँति ही कार्लिन ने भी विविध धार्मिक (Pagan obedience) पर बल दिया। उसने राज्य की आज्ञा का बल मानने में पावन करना प्रजा का वरिष्ठ धार्मिक कर्तव्य बताया। उसने कहा कि लौकिक शक्ति, मुक्ति का बल मानने है, यह, धार्मिक का यह मतलब समझनीय है। यह ईश्वर पर प्रतिनिधि है और उसका विरोध करना ईश्वर का विरोध करना है। यदि कुछ लोगों को अराजक माना है तो यह उनके पाप के कारण है। लोगों को अराजक मानना का भी इसी भाव से आज्ञा पावन करनी चाहिए जिस भाव से वे अपने स्वयं की आज्ञा का पालन करते हैं। वास्तविक और पर का ही। कार्लिन के इस विचार के सम्बन्ध में केवल ने कहा है—“यह सही है कि 16वीं शताब्दी के

राजाओं के ईर्षी अधिकार के समस्त समर्थकों की भाँति कार्लिबन ने भी प्रजापन्थी के प्रति राजाओं के कर्तव्यों का अन्वेषण किया है। विपत्तियों की घलत विधि जिस प्रकार प्रजापन्थी पर लागू होती है, उसी प्रकार शासकों के ऊपर भी। निष्पक्ष शासक ईश्वर का निराला होता है। अपने पञ्चवीं लॉक (Locke) की भाँति उसका भी यही विचार था कि व्यवहार-विधि नैतिक रूप से अनुचित कानों के लिए दर्श की व्यवस्था करती है। लेकिन निष्पक्ष शासकों को दर्श देना ईश्वर का काम है, प्रजापन्थी का नहीं। कार्लिबन के लिए यह दुश्मनियों प्रहृत करना स्वाभाविक ही था—कुछ ही दिनेश ने उसकी रणनीति देखते हुए घोर कुछ इस भाँति के कारण कि शासक कार्लिबन का धर्म क्रांति के राजाओं का धर्म माना जाए।¹

कार्लिबन का यह भी विचार था कि राज्य में छोटे-छोटे मध्य-स्थल होने चाहिए जो राजा की शक्तियों को समत रमें घोर यदि वे उसकी आकांक्षायी प्रवृत्तियों को न रोक सकें घोर उसके विरुद्ध अवस्था की रक्षा न कर सकें तो स्वयं कर्तव्यहीनता के चोब के भागी बनें। उसने कुछ राजाओं ने प्रजा की राज्य का विरोध करने का भी अधिकार दिया। उसने बताया कि राजा के जो आदेश ईश्वरीय आकांक्षों के प्रतिफल हो उनकी अवहेलना की जानी चाहिए घोर यदि कोई अनुचित रूप से राज्य की सत्ता हथिया ले तो ईसाइयों को क्षम प्रहृत करने से भी नहीं हिचकना चाहिए। कार्लिबन के इन विचारों ने लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों के विकास में बड़ा योग दिया। उनके सिद्धान्त सूचक के सिद्धान्तों की अनेका धर्म, हर्तुमन्, स्मार्तमन् घोर हर्मन् के अधिक लोकप्रिय हुए।

शासक ने कार्लिबन का 'निष्पक्ष-आकांक्षालय' का राजनीतिक सिद्धान्त कुछ परिवार-की चीज थी, क्योंकि उस पर परिवर्तितियों का बड़ा आकांक्षी के प्रभाव पड़ सकता था। "एक घोर ही कार्लिबन ने अवहित सत्ता के प्रति किए जाने वाले समस्त विरोध को दुष्टतापूर्ण बताया था, लेकिन दुष्टता घोर उसका मूल सिद्धान्त था कि सर्व की दुष्ट सिद्धान्तों की योग्यता करने का घोर लोकिक सति की सहायता के सार्वभौमिक नियन्त्रण स्थापित करने का अधिकार है। यह एक माना हुआ निष्कर्ष था कि यदि किसी राज्य का शासक कार्लिबन द्वारा अविवर्धित सत्ता की स्वीकार नहीं करेता घोर अनुशासन की लागू नहीं करेता तो उसे अपने प्रजापन्थी के आकांक्षालय का अधिकार नहीं रहेता घोर प्रजापन्थी के लिए उसका विरोध करना अविवर्धित ही अव्यक्त। जहाँ आकांक्ष की अवलोक के रूप अवलोक होता घोर अविवर्धित के द्वारा आकांक्ष लाभ की अवलोक होती, जहाँ आकांक्षी से इस परिवर्तित की अवलोक की जा सकती थी।"²

कार्लिबनवाद की इस चर्चा के प्रत्यक्ष में उसकी एक चर्चीत चर्चनीय की जान लेता चाहिए जो यह थी कि निष्पक्ष व्यक्ति आकांक्षी की करने-करने इस के व्यवस्था कर सकते थे। प्रत्येक व्यक्ति अपनी व्यवस्था की ही अवलोक था घोर दुष्ट

वी प्रगति शान की गल्ले से जो इन्कार कर देता था । चूंकि यह एक सामान्य नियम बन गया था कि इसी तरह वास्तुतः का प्रत्यक्ष करना एक धार्मिक कर्तव्य है, उदात्त की प्रवृत्ति बनता एक धर्म है, अतः प्रत्येक शासक अपने द्वारा निमित्त कायुक्तों को मारना तथा का धार्मिक कर्तव्य बनता था । यह दावा करता था कि निरोधित का रक्षण किया जाता था । इस प्रवृत्ति का परिणाम यह निकलने लगा कि राजनीतिक उच्छेदकता एवं धार्मिक दमन की नीति को प्रोत्साहन मिला । 'धर्म का धर्म तथा का धर्म' मानने का सिद्धान्त बन पड़ता तथा धर्म तथा के धर्म के समर्थन करने वाले व्यक्तियों पर अत्याचार किए जाने लगे । धर्म-धर्म यह अनुभव दिया जाने लगा कि एक ही धर्म मानने का प्रयत्न धार्मिक और व्यवस्था के लिए कष्टकर है और एक धर्म-निरोधक राज्य का होता आवश्यक है । यहाँ स्वरुप है कि धर्म ने राज्य और धर्म दोनों को धुंधलका कर दिया इनकी एक सीमा-रेखा की धर्म की धर्म, जिसका धर्म ही अधिकतर नहीं कर सकते थे । अतः इसका भी यह महत्वपूर्ण परिणाम हुआ कि धर्मनिरपेक्षता यहाँ-यहाँ फैला, यहाँ इसके अनुयायियों ने उन धर्म मानकों का विरोध किया, जो धर्म के मानने में हानिजन करते थे । इनके धार्मिक और राजनीतिक स्वतन्त्रताओं के नुकसान करने का विचार उत्पन्न हुआ । जॉन नॉक्स

(John Knox, 1505-1572)

मार्तिन लूथर और काल्विन दोनों अनुयाय एवं कटिवादी थे जिन्होंने राज्य की नीति उत्पत्ति की स्वीकार करके राजनीति अधिकारियों के नीति में वृद्धि की तथा निष्क्रिय-प्राज्ञाकारिता (Passive Obedience) का उपदेश देकर राजनीति निरहुताकार के सिद्ध करने प्रयत्न किया । किन्तु जब स्कोटलैण्ड, जॉन एवं नीरुपेक्ष में राज्य द्वारा प्रोत्साहित सिद्धान्त की बात के काल्विनवादियों पर आयाचार किए जाने लगे तो काल्विन के अनुयायियों ने राज्य के प्रति निष्क्रिय प्राज्ञाकारिता के सिद्धान्त का खारिजा करना आवश्यक समझा और यह मत बिखर गया कि अन्तःकरण की स्वतन्त्रता प्राज्ञाकारिता के उपर है, अतः व्यक्ति को राज्य की आज्ञा करने का अधिकार आवश्यकता प्राज्ञाकारिता के उपर है, अतः व्यक्ति को राज्य की आज्ञा करने का अधिकार है । धर्म के निष्क्रिय काल्विनवादियों ने काल्विनवाद को आधुनिक कालुओं में फैला दिया किन्तु इसके अनुयाय शासक और अधिकार दोनों ही आधुनिक कालुओं के मर्जीन थे । इस सिद्धान्त के आधार पर काल्विनवादियों ने राज्य की अधिकारों पर कुछ प्रतिबन्ध लगाए जो उनके लिए अतर्क्य बन गए थे ।

राज्य की आज्ञा के अधिकार को स्वीकार करने वाला ऐसा ही एक विचारक जॉन नॉक्स था । जॉन नॉक्स ने निष्क्रिय प्राज्ञाकारिता के सिद्धान्त की प्रवृत्ति का खारिजा देकर सिद्धान्त का खारिजा दिया । इसका प्रभाव कारण स्कोटलैण्ड में प्रोटेस्टेंट धर्म की विशेष परिस्थितियों थीं । 1558 ई. के स्कोटलैण्ड के कैथोलिक-धर्माधिकारियों ने धर्म को देव विचारता दे दिया । इस समय नॉक्स के प्रोटेस्टेंट अनुयायियों की समझ काफी भी सीधे जहाँ प्रोटेस्टेंट के सिद्धान्त से ही लाभ हो सकता था । अतः नॉक्स इस दिशा में प्रयत्नशील हुआ और इसी दिशा में ही धर्म के

भीतर ही उसने रक्षाहीनता के चर्च-सुचारु सम्पन्न कर दिखाया। उसने स्वीडिश के कुलीनो, धर्मार्थियों एवं जनप्रतिनिधियों के नाम निम्नोली गई अपनी धर्मोत्तम के कह कर स्वयंके व्यक्ति को सम्पूर्ण का पालन करना चाहिए और "जो लोग जनता को उसकी महत्ता का भोजन नहीं देते या ईश्वर के वचनों से उसे वंचित रखते हैं, उन्हें दण्डित निलना चाहिए।"

मूलतः नॉर्मन ने कालिन्ग के विचारों का ही अनुसरण करते हुए ईसाई शिक्षा का उसकी प्रसारण आकाश की स्वीकार किया। उसने चर्च के अनुशासन को स्वेच्छा से न मानने वालों के प्रति चर्च द्वारा कठोर कार्यवाही किए जाने के विचार का भी सम्पूर्ण किया। उसने कालिन्ग की इस पारलौ की दृष्टि की कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं का धर्म उस के अनुशासन का दृष्टता से पालन करना चाहिए किन्तु वहीं कालिन्ग द्वारा सम्पन्न निम्न आकाशपालन का शिक्षा सम्पन्न था, उसने इसका सम्पन्न करते हुए घोषित किया कि "वहीं राजा ईश्वर के वचन, सम्मान और नीरव के प्रतिद्वन्द्व आता है, वहीं उसका दमन आवश्यक है।" अपनी दृष्टि की उसने इन वचनों की शरी में आकाश किया—

"आकाश सब मनुष्यों का सामान्य गीत यह है कि हमें अपने राजाओं की आज्ञा का पालन करना चाहिए वही वे आशी हो या कुद, क्योंकि ईश्वर ने ऐसा ही आदेश दिया है। लेकिन जिन लोगों ने ईश्वर के राज्य को इस तरह कमजोर किया है ईश्वर उन्हें दण्ड देगा। जब राजा सम्पन्न करते हैं जो यह कहता कि ईश्वर ने उसकी आज्ञापालन का आदेश दिया है, नास्तिकता है और यह नास्तिकता उसी प्रकार की है जैसे यह कहता कि ईश्वर ने हमारे में सम्पन्न का दृष्टन किया है और यह उसे बनाए हुए है। जिन लोग नास्तिकता और ऐसे ही सम्पन्न लोगों का दण्ड केवल उन राजाओं और नास्तिकों की ही नहीं निम्नता की दृष्टि करते हैं। जो लोग राजाओं की आज्ञा करने के नहीं रोहने के भी सम्पन्न हैं और इसी तरह दण्ड के साथ है।"

जिन नॉर्मन के उपरोक्त विचारों से दो बातें मुख्यतः स्पष्ट होती हैं—"प्रथम यह कि उसने कालिन्ग के इस विचारों का परिष्कार कर दिया कि अतिरिक्त सदा कर्तव्य होता है, और द्वितीय यह कि अतिरिक्त व्यक्ति सुधार के लिए ही सम्पूर्ण है। इस शिक्षा में नास्तिकों के अन्तर्गतिकारों का कोई उल्लेख नहीं है और न ही इससे नॉर्मन का यह मत प्रकट होता है कि यह सम्पूर्ण शक्ति का स्रोत जनता को बताता बाह्यता का। उसका दृष्टिकोण व्यक्तिगत कर्तव्य के आधार पर दिया हुआ था जो सम्पूर्णिकारों के सम्पन्न का नहीं। इसके कारण कालिन्ग का सम्पूर्ण सम्पूर्ण व्यक्ति के सम्पन्न हो गया और उसने बिरोह को उचित दृष्टता, इस सम्पूर्ण नाम में उठा, वहीं व्यक्ति बिरोह ने कालिन्ग के दण्ड को वैयक्तिक सम्पन्न के विचार कर दिया। वहीं इस शिक्षा का निष्कर्ष हुआ कि राजा की शक्ति जनता के सम्पन्न होती है और राजा जनता के प्रति उत्तरदायी है। लेकिन, अभी तक यह सम्पूर्ण धर्म से ही सुझा-हुआ था।"

सुधार आन्दोलन में निरंकुशतावाद और प्रजातन्त्र के बीज (The Seeds of Absolutism & Democracy in Reformation)

सुधारवादी आन्दोलन का जिस समय उदर हुआ, उस समय दो सिद्धान्त प्रचलन में थे। प्रथम यह कि धार्मिक विषयों में पौर को अपनी सर्वोच्च शक्ति ईश्वर से मिली है, यथा: किसी सांसारिक शाही के समान अपने किसी कर्म के लिए वह उत्तरदायी नहीं हो सकता, और द्वितीय यह कि प्रतिक्रिया सरकार के सिद्धान्त का विकास हो रहा था। उस समय की गणतन्त्रवादी विचारधारा निरंकुश राजतन्त्र के सिद्धान्त के खपने में सहायक थी।

चर्म-सुधार आन्दोलन में एक विचार हो निर्दिष्ट पैदा कर दी। एक और सुधार तथा काल्पनिक में पौर को धार्मिक निरंकुशता का विरोध किया, और इन तरह सत्य करता की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त के विकास की दृष्टिपूर्व तैयार की, किन्तु दूसरी ओर आन्दोलन की सफलता के उद्देश्य से राजाओं के प्रति निष्पक्ष शासकशासन के सिद्धान्त का भी समर्थन किया और इस रूप में निरंकुशता के सिद्धान्त को प्रोत्साहन दिया। प्रजा द्वारा राजा का विरोध करना पाप समझा गया। इस बात के समर्थन में बाइबिल में प्रमाण दिए गए और बाद में के इस समय की सोचपास गया कि "सुधार में जो भी शक्ति है वे ईश्वर" की रही हुई है।" सर्वेक प्रमाण देकर जनता को समझाया गया कि राजा की शक्ति का स्रोत ईश्वर है, जिसके विरोध से पाप की कल्पना होती है। सुधार में पौर के बचने के लिए सर्वेक शासकों का आशय दिया। कहने वाले सत्यकारण की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त की स्थापना कर राजावारी चर्म की स्वतन्त्रता की विरुद्ध शक्तियों को धार्मिक स्वतन्त्रता नहीं थी। सुधार की विनाश में जनता चर्म की शासक की न मानता समझे रहा और इन चर्मशीलों को दण्ड देना राज्य का कार्य था। सुधार के इन विचारों ने निरंकुश राजतन्त्र को स्थापन दिया। पर चर्म-शीली को दण्ड देने और चर्म-शीली कोन है—इसका निर्णय देने का अधिकार राजा ने अपने हाथों में ले लिया। उसने चर्मों के हथक-आन्दोलन के समय यह पदवा दे दिया कि राजाओं को दूसरा और राज-दण्ड एक का आशय लेकर विरोध को दवा देना चाहिये।

काल्पनिक में भी विचार शासकशासन के सिद्धान्त को मानने लगा था, लेकिन साथ ही यह भी कहा था कि यदि राजा स्वयं चर्म का विरोध करने लगे तो राज्य के कुछ स्थान-स्थानों को हक है कि वे उसके विरुद्ध निर्दिष्ट कर दें। यह भी कहा गया कि किसी सांसारिक द्वारा अनुचित रूप से राज्य की शक्ति-वृद्धि कर देने पर ईश्वरों की प्रतिरोध के लिए कार्यवाही कर लेने चाहिये। काल्पनिक के इन विचारों में मोरक्कावीय सिद्धान्तों के विकास में सहायता मिली।

सुधार और काल्पनिक दोनों ही ने निष्पक्ष शासकशासन के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके राजाओं के निरंकुशतावाद को प्रोत्साहन देने का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि राजनीति अधिकारी इन सिद्धान्तों की सहायता धार्मिक अधिकारियों पर प्रभावकार करते लगे। कुछ राज्यों में काल्पनिकवादों पर भी प्रभावकार किए गए।

संघिनियों के अनुकूल विद्वान होने पर कुछ कान्टिनकारी राज्य की प्रवृत्ति करने के अर्थ के समर्थन का दावा करते हैं। कुछ ने कान्टिनवाद को प्राकृतिक कानून से सम्बद्ध कर दिशा दिष्ट के अधीन चातक की प्रवृत्ति होने से, और इन तरह उन्होंने राजा की निरंकुश शक्तियों के ऊपर एक निरंकुश प्रभुत्व किया। प्रोटेस्टेंट राजा लूथर और कान्टिन के समर्थान के उद्देश्यों की पूर्ण कर करने केनोतिक राजा के विरुद्ध लक्ष्य रख रहे हैं। ऐसा प्रतीत में हुआ नहीं राजा केनोतिक धर्म का अनुयायी या जबकि प्रजा का एक धर्म प्रोटेस्टेंट हो गया। लूथरवाद में जहाँ नविक ने केनोतिक राजा का विरोध करते हुए कान्टिन के अन्तर्गत समर्थान के विद्वान को दृष्टि दिया और इन विचार पर नज़र दिया कि जहाँ राजा ईश्वर के वक्ता, समर्थान और वीर्य के प्रतिरूप होता है, वहाँ उसका धर्म प्राधान्यक है।

जहाँ हाल उन देशों ने हुआ वहाँ राजा प्रोटेस्टेंट हो गया किन्तु प्रजा या उसका कोई धर्म केनोतिक रहा। केनोतिक प्रजा ने प्रोटेस्टेंट राजा की समर्थान प्रवृत्ति और उसका विरोध करना अपना कर्तव्य समझा। इन तरह प्रोटेस्टेंट और केनोतिक दोनों ही धर्मनिरपेक्षता ने लूथर राजा कान्टिन समर्थित निरंकुश राजतन्त्र का विरोध किया और कान्टिनिक राजतन्त्र एक प्रतिनिधि सरकार के विद्वान के विकास में सहयोग दिया। फ्रांसीसी प्रोटेस्टेंट लुई चौदहवें ने जनता को राज्य की शक्ति का सौत मानते हुए निरंकुशतावाद पर कठोर प्रहार किया। जहाँ फ्रांसीसी ने भी वह बात व्यक्त किया कि राजा की शक्तियाँ सीमित तथा परिबद्ध होनी चाहिए क्योंकि जल्द ही जनता की सेवा के लिए स्वीकृत करती है। फ्रांसीसी दार्शनिक नामक लेखक ने यह निश्चित करने का प्रयत्न किया कि यदि वे ही निरंकुशवाद का ही नहीं, वहाँ तो राजा निर्वाचित हुए, करता है। एक अन्य फ्रांसीसी विचारक लुईस लैंग् (Louis Langue) ने, राज्य की उत्पत्ति समझती है द्वारा मानते हुए दो संभवताओं की कल्पना की जिसमें पहले से ही दो दो पक्ष ईश्वर और मानव-कल्याण है, जिसने राजा को सम्मिलित है और दूसरे में एक तरफ राजा और दूसरी तरफ प्रजा है। राजा अपने देश है कि वह सामर्थ्य के अन्तर्गत और राजा जनता का समर्थन करने को बंधन देता है। यदि राजा सम्मिलित हो जाता है तो प्रजा की अपने बंधन से मुक्त हो जाती है। प्रोटेस्टेंट ने ही राजतन्त्र विरोधी शक्ति काही प्रवृत्ति हुआ। प्रोटेस्टेंट ने ही राजतन्त्र विरोधियों के मध्यम आधुनिक (Althusser) ने अनुभवों की यह समझ और वेदना की शक्ति बनाता जो राज्य के सदस्यों की शक्ति और अधीनता के अन्तर्गत के लिए कार्य करती है। अपने अनुभवों का मुक्त स्थान समर्थान को बनाता, जिसे एक शक्ति का मुक्त स्थान का रूप नहीं है। अपने कहा कि अनुभव शक्ति कोई ऐसा कार्य कर सकती जिसने मानवधारण का प्रतिरूप है। अनुभव द्वारा निश्चित कानूनों का मानव मानवों का कर्तव्य है। राजा केवल एक ऐसा प्रतिनिधि है जो वह प्रतिरूप करने के अन्तर्गत होता है कि वह विधि के अनुसार व्यवहार करता है।

सर्वोदयवाद के एक अन्य लेखक मुसम्मन (Musammam) ने भी सन्ध्यावासी विद्वानों का प्रतिपादन करते हुए यह स्पष्ट किया कि वास्तविक समस्या की दूर करने के लिए सरकार एवं विधि का निर्माण हुआ है। अन्तिम कला अवस्था के रूप में है और वही विधि का स्रोत है। अन्त्या के साथ किए गए समन्वयों द्वारा ही राज्य की निरुपलब्ध अधिकार मिले हैं और न्यायपूर्ण शासन करना उसका कर्तव्य है। अन्त्या की समर्थन के बिना राज्य-व्यक्ति पर परिहार करना गलत है। ऐसे धर्मवादी शासन का अन्त्या विरोध कर सकती है। मुसम्मन ने प्राकृतिक कानून की भाँति जैसे ही शासकानी राजा के रूप में ही उचित ठहराया।

जेम्स (James) लेखकों ने भी निरंकुश साम्राज्य का विरोध किया और यह विचार कि राजा ईश्वर का प्रतिनिधि न होकर इसी दुनिया का व्यक्ति है एवं जीवन शक्ति अन्त्या में निवास करती है। यदि राजा शासन करता है तो प्रजा उनके विद्वानों के द्वारा चकती है। निरंकुशता विरोधी विद्वानों का सम्बन्ध करने वाले जेम्स लेखकों ने सबसे कमजोरी पोलिटो सभा जैसी शक्ति के बिना के सम्बन्धनीय है। मेरिमाया के कितने पर सम्बन्धनकार सम्बन्धित था। यह साधकों के ऊपर पौर के सामाजिक निवृत्तों को स्वीकार नहीं कर सकता था। यह समाज द्वारा बनाए गए नियमों पर अधिकृत रूप देता था।

इन सम्पूर्ण विचारों के इन सभी निष्कर्षों वाले हैं कि धर्म-सुधार आन्दोलन ने निरंकुशवाद और लोकतन्त्र दोनों ही भावनाओं का संयोजन किया। सुधारवादियों ने निरंकुश राजाओं का सम्बन्ध करना शुरू किया और जब राजा शासन करने लगे तो अन्त्या ने उनके विरुद्ध विद्रोह का भ्रम प्रसारित, लोकतन्त्र की स्थापना के लिए मार्ग प्रशस्त किया। उस समय लेखों तथा अन्य कई कि. निरंकुशवाद का अन्त्य होने लगा और सामाजिक एवं निरंकुश सामन्त का सम्बन्ध। जूबर और कालियन ने निरंकुश शासकालन का विद्रोह प्रजा की विद्रोह के अनुशासितों ने परिस्थितिगत सामाजिक विद्रोहों की शुरुआत की।

धर्म-सुधार आन्दोलन की देन और उसका महत्त्व (Contributions & Importance of Reformation)

धर्म सुधार आन्दोलन की देन में वही देन यह भी कि उसने पौर की सर्वोच्च प्रभुता को स्थापित कर समाजिकों ने पौरों को पौरों के एकदम सामान्य को स्थापित कर दिया। यह पौरों के-सामाजिक पौरों के विरोधी पौरों राष्ट्रीय पौरों की स्थापना ही गई। धार्मिक एकात्मता का जोड़े-लेखों और कपोलियों ने विभाजन ही था।

सुधारवादी आन्दोलन ने पौरों की राज्य का चकती बनकर सामाजिक विषय-साधन की भाँति में उन्निहायी एवं नीतिक परिवर्तन किया। यदि इनके कारण राष्ट्रीयता के विचार को जोड़े-लेख निरंकुश। सर्वोच्च पौर का विरोधी राष्ट्रीयता के आधार पर किया गया और सामान्य का स्थापन प्रभुत्व सम्बन्ध राष्ट्रीय पौरों ने ही किया।

धर्मशुभार धार्मिकता का एक वास्तविक परिणाम राजसत्ता के निरनुक शक्तिशाली के वृद्धि और निरनुक राजसत्ता की वृद्धि में एक सामान्य साधन बन बनाना हुआ । साथ ही साथ धार्मिक एवं धार्मिक स्वतन्त्रता तथा प्रजासत्ताकी विचारों का विचार भी हुआ ।

इस धार्मिकता की एक महत्वपूर्ण देव सहिष्णुता (Toleration) का विकास भी था । धार्मिक धर्मों का धर्मतः एकमात्र विचारण सहिष्णुता को ही समझा जाने लगा । प्रीटिस्टेंट राजा कैथोलिक प्रजा का तथा कैथोलिक साइकल प्रीटिस्टेंट प्रजा का धर्म करने में समर्थ रहे । धर्म-धर्मः एवं परिणामितात यह विचार स्थापित कि मुझ और धर्मता सभी समान हैं जब राज्य धर्मनिरपेक्ष वातावरण पैदा करे । यदि राज्य धार्मिक स्वतन्त्रता से उत्पन्न होता सभी विभिन्न धर्मनिरपेक्षों में एक सामान्य राजनीतिक विचार स्थापित हो सकेगा ।

समय में विचार के बदले थे—“जहाँ तक धर्मशुभारवादी धार्मिकता में एक सुव्यवस्थित, धर्मनिरपेक्ष, धर्मनिरपेक्ष एवं नोकरताही प्रभाव राज्य की वृद्धि में सहायता दी, जहाँ तक प्रभाव एवं प्रभाव का रूप से अपने स्वतन्त्र स्वतन्त्रता की प्रोत्साहन दिया, जहाँ तक उसे अपने परिणामी के सामुदायिक समझा जा सकता है, किन्तु जहाँ तक इसकी प्रवृत्ति सामुदायिक धार्मिक, धार्मिक-राजनीतिक मामलों के रूप के लिए धार्मिक धर्मों की वृद्धि को प्रोत्साहित करने की थी, जहाँ तक यह उन मध्यकालीन विचारों की ओर धार्मिक लौट जाना या जो धर्मतः एवं धर्मनिरपेक्ष के विभिन्न प्रभाव के कारण धर्मनिरपेक्ष, किन्तु होने जा रहे थे ।”¹ कहना चाहिए कि इस धार्मिकता के प्रारम्भ में धर्मनिरपेक्ष का बल देने की प्रवृत्ति प्रभाव रही, किन्तु समय के प्रभाव की समर्थता और निरनुक राजसत्ता का विचार करने वाली प्रवृत्ति प्रभाव हुई । प्राकृतिक दया, सामाजिक समर्थता, वस्तु की प्रवृत्ति और प्रतिनिधि साधन के विचार जायज हुए । दशकों 17वीं, 18वीं, 19वीं सताब्दियों में महान् राजनीतिक विचारों का सुव्यवस्थित विचार ।

मध्ययुगीन सम्प्रसारणपूर्ण व्यवस्था के मुकर जाने पर पड़हूँ सरी में यूरोप में ज्ञान की नई बिना प्रदीप्त हो उठी। बौद्धिक पुनर्जागरण (Renaissance) ने सीपी में जीवन की एक नई चेतना, स्वतन्त्रता के एक नवीन पैर और जीवन के नवीन मूल्यों के प्रति व्यक्तित्व के ध्यान जगा दिए। ईश्वर की छवि का मनुष्य मानव-व्यवस्था पर अधिक महत्वपूर्ण विचार हो गया। मानव समतावादी पर अधिक विचार होने लगा। मध्यकाल की 'परलोक-विमता' (Other worldliness) जाने लगी और चर्च के निवन्तरण के विरुद्ध धर्म-विरोध बुद्धि का विद्रोह प्रकट हो गया। धर्म परलोक की संज्ञा इहलोक अधिक व्याप्त हो गया तथा महत्वाकांक्षी शासकों ने ही के साक्ष्य-पत्रों की रीति की होश की से की विचार। मध्ययुगीन देववाद, चर्चवाद, बाइबिलवाद और सामन्तवाद के विरोध में पुनरुत्थान समकाली बौद्धिक पुनर्जागरण के इस युग में मानववाद और निष्पक्षिकता बौद्धिक स्वातन्त्र्यवाद का मन प्रचारित किया गया। 'मनुष्य ही ज्ञान के स्रोत का साधक है'—इस उक्ति ने पुन साधना प्रवृत्ति की जाने लगी। केसर के राज्यों में "पुनरुत्थान नवीन भावना का यह प्रभाव था जिसने यह में मध्यकालीन व्यवस्था को विद्रु-विद्रु कर दिया। 17वीं सदी के नवीन विचार की साधारणता रही—जिस विचार की बिक्री कि तरलता मध्य-युग का महा-महा के लिए जन्म कर दिया।" ज्ञान और निर्वाण के इन उक्त काल में मैकियावेली पैदा हुआ। इटली के प्रसिद्ध नगर फ्लोरेंस की शिक्षा-दीक्षा ने प्रभावित मैकियावेली अभिन्न में एक नई राजनीतिक सूत्र और दिया था जन्म बना। इतिहास ने क्यों मैकियावेली को सम्मान और विरक्तिकार के तत्त्व में पठना रखा लेकिन एक समय ऐसा आया था जब उसे उचित सम्मान दिया गया और फ्लोरेंस में उनकी एक पर निम्नता गया कि "इतने महान् व्यक्ति के लिए सारी प्रशंसा अपमान है।" बड़े-बड़े राजनीतिकों ने उनकी रचना से लाभ उठाया और जीवन-भर बड़ी निम्नता को मैकियावेली कह गया।

मैकियावेली : जीवन, व्यवस्था-व्यवस्था और कृतियाँ

(Machiavelli : Life, Methods and Works)

फ्लोरेंस मैकियावेली का जन्म इटली के नगर फ्लोरेंस में सन् 1469 ई. के प्राचीन टास्कन का से सम्बन्धित एक साधारण परिवार में हुआ। उसका पिता स्कूल

घोर उत्क्रांतीन मनुष्यवत्सलक शासन व्यवस्था में विस्थापित करने में वीर्य अनुभव करता था । दुर्ग भी पिता के ही किल्ले पर था । अभावपक्ष बहु वर्गीय शिक्षा प्राप्त न कर सका । अतः उसने सरकारी पद प्राप्त करने का प्रयत्न किया । 1490 ई. में उसे एक साधारण प्रशासकीय पद प्राप्त हुआ । अल्पकाल् धनवी राजनीतिक सूक्ष्म-बुद्धि, प्रवृत्ति और कार्यक्षमता के कारण वह विभिन्न पदों पर कुशलतत्पूरक कार्य करता रहा । दीप्य कार्य (Diplomatic Mission) में उसे मगध की नीति वार कौल, ऐन और बलिन के दरबारों में जाना पड़ा जहाँ उसने वर्गीय वल और धन बलिष्ठ किया ।

मैक्सिमिली ने सन् 1512 और 1512 तक कैंटोरेन की 'कोल्लिज ऑफ टैम' (College of Tam) के सुविध पद पर कार्य किया । इसी काल उसके भाग्य में भव्यता आया । स्पेन की लड़ाई में स्पेन के मुकामों 1509 में फ्रांस की द्वार हुई । इसकी भीषण प्रवृत्तिवा फनोरेन में हुई । स्पेन के समर्थकों ने, जो फनोरेन में लड़ाई हुई, मैक्सिमिली को फल व्यक्तियों के साथ देख के निराश किया । उसका जीवन निर्वाहित व्यवस्था में बरीबरी तथा जगती भीषों के साथ सम्भवन करते हुए व्यतीत हुआ । अपने दापीयु धारावा—लेनके सिवानी—में उसने प्रत्येक विद्वानों का साहित्य पढ़ने के साथ-साथ राजनीतिक संशोधनोपल भी किया और इसी समय उसने वृक्ष-रचना भी की । उसके विरोधियों ने राजदोह के व्यक्तियों में उसे बाराधार का दण्ड भी दिया । नरु लोरेनो के शासन काल में उसने आका की कि उसे छोटा हुआ इवान फिर से मिलेगा । लेकिन वह आका स्वयं मित्त हुई । केवल नाममात्र के पेशन पर उसे फनोरेन का इतिहास लिखने का काम मिला । अपने वेप जीवन काल में मैक्सिमिली ने अपना समय वेक्षण-कार्य में ही व्यतीत किया । उनके सभी वल इस काल में ही मिले गए । इस समय इतली को कल भी बरी धमिर पर और समगलिन की । सन् 1527 में नरु सजलिन इतली का स्वयं विद् ही एक साधारण व्यक्ति की भाँति मैक्सिमिली की मृत्यु हो गई ।

सम्भवन पद्धति

मैक्सिमिली के पुर्ब के सम्भवनवीन विचारों की सम्भवन पद्धति धर्म से प्रभावित थी । मैक्सिमिली ने इस प्रणाली की स्वीकार नहीं किया । फलस्वरूप उनके दर्शन में वे जटिलताएँ नहीं आ सकी जो उनके पूर्वजों विचारकों ने की । मैक्सिमिली की धीर और सम्राट के सम्बन्धों की समस्या से कोई लगन न था । इतिहास इसकी रचनाओं में सम्भवनवीन पद्धतियों और दार्शनिकों का, जो ललवारों के विद्वान का, फनर लौका और इसी प्रकार की धन विषय-सामग्री का कोई उल्लेख नहीं मिलता । उसके नीति, ध्याम भाँति के मनुर्व विद्वानों पर प्रभावित विषयन दर्ब पद्धति (Deductive Method) का परिष्कार कर दिया जिस पर सम्भवनवीन राजनीतिक सिद्धान्तों की रचना हुई की ।

मैक्सिमिली ने पूरीतरह वैज्ञानिक लक्ष्यता की नीति अपनाते हुए अपनी समवाचीन परिस्थितियों का बड़े ध्यान से सम्भवन किया, अपने पुर्ब की समस्याओं

को समझा और फिर अपने निष्कर्षों का प्रतिपादन किया। इन तरह उन्होंने अपनी राजनीतिक पद्धति में समुद्रसंचार और इतिहासवाद का सम्मिश्रण किया। दूसरे मन्त्री में उन्होंने समुद्रविज्ञान (Etopography) का ऐतिहासिक पद्धति को सम्मिश्रण किया। इनके बाद राजनीतिक विवेचना के क्षेत्र में इन पद्धति को सम्मिश्रण वाला यह प्रथम विचारक था। इतिहास और उनके का सहारा लेते हुए अपने राजनीतिक धर्म-नैतिक को एक मन्त्री चुनौती दी तथा 'मानव व्यवहार के पथ-प्रदर्शक' के रूप में ईश्वरीय नियम का प्रतिपादन करते हुए 'राजनीति विज्ञान का आधार ही परिवर्तित कर दिया।' मेकिपावली की 'विम' यह कार्यप्रणाली महान् रचना थी जिसमें ईश्वरीय और मानवीय-इन दोनों तरफों में स्पष्ट वर्णन दिखाई देता और जिसमें पूर्ववर्ती मन्त्री द्वारा अपनाई हुई राजनीतिक नीतियों को यह समझकर छोड़ दिया गया कि सैद्धांतिक रूप में वे बुद्धिहीन एवं व्यावहारिक रूप में मान्य प्राप्त करने वाली थीं।¹

मेकिपावली का मत था कि सभी देशों और राज्यों में मानव-संस्कार एक होता रहता है, वह सम्भव एक ही प्रकार के वर्तमानों के सम्मिश्रण होता है और एक ही ही सम्मिश्रणों का उसे समाधान करना पड़ता है। 'यदि वर्तमान काल की समस्याओं का हल समाधान करना है सम्भव, हल भविष्य में क्या करना चाहिये?'— इन प्रश्न का उत्तर माना है जो यह उचित है कि हम भूतकाल के इतिहास का मन्त्री समुचित करें और यह करने की चेष्टा करें कि हमारे परिस्थितियों में समुद्र में भूतकाल में क्या किया या और उसके क्या परिणाम निकले थे? मेकिपावली का विश्वास था कि भूत के मन्त्री समुचित करने इस सम्मिश्रणों और निष्कर्षों के कारणों की सामान्यतः मान्यता कर सकते हैं। किन्तु उनके मन्त्रीय है कि मेकिपावली ने "इतिहास का उपयोग अपने पूर्ववर्तित निष्कर्षों की पुष्टि में किया है, उनके प्रमाण में नहीं।"

डॉ. इतिहास का विश्वास है कि मेकिपावली की पद्धति देखने में किसी ऐतिहासिक नहीं है, सम्मिश्रण में उतनी नहीं है। उनके पूर्ववर्तित (Objections) अधिकतर ऐतिहासिक न होकर अपने समय के ही थे। सम्मिश्रण परिस्थितियों को देखते हुए अपने पद्धति के ही कुछ निष्कर्ष निम्नलिखित कर लिये थे और फिर उनके सम्मिश्रण के लिए सभी इतिहास के प्रमाणों को इकट्ठा था। जिस प्रकार ईसाई धर्मिक शिक्षा का सम्मिश्रण करने के लिए समुद्र-विज्ञानों की समीक्षा कृतियाँ उदाहरण के रूप में मिला करता था, सभी प्रकार मेकिपावली अपनी समुद्र-विज्ञान के आधार पर निम्नलिखित परिणामों (Empirical conclusions) की इतिहास में पुष्टि करता था। वेदाद्वय में भी मेकिपावली की पद्धति को ऐतिहासिक कहना सम्भव माना है। वेदाद्वय के समुद्र-विज्ञानों की पद्धति पूर्ववर्तित-प्रमाणों की। उनमें अपने उन : की प्रथम सिद्ध करने के लिए इतिहास का साधन लिया। सामान्य में उनके मन्त्रीय है "कुछ निष्कर्ष सामान्यतः निष्कर्ष निहित है और उन निष्कर्षों पर उनके का सम्मिश्रण

कांचा साक्षित है।¹—यह पूर्णतः स्पष्ट है कि प्रत्येक काल की घटनाओं की रीति और उनसे निकलने वाले परिणामों के सम्बन्ध में वह जो धारणाएँ रखता था उन पर निरूपणमय प्रभाव उसके मानव सम्बन्धी उस निश्चित दृष्टिकोण से था जिसकी धारणा बाह्य घटनाओं पर पड़ती है; जिससे उनका रूप निर्धारित होता है और जिससे वे नियंत्रित होते हैं। अपनी मानव-सम्बन्ध सम्बन्धी धारणा को उसने समस्त इतिहास के एक निश्चित सिद्धान्त के आधार पर बनाया।—यसवि मेकिथावली अन्ततः इसी परिणाम पर पहुँचा कि नीति-शास्त्र एवं राजनीति एक व-होकर पुनर्-पुनर् है एवं सामान्य कला का आधार शास्त्र से कीर्त सम्बन्ध नहीं है, तथापि दोनों का आधार एक ही मान्यता थी।²

जो भी हो इसमें कोई संदेह नहीं कि राजनीतिक समस्याओं के प्रति मेकिथावली का दृष्टिकोण अनुसृत प्रधान या एक उसकी भावना ऐतिहासिक थी। मानव स्वभाव का चित्रण उसका मूल आधार था। भाविकता, परम्परावादिता, रुढ़िवादिता और नैतिक-व्ययों का यह पौर विरोधी था। उसकी सम्मेलन पद्धति ऐतिहासिक, पर्यवेक्षणमय, प्रमाणवादी और वैज्ञानिक विवेकताओं धारणा उसकी से युक्त थी। राजनीति का कुछ रूप रखने में उसने पुनर्जागरण की उन्मुक्त प्राकृतिक बुद्धि के सहारे यह प्रस्ताव किया कि राजनीति सामिक उपदेशों का दुष्कांडी का प्रकरण था न यह नष्ट। इस तरह उसने राजनीति को कला के रूप में भी स्वीकार किया। मेकिथावली की प्रचलन पद्धति सर्वथा योग्य-रहित नहीं थी। यह प्रत्यक्ष, हठवादिता और ऐसीही दृष्टिकोण से प्रसिद्ध थी। किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि उसका उद्देश्य सारी दुनिया के लिए राज्य-सौभाग्य सिद्ध करना था। यह तो उसकी का राष्ट्रीय प्रेरक भाव था।

रचनाएँ

मेकिथावली ने दो ऐसे महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की जिससे उसका नाम धन्य हो गया—

- (1) *Discourses on Livy (Titus Livius)*,
- (2) *The Prince*

अथवा इस में मेकिथावली ने रोमन राजतन्त्र के नियम से लिखा है और आकाशीय प्रवर्तकों के लिए कुछ नियमों की आधार करनेका प्रयत्न की है। 'प्रिंस' इस सार्वभौम की सम्बोधित किया गया है जो कि धर्मियों का दुरुक्त था। यह ग्रन्थ उसकी सबसे प्रमुख कृति है जिसे 1513 ई. में लिखा गया था, किन्तु जिसका प्रकाशन उसकी मृत्यु के चौथे वर्ष बाद अर्थात् सन् 1532 ई. में हुआ था। मेकिथावली का यह ग्रन्थ वास्तव में पुन-अवर्तक था। इसमें मध्यकालीन विचार-प्रक्रिया के इस की स्थापना कर नवीन रूप की प्रस्तावना कला। इस ग्रन्थ में कुल 26 प्रस्ताव हैं—जिनमें तीन भागों में बाँटा गया है। मेकिथावली ने इस ग्रन्थ के अथवा अथ

में राजदण्ड की, दूसरे में विराय में देनाओं और राजकीय देनाओं की तथा चरित्र-
शास्त्र में अपने राजदण्ड की व्याख्या की है। वास्तव में यह पुनर्-मेकिमावली की
अन्तर्गत प्रतिभा का चार है।

मेकिमावली में कुछ अन्य रूप भी मिले हैं जैसे कि—

(1) *The Art of War* (2) *The History of Florence*.

इनके अतिरिक्त उसने अनेक उपन्यास, कहानियाँ और कविताएँ आदि भी
लिखी।

मेकिमावली पुनर्-शिक्षण के रूप में (Machiavelli as the Child of His Times)

इतिहास में मेकिमावली के विषय में लिखा है कि “यह प्रतिभा-सम्पन्न बनीर-
विद्वान् वास्तविक रूप में अपने समय का विद्वान् था।”¹ जैसे ही प्रत्येक विद्वान् एवं
प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति अपने युग का विद्वान् होता है, क्योंकि उसके विचार समाकालीन
परिस्थितियों से प्रभावित होते हैं किन्तु मेकिमावली पर अपने युग का एक कुछ
विशेष प्रभाव पड़ा हुआ था। उसे छोड़कर साफ ही कोई ऐसा युवा राजनीतिक
विचारक हुआ हो जिसने अपना सम्पूर्ण जीवन कार्य-प्रणालीय परिस्थितियों के
आधार पर बिता दिया हो। उसने उन परिस्थितियों के दोषों की स्पष्ट क्रिया और
उनके समाधान भी सुझाए। उसके प्रत्येक विचार अपने विद्वान् ने होने वाली की
समाकालीन परिस्थितियों की प्रत्यक्ष शिक्षा दी है।

ये तथ्य सिद्धोने मेकिमावली के राजनीतिक विद्वान् का कार्य दर्शन दिया
और जिसके प्रभाव से वह अपने युग का विद्वान् कहनाया, मुकल्ल। निम्नलिखित में—

(1) ज्ञान का पुनरुत्थान—मेकिमावली के समय में दो महान् वास्तव-ज्ञान
कार्य कर रही थी। प्रथम महान् ज्ञान के पुनरुत्थान (Renaissance) की थी और
दूसरी धार्मिक सुधारों (Reformation) की। पुनरुत्थान मध्यकालीन यूरोप का
सांस्कृतिक सुधार में बदल देने वाला एक महत्वपूर्ण घटनाक्रम था। इसका कारण
इसकी में हुआ और 15वीं शताब्दी में बढ़ी वह अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा।
इसी कारण इसे कभी-कभी इटालियन पुनरुत्थान भी कहते हैं। पुनरुत्थान के
प्रथमसमय मनुष्य और विश्व के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण का उत्पन्न हुआ। इसने
सोच के क्षेत्र में एक नवीन चेतना, स्वतन्त्रता के प्रति प्रेम और जीवन के आनन्द
मूल्यों की भावना जगाई। आस्था और परंपरा के सम्बन्धों के स्थान पर मानवीय
समस्याएँ महत्व पाने लगीं मेकिमावली ने अपने लेखों और विचारों के पुनरुत्थान
के भाव भरे। उसने स्पष्ट-दृष्टि पर बात करते हुए मनुष्यवर्ग की दृष्टिकोण प्रकाशित।
उसने अपने और अपने की बड़ी बर-करीब प्रहार किए और घोषित किया कि मानव
स्वयं ही अपने स्वयं जीवन का निर्माता है। अपने अपने लेखों में कड़ी दो महान्

1. “Machiavelli, the brilliant Florentine was in the fullest sense the child of
his times.” — *Channing* 2 ed. 1862, p. 285

सबका तलवारों के सिद्धान्त, चर्च विचारों की सम्मिश्रित, चीर एवं सघाट के पारस्परिक सम्बन्धों और इसी प्रकार के सम्बन्धों के साथ विचारों की चर्चा नहीं की। मैकिनावली की रचनाएँ करने से यही सन्तुष्ट है कि हम एक सर्वथा नवीन युग में पाए गए हैं। यदि 'कोलम्बस' ने 1492 ई. में नई दुनिया का पता लगाया तो मैकिनावली ने 1523 ई. में 'प्रिन्स' की रचना द्वारा राजनीतिक विचारों की नई दुनिया की खोज की।

मैकिनावली का मनोरंजक उस समय युगसम्मान का प्रधान गहर और इसी की सम्पत्ति का माना हुआ केन्द्र था। मैकिनावली की रच-रच में मनोरंजक की शक्ति व्याप्त थी। उसके व्यक्तित्व और विचारों में पुनरुत्थान की प्रतिध्वनि थी। उसने प्राचीन साहित्य का सम्मान किया और इतिहास को विशेष रूप से उसे प्रिय रहा। "इसी साहित्य की भावना से शक्ति पाकर एवं प्रेरित होकर उसकी स्वाभाविक उत्तर बुद्धि ने समयवादी को पुनरुत्थान के प्रयास किए और उनके देशी स्वभाव निकाले जो उनके पूर्व की 12 सताब्दियों में सोने गए हुओं के इतने भिन्न थे कि मानो वे सताब्दियों कभी माई ही न हो।"¹

मैकिनावली ने राजनीति को 'शासिकता, नीतिकला, साधारण-ज्ञान का विषय' रखा। उसका मत था कि एक राजनीतिज्ञ को नीतिकला एवं शासिकता द्वारा अनुमोदित स्वीकृतियों और सिद्धान्तों की विज्ञा नहीं करनी चाहिए। मैकिनावली के इस विचार में भी पुनरुत्थान-युग कीलता है कि मनुष्य अपने भाग्य का निर्णय स्वयं करता है और उसे अपने जीवन तथा धर्म की सुरक्षा के लिए राजकीय सरसरा प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार है। उसने स्पष्ट कोषित किया कि राजनीति ऐसी शक्ति ज्ञान व्यक्तियों का ही क्षेत्र नहीं है, उसने प्रत्येक व्यक्ति को सक्रिय कर सकता है।

(2) राजतन्त्र की पुनर्प्राप्ति—पुनरुत्थान काल में यूरोप में भारी राजनीतिक परिवर्तन हुए। जब मैकिनावली का साहित्यिक युग तो परिपक्व घान्दोजन समाप्त हो चुका था और शक्तिशाली जातियों ने सामन्तों और उनकी प्रतिनिधि मन्त्रियों का सम्बन्ध नहीं हुए निरनुप राजतन्त्र स्थापित कर दिए थे। साहित्यिक परिपक्वता ने भी सीमित राजतन्त्र के सम्बन्धीन विचार को समाप्त करने में योग्य देते हुए निरनुपवाद के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया था। पश्चिमी यूरोप के क्षत्रिय सभी राज्यों में सामन्तों के हाथ से शक्तियाँ खींचकर राजाओं के हाथों में केन्द्रित हो गई थी। यह युग राज्य और चर्च दोनों में चीर-फुराई की निरनुप गता का युग था जिसे मैकिनावली के 'प्रिन्स' को बड़ा सम्पन्न किया।

मैकिनावली के समय इसी बीच राज्यों में बँटा हुआ था। उसने हमेशा, कभी और स्पष्ट के संघटित राज्यों के स्थापन ही इसी में भी सभी राज्यों का एक राष्ट्रीय राज की सम्पन्नता में एकीकरण करना चाहा। 'प्रिन्स' के अन्तिम अध्याय

मे उसने यह भाषा ब्रकट की है कि इटली का एकीकरण हो और यह विदेशी कबलों की दासता से मुक्त हो । उसकी धारणा— थी कि इटली में भी ऐसे राजा का उदय हो जो सम्पूर्ण जलता को राष्ट्रीयता के एक गुण में गाँध लेंगे । उक्त समय इटाली की दुर्गता और इटली के छोटे राज्यों द्वारा क्षणीय राज्य के लिए प्रवीण किन्तु जाने वाले कूटनीतिक और ब्रकट के साधनों ने भी मेकिवावली की रचनाओं के अनेक पृष्ठ पर अपना प्रभाव प्रभाव डाला ।

(3) इटली का राजनीतिक विभाजन—इटली का सम्पूर्ण प्रदेश छोटी-छोटी रिपब्लिकों और राज्यों में बँटा हुआ था । 16वीं शताब्दी के प्रारम्भ में इन राज्यों का कुछ एकीकरण हुआ और इटली में केवल 5 राज्य स्थापित हो गए—नेपोल राज्य (Kingdom of Naples), मिलान का राज्य (Duchy of Milan), रोमन चर्च का क्षेत्र (Territory of the Roman Church), वेनिश गणराज्य (Republic of Venice), और फ्लोरेंस का गणराज्य (Republic of Florence) । ये पाँचो राज्य भी आपस में मजबूत नहीं थे । इटली के इस राजनीतिक विभाजन और राज्यों के वास्तविक क्षमता में देश की बड़ा दुर्जन बना दिया और यह धारणा की प्रतिष्ठा की प्रतीतियों की महत्वाकांक्षियों का विकास करने लगा । अंत में और स्पेन की धार्मिक तो सदैव ही इन राज्यों पर मारी रहती थी कि अब बीका बिले और उक्त दण्ड लगाया किया जाए ।

मेकिवावली निम्नलिखित दृष्टि का धरी था । उसने समझ लिया कि इटली में यदि सुदृढ़ केन्द्रीय सरकार की स्थापना न की गई तो अंत में स्पेन जैसे हुन जैसे, अपना यह उनके वास्तविक क्षमता की बचती में उन्ही तरह बित जाया जैसे वेई में हुए । अतः मेकिवावली ने चाहा कि सम्पूर्ण इटली को एकता के गुण में कुछ दिना अन्त और किसी तरह एक ऐसी कठिनायियों सरकार स्थापित हो जाए जो एक तरह की देश की अराजकता स्थिति पर काम या लगे और दूसरी ओर विदेशी दास्यता से रक्षा तथा विदेशियों के नियंत्रण के अंदर कार्य करने की भी विधा लेंगे । इसी उद्देश्य में उनके समय तीन महान् कार्य रचे—प्राई मॉल बार, दि डिप्लोमैटिक ऑन रिबो तथा ग्रिड । इन राज्यों में बसने राज्य सम्बन्धी विद्वानों का प्रतिपादन नहीं हुआ किन्तु व्यावहारिक राजनीति के वास्तविक प्रयोगों का गुण वर्णन किया गया । वे सभी एक अत्यन्त उच्च राजनीतिक के दृष्टिकोण से लिखे गए । उसने देश में ऐसे निरक्षर मानव के उदय की भावना की जो विद्वानों में हुआ न गए पर सांस्कृतिक राजनीति के विद्वान् हूँ ।

(4) इटालियन साम्राज्य की दुर्गता—मेकिवावली के समय इटालियन साम्राज्य में नीति पराधरता, ईशान्यता और देश-वैर का प्रभाव था । प्रतिभा-अल्पता धर्मियों की कमी नहीं थी किन्तु नीतिक दृष्टि से उनका ज्ञान ही कुछ था । स्पेन पोन तक का बरिच प्रचुरिता की सीमा मानने लगा था । सामंजस्य नागरिक नेता केतर अनुचित से अनुचित काम करने का नैतिक हो जाते थे । इस सामाजिक दुर्गता का मेकिवावली के हृदय पर अत्यन्त प्रभाव पड़ा । देश के एकीकरण के लिए यह

नरिषि का पुत्रापी बना धीर उरने राजदीप केना की सावधक बताया । उरने बहुजननीय शासन प्रणाली की सिध्दार्थि न करके हुए इरलीवातियों के लिए एक राजा और ज्ञानागह की दुखद सावधकता बहुमुख की और सावधार्थिक राजनीति को स्थान देते हुए यह मत व्यक्त किया कि राजा का एकमात्र उद्देश्य देश की कलन बनाना और उसे सन्धित करना है, सावि स्थानित करता और विदेशी साधनीयों को नार बनाना है । इस महान् धीर पवित्र उद्देश्य की सावि के लिए राजन उचित अनुचित सभी प्रकार के साधन अपना करता है । साधक को साहिण्ड कि बहु जनता नर प्रेम की अपेक्षा नरिषि से साधन नरे । सावि बहु अपने काल में एकीकृत और स्वतन्त्र इरली के स्वप्न का प्रत्यक्षीकरण नहीं कर सका, किन्तु उसकी मृत्यु से 350 वर्ष बाद काबूर (Kamohar), गैरिबाल्डी (Garibaldi) सादि के उरने द्वारा प्रतिपादित साधन के सहारे ही इस स्वप्न को साकार किया ।

इस सभी बातों की देखने पर नरिषि की इस नरिषि के कटुता होना पड़ता है कि "प्रतिभासान कर्तोमेन्वासी (पैकिदावली) पूरे-पूरे सत्य से अपने नून का निगु वा ।"

मानव स्वभाव : सार्वभौम सहृदय

(Machiavelli on Human Nature : Universal Egoism)

मानव-मनस का जो भी साधन नरिषिवाली के किया उसकी गृही साधन उसके राजनीति पर स्वयं है । पैकिदावली की साधना थी कि मनुष्य सत्य में ही बुरा होता है । अपनी स्वभावजन दुष्टता के कारण ही वह सधौनति की साधन होता है । मानव प्रकृति से धीर स्वाधी एक दुष्ट है । वह दुर्बलता, नूर्बलता सब दुष्टता का सम्मिश्रण है । वह प्रकृति का ऐसा पिनीवा है जिसे 'पाप' साध मरता है और साधनानुसून निरुध में मरता है ।

पैकिदावली का विश्वास था कि मनुष्य की स्वार्थ भावना और उसका कटुता उसके सारे साधनताओं के सून में है । यह विभिन्न कमजोरियों में दुष्ट है और कटुमुख तथा परोक्षकर लैसी बातों से साधरिषिण्ड है । 'सिण्ड' के यह उद्गुण । 76 साधन में उसके सिक्त है, "साधनान् मनुष्यों के सारे के यह रहा वा बनना है कि के साधनान्, पलायमान्, मिथ्यावादी, उरधीक और स्वाधैरिषिण्ड होते हैं । के सभी तक साधन के सरे रहते हैं जब तक मरुतता साधन के पास है । के सभी तक साधन के लिए साधन सक्त, नरिषि, जीवन सावि का नरिषिण्ड करने के लिए प्रसून रहते जब तक साधन के सरे नरिषिण्ड की सावधकता दूर जाती है पैकिन जेग ही यह सावधकता निकट साधी है, के साधन के निरुध निरुध भी नर देते हैं ।" मनुष्य सभी समय तक किसी के प्रेम करते हैं जब तक उनका स्वार्थ निरुध होता है, पैकिन जब के साधन कोई स्वार्थ-विधि नहीं देखते तो के निरुध कर देते हैं ।"

पैकिदावली वा कटुता था कि कार्य करने की प्रेरणा और उत्तंजना मनुष्य को स्वार्थ-नरता से ही पितती है । मनुष्य एक पञ् के सत्य है जिसके साधनरिषिण्ड साधन नाम मान की भी नहीं है । जब नरिषि, नरिषिण्ड और स्वाधै ही उसकी प्रेरक

बलिदानों हैं। जब हमारे मनुष्य को स्वमिच्छा से कार्य करने की स्वतन्त्रता दे दी जाती है तभी साम्राज्यता पैदा होती है क्योंकि साम्राज्य में वह धीमे-धीमे और बिलंब से बढ़ा चलता है। जब के कारण वह दूसरों में प्रेम करता है, अपने लाभ के लिए स्वार्थ रचना है तथा बालबाली बनता है, पिछाही होने के कारण वह सामाजिक है। जाता लगाए हुए प्रत्येक व्यक्ति 'जब दिन की सूर्यास्त करती है जब रात भरता है और पैर बैठते हैं। मैकियावेली का यह वाक्य बड़ा ही प्रसिद्ध है कि "मनुष्य पिता की मृत्यु का दुःख प्राणाली से भूल जाता है पर पिता-पुत्र की हानि नहीं भूलते (Men more rapidly forget the death of father than the loss patrimony)।" कपट, धोखा और धार्मिक ने भयंकर व्यक्ति बनने ही बुने पद जाल में जड़पड़ता हुआ मर जाता है। इतिहास बताता है कि मनुष्य जन्म से मर्त्य ऊपर के सींचे की ओर ही गिरा है और वह दिन दूर नहीं जब मनुष्य का पक्षी जीवन सदा-मदा के लिए मिट जाएगा।

मैकियावेली के अनुसार सम्पत्ति की आकांक्षा मनुष्य के कार्य की बलिदानों में प्रेरक है। "मनुष्य अपनी सामर्थ्य की अवधिनिश्चय के कारण ही सम्राट् बन बैठते हैं (Men always command the power of their knowledge which to limit their hopes)।" 'कुछ प्राप्त करने की' स्वाभाविक इच्छा की सर्वे ही पूर्ति नहीं हो सकती। प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि सम्राट् की सर्वोच्च शक्ति उसी के जीवन के लिए हो। इसी उद्देश्य से जेलि होकर वह विस्तार प्रविष्टि और समर्थ में लगे रहता है।

मानव-सम्भाव की इस धारणा के आधार पर ही मैकियावेली कहता है कि एक राजनीतिज्ञ को मानव की इस स्वार्थ-भावना की प्रकृति में रहना चाहिए और राज्य न चाहिए कि वह एक मनुष्य की दूसरे मनुष्य के साक्षरता से बचाए। मैकियावेली के अनुसार पैर और भय दो विशेष बलिदान हैं जिनके द्वारा मनुष्य से कुछ प्राप्त किया जा सकता है। जो शक्तिशाली होता उसका हृत् को पर बलदा प्रभाव पड़ेगा। जो शक्तिशाली होता जनता उसकी आज्ञा पुरस्कृत हो पायेगी। पैर और भय—ये दो बलिदान मनुष्यों को बल में कर सकती हैं किन्तु राज्य के लिए भय न महाराज पैदा ही अधिक प्रेरक है। मैकियावेली के मानव-सम्भाव एवं प्रकृति प्रभाव ने मनुष्य की धारणा का केवल एक उद्देश्य ने बड़ा प्रभावित सम्प-विषय इस प्रकार में लीखा है—

"मैकियावेली ने राजनीति के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, उसके मूल में एक विशिष्ट धारणा कार्य कर रही है। वह धारणा यह है कि मानव प्रकृति मूलतः स्वार्थी है। राज्यप्रेता के प्रेरक उद्देश्य सर्वे प्रकृति होने चाहिए। जन-साधारण सर्वे प्रेरक चाहता है और शक्तिशाली। शासन की स्थापना का उद्देश्य ही यह है कि व्यक्ति स्वयंसेवक होता है। वह दूसरे व्यक्तियों के बलिदानों से अपनी रक्षा नहीं कर सकता। उसकी रक्षा के लिए राज्य की आवश्यकता होती है। मनुष्य की प्रकृति बहुत अधिक आकांक्षाली और सर्वोच्च है। मनुष्यों के पास जो कुछ होता है

ये उसे अपने पास रखना चाहते हैं और उसके अधिकार का अर्थन करना चाहते हैं। मनुष्य की इच्छाओं पर कोई नियन्त्रण नहीं है। उन पर एकमात्र नियन्त्रण प्राकृतिक दुर्लभता का है। फलतः मनुष्य सर्वत्र ही अपने अधिकारों की स्थिति में रहते हैं। यदि इस अवस्था में अधिकारों की स्थिति का प्रत्यक्ष न हो तो समाज में अराजकता फैल सकती है। शासक की अधिकारकला की सम्भावना पर और इस धारणा पर कि अधिकारों का अर्थ ही सुरक्षा का अर्थ है, आधारित है। मैकियावेली ने शासन के सम्बन्ध में इस धारणा को स्पष्ट किया था कि वह, यद्यपि इसके आधार पर उसने व्यवहार के निम्न सामान्य मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का विकास नहीं किया है। लेकिन, उसने अनेक स्थलों पर यह कहा है कि मनुष्य सामान्य रूप से अराजक होते हैं और बुद्धिमान शासक को अपनी नीतियों द्वारा धारणाओं को आधार बनाकर नियंत्रित करना चाहिए। उसने इस बात पर विशेष रूप से जोर दिया है कि शासन शासक की सम्पत्ति और जीवन की सुरक्षा की और सबसे अधिक ध्यान देना चाहिए क्योंकि मनुष्य की प्रकृति में वे ही सबसे कार्यशील इच्छाएँ हैं। इसलिए उसने एक स्थल पर यहाँ तक कहा है कि मनुष्य अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति की रक्षा की अपेक्षा अपने रिश्ते की रक्षा की अधिक आसानी से करना कर सकता है। शासकाधीन शासक मार सकता है, वह मृत्युवादी नहीं करेगा। मैकियावेली की विचारधारा से इस प्रश्न की उत्तर व्यवस्थित मनोविज्ञान के द्वारा पूर्ण किया गया, जब वह हॉब्स का राजनीतिक दर्शन बन गया।¹ मैकियावेली का शासक भी एक मानव है जो इस सब दुर्दुर्लभ से दुर्लभ है, वह शासक नहीं है जो शक्ति, धन और सम्पत्ति लेकर अपने लक्ष्य प्राप्त ही लोकजी की तरह जाना और मरने की तरह अधिकारी हो। वह चाहता है कि शासक सर्वत्र और प्रसन्न रहें। नियन्त्रण, अपने और अनुशासन द्वारा समाज में अनुत्पन्न रखा जा सकता है। एक बुद्धिमान शासक के लिए उचित है कि वह मानव मनोविज्ञान के ध्यान से रहकर मानव स्वभाव के अनुरूप (वैयक्तिक) धारणा पर अपनी नीति को प्रस्तुत करे। उसके अनुसार शासन सरकार नहीं है जो सम्पत्ति और जीवन की किसी भी प्रभुता रक्षा कर सके। मानव स्वभाव सम्बन्धी विचारों के निष्कर्ष

(1) मैकियावेली का मानव विरासतों से सम्बन्धित अनुरोध सिद्धान्त मानव स्वभाव के बारे में थोड़े और प्रत्यक्ष द्वारा प्रतिपादित या वैयक्तिक ही सम्बन्धित सिद्धान्तों का जो राज्य का काम मनुष्य के सामाजिक स्वभाव से देखते हैं, प्रस्तुत करता है। यहाँ थोड़े मनुष्य की स्वभावतः अनुत्पन्न सम्पत्ति है यहाँ मैकियावेली ने राज्य और समाज की स्थिति की एक प्राकृतिक प्रकृति माना है, जो मनुष्यों में सुरक्षा की आवश्यकता से उत्पन्न हुई। उनके अनुसार मनुष्य दूसरों के साथ सम्बन्धित करता है क्योंकि वह जानता है कि उनके सहयोग के अभाव में उनके परिवार और सम्पत्ति की सुरक्षा सम्भव नहीं है। उससे इस सुरक्षा की आवश्यकता से ही सरकार की आवश्यकता होती है।

(2) एक बुद्धिमान शासक को यह मान कर चलना चाहिए कि मनुष्य की श्रेष्ठ क्षमताएँ, जिन पर वह सरोसा रख सकता है, स्वयं सद्गुणों और स्वाध्वर्णों हैं। ये नैतिक और परस्वध्वर्णों नहीं हैं। अतः शासक को सर्वत्र इतना अधिक सतिशमाली बनने का प्रयास करना चाहिए कि वह प्रजाजन को सुरक्षा प्रदान कर सके। शासक को अपनी नीतियों पर नैतिकता एवं धार्मिकता का सुधमा बढ़ाने की कोई आवश्यकता नहीं है। मनुष्य में सामाजिक सद्गुण नाम की कोई वस्तु नहीं होती। जिन्हें हम सामाजिक सद्गुणों की सजा देते हैं वे केवल स्वार्थ के बदले हुए रूप हैं।

(3) राजनीति और नैतिकता का पठनमन सामाजिक और उपहासगत है। मनुष्य जन्म से ही स्वार्थी तथा स्वार्थ की संवेधा वाय की ओर प्रवृत्त है। यह विषय किताबें पढ़ने पर ही समझाई का कोई काम करता है। अतः वह बुद्धिजीवी और धार्मिकनीतिज्ञता होने की मासक ऐसे मनुष्य के नैतिक व सामाजिक सद्गुणों की बहुविकेय पर विचार करे। शासक की सधर्मी स्थिति तो यह है कि प्रजाजन समस्त जेब भी करें और उनमें सहे भी रहे। चूँकि ये दोनों बातें अधिकतर एक साथ सम्भव नहीं हैं अतः यही अन्तर है कि शासक मनुष्यों की क्षमता द्वारा निरन्तर करता रहे। सतिश ही एक ऐसा महा-पराय है जिसका मूल मनुष्य समझने है। सतिश भय की वजह से, और भय जेब की संवेधा अधिक मनुष्यजन रखने में समर्थ है। जेब बहुधा पकड़ कर लेने पर छोड़ा दे जाता है। सतिश द्वारा प्रजाजनता की मिहमा या सतता है और सामाजिक निरन्तर की स्थापना करते हुए मनुष्य के स्वाध्वर्णों काभी की रोका जा सकता है।

(4) बंकिमावली के इस कथन के कि "मनुष्य जन्म और स्वभाव के अनुसार ही स्वार्थी, स्वार्थी और सीधे होता है"—यह सर्व विचारता सामाजिक न होना कि मनुष्य के सधर्ण में सुधार सम्भव नहीं है। जहाँ सधर्ण के राज्य में मनुष्य की मिहमा द्वारा सद्गुणों बनाया जा सकता है जहाँ बंकिमावली के अनुसार मनुष्य अपनी स्वाध्वर्ण एवं सधर्णित सद्गुणों के कारण पुनः-पुनःतर एक सधर्णित ही बना रहेगा। राज्य के लिए उसके सधर्ण में सुधार करना न ही मिहमा द्वारा सम्भव है और न सामाजिक एवं सामाजिक सधर्णों के सुधार द्वारा। उनकी सधर्णितों पर विचारता का केवल एक ही प्रमुख सामन है—और वह है सतिश या स्वयं।

बंकिमावली के मानव-स्वभाव सम्बन्धी विचारों की सलोचना

बंकिमावली द्वारा किया गया मानव-स्वभाव का विचार हमारे के प्राकृतिक सधर्ण के मानव-स्वभाव के सधर्ण कुछ विचार-पुनरा है और इसी कारण उसे मानव-सीधे तथा सधर्ण कहा जाता है। मानव स्वयं सधर्ण, स्वार्थी और निम्ननीति का नहीं है किताबें उल्लेख सधर्ण है। जहाँ सद्गुणों की कमी नहीं है। जेब, सधर्ण, सधर्णता, स्वयं, सधर्णता सधर्ण उल्लेख सीधे सधर्ण में ही पाए जाते हैं। बंकिमावली के विचार सर्वप्रथम और विरोधात्मक प्रकृतियों के सधर्ण है। यदि मनुष्य उसके सधर्ण सधर्ण ही स्वार्थी है उस ही समान का सधर्ण वह विचार

भी परिनिष्ठित नै नही कर सकता । यदि मनुष्य इतना ही पापी, तोही और छाहंकारी है जिनका मैकियावेली ने कहा है तो राज्य की कल्पना ही नही की जा सकती, क्योंकि राज्य तो सहस्रीणी-आदवाओं के चलन हुआ है । पुनरपः कुछ परिस्थितियों ने चाहे "मनुष्य विता की कृष्ण का दुःख साझा की के भूत जाए" पर वह भी वह मनुष्य ही है जो वेत-हित, विता के सम्मान और नरोपकार के धन पर अपना मन-मन-मन सभी कुछ बलिदान कर देता है ।

वास्तव में प्रतीत यही होता है कि मैकियावेली की मानव प्रकृति की निकृष्टता और बहुमान्यता से इतनी दिनचरसी नही थी जिसने इस बात में कि इन बुराईयों के कारण ही इरादितन्त्र साम्राज की बड़ी दुर्गता ही गई थी । अपने समाज की क्षमोक्ति देखकर उसे गर्वोन्तक पीडा होती थी । उसके विचार से इतनी भ्रष्ट-समाज का प्रयोग उदाहरण था । यही 'राजतन्त्र में और और स्पेन में इस प्रकार की बुराईयों की किसी बात तक दूर कर दिया जा नहीं पड़ती है इन बुराईयों की दूर करने वाली कोई रास्ता नही थी । मानव-स्वभाव के अनेक पक्षों का विरुद्ध मैकियावेली ने किया है, वे सब इतनी में विद्यमान थे । मैकियावेली स्वयं मनुष्य के लोभ, लालच और स्वार्थ-लोभगुणों का विचार हुआ बदचरणीय इच्छा था । मतः उसके द्वारा वे यदि मानव-स्वभाव के बुरे पक्ष का ही ध्यान रहा हो तो इसके इसका दोष कम है, उसकी परिस्थितियों और इतनी में विद्यमान सत्कार्मीय वातावरण का अधिक । सत्कार्मीय परिस्थितियों और इतनी की दुर्गता के कारण ही मैकियावेली सम्भवतः इतना अधिक लोभ उठा और दुःख के सागर में डूब गया कि उसने, सच्चाई और बुराई के मानव-स्वभाव कभी निकले के दो पहलुओं में से केवल एक ही पहलु को चिन्तित किया । इतनी के सत्कार्मीय मनुष्यों के स्वभाव के आधार पर समस्त मनुष्यों के सर्वकार्मीय स्वभाव को निर्धारित करना, उसका एक सार्थक दोष है । दूसर, यह भी कहता होता कि मैकियावेली ने अपने मानव-स्वभाव सम्बन्धी विचारों की कोई वैज्ञानिक आधार नही की है, बल्कि अपने विचारों को केवल कलकाली कर्मी में व्यक्त किया है ।

मैकियावेली के धर्म और नीतिकता सम्बन्धी विचार

(*Machiavelli on Religion and Morality*)

राजनीति दर्शन में मैकियावेली ने ही सर्वप्रथम राजनीति की सर्व-द्वय नीतिकता से दूर रहने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया । बड़ी विचार उसे मध्यकाल से पूर्ण रूप से विमुख करता है । "उसने राजनीतिक हित को नीतिकता एवं धर्म से अलग भाँति ध्यान रखा है उसका निश्चिततः तादुरम अस्तित्व द्वारा विहित 'पॉलिटिकल' के कुछ पक्षों में पाया जाता है । अस्तित्व में भी राज्यों की सच्चाई-बुराई की और ध्यान दिग् बिना ही उनकी रता के लक्ष्यों का विवेकन किया है; तथापि यह निश्चित है कि मैकियावेली ने इन सत्कार्मीयों को सत्ता प्राप्त माना था । यह सम्भव नही है कि उसे किसी के अनुसरण करने का ध्यान रहा हो । हाँ, यह ही सकता है कि उसकी धर्म-निरीक्षणता और उसके प्रकृतिवादी मरणांत्यवाद

ये जिसने दो सताभिधों पूर्व 'सिरीन्सस्पेरेन' की रचना की प्रेरणा दी थी, वे कुछ सम्मान्य रहते हैं। मार्सीलियों की भाँति मेकिवावली भी पोपसाहू को इटली की कूट का कारण मानता था। धर्म-नैतिक सामन्ती ने किसना उपयोगी होता है? इस सम्बन्ध में भी मार्सीलियों और मेकिवावली के विचार प्रायः एक-से हैं। मेकिवावली की धर्म-निरपेक्षता, मार्सीलियों की धर्म-निरपेक्षता से आगे बढ़ी हुई है। मेकिवावली धार्मिक वस्तुओं के बिल्कुल मुक्त है।¹ मार्सीलियों ईसाई धर्म के मानव-स्वभाव-सम्बन्धी सैद्धांत्य और ईश्वरीय नियम के विचारों को नहीं छोड़ सका था जबकि मेकिवावली ईसाई धर्म की मान्यताओं का विरोध करते हुए इस बात से इनकार करता है कि मनुष्य का कोई भीति प्राकृतिक (Super-natural) या देवी शक्त है।

यहाँ मार्सीलियों ने ईसाई साधारणों की परलोक सम्बन्धी बात कर विवेक की स्वतन्त्रता का समर्थन किया, यहाँ मेकिवावली ने उसकी निन्दा इकटित की है कि वे परलोक सम्बन्धी है। उसने ईसाई धर्मियों को धर्म की कमसे कम मान्यता बताता है और प्राचीन कालीन धर्मों की ईसाई धर्म की तुलना में अधिक तेजस्वी स्वीकार किया है। उसी के शब्दों में, "हमारा धर्म निष्ठाता, निम्नता और सांप्रदायिक लक्ष्यों के प्रति उदासीनता को उत्पन्न मुक्त मानता है। इसके विपरीत दूसरा धर्म आत्मा के नीरस, शरीर की शक्ति तथा शब्द ऐसे दुर्लभ में जो आत्मा को बलवान बनाते हैं, सौन्दर्यशाली को कमजोर करता है। मेरा क्या है कि इन निष्ठाओं के कारण मनुष्य कायर हो कर है। दुष्ट आदमी उन्हें बढ़ी आत्माओं के अपने शत्रु में कर लेते हैं। धर्मशून्य मनुष्य हमेशा स्वर्ग की मान्यता में पड़े रहते हैं—वे जोर सह लेते हैं, बढ़ता नहीं लेते।"

उपरोक्त प्रकरणों से स्पष्ट है कि मेकिवावली नैतिकता और धर्म के राजनीति पर बहने वाले प्रभाव से परिचित था। उसने यह स्वीकार किया है कि शासक शास्य को प्रभाव करने के लिए धर्मनैतिक साधनों का प्रयोग कर सकते हैं। उसने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए समस्त साधनों का प्रयोग किया है चाहे वे शासन नैतिक हो या धर्मनैतिक। उसने नैतिकता को व्यक्तिगत नैतिकता (Private Morality) एवं जन-नैतिकता (Public Morality)—इन दो वर्गों में बाँटा है। व्यक्तिगत नैतिकता में शासक के दृष्टिकोण और साक्षरता को रखा गया है। जन-नैतिकता के बारे में उसने कहा है कि उनका का संबंध इसी में है कि वह अपने शासक की आज्ञाओं का पालन करें। उसके अनुसार शासक उदात्त है, उस पर कोई निष्ठाएँ नहीं हैं और न ही वह नैतिकता के किसी अन्ध में बसा है। अपनी शक्ति और प्रभाव के विस्तार में जो उपयुक्त हो, सहायक हो, वह सब साधन और नैतिक है। वह राज्य के लिए अपने को एकीकृत करने और शक्तिशाली बनाने की दृष्टि से प्रयुक्त होने वाले साधनों की नैतिकता पर कोई ध्यान न देकर केवल इस बात पर

ध्यान देता है कि वे उद्देश्य की दृष्टि में सफलतादायक हैं भी वा नहीं। उनके कथनानुसार "राजा को ही राज्य की सुरक्षा की चिन्ता रखनी चाहिए, सम्पन्न तो हमेशा आदरणीय ही माने जायेंगे और सम्पन्नता, उनकी प्रशंसा ही की जाएगी। राजा का काम मान माना है बुद्धिपूर्वक विचारना नहीं। इसलिए उसका उद्देश्य यही हमेशा चाहिए कि अपने काम में अपने नैतिक वा धर्मिक शासन का प्रयोग करके सफलता प्राप्त कर ली जाए।" मैकिन्नामकी द्वारा विनियत सादमी-नरेश का यही दृष्टिकोण है कि न कोई चीज अच्छी है और न कोई बुरी। बरफ़्तार पर जो काम वे और चल दे, यही चीज सबसे अच्छी है। राज्यसत्ता को बनाए रखने के लिए शासन शास, दान, लक्ष और वेद, वेदमन्त्री, दूता, प्रबन्धन, आक्रमण आदि किसी भी उपाय का प्रयोग कर सकता है। अपना राजा यही है जो लाल, लोहा और पशुपाल लेकर बले, वेद की तरह मछिलाली ही और लोमड़ी की तरह चालाक हो। उसकी इसी नीति की 'लाल-लोमड़ी नीति' (Lion and Fox Theory) कहा गया है। मैकिन्नामकी के अनुसार, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, लोक-परलोक, अच्छा-बुरा, अनु-विन आदि के विचार इष्टोक्त अनुष्ठानों के लिए हैं, राजा की इसका शक्ति नहीं होना चाहिए। राजा को ही सर्वेष्ट यही नीति चाहिए कि उसे भेद नहीं करना है और वेदमन्त्री, मोक्षमन्त्री, राज-कपट, अन्तराधिका, दूता, लोभ, ईर्ष्या आदि उसके कुशल हान हैं। इन विचारों के पीछे मैकिन्नामकी की चारणा यही है कि राज्य की सुरक्षा और कल्याण सर्वोपरि हैं, यह इन मार्गों से नैतिक विचार बाधक रूप में कामने नहीं माना चाहिए। राज्य की प्राप्ति हेतु व्ययों की नैतिकता के बन्धन में पड़ना भूल्यता है। इस प्रश्न में मैकिन्नामकी का निम्नलिखित उद्धरण महत्व है—

"प्रत्येक व्यक्ति इस बात से परिचित है कि राज्य के लिए अपने बचन का पालन करना और नीतिपूर्वक व्यवहार करना विद्वाना प्रवृत्तता है, फिर भी जो कुछ हमारे नेत्रों के सामने पड़ता है उससे इसे यही दिखाई देता है कि केवल वे राजा ही महान् कार्य सम्पन्न कर पाए हैं जिन्होंने पालाकी में दूसरों को पीछे छोड़ दिया और अन्त में अपने धर्मिक सफलता प्राप्त करते हैं जो ईशान्यार्थीयों व्यवहार में विज्ञान करी के—एक बुद्धिमान शासक अपने बचन का पालन नहीं कर सकता और न ही उसे ऐसा करना चाहिए, यदि ऐसा करना उसके हितों में न हो और अन्तिम में उसका समाप्त हो जाए हो जिससे विचार होकर वह बचन दिया था। यदि मनुष्य पूर्णतः भेद होते तो ऐसी विधि ही न होती, किन्तु बुद्धि के बुरे समझा अभेद ही और उन व्यक्तियों को यही विचारों की उन्हें ही तुल्य से किए हैं, यतः तुम भी उनके साथ अपने बचन निभाने के लिए काम नहीं हो और किसी की शक्ति की वशी ऐसे उपयुक्त कारण का अभाव नहीं रहा है जिसकी छोट में वह अपने बचन-वच पर पड़ी शक्ति लगे। उस बात के सम्बन्ध में हाथ ही के अवहित उदाहरण देन करते हैं अन्ततया या कहता है कि विश्व प्रकार राजाओं के विज्ञानशास्त्र के कारण अनेक विविध मन्त्रियों विविध एवं अनेक राजा ही गई और

किस प्रकार उस व्यक्ति को ही सर्वोत्तम सफलता मिल जाई जो सभी के साथ बालाकी का प्रयोग करना चाहता है।"

मैकियावेली ने अपने ग्रन्थ 'दिसकोर्सेज' के प्रकरण 39 में स्पष्ट लिखा है कि "मेरे यह निष्कास करता हूँ कि जब राज्य का जीवन संकट में हो तो राजाजी और मन्त्रिजनों की रक्षा के लिए निष्ठाश्रमार्थ तथा कृतघ्नता का प्रदर्शन करना चाहिए।" इसका स्पष्ट मत था कि मौलिक सफलता सबसे बड़ा साधन है, जिसे पाने के लिए सर्ववैयक्तिक सामग्री को अपमान्य आवश्यक है। राज्य की सफलता लाभों की परीक्षा बना देती है। उसने चूरता, निष्ठाश्रमार्थ आदि अपमान करने वाली के अनेक उदाहरण भी प्रस्तुत किए।

उपरोक्त निवेदन के यह निष्कर्ष निकालना आवश्यक होता कि मैकियावेली नैतिकता नाम की किसी बात से परिचित नहीं था। उसने जो नैतिक मान्यताओं एवं सिद्धांतों की राजनीति के क्षेत्र में दूर किया है। उसने नैतिक पुरुषों की विशेषताओं को धक्केदार नहीं किया है, परन्तु राजनीतिक दुष्टों के लिए उन्हें आवश्यक नहीं माना है। उसकी दृष्टि में राजनीतिक व्यक्ति अनेक स्तर से सफलता प्राप्त करने हेतु स्वतन्त्र है चाहे इसके लिए उसको नैतिक मान्यताओं का बलिदान ही क्यों न करना पड़े।

बैने यह यह सुझाव देना भी नहीं चाहता है कि एक राजा को ऐसे दुष्टों के साथ प्रकट होना चाहिए जिन्हें श्रेष्ठ मनुष्य के समझ माना जाता है। इस दृष्टि से उसे निष्ठाश्रम और धन-संपत्ति में निम्नता होना चाहिए और इस तरह आचरण करना चाहिए कि लोग नहीं समझें कि "यह (राजा) तो निष्ठाश्रम, सद्गुण, सचरिच्छा, दयालुता और धार्मिकता की माकर प्रतिमा है।" दरमकर मैकियावेली ने न तो धर्म और नैतिकता से चूसा की है और न उसकी सम्मेलन ही की है। उसने तो धर्म और नैतिकता को राज्य के अर्थ में रखकर उन्हें राजनीति का अनुगामी बनाया है। राज्य को यह सम्मेलन नहीं बल्कि धर्म-निरस्त तथा आचारहीन नहीं बल्कि आचारहीन माधमों से मुक्त देखना चाहिए है। एक राज्य तथा जति के जीवन में धर्म और नैतिकता के महत्वपूर्ण भाग से यह अवधारित नहीं है, बल्कि कि उसके ग्रन्थ 'दिसकोर्सेज' के इस उदाहरण में स्पष्ट है—

"जो राजा और मन्त्रिजनों अपने को अपमान्य से मुक्त रखना चाहते हैं उन्हें सर्वप्रथम स्पष्ट धार्मिक आचरणों की विमुक्तता की सुनिश्चित करना चाहिए और उसके प्रति उचित अज्ञानता दर्शना चाहिए, क्योंकि धर्म की दृष्टि होने पर देश के महानर किसी देश के विनाश या और कोई मजल नहीं है।"

इस मत के सम्बंध में रोबर्ट्स के ये शब्द भी उल्लेखनीय हैं कि "मैकियावेली ने यह अवसर स्वीकार किया है कि अत्यन्त साधन की आवश्यकता के लिए धार्मिक सामग्री का प्रयोग कर सकते हैं लेकिन उसे स्वयं कोई सम्मेलन नहीं था कि अत्यन्त का अपमान्य श्रेष्ठ अज्ञान का निर्माण सम्भव कर देता है। मैकियावेली ने आलोचना के समर्थन और अपने समय के निष्ठ लोगों के आचारिक सद्गुणों की स्तुति-स्तुति

सराहना की है। उसका निष्पत्ति है कि वे सदस्य राष्ट्रों के जीवन की विविधता, व्यक्तिगत जीवन में स्वातन्त्र्य तथा प्राकृतिक सम्बन्धों में अन्तर्गत और अन्तर्गत तथा सामाजिक कर्तव्यों के सम्बन्ध में निष्ठा और विश्वतन्त्रता के कारण विकसित हो चुके थे। लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं है कि आतंक को अपने प्रयासों के धर्म में विस्मृत करना चाहिए। बल्कि उनके सदस्यों का सम्बन्ध करना चाहिए।¹ मेक्सिको के सम्बन्ध में इस प्रकार के विचारों के अन्तर्गत ही यह कहा गया है कि "यह सैनिक नहीं, नैतिकता विरोधी या और अमानवीय नहीं, धर्म-निरपेक्ष या (His word not immoral but immaterial, not antithetical but antithetical)"।² मेक्सिको ऐसी शक्ति की आवश्यकता की सम्बन्ध का जो मनुष्य के कार्यों की ही नहीं बल्कि उसके मन की भी नियन्त्रित कर चुके। इस धर्म की पुष्टि के लिए यह धर्म की अनुकूलता का धर्म मानते हुए धर्म की राज्य के एक ऐसे धर्म के रूप में प्रयोग करना चाहता था जो इस तरह की राष्ट्रीय सम्बन्धों एवं व्यावहारिक आदर्शों अन्तर्गत करके अन्तर्गत शक्ति, अन्तर्गत और अन्तर्गत की विविधता में सहमति मिल सके। मेक्सिको का धर्म का जीवन बड़ा प्रतिभाशाली, आदर्शपूर्ण और अनुकूल करने योग्य था। केवल सामाजिक विकास के हेतु ही उन्होंने धर्म और नैतिकता की राजनीति से दूर रखा। धर्म के विचार में भी हम देखते हैं कि धर्म और आचार-आत्म राजनीति की सीमा के कोसी दूर है। मेक्सिको के नैतिकता सम्बन्धी विचारों का स्पष्ट दर्शन उनके द्वारा प्रतिपादित व्यक्तिगत नैतिकता और अन्तर्गतता के अन्तर्गत ही आता है। व्यक्तिगत गुणों का यह विरोधी दर्शन नहीं होता, क्योंकि राज्य के गुणों का दर्शन करते हुए यह कहा है कि "राजा बुद्धिमत्ता एवं आत्म नियन्त्रण का एक आदर्श स्वयं है और यह अपने गुणों एवं सीमा के प्रकाश की समान भाव दर्शाता है।"³

मेक्सिको के धर्म और नैतिकता सम्बन्धी विचारों पर बुद्धिमत्ता करने के उपरान्त यह भी ध्यान देना चाहिए कि उन्होंने धर्म और नैतिकता के राजनीति का अनुकूलता किन कारणों के आधार पर किया था। बौद्ध धर्म में इसके तीन कारण दिए जा सकते हैं—

(1) मेक्सिको दूसरी सामाजिक की शक्ति मनुष्य की रक्षा और अन्तर्गत के लिए राज्य की अन्तर्गतता, अन्तर्गत और अन्तर्गत सम्बन्ध मानते हुए राज्य के हित की उन व्यक्तिगत के हितों के अन्तर्गत सम्बन्ध था। इसीलिए उन्होंने यह निष्पत्ति कि "यह राज्य की सुरक्षा स्वयं में ही ही उस पर नैतिकता के वे विचार मानू नहीं होने चाहिए श्री सामाजिक के अन्तर्गत की नैतिकता करते हैं।"⁴

(2) दूसरा कारण मेक्सिको का सामाजिकी बुद्धिमत्ता था। यह मनुष्यों के सामाजिक मानक तक पहुँचने का मार्गोपेय था। इस समय के ईसापूर्व जीवन के और स्वयं पौन के अन्तर्गत आचारों की देखकर उसे यह विश्वास हो गया था कि सामाजिक शक्ति मनुष्यों की अन्तर्गतता और अन्तर्गत बनाती है, जिसके कारण

के परिनिमित्तों का सामना करने में असमर्थ हो जाते हैं। यद्यपि उसका यह निदान स्वतन्त्र स्वायत्तिक या कि मनुष्य को दुर्बल बनाने वाली धार्मिक शक्त का राजनीति में प्रतिस्पर्ध न था।

(3) तीसरा कारण मैकिवावली द्वारा उचित को राजभारतु महत्त्व देना था। यह प्रतिभावी पुत्रों को ही करवीय समझता था। अतः उचित राज्य कर्म के लिए उसने किसी भी राज्य के प्रयोग को उचित नहीं माना। इस दृष्टिकोण से धार्मिक प्रभाव से मुक्त, इहानीकवादी राजनीति का जन्म हुआ। मैकिवावली की धार्मिक प्रतिस्पर्ध के कारण एवं उचित तथा स्वायत्ति की समझ में भी। मनुष्य के बाद मोक्ष प्राप्त करना उसकी दृष्टि में इतना आवश्यक न था जितना इस लोक में इतनी प्राप्त करना। अतः यह कोई आश्चर्य की बात न थी कि उसने राजनीति को धर्म एवं नीतिकता से अलग रखकर एक स्वतन्त्र शास्त्र का स्थान दिया।

दुनियाँ की धार्मिक प्रभावों को देखकर और यह प्रश्न पर कि धर्म की शक्त में क्या पाप लिए जाते हैं और राजनीति में धर्म को कैसे उछाला जाता है? मैकिवावली ने धर्म और नीतिकता सम्बन्धी को विचार प्रकट किए, उनकी सामना का अनुभव हम प्राप्त भी करते हैं। अतएव और नुसोतिनी के कारणों को विचार देना चुका है, चीन को विचार देना रहा है और राजनीति के नीतिकता-विहीन बनने का कारण विचार मात्र भय-वस्तु है।

मैकिवावली के राज्य सम्बन्धी विचार

(Machiavelli's Conception of the States)

राज्य की उत्पत्ति एवं प्रकृति

कारण की भाँति मैकिवावली ने राजनीति के अध्ययन में ऐतिहासिक दृष्टि का प्रयोग की किया है। किन्तु उसकी राज्य सम्बन्धी दृष्टि का कारण से भिन्न है। कारण राज्य की प्राकृतिक दृष्टि मानता है जबकि मैकिवावली मान्यता है। उनका विचार है कि राज्य एक कृत्रिम सत्ता है, जिसे मनुष्य ने अपनी-अनुविधाओं को दूर करने के लिए बनाया है। यह राज्य के धार्मिकता का कारण मनुष्य का स्वार्थ मानता है और इसी कारण राज्य की प्रकृति विवेचना उसका निरन्तर विस्तार है। "यह सभी मानवीय व्यापार प्रकृतिगत है जो यह सम्भव है कि कोई विचारक कहा रहे।" मैकिवावली नगर-राज्य की अवस्था निरन्तर विकासशील प्रथम साम्राज्य का उत्पत्तिकार था। राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी मैकिवावली का विचार दृष्टि से विस्तृत प्रकृत है, क्योंकि राज्य की उत्पत्ति ने पूर्व दुर्ग के अभाव ही यह मानवीय दृष्टि की अवस्था आई और औपनीय मानता है जिसकी समझ में लिए अन्त में मोक्ष में वही हीन समझ कि उचित व्यवस्था करने वाले किसी अधिकारी की नियुक्ति का ही अन्त। जब सामान्य हित और न्याय की इस मानना से व्यक्ति के हितों का अनुसरण हो गया तो राज्य की उत्पत्ति हुई। स्वार्थ की राज्य की उत्पत्ति का कारण बनने हुए मैकिवावली यह भी स्वीकार करता है कि राज्य की उत्पत्ति का कारण बनने का कारण करने के लिए हुई थी। इस तरह यह स्वार्थ के प्रतिनिधि

सम्भवतः वह भी बतलाता था कि राज्य की उत्पत्ति ईशवीय न होकर समुदाय के मन का परिणाम है। मनुष्य की दुर्बलता और स्वायत्तता को सीमित एवं नियंत्रित करने के लिए मनुष्याभि माह्य व्यक्ति की आवश्यकता होती है जो राज्य द्वारा पूरी की जाती है।

अरस्तू की भांति ही मैकिवावेली राज्य की उत्पत्ति सभी लक्ष्यों में सम्पन्नता देता है। समस्त व्यवधान राज्य के प्रति उपारदायी है, जबकि राज्य किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं है। मनुष्य का सर्वोत्तम व्यवधान राज्य के समितित्व और कोई व्यवधान नहीं कर सकती। मनुष्य जब अपने व्यक्तित्व की रक्षा में विवश हो जाता है सभी वह राज्य के समितित्व को बनाए रखने में सफल होता है और राज्य के समितित्व से उत्पन्न सर्वोत्तमोत्तमी विवश होता है। व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह राज्य के निर्णय के सामने अपने हितों की विन्यास न करे। राज्यों के लिये भी व्यक्ति-समुदाय होते हैं उनका भी यही कर्तव्य है।

राज्य की महत्ता का आधार मैकिवावेली ने भौतिक शक्ति एवं छात्र-व्यवहार (Civility) माना है। इनके बिना राज्य की वृद्धि नहीं हो सकती। राज्य किसी प्रकार के भौतिक साधनों से नहीं बँधा है। उसके लिए वे सभी कार्य वैयक्तिक हैं जो उद्देश्य की प्राप्ति के लक्ष्य में सहायता करते हैं।

मैकिवावेली यह मानता है कि राज्य परिणतमान है और उसके उत्थान एवं पतन का सम्बन्ध इतिहास है। इन परिणतों का कारण एक निश्चित उम्र है जिसे हम इतिहास के अध्ययन से जान सकते हैं। वह राज्य की दो भागों में विभक्त करता है— (1) स्वस्थ राज्य, (2) मरणावस्था राज्य। स्वस्थ राज्य बुद्धिमान होता है और निरन्तर वर्धन में होता रहता है। यह राज्य एकता का जर्णिक होता है, क्योंकि मनुष्यों के लिए इसके निष्ठापूर्ण व्यवहार सहते-असहते नहीं है। स्वस्थ राज्य मेहनती और वितरणी होता है। मरणावस्था राज्य विच्छिन्न होता है जिसमें व्यक्ति अपने छोटे-छोटे स्वार्थों में निमग्न हो लक्ष्य-रहित रहते हैं। उन्हें राज्य की एकता और 'समझन की कोई चिन्ता नहीं होती।

राज्य के वर्धन, उद्देश्य और साधनों पर बहुत कुछ उत्पन्न पूर्व-सर्जित बुद्धि से लिए गए विवरणों पर बात चला है। पोलो का साधन-राज्य उच्च नागरिक-व्यवस्था के लोह से ऊपर उठा हुआ नायु-मन या, नागरिकता या वही मैकिवावेली का साधन राजा वह है या किसी भी उपायों के राज्य की शक्ति, सम्मान और प्रतिष्ठा को बढ़ाता है, जो राज्य का निरन्तर विस्तार कर देने सम्मान की प्राप्ति पर पहुँचता है। अपने विस्तार के दिनों के 26 अध्यायों में अपने विस्तार के यह बतलाता है कि राजा की विनम्रता या साधनता कल्याण चाहिए। हमने जाना कि "मनुष्य मानवता और पशुता के दोनों में विभक्त बनता है, जब राजा का मन दोनों (मनुष्य और पशु के बीच व्यवधान कर्म के सम्बन्धों का साधन होता है)। जोवनी की बतलाती और देश की सम्मान करने हुए राजा की अपने उद्देश्यों पर कर्म जाना चाहिए। इन वैयक्तिक-व्यवस्था अपना कार्य निरन्तर जारी है। राज्य की एक सम्पन्न

या जोखी खीर बहुतबिना होता था। जमे जाड़े के छद्म विदेशी सिपाहियों पर कभी निर्भर नहीं रहना चाहिए, प्रत्युत अपने ही देश के निवासी ही को विश्वासपात्र बना रखनी चाहिए।” मेक्सिकोकी इस बात से असन्निध न था कि उसका हीन इज्जी म विदेशी सिपाही विरोधियों की अनेक घपने वालियों के लिए ही प्रतिक मकड़ जाल बन चुका था।

वैदिकमानकी ने राजा की दुराची विज्ञा वह की कि उसे दगापु होते हुए भी इस बात का सर्वत्र ध्यान रखना चाहिए कि कोई उसकी अमाजीयता का अनुचित लाभ न उठाए। सामन्तकता पहले पर राजा को बुर होने में बल नहीं खाना चाहिए। इसका हर प्रकार से वह उपलब्ध होना चाहिए कि राजा ने उसके प्रति भद्र और सम्मान की भावना महत्त्व दीवित रहे, पर साम ही इस बात के प्रति संवेत रहना चाहिए कि यदि उसे दुगा न करके लगे। समस्तजनता पहले पर प्रजा, विद्वान्जन, सर्वशिक्षता, धर्म के धर्म नहीं उगायी की अपनी सफलता के लिए उसे प्रयोग में लाना चाहिए, क्योंकि उसकी सफलता उनके समस्त भावनों की स्वयं बात में वैदिक बना देगी। लोगों की दुराच से बचने के लिए राजा को कभी भी उनकी सम्पत्ति और उनकी शिवनी के नदीय की हान नही सफलता चाहिए। इन दोनों बातों के न होने पर सविनिमित्त जनता सुखी और संतुष्ट रहती है। यदि राजा की प्रजा विद्विषा (Fingulous), नीच प्रकृति का, पर-स्त्रीधारी और सविपर प्रकृति का नामने की दुमने उसका मान घट जाता है। यथा उसका कार्यभार है कि वह दार, बपर, शिवा आदि का प्रयोग करते हुए भी ऐसे कार्य करे जिनसे उनकी महानता, सम्मान, सन्धीयता और महत्त्वपूर्णता प्रकाश में आए तथा वह एक सज्जन एवं धर्म-परायण व्यक्ति की रूप में प्रतिष्ठित करे, क्योंकि ऐसे कर्तव्य अपने कीर्तिपूर्वक साधकता की और भी सार्विक प्रशंसनीयता बना देती। वैदिकमानकी ने यह व्यवस्था भी की है कि राजा की प्रतिष्ठा उचित सफल पर प्रजा के समोरजनने मैत्री की व्यवस्था करती प्रतिष्ठित और सुष्ठ में ज्ञान सुष्ठ के मान की पुनर्बाद करने कीय में सक्षिततर उदात्तानुबंध प्रजा और वैदिकों ने उनका विवरण कर देना चाहिए।

यहाँ तक सम्भव हो सके तो सामाजिक कतिहो क्षीन वर्गवर्गों में हमसे नही करता चाहिए क्योंकि ऐसा करने से राज्य के विरोधियों को तिर जमान का समर्थन मिलता है । तब देन जैन क्षत्रिय वर्गों का पावन उप करने क्षत्रियों में परवाना चाहिए क्योंकि इनके राज्य होने परभी क्षत्रियों क्षत्रियों के लिए मही का महती है और यदि प्रजा के बीच के कारण इन वर्गों में वर्ग के कुछ भी हो रहा है तो सम्भव-क्षी क्षी क्षत्रियों के लिए क्षत्रिय राज्य क्षत्रियों के वर होता है ।

राजा का व्यक्तिगत और व्यवसाय की उन्नति में रुचि लेनी चाहिए, जिससे राज की इस प्रवृत्ति में नयी चमक आए। नयी जीवन शक्ति वह इनके और कुवि के विकास की आवश्यकता को साक्षात्कार देता रहे। राजा को राज की प्रतिभा का भी पोषण करना चाहिए। यदि राजा व्यक्तिगत, व्यवसाय, कुवि आदि की ओर ध्यान का स्मरदार न देता तो इस निम्न सी प्रवृत्ति हो जाएगी। व्यक्तिगत, मनीष और राज

का सरावक होने के धीरे धीरे-साहस करने के राजा की लोकप्रियता में वृद्धि होगी। मैकिवावली ने राजा की पाषण्डुता के बचने और प्रजा के विचार की बढ़ी योजनाओं में जगह रखने की सलाह दी है। उन्होंने यह परामर्श भी दिया है कि जब राजा किसी नवीन राज्य पर अधिकार करे तो उसे वहाँ के पुराने संविधान में कोई परिवर्तन नहीं करना चाहिए। मैकिवावली जनता द्वारा शासन कार्य में भाग लेने का भी अनुमोदन करता है ताकि उसे राजनीतिक शिक्षा मिल सके। मैकिवावली द्वारा जनता के शासन कार्य में भाग लेने का भी अनुमोदन करने से यह उल्लिखित होता है कि कम से कम आन्ति काल में वह राज्य और जनता के हितों में सर्वप्रभावशाली नहीं मानता। कुक (Cook) को यह चारणा प्रकट नहीं है कि “मैकिवावली का राजा (Prince) जन-कल्याण के लिए खानासाह है, किन्तु स्वयं अपने गुल एवं तान के लिए विरक्त साधक नहीं है।”

मैकिवावली के अनुसार पन्नाई-पट्टीय क्षेत्र में राजा की नीति शक्ति-कटुपन बनाए रखने की होती चाहिए। राजा को हमेशा यह ध्यान रखना चाहिए कि वह उन पसीसी राज्यों की शक्ति में वर्धित में न बनने दे जिसकी अनुक्त शक्ति उसके स्वयं के राज्य के अधिक हो जाए। इस उद्देश्य की पूर्ति का सर्वोत्तम उपाय यही है कि राजा पसीसी राज्यों के पाल्तरिक मामलों में निरन्तर हस्तक्षेप की नीति अपनाए। पाल्ती स्थिति मुद्द बनाए रखने के लिए वह पसीसी राज्यों की प्रतीभन प्रकाश शक्ति द्वारा प्रकाश मित्र करावे। जिन राज्यों को वह मुद्द में जीत ले उन्हें अपना उपनिवेश बनाकर वहाँ एक अधिककारी केना रख दे। मैकिवावली ने राजा को कुछ सम्बन्धी परामर्श भी दिया है कि उसे अपासम्भव वेरा करने की अपेक्षा कुछ नैदान में मुद्द नीति अपनानी चाहिए। कलदा-शक्ति के लिए राजा को मुख्य निर्णय लेने की शक्ति रखनी चाहिए। मुख्य और मुद्द निर्णय तथा उसकी प्रीय कार्य-पट्टि द्वारा पन्नीर समस्तियों का स्थापन सरल हो जाता है।

सरकार के रूप

(Forms of Government)

शासनप्रणाली अपना सरकारों का वर्गीकरण मैकिवावली ने इस उद्देश्य के किया है कि शासन शासन कार्यन किया जा सके। उनके लिए शासन शासन नहीं है जो पूर्णतः शक्ति ही, शक्ति ही, शक्ति ही, और जिसकी सत्ता अप्रतिहत ही। प्रत्येक का अनुसरण करते हुए अपने सरकारों को, उनका मुद्द एवं प्रमुद्द का भाग बन जा जागी के विचारित किया है—

शासनाध्य रूप

विकृत रूप

(1) राजतन्त्र (Monarchy)

(1) आतङ्काली तन्त्र (Tyranny)

(2) कुलीनतन्त्र (Aristocracy)

(2) बर्ध तन्त्र (Oligarchy)

(3) गणतन्त्र (Republic)

(3) प्रीयतन्त्र या लोकतन्त्र (Democracy)

मैकियावेली ने यद्यपि परिस्थितियों और विचारों के इस विचार से सम्बन्ध प्रकट की है कि विविध सरकार सर्वश्रेष्ठ होती है क्योंकि उसने प्रत्येक शासनतन्त्र के प्रभेदे गुणों का समावेश होता है और अनुचित शक्ति-समुत्पन्न तथा निष्पक्ष बना रहता है, यद्यपि उसने केवल दो प्रकार की सरकारों का ही निस्तार से वर्णन किया है और वे हैं राजतन्त्र तथा गणतन्त्र । राजतन्त्र का तुल्यार्थ 'प्रिन्स' में तथा गणतन्त्र का 'डिप्लोमैट' में दिया गया है । 'प्रिन्स' में मैकियावेली ने राजतन्त्र का इतना अधिक तुल्यार्थ किया है कि केवल उस राज्य को चढ़कर ही मघनी धारणा बना देते वाले लोग उसे राजतन्त्र का कट्टर समर्थक और गणतन्त्र का शत्रु समझने की भूल कर सकते हैं । वास्तव में मैकियावेली इस बात से भ्रित था कि सभी परिस्थितियों में एक ही प्रकार का शासन बना सर्वश्रेष्ठ नहीं हो सकता । शासन की उपयोगिता विविध सामाजिक एवं आर्थिक स्थितियों में परिवर्तित हो सकती है यदि एक परिस्थिति में राजतन्त्र सर्वोत्कृष्ट शासन-व्यवस्था है तो दूसरी में गणतन्त्र अधिक श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था सिद्ध हो सकती है । सम्भवतः इसी दृष्टिकोण को ध्यान रखकर मैकियावेली ने 'डिप्लोमैट' में गणतन्त्र की सर्वोत्तम शासन व्यवस्था है तो 'प्रिन्स' में राजतन्त्र को ।

राजतन्त्र (Monarchy)—मैकियावेली ने राजतन्त्र को केन्द्र और कुत्रिम राजतन्त्र में विभक्त किया है । केन्द्र राजतन्त्र में राजा बलानुष्ठान साधारण पर विद्यासम्पन्न होता है जबकि कुत्रिम राजतन्त्र वह श्रमण है जो शत्रु को पराजित करने के बाद कोई दूखरा राजा उसे परास्त राज्य पर लाता है । राजतन्त्रों की स्थापना यद्यपि कृत्रिम एक राजा द्वारा दूसरे को पराजित करने में होती है । मैकियावेली ने इन तन्त्र-व्यवस्थापित राज्यों के 5 प्रकार बताए हैं—

1. वे राज्य जो किसी प्राचीन राज्य के घन हो और इनके निवासियों तथा नए शासक यद्यपि वह राजा के देश और भाषा में कोई सम्बन्ध न हो । मैकियावेली ने ऐसे राज्य में शासन को सत्तिशाली करने के लिए दो साधन बताए हैं—प्राचीन राजा के पुत्रों को स्थापित कर दिया जाए, और राज्य के प्रचलित कानून एवं कुरी (Taxes) में कोई परिवर्तन नहीं किया जाए,

2. वे राज्य जो धर्म पर आधारित हों,

3. वे राज्य जो धर्म में प्रान्त किए गए हों,

4. वे राज्य जो सरदारों या बाग़दादी द्वारा स्थापित किए गए हों, तथा

5. वे राज्य जो पराक्रम द्वारा हस्तगत किए गए हों ।

'प्रिन्स' के सम्पादन से हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि मैकियावेली उन देशों में राजतन्त्र को ही सर्वश्रेष्ठ शासन-व्यवस्था मानता है जो प्राचीन युद्ध के निष्कार हो, इनके निवासी बहिष्कृत एवं शत्रु हों, जो एकता की दृष्टि के मौखिक व्यवस्था में ही और उनके राष्ट्रपिताओं के शक्ति पराक्रम तथा भ्रष्टता में दृढ़ रहे हों । मैकियावेली ने 'प्रिन्स' में निरंकुश शासक का आदर्शोत्तरा इतिहास दिया था कि वह दुश्मनों की सत्तिशाली केन्द्रीय शासन के अधीन एकताबद्ध रूप से बाह्यता का

३. एक राजा की सपेक्षा जनता को वे जनता समिति सम्मिलित होती है । जनता में राजा की सपेक्षा अधिक बुद्धिमत्ता और दृढ़ता पाई जाती है । जनता के निर्णय राजा से अधिक परिपक्व और स्पष्ट होते हैं । जनता में अधिकांश में वृद्धि होने वाली समझ और बुद्धि पाई जाती है । जनता में अधिकांश में वृद्धि होने वाली बुद्धिमत्ता और दृढ़ता पाई जाती है । जनता द्वारा सामान्यतः किन्हीं बुराईयों एवं भ्रष्टाचारों को निवारित नहीं किया जाता ।

3. कल्याणनामक ज्ञानन सरकार स्वार्थ की होती हैं और जनता के हित में ज्ञानन की बाधों को हटाने के हेतु जे.सी. में प्रवृत्ति करता है। ज्ञानन राजतन्त्र की प्रवृत्ति कल्याण की स्वायत्ता अधिक कठिन होती है, लेकिन यह ज्ञानन अधिक दिग्दर्शक है क्योंकि ज्ञानन कार्य में स्वयं भागीदार जनता अष्टाचार वर दीक को जान करती है।

4. वस्तुतः प्रत्येक राज्य के विदेशों के साथ ही नई सन्धियाँ अधिक स्वातंत्र्यपूर्ण होती हैं क्योंकि उनके पीछे जन-सहोदरता होती है। इसके विपरीत राजतन्त्र के अधिकारों की योजना और बनाना एक व्यक्ति के हाथ में ही होता है, मत-वह उन्हें कभी भी बदल कर सकता है। दूसरे देश व्यक्तिगत राज्य के विरुद्ध राजतन्त्र की संवेष्टा वस्तुतः पर अधिक प्रयोग कर सकते हैं।

3. राजा राजनीतिक और कानूनी निकायों की स्थापना करने में भले ही सैनिक सफल हो लेकिन उन्हें बहादुर रहने की क्षमता सामान्यतः पराजितवादीक मानस में ही अधिक होती है ।

वैदिकवाचनों ने गणराज्य के दोष भी बिनाए हैं और उनके विचारण करने के ज्ञानी का निर्दोष भी बिना है। गणराज्यवाचक सावक का बहुत दोष यह है कि सफरकाशीन परिस्थिति या मुकामता करने की उनमें विशेष सम्मर्था नहीं होती। ऐसे समय गणराज्यों व अधिकारियों व्यक्ति का ध्यान होता चाहिए। दूसरा दोष यह है कि हमने जान अने प्रकार कावाची हो जाते हैं क्योंकि उन पर किसी एक व्यक्ति का विचारण नहीं रहता। वैदिकवाचनों का सुझाव है कि ऐसे अधिकारियों के कर्तों की बर्तन कर कर्तु उचित दण देने की व्यवस्था होनी चाहिए। तीसरे, जनवाची सम्मर्था दोषों की दूर करों के लिए प्रत्येक जन को विचार अधिकारिता की पूर्ण सहायता दी जानी चाहिए क्योंकि इस पर लोक जनाने से भीतर ही भीतर सुनगते रहने वाला सम्मर्था कर्तों की विरोध के बन में पड़ता ही जाता है। गणराज्य की सफलता के लिए देश में एक ही व्यक्ति के व्यक्ति होना चाहिए क्योंकि कई व्यक्ति के विचारण राज्य में जाता, यन् और सुसङ्गति सम्मर्था विचार उद्यम रहते हैं। इनके साथ ही साधन में राजनीतिक और सामाजिक परम्पराओं के प्रतिष्ठान ज्ञान नहीं बनाने चाहिए सम्मर्था राज्य के विविध तत्त्व सम्मर्था होकर राज्य की सत्ता के लिए नष्ट बन जाते हैं।

कुलीनतन्त्र (Aristocracy)—राजतन्त्र और गणतन्त्र के सम्पर्क में निम्नलिखित ने कुलीनतन्त्र का बहुत विरोध किया, समझते इसलिए कि सरकारी दृष्टी के पक्ष का एक मुख्य कारण सामन्तवादी ही थी। निम्नलिखित का कहना है कि सभ्य लोग स्वयं कोई कार्य नहीं करते। वे सामन्ती और निम्नलिखित होते हैं तथा दूसरों के धन की ओरों द्वारा अपना जीवन बिताते हैं। निम्नलिखित ने राजतन्त्र का सम्पर्क विशेष रूप से इसलिए भी किया प्रतीत होता है कि ऐसे कुलीनों का दमन किया जा सके।

निम्नलिखित के राजतन्त्र, गणतन्त्र और कुलीनतन्त्र में सम्मिश्रित विचारों पर अभिमत प्रकट करते हुए मैकाल ने लिखा है कि "निम्नलिखित ने गणतन्त्र का जहाँ सम्भव हो और राजतन्त्र का जहाँ सम्भव हो, सम्पर्क किया है। किन्तु कुलीनतन्त्र और कुलीनवर्ग के सम्बन्ध में हमारी राय अलग है। उन्हे अपने समय के अन्य किसी विचारक की अपेक्षा वह अधिक अच्छी तरह समझता था कि कुलीन वर्ग के हित राजतन्त्र के भी विरुद्ध हैं और गणतन्त्र के भी। मुख्यतः सामन्त के लिए जहाँ हमने अपना विचार व्यक्त किया है।"¹

निम्नलिखितों का नागरिक सेवा और सैनिक अधिकार में विरोध

निम्नलिखितों की मान्यता है कि सामन्त की सार्वभौमिक अधिकारों की सेवा का निर्माण करना चाहिए, भाई के हस्तों पर रहना आवश्यक है। उसे जहाँ कुलीन वर्ग में अग्रणी है, बहुत भाई के निवासों में भी रहता है। निम्नलिखितों के विचार में दृष्टी की अभावकता का एक मुख्य कारण भाई के निवासों में। जो कोई वह सबसे अधिक वेतन देने के लिए तैयार होता था, वे निवासों में के लिए पहले से तैयार हो जाते थे। वे निवासों के प्रति सम्बन्धित नहीं थे। वे बहुत अपने मानिक के गणतन्त्रों की अपेक्षा अपने मानिक के लिए ही अधिक अग्रणी थे। इन कुलीनों की निवासों ने प्राचीन राजतन्त्र कर्तव्य के नागरिक-निवासों की पूरी तरह में विचारित कर दिया था। इन निवासों ने दृष्टी के ही सम्बन्ध सामन्तों के लिए किया था, लेकिन वे फल के अधिक अग्रणी और अधिक राजतन्त्र निवासों के लिए अग्रणी भिन्न हुए। निम्नलिखितों दृष्टि का जो पूरी तरह मान्यता था कि जहाँ की अपनी सेवा का राष्ट्रीयकरण करने के बहुत लाभ हुआ है। अतः, उसका कारण यह मान्यता थी कि अनेक राज्य की अपनी नागरिक सेवा के प्रतिभा और सामन्तों की ओर लगे रहने प्रत्यक्ष देना चाहिए। जो सामन्त भाई के निवासों या दूसरे देशों की सम्बन्धित सेवाओं पर निर्भर रहता है, अग्रणी विचार व्यक्तकर्ता है। वे उसके राजतन्त्र की रित्त कर देती हैं और अग्रणी करने पर फल देती हैं। इसलिए सामन्त के लिए कुछ की कला का ज्ञान आवश्यक है। सामन्त को अपने कामों के दृष्टी अग्रणी होती है। सामन्त की अग्रणी रहने अपने नागरिकों की एक सम्बन्धित सेवा का निर्माण करना चाहिए। वह सेवा समस्त निवासों में सम्मिश्रित और अनुशासित होती चाहिए। उसे राज्य के प्रति निष्ठावान् की देना चाहिए।

मेक्सिकानली का विचार था कि 17 और 40 वर्ष की आयु के बीच के समस्त समर्थ नागरिकों की सैनिक शिक्षा प्राप्त होनी चाहिए। इस वन से आसक अपनी शक्ति को काममें रख सकता है और अपने राज्य की सीमाओं को बचा सकता है। इसके अभाव में उसे गृह-युद्ध का सामना करना पड़ता है और पड़ोस के महत्वाकांक्षी नागरिक उसे परेशान कर सकते हैं।

मेक्सिकानली का नागरिक देश में विभाजन था और वह कूलोन वर्ग से जुड़ा करता था— इसका सबसे बड़ा कारण यही था कि वह राष्ट्रीय भावना से मोड़-घोड़ था और इसी का एकीकरण चाहता था। वह आन्तरिक उपद्रवी और बाहरी आक्रमणों से इसकी की सुरक्षा के लिए भी उत्सुक था। यद्यपि यह स्पष्ट विचार था कि मनुष्य का सबसे बड़ा कर्तव्य उसका देश के प्रति कर्तव्य है, मान्य कार्य करते पीछे रह जाती है।

शांतिप्रियवाद या राज्य-प्रसार सम्बन्धी विचार-

मेक्सिकानली के मतानुसार राज्य की अन्तः प्रसरणशील होना चाहिए अपनी सीमा देखा बहालर दुन्देरे राज्यों की आतंकवाद करना चाहिए तथा साम्राज्य-विस्तार द्वारा अपने पौरव का परिचय देना चाहिए। मेक्सिकानली ने कहा है कि निपरीकरण का दूसरा उपाय है राज्य में एकता का आनी है। मनुष्य स्वभाव से सूरकाकांक्षी है और एक दुसरी राजा का दर बन होना चाहिए कि वह नई भूमि पर अधिकार करे वह उपनिवेश बनाए, साम्राज्य की अधिक अधिकताओं बनाए तथा आग्नि और युद्धों की शक्ति-शक्ति करे। इसके लिए मनुष्य के अन्तः अन्तः और काम, धर्म, इन्द्र, धर्म और की कूटनीतिक नीति में का भी उपाय करना चाहिए। मनुष्य का स्वभाव को के समान पचता है की बहालर बन रहना चाहता है। यदि समय, स्थिति और अवसर है तो राज्य को भी बहाल चाहिए। "राज्य यदि सूरकाकांक्षी हो ना साम्राज्यवादी, उसके उधार की प्रवृत्ति का होना आवश्यक है।" यदि राज्य अन्तः विस्तार नहीं करता तो अन्तः की अन्तः की शक्ति बहाल। राज्य की अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करो हुए अन्तः प्रादेशिक प्रसार करना चाहिए, शक्ति स्वतन्त्रता उन्नि का अन्तः माध्यम है। राज्य की अन्तः के लिए स्वतन्त्रता अन्तः है। अपने उपायों द्वारा कि अन्तः ने निम्नलिखित (Pax Americana) के अन्तः अन्तः से शक्ति पाकर गरी अन्तः में अन्तः की भी और अन्तः में अन्तः से शक्ति पाकर हो अन्तः अन्तः प्रवृत्ति कर राजा था।

मेक्सिकानली के साम्राज्यवाद की कारणों को दोष की कारणों से अन्तः विपरीत है। अन्तः के अन्तः में, 'कोलो के लिए राज्य विस्तार की भावना नहीं राज्य के योग का अन्तः है नहीं मेक्सिकानली के लिए राज्य विस्तार राज्य के स्वतन्त्र का अन्तः है।"¹

1 "For Plato, the impulse to aggrandizement was a symptom of disease. For Machiavelli, aggrandizement is the symptom of health in a state."

सम्प्रभुता (Sovereignty) और विधि (Law) सम्बन्धी विचार

मैक्सवाल्ड ने स्पष्ट रूप से 'सम्प्रभुता' शब्द का कहीं भी प्रयोग नहीं किया है। किन्तु उसने राजा की शक्तियों के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है हमें उससे सम्प्रभुता का आभास प्रदान होता है। वह शासक की भौतिक दम्बा तथा विवेका की भावना की प्रतिमाएँ मानता है। उसके अनुसार शासक किसी भी धार्मिक धर्म का हस्त शक्ति के प्रति उत्तरदायी नहीं होता और न वह किसी भी प्रकार के कर्तव्य-प्रमुख से प्रभावित होता है। उसे किसी भी प्रकार की भौतिक या बाह्य विधियों की मानने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। मैक्सवाल्ड स्वयं ब्रिटिश-राजी या और इंग्लैंड अपने स्वामी तथा सार्वभौम सम्प्रभुता की बात नहीं की है। वह सम्प्रभुता की घन विवेकाओं—जैसे उनकी स्वायत्तता, अदोषता, अविभाज्यता आदि के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखता। उनकी सम्प्रभुता एकलव्य, लौकिक, अविच्छिन्न और अखण्ड प्रकृत है। अन्तराष्ट्रीय सम्बन्धों में मैक्सवाल्ड की प्रति सम्प्रभुता की आवश्यकता की स्वीकार करता है। ईर्ष्या के अनुसार मैक्सवाल्ड राजा की शक्ति की अविभाज्यता में राष्ट्र-राज्य (National States) के आचरण की पूर्ण सूचना देता है। उसकी मृत्यु के बाद देश का राजावर्ग ही नहीं बल्कि पूरा देश अपने अविभाज्यता की। बाद के राजनीतिक विचारों में उसके इस विचार की स्वीकार किया कि राज्य के पारोक्षिक या पालन भव के कारण किया जाता है।

विधि (Law) के सम्बन्ध में मैक्सवाल्ड के विचार अत्यन्त अनुचित हैं। वह नागरिक विधि के प्रतिष्ठान की स्वीकार करता है और विधियों की शासक के प्रभाव का माध्यम मानता है। उनके अनुसार राष्ट्र-विधि समाज में विधियों न होने से ही पूर्ण अज्ञातता थी। मैक्सवाल्ड ने स्पष्ट रूप से कहीं भी विधियों की प्रतिष्ठा नहीं की है तथापि शासक की सर्वोच्च शक्ति में उसकी कल्पना निहित है। विधियों का मुख्य कार्य सामान्य एवं अनिवार्य की स्थापना करना है। वह प्राकृतिक और ऐसी विधियों की कोई कल्पना नहीं देता, यद्यपि वे अपने उनका उल्लेख ही नहीं किया है। उनके अनुसार सभी विधियाँ नागरिक हैं और शासक प्रकृत। वे सर्वोच्च और सर्वोच्च हैं। वे विधियाँ सामान्य द्वारा राज्य की राजनीतिक, सामाजिक और प्राकृतिक परम्पराओं के अनुकूल विधि की जाती हैं, जिन से समाज के विभिन्न वर्गों की एकता करने में सफल होती हैं।

सर्व-शक्तिशाली विधि-कर्ता या विधायक (The Omnipotent Legislature)

मैक्सवाल्ड ने विधायक के कार्य एवं महत्व की प्रतिष्ठित भाषा में व्यक्त किया है। उनके अनुसार कल्पन राज्य की स्थापना एक शासकी के द्वारा ही की जा सकती है। वह विधि विधियों और शासन का निर्माण करता है, उनके ही अन्तर्गत का राष्ट्रीय-विधि निर्धारित होता है। शासन एवं नागरिक अनुष्ठान विधि पर आधारित होते हैं। समाज के अन्तर्गत ही जाने पर उसका सुधार नहीं हो सकता, जिन-

ऐसी व्यवस्था में एक विधायक का विधि-कर्ता को समाज का शासन-युक्त सम्भाल लेना चाहिए। यदि विधायक समाज में उन सबसे सिद्धान्तों का अवर्तन कर सकता है, जिसको उसके दायित्वक ने निर्धारित किया था। मैक्सिमावनी के वे शब्द इतिहासीय हैं—“हमें सामान्य नियम के रूप में यह मान लेना चाहिए कि किसी राष्ट्रराज्य प्रथम राज्यशास्त्र का ढीक से सफरन प्रथम उसको पुनर्नी व्यवस्थाओं का सुधार केवल तभी सम्भव है जब यह एक व्यक्ति के द्वारा किया जाए। जल्दी तो बहुत तक है कि जिस व्यक्ति ने इस प्रतिपाल की कल्पना की हो वही इसे कार्यान्वित भी करे।”

मैक्सिमावनी की मान्यता है कि बुद्धिमान विधायक द्वारा बनाए हुए कानून न केवल नागरिकों के कानों को विनिर्मित एवं नियमित करते हैं बल्कि उनमें नागरिकता तथा नैतिकता के गुणों का विकास और राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण भी करते हैं। “जनता का सामाजिक और नैतिक राज्य विधि पर और विधायक की बुद्धिमत्ता एवं दूरदर्शिता पर आधारित होता है। यदि राज्यवर्ग राज्यनीतिक कला के नियमों की समझता है तो यह जो चाहे कर सकता है। यह गुणने राज्य की शक्ति और यह राज्य की निर्माण कर सकता है। यह शासन-प्रणालियों को बदल सकता है, यह जनसंख्या में बदलाव-बदली कर सकता है तथा अपने प्रजातन्त्रों के चरित्र में नए गुणों का समावेश कर सकता है। यदि किसी नागरिक के पास सिद्धांतों की कमी है तो इसके लिए वह स्वयं सोचें। विचारों की कमी को दूर करने के लिए वह जल्दी है कि वह जनता की आवश्यकता को दूर करे। विधि-कर्ता न केवल राज्य का ही निर्माण है बल्कि वह सम्पूर्ण समाज का, समाज की नैतिक, धार्मिक और धार्मिक समस्याओं का भी निर्माण है।”

विधायक के कानों के सम्बन्ध में मैक्सिमावनी के इन प्रतिरचित विचारों से अनेक कारण हैं। धार्मिक रूप में यह विधायक ही उस प्राचीन कल्पना का, जो मैक्सिमावनी को मित्रों तथा प्रतिनिधित्व जैसे लोगों से प्राप्त हुई थी, पुनरावधान मान था। कुछ सचो में विधायक की इस कल्पना का चरम उत्कृष्टतापूर्ण दृष्टि की प्रदर्शक प्रकृति थी। मैक्सिमावनी मान्यता था कि एक निरंकुश शासक ही राज्य के शासन का विधाता हो सकता है। इन ऐतिहासिक परिस्थितियों के प्रतिरित्त उमरों अपने राजदरबार का लक्ष भी उसे इसी दिशा की ओर उन्मुख करता था। उसका विश्वास था कि यदि समुच्च समाज से ही प्रेरणा है तो केवल राज्य और विधि की शक्ति ही समाज की प्रकृति के रूप में जीने रख सकती है।

दृष्टि और कठिनाई

(Insight and Difficulties)

मैक्सिमावनी की विमर्शशाला और उसकी मन्दर्दृष्टि पर केसाइन ने लिखा है कि “मैक्सिमावनी का चरित्र और उसके दर्शन का पालात्रिक प्रत्येक-प्राथमिक इतिहास की एक कुरीति है। उसे प्रकृति जननी, प्रथम देवता, कट्टर राष्ट्रवादी, राज्यनीतिक वैश्वी, प्रथम लोकतन्त्रवादी और निरंकुश शासकों का शासन प्रणाली भी बहुत पसंद है। वे सभी विचार एक-दूसरे के विरोधी हैं, लेकिन उनमें सत्य का कुछ भाग प्रकट

है। इनमें से कोई भी एक विचार मैकिन्वाल्सी की या उसकी विचारधारा की पूरी तस्वीर नहीं देता। मैकिन्वाल्सी के विचार उसके अनुभव पर आधारित थे। उसका राजनीतिक निरीक्षण और राजनीतिक इतिहास का सम्बन्ध बहुत व्यापक था। यह किसी एक विशिष्ट दर्शन का अनुयायी भयंसा निर्गुणता नहीं था। इसी प्रकार उसका चरित्र भी बड़ा जटिल रहा होगा। उसकी रचनाओं के उसकी मनेन्डिज रचि का ज्ञान होता है। वह राजनीति, राज्य-विवरण और युद्ध-कला के प्रतिरिक्त न तो किसी चीज के बारे में सोचता है और न किसी के बारे में विचारता है। पहले सामाजिक, धार्मिक और धार्मिक प्रश्नों के सम्बन्ध में उसे 'सत्य' से कोई रचि नहीं है। इन प्रश्नों के सम्बन्ध में उसकी रचि नहीं एक सीमित है वहीं तक में ज्ञान राजनीति पर आधारित होते हैं। मैकिन्वाल्सी अपने धार्मिक आत्म-विवरण या निम्न सामाजिक दृष्टि से अपने स्वयं दुष्टा था। यूरोप की राजनीति निम्न दिया से अपने बंद रहने की कठोर मैकिन्वाल्सी के धार्मिक दृष्टि और किसी की ज्ञान नहीं था।¹

"एक ऐसे समय में जबकि यूरोप में ज्ञानोन् राजनीतिक व्यवस्था समाप्त हो रही थी और राज्य तथा समाज दोनों से सम्बन्धित सम्बन्धों से बंध रही थी, उसने पठानों का सर्व-सम्बन्ध बर्से बताने का, सावधान्य प्रदर्शनों की भविष्यवाणी करने का और ऐसे निम्नों को निर्धारित करने का प्रयास किया जो उस समय के राष्ट्रीय जीवन की कुल परिस्थितियों से सम्बन्धित कर रहे थे और जो अपने अन्तर्गत राजनीतिक कार्यवाही में प्रभाव डाल रहे थे।"²

मैकिन्वाल्सी का महत्त्व इस दृष्टि से और भी बढ़ जाता है कि सामुहिक राजनीतिक प्रयोग में 'राज्य' शब्द का जो सर्व-वर्णित किया जाता है उसके निर्धार में मैकिन्वाल्सी ने सर्वोच्च योग दिया है। अनुभवता सम्बन्ध राजनीतिक समाज के रूप में सामुहिक आदर्शों में इस शब्द के प्रयोजन का श्रेष्ठ मैकिन्वाल्सी की रचनाओं को है। आज राज्य एक जटिल शक्ति है। अपने राज्य-श्रेष्ठ में वह सबसे ऊँची शक्ति है। अन्य राज्यों के प्रति उसकी नीति मानसमोहनीय रहती है। मैकिन्वाल्सी ने इन सभी विशेषताओं को प्रकट किया है। उसकी कृतियाँ राज्य की सामुहिक समाज में सबसे अधिकारों पर आधारित करने में सहयोग करती हैं। राज्य के वर्तमान विकास को देखते हुए वह कहा जा सकता है कि मैकिन्वाल्सी ने अपने युग के राजनीतिक विकास की दिशा को ठीक-ठीक उल्लेखित था।

मैकिन्वाल्सी के राजनीतिक विचारों में स्पष्ट ही कुछ आधारभूत बुद्धिमान अवधारणाएँ हैं, जो ये हैं—

(1) मैकिन्वाल्सी की मान्य-सम्बन्ध सम्बन्धी आस्था एक ही दृष्टिनीय वाली और कठोर है। अपने अनुभव को केवल विशिष्ट और स्पष्ट ही माना है जबकि अनुभव में विचलता भी है। अनुभव के देख और राज्य दोनों के बीच विद्यमान है।

(2) मैकियावेली के चर्मे और नीतिशास्त्र के प्रति चोर ज्येष्ठा प्रदर्शित की है। वह इनका उपयोग अभी सीमा तक सीमितपूर्ण मानता है। यहाँ तक में राजा मरदा राज्य के लिए उपयोगी हो। वेसाइन के शब्दों में, "वह निश्चित है कि 16वीं सताब्दी के शासक के दुरीतीय चिन्तन की जो अवस्था थी, मैकियावेली ने उसे निस्तुन दस्त रूप में चित्रित किया। उसकी दो पुस्तकें उस दिन के 10 वर्ष के भीतर ही मिली गई थी, जिस दिन माटिन लूथर ने पढ़के विद्वान्त को फ्लेनजर में चर्च के दरवाजे पर बाह दिशा था। थोटेस्टेन्ट रिफॉर्मेशन के परिणामस्वरूप राजनीति और राजनीतिक चिन्तन का चर्मे के साथ और बार्मिक मतभेदों से झुका चरिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ जिसका कि मध्ययुग में और कभी नहीं रहा था। चर्मे के प्रति मैकियावेली की रचना के बाद की की सताब्दियों के बारे में वह बात चुन नहीं है। इस दृष्टि के मैकियावेली का चर्मे बड़े अनुचित रूप से सामयिक था। यदि मैकियावेली इतनी के बतिरिक्त अन्य किसी देश में लिखा था यदि वह इतनी में ही चर्मे-मुबार घान्दीजन अवस्था चर्मे-मुबार बिरोधी घान्दीजन (Counter Reformation) की शुरुवात के बाद लिखता तो वह कल्पना करना सम्भव है कि वह चर्मे के प्रति ऐसा व्यवहार करता जैसा कि उसने किया था।"

(3) मैकियावेली का नीतिया सीध ऐतिहासिक पद्धति का उत्तम प्रयोग है। उसने इतिहास का उपयोग करने पूर्व कल्पित निष्कर्षों की पुष्टि में किया है, इनके प्रमाण में नहीं। बिबुद ऐतिहासिकतावाद यह है कि इतिहास की सामग्रियों के लक्षण सम्बन्ध और चिन्तन के आधार पर निष्कर्षों का अनुमान हो। किसी निरीक्षण और अनुभव के आधार पर प्रस्तुत निष्कर्षों को इतिहास से खिंचे सम्बन्धित करना, ऐतिहासिक सम्बन्ध का बिबुद तरीका नहीं है।

(4) साथ में, मैकियावेली के राज्य सम्बन्धी विचार भी सीध-पूरी हैं। उनके उस चरित्रवाद के सम्बन्ध में, स्वाभाविक दृष्टि में मनोविज्ञान को 'पहारा मिलता है। उसके द्वारा वास्तव के बहुचर्चियेयन को समर्थन करना। सत्ता में कष्ट, धन और जायाजीवन की ही उत्तेजना प्राप्त करा सकता है। पुन, राज्य विषयक आधारभूत प्रश्नों के सम्बन्ध में वह भीन है। उसने राज्य के स्वरूप, उद्देश और शासन के विभिन्न प्रश्नों के पारस्परिक सम्बन्धों पर कोई प्रकाश नहीं डाला है। उसने युद्ध और साम्राज्यवाद का भी समर्थन किया है उसे भी उचित नहीं कहा जा सकता।

मैकियावेली : आधुनिक युग का पिता, उसकी देन और प्रभाव
(Machiavelli : Father of Modern Political Thought,
His Contribution & Influence)

घरानीय इतिहास में अपने निवार-चर्च के कारण मैकियावेली एक मोहक रहस्य बना हुआ है। उसे 'आधुनिक राजनीति का जनक' सम्बोधित किया जाता है। बिबुद उसे मध्य युग और आधुनिक युग का सम्बन्ध-निर्देश करने वाला प्रथम विचारक मानता है। जो चीन उस राजनीतिक विद्वान्तादी व मानते हुए भी

साधुनिक राजनीतिक विद्वानों के विरा को सदा से विद्वुषित करती है। मैकिनावली राजनीतिक विचारों के इतिहास में एक समर स्थान रखता है क्योंकि वह पहला राजनीतिज्ञ जिसने मध्ययुग के विचारों का समग्र आरम्भ किया था और साधुनिक विचारधारा का भीरुहोत किया था; यद्यपि उसे साधुनिक युग का पूर्ण इतिरिधि नहूना धालुनिक होगी। मैकिनावली की वास्तविक स्थिति एक ऐसे विचारक की है जो मध्ययुग और साधुनिक युग दोनों की सीमाओं पर उत्पन्न हुआ था और जिसने मध्ययुग के साथ सम्बन्ध-विन्दित करके साधुनिक विद्वान्त को सम्भव बताया। उसने मध्ययुग की मान्यताओं और परम्पराओं की न केवल ओषा की धरि, उनका समग्र करने राजनीति की नवीन न्यायधुरिक का प्रदान किया।

हुष विचारक दोनों को उपर्युक्त स्थान देते हैं। मैकिनावली वही प्रथम धरित था जिसने न्यायधुरिक राजनीति पर ऐसे विचार प्रकट किए जिनका पालन प्रायः सम्भव नहीं राजनीतिज्ञों द्वारा किया जा रहा है, वहाँ बोदा (Bodin) वरु पहला विचारक था जिसने राज्य का साधुनिक रूप में संघान्तिष्ठ विवेचन किया। विन्तसेडू बोदा की सर्वसौमिकता सम्बन्धी परिभाषा साधुनिक राजनीतिक विचार की एक मौलिक तथा नवीन देन है किन्तु वह स्वयं की मध्ययुगीन प्रभाव के पूर्णतः मुक्त नहीं कर पाया था। यही कारण है कि उसके कार्य में विरोधाभास काया उत्पन्न है। यद्यपि मैकिनावली विरोधाभास के दोष में मुक्त नहीं है, किन्तु वह मध्ययुग के पूर्णतः बाता नीर देता है। उसके विचारों में मध्ययुगीन विचारधारा का साभास भी नहीं निपता। इस विषय में ओम्स के लेखक उत्प्रेरणीय है कि 'बोदा मैकिनावली की धरेभा साधुनिक युग का इतिरिहित सचिक धरणी वरु करता है, केवल इतिरि कि वहाँ मैकिनावली साधुनिक युग के धन तक पहुँच गया है वहाँ बोदा धनी जनकी देहरी पर सदा है।'

समय की दृष्टि में मैकिनावली के बोदा के पूर्व माने के कारण ऐतिहासिक दृष्टि में भी मध्ययुग की स्थापन करने और साधुनिक युग को आरम्भ करने का धेव मैकिनावली को ही प्राप्त होता है। मैकिनावली की विवेचना प्रविधा का अनुमान नहीं बात से लगाया जा सकता है कि उसके 30 वर्ष बाद काय उत्पन्न वाला बोदा को उसके समान स्वयं की मध्ययुगीन प्रभाव के मुक्त नहीं कर पाया।

मैकिनावली ने अपनी रचनाओं द्वारा मध्ययुगीन विचारों पर करारे आहार किए। उनमें धैरिक कानूनों की धरवीधर करने के-रव धारवीध कानूनों के धरितान से, धी, धरिधर, धिग और राज्य की धरवीधर काय की, वरु, धिगधर, धरिधर, की कट्टा धालीकता की धीर राज्य की धरुध-सम्पन्न तथा धरुध की उत्तका धरुधानी वरुध। उसने मध्ययुगीन राज्यों की एकता में बाधक साधुधवाद का धरुधन करी हुए उस धरुध राज्य व कीरु स्थान नहीं दिया किकि। इन मध्ययुगीन परम्पराओं का धरुधन करने बाध के ही वह साधुनिक युग का धरुधन नहीं बन गया। उसके विचारों में कट्टा धरुध विरोधधरुध भी थी जिनमें साधुनिकता के नीर विरुधान के धीर धरुध के कारण उसे साधुनिक युग का धरुधन कहा गया।

मेरिक्वायली ने एक तरफ तो राज्य को सर्वोन्नत बताया और दूसरी ओर व्यक्ति एवं जीवन की सुरक्षा के अधिकार को चौधविध किया। उसने शासक का यह मुख्य धर्म बताया कि व्यक्तिगत धन और जीवन का सम्मान किया जाए। सम्पत्ति के अपहरण की उसने सम्पूर्ण अपराध की सजा दी। इस तरह के विचारों ने सामुदायिक व्यक्तिवाद और राष्ट्र राज्य की स्थापना के बीज बोए। मेरिक्वायली के इस मत का कि जनता शासक के अधिक बुद्धिमत्त होगी है और गलतान्त में व्यक्ति तथा राष्ट्र की सम्पत्तिका उचित रूप से सुरक्षित रह सकनी है, उदाहरण लेकर सामुदायिक विद्वानों ने व्यक्तिवाद का मान्योत्पन्न बताया।

मेरिक्वायली ने सामुदायिक राष्ट्र राज्य की सर्वोपेक्ष नहतत्वपूर्ण विशेषता कार्यभौतिकता के आविर्भाव के लिए भी कार्य प्रारम्भ किया। यद्यपि उसने इस पर ध्यान इससे सम्बन्धित समस्याओं पर कोई प्रकाश नहीं डाला किन्तु सम्पत्तियों तथा के मिलनेपुत्री सभ्यता और सामाजिकता विचार का सम्मेलन करते तथा उनके स्थान पर सम्पूर्ण कार्यरतों एक समुदायों पर एक सर्व-व्यक्तिमान केन्द्रीय शक्ति की प्रतिष्ठित करके स्पष्ट रूप से कार्यभौतिकता के विचार के आविर्भाव की धूमि डेकार कर दी।

सभ्यता की कार्यभौतिकता से परिपुर्ण और सम्पत्ति-व्यवस्था तथा सृष्टियों से भरी सम्पत्ति-व्यवस्था में व्यक्ति और कार्यभौतिकता के लिए कोई जगह न थी। मेरिक्वायली ने अपने कार्य के लिए सर्वप्रथम समुदाय प्रभाव ऐतिहासिक सम्पत्ति वृद्धि को अपनाया। उसने अपने विद्वानों की बुद्धि के कार्यात्मक दृष्टान्तों का सहारा नहीं लिया, बल्कि ऐतिहासिक, एवं सर्वप्रथम की ऐसी वृद्धि वृद्ध की जिससे उसका वास्तु तथा सृष्टि बुद्धि काय करती थी। यद्यपि मेरिक्वायली की वृद्धि दोष-रहित न थी तथापि उसने एक नये कार्य पर निर्देशन किया और उसके बाद के प्रार. सभी विचारकों ने ऐतिहासिक वृद्धि का सहारा दिया।

मेरिक्वायली ने राज्य के प्रकृतिवादी सिद्धान्तों को सम्मेलन बताया और इस बात से इन्कार किया कि मानव-जीवन का कोई भविष्य प्राकृतिक सत्य भी होता है तथा मानव-जीवन किसी ऐनिक या प्राकृतिक वास्तु में विनिर्दिष्ट होता है। राज्य की एक प्राकृतिक सत्ता के रूप में प्रकट करता मेरिक्वायली की एक महान् देन थी। जोन्स का कहना है कि "मेरिक्वायली का यह विचार था कि प्राकृतिक शक्तियों से ही राज्य का जन्म होता है और जहाँ के बीच यह रहता है। यदि एक शासक और राज्य जीवन-रूपी और प्रतिपक्षों से बनना चाहते हैं तो शासक को उन शक्तियों को समझना चाहिए और उनका साथ उठाना चाहिए।" मेरिक्वायली का यह विचार मान्य और उन समस्त विचारकों की पुनर्-सूचना भी देता है जिसका मत था कि राज्यीति 'शक्ति-समर्थ तथा उन पर नियन्त्रण' का सम्बन्ध है।

मेरिक्वायली की सामुदायिक राज्यीतिशास्त्र की सर्वोपेक्ष महत्वपूर्ण देन यह है कि उसने राज्यीति का धर्म और वैयक्तिकता के सम्बन्ध-विच्छेद प्रस्थापित किया। उसने कहा कि धर्म का सम्पूर्ण व्यक्तित्व जीवन से है, राज्यीति से धर्म अस्तित्व

मिलता है। बाद में इस मत को व्यापक समर्थन मिला और इन लोगों ने कि धार्मिक काल का राज्य अधिक प्रगतिशील राज्य बनने-बानकी चर्चे के आधारों के मुकाबला है। वास्तव में धर्म-निरपेक्ष (Secular) राजनीति का प्रथम जन्मदाता मेरिवाल्डो ही था। मेरिवाल्डो ने राज्य की मूल्य को सर्वोपरि स्थान देते हुए नैतिकता को एकदम नीचा एवं उपेक्षणीय बना दिया। यदि उसके इस विचार का धर्म बहु लिखा जाय कि राज्य साधन का धर्मित्व है और नाथनों का कृत्य केवल उसी सीमा तक है जहाँ तक वे राज्य की शक्ति में साम्य हो, तो यह बनना ही आवश्यक है। किन्तु यदि हम इसका धर्म यह ले कि एक यादव राज भेतिष्ठ की केवल व्यवसायीय दार्शनिक नहीं बल्कि व्यावसायी होने पर बाह्य जो चार्जे "राज्य और उसके बाह्यीय मध्य के क्रियात्मक की रचना मानव के एक वैज्ञानिक एवं भिन्नभूत मानव के आधार पर करना चाहता है जिसमें सामाजिक तथा धार्मिक विचारों का कोई प्रतिपक्ष न हो, तो निम्नांकित धार्मिक राजनीतिक विचार के प्रतिष्ठान को यह एक गूढ़मय है।" वास्तव में मेरिवाल्डो व्यावहारिक राजनीति में उपेक्षणीय नाथनों का ही मन्तव्य था। यह चाहता था कि धर्म और नैतिकता का उपयोग राज्य की शक्ति के लिए हो। इसलिए धर्म धर्मों धर्म मन्त्रों को यह "राज्य के एक ऐसे प्राण के रूप में प्रयोग करना चाहता था जो ऐसी राष्ट्रीय वस्तुवादी तथा व्यवहार की धार्मिक उत्पन्न कर दे जो नाथित और व्यवस्था को कायम रखने तथा मन्त्रों की शक्ति में सहायक हो।" राज्य की यह धार्मिक नहीं बल्कि धर्म-निरपेक्ष, व्यावहारिक नहीं बल्कि व्यावहारिक धार्मिकों ने दूर देखना चाहता था। व्यावहारिक रूप पर, राज्य बन देने के कारण ही कैटलिन के मन्त्रों में—"मेरिवाल्डो प्रथम राजनीतिक-वैज्ञानिक था।" मेरिवाल्डो के विचारों की व्यावहारिकता को स्पष्ट प्रमाण यही है कि राज्य की सारी शक्तों में धर्म और नैतिकता एक प्रमुख भव गई है जिसकी प्राप्ति केवल राजनीतिक धार्मिकों की बुद्धि के लिए ही की जाती है।

संविधानकर्त्री ने सीमित प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। जामन और मन्त्रकुटा के प्रति उसका दृष्टिकोण स्पष्ट है, उनको विनाशकारी तथा कथार्थ परतुषाणी का। इसके परिणामस्वरूप उसने राज्य को शासन तथा शासक दोही हो कही में स्वीकार किया। यह विचार बाद में हीमल (Himala) द्वारा प्रतिपादित किया गया कि मानव दुष्ट ने अपना ग्राह्य है तथा गुण की कानन करता है। इसी विचार पर उपरोक्तिकावली सिद्धान्त का बहुत कुछ निर्माण हुआ।

अन्त में, मैक्सिमव्की के द्वारा अनुसृत राज्य की कल्पना भी धातुनिक राज्यों की कल्पनाओं से बहुत कुछ निराश-नु-रसी है। उनके इष्टनी राज्य के सम्बन्ध में जो विषय प्रस्तुत किया वह बहुत कुछ धातुनिक राज्यों के समान है। धातुनिक राज्य क्रमुदात्मकता, सर्व-विरास्य, गणतन्त्र, धर्मनिरपेक्ष और राष्ट्रीय राज्य है। कुछ राज्यों में साम्राज्यवादी प्रवृत्ति सम्भीर रूप से विद्यमान है। मैक्सिमव्की ने भी स्पष्ट कहा था कि सशित-मजदूरों के राज्य तथा अनुसृत-विस्तार राजा के लिए आवश्यक है। उनके वह भी स्पष्ट कर दिया था कि राज्य अपना स्वयंस्व धर्मिण बनाए रख कर ही

उपस्थित कर सकता है। प्रो० मैटिज़ का स्पष्ट मत है कि "बहु प्रथम आधुनिक राजनीतिक विचारक का जिन्होंने एक प्रभुता-सम्वन्ध, ऐकिक, सर्व-निरपेक्ष, राष्ट्रीय एवं सार्वजन्य सार्वजन्यवाद राज्य की कल्पना की थी। वह प्रथम आधुनिक पक्षाधिकारी का जिन्होंने बताया कि राज्य की स्वयं के लिए कीमति रखना चाहिए तथा उसको अपने अस्तित्व और हित का उत्प्रेषण रखना चाहिए।"

मेकिवावली की महानता का पता इसी से लग जाता है कि "उसने पहले और बाद में ऐसे उदाहरण भरे भरे हैं, जहाँ आसानी से उसी सिद्धान्तों के द्वारा कल्पना प्राप्त की जा सकती है। उसने साहस के साथ अपने राज्य के प्रतिपादित किए। वह आसानी की बात है कि कई विचारकों और राजनीतिज्ञों ने उसके विचारों का सैद्धांतिक दृष्टि से विरोध करते हुए भी समाधि में उसी के आदर्शों का प्रतिपादन किया है।" प्रो० के सम्मते में, "अधिकतर रूप से मनुष्य का मनुष्य के साथ व्यवहार ईसा भी हो, किन्तु वह बात निश्चयतः सत्य है कि विभिन्न राज्य परस्पर एक दूसरे के साथ ईसा ही व्यवहार करते हैं तथा मेकिवावली ने बताया किया है।" "विश्व श्रेष्ठ है हम उसे भले ही पश्य न करें परन्तु हम उसकी कमियों के ऊपर दुर्लभ कर उसके सुधार नहीं करते। उदाहरणार्थ नेपोलियन नेपोलियन का सम्मन्धन कर, हिटलर की समझौते में काफ़ी सहायता मिलती, और यदि राष्ट्रपति विल्सन ने 'दि प्रिंस' का सम्मन्धन किया होता तो वर्तमान की दुर्लभता न होती।" मेकिवावली की महान सम्मदृष्टि और व्यावहारिकतापूर्ण विचारधारा पर यदि भारत के कार्यकारण ध्यान दें तो बीच और वास्तविक भारत-विषय के सम्बन्ध देखने का भी महान न करे।

मेकिवावली पर अमेरिकता और राजनीतिक हवाओं के दोस्तीका का आरोप लगाया जाता है, किन्तु मेकिवावली ने स्वयं इसका उत्तर देते हुए कहा है, "कोई व्यक्ति पुनः वृद्धि कर अमेरिकन जन गया हो, वह कैसे कभी नहीं भूला।" उसने अपनी पुस्तक में उसी बातों की निष्ठा है जो राज्य सरकार किया करते हैं, लेकिन जिन पर सभी पक्ष रहता था। उस नेपारे का रोच नहीं है कि उसने सभी-सभी सभी की सामने एक दिया। उसकी यही सिद्धि 'अन्ध विज्ञान कर्म बलि' की है। मैसी (Macy) के अनुसार—"उसने राजनीति की मेकिवावली को अन्ध नहीं किया ऐसा तो नदियों पूर्व हो चुका था किन्तु उसने किन्तु निश्चयतापूर्वक उन सभी व्यवस्थाओं का वर्गीकरण किया जो वर्तमान मन्त्रीमन्त्राध्यक्ष की-करी स्थानों में रहे जात हैं, वह प्रथम के अन्तर्गत नहीं है। उसे अपने और उनके देश-भक्त होने और आधुनिक राष्ट्र का नेता होने का भय भी दिया जाना चाहिए। सैद्धांतिकता के विरुद्ध व्यावहारिकता की ओर उसके बीच मुझमें ने निरन्तर राष्ट्रराजनीति कर्मों की मध्य भुग के वास्तविकपूर्ण सम्मन्धन से सम्बन्ध में बहुत श्रेष्ठ दिया और इन कारण उसे महान् कार्यकारणवादियों में सर्वश्रेष्ठ नहीं तो प्रथम कार्यकारणवादियों प्रथम श्रेष्ठता दिया जाना चाहिए।"

जोन बोवॉ : जीवन, रचनाएँ एवं पद्धति

(Jean Bodin, 1530-1596 : Life, Works and Method).

महान् बौद्धिक पारमैत्रिक ज्योन बोवॉ का जन्म सन् 1530 ई. में हुआ और 66 वर्ष की अवस्था में मृत्यु इस प्रकार से भली बनी । बोवॉ का धार्मिकता उस युग में हुआ जब फ्रांस मृत्यु-कलह और धर्म-युद्धों का प्रभाव बना हुआ था । सन् 1562 ई. में लेकर 1593 ई. तक फ्रांस में 9 धर्म-युद्ध ही चुके थे । एक धार्मिक प्रतिलोम भी भली बना था जिसे 'पोलीटिक' (Politiques) कहते थे । बोवॉ पर इस धार्मिक प्रतिलोम का प्रभाव पड़ा । मृत्यु उसका समयक बन गया । पोलीटिक विचारक प्रभावित इस बात पर बन देते थे कि मजबूत सरकार की आवश्यकता है । संघर्षात्मक होने हुए भी वे एक राज्य में एकल वर्गों के मृत्यु-प्रतिष्ठान की स्वीकार करते थे और राजा को धार्मिक सम्प्रदायों तथा राजनीतिक दलों से ऊपर रहकर राष्ट्रीय एकता का जेठ बनाने की प्रयत्नशील थे । वे धार्मिक सहिष्णुता की नीति के रूप में स्वीकार करते थे, वैज्ञानिक विज्ञान के रूप में नहीं । वे उपरोक्तविज्ञानों का आधार पर धार्मिक सम्प्रतिष्ठान का समर्थन करते थे । सम्प्रतिष्ठान रूप से बोवॉ सभी वर्गों का अधिकार और इनमें अपनी कृपियों में धार्मिकसहिष्णुता की नीति का समर्थन किया ।

बोवॉ ने प्रारम्भिक शिक्षा के बाद कानून की शिक्षा प्राप्त की । गलतफहमी कर बहालगी की ओर उन्मुख हुआ । उसकी प्रतिभा ने फ्रांस में तत्कालीन राजा हेनरी तृतीय का प्रभावित किया जिसमें उसने बोवॉ को अपने दरबार में रख लिया । बोवॉ फ्रांस के 'चैम्बर ऑफ़ डेपुटीज' (Chamber of Deputies) का भी सदस्य बना ।

बोवॉ का सम्प्रतिष्ठान एक राजा बना था । उसमें न केवल राजनीति, सम्प्रतिष्ठान एवं विज्ञान का सम्पूर्ण सम्प्रतिष्ठान किया बल्कि युद्ध, सांस्कृतिक विषय, शिक्षा एवं धर्म पर भी राष्ट्रीय सम्प्रतिष्ठान किया । बोवॉ अपने समय का राजनीतिक सुविधान एवं नीतिक विचारक था । वह राजनीतिक की ता ओर अपने वर्गों में सम्प्रतिष्ठान की । उनका सम्प्रतिष्ठान नीति, युद्धात्मक और नीति का सम्प्रतिष्ठान का सम्प्रतिष्ठान 16वीं सदी में

के सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन की वही दशा थी। बीर्दा ने एकमात्र रोमन बिबि की पुस्तकी के सम्पादन के स्वर पर बिबि के ऐतिहासिक और पुनरात्मक सम्पादन पर और दिया। उसका मत था कि बिबि के स्वल्प एवं मूल का पता लगाने के लिए रोम शब्दा किन्ती एक ही शब्द देश की विधि-प्रणाली का नहीं बल्कि सभी देशों की दृष्टिओं का सम्पादन किया जाए तथा न्याय-शास्त्रियों और इतिहासकारों से परामर्श लिया जाए। इससे भी एक कदम आगे बढ़कर उन्होंने साबित किया कि बिबि एवं राजनीति का सम्पादन केवल मात्र इतिहास की ही ध्यान में रखकर नहीं किया जाना चाहिए बल्कि इस दृष्टि के भौतिक परिस्थिति, व्यवस्था, भौतिक स्थिति एवं जातीय विशेषताओं के ध्यान में रखना भी नया महत्त्वपूर्ण नहीं है। बीर्दा ने अपने इस साधुनिक प्रतीक होने वाले सुधार में यह विचार भी शामिल किया कि पर्यावरण के अन्तर्गत वस्तुओं का प्रभाव भी शामिल है तथा ज्योतिष के सम्पादन द्वारा यह ज्ञात किया जा सकता है कि वस्तुओं ने राज्य के इतिहास की किस सीमा तक प्रभावित किया है ?

बीर्दा का पुरा वृत्ति धार्मिक गहराई और समन का था किन्तु पौरोहित्य वर्ग में प्रभावित यह धार्मिक गहराई का बीजक था। इससे बतलाया कि राज्य का वर्तमान किन्ती धर्म-विशेष की प्रभावना न होकर सामान्य ब्रह्माण्ड का प्रसार है। धार्मिक गहराई के साथ-साथ समन, ज्ञान-विद्या धार्मिक में भी उत्पन्न वस्तु बतलाया था। यह अन्तर्गत सम्पादनियों से प्रभावित नहीं रह पाया था। मैथिल के समीप में 'बीर्दा सम्पादन, बुद्धिवाद, रहस्यवाद, उन्मोचितावाद और पुनरात्मक (Antiquarianism) का सम्पादन था।"

बीर्दा ने राजनीति के सम्पादन सभी पक्षों पर अपने विचार प्रकट किए। इसमें ज्ञान की एकता पर विचार दिया भी उसके धार्मिकता के सिद्धान्त से स्पष्ट है। उनके विचार कठिनाई होते हुए भी पुनरात्मक की भावना में प्रकटित थे। उनके दर्शन में एकता और समन का अन्तर्गत प्रभाव देने की चिन्ता है। इससे राज्यन्य का सम्पादन किया। इसका विचार था कि केवल राज्यन्य ही ज्ञान की चिन्ता होना है वस्तु करता है और राज्य की वर्तमानता द्वारा ही ज्ञान में एकता की पुनर्स्थापना की जा सकती है। निम्न ही बीर्दा के विचार सम्पादनक न होकर साधुनिक में। राज्य प्रभुता के सिद्धान्त की प्रतिपादन करने का महान् प्रेम बीर्दा की ही था। यह विचारण प्रतिपादन केवल अपने मूल में ही वस्तुओं की वस्तु बतलाने के लिए की समन ही वस्तु।¹

वृत्तियों—वर्तमान, पुनरात्मक, रोमन धार्मिक प्रभावों के साथ जीव बीर्दा न पौरोहित्य और राजनीतिक ज्ञान की सम्पादनित महत्त्वपूर्ण प्रेम समित्त किए—

- (1) रेस्पान्स (Responsa)
- (2) डेमोन्स्ट्रान्स (Demonstrations)

(3) हेप्टाप्लोमर्स (Heptaplomers)

(4) यूनिवर्सल नेचर थियेट्रम (Universal Nature Theatrum)

(5) सिस लिवर्स डि-जा-रिपब्लिक (Six Livres De-la-Republique)

बोदा का मतियस ग्रन्थ, जिसे संक्षेप में 'रिपब्लिक' कह कर विना जाता है 1576 ई. में प्रकाशित हुआ था। इसका प्रयोजन राज्यकीर्ति यह पुस्तक में राजा की स्थिति कायम करना था। राजनीतिक विचारों की दृष्टि से विद्वानों ने इसे बोदा की सबसे महत्वपूर्ण कृति माना है। रॉबर्टो ने जो इसे अपने सभी में राजनीति शास्त्र पर पड़ता प्राथमिक ग्रन्थ माना है। रोबर्टो के अनुसार, "बोदा के 'रिपब्लिक' ने प्राथमिक राजनीति के लिए बड़ी काम किया है जो सरस्वती ने प्राचीनकाल के लिए किया था।" "उसके महत्त्व का कारण यह रही था कि उसने सरस्वती की वृद्धि की पुनर्जीवित करने का प्रयास किया, यन्त्र उसके महत्त्व का वास्तविक कारण यह था कि उसने प्रभुसत्ता के विचार की पर्याप्तता के घेरे में बाह्य विकसित। बोदा अधिकार के सिद्धांत में इस विचार की पर्याप्तता के घेरे में डाल दिया था। बोदा ने प्रभुसत्ता का विवेकपूर्ण करने के साथ-साथ उसे लैंग्विजानिक सिद्धांत में भी शामिल किया।"

सम्भवतः वृद्धि (Methord) -बोदा ने मुख्यतः ऐतिहासिक एवं विवेकपूर्णतम वृद्धि का प्रस्ताव। उसकी वृद्धि का मूल तत्त्व दर्शन और इतिहास का सम्बन्ध था। उसने विधि 1. स्वयं एवं मूल की सम्बन्ध के लिए ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक सम्बन्धन पर जोर दिया। उनका वाक्य था कि विधि और राजनीति का सम्बन्ध इतिहास के साथ ही नैतिक चरित्र, जलवायु, भूगोल आदि की भी ध्यान में रखकर करना चाहिए।

बोदा ने इस आधार पर संविधानों की आलोचना की कि उसने अपनी वृद्धि में दर्शन का विवेक किया था। उसके मतानुसार, संविधानों ने राजनीति और नीति शास्त्र में विवेक प्रदर्शित किया था कि उसकी वृद्धि दर्शन-परिष्कृत न होकर बुराई अनुभव प्रदान थी। बोदा, जेरो एवं सर रोमन मोर की कल्पनावली राजनीति की भी वृद्धि नहीं करता था। इन कल्पनावली (Utopias) द्वारा इतिहास की व्युत्पत्ति की गई थी। उनके दर्शन व्यापकता से दूर थे। बोदा का कहना था कि 'राज्य-विद्वानों की परिधि में बहुत-सा धर्म विचार-मार्ग पर विचार करना चाहिए। यह हर समस्या पर विवेक की दृष्टि से विचार करना चाहिए।' अपने ग्रन्थ 'रिपब्लिक' में उसने सरस्वती की 'राजनीति' की वृद्धि का अनुमान किया। बिना लार्ड सरस्वती ने लगभग 158 यूनाई चारुसों के नैतिकता का तुलनात्मक अध्ययन करते अपने ग्रन्थ का प्रकाशन किया था, उसी प्रकार बोदा ने भी ग्रोस, ग्रोसमोन्ट एवं जेफरीस इतिहास का समीक्षात्मक रूप से अपने राजनीतिक विद्वानों का ज्ञान बढ़ा दिया। उसने राजनीति के विचारमार्ग एवं नैतिकता दोनों ही पक्षों पर समान जोर दिया।

इसमें स्पष्ट रही कि बोदा का दृष्टिकोण अपने समय की अन्य वृद्धि से अलग था, बहुत दूरदर्शक उसकी दृष्टि। इस ज्ञान के अनुभव न थी। रोबर्टो

के अनुसार, "वह इस बात को नहीं समझ सका कि अपनी ऐतिहासिक समस्या को किस प्रकार व्यवस्थित करे। 'विलम्बित' और सामान्य रूप से उसकी सभी पुस्तकें व्यवस्थित तथा व्यवस्थित हैं। वे असम्बद्ध हैं और अपने चुनविलि जी भरमार हैं। कुछ स्तरों पर उसका विषय-विषय सुखदा हुआ है। वह ऐतिहासिक उदाहरणों और सीकड़ी के अपने दाढ़को को चमकर में बांध देता है। उसने विधि तथा समस्याओं का विवेकन वास्तविकपूर्ण रूप से किया है। उसकी भाषा के एक कठोरता का वह ही उसकी रचनाएँ उद्घोषित हो गई क्योंकि वे बड़ी बोझिल और नीरस थी। बोर्दा ने साहित्यिकता को नष्ट नहीं किया। उसकी मुख्य शक्ति यह थी कि वह परिभाषा बना सकता था और दार्शनिक व्यवस्था का निर्माण कर सकता था लेकिन कुछ मिलाकर इतिहास और समस्याओं के समाधान की क्षमता नहीं होती हुए थी वह एक दार्शनिक इतिहासकार होने की अपेक्षा पुराणवादी ही अधिक था।" ¹ ओ भी ही, बोर्दा का वह दृष्टिकोण नहीं था कि विधि एवं राजनीति में अन्तिम सम्बन्ध है तथा इनका सम्बन्ध ऐतिहासिक दृष्टिकोण में होता चाहिए। बोर्दा की विद्वान् मैसायर्ड (Mesaard) के मन में बोर्दा इतिहास की तीन शक्तियों—नीति शास्त्र, कानून एवं साम-पर ज्ञान देने वाला विचारक था। दूसरे शब्दों में बोर्दा का अनुभववाद 'एकबद्ध' (Unitary) था।

बोर्दा के राज्य और परिवार सम्बन्धी विचार (Borda on State and Family)

बोर्दा का मान्यता यह थी कि वह प्राथमिक कट्टरता और स्वयं में राज्य की शक्ति, व्यवस्था, शक्ति एवं शक्ति को बना आवाज पहुँचाया था। प्रोटेस्टेंट राजा और कैथोलिक प्रजा तथा कैथोलिक राजा और प्रोटेस्टेंट राजा के मध्य बनता रहना था वह राज्य व्यवस्थाओं की अभिवृद्धि में महत्व न था। बोर्दा 'बोर्दाईक' विचारों के विद्वान्दों से प्रभावित था। उसका विश्वास था कि राज्य की प्राथमिक विचारों के अन्तर्गत रहने पर ही समाज का कल्याण और समाज में शक्ति तथा व्यवस्था सम्भव है। वह प्रस्तावित करता चाहता था कि राज्य की शक्ति निरस्त है और उसके नागरिकों को नैतिक रूप से भाग्य है। वह यह भी बतलाता चाहता था कि राज्य का अधिकतम कार्य अपनी दृष्टानुसार किसी भी धर्म को कायम रखना नहीं बल्कि सामाजिक कल्याण में निरन्तर अभिवृद्धि करना है। इसी विचारों से प्रेरित होकर उसने अन्तर्गत उन लोगों की विद्वान्दों का सम्बन्ध किया जिनके के प्रथम के अनुसार राज्य एक देवी नरत्ता थी और इसी के अनुसार सामान्य व्यवस्था पर आधारित था। बोर्दा का मान्यताओं के राज्य के प्रति अन्तर्गत-निष्ठान्त के भी महत्व न था। वह व्यक्ति को राज्य के अधिक महत्व नहीं देना चाहता था। उसका उद्देश्य राज्य के अधिकारों की महत्ता सिद्ध करना था, अन्तिम व्यवस्थाओं और अधिकारों की रक्षा करना नहीं।

मपने कुछ 'रिपब्लिक' में बोर्दा के राज्य के और परिवार सम्बन्धी व्यवस्था परसू से बहुत की थी। उसने सर्वप्रथम राज्य के उद्देश्य पर, फिर परिवार पर विचार किया। साथ ही विवाह, विवाह-सुख का सम्बन्ध, व्यक्तिगत सम्पत्ति, शासना आदि विषयों पर भी विचार व्यक्त किए। राज्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में यह कहा परमन्त्र था। राज्य की परिभाषा करते हुए उसने लिखा कि "राज्य परिवारों तथा इनकी सामान्य सम्पत्ति का एक समुदाय है जिसका शासन एक सम्बन्ध, नीति एवं नितिक द्वारा होता है।"¹ बोर्दा परिव्राषा ने उन्ने यह स्पष्ट नहीं किया कि यह जीवन-का तथ्य है जो प्रभु नीति मपने प्रजाजनो के लिए प्राप्त करे। यह इस सम्बन्ध में परसू से मार्त-दर्शन बहुत नहीं कर सकता था और नागरिक की प्रसंगता समवा दित की राज्य का आन्तरिक तथ्य नहीं मान सकता था क्योंकि नगर-राज्य के जो तथ्य वे वे नक-विकसित राष्ट्र राज्यों के नरव नहीं बन सकते थे, बोर्दा में पररा सम्तर विद्यमान था। बोर्दा 'राज्य' के उद्देश्य को केवल मान भौतिक एवं उपयोगितावादी उद्देश्यों तक ही सीमित रखने की भी तैयार न था। उसे यह भी स्वीकार्य था कि राज्य का कार्यक्षेत्र नीति एवं व्यवस्था कायम रखने तक ही हो। उनका विश्वास था कि राज्य के शरीर और आत्मा होती है और यद्यपि शरीर की गान्धनिक आवश्यकताएँ मनुष्यपूर्ण होती हैं जो भी शासना की निमति अधिक उच्च है, तब केवल भौतिक सुरक्षा से बढ़कर राज्य का कोई उच्चतर लक्ष्य होना चाहिए लेकिन यह अनुभव करते हुए भी बोर्दा ने इन उच्चतर उद्देश्यों का कोई वर्णन नहीं दिया। साथ ही इसका भी कोई मन्तोषजनक उत्तर यह प्रस्तुत नहीं कर सका कि नागरिक राज्य की आकाशमन के कर्तव्यों का निर्वाह क्यों करें? इसमें कोई संदेह नहीं कि बोर्दा के राजदत्तों को वे समीर बुद्धि हैं।

राज्य के उद्देश्य के बारे में बोर्दा की क्षमप्रता का उल्लेख करते के बाद यह हम उनके द्वारा दी गई राज्य की परिभाषा के विवेरण पर करते हैं। बोर्दा की परिभाषा के राज्य की कुछ मनुष्यपूर्ण विशेषताएँ प्रकट होती हैं—

प्रथम विशेषता यह थी कि परसू की नीति बोर्दा भी परिवार की राज्य की शासनीति का मानता है। यह नीति को राज्य का निर्माण करने वाली इकाई के रूप में स्वीकार करता है। उसके अनुसार राजा-विजा, भाई-बहिन एवं भासकों के मान सम्बन्ध, सम्पत्ति, शास प्रथा, विवाह आदि परिवार के तथ्य हैं और राज्य उन सबसे नरवा पृथक् है। दूसरे शब्दों में राज्य परिवारों का समुदाय है, परिवार का आन्धनिक विकास एवं मनुष्य की आन्धनिक सामाजिकता की स्वाभाविक अभिव्यक्ति नहीं। यह राज्य की नीति की उच्च मानता है। बोर्दा समाज का विमान मानव के सामाजिक स्वभाव पर आधारित है, नहीं राज्य का आधार नीति है। बोर्दा की राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी धारणा की शरत शब्दों में प्रकट करते हुए

1. "A State is an aggregation of families and their common possessions ruled by a sovereign-power and by reason."

केसाइन ने लिखा है कि "राज्य कया अन्य समुदाय परिवार के ही पैदा होते हैं। बोर्दा ने राज्य को परिवारों का समूह कहा है। जब परिवार का मुखिया घर से बाहर निकलकर दूसरे परिवारों के मुखियाओं के साथ मिलकर कार्य करता है, तब वह नागरिक बन जाता है। सांस्कृतिक प्रतीक्षा और पारस्परिक लाभों के लिए परिवारों के अनेक रूप विभिन्न प्रकार के गाँव, नगर और निगम आदि बन जाते हैं। जब ये एक अनुसूता द्वारा समुदाय होते हैं तो राज्य का निर्माण होता है। बोर्दा का विचार था कि राज्य के निर्माण में कहीं न कहीं शक्ति का ह्रास सम्भव रहता है यद्यपि प्रमुखता यथवा विधि-समूह शक्ति का शोशियलिज्म शक्ति के आधार पर ही विद्व निमां या करता है।" बोर्दा द्वारा राज्य की उत्पत्ति में शक्ति की परिवर्तना से उसकी यह धारणा प्रतीत होती है कि समुदाय ने समाज में रहने की अपनी सहज प्रवृत्ति के कारण पहले एक परिवार का निर्माण किया जो प्राकृतिक कारणों से अपने-अपने अनेक परिवारों से विभक्त हो गया और ये अधिकार समुचित स्थानों पर बन गए। सामान्य लाभ की भावना से अनेक परिवारों का लाभ ऐसे स्थानों पर हुआ जहाँ जल, रक्षा आदि मुखियाई सर्वोत्तम बनने लगे। ऐसे स्थानों की रक्षा सीमित थी, जिन पर अधिकार जमाने के लिए विभिन्न पारिवारिक समूहों में लड़ाईयाँ होने लगी, जिससे शक्तिशाली जीते और निर्बल परास्त हो गए। विजेताओं ने अपनी शक्ति द्वारा दूसरों की शक्ति लूटा। विजेता सामक बन गए और विजित उनके राज्य की प्रथा। शासक ने अने जिहादों का आयोजन किया था। इस तरह राज्य का जन्म हुआ। बोर्दा द्वारा राज्य की उत्पत्ति का साधारण शक्ति की भावना यद्यपि पूर्णतः सत्य नहीं है, जो भी उपर्युक्त शब्दाई का घात समर्थ है। राज्य के विकास में जिन मान्यताओं का ह्रास हुआ उनमें शक्ति ने एक महत्वपूर्ण अर्थ या और भाग भी है।

दूसरी विशेषता यह है कि बोर्दा राज्य पर सर्वोच्च शक्ति का मान्य स्वीकार करता है। उसके अनुसार राजा को राज्य का शिरोधार्य माना है जो केवल राज्य में ही निहित है, अन्य स्थानों में कुछका अधिकार नहीं रहता। उसके अनुसार प्रत्येक मुख्यविभक्त राज्य में सर्वोच्च शक्ति का निवास परम शासकत्व है ताकि राज्य में सत्ताशक्तता की स्थिति अत्यन्त न होकर पाए। राज्य की यह सर्वोच्च शक्ति सम्पूर्ण समुदाय (Sovereignty) ही उसे राज्य समुदायों में वृद्ध करती है और उन को बन कर राज्य का अधिकार ही सम्पन्न हो जाता है, बहुत दूर तक विरल रहता है।

बोर्दा की विशेषता यह है कि राज्य पर विवेक (Reason) का भी शासन है। दूसरे अर्थ में राज्य "विधि-समूह शासन" है। "विधि-समूह" (Subject to the law of society) का अर्थ ग्राह्यपूर्ण होता यथवा प्राकृतिक विधि के अनुसरण होता है। यह मान्य राज्य की आहुतियों के विरोध में सर्वोच्च सत्ताशक्तता से पूर्ण है। बोर्दा का यह एक महत्वपूर्ण विचार है जो प्रकट करता है कि शक्ति तथा सत्ताशक्तता दोनों हैं, उसे विवेकपूर्ण एवं नैतिक होना चाहिए। हमी बात की जो भी

कहा जा सकता है कि बोदा के अनुसार राज्य में सर्वोच्च शासन के अधिकार को व्यापक-रूप में समाने वाली बात उसका विवेक-सम्पन्न या विनि-रूप होना है।

बोदी विशेषता यह है कि बोदा ने राज्य की न केवल परिभाषा को ही यद्यपि अपनी सामान्य सम्पत्ति (Their common possessions) का भी समुदाय बताया है। यह सम्पत्ति: व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार की रक्षा करना चाहता था। उसने बोला, और और एतदापरिहारों में पाए जाने वाले साम्यवाद की कठोर प्रतीक्षा की है। उसने मतानुसार सम्पत्ति परिवार के लिए अपरिहार्य है, उसका पुत्र है। मत. उसका राज सत्ताधारी अन्तिम भी पहुँच के बाहर रहता उचित है। परिवार का क्षेत्र व्यक्तिगत है, राज्य का सामूहिक समस्त समस्त। प्रमुखता स्वाभाविक से भिन्न है। सम्पत्ति पर परिवार का अधिकार है, प्रमुखता पर सामक और उसके व्यापकधिकारियों का। मेरादन के मत में "इन सिद्धान्त का विन रूप में विकास होता है, उनके अनुसार परिवार में सम्पत्ति-सम्पत्ति का अधिकार प्रभु की शक्ति के ऊपर भी निश्चित होता आरोपित कर देता है। दुर्भाग्यवश, लगभग यह सिद्धान्त बड़ा सरल है और यह लगभग है नहीं माना कि परिवार का अनुसन्धानीय अधिकार शिष्ट बीच पर आधारित है।" राज्य की विशेषता एवं सर्वोच्च शक्ति निजी सम्पत्ति का निश्चित रूप से सम्मान करे—यह एक परास्पर विरोधी करना लगती है। अधिकार्य अपरिचित अनुसन्धान एवं निजी सम्पत्ति के क्षेत्र अधिकार में साम्यवाद बैठाना समस्त में न माने वाली एक दार्शनिक कठिनाई है।

राज्य के सम्बन्ध में बोदा के विचारों का विशेषतः करते समय स्वाभाविक रूप से उनके परिवार सम्बन्धी दृष्टिकोण पर भी चर्चा करना पड़ चुका है। उनका और जोड़ देना है कि परिवार-सिद्धान्त बसा की दृष्टि का एक विनिष्ट एवं महत्वपूर्ण भाग है। "यह परिवार की, जिसमें मर्यादा-विन, अपने और जोड़कर होती है तथा जिसकी समस्त सम्पत्ति होती है, ऐसा बहुत समुदाय मानता है जिससे समस्त पर समुदाय पैदा होती है।" बोदा परिवार के पुत्रिया की अपने शक्ति पर चरण प्रतिष्ठा देना है और इन शक्तियों के सार्वजनिक सम्पत्ति एवं परिवार के सदस्यों के जीवन पर पूर्ण नियन्त्रण सम्पत्ति करता है।

बोदा के अनुसन्धान सम्बन्धी विचार (Bodin's Conception of Sovereignty)

बोदा के राज्यस्य का सबसे महत्वपूर्ण भाग उनका अनुसन्धान सम्बन्धी सिद्धान्त है। यद्यपि इन सिद्धान्त के बीच दूरान और रोम के प्राचीन विचारों में समान्य है फिर भी बोदा ही यह बहुत अधिक या कम से बड़ी स्पष्टता के और वैधानिकता के इसकी राजनीति शासन का महत्वपूर्ण सिद्धान्त बनाया।¹

बोदा के अनुसार अनुसन्धान ही यह विभावक पैदा है जो राज्य की समस्त परिवार से पुष्कल करती है। "अनुसन्धान राज्य का एक ऐसा अंग है जो केवल राज्य

1. मेरादन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड I, पृष्ठ 365.

2. Maury : Political Philosophy, p. 164.

में ही निहित रहता है, प्रत्येक स्थानी में उत्पन्न महत्त्व नहीं रहता ।" बीदा व गणतन्त्रवाद को प्रभु के प्रति घटीनता माना है । उसके द्वारा ही गई राज्य की परिभाषा में ही ही बाते प्रत्यक्ष हैं— प्रभु और प्रजा । राजनीतिक समाज का प्रतिपादन अन्ततः समाज प्रभु का प्रतिपादन है । उसके मत में "प्रभुत्वता नागरिकों और प्रजापति पर प्रभुत्व की जाने वाली वह सर्वोच्च शक्ति है, जो कानून द्वारा नियन्त्रित नहीं होगी घटीनता कानून के बंधन में मुक्त है ।" इस परिभाषा की मर बीदात्मिक लोक के इस भाति स्पष्ट निष्कर्ष है— "निमित्त प्रजापति प्रत्येक स्वतन्त्र बहुताय में केही बीदा व बीदात्मिक व्यवस्था होगी चाहिए जो चाहे एक व्यक्ति में निहित हो पर घटीनता में— निमित्त निमित्तों की स्वतन्त्र होती ही तथा जो स्वयं कानून का स्रोत हो । इस प्रकार इस शक्ति की शक्ति का स्रोत होने के बाते निमित्त है उपर्युक्त होता चाहिए ।"

बीदा का स्पष्ट मत था कि "प्रभुत्वता एक राज्य में शासन करने की निमित्तता एवं स्थायी शक्ति" है । राज्य अपने क्षेत्र के रहने वाले सभी नागरिकों और प्रजापति पर निमित्तता एवं घटीनता शक्ति रहता है । बीदा इस विचार के कारण के ही उद्देश्यों की शक्ति मानता था । प्रथम ही वह राज्य के लोकिक विचारों पर लोक एक शक्ति केवल समझा जैसे किन्हीं भी जातीय अधिकारों के घटीनता के बाते का निमित्तता मानता था बीदा दूसरे वह नागरिक, सरकारी, मरों और निमित्तों शक्ति के निमित्तों भी निमित्तता घटीनता एवं घटीनता की दृष्टिकोण का विशेषता उद्देश्य इस मर वह के घटीनता के बाते राज्य की प्रभुत्वता की निमित्तता की कम मानता था । बीदा के इस विचारों के निमित्तता के स्पष्ट होता है कि वह राज्य की बाते लोक प्रजापति ही । प्रभुत्वता का प्रजापति था । राज्य के लोकिक विचारों में लोक लोक निमित्तता समझा जैसे बाते अधिकारियों के हस्तक्षेप की दृष्टिकोण उद्देश्य राज्य की बाते प्रभुत्वता बाते स्वतन्त्रता की लोकता की और नागरिक, सरकारी, निमित्तों शक्ति की बातेपण नागरिकता के समझ राज्य की शक्ति के घटीनता मानता उद्देश्य प्रभुत्वता के घटीनता स्वतन्त्र ही शक्ति किया । बीदा ने राज्य की प्रभुत्वता की शक्तिता एवं स्थानी शक्तिता निमित्तता घटीनता-प्रजापति की शक्तिता मानता था । प्रभुत्वता इस शक्ति के निमित्तता है जो निमित्तों की लोकिक शक्ति के निमित्तता दे दी जाती है । प्रभुत्वता का ही शक्तिता ही शक्तिता की लोकता और शक्ति शक्तिता है जो लोकता के निमित्तता और शक्तिता शक्तिता के । प्रभुत्वता की स्थानी शक्तिता पर बीदा यह निमित्तता मानता था कि उसका प्रतीक समझ निमित्तता में लोकता नहीं । प्रभुत्वतापति की ही शक्तिता है जो लोकता-प्रजापति निमित्तता-शक्तिता का उपयोग करे । प्रजापति के निमित्तता उद्देश्यता करने वाली की सर्वोच्च शक्तिता नहीं कदा का शक्तिता शक्तिता के लोकता उद्देश्यता लोकता का प्रजापति करने वाले होती है जब तक उद्देश्य यह शक्ति प्रजापति समझ बाते का शक्तिता उद्देश्य ही शक्तिता नहीं व लोकता ।

बोदा की प्रमुखता की अन्य विशेषता यह है कि वह कानून के नियंत्रित नहीं होती; क्योंकि प्रभु अन्य कानून का शीर्ष है। वह राज्य में सर्वोच्च शक्ति का उपयोग करता है और अन्य उन कानूनों के बाधित नहीं हो सकता किन्तु उसके अगता के लिए बनाया है। प्रभु अपने उपराष्ट्रपतिकारियों की भी किसी कानूनी शक्ति से नहीं बाध सकता। प्रभु का आदेश ही राज्य का कानून है, अतः यदि प्रभु की अधिकतर कोई विधिवत् सभाओं तथा तो वह कर्तव्य ही है कानूनी होता। प्रभुत्व अर्थात् सार्वभौमिकता का सबसे बड़ा गुण यही है कि वह नागरिकों की प्राकृतिक और वैयक्तिक रूप से कानून प्रदान करता है और कानून में वह अपने से ऊँचे, अचर के या नीचे के किसी व्यक्ति या व्यक्ति समूह की सहमति लेने की आवश्यकता नहीं होता। "प्रभु पुत्र को योग्यता कर सकता है, शक्ति स्थापित कर सकता है, राज्य के अधिकारियों की नियुक्ति कर सकता है, सर्वोच्च न्यायालय का कार्य कर सकता है और मुद्रा बना या कर लगा सकता है।" बोदा का कहना था कि "प्रभु का छद्मगत कानून पर भी निरन्तर होता है। अर्थात् कानून सभी की अनुमति से कायम रह सकते हैं। प्रभु का कानून कदियों को बदल सकता है।"

प्रभुसत्ता सब प्रकार के बंधनों और सर्वादायी में मुक्त है, लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वह अनियंत्रित है। बोदा यह नहीं कहता कि राजा की प्रभुसत्ता कानून के अत्यंत प्रकार में ऊपर है। जब वह प्रभुसत्ता की कानूनी से ऊपर बन जाता है तो साक्ष्य यह है कि प्रभु केवल अपने बनाए हुए कानूनों से ऊपर है, अन्य प्रकार के कानूनों से ऊपर नहीं। उनके अनुसार "समस्त सामक ईश्वी कानून, प्राकृतिक कानून एवं इनके निम्न राज्यों के सामान्य कानून के बाधित हैं।" प्रभुसत्ता पर केवल सामंसीय अथवा विधिवत् कानून की सीमा नहीं होती।

बोदा की प्रभुसत्ता की एक अन्य विशेषता इसका अगता में निहित होता है। उनकी के समते में, 'मैं यह स्वीकार करता हूँ कि प्रभुसत्ता व्यक्तियों में नहीं रहती बल्कि अगता में रहती है। अगता के अन्तर्-वर्तित के (आत्मक) अगता अधिकतर रहते हैं और नियंत्रित अवधि के उपरान्त यह शक्ति पुनः अगता में लौट जाती है। असाहसिकार्थ प्राचीन एथेन्स में अगता द्वारा इस प्रकार सत्ता धारण (Action) पुनः जान सके व्यक्ति को 10 वर्ष के लिए हो जाती थी। इस अवधि में वह सर्वोच्च होते हुए भी केवल अगता का प्रतिनिधि या और अगता के प्रति ही अपने बान्धों के लिए उत्तरदायी थी। 10 वर्ष की अवधि के बाद वह शक्ति पुनः अगता में लौट जाती थी। न्यू एंग्लैंड के विषय (Crimes) नागरिक प्राचीन यूनानी राज्य में भी पड़ी बात थी। यहाँ के विचारियों द्वारा प्रति वर्ष 60 एनीमोन (Anymone) निर्धारित किए जाते थे—'लेकिन उनमें प्रभुसत्ता का निवास नहीं था। एक वर्ष की अवधि पूरी होव पर उनके अधिकार का निराल अगता को लौट दिए जाते थे।'¹

बीड़ी प्रभुसत्ता के प्रयोग के विधि-सकल होने के पक्ष में था। विधि-समय का कार्य व्यापकपूर्ण होना प्रत्यक्ष प्राकृतिक विधि के अनुसृत होना है। बीड़ी आशुषों के एक विशेष ही निरनुसृता और प्रभुसत्ता में अन्तर स्वीकार करता था। उसकी मान्यता थी, प्रभुसत्ता का प्रभाव प्राकृतिक कानून, नैतिकता एवं ध्यान के अनुसार होना चाहिए।

बीड़ी के सम्प्रभुता सम्बन्धी विचारों के विवेचन से प्रकट है कि—

(1) सार्वभौमिकता प्रत्यक्ष प्रभुता सर्वोच्च शक्ति है।

(2) प्रभुता परमेश्वर एवं स्वयं है। सम्प्रभु शक्ति-सत्ताधारी नर शक्तता है लेकिन सम्प्रभुता नहीं कर सकती।

(3) प्रभुता कानूनों का स्रोत है और दलित कानूनों के क्षेत्र के परे है। दूसरे शब्दों में यह मानवीय प्रभाव विधेयप्रकार कानूनों के अन्तर्गत से मुक्त है।

(4) यह राज्य का एक अधिकारमय तत्त्व है जिसके अन्तर्गत में राज्य की कल्पना करना भी सम्भव है। प्रभुता सामन्तिक एवं बाह्य दोनों तरह की होती है।

(5) यह सविभाज्य होती है। यह केवल एक शक्ति में ही निहित होती है। राज्य में ही प्रभुता सम्प्रभु शक्तियों का निवास सम्भव है।

(6) प्रभुता शक्ति किसी दूसरी शक्ति को हस्तान्तरित नहीं की जा सकती।

बीड़ी ने कहा कि प्रत्येक युगवर्धन-रत राज्य में सविभाज्य शक्ति का हीन प्रभाव प्रभावशाली है ताकि सार्वभौमिकता की स्थिति उत्पन्न न हो सके। उनके अनुसार राजतन्त्रात्मक शासन में यह सविभाज्य सार्वभौमिक शक्ति राजा में निहित होती है। इसका अर्थ है कि राजा जनसङ्घर्ष सन्धि की राज के वे वैदिक का मान्यता नहीं है कि यह राज राज की शक्ति ही। यदि राजा सत्य शक्तियों की राज की शक्त के लिए मान्य है तो प्रभुता-शक्ति का निवास सम्भव हो जाता है तथा शासन का स्वयं राजतन्त्र से परिवर्तित होकर कुलीनराज हो जाता है। जब सम्प्रभुता-शक्ति का क्षेत्र किसी व्यक्ति-विशेष में प्रभुत्व में न रहकर जन-साधारण के हाथों में चला जाता है तो शासन का स्वयं जनतन्त्र हो जाता है। इस शासन के परिवर्तन का एक मात्र कारण सम्प्रभुता-शक्ति का निवास है। कभी यह शक्ति एक व्यक्ति के हाथ में होती है, कभी व्यक्ति-विशेष में और कभी जन-साधारण में। इस तरह राज्य का ही राजतन्त्रीय हो, कुलीनराज्य हो या जनतन्त्रीय हो उसमें प्रभुसत्ता प्रत्यक्ष होगी। प्रभुसत्ता की अनुपस्थिति में हम किसी राज्य को राज्य नहीं कह सकते। यह प्रत्यक्ष है और इसे राज्य से अलग करके राज्य को नष्ट कर देना है यह प्रत्यक्ष बात भी स्पष्ट नहीं होती।

प्रभुसत्ता की सीमाएँ और उसके सम्प्रतिरोधी

(Limitations of Sovereignty or its Inherent Contradictions)

(1) बीड़ी की प्रभुता पर पहली सीमा ईश्वरीय एवं प्राकृतिक नियमों की है। "यद्यपि उसने विधि की प्रभु की दृष्टि का कार्य बताया है लेकिन उसका यह विचार नहीं था कि प्रभु केवल अद्वैत के द्वारा ही अधिकार का विमोक्ष कर

नक़्सा है। समस्त समकालिकों की भाँति उनके लिए भी प्राकृतिक विधि मानवीय धर्म का अन्तर्गत है और यह राज्य के कुछ अपरिहार्यताओं को मानकों को निर्धारित कर देती है। इस विधि का वास्तव ही साम्यतात्मक राज्य और आन्तरिक विचार के बीच के सम्बन्ध को दर्शाता है। यदि प्रभु प्राकृतिक विधि का अन्वयन करे तो उसे वैधानिक धर्म में उत्तरदायी नहीं कहेंगे किन्तु वास्तव में वास्तविक प्राकृतिक विधि उनके ऊपर कुछ प्रतिबन्ध तो लगा ही देती है। प्राकृतिक विधि के अनुसार यह आवश्यक है कि कानून की रक्षा की जाय और व्यक्तिगत सम्पत्ति का सम्मान किया जाय। प्रभु के अन्तर्गत का अधिकार यह है कि वह जानता है कि प्रभु का अपने अन्तर्गतों के प्रति और दूसरे प्रभुओं के प्रति कुछ प्राकृतिक अधिकार हैं जिनके यह भी भाव होता है। कोई का विचार था कि प्रभु इस अधिकारों के भीत है।¹ स्पष्ट है कि कोई के प्रभुतावादी पर हीनवीय कानून और प्राकृतिक कानून की सीमाएँ नहीं हुई हैं। प्रभु के कानूनों की न मानने वाला राज्य 'अवधि' प्राप्त है किन्तु इस प्रकार के कानून की अन्तर्गत होने का अधिकार स्वयं प्राप्त ही है। नागरिकों के पास ऐसे कोई अधिकार नहीं हैं कि वे उन्हें मान्य कर पायें कर सकें। इसका स्वाभाविक धर्म यही निकलता है कि इस कानूनी द्वारा लब्ध यह अधिकार कोई वैधानिक एवं राज्यीयिक महत्त्व नहीं रखने। के अन्तर्गत में लब्ध यह वैधिक प्रतिबन्ध है किन्तु पारिभाषिक रूप से प्रतिबन्ध नहीं कहा जा सकता। वास्तव में यह हुआ कि प्रभुतावादी का प्राकृतिक या हीनवीय कानून का वास्तव प्रदर्शन-भाव ही है, अन्तर्गत में लब्ध अधिकार नहीं है।

(2) कोई के प्रभुत्व सिद्धान्त का दूसरा सम्बन्धित यह है कि वह सम्पत्ति के अधिकार की प्राकृतिक और अन्तर्गतों को मान्यता है जो प्रभु किसी व्यक्ति से उसकी सम्पत्ति के विना छीन नहीं सकता। उसके अनुसार वह लब्धों के लिए देश की प्रतिनिधि लब्धों की सम्पत्ति की जायें जायें। अन्तर्गत के कानूनों को लब्धों से वह ऐसी किसी सम्पत्ति की आवश्यकता नहीं सम्भव है। कोई किसी सम्पत्ति को लब्धों की अन्तर्गतों को मान्यता है। सम्पत्ति परिवार का गुण है और परिवार का हीन अधिकार है। सम्पत्ति पर परिवार का अधिकार होता है, प्रभुता पर वास्तव का।

वास्तव में परिवार में सम्पत्ति सम्पत्ति का अधिकार प्रभुता पर ही निश्चित सीमा आरोपित कर देता है यह एक बड़ा ही सम्भव और सम्भव में न जाने वाला विचार है। कोई भी वे दोनों ही अन्तर्गतों परस्पर विरोधी हैं। सेवाद्वय के अन्तर्गत में—“इन सम्पत्ति में कोई का अन्तर्गतों का रूप आरोप कर देता है। इसका अन्तर्गत सिद्धान्त का पुष्टिपूर्ण सम्भव है। सम्पत्ति का अधिकार परिवार का अधिकार गुण है। परिवार यह सम्भव जोही द्वाय है किन्तु राज्य का सम्भव होता है। सम्पत्ति राज्य के लिए एक ऐसी प्रभु की आवश्यकता है जिनकी वैधानिक

शक्ति प्रतीक हो। इस प्रकार बीबी के राज्य में दो निरंकुश शासन हो जाते हैं। उनका यह कहना कि 'परिवार के असाध्य अधिकार-प्रतिस्तरभूत थे' उन्हीं के अन्तों में भ्रमण कर देना अधिक उचित होता। इन अधिकारों के बारे में वह उल्टा अधिक विश्वास था कि उन्हें इनके बारे में सब सेने की कोई जरूरत नहीं पड़ती थी। प्रभु की प्रसीध शक्ति की उत्पत्ति पार्थिव गुणों के संयोग के आधार पर हुई थी। यदि बीबी ने कभी दोनों विधियों की नियमावली को उचित सिद्ध करने का प्रयास किया या ऐसा करने में उन्होंने साम्राज्यिक विधि की निष्कारपद्धति को ही अनुसरण किया। सम्पत्ति के सर्धिकार परिवार के लिए आवश्यक हैं और परिवार राज्य के लिए आवश्यक है। लेकिन कर लगाने की शक्ति गप्ट करने की शक्ति है। राज्य के पास धन ही सदस्यों को गप्ट करने की शक्ति रहते ही रहती। बीबी ने यह बारम्बार कहा है कि कपाशन के लिए स्वीकृति की आवश्यकता होती है और यह साम्राज्यिक विधि की भाँति ही प्रमुखता के ऊपर एक आवश्यक नियन्त्रण हो जाता है। उन्हें की दृष्टि से बीबी का सिद्धान्त उन समय कमजोर साम्राज्य करने लगता है जब एकल परिवार का सिद्धान्त राज्य के सिद्धान्त के साथ समीकृत होता है।¹¹

(3) तीसरा प्रतिपक्ष देश के मौलिक कानूनों का है। बीबी का विचार है कि अनेक देश में सविधान सम्झौती कुछ ऐसे नियम होते हैं जिनका उल्लंघन राजा का नहीं करना चाहिए। कुछ ऐसे कर्मान्वित कानून होते हैं जिन पर स्वयं प्रभु अधिकारित होता है, जब प्रभु उनका उल्लंघन नहीं कर सकता। बीबी के इस विचार को हम एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं। फ्रांस की एक प्राचीन शक्ति सेलिमम फ्रांस के विद्वान 'सैल्ल लाय' (Saille Law) के अनुसार प्रत्येक नून को अपने पिता का निर्माण उत्तराधिकार में मिलता था। निम्नो भू-मालिक के उत्तराधिकार से शक्ति थी, जब उन्हें भाई न होने पर भी निर्माण पर बैठने का कोई अधिकार न था। बीबी ने कहा कि फ्रांस का कोई भी राजा इस कानून का उल्लंघन नहीं कर सकता था। बीबी द्वारा यह प्रतिपक्ष हमारे स्वीकार कर दिया गया कि प्रथम को वेग नून में प्रचलित विधि-परम्परा के अनुसार राजेश्वरों के प्रयोग में सम्मिलित कुछ ऐसे कानून थे जिन्हें राज-सत्ताधारी करना नहीं सकता। हम दूसरे, बीबी कानूनी सिद्धांत राज्य स्थिति होने के नाते सविधानकारी और राज्य की प्राचीन सम्झौती की संरक्ष करने के पक्ष में था।

इस तरह हम देखते हैं कि बीबी-एक और दो सम्झौता की प्रसीध वगलता है तथा दूसरी ओर उसे विभिन्न सम्झौतों के बीच देता है। उनकी निष्पत्ति से प्रावृत्तिविता की कमी के कारण कुछ लोग सम्झौत रूप में प्रवेश कर गए हैं। यह सम्झौता यह नहीं सम्झौता कि कि वैधानिक सिद्धान्त-निष्पत्ति से राजनीतिक एवं वैधानिक सम्झौतों का कोई सम्झौता नहीं होता। उनका प्रभु एक और ही राज्य में सम्झौतों के सम्झौतों का निर्माण करता है तथा दूसरी ओर उसे वैधानिक सम्झौतों

विधान तथा मन्तरीणों के विधियों का भी ध्यान रखना पड़ता है। एक तरह प्रमुनिमित्त विधियों काधार हैं जो जरा पर स्थितित या सामुहिक निधी भी रूप में मानू हो सकती है, दुसरी तरह देखी और प्राकृतिक विधानों के विपरीत कार्य करने के उसके छोटेछो की मानने के राज्य-कर्नकारी इन्तर कर सकते हैं। इस प्रकार बोदी का सिद्धान्त उक्तता हुआ है। अपने अपने सिद्धान्त को रखन काटा है पर नुदियों के बावजूद बोदी के प्रमुता-सिद्धान्त में विचारों की स्पष्टता भी है। यही प्रथम विचारक का निजने सम्प्रभुता की राज्य का आधारक प्रग माना और साम्प्रभ्य रूप में उसकी शक्तिशालता, सर्वोच्चता, अविभाज्यता आदि पर विस्तार के विचार प्रकट किए। इसे वह भी यही प्रस्ताव कहिए कि बोदी ने अपने प्रमुता-सिद्धान्त का निर्धारण प्रथम की राजनीति परिस्थितियों के सम्पर्क में किया। दुर्लभ देश में एक मुक्त शक्ति का समर्थन करने के लिए ही उन्होंने इस सिद्धान्त की रचना की। उसका प्रमुता का विचार ही आगे चलकर राष्ट्रीय राज्य के विकास का आधार बना।

• बोदी के सम्प्रभुत्वित राज्य सम्प्रभो अन्य विचार

(Bodin's Other Thoughts on the Well-ordered State)

नागरिकता सम्प्रभो विचार (Citizenship)

बोदी की नागरिकता सम्प्रभो धारणा में व्यक्ति और राज्य के सम्प्रभो पर उक्तता चिन्तन स्पष्ट होता है। बोदी के लिए राजनीतिक समाज में नागरिक प्राथमिक तत्व नहीं है अपितु परिवार है। "नागरिक वह स्वतन्त्र व्यक्ति है जो दूसरी की प्रभुत्व-शक्ति के सम्प्रभो है।"¹ इसके नागरिक नागरिकों के सम्प्रभो प्रकार के और की सम्प्रभो हो सकते हैं। उनकी भाषा और धर्म के समानता ही भी सकती है और नहीं भी। नागरिकों के निमित्त समुदायों की सम्प्रभो-धारा विविधा होना सम्भव है और उनके सम्प्रभो आधार ही सकते हैं। प्रभु इन सबकी स्वीकार करता है। निजेली नागरिकों को भी कुछ मान्य विवेकाधिकार मिलना और नियुक्तियों का प्राप्त होना सम्भव है। बोदी राज्य की छोटेकर राज्य की अनुरूपों को दो भागों में विभाजित करता है—प्रभु और नागरिक। उनके लिए नागरिकों की सम्प्रभोता का विचार सम्प्रभो है। प्राक्त आधारों नागरिकता प्राप्त कर सकते हैं किन्तु छोटे या मुठकर सम्प्रभो नागरिकता प्राप्त करने का अधिकार नहीं रखते। सब ही निर्मन्त्री के धर्मिता में और सम्प्रभो के समुदाय में सम्प्रभो सम्प्रभो और विवेकाधिकार हो सकते हैं। निजता पर के बाहुर के कानों के लिए प्रमुप्रमुत है। सम्भव, व्यक्ति प्रभु पर की दृष्टि में व्यक्ति सम्प्रभो है। किन्तु एक सामान्य प्रमुता के प्रति सम्प्रभोता के माने में प्रभु सम्प्रभो है। व्यक्ति राज्य में सम्प्रभो सम्प्रभो आधारभूत सामाजिक समुदायों की सम्प्रभोता द्वारा प्रभो करते हैं। बोदी के सम्प्रभोपर परिवार का धर्मिता पर में

1 'A citizen is a free man, whose subject to the sovereign power of another.'

बाह्य नियंत्रण कर दूसरे परिवार के भूमिदासों के साथ जब नियंत्रण करने करता है तब न्यायिक बन जाता है ।

राज्य एवं शासन के स्वरूपों पर विचार (Forms of States and Governments)

यह बीदा परस्पर में प्रभावित है । राज्य और सरकार के इन सम्बन्धी विचारों में यह स्पष्ट है । यह निश्चय है—“सर्वोच्च सत्ता किनके हाथ में है ? इससे राज्य का स्वरूप निर्धारित होता है, किन्तु जिस प्रकृति एवं व्यवस्था से सर्वोच्च सत्ता का प्रयोग होता है, उससे शासन का स्वरूप निर्धारित होता है ।” बीदा, इस प्रकार, राज्य एवं सरकार में विभेद करता है ।¹ प्रजा के स्वरूपों का उसका वर्गीकरण राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र एवं प्रजातन्त्र है । जब सर्वोच्च सत्ता एक व्यक्ति के निहित होती है तो राजतन्त्र है, जब सत्ता कुछ व्यक्तियों के हाथों में होती है तो कुलीनतन्त्र है और जब सामान्य जल्ला अनेक व्यक्तियों के हाथों में होती है तो यह प्रजातन्त्र है ।

परस्पर और राज्य विचारों के विभिन्न राज्य की सम्बन्ध बीदा को मान्य नहीं है । सम्प्रदाय विविधताएँ हैं, जब विभिन्न राज्य की सम्बन्ध ही नहीं की जा सकती ।² वह यह यह मानता है कि एक ही प्रजा की सामान्य प्रकृति में विभिन्न शासन-व्यवस्थाओं के कुछ ही पाने हैं । उदाहरण के रूप में उसने कहा कि “इस्लाम में राज्य का स्वरूप राजतन्त्र है, क्योंकि राज्य की व्यवस्था एवं प्रकृति प्रजातन्त्रात्मक है ।” उसने यह भी कहा है कि सरकार का रूप राज्य के रूप पर निर्भर नहीं करता । एक सामान्यतन्त्र राज्य में एक कुलीनतन्त्र प्रजातन्त्रात्मक सरकार का होना सम्भव है ।

बीदा राज्यतन्त्र की सर्वोच्च मानता है क्योंकि इसमें व्यक्ति की सम्पत्ति और जीवन का भय नहीं रहता । इसके विपरीत यदि सर्वोच्च सत्ता की कुछ न्यायिकी व्यवस्था सम्बन्ध न्यायिकी को और दिया जाय तो देश में प्रजातन्त्र और प्रजा के विचारों का भय विकसित रहता । एक सम्प्रदाय राजा प्राकृतिक एवं देवी विधिओं का सम्मान करते हुए शासन करता है जिनसे राज्य शास्त्र और प्रजा की ओर सम्बन्ध होता है । वस्तुतः 18वीं शताब्दी के अन्त में राज्यतन्त्र का लक्ष्य बना बीदा के लिए कुछ अन्तर्भाविक न था ।

शान्ति पर विचार (Sovereignty)

परस्पर की शान्ति बीदा में भी उल्लिखित (Sovereignty) का बीदा राज्यतन्त्र मानता है । यह राज्य के परिवर्तन में किम्बन्धन करता है और उसके विचारों में ही शान्ति है किन्तु परस्पर के । बीदा में प्रजातन्त्र की शान्ति प्रकृतिक है । विभिन्न विचारों की व्यवस्था शान्ति तक तक नहीं होती जब तक

1. Bensusan, Op. Cit., p. 104

2. H. Bensusan, Op. Cit., p. 277

प्रभुसत्ता अभी स्वल्प पर रहे। सरकार ने शान्तिप्रेमी की सहायताएँ मांगी हैं, बीबी ने सर्वथा सामंजस्य। उनके अनुसार मनुष्यों के जीवन-चक्र की भाँति राज्यों में भी परिवर्तन होते रहते हैं। राज्य भी जन्म लेते हैं, युवा होकर परिपक्वता प्राप्त करते हैं, जर्न-जर्न धीरे-धीरे होते हैं और अन्ततः मृत हो जाते हैं। राज्यों में परिवर्तन होना मानव-जीवन के परिवर्तनों के समान ही अनिवार्यतापूर्ण है। अतः उचित है कि वृद्धिमान शासक इन परिवर्तनों को नियमित करता रहे, उन्हें रोके नहीं। बीबी का मत है कि शान्तिप्रेमी का रहने में ही बड़ा सहायक या गड़बड़ है और इसके लिए उद्योग का उपयोग सम्भव है कि राज्यों में होने वाले परिवर्तन सदैव मकर बलि से ही हो, ऐसा नहीं है। वे जर्न-जर्न अवस्था पेशि से एवं शान्तिपूर्वक भी हो सकते हैं और सहता ही बड़े आकस्मिक, उग्र एवं हिंस्रमय रूप में भी हो सकते हैं। इन परिवर्तनों की प्रवृत्ति मानव-जीवन में होने वाले मर एवं उप परिवर्तनों से भिन्नही-कुलही है। राज्य शान्तिप्रेमी का प्रभाव बड़ा व्यापक होता है। इससे न केवल कानून, नैतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था ही प्रभावित होती हैं, बल्कि प्रभुसत्ता का विचार-रचना कुलीनतन्त्र अथवा लोकतन्त्र द्वारा किया जा सकता है या इसकी विपरीत अवस्था भी हो सकती है।

बीबी ने शान्ति के कारण भी बताया है जो मुख्यतया तीन प्रकार के हैं—
 वैश्विक, प्राकृतिक एवं मानवीय। वैश्विक कारण सदैव प्रमुख और अज्ञात रहते हैं। प्राकृतिक कारणों में जलवायु का प्रभाव भी होता है, यद्यपि अनेक द्वारा इसका क्या महत्त्व जा सकता है पर परिश्रमिक, वे भी समेत ही हैं। मानवीय कारणों के विभिन्नता में बीबी बड़ी दृग्दृष्टि और दृढ़ता का परिचय देता है। इसकी दोषधान के प्रथम में उसने मनुष्यत्व की प्रत्येक भावना पर विश्वास दिया है।¹ उसका मत है कि राजा को किसी गुट-विशेष के साथ मेल नहीं करना चाहिए। उसे सदैव मेल-विवाद की नीति अपनानी चाहिए। समय का माध्यम केवल बड़ी सेवा चाहिए नहीं मनसता की पूरी साक्षर ही। बीबी ने इस सम्बन्ध में भी मुख्यतः सुझाव दिए हैं कि व्यवस्थाओं की निरूपित में, शान्ति प्रत्येक के विषय में एवं अन्य प्रजासत्ताक राज्यों में शासक की सेवा आवश्यक करना चाहिए। उसके अनुसार, शान्ति स्वभाव की प्रतिक के सम पर नहीं ध्यान आ सकता। शान्ति विषयों में लोगों को भावना की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए लेकिन एक बार अपने की प्रविष्टि हो जाने पर फिर इस स्वतन्त्रता की समाप्ति कर देना चाहिए ताकि लोगों में अपने के प्रति परिग्रहता न उत्पन्न होने पाए। उसने सम्पत्ति के निजी अधिकार को सम्मान देने हुए कहा कि सम्पत्तिमान सीधे प्रायः द्विक शान्ति के विरुद्ध होते हैं।

शान्तिप्रेमी का विवेचन करते समय बीबी दृढ़-वचन, असाधु एवं शक्ति-परिचयियों के प्रभाव का भी विस्तार से वर्णन करता है। असाधु पर लोगों का चरित निर्भर करता है। उसकी भाव के विषयों आधुनिक दृष्टि में असाधु होते

हैं, दक्षिणी सोम ग्रास और कमा में घासे होते हैं तथा बीच के लोगों ने दोनों युक्तों का सम्मिश्रण होता है। शासन में व्यवस्था एवं न्याय की स्थापना बीच वाले मोर्चे ही शीघ्र कर सकते हैं। शासक को कानून बनाने समय इन भौतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखना चाहिए ताकि वह कानून लोगों के परिपक्व और स्वभाव के अनुकूल रहे। जहाँ सामाजिक शासन व्यवस्था व्यक्तियों को भाव-विहीन एवं दुर्बल बना सकता है वहीं प्रजातन्त्रीय शासन ऐसे लोगों को भी ऊपर उठा सकता है जो पहले केवल दास रहे हों। बोर्दा बीच के प्रदेशों की सर्वोत्तम इसलिये मानता है कि एक ही यहाँ दोनों तरह के गुण प्राप्त हैं और दूसरे विज्ञान राज्यो तथा राजनीतिक विज्ञान के जन्म-स्थल भी वे ही रहे हैं। प्रो. डनिन का मत है कि जलवायु एवं भौगोलिक स्थिति के सामाजिक तथा राजनीतिक प्रभाव का बोर्दा का सम्मिश्रण अपने अर्थों में वैज्ञानिक है और इस दृष्टि से पर्याप्त भौतिक है। बोर्दा की रचना का यह अर्थ उनके सम्पूर्ण राजदर्शन का एक अद्विष्ट भाग था और इसके चलकर मोन्टेस्क्यू ने इस विचार प्रवृत्ति को—सबलमात्र तथा निश्चित किया। बोर्दा द्वारा आन्तिमो के कारखाने और उनके निवारण के उपायों के वर्णन पर लिखती काले हूड बेन्सी ने लिखा है कि "वह (बोर्दा) वास्तव में अनेक सामुहिक विचारों से बड़ी सक्रिय सामुहिक था।"¹

सहिष्णुता (Toleration)

बोर्दा ने धार्मिक सहिष्णुता का सिद्धान्त के रूप में नहीं प्रस्तुत एक नीति के रूप में समर्थन दिया। इसका अर्थ उसने तब किया था जब धर्म में धार्मिक दमन परम सीमा पर था और प्रोटेस्टैंटों तथा कैथोलिकों में समर्पण था। काम धर्म-युद्धों का सजाया बन चुका था—इसका कि सन् 1562 से लेकर सन् 1598 तक बड़ी 9 धर्म-युद्ध हो चुके थे। बोर्दा के मत में धर्म की युद्ध-युद्ध के एकदम से समाप्तों का सर्वोत्तम उपाय नहीं था कि निरंकुश राजशासन की स्थापना हो, जो धार्मिक विवादों की विविधताओं को संहार करे। बोर्दा को यह अशोकार्त था कि राज्य की धार्मिक सम्पीडन का अधिकार है। लेकिन यह नास्तिकों को भी सहन करने को उद्यत नहीं था। उसका विचार था कि धार्मिक सभी अपने धार्मिक नहीं बन सकते। उसका यह भी विचार था कि राज्य की सित नवीन सम्प्रदायों को नहीं बनने देना चाहिए क्योंकि इससे सामाजिक व्यवस्था का भंग रहता है। इसी दृष्टि में धार्मिक दमन सभी शीघ्र या जब उपलब्ध मिलने की आशा ही।

शासक द्वारा सन्धियों एवं सन्धियों का शासन

(Sovereign's Promises and Treaties)

बोर्दा का विचार था कि शासकों को अपने अर्थों में अपने नियमों के अन्तर्गत सभी को हानि होती है। पर उनकी यह वचन-विमता सम्पूर्णतः ही धर्म में ही सक्रिय महत्वपूर्ण है। शासक प्रजा के प्रति जो हुई वचन में बाध्य नहीं है, वचन

1 "Bodin was, in reality, more modern than many modern."

प्रयत्नता सीमित हो जाएगी। शान्तिहीन एवं शक्ति की लाल दृष्टि है। ये ही वही के मध्य होते हैं, यही दोनों के लिए बाध्यकारी हैं। दोनों के इस दृष्टिकोण से स्पष्ट है कि अन्तराष्ट्रीय क्षेत्र में वह निरन्तर प्रमुखों के आधार पर बरकत का उपयोग करता है पर अन्तराष्ट्रीय क्षेत्र में नहीं। अन्तराष्ट्रीय व्यवहार में जातकों के आधार पर राज्य करने के विचार पर ही 50 वर्ष बाद कोटिक्स (Cicero) ने अन्तराष्ट्रीय विधि (International Law) का निर्माण किया।

बोर्डो और मैकिवावली की सामुदायिकता के अग्रदूत के रूप में तुलना (Bodin and Machiavelli as the Forerunners of Modernity)

‘अप’ प्रत्यक्ष किया जाता है कि राजनीतिक विचार के क्षेत्र में मैकिवावली सामुदायिकता का अग्रदूत या अग्रदूत बोर्डो? निम्नलिखित दृष्टि से वही बहुत जा सकता है कि दोनों ही विचारकों ने सामुदायिकता के अग्रदूत प्राप्त करते हैं। परन्तु, बोर्डो ने मैकिवावली के विचारों की निरन्तर किया, यह वह उसने अधिक सामुदायिक था।

मैकिवावली ने सामुदायिकता के अग्रदूतों का अग्रदूत करने राजनीति की नवीन व्यावहारिक रूप प्रदान किया। सामुदायिक रूप की राजनीतिक सामुदायिकता की हम संरचना में उसके रूपों में ईष्ट सकते हैं। मैकिवावली ने अनेक सामुदायिक सिद्धान्तों का अग्रदूत किया, जैसे ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण करना, राजनीति को वैज्ञानिकता में प्रत्यक्ष करना, राज्य-सामुदायिक सिद्धान्त की परिष्कार करना आदि। ऐसीमिन्ट ग्रिफ़ ने कहा है कि—“यह कहना कि वह सामुदायिक रूप का अग्रदूत-रूपों है उसके प्रकार नहीं है जैसे यह कहना कि वह सामुदायिक रूप का अग्रदूत है।” लेकिन हमें यह मानना होगा कि मैकिवावली के रूप में बोर्डो-रूप में ही सामुदायिक विचार का अग्रदूत विचार बोर्डो के रूप में ही हुआ। राज्य के सम्बन्ध में भी बोर्डो ने ही सामुदायिकता के अग्रदूतों द्वारा मैकिवावली के सामुदायिक अग्रदूतों को प्रदान किया। उसके अग्रदूतों की परिष्कारों के अनुसरण करने विचारों को अपने में प्रदान कर मैकिवावली के विचारों की निरन्तर किया और राज्य के सामुदायिकता के अग्रदूतों की अग्रदूतों को प्रदान किया और राजनीति-शास्त्र में सामुदायिक अग्रदूतों को अग्रदूत किया। इन दोनों की सामुदायिकता पर स्पष्टता में निम्नलिखित अग्रदूतों में विचार करना अधिक उपयुक्त होगा—

(1) अग्रदूत पद्धति (Machiavelli)—मैकिवावली ने निम्नलिखित अग्रदूतों द्वारा अग्रदूत और सामुदायिकता के अग्रदूतों में अनेक परिष्कारों की प्रदान किया और अग्रदूत-अग्रदूत (Inductive) पद्धति को प्रदान किया। पर उसने इतिहास का निम्नलिखित अग्रदूत-अग्रदूत अग्रदूत नहीं किया बल्कि अपने पूर्व निरन्तर विचारों की दृष्टि में इतिहास के अग्रदूतों द्वारा अग्रदूतों की प्रदान की। उसके अग्रदूतों मैकिवावली ने राज्य के अग्रदूतों निम्नलिखित अग्रदूतों की सामुदायिकता के अग्रदूतों ही अग्रदूतों में, निम्नलिखित राज्य के अग्रदूतों सिद्धान्तों में अग्रदूतों अग्रदूतों में था। बोर्डो ने मैकिवावली के इन अग्रदूतों को प्रदान किया। उसके ऐतिहासिक पद्धति की अग्रदूतों

विकसित और व्यापक रूप से अपनाया । उसने मैकिन्डवली द्वारा प्रभावित नैतात्मिक पद्धति को भी विस्तार से ग्रहण किया । उसने विधि-शास्त्र में सुननात्मक ऐतिहासिक सम्बन्ध की साधुनिक पद्धति का समारम्भ किया । ऐतिहासिक सम्बन्ध में दुःखदात्मक दृष्टिकोण को व्यापक रूप से अपनाये के फलस्वरूप उसके विचार अधिक नैतात्मिक हो गए । मैक्ली के शब्दों में "बोर्दा ने इतिहास के सार्वभौमिक दृष्टिकोण को ग्रहण नहीं किया और न ही ब्रह्माण्ड के परिवर्तन के कारणों तथा उनके नियन्त्रण करने वाली विधियों को ही जानने की चेष्टा की बल्कि उसकी दमि इस बात में अधिक रहो कि इतिहास निरन्तरपूर्वक कैसे लिखा जाए और उसकी व्याख्या बुद्धिपूर्वक कैसे की जाए ?"।

(2) प्रभुसत्ता (Sovereignty)—मैकिन्डवली ने साधुनिक युग का प्रथम विचारक होते हुए भी प्रभुसत्ता पर स्पष्ट रूप से कुछ नहीं लिखा । इनके सम्बद्ध नहीं कि बहु निज राज्य का वर्णन करता है प्रभुता-सम्पन्न है, किन्तु इनके इस प्रभुता का कही भी विवेचन नहीं किया । इसके विपरीत बोर्दा बहु पक्षा विचारक या विमने राज्य का साधुनिक रूप में सैदान्तिक विवेचन करते हुए प्रभुसत्ता पर व्यापक रूप से प्रकाश डाला । उनकी-प्रभुसत्ता सम्बन्धी परिभाषा साधुनिक राजनीतिक विज्ञान की एक नवीन एव मौलिक देन है । प्रभुसत्ता के स्वरूप और कानों का पहली बार कानों ने विस्तृत विवेचन किया । यद्यपि उसकी प्रभुसत्ता अनेक स्थलों पर स्पष्ट और मौलिक है किन्तु इसके विज्ञान की मौलिकता को नहीं इकराया या सकना । बर्ने केरलिन के अनुसार साधुनिक युग में इस शब्द (Sovereignty) का प्रयोग सर्वप्रथम बोर्दा के पुत्र 'Republic' में ही हुआ है । बोर्दा ने प्रभुता-सम्पन्न साधक के गुण बतलाते हुए प्रभुता के स्वरूप भी बताया है । बोर्दा के प्रभुसत्ता सम्बन्धी विचार उन्ने मैकिन्डवली की अपेक्षा अधिक साधुनिक बना देते हैं । प्रभुसत्ता के दृष्टिकोण से ही इसे साधुनिकता का सङ्केत ही माना जाना चाहिए ।

(3) नागरिकता (Citizenship)—मैकिन्डवली नागरिकता पर सम्बद्ध है-जबकि बोर्दा की नागरिकता साधुनिकता के बहुत निकट है । उसके अनुसार राज्य में नागरिकों का विकास होता है और सभी नागरिक एक ही सार्वभौम की धारा का प्रपन करी हैं । बोर्दा के इस विचार ने सम्प्रभुता के प्रति प्रति एव भ्रष्टा के भाव निहित हैं ।

(4) राजनीति और नीतिशास्त्र (Politics and Ethics)—मैकिन्डवली दण्ड-युग का अन्तिम और साधुनिक युग का प्रथम विचारक अधिकारीत, दृष्टान्ति माना जाता है कि उसने ही सर्वप्रथम राजनीति का वैज्ञानिकता के रूपकल्प किया । उसने राज्य की वैज्ञानिकता और चर्च से ऊपर उठकर उसका । मैकिन्डवली ने वैज्ञानिकता की व्यापकता के अधिक चर्चा की और दृष्टान्ति वह कुछ बर्दाश भी हुआ । बोर्दा ने मैकिन्डवली के अन्तिक स्पष्ट एव मौलिक नार्म अपनाया । उसने प्रभुसत्ता के

सिद्धान्त द्वारा राज्य की सर्वोच्चता को वैधानिक रूप से प्रस्तुत किया और साथ ही, राज्य की निरहुताता पर, उसके अनाचारों पर, प्रतिबन्ध लगाने की चेष्टा की।

(5) राज्य (State)—संविधानसभा ने केवल राज्य-संचालन और राज्य-विस्तार के कर्तव्यों का निर्देशन किया, उसने राज्य के भौतिक तत्त्वों और सिद्धान्तों की उपेक्षा की। एवन म्यूरेरब के मतानुसार तो वह राज्य की कल्पना भी ठीक-ठीक कर पाया था वह नहीं यह भी तर्कित है। लेकिन बोर्दा ने राष्ट्र-राज्य की कल्पना को अधिकतम रूप से प्रस्तुत किया। प्राचीन एवं मध्यकालीन सार्वभौम साम्राज्य की कल्पना का अन्त करके राष्ट्रीय राज्य को प्रतिष्ठित करने का ध्येय वास्तव में बोर्दा की ही था। चुरे ने लिखा है, "वह कबसे बोर्दा के सिद्ध ही सुरक्षित था कि वह यह बतलाए कि विभक्त-स्थानी साम्राज्यों के दिन चट्टे, के दोहन हों या बँच, सब अतिक्रमण तब शुरू है। अन्तर्गत राष्ट्रीयता का दिन धारण है। इसके साथ ही अनुसूच का सिद्धान्त बनाने का समय था गया था। बोर्दा ने अपने 'रिक्तिक' में यही कबसे किया है और यही उसकी सबसे स्थाई उपलब्धि है।"¹

(6) भौतिक परिस्थितियों का प्रभाव (Effect of Geographical Conditions)—बोर्दा ही वह प्रथम विचारक या विद्वान राजनीति पर भौतिक परिस्थितियों के प्रभावों का विचार रूप से प्रतिपादन किया। पहले बहुत से लोग और परन्तु न इस विषय का स्पर्शमान किया था। जो, इतिहास की दृष्टि से है कि जलवायु और भौतिक स्थिति के सामाजिक एवं राजनीतिक प्रभाव का बोर्दा का अध्ययन अपने-आप में वैज्ञानिक है और इन क्षेत्र में बोर्दा की विचारना का दावा कर सकता है। संविधानसभा ने इस विषय का कोई वर्णन नहीं किया था।

यह स्पष्ट है कि बोर्दा ने संविधानसभा के सचुरे कार्य को पूरा किया, बीच-बीच में विचलने हुए उसके विचारों को विकसित किया और अपने-आप को न सर्वोच्च नीतिज्ञता का परिचय दिया। यह संविधानसभा की इच्छा यह प्राथमिक था। लेकिन हम यह नहीं भूलना चाहिए कि बोर्दा स्वयं को संविधानसभा के अग्रणी प्रभाव से मुक्त नहीं रख सका, यतः उसके कर्मों में बड़ा विरोधाभास पाया जाता है। इसके विपरीत संविधानसभा ने अन्त-तुल्य से बड़ा पूरी तरह तर्क दिया। बोर्दा न संविधानसभा के 50 वर्ष बाद लिखा, फिर भी इन की संविधानसभा के समान मध्य-दुर्लभ प्रभाव से मुक्त नहीं कर सका। इसी से हम संविधानसभा की इतिहास का अनुमान लगा सकते हैं।

अन्त में बोर्दा के सम्पूर्ण राजदर्शन पर अध्ययन की सम्पत्ति संशोधन के इन तन्त्रों के साथ करना उपयुक्त होगा कि—

"बोर्दा या दार्शनिक विवेक प्रथम बोर्दा का नहीं था। इस दर्शन के दो पक्ष थे—संविधानवाद (Constitutionalism) और केन्द्रीकृत शक्ति (Centralized Power) और बोर्दा इन दोनों पक्षों में उचित समतुल्य स्थापित नहीं कर सका।

बोरो का समुदाय दर्शन प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त पर आधारित था। उसने प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त को एक परम्परा के रूप में ही स्वीकार किया था, उसने विनियमन करने की सोच बनायी थी थी। बोरो का प्रमुखता विषयक सिद्धान्त सीलहूदी मतान्दी के प्रमुखता सम्बन्धी सिद्धान्त में सबसे स्पष्ट था, लेकिन उसका सिद्धान्त हवाई सिद्धान्त है। उसने इस सिद्धान्त को केवल परिभाषा ही थी है, कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया। मुख्यबलित राज्य के आधार क्या हो, राजाओं की सामा-पान का परिणाम होता है, राज्य तथा उसके अटक परिवारों के सम्बन्ध कैसे हो ? वे ऐसे प्रान है जिनके और विनियमन की आवश्यकता है। इस सम्बन्धता में ही ऐसी समझाओ की जगह दिया जिनके समाधान में बोरो के बाद की मतान्दी का राजनीतिक दर्शन तथा रहा। इनमें से एक समानता बर्तक की मतान्दी में प्रमुखता का सिद्धान्त था। इस सिद्धान्त का परिणाम था कि राजनीतिक 'बोरो' और राजनीतिक 'उत्तर' का सम्बन्ध ही राज्य है और अनु का मादेश ही विधि है। इतिहास इस मतान्दी का व्यवस्थित रूप से विचार किया। दूसरी समझा थी, प्राकृतिक विधि सिद्धान्त को प्राकृतिक तथा लौकिक रूप देना जिससे कि यह सम्भव हो की राजनीतिक जाल का केवल मतान्दी आधार नहीं प्रमुख वैदिक आधार प्राप्त किया जा सके। यह समझावन पुनः रूप से सोशियल और लौकिक में किया। इनका समझावन इनका इनका हुआ कि समझाओ और मतान्दी के मतान्दी में यह राजनीतिक सिद्धान्त का नाम वैज्ञानिक हो गया।¹

ह्यूगो ग्रीनियस

(Hugo Grotius, 1583-1645)

जीन बोरो की 1596 ई. में मृत्यु के बाद 1583 ई. में ह्यूगो ने केवल नामक रूपान्तरण पर एक नवीन परिचार में ह्यूगो सोशियल का जन्म हुआ जिसने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के आधार को दुष्टता के प्रतिपादित विचार और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की उस धारणा की जगह दिया जिसके सभी अन्तर्गत राष्ट्र-राज्य संस्था हैं। यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं अन्तर्राष्ट्रीय न्याय-शास्त्र का प्रवर्द्धन बन गया। ह्यूगो सोशियल का विनियमन नाम हूगो-वा-ग्रीन (Hug-Van Groot) था। जॉन वूट परिचार में जन्मा, सोशियल व्यवस्था में ही राजा प्रतिभाशाली और अपने कानिबो के जाल में बंधे गये थे। 8 वर्ष की अवस्था में ही उसके वैदिक पद लीगो का स्थान प्राकृतिक करने लगे। 11 वर्ष की आयु में उसने वैदिक शास्त्र को ही और उत्पत्त्यात् जीवन विनियमशास्त्र में प्रवेश किया। 16 वर्ष की अवस्था में उसने डॉक्टर ऑफ लॉ तथा 1604 ई. में 21 वर्ष की अवस्था में ही एल-एल. बी की उपाधि प्राप्त की। इससे प्रकट है कि यह किशोरा यौवव्यक्ति था। कहा जाता है कि वह स्वयं एक विनियम-व्यवस्था था। डॉक्टर ऑफ लॉ उपाधि प्राप्त करने के बाद ही ह्यूगो सोशियल व्यवस्था करने लगा। उसकी मतान्दी यूरोप के सर्वश्रेष्ठ नवीनो में की जाती

षी। 30 वर्ष की अवस्था में यह रॉटरडम (Rotterdam) का अग्रणी निरुक्त किया गया। इस स्थिति से उसे आर्मिनिजिज्म (Arminianism) तथा गोमार्जिज्म (Gomardism) नामक दो सम्प्रदायों के विवाद में जँप जाना पड़ा। रीकिवस ने नैतिक बल द्वारा विद्रोह को दबाने का प्रयत्न किया। किन्तु चार्ल्स चौथे फ्रांसिस ने गोमार्जिस्टों का पक्ष लेते हुए रीकिवस एवं रीनिजेस नामक एक अन्य राजा को गिरफ्तार करा दिया। रीकिवस पर राजद्रोह का अधिकार लगाकर उसे सार्वजनिक कारावास की सजा दे दी गई तथा रीनिजेस को बाण-दण्ड मिला। रीकिवस अपनी अपनी के साहस एवं चातुर्य के कारण किसी प्रकार जेल से भाग निकला। उसने जीवन के शेष दिन निर्यात के रूप में एकान्त में बड़ी दरिद्रता के कड़े खोर इसी दौरान अपने महान् ग्रन्थ की रचना की जो बाद में 'दि लॉ ऑफ़ वार एण्ड पीस' (The Law of War and Peace) के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

यूरोपीय राजनीतिक परिस्थितियों का उस पर प्रभाव—यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का उसकी रचनाओं और विचारों पर व्यापक प्रभाव पड़ा। वे परिस्थितियाँ बड़ी ही दुःखद थीं। 1599 ई. में स्वेडिश केमूरट मेरियान ने अपने ग्रन्थ 'De Requet Regis Indulgentiae' (राजा और राजा की क्षमा) नामक पुस्तक में यह दावा किया कि प्रकृति अन्याय में निहित होती है और अन्याय को निरनुकूल मानक के विरुद्ध विद्रोह का ही यही बरिष्ठ उद्देश्य होता है भी प्रस्तावित है। इस ग्रन्थ से प्रभावित होकर यूरोप के अनेक राजाओं की हत्या करने के प्रयत्न किए गए। 1605 ई. में हर्मेज्ड ने चार्ल्स पांचवें को हत्या करने के उद्देश्य से इतिहास-प्रसिद्ध गन-पाउडर षड्यन्त्र (Gun Powder Plot) रचा। 1610 ई. में चार्ल्स के हेनरी चतुर्थ की हत्या की गई। रीकिवस पर जनकमारण के इन आरोपों का बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। यह अन्याय के अधिकारों का विरोधी तथा निरनुकूल राजनैतिकता का प्रबल प्रोत्साहन बन गया।

रीकिवस पर राजनीतिक सुझों और प्रभावक प्रकृति का भी बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने देखा कि समस्त यूरोप में अस्थिर और अस्थिरता फैली हुई थी। अत्यधिक राज्य अपनी सीमाओं का विस्तार करने, अपने अधिकारों को बढ़ाने एवं अन्य राज्यों की प्रति के लिए अन्त-युद्ध के तरीकों का प्रयोग करने को तैयार थे। मानक लोग सन्निधौ करते और जोर देते थे। सुझों में अन्तर्गत की जा सकती थी। रीकिवस के जीवनकाल में चार्ल्स ने युद्ध-युद्ध हुए, हर्मेज्ड ने चार्ल्स और राजनीतिक सुझों हुए—जिनमें से एक के परिणामस्वरूप उसका सुखी जीवन खराब हो गया, तथा अन्त में 30 वर्षों युद्ध (1618-1648) बना। रीकिवस के समर्थ में "हमारे ईसाई जगत में युद्ध केवल ऐसे ही सुखी युद्ध की, छोटी-छोटी बातों पर बिना किसी बात के ध्यान के उत्तारों निकाल की जाती थी। एक बार सत्य बल जाने पर देवी एवं मानवीय सभी कानूनों के प्रति साथ सम्मान सम्मान हो जाता था। ऐसा प्रतीत होता था मान्यो उस समय मनुष्य की किसी भी समस्या को हल करने का अधिकार निज होता था।" रीकिवस के चारों ओर एक युद्ध-विमिर लगा हुआ था जिसमें सर्वोच्च अहिंसाई अन्तर्गत एवं छोटे राज्यों की भी जो स्वयं की बड़े राष्ट्रों के सामने थे

बचाने में सक्षमपैदा अनुभव करते थे। घोषियस ने अनुभव किया कि अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के निर्धारण से ही उस पराजित स्थिति का प्रतिकार हो सकता था। अतः अपने 'दी सी पीस वार एण्ड पीस' में राज्य के पारम्परिक सम्बन्धों का निवर्तन करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून की आवश्यकता थी। उन्होंने लिख करने का प्रयास किया कि कुछ-कालान्तर एवं सन्धि-स्थापना के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून सिद्धमान है जिसका सभी राष्ट्रीय द्वारा मानन होना चाहिये। इस प्रकार के विचार प्रकट करने वाला यह प्रथम विचारक नहीं था, कुछ स्पेनिश धर्म-शास्त्रियों ने 16वीं शताब्दी में, मानवीय व्यवस्था के व्यावहारिक प्रयोजन पर विचार करते समय, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर विचार किया था और अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों की प्रकट किया था। इस धर्म-शास्त्रियों व फ्रांसिसो रिबोेरिया एवं फ्रांसिसो मुयारेज के नाम उल्लेखनीय हैं। और भी कुछ कैथोलिक एवं प्रोटेस्टैंट व्याख्यात इस विचार में सहमत थे। लेकिन सार्वजनिक विद्वत्पूर्ण, मुनिविद्वत् एवं उत्तरदायी विचार घोषियस ने ही प्रकट किए। प्राकृतिक कानून के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय स्थापना का बीजा बोधा करने के उसे अपनी मान्य बौद्धिक प्रतिभा एवं मानवतावादी दृष्टिकोण के कारण सबसे अधिक सफलता मिली।

रचसार्थ—घोषियस की विनयानु प्रतिभा ने उसके दिन कर्मों की जगह दिया ने गुणवत्ता कानून-सम्बन्धित हैं। उसके प्रमुख ग्रन्थ से हैं—

1. De Jure Praedea, 1604
2. Mare Liberum, 1609
3. De Jure Bellius Pacis वा The Law of War and Peace, 1625.

प्रथम पुस्तक में घोषियस ने अन्तर्राष्ट्रीय विधियों का विवेचन किया। परन्तु इनमें बहुत सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या और प्राकृतिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय विधियों का पूर्ण विवेचन उसने अपने ग्रन्थ 'दी जुरे बेल्लियस पेसीस' में किया जिसके आधार पर ही उसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून और अन्तर्राष्ट्रीय स्थापना के मसौदा का सम्मान प्राप्त हुआ। अपने ग्रन्थ 'बेल्स लावरेस' में उसने व्यापारिक एवं वाणिज्यिक सम्बन्धों का सुवर्ण किया।

घोषियस ने राष्ट्रीय सम्बन्धों के बाद राजनीति के सिद्धान्त के तीन ग्रन्थ रचिए—

- (1) प्राकृतिक कानून (Jus Naturalae or Natural Law)
- (2) अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Jus Gentium or International Law)
- (3) सार्वभौमिकता (Sovereignty)

योंही इन घोषियस द्वारा प्रतिपादित इन्हीं तीनों सिद्धान्तों पर विचार के विचार करे।

घोषियस के प्राकृतिक कानून सम्बन्धी विचार (Grotius on Natural Law)

अनुभव की भाँति घोषियस ने मानव को एक सामाजिक प्राणी माना और अन्तः ही कहा करता है उसने के लिए कानून की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया।

उसने दोनों का बोली-सामन का सामन बनावाते हुए कहा कि एक के बिना दूसरा जीवित नहीं रह सकता । साथ ही उसने सामन को लक्ष्मण बुद्धिमान शायी करने हुए मानव-समाज को मानव-बुद्धि की उत्पत्ति और धर्म-व्यवस्था बतलावाते-तथा बहु-सर्क देश किया कि जब समाज सर्क और बुद्धि का परिणाम है तो स्वभावतः कानून भी बुद्धि से ही प्रसुर्भूत होती है । जहाँ भी सामाजिक जीवन है वहाँ बुद्धि एवं बुद्धि पर आधारित कानून का अस्तित्व होना स्वाभाविक है । चूँकि शीशियस एक विगतमनोव्यक्ति था, मतः उसने अपने विचारों में प्राकृतिक कानूनों को सर्वोपेक्ष समान प्रदान किया । वह प्राकृतिक विधि की ओर क्यों उन्मुख हुआ ? इसे बतलाते हुए वेसाइन ने कहा है कि—

“सबसे प्रारम्भिक में वह एक मानी हुई बात थी कि वह एक मूल विधि यथवा प्राकृतिक विधि की दुहाई देता । वह विधि प्रत्येक राष्ट्र की विभिन्न विधि के मूल में विद्यमान है । अपनी धर्मनिहित व्यवस्था मानवता के कारण वह समस्त प्रजापनों की ओर मानवों के ऊपर समान रूप से लागू होती है । ईसाई राजनीतिक चिन्तन की प्रमुख परम्परा में इस विधि के बोधित्व को किसी ने सर्वोच्चार नहीं दिया था, किसी ने उन पर कबहुँ तक नहीं किया था । शीशियस के लिए वह आवश्यक नहीं था कि वह इसके बोधित्व पर आर देता । लेकिन जब ईसाइयों की एकता टूट चुकी थी और ईसाई धर्म की गता का भी पतन हो गया था । इसलिए शीशियस के लिए उसके आधारों की पुनर्परीक्षा आवश्यक हो गई थी । जब धर्म की गता, सर्वोच्चार की गता यथवा धर्म-वा शायेक एक ऐसी विधि की स्वीकार नहीं बन सकता था जो शीशियस और शीशियस, ईसाई और ईसाई-धर्म के ऊपर समान रूप से बतलावारी होता । मानववर्गीय तत्त्वों की अपनी गुरुत्वबुद्धि के कारण शीशियस के लिए वह स्वाभाविक था कि वह प्राकृतिक विधि की उन परम्परा की ओर वृत्ता जो ईसा के भी पहले की थी और उनके बारे में उनके आध्यात्मिक के विचारों की रचनाओं में अपनी जानकारी मिली थी । परन्तु, उनके प्राकृतिक विधि के आधारों की परीक्षा शीशियस के एक सर्वोच्चार प्रत्येक कानूनकारीय (Carnades) के साथ बाद-विचार के रूप में थी । शीशियस ने पुनः शीशियस (Cicero) भी उद्धृत कर चुका था ।”

जहाँ मुखारेण एक साथ अनेक विचार प्राकृतिक कानून को ईसाईय कानून मानते थे, वहाँ शीशियस ने इसे विवेक की धर्मव्यवस्था समझा है । उसने बतलाया कि प्राकृतिक विधि की मानव-विवेक के साथ एकत्वकता होती है । समस्त विवेक का समावेश ही प्राकृतिक विधि है । विवेक-बुद्धि स्वभाव के अनुसार ही प्राकृतिक विधि होती है । कोई कार्य बुद्धि-समक, विवेक के अनुसार है या नहीं है; उसके अन्दर नैतिक प्रत्येकता है या नैतिक उन्मत्ता इसी आधार पर प्रकृति का स्वामी किसी कार्य को स्वीकार या सर्वोच्चार करता है ।

बोवियस के लिए ईश्वर का निर्देश सहस्रवर्णी है किन्तु ईश्वर न होता, उस भी प्राकृतिक विधि का वही भस्म होता। "ईश्वर अपनी मनमानी से प्राकृतिक विधि को नहीं बदल सकता। इसका कारण यह है कि ईश्वर की कल्पि कल्पी ऐसी प्रभावशाली की नहीं सिद्ध नहीं करेगी, जो बनस हो। उस तरह की कल्पि, कल्पि न रह कर दुर्बलता हो जाएगी।" स्वयं बोवियस के शब्दों में, "जिसे प्रकार ईश्वर यह नहीं कह सकता कि वो मोर को मिलाकर चार हों, उसी प्रकार ईश्वर यह नहीं कह सकता कि वो चीज बनस है, उसे यह बनस न करे।"

स्पष्ट है कि बोवियस के अनुसार प्राकृतिक विधि अपरिवर्तनीय है। इसमें स्वयं भ्रमचान भी कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। प्राकृतिक नियम ईश्वरीय नियम से किसी भी दशा में हीन नहीं है और काम ही ईश्वरीय नियम प्रकृति के कानून को विवेक-सम्मत समझने एवं उसे ईश्वरीय-वाक्य से भ्रमचान रखने में बोवियस ने सारा दृष्टि एवरीयास का अनुसरण न करके स्टीडकस (Steads) तथा सिचोरी की परम्परा का निर्वाह किया है।

विवेक-सम्मत होने के कारण प्रकृति का कानून विज्ञान व्यापक है। यह समस्त मनुष्यो एवं पशुओं पर समान रूप से लागू होता है। एक व्यवस्था-सम्मत समाज बनाए रखने के लिए जरूरी है कि मानव प्रकृति की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए कुछ मूलतः बातों को कार्यान्वित किया जाए। इनमें मुख्य बातें हैं—सम्पत्ति की सुरक्षा, सम्पत्ति, मालवपूर्णी व्यवहार आदि। ये सब न ही मनुष्य की ऐच्छिक परम्परा है और न कर्तव्य की दृष्टि ही। मनुस्मिति इसके विपरीत है, पशु और कर्तव्य विधि की आवश्यकताओं का अनुसरण करती है। मतलब: "हमारे पास और कोई मनुष्य नहीं था न होनी, इस तरह कोई ध्यान दिए बिना ही मानव-प्रकृति ही कुछ इस प्रकार की है कि समाज के पारस्परिक सम्बन्धों का निर्माण हो जाता है। मनुष्य की यह प्रकृति ही विधि की बननी है।"

बोवियस प्राकृतिक विधि में उपयोगिता का बड़ा ध्यान पाता है। यह उपयोगिता विभिन्न राष्ट्रों के लिए विभिन्न प्रकार की हो सकती है। जिस तरह मनुष्य व्यक्ति ईमानदारी को एक नीति के रूप में ग्रहण करते हैं उसी तरह राष्ट्र भी यह विचार प्रवृत्ति करते हैं कि प्राकृतिक विधि की उपयोगिता न करना स्वयं उनके लिए हितकारी है, क्योंकि इस विधि का अधिक उत्पन्न करने वाला राष्ट्र शीघ्र ही दुम्प्रात होकर दूसरे राष्ट्रों का विजय को बँडेगा। कर्तव्य-सम्मत राज्य भी दूसरी के साथ समझौते करते हैं। यदि वे प्राकृतिक कानून के अनुसार व्यवहार नहीं करने तो मनुष्य-प्रकृति की सीमाओं का कोई ध्यान नहीं रहेगा। अन्तराष्ट्रीय विधि पाठकों के मध्य दृष्टि-मनस एवं विवेकपूर्ण व्यवहार पर निर्भर है।

मानव में बोवियस द्वारा स्थापित राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों को विनियमित करने के लिए प्राकृतिक कानून को ही एक मनीष एव सर्व-निर्देशक मान्यता के रूप में प्रस्तुत किया गया है, उसका बड़ा महत्त्व है। बोवियस के समय की पराकर्मालपूर्ण विधि का ध्यान करने के लिए प्राकृतिक कानून की इस पारलाना

ने इसने महान् योग दिया। प्राकृतिक विधि ने ही माने चलकर राज्यों की सकारात्मक विधि (Positive Law) को जन्म दिया जिसका आधार यह है कि मनुष्य अपने सामाजिक शक्तियों को समझते रहें और कठिनों की प्राणपण से रक्षा करें। प्राकृतिक विधि ने विधि और राजनीति में बादलों का कूट दिया।

छूटो गोटिमर ने यह भी कहा था कि प्राकृतिक विचारों की तीन प्रकार जाना जा सकता है। इसके निम्नलिखित तीन नियम हैं—

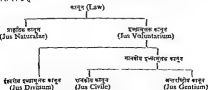
(1) प्राकृतिक नियम सामान्य व्यक्ति के व्यवहार के द्वारा दृष्टि की विधि होता है।

(2) बड़े-बड़े विद्वानों के मतभेदों के सामान्य समझने के द्वारा गहरों के समझ जाते हैं।

(3) श्रेष्ठ दृष्टियों के कामें प्रकृति के नियमों का सर्वश्रेष्ठ व्यक्तिकरण कर सकते हैं।

विधियों का वर्गीकरण (Classification of Law)—छूटो गोटिमर ने दो प्रकार के प्राकृतिक कानून माने हैं—(क) राजनीतिक समाज के पूर्व प्रकृति की सार्वभौमिकता का निरुद्ध प्राकृतिक कानून (Pure Law of Nature), एवं (ख) समाज के निर्माण के बाद एवं राजनीतिक कानून बनने से पहले के प्राकृतिक कानून।

गोटिमर ने कानून की दो भागों में बांटा है—(1) प्राकृतिक कानून, और (2) दण्डा-वृत्तक कानून। प्राकृतिक कानून बुद्धि पर आधारित है। इसके सार्वभौमिक रूप सभी प्रकार के कानून दण्डा (Violation) पर आधारित है। वे दण्डावृत्तक कानून (Jus Voluntarium or Volitional Law) भी तीन भागों में विभक्त हैं—(i) देवी या ईश्वरीय कानून, (ii) राजकीय कानून, एवं (iii) राष्ट्रीय के समस्त अन्तराष्ट्रीय कानून। गोटिमर का यह विभाजन निम्न लिखित शब्दों द्वारा स्पष्ट है—



गोटिमर का अन्तराष्ट्रीय कानून सामान्य विचार (Grotius on International Law)

गोटिमर ने अपने ग्रन्थ 'दी रीज ऑफ़ द रीज ऑफ़ द रीज' में अन्तराष्ट्रीय विधि का ध्यान कर अन्तर्लोक और बाह्य समाज की बहुत बड़ी सेवा की। इसमें "वे

समस्त व्यवहार सम्मिलित हैं जिनका शासन सम्य राष्ट्र एक दूसरे के साथ बर्ताव करने से करते हैं। उनका मूल मान्य की स्वतन्त्र दृष्टि है। सार्वभौम के सिद्धान्तों से वे तर्क द्वारा उनसे निगमित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार वे कानून ऐच्छिक होते हैं, यर्नाद से स्वतन्त्र दृष्टि की अधिकार्यता होते हैं, निरंक की नहीं।¹ जर्मन के हस्तों से, "इनका तत्त्व यह है जिते सभी व्यवसायके राष्ट्रों ने मान्य होना स्वीकार कर लिया है। इसकी शायदी से उन बातों को सम्मिलित किया गया है जो निरन्तर प्रयोग एवं विद्वानों के साध्य द्वारा प्रमाश्रित हुई हैं। ऐसे नियमों का उद्देश्य समस्त व्यवसायके राष्ट्रों के समूह का कल्याण है—यह ठीक वैसे ही है वैसे कि नागरिक विधि का उद्देश्य उस समूह का कल्याण होता है जो अनेक स्थितियों से मिलकर बनता है।"² स्पष्ट है कि सोशियस ने मन्दरीष्ट्रीय कानून (Jus Gentium) को ऐच्छिक या दृष्टि-मूलक कानून माना है जिससे सम्मिलित निर्य जाने वाले नियम दो प्रकार के हैं—(i) निरन्तर चली आने वाली प्रथाओं से प्रमाश्रित और पुष्ट होने वाले नियम, एवं (ii) विद्वानों की शायदी से प्रमाश्रित होने वाले नियम। इस प्रकार के नियमों को बनाने का उद्देश्य समस्त व्यवसाय अधिकारी राष्ट्रों की कल्याण-कामना है।

मन्दरीष्ट्रीय कानून मानवकतानुसार बदलते रहते हैं। प्राकृतिक और मन्दरीष्ट्रीय दोनों ही कानूनों का शासन सामाजिक जीवन के लिए किया जाता है। मन्दरीष्ट्रीय कानून राज्यो की सहचलि पर आधारित है। इनके राष्ट्रों के सार्वभौमिक व्यवहार का नियमन होता है। प्राकृतिक कानून वह आधार देता है जिससे अनुकूल मन्दरीष्ट्रीय आधारित निर्मित होता है। मनुष्य प्रकृति के ही सामाजिक है और उसके धर्मार्थ मूलिकता का सम्बन्ध है यतः मान्य की वह प्रकृति मन्दरीष्ट्रीय कानून का आधार है। यद्यपि मन्दरीष्ट्रीय कानून का नियमन प्राकृतिक कानून के नहीं होता, फिर भी प्राकृतिक कानून का और उसके दून विद्वानों का उत्पन्न नहीं किया जाता चाहिए। प्राकृतिक विधि की अधिक उपेक्षा करने से राष्ट्रों का अधिक ही होता। इस विधि का उत्पन्न करने वाला राष्ट्र बीदा ही कुख्यात होकर दूसरे राष्ट्रों का निन्दास को बेंडेता। अर्थ-सम्पन्न राज्य भी दूसरों के राज्य समिपता करते हैं। यदि वे प्राकृतिक कानून के अनुसार व्यवहार नहीं करने तो मन्दरीष्ट्रीय समिपता का कोई दूसर नहीं रहेता। यतः स्पष्ट है कि मन्दरीष्ट्रीय विधियों को प्राकृतिक कानून के अनुकूल ही बनना चाहिए, उस पर महाप्रभाव आधारित होना चाहिए और उसके दूर नहीं भावना चाहिए। राज्यो को अपने अपने का सदाचार के पालन करना चाहिए। मानव-अधिकारों की रक्षा के लिए मानवीय आधार पर राष्ट्रों को हस्तक्षेप करना चाहिए। मन्दरीष्ट्रीय सहयोग की प्रार्थ के लिए समरसियों का हस्ताक्षर करना चाहिए और मन्दरीष्ट्रीय क्षेत्र में मानवता सम्बन्धी स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

1. Dugess : History of Political Theories, Vol. II, p. 174.

सोशियल ने सार्वभौमिक विधियों के सम्बन्ध में न्याय-युद्ध के लक्षण और कारण एवं युद्ध-न्यायन के तरीकों का ही विवेचन नहीं किया बल्कि जन-जन पर युद्ध के प्रभाव, प्रसार के अधिकार, अन्तः जातियों के साम्य जातियों के सम्बन्ध, सार्वजनिक शांति पर भी विचार प्रकट किए ।

सोशियलिज्म है कि सार्वभौमिक विधि के लिए 'जस ग्रेसियम' (Jus Gentium) शब्द प्रयुक्त हुआ है । वास्तव में इस शब्द का प्रयोग उन विधियों एवं कानूनों के लिए किया जाता था जो रोमन लोगों एवं विदेशियों पर सामान्य रूप से लागू किए जाते थे । लेकिन 16वीं सताब्दी में सुप्रसिद्ध एवं ज्यूरिडिकल जेम्स हेक्सले के प्रभाव से इस शब्द का अधिकार उन रीतियों एवं परम्पराओं से लिया जाने लगा जिनसे विभिन्न राष्ट्रों के मध्य सार्वजनिक विनिर्दिष्ट होता था । यही कारण था कि सोशियल ने भी जस ग्रेसियम का समर्थन उन विधियों एवं परम्पराओं से लिया जो समस्त प्रथम अधिकृत राष्ट्रों के लिए सामान्य थी और जिनसे उनके वास्तविक सम्बन्ध का निर्धारण होता था। सोशियल के लोगों में वास्तव जस ग्रेसियम 'सार्वभौमिक कानून के उद्भव' बन गया । बरतुत सोशियल ही यह प्रथम विचारक था जिसने सार्वभौमिक विधि का बड़ा सूत्र, नमक, सिद्धांत और वास्तविक विवेचन किया । इसीलिए मैकली ने लिखा है कि "सोशियल को सार्वभौमिक विधि का जन्म कहा जाने लगा है ।"¹

सोशियल के प्रभुता-सम्बन्धी विचार (Grotius on Sovereignty)

सोशियल को सम्भवतः राज्य की सम्प्रभुता में सूत्र, कोई दधि नहीं थी, किन्तु सत्ताधीन परिस्थिति जन्मित प्रश्नों में उसे दमक प्रकटित कर दिया । सोशियल ने यह समझ लिया था कि युद्ध जीवन का एक अनिवार्य तत्व है, जिस पर नियन्त्रण रखा जा सकता है किन्तु जिससे नर्तक बचा नहीं जा सकता । अतः अपने युद्धों को युद्ध प्रथाओं में प्राकृतिक कानून के आधार पर उचित एवं न्यायपूर्ण रहाने का प्रयत्न किया । उसने यह विचार रखा कि प्रत्येक राज्य के कुछ प्राकृतिक अधिकार होते हैं जिनकी रक्षा की जानी चाहिए । यदि कोई राज्य दूसरे राज्य के प्राकृतिक अधिकार पर आक्रमण करता है तो रक्षा के लिए युद्ध करना अनिवार्य नहीं है । महाद्वन्द्वीय राज्य का यह प्राकृतिक अधिकार है कि वह अपने क्षेत्र के निवासियों का निवेक्षण करे । यदि कोई राज्य इन कर्तव्यों में बाधा डाले तो यह अनिवार्य कार्य है जिसके विरुद्ध मान-बहुल करना पुरोक्त विधि-सम्मत होता । सोशियल के मन के शब्दों में, "युद्ध का जीवन की रक्षा करना और जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं की रक्षा और प्राप्ति है । युद्ध प्रकृति के इस प्रथम सिद्धान्तों के अनुकूल है । यदि इन शर्तों की प्राप्ति के लिए बलि का प्रयोग आवश्यक हो जाए तो इसके प्रकृति के प्रथम सिद्धान्तों की कोई धन्यता नहीं होती क्योंकि प्रकृति ने प्रत्येक प्राणी को प्रथम-रक्षा एवं स्वयं की सुरक्षा के लिए कर्तव्य

कति प्रशंसनीय है। “इसके प्रतिरिक्त सर्वविध और समाज व स्वभाव कति के समाज प्रयोग का निषेध नहीं करते बल्कि केवल उस कति-प्रयोग से इनकार करते हैं जो समाज के प्रतिशूल हो।”

बोवियस के इन विचारों से कुछ प्रश्न उत्पन्न होते हैं। प्रथम, इस बात का निर्णय कौन करेगा कि कति-प्रयोग समाज के अनुकूल है या नहीं? द्वितीय, राष्ट्रीय स्तर पर कुछ एव कति के प्रयोग के निर्णय करने का कितने अधिकार हैं? इसी प्रकार के प्रश्न प्रश्नों ने बोवियस को विवश कर दिया कि वह कति-प्रयोग करने की अधिकारी एकमात्र सामाजिक कति की व्यवस्था करे और उसका स्वयं नियंत्रण करे। इस प्रश्न ने ही बोवियस राज्य के प्रमुखता के सिद्धान्त की ओर अनुवृत्त हुआ। उसने यह मत प्रकट किया कि राज्य के प्रमुखताकारी अधिकार के अन्तर्गत लगे जाने वाले और कुछ निश्चित नियमों के अनुसार व्यवस्थित होने वाले कुछ ही विधि विहित हो सकते हैं।

बोवियस ने प्रमुखता को राज्य का स्वरूप करने वाली “सर्वोच्च राजनीतिक कति” बताया। उसने कहा कि “प्रमुख कति उसमें ही निहित है जिसके कार्यों पर न ही किसी दूसरी शक्त का नियन्त्रण है और न ही किसी इच्छा का कोई और विरोध ही कर सके। राज्य के स्वरूप करने की यह नीति प्रकट है।”

स्पष्ट है कि बोवियस ने प्रमुखता सम्बन्धी धारणा का निम्न प्राकृतिक नियमो-प्रारम्भिक सम्बन्धी एव प्रारम्भिक अनुमती के अन्तर्गत कर दिया है। बोवियस की प्रमुखता प्राकृतिक कानून के अन्तर्गत एक सीमित अधिकार है। वस्तु यह कि किसी अन्य अधिकार द्वारा निर्धारित नहीं की जाती। समाज की प्राकृतिक कानून, सर्वप्रथम एव राष्ट्रीय कानून की मान्यता बाह्य वस्तु यह कि किसी मानवीय कानून से सीमित नहीं है। बोवियस प्रमुखता की अधिकारत भू-सम्पत्ति के समान एक अधिकार समझता है। प्रमुखता का स्वयं अधिकार इस प्रकार समझ लें कि यह अधिकार रखता है। अनेक बार उसे भू-सम्पत्ति के अधिकारों की भाँति कुछ सामाजिक शक्ति होता है। अतः प्रमुखता स्वयं-प्रमुखता कुछ से अलग हुए की विहित अन्तर्गत वस्तु अधिकार होता है। कभी कुछ निश्चित अवधि के लिए सर्वोच्च शक्ति रखी जाती है। अतः प्रमुखता केवल प्रमुखता के अन्तर्गत की कार्य-विधि के लिए ही सर्वोच्च शक्ति रखती है। बोवियस की दृष्टि में यह शक्ति सभी सामाजिक है जब प्रजा प्रजा ईश्वर के प्रति कृतज्ञता करने के लिए प्रकट किया जाय। बोवियस के अनुसार सर्वोच्च अधिकार एक होवे हुए भी राज्य एव प्रजा के विभक्त हो सकती है। इस प्रकार बोर्दा के सर्वप्रथम विरोध बोवियस एक विभाजित एव सीमित प्रमुखता की सम्भावना की स्वीकार करता है। यह प्रजा की प्रमुखता पर प्रारम्भिक सम्बन्धी, प्रारम्भिक कानून की ओर प्राकृतिक कानून की सीमा बताया है। इस तरह वह प्रारम्भिक प्रमुखता के विचार का प्रतिपादन करता है। अतः राज्य की ऐच्छता से प्रारम्भिक कानूनों का अन्तर्गत करते हुए प्रारम्भिक समाज की प्रमुखता मान्यता बाह्य।

सम्यक्ता की पक्षी करते हुए रोमिपल ने राज्य की उत्पत्ति पर भी विचार प्रकट किए हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने दो विरोधी सिद्धान्तों का सम्मिश्रण किया है। प्रथम तो वह यह मानता है कि मनुष्य स्वाभाविक रूप से सामाजिक है और अपनी प्राथमिक प्रवृत्ति द्वारा समाज का निर्माण करता है। दूसरे सिद्धान्त के अनुसार रोमिपल राज्य की उत्पत्ति की सम्बन्धित सम्बन्धी कारणों का अनुमान करता है। उसके अनुसार "सामान्य में मनुष्यों ने ईश्वर की आज्ञा से नहीं, बल्कि अपनी इच्छा से यह अनुभव करने के बाद राजनीतिक समाज का संचालन किया कि वे दृष्ट-दृष्ट पद्धतियों में रहते हुए हिंसा से अपनी रक्षा नहीं कर सकते। इसी से शासन-शक्ति का आविर्भाव हुआ।"¹ यहाँ समाज का प्रथम अनुसृत, मानव-समाज है तथा राज्य इस मानव-समाज के कुछ व्यक्तियों द्वारा बनाया गया राजनीतिक संचालन है। रोमिपल का सम्बन्ध: यह विचार है कि राज्य की संचालन के पूर्व प्राकृतिक दशा में विस्तृत प्राकृतिक कानून का शासन या और प्रत्येक व्यक्ति अपने इस अधिकार की रक्षा के लिए प्रतिरोध करता था। अतः राज्य के सम्बन्धित शक्ति और व्यवस्था के लिए जब राज्य का निर्माण हुआ तो प्रतिरोध (Resistance) का यह अधिकार सर्वोच्च स्तर पर की गति गया। अब राज्य में सर्वोच्च शासन के विरुद्ध किसी की प्रतिरोध नहीं रहा क्योंकि समाज का निर्माण करते समय सभी ने स्वेच्छा से अपने अधिकार सर्वोच्च शासन प्रभु की शक्ति दिए। रोमिपल प्रभुता की इसी सम्बन्धित राजनीतिक शक्ति के सदनुसृत मानता है जिसका प्रयोग किसी व्यक्ति के विरुद्ध में नहीं है।

रोमिपल जनता की प्रभुता (Popular Sovereignty) का और विरोधी है। जनता एक बार स्वेच्छा से अपनी शासन-शक्तियों चुनने की अधिकारिणी है, वह बाद में शासन पर जहाँ कोई विरोध नहीं रहता। तब जनता पूर्ण रूप से अपने प्रभु के अधीन हो जाती है और प्रभुता की प्रभु के अधिकार नहीं दिया जा सकता। फिर जनता शासन-शक्ति के विरुद्ध कोई विद्रोह नहीं कर सकती। रोमिपल प्रभुता और जनता के द्विती के बीच कोई प्राथमिक सम्बन्ध नहीं मानता। प्रभु की इच्छा सर्वोच्च है। यदि प्रभु अपनी प्रजा की राजनीतिक स्वतन्त्रता से वंचित भी कर देता है तो भी उसके विरुद्ध कोई विद्रोह अनुचित है। शासन की प्रभुता द्वारा स्थापित करने के बाद प्रजा स्थायी रूप से उसके अधीन हो जाती है। राजा के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह प्रजा-हित की दृष्टि से ही शासन करे। उसे प्रजा पर रखा ही अधिकार प्राप्त हो जाता है। प्रजा व्यक्ति का अपनी निजी सम्पत्ति पर होता है। राजा की व्यक्तिगत सम्पत्ति की शक्ति ही प्रभुता के विरुद्ध, राज प्रजा विरुद्ध की दुबरी को दे जाने का अधिकार है।

रोमिपल के इस सिद्धान्त से स्पष्ट हो जाता की निरन्तर अधिकार शक्ति का प्रयोग होता है। उसका सम्बन्ध नहीं है कि प्रजा की राजा का प्रतिरोध करने का अधिकार नहीं है। उसे राजा के प्रजा-भाषी की मौन होकर रह लेना चाहिए। यदि

राजा के मामले ईसायीय व्यवस्था प्राकृतिक नियमों को व्यव करने वाले हो तो प्रजा की इन मांगों का पालन नहीं करता चाहिए, फिर कुछ ही दिनों ही नष्ट करवा चाहिए। इस स्थिति में प्रजा का कार्यन्वय नहीं है कि वह राजा मन के दुष्प्रवृत्तियों की अनुश्रवण करे। ग्रीसियस राजा की मानवीय इच्छाओं एवं राजकीय कानूनों के सम्बन्ध स्थापन एवं पुनः मानता है। वह राजा पर प्राकृतिक कानून, ईसायीय कानून, नैतिक कानून एवं अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सीमाएँ हो स्वीकार करता है। उसके अनुसार इन कानूनों की व्यवस्था का पालन होना चाहिए।

ग्रीसियस के उत्प्रेरक विचारों का दूरगामी प्रभाव हुआ।- लगभग 100 वर्ष तक यूरोप में राजाओं की निरंकुश राज्यसत्ता का प्रबल सम्बर्धन बना रहा। पर राजा ही उसके कमजोरी विद्वान्त के कारण निरंकुश राज्यसत्ता के विरोधियों के द्वारा भी मजबूत हुए। ग्रीस के सम्बन्ध में, "सब एक और जहाँ प्रोचियस के ग्रन्थ ने निरंकुश राज्यसत्ता के पक्ष की प्रोत्साहित किया, वहाँ दूसरी ओर इसने सीनिय (थीस) वाचन के कलनाटिस्टों की भी प्रवृत्तता एवं मान्यता प्रदान की।"¹

ग्रीसियस की रचना और उसका महत्त्व

(Contribution and Importance of Grotius)

ग्रीसियस की सबसे बड़ी रचना अन्तर्राष्ट्रीय विधि का प्रतिपादन करते राज्यों के एक दूसरे के प्रति अधिकारों, कर्तव्यों एवं सम्बन्धों पर समुचित प्रभाव डालना है। इसीलिए वह 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून का जनक' कहा जाता है। पर इस क्षेत्र में बकरी नीतिक देन नहीं है। उसकी येन बड़ी है कि उसने "प्रत्येक पीढ़ी के व्यापारियों एवं बर्नशास्त्रियों, व्यापारशास्त्रियों एवं दार्शनिकों, कवियों एवं इतिहासकारों के परिधन के परिणामों की समीक्षा किया। उसका ग्रन्थ 'जो सौक बार एक पीढ़ी' दुष्प्रती प्रवृत्तियों की बुद्धि का तार का धीरे वह उसे पुनर्निर्माण एवं 'कुमार कुन' के समार की प्रभुत्वपूर्ण स्थितियों पर लागू करता था। जो ब्रह्म की सौंदर्य दार्शनिक, योग्य व्यापारिता, कर्तव्यशास्त्रिक बर्नशास्त्रियों तथा वैदुष्य लोक प्राकृतिक कानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध में मिल चुके थे, उन सबका समुच्चय इसमें मिलता था और इन सबके समन्वय से वह अन्तर्राष्ट्रीय नीतिकता तथा परम्पराओं के लिए एक अत्यन्त मूल्यवान् भवन के लिए एक ठोस आधार तैयार करता था।" वाचन के प्रोचियस का महत्त्व इस बात में है कि उसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की एक नवीन व्यवस्था प्रदान की। वह इस क्षेत्र में स्पष्टता और निश्चितता लाया। ग्रीस के अनुसार, "राजनीति विज्ञान की प्रोचियस की महत्त्वपूर्ण निश्चित देन यह है कि उसने दार्शनिकों और कर्तव्यों की एक ऐसी व्यवस्था प्रस्तुत की जिसे राज्यों के सामयिक सम्बन्धों में लागू किया जा सकता था।" ग्रीसियस के साधनपूर्ण सम्बन्धी विचार हूम्स के चरित्रों के लिए हुए किने व्यापार पर उसने वैशिष्ट्यपूर्ण (Lectures) का लेख निश्चित किया। ग्रीसियस ने सर्वप्रथम राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामाजिक अनुसन्ध के विद्वान्त की नींव डाली। उसने उसके विचार सम्बन्ध एवं दार्शनिकों ने लेकिन उनसे भारी अनुसन्धवादियों के लिए सदैव प्रभाव मिल गया।

13

सामाजिक अनुबन्ध का युग : हॉब्स

(Age of Social Contract : Hobbes)

अनुबन्धवादी विचारकों ने हॉब्स, मॉक तथा क्टी के नाम एक साथ बने हैं, भले ही उनमें व्यापक फरक रहा हो। राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनुबन्धवादी सिद्धान्त की प्रथमता 17वीं और 18वीं सताब्दी के रही। राज्य के सम्बन्धित सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर किसी न किसी प्रकार का कोई प्रत्यक्ष व्यवस्था समझी जा रही है, यह बात टॉमस हॉब्स ने पहले मानी जाती रही है। जातीय युद्धों ने इसका समर्थन सबसे पहले सोशलिस्ट विचारकों ने किया था। उनका कहना था कि राज्य एक कृत्रिम वस्तु है और यह समझी जा रहा है। सोशलिस्ट विचारकों के विपरीत महान् कार्वनिज पीटो एवं बरतनू ने राज्य की एक स्वाभाविक वस्तु स्वीकार किया। एनीस्कोरियन विचारकों ने यह मत बतलाना दिया कि अनुबन्ध के सामाजिक एवं वैधिक या कानूनी सम्बन्धों के मूल में परस्पर सम्बन्धित स्वार्थ होते हैं और स्वयं अपने पारस्परिक लाभ को प्राप्त करने के लिए ही राज्य की स्थापना की जाती है। रोमन विचारकों ने भी जगता की राज्य-सम्बन्धों का अध्ययन किया। मध्ययुग में भी इस सिद्धान्त को स्वीकार किया गया। 16वीं सताब्दी के फ्रांसीसी विचारक प्रसन्न किया कि राज्य राज्यवाद पर राज्य के सम्बन्धों के बंधन हुआ जाता है और यदि प्रजा न पाई तो उसे अपने पद से हट जाना चाहिए। 17वीं सताब्दी के एंग्लो-नॉर्थ के भी इस मत का समर्थन किया और फ्रांसीसी राज्य 16वीं और 17वीं सताब्दी के इस विचार की समर्थन प्राप्त हुआ। हॉब्स के विचारों के बाद ने की मत प्रतिपादित किया कि अनुबन्ध की प्राकृतिक व्यवस्था अत्यन्त और सम्पूर्णतः ही अत्यन्त दुर्लभता होने के लिए अपने सम्बन्धों द्वारा राज्य का निर्माण किया। सोशलिस्ट ने अपनी कृति 'On the Laws of War and Peace' में बताया कि राज्य का रूप एक सम्बन्धों का परिणाम है। जॉन मिल्टन ने राज्य उत्पत्ति का मूल जन समर्थन की माना और जर्मनी के हेम्मुथस थ्यूकेन्डाई ने यह विचार बतलाना दिया कि अपनी व्यवस्था और अन्तर्गत प्राकृतिक व्यवस्था से उत्पन्न होने के लिए अपना ने सम्बन्धों द्वारा राज्य का निर्माण किया। एनीस्कोरिया के भी इसी प्रकार का मत व्यक्त किया। इस प्रकार राज्य के सम्बन्धों में अनुबन्धवादी सिद्धान्त

सामर्थ्यों तक संन्यत पाठा पढ़ा, तथापि पूर्वानुभवविषयक डंग से इस सिद्धान्त का प्रतिपादन होम्स, जोर एवं कड़ी ने ही किया और उनमें भी हॉम्स का नाम प्रमुखीय है।

हॉम्स : जीवन भरित, कृतिर्पा एवं पद्धति
(Hobbes : Life, Works & Method)

हॉम्स हॉम्स बहुधा सांसारिक या विद्वाने सांसारिक चिन्तन में निर्दोषतावाद एवं चर्मे-निस्पेक्षतावाद के लिए एक वैज्ञानिक साधार बनाया तथा भौतिक विज्ञानों में प्रयुक्त होने वाली पद्धति को सर्वत्र और सांसारिक चिन्तन का साधार लेकर सांसारिकी की विज्ञान का स्वरूप दिया। वैज्ञानिक चिन्तन-प्रणाली, ऐतिहासिक एवं भौतिकवादी मनोशा, सर्व-विद्व व्याख्या, सुविशेष तर्की एवं विचारोत्तेजक लेख-ये सब हॉम्स ही की देन हैं।

हॉम्स का जन्म 5 अप्रैल, 1588 ई. को इंग्लैण्ड के विलियम स्ट वर सिविल मास्टररी (Malmesbury) नामक नगर में हुआ था। पहले बारबकाल के ही यह सम्भवशील एवं अनुशासित स्वभाव का, किन्तु अरशीक था। कुछ और प्रशस्ति से भरा जाने वाला हॉम्स यह-पुत्र के समय इंग्लैण्ड से भाग कर और बना बना जहाँ उन्ने पार्स द्वितीय का विधायक बनने का प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। हॉम्स ने राजव्यवस्था, समाजशास्त्र, नैतिक, दर्शनशास्त्र आदि का गहन अध्ययन किया। और में उसने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'लेविथान' (Leviathan) लिखा जो वर्ष 1651 में प्रकाशित हुआ। इसमें हॉम्स ने राजा के निरंकुश राजतन्त्र की स्वाधीनता अद्वैतों के लिए सांसारिक समझौते सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, किन्तु उसके इस प्रयास से दरबारीगण एवं अनेक राजकाज उसके विरोधी हो गए, यथा: उसे पुनः इंग्लैण्ड भाग जाना पड़ा। 1660 में जब इंग्लैण्ड में पुनः राजतन्त्र की स्थापना हुई तो हॉम्स के विचारों का राजदरबार में स्थापन हुआ। लेकिन दोन वर्षों जीवनकाल में अधिक समय सम्मानित न यह सका। उसके ऊपर राजनीतिक कार्यवाही के सम्बन्ध में अधिकतर सजा दिया गया यथा: वर्षों जेलर के कै। 10 वर्ष उन्ने इतिहास, कानून भौतिक-ताराशा आदि के अध्ययन में व्यतीत किन्तु और जब 1679 में 91 वर्ष की आयु में यह पुनःप्रेष्य भल गया। हॉम्स का वैदिक ज्ञान और साध विद्यमान नहीं है किन्तु चर्मे कलम के प्रयोग से सांसारिक चिन्तन के इतिहास में उसका नाम मात्र का मन्दर है। हॉम्स के द्वारा ऐसे पर अनुभव एवं, किन्तुने उनके नाम की समर बना दिया, निम्नलिखित हैं—

1. दो सिने (De Cive, 1642)—इस ग्रन्थ में हॉम्स ने सम्ययुक्त की परिभाषा और उसका लक्ष्योक्त्युक्त किया है।

2. दो कर्परी (De Corpore, 1640)—इस ग्रन्थ में हॉम्स ने प्रकृति का विवेचन प्रस्तुत किया है और यह भी स्पष्ट किया है कि जलज की सम्ययुक्त भाषण का विरोध क्यों नहीं करना चाहिए?

3. लेफिवायान (Lefebvian, 1651)—घरनी इस प्रतिनिधि रचना में हूम्स ने निरंकुशतावादी राजतन्त्र का समर्थन किया है। इस कथ को उसने 4 भागों में बांटा है। प्रथम भाग में प्राकृतिक अवस्था का स्पष्टीकरण है, द्वितीय में राज्य की उत्पत्ति और सम्प्रभुता की जिम्मा बताता है, तृतीय और चतुर्थ भाग में कर्म एवं राज्य के मध्य सम्बन्ध की स्पष्ट विद्या बताता है।

4. एलेमेंट्स ऑफ लॉ (Elements of Law, 1650)—इसने हूम्स ने नैतिक की व्याख्या तथा उसके प्रभावों का विवेचन किया है।

हूम्स ने अपने विचारों की वैज्ञानिक भौतिकवाद के लक्ष्य प्रकृति एवं प्रतिष्ठित के सम्बन्ध में प्रस्तुत किया है। अपने विचारों को प्रस्तुत करने में उसने वैज्ञानिक एवं दार्शनिक की ही उत्तम दृष्टि रखी है। हूम्स ने 'प्राकृतिक सम्प्रभुता प्रणाली' की समझाया है जिसके अनुसार सर्वप्रथम किसी वस्तु के दोषों का पूर्ण विरोधपण किया जाता है और अन्ततः उन् दोषों को दूर करके उस वस्तु को कार्य करने योग्य बनाया जाता है।

हूम्स ने विभिन्न चरित्र के पुन को अपनी कौशलों से देखा था। यह-युद्ध, साम्रज्य के अराजकीय शासन की अवस्था, चरम द्वितीय के राज्य 1650 ई. में राजतन्त्र की पुनर्स्थापना आदि की घटनाओं ने उसके मन में यह बात पैदा की कि अवशिष्टता और शासक शक्ति के लिए एक सुदृढ़ शासन का होना चाहती है तथा राजतन्त्र ही सबसे निरर और सुव्यवस्थित शासन-प्रणाली है। एक प्रतिष्ठानी सम्पूर्ण प्रकृत-साम्र निरंकुश राजा ही अवस्थाओं को सम्भाल कर सकती है। हूम्स पर वास्तवीय वैज्ञानिक सोचों और अवस्थाओं का भी काफी प्रभाव पड़ा। अन्ततः उसने वैज्ञानिक भौतिकवादी पद्धति को अपने राजनीतिक विचार का आधार बनाया।

हूम्स का वैज्ञानिक भौतिकवाद (Scientific Materialism of Hobbes)

हूम्स का मूल्य राजनीतिक दर्शन को एक वैज्ञानिक रूप प्रदान करने में है। उसने अपने राज्य-दर्शन में निरंकुशवाद तथा अने-निररतावाद के लिए एक वैज्ञानिक आधार तैयार किया और भौतिक विज्ञान में प्रयुक्त होने वाली पद्धति को दर्शन तथा राजनीतिक विचार का आधार देकर राजनीति को विज्ञान का रूप दिया।

वैज्ञानिक मान्यतावाद का हूम्स पर बड़ा प्रभाव पड़ा। यह इसी बात को स्पष्ट है कि हूम्स ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि भौतिक विचारों की शक्ति मानवीय व्यवहार के बारे में भी विचार बनाने का करते हैं। मनुष्य बुद्धिमान है जिसने सभित के लिए कर्म करने की समझ है और स्वामी होने हुए भी मानव में स्वयं अवस्था कर अपनी अवस्था के लिए इन्होंने राज्य का निर्माण किया है। इसके अतिरिक्त हूम्स ने कहाया कि अवस्थाओं करने की मनुष्य में क्षमता है और यह राजा-शासन अपनी दृष्टि के करता है। वास्तव में वैज्ञानिक मान्यतावाद ने

व्यक्ति को स्वतन्त्रता देकर राजनीतिक विचार का केन्द्र बनाया या धीरे-धीरे में बढ़ी व्यक्तिवाद काही सीमा तक व्यक्तिवाद पोषा है।

हॉम्स पर डेकार्ट का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। की वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग माना जाता है। इसका मत था कि भौतिक विज्ञानों की भाँति सामाजिक विज्ञानों की भी एक निश्चित पद्धति होनी चाहिए। उसकी वैज्ञानिक पद्धति के आधारभूत सिद्धान्त थे—जिन्हें केने में प्रयोग, निष्कर्ष, वस्तु को छोटे-छोटे भागों में बाँट कर व्याख्या के समुदाय हल निकालना, तथ्यों को देखते हुए माने जाना, सरलता के अतिशय की ओर बढ़ना, तथ्यों को वर्गीकृत कर फिर प्रयोगों की ओर लौटकर निष्कर्ष निकालना आदि। राजनीतिक विज्ञान के क्षेत्र में इस पद्धति को प्रयोग में लाने के प्रभाव-प्रत्यक्ष हॉम्स के दर्शन में शुष्क औद्योगिक दृष्टिकोण का प्रतिबिम्ब हुआ।

हॉम्स पराङ्मुख वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर एक समुदाय दर्शन की रचना करना चाहता था। राजनीतिक दर्शन उसके इस समुदाय विज्ञान का एक घटक-भाग था और उसके इस समुदाय दर्शन की ही नीतिरूपाय (Methodology) बता रहा है। नीतिरूपाय की भाँति ही हॉम्स ने पुराने विषय में से एक नए विज्ञान की रूप-रिक्त की ओर-बढ़ना विज्ञान 'वर्ति' का था। हॉम्स ने इसी पद्धति सम्बन्धी सिद्धान्त की अपने दर्शन का केन्द्र-बिन्दु बनाया। उसका विचार था कि मूल में प्रत्येक पढ़ना एक वर्ति के रूप में होती है और प्राकृतिक प्रक्रियाएँ विभिन्न संश्लेषणों के रूप में वर्तित होती हैं। इन संश्लेषणों के रूप में ही कुछ वर्तियाँ हो रही हैं। यदि हम प्राकृतिक प्रक्रियाओं की समझना चाहते हैं, तो हमें इन मूल वर्तियों की समझना चाहिए। प्राकृतिक व्यापार की समझने का एक और तरीका-तत्त्वज्ञान उपाय है। प्रत्येक पढ़ना के रूप में निरर्थक की सरलताप वर्ति रहती है। बाद में वह वर्ति व्यक्तिगतिक वर्तित होती जाती है और प्रकृति का प्रत्येक व्यापार किसी न किसी रूप में इसी वर्ति का प्रत्यक्ष है। हॉम्स के इन विचारों का विवेचन करते हुए डेकार्ट ने लिखा है कि "उसके दर्शन के क्षेत्र काय माने जाते हैं—बहुधा भाग निम्न से सम्बन्ध रखता है और उसके ज्योतिषि तथा पारिषदी (यद्यपि भौतिकी) का सम्बन्ध है, दूसरा भाग सामाजिक-प्रक्रियाएँ, तीसरा-साधन प्रकृतिक-प्रक्रियाएँ के सम्बन्ध रखता है तथा तीसरा भाग सबसे अधिक है। यह व्यापार अपना साधन के नाम से प्रस्तावित वर्तित निम्न से सम्बन्ध रखता है।"——हॉम्स के दर्शन में जारी वस्तुओं का मूल आधार ज्योतिषि और पारिषदी है।¹

हॉम्स के दर्शन का उद्देश्य यह था कि संश्लेषण तथा राजनीति की विपुल प्राकृतिक विज्ञानों के प्रत्यक्ष पर प्रतिबिम्बित किया जाए। अपने संश्लेषण और राजनीति में इसी पद्धति का प्रयोग किया। 17वीं शताब्दी के समुदाय विज्ञान पर ज्योतिषि का बहुत प्रभाव हुआ था। हॉम्स की इसका प्रभाव बढ़ी था। उसके विचार में श्रेष्ठ पद्धति वह थी जिसमें वह अपने विज्ञान की कुछेक विषयों में भी के

जा सके। ज्योमिति के क्षेत्र में यह बात विशेष रूप से स्पष्ट थी। ज्योमिति, सर्वप्रथम सरल वस्तुओं की लेडी है और जब जगह बत कर यह जटिल समस्याओं के समझती है, जब जगह की चीजों का प्रयोग करती है जिन्हें यह पहले प्रभावित कर चुकी होती है। ज्योमिति में किसी वस्तु को स्वयं-संयोजित नहीं माना जाता। हमें यह भी अपने ध्यान का इसी प्रकार निर्धारित किया।

पौराणिक शास्त्र के आधार पर हमें यह अपने मनोविज्ञान की रचना की और मनोविज्ञान के आधार पर राजनीति शास्त्र की स्थापना की। अनुसंधानार्थी मनोविज्ञान (Associational Psychology) के एक प्रयोग के रूप में परिचित जेम्स ने हमें का सामोलेन किया है। हमें के अनुसार भव-वस्तु स्थापना-आपक मानव नियंत्रण बर्तन की प्रवृत्ति और आपक बर्तन की वृद्धि में मना गइया है। जगह में निरन्तर प्रति-अवस्था है और मानव कहीं भी स्थिरता तथा हानि का अनुभव नहीं करता। प्रवृत्ति में सर्वत्र ही प्रति स्थापित है और मानवीय व्यवहार प्रति के ही प्रकार है। मानव-कला मानव के सामाजिक व्यवहार पर निर्भर है और सामाजिक व्यवहार में मानव एक-दूसरे के व्यवहार करते हैं। का राजनीति-विज्ञान मनोविज्ञान पर आधारित है। "हमारे का मध्य यह उभर करती नहीं का कि शास्त्र शास्त्र में क्या होता है? उसका मध्य की यह का कि शास्त्र की रचना होना चाहिए कि वह प्रवृत्ति की पर प्रवृत्ति-प्रवृत्ति नियंत्रण कर सके किन्हीं प्रवृत्ति-प्रवृत्ति मानव-मान की प्रवृत्ति ही होती है।"

मनोविज्ञान की भौतिक शास्त्र के प्रवृत्ति पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है का नहीं, यह एक मित्र शास्त्र है। लेकिन हमें यह प्रति के विचारों से सर्वप्रथम मानवों और मानवीय व्यवहारों की प्रवृत्ति के प्रति शास्त्र की। उसके सामान्य रूप से मानवीय व्यवहार के लिए एक विज्ञान विकास और यह बताने का प्रयोग किया कि विभिन्न परिस्थितियों में यह विज्ञान-विज्ञान प्रवृत्ति विकास होता है। इस प्रवृत्ति द्वारा ही यह मनोविज्ञान के राजनीति पर प्रवृत्ति। हमें यह बताना कि मानव-प्रवृत्ति एक मूल नियम से मानित होती है। जगह यह प्रवृत्ति कि कि राजनीति में यह नियम कि प्रति कार्य करता है।

वैज्ञानिक प्रति-प्रवृत्ति का शास्त्रिक रूप से प्रवृत्ति का प्रतिप्रवृत्ति है। वैज्ञानिक शास्त्र का सर्व है शास्त्र, कार्य-कारण सम्बन्ध (Causal and efficient relationship), प्रवृत्ति और प्रवृत्ति नियमों की प्रवृत्ति — हमें यह रूप यह प्रति है। यह इसी आधार पर अपने राजनीति का निर्धारण करता है। उदाहरणार्थ यह सर्वप्रथम मानव-व्यवहार और उसके प्रति का प्रवृत्ति करता है, जगह मानव, प्रवृत्ति एवं विचारों का प्रवृत्ति करता है और जब यह प्रवृत्ति पर जाता है कि ऐसे प्रवृत्ति के साथ व्यवहार करने और उसके साथ की प्रवृत्ति करने के लिए राज्य को क्या होना चाहिए? यह समझते द्वारा राज्य की प्रवृत्ति बताता है पर उसके पूर्व एक प्राकृतिक प्रवृत्ति का विचार भी करता है किन्हीं-प्रवृत्ति मानव का निर्धारण प्रवृत्ति द्वारा का। इस प्रकार हमें, प्रवृत्ति और प्रवृत्ति आधार पर

सर्वप्रथम मानव-स्वभाव का विश्लेषण, फिर प्राकृतिक कानून, उसकेबाद प्रकृतिक व्यवस्था और मनु में समझीते द्वारा राज्य का निर्माण करना है । कारण एव प्रभाव उसके सम्पूर्ण दर्शन में देख जा सकते हैं । वह राज्य के आधारभूत करके नियामक तत्त्वों की वृत्त कर उसके स्वरूप की व्याख्या कर सकता था । लेकिन ऐसा न करके वह राज्य के निर्माणिक प्रयोग पर्याप्त व्यक्तिगत मानव-प्रतिष्ठानों से प्रेरणा दर्शन प्राप्त करके बतलाता है कि किस प्रकार मानव-स्वभाव मनुष्य के लिए राज्य की सृष्टि आवश्यक बना देता है और उसका स्वरूप भी क्या होगा चाहिए ? वह व्यक्ति को महत्व देता है । उसके मनोविज्ञान के कारण ही समझीते और इतिहासी राज्यत्व की स्थापना होती है । हॉमि के अनुसार "समाज में सदार्थ के प्रतिष्ठित कुछ भी नहीं है । उसके लिए साम्प्रदायिक सत्ता एक कर्मणिक धनुस्त्र है । वह यह नहीं कहता कि धनुस्त्र नहीं होती या साम्प्रदायिक कर्म नहीं होते । लेकिन उसका स्पष्ट मत है कि उनके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता ।"

अतः हॉमि की सम्पूर्ण प्रणाली समाज के तीन भाग—प्रकृति, सदार्थ और मनुष्य तथा राज्य की व्याख्या भौतिक विज्ञान के आधार पर हुई है । वह भौतिक शास्त्रज्ञों को बहुत महत्व देता है । उसके अनुसार यही मानव मनोविज्ञान का आधार और आधारभूत है । वैज्ञानिक भौतिकवाद से वह सिद्ध करता है कि शास्त्रज्ञों मानव-मनोवृत्तियों की निर्धारित करने में महत्वपूर्ण है । यहाँ वह मॉन्टेसक्यू का पद प्रयोजक है । शास्त्र शास्त्रज्ञों के प्रभाव से ही मानव की साम्प्रदायिक चार्चरिष्ठ व्यवस्था प्रभावित होती है और फिर उसके भावना, इच्छा, प्रेम, वृत्ता आदि का उन्म होता है ।

भौतिकवाद हॉमि द्वारा लिए गए प्राकृतिक कानून के विज्ञान का मूल है । वह प्राकृतिक कानून का व्यवस्थापक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है जो प्राकृतिक कानून के वैज्ञानिक या प्रति भौतिक रूप से वृत्त है और मनुष्य की व्याख्या और समझ से परे की वस्तु नहीं है । प्राकृतिक कानून विधि और परिस्थान की समझित व्यवस्था का ही दूसरा नाम है । इस समाज की प्रति की प्रविष्टा विन कारणों और परिस्थानों से निम्नकर रही है, यही प्राकृतिक कानून है ।

मानव स्वभाव का विश्लेषण भी हॉमि वैज्ञानिक भौतिकवाद के आधार पर ही करता है । मनुष्य उत्पन्न शरीर है, एक ऐसा मनु है जो पौधों और पशुओं के समान प्रतिष्ठान मनुष्यों का सम्मिश्रण है जिसे मनुष्य-पर्यन्त विनाशित रहता है । मनुष्य जिस वस्तु की इच्छा करता है उसे सम्मिश्रण और नाशक करता है उसे बुरा कहता है । हॉमि मानव-भावनाओं का विश्लेषण करते हुए मनु में उन्हें जो भौतिक तथा प्रारम्भिक भावनाओं-इच्छा एवं सम्मिश्रण तक सीमित कर देता है । इच्छा वह भावना है जो निरी मातृ वस्तु द्वारा प्रविष्ट-प्रति शरीर में चल रही प्राण प्रविष्टाओं को तीव्र करती है । सम्मिश्रण वह भावना है जो इन प्रविष्टाओं को सम्मिश्रण करती है । इच्छा ऐसी वस्तु को प्राप्त करने का प्रयास है जबकि सम्मिश्रण उसी वस्तुवाचक जाने पर प्रयत्न । विन वस्तु की जाने से हुई होता है और उसके को जाने पर दुःख होता

है। हॉम्स वैभव, ईश्वर, दया, नम्रता आदि मानवार्थों का साधार भी इन्हीं दो मूल प्रवृत्तियों—इच्छा और अनिच्छा को मानता है। वह समस्त मानवार्थों का केन्द्र मनुष्य का निजस्य मतमाता है। ये मनुष्य के सहकार और स्वातंत्र्यता के विभिन्न रूप हैं। हॉम्स की धारणा थी कि मनुष्य पूर्ण रूप से स्वार्थी है। समस्त मानव-अन्वहार को महत्त्व पर आधारित करने के अन्वार्थ ये ही हॉम्स की प्रणाली को एक निश्चित वैज्ञानिक रूप दिया है जो उसे वैज्ञानिकता के अन्वार्थ मानता है।

वैज्ञानिक भौतिकवाद की दृष्टि से हॉम्स का राजनीतिक विचार के इतिहास में स्थान विवादस्पद है। लेविथायन (Leviathan) के प्रकाशित होने पर हेनरी मोर तथा कदम्बर् जैसे दार्शनिकों, कैम्ब्रिज जैसे धर्मशास्त्रियों तथा फिलमर जैसे राजनीतिक दार्शनिकों ने उसके नास्तिकवाद तथा भौतिकवाद के सिद्धान्तों की तीव्र आलोचना की थी।¹

अन्वार्थ हॉम्स ने अपने दर्शन के लिए वैज्ञानिक पद्धति को अपनाया परन्तु इस दृष्टि से उसका लेविथायन एक प्रभावहीन ग्रन्थ रहा। समझो यताम्ही से वैज्ञानिक पद्धति को व्योमित की पद्धति वा भिन्नम पद्धति (Deductive Method) के अनुकूल समझो जाता था। हॉम्स के बाद यह सिद्ध हो गया कि व्योमित के मनुष्य पर राजनीतिक विचार वा मानव-विज्ञान के निर्माण का अन्वार्थ भ्रम है। राजनीतिक ग्रन्थ-विकास के क्षेत्र में इस पद्धति का अनुकरण सिद्धोत्ता के परिचित और किसी विचारक ने नहीं किया था। परन्तु हॉम्स की पद्धति को देने इस कठिनी पर नहीं मरना चाहिए कि उसके परिणाम कहीं तक सही अन्वार्थ सत्य निकले वा वह मानव तथा राजनीति विज्ञान के क्षेत्र अन्वार्थ स्थापन में सफल रहा अन्वार्थ विफल ? इसकी विवेचना ही इस बात में है कि उसका विचार अन्वार्थ तथा अन्वार्थ है, उसने अन्वार्थ दृष्टिओं अनुकूल की हैं और अपने निष्कर्ष पर वह दृष्टता से कायम है। यदि इस उसके प्रारम्भ विन्दु को स्वीकार कर लें तो उसके अन्वार्थ ही उसने को अनुकूल अन्वार्थ होना।

वेगार्न का कहना है कि “यह पद्धति मूलत विवन्वार्थ (Deductive) थी।” अन्वार्थ मनुष्य-अन्वार्थ का अन्वार्थ है और वास्तविकता का कुछ नहीं सा जाता है। “हॉम्स का राजनीतिक दर्शन अन्वार्थ-निरीक्षण पर आधारित नहीं है। मनुष्य के वास्तविक जीवन में प्रत्येक तत्त्व जीवन-जीवन में रहते हैं ? इससे हॉम्स दूरी तरह परिचित नहीं था। उसका अन्वार्थ-निरीक्षण भी निरीक्षण पर आधारित नहीं है। यह इस बात का निवरण नहीं कहा था अन्वार्थ कि वास्तव में क्या है, अन्वार्थ यह इस बात का निवरण था कि वास्तविक विचारों को अन्वार्थ में रहते हुए मनुष्य को वैज्ञानिक होना चाहिए।” वास्तव अनुभववाद (Pragmatism) वैज्ञानिक पद्धति का महत्वपूर्ण तत्त्व है अन्वार्थ अन्वार्थ है—जीवन के निरीक्षण एवं अनुभव के आधार पर विवेचनात्मक रूप से निष्कर्ष निकालना। परन्तु हॉम्स अपने अन्वार्थ द्वारा पूर्ण निर्धारित अन्वार्थ-अन्वार्थ (Hypothesis) के आधार पर निष्कर्ष निकालता है, जीवन की वास्तविकताओं से नहीं। ये अन्वार्थ एक सिद्ध सत्य से अन्वार्थ होती है और अन्वार्थ

परिणाम निश्चये वाले हैं। परन्तु इस धारोपना के बावजूद भी यह स्मरणीय है कि सचहूवी कलाकर्म की वैज्ञानिक पद्धति में, जो, उस समय विकसित हो रही थी, अनुभववाद पर उतना बल नहीं दिया जाता था जितना आज दिया जाता है। इसके विपरीत वैज्ञानिक पद्धति वैज्ञानिक और भौतिक विज्ञानों की भाँति अधिक थी। अतः वहाँ हानि की वह पुष्टि हो सकती है कि यह वैज्ञानिक पद्धति की सोच में अपने समय की सीमाओं से घाते नहीं बढ़ सका। इस सम्बन्ध में वह सचहूवी कलाकर्म का भिन्न था।

सेबार्ड ने एक घम्य धारोपना करते हुए लिखा है कि "हानि स्वयं अपने पद्धति की व्यवहार में लाने में असफल रहा है। उसने अपनी पद्धति कुछ ऐसी मान्यताओं से प्रारम्भ की जो तर्कों की दृष्टि से सही थी, किन्तु व्यावहारिकता की कड़ोटी पर सही नहीं उतरती थी। यह वैज्ञानिक पद्धति में उतना अधिक विश्वास करता है कि वैज्ञानिक ज्ञान और एपेपिडि पद्धति तथा अनुभव और व्यावहारिक ज्ञान के सम्बन्ध में भ्रम में पड़ जाता है तथा मान बैठता है कि जिन निष्कर्षों पर वह अपने वैज्ञानिक ज्ञान और एपेपिडि पद्धति के पहुँचा है वे व्यावहारिक जीवन में भी सही होने। दूसरे, हानि मानव व्यवहार और भौतिक व्यवहार के अन्तर को भी मुला बँटता है और दोनों में अपनी एक ही पद्धति के व्यवहार करने का प्रयास प्रयास करता है। उसकी धारणा है कि जिस प्रकार एपेपिडि की सहायता से हम अतिशय धातु का सम्पन्न कर सकते हैं, वैसे मानव के अतिशय व्यवहार के सम्बन्ध में भी किया जा सकता है। हानि एपेपिडि की सहायता से केवल मानव-मनोविज्ञान का अध्ययन ही नहीं करता बल्कि उसका विचार है कि भौतिक विज्ञानों के नियम (Law of Physics) की भाँति 'मानवीय व्यवहार के नियम' (Law of Human Behaviour) भी बनाए जा सकते हैं जबकि वास्तव मानव-व्यवहार के बारे में ऐसा करना निश्चय ही अशुभ है।"

सेबार्ड ने हानि के दर्शन पर केवल उपरोक्तवाक्यों होने का धारोप लगाया है। हानि के लिए विज्ञान का सही अधिग्रहण है कि मानव वस्तुओं के आधार पर अतिशय कलुषों का निर्माण किया जाए। इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण एपेपिडि है। परिणामतः, हानि ने मानव को पूरी तरह से भौतिक और उपरोक्तवाक्यों मानता है। मानव का महत्त्व इस बात पर निर्भर है कि वह क्या कार्य करता है? मानव का विकास प्रयासकता है, अतः उपरोक्तवाक्यों युक्त में मानव का कोई स्थान नहीं है। मानव के नाम छेप है जो व्यक्तियों की छेप तरीके से ही प्राप्त होने चाहते-मानव, सुविधा, सुरक्षा और सम्पत्ति के रूप में। यही एकमात्र माकुर है जिस पर मानव का अधिग्रहण निर्भर है। सामाजिक दृष्टि की भाँति ही सामाजिक-हित कल्याण मान है। केवल व्यक्ति ही अपने जीवन-साथियों के लिए रहता और कल्याण का उपयोग करता चाहता है। राज्य का अस्तित्व अनुभव की आवश्यकताओं की पूर्ति, उसकी सुरक्षा की रक्षणों के लिए है। उसका एकमात्र अधिग्रहण उसकी उपरोक्तवाक्यों है। उसके भौतिक अधिकारों का छोटा अधिकार मानव की अनुपति है।

जगत् की सामान्य दृष्टि (General Will) जैसी किसी चीज का प्रतिष्ठित नहीं है। प्रतिष्ठित केवल व्यक्तिों का है। उनकी रक्षा करना उनका धर्मत्व है। उनके निजी हितों का धर्म ही सामाजिक धर्म है। हॉब्स के सिद्धान्त के इसी महान् की दृष्टिसे तथा उसके अनुयायियों ने विकसित किया। राज्य की व्यक्तियों के परस्पर विरोधी हितों का सम्मिश्रण बनाकर वह उपबोधितव्यक्तियों का पूर्व-सूचक बन गया।

अनुसृत साम्यवादीयों के वाक्वाच भी वह स्वीकार करना होता कि हॉब्स ने सामाजिक विज्ञानी में वैज्ञानिक पद्धति के विकास में महान् योग दिया है। इस विद्या में निर्देश देने वाला वह सर्वप्रथम विचारक था। उसकी वाक्वाच की कि राजनीतिक पद्धति में भौतिक विज्ञानी की पद्धतियों से बहुत कुछ लिया जा सकता है। उसने राजनीति के लिए अघोषितव्यक्तियों की शुरुआत किया। दूसरे शब्दों में उसने अपने राजनीतिक परिणामों का आधार उस पद्धति पर रखा जिसे उस युग में पूर्ण वैज्ञानिक समझा जाने लगा था। इस पद्धति का धारक है कि समाज सामाजिक जीवन स्वीमिनि की पद्धति पर होने चाहिए और भौतिक जगत की एक विपुल भौतिक प्रणाली के अन्तर्गत समझा जाय, जिसमें अनेक घटना की व्याख्या उसकी पूर्ववर्ती घटना समझा घटनाओं के प्रभाव में की जा सके। वह राजनीति विज्ञान का धर्म अघोषितव्यक्तियों की शक्ति पर करना चाहता है। इसकी पद्धति में अधिकारपूर्ण व्यक्तियों के अन्तर्गत देने के लिए वा इतिहास की शिक्षाओं के लिए वा धर्म जगत् के लिए कोई स्थान नहीं है। यही कारण है कि हॉब्स सामाजिक मान्यता था। उसने मूल से अपना पूर्ण सम्मिश्रण-विच्छेद कर लिया है।

सन् 20वीं शताब्दी में हब्स हॉब्स की पद्धति में सामाजिक के दीर्घ विकासमें हुए वह मरते हैं कि वह भी जगत् के सामाजिक विज्ञानी के विकास में वह सिद्ध कर दिया है कि सामाजिक घटनाओं के अन्तर्गत में भौतिक विज्ञानी की पद्धति का प्रयोग एक अघोषितव्यक्तियों पर ही किया जा सकता है और सामाजिक विज्ञानी के लक्ष्य पर एक सामाजिक-विज्ञान की रचना करने का प्रभाव हॉब्स का एक और धर्म था। पर यदि हॉब्स के प्रति हम स्वयं से काम में तो हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि 17वीं शताब्दी में समस्त विज्ञान पर अघोषितव्यक्तियों का बहुत प्रभाव हुआ था। इस पद्धति की धारणाकर ही अघोषितव्यक्तियों द्वारा ही और उसे सामाजिक सम्मिश्रण के क्षेत्र में अपना लक्षण उस समय के वैज्ञानिक, निरक्षरता आदि महान् विचारकों की आकांक्षा थी। यही एक कि नई थी, जिसे सामाजिक, सामाजिक प्रभाव प्रणाली का अन्तर्गत माना जाता है, राजनीति की अघोषितव्यक्तियों की शक्ति एक अघोषितव्यक्तियों विज्ञान बनाता चाहता था। फिर हॉब्स ने यदि ऐसा किया तो हमें मान्यता नहीं करना चाहिए।

हॉब्स ने अपने परवर्ती अनेक राजनीतिक विचारों और राजनीतिक विचारधाराओं को प्रभावित किया। उसके पीछेकारों की हब्स मॉटेस्म्यू और जॉन माल्टेस पर देखी जा सकती है। इसमें उपबोधितवाद का भी आरम्भ चित्त है और वाक्वाच इस धर्म के कि अघोषितव्यक्तियों सामाजिक सम्मिश्रण-व्यक्तियों न होकर साक्षात्

का सम्बन्ध है। होम्स को उदारवाद का राजनैतिक और वैयक्तिक तथा नित्य का पूर्णतः समन्वय था। वह एक ऐसी राजनीति तथा साधारण-जनता का प्रतिपादन करता है जिसका साधारण मनुष्य है और वहीं के व्यक्तिगत विचार-प्रवृत्ति प्रजाजन की अपने 'सावकी' की ओरने के लिए साधारण प्रवृत्ति करती है। होम्स के दर्शन की उसके पुनः का सबसे अधिकारी विद्वान् कहाने माना करत उसका व्यक्तिवाद है। अपने 'लैम्बेड फैब्र' (Lambert Faber) की उस भावना को पकड़ लिया था जिसने सांसारिक चिन्तन की दो अन्तर्द्वियों तक मनुष्यवृत्ति रखा।

होम्स के मानव-स्वभाव सम्बन्धी विचार (Hobbes' Conception of Human Nature)

होम्स राज्य का सम्बन्ध मानव-स्वभाव के विवेचन से करता है। अपने मानव-स्वभाव की व्याख्या की है और अपने सभी विद्वान् उस पर आधारित किए हैं। मरतु के विवेचन वह मानता है कि "मनुष्य अन्तर्भाविक शाही है। मानव को कस्तुरी या तो सावकित करती है या विकृत। सावकित की इच्छा (Appetite of Death) कहा जाता है, विकृत की वृत्ति (Aversion)।" मनुष्य की इच्छा इच्छा में उसका स्वार्थ निहित है। "जिन कस्तुरी के वह सावकित होता है, उन्हें मरती कहा है, जिसे वह सावकित करता है, उन्हें कुटी कहा है। मरती या कुटी मनुष्यी में नहीं बलिक मानव-भावना में है।" मनुष्य के स्वतन्त्र विचार-कलाप स्वार्थ-भावना के प्रेरित तथा संचालित है। सामाजिकः सामाजिक तथा नीतिक व्यवहार में मनुष्य सर्वत्र यह प्रयत्न करता है कि उसकी सम्पत्ति धारि सुरक्षित रहे, उसका जीवन निर्बन्ध तथा निर्द्वन्द्व रहे और उसकी एकाग्र-साधनाएँ एवं धृष्टा पूरी होती रहे। कुटी के वृत्ति और मरती मानव मनुषी धर्मितावादी की वृत्ति में ही कलत्र सम्भव रहता है। मरती वाले ही वह सर्वसाहो विचार की तरह दूट मरता है और स्वयं को नीचिष्ठ रखने तथा स्वयं की इच्छा-वृत्ति के लिए दूसरे की ध्वस्त करने के नहीं क्षमता। होम्स के ही शब्दों में "वृत्ति के सभी मनुष्यों की सांसारिक धर्मिता, मानसिक वृत्ति धारि में सम्मान कहा जाता है। धर्मिता जिस लाभ-निर्लेप की मान एक व्यक्ति करता है, उसकी मान दूसरा भी करता है। सांसारिक धर्मिता में एक मनुष्य दूसरे के धर्मिताकी हो सकता है, परन्तु दूसरे मोह पुनः धर्मिता के या गुटधर्मिता करके उसे धार करती है।" एक ही मनुष्य को धर्मिता करने के दो धर्मितावादी धर्मिता परस्पर धर्मिता बन कर एक-दूसरे पर विस्वास नहीं करते। होम्स का कहना है कि नरम की धर्मिता करने की योग्यता सभी में समान बराबर होती है। सांसारिक धर्मिता की सभी की वृत्ति नीचिष्ठ योग्यता और नीचिष्ठ योग्यता की सभी की वृत्ति सांसारिक धर्मिता हो जाती है। सामर्थ्य की इसी समता के कारण धर्मिता-धर्मिता की धर्मिता की समता का उत्पन्न होता है और बराबरी में मनुष्यों में नव प्रतिस्पर्धिता होती है की एक-दूसरे की विरुद्ध किन्ति जिस ही में सभी कीर्ति की वृत्ति कर देना चाहते

है। फलतः निरन्तर संघर्ष चलता है। दोनों प्रतिद्वन्द्वी बाहुल्य होकर भीत के समानक रूप से लड़चड़ते हैं। इस निरन्तर संघर्ष के बीच प्रमुख कारण है। हॉम्स के ही शब्दों में—“एक मानव-समाज में भगदड़े के बीच समुक्त कारण देखते हैं। पहला प्रतिस्पर्धा, दूसरा पारस्परिक प्रतिस्पर्धा और तीसरा वैभव। प्रतिस्पर्धा के कारण के मान के लिए, विस्वास्त के समान के कारण एता के लिए तथा वैभव-प्राप्ति के कारण प्रतिद्वि के लिए परस्पर संघर्ष करते हैं। उसकी समझती बनाए रखने वाली किसी शक्ति के समान में समुक्त समानतः निरन्तर संघर्ष में लगे रहते हैं। समुक्त पूर्णतया बड़े-बेझिड़ है और जीवन की यह सचार्थ वास्तविकता (Objective actuality) सभी संवेदों-प्राप्ति को जन्म देती है।”

हॉम्स समुक्त को विविध वास्तविकताओं की विवेचना करता हुआ मनु में उन्हें दो शैलिक एवं प्रारम्भिक वास्तविकताओं-इच्छा तथा प्रतिच्छा तक सीमित कर देता है। यह वैभव, ईर्ष्या, ईश, दया, सत्यता आदि सभी भावनाओं का आधार इच्छा की मूल प्रवृत्तियों को मानता है। “एक निवेद्य (Deduction) की आधारभूत विवेचना यह है कि हमने समस्त भावनाओं का केन्द्र सब समुक्त का निरन्तर है। ये समुक्त के सहकार और स्वायत्तता के ही विभिन्न रूप हैं। हॉम्स की कारणता का समुक्त पूर्णतः स्वाधीन है। समस्त मानव-स्वभाव को समुक्त पर आधारित करने के प्रयास में ही हॉम्स की प्रणाली की एक निमित्त वैज्ञानिक रूप दिया है।” हॉम्स की इस निवेद्य पद्धति (Derivation method) की दो मुख्य विवेचनाएँ हैं—प्रथम तो यह है कि निवेद्य पद्धति निरन्तरवाक (Deductive) है और द्वितीय यह है कि हॉम्स का निदान समुक्त (Methodism) से एकत्रित भिन्न है। यह गुण देने वाली समुक्त वा बात को गुण और शीघ्राधिक्य समुक्त या बात की समुक्त नहीं समानता और न ही यह कहता है कि हम केवल गुण की कारणता करते हैं और गुण से बात बाह्य है। उसकी दृष्टि में सामान्य बात तो यह है कि समुक्त समुक्तको न होकर अपनी स्वायत्तताओं की समुक्त करने वाली समुक्तों की इच्छा करते हैं। इस तरह हॉम्स “सुल-सुख की परिभाषा में न पत्रकर समुक्त समुक्त (Simultaneous response) की परिभाषा में विचार करता है। प्रत्येक विस्तारण जीव (Organism) पर समुक्त समुक्त प्रतिमूल प्रभाव कायता है। यदि विस्तारण समुक्त है तो जीव की इच्छा होती है कि वह जीव न हो, यदि विस्तारण प्रतिमूल है तो वह समुक्त सुख चाहता है।” सेबार्ड के शब्दों में—“समस्त स्वायत्त के पीछे एक विमर्श है और यह वह कि जीवितें समुक्त स्वायत्त ही अपनी प्रगत-शक्ति को बनाए रखता समुक्त उसे समुक्त समुक्त चाहता है। समुक्त यह है कि समस्त स्वायत्त के पीछे समुक्त समुक्त का एक विस्तारण रहता है और यह है स्वातन्त्र्यता; विस्तारण समुक्त है समुक्त जीविक समुक्त का करने रहता। समुक्त यह है जो इस समुक्त की सुख करे और समुक्त यह है जो इसके विपरीत ही समुक्त विमर्श समुक्त इसके विपरीत ही।” इस स्वातन्त्र्यता के लिए ही व्यक्ति स्वायत्त समुक्त में समुक्त रहता है और उसका जीवन समुक्त अधिक शक्ति प्राप्त करने की एक निरन्तर और विविधान इच्छा बन

जाता है। अतः स्पष्ट है कि मानव-स्वभाव की मुख्य विशेषता शक्ति की प्राप्ति और प्राप्त शक्ति का निरन्तर उपयोग है।

हॉम्स के विचारों से हमारे समय मानव-स्वभाव के आधुनिक लक्षणों का बहुत स्पष्ट हो जाता है। लेकिन हॉम्स ने मानव-स्वभाव के ऐसी लक्षणों वाले दूसरे चरित्र की कल्पना भी की है। उसने कहा है—“मनुष्य में कुछ ऐसी दृष्टिकोण भी होती है जो उसे कुछ के लिए नहीं बलितु शान्ति एवं वैश्व के लिए प्रेरित करती है। शासन की दृष्टि, वैयक्तिक सुख की कल्पना मनुष्य का भय, परिधम से प्रकृत मनुष्यों के बीच की लालसा मनुष्य को एक शक्ति की आशा मानने के लिए बाध्य कर देती है।”¹ दूसरा कारण यह है कि उसी (सामाजिक शक्ति) के नियन्त्रण में रह कर ही मनुष्य की स्वातंत्र्यपूर्ण दृष्टिकोणों की पूर्ति हो सकती है।

यद्यपि हॉम्स ने मानव-स्वभाव के ऐसी लक्षणों का आभास दिया है किन्तु प्रभावता उसके पुरातन आधुनिक लक्षणों को ही प्रभाव की है। मनुष्य सामाजिक आधुनिक लक्षणों के अभाव में ही रहता है। यदि हमारे ऐसी लक्षणों का अभाव है तो वह भी केवल इतिहास कि हमारे उनकी स्वातंत्र्य-सिद्धि में सहमता मिलती है। अतः मनुष्य ने आचार-सूत्र मूल प्रकृति स्वातंत्र्य की ही है और स्वातंत्र्य-सूत्र के लिए ही शक्ति, सामाजिक एवं वैयक्तिक सभी आभास केन्द्रित है। सहयोग का कोई स्थान भीतर में नहीं है, यदि है तो वह स्वातंत्र्य-सिद्धि के लिए है। स्वातंत्र्य की पूर्ति के लिए ही मनुष्य ने शक्ति-संघर्ष की ऐसी प्रवृत्ति दृष्टि करनेवाला रही है जो उसकी शक्ति-प्रवृत्ति की सब सीमाएँ रहती है और जिसका सम्मान उसकी (मनुष्य की) मूल्य में साथ ही होता है। अतः सामाजिक-व्यवस्था की चेष्टा, शोध-माला, धन, ज्ञान, मूल्य कामना, वैयक्तिक और प्रादि सभी दृष्ट मूल प्रकृति के परिणाम है। मानव-स्वभाव में यदि चरित्रों का कभी उदय होता भी है तो वह किसी स्वातंत्र्य की पूर्ति की लालसा से ही होता है; अतः नहीं। मुख्यतः मनुष्य स्वातंत्र्य है और उसकी सम्पूर्ण आवश्यकता का केन्द्र उसका चरित्र है। हॉम्स के मानव-स्वभाव सम्बन्धी विचारों पर टिप्पणी करते हुए होम्स ने लिखा है कि “हॉम्स जो बातें कहता है उनमें नहीं वह भी कोई असह्यकार करता है उसमें गलत है। मानव-स्वभाव की प्रतिरक्षा करने के लिए उन पर प्रतिरक्षा का देकर हमारे मानव-स्वभाव का मानव-स्वभाव विषय प्रकृत किया है।”²

प्राकृतिक अवस्था के विषय में हॉम्स के विचार

(Hobbes on the State of Nature)

राज्य-संस्था के अस्तित्व में हॉम्स ने एक अवस्था अथवा प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) की कल्पना भी की है। उसने मानव प्रकृति की पूर्ण सामाजिक दृष्टि कहा है जिसमें मानव-जीवन अस्थिर, असह्य तथा दुर्बल और

1. Hobbes : *Leviathan*, Part I, Chapter II (367-68).

2. Jones P.F. : *Masters of Political Thought*, Vol. I, p. 147.

मरुतन था। प्राकृतिक दशा का जीवन हिंसा प्रधान था। साधुरी मूर्तों की प्रधानता के कारण मानव-जीवन बदकर धीरे संव्यवस्थित था। होम के शब्दों में, "ऐसे समय में जब मनुष्य एक ऐसी शक्ति के बिना रहने है जो उन्हें परसीव बनाए रख सके, वे उस व्यवस्था में रहते हैं जिसे कुछ कहा जाता है और वह ऐसा कुछ होता है जो प्रत्येक की घोर से प्रत्येक के विरुद्ध होता है। ऐसी दशा में उद्योग, धनकृति, नी-दानन, भवन-निर्माण, वातावरण के सम्पत्ति, मान, सम्मान आदि के लिए कोई स्थान नहीं होता—क्या मनुष्य का जीवन एकाकी, दीर, अर्थविष, प्राकृतिक एवं शक्तिशाली होता है।" इस प्रकार राज्य की अनुपस्थिति में जो व्यवस्था की व्यवस्था की प्रथम 'विनयनी वाली उनकी जेल' व्यवस्था 'जहाँ जो लोगो का बाड़े जिसे स्तर शक्तों का विद्वान् प्रभावशील था। कोई किसी का अधिकार, नियम और सत्ता नहीं था। सब एक दूसरे के समकक्ष थे। एक जैसे दूसरे की सत्ता कर जाना चाहता था। सभी एक दूसरे के विरोध में मुद्रण थे। जीवन व्यवस्थापूर्व, प्रतिरोधक एवं विस्मृत था। हर भक्त करने वाले के सत्कृती समचार विर पर नाचती रहती थी, हाथ-मनुष्य और मान-व्यवस्था का वेद नहीं था। शक्ति और बीबा मनुष्य के प्रधान गुण थे। यह दशा भारतीय जलो में बहिरा मलय-व्याप जलो की विविध छोटी बहिरा की बहिरा के वेद में समा जाती है और फिर बड़ी बहिरा का वेद बीबाकर गद्य हो जाती है। मनुष्य बहिरा की तरह बहिरा तथा हिंसक था (Homo bestialis)। साम्राज्य विधि व्यवस्था राज्य-व्यवस्था के प्रधान में सब जलो, बीबा (Force and Fraud), बहिरा-मन, सब बहिरा बहिरा बहिरा थे। होम के विरुद्ध का परिधान यह है कि राज्य-विहीन स्थिति में कुछ एवं विधायक मनुष्य का भव सर्वत्र व्याप्त रहता था। मनुष्य के पास अपनी गुणों के कारण के रूप में केवल अपनी शक्ति और बहिरा होती थी। सब जलो दूसरे के सम्पत्ति का भव हुयेला सत्ता रहता था।

होम के शब्दों में प्राकृतिक दशा की तीन मुख्य विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं। प्रथम विशेषता यह है कि इनमें नैतिकता का सर्वथा अभाव है, सब-सब ही कोई विवेक नहीं है। सभी व्यक्ति अपनी मानविक भावनाओं से प्रेरित होकर कार्य करते हैं। उसके लिए हिंसक और दुष्टा व्यक्ति व्यवस्था है। द्वितीय विशेषता यह है कि इस व्यवस्था में न्याय और सम्पाद के विचार के लिए कोई स्थान नहीं है नैतिक व्यवस्था का व्यवस्था-व्यवस्था का नियम करने वाला कोई कानून नहीं होता। तृतीय विशेषता यह है कि इन दशा में वैयक्तिक सम्पत्ति का अभाव है। निरन्तर हिंसक और नष्ट के परिणामस्वरूप में सभी वैयक्तिक सम्पत्ति की सुरक्षा भी नहीं की जा सकती। प्राकृतिक व्यवस्था में जीवन का तात्पर्य है। जब तक किसी के पास शक्ति है, उसका अपनी सम्पत्ति पर अधिकार है, अधिक न रहने पर दूसरों का अधिकार हो जाता है क्योंकि वे उसके विरुद्ध हैं।

प्राकृतिक व्यवस्था के इस विवरण पर स्पष्ट हो जाता है कि होम की इस कल्पना की ऐतिहासिकता क्या है? भारतीय प्राकृतिक व्यवस्था के ऐतिहासिक

प्रमाण नहीं होते और समाजशास्त्रियों के अनुसार सांस्कृतिक मानव-जीवन में भी किसी न किसी प्रकार का सामाजिक जीवन और नैतिक विधान मौजूद था। पर वे मानते हैं कि ह्यूम्स के मतानुसार मनुष्य ही ऐसी कोई प्राकृतिक व्यवस्था नहीं है। ह्यूम्स स्वयं भी ऐसी प्राकृतिक व्यवस्था की कल्पना की किसी ऐतिहासिक प्रमाण के पुष्ट नहीं करता। वास्तव में प्राकृतिक व्यवस्था के इस विचार के उद्देश्य था यह कि राज्य-व्यक्ति के अभाव में लोगों का जीवन इसी प्रकार का होगा सम्भव है। "उत्तरी प्राकृतिक व्यवस्था राज्य का एक कल्पनात्मक विधान है; यह वह विधि है जिससे मनुष्य पहुँच जाये, यदि उनके स्वार्थों को नियंत्रित तथा नियंत्रित करने वाली कोई शक्ति न हो।" ह्यूम्स के मतानुसार, जब सभी राज्य-व्यक्ति निर्मल रहते हैं तभी समाज में इसी प्रकार की प्राकृतिक दशा उत्पन्न होती रही है। नियमन तथा नियमन के अभाव में समाज के अभाव में मानव-जीवन अनुचित, अन्याय और दुखी हो जाता है। ह्यूम्स ने नैतिक जीवन के ऐसे राज्य प्रस्तुत किए हैं जिनमें बाजार पर प्राकृतिक दशा का अनुमान किया जा सकता है। मनुष्य माना करते समय सम्भावित साक्षरता के उद्योग के लिए सभी के सुव्यवस्थित होकर निकलता है। पर वे सोते समय व्यक्ति दरवाजा बन्द कर लेता है और पर वे मौजूद रहने पर भी क्यूँ से लाना लगाता है। मनुष्य में घरे कर्म उस व्यवस्था में करता है जब राज्य और समाज के कानून मौजूद हैं तथा राज्य-व्यक्ति उनके उत्पन्न है। राज्य के अभाव में रहते हुए भी हम कर्म, अधिवास, भय एवं स्वार्थ से उत्पन्न है तो राज्य के अभाव में ह्यूम्स की प्राकृतिक व्यवस्था का का जीवन हो जाने की धारणा निर्मल नहीं है। ह्यूम्स की प्राकृतिक व्यवस्था के जीवन की सम्भावना की पुष्टि यह कुछ के समय समय राज्यों के निर्वाहियों द्वारा अपने देशवासियों के प्रति किए जाने वाले निर्णय अन्तर्गतों के भी होता है। अतः निवृत्तताम इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रमाण के लिए कईमान राज्यों का पारस्परिक व्यवहार भी सामने है। अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के अभाव में विभिन्न राज्य परस्पर जलते और खुली शक्ति के उद्योग लगते हैं। अथवा और द्वितीय महायुद्ध की कल्पना करने की मन्त्री तरह बात है और ऐसी ही द्वितीय युद्धी कल्पना की कल्पनाओं के रूप में उद्योग लगते हैं। अतः जब सभी राज्यों में यह दशा है तो राज्यविहीन व्यवस्था में ह्यूम्स द्वारा वर्णित मानव-जीवन की स्थिति का ऐसा सर्वथा स्वाभाविक है। हाँ, हमने कोई कल्पना नहीं कि मानव-व्यवहार और प्राकृतिक दशा का उत्पन्न वर्णन दशा वर्णित है।

प्राकृतिक अधिकार और प्राकृतिक नियम

(Natural Rights and Natural Law)

हमने उक्त लेखिकाओं के 14वें अध्याय में ह्यूम्स ने इनका प्रतिपादन किया है। उसके अनुसार प्राकृतिक अधिकार सांस्कृतिक व्यवस्था में मानव-जीवन की दशा के लिए अत्यन्त उपयोगी व्यवहार-व्यवस्था या भी अधिक स्वाधिक में स्वाभाविक विहित था। व्यक्ति की अपने जीवन-धारण के लिए किसी की मृत्यु या मार करने की स्वतन्त्रता था। ही एवं ह्यूम्स ने ऐसे अधिकार को 'होर का अधिकार' (Right's

Right) कहा है। जिस तरह केर को अपना अधिकार मानने की स्वतन्त्रता होती है उसी तरह प्राकृतिक व्यवस्था में मनुष्य को भी अपनी दम्भ-पुष्टि के लिए हिंसा घोर हत्या की सुनी छूट थी। तबले-वैदित मनुष्य अपने जीवन में इन अधिकारों की प्रथम अधिकारिता करता था।

लेकिन प्राकृतिक अधिकारों के साथ ही कुछ प्राकृतिक नियम भी थे जिनका पालन करने से प्राकृतिक अधिकार-प्राप्ति के उद्देश्य की पूर्ति होती थी। हॉम्स का मत है कि मनुष्यों के प्राकृतिक अधिकार समान होने के लिये एक दूसरे की हत्या घोर मृत्युभार का अधिकार प्राप्त होता है जिसके जीवन सर्वथा असुरक्षित हो जाता है। लेकिन सभी व्यक्ति जीवन को सुरक्षित बनाए रखना चाहते हैं, यतः वे प्राकृतिक दशा में भी अपनी सुरक्षा के लिए युद्ध द्वारा कुछ नियम बना लेते हैं। इन नियमों का पालन करके मनुष्य व्यवस्था (प्राकृतिक व्यवस्था) में भी सुसमर्थक रह सकते हैं। हॉम्स ने इन प्राकृतिक नियमों को 'गोल्डन की लायनो' का नाम दिया है। दूसरे शब्दों में हॉम्स के अनुसार प्राकृतिक कानून बुद्धि द्वारा सीखा हुआ वह सामान्य नियम है जो मनुष्य को जीवन के लिए होनहार कार्य करने से रोकता है और लाभदायक कार्य करने को प्रेरित करता है। वे प्राकृतिक नियम वे नियमकण हैं जो मनुष्य मनुष्य द्वारा सीखता है, और जिन्हें वह अपने जीवन के लिए लाभदायक पाता है। हॉम्स ने 'प्राकृतिक नियम' की परिभाषा ऐसे रूप में की है कि "वह वह नियम है जो प्रत्येक द्वारा सीखा गया है, जिसके द्वारा मनुष्य के लिए वे कार्य निर्दिष्ट हैं जो उनके जीवन के लिए विनाशकारी हैं या जिसके जीवन की रक्षा के साधनों का हनन होता है और जिनके द्वारा उनके लिए उन कार्यों का न करना निर्दिष्ट है जिनके जीवन की रक्षा होती है।" लेकिन इन प्राकृतिक नियमों को कानून नहीं कहा जा सकता है क्योंकि कानून तो सम्बन्धों को माता है। प्राकृतिक नियम मनुष्य को बाध्य करता है कि वह प्राकृतिक व्यवस्था में सामंजस्य के लिए दम्भानुसार कुछ भी करने की मिली हुई अपनी स्वाभाविक स्वतन्त्रता का कुछ कम त्याग दे ताकि वह कुछ स्वातन्त्र्यता का अधिक निश्चित रूप से उपभोग कर सके। इस प्रकार प्राकृतिक नियम पूर्ण स्वतन्त्रता-प्राप्ति तथा अनुसरण-निष्ठ के मध्य एक कड़ी थी। इसी आधार पर हॉम्स ने प्राकृतिक अधिकार और प्राकृतिक नियम का अन्तर स्पष्ट किया है। प्राकृतिक अधिकार प्राकृतिक व्यवस्था को निरन्तर अपने-की विपरीत बना देते हैं जबकि प्राकृतिक नियम पर आधारित करके मनुष्य प्राकृतिक व्यवस्था की व्यवस्था के रूप में होते हैं और सामंजस्य-प्राप्ति के उद्देश्य को सुव्यवस्था से प्राप्त कर सकते हैं। हॉम्स ने इस प्रकार के 19 प्राकृतिक नियम बताए हैं जिनके से कुछ ये हैं—

1. "प्रत्येक मनुष्य को गोल्डन की लायनो के लिए नहीं तक प्रयत्न करना चाहिए जहाँ तक सम्भवता की सीमा हो, और यदि वह उसे प्राप्त नहीं कर सकता हो तो उसे अधिकार है कि वह सभी उपायों वहाँ तक कि कुछ का भी प्रयोग करे।"
2. "मनुष्य को गोल्डन की लायनो के लिए अपने प्राकृतिक अधिकारों को उस सीमा तक त्यागने के लिए सम्मत् रहना चाहिए जहाँ तक दूसरे लोग भी

लोक मान्य मान्य है, और दूसरों के विषय उसे कभी ही स्वतन्त्रता से संशुद्ध रहना चाहिए, जिससे वह दूसरों को अपने विषय देने के लिए तैयार हो ।”

3. “व्यक्तियों को अपने सम्बन्धों का पालन करना चाहिए ।”

उपरोक्त तीनों नियमों का कारण हॉम्स के ही शब्दों में यह है कि “दूसरों के साथ तुम वैसा ही करो जैसा अपने लिए उचित चाहते हो ।”

4. “जिस मनुष्य को दूसरे की कृपा से कोई लाभ प्राप्त होता है, उसे चाहिए कि वह उस मनुष्य को, जिससे लाभ हुआ है, ऐसा आभ्यर्थित व्यवहार न दे कि उसे अपनी संस्थापना के लिए प्रयत्न करने दें ।” इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य को कृतज्ञ नहीं होना चाहिए ।

5. “प्रत्येक व्यक्ति को अन्य लोगों के साथ निष्ठा करना चाहिए ।”

6. “व्यक्ति का ध्यान रखते हुए प्रत्येक को उन दूसरे मनुष्यों की विपत्तियों की ओर ध्यान देना चाहिए जो परमात्मा करके सहायता चाहते हैं ।”

7. “व्यक्तिगत होने में मनुष्य को विपत्ति दुर्घटना की महत्ता को नहीं बल्कि व्यक्तिगत होने वाली समस्याओं की महत्ता देखनी चाहिए ।”

8. “किसी व्यक्ति को कर्म, धर्म, मुद्रा या संकेत द्वारा दूसरे के प्रति कष्ट प्रकट नहीं करना चाहिए ।”

9. “प्राकृतिक रूप से प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे को अपने समान समझना चाहिए ।”

10. “किसी भी व्यक्ति को व्यक्ति की कर्तव्य को मानते समय स्वयं के लिए ऐसे अधिकार सुरक्षित नहीं रखने चाहिए जिन्हें वह दूसरे के लिए सुरक्षित नहीं रखने देना चाहता ।”

हॉम्स द्वारा बनाए गए उपर्युक्त प्राकृतिक नियमों में से प्रथम तीन ही पर्याप्त महत्वपूर्ण हैं । प्रथम नियम मनुष्य को प्राकृतिक व्यवस्था को विपत्तियों से बच निकलने को प्रेरित करता है । ‘व्यक्ति की व्यक्ति पर उसकी रक्षा के लिए मुद्रा’ इस नियम का कारण है । द्वितीय नियम के अनुसार यदि कोई व्यक्ति चाहता है कि दूसरे व्यक्ति उसकी व्यक्ति और मर्यादा की इच्छा का आदर करें तो उसका कर्तव्य है कि वह दूसरों की भी इस प्रकार की इच्छा का आदर करे । हमसे यह स्पष्ट है कि सभी की व्यक्ति-समस्या के अपने प्राकृतिक अधिकार पर समान सीमाएँ लगाने की तैयारी रहना चाहिए, प्रथम प्राकृतिक अधिकार का परिचायक सामान्य एवं सार्वभौमिक है होता चाहिए । तृतीय नियम, सामाजिक जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात ‘विश्वास’ का प्रतिपादन करता है । परिवार की कई समस्याओं का पालन करने से ही विश्वास की प्राप्ति संभव संभव है । इसके अभाव में समाज टिक नहीं सकता । लेकिन यह अभी समय है जब अन्य व्यक्ति की आँखों के साथ समझना का व्यवहार करने के लिए तैयार हो ।

प्राकृतिक नियम ही वे सिद्धान्त हैं जिनके आधार पर हमें अपने समाज का निर्माण करना है। वेबेदाइन के अनुसार, "वे एक साथ ही पूर्ण दूरदर्शिता के सिद्धान्त भी हैं और सामाजिक नीतिकला के सिद्धान्त भी एवं दुर्भाग्य के व्यक्तिगत चरम के मनोवैज्ञानिक उद्देश्यों के एक कठम घाते बढ़कर सम्पत्ता की निर्धन तथा वैयक्तिकता के मुक्तों तक जाना सम्भव बनती है।"¹ पुनरुक्त, हुम्बोल्ट के विचार से प्राकृतिक विधि का परिचयान वे निम्न है जिनके अनुसार कोई भी व्यक्तिगत प्राणी यदि उसे अपने सामर्थ्य की परिमितियों का पूरा ज्ञान हो तथा वह व्यक्तिगत मानसिकता या उद्देश्यों के प्रभावित न हो, तो कार्य करेगा। हुम्बोल्ट का विचार है कि व्यक्तिगत मनुष्य इस तरह के कार्य नहीं करेगा। अतः प्राकृतिक विधि कुछ ऐसी सामाजिक परिस्थितियों का विवरण पर होती है जिनके आधार पर मनुष्य स्वार्थी व्यवहार के निर्माण का प्रयास करेगा है। वे परिस्थितियाँ किसी व्यक्ति का निर्माण नहीं करती बल्कि इस बात की घोषणा करती हैं कि मनुष्यी तथा नीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत प्रान-प्रान्ति योंकी को मनुष्य का क्या विद्या का संकलन है ?

हुम्बोल्ट ने प्राकृतिक विधियों के रूप में 'गॉल्ट की ऐसी प्राणी' (Artificial of Peace) प्रस्तुत की है जिसका अनुकरण करते प्राकृतिक दशा में भी मनुष्य मुक्ति और शान्त जीवन व्यतीत कर सकते हैं, पर इन विधियों का आधार भी केवल स्वार्थ है। फिर वह भी ध्यान देने योग्य बात है कि प्राकृतिक विधियों को 'कानून' (Law) केवल सामाजिक भाषा में ही कहा जा सकता है। कानून के सर्वे प्रथमकारणें बलि होती हैं, वह सम्पत्ति का संचय होता है। इसके निम्नगत प्राकृतिक नियम केवल विवेकपूर्ण चरमपर्यन्त हैं जो सामर्थ्य में सहायक हो सकते हैं और बिना मानस या न मानस बलि की स्वेच्छा पर निर्भर है। हुम्बोल्ट ने इन विधियों के लिए 'कानून' (Law) शब्द का प्रयोग शीघ्र ही 'कानून' के सर्वप्रथम चरम में नहीं किया है। इसके लिए 'प्राकृतिक कानून' केवल 'यह साधन है जिससे मानव-वृद्धि साम-वृद्धि तथा अन्तर्गत के मानव को प्राप्त करने के लिए उपयुक्तो सम्पत्ती हो।' हुम्बोल्ट के अनुसार प्राकृतिक नियम प्राकृतिक व्यवस्था में और राज्य-व्यवस्थापकद्वारा दत्त में, व्यवस्था की दृष्टि के अन्तर्गत व्यवस्थाएँ हैं किन्तु इसका शासन करने के लिए कोई कानूनी कार्यवाही नहीं की जा सकती। सम्पत्ति के अन्तर् कोई कानूनी प्रतिष्ठा नहीं है किन्तु प्राकृतिक नियम सामाजिक दृष्टि के अन्तर् भी मान्य करते हैं। हुम्बोल्ट ने इन प्राकृतिक विधियों की शासन और प्रशासनिक मान्यता के अन्तर्गत व्यवस्था, प्रकृतिकता, राज्य, यद्वा, सामर्थ्य आदि सभी की विधि-निर्दिष्ट शर्तकार नहीं किए जा सकते। यह सभी सम्भव नहीं हो सकता कि कुछ से जीवन प्राप्त हो और गॉल्ट से जीवन का प्रवृत्त। इन प्राकृतिक विधियों का शासन ही सम्पत्ति और दुरुपयोग सामर्थ्यशासन माना जा सकता है।

आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति और बुद्धिसंगत आत्म-रक्षा

(The Instinct of Self-Preservation and Rational Self-Preservation)

मानव-स्वभाव, प्राकृतिक व्यवस्था और प्राकृतिक नियम पर विचार करते समय हॉम्स द्वारा दी गई मनुष्य की आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति और बुद्धिसंगत आत्म-रक्षा का मापमाप इन पाँच चुके हैं। किन्तु इस प्रत्यक्ष महत्त्वपूर्ण विचार पर ध्यान देने की ज़रूरत करना आवश्यक है। हॉम्स के अनुसार "मनुष्य अपनी जीवन-शक्ति को कायम रखने और बढ़ाने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है। आत्म-रक्षा का उद्देश्य मनुष्य के भौतिक अस्तित्व को कायम रखना है। जो बात इससे सम्बन्धित है वह भुन है और जो अग्रहारीक है वह अनुप है।" हॉम्स की यह स्पष्टता: मान्य या कि आत्म-रक्षा का सिद्धान्त इसका आसान नहीं या ज़ेता कि यह सब एक मान्य गया है। जीवन एक ऐसा अनुभव नहीं है जिसमें आत्म की एक बार में ही हमेशा के लिए प्राप्त कर लिया जाए। जीवन में आत्म-रक्षा के आधनों की पर-पर पर सोच करनी पड़ती है। पूर्णिक सुरक्षा के साधन कम हैं इसलिए जीवन-संघर्ष प्रचलित है। मानव प्रवृत्ति की भुन आत्म-रक्षा सुरक्षा की दृष्टि है। इस दृष्टि को शक्ति की दृष्टि से धुन नहीं किया जा सकता। हम में आत्म सुरक्षा की अतिनी भावना है—उसे अत्यधिक सफल करने की जरूरत है।¹ हॉम्स के शब्दों में "सम्पूर्ण मानव-शक्ति शक्ति की मान्यता और अतिशय दृष्टि से प्रेरित है। इस मान्यता का अर्थ मनुष्य के साथ ही होता है। कारण यह नहीं है कि मनुष्य के साथ इस समय अतिनी भुनी है वह उसके अधिक भुनी चाहता है अपना उसका भुन कम शक्ति से काम नहीं चल सकता। इसका कारण यह है कि मनुष्य के साथ इस समय जीवन के जो साधन हैं जो शक्ति अपने बिना और अधिक प्राप्त किए हुए उसकी रक्षा का आत्म-रक्षण नहीं होता।"

हॉम्स के विचार का स्वाभाविक अर्थ है कि मनुष्य निरंतर सुरक्षा की आवश्यकता का अनुभव करता है। वह शक्ति, धन, पद, सम्मान आदि की इसलिए प्राप्त करना चाहता है कि अपनी सुरक्षा के साधन भुन सके और उस अतिशय को एक सके जो किसी न किसी दिन अत्यंत अत्यंत शक्ति पर आता है। मनुष्य के सामने प्रचलित अर्थ अपनी सुरक्षा का होता है, अतः उसके लिए अन्य मनुष्यों का नहीं एक महत्त्व है जहाँ तक वे इस पर अपना आश्रित हैं।

हॉम्स मानव-प्रवृत्ति में अतिशय और शक्ति—इन दो सिद्धान्तों को अर्पित करता है। दृष्टि अपनी अतिशयता के कारण मनुष्य उन सभी मनुष्यों को स्वयं प्राप्त करना चाहता है जिन्हें अन्य शक्ति चाहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वे निरंतर संघर्ष में रहते हैं। लेकिन शक्ति प्रवृत्ति द्वारा मनुष्य पारस्परिक संपर्कों को ब्रूना प्रीकते हैं। "शक्ति एक प्रकार की निवारक शक्ति है जिससे सुरक्षा की शीघ्र आत्म-रक्षा के सामान्य सिद्धान्त का अनुसरण किए बिना ही अधिक आत्म-रक्षा की जाती है।" शक्ति अग्रहारीक है कि आत्म-रक्षा का उद्देश्य सभी प्राप्त किया जा

सम्झा है जब मान्य हो। विवेक का प्रथम भावेष्ट यह है कि मनुष्य की मान्य की ओर और मान्य स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिये। विवेक मान्य स्थापना पर इतना अधिक जोर दृष्टि देता है कि 'अनेक न अनेक के विरुद्ध युद्ध' की स्थिति मानव-जीवन की ऐन-हीन-सीध और मनुष्यता की है। विवेक प्राकृतिक व्यवस्था की नियमितियों से बचने का मार्ग दिखलाता है।

मानव-प्रकृति के दो विरोधी उत्तरी धार्मिक दृष्टि और विवेक के सभी प्रवृत्तियों और भावनाएँ पैदा होती हैं। विवेक न तो मही होता है। "विवेक द्वारा ही मनुष्य मान्य-रक्षा के कार्य में सुदृढतापूर्वक प्रवृत्त हो सकता है। विवेक की निरामक शक्ति के द्वारा ही मनुष्य अपनी मन-की ओर एकलकी नियति से निकल कर अन्य ओर सामाजिक स्थिति में प्रवेश करता है। यह परिमर्तन प्रकृति की विविधता द्वारा होता है। ये विविधता बताता है कि यदि एक विवेकशील प्राणी अपनी मुरझाते सम्बन्धित सभी उत्तरी के बारे में अन्य मनुष्यों के साथ अपने सम्बन्धों की समझा कर निष्पत्ति से निवार करे तो यह नया करेगा।" हॉम्स के अनुसार, "होमिड प्रकृति की विधि कहिये विवेक का भावेष्ट है। यह उन मनुष्यों की निरन्तर सम्झता है जिन्हें जीवन की सतह रक्षा के लिए या तो करना पड़ता है या छोड़ना पड़ता है।"

स्पष्ट है कि हॉम्स के अनुसार मनुष्यित और विवेकहीन स्वार्थ कीरताय की उत्पन्न करता है जबकि विवेकपूर्ण स्वार्थ समाज के दृष्टित्व की सम्भव बनाता है। विवेक की शक्ति है कि व्यक्ति अपना कलकल चाहता है जो दूसरे के हितों में हस्तक्षेप नहीं करे। विवेक में स्वयं मान्य स्थापित करने की सामर्थ्य नहीं है, यह केवल मनुष्य की इतनी दृष्टिगत प्रदान करता है कि यह अपने और दूसरों के हितों में इन तरह मर्यादा स्थापित कर सके जिससे उनके स्वयं के हित सुरक्षित रहें।

हॉम्स का विचार है कि दूसरी भावनाएँ विवेक की भाषा को नहीं समझती अधिनाय मनुष्य विवेक के प्रयोजनों, प्राकृतिक विविधता के अनुसार काम नहीं करते। मनुष्य अपनी प्राकृतिक मान्यताओं के उत्तरी से प्रभावित होता रहता है। यह अपनी भावनाओं की नियमित नहीं कर सकता। इन एक ऐसी सम्बन्धितमान, मनुष्य-सम्पन्न और निरन्तरशी शक्ति की प्राप्ति-रक्षा है जो मनुष्य को विवेक अपना प्राकृतिक विधियों के अनुसार व्यवहार करने की विद्या कर सके। ऐसा सभी हो जाता है जब एक प्रभावनायी मान्य हो, क्योंकि मुरझा मान्य पर निर्भर है।

राज्य की उत्पत्ति तथा उसका स्वभाव

(The Origin of the State and its Nature)

हॉम्स बुद्धिवादी है। उसके मतानुसार एक बार जब मनुष्य 'जान जाता है कि उसकी मृत्यु का सब प्राकृतिक प्रतिक्रिया के कारण है तो विवेक उसे मार्ग दिखलाता है। उस यह यह विद्वान्न मान लेता है कि "तु भी दूसरों के साथ ऐसा न कर जो तू अपने साथ दूसरी द्वारा किया जाना सम्भवपूर्ण समझता है (Do not do what is another which thou thinketh unreasonable to be done by another to yourself)"।" हॉम्स यह भी मानता है कि यदि मनुष्य स्वभाव के ही

मान्तिपूर्ण होता और बिना किसी सर्वोच्च शक्ति या संविदा के ही रह जाता जो शासन की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। पर मनुष्य ऐसा नहीं है। वह अपनी भावनाओं और अपने मनोनी की नियन्त्रण में नहीं रह सकता। उसकी स्वार्थी वृत्तियाँ अपने के बीच खोली रहनी हैं। यहाँ स्वभावतः एक ऐसे व्यक्ति या व्यक्ति-समुदाय की आवश्यकता पड़ती है जो मनुष्यों को नियन्त्रण में रख कर उनकी अनुशासनबद्ध करे। बिम्ब के घोड़ेको का समस्त मनुष्यों के शासन करने और उनके उत्थान का दण्ड देने के लिए किसी सरल शक्ति का होना जरूरी है जिससे इसकी कामधे हो कि वह "मानव भावनाओं से उस भाग में बाह्य कर सके जिसे वे समझती हैं, और वह है भय तथा स्वार्थ की भाषा।" ऐसी सामान्य सत्ता की स्थापना के लिए वह आवश्यक है कि प्रत्येक इच्छाओं के स्थान पर एक इच्छा का प्रभाव स्थापित करने के लिए प्राकृतिक नियम के अनुसार जब व्यक्ति अपने अधिकारों और शक्तियों को एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को प्रदान करें, वे अपनी मनुष्यी इच्छाएँ एक व्यक्ति की इच्छा की समर्पित कर दें। हॉम्स ऐसी सत्ता प्रस्ताव शक्ति राज्य में पाता है जिसकी इच्छा समस्त व्यक्तियों की इच्छाओं की प्रतिनिधि होती है और जिसमें वह सामर्थ्य होती है कि वह सबसे बड़े बिक के अनुसार शासन करायें और ऐसा न करने वालों को दण्ड दे। हॉम्स के मतानुसार राज्य एक सामाजिक समझौते के फलस्वरूप अस्तित्व में आता है। राज्य की स्थापना का सर्वोच्च 'निर्दिष्टात्मक' के 1.8 में उल्लेख में किया गया है—

"एक राज्य की स्थापना तब होती है जब प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे में यह समझौता करते हैं कि समस्त व्यक्ति उस व्यक्ति प्रस्ताव व्यक्ति-समूह के लोगों की प्रस्ताव कार्य समझौते जिसे उनके अधिकारों भाग में प्रस्ताव प्रतिनिधि बुला है, वादे करने के किसी में उसके वक्त में वक्त बिना ही या विरोध में। इस समझौते का उद्देश्य यह है कि मनुष्य मान्तिपूर्वक और दूसरों के विरुद्ध सुरक्षित रहें। इस तरह से जो भी बीच उत्पन्न होती है वह केवल राजकीय के क्षेत्र में रहता है—यह समस्त व्यक्तियों का वास्तविक इकाई में एकीकरण है जिसकी सिद्धि अमेरिका के समझौते द्वारा हुई है। यह समझौता इस प्रकार हुआ है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति ने प्रत्येक व्यक्ति से यह कहा है कि "मैं इस व्यक्ति को या व्यक्तियों के इस समूह को प्रस्ताव मान्य स्थापन करने का अधिकार और शक्ति इस धर्म पर समर्पित करता हूँ कि तुम भी अपने इस अधिकार की इसी तरह (इस व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को) समर्पित कर दो।"

इस तरह काय जन-समुदाय एक व्यक्ति में संकुच हो जाता है। इसे राज्य (Commonwealth) या लेटिन में 'सिविलिट्स' (Civitas) कहते हैं। हॉम्स के अनुसार वही उस महान् लेविताशन या देवता (Mortal God) का जन्म है जिसकी बुद्धि पर, अविनाशी ईश्वर की प्रत्यक्षता में दूसरी शक्ति तथा सुरक्षा निर्भर है।

हॉम्स के समझौता सिद्धान्त (Social Contract Theory) से स्पष्ट है कि व्यक्तियों ने अपने प्राकृतिक अधिकारों को किसी निर्दिष्ट व्यक्ति या व्यक्तियों की शक्त को समर्पित कर दिया जो अनुसंधान में नियुक्त हुई और समर्पण करने वाले

व्यक्ति जतनी बचा हो गए । प्रभुसत्ता उस समझौते से किसी देश के रूप में नहीं थी । उसके अधिकार प्रसीधित हो रहे । हमें का मत था कि प्रभुसत्ता के प्रत्यक्ष अधिकार के सम्मेलन ही एक वास्तविक सुदृढ़ शासन (Constitutionalism) की स्थापना हो सकती थी । किसी प्रकार को 'बर्त' बनाने से प्रतिपक्ष और अधिकार की सम्भावना ही संभव थी बिना इस प्रकार के प्रसंग उत्पन्न हो जाने बिना विचारों सम्मेलन न होकर और इस पुनः भ्रष्टाचार (Anarchy) पैदा नहीं होकर प्राकृतिक सम्मेलन का दृश्य उत्पन्न हो जाता । इस प्रकार संघर्ष या प्रभुसत्ता शासन की विधि से नहीं क्योंकि सामाजिक सम्झौते से बनने कोई वक्त नहीं दिया । इस विचारों का मत यह हुआ कि शासन सारा होने पर भी प्रजा की हितों के विरुद्ध चलने का अधिकार नहीं रहा । शासन के विरुद्ध जाने का अधिकार प्राकृतिक सम्मेलन की ओर मोटना था जो हो नहीं सकता था, बल्कि जतनी बचा और रक्षित रहने ।

रक्त है कि हमें के सम्झौते का यदि विनिश्चित करें तो प्रसी के विनिश्चित प्रकट होती है—

(1) सम्झौता एक शासक ही सामाजिक एक राजनीतिक दोनों प्रकार का है । शासन द्वारा अपनी व्यक्तिगत शक्ति प्राप्त कर सामाजिक सम्मेलन स्वीकार का करने से वह सामाजिक और उसके प्रतिष्ठानसम्बन्ध प्रभुसत्ता की स्थापना होने से वह राजनीतिक है ।

(2) वह सामाजिक सम्झौता (Social Contract) है, प्रजापति सम्झौता नहीं । सम्झौता सम्झनु और व्यक्तियों के सम्मेलन न होकर केवल व्यक्तियों के ही सम्मेलन हुआ है । प्रभुसत्ता सम्झौते से सम्मिलित नहीं है ।

(3) सम्झौते से किसी देश के रूप से सम्मिलित न होने से प्रभुसत्ता को बर्तक प्रसीधित और उसके अधिकार निरस्त हैं । प्रभुसत्ता किसी देश के रूप नहीं होती है । प्रभुसत्ताकारी देश कोई प्रकार नहीं करता कि वह प्रसीधित शक्ति का सम्मेलन लोगों की हितों के अनुसार या प्रसीधित सम्मेलन से करेगा । बल्कि यदि निरस्त सम्मेलन करता है तो भी उसे लोग नहीं दिया जा सकता ।

(4) प्राकृतिक दशा से बनने सम्मेलन, अधिकार और शक्ति की सम्मेलन तथा सम्मेलन के प्राकृतिक के बाद व्यक्तियों के किसी अधिकार, सम्मेलन प्राकृतिक सम्मेलन नहीं रहता । बल्कि के सम्मिलित तथा सम्मेलन के सम्मेलन से निरस्त विरुद्ध नहीं कर सकते । सम्मेलन की सम्मेलनता से सम्झौते की कोई बर्तक नहीं होती । बल्कि सम्झौते के सम्मेलन किसी को उसके सम्मेलन होने का अधिकार नहीं रहता ।

(5) सम्झौते के केवल एक सम्मेलन की स्थापना हुई है, बाहे वह कोई व्यक्ति हो या व्यक्तियों को कोई सम्मेलन । बल्कि सम्मेलन अधिकार है ।

(6) प्रभुसत्ता ही विधि की शक्ति है । निम्न का विधि सम्मेलन प्राकृतिक है । प्रभुसत्ता के सम्मेलन को सम्मिलित नहीं सम्मेलन या सम्मेलन बर्तक से सम्मेलन

और नीतिक व्यवस्था का सार है। मान्य करने का, राष्ट्रीय तथा जातिको के मुँह धमका उचित का अधिकार दुर्लभ, अनुपलब्ध की भाषा है। राजकीय अधिकारियों को चुनने और नियुक्त करने का भी अधिकार उन्ही की है।

हॉमि शासन की आजादासन के प्रजा के अवस्थित कर्तव्यशासन के कतिपय धर्मधर्मों का भी उल्लेख करता है। वह कुछ परिस्थितियों में प्रजा की राजा की व्यवहारा का अधिकार देता है। यदि राजा व्यक्ति को 'घमने-घावको मारने, घायल करने या घमने पर आक्रमणकर्ता का विरोध न करे, बाध, धोखाधड़ी या जीवन-दाता मन्त्र किसी वस्तु का प्रयोग न करने' की आज्ञा देता है तो वह ऐसी आज्ञा की व्यवहारा कर सकता है क्योंकि "प्रजाजन सुरक्षा के लिए ही शासन के अधीन होते हैं। यदि शासन सुरक्षा प्रदान नहीं कर सकता तो शासन का विरोध आवश्यक ही जाता है। शासन के पक्ष में एकमात्र तर्क यह है कि उसे शासन करना चाहिए। यदि विरोध प्रकट हो जाता है और प्रजा के हानि के उसकी शक्ति निर्यात जाती है तो प्रजा तत्पश्चात् प्रजा नहीं रहता और उसके प्रजाजन, प्रजाजन नहीं रहते। इस धर्मधर्म के प्रजाजन धर्मधर्म राजा के लिए विवश हो जाते हैं। वे एक नए प्रजा की आजादासन के लिए तैयार हो सकते हैं जो उनकी राजा करे। हॉमि के सिद्धान्त में शक्तिविहीन वैधता (Legitimacy) के लिए कोई संशय नहीं है।¹ हॉमि के अनुसार अनुभव करने जीवन-राज के प्राकृतिक अधिकार की राजा के विपक्ष भी सुरक्षित रहते हैं।

हॉमि के सिद्धान्त से प्रकट होता है कि राज्य वैयक्तिक व्यक्ति या सामाजिक विभाग का परिणाम नहीं है बल्कि मानव-निर्मित एक ऐसा कृत्रिम शासन है जिसे अपनी निश्चित आवश्यकता की पूर्ति हेतु रखा गया है। "यह राज्य पर से जाने के लिए एक शासन-मात्र है, सब मान्य नहीं है।" हॉमि के अनुसार, "राज्य का प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तिगत हितों का योग-भाग है; इसके प्रतिरूप उसका कोई सामूहिक लक्ष्य नहीं है।" हॉमि का सिद्धान्त राजकीय के प्रति सम्मान एवं शक्ति की कोई महत्त्व नहीं देता, वह ही राज्य को केवल उपयोजिता के स्तर पर ले जाता है। राज्य ऐसीविद् वेष्ट है कि उसके हित सामाजिक होते हैं मान्यता उसकी निर्दिष्ट अनुभव की सुरक्षा के एक साधन सम-सम मन्य की ही ही है। अनुभव राजा का शासन इस विवेकपूर्ण मन्य के करता है कि शासन-राज्य के उद्देश्य की राज्य द्वारा ही सामूहिक सुखमता से पूर्ति हो सकती है। राजादेशों का शासन बुद्धिमान व्यक्ति इसलिए करता है कि राज्य सभी व्यक्तियों का विषय वह भी शामिल है, प्रतिनिधित्व करता है।

अनुभूतता (Sovereignty)

हॉमि अनुभूतता का प्रकल्प समर्थन है। उसकी अनुभूतता का आधार है

सांसारिक शक्ति। स्पष्ट वा अस्पष्ट किसी भी रूप में हो, शक्ति वा समुच्चय के ऐसे प्रयुक्तता प्राप्त होती है।

होमर का 'लेनिनात्मक' चरित्र समुदाय प्रमुख-समस्त शासन पूर्णतः निरक्षर है। राज्य काटोस ही कायूर है। उसका प्रत्येक कार्य व्यावहारिक है। प्रयुक्तता मिले, प्रतिभाजय, स्पष्ट एवं प्रदेव है। राज्यका शासन-सम्बन्ध और कायूर-समस्त होती है। उसका हस्तक्षेप कानों और विचारों दोनों पर है। दोनों में प्रयुक्तता पर ही समीक्षाई लगाई है, होमर ने उम्मेद दया किया है। नेटन के अनुसार 'होमर के सांसारिक धर्म कोई ऐसा लेखक नहीं हुआ है जिसने प्रयुक्तता के बारे में इतना प्रतिपादित दृष्टिकोण अपनाया हो।'¹

केसाइन के अनुसार 'होमर की दृष्टि में निरक्षर शक्ति और पूर्ण अराजकता, सर्वशक्ति-समस्त शासन और समानता इन दोनों के बीच कोई विचार नहीं है। किसी भी सांसारिक क्षमता का प्रतिफल उसकी शक्ति अराजकी के माध्यम से ही हो सकता है। उसके सदस्यों को जो भी साधारण मिलते हैं, वे केवल उत्पादों के द्वारा मिलते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार समुदाय सांसारिक सत्ता शासन में वैधित्व होती चाहिए। विधि और शासन केवल उसकी दृष्टि है। उसकी सत्ता प्रतीति होती है। यदि वह सीमित भी होती है, तो केवल उसकी शक्ति में प्राप्त। इसका कारण यह है कि उसकी सत्ता के प्रतिफल धर्म कोई भी सत्ता केवल उसकी अनुमति द्वारा ही होती है। यह भी स्पष्ट है कि समुच्चय बनाई नहीं होती और उसे काटा नहीं जा सकता। इसका कारण यह है कि वह ही हमारी सत्ता की सीमाएं निभा जाता है और राज्य का प्रतिफल होता है अथवा राज्य की प्रतिभा नहीं निभा जाता और अराजकता पानी है। शासन की समुदाय शक्ति, उदाहरणार्थ विधि निर्धारण, शासन-समस्त, शक्ति-प्रयोग, विधि प्रत्यक्षित एकदमों का समस्त-मनसु में ही विधि होती है।'

होमर के अनुसार समुच्चय सभी विवेकात्मक कायूरों की ओर है। नील मृगता के लिए अपने प्राकृतिक अधिकारों तथा वैधित्व प्रतिपत्ति का प्रतिफल यह ही है, यमः सांसारिक रूप में उस मनुष्य परत के विधि-निर्धार की शक्ति केवल मनुष्य के पास रह जाती है। मनुष्य ही समुदाय समाज की ओर से यह निर्णय करता है कि सांसारिक शक्ति और मृगता के लिए क्या किया जाना चाहिए?

मनुष्य की सर्वशक्ति पर सर्वशक्ति अधिकार प्राप्त है। यह निराल है। उससे विधि-निर्धार शक्ति किसी भी माध्यम शक्ति के प्रतिनिधित्व है। राज्य के मनुष्य का कोई भी समस्त धर्म प्रतिपादित नहीं होता। मनुष्य ही कायूरों का व्यावहारिक भी है। प्राकृतिक कायूर भी उस पर कब्जा नहीं मचा सकते क्योंकि वे कायूर-कायूर न होकर शक्ति के आदेश होते हैं जिन्हें पीछे किसी विवेकात्मक प्रति

1 "The writer has taken a more extensive view than Hobbes of the absolute nature of Sovereignty."
—Giles op. cit., p. 126.

का प्रभाव होता है। ऐसी कानून भी सम्भव की प्रतिबन्धित नहीं करते क्योंकि वही उनका व्याख्याता होता है।

हॉम्स की अनुसंधान की शारदा ने यह एक सम्पूर्ण अवस्था है कि यह एक और ही सम्भव की कर्तव्यता का प्रतिपादन करता है तथा दूसरी ओर सम्भव की ऐसी शारदाओं के सम्बन्ध की स्वीकृति देता है जिससे व्यक्ति के सामान्यता का उद्देश्य स्पष्ट होता हो। राजशाही-पालन के सम्बन्ध की यह बात अनुसंधान के सिद्धान्त के मार्ग में सम्पूर्ण प्रतिबन्ध है। हॉम्स यह भी स्पष्ट नहीं करता कि इन बात का निर्णय कौन करेगा कि सम्भव, ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिससे राजशाही की सम्बन्धता करना उचित है।

हॉम्स के अनुसंधान-सिद्धान्त के यह भी प्रकट है कि राज्य-निमित्त कानूनी के अनुसंधान सभी बातें उचित है और उनके प्रतिफल में अनुसंधान है। शायद यह दृष्टि कि केवल राज्य में ही नीति के अस्तित्व की सम्बन्ध की जा सकती है। सांसाधनिक सम्बन्ध के व्यक्ति के भी अधिकार हैं उन्हें स्वीकृत कर कर्तव्य की सम्बन्ध का कानून द्वारा की जाती है और यह कानून सम्भव का आधार है। मत हम किसी भी कानून की सम्बन्धपूर्ण नहीं कह सकते। सम्भव ही राज्य का सम्बन्धता है और उसके निर्देश ही नीति सांसाधनिक क्षेत्रों के आधार है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी सम्बन्धता के नाम पर सम्बन्धता का निर्णय करने लगेगा तो सम्बन्धता की स्थिति वैसा हो जाएगी। मत: कानून की ही 'सांसाधनिक सम्बन्धता' की सहा की जा सकती है। यह स्वीकार करना होगा कि शुभ-सम्भव, सामान्य-सम्बन्ध, नीति-सम्बन्ध सभी का भी केवल सम्भव है।

हॉम्स ने बोली द्वारा सम्बन्धता पर लक्ष्य यह सम्बन्ध सम्बन्धी सम्बन्ध की दृष्टि दिया है। उसके अनुसार सम्भव ही सम्बन्ध का दृष्टिद्वारा है क्योंकि वही समाज के व्यक्ति और सम्बन्ध स्थापित करता है जिसके सम्बन्ध लक्ष्य सम्बन्धता पर होते हैं। मत-सम्बन्ध के ही सम्बन्ध का उत्पादन होता है, मत सम्बन्धता की सम्बन्ध सम्बन्धी विधान का अधिकार है। यह सम्बन्ध का विधान है तथा कर्तव्यता और प्रजा की सम्बन्ध लेने तक का सम्बन्ध है। उसके लिए सम्बन्धता नहीं है कि यह कर्तव्यता के बारे में सम्बन्धता है।

पुनरुत्थ: सम्भव ही सम्बन्धता की सहा का मूल स्रोत है। दूसरे देशों में यह सम्बन्ध स्थापित करने तथा सम्बन्ध नीति के सम्बन्धता के लिए लक्ष्य के सम्बन्धता पर निर्माण सम्बन्धता का यह अधिकारी है। वही सहा का सम्बन्ध सम्बन्धता है और सम्बन्ध का सम्बन्धता है। सम्बन्ध सम्बन्धी सम्बन्धता सम्बन्धता है। हॉम्स के सम्बन्धता में सम्बन्धता सम्बन्धता तथा सम्बन्धता सम्बन्धता के सम्बन्धता के लिए कोई सम्बन्धता नहीं है।

सम्बन्ध, सम्भव के सम्बन्धता सम्बन्धता, सम्बन्धता सम्बन्धता और सम्बन्धता है। सम्बन्धता के प्रयोग में किसी की सम्बन्धता नहीं सम्बन्धता जा सकता। ऐसा करना सम्बन्धता की स्पष्ट करना है। यह-सम्बन्ध का सम्बन्धता सम्बन्धता पर सम्बन्धता सम्बन्धता

सम्बन्ध उसमें भागीदार होने का प्रयत्न करना नहीं होता बल्कि यह निर्धारित करना होता है कि सम्प्रभुता पर किस का अधिकार हो और कौन उसका प्रयोग करे ?

बोर्ड की चर्चा हो हुई है जो शासन-अनुवर्तियों का अन्तर दृष्टि मात्र पर आधारित किया है कि अनुवर्ता का नियन्त्रण कहीं है ? यदि अनुवर्ता एक व्यक्ति में निहित है तो शासन का स्वरूप राजतन्त्र है, कुछ व्यक्तियों में निहित है तो कुलीनतन्त्र है और सब लोगों में निहित है तो लोकतन्त्र है। विभिन्न संस्था दीर्घकालीन शासन-प्रणाली की बात करना स्वयं है क्योंकि अनुवर्ता अनिवार्य है। लोक राजतन्त्र की प्रशंसा करते हैं, कहा: इसे सभ्य शासन-प्रणालियों की अनेकता समझा सकते हैं। शासन-प्रणाली जो भी हो, उसमें कहीं न कहीं अनुवर्ता अवश्य रहती है। कोई न कोई व्यक्ति ऐसा अवश्य होता चाहिए जो व्यक्ति निर्णय करता हो और जो ऐसा कर सकता है वही सम्प्रभु है। लोक प्रभु व्यवस्था की शासन का विरोध करते हैं तो इसका अधिकार केवल वही है कि वे सत्ता के एक विशेष प्रयोग की प्रशंसा नहीं करते। इसी प्रकार यदि लोगों में स्वतन्त्रता के प्रति प्रशंसा है तो इसका मतलब है कि वे या तो आचार्यक प्रयोग का परिणाम से रहे हैं या वास्तविक रूप में रहे हैं। हॉब्स ने राजतन्त्र की सर्वोच्च इतिहास कहा है कि प्रभु ही इसमें राजा का और राज्य का वैयक्तिक तथा सार्वजनिक द्विज एक होता है एक द्वितीय, इसमें शासन का स्वाधीन प्रवर्तन अधिक शक्ति प्राप्त है। व्यक्ति राजतन्त्र में कृपा-पात्रों की बात और अधिकार देने की प्रवृत्ति होती है, तथापि कुलीनतन्त्र और लोकतन्त्र में यह प्रवृत्ति अथवा दुर्गति, अधिक बढ़ जाती है। इन शासन-प्रणालियों में शासन की क्या प्रवृत्ति होती है, यह उसी अनुवर्ता में कृपा-पात्रों की प्रवृत्ति भी बढ़ जाती है।

हॉब्स की प्रवृत्ति की कारण से यही निष्कर्ष निकलता है कि वह इसे पूर्ण, प्रति राज्य और सभ्य मानता है। अनुवर्ता पर जो कथन लगाए गए हैं वे वैयक्तिक नहीं हैं। बोर्ड के सभ्य द्वितीय नियमों (Divine Laws), प्राकृतिक नियमों (Natural Laws) तथा राज्य के मौलिक नियमों (Fundamental Laws) के प्रतिबन्ध हॉब्स स्वीकार नहीं करता। इसी प्रकार वह बोर्ड के मतानुसार यह भी नहीं मानता कि राजा की राजा की वैयक्तिक स्वतन्त्रता होने का अधिकार नहीं है। हालाँकि हॉब्स की प्रवृत्ता बोर्ड की प्रवृत्ता की तुलना में अधिक निरनुवर्त और प्रति वार सम्प्रभु है।

नागरिक कानून पर हॉब्स की विचार

(Hobbes on Civil Laws)

हॉब्स के अनुसार कानून नागरिक-विचारों सम्प्रभु की प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करती है। विचारों में प्रवृत्ति नियमों अथवा ऐतिहासिक प्रणालियों का नहीं वरन् प्रवृत्ति की दृष्टि सम्प्रभु-विचारों ही प्रयत्न है। विचार सम्प्रभु की प्रवृत्ति को शक्ति है तो कानून के लिए न्यायों की प्रवृत्ति करती है। इन विचारों से ही व्यक्ति को यह बात होता है कि निम्ने उसका कहीं और स्थिति-दृष्टि का; क्या व्यापकता है और या सम्प्रभुता; क्या सम्प्रभुता है और क्या वैयक्तिक तथा क्या प्रभु है और

यथा अनुसंधान ? इस प्रकार विविधों मानव-व्यवहार को विनिश्चित करने के लिये हमका सामनायक भी प्रस्तुत करती है । साथ ही ये हम सम्प्रभु का आदेश है जिसमें हमने आदेशों का पालन कराने की क्षमता है । प्रत्यक्ष इन विविधों को नैतिक मूल्य की दृष्टि से नहीं नैतिक इतिहास मानती है कि वे सम्प्रभु की इच्छा की अभिव्यक्ति है । हॉम्स के अनुसार विधि के दो विभाग हैं—नियन्त्रणात्मक या विवेधानात्मक एवं साधनात्मक या दण्डात्मक । दण्ड विभाग में नागरिकों को बंध-सर्वप कार्यों का पालना बताया जाता है और दूसरे विभाग में राज्य के मंत्रियों को, जनता के प्रति प्रत्यक्षमानुसार क्या दण्डविधान है, इसकी व्याख्या की जाती है ? सम्प्रभु ही विधि का एकमात्र स्रोत और व्याख्याकार है ।

हॉम्स ने नागरिक विधि और प्राकृतिक विधि में अन्तर किया है । सेवाइन के शब्दों में "नागरिक विधि प्रमुखता का आदेश है जिसे अनुसंधान लागू किया जा सकता है जबकि प्राकृतिक विधि विवेक का आदेश है जिसका केवल आलोचनात्मक महत्व है । नागरिक विधि का मूल मूल्य यह है कि उसके आदेश का प्रत्यक्ष अन्वयण का भाव निहित है । हॉम्स के मतानुसार नगरपाली तथा लोक जैसे सामान्य विधि-वेत्ताओं की स्थिति में यही भाव है । समस्त सम्बन्धों हैं कि प्रतिनिधिक-सम्बन्धों की महत्त्व में कुछ गुण हैं और सामान्य विधि-वेत्ताओं का विचार है कि प्रथा में कुछ बंधन हैं । अनुसंधान यह है कि अन्वयण करने वाली शक्ति ही विधि को बचाने वाली बनती है । विधि इसी की है जिसके द्वारा वे शक्ति हैं । सत्ता-सम्पन्न व्यक्ति प्रथा को जारी रखने से शक्य है किन्तु उसकी शक्ति स्वीकृति की प्रथा को विधि शक्ति होती है । लोक का यह सम्बन्धितता पूर्वकानुन है कि सामान्यविधि का प्रभाव विवेक होता है ।"

हॉम्स द्वारा विविधों के अविन-अनुचित होने के अधिकार से जनता को बर्खास्त कर केवल निम्न दृष्टि से मान्य-जन्य नहीं माना जा सकता । फिर वह भी हमका ये भी है कि मनुष्य का यह सन्निवेश, जिसे वह प्राकृतिक अवस्था में व्यवहार में लाता था, राज्य की स्थापना होते ही एकलोक गुण नहीं हो गया ? राज्य में ही उस सन्निवेश की अधिक प्रभावशाली होना पात्रित्वा या क्योंकि मनुष्य तब प्राकृतिक अवस्था की अवस्थित भावनाओं से बहुत ऊपर उठ चुका था । सम्प्रभु की इच्छा की ही सन्निवेश, की अभिव्यक्ति मान्य और प्रथा की इस दृष्टि से कोई महत्व न देना राज्य के प्रजासत्तात्मक गुण से स्वीकार नहीं किया जा सकता । इसके अतिरिक्त यदि मान भी लिया जाए कि सम्प्रभु द्वारा विनिश्चित कानून उसकी इच्छा की नहीं परन्तु उसके विवेक की अभिव्यक्ति करती है तो इसका अर्थ यह होना कि सम्प्रभु विधि-विधान में पूर्ण स्वतन्त्र नहीं है, क्योंकि उसे यह ध्यान रखना पड़ता है कि विनिश्चित-विधि सन्निवेश के अनुसंधान ही । पुनः, हॉम्स ऐसे राजशाहों की सम्बन्धिता का अधिकार देता है जो व्यक्ति की प्रथा-रक्षा के अर्थ में कानून करने वाले हैं । हॉम्स के इस विचार में यह निष्कर्ष निकलता जा सकता है कि सम्प्रभु का विवेक

सन्निवेश ही हो, यह मान्यता नहीं है, यह केवल दुरासह ही मानता है। प्रत्यक्ष रूप में सम्प्रभु की विधि का अन्तिम स्रोत और व्याख्याकार मानता तथा प्रत्यक्ष रूप में विधि के घोषित-प्रयोजित के निर्णय का अधिकार अतिशय ही देता (यद्यपि अभी तो व्यक्तिगत राजादेश की अपनी अन्तःस्था के उद्देश्य के विपरीत जाते हुए दूसरी व्यवस्था करने का निश्चय करता है) हॉब्स के विचार में एक सम्पूर्ण राज्य है।

हॉब्स का सम्प्रभु की वह भी परामर्श है कि उन्हें बहुत अधिक विधियों का निर्माण नहीं करना चाहिए क्योंकि एक ही उन्हें मान्य करना बड़ा कठिन हो जाता है और दूसरे जनता के हृदय में विविधों के प्रति सम्मान में कमी आ जाती है। हॉब्स के इन विचार के उल्टा यह स्पष्ट है कि नहीं करता है कि राजनीतिक विधि और प्राकृतिक विधि में पूर्ण अन्तरात्मक नहीं भी हो सकती है। यह एक तथ्य है कि विधिमान्य नहीं का कि क्या प्रजा की सम्प्रभु के प्रत्यक्ष कानून की वृत्त मान्यता चाहिए। वस्तुतः, हॉब्स का विरुद्धवाद उनका विरोध (Absolute) और अशर्त (Unconditional) नहीं है किना सामान्यतः यह दिखाई देता है। "उपयोजितावाद के आधार पर विरुद्धवाद का समर्थन करते यह उदाहरण (Liberalism) के लिए एक आधार प्रस्तुत करता है।" उनके विचार में सविधानवाद के सम्प्रभु विद्यमान है जिसका यह स्पष्ट आधारपूर्ण व्यवस्था करना चाहता है।

राज्य तथा चर्च

(The State and the Church)

सम्प्रभुतावादी हॉब्स यह स्पष्टीकरण नहीं करता कि राज्य की ही क्या राज्य के सम्बन्ध है प्रजा उनके मुताबक नहीं हो सकती है। ह्यू (Hobbes) के समर्थन में, 'हॉब्स ने एक ऐसे राज्य का निर्माण किया जो केवल सर्वोच्च सामाजिक शक्ति के रूप में ही नहीं बल्कि सर्वोच्च धार्मिक शक्ति के रूप में भी निर्माण था।' सभी मर्यादा-विषय, न्याय, सत्य राज्य के सम्बन्ध हैं, उसकी स्थापना पर आधारित है। हॉब्स प्रत्यक्ष रूप से सम्प्रभुता के अधीन मान्यता चाहता है, चाहे वह कोई धार्मिक सम्बन्ध ही क्यों न हो। सर्व-प्रभुत्वपूर्ण राज्य में राजनीतिक और धर्मगत चर्च के लिए का राज्य का इतिहासी ही, की ही मान्यता नहीं हो सकती। हॉब्स की दृष्टि में चर्च, चर्च की सम्प्रतिष्ठिति (विमान सम्प्रतिष्ठिति) करना न होकर उनके सम्बन्ध एक विचार था। जिस धार्मिक चर्च का स्वयं विचार, दार्शनिक तथ्य और बोलचाल व्यवस्था देखा करते थे, हॉब्स ने उसका धार्मिक निराकरण किया। अपने यह "धोखाड़ी, रोमन साम्राज्य का श्रेष्ठ है और उसकी कला पर देखा है।" उनकी मान्यता थी कि यदि विविध धार्मिक सम्प्रदायों को सम्बन्ध रूप से मन-उत्पन्न की छुट्टी जाती तो राज्य की सुरक्षा और सम्बन्ध के प्रति बहुत उत्पन्न हो जाता। यह इस बात से अवगतित न था कि राजनीतिक आदर्श और धर्म अपने अन्तर्गत सभी द्वारा समाज में व्यवस्था नहीं करते। धार्मिक क्षेत्र में अपने अन्तर के मान्यता की परम्परा करने का अधिकार भी अपने हृदय में रखना चाहते थे। अपने ऐसे अन्तिमविध विचारों और प्रयासों ने सम्पूर्ण यूरोप में व्यवस्था की भी विविधता

कर दी थी। कैथोलिकों और प्रोटेस्टेंटों के सामाजी सुनौ-समर्प ने सम्पूर्ण राष्ट्र को समागत बना दिया था। इन परिस्थितियों में यह सामाजिक न था कि हूब्ल ने चर्च पर सम्बन्ध के पूर्ण अधिकार का समर्पण किया। उसे यह स्वीकार नहीं हुआ कि सम्बन्ध के कानूनी वर सन्निधारक के रूप में राष्ट्रिय के निर्माण की प्रवृत्ति रहे। उसने यही माना कि धार्मिक कला पूरी तरह राज्यसत्ता के वशवर्ती है। साम्यवादिक शासन अभी कोई वस्तु नहीं है। राज्य में केवल राजनीतिक प्रवृत्ति रखने वाले का ही शासन होता है। राज्य में सम्बन्ध ही सर्वोच्च सांख्यिक शक्ति है और बिना उसकी ही कृपा से (ईश्वर की कृपा से नहीं) सांख्यिक शक्ति प्रकट होती है। जब लोग शिक्षा और बुद्धि की प्रेरणा करते हुए यह मानते हैं कि केवल साम्यवादिक (Supremacy) अनुसंधान से ही मान-समर्थन का सामाजिक ज्ञान प्राप्त हो सकता है, तो राज्य में सम्बन्ध और पराजयता का शासनप्रवृत्ति बन जाता है। हूब्ल ने रोमन कैथोलिक चर्च की सम्प्रदाय का राज्य (The Kingdom of Darkness) कहा तथा स्कॉटिश प्रेसबिटेरियन (Scottish Presbyterianism) एवं सामाजिक सुधारण हुई चर्च का विरोध किया।

हूब्ल ने कहा कि चर्च का आधार अदृष्ट शक्ति का भय है। अनुसंधान शासन प्रवृत्ति के भय से बनता है और साम्यवादिक शक्ति उसकी इन कमजोरी में लाभ उठाती है। यद्यपि राज्य की इन कमजोरी के समर्थन तथा प्रवृत्ति की रक्षा करनी चाहिए। जो अदृष्ट शक्तियाँ राज्य द्वारा स्वीकृत हैं उनके भय बनना चर्च है और जो अदृष्ट शक्तियाँ राज्य द्वारा स्वीकृत नहीं हैं उनके भय का नाम साम्यवादिक है।

हूब्ल के इन विचारों ने प्रतिक्रिया की विरोधक विचारों को दी। हूब्ल की सामाजिक शिक्षा वाले लोग प्रतिक्रिया उठाते रहते हैं केवल यही था कि ईश्वर का अनुसंधान ज्ञान नहीं हो सकता, उसकी प्रवृत्ति ही सत्य है। यह धार्मिकतावादी सम्प्रदाय शक्तिवादी या विन्दु उनके अनुसंधान-प्रवृत्ति विरोधवाद का समर्थन नहीं किया।

स्पष्ट है कि हूब्ल ने चर्च की पूरी तरह सामाजिक शक्ति के समर्थन पर किया। सामाजिक शासन प्रवृत्ति में सामाजिक एवं नीतिक शक्तियों को एक दूसरे से पुनर्करने चर्च की सामाजिक शासन की प्रवृत्ति में रखने की प्रवृत्ति प्रवृत्ति कर दी थी। हूब्ल ने इन प्रवृत्ति का पुरा कर दिया। उनसे स्पष्ट शब्दों में धार्मिक विचार—“कि धार्मिक विधि-विधानों, धार्मिक पुनर्करण के निदानों, चर्च-प्रवृत्ति और चर्च-प्रवृत्ति की कोई शक्ति प्राप्त होती है तो यह प्रवृत्ति द्वारा प्रवृत्ति होती है। धार्मिक विधि का कोई वस्तुपरक मापक नहीं है, यद्यपि चर्च चर्च सम्प्रदाय प्रवृत्ति की स्थापना प्रवृत्ति की प्रवृत्ति के अन्तर्गत सामाजिक शासन चाहिए एवं चर्च प्रवृत्ति प्रवृत्ति का है। चर्च की प्रवृत्ति की शक्ति उसका एक प्रमाण होता चाहिए और उसका यह प्रमाण प्रवृत्ति है। यह कई शक्तियों की एक सम्प्रदाय है जो प्रवृत्ति के प्रवृत्ति के समर्थन है और इसलिए इसे सम्प्रदाय के प्रवृत्ति सम्प्रदाय माननी नहीं दिया जा सकता। नीतिक एवं सामाजिक शासन सम्प्रदाय (Liberalism) है।” चर्च-प्रवृत्ति

की व्यवस्था करने का एकमात्र उचित अधिकार शासक को ही है। राजकीय विधि और ऐसी विधि से कोई विरोध नहीं हो सकता। ऐसी विधि नहीं है जिसकी सम्मति प्राप्त हो सके।

कारणतः होम्स के अनुसार, चाहे किसी भी दृष्टि से देखा जाए, चर्च पूरी तरह से विधि एवं शासन के नियन्त्रण में है। नातीलिज्म की भाँति यह चर्च का काम धिमा देना मानता है, लेकिन यह यह भी कहता है कि कोई भी मित्राण तभी विधि-मर्यादा के अन्तर्गत उचित प्रस्तावित कर दे। चर्च-व्यवहार का प्रयोजन चर्च द्वारा दिया जाने वाला कोई मान्य मूल्य सम्बन्ध ही स्थापित करना है। होम्स ने अपने ग्रन्थ 'लिविंग्स्टोन' के अन्तर्गत आगे भाग में चर्च-कारण और चर्च से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों की सीमाएँ की हैं और उन्हें विस्तृत तरीके से कड़ी पर रखा है।

होम्स का व्यक्तिवाद (Hobbes' Individualism)

होम्स के राजदर्शन के आधार पर यह कहना गलत न होगा कि विभिन्न सम्प्रदायों का कट्टर समर्थक होते हुए भी यह कई चीजों में व्यक्तिवादी है। प्रथम, यह बौद्धिक व्यक्तिवादी है जिसके राजदर्शन का आरम्भिक मूल व्यक्ति है, मर्यादा के समान समान नहीं। "उनकी विचारधारा में व्यक्ति अविच्छिन्न सत्त्व-सत्त्व इकाई है और राज्य बाहर की एक ऐसी शक्ति है जो उन्हें एकता के बंध में बाँधती है और उनके स्वतन्त्र स्वामी से सामंजस्य स्थापित करती है।" मान्य, व्यक्तिवाद स्वामी विचारों के अनुसार-मनुष्य होम्स के राजदर्शन की आवश्यक इकाई है। उनकी जीवन-रक्षा तथा सुख-समृद्धि का सम्बन्ध राज्य पारस्परिक समझौते का परिणाम है और जब तक चलाता जाता है जब तक यह अपने मूल उद्देश्य की पूर्ति से सम्बन्धित है। होम्स के अनुसार, व्यक्ति के स्वतन्त्र के बिना किसी कारण से उद्देश्य न हो सकता है और न हीरा चाहिए। जब तक राज्य प्रजाजन की जीवन-रक्षा के उद्देश्य को प्रकट उस उद्देश्य की जिसकी पूर्ति के लिए राज्य का सम्झौता द्वारा उद्भव होता है, चलाता है तभी तक प्रजाजन से राजवर्तिक है, आदेशवाचक है, आत्म-समर्थ है सम्झौता सिद्ध के लिए व्यक्ति सम्बन्धित है। होम्स प्रत्यक्ष की राज्यादेश की समझौता करने की अनुमति नहीं मिलने में देता है जब राज्य द्वारा कोई ऐसा कदम करने का आदेश दिया जाए जिससे व्यक्ति का जीवन ही खतरे में पड़ जाता हो। समाज संस्था राज्य की जीवन मानता और व्यक्ति की जीवन-रक्षा के लिए उनके अस्तित्व की स्वीकार करना होम्स की नजर में व्यक्ति का व्यक्तिवादी घोषित करना है। जहाँ आत्मरक्षा पर आधारित पहुँचता हो वही व्यवस्था की स्थापना की समझौता है। इन विचारों में नातीलिज्म का गणतन्त्रिक सम्बन्ध की भावना दृष्टान्तगत सीत नहीं है। "समाज की स्थापना, मनुष्यात्मक राजवर्तिक समझौते में उद्भव और प्रजाजन के समान में सम्मति की स्थापना की समझौता इन सभी के बीच होम्स का व्यक्तिवाद ही प्रभाव रूप में अस्तित्वमान है।"

वास्तव में हॉमिन्स ही एहसास दार्शनिक था, जिसने व्यक्ति के द्वितीय को, उसके जीवन रहने के अधिकार को सर्वोपरि माना। उसकी दृष्टि में वही राज्य की सबसे बड़ी उपयोगिता है कि यह सरकारकता का अन्त करके व्यक्तियों के जीवन-सुख की दूर करे। राज्य की निरस्तुत अधिकार इसी दृष्टि से दिए गए हैं कि यह समाज के व्यक्ति की व्यवस्था करे तथा व्यक्तियों के जीवन और सम्पत्ति को सुरक्षित रखे। इस तरह हॉमिन्स के व्यक्तिवादी दर्शन में उतना उपयोगितावाद भी जुड़ा है। हॉमिन्स का विचार है कि राज्य व्यक्ति की स्वायत्तता का साधन-साध है। साम्य ही व्यक्ति की सबसे प्राथमिक है। किन्तु वहीं यह विरोध रूप से व्यक्त करने योग्य बात है कि हॉमिन्स व्यक्ति को किसी सम्पत्ति, अधिकार और विचारों की स्वतन्त्रता के तथा ऐसे ही साथ अधिकार सम्पन्न निरस्तुत ही नहीं देता। कुछ दशाओं को छोड़कर (जिनका उल्लेख पहले अनेक बार किया जा चुका है), जैसे कि मजदूरता की, प्रजाजन को अपने किसी भी दशा में संसद के विरुद्ध कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। उनकी उपयोगिता उसी में निहित है कि जिसकी राज्यकता स्वीकृति दे।

हॉमिन्स का निरस्तुतवाद वास्तव में एकदम सही नहीं है। सामाजिक विधियों के अस्तित्व के अस्तित्व का उपयोग करते हैं। 'वैयक्तिकता' को अनुचित हस्तक्षेप का कोई मौक नहीं है। हॉमिन्स के अनुसार विधियों का उद्देश्य प्रजाजन के सम्पूर्ण कार्य पर रोक लगाना नहीं है, बल्कि केवल "उनका निर्देशन करना एवं उन्हें इस तरह रखना कि वे अपनी अनिच्छित हस्तक्षेपों, अस्वभाविक अथवा अनिच्छित के कारण अपने ही अस्वास्थ्य न पहुँचा लें। बिना उस बात के समाज है जिसे व्यक्ति को एकत्र के लिए वही अनुष्ठान सम्मान पर रखने के लिए सारा किया जाता है।"

हॉमिन्स के व्यक्तिवाद पर टिप्पणी करते हुए लेब्राइन यहोव ने लिखा है— "हॉमिन्स के विचार में व्यक्तिवाद का अर्थ पूर्ण रूप से सामाजिक है। इस दृष्टि से हॉमिन्स ने सामाजिक गुण का सबसे अधिकतर तरह से समझ लिया था। उसके दो अर्थोंमें से एक एक अधिकृत विचारों को रखने, उपयोगिता की अनेकता की अधिकतम अर्थ, अथवा था। वे किसी सामाजिक व्यवस्था की अनेकता प्रमुख स्तरों के आधार पर सामाजिक व्यवस्था को अधिक सामाजिक से दूर कर सकते थे। हॉमिन्स का नाम प्रभु की निरस्तुत व्यक्ति के सिद्धान्त के साथ विरोध रूप में समुक्त है। यह सिद्धान्त उसके व्यक्तिवाद का ही एक मुख्य अर्थ है। हॉमिन्स के दर्शन में एक पूर्ण अर्थ-साधन के अधिकृत जिसकी अर्थ का अनुष्ठान प्राप्त करते हैं और जो आवश्यकता होने पर अपनी अर्थ का पालन करा सकता है, अथवा अर्थ केवल व्यक्ति है और ऐसे व्यक्ति है जो अनेक अर्थों से अर्थित हैं।" अर्थ का मत है कि "उनके (हॉमिन्स के) सिद्धान्त में राज्य-व्यक्ति का अर्थ ही है प्रभु सामाजिक पूर्णतः व्यक्तिवादी है। यह सिद्धान्त अनेक व्यक्तियों की प्राकृतिक समानता पर अर्थ ही मत देता है, जिसका अर्थ अथवा किसी अन्य व्यक्तिवारी विचारक ने दिया है। हॉमिन्स ने व्यक्तिवारी राज्य के विचार को अस्वभाव और समान

व्यक्तियों के समुदाय में तात्त्विक रूप से निभालने के लिए ही अपने इस नवीन विचार का विकास किया कि राज्य केवल व्यक्ति के साथ-व्यक्ति के सम्बन्धों से बन रहा करता है।¹

अतः ऊपर से देखने में ऐसा लगता है कि हॉब्स पूर्ण निरंकुश मता का समर्थक है लेकिन वास्तव में व्यक्ति के हित का समर्थक होने के कारण वह प्रत्यक्ष व्यक्तिवादी भी है।

हॉब्स के विचारों की घालीबजा घोर मूल्यांकन (The Criticism and Estimation of Hobbes' Conception)

हॉब्स के विचारों को समर्थन मिलना तो दूर रहा, सर्वत्र उसकी हीन घालीबजा की गई। समकालीन कोई भी यह उसकी तरफ न था। राज्यतन्त्रवादी, समाजत, धार्मिक विचारक सभी उसके घालीबजा ही गए। "निरंकुश राज्यतन्त्र से सम्बंध उसके व्यक्ति-व्येच्छा के सिद्धान्त तथा ईश्वी सिद्धान्त के निराकरण के कारण सदिग्ध थे। संसद् के समर्थक उसकी समर्थिता अनुसार राज्यतन्त्रीय विद्या के कारण नाश्वर्य थे। धार्मिक विचारक उसकी परम-विरोधी पारल्ला तथा गवाचा के लुब्ध थे। जनतन्त्रवादी उसे समर्थिक तथा विचार-अष्ट मानते थे। व्यक्तिवादी राज्य से व्यक्ति-संरक्षण और नीतिक समिचारों की पोषण के संबंध में सबसे समर्थी थे। तर्कवादी उसके सिद्धान्तों में नीतिकल की समिचकता (Unacceptability) से शिर थे। ईश्वानिक उसकी बातों को मानुषकी का पिरारा समर्थते थे। नवीईश्वानिक उसके वाचन-वचनाव के विचारों को धामक, अतिरहित, नृतिपूर्ण मानते थे। विधि-वासी उसे मदीर्ण, समहित तथा उत्पीडक मानते थे। नरक और कल भी उसके निरुद्ध थे।" उसके सम 'लेविथान' को विचारकों द्वारा बहु घालीबजा की गई। बाह्य का विचार है कि "वही एक राजनीतिक चिन्तन के नवीन विकास का प्रथम है, लेविथान एक प्रभावहीन और परिणामहीन (निष्फल) रूप रहा। वह एक प्रभावपूर्ण बर्णनकर है जिसमें प्रभाव की कोई सामर्थ्य नहीं है और वह इस उमेधा का पात्र भी है।"² क्लेरेटन ने हॉब्स की पुस्तक को अत्यन्त बर्णन कर कहा था "वेने कभी कोई ऐसी पुस्तक नहीं पड़ी जिसमें इतना राखरोह, निराश्रयता और परीक्षोत्तर भरा हो।" कुरे के अनुसार "हॉब्स की जीवनी लिखने वाले ने एक ही समर्थक मिल सका जबकि उसके समु धनेक थे।"³

पर कुछ विचारक ऐसे भी हुए और पात्र भी है जिन्होंने हॉब्स की महत्ता को स्वीकार किया। मेवाइन ने हॉब्स की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि "सर्वेजी भावा भावी बालियों ने जिन्होंने भी रबनीतिक दार्शनिक उत्पन्न किए हैं उन सब में हॉब्स सम्भवतः महानतम् है।" बी ओकशॉट (Prof. Oakshott) के अनुसार, "हॉब्स का 'लेविथान' सबसे अधिक ही नहीं, बल्कि केवलमान एक राजनीतिक ग्रन्थ है जो

1. *Deming* : Political Theories from Luther to Montesquieu, p. 302.

2. *C.E. Vaughan* : History of Political Philosophy, Vol. I, p. 37.

3. *Murray* : History of Political Science, p. 216.

कैसे भी भाषा में लिखा गया था।" चाहे इन कथनों में कुछ अतिव्यक्ति हो फिर भी बहुत आलोचनाओं के बावजूद यह वास्तव में प्रमाण कि ह्यूम्स का सारे समाज के विचारकों में परापूर्व स्थान है। केदाद्व और बॉकवॉर्ड की प्रशंसा तथा बाह्य की निन्दा से बचते बॉर्ड अपनी नहीं है, फिर भी इन दोनों ही विपरीत धारणाओं के पक्ष में कुछ न कुछ कहा जा सकता है।

(1) ह्यूम्स पर प्रथम दोष यह लगाया जाता है कि उसका मानव-स्वभाव का विवरण अनुचित, प्रतिरक्षित और एकपक्षीय है। ह्यूम्स द्वारा मनुष्य की सामाजिक और स्वाभाव-विरोधी कृत्या धारणा के दृष्टि सामाजिक सर्व सिद्धान्त के विरुद्ध है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है जो समाज में रहना चाहता है और समाज में रहकर ही अपनी उन्नति कर सकता है। मनुष्य की सत्य-भावना केवल अपने उस ही सीमित नहीं रहती। वह परती, स्वाभाव और स्वाधीन मनुष्य में स्नेह करता है, उन्हें अपना समझता है। मनुष्य में यह प्रवृत्ति होती है कि अपनी मानवता को अधिकतम विकसित एवं विस्तृत करे। उसने दया, सहानुभूति, सहयोग, प्रेम, त्याग आदि देनी शुरू भी होते हैं।

(2) ह्यूम्स की सामाजिक अनुबंध की कहानी निराला भ्रमपूर्ण है। मनुष्य अपनी स्थिति ठीक करने पर ही किसी प्रकार के समझौते करने की प्रवृत्ति में आता है। सामाजिक समझौते की बात तो मनुष्य के अविच्छिन्न विकसित होने पर ही सम्भव है या सकती है। जब मनुष्य पूर्णतः असामाजिक, स्वाधीन, भयभीत और हिंसक है तो उसने समझौते की सामाजिक भावना का उदय कैसे हो गया और वे मानव-विषय एवं विद्वान् आचारिक कैसे बन गए? बाह्य के शब्दों में, "ह्यूम्स का कहना है कि सामाजिक व्यवस्था उत्पत्ति को यह व्यवस्था है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अन्य सभी व्यक्तियों के प्रति मुद्रा रखता है। मनुष्य और प्रोत्साहन दत्त व्यवस्था के विषय हुए हैं। इस स्थिति में सभी धीरे-धीरे, स्वाभाव और स्वाधीन की धारणाओं के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। इन सब में कोई धारणात्मक समझ नहीं है लेकिन उसके प्रवृत्ति की तो इससे कोई समझ हो ही नहीं सकती। यह कैसे माना जा सकता है कि ऐसे पुरुषों से विकसित मानव-स्वभाव व्यक्ति किसी ऐसी व्यवस्था में प्रवेश कर सकते हैं व्यवस्था प्रवेश करने की इच्छा भी कर सकते हैं कि जिसमें उनकी पूर्व-स्थिति एकदम विपरीत हो जाए अपनी ऐसी स्थिति या व्यवस्था जिसमें कुछ की बहुत मात्रा का साम्राज्य हो, मनुष्य और प्रोत्साहनों का परिचय कर दिया गया हो और स्वयं एवं स्वायत्त उनके आधार हो। जिस तरह एक हमला प्रवृत्ति रख सकता उसी तरह ह्यूम्स द्वारा वर्णित रक्त-निषास व्यक्ति मानविक धर्मिक नहीं बन सकता।" बाह्य की आलोचना में धारणा के गहरे बीज हैं। वास्तव में उनकी ही एक ही धारणा में व्यवस्थाओं के आचरण करने की इच्छा का प्रमाण ही धीरे-धीरे धारणा में भी उपलब्ध नहीं होती।

(5) हमें राज्य और सरकार के बीच कोई भेद नहीं करना जबकि वे दो भिन्न वस्तुएँ हैं। यदि जनता विद्रोह द्वारा किसी निरंकुश राजा का अन्त करने का प्रयत्न करती है तो वह राज्य संस्था की जड़ पर कूटारोपण नहीं करती। वह केवल सरकार में परिवर्तन करती है। हमें राज्य की स्वेच्छाचारिता और सरकार की स्वेच्छाचारिता में कोई अन्तर नहीं देखना।

(6) हमें के अनुसार सारासरी दृष्टा के जीवन से भयभीत होकर शासन-स्थापना के लिए समझौते द्वारा राज्य की जन्म दिया गया। दूसरे शब्दों में, राज्यस्थापना की स्थापना एक अनुचित भय के आधार पर और एक अनैतिक उद्देश्य—मालव-स्वायत्त-पुष्टि के लिए हुई। भय एवं स्वार्थ जैसी हृन्-भावनाओं पर राज्यरूपी कल्याणकारी संस्था की नींव साड़ी करना उचित नहीं कहा जा सकता। कारणों में राज्य व्यवस्था समाज भय एवं स्वार्थ पर नहीं बलिक अनुभूति, वृद्धावस्था, सहयोग एवं सामाजिक श्रेष्ठ की भावना पर आधारित है। हमें पूरा जाना है कि लोकमत, बुद्धि और धार्मिक विश्वास, जिसका आधार ही भय हो, केवल पुनिष्ठ राज्य ही हो सकता है। हमें के राज्य का नैतिक एवं नीतिक विकास, शिक्षा एवं संस्कृति में योग चाहिए कर्तव्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है। इन परन्तु उसके राज्य का काम-धेय परमन्त सीमित है। युग के मर्मों में, "लेबिमाधान केवल लेबिमाधनीय आधार का पुनिष्ठर्षण है जो अपने हाथ में दण्ड लिए है।" "उनका राज्य अनिवार्य बुराई है, दबाव का यन्त्र है—संसार विद्रोहीपुष्ट सम्मन्ध की शक्ति का अस्तिहार्थ स्थापन नहीं।" कर्मों के अनुसार भी हमें का समझे गहरा गीत यह है कि वह एकलम निरंकुश शासन स्थापित करता है। उसका कहना है कि "जो व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता का परिच्छाव करता है वह अपने मनुष्यत्व की भी छीन देता है। उसके मनभीते से क्या हुआ समाज सम्पुष्ट समाज नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसने सम्पुष्ट जीवन केवल एक ही व्यक्ति 'लेबिमाधान' में केन्द्रित है और केवल सभी व्यक्ति इस परन्ती पर निरर्थक भार-मान है।" हमें के समाज में वे सब लेबिमाधान के समझ नतवस्तुक है, करवद्ध दास्य-मात्र है। हमें अपने राज्य में मनुष्य की सर्व-सा अधिकार-युक्त करके लेबिमाधान सभी चरवाहों द्वारा हाँके जाने वाले पशुधा की पेटली में जा समा करता है। वह अवस्था तो हमें की प्राकृतिव पवरदा से भी अधिक जोषनीय है।

(7) हमें हमें की वैज्ञानिक पद्धति की चर्चा कर चुके हैं। 17वीं सदीय की वैज्ञानिक पद्धति की न्योमिति पद्धति सचका निरन्तर पद्धति के सद्गुण माना जाना था। लेबिमादान के निरन्तर विचारों से यह प्रभावित हो गया कि न्योमिति के नयुने पर राज्यरूपों का महत्व बनाने का प्रयत्न अव-मान्य है। जो भी हो, हम हमें के इस सत्य से अन्तार नहीं कर सकते कि हमने अपने चिन्तन की एक नतवद्ध और समन्वित रूप प्रदान किया।

(8) हमें के विधि सम्बन्धी विचार भी सही गहरी हैं। वह विधि के केवल अपनी शासन में ही सम्पुष्ट स्वीकृत होता है। नींव चाहे विधि में निरन्तर बने

या न करें, उन्हें विधि की मानना होगा। पर होता है यह चाहिए कि लोग विधि में भी विश्वास करें और उसका पालन भी करें।

होमर की चारों किताबों की धारणाओं की गई हो, राजनीतिक विचारों की उसकी महान् देन है। वह राजनीतिशास्त्र की निराला और व्यवस्थित पद्धति का निर्धारण करने वाला बहुत प्रमुख विचारक है। प्रभुसत्ता का प्रतिपादन बाह्य पहलू दिया या चुका था, किन्तु एक निरपेक्ष और पक्षीय प्रभुसत्ता का स्पष्ट विवरण सर्वप्रथम उसने ही दिया। प्रभुसत्ता और कानून पर उसके विचारों की रचना के द्वारा वे। उसकी प्रभुसत्ता और विवेकात्मक कानून सम्बन्धी धारणा का ही विकास 19वीं सदी के महान् विचारक जोन स्टुअर्ट मिल ने किया। शासन में होमर ने ही प्रभुसत्ता की वह स्वरूप दिया जो आज तक बना का रहा है। होमर के अनुक्रम सिद्धान्त द्वारा ही वह सुनिश्चित हुआ कि राजसत्ता सर्वोपरि है जिसके आदेशों का पालन राज्य के नागरिकों और निवासियों के लिए अनिवार्य है। इस बात की व्यावहारिकता से निरी की धारणा नहीं हो सकती कि कानून एक व्यवस्था स्थापित करने के लिए दृढ़ तथा शक्ति-व्यपन्न शासन की आवश्यकता होती है।

होमर ही वह प्रथम विचारक था जिसने राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। पद्धति पहले भी अनुक्रम द्वारा राज्य की उत्पत्ति का विवरण दिया गया था लेकिन साथ ही इसकी उत्पत्ति की देवी भी माना जाता था। होमर ने देवी सिद्धान्त के सम्बन्धों द्वारा प्रभुसत्ता राज्य के रहस्यपूर्ण क्षेत्रों की सफ-सफ करने का बहुत कार्य किया। उसने ही स्पष्ट रूप में बताया कि राज्य वैश्व इच्छा का नहीं बल्कि मानवीय इच्छा का परिणाम है। इस प्रकार उसने राज्य की एक मानवीय धारणा प्रेषित किया। धीरे-धीरे उसके ने विचार धारा के अन्तर्गत राज्य के रूप में प्रस्तुत हुए। जेम्स मिल ने ही कहा है कि होमर के दर्शन में हमें जो मिलता है वह है—'पौराणिकवाद के प्रारंभिक रूप का निषेध।' प्रभुसत्ता विधि की परम्परागत प्रतिष्ठा को गवाह दिया गया है, वैश्व मान की अन्तर्गत के अन्तर्गत मिल गया है और वहीं केवल राजतन्त्र काही रह गया है जो सामाजिक जीवन के आदेशों का स्वयं सम्बन्धी है। राजनीतिक व्यवस्था की प्रतिष्ठति के अन्तर्गत कर दिया गया है। उसने यह मह वैश्व व्यवस्था नहीं रहा है जो माना जात में अपने इन उपदेश द्वारा है—“जो भी शक्ति है, परमात्मा द्वारा उपलब्ध है”, मनुष्य ईसाईयों के द्वारा पर प्रकाश कर दिया था। एक भावुकता व्यापकता उस धार्मिक सातक का स्वयं से होता है जिसमें मानवी की देना जाता था। यह राज्य प्रमुख की शक्ति है और उसका एकात्मक अधिकार उसकी उपलब्धता है। जब राज्य मानव समाजवादों की अनुपस्थिति में विचार रहता है तो वह अपने उस एकात्मक अधिकार की रक्षा देता है।¹

होमर की बहुत बड़ी देन उसके व्यक्तिवाद की है। मनुष्यवादी होमर के

विचारों में होने व्यक्तिवाद का प्रबल सम्पन्न मिलता है। उसने व्यक्ति के कल्याण और उसकी सुरक्षा को अपने कोटित किया है। उसने राज्य की निरंकुश अधिकार दृष्टिगत किए हैं कि वह समाज में स्थिति स्थापित रहे, व्यक्तियों का जीवन और सम्पत्ति सुरक्षित रहे। हेल्सटन ने दृष्टिगत कहा है कि, "ह्यूम्स के प्रभु की सर्वोच्च शक्ति उसके व्यक्तिवाद का आवश्यक पूरक (Necessary Complement) है।" उसने कहा कि राज्य का एकमात्र दायित्व उसकी उपसोचिता है। स्पष्टहीन है कि "ह्यूम्स कोई जनतन्त्रवादी नहीं था। उसके लिए जनता, सामान्य दुष्प्रकार (General Will) परमा सामान्य हित जैसी किसी चीज का प्रतिनिध नहीं है। प्रतिनिध केवल व्यक्तियों का है। उनकी रक्षा करना राज्य का कर्तव्य है। उनके निजी हितों का रोग ही सामाजिक हित है।" ह्यूम्स के विचारों से उपसोचितावादियों ने बहुत कुछ प्राप्त किया। "राज्य को अधिकारों के परावर विरोधी हितों का सम्हाल बना कर वह उपसोचितावादियों का पुर्व सूचक बन गया।" डी डेवर के अनुसार—“नह कोई सांख्यिक पदना नहीं है कि संभव यहाँ भी उसका उल्ला ही खड़ी है जिसका मुख विषयक ह्यूम्स के विचारों का। जाने वाली समझित का प्राय, उसके लक्षित रहा है किन्तु वह कहने में कोई अतिशयोक्ति न होती कि उन्हें जन्म एक ऐसी बात मिली जिसका खोदना उनके लिए अक्सर है क्योंकि उसने के एक सुम्मान प्राप्त निकलती है।”²

ह्यूम्स का महत्व इस दृष्टि में भी है कि उसने न्याय सम्बन्धी पुगामी साम्यता का स्थापन किया और कहा कि न्याय की रचना विधि द्वारा होती है तथा न्याय विधि का प्रतिबिम्ब नहीं है। वास्तव में उनके अपने प्रबल कर्तों द्वारा तत्कालीन राजनीतिमानद-वेत्ताओं और विद्वानों को अपनी ओर आकृष्ट किया और उन्हें अपने विद्वानों की गह में अपने के लिए विवश कर दिया।

जीवनी, कृतियाँ एवं पद्धति
(Life, Works and Method)

लॉक ने अनुबन्धवाद पर पुनः विचार किया और उसे ठोस, सम्बुद्धि तथा व्यावहारिक बनाने की चेष्टा की। लॉक का सर्वाधिक महत्व इस बात है कि उसने संप्रभुतिक स्वतन्त्रता की स्थापना की, सीमित और वैधानिक राजतन्त्र का तथा वर्तमान युग के प्रजातन्त्र का समर्थन किया।

जॉन लॉक का जन्म इंग्लैण्ड में वेयरसेट कैपिटल नामक स्थान पर 29 अगस्त, 1632 ई. को हुआ था। उसके पिता मध्यम-वर्गीय परिवार के एक सफल थे, किन्तु उन्होंने पुत्र को उच्च शिक्षा दिलाने के लक्ष्य नहीं छोड़ी। इन केमासी छात्र ने पॉयंसबोर्ड के एच. ए. की उपाधि प्राप्त की और तब वही 1659 ई. में उसे मर्यादित-व्यक्ति मिल गया। मर्यादित-व्यक्ति में ही उपाधी सम्बंध लॉक ने सफलतापूर्वक से हुआ जिसने उसे अपना गुप्त सचिव बना दिया। तब लॉक ने राजनीति का परीक्षा व्यावहारिक छाने उपाय किया। छोटे समय बचाना बहुत दिनों तक (Whole Party) में कार्य करना मध्य, किन्तु संप्रभुतिक परिवर्तन और प्रत्यक्ष से वह तब ही से सफल हो गया। तब ही के विप्लव होने के लिए उसे ध्यान जाना था जहाँ अपने अपने राजनीतिक विचारों का प्रकाशन किया। 1683 ई. में कुछ राजनीतिक सारणी की वजह से वह इंग्लैण्ड गया, जहाँ तब 1688 ई. तक उसे रहना पड़ा। अब इंग्लैण्ड में तब 1688 ई. में जाति हुई जो लॉक ने इसका समर्थन किया। जाति के इस समर्थन के कारण ही उसे जाति का सार्वजनिक कहा जाना है। लॉक अधिक समय तक सीमित न रह सका और 72 वर्ष की आयु में तब 1704 ई. में वह विद्वान् सदा के लिए बंद गया।

लॉक के जीवन पर अत्यन्त सीमित विचारधाराओं ने बड़ा प्रभाव डाला। अपने अपने जीवन के प्रथम भाग में वहान् राजनीतिक व्यवस्था-सुझाव की देना, उदाहरणार्थ अपने जीवन में गुरु-मुद्र तथा पीपल में संप्रभुतिक का स्थापन और राजतन्त्र की पुनर्स्थापना के संबंध में। मुद्रास्थापना में उसने 1688 ई. की सीमापूर्व जाति की देना। लॉक की सारी प्रारम्भिक प्रमुखता के कारण ही उसका सचिव के प्रति संप्रभुतिक सार्वजनिक उत्पन्न

हो गई। सौर्यकाल तक हिन्दु विचारक सेनदत्तवरी के साथ रहने के कारण उसका भी उस पर विशेष प्रभाव पड़ा। नॉक पर अन्य विशेष प्रभाव 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यूरोप में जायज होने वाले कवीन बौद्धिक वातावरण का पड़ा। इस कवीन युग में धार्मिक और राजनीतिक कट्टरता के स्थान पर सहिष्णुता की विशेष रूप थी। वहाँ पुराने युग का राजनीतिक चिन्तन मानव-स्वभाव की दृष्टि और धर्म मानते हुए प्रारम्भ होता था, यहाँ इस कवीन युग में मानव-स्वभाव के प्रति शाकावाद की जलज देखने की शिखरी थी और मानव-स्वभाव की सच्चाई में विश्वास किया जाने लगा था। मानव-स्वभाव सम्बन्धी मूल मान्यताओं में इस परिवर्तन का प्रभाव नॉक पर बहुत स्वाभाविक था, और इसीलिए वह एक उदात्तवादी विचारक बन गया। उसने ऐसी सम्भवतः पद्धति निकाली जिसके आधार पर स्वतन्त्रवादी, जनसोवित्वावादी, प्रजातन्त्रवादी, समतावादी अपने-अपने पक्ष मजबूत करते हैं।

रचनाएँ—नॉक ने राजनीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, धर्मशास्त्र, शिक्षा, दर्शन, विज्ञान आदि विभिन्न विषयों पर 30 से भी अधिक ग्रन्थ लिखे। सभी कृतियाँ उसकी 50 वर्ष की आयु ही जाने के उपरान्त ही प्रकाशित हुईं। हॉमिन्स के मीटने के बाद ही वह सर्वप्रथम एक लेखक के रूप में प्रकट हुआ। राजनीतिशास्त्र पर लिखे गए उसके कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

1. Letter on Toleration, 1689.
2. Two Treatises on Government, 1690
3. Essay Concerning Human Understanding, 1690
4. Second Letter on Toleration, 1690.
5. Third Letter on Toleration, 1692.
6. Fourth Letter on Toleration, 1692.
7. The Fundamentals of Constitution of Caroline, 1692.

इन सभी ग्रन्थों में नॉक का सबसे प्रमुख ग्रन्थ 'Two Treatises on Government' है। इसके प्रथम खण्ड में नॉक ने राजा के दीर्घी अधिकारों और पदाधिकारों का समझन किया है। दूसरे खण्ड में उसने सरकार की उत्पत्ति, स्वरूप और कार्य-शैली का विशद विवेचन किया है। प्रख्यात रूप से उसका उद्देश्य हॉमिन्स का समझन करना था, किन्तु सम्प्रति नॉक ने 'जेनिवायन' के लोगों का जान-बूझ कर उत्तर नहीं दिया। स्वराष्ट्रीय है कि नॉक अपने बहुत से विचारों के लिए 'The Laws of Ecclesiastical Polity' के लेखक रिचार्ड हूकर (Richard Hooker) का पदवी का और बहुत दखे स्वीकार भी करता था। नॉक हॉमिन्स के व्यक्तिवादी दृष्टिकोण और सांसारिक सचिदा के सिद्धान्त से सहमत था, लेकिन, हॉमिन्स के दर्शन के लगभग समस्त आधार-सिद्धान्त का विरोधी था। प्रो. वॉल्डन (Vaughan) के अनुसार "नॉक की 'ट्रैलाइज' एक दीनानी बन्दूक है जिसमें से एक फिलर (Filler) तथा दूसरी हॉमिन्स के विषय सभी हुई है।" नॉक ने इन ग्रन्थों से राजा के दीर्घी अधिकारों का प्रकाश समझने करने वाले हर रीति में सहमत

के ग्रन्थ 'Patriarcha' का सम्पन्न करने के लिए लिखा था। लिबर ने अपने दोष सर्व अधिकतर हॉम्स से बहुत किए थे। लेकिन वहाँ जॉर्ज ने प्रथम 'ट्रीटायज़' के लिबर की सुलभर घातोचरा की, वहाँ दूसरी 'ट्रीटायज़' में उसने हॉम्स की वही घातोचरा नहीं की। इस पर लिम्परी करते हुए सेनाइन ने कहा है कि "वह सामान्य दुर्भावपूर्ण है कि जॉर्ज ने अपने उत्तरदायित्व को पूरी तरह से नहीं समझा।" यद्यपि अपने जर्मन का विकास करते समय जॉर्ज सदैव हॉम्स पर दुष्टि जगाए रहा, लेकिन उसने हॉम्स का नाम लेकर सुलभ-सुलभ उनके मत का प्रयोग कभी नहीं किया। सेनाइन के ही शब्दों में, "यदि वह अपने उत्तरदायित्व को पूरी तरह से समझ लेता तो वह सामान्य और साधन के सिद्धान्तों से सहज ही से नज़र करता। इससे उसके दर्शन का बहुत-सा भ्रम दूर हो जाता।" पर "हस्तगतों" प्रभाव की दुष्टि से वह अधिक हितकर था कि वह जर्मन लिबर का सम्पन्न करता।"

जॉर्ज की इस पुस्तक का प्रकाशन यद्यपि 1690 ई. में हुआ, लेकिन संविधान विमर्शविज्ञान के प्रो. पीटर वॉरेनर के शीर्ष अनुसन्धानों से यह सिद्ध हो चुका है कि वह सम्पूर्ण रचना 1683 ई. से पहले ही तैयार हो गई थी। जॉर्ज ने इसे 7 वर्ष बाद के ग्रन्थ-लेखक का नाम न देते हुए इसीलिए प्रकाशित किया कि उसे यह पता था कि यदि स्पष्ट ज्ञातक पुनः विहासनात्मक हुए तो लेखक को पता चलना पड़ेगा। जॉर्ज के जीवन-काल में ही 1690, 1694 और 1698 ई. में इस ग्रन्थ के तीन संस्करण प्रकाशित हुए, यद्यपि तीनों ही में सम्पद्धि थीं। जबकी मुद्रण के बाद ही उसके द्वारा सम्पद्धि प्रति के आधार पर इस ग्रन्थ का मूद्र संस्करण प्रकाशित हुआ। जॉर्ज के ग्रन्थ में (जो कभी पहले तैयार हो चुका था) 1683 ई. की शीर्षपूर्ण जालि के लिए संवैधानिक आधार प्रस्तुत किया था। इस पुस्तक की भूमिका में ही उसने लिख दिया था कि यह पुस्तक विविध जॉर्ज शीर्ष के विहासनात्मक होने का परिचित सिद्ध करने के लिए सम्पद्धि है। इस पुस्तक में संवैधानिक के जालिकारियों के लिए भी परिचित प्रस्तुत किया। पुस्तक की भूमिका में लिखे गए शब्दों से यद्यपि यह साक्षात् होता है कि इसकी रचना 1683 ई. के बाद हुई और ने अन्य बाद ही में लिखे गए, लेकिन आधुनिक शब्दशायी ने यह सिद्ध कर दिया है कि पुस्तक का लेखन 1683 ई. में ही पूर्ण हो चुका था। जालि के अनुसार "इसमें जाली-जालि की शीर्ष की गई है, न कि शक्ति जालि के जालि सिद्ध करने का प्रयास है।"

मानव स्वभाव, प्राकृतिक अवस्था एवं प्राकृतिक अधिकार (Human Nature, State of Nature and Natural Rights)

ग्रन्थ दर्शन-वर्द्धनों के अनुसार जॉर्ज का दर्शन भी उसके मानव-स्वभाव सम्पद्धि दुष्टिकोष्ठ पर आधारित है। हॉम्स और जॉर्ज के मानव-स्वभाव सम्पद्धि विचारों में साक्षात्-साक्षात् का सम्पद्धि है। यद्यपि जॉर्ज को भी मानव-स्वभाव के दुष्टतापूर्ण रहन का साक्षात्कार हुआ था तथा सेनाइनरी के जाल और दुष्टतापूर्ण दिनों में एवं अपने देश-निर्वाह के समय उसने सम्पद्धि जीवन सम्पद्धि किया था,

निर भी मनुष्यों की स्वाभाविक सम्प्रदाई, तथा भावि गुणों का ही प्रभाव महत्त्वपूर्ण रहा और इनका उनकी राजनीतिक विचारधारा पर महत्त्व प्रभाव रहा । एक ओर तो उनके विद्या वे स्नेहमय व्यवहार और निरी की सहानुभूति ने उनके हृदय में मानव-सम्मान की श्रेष्ठता के प्रति निष्ठा उत्पन्न की और दूसरी ओर यूरोप में छि रहे नवीन भौतिक साधनरत्न के भी वह सम्भावित न रहा । उस युग में धर्म-सुधार (Reformation) एवं धार्मिक युद्धों के सकटग्रस्त समय की धार्मिक और राजनीतिक महत्ता कम हो गई थी तथा पुराने युग की वह मान्यता क्षुम्भित बहोती जा रही थी कि मनुष्य स्वतः एवं स्वभावतः बुरा होता है । उस समय कैथोलिकों से लेकर हूम्ब्र तक के राजदरबान के मूल में मानव-स्वभाव सम्बन्धी जो भारद्वाज भी उनके परिवर्तन धारक वह आकाशवाट प्रस्तुति हो चुका था कि मानव-स्वभाव की सम्प्रदाई में विश्वास किया जा सकता है और सहिष्णुता एक अनुकरणीय बात है । हूम्ब्र पर ऐसे वातावरण का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक न था । भावे रसहीन शक्ति ने भी इस प्रभाव की ओर मुष्ट कर दिया । उसका वह विचार दृढ़ हो गया कि मनुष्य सामान्यतः शान्तिपूर्ण जीवन की उत्तमता प्राप्त करना चाहते हैं । "रक्षणात् भिद् बिना जनता की एक राजा की सिद्धान्त में हलति हुए और दूसरे को इस आधार पर कि वह उनकी सम्प्रदाई की ध्वज में रसते हुए शासन करेगा, सिद्धान्त पर बिछाने हुए उसने देखा और इस कारण वह विस्वास उसके हृदय में घर कर गया कि शासन का आधार जनता की सहमति एवं जनमत है तथा शासन का उद्देश्य जन-कल्याण है ।" लॉक ने बारम्बार इसी बात पर धाड़ह किया कि शासन का ध्येय समाज का हित है ।

हूम्ब्र ने मनुष्य में केवल प्राकृतिक प्रवृत्तियों के दर्शन किए, जबकि लॉक ने उसके मानवीय गुणों पर नज़र दिया । हूम्ब्र ने कहा कि मनुष्य में सामाजिकता जैसी कोई वस्तु नहीं होती । वह अन्य से लड़लु, स्वार्थी और सामाजिक शत्रु होता है । तथा और सहानुभूति उसके मौलिक स्वभाव से मिल नहीं जाती । मनुष्य केवल लड़लु वस्तुओं के प्रति आकर्षित होता है जिससे उसकी कोई स्वायत्तियुक्ति होती है । मैक्स हूम्ब्र के सर्वथा विपरीत लॉक ने मनुष्य की एक बड़ी विशेषता उल्ला बुद्धिमत्ता (Rationality) एवं विचारशील श्रुती माना स्वीकार किया और कहा कि मनुष्य अपनी विवेक-बुद्धि से एक नैतिक व्यवस्था की सत्ता को स्वीकार करते उसके अनुसार कार्य करना अपना कर्तव्य समझता है । मनुष्य वस्तुओं की तथा सामाजिक होता है । वह समाज-जिव एवं जैव तथा दया का शीघ्र होता है । धार्मिकता और नैतिकता में उसकी साम्ना होती है तथा एकता और सम्प्रदाई में वह विश्वास करता है । लॉक के लब्धों में, "एक मनुष्य प्रकृति में एक सामान्यता की अवस्था में है, जिसमें सम्पूर्ण शक्ति और अधिकार बीच प्राकृतिक है तथा पिनी को एक दूसरे से धार्मिक प्राप्त नहीं है क्योंकि अपने अधिकार स्पष्ट और कोई बात नहीं है कि एक ही समय एक बंध की सम्मान, जिन्हें प्रकृति के सब साथ समाज बंध के द्वारा होते हैं, बिना किसी अधिकारता के तथा शरीरता के परस्पर जो समः ।

ही।¹ लॉक के इस कथन का परिणाम यह नहीं है कि मनुष्य शारीरिक एवं बौद्धिक शक्तियों में ही समान है, बल्कि इसका ध्येय यह है कि चूंकि सभी शक्ति मनुष्य हैं, अतः नैतिक दृष्टि से वे परस्पर समान हैं और उन्हें समान अधिकार प्राप्त हैं। 18वीं सताब्दी के नट्ट (Kant) ने भी अपने 'निरपेक्ष आज्ञा' (Categorical Imperative) के तहत या कि "नियंत्री जगत्" मनुष्य कहलाते हैं क्योंकि उनका स्वभाव ही उनके स्वयं साम्य होने की ओर धकेल करता है। और वे केवल साधन की ही प्रतिष्ठित नही किए जा सकते। वे केवल धारणगत साम्य ही नहीं हैं जिसके परिणाम का मूल्य हमारे लिए दूसरे लोगों के परिणाम के रूप में ही हो, यद्यपि वे नियमगत साम्य भी हैं, जिसका अस्तित्व ही स्वयं साम्य है। अतः निरपेक्ष आज्ञा यह है कि इस प्रकार करने करो कि मान्यता को, "जहाँ वह तुम्हारे अस्तित्व के ही अभाव का दुपरे के से, अनेक दशा में, साम्य समझो, केवल साधन कभी भी नहीं।"² लॉक के विचार में नीतिक एवं बौद्धिक समतावस्था से मनुष्यों की नैतिक समतावस्था पर प्रभाव नहीं पड़ता।

स्पष्ट है कि मानव-प्रकृति की धारणा में जहाँ हॉम्स का मनुष्य कोण पशु है वहाँ लॉक का मनुष्य एक नैतिक व्यवस्था की स्वीकार करने वाला एवं तत्सुसार व्यवहार करने वाला प्राणी है।³ यद्यपि हॉम्स के समान लॉक भी यह स्वीकार करता है कि समूहों मानव-प्रकृतियों का स्रोत रहता है और स्वयं की प्रकृति से कुछ एक इच्छा-शक्ति के बाधा के द्वारा की प्रकृति होती है एवं मानवीय करने का उद्देश्य कुछ की प्राप्ति करना है, यद्यपि वह हॉम्स की इस नीतिक धारणा से बहुत दूर या कि मनुष्य स्वयं-शील, बहुकारवादी और आक्रान्ता प्राणी है। लॉक यह मानता था कि मनुष्य सर्वदा अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करते, सर्वदा सत्य नहीं बोलते, चोरीचोरों की हत्या भी करते हैं, लेकिन उसकी दृष्टि में कुछ रूप में वे नो-प्रकृत्य प्राणियों एवं सामाजिक होते हैं तथा अपने व्यवहार की सामर्थ्य होती है। मनुष्य को यह ज्ञान है कि सत्य बोलना चाहिए, हत्या नहीं करनी चाहिए। यह निवेक और ज्ञान ही उन्हें पशुओं से भिन्न बनाता है। लॉक की दृष्टि में वह शिक-घोसता मनुष्य का व्यापक चित्र था। उसने प्रकृति द्वारा मनुष्य को दिए गए निवेक धर्मों के अभाव की 'ऐतिक प्रकृति स्थिति' कहकर पुकारा। उसके अनुसार यह उपाय ही मानव को उस प्राकृतिक धर्मों नैतिक नियम के अनुसार व्यवहार करने की शक्ति देता है जो समूहों चरित्रों में निर्दिष्ट है।

हॉम्स का मनुष्य और स्वाधीन स्वयं-शिव होने के कारण प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) में आधुनी दुर्लभ की स्थिति लिए रहता था। इसी कारण प्राकृतिक अवस्था में 'अनेक का अपने विच्छिन्न दुर्लभ' की अवस्था थी। अपने निरपेक्ष लॉक का विचार था कि प्राकृतिक अवस्था, "अनिष्ट, अज्ञानता, पारस्परिक अज्ञानता

1. Locke: Of Civil Government (vide supra, p. 152 para 2)

2. Kant: Theory of Ethics, pp. 44-45-Translated by F. K. Abbott.

3. Jaur: Masters of Political Thought, p. 162

घोर रक्षा की व्यवस्था" थी। मनुष्य कानून के साथ निपट कर ले। वे उस समय पुरोक्त से स्वतन्त्र थे और अपनी इच्छानुसार जीवन व्यतीत करते थे। किन्तु वह स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता अथवा स्वेच्छाचारिता से ही थी नवोक्ति प्राकृतिक विधि मानवीय अधिकारों और कर्तव्यों की पूरी तरह से व्यवस्था करती थी। दूसरे शब्दों में प्राकृतिक व्यवस्था का नियन्त्रण प्राकृतिक विधि (Natural Law) द्वारा होता था। सॉक की भी वही मान्यता थी कि विवेक पर आधारित नैतिक नियम ही प्राकृतिक नियम हैं। उदाहरणार्थ दूसरे की हत्या करना प्राकृतिक नियम के प्रतिपक्ष है नवोक्ति व्यक्ति स्वयं जैसे अपने जीवन को नष्ट करने का अधिकार नहीं रखता, वैसे ही वह दूसरे के जीवन को नष्ट नहीं कर सकता। वह जो स्वातन्त्र्य अपने लिए नहीं चाहता उसे ईना व्यवहार दूसरे के साथ भी नहीं करता चाहिए। प्राकृतिक व्यवस्था में "मनुष्यों को अपने कार्य करने एवं अपनी सम्पत्ति तथा अपने तरीर का प्रयोग करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। यद्यपि यह स्वतन्त्रता प्राकृतिक नियमों की सीमाओं के अन्दर होती थी, तथापि उनके लिए किसी दूसरे मनुष्य की अनुमति नहीं लेनी पड़ती थी और उसे किसी की इच्छा पर निर्भर नहीं रहना पड़ता था।"

इस तरह हम देखते हैं कि प्राकृतिक विधियों से नियन्त्रित होने के कारण सॉक की प्राकृतिक व्यवस्था हीन की प्राकृतिक व्यवस्था की भाँति अनादृष्ट एवं लघुत्वपूर्ण नहीं थी, बल्कि यह प्राकृतिक तथा भाव-भावना से आधारित थी। हीन की प्राकृतिक व्यवस्था में भय और हिंसा का शासन था तथा जीवन दीन-हीन, एकान्त, कुलित, पाशविक एवं लघु था जबकि सॉक के मतानुसार वह व्यवस्था न स्वाधीन थी, न जगती और न आत्मन्ता। सॉक की प्राकृतिक व्यवस्था ईसी व्यवस्थापूर्ण विधि वाली नहीं थी जैसी कि हीन की थी। वेबेदाइन के अनुसार उनकी "प्राकृतिक व्यवस्था का एकमात्र दोष यह है कि हमने अतिरिष्टी, लिबिन विधियों और नियम शब्दों की कोई व्यवस्था नहीं है जिससे कि अधिकार सम्बन्धी विधियों को मान्यता दी जा सके। जो भीज नहीं है या कल्प है, वह हमेंता ही ऐसी रहती है। भावतमक या सकारणक विधि आचरण के विभिन्न प्रकारों में किसी नैतिक गुणवत्ता का समावेश नहीं करती। वह उन्हें कार्यरूप में परिचित करने का वाच्यभाव प्रस्तुत करती है। प्राकृतिक व्यवस्था में प्रत्येक मनुष्य अपने स्वयं की, जिस प्रकार भी हो सकता है, रक्षा करता है। इस व्यवस्था में उसे अधिकार होता है कि वह अपनी जीव की रक्षा करे और अपना कर्तव्य होता है कि वह दूसरे की जीव का सम्मान करे। उसका यह अधिकार उतना ही पूर्ण होता है जितना कि किसी सामन के सम्बन्ध में।"

प्राकृतिक व्यवस्था के इस वर्णन में प्राकृतिक नियम का बार-बार उल्लेख पाया है, परन्तु इसके बारे में भी दो तथ्य बिनावा आवश्यक हैं। सॉक के अपने ही शब्दों में, "प्राकृतिक व्यवस्था में उसे (मनुष्य को) शक्ति देने के लिए प्राकृतिक

नियम होता है जो प्रत्येक को विषय करता है और उम्मा (उल्मेक) भी कि उस कानून का ही दूसरा नाम है, समुदाय मानव-जाति का, जो उसके काम लेना चाहे, पाले। विवेकता है कि सब लोग समान तथा स्वतन्त्र है, इसलिए किसी की भी दूसरी जीवन, स्वास्थ्य, स्वतन्त्रता एवं सम्पत्ति को क्षति नहीं पहुँचानी चाहिए और सब मनुष्यों को दूसरे के अधिकारों पर बाधनगु करने और हानि पहुँचाने से रोका जाना चाहिए। उस सब की इस प्राकृतिक नियम की मान्यता चाहिए जो मान्य हो समुदाय मानवता की सुरक्षा चाहता है। प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक कानून मानवीय होने का अर्थ यह है कि प्रत्येक मनुष्य को यह अधिकार है कि वह स्वतन्त्रता अवस्था कानून का उल्लंघन करने वालों को उतना दण्ड दे सके जितना उसका उल्लंघन रोकने के लिए आवश्यक हो।¹

लॉक ने प्राकृतिक नियम की नैतिक एवं सर्वमान्य अवस्था उपस्थित की। प्राकृतिक अवस्था में यह नियम प्रत्येक व्यक्ति को लागू करता है और राजनीतिक समाज में भी यह मानव-जीवन का निर्देशन करता है। विवेक ही प्राकृतिक नियम है। लॉक ने भी स्पष्ट घोषणा की थी कि सर्वविवेक के निर्देश ही प्राकृतिक नियम हैं। लॉक ने भी बताया कि यदि विवेक से हम पूर्णतः स्पष्ट ज्ञान होगा कि किसी की भी दूसरे के जीवन, स्वास्थ्य, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति पर किसी प्रकार का आघात नहीं करना चाहिए। लॉक ने यह भी कहा कि प्राकृतिक नियम अवस्था विवेक की मानने के लिए मनुष्य को केवल अपनी दृष्टि को धनार्थुनी करना होगा, क्योंकि ईश्वर ने उसे प्रत्येक के हित में सांत्वित कर दिया है। ईश्वर ने मनुष्य की सृष्टि करके पृथ्वी पर उसे व्यवस्थित करते समय उसके पक्ष-प्रदर्शक के रूप में विवेक प्रदान किया, और यह विवेक ही उसका मनुष्य की समान, स्वतन्त्र और समानाधिकार बताता है।

लॉक ने यह स्पष्ट मान्यता प्रकट की कि मान्य और मानव-समाज की रक्षा की आवश्यकता आत करने वाले प्राकृतिक नियम प्राकृतिक अवस्था में सर्वमान्य है और इसी नैतिक प्राकृतिक नियमों की धर्मोपमा में व्यक्ति को अपने प्राकृतिक अधिकार प्राप्त है। प्राकृतिक नियम की उपस्थिति ही प्राकृतिक अवस्था की सर्वोच्च और सामाजिक बताती थी। लॉक के अनुसार तीन अधिकार प्राकृतिक अवस्था में सर्वमान्य थे—(i) जीवन का अधिकार, (ii) स्वतन्त्रता का अधिकार, एवं (iii) सम्पत्ति का अधिकार।

सम्पत्ति का प्राकृतिक अधिकार—लॉक ने अपने ग्रन्थ 'ट्रैटेट्स' में सातोषात् इतना बात पर सर्वाधिक यत्न किया कि राज्य के निर्माण का मुख्य उद्देश्य ही नागरिकों के जीवन, उनकी स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के इन प्राकृतिक अधिकारों की सुरक्षा करना है जिसका उपर्याप्त प्राकृतिक अवस्था में करते थे। जीवन और स्वतन्त्रता के अधिकारों पर प्रत्येक पूर्णतः सहज से यह पुका है। यद्यपि लॉक द्वारा प्रतिपादित

सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकार पर ही वहाँ विस्तार से चर्चा करे। वही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है—इतना कि लोक ने इसमें (सम्पत्ति शब्द में) कभी-कभी तो जीवन और स्वतन्त्रता को भी सम्मिलित कर दिया है।

लोक का विचार था कि प्राकृतिक अवस्था में भी सम्पत्ति का अधिकार सुरक्षित था और निश्चित होता था। उस युग में सम्पत्ति इस धर्म से सम्बन्धी नहीं थी कि इत्येक व्यक्ति वस्तु से अपने जीवन-निर्वाह की सामग्री प्राप्त करता था। सेनाइन के अनुसार “वहाँ भी वह गुदरद्वार के विचारों को जा रहा था। सचमुच में वह विचार सहायक न था कि समान स्वाधिन्य व्यक्तिगत स्वाधिन्य की संस्था अधिक पूर्ण और इसीलिए अधिक स्वाधिन्य होता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति तो मनुष्य के पाप का उसके पाप का विद्रोह है। रोमन विधि में इससे निकुल निज सिद्धान्त प्राप्त होता था जो यह था कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का जन्म उसी समय हुआ जब लोगों ने वस्तुधर्म पर अनधिकार कब्जा करना आरम्भ कर दिया। इसने पूर्व सब लोग भित्त-भुल कर बीबी का इस्तेमाल करते थे यद्यपि उस समय भी सामुदायिक स्वाधिन्य नहीं था। लोक ने इन दोनों सिद्धान्तों में निज सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसने कहा कि “जिस चीज को मनुष्य ने अपने पारोक्षिक धर्म द्वारा प्राप्त किया है, उस पर उसका प्राकृतिक अधिकार है।” लोक ने इस तरह वैयक्तिक स्वाधिन्य का सिद्धान्त प्रकट किया। उसने बताया कि ईश्वर ने भूमि और उसकी सभी वस्तुएँ सब व्यक्तियों को सामुदायिक रूप में प्रदान की हैं। व्यक्ति का पारोक्षिक ही उसके पास ऐसी सम्पत्ति है जिस पर स्वभाव उसका अधिकार होता है। जब व्यक्ति अपने पारोक्षिक धर्म को ईश्वर प्रदत्त सामुदायिक वस्तुओं के साथ मिश्रित करता है तो वह उन्हें अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति बना देता है। उदाहरण के लिए यदि व्यक्ति किसी जमीन पर बहार-बीजारी बनाता है या उसे जोड़ता है तो वह उसकी ही जाती है। लोक के ही शब्दों में, “जब ईश्वर ने, जिसने निज को मनुष्य को सामान्य सम्पत्ति बनाया है, मनुष्यों को बुद्धि भी प्रदान की है ताकि वे जीवन के अधिकारमय पाप एवं सुविधा के लिए उसका उपयोग कर सकें। यद्यपि सभ्यता में जो फल स्वाधिन्य रूप से उत्पन्न होते हैं और जो पशु इसमें पाए जाते हैं, वे मानव-व्यक्ति की सामान्य सम्पत्ति होते हैं, और किसी भी व्यक्ति का उन पर कब्जा किसी निजी अधिकार नहीं होता, तथापि प्रकृति को निज वस्तुओं को वह धन्य कर लेता है और उनके साथ वह अपना धर्म निज देता है और उसमें एक ऐसी चीज का सम्मिश्रण कर देता है जो उसकी निजी है; जो वे वस्तुएँ उनकी निजी सम्पत्ति बन जाती हैं।” लोक के समय में समझता कि वह उन व्यक्तियों से नहीं जा रहा था और उन पर वहाँ के उदाहरणों का उदाहरण प्राप्त था। लोक ने यह भी कहा कि धर्म से ही गुप्त का निर्धारण होता है किन्तु वह धर्म को गुप्त या गुप्त धर्म मानता था। विनिवृत्त होती क्या बातें माफों की तरह उसने कृष्ण का मान नहीं, उनका उद्देश्य था कि धर्म से सम्पत्ति और उत्पत्ति होती है और सभी के वस्तुओं का साथ विनिवृत्त होता है। सामान्यतः, वस्तुओं की उपयोगिता इस बात पर निर्भर है कि उनकी उपयोगिता के

जिन्दगी परिश्रम किया गया है। मार्क के सिद्धान्त ने बरततीं सामग्रीय और समानतायें सर्व-व्यवस्थाओं के रूप सम्पत्ती कुछ सिद्धांतों (Labour Theories of Value) का मार्ग प्रशस्त किया। मार्क ने यह विश्वास प्रकट किया कि "अतिशय कुवि-सर्व-व्यवस्था में आदिम काल की सामुदायिक काल की समानता उत्पन्न करके सम्पत्ति होता है।"

मार्क ने यह कहा कि सम्पत्ति उत्पत्ती ही उत्पन्न है जिसमें किसी के निर्माण के लिए आवश्यक है। जमीन की सम्पत्ति उत्पत्ती ही उत्पन्न है जिसमें कोई जीव सके और जिसकी उत्पत्ति को वह अपने उत्पत्ति में ला सकें। मार्क जमीन सम्पत्ति के रूप में कहानि नहीं ला।

मार्क के अतिशय सम्पत्ति के सिद्धान्त के स्पष्ट है कि व्यक्ति का सम्पत्ति सम्पत्ती अधिकार आदिम समानता में, जिसमें मार्क ने प्राकृतिक व्यवस्था कहा, पहले ला है। मार्क के मतानुसार को स्पष्ट करते हुए मैकाल्डे ने लिखा है "यह एक ऐसा अधिकार है जो अधिक सम्पत्ति अपने अतिशय के अधिकार रूप के रूप में लेकर समान में प्राप्त है। इस प्रकार समान अधिकार की वृद्धि नहीं करता और कुछ सीमाओं की छोड़ कर उसका विनिमय भी नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि समान और समान दोनों का उद्देश्य सम्पत्ति के पूर्ववर्ती अधिकार की रक्षा करना है।"¹

सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकार का मार्क ने वैदिक दृष्टि से प्रकट किया है क्योंकि उनका मत है कि सम्पत्तिमान ने सम्पत्ति के साथ अपना नाम 'व्यक्ति' कर लिया है। सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकार के प्रकट के रूप में मार्क सम्पत्ति रूप के दिन-विमर्शों के रूप में हमारे सामने लाता है। मार्क के प्राकृतिक अधिकारवाद के प्रभाव का इंग्लैण्ड और उत्तराध्यात्म अमेरिका में बहुत प्रभाव पड़ा क्योंकि इस सिद्धान्त के सहारे मतानुसार को ने मार्क और मार्कवादी के सम्पत्तिमान अधिकारों के विरोध में सम्पत्ति प्राप्त करने और प्राप्तकर हस्तगत के उत्पत्ती प्रकट करने में बड़ी सहायता प्राप्त की। मार्क के रूप में प्राकृतिक अधिकारवाद भले ही अतिशयिक, व्यक्ति और समाजिक प्रतीत हो किन्तु उस समय यह एक क्रान्तिकारी मत था। राज्य की स्थापना का मूल उद्देश्य सम्पत्ति का रक्षण करना और मार्क ने व्यक्ति की सम्पत्ति की अधिकारों की दृष्टि को प्रकट किया।

मार्क ने यह भी समझाया है कि प्राकृतिक अधिकारों को प्रकट करने के लिए मार्क ने 'समान, समानता और सम्पत्ति' सम्पत्ति प्रकट की है। मैकाल्डे का मत है कि "उत्पत्ति न तो वह नहीं कहा और न उसका यह विश्वास ही था कि सम्पत्ति के अधिकारित रूप कोई प्राकृतिक अधिकार नहीं है, किन्तु 'मार्क' नहीं नहीं किसी अधिकार के सम्पत्ति में कुछ कहा जा रहा है, यह सम्पत्ति मात्र का प्रयोग करता है कि सम्पत्ति ही सम्पत्ति देता अधिकार है जिसकी उत्पत्ति निम्न में प्रतीत की है, मार्क स्पष्ट है कि इस अधिकार की उत्पत्ति उत्पत्ति प्रकट

है। चाहे मनु भी लिखि हो उसने समस्त प्राकृतिक अधिकारी को सम्पत्ति के समान ही माना है। इसका अभिप्राय यह है कि उसने प्राकृतिक अधिकारों को व्यक्ति का अनामिद अधिकार स्वीकार किया है अतः ये अधिकार समाज तथा शासन के प्रति व्यक्ति के अनुवर्णनीय रहने हैं। इन सबों को कभी निराकृत नहीं किया जा सकता क्योंकि समाज का उद्देश्य ही उनकी रक्षा करना है। समाज उन पर उतना ही नियन्त्रण रख सकता है जितना उनकी रक्षा के लिए आवश्यक है। दूसरे हम्बो ने "एक व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पदा पर हमी सीमा तक नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है जिस सीमा तक इस कार्य से दूसरे व्यक्तियों के ऐसे ही अधिकारों की रक्षा करने में सहायता प्राप्त होती है।"

प्राकृतिक अधिकारों, विशेषकर सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकार पर चर्चा करने के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य बुद्धिपूर्वक प्राकृतिक विधान का पालन करते हुए एक दूसरे के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के सीमा अधिकारों का सम्मान करते हैं और इसलिए यह अवस्था हार्मोन की प्राकृतिक अवस्था में मौलिक रूप में भिन्न हो जाती है क्योंकि हार्मोन के अनुसार इस अवस्था में मनुष्य अपने स्वार्थ में बाधा होकर बुद्धि और निष्पक्ष की शिताऊगति को देखे हुए शिक्षा, ह्मसा और युद्ध का शातावरण व्याप्त कि रहते हैं।

सन लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था सुन्दर, सुखदायक और शान्तिमय थी जो उसने कहियेला है कि ऐसी स्थिति का अन्त करके राज्य का निर्माण करने तथा स्वयं की अपने ही अधिकारों के अनुशासन के अधीन रख देने की उच्छा व्यक्ति ने क्यों वाचक हुई? यहाँ तक हार्मोन का प्रसंग है, उसके द्वारा विभिन्न प्राकृतिक अवस्था में राज्य का निर्माण करने का उद्देश्य दिया नहीं है किन्तु लॉक के समय हार्मोन द्वारा विभिन्न प्राकृतिक अवस्था को उद्घाटन करते व्यक्ति की खोज पैसा कोई उद्देश्य प्रतीत नहीं होता। लॉक ने "द्वितीय दृष्टादृष्ट" जिन 'Essay of Civil Government' की कहते हैं, के 1^{वें} अध्याय में लिखा है कि "भववात् में मानव कभी एक ऐसे प्राणी की रचना करके, जिसका उसके मतानुसार भेजेला रहना पैदाकर न था, उसे आवागमन, बुद्धि और सामाजिक जीवन-यापन करने की प्रकृति की तीव्र भावनाओं में मोड़-मोड़ कर दिया और इसके साथ ही साथ उसे समाज की कायम रखने तथा उसका आनन्दोपयोग करने के लिए बुद्धि एवं भाषा भी प्रदान की।" अतएव यह हुआ कि लॉक का विश्वास था कि मनुष्य का सामाजिक स्वभाव उसे सामाजिक समूह बनाने को प्रेरित करता है और ऐसा प्रथम समूह परिवार है। राज्य और सरकार का उदय जो परिवार के बाद हुआ। यद्यपि घराने के समाज ही लॉक मनुष्य को एक सामाजिक अवस्था राजनैतिक प्राणी स्वीकार करने से हम्बर नहीं करता लेकिन मनुष्य की सामाजिकता को वह राज्य की उत्पत्ति का कारण नहीं मानता। चूंकि मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था का जीवन उसके सामाजिक स्वभाव की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सक्षम था, अतः लॉक ने राज्य की उत्पत्ति के कारणों की खोज दूसरे ही क्षेत्र में की। उसने अनुभव किया कि प्राकृतिक अवस्था के सीमा जीवन में भी कुछ बड़ी कमियाँ थी जिनके कारण

अन्ततः यह धारणा प्रचलित हो गई थीर अनुसन्ध जनिष्ठ राज्य कायम हुमा नी सब हुमे देखल चाहिए कि प्राकृतिक अवस्था की वे नीच-नी अनुविधारों की निम्ने कारण राज्य के निर्मित की आवश्यकता हुई ?

प्राकृतिक अवस्था की अनुविधारें—लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था का समाज कतह दुसरल समाज नहीं था फिर भी दुर्भीषणता बहु ऐसा समाज अवस्था का निम्ने शान्ति की दुर्ल अवस्था नहीं थी । उस समाज के कुछ व्यक्ति नीच थीर कुछ वे नी समझ-समझ पर उस समाज की शान्ति बच कर देले थे । प्राकृतिक अवस्था मे एनी समझ के कबालि निम्ने कुछ ऐसी थी कि सभी की सब मरल रहला था । उस समय सभी की निम्नेनिम्ने नील प्रमुख अनुविधारें थी—

- (1) प्राकृतिक नियम की नीई स्पष्ट परिभाषा नहीं थी,
- (2) एलके परिभाषा करने वाला कोई भीष अधिकारी नहीं था, एब
- (3) कोई भी ऐसा नहीं था जो प्रभावशाली रूप मे एले लागू करता ।

स्पष्ट है कि प्राकृतिक अवस्था मे निम्ने व्यक्ति अपनी निम्ने दुईकी थीर स्वार्थ-वाचकता के कभीभूत होकर प्राकृतिक नियम की निम्ने रूपों मे व्याख्या करते थे बात प्राकृतिक नियम की कोई अनुविधित परिभाषा नहीं हो पाती थी । इसके अतिरिक्त प्राकृतिक नियम एब इसके अनुसन्ध निम्ने की लागू करते की दुष्ट न किन्ही मायल अपवा लावा का समझ भी था । निम्ने यह भी कि प्रत्येक व्यक्ति प्राकृतिक नियम की लागू करने थीर उसे बच करने वाले की एक देले का अधिकारी न । वह सब अपने ही मायल के निम्ने था भी व्यावाचीय बन जाता था । ऐसी निम्ने मे निम्नेल लाल एब न्याय-व्यति भी एकत्रता सम्भव न थी । परिणामतः जीवन असुरक्षित एब अनिश्चितता का सा होले मरल था । इन्ही अनुविधारों का अन्त करने के लिए, अनिश्चितता थीर मरल की ऐक्य के लिए, निम्ने का उत्पन्न करने वाला की दम देने वाली निम्नेल न्यायकारी प्राकृतिक-व्यति की आवश्यकता हुई । इस तरह "लॉक की, प्राकृतिक नियम की निम्नेल करने के उत्तरदायित्व की, वलालतपूर्ण व्याख्या के हटाकर अकेलाकुल निम्नेल समाज की होर देने का प्रमुख कारण निम्नेल था" थीर सामाजिक संधि (Social Contract) द्वारा राज्य का निर्मित निम्नेल था ।

लॉक का सामाजिक संधि (Locke's Social Contract)

प्राकृतिक अनुविधारों के रहल जाने के लिए अनुसन्ध ने न्यूनतम प्रतिरोध का मार्ग (Less of Least Resistance) अपनाते हुए एक सम्मेलित द्वारा राज्य का निर्मित निम्ने । यह अनुसन्ध के काल होने के कारण यह सम्मेलित समाज के सभी व्यक्तियों का सभी व्यक्तियों के साथ निम्नेल था । इस प्रकार सम्मेलित का स्वरूप निम्नेल था । अपनी वाचाओं मे सम्मेलित कुछ अधिकार व्यक्तियों ने समाज की एलतिव् अधिकार कर दिए लॉक कलकी प्राकृतिक कल्लिगत दुष्ट से अनुविधा सुनिधा मे

बदल जाए। दूसरे शब्दों में प्रत्येक व्यक्ति ने सम्पूर्ण समाज को, न कि हॉम्स के समान किसी व्यक्ति या व्यक्तियों को सहा की, अपने में प्राकृतिक अधिकार सम्पत्ति कर दिए जिनके प्रयोग से प्राकृतिक व्यवस्था में व्यवस्था फेंकती भी सचवा इनका भव निरन्तर बना रहता था। समाजों के उद्देश्य जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की प्रान्तरिक तथा बाह्य कब्जों के रखा करता था। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु जिन प्राकृतिक अधिकारों का परिचाय किया गया वे वे थे—स्वयंसेव प्राकृतिक कानून की व्याख्या करने, उसे क्रियान्वित करने तथा इसके अन्तर्गतकारी को दण्ड देने के अधिकार। व्यक्तियों ने कुछ अधिकार जो अद्वेष के अपने पास ही रहे, यथा जीवनाधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार आदि। अपने स्वयं के कारण ही प्राकृतिक व्यवस्था के व्यक्तियों ने अधिकतर सुरक्षा तथा सुनिश्चित लाभों (Greater Security and Secure Enjoyments) का लाभ पाया।

तॉक द्वारा प्रतिपादित समाजों के विवेचनों से प्रतीत होता है कि—

(i) व्यक्ति हॉम्स की कल्पना के अनुसार अपने सभी अधिकारों का स्वयं नहीं करता। वह केवल प्राकृतिक कानून की व्याख्या करने, उसे क्रियान्वित करने और मन करने वाली की दण्ड देने के अधिकारों की धारता है और केवल कुछ अधिकार राज्य के सभी के पास सुरक्षित रहते हैं और राजनीतिक नियन्त्रण का मर्जित करते हैं। समाजों द्वारा कोई भी व्यक्ति स्वयं की स्वतन्त्रता पर केवल वही कब्ज अधिकार करता है जो दूसरे के सामान्य ने सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक हो।

(ii) हॉम्स के समान व्यक्तियों द्वारा अपने अधिकार 'संविधान' जैसे व्यक्ति विशेष या व्यक्ति बहुद्व की न दिए जाकर सम्पूर्ण समुदाय (Commonalty) को समर्पित बन से प्रदान किए जाते हैं।

(iii) तॉक के समझों के अन्तर्गत समाज अथवा राज्य में हॉम्स के 'संविधान' के समान प्रतीय अधिकार सम्पन्न, सर्वसम्मतिवादी एवं प्रमुखतावादी नहीं हैं अर्थात् वह दोहरे नियन्त्रण से मुक्त हैं। एक का व्यक्ति अपने पास जो अद्वेष अधिकार रखता है वे राज्य-वर्जित को मर्जित करते हैं और दूसरे प्राकृतिक कानून की व्याख्या करने और उन लागू करने वाला राज्य स्वयं भी उससे अधिकृत है; छीन सभी तरह निराला उपाय व्यक्ति प्राकृतिक व्यवस्था में था। तॉक के स्वयं के शब्दों में, "प्राकृतिक कानून की सम्मतिपूर्ण समाज में सम्पन्न नहीं होती। इस दोहरे नियन्त्रण की इस तरह भी प्रकट किया जा सकता है कि राज्य "व्यक्तियों के मन, स्वतन्त्रता एवं सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकारों का सम्मान करता है और साथ ही प्राकृतिक कानून का स्वयं भी पालन करता है।" सारांश यह है कि तॉक के समझों से अन्तर्गत समाज हॉम्स के समान प्रतीय और सर्वसम्मति अधिकार नहीं रखता। वह समाज सीमा के अन्तर्गत अधिकारों एवं प्राकृतिक कानून का प्रतिस्मरण करने पर कर्तव्यबद्ध होता है और तब जल्दा उसके विरुद्ध विरोध की अधिकारिणी है। तॉक का समाज वाक्यता का पट्टा नहीं स्वतन्त्रता का बन है।

(iv) तॉक का समाज-वाक्य सर्वसम्मति से सम्पन्न होता है। वह जन-दण्ड पर आधारित है। कोई भी व्यक्ति इस नीति समाज में सहमति (Consensus) के

बिना प्रविष्ट नहीं हो सकता। "सहमति ही विचार में प्रत्येक नैसर्गिक सरकार का निर्माण करती है।"

(४) सन्धि की साम्य होने के लिए प्रत्येक पीढ़ी द्वारा उसे पुनः स्वीकार किया जाना आवश्यक है। राज्य के प्रत्येक नागरिक के अलग-अलग स्वतन्त्र रूप में जन्म लेते हैं। उन पर राज्य की सहायता अनिवार्यतः नहीं होती या सकती। उन्हें इस बात की पूरी स्वीकृति है कि वे राज्य में प्रतिष्ठित हो अपना न हों, पूर्णतः समझौता एक बार हो चुका है मत- उसे पुनः दोहराने की आवश्यकता नहीं है। सन्धि की सहमति पाने की समस्या का सौंफ बहुत-बहुत निवारण करता है कि यदि उन्हें अपनी व्यक्तिगत व्यवस्था प्राप्त होने पर वे अपने जन्म के देश की सरकार द्वारा प्रदत्त सेवाओं की स्वीकार करते रहते हैं तो उनका वह निष्कर्ष निकलना जाना चाहिए कि उन्होंने कुछ सन्धि के समर्थन में अपनी सहमति प्रदान कर दी है। किन्तु ऐसा न करने और राज्य से बाहर चले जाने पर वे अपनी बहुत सम्पत्ति के उत्तराधिकारी नहीं रह सकते। वे अपने व्यक्ति हो जाते हैं। सौंफ का यह दृष्टिकोण निश्चय ही व्यावहारिक नहीं है, बल्कि वैज्ञानिक कर के इससे कुछ दूर भी हो है।

(५) सौंफ की समझौता एक बार हो जाने पर कभी रह न हो सकने वाला (Irrevocable) है। यहाँ वह हॉम के समकक्ष ही है। हाँ, वह प्रभाव है कि निश्चित सरकार यदि किसी सरकार से अलग हो जाए, तो उनका पुनर्निर्माण हो सकता है।

(६) सर्वसम्मति से निश्चित होने वाले राजनीतिक समाज (Civil Society) के बहुमत के सामान्य (Majority Rule) का सिद्धान्त अनिवार्यतः निश्चित है। राज्यसमझौते की बहुमत की रणनीति का पालन करना चाहिए, पूर्णतः इस सिद्धान्त की स्वीकार करना सामाजिक व्यवस्था के स्थापन और नागरिक कानूनों की सम्भव बनाने के लिए निश्चित आवश्यक है। सन्धि की यह महत्वपूर्ण बात है कि उनके उत्पन्न पर वह सर्वथा महत्वहीन हो जाता है। सौंफ के ही शब्दों में—“प्रत्येक व्यक्ति दूसरी के साथ एक सरकार की सम्झौता में एक राज्य के निर्माण करने की अनुमति देता है। इस प्रकार वह अपने-आपको बहुमत के निर्णय के सामने भुजने तथा अपने सम्झौते होने के लिए सम्मिलित करता है अपने वह पुनः निर्माण निश्चित द्वारा उसने दूसरी के साथ निश्चित स्थापन की रणनीति की है, निश्चित हो जाती और वह निश्चित ही नहीं होती।” यहाँ एक स्थान पर यह कहा है—“कोई भी समुदाय अपना कानून अपने सदस्यों की सहमति द्वारा ही कर सकता है। पूर्णतः वह समुदाय एक इकाई होता है, मत समग्र समुदाय की एक निश्चित नीति द्वारा व्यवस्थित है। दफाई सभी विषय में व्यवहार हो सकती है जिस पर सर्वाधिक भुजान हो। इसी प्रकार समुदाय की भी यह नीति हो सकती है, जिसको उसके प्रतिनिधि सदस्यों का अनुमोदन प्राप्त हो।” इस सम्बन्ध में रोसाइने ने भी कहा है कि “सौंफ के सिद्धान्त में एका या आधार यह है कि जो नारी समुदाय के सदस्यों के बहुमत

के होता है, यह समुदाय का ही कार्य माना जाता है। जब प्रत्येक व्यक्ति दूसरों की सहमति में राजनीतिक समाज का निर्माण करने के लिए तैयार होता है, तब यह दल बल के लिए बाध्य हो जाता है कि वह बहुमत के निर्णय को विरोधार्थ करे। इस सम्बन्ध में बुकेन सीधे से ठीक हो कह पा कि "सामाजिक संविदा की कल्पना को पुष्ट करने के लिए सर्वसम्मति को कल्पना का प्रयोग किया जाना चाहिए। बहुमत का सम्बन्धीता तत्पूरी समाज का सम्बन्धीता माना जा सकता है।"¹

तर्क की बहुमत वाली धारणा सही है क्योंकि किसी भी मानवीय समाज के निर्माण को पूर्णतः सर्वसम्मति पर आधारित नहीं किया जा सकता। यह सर्वेव सम्भव है कि अल्पसंख्यता, व्यक्तता आदि कारणों से कुछ व्यक्ति किसी कार्यवाही में भाग न ले पाएँ, अथवा किसी नीति विशेष से सहमत नहीं हो सकें, सामाजिक व्यवस्था के स्थाय संभालन के लिए यह अपरिहार्य है कि बहुमत का अल्पमत सम्मान करे। तर्क वहीँ पर एक सम्बन्धीर सकारण का विचार है। उसके अनुसार के सिद्धान्त के विरुद्ध यह धारणा जलाई जा सकती है कि यदि व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार वास्तविक हैं तो उसे उन अधिकारों से वंचित नहीं किया जाना चाहिए—कहें अधिक करने वाला एक सत्तावादी हो अथवा बहुमत हो। सम्भवतः तर्क की यह नहीं सूझ कि बहुमत भी सत्तावादी हो सकता है। यह मानने का कोई कारण नहीं है कि कोई व्यक्ति अपने किसी निर्णय को इसलिए क्यों अक्षेपता करे कि जो लोग उसने बहुमत नहीं है, वे बहुमत में हैं। यदि अथवा अथवा समुदाय एक इकाई है, तो वह समझ में नहीं आता कि उसका निर्णय बहुमत के आधार पर ही क्यों हो ?

तर्क के सम्बन्धीते की इस समस्या के बार हूय उसके सिद्धान्त की प्रत्यक्षता पर पाते हैं। मुख्य कठिनाई यह है कि वह बार-बार मूल सम्बन्धीते (Original Contract) का उल्लेख करता है, किन्तु स्पष्ट रूप से यह नहीं बतलाता कि उसका मूल-प्रतिरूप के अधिकार क्या है ? वह सवाल है या निर्णय प्राप्त ? तर्क कहता है कि राजनीतिक मान्यता को प्राप्त कर विवरण कर देती है, वास्तव द्वारा निर्मित समुदाय का विवरण नहीं करती। यह यह स्पष्ट नहीं करता कि—वास्तव अथवा सरकार का निर्माण मूल अधिकार के अधिकार किसी अन्य सविदा से हुआ या अथवा वह और कैसे हुआ ? इस कठिनाई के निराकरण में वेल्डान ने कहा है कि "एक सविदा तथा बुकेन सीधे से तैयारीय निष्कर्षों के दो सविदाओं की कल्पना की थी। एक सविदा दो व्यक्तियों में आशय से हुआ था जिसके परिणामस्वरूप समुदाय का जन्म हुआ। दूसरा सविदा समुदाय और वास्तव से हुआ। तर्क ने कुछ-कुछ नहीं बुद्धिबल प्रस्तुत किया है; यद्यपि उसने इसका निराकरण नहीं नहीं किया है। दो सविदाओं से कोई स्पष्टीकरण नहीं होता क्योंकि एक व्यवस्था की दो व्यवस्थाओं में नाश करना उचित नहीं है लेकिन उसके सिद्धान्त की धीरे-धीरे स्पष्टता प्राप्त होती है। तर्क धीरे-धीरे स्पष्टता की कोई महत्त्व नहीं देता या इसलिए

उन्होंने दो दृष्टिकोणों के समन्वय से ही सम्यक् कर दिया।" दुसरा सम्बन्ध में बॉह्लिन (Vaughan) का मत है कि यद्यपि लोक ने स्पष्ट उत्तर नहीं दिया, फिर भी बहु दो प्रकार के समझौते मानता है। पहले के द्वारा प्राकृतिक व्यवस्था का पालन ही माना है और इसीसे अगले नागरिक या राजनीतिक समाज (Civil Society) की स्थापना होती है जब पहला समझौता हो जाता है तो लोग सामुदायिक रूप में दूसरा समझौता करते हैं—सामल-विवर्तक समाजोता। इसके द्वारा कुछ समझौते या एकीकरण की नई गतों की तलाश करने के लिए एक सरकार की आवश्यकता भी जाती है।

बॉह्लिन के विपरीत अन्य लेखकों की धारणा है कि लोक का समिदा बोधरा नहीं है क्योंकि उसके अनुसार अनुष्ण प्रकृति से ही सामाजिक है। यद्यपि बहु राज्य और सरकार में विभेद करता है क्योंकि बहु कालों द्वारा भी ऐसा कोई संकेत नहीं करता कि शासन का निर्माण दूसरे समिदा द्वारा होता है। एक समिदा की धारणा का समर्थन करते लोगों का कहना है कि लोक ने निश्चय ही एक मूल एवं प्रधान समिदा की बर्णों की भी विविध समान अवस्थितों में नागरिक हस्त समाज की स्थापना का उद्देश्य लिया। सरकार के निर्माण हेतु कोई दूसरा समिदा नहीं किया गया क्योंकि लोक के अनुसार समिदा में अव्यवस्थीय समाजता अवस्थित है, पर सरकार और समाज में यह समानता नहीं है। समाज अव्यवस्थीय की व्यवस्था है और सरकार उसके समकक्ष न होकर उसके मादोताधीन है जब यह लीजना प्रामाण्य है कि लोक द्वारा जो समिदाओं की दृष्टि की गई है। प्रो कार्दर का समझीकरण है कि "मानव-इतिहास में एक ही सामाजिक अनुष्ण दृष्टा, राजनीतिक स्वतन्त्र समुदाय का नागरिक में मन्त्र का जन्म हुआ, अनुष्ण के व्यवस्थक राज्य को व्यवस्था-व्यवस्था (Terrorist-deed) के समक्ष आया।"

उल्लेखनीय है कि एक राजनीतिक समाज सरकार के बिना न हो जीवित हो यह समझा है और न कार्य ही करता है, अतः ऐसे समाज का प्रथम नाम सरकार या शासन की स्थापना करना होता है जबकि बहु समाज में जीवन, सम्बन्ध धारि भी रहा कर सके। लोक के समझे में, कोई भी राजनीतिक समाज अपने समस्त कार्यों की दृष्टिकृत करने की गरिब के समक्ष में न तो हो सकता है और न अपना अवस्थित ही बनाए रख सकता है। अतः राजनीतिक समाज केवल नहीं हो सकता है जहाँ प्रत्येक व्यवस्था में अपनी प्राकृतिक गरिब का परिचय करके उसे सम्पूर्ण समाज के हाथों में सौंप दिया हो। ...जो लोग एक समाज के समझित होते हैं और एक सामान्य वागुन तथा व्यावहारिकता की स्थापना करते हैं, जिसे उनके अग्रकों का निर्माण करते तथा अवस्थितों की दृष्ट देते का समिदा होता है, वे एक राजनीतिक समाज में एक दूसरे के साथ संभर ही जाते हैं।" इससे अवस्थित नहीं है कि राजनीतिक समाज का निर्माण अभी पूर्ण समझा जा सकता है जब यह सरकार की स्थापना करें। सरकार-निर्माण द्वारा ही समाज-स्थापना के उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है। परिणाम नहीं निकलता है कि समझौता एक दृष्टा या दो समझौते हुए—बहु विशेष सहजपूर्ण नहीं है। बंके कलित नहीं होता है कि समझौता एक

दृष्टा । व्यक्तिों ने साम्य नागरिक समाज को सबसे पहले नियम-निर्धारण का अधिकार दिया जो विधानसभा-शक्ति का पूर्वभास है फिर उस समाज की समराज-निर्णय, सर्वविधता तथा नीति-क्रियान्वयन के अधिकार भी सौंपे गए । इस सर्वसत्त्व का हस्तांतरण के आधारपरिणत तथा कार्यपालिका के रूप स्थिर किए गए । इन अधिकारों के सुव्यवस्थित होकर समाज अधिक व्यवस्थापक हो गया और कामान्तर में उसके शासन की स्थापना की जो इस शक्तियों (विधानसभा कार्यकारिणी तथा न्यायपालिका) की अनुमति अवस्था करती । इसके साथ ही यह भी मान लिया गया कि बहुमत का निर्णय ही सर्वमान्य होगा । इस प्रकार व्यक्ति के मौलिक हस्तांतरण द्वारा अनुबन्ध का सुव्यापन किया गया । पहले व्यक्तिों ने मिलकर नागरिक समाज बनाया, फिर समाज ने सरकार बनाई और उसे केवल में ही अधिकार दिए जो व्यक्ति ने समाज को सौंपे थे । व्यक्ति, समाज, विधानसभा, कार्यकारिणी, न्यायपालिका इस क्रम में अनुबन्ध के परिणाम विवक्षित हुए ।

एक प्रश्न यह उत्पन्न है कि उपरोक्त समझौता एक ऐतिहासिक तथ्य है क्या केवल एक दार्शनिक धारणा ? चूंकि इसे दार्शनिक होने के साथ-साथ ऐतिहासिक रूप भी मानता है । टीटाइज के 14वें वर्ष में लिखे उसके तर्कों से साहचर्य है कि "मनुष्यों के विना न समार कभी था, न कभी होगा" सविद्या की ऐतिहासिक तथ्य बताते हैं और 15वें वर्ष के साथ में लिखे गए तर्क—“मेरा कहना है कि समस्त मनुष्य जब तक उन अवस्था में रहते हैं जब तक कि वे अपनी अनुमति के एक राजनीतिक समाज की स्थापना नहीं कर लेते” सविद्या की एक दार्शनिक धारणा सिद्ध करते हैं । किन्तु चूंकि के राजदरभेन को अभी भी प्रकार समझा जा सकता है जब हम उसका सम्पूर्ण राजनीतिक समाज के धार्मिक न्याय (Logic) के ध्यान में न कि ऐतिहासिक तथ्य के । चूंकि स्पष्ट करता है कि समाज में मनुष्य के पारंपरिक सम्बन्ध तथा व्यक्तिों और समाज के सम्बन्ध को हम सर्वोत्तम रूप में सबसे समझ सकते हैं जब हम राज्य की मनुष्यों के पारंपरिक समझौते का नाम एक सरकार की शक्ति की और से एक दृष्टि कराते ।

डनिंग (Dunning) बहुरूप का मत है कि “चूंकि के सामाजिक सविद्या तथ्य-की विचारों में ऐसी कोई बात नहीं है जो उसके पूर्ववर्ती दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित न की गई हो ।” लेकिन उसकी गहरी विवेचना नहीं है कि उसने इस अवधि अधिक बुद्धिबलता प्रधान की और व्यक्तिगतता बनाया । उसने सरकार की शक्ति पर अधिकतर जगहकर उसका प्रधान उद्देश्य व्यक्ति के अधिकारों की सुरक्षा स्वीकार किया ।

सरकार के कार्य और उसकी सीमाएँ (Functions of the Government and its Limits)

चूंकि के मत में सरकार का उद्देश्य निम्नलिखित है और इसकी शक्ति सीमित है । शक्ति की शक्ति और नागरिक-हितों का पोषण करना ही सरकार का उद्देश्य है । चूंकि ने “द्वितीय टीटाइज” के 9वें अध्याय में लिखा है कि “मनुष्यों के राज्य में

समझा होने तथा अपने सामग्री सरकार के सभीन रखने का 'मुख्य उद्देश्य सभी सम्पत्ति को रखा करना है ।' यही सम्पत्ति बन्द से कई केवल शैक्षिक सम्पत्ति से बड़ी है इसके अन्तर्गत जीवन एवं स्वतन्त्रता भी सम्मिलित है । सरकार का यह प्रयत्न नहीं है कि वह उपद्रवियों और अव्यवस्थाओं को के समान की रखा करे लेकिन लोक यह नहीं चाहता कि सरकार के पास अधिक सत्ता केन्द्रित हो जाए, क्योंकि सत्ता के अत्यधिक केन्द्रीकरण से अत्याचारप्रियता का सम्भावितता का उदय हो सकता है ।

लॉक के अनुसार व्यक्तिगत जीवन, स्वतन्त्रता एवं सम्पत्ति की रक्षा के लिए सरकार के तीन कार्य आवश्यक है—

(i) स्वतन्त्र एवं सम्मान तथा सम्पूर्ण विचारों के निर्माण के लिए सामान्य आवश्यक विधिकरण करने के व्यवस्थापिका सम्बन्धी कार्य ।

(ii) समान एवं नागरिकों के हितों की रक्षा करने, युद्ध की घोषणा करने, शान्ति स्थापित करने, अन्य राज्यों से सन्धि करण आदि के कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य ।

(iii) स्थापित कानूनों के अनुसार व्यक्तियों के नागरिक अधिकारों का निर्वहन निर्णय देने सम्बन्धी न्यायिक कार्य ।

स्पष्ट है कि लॉक ने सरकार के व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका सम्बन्धी तीनों कार्य बताये हैं । अपने यह भी कहा है कि तीनों कार्य परस्पर एक दूसरे से पुनश्च है और उन्हें सम्पादित करने वाले व्यक्तियों के विभिन्न गुणों और शक्तियों का होना अपेक्षित है । अपने व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में पुनश्चता मानते हुए कार्यपालिका को व्यवस्थापिका के अधीनस्थ बताया । अपने कहा "जिन व्यक्तियों के हाथ में विधि-निर्माण की शक्ति होती है उनके विधियों को क्रियान्वित करने की शक्ति अपने हाथ में ले लेने की भी प्रयत्न करना हो सकती है क्योंकि शक्ति क्रियान्वित का प्रयोजन बहुतों की एक महान् दुर्बलता है ।" लॉक ने यह भी कहा कि कार्यपालिका का सब निरन्तर चलना चाहिए, लेकिन व्यवस्थापिका के बिना ऐसा होना आवश्यक नहीं है । कार्यपालिका पर नियन्त्रण का सम्बन्ध करते लॉक ने कनेड माधुनिक अधिनायकता का प्रथम प्रस्ताव और सम्बन्ध किट्ट कहा । व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के मध्य सत्ता-विभाजन का प्रस्ताव स्वीकार करते लॉक ने मोरी और हॉम्स द्वारा प्रत्यक्षित शक्ति केन्द्रीकरणप्रतिक सम्प्रमुखाय का प्रत्यक्ष रूप से कहियार कर दिया ।

लॉक ने बताया कि न्यायिक कार्य-व्यवस्थापन एवं कार्यपालिका सम्बन्धी कार्यों में विग्र होने हैं, यह उन्हें दोनो ही से, कल्पना रूप से कम व्यवस्थापिका से प्रयत्न पुनश्च रखता पाहिए । यह कहा अनुचित नहीं होता कि विधि-निर्माणकर्ताओं को ही विधि का व्याख्याकार कहा दिया जाए । लॉक न्यायिक एवं कार्यपालिका सम्बन्धी कार्यों में अन्तर स्वीकार करते हुए भी दोनो कार्यों की एक ही प्रय की

जीवने के लिए इसतिरु तैयार या कर्मीक खोनी ही कम करने कर्तव्य मानन हेतु समाज की सहाय शक्ति की खोजा रखते हैं ।

लौक ने व्यवस्थापिका की सर्वोन्नत माना, पर इसकी निरकुशता का समर्थन प्रदानि नहीं किया । उसका कहना था कि व्यवस्थापिका से ऊपर जनता है । उसे भी सर्वोदा के अधीन रहकर काम करना पड़ता है । व्यवस्थापिका अपनी शक्तियों को केवल उन्ही आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयुक्त कर सकती है जिनके लिए समाज की रचना हुई है । व्यवस्थापिका अपने अधिकार-क्षेत्र में केवल उन्ही बातों को मान सकती है जो सरकार की रचना द्वारा सीधे जती है । उसके द्वारा प्राकृतिक मननता के समान ही राजनीतिक समाज में भी मान्य प्राकृतिक कानून के बिना कोई विधि नहीं बसाई जा सकती । व्यवस्थापिका के लिए लौकी के अद्वैत प्राकृतिक अधिकारों का सम्मान करना अनिवार्य है ।

व्यवस्थापिका की शक्ति के सम्बन्ध में लौक के विचारों की तात्त्विक सीमांता करते हुए मैकाइन महोदय ने लिखा है कि—“दार्शनिक की मान्ति के अनुसर के आधार पर लौक ने यह मान लिया था कि जातन में विधायी शक्ति सबसे ऊँची होती है, तथापि वह यह भी मानता था कि कार्यो न विधि-निर्माण में भाग ले सकता है । लेकिन, लौकी शक्तिवा सीमित होती है । विधायी शक्ति स्वेच्छाकारी नहीं हो सकती । स्वेच्छाकारी शक्ति ही उन लोगों के पास भी नहीं थी, जिन्होंने उसकी स्थापना की थी । वह मनचाही नीतिक आवश्यकियों द्वारा शासन नहीं कर सकती । इसका कारण यह है कि जातन की स्थापना करने वाले कार्यो विधि और न्यायाधीश से परिचित होते हैं । वह बहुमत का अर्थ बहुमत का निर्णय है । वह अपनी विधायी शक्ति किसी दूसरे को भी नहीं सौंप सकती । वह शक्ति ही बढ़ी रहती है जहाँ समुदाय में उसे प्रतिष्ठित किया है । लौक ने उससे शक्ति समानता की है । सर्वोन्नत मानि जनता के पास रहती है । जब विधान-मण्डल प्रकटा की इसका के बिना चलता है, तब जनता इन लौक को गिराने में सकती है । कार्योपिका की शक्ति और भी सीमित होती है—शुद्ध जो वह विधानमण्डल के ऊपर निर्भर रहती है और शुद्ध उनके ऊपर विधि का नियन्त्रण रहता है । सकारिता की दृष्टि में यह आवश्यक है कि विधायी और कार्यकारी शक्ति एक ही हाथों में केन्द्रित न रहे । लौक ने विधानमण्डल और कार्योपिका के सम्बन्धों का भी विवरण दिया है, यह राजा और मजद के बाद-निर्वाह के किसी न किसी बच्चे को प्रकट करता है ।”

इस सम्पूर्ण विवरण में प्रकट है कि लौक उस निरकुश जातन के बिना या हानि विधायी और समर्थक था । सर्वाधिकारी व्यक्ति को बनाकर लौक ने कमजोर समाज, विधानमण्डल, कार्यकारिणी तथा व्यवस्थापिका के अधिकार से समन्वित राज्य की स्थापना की जिन्हु अधिकारों के एकत्रीकरण का निरोध किया । उसने सीमित राज्यतन्त्र का समर्थन किया । उसने राज्य को उस जन-सेवक या परमक-संस्था के रूप में बताया जिसका राजाभी व्यक्ति था । जन-सौकुश के आधार पर

जल-सेवा का लक्ष्य लेकर राज्य अनुष्ठी द्वारा निर्मित साधन था—यह मान्यता उसने प्रकट की।

उत्प्रेक्षणीय है कि सम्राट तथा सरकार के पारस्परिक सम्बन्ध को बताने के लिए लॉक ने ट्राइट (Treaty) शब्द का प्रयोग किया क्योंकि यह सरकार की सम्राट के सम्पन्न रहने का समर्थक था और इस बात पर मत देता था कि वह-अवस्था के लिए स्थापित सरकार ट्राइट की अवहेलना करने पर बंधनपूर्वक ही हो सकती है। वाइल (Vauclerk) के शब्दों में, "लॉक के शब्दों में ट्राइट की धारणा को अपनाने पर लॉक ने केवल सरकार के ऊपर, अपितु के निवासियों की अवस्था काफ़ी है, क्योंकि एक उससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात की अवधारणा करता है और यह है अनुभव के अनुसार इस नियमों का दिन-बिदिन प्रयोग।"

लॉक को कुछ अन्य विचार

(Some Other Thoughts of Locke)

सरकार के रूप (Forms of Govt.)

लॉक ने इस सम्बन्ध में कुछ अधिक नहीं लिखा है। वह प्रभावशाली सरकार के तीन रूपों की चर्चा करता है। सरकार का स्वरूप इस बात पर निर्भर है कि बहुमत अपना अनुशासक शक्ति का किस प्रकार प्रयोग करना चाहता है। बहुमत का समुदाय सत्ता अपने पास भी रख सकता है। अपना इसे किसी विधायी सत्ता को भी सौंप सकता है। यदि विधायी शक्ति यह स्वयं अपने हाथ में रखता है और अपने द्वारा निर्मित कानूनों की निदानशक्ति के लिए कुछ अधिकारियों की नियुक्ति भर कर देता है तो वह सरकार जनतन्त्रवादी है। यदि समाज अपना बहुमत विधायी-शक्ति कुछ निम्न-स्तरीय शीर्षी एवं उसके उपाधिकारियों को सौंप देता है तो वह सरकार संसदीय या कुलीनतन्त्रवादी (Oligarchical) होती है। यदि विधायी-शक्ति केवल एक व्यक्ति में निहित है तो वह सरकार राजतन्त्रवादी (Monarchical) कहलाती है। लॉक मॉडरनिज्म राजतन्त्र की सरकार का सर्वोत्तम रूप मानता है किन्तु उनका यह भी कहना है कि विधायिका चाहे जो रूप धारण करे उस स्थिति रहना चाहिए और वहीं जनता में उसे रखा है वहीं बनी रहनी चाहिए।

महिम्ना (Tolerance)

लॉक का एक महत्वपूर्ण मोलदान महिम्ना के समर्थन में है। १७वीं सताब्दी के प्रारम्भिक मध्यों की कृष्णभूमि में लॉक धरना उदार-भूमि का था। धर्म के सम्बन्ध में उसके पूर्व दो विचारधाराएँ प्रचलित थीं। एक थी इस्लाम की अति विरुद्ध राज्य का समर्थक दम का जो राज्य को पूर्ण अनुकूल सम्पन्न बनाकर धर्म को प्रकीर्ण बनाता था। दूसरा दम मोघ, पार्थिव, सामन्ती, आदि का था जिसे अनुसार धर्म राज्य-शक्ति के धरे की बन्धु थी। वह इस मानता था कि राजा की केवल प्रशासकीय अधिकार थे, धार्मिक नहीं। "एक पक्ष के पास मानव की तलवार (Sword of the Imperium) थी जो दूसरी पक्ष में प्राप्त थी और दूसरे के पास अधिपति की तलवार (Sword of the Sacerdotum) थी और वह भी मानव

रुज से झाई थी । एक ऐसा झल की था की खोनी ललचायी की एक ही मासक के खोनी हुनो के साथ मासता था ।”

धार्मिक कट्टरता का पुद्ग बहुत दिनों तक चलता रहा और धर्म के नाम पर बीच-बीच परंपरावार किए गए । अन्ततः धार्मिक सहिष्णुता के विचार प्रसिद्धि होने लगे और जब लॉक ने अपने विचार प्रसिद्ध ‘Letters on Toleration’ में लिखे तब तक सहिष्णुता के सिद्धान्त का काफी प्रसार हो चुका था ।

लॉक ने अपने ग्रन्थ में लिखा कि धर्म वैयक्तिक वस्तु है जिससे राज्य का तब तक कोई मतलब नहीं जब तक धार्मिक विरोध व्यवस्था उत्पन्न न कर दे । धर्म मनुष्य की स्वतन्त्रता में बाधा का समक है, हृदय की पवित्र मनुष्यता है । धर्म के विषय में एक-दूसरे द्वारा परित्याजित नहीं किए जा सकते । धर्म-परिवर्तन सम्भवपूर्ण है अतः राज्य के लिए नहीं उचित है कि वह धार्मिक मान्यताओं का विरोध न करे वरन् उन्हें सम्मानित और उपयुक्त बनाए रखे । वह कार्य हस्तक्षेप द्वारा सम्भव नहीं है । राज्य की कार्य-प्रणाली जन-सर्वोप की है और धर्म के क्षेत्र में जन-सर्वोप करना व्यर्थ है क्योंकि इस शासन से किसी के मत और हृदय को जीता गया प्रयत्न नहीं जा सकता । धर्म एक मौखिक विषय है जिसका राज्य हृदय-परिवर्तन है । तब से धर्म का उद्देश्य ही सम्पन्न हो जाता है ।

लॉक ने धर्मोन्मत्ता के कारण जनता पर किए जाने वाले सत्तावादी की गप्पा नहीं और सुनी थी । उन्होंने अपने समय में भी इसका अनुभव किया था अतः उन्होंने धर्म और राज्य के सम्बन्ध का परीक्षण किया । उन्होंने कहा कि जहाँ स्वतन्त्र विचार-प्रवर्तन एवं सत्यान्वेषण का कार्य राज्य की धर्म के सम्बन्धित करना चाहिए तथा लोगों को अपने विचारों के अनुकूल धर्म-चालन की छूट देनी चाहिए वहीं धर्म की छाड़ दे दिए जाने वाले राज्य-विरोधी कार्यों का अन्त करने के लिए भी राज्य को तैयार रहना चाहिए । यह धारणा की बात है कि धार्मिक सहिष्णुता और उदार दृष्टि का परिचय देते हुए भी लॉक रोमन कैथोलिकों को मानसिकता देने के पक्ष में नहीं था । कैथोलिकों को भी बहु-सम्राज्य की स्वतन्त्रता प्रदान करने का विरोधी था । कैथोलिकों से वह इन्हीं वाक्यों का कि जनता मान्यता एक खोजी शक्ति के प्रति थी और धर्मिकों से वह इन्हीं वाक्यों का कि वे ईश्वर की सत्ता से ही इन्कार करते थे ।

विद्रोह या क्रांति का अधिकार (Right of Revolution)

लॉक के अनुसार राज्य का निर्माण जनता के हित के लिए कुछ विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के निमित्त होता है । कुछ अनुविधानों को दूर करने के लिए व्यक्ति राज्य को सीमित अधिकार देकर अपने विरोध का अधिकार नहीं छोड़ते । व्यक्ति ने जीवन-स्वतन्त्रता और सम्पत्ति-रक्षा के मौखिक उद्देश्यों की पूर्ति न कर देने पर राज्य के विरुद्ध कदम उठाया जाना स्वाभाविक है, हालांकि वह कदम बहुत समझित होना चाहिए । लॉक की दृष्टि में व्यवस्थानिष्ठ राज्य का लक्ष्य धर्म है और नागरिकता इसके अधीन है पर यदि व्यवस्थानिष्ठ स्वेच्छावादी

सावरण करने वाले जो जनता को अधिकार है कि वह उसे खट कर दे या बदल दे। लोक के विद्वानों की यह विशेषता है कि सरकार के पक्ष होने पर हमारा मनो का रवो बना रहता है, क्योंकि समाज की स्थान सरकार के ऊपर है। वह सरकार के मन होने के सम्मुख से केवल इतना कहता है कि "सरकार तब मन हो जाती है जब बाबुल-निर्माण की शक्ति उस क्षण से हट जाती है जिसको कि जनता ने यह भी थी, या तब जबकि कार्यपालिका का व्यवस्थापिका उसका प्रयोग टाट की शर्तों के विपरीत करते हैं।" लोक ने यह स्पष्ट नहीं किया कि लोक यह कार्यवाही किस प्रकार करते हैं। उसने केवल यही बताया कि यदि धन्यवाद स्पष्ट हो जाए तो जनता राजनीतिक सत्ता का विरोध कर सकती है किन्तु विरोध करने के इस अधिकार पर प्रतिशब्द है। प्रथम, जब तक स्थिति साम्यीर न हो जाए धन्यवाद जब तक साम्य धर्मने कार्य को का पालन करता रहे तब तक जनता की अपनी शक्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए। द्वितीय, केवल बहुमतकाल भीनी की ही सरकार बनाने का अधिकार है। लोक के अन्तिम निष्कर्ष इस विचारों के कारण ही कहा गया है कि उसने "किसी साम्य विद्वान का नहीं बल्कि अन्तिम के विद्वान का प्रतिपादन किया है।" इस विद्वान का अर्थपूर्ण एवं स्पष्ट राजनीतिकों पर काफी प्रभाव पड़ा था।

व्यक्तिवाद (Individualism)

बाह्य का प्रथम है कि "लोक की व्यवस्था से हर बाहु व्यक्ति के पार्श्व प्राप्त बनकर आती है। प्रत्येक बाहु की इस प्रकार सजाकर रखा गया है कि व्यक्ति की सम्प्रभुता सुरक्षित रहे।" वास्तव में यह बहुत कुछ सत्य है कि लोक ने जिस राजनीतिक व्यवस्था की कल्पना की उसका केन्द्रबिन्दु व्यक्ति है, तथापि इसका अर्थ यह नहीं है कि उसने व्यक्ति के प्रमुख का प्रतिपादन किया है।

(1) लोक की व्यवस्था व्यक्ति केन्द्रित है। प्राकृतिक व्यवस्था, प्रथम समाज, परिवार, सामन्तत्व और राज्य अन्तिम—ये सभी पार्श्व व्यक्ति का पीछे बसाने वाली है। लोक जीवन, स्वातन्त्र्य और सम्पत्ति की रक्षा के अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को देता है। इसे यह व्यक्ति के सम्पत्ति, स्वाभाविक एवं प्राकृतिक अधिकार समझता है। उसका विश्वास है कि सम्पत्ति के अधिकार से व्यक्ति का अधिकार सम्पन्नित है और नहीं जीवन तथा स्वातन्त्र्यता के अधिकार का आधार है। लोक मानता है कि व्यक्ति की सम्पत्ति तथा प्रथम अधिकारों के अर्थ में सम्पत्ति का कोई हान्य नहीं है पर लोक के विपरीत बाहुनिक यह यह है कि व्यक्ति के पास जो कुछ भी है वह समाज-प्रदत्त है।

(2) लोक यह भी कहता है कि व्यक्ति की वैयक्तिक चेतना, व्यापक-व्याप को अत्यन्त अन्तिम प्रदत्त है पर व्यक्ति के समाजवादी मान्यता है कि सामन्तत्व केवल का निर्माण सामाजिक व्यवस्था से होता है और समाज में ही उसे वैयक्तिक जीवन मिलती है।

(iii) लॉक के अनुसार राज्य का प्रादुर्भाव ही व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा के लिए होता है। इन अधिकारों की सुरक्षा के लिए ही वह राज्य की स्थापना कर अनेक सर्वाधिकार स्थापित करता है। मैकसी के शब्दों में, "लॉक का कार्य राज्य की स्थापना की ऊपर उठना नहीं, बल्कि उसके प्रतिपक्षों का प्रतिपादन करना है।"¹ जब ही व्यक्ति ने अपनी जिस अधिकार का त्याग किया है वह एक व्यक्ति में नहीं बल्कि सम्पूर्ण समाज में विहित है, और द्वितीय, चाकर 'लेविताशन' की भाँति व्यक्तिगत अधिकारसम्पन्न निरंकुश प्रभु नहीं है, बल्कि उसके अधिकार वही तक सीमित हैं जहाँ तक समाज समझा बहुमत ने उन्हें उन्हीं प्रदान किया है। व्यक्तिगत प्राकृतिक अधिकार प्रमुखसम्पन्न समाज के अधिकारों की ठीक उन्हीं भाँति सीमित करते हैं जिस भाँति प्राकृतिक अवस्था में एक व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार दूसरे व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों को सर्वोपरि करते थे।

(iv) लॉक ने यह भी स्पष्ट किया है कि किसी भी व्यक्ति को उसकी इच्छा के विरुद्ध राज्य का शासन करने के लिए विवश नहीं किया जा सकता। कुत्सा, यदि परिवर्तन अवस्था प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति अपने राज्य के देश की सरकार द्वारा की गई सेवाओं को स्वीकार करता रहे तभी वह सम्भवतः चाहिए कि उसने अधिकार के प्रति अवस्था राज्य का कदम होने के प्रति अपनी सहमति प्रकट कर दी है। वह अपनी सम्मति स्पष्ट अवस्था में दे सकता है। स्पष्ट है कि लॉक व्यक्ति की सम्मति को समाज का आधार मानता है।

(v) लॉक के चर्चे निरन्तर-विचारों में भी व्यक्तिवाद की स्पष्ट झलक है। वह धर्म की व्यक्तिगत बस्तु मानता है और व्यक्ति को अन्तःकरण के अनुसार गुण एवं उपायों की स्वतन्त्रता प्रदान करता है। यह कहता है कि धर्म व्यक्तिगत ईश्वरता का मूल है, जिसका-बुद्धि द्वारा ही पंचनम्य अनुभूति है। लॉक ने हिंस्र की भाँति व्यक्ति के गुण को भी सर्वोच्च महत्त्व प्रदान किया है। उसके मानव विवेक और मानव-समाज की कुटिमता पर आवश्यकता के अधिक धन देने हुए राज्य के वैयक्तिक स्वभाव की पूर्ण उद्देश्य की है।

स्पष्ट है कि लॉक ने व्यक्ति की अपनी सम्पूर्ण अवस्था का केन्द्रबिन्दु बनाया है। डॉक्टर के अनुसार, "लॉक ने व्यक्ति की आस्था की सर्वोच्च परिधि स्वीकार करने वाली तथा सुधार चाहने वाली महान् भावना की, उसने यह प्रतिष्ठान समुच्चिनी की कि समाज की परमात्मा के साथ अपने सम्बन्ध निश्चिन्त करने का अधिकार है।" "उसने यह प्रतिष्ठान स्थापित किया कि वह राज्य की भीतर निहित नहीं, हुए उसे यह यह सब कि उसका सर्वोच्च यहाँ तक, वह उसने धर्म नहीं यह सकता।"² लॉक ने भी उसके व्यक्तिवादी विचारों—उसके प्राकृतिक अधिकारों की गणनीय विस्तार के दृष्टिकोण के महत्त्वपूर्ण देन स्वीकार किया है।³

1 "It was not his concern to create political authority but to describe its limitation."
—*Many Political Philosophies*, p. 235.

2 *Barber : Social Contract*, p. 22.

3 *Dewey : Political Theories from Luther to Montesquieu*, p. 364.

लॉक की व्यवस्था व्यक्ति केन्द्रित है, इसके सहमत होते हुए भी वह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि उसने व्यक्ति को पूर्ण अनुव्यवस्थित माना है। दूसरी बात यह है कि वह सामाजिक समझौते में बहुमत शासन का सिद्धान्त मान्यार्थक निहित करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि किसी व्यक्ति विशेष यावत् व्यवस्था को बहुमत ने निर्णय को स्वीकार कर लेता एक अपरिहार्य आवश्यकता है। यदि व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार अपहरणीय हैं तो बहुमत को भी उसे उनसे वंचित करने का अधिकार नहीं हो सकता। यदि व्यक्ति पूर्ण अनुव्यवस्थित है तो उसे अपने निजी निर्णय का केवल इतिहास परिचय कर देने की बाध्य नहीं किया जा सकता कि बहुमत उससे सम्मत नहीं है। दूसरी बात यह है कि लॉक ने, स्वाभाविक शासन के विरुद्ध विद्रोह का भी अधिकार दिया है वह भी बहुमत को ही दिया है व्यक्ति को यावत् व्यवस्था को नहीं। इसके प्रतिष्ठित करने यह भी मान लिया है कि जब तक सामान्य अपने कर्तव्यों का पालन करता रहता है जब तक जनता अपनी लॉक से वंचित रहती है। अन्त में, उसका यह भी कहना है कि प्रारम्भ में लोगों ने जो समझौता किया था वह उसके बराबरी पर भी लागू हो सकता है। इस सब कारणों से यह कहा जा सकता है कि लॉक की व्यवस्था में व्यक्ति अनुव्यवस्थित नहीं है। हाँ, इसके बावजूद स्पष्ट नहीं कि उसने व्यक्तिवाद की एक प्रथम राजनीतिक रूप के विरुद्ध मत रखा है।

लॉक की असंगतियाँ (Locke's Inconsistencies)

लॉक के राजनीतिक विचारों का उपसंहार करने के पूर्व यह यावत् है कि उसके दर्शन में कोई माने योग्य प्रमुख असंगतियों को स्पष्ट कर दिया जाय। वास्तव में लॉक दर्शन की भाँति सुस्पष्ट और संरक्षित नहीं है। लेबाल के अनुसार इसका प्रभाव कारण यह है कि "17-वीं शताब्दी के राजनीति में लॉक ने अनेक प्रश्नों को देगा या और उसने एक साथ इन सभी प्रश्नों का समाधान करने का प्रयास किया जबकि उसका सिद्धान्त इतना संरक्षित नहीं था कि वह ऐसी जटिल निष्कर्ष-वास्तु को सम्भाव्य सकता", एक साथ ही यह "एक बात को कभी पूरी तरह से नहीं समझ सकता कि क्या तो सुस्पष्ट है और क्या धानुसंगिक है।" उसके दर्शन की प्रमुख असंगतियाँ संक्षेप में ये हैं—

(i) कुल्लुर के मन्त्री के, "यदि पार्लियामेंट पार्लियामेंट का पार्लियामेंट दृष्टिकोण, पेरामिन्स की प्रयोगात्मक चर्चा तथा केप्टनरी और व्यावहारिक राजनीति में बहुत कुछ एक व्यवस्थितवादी अनुसंधान के एक निष्कर्ष के रूप में समझने करने की चेष्टा कर रहा था।" इस प्रयास से उसके दर्शन में अतिरिक्त चीज घनत्व का सम्बन्ध हो रहा। अपनी अनुसंधान-वादी प्रवृत्ति के कारण एक चीज तो उसके अनिहित विचारों (Innate Ideas) और राजत्व के दैविक मूल के सिद्धान्त की अवधारणा दिया तथा दूसरी ओर बुद्धिवाद के वैशेष होकर उसने प्राकृतिक अधिकार के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जिससे कि अनुसंधान के

मुक्तता के कोई मत नहीं बैठता। अन्तर्निहित विचारों को दुकराकर प्राकृतिक अधिकारों में घातका करने की कल्पितनीति का मैनरी ने इन तर्कों में व्यक्त किया है—“तर्क द्वारा अन्तर्निहित विचारों का निवेक करने पर भी अन्तर्निहित (प्राकृतिक) अधिकारों का दूसरी शतराज में घातका करना ऐसा विनमर विरोधाभास है जो महानतम बुद्धिजीवियों के मानवीय गुण को प्रमाणित करता है।”¹ तर्क में यह विरोधाभास इसलिए उत्पन्न हुआ क्योंकि यह राजनीतिक चिन्तन में प्राकृतिक विधि को नहीं स्थान देना चाहता था जो स्वयं-निर्दिष्टों का ऐतानिष्ठ है होता है।

(ii) तर्क भी हर्म्स के तर्काव ही मानव-स्वभाव के एक पक्ष को ही प्रधानता देता है। हर्म्स ने यदि मानव-स्वभाव के दूरे पक्ष को ही चिन्हित किया है तो तर्क ने मनुष्य में केवल अन्धकारों को ही देखा है जबकि वास्तविकता यह है कि मनुष्य अन्धकारों और बुद्धिओं दोनों का सम्मिश्रण है। मानव-स्वभाव के जिस भाग दृष्टिकोण के आधार पर तर्क ने प्राकृतिक दया का विवरण किया है वह एक बालनात्मक चरित्र ही प्रतीत होती है।

(iii) तर्क एक घोर दुकर के भी हुई मध्यकालीन परम्परा के इस विज्ञान को सफलता है कि समस्त एक समुचित स्थितिगत होता है, स्वाधीन व्यक्तियों का एक समूह नहीं तो दूसरी ओर हर्म्स ने उस परम्परा को बहुत करारा है जिसके अनुसार मनुष्य स्वधीन व्यक्तियों का समूह मात्र है। तर्क इन दोनों विरोधी दृष्टिकोणों में मानवस्वभाव स्थापित करने में असफल रहा है जिसके परिणामस्वरूप उसके चिन्तन में एक तरह व्यक्ति एवं व्यक्ति के अधिकार अन्तिम तर्कों के रूप में घातने जाते हैं, तथा दूसरी तरह व्यक्ति और उनके अधिकार समाज के बहुमत के अधीन हो जाते हैं।

(iv) तर्क का एक विषय प्राकृतिक अधिकारों के मानक्य में भी है। एक ओर तो यह उन्हें निरपेक्ष मानता है और दूसरी ओर अनुपमनीय स्वीकार करता है तथा दूसरी ओर यह बहुमत के मानक के सिद्धान्त को घोषणा है। बहुमत के निर्णय को मानने के लिए व्यक्ति तथा अल्पसंख्यक सर्व बाध्य है। इस तरह वह बहुमत बनता मानव की सर्वोच्चता बता देता है। एक घन स्थान पर वह व्यवस्थापिका की शासन का सर्वोच्च अंग बनता है और दूसरी तरह समाज को एक व्यवस्थापिका समझ करके दूसरी व्यवस्थापिका बनाने का अधिकार देता है। इस तरह उसका सिद्धान्त समझता है सीमित हो जाता है। वास्तव में वह निश्चित बात है कि एक ओर तो यह नैतिक व्यवस्थाओं की शासन, पूर्ण और अनिश्चित समझता है तथा दूसरी ओर उन्हें सरकारी एवं समाज की विभिन्न स्थितियों का परिणाम मानता है।

“That Locke the drawer of liberal ideas, should be the doughty champion of inherent rights is one of those curious paradoxes which attest the human quality of even the greatest intellects.”

—Wasey : Political Philosophy, p. 245.

(v) लॉक एक दम का इरादा विभिन्न स्वतंत्रों पर एक ही धर्म में न करने का बोधी भी है। वह कई बार सम्प्रति को साधुनिक धर्म में प्रकट करता है और कई बार इसका आग्रह, जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पदा से भेता है। इसके दार्शनिक विचारों सम्प्रति सम्प्रति कठिनी प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष के पूर्वोक्ति धर्म को समुचित रूप से समर्थन मिलता है।

(vi) लॉक का 'विधि-समर्थ' दम कई बार फादावमक भन उत्पन्न करता है। वह कार्यपालिका और व्यवसायिका के धर्मों को बार-बार चर्चा करता है जबकि वह यह धर्मों तरह जानता है कि वह कोई सुधारालय उपाय नहीं है। इसी प्रकार वह व्यवसायी जीवन के विधि-समर्थ प्रतियोग की चर्चा करता है जब कि उसका वास्तविक अभिप्राय विधि-समर्थ उपायों का आग्रह लेना है। लॉक ने नैतिक रूप से उचित और वैधानिक रूप से व्यवहारिक के बीच कोई भेद नहीं माना है। वह विचार इस परम्परा के आधार पर विकसित हुआ था कि प्राकृतिक और नैतिक विधिवाँ एक ही बात है और इसलिए कुछ ऐसी मूल विधियाँ भी हैं जिनकी रचना व्यवहार विधान-व्यवहार तक नहीं कर सकते। दुर्भाग्य से इस प्रकार के विचारों की वजह से उक्त धर्मों के साथ ही समाप्त हो गई थी जिसका लॉक समर्थन करने का प्रयास कर रहा था।

(vii) समर्थ और राज्य के बीच अंतर स्पष्ट करने में लॉक असमर्थ है और अन्तर्गत राजनीतिक, सामाजिक उपायों का अनुसृत विवेचन भी वह नहीं कर पाता है। अतः, राज्य के साधुनिक अधिकार तथा करों और वास्तविकपूर्ण समाज-रचना के सम्प्रति में अपने समुचित कल्पना का प्रभाव दिखाई देता है। लॉक की व्यक्तिगतता राज्य की दृष्टि पर प्रहार करके अन्तर्गत-वर्गित सामंतीयों को सामन देती है और विचार-वैध व्यक्तिओं को राज्य की नागरिकता स्वीकार का सम्पीकार करने का अधिकार देकर समावाधिक प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करती है। पुनर्जन, विरोध का अधिकार भी इसका केवल धार्मिक ही लगता है जोकि विरोध की प्रवृत्ति समाधारण रूप से अहित और असम्भव है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी लॉक के दृष्टान्तों और व्यक्तियों की दृष्टि नहीं होती है। यद्यपि वे हर धर्म के पुनर् न कुछ सहज कर लॉक ने विचारों की वैधता सिद्धी पकाई है।

लॉक का महत्त्व और प्रभाव

(Locke's Importance & Influence)

लॉक की महत्त्वपूर्णता के कारण यद्यपि उसके चिन्तन में असम्पत्ता था वही है तथापि इनके राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में उसके प्रभाव की कम नहीं माना जा सकता। अन्तर्गत महत्त्वपूर्णता के कारण उसका नाम राजदरभन के इतिहास में प्रचलित है। जहाँ ही उसके सिद्धान्तों को उसके जीवन-काल में बहुत कम समर्थन मिला और जहाँ राजदरभन पर भी कमका कम प्रभाव पड़ा, वहाँ लॉक के विचारों को उसके जीवन-काल में ही न केवल बहुत सम्मान मिला लॉक अधिष्ठान में भी वे अन्तर्गतों से अधिक भी समर्थन तक दूरीय और अमेरिका के जन-मानस पर उनका

प्रभाव छाया रहा। फ्रांस और अमेरिका की जन-क्रान्तियों तथा फ्रान्कोनरी पर उसके विचारों का प्रभाव रहा। 1763-71 तक अमेरिकन स्वातन्त्र्य युद्ध के नेता और सन् 1789 के फ्रांस की राजन-क्रान्ति के प्रवर्तक सॉक द्वारा प्रदर्शित व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, व्यक्तिगत सम्पत्ति, जनमत स्वीकृति, बहुमत-शासन, सक्ति-विभाजन के सिद्धान्त फ्रांस के वैरिण्ट होकर कार्य करते रहे। अमेरिका के स्वतन्त्रता सॉक की 'डिक्लारेसन' को बाद में ही तरहे पुनित मानते रहे। उसके ने दोनो प्रजासन-निगम अमेरिकन फ्रान्ति के सार्वजन्य बन गये। अमेरिका की 'स्वतन्त्रता की घोषणा' (Declaration of Independence) इसी महान् धर्म का लगभग प्रतिरोध है। प्रजातान्त्रिक नीतिशास्त्र के प्रसूयन ने सॉक की सौरसपूर्व विविधता को सुनाया नहीं जा सकता। राज्यता संहति पर ही आधारित रह सकती है, इस घोषणा द्वारा उसने साम्राज्यवाद और निरंकुश शासन-प्रणाली का प्रबल विरोध किया। बहुमत शासन का विरुद्धा सुन्दर पक्ष-घोषण उसने किया, उसका धर्म किसी भी निगम ने नहीं। फ्रान्ति के सक्तिधार का घोषण करते उसने समस्त एकान्त्यों को प्रत्यक्ष का बराबर का ने भारी पुनोत्थी की विधि तिर कही ने और भी अधिक भाग्यपूर्ण सक्ति ने स्वतन्त्र किया। सक्तिपुन का सपरवर्ध करते सॉक ने केवल उधारवाद की ही सूचना नहीं दी बल्कि यह भी बताया कि तरकारीन दुन के वैश्विक सन्धियों के कारण परम्परागत सक्ति विरुद्ध के प्रति एक अपेक्षाभाव जाय रहा था। सार्वभौमिक को स्वतन्त्रता के सक्ति बनकर सक्तिशासिक शासन-विचार के समर्थक के रूप में सॉक हमारे सामने पाया। उसके विचारों का प्रभाव इंग्लैण्ड में हिमन के सिद्धा-कलापी पर रहा। यह विमयजनक है कि सॉक का महान् प्रभाव इस बात के बावजूद रहा कि वह न ही सक्ति विचारों का प्रवर्तक था और न ही उसके विचारों ने सक्तिबद्धता की। वेमार्क के अनुवाद, "उसकी प्रतिभा की विवेचना न तो सिद्धा की और न तर्क सक्ति; वह उसकी अनुसनीय सहज बुद्धि की विविध प्रयोग के उसने दर्शन, राजनीति, सांख्यिक शास्त्र तथा विज्ञा के क्षेत्र में उन सुन विचारधाराओं का एक स्थान पर सज्ज किया, जिन्हे भूतकाल के अनुभव ने उसकी समकालीन पीढ़ी के जो अधिक ज्ञानवान की, सक्तिपुन ने उपलब्ध कर दिया था। उसने उसकी एक सरल, समीर किन्तु हृदयवादी भाषा में सक्तिपुन कले 18वीं सताओं के सोनो के सम्मुख प्रस्तुत किया, जहाँ जाकर के देवी सामकी के विषये इंग्लैण्ड तथा यूरोप के राजदर्शन का विकास हुआ।"⁴

"सॉक के अनुभववाद का प्रभाव बर्नो (1683-1753) और ह्यूब पर रहा। इन दोनो ने उसकी सत्ताता और मान्यताओं की पुनित करके अनुभववादी दर्शन का सिद्धा का साम्य किया। धार्वर कीलियर (1680-1732) तथा विद्वान पीटर हासन के सक्तिपुन पर भी सॉक का प्रभाव रहा। डेविड ह्यूजे (1704-1757) तथा सक्ति विरुद्ध के भी सॉक की सत्ताताओं की विरोध का है

प्राप्त किया। हार्टवे की दृष्टि भीतिकवाद की घोर नी तथा विरुद्ध की ईश्वरवाद की घोर। लॉक के व्यवहारवाद और अनुभववाद से फॉन ने मोन्टेस्क्यू प्रभावित हुआ। हेल्वेथियस भी एक सच में लॉक का शिष्य था। हेल्वेथियस की विचारधारा से बेन्थम का उपयोगितावाद प्रभावित था। हम कह सकते हैं कि 18वीं सताब्दी में लॉक के जिन विचारों का फॉन में प्रसार हुआ था, उन विचारों की बेन्थम और उसके अनुयायी पुनः हमीस्ट में ले आए।”

आधुनिक सभिकारों का सिद्धान्त बख़्ति साज समाज्य ढ़रणा ना भुका है किनु प्रो इन्जि के कतानुसार बहु सिद्धान्त राजदरशन की लॉक की एक सभित महत्वपूर्ण लेा है। बीकन, स्वतन्त्रता और सभित की सभित के जन्मसिद्ध आधुनिक सभिकार मानते हुए उनसे कहा कि राज्य का कर्तव्य जनकी रक्षा करना है और बहु अनुज्य की इत्ते बखित नही कर सकता। यदि कोई राज्य ऐसा करता है तो प्रजा की उसके विरुद्ध विद्रोह करने का सभिकार है। ऐसी बीषला करके लॉक ने सभितों को राज्य की सभितों और विरुद्ध सभितों के सभित में रक्षावर्ती के रूप में कहा कर दिया। साज सभी देशों के सभिकारों में सामरिकों के बीनिक सभिकारों की रक्षा की प्रथम स्थान दिया जाता है। बहु कर्तव्य प्रजातन्त्र और उदारवाद (Liberalism) की आधारशिला है। इसमें कोई सन्देह नही कि लॉक ने अपने पूर्ववर्ती विचारकों की सभित आधुनिक सभिकारों की सभित और उनके निष्कर्ष में विभिन्न प्रवृत्ति की। प्रो इन्जि के लॉक ने “परीटोमी द्वारा प्रतिपादित आधुनिक कानून एवं विरुद्ध तथा सभितों द्वारा जन्मसिद्ध स्वतन्त्रता में निरुद्धता की ऊपर सामयिक लेा लपने वाले सभितों के लभ होके हुए भी सामारगतः सभितद्वारिकता प्रतीत होती है। हमारे ऊपर उनका सभित के सभित प्रभाव बहु सभित है कि के सभित सभितिक सुडिसन एवं प्रतिपादित सभितों की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखना चाहते हैं, प्रत्येक सभित को नही। परन्तु लॉक के समस्त सभिकार राजनीतिक सभितों की सभित में प्रजा सभित प्रतीत है कि ऐसा प्रतीत होता है मानो उसके बिना सामयिक राजनीतिक सभित का सभित ही नही हो सकता।”

सभिक लेा में भी लॉक ने महत्वपूर्ण भूमिका सभित की। सामयिक के सभित में सभित की भी महत्व उनसे प्रजा सभित उक्त सभित दो प्रकार का हुआ। एहम सभित और पिनाई ने कृत्य के सभितिक सिद्धान्त की प्रतीति के बीषला में और काई सामयिक ने सभित कर्त के द्विती के सभितिक में प्रमुक्त किया। लॉक की उदारवाद में भी उसके प्रभाव की सभित में सभित की। हभित ने अनुज्य की घोर सभितों माना था, किनु लॉक ने सभित-स्वतन्त्रता के कर्तव्यनीलता, प्रजासर्व-सुडित और सभितिक के लिए भी सभित रखा। इस कारण सभितिक सभित सभित उनके विचारों से सभित रूप में प्रभावित हुआ। सभितिकों के रूप में लॉक का

सहृदय बनने लगा। उसने स्वतन्त्रता का बीज बोध और परम्परावाद का खण्डन किया। शिक्षा को उसने पारिवर्तित शिक्षण के लिए आवश्यक माना और संस्कृति की प्रगति के लिए मानवशास्त्र द्वारा शिक्षा प्रणाली को उचित ठहराया। विभवविज्ञान की उन्नत-शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त भी उसने स्वयं यह स्वीकार किया कि जीवनरत्न के खज के जो शिक्षा मिलती है वह नैतिक शिक्षा से भिन्न है। धार्मिक शिक्षा का पक्ष लेने पर जो उसने संप्रविश्वस्य की प्रशंसा देना सर्वथा अनुचित ठहराया।

सॉर ने व्यवहारिका, कार्यशास्त्र और व्यवहारिका तन्त्रियों के विभाजन (Separation of Powers) के सिद्धान्त का बीजापेयण किया। पोलिटिक्स के बाव लौक के ही दूसरा स्वप्न और सर्वोच्च प्रतिपादन किया था। व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के साधन के रूप में यह सिद्धान्त का प्रयोग करने वाला वह उन्नतः सर्वप्रथम धार्मिक विचारक था। सॉर ने इसी के आधार पर अपने नैतिक-विभाजन तथा सामन सम्बन्धी कार्यों के विधायी विभाजन के सिद्धान्त का विकास किया और अमेरिका के संविधान-निर्माताओं ने सॉर एवं मोटेस्यू के सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए ही अपने विधान की रचना की।

सामाजिक अनुग्रह के विचारको ने कभी का प्राथम्य महसूसपूर्व रूपान है । वह एक प्रकार का सार्वजनिक एवं मानसिक विचारों का प्रयोजन था, कुलमत्ता हुआ विधा-वाचनी था, आदर्शवादी, मानवतावादी और युक्त-निर्माणा साहित्यकार था । उसके चर्चों ने प्राचीन शास्त्र के सम्पूर्ण सामाजिक दृष्टि को भस्मोद विना मोर एक नवीन लोकतन्त्रीय व्यवस्था के लिए मार्ग संसार कर दिया । व्यक्तिवाद, सार्वजनिक और सार्वजनिक लोकतन्त्रीय व्यवस्था के विभिन्न सिद्धान्तों को उसकी विचारों से तथा समर्थन और भरा दिया निर्माण मिला । सार्वजनिक सामान्य इच्छा के सिद्धान्त द्वारा उसने राजनीति में स्वामी राज्यकी समानता की कल्पना की बन दिया । लोकतन्त्र, सार्वजनिक, विधि, सामाजिक स्वतंत्रता, प्रजापति, व्यक्तिवाद विचारों पर अपने निष्पत्ति और स्पष्ट विचारों के कारण कभी ने समस्त समाज को प्रेरित की ।

जीवन-परिचय, कृतियाँ एवं पद्धति (Life, Works and Method)

कभी का जन्म सन् 1712 में निर्धन आदर्शक मानव कदी-राज के बड़ी जेम्मा में हुआ । जन्म के समय ही माता का देहान्त हो-गया और पिता ने पुत्र को अपने कुर्बानी का साधन बना दिया । इस प्रकार जन्म में ही वह उन्मत्त और अशुद्धिपूर्ण रहा । लगभग 12 वर्ष की सम्भावना के ही कभी को एक कठोर मजदूराना (मुर्दाई का काम करने वाला) के साथ काम करना पड़ा जो उसके साथ रहा ही सामाजिक व्यवहार करता था । वहीं कभी को पेट भरने के लिए केवल कठोर परिश्रम ही नहीं करना पड़ा बल्कि उसने बीबी करके और बहुत बीमारी को समझ भी ली । आखिर अपने माता के तब आकर कभी घर के भाग निकला । तब उसकी आयु 16 वर्ष की थी ।

जीवन के पहले कुछ वर्ष कभी ने पढ़ने में आसक्तिपूर्ण में बिताए । वह न केवल नारी समिति में पढ़ रहा बल्कि उसका स्वभाव ऐसा बन गया कि वह हमेशा कर्ममय में ही रहता था, न कूल के लिए पढ़ता था और न भविष्य के लिए विन्या करता था । माता के घरों के साथ उसके प्रेम-सम्बन्ध बने, किन्तु वे सम्बन्ध

इसकी मंथी का कच कुभी नहीं ले सके। पेरिस् ने उसका निष-वर्ण उसे धार्मिक सहामता देता रहा। यह मजदूरी की बन्दी बलिष्ठों में जीवनयापन करने लगा। जीवनभर वह सन्निवाहित ही रहा, किन्तु उसके सर्वत्र सम्मान था बने रहे। उसे बैलिष्ठ ने पंथ्य दूकालय में नौकरी भी मिली किन्तु अपने सार्व मित्राव के कारण उसे परन्तु होना पड़ा।

साधारण, प्रसन्नचित्त और धीरचित्त होने पर भी कथो बहुत करीब छे जीवन के दूर चहुँ की देखता रहा। "भावुकता की प्रथा-निधि लेकर अपनी सद्गी, दही-धूरी धौकी के अपने समाज की कुक्षता और व्यक्ति के कोड़ के गम्भीरे देखे। अनुभव की इस विकसित बहुमुखी पाठसाधना में उसका सम्मनन आता रहा। त्यागधाम के नर पर अपने ज्ञान प्राप्त किया।" वर्म के सम्मनन में कथो सन्निवर रहा। अपने कथो संवैधानिक धर्म को अपनाया तो कथी प्रोटेस्टेंट मत की। इसका सब होने के बाद धार्मिक उसके सम्मन के परदा था। सन् 1749 में अपने एक प्रतिरोधिता का समाचार पड़ा। प्रतिरोधिता का स्थित था "Has the revival of the Sciences and the Arts helped to purify or to corrupt morals." कथो ने इस प्रतिरोधिता के प्राप्त किया। उसे प्रथम पुरस्कार मिला। अपने निबन्ध के निरस्तुल मौलिक और सार्वभौमिक विचार प्रकट करते हुए उसने लिखा कि विज्ञान तथा कला की उन्नतिविश्व प्रगति के ही सम्मनन का द्वाय, वैलिष्ठता का विनाश और धर्म का पतन हुआ है। सब कथो एकद्वय ही प्रसन्न ही गया। पेरिस् के साहित्यिक धौकी ने उसे सम्मान मिला, किन्तु उसने भद्र समाज और अज्ञान मज्जितों के वर्म के मोड़ने की कोशिश नहीं की।

सब कथो की कुछ साहित्यिक प्रविष्टा और मौलिक केला प्राप्त हो गई। सब मित्रता ही उसका सम्मनन और जीवन बन गया। सन् 1754 में अपने 'डी जॉन की विद्यापीठ' (Academy of Dijon) की ही एक धर्म निबन्ध-प्रतिरोधिता के भाग जिसका विषय निबन्ध था "मनुष्यों में निबन्धता उत्पन्न होने के क्या कारण हैं? क्या प्रकृति कानून उसका सम्मनन करता है।" यद्यपि कथो पुरस्कार नहीं जीत सका, तथापि उसने निजी सम्मति और सार्वभौम धर्म के कृत्रिम जीवन पर कठोर प्रहार किया। सन् 1754 में कथो पुनः बेनेस मौल्य गया जहाँ वह संवैधानिक प्रोटेस्टेंट बन गया और उसे धर्म के बेनेस सम्मनन की सम्मति दे दी गई।

कुछ समय बाद कथो पुनः पेरिस् चला गया। विख्यात लेखिका मदां पेरिस् (Madam Epissy) द्वारा पेरिस् के निकट प्रोन्ट मेरेन्सी में कथो के लिए निवास और जीवन की व्यवस्था कर दी गई। पेरिस् के कृत्रिम जीवन से दूर प्रकृति की मोद में रहते हुए कथो ने *Lock Nouvelle Heloise*, *The Emile* तथा *Social Contract* नामक निरस्तुल धर्मों की रचना की जिनसे उनका नाम जारी और फैल गया। उसके 'रचना' धर्म ने ही धर्म के कान्ति-ही उत्पन्न कर दी। उसके कान्तिधारी विचारों से सामक और पादरीयत भूद हो गए। सन् 1762 में उसकी विरस्तुल का साहित्य निकाला गया। कथो ने पेरिस् छोड़ दिया तथा जीवन

के समय 16 वर्षों तक गानाकरीत के रूप में बिताए। उसका स्वास्थ्य बिगड़ा रहा, किन्तु जेफन-जार्ज जारी रहा। प्रारम्भ रक्तों के निरुद्ध चर्चनी, इतनेक घाँवर देसों में मटकता रहा। 1766 में इंग्लैंड के सार्वजनिक छद्म में उल्लेख करल दी। वहाँ बर्कें भी उल्लेख बिब बन गया। लेकिन कसों के बिन उसकी अधिमान्यता को सहन नहीं कर सके। अतः बिनी के प्रति अन्तर्गत होकर कसों कुछ मुक्त रूप से वहीत जाय गया। छद्म में अपने सभासदों के बिनी की सहायता से बहुत सार्वजनिक करली कि कसों की बन्दी उल्लेख की सहायता बिबबिब। न ही बर्कें। अतः बीन के लेन 11 वर्ष बिबिब में ही अन्तर्गत करले हुए उनमें *Confessions*, *Dialogues* तथा *Reveries* कसों का प्रारम्भ न बिबिब। 2 जुलाई, 1779 को 66 वर्ष की आयु में वह चल बसा और छोड़ गया "बिन्दगीनर का जादा बना सहायता और सचनी बड़ी हुई नुरवी बिबिब सार्वजनिक सभा (बिचार-सभा) बिबिब बड़े में।" सुनिब में बीन ही बिबिब है कि "बिचारों के इतिहास में ऐसे व्यक्ति की योग्यता बहिब है बिबिब इतने बर्कें कसों के सार्वजनिक मानव बिबिब पर इतना महत्वा प्रभाव डाला है बिबिब कि कसों न।"¹

कसों में 1749 में प्रारम्भ लेन बिबिब और 1754 में एक दूसरा बिबिब बिबिब। सार्वजनिक अपने अपने बीबिबबाल में कुछ ऐसे कसों का प्रारम्भ बिबिब बिबिबे कारण बहुत सार्वजनिक ही गया। अतः 1753 में अपने अपने प्रथम कस 'An Introduction to Political Economy' की रचना की। इसमें सार्वजनिक राज्य के सिद्धान्तों का वर्णन बिबिब गया। अतः 1762 में सार्वजनिक बिबिबबाल कस "Social Contract" अन्तर्गत हुआ बिबिबे उनके सार्वजनिक सार्वजनिक सार्वजनिक बिबिब बिबिब बिबिब है। इसी वर्ष "The Estate" का प्रकाश में आया बिबिबे बिबिब के क्षेत्र में सार्वजनिक अन्तर्गत कर दी। इसी वर्ष के कारण कसों की "Progressive Education" का अन्तर्गत माना जाता है। अपने बीन के अन्तर्गत कसों में अपने अपने सार्वजनिक 'Confessions' तथा 'Dialogues' और 'Reveries' का प्रारम्भ बिबिब।

कसों की सार्वजनिक पद्धति बहुत कुछ इंग्लैंड के सार्वजनिक की। अपने इतिहास का सहायता लेकर अनुसूचितपद्धति (Empirical Method) का अनुसूचित बिबिब। उसकी पद्धति इंग्लैंड ही की तरह सार्वजनिक बल की। बिबिबबाली, बीन, सार्वजनिक, इंग्लैंड, लॉक, बीबिबब, एन्तर्गत बिबिब, सुनिब बर्कें, नल्सेसन, सार्वजनिक बिबिब का उल्लेख सार्वजनिक प्रकाश बना। सुनिब और रोमन सार्वजनिक तथा सार्वजनिक के सार्वजनिक बिबिबबिबे भी बहुत अन्तर्गत हुआ।

मानव-स्वभाव तथा प्राकृतिक अवस्था पर कसों के विचार (Reasons on Human Nature and State of Nature)

मानव-स्वभाव

मानव-स्वभाव के सम्बन्ध में कसों के विचार बीन तथा लॉक के बिबिब बिबिब है। उनके अनुसार सार्वजनिक स्वभावता सार्वजनिक और सार्वजनिक होता है। अतः

सम्भी कला का उर्दे से सामाजिक धन्याई का विकास करता है। यह मनुष्य की स्वभावतः शोका मानता है जिसे किसी बात की चिन्ता नहीं है। उसका जीवनवापन प्रकृति की विधामागिनी मोह में होता रहता है। समाज में जाए जाने वाले पाप, धन्याचार, दुष्टता आदि यकत एक भ्रष्ट सामाजिक संस्थाओं की उत्पत्ति है। मनुष्य के पतन के लिए भ्रष्ट और दुर्मित सामाजिक संस्थाएँ शोभी हैं। मनुष्य स्वभाव से बुरा नहीं होता अपितु भ्रष्ट कला के कारण बुरा बन जाता है।

मनने विचारों को सिद्ध करने के लिए कठोर मानव स्वभाव की दो मौलिक नियामक प्रवृत्तियाँ कटार हैं। मानव स्वभाव के निर्माण में सहायक प्रथम प्रवृत्ति है—आत्म-रक्षेय क्षमता मानव-रक्षा की भावना, जिसके अभाव में यह कभी कद कष्ट हो गया होता। मानव स्वभाव निर्माण में दूसरी सहायक प्रवृत्ति है सन्तुष्टि की भावना परस्पर सहायता की भावना जो कभी मनुष्यों के बाईं बाईं है और जो सम्पूर्ण जीवप्राणी वृष्टि का सामान्य मुख है। इनके कारण ही जीवन सदान इतना कठिन महीन नहीं होता। वे सभी भावनाएँ कुछ हैं इन्हें स्वभावतया मनुष्य को संख्या ही माना जाना चाहिए।

कभी का कहना है कि मनुष्य की उपरोक्त दोनों मूलभूत भावनाओं में कभी-कभी संघर्ष होता स्वाभाविक ही है। पारिवारिक हिंसा भी जामना कभी-कभी ऐसे कालों की मौज करती है जो समाज के हिंसो से जाँजमेन नहीं जाते। चूंकि वे दोनों भावनाएँ पूर्ण रूप से सम्मुख नहीं की जा सकती, मग्न अर्थात् इससे समझौता करने के विरुद्ध विरोध होता है। पारिवारिक और परमात्मा के कालों में संघर्ष होने से पैदा होने वाली कई समस्या का समाधान बहु समझौतावादी प्रवृत्ति में करता जाहना है। इस प्रकार के समझौतों से एक नवीन भावना उत्पन्न होती है जिसे मंगल करण (Conscience) कहते हैं। मंगल करण प्रवृत्ति का उपहार है, यह केवल एक नैतिक शक्ति है, नैतिक मार्गदर्शन नहीं। मार्गदर्शन के विरुद्ध अर्थात् को विवेक नामक स्वयं में निकलता होने काही एक स-न शक्ति पर निर्भर रहना पड़ता है। विवेक अर्थात् की बहु विद्यमान है कि उसे क्या करना चाहिए। सरल रूप से उदाहरणसमक रूप में हम यह कहते हैं कि मंगल करण मनुष्य की रचित करता है—सत्य में प्रेम करे, मंगल के पुराण, लेकिन धन्य करण में स्वयं अच्छा या बुरा पहचानने की शक्ति नहीं होती। यह तो एक प्रेरणा शक्ति है जो मनुष्य को मजबूत की ओर ले जाती है। सत्य और मंगल की पहिचान मनुष्य विवेक द्वारा करता है। विवेक मनुष्य का नैतिक पक्ष-प्रदर्शन करता है और मंगल करण उससे उम न में पर प्रेरित करता है। कभी-कभी हम जरूर कहना पड़ता है कि सत्य-प्रेमता एवं पहिचान-प्रेम की भावनाओं में सामाजिकता और अन्य भावनाओं के विनाश करने में मंगल करण तथा विवेक (Conscience and Reason) दोनों का योग होता है। मंगल करण नैतिक नाम से प्रेम और मंगल से पुराण करता है मग्न बहु कभी भी भुल नहीं करता। अर्थात् यदि कुमाई पर कहना है तो योग मंगल करण का नती शक्ति विवेक रा, जिसने सत्य-मंगल की पहिचानने में भूम की है। कभी-कभी विवेक की प्रेरणा

अन्तःकरण को अधिक बहुरूप सम्भवतः दृष्टिपूर् दिया है कि उस मूल में अन्तःकरण की बहुत उपेक्षा की जा रही थी। अन्तःकरण पर इतना अधिक बल देने के कारण ही उसे विवेक-विरोधी (Anti-rational) एवं रोमांचकारी (Romantic) एक कह दिया गया है। वास्तव में कबो ने विवेक पर बड़े आशेष किए हैं। उसने बुद्धि एवं विज्ञान का विरोध करते इसके स्थान पर आध्यात्मता और भ्रष्टा की प्रतिष्ठा किया है। उसके अनुसार बुद्धि भ्रष्टाकार है क्योंकि वह भ्रष्टा को कम करती है, विज्ञान भ्रष्टाकार है क्योंकि वह विज्ञान को नष्ट करता है, और भ्रष्टा बुरा है क्योंकि वह नैतिक मह्य ज्ञान के विरोध में सर्व-विकर्ष को प्रधानता देता है। किन्तु विवेक के प्रति उसका विरोध पूर्ण प्रथमा निर्भर नहीं। वह मानव व्यक्तित्व के विकास में विवेक को उचित स्थान प्रदान करता है, हाँ उसे आत्मिक अधिकार नहीं देता। पाश्च के कबो ने उसे सुरक्षा केवल उस सब से दिखाई बढ़ती है जिसमें भावना विवेक को आध्यात्म की ओर ले जाती है और जिसमें विवेक होने उसके अनुसार पूर्णता की ओर ले जाता है।

स्पष्ट है कि कबो के विवेचन का आधार मुख्यतया यह सिद्ध करना है कि मनुष्य स्वभाव से ही भ्रष्टा होता है। तो फिर प्रश्न करता है कि वह क्या-क्या क्यों हो जाता है? कबो का उत्तर है कि मनुष्य 'व्य-भ्रष्ट' उस समय होता है जब अज्ञान आत्म-सम (Self-love), दम्भ (Vanity) में परिवर्तित हो जाता है। अतः कुछ दृष्ट-आत्मिक को रहने के लिए दम्भ का परिधान कर देना आवश्यक है। विवेक की दम्भ के बहुत से नहीं करने देना चाहिए।

आधुनिक धर्मशास्त्र

कबो द्वारा विविध मानव-स्वभाव की व्याख्या के बाद अब उसके द्वारा वर्णित आधुनिक धर्मशास्त्र की सम्प्रदाय का सुन होना। उसकी आधुनिक धर्मशास्त्र में मनुष्य प्रकृति की ओर में सम्प्रदायपूर्णक जीवनधारण करता था। वह धर्मशास्त्र और विज्ञान के मुक्त थी। आधुनिक धर्मशास्त्र ने कबो का मनुष्य 'महा अज्ञान जीव' (Noble Savage) का जो आधुनिकक अज्ञान और सुखपूर्व ऐति से जीवन-कहर करता था। वह स्वतंत्र, सहृदय, प्रत्यक्ष, स्वयं एवं निर्भर था। उसे न जो आधुनिकों की आधुनिकता की ओर न वह समाज के व्यक्तियों को दुःख देना चाहता था। उसकी सहृदय वृत्ति और सहानुभूति की 'आधुनिक' से ही उसका दुःखों के साथ सम्बन्ध बना। वह न ही सही की आधुनिकता का ओर न ही मनुष्य की। वह कुछ और सबकुछ की एक भावनाओं से भरा था। उस वक्त में केवल वैयक्तिक व्यक्ति के कुछ था। बुद्धि एवं विवेक की करतूतों का उसमें प्रभाव था। आधुनिक धर्मशास्त्र में अज्ञान-जीव तथा बेरे-बेरे का कोई प्रेक्ष-भाव नहीं था। व्यक्ति स्वयं धर्मशास्त्र था। वह आत्मनिर्भर होता था। सम्प्रदाय का विकास न होने की उसकी आधुनिकताएँ बहुत कम थीं और जो भी वह आधुनिक के माध्यम से सहृदय ही पूरी हो जाती थी। अतः मनुष्यों के प्रति समाज की आधुनिकता का अधिकतम सम्प्रति का उदय यह समय नहीं हुआ था। ज्ञान-विज्ञान, कला, विद्या आदि का विकास भी नहीं हो

गना था। मनुष्य अपने परिवार से ही सम्पुष्ट था, उसे परिवार के लिए संनय की चिन्ता नहीं थी। प्रकृति का यह नियम स्वार्थ के व्यवहारों को नियन्त्रित करता था कि "अपने हितों को देखो, किन्तु दूसरे की कम से कम सम्भव हानि हो।" कृती की प्राकृतिक व्यवस्था वाला समाज सम्पत्ता के प्रभावों से सर्वथा मुक्त था। यह समाज ऐसी प्रसन्नता का दम्पक था जिसने सामाजिक नियम और सामाजिक व्यवस्थाओं का प्रभाव शिथिल न हो।

कृती की प्राकृतिक व्यवस्था ऐसे स्वस्थित गुण-धी थी जिस बाह्य में नियमनशील से कुछ व्यक्ति एक भोले और निरर्थक कृती की तरह प्राकृतिक जीवन का उपयोग करता हुआ मरती से स्वच्छन्दतापूर्वक विचरता रहता था। उसे अपनी कहल याचन था, क्योंकि वह रहस्योन्मूलन से ही अभिरुचि करता था। लेकिन अपनी हीने हुए भी वह सम्पन्न तथा गुरु था। वह हमेशा द्वारा समर्थित गर्ह-देखता से परे और लोच द्वारा प्रभावित नीतिकला की गुण-धर्म से परिचित था। यस्तुर्न एवं सुदृढ़ थी और स्वार्थ का नाम न था। इसलिये मुझ सम्पन्न से से। मेरे और तेरे का भेद न रखने से यह गुण के मनुष्य की बुद्धिहीन भले ही रहे, पर वह परिणहीन और भ्रष्ट नहीं था। कारण उसका गुण था और भोलापन उसका जीवन।

किन्तु वह स्वस्थित गुण क्षिप्त-मिष्ट हो गया। प्राकृतिक रता की व्यवस्थाएँ विकसल तक स्थिर नहीं रह सकीं। कृती की प्राकृतिक रता को नष्ट करने के लिए दो बातें जालम हुई। एक तो जनसंख्या की वृद्धि या और दूसरा या लोच का उदय। जनसंख्या की वृद्धि से आर्थिक विकास देखी से होने लगा। जनसंख्या और प्राकृतिक प्रकृति के प्राथमिक जीवन का लोच हो गया। सम्पत्ति की लोच ने प्रेरित किया और मनुष्यों ने परिवार एवं वैयक्तिक सम्पत्ति बनाने की इच्छा जालम हुई। परिणामक की तरह स्वच्छन्द भुखने वाले जनसंख्या ने भूमि के हिस्से पर अपना अधिकार कृत्य स्वीकृत या प्रस्तावी आवास की तरह अपना। धीरे-धीरे वहाँ परका स्थाई आवास बन गया। जाने वाली सम्पत्तियों का परिवार के सदस्यों के लिए वह एक सुनिश्चित आश्रय तथा विश्वास स्थल हो गया। दूसरे सदस्यों ने, जो निश्चयन के, व्यक्ति-विशेष के इस आधार को निःसंकोच मान लिया। गुरु-विवाद या प्रतिरोध करने की प्रकृति से परे था। जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ वह प्रक्रिया बढ़ती गई। परिवार और सम्पत्ति की व्यवस्था पर कर गई। जब विपन्नता का जन्म हुआ। मानवीय समाजता नष्ट होने लगी। मनुष्य ने मेरे और तेरे के भाव से लोचन प्रारम्भ किया जिससे किसी सम्पत्ति की व्यवस्था का भीमलौक हुआ। कृती के अनुसार, "वह प्रथम मनुष्य ही न्यायिक व्यवस्था का वास्तविक प्रस्थापक था जिसने भूमि के एक टुकड़े को गैर लेने के बाद वह कहा था कि यह मेरा है और उसी समय समाज का निर्माण हुआ था जब अन्य लोगों ने उसकी देखा-देखी स्वामी और मनुष्यों की अपना सम्पत्ता प्रारम्भ किया।" इस विकास की सम्पूर्ण विधि को अन्तिम के इन शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है कि "हृषि और भावु विपन्नता कलाओं की लोच से गई और उन्हें मानु करने से आर्थिकों को एक रूपरे की प्रकृति की मानसिकता

की। यहूतों का प्रादुर्भाव हुआ और उनके मनुष्यों की विभिन्न मोक्षवालों को एक मिला और एक प्रकार अनिवार्य प्रतिष्ठित धर्माद्वि प्राकृतिक क्रमांत के निर्माण की संज्ञा ही गई। धर्मोपाकृत व्यवहार आदमी अधिक मात्रा में काम करता था; किन्तु दन्तकार को अधिक घात मिलता था। इस तरह धर्मों और निर्धर्म का भेद उत्पन्न हुआ जो व्यवहारका के लोगों का अर्थक है।" अब एक विकृति-सी घटी क्या कर जा गई। मनुष्य बहुत मुक्त-आन्ति के हाथ में पड़ा। जीवन कठिनाई ही उठा।

उल्लेखनीय है कि हमने ने प्राकृतिक व्यवस्था के तीन प्रकार माने हैं। पहले प्राकृतिक प्राकृतिक व्यवस्था थी। उस समय मनुष्य निरह जगती का। फिर धर्मधर्मों प्राकृतिक व्यवस्था आई। अब व्यवहारिता का प्रारम्भ हुआ और मनुष्यमूर्ति बढ़ गई। तत्पश्चात् दमन एवं व्यवहार की दोविधा प्रतिष्ठित व्यवस्था आई जो व्यवहारिता की और अन्तिम मनुष्य की प्रति धर्म से सर्वनाश की ओर (From Good to War and Still Worse) की। इस क्रम का दोहरे के निम्न ही सामाजिक क्रिया की व्यवस्था हुई। इसी समय मनुष्य ने 'प्रकृति की ओर वापस' (Back to Nature) चलने का मार्ग दिखा। यह बड़ीदम के अनुसार, उस मार्ग का धर्म था—“हम दमन का प्रतिस्थापन कर सकते हैं। हम दूसरी के साथ जुड़ना करना सीख कर केवल अपने ही मार्ग में लगे रह सकते हैं। हम बहुत-सी सम्पत्तियों इकट्ठा की जा प्रतिष्ठा करके अपने स्वयं को पुन प्राप्त कर सकते हैं। हम निरह ही रहने के और अपनी आत्मा को प्राप्त कर सकते हैं। एक राज्य में हम प्रकृति की ओर लौट सकते हैं। हम प्रतिष्ठित व्यवस्था का बड़ी धर्म है।” स्पष्ट है कि हमने हमेशा की समस्या देनी का प्रतिस्थापन करके पूर्व-राज्य की व्यवस्था में लौटने का नामा चाहता किन्तु प्राकृतिक दमन की आदमी व्यवस्था तक पहुँचना चाहता है। वह जानता है कि समाज में जाने बड़े हुए हम को सीधे सीधे सम्पन्न नहीं है। पर प्राप्त ही वह प्रकृति-मनुष्य गौरव, व्यवस्था और मनुष्यमूर्ति का अर्थक है। 'विकेक तथा आदिक बुद्धि' को वह प्रकृति ने अनिष्टुल मानता है। हमों का 'Natural Man' वह आदर्श है जिसने निर्धारण करने-करके हमें प्राप्त करता है। हमों के अनुसार लाम्बी (Laziness) व धर्मों में, “हमें एक ऐसे प्रतिष्ठित की आवश्यकता है जो एक ही साथ व्यक्ति तथा उन व्यवहारों का जो मान उसे प्रतिष्ठित कर रहे हैं, पुनर्निर्माण करेगी।”

हमने ने प्राकृतिक दमन के बारे में बहुत ध्यान नहीं दिया है कि निश्चित रूप में हमने किसी तरह नहीं देखा रही होती। अनुमान में वह उन हमों की व्यवस्था करता है। पहले विचारों में पहले चलकर वह धर्मोपाकृत-प्रतिष्ठित करता है जिससे कई व्यवहारिता पैदा हो गई है। लेकिन हमें स्पष्ट कहना है, “वैयवहारिक का पूर्णतः की वजाय विरोधाभास (Paradoxes) का प्रती है।”

हमों की सामाजिक संविदा सम्बन्धी धारणा (Rousseau's Conception of Social Contract)

हमों के अनुसार प्राकृतिक व्यवस्था के अन्तिम चरण की आवश्यकता ने अब व्यक्ति दुखी हो वह उस जगहमें स्वयं को एक ऐसी व्यवस्था में प्रतिष्ठित कर लेने की

सांस्कृतिकता अनुभव की दृष्टिकोण द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की जन्म-जात की रक्षा हो सके और साथ ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता भी प्रक्षुब्ध नही रहे। अतः उन्होंने परस्पर मिश्रकर यह समझीया कि प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता, अधिकार एवं सर्वात्मिक समीचीन को प्रयत्न करे। अतः के अन्दर में व्यक्तियों ने समझीये की बातों को इस प्रकार व्यक्त किया—“हम में है प्रत्येक अपने अतीत को और अपनी समुची शक्ति को प्राप्त करने के लिये बहुत साधन्य दृष्टि के समीप निर्देशन में रहते हैं और अपने सांस्कृतिक स्वतन्त्र में हम प्रत्येक सदस्य को समष्टि के परिभाष्य घट के रूप में स्वीकार करते हैं।” साथे यह निष्कर्ष है, “समझीया करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तिगत व्यक्तित्व के स्थान पर, समुद्र बनाये की इस प्रक्रिया में, एकदम वैश्विक तथा सांस्कृतिक विकास का जन्म होता है जो कि अपने ही सदस्यों के मिलकर बना है बिना कि उसके मत होते हैं। अनुदाय बनाये के इस कार्य से ही विकास की अपनी एकता, अपनी साधन्य तथा अपना जीवन तथा अपनी दृष्टि प्राप्त होती है। समस्त व्यक्तियों के समष्टि में से हुए इस कार्यवर्तिक व्यक्ति को पहले समर कहते हैं, सब कहे-कलुषात्म्य प्रवृत्ति राजनितिक समाज कहते हैं। जब यह निष्क्रिय रहता है तो उसे राज्य कहते हैं और जब सक्रिय होता है तो समष्टि तथा ऐसे ही अन्य विकासों में इसकी समझा करने में इसे सक्रिय कहते हैं।”

स्पष्ट है कि कसौ के अनुसार मनुष्य पराजयक दशा को दूर करने के लिए जो समझौता करते हैं, वह जो पक्षों के बीच किया जाता है। एक पक्ष में मनुष्य अपने वैयक्तिक रूप में होते हैं और दूसरे पक्ष में मनुष्य अपने सामुदायिक रूप में होते हैं। क, ख, ग, घ, आदि घातन-घातन मनुष्य अपने वैयक्तिक रूप में हुए शिकार के साथ इस अनुयाय चक्रवाच संसार के साथ समझौता करते हैं जिसका निर्माण क, ख, ग, घ आदि मनुष्यों ने मिलकर किया। इस तरह हमझौते के परिणामस्वरूप राज्य-पस्था के पुनर्गठित हो जाने पर मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता, अधिकार एवं शक्ति को अपने से छुपाने नहीं कर देते। वे इसे अपने पास रखते हैं। पर व्यक्ति रूप में नहीं बलितु सामुदायिक रूप में अपनी जगह के सद होने के कारण। पर मनुष्य की जान और मान की रक्षा का उत्तरदायित्व संकेते अपने ऊपर नहीं रह जाता, बल्कि सम्पूर्ण समाज का कर्तव्य हो जाता है कि वह प्रत्येक मनुष्य की स्वतन्त्रता और अधिकारों की रक्षा करे। राज्य-पस्था के अन्तर्गत की शक्ति अकला में निहित रहती है क्योंकि जगता स्वयं मनुष्य-शक्ति-सम्पन्न होती है। राज्य-शक्ति के अयोग का अधिकार निराकारक बनने को दिया जाता है, वह जगता की समझौता के अनुसार ही कार्य करता है, क्योंकि वह जगता की इच्छा को किया रूप में परिणत करने का साधन-वाहन है और अपने कर्तव्यों का अन्तिम-शक्ति-वाहन न करने पर अपने पर से छुपाने किया जा सकता है तथा उनके स्थान पर दूसरे कारक बनने को विवृत किया जा सकता है यदि वह जगता की इच्छानुसार कार्य करने का अवसर दे।

सभी से सम्बन्धित सिद्धान्त को जिस ढंग से प्रतिपादित किया है उसकी मुद्रण विशेषज्ञताएँ प्रशंसनीय हैं—

(1) प्राकृतिक व्यवस्था के पहले कारण में सभी व्यक्ति निरालम और शून्य होते हैं, किन्तु कालान्तर में जनसंख्या में वृद्धि, उन्हें के उदय और सम्पत्ति के अनेक के कारण वे संघर्षरत होते हैं। इस असम्यक्ता को समाप्त करने और पुनः संपत्ति स्वतन्त्रता की स्थापना के लिए वे एक समझौता करते हैं।

(2) सामाजिक समझौते के विदेशीय एवं केन्द्रीय भाग का अर्थ है कि अनेक सदस्य अपने सम्पूर्ण अधिकार एवं शक्तियाँ समाज को समर्पित कर देता है। इस हस्तांतरण को शर्त है समता, अर्थात् सभी के पास एक ही-सी शक्ति। अतः इस समझौते से अनेक को लाभ है। इस समझौते के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ समाज सभी भी समतापूर्ण एवं स्वतन्त्रता-निरीक्षी नहीं हो सकता।

(3) यद्यपि सभी व्यक्ति अपने अधिकारों का पूर्ण समर्पण करते हैं, तथापि जो अधिकार विमुक्त रूप में व्यक्तिगत हैं, अनुभूत उन्हें अपने पास रख सकते हैं। उदाहरणार्थ समाज का इस बात में कोई सम्बन्ध नहीं होता है कि व्यक्ति क्या खाता है, पहना क्या पहिनता है। पर कोई निषेध सार्वजनिक महुरव का है अथवा नहीं, इनका निर्णय समाज ही करता है अर्थात् सार्वजनिक महुरव की दृष्टि से सामान्य परिस्थितियों में सामान्य हितों की रक्षा करने के लिए समाज विमुक्त व्यक्तिगत मामलों में भी हस्तक्षेप कर सकता है—अपने सदस्यों के जीवन, वस्त्र आदि को नियंत्रित कर सकता है।

(4) इस समझौते के फलस्वरूप हुई एकता पूर्ण है, क्योंकि "प्रत्येक व्यक्ति अपने हाथों में अपने अधिकारों समर्पित करते हुए किसी के भी हाथों में अपने को समर्पित नहीं करता," एवं "प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तिगत और अपनी पूर्ण शक्ति को सामान्य प्रयोग के लिए, सामान्य दुष्टता के सर्वोच्च निरोधन के लक्ष्य समर्पित कर देता है और एक समूह के अधिकारत्व अथवा के रूप में उन्हें प्राप्त कर लेता है।" अतः समाज की सामान्य दुष्टता सभी व्यक्तियों के लिए सर्वोच्च हो जाती है और प्रत्येक व्यक्ति उसके समीप ही रहता है।" सभी के समाज में किसी भी सदस्य को विशेषाधिकार प्राप्त नहीं है, सबका इन्तज समान है। इस तरह राज्य में नागरिक स्वतन्त्रता ही नहीं अधिक समता भी प्राप्त करी है।

(5) समझौता कोई ऐसी गठना नहीं है जो सभी एक बार पड़े हो। यह एक निरन्तर चलने वाला प्रयत्न है, जिससे अनेक व्यक्ति सामान्य दुष्टता में निरन्तर भाग लेता रहता है और इस तरह राज्य को निरन्तर सहजित प्रदान करता रहता है।

(6) शक्त के कारण अनुभूत अपने शरीर को और अपने अधिकारों और शक्तियों को जिस सार्वजनिक शक्ति को समर्पित करता है, वह सब व्यक्तियों से मिलकर ही निर्मित होती है। इसी को सर्वोच्च शक्ति में वस्त्र राज्य कहते हैं और सब महासम्यक्ता या राज्य-व्यवस्था या राजनीतिक समाज कहते हैं। इसका निर्माण जिन व्यक्तियों से मिलकर होता है, उन्हें ही सामूहिक रूप में 'जनता' कहा जाता है। अब हम उन्हें राजसमिति की परिभाषा में आब सेते हुए देखते हैं अब हम उन्हें

‘नागरिक’ कहते हैं, और जब राज्य के कानून-बान्धों के रूप में देखते हैं तो उन्हें हम ‘प्रजा’ भी कहा देते हैं। अंग्रेज में, कसौ के अनुसार सामूहिक एका ‘राज्य’, ‘प्रमु’, ‘संसद’, ‘जनता’, ‘नागरिक’ एवं ‘प्रजा’ सब कुछ है।

(7) कसौ के अनुसार समझौता व्यक्ति के दो स्वस्वी के मध्य होता है। मनुष्य एक ही साथ निष्पक्ष प्रजाजन भी है और कियावील सम्प्रमु भी। एक सम्प्रमुता पूर्व सब का सदस्य होने के लिये प्रत्येक व्यक्ति केवल उतना ही स्वतन्त्र नहीं रहता जिसका वह पहले या बहिन सामाजिक स्थितियों के अनुसार उनकी स्वतन्त्रता और भी अधिक बढ़ जाती है तथा सुरक्षित बन जाती है।

(8) समझौते के कल्पनात्मक उत्पन्न समाज यद्यपि राज्य का स्वयं सामयिक (Organic) होता है। प्रत्येक व्यक्ति राज्य का अधिभाज्य बन होने के कारण राज्य से किसी भी प्रकार मतलब नहीं हो सकता और न वह राज्य के विरुद्ध कार्यरत हो कर सकता है। कसौ का समाज हॉमि एवं लॉक की कारण के समान व्यक्तिवादी नहीं है। समझौता एक वैयक्तिक तथा सामूहिक प्राली का निर्माण करता है जिसका प्रत्येक निजी जीवन है, अपनी निजी इच्छा है तथा अपना निजी अधिकार है। कसौ इसे सार्वजनिक व्यक्ति (Public Person) कहकर पुकारता है। राज्य का समाज का सामयिक रूप बनना है, कसौ ने एक स्थान पर लिखा है कि बिधि निर्माण-व्यक्ति और के समान, कार्यकारिणी राष्ट्र के समान, स्वायत्तव्यक्तिक व्यक्ति के समान, कृषि, उद्योग तथा वाणिज्य पेट के समान और राज्य एक-दूसरे के समान है।

(9) समझौते द्वारा व्यक्ति के स्थान पर समष्टि और व्यक्ति की इच्छा के स्थान पर सामान्य इच्छा या जाती है। सामान्य इच्छा का सिद्धान्त कसौ के सामाजिक समझौते का सार्वजनिक विनिष्ठ सब है। सामान्य इच्छा सर्वेव स्वायत्तक होती है और व्यक्तिगत इच्छा नहीं होता है, किन्तु इनका यह धर्म नहीं है कि जनता की राय सर्वेव ही और होती है। मनुष्य का हित सर्ववि सामान्य इच्छा का अनुसरण करने में ही है, किन्तु सामान्य इच्छा सबकी नहीं होती।

(10) सामाजिक समझौते के उत्पन्न होने वाला समाज अपनी राज्य ही स्वयं सम्प्रमुता-सम्प्रमुता होता है। अपना निर्माण की प्रक्रिया में समाज स्वयं सम्प्रमुतावादी बन जाता है और समाज का प्रत्येक सदस्य एवं सम्प्रमुता-सम्प्रमुता विकास का एक निर्यात्मक भाग होता है। समझौते से किसी सरकार की स्थापना नहीं होती, किन्तु सामान्य इच्छा पर सामाजिक सम्पूर्ण प्रभाव-सम्प्रमुता समाज की स्थापना होती है और सरकार एवं प्रत्येक व्यक्ति द्वारा नियुक्त सम्प्रभाव होती है।

उस तरह हम देखते हैं कि कसौ का सामाजिक समझौता हॉमि और लॉक के समझौते के विरुद्ध होने हुए भी प्रजावादी बनता है। हॉमि की भांति कसौ ने माना है कि समझौते के लिए सम्पूर्ण व्यक्तियों के अपने सम्पूर्ण अधिकार दिए गिती गते के व्यक्ति या व्यक्ति समूह को नहीं लीने। लॉक की भांति कसौ ने यह स्वीकार किया है कि समझौते के बाद सम्पूर्ण समाज समाज से ही निर्मित रही।

प्राकृतिक अवस्था और सामाजिक संविदा की व्याख्यान

(1) कन्तो ने प्राकृतिक अवस्था का भी विवरण प्रस्तुत किया है वह विचारणा एक सार्वजनिक है। ऐतिहासिक राज्य वह प्रस्तावित नहीं करते कि मनुष्य कभी ऐसा स्थितिमान, सुखमय और आदर्श जीवनवाचन करते थे। साथ ही इसी की प्राकृतिक अवस्था मानव-स्वभाव की वस्तु धारणा पर आधारित है। यह कहना आमक है कि मनुष्य लौकिक रूप से थोड़ा एवं दुर्लभ है और उसके सम्पूर्ण दोष केवल बाह्य परिस्थितियों द्वारा उत्पन्न हुए हैं। परन्तु मनुष्य तो अच्छाई और दुर्लभ दोनों का सम्मिश्रण है। उसमें प्रकृति का अंश भी है और देवता का भी। पुनर्जन, यदि व्यक्ति मूलतः अच्छा थोड़ा है तो वह सम्भव है नहीं था कि केवल सम्प्रति के प्रवेस से ही उसके समस्त गुण नष्ट हो गए।

(2) कन्तो प्रकृति के सिद्धान्त का विरोध करते हुए कहता है कि मानव-समाज का विस्तार प्राप्त हो रहा है किन्तु वह विचारलक्ष-सम्मत नहीं है। मानव-कृति वा इतिहास प्रकृति का इतिहास है, अवस्था का नहीं। सम्प्रति और वैज्ञानिक प्रकृति के सब पर प्रकृति मनुष्य का गुण है, उतना मात्र से पूर्व कभी नहीं चल पाया था। मनुष्य की प्रकृति वृत्ति उसे निरन्तर नवीन क्षेत्रों की ओर उन्मुख करती है, पीछे की ओर नहीं खिंचती।

(3) कन्तो के अनुसार समझीत व्यक्ति एक समाज में होता है, किन्तु दुर्लभ और अभाव समझीतों का परिणाम है—यह स्पष्टतः एक विरोधात्मक है और इस दृष्टिकोण से समझीत अवस्था ही जाता है। कन्तो के दर्शन में एक अन्य समस्त अर्थ यह है कि कहीं तो वह समझीतों की ऐतिहासिक प्रकृति कहता है और कहीं उसे एक विस्तार करने वाला कथ।

(4) कन्तो ने यह धारणा भी समझी है कि राज्य का जन्म किसी समझीतों का परिणाम है। राज्य का जन्म ही मानव के अधिक विकास द्वारा हुआ है।

(5) कन्तो के अनुसार समझीतों के द्वारा व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता और अपने अधिकार समाज की ओर देता है। इस तरह उसके मान समझीतों ही जाने के बाद स्वतन्त्रता एक अन्य अधिकार यह ही नहीं जाते। कन्तो इसकी सहाई यह कहकर देता है कि सामूहिक रूप से व्यक्ति स्वतन्त्रता एवं अधिकारों की पुनः प्राप्ति कर लेता है। वह अधिकारों और स्वतन्त्रता की यह पुनः प्राप्ति एक संवैधानिक कथन मात्र है। सामूहिकता ही यह है कि समझीतों के निर्मित राज्य निरस्त है जिसकी हर प्रकृति का प्राप्ति करना व्यक्ति का धर्म है। कन्तो व्यक्ति की सुविधों, सम्पत्तियों और स्वतन्त्रता की, सामाजिक दण्ड की बाढ़ में राज्य की दण्ड पर स्वीकार कर देता है।

(6) कन्तो ने व्यक्ति की उन्नति और न्यायिकों दोनों का स्थान प्रस्तुत किया है। व्यक्ति सामूहिक एक दृष्टि से है कि वह राज्य-व्यक्ति का एक भाग है और प्रजा दृष्टि से कि वह राज्य की आकांक्षों का प्राप्ति करता है। इन अवस्थाओं का व्याख्यात्मक रूप यह कथन है कि यदि सामूहिकता किसी व्यक्ति की नहीं हो जाती

है तो यह कहना चाहिए कि यह व्यक्ति स्वयं अपनी आज्ञा से किसी पर महकाया जता है। यह बड़ी हानिप्रसन्न स्थिति है। समझौता भी राज्य-सत्ता के प्रभाव से सम्भव नहीं है। समझौते के लिए यह आवश्यक है कि उसका प्रतिपादन करा करने वाली कोई व्यक्ति विद्यमान हो। यद्यः राज्य-सत्ता के प्रादुर्भूत होने के बाद तो मनुष्य प्रायः से कोई समझौता कर सकते हैं, उसके पहले नहीं। प्रायःक इता से भी मनुष्य परतार मिलकर कोई समझौता कर सकते हैं, यह कोई व्यक्ति-सत्ता प्रतीत नहीं होता। इसके अतिरिक्त किसी घमास काल में किया गया समझौता सर्वमान्य रूप के लोगों के लिए कंसे लागू हो सकता है, यह बात भी सम्भव है परे है।

(7) कमो ने सामान्य इच्छा की भी व्याख्या की है, यह राज्य की ऐच्छावादी बना देती है। भूक्ति विधि-निर्वाह दली सामान्य इच्छा का प्रभाव अधिकतर है, यद्यः यह सम्भव भी कर सकती है। इसकी छात्र में निरकुशता एवं सम्भव की प्रीतिज्ञान मिल सकता है।

कमो की सामान्य इच्छा सम्बन्धी धारणा (Rousseau's Conception of General Will)

कमो ने जिस रूप के सामाजिक सन्धि के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, उसमें 'सामान्य इच्छा' का बहुत अधिक महत्व है। 'सामान्य इच्छा' का सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन के लिए कमो की अमर देन है।¹ कुछ विचारकों के मतानुसार भी यह अवलम्बनार्थ की आधारनिता है। सत्य, हीन, जीन, मोर्रिके आदि चार्मिनिस्म का विचारवाद (Idealism) भी इसी पर आधारित है। लेकिन जहाँ जनतन्त्र के समर्थकों ने कुछ हद तक इसका सफल विचार है वहीं निरकुश नागरिकों ने इसका ज्ञान प्रकाश कर जनता पर सनकले प्रभावकार भी लागू हैं। साफ ही कोई सिद्धान्त बना विचारप्रसन्न गृह है जिनका कि सामान्य इच्छा का सिद्धान्त।

कमो की सामान्य इच्छा की अनी-अनी समझने के लिए सबसे पहले हमें इच्छा के स्वरूप को समझना चाहिए। कमो के अनुसार प्राथमिक व्यक्ति को दो मनुष्य इच्छाएँ होती हैं—

- (1) वास्तविक इच्छा (Actual Will), एवं
- (2) पारदर्शक इच्छा (Real Will)।

वास्तविक इच्छा (Actual Will) यह इच्छा है जो स्वाधीनता, सकीर्ण एवं परिवर्तनशील है। यह मनुष्य केवल अपने लिए ही सीनता है एवं यह वास्तविक इच्छा के असीमित होता है। कमो के अनुसार मनुष्य की यह सामान्य-व्यक्त इच्छा होती है जिसके असीमित होकर मनुष्य विवेकहीनता से कार्य करता है। यह सर्व-साधारण के हित की सम्मति नहीं करता, केवल अपने स्वार्थ से दृष्ट गृहता है। व्यक्ति की एक अस्मितावादी इच्छा होती है और इसमें व्यक्ति का दुर्लक्षण असीमित तथा अन्तर्दुर्लक्ष होता है।

इसके विपरीत आदर्श इच्छा (Ideal Will) वह इच्छा है जो विवेक, ज्ञान एवं सामाजिक हित पर आधारित होती है। कर्त्तों के अनुसार यही एकमात्र सच्चा इच्छा है तथा स्वतन्त्रता की ओरक है। यह व्यक्ति की उत्कृष्ट इच्छा है जो सुमनसि, स्वायत्तचित्त, कल्याणकारी एवं सुसंस्कृत होती है। यह इच्छा व्यक्ति में स्वामी रूप से निवास करती है। इस इच्छा के सहाय्यी होकर व्यक्ति कर्त्तव्य इच्छा (Actual Will) की भाँति कर्त्तव्य परिणामों की ओर आकर्षित न होकर स्वार्थी निरुपेक्षों की स्वीकार करता है। इसके द्वारा व्यक्ति सामाजिक हित का विचार करते हुए स्वार्थ को निम्न स्थान देता है। अनुभव की इस इच्छा का अभिव्यक्तिकरण व्यक्ति और विवेक के काम लेकर समाज के मध्य होता है।

कर्त्तों के अनुसार कर्त्तव्य इच्छा व्यक्ति के 'निम्न स्व' (Lower Self) पर आधारित होती है तथा आदर्श इच्छा उसके 'उच्च स्व' (Higher Self) पर। कर्त्तव्य और आदर्श इच्छा में अन्तर एक उत्कृष्टता द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए एक प्रशासकीय अधिकारी की दृष्टि देखकर कोई व्यक्ति उसके सचवा कर्मचारी कार्य करवाना चाहता है। यदि मन के मोह में वह अधिकारी उस व्यक्ति का कर्मचारी होने की इच्छा हो जाए, तो वह उसकी कर्त्तव्य इच्छा है, किन्तु यदि अधिकारी विवश न हो तो वह उसकी आदर्श इच्छा है।

कर्त्तव्य और आदर्श इच्छा के बिच पर ही 'सामान्य इच्छा' का विकास आधारित है। सामान्य में सामान्य इच्छा समाज के व्यक्तियों की आदर्श इच्छाओं का निरीक्ष्य सचवा कर्त्तव्य सुदृष्ट पर सम्बन्ध है। मोर्रिस के शब्दों में यह "पूर्वी सम्बन्ध की इच्छा है सचवा स्व व्यक्तियों की इच्छा है, यदि उसका ध्येय सामान्य हित हो।" यह सामान्य हित की सामूहिक केंद्रता है। वेबर के अनुसार, "सामान्य इच्छा उन मानकों की इच्छा है, जहाँ वे अपने व्यक्तिगत हितों के लिए नहीं बल्कि सामान्य कल्याण के इच्छुक होते हैं। यह उनकी कर्त्तव्य के लिए उनकी आवाज है।" सामान्य इच्छा का समाधान रूप यह है कि वह अपने सुदृष्टों के निरीक्ष्य से बिच मन में सामूहिक कल्याण का प्रतिनिधित्व करती है। सभी लोग अपने सम्मिलित लाभों को सामान्य इच्छा के प्रति सम्बन्ध करते हैं। सामान्य इच्छा में व्यक्तिगत लाभों की कोई स्थान नहीं है। ऐसा अनुभव सभी के लाभ का अनुभव है। वेबर्न के अनुसार "सामान्य इच्छा समाज का एक विशिष्ट प्रतिनिधित्व करती है। इसका उद्देश्य स्वार्थपरता और कुछ ऐतिहासिक हितों की रक्षा न होकर सर्वसाधारण के हितों की रक्षा करना होता है।"

सामान्य इच्छा की व्याख्या करते हुए कर्त्तों कहता है—"वेरी सामान्य इच्छा के अनुबन्ध में सभी लोग सचवा सर्वस्व सम्बन्ध की ओर देते हैं। राज्य का हित सभी मानकों का सर्वोच्च हित है।" यह माने रहता है—"हमारे समस्त ध्यानकाय हमारी इच्छा के परिणाम है किन्तु राज्य के कल्याणार्थ जो वेरी इच्छा है वह व्यक्तिगत लाभों की इच्छा है या समाज के कल्याण की इच्छा से अधिक प्रबल है, क्योंकि व्यक्तिगत लाभों या समाज के लाभों की इच्छा का ध्येय बहुत प्रबल है।

चूँकि 'सामान्य इच्छा' समस्त मानविकी की सर्वोच्च इच्छाओं का योग है, अतः वह सर्वसाधारण की पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न इच्छा (Sovereign Will) ही है।" यानि बलकर कृती पुनः विवक्षित है "चूँकि सामान्य इच्छा मेरी ही सर्वोच्च इच्छा है अतः मुझे इस इच्छा का पालन अवश्य ही करना चाहिए। यदि मैं किसी स्वाधीनता उस इच्छा को पूर्ण नहीं करता तो समस्त समाज की सामान्य इच्छा मुझे मजबूर कर सकती है कि मैं अनुरूप आचरण करूँ। वास्तव में सामान्य इच्छा ही एक ऐसी शक्ति है जो मेरे ऊपर दबाव डाल सकती है क्योंकि वह मेरी अपनी ही इच्छा है। चाहे मैं कभी अपनी इच्छा (या सामान्य इच्छा) की न भी पहचानूँ तो भी मेरे लिए वह आवश्यक है कि मैं उस सामान्य इच्छा के आदर्शों का पालन करूँ। सामान्य इच्छा के आदर्शों का पालन करने से स्वयं अपने आदर्शों का ही पालन कर रहा हूँ और इस प्रकार अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग कर रहा हूँ।" इसी सम्बन्ध में कृती पुनः बल देकर कहता है कि—"यदि कोई व्यक्ति सामान्य इच्छा को मान्यता देगा तो समस्त समाज उसके ऊपर दबाव डालेगा।"

कृती के मत में सामान्य इच्छा वही वह सकती है और न वह दूर की जा सकती है। उसीसे प्रभावित प्रणाली में सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व सम्भव नहीं है, क्योंकि "मैंने ही राष्ट्र अपने प्रतिनिधि नियुक्त कर देता है तो ही सामान्य इच्छा स्वातन्त्र्य नहीं रह जाती। अन्य यह है कि सामान्य इच्छा का अस्तित्व ही नहीं रहता।" कृती का कहना है कि निर्वाचनों के समय इच्छा स्वतन्त्र नहीं रहता और निर्वाचनों के बाद तो वह गुलाम देव हो जाता है, क्योंकि सामान्य इच्छा किसी को प्रदान नहीं की जा सकती। प्रगत सामान्य इच्छा का सर्व ही मूल सामान्य इच्छा है।

यह है कि कृती के अनुसार सामान्य इच्छा व्यक्ति का ही विनिर्दिष्ट रूप नहीं है बरन् राज्य का भी है। प्रत्येक अनुपात एवं सम्पत्ति, जिसके सदस्यों में सामाजिक भावना होती है, एक सामूहिक मस्तिष्क की विद्यमानता को इंगित करता है। वह सामूहिक मस्तिष्क व्यक्तियों के व्यक्तिगतों के योग से उत्पन्न होता है। इस प्रकार राज्य की, जो कि सबसे उच्च समुदाय है, सामूहिक मस्तिष्क भी एक नैतिक अस्तित्व रहता है। कृती का विचार है कि जिस अनुपात में लोग सामाजिक हित को जानने एवं समझे और जिस अनुपात में वे अपने अस्तित्व हितों को गुना समझे उसी अनुपात में सामान्य इच्छा पूर्ण होती है।

सामान्य इच्छा का निर्माण

कृती के अनुसार सामान्य इच्छा के निर्माण की प्रक्रिया "Will of All" (सर्वसाधारण की इच्छा) से प्रारम्भ होती है। व्यक्ति समुदायों को इस स्वयं के दृष्टिकोण से देखते हैं जिसमें उनकी अपनी एवं दूसरों दोनों इच्छाएँ शामिल रहती हैं, किन्तु राजनीतिक चेतना वाला व्यक्ति अपने भौतिक के अलावा वे इन इच्छाओं का प्रभु और सैद्धांतिक साम साम्राज्य कर देता है और उन केवल प्राप्ति इच्छा ही अभी रहती है। इच्छाओं का ऐसा कुछ सम्मेलन ही सामान्य इच्छा बन जाती है। महाहरणार्थ म, व, ग, घ व्यक्तियों की इच्छाएँ क्रमशः $m_1, m_2, m_3, m_4, m_5, m_6, m_7, m_8, m_9, m_{10}$

है। इनमें $w_1 + w_2 + w_3 + w_4$ सामान्य प्रथम श्रेणी इन्फ्लूएंस है, परन्तु वे काल में गिरकर नष्ट हो जाती हैं और केवल $w_2 + w_3 + w_4 + w_5$ रह जाती है जो स्थायी इन्फ्लू है। मनुष्य में दूसरी श्रेणी के व्यक्तिगत निहित है। सामान्य इन्फ्लू के निर्यात साधन होते हैं जिसका वाक्य सभी व्यक्ति करते हैं। कार्बोमीडिकटा का प्रतिनिधित्व सामान्य इन्फ्लू ही करती है। जब कार्बोमीडिकटा कोकरोमिया के हिन में कार्य करती है तो सामान्य इन्फ्लू का प्रसार होता है। जब तक विभिन्न कोकरोमिया का प्रसार रहती है, साधारण इन्फ्लू का प्रसार होता है। इस समय वे भी साधारण इन्फ्लू का प्रतिनिधित्वकरता होती है तथा रचनात्मक को प्रेरित करती है।

सामान्य इन्फ्लू और जनमत एवं जनसत्ता की इच्छा में अन्तर

सामान्य इन्फ्लू में तात्कालिक हिन पर जन विचार प्रकट है जबकि जनमत में स्थायी-जन पर। सामान्य इन्फ्लू के पीछे जनसत्ता का स्थिर भाग है—एन पर महत्व नहीं दिया जाता। सामान्य इन्फ्लू एक व्यक्ति या छोटी व्यक्तियों की इच्छा भी हो सकती है, किन्तु जनमत का आधार यह है कि किस विषय पर जनता की स्थिति समर्थन प्राप्त है। इसके प्रतिनिधित्व सामान्य इन्फ्लू में वस्तु रिक्त होने वाले सामान्य हिन में प्रत्यक्षताएँ एवं बहुसंख्यक होने की कमी के हिन शामिल होते हैं जबकि जनसत्तात्मक वर्ग का अधिकारी हो सकता है और बहुसंख्यक वर्ग की स्वार्थनिधि भी।

‘सामान्य इन्फ्लू’ तथा ‘जनमत की इच्छा’ (Will of All) वे भी समान हैं। सामान्य इन्फ्लू का वर्ग समाज के समस्त सदस्यों की इच्छाओं का गुण योग नहीं होता। कभी के अनुसार सामान्य इच्छा केवल सामान्य हिनो का विचार करती है, जनमत समस्त प्रकृति इच्छा वैयक्तिक हिनो का विचार करती है और विशेष इच्छाओं का योग मात्र है। सामान्य इच्छा एक ऐसी एकाग्र है जैसी ‘जनमत की इच्छा’ कभी नहीं हो सकती। सामान्य इच्छा एक ‘अस्पृश्य’ के रूप में (व्यक्ति के एक अनुसूचित-वर्ग के रूप में नहीं) समाज की इच्छा को प्रतिबिम्बित करती है, वह सदस्यों की वास्तविक विशेषी इच्छाओं से कीव अक्षीयक नहीं है बल्कि यह एकल तथा एकलान्त इच्छा है। होने का यह कथन कि ‘विश्वव्यापक’ की श्रेणी के इच्छा सभी इच्छाओं में नहीं अधिक है और यह एक ही व्यक्ति में जन जनता एकीकृत हो जाता है, कभी की सामान्य इच्छा वह भी जाना होता है एकाग्र-व इच्छा एकलान्त है क्योंकि इसे प्रतिबिम्बित करने वाला अस्पृश्यव्यापक विचार एक वैयक्तिक तथा सामुहिक निष्कर्ष होता है, जिसका प्रथम दोष, सभी इच्छा तथा प्रथम उद्देश्य होता है। सामान्य इच्छा एक व्यक्ति की इच्छा भी हो सकती है और अनेक व्यक्तियों की भी। यह केवल सामान्य इच्छा का मात्र है और सर्वत्र सामान्य हिन की ओर ही नवीत करती है। सामान्य इच्छा समस्त इच्छाओं के स्वार्थपूर्ण उद्देश्य के निरालम्ब साधन में नहीं बनती, किन्तु समाज के उन्मूलक विचार की प्रतिबिम्बित होती है और वह साधारणक नहीं है कि समाज की बहुसंख्यक द्वारा यह निर्धारित हो। सामान्य इच्छा में प्रथम की प्रधानता है जबकि सर्वप्रथम प्रथम समाज की इच्छा में सर्वप्रथम

होने वाले व्यक्तिों की सहायता का सहूलता है। इनमें आदर्श दम्पत्य की प्रशंसा होने पर अन्तिम में वृद्धि होती और अन्तिम दम्पत्य की प्रशंसा होने पर केवल वरं विधाय की स्वायत्त-वृद्धि होती, लेकिन सामान्य दम्पत्य में अन्तिम की कोई वृद्धि नहीं होती है। यह भी सदा सत्य और शुभ है। यह एक सामान्य जीवन की सम्पूर्ण समाज की दम्पत्य है, एक ऐसी सामूहिक दम्पत्य है जो केवल एक सामान्य जीवन वाले विकास की हो सकती है। इस दिन कर हमका पता नहीं लगता था सत्यता। यह सबके लिए सामान्य है और इसके निर्माण में समाज के प्रत्येक सदस्य का योगदान होता है। अन्तिम व्यक्ति के सामान्य हित की प्रशंसा करने हुए भी-उत्तम कार्य में सामूहिक रूप से सामान्य हित में होने के कारण उनकी दम्पत्य सामान्य दम्पत्य नहीं कहेंगे। यह समस्त की दम्पत्य होती है। यदि अमेरिका में सभी अन्तिम व्यक्ति नीची नीची के साथ व्यवहारपूर्ण व्यवहार करें तो यह समस्त की दम्पत्य (Will of All) हो सकती है, सामान्य दम्पत्य (General Will) नहीं। इनकी कदम है कि समुदाय यदि बहकावा न जाए और उनकी विकास-व्यवस्था में हस्तक्षेप न हो तो यह सदा ही अपने व्यक्तिगत हितों की सामूहिक हितों के साथ अभिन्न रूप में सम्बन्ध कर देगा। इस दम्पत्य में समस्त की दम्पत्य और सामान्य दम्पत्य एक ही होती है।

दम्पती की सामान्य दम्पत्य की विशेषताएँ

1. एकता—सामान्य दम्पत्य में एक व्यक्तिगत होती है, अर्थात् उसमें सभी सदस्य विरोध नहीं हो सकता। विरोधपूर्ण एक व्यक्तिगत होने के कारण यह सामान्य-विरोधी नहीं होती। इस दम्पत्य का अभिप्राय ही यह है कि विविधता में एकता स्थापित हो जाए। सभी के स्वयं के समर्थन में—“यह राष्ट्रीय चरित्र की एकता की उत्पत्ति और स्मरण करनी है और उन समस्त गुणों में प्रकाशित होती है जिनके बिना राज्य के अस्तित्व में होने की आशा भी जाती है।”

2. स्वायत्त—सामान्य दम्पत्य स्वायत्त और स्वायत्त है। यह दम्पत्य भावनाओं की उत्पत्ति में सदा अन्तिमों के आशय में नहीं आई जाती और इसीलिए अन्तिम अन्तिम व्यवहारशील नहीं होती। यह लोगों के स्वभाव और चरित्र का एक घटक बन जाती है। सामान्य और विविधता में स्वायत्त होने के कारण इसमें विचारता होती है। सभी के समर्थन में—“इसका सभी अन्तिम नहीं होता, यह सभी अन्तिम नहीं होती, यह अन्तिम, अन्तिम-व्यवस्था में सदा अन्तिम होती है।”

3. सीमावर्त—सामान्य दम्पत्य सीमा शुभ, उचित तथा अन्तिमकारी होती है और अन्तिम अन्तिम की लेकर चलती है। यह दम्पत्य सभी सत्य दम्पत्य है क्योंकि यह सभी आदर्श दम्पत्यों का योग है। यह हो सकता है कि अन्तिम के निर्माण का अन्तिम न हो क्योंकि समुदाय अन्तिम अन्तिम हित अन्तिम है, पर यह यह नहीं जानता कि अन्तिम हित सामान्य में क्या है? अन्तिम अन्तिम अन्तिम नहीं होती, पर अन्तिम निर्माण अन्तिम हो जाती है और अन्तिम दम्पत्य अन्तिम हो जाती है। पर सामान्य दम्पत्य सभी सत्य नहीं हो सकती। सामान्य दम्पत्य के होने हुए प्रथम की सीमा

ऐसोंमें निर्णय हो ही नहीं सकता और यदि ऐसा हो भी जाए तो दोष सामान्य दण्ड का नहीं बल्कि उसके अन्वयन करने वालों का है।

4. सम्प्रभुतावादी—सामान्य दण्ड सम्प्रभुतावादी है। सम्प्रभुता के समान ही यह अविभाज्य, अद्वैत है। यह छोटे-छोटे समूहों में विभक्त नहीं हो सकती जैसा कि सामुहिक बहुलवादी (Pluralists) उसे करना चाहते हैं। हमें सरकार के विभिन्न वर्गों—कार्यपालिका, व्यवस्थापिका आदि में भी विभक्त नहीं विचारना पड़ता। इसके विभाजन का कार्य हमें नष्ट करना है। सामान्य दण्ड का प्रतिनिधित्व भी इसके प्रतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता। सम्प्रभुता के समान ही सामान्य दण्ड भी निरपेक्ष है। हमों के अनुसार सम्प्रभुता का प्रमुख गुण साक्षर मति का अभाव नहीं बल्कि निरालम भावना है और सामान्य दण्ड द्वारा प्रेषित कार्य सर्वत्र निष्ठावर्धक होते हैं। यह निष्ठावर्धक दो अकारण है होती है—अपन, इसका अनेक सर्वत्र सामान्य द्विज होती है और द्वितीय, यह सामान्य द्विज की बातों में अनन्तता भाव से प्रेरित होती है।

5. एकात्म में भी सामान्य—सामान्य दण्ड उद्देश्य की दृष्टि से ही नहीं बल्कि एकात्म में भी सामान्य होता है। अविभाज्य यह दृष्टा कि इसे सामान्य के प्रत्येक अंग में भी दण्ड की भाव में रचना चाहिए। साथ ही एकात्म अंगों को करने के लिए अंगों की बाधित किया जाता चाहिए।

6. सामान्य दण्ड की राज्य का अधिकार मान लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य मति के नहीं, अविशुद्ध जगत् की सद्मति से संचालित होता है।

सामान्य दण्ड और विधि-निर्माण

सामान्य दण्ड का एक महत्वपूर्ण कार्य विधि-निर्माण करना है। विधि-निर्माण अथवा व्यवस्थापन सामाजिक सुविधा द्वारा उत्पन्न राज्य का एक महत्वपूर्ण कार्य है। हमों के ही समूह में—“विधि राज्य की प्रतिष्ठित एवं जीवन प्रदान करता है, यह व्यवस्थापन द्वारा हमें उसे मति तथा दण्ड प्रदान करती है, क्योंकि यह मूल मति, विधिक द्वारा राज्य का निर्माण तथा संचालन होता है, विधि भी अकारण यह निर्धारित नहीं करता कि राज्य को अपने अधिकार के लिए क्या करना चाहिए।”

विधि-निर्माण का कार्य सम्प्रभुतावादी का है और सम्प्रभुता सामान्य दण्ड में निहित है, अतः विधि-निर्माण एकमात्र सामान्य दण्ड का ही कार्य होता चाहिए। सामान्य दण्ड के प्रतिरिक्त अन्य विधियों के द्वारा विधायी कार्य नहीं किया जा सकता और चूंकि विधि सामान्य दण्ड की अविभाज्य है अतः प्रत्येक समूह के लिए उसकी शांति का पालन करना आवश्यक है। राज्य यदि एक वैयक्तिक अंग है तो यह उचित है कि उसका कार्य मुख्य रूप से चलाने के लिए प्रत्येक समूह उसकी दण्डावधार कार्य करे। विधि सम्प्रभुतावादी ही एकमात्र क्योंकि यह उस सामान्य दण्ड का अंग होता है जो समस्त समाज की दण्डा होती है और जिसका उद्देश्य न्यायपालिका का वास्तविक करवाण होता है। कोई भी समूह सम्प्रभुता सामान्य दण्ड अपने प्रति अन्वय नहीं कर सकता। हमों के अनुसार विधि के अंगों में रहने पर भी

हम स्वतन्त्र रह सकते हैं, यदि विधि स्वयं हमारी इच्छा की ही आवश्यकता करता है। विधि का अस्तित्व भी अभी है जब जब लोग उद्विग्नता का अनुभव करते हैं। कर्मों के विचारों से बहुत एक विरोधाभास है। वह सामान्य इच्छा द्वारा अधिकृत विधि की सर्वोच्चता का भी उद्घाटन हो सम्बन्ध है जिसका अस्तित्व अधिकारों का। वह स्पष्ट कहता है, "राज्य अपने सदस्यों पर ऐसा कोई कानून नहीं लगा सकता जो समाज के लिए बेकार हो।"

चूँकि सामान्य इच्छा सदैव सदा होती है, किन्तु उसका निर्देशन करने वाली निरुत्सुधि पूर्ण ज्ञानरुद्ध नहीं होती अतः जनता को सदा-सदा या भुव-भनुभ का ज्ञान करने के लिए और दूरदर्शितापूर्ण एवं निष्पक्ष-सम्मत विधि-निर्माण करने के लिए सभी विधि निर्माता या विधायक (Legislator) की भी व्यवस्था करता है। इस विधायक की दार्शनिक प्रतिभा सम्पन्न और उचित विधियों एवं संस्थाओं की व्यवस्था करने में समर्थ होना चाहिये। उसे एक ऐसा विद्वान् दार्शनिक होना चाहिए जो जन-साधारण की विभिन्न आवश्यकताओं को समझता हो और परिस्थितियों के अनुसृत विधियों की स्वीकृति देना सकता हो। वह विधि-निर्माता केवल उपरोक्त कार्य कर सकने की दृष्टि से ही मेधा-सम्पन्न होना चाहिए, विधियों को पारित करने और उन्हें कार्यान्वित करने के कार्यों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि न ही वह सम्प्रदायाधार होता है और न ही न्याय-रक्षक। उसका कार्य ही मात्र एक विशेषतः पञ्चमहीनता का है जो जन-साधारण को यह अन्तर्ज्ञान कि उनके लिए सर्वोत्तम क्या है और फिर उन्हें अपने पञ्चमहीन को स्वीकार करने के लिए तैयार करे।

सामान्य इच्छा के सिद्धान्त की व्याख्यान

कर्मों की सामान्य इच्छा राजदरबार की एक सामान्य देव है, तथापि इस सिद्धान्त की विभिन्नविधित्व आवश्यकता पर कुछ व्याख्यान की गई है—

(1) सत्यतः—कर्मों की सामान्य इच्छा का सिद्धान्त बड़ा सामान्य और अस्पष्ट है। यह अज्ञाना कहता है कि यह सामान्य इच्छा नहीं है। "कर्मों के भी सामान्य इच्छा का अस्तित्व रूप प्रकट करने का कोई साधन नहीं बताया जा रहा है। कर्मों को कर्मों का मत है कि सबसे एकमत में सामान्य इच्छा निश्चित करती है, किन्तु अन्य स्थलों पर यह यह भी कहता है कि सामान्य इच्छा और सभी की इच्छा (Will of All) में बड़ा अन्तर है। इसी प्रकार कर्मों को यह यह बताया जाता है कि सामान्य इच्छा बहुमत की इच्छा है, किन्तु दूसरे स्थान पर यह भी कहता है कि ऐसा धर्म तब ही सिद्ध हो सकता है, जब सामान्य इच्छा की सभी विशेषताएँ बहुमत की इच्छा में पाई जाती हों। कर्मों-कर्मों कर्मों का ऐसा मत भी प्रकट होता है कि सभी नागरिकों के कर्मों की विभिन्नताओं को निवारण कर जो वे सामान्य इच्छा बनती है वही सामान्य सामान्य इच्छा है। इस प्रकार सामान्य इच्छा की परिभाषा में हमको कर्मों के कर्मों की स्पष्ट प्रकृति नहीं मिलता।" वेबर (Weber) कहता है कि

“जब सामान्य दण्ड का पता ही हमको क्यों नहीं दे सकता हो इस विद्वान् के प्रतिपादन का लाभ ही क्या हुआ ? यद्यपि क्यों ने हमको सामान्य दण्ड के बारे में बहुत कुछ बताया है फिर भी जो कुछ कहा गया है वह पूर्ण प्रामाण्य है। सब यह है कि क्यों ने हमको ऐसे व्यवहार में थोड़ा दिमाग दे नहीं द्य सामान्य दण्ड के बारे में अच्छी तरह सोच भी नहीं सकते।”

क्यों के बचाव में हम नहीं कह सकते हैं कि वह पूर्णतः सही नहीं है। प्रथम तो वह निपट ही बड़ी भारीकी तिर हू है और दूसरे क्यों इस कठिन कार्य-क्षेत्र में प्रारम्भिक विचारक था। ‘सामान्य दण्ड’ कितनी भी व्यावहारिक क्यों न हो, वह साकार नहीं हो सकती और उसका वह निराकार स्वरूप ही उसके विनियमों की वजह कठिन बना देता है।

(2) सार्वजनिक हित की जायजा कठिन—सामान्य दण्ड जिस सार्वजनिक हित पर आधारित है उसे जायजा बहुत ही कठिन है। सार्वजनिक हित की व्याख्या सामान्यतया अपनी दण्डानुसार करते हैं। एक व्यावहारिक सार्वजनिक हित की दृष्टि से देकर अपने किसी कर्तव्य की उचित व्याख्या करता है। अब यह कैसे कहा जा सकता है कि समुक्त कार्य का परिणाम सार्वजनिक हित ही होता, क्योंकि प्रत्येक कार्य का परिणाम कार्य के पूर्ण होने पर ही प्राप्त होता है। केवल परिणाम द्वारा ही वह निश्चय किया जाता है कि समुक्त कार्य उचित है या अनुचित।

(3) दण्ड का विभाजन सम्भव नहीं—मानवीय दण्ड की बचार्ह दण्ड और मानवीय दण्ड में अंतरा सम्भव नहीं है। वह ही मानवीय दण्ड का कृत्रिम विभाजन है। मानवीय दण्ड ऐसी कठिन, पूर्ण, अविभाज्य समष्टि है कि उसके बीच विभाजन की बीमार नहीं छोड़ी जा सकती—और यदि ऐसे विभाजन की कोशिश कर ली जाए तो वह निर्लक्ष्य करना असम्भव-प्रा होता कि बीमारी दण्ड बचार्ह है और बीमारी बचार्ह।

(4) भयानक—‘सामान्य दण्ड’ का विद्वान् एक और तो राज की निरनुकला की स्थापना करता है और दूसरी ओर जर्मन के घोषित को सिद्ध करता है। क्यों ने विद्वान् ने व्यक्ति अपने सबसे अधिकार ‘सामान्य दण्ड’ को समर्पित कर देता है जो सर्वोच्च शक्ति के रूप में प्रत्यक्ष कहते हैं। कल व्यक्ति के लिए किसी की आवश्यकता नहीं करता। यद्यपि उसका वर्तमान वैयक्तिक स्वतन्त्रता की सुरक्षित रास्ता है तथापि वह बहुत से बहुत न होने वाले व्यक्ति की महान के माने भुजने के लिए सिद्ध कर देता है। बहुत से बहुत होने वाले व्यक्ति के लिए दण्ड के सभी मार्ग बन्द हैं। कोल (Coke) के काल में, “हमें बताया जाता है कि ‘सामान्य दण्ड’ ने अन्य स्वतन्त्रता की अनुपस्थिति होती है वह सम्पूर्ण राज्य की स्वतन्त्रता होती है, परन्तु राज्य अपने पटकी की अस्थिरता स्थापना प्राप्त कराने के लिए कायम है। एक स्वतन्त्र राज्य सार्वभौम हो सकता है, इसके विपरीत एक निरनुकला सार्वभौम प्रजा की प्रत्येक स्वतन्त्रता प्रदान कर सकता है। इस बात की क्या गारंटी है कि राज्य स्वयं अपने की स्वतन्त्र बनाने में अपने पटकी (Jamboree)

को साथ नहीं बना दालेंगे।¹ क्यों वे वैयक्तिक हित को सार्वजनिक हित के सर्वोपरि शिथिल समझते हुए राज्य को इसका निर्धारण करने वाले उद्योगों से व्यक्तिगत ऊँची, व्यक्तिगत और वृक्षीय सत्ता बना दिया है जिसके लिए व्यक्तियों को अपने हितों का प्रतिपादन करने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए। इससे सरकार के हाथ में समाचारदाता सत्ता और शक्ति का आगोश है। पुनरुक्त, क्यों ने स्वयंसेव शिष्टा है कि, "कमला सर्वेव अपना हित चाहती है, किन्तु वह सर्वेव इसे देख नहीं सकती।" सत्ता कमला को उसका हित बताने वाले नेता और 'सर्व-व्यक्तिगत सम्पूर्ण सत्ता' इतिहासकर निर्दोषता सामाजिक बन सकते हैं। स्पार्टी ने साहसिकता एवं एक्सेस में जीवन और प्राधुनिक जर्मनी तथा इटली में हिटलर और मुसोलिनी इसी प्रकार के नेता थे। जीवन का कहना है कि "सामान्य इच्छा की धारणा के प्रयोग में मुख्य अर्थ यह है कि राज्य के जानायाही की प्रवृत्ति का उद्भव हो जाता है।"²

क्यों के विषय में सभी धारणाओं परीक्षा इस दृष्टि से उचित नहीं है कि वह एक ऐसा विचारक था जिसे वैयक्तिक स्वतन्त्रता के सहज प्रेम था। 'The English' के कुछ सारा निवेदन इन के क्यों के वैयक्तिक दृष्टि में कुछ दिग्दर्शकों, स्थापित करते हैं। उदाहरणार्थ एक अर्थ यह निश्चय है कि "व्यक्ति इतना महान् है कि उसे दूसरों का साथ करने के लिए एक अन्त-मात्र नहीं बनाया जा सकता" और एक दूसरे स्थान पर यह घोषित करता है कि "साथ को शिक्षा, राज्य के हित के लिए नहीं, उसके स्वयं के हित के लिए ही जारी चाहिए और उसे सर्वेव यह शिक्षा चाहिए कि वह अपने मानको हमेशा एक माध्य (End) समझे, एक साधन (Means) कभी नहीं।" राज्य की साम्य मानने वाले सिद्धान्त का समर्थन करते हुए हमने 'नई विचारधारा' प्रतिपादित किया है कि वैयक्तिक सुरक्षा के बिना 'जन-सुरक्षा' निरर्थक है। स्पष्ट है कि इन उद्देश्यों के अन्तर्गत में क्यों पर निर्दोषवाद एवं सर्वोपकारवाद को प्रोत्साहन देने का धारोप सकारात्मक अर्थ नहीं है। क्यों पर 'साथ' यह धारोप भी उठाया जाता है कि वह एक ऐसे व्यक्तिवाद को प्रोत्साहित करने वाला है जिसकी परिणति अराजकता में हो सकती है। ये दोनों धारोप स्वयं ही एक दूसरे को काटने वाले हैं। अब फिर बरतु-निर्वाह क्या है—इसका उत्तर देने राइट (Wright) के इन शब्दों में निश्चय है—

"यह पुनरुक्त न ही व्यक्तिवाद के लिए है और न निर्दोषवाद के लिए। राज्य और व्यक्ति के मध्य उक्त क्षण में जो अंतर है लेकर साथ एक राजवर्धन के सामने एक अन्तर्पूर्ण समझ के रूप में व्यक्तित्व रहा है, यह अन्तर्भाव का प्रस्ताव प्रस्तुत करता है।—प्रवृत्ति के लिए व्यक्ति की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए किन्तु राज्य को, जो प्रवृत्ति का रोपण करता है, अपना कार्य करने के लिए शक्ति 'जो रखनी चाहिए। स्वतन्त्रता सुरक्षित होनी चाहिए, क्योंकि अराजक स्वतन्त्रता कोई स्वतन्त्रता नहीं होती, किन्तु साथ ही शक्ति को भी सर्वोपकार होना चाहिए क्योंकि

1. Cole : Introduction in Encyclopedia Library Series, Page 35.

2. Jones : Op. cit. p. 322.

सबसे सख्त निरर्थक है। सदा सोचो की पूर्ण रक्षा चाहिए, उनमें कोई संघर्ष नहीं होना चाहिए और हमारा लेखक उन सोचों का एक ऐसे कानून में सामंजस्य करना चाहता है जिसमें न तो सर्वोच्चता का समान हो और जो न ही स्वतन्त्रता को सीमित करता हो। जिस तर्क के द्वारा वह ऐसे कानून पर पहुँचता है उसकी यह कहकर भाँसीपना की जा सकती है कि वह एक बीबी कल्पना है, एक निरादर्श है सबका यह कदाचित् साम्प्रदायिक है, किन्तु उसे न तो व्यक्तिवादी हो कहा जा सकता है और न निरक्षरवादी ही।¹

वह भी स्वरुपीय है कि कभी व्यक्ति को अपनी व्यक्तिगत सामान्य दृष्टि के ज्ञानसे समझित करने का बावद् इन्हिए करता है कि वह भौतिक (Partial) समर्पण कालख में कोई समर्पण नहीं है। अपने शरीर और अपनी शक्तियों की सामान्य उद्देश्य के लिए समझित करके हम दरमसन राज्य को—ऐसे राज्य की जो हमारे अधिकारों की सर्वाधिक सुरक्षित रक्षा करने में लगने होता है—संतिमान बनाते हैं। अपनी स्वतन्त्रता और अपनी शक्तियों की रक्षा के लिए किसी सामान्य शक्ति को जन्म देना अनुचित नहीं कहा जा सकता। जब हम कभी पर वह धारण करते हैं कि हमने इस बात का कोई पाने या रक्षक इस्तुत नहीं किया कि स्वतन्त्र राज्य निरक्षर नहीं बनेता तो हम यह मूल मानते हैं कि हमने सच्चाई और सत्यता दृष्टि में विनिय किया है और वह विनिय उसकी इस मूल भावना का चोख है कि वह अधिनायकवादी और सर्वोपकारवादी प्रवृत्ति का विरोधी है। कभी यह स्पष्ट बतलाता कि “सामान्य दृष्टि के विनिष्ठ होने वाले एक राज्य के लिए व्यक्ति के ही हित होते हैं सबसे कि व्यक्ति अपनी सभी दृष्टि द्वारा प्रेरित हो, समस्त विरुद्धित को ध्यान में रखते हुए विरुद्धित और स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करें।”²

अब भी, सत्ते की भूल भावना का सम्मान करते हुए भी, वह पसंदीदार नहीं किया जा सकता कि सामान्य दृष्टि के सिद्धान्त की प्राप्ति में बहुमत के अलमल का दमन किया है। बहुमत प्रायः यह भूल जाता है कि सामान्य दृष्टि का धारण न्याय और नैतिकता है। सदा यही कहना होता कि सत्ते का सिद्धान्त एक हवाई जगान है। वह एक ऐसी भारझ है जो सभी की पहुँच में परे और अविज्ञानी को चिन्ता के मुक्त रहकर ऊपर मूल में उड़ान भरती है।

(5) सामान्य दृष्टि का सिद्धान्त छोटे राज्यों में भले ही समझ हो सके, पर सामुहिक विमल और भिन्न-भिन्न हिस्से के अक्षरों अक्षरों के समझ नहीं हो सकता। सामुहिक राज्यों में सामान्य दृष्टि का निर्धारण करना लगभग असम्भव ही है।

(6) सत्ते सामान्य दृष्टि के निर्धारण के लिए राजनीतिक दलों की लड़ा और प्रतिनिधि मूलक साधन-स्वतन्त्रता का विरोध करता है अर्थात् इतरा होना सामुहिक प्रजातान्त्रिक राज्यों की सम्मता के लिए अनिवार्य है।

1. *Myself : Meaning of Roostman*, page 182.

2. *Colt : Op. cit.*, page 38.

(7) "कसो की सामान्य दम्बड़ा न जो सामान्य है और न दम्बड़ा ही वरन् निराधार है एवं समूह विन्दन है ।"

वस्तुतः कसो की सामान्य दम्बड़ा के सिद्धान्त की समीक्षात्मक आलोचना यही लगती है कि न तो "यह सामान्य है और न दम्बड़ा ही (as so far as it is General, it is not Well, and so far as it is Well, is it not General)।" इस धारणा का अर्थ यह है कि दम्बड़ा सामान्य होने पर दम्बड़ा ही नहीं रहती । दूसरे शब्दों में दम्बड़ा किसी व्यक्ति विशेष की हो सकती है । व्यक्ति अपनी जन्मजात शारीरिक, मानसिक और साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों को समुचित करने के लिए तथा अपनी जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कुछ कामना करता है और कुछ चीजें चाहता है और यही वास्तव में उसकी दम्बड़ा है । इस प्रकार की दम्बड़ा अलग-अलग व्यक्तियों में निराधार कटती है क्योंकि अलग-अलग व्यक्तियों का अपना-अपना जीवन होता है । वास्तव में सामान्य जीवन किसी कोई चीज नहीं है और जब सामान्य जीवन ही नहीं है तो सामान्य दम्बड़ा कैसे हो सकती है । हो सकता है कि एक व्यक्ति अपने व्यवहार की दम्बड़ा करे और अपने ही तरीके दूसरे लोगों के व्यवहार की दम्बड़ा करे किन्तु इन दोनों ही श्रृंखला में दम्बड़ा विविध होती, सामान्य नहीं ।

कसो की कुछ ऐसी कल्पना है कि विभिन्न व्यक्तियों के मिलने से जो समाज बनता है वह एक पुनः के समान होता है और उस समाज-पुनः का व्यवहार ही सामान्य व्यवहार है तथा उस सामान्य व्यवहार की दम्बड़ा ही सामान्य दम्बड़ा है । किन्तु समाज-पुनः की यह कल्पना ही निराधार है । विभिन्न व्यक्तियों के अलग जीवन का कोई केन्द्र नहीं होता । मूल-पुनः का अनुभव विभिन्न व्यक्ति को ही होता है किन्तु यदि एक क्षण के लिए यह मान भी लिया जाए कि समाज-पुनः होता है और उसकी दम्बड़ा भी होती है तब भी हम सामान्य दम्बड़ा करते हैं तो कड़ी धर्य में हम उसे दम्बड़ा नहीं कहेंगे क्योंकि दम्बड़ा के साथ तो राज-रौन तथा रहता है । दम्बड़ा की उत्पत्ति ही यह होती है जबकि अपने और पराए का भेद स्पष्ट हो जाए । अतः कसो की सामान्य दम्बड़ा के सिद्धान्त की यह आलोचना ठीक ही प्रतीत होती है कि न तो यह सामान्य है और न यह दम्बड़ा ही है ।

कसो के राजदर्शन में इतना विषय मुख्यतः इसलिए है कि वह व्यक्ति अपना राज-व्यवहार की अवस्था बदलने की स्वतन्त्र अनुमति, राजनीतिक समझ का सम्मान प्राप्त करे । राज की उत्पत्ति में सम्प्रदाय-सिद्धान्त की परम्परागत कल्पना कटते हुए भी उसने सामान्य दम्बड़ा के सिद्धान्त की महत्त्व दिया । उसने इन दोनों में समन्वय का प्रयत्न प्रयत्न किया । दो विरोधी धारणाओं को मिटाने के प्रयास में उसके दर्शन में धार्मिकता और साम्प्रदायिकता पर कर पड़े ।

सामान्य दम्बड़ा के सिद्धान्त का महत्त्व

कसो की सामान्य दम्बड़ा के सिद्धान्त की जो भी आलोचनाएँ की जाएँ हम इसके महत्त्व में दोषार नहीं कर सकते । अग्रविधित सत्य इसके पुष्टि करते हैं—

(1) कसो की सामान्य दृष्टि के सिद्धान्त ने सावर्भवादी विचारधारा की नींव डाली जिसे आधार मानकर टी. एच. वीन ने राज्य का मुख्य आधार वन न मानकर दण्ड को माना (Will not force is the basis of State)। उसने इसी सिद्धान्त की सहायता के सह प्रस्तावित करने का प्रयास किया कि सामान्य बहुमत की शक्ति का परिणाम नहीं है बल्कि व्यक्ति वि स्वार्थ दण्ड का फल है।

(2) कसो की सामान्य दण्ड राजनीतिक कार्यों में वन-वर्धन का काम करती है। कसो के अनुसार सामान्य दण्ड का प्रमुख काम विधि-निर्माण और शासकतन्त्र की नियुक्ति और उसे बन करना है।

(3) उसके सिद्धान्त के द्वारा कसो ने व्यक्तिगत स्वार्थ की अवस्था सामान्य हित को बनाता है और बताता है कि सामान्य उद्देश्य को सामान्य केलना ही समाज को स्वस्थ और परिपूर्ण बनाती है।

(4) कसो ने एक ऐसे राज्य की स्थापना की जिसमें नागरिक नैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सके। कसो के अनुसार व्यक्ति के अधिकार—स्वतन्त्रता एवं वैयक्तिकता, सामान्य दण्ड के द्वारा प्राप्त हो सकते हैं। कसो के इस सिद्धान्त ने उसके बाद उत्पन्नकारी राज्य-सिद्धान्त के विकास में बड़ा योग दिया। सामान्य दण्ड का सिद्धान्त ने इस विचार का पोषण किया कि राज्य एक नैतिक सङ्गठन है जो मानव की सामाजिक एवं स्थायी प्रवृत्तियों का परिष्कार करते हुए सामूहिक सत्कार का स्थान देता है।

(5) सामान्य दण्ड का सिद्धान्त समाज एवं व्यक्ति में गहरी तथा उसके सभी का सम्बन्ध स्थापित करने मानव के सामाजिक स्वयं की दृष्ट करती है।

(6) कसो की सामान्य दण्ड स्पष्ट करती है कि राज्य एक प्राकृतिक वस्तु है और हम इसका प्रत्यक्ष दृष्टि करते हैं। स्वार्थ सामान्य दण्ड हमारी सामाजिक दण्ड का प्रतिनिधित्व-मान है।

कसो की सम्प्रभुता सम्बन्धी धारणा

(Rousseau's Conception of Sovereignty)

कसो का सम्प्रभुता-सिद्धान्त हमें, जोड़ तथा जोड़ी के विचारों से प्रभावित है। उसने सम्प्रभुता की भावना हमें की पूर्णता और अनिवार्यता के साथ तथा लोक की विधि के आधार पर की है।

कसो ने सम्प्रभुता को सामान्य दण्ड में केन्द्रित माना है। वह समाज समया समुदाय में निवास करती है। सम्प्रभुता को जनता से प्रतिष्ठित करके कसो निरन्तरवाद के विरुद्ध एक बहुत बड़ा सत्य प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति समुचितता का अधिकार है। व्यक्ति समाज का सम्प्रभु है, मा नहीं करीबन प्रभु है और उस व्यक्ति का कोई मत नहीं हो सकता। जनता सरकार के सभी पर कसो और सबैत निगाह रखती है। यहाँ बिरोह का कोई प्रग नहीं उठता, क्योंकि जनता स्वयं सम्प्रभु है।

कसो ने सम्प्रभुता की 'सामान्य दृष्टि' में निहित करके एक घटीय, प्रविभाज्य और घट्टेय सार्वभौमिकता का सम्बर्ण किया है। दृष्टि की शक्ति निरंकुशता के स्तर में उल्लेख करता है "जिस प्रकार प्रकृति मनुष्य को अपने सभी पर निरंकुश सत्ता देती है उसी प्रकार सामाजिक सम्प्रभुता भी राज्य को अपने सभी पर सम्पूर्ण निरंकुश सत्ता प्रदान करता है।" किन्तु दृष्टि की निरंकुशता और कसो की निरंकुशता में एक बहुत बड़ा अन्तर है। जहाँ दृष्टि की निरंकुश शासक से सम्बद्ध है वहीं कसो की जनता से। कसो ने दृष्टि की निरंकुशता प्रभुता और शक्ति की सार्वजनिक दृष्टि की एक सत्य मिथ्याकर लोकप्रिय प्रभुता को जन्म दिया है।

कसो के अनुसार सम्प्रभुता सम्पूर्ण जनता में सामुदायिक रूप से निवास करती है, मगर वह 'सामान्य दृष्टि' को प्रवर्धित करती है, मत, इसका प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता। वह सम्प्रभुता ही पृथिवी का मूल स्रोत है।

कसो का सम्प्रभुता सिद्धान्त भी विरोधाभासी से पूर्ण ? एक ओर तो वह सम्प्रभुता को सर्वोच्च वसता है और कहता है कि कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है जहाँ सम्प्रभुता का प्रसार न हो तथा दूसरी ओर वह भी विचार रखता है कि सम्प्रभुता कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकती जो सामान्य हित के विरोध में हो। सम्प्रभु की सर्वोच्च शक्तियाँ देने पर भी कसो का मत यह है कि शासक की शक्ति प्रकार से शासन करना "चाहिए तथा शायद ही सम्भवता का विषय सर्वोच्च मान्य होना चाहिए। वह विरोधाभास लोकप्रिय शासन के प्रति कसो के अनाप देव के कारण ही है। वास्तव में कसो सम्प्रभुता पर जिस प्रकार की सीमा खाना चाहता है, वह कोई बाधा सीमा नहीं है बरन् स्वतः अपने ऊपर लम्बाई गई सीमा है। सामान्य दृष्टि सामाजिक मूल के कारण सर्वोच्च है, मत, सम्प्रभु के कार्य और वेदता के कार्य में अन्तरों की एकता रहती है—यह कसो का विश्वास है। सचिदा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति ने अपनी दृष्टि को सामान्य दृष्टि के साथ मिला दिया और वहीं सामान्य दृष्टि हमारे समस्त सम्प्रभुता का स्रोत स्वरूप है। "अपनी व्यक्तिगत दृष्टि को सामान्य हित की दृष्टि से सामान्य दृष्टि में मिलाने की सक्षम होकर व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता को कोई धोखा नहीं देता। सामान्य दृष्टि देखी कसो नहीं ही सकती जो व्यक्ति के विरुद्ध हो।" स्पष्ट है कि कसो के विचारों के अनुक्रम निम्न समाज में सम्प्रभुता, स्वाधीनता और समानता इन तीन में सामान्य स्वरूप हो जाता है। कसो का कहना है कि यदि कोई व्यक्ति अपने व्यक्तिगत हित को सामान्य हित के दृष्टि समर्थ ही वह प्रवर्धित है कि उसे सामान्य दृष्टि की सत्ता अपने के लिए निजता किता जाए। सामान्य दृष्टि की अर्थता का अर्थ होता सामाजिक समझौते का टूटना और इस प्रकार मूल पहले की सांस्कृतिक व्यवस्था में पहुँच जाता। कसो का उर्क है कि इस सम्प्रभुता में व्यक्ति की स्वतन्त्रता निहित है क्योंकि पूरा सामाजिक समाज उसे दूसरे व्यक्तियों के सामान्य से बचाता है।

निष्कर्ष रूप में कसो लोकप्रिय प्रभुता (Popular Sovereignty) का मत है। उससे राजनीतिक दर्शन का मुख्य "एक राजा के स्थान पर जो"

की स्थापित करने में है। निम्नलिखित के अनुसार सत्ता की लोक-सम्पन्नता अथवा लोक-प्रभुत्व का सिद्धान्त इस सील वाली पर आधारित है—(1) मनुष्य स्वभावतः स्वतन्त्र और समान है, (2) सरकार के अधिकार किसी हानि पर आधारित होने चाहिए जिसे इस समान और स्वतन्त्र व्यक्तियों ने स्वतन्त्रतापूर्वक स्वीकार किया हो, (3) यह हानि जो एक बार व्यक्तियों के लिए स्वयं की किसी सम्पत्ति का अधिग्रहण बन बन जाती है और यह सम्पत्ति अपने धान्तरिक सम्बन्धों तथा विषय-निर्धारण को निरन्तर करने का अधिकार बनाए रखता है। वाचस्पत्य मानते हैं कि सम्पत्ति ही सम्पन्नता का स्रोत और आधार है।

सत्ता के शासन सम्बन्धी विचार (Rousseau's Views on Government)

लोक की सत्ता ही सत्ता की राज्य और शासन अथवा सरकार के नाम अन्तर स्पष्ट करता है। उसके मन्दी में "सामाजिक सम्झौते द्वारा निर्मित सम्पूर्ण सत्ता" जिसमें कि सामान्य इच्छा का साथ होता है। राज्य है जबकि शासन अथवा सरकार केवल वह व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह है जिसकी सत्ता द्वारा यह अधिकार दिया जाता है कि वह सम्पत्ति की इच्छा पूर्ण करे। स्पष्ट है कि सत्ता के अनुसार शासन एक साधन है जिसके माध्यम से लोकनिष्ठ सम्पन्नता के विरोधी को दबाया जाये और शासन का निर्माण किया जाता है। व्यक्ति एक बुरे शासन का विरोध कर सकता है, राज्य का नहीं।

सत्ता के विचार के स्पष्ट है कि सामाजिक सम्झौते द्वारा राज्य अथवा सम्पन्नता का जन्म होता है, शासन या सरकार का नहीं। शासन ही एक मध्य की शक्ति (An Intermediate Body) है जिसकी स्थापना सम्पन्नता और जनता के बीच की जाती है ताकि लोगों की नागरिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता की रक्षा हो सके। शासन का धारण किस प्रकार हुआ, सत्ता का वर्तन इस सम्बन्ध में कुछ प्रामाण्य है। उसका विचार है कि सामाजिक सम्झौते द्वारा उत्पन्न सम्पन्नता की पूर्ण अधिकार या कि वह किसी भी प्रकार का शासन स्थापित करे। सत्ता शासन के निर्माण के लिए अपने मर्मों "सर्वोच्च सम्पन्नता जनता" में बहने शासन का स्वतन्त्र निर्धारित किया और उस बड़े निष्कर्ष किया कि इस प्रकार स्थापित पदों पर किन व्यक्तियों की नियुक्ति की जाए। सत्ता के अनुसार इस दोनो सत्ता में भेद था—पहला वह सामान्य इच्छा की प्रतिकृति करता था जबकि दूसरा मत केवल शासन का निर्धारण करता था। दोनों सत्ता के नाम जन-सत्ता के अन्तर्गत में परिचयित होता था। पहली सत्ता सम्पन्नता की जबकि दूसरी सत्ता जनतन्त्रीय शासन का स्वरूप धारण कर लेती थी। सत्ता का विश्वास है कि प्रत्येक शासन का रूप जनतन्त्र के ही धारण होता है।

सत्ता की विवेचना से स्पष्ट है कि राज्य बुरे समाज का सूचक है जो मनुष्य द्वारा बना है और सामूहिक इच्छा को अभिव्यक्त करता है। इसके विपरीत शासन केवल शक्ति या व्यक्ति-समूह का सूचक है जो समाज द्वारा स्थापित शासन

सामान्य दण्ड की कार्रवाई करने में उत्तर है। क्यों ने सरकार को व्याप-समस्त व्यवस्था (Magistracy) अपना राजा (Prince) कहकर पुकारा है। सरकार या शासन सम्प्रभु सम्प्रभु जनता की नीकर पाव है और सम्प्रभु जनता द्वारा की गई शक्तियों को प्रयोग ही कर सकता है। जनता अपनी दण्डानुसार सरकार की शक्ति को सीमित वा संशोधित कर सकती है और उसे वापिस भी ले सकती है। जहाँ हॉम्स और स्मो की धारणा में स्पष्ट अन्तर है। हॉम्स के अनुसार शासन की न तो शक्ति या शक्ति है और न उसके विरुद्ध विद्रोह हो सकता है क्योंकि जनता और शासन के सम्बन्ध का आधार सहिष्णुता है। इसके विपरीत स्मो के शासन या सरकार का निर्माण किसी शक्ति द्वारा नहीं बल्कि सम्प्रभु सम्प्रभु जनता के स्वादेश द्वारा होता है।

क्यों ने शासन का वर्गीकरण भी किया है, पर यह उसके दर्जन का सबसे निम्नतम भाग है। उसने बौद्धिकता की शक्ति जनता, जमीन और भौतिक परिस्थितियों के महत्व की स्वीकार करते हुए यह माना है कि इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर यह बताया जा सकता है कि किसी प्रदेश के लिए कौन-सी सरकार सर्वोत्तम है। सरकार की प्रशंसा वा बुराई उसके रूप से नहीं बल्कि परिणामों से मानी जाती है। क्यों के अनुसार शासन के ये रूप हो सकते हैं—

- | | |
|--------------------------|-------------------------------|
| (1) राजतन्त्र (Monarchy) | (2) कुलीनतन्त्र (Aristocracy) |
| (3) जनतन्त्र (Democracy) | (4) मिश्रित (Mixed) |

विश्व सरकार की बावज़ोर एक व्यक्ति के हाथ में होती है तो उसे राजतन्त्र, कुछ शक्तियों के हाथ में होती है तो उसे कुलीनतन्त्र और समस्त जनता वा उसके बहुमत के हाथ में होती है उसे जनतन्त्र कहा गया है। सरकार के इन तीनों प्रकारों की कमीया बढ़ती रहती है। बीया कभी निश्चित सरकार का है। सरकार के इन रूपों में सर्वोत्तम कौन-सा है, वैज्ञानिक रूप से बताना यह असम्भव है। परिस्थितियों और देशवाद के अनुसार कोई भी शासन सर्वोत्तम वा निकृष्टतम हो सकता है। हाँ, यह अवश्य है कि शासन की प्रवृत्ति का निर्धारण बहुत अवसर है। विश्व राज्य में जनसंख्या बढ़ती जायेगी, सम्पत्ति बाँटिए कि यह प्रगति की ओर बढ़ रहा है। क्यों की यह बात ध्यान के धुप में निश्चय ही विचार लानी है।

वस्तुस्थिति है कि शासन के विभिन्न प्रकारों में क्यों का मुख्य भूतानी अगर राज्यों के प्रत्यक्ष प्रशासन की ओर है। यह प्रतिनिधि सभाओं की राजनीतिक पद्धति का बहुत मानता है। प्रतिनिधित्व का अर्थ है—स्वतन्त्रता का रूप। शक्ति की निर्धारण तथा के विषय में उत्पन्न मत का कि नहीं वास्तविक केवल निर्धारण कात में ही स्वतन्त्र होते हैं, इसके बाद कुछ मत जाते हैं। क्यों में देखा जा कि सरकारों के लोक नियंत्रण के बचने और अपनी शक्तियों का प्रयोग करने की प्रवृत्ति होती है। अतः उसने यह मत प्रकट किया कि छोटे राज्यों में और राज्य प्रयोग के बीच ही सामान्य दण्ड अपनी सर्वोच्चता स्थायी रूप से कायम रख सकती है। उन्हीं और बड़ों राज्यों में सरकार द्वारा शक्ति के अपहरण की रोकने के लिए यह

साम्प्रदाय है कि प्रमुख सम्प्रदाय जगता की समक-समक पर सभाई हुआ करें जो वह निश्चित करें कि वर्तमान शासन-व्यवस्था और अधिकारियों में कोई परिवर्तन किया जाना उचित है या नहीं। उसका वह भी कहना था कि जब जगता प्रमुख-सम्प्रदाय के रूप में एकत्रित होती है तो सरकार का क्षेत्राधिकार समाप्त हो जाता है। हमों के इतिहास में इस विचार का पूर्वजन्त विचार है कि निश्चित अवधि पर अधिकाय की तथा सरकारों अधिकारियों के कार्यों की समीक्षा की जानी चाहिए। इस आधार पर जेकरसन ने कहा था कि प्रत्येक पीढ़ी को अपने अधिकाय की पुनः परीक्षा करने का अधिकार है। यही नहीं, अमेरिका के अनेक राज्यों ने तो निश्चित अवधि के बाद अधिकाय-सभाओं की चुनाव के विधान को अपने-अपने अधिकायों में स्थापित किया है।

हमों के कुछ अन्य प्रमुख विचार (Some Other Important Thoughts of Rousseau)

कानून सम्बन्धी विचार

हमों ने अपने निबन्ध 'राजनीतिक व्यवस्था' में कानून का विशेष महत्व बताया है। मनुष्यों की प्राकृतिक समानता को कानून द्वारा नागरिक का रूप प्राप्त होता है। कानून ही के अनेक व्यक्ति की मदद करता मिलती है कि वह अपने निर्धारित विचारों के अनुसार कार्य करें और अपने से अलग-अलग रूप के काम के करने। यदि कानून का पालन नहीं किया जाएगा तो नागरिक समाज की व्यवस्था समाप्त हो जाती और मनुष्यों को पुनः प्राकृतिक अवस्था में लौट जाना पड़ेगा। अपने कुसिद्ध ग्रन्थ 'सामाजिक सम्बन्ध' (Social Contract) में हमों ने धार प्रकाश के कानूनों का वर्णन किया है—(1) राजनीतिक या सामाजिक कानून किन्हीं द्वारा सम्प्रदाय का राज्य के साथ सम्बन्ध-निर्धारण होता है, (2) दीवानी कानून किन्हीं नागरिकों के सामाजिक सम्बन्ध निर्धारित होते हैं, (3) दीवानी कानून को कानून की शक्ति के अन्तर्गत का दण्ड निश्चित करते हैं, और (4) अन्ततः अन्तिम तथा अन्तिम-विचार। हमों के मतानुसार के ही राज्य के वास्तविक अधिकाय हैं और नागरिकों के हित-वर्धन पर प्रभाव है।

हमों के अनुसार कानून सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है। "एक कानून मनुष्यों जगता का सम्पूर्ण जगता के लिए प्रस्ताव है जिसका सम्बन्ध ऐसे नियम से होगा है जिसका सम्बन्ध अपने होता है।" कानून का सम्बन्ध सामान्य हित से होता है और उसका श्रेष्ठ समस्त समाज होना चाहिए। मनुष्य का निर्धारित न तो व्यक्ति-विशेष के लिए है, न कार्य-विशेष के लिए। व्यक्ति की शक्ति, सम्पत्ति, कर्तव्यता आदि की कोई मुआवज इवमें नहीं है। आपकता के आधार पर ही कानून बनता है अथवा वह कोई आदेश है। कानून की प्रकृति केवल मानव स्वरूप दर्शाते की है, उसके बाहर वह नहीं जा सकता। सरकार का कोई राजकुमार किसी भी रूप में राज्य के ऊपर नहीं जाता या सकता। सामान्य इच्छा सर्वत्र जगता के कल्याण की कामना करती है, अतः वह हमों की कानून द्वारा सम्बन्ध करने की इच्छा नहीं कर

उक्त नैतिक स्वतन्त्रता को प्राप्त कर लेते हैं जिसे नागरिक समाज में छाने पर उन्होंने त्याग दिया था। पर नैतिक अनुकूल्य बहुवर्ति पर आधारित है अतः अनुकूल्यवाद का समर्थन वैयक्तिक स्वातन्त्रता का अनुमोदन है।

क्यों स्वतन्त्रता का अर्थ स्वतन्त्रता का मनमाना कार्य करने की आजादी से नहीं होता। समाज द्वारा सामान्य हित को दृष्टि से बनाए गए नियमों का पालन व्यक्ति को करना करना चाहिए। यदि सामाजिक से व्यवस्था स्थापित करने के लिए और सम्भावित दुर्घटनाओं को रोकने के लिए सड़क पर बाईं ओर चलने का नियम बनाना जाता है तो इस नियम का पालन करने से व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हानन नहीं होता। यदि व्यक्ति स्वतन्त्रता का अनुभूति अर्थ लेते हुए अपनी गाड़ी सड़क पर हमर-वपर घुमाते हुए चले तो इस मानवस्य से न केवल वह स्वयं को ही सड़क से हटा देगा अपितु दूसरों के जीवन को भी खतरा पैदा कर देगा। उसका यह व्यवहार सामान्य इच्छा को धक्केलकर करने वाला होगा। वह स्वतन्त्रता नहीं अनुभूत करता होगी। स्पष्टतया है कि कभी नैतिक की भाँति स्वतन्त्रता, जीवन और सार्वजनिक के अधिकार को मनुष्य के प्राकृतिक नहीं अपितु राज्य-व्यवस्था नागरिक (Civil) अधिकार मानता है।

समाजता विपक्षक विचार

क्यों की मान्यता है कि समाजता के अभाव से स्वतन्त्रता नहीं निकल सकती। प्रकृति में सर्वत्र असमानता है और क्यों इस प्राकृतिक असमानता के बढ़ते होने सामाजिक अनुकूल्य-व्यति नैतिक एवं विहित समानता के वर्णन करता है। प्रकृति भौतिक असमानताएँ स्पष्ट नहीं हो सकती किन्तु मनुष्य कानूनी दृष्टि से समान बनाए जा सकते हैं। क्यों यह भी नहीं चाहता कि किसी को दूसरी व्यक्ति प्रत्यक्ष हो जाए कि वह उसके निरंकुश प्रयोग कर सके। व्यक्ति का प्रयोग तो कानून और पर के अनुकूल ही करना होगा। व्यक्ति के लिए धर्मोपनिषद् है कि वे अपने मन और पर का प्रयोग समान और समान से करें। इसी तरह सामान्य जन-समूह को भी चाहिए कि वह कृप्या और जीवुकता के मार्ग पर न चले। राज्य का सामाजिक स्वास्थ्य सभी बना रह सकता है जब न कोई नागरिक दूसरा जन-समूह हो कि वह दूसरे को क्षीर से और न क्षीर एवं सामान्य हो कि वह स्वयं को बिक जाने दे। क्यों के इन विचारों से मन की अज्ञात विपन्नताओं के प्रति उसकी प्रतीति प्रकट होती है। हमें यह मानने से दुर्बिधा नहीं होती कि वह सामाजिक असमानताओं का अन्त चाहता था।

धर्म एवं शिक्षा सम्बन्धी विचार

क्यों के धर्म सम्बन्धी विचार कानिष्ठक है। वह हॉमर की तरह धर्म को सामान्यजन मानता है। उसने धर्म के तीन प्रकार बताए हैं—(1) वैयक्तिक धर्म, (2) नागरिक धर्म, एवं (3) दुर्योधित धर्म।

वैयक्तिक धर्म मनुष्य की अपनी क्षमताओं और अपने सामाजिक विचारों पर आधारित है। वह धर्म सर्वव्यापी है किन्तु नागरिक दृष्टि से सामाजिक है, अतः

इसमें व्यक्ति अपने नागरिक कार्यों का दुर्लक्ष करता है। वैयक्तिक पक्ष ईश्वरीय नियमों पर आधारित आदर्शमर्यादा सहेज पार्ने है।

नागरिक पक्ष राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय है और सामाजिक, कृषिकी तथा विधियों के विनिर्गत है। नागरिक पक्ष कसौ की एक निराली कल्पना है जो सम्भवतः उसके मतिष्क में प्योरी के 'मार्च' एवं अन्य नुसानी विचारों के चिन्तन में घाई है। नुसानियों का विन्यास या कि साबुदिक बेचना की दुम्पि एवं तेजस्विता के लिए कुछ मौलिक व्यवस्थाओं का होना आवश्यक है और हम देखते हैं कि कसौ ने भी समाज की दुःद करने के लिए नागरिक पक्ष की कल्पना की है। कसौ ने इस पक्ष के पाँच विवेचनात्मक सूत्र बताए हैं—(1) ईश्वर की शक्ति में निराला करना और यह जानना कि यह वरदान नहीं, दुःखपूर्ण और बनलू है, (2) पुनर्जीवनाद में विश्वास, (3) दुष्कामना सुख पार्ने, (4) पतनना वण्ड भोईये, तथा (5) सामाजिक अनुकूल और विधियों की पवित्रता की रक्षा करना महत्त्व कर्तव्य है। कसौ ने नागरिक पक्ष का केवल एक विवेचनात्मक सूत्र बताया है और यह है असहिष्णुता। इसका अभिप्राय है कि असहिष्णु व्यक्तियों के लिए राज्य में स्थान नहीं होना चाहिए। यह सामान्य की बात है कि कसौ नागरिक पक्ष पर पूर्व सम्मति देकर फिर उसके प्रतिपक्ष आचारण करने वाली का वध करने का समर्थन करता है। "स्वातन्त्रता के महान् पैगम्बर का समर्थन के नाम पर यह कहना कि जो व्यक्ति नागरिक पक्ष की स्वीकृति देकर उसके विरोध में आचरण करे उसकी हत्या उचित है, सर्वथा असमर्थ और निन्दनीय है। यह जानाघाटी और पराधीनत्ववाद का सूचक है। यह ठीक है कि कसौ का उद्देश्य पवित्र है और यह समाज के आधार की मजबूत करना चाहता है किन्तु सामाजिक संरक्षण के नाम पर नागरिक पक्ष नामक विन्यास की प्रथम दिने जाने मतलों को मजबूत करना सर्वथा कुबिध और अवहान्तरणक मान्य बढ़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि विविष्ट कसौ (दुष्कामना) के सामान्य सम्मन द्वारा हमन का प्रस्ताव उपस्थित कर तथा नागरिक पक्ष का सर्वेस पोषित कर कसौ उद्यमवाद का सर्वथा वाता कर रहा है।"

पुरोहित पक्ष यह पक्ष है जो पुरोहितों-नागरिकों द्वारा विधा जाता है। यह पक्ष सबसे निरुपष्ट है क्योंकि यह दो तरह के प्रधानों अथवा दो शक्तियों की सम्मति देता है और अनुमाधारण को वरस्पर विरोधी कर्तव्यों में र्जता देता है। फलस्वरूप सधर्म और कसौ का आचारण उलझ होता है और राज्य की प्रगति की बाधा पहुँचती है।

कसौ के अनुसार इस सब पक्षों में दोष है अतः राज्य की नागरिक विन्यासों का पक्ष (Civil Religion) पर जो सामाजिकता और सम्मति पर बना है गणना चाहिए।

कसौ के विन्यास-सम्बन्धी विचार उसके 'Example' नामक ग्रन्थ में हैं जिसमें विन्यास का उद्देश्य 'मनुष्य की निर्वाचित प्रकृति का पुनर्प्राप्त' (Effectual rehabilitation of human nature) बताया गया है। इस ग्रन्थ के कारण उसे अतिशयोक्ति

शिक्षा (Progressive Education) का जनक माना जाता है। कसो ने ऐसी शिक्षा का समर्थन किया है जो मनुष्य की आन्तरिक प्रवृत्ति को सकार कर उसे वैभवशाली बनाए। उसका वाक्य है कि बचपन से युवावस्था तक वह शिक्षा और नागरिक शिक्षा से जानी चाहिए। कसो ने 'एमिल' (Emile) नामक व्यक्ति के विचारों का स्वन निकर अपने ग्रन्थ में शिक्षा-दर्शन व्यक्त किया है। एमिल को पठन, लेखन, गायन, गीतन, राष्ट्रीय इतिहास आदि की शिक्षा दी जाती है। उसे प्राचीन एवं संस्कृत की शिक्षा भी मिलती है। कसो ने शिक्षा-योजना और विचारों विधि सम्बन्धी भी विचार दिए हैं, वे मान भी शिक्षा के क्षेत्र में सम्पददर्शन कर रहे हैं। उपरोक्तनीय है कि अपने समय की शिक्षा-व्यवस्था का विरोधी होने के कारण कसो को कठोर प्रतिरोध का सामना करना पड़ा। उसके अनेक शत्रु हो गए। उसने शिक्षा का कि सत्ताधीन शिक्षा ऐसे व्यक्तियों का निर्माण करती है जिनके पास न प्राकृतिक स्वाधीनता है, न पूर्ण नागरिक अधिकार। राज-शिक्षा को पादरियों के हाथ में निराल देने तथा किमोचकता तक बर्न-शिक्षा का निषेध करने की उसकी प्रस्तावनाओं से पादरी बर्न बहुत कोपित हो गया है, उसके ग्रन्थ 'एमिल' की मजि के मेंट चला दिया गया और कसो को सख्त तथा जेलवा की कारागार में भी उसकी निन्दा की। इसी कारण उसे मॉस छोड़कर भी भागना पड़ा।

कसो का यूरोपिकन एवं प्रभाव (Rousseau's European and Influence)

कसो के यूरोपिकन के विषय में आलोचकों में दोरे मतभेद हैं। बहुतों केवर, लैंगन आदि ने कसो की सुझकर प्रशंसा की है बहुतों केवर, मॉर्ले आदि कसो को अपने स्वाय-वासी का निघाना बताया है। एक ओर कसो को मनुष्य-साम्यिक सुझाव गया है और दूसरी ओर उसे विधवावादी तथा सम्बन्धीन कहा गया है। जो ही एवं कसो ने कसो को 'राज-दर्शन' का शिक्षा कहा है और उसके 'सोचिकन कोर्नु' को राज-दर्शन के ऊपर महानतम ग्रन्थ बताया तो कन्विक्ट ने कसो को प्रत्येक प्रकार के सन्निधकवाद का सबसे भयानक मित्र कहा है। इसी तरह कुछ विद्वानों ने कसो को व्यक्ति के लिए अधिकतम स्वतन्त्रता चाहने वाला व्यक्तिवादी माना है तो कुछ ने उसे सर्वप्रकारवाद का दीपक कहा है।

इन परस्पर विरोधी विचारों के लिए कसो सख्त उत्तरदायी है। अपने विरोधानास समुक्त (Paradoxical) मान्यता का प्रयोग इसी सन्निधता के किया है कि वे पाठक के सन्निधता में भ्रम उत्पन्न कर देते हैं। साथ ही उसने अपने द्वारा समुक्त कसो की कोई सुनिश्चित परिभाषा भी नहीं दी है उन्हें किन्हीं-किन्हीं कसो को उसने अपने स्वतन्त्र पर विभिन्न कसों के लिए समुक्त किया है। वह बहुत एक स्तर पर कहा करते-करते, पाठक की मिला कोई पूर्ण सूचना दिए हुए ही दूसरे स्तर पर पहुँच कर भिन्न-भिन्न कार्य करते लगता है और तब पाठक के लिए उन परस्पर परस्परद्वारा में सन्निधता स्थापित करता कहा करीबन हो जाता है। विधवा उक्ति

उस 'वाल्मीक्या' के जगता की जितना धार्मिक प्रभावित किया है उतना मॉन्टेस्क्यू की 'संवृत्तित सत्तवा' और उसके सम्बन्ध पर्यवेक्षण तक ने नहीं किया।

जी जी हो, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि विरोधाभासी विचारों की प्रकट कलौ हुए भी कलौ ने राज्यतन्त्र के प्रतिष्ठान पर गहरा प्रभाव डाला है। अपने सामान्य इच्छा के सिद्धान्त द्वारा हमारे सम्मुख एक ऐसा राजनीतिक धारार्थ प्रतिष्ठित किया है जिसकी प्राप्ति में होने सम्भव होना बाह्यहृत्। यह इस सिद्धान्त द्वारा अनुवृत्ता और स्वाधीनता में समन्वय स्थापित करता है और इस प्रकार प्रजातन्त्र के लिए बहुत बड़ा नैतिक आधार प्रदान करता है। उसका यह सिद्धान्त जितना भी प्रत्यक्ष नहीं है, इससे सम्येह नहीं कि जो चीज समाज की सम्भव बनती है वह सामान्य इच्छा ही है जिसे हम 'सामान्य उद्देश्यों की सामान्य चेतना' भी कह सकते हैं। उसका वही सिद्धान्त इस मूल सत्य का उद्घाटन करता है कि 'शक्ति नहीं, इच्छा राज्य का आधार है।' कलौ ने लोकप्रिय सम्प्रभुता की नींव डाली है। होने यह नहीं पूछना बाह्यहृत् कि एक के बाद एक सम्प्रभुता सम्बन्धी विभिन्न विचार प्रसिद्ध होते-ते-ते किन्तु राजनीतिक चर्चा की दृष्टि बचाव के लिए कलौ की सामान्य इच्छा द्वारा प्रकट लोकप्रिय सम्प्रभुता के धार्मिक प्रतिष्ठानों विचार नहीं किया है। कलौ ने ही यह स्पष्ट घोषित किया कि चाहे राजनीतिक सत्ता का स्वरूप कुछ ही हो, उसके कलौ की सम्प्रभुता एक सत्य है। कलौ ने राज्य और शासन के मध्य तथा सम्प्रभु कानून (Sovereign Law) एवं सरकारी कानून (Government Decree) के बीच भेद स्पष्ट किया है। उसका सम्प्रभु कानून ही सामुदायिक नीतिक धारवा धार्मिकानिक कानून का स्रोत है। उसके प्रभाव के परिणामस्वरूप ही सामुदायिक मुन में इस बात पर बल दिया जाता है कि शासन के विधेयसमक कानून (Positive Law) देश के नीतिक कानून के अनुकूल होने बाह्यहृत्। यह ठीक है कि कलौ के विचार नीतिक नहीं हैं किन्तु उसका क्लेश महत्त्व इस बात में है कि वह पुछने विचारों का क्या प्रयोग करता है। कलौ के प्रभुता और कानून सम्बन्धी विचारों का बहुत कुछ राज्य समेचित की राजनीतिक सत्ताओं पर जो प्रभाव पड़ा उसे हम तत्पर-धन्यवाद नहीं कर सकते; फिर यह भी नहीं भुलाया जा सकता कि कलौ के राज्य की नीति की प्राप्ति की प्राप्ति पुच्छकों बन गई। उसके प्रभाव 'भाष्यशायी की मुक्तुता'ने चाहे दुर्भाग्यम्' बाधक थे जिनसे जनसाधारण को प्रभावित करना कोई कठिन कार्य न था। कलौ जगति के समय कलौ के प्रभाव की पुच्छता उस प्रभाव के ही था सकती है जो सर्व-मुधार मुन ने सांख्यिक का जगता पर पड़ा था मन्वत् 20वीं सताब्दी में कलौ जगता पर पान्थ की मुक्तक 'दास कैपिटल' (Das Capital) ने डाला था। डोयल (Doyle) ने ठीक ही लिखा है—कलौ ने और दुर्भाग्य एवं धनतन्त्र के समय में यूरोप के सामने एक आधीन और जबर दधि की स्रोत प्रान्थ के कीर्तित प्रयत्नित किया तथा एक ऐसे धारार्थ की उसके सामने रखा जिसे वह विनाश के प्रस्ताव प्रान्थ कर सकता था।¹

क्यों वरिष्ठ राष्ट्रवाद का समर्थक नहीं था किन्तु समूह की एकता और दुश्मनी की भावना पर बल देकर उसने राष्ट्र-भक्ति को एक भावनें रूप दिया। मेनाशन के शब्दों में, "क्यों स्वयं राष्ट्रवादों ने या किन्तु उसने नागरिकता के प्राचीन भावनों को एक ऐसा रूप प्रदान किया जिससे राष्ट्रीय भावना के लिए जो आवश्यक सम्भव हो सका।"

क्यों के विचारों का जर्मन विज्ञानवाद पर भी गहरा असर हुआ। यह मानव की नैतिकता का समर्थक था। स्वातन्त्रता की यह जीवन का परम उत्तम मांगता था और इस कारण नीतिशास्त्र के क्षेत्र में भी उसका क्रांतिकारी प्रभाव रहा। कांट (Kant) कहता था कि परम मानव की नैतिक दृष्टि का महत्त्व जो क्यों के शब्दों से ही निर्धारित हुआ। तात्त्विक साम्यवाद के सबसे दृढ़ की सरलता पर जो ध्यान क्यों ने दिया वही मानववादी नीति-शास्त्र का आधार हो सकता है। स्वातन्त्रता की विचार उद्घोषणा क्यों ने की और नैतिकता का इसे आधार बनाया। इस प्रस्ताव का गहरा असर जर्मनी के दार्शनिकों पर पड़ा। इस कारण होगल (Hegel) ने कहा था कि क्यों के शब्दों से ही स्वातन्त्रता की बुद्धिपूर्वक प्रतिबोधिता हुई। स्वातन्त्रता के साथ ही समानता पर क्यों ने जो बल दिया है, इस कारण कहा जा सकता है कि न केवल नीतिशास्त्र का अस्तित्व साम्यवाद का बीच भी क्यों के शब्दों से निर्धारित है। यह घोषणा कर कि अधिकतर महत्त्व के प्राप्त होता है और निरा संशय बल किसी एक विचारवादी महत्त्व का स्थान बना लिया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि क्यों की विचारधारा के तीन दृष्टि सिद्धांत-नैतिकवाद, समूहवाद और नैतिक स्वातन्त्र्यवाद की गहरा प्रभाव प्राप्त हुआ है।

ऐतिहासिक अनुभववादो : ह्यूम और बर्क

(The Historical Empiricists : Hume and Burke)

18वीं शताब्दी में, जो ज्ञान का युग कहा जाता है, पश्चिमी यूरोप में अनेक महान् विचारक पैदा हुए जिनके उपदेशों से सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं में कोई सुधार-परिवर्तन होने की उम्मीद आन्ति के लिए मार्ग प्रशस्त हुआ। उनमें से एक डेविड ह्यूम थे। उनके द्वारा कथ्येद्वारा दर्शन के 18वीं मदी में प्रचलित अनेक गलत विचारों को समाप्त कर दिया। ह्यूम और बर्क सामाजानविक के दौर में थे। बर्क भावनावादी और उत्साहवादी का किन्तु ह्यूम नितरतः तीव्र बुद्धि का दार्शनिक था जिसने अपनी विचारधारा से उपनैतिकावाद को पुष्ट किया। कहा जा सकता है कि 17वीं शताब्दी के दृष्टि और नीति की आलोचना की विचारधारा तथा 19वीं मदी के रिकार्डों एवं जॉन स्टुअर्ट मिल की विचारधारा के दर्शनशास्त्र के एक प्रकार का अन्तर्गती सम्मेलनकाल उपस्थित किया।

डेविड ह्यूम की जीवनो और कृतियाँ

(David Hume : Life and Works)

डेविड ह्यूम का जन्म 1711 ई. में, अर्थात् कथो से एक वर्ष पूर्व स्कॉटलैण्ड में हुआ। 1776 ई. में, अर्थात् कथो से दो वर्ष पूर्व, वह इस नगर से निदा हो गया। कातून और उत्तराध्याप्य व्यापार में संलग्न होने पर उनके साहित्य की ओर ध्यान दिया बिनाया वह बचपन-से ही वैसी था। कुछ समय पर पर अलोच करने के बाद अपने धर्म की भाषा की जहाँ वह कुछ वर्ष तक रहा और अपने "Treatise of Human Understanding" नामक किस्पात काम की रचना की। इस काम का प्रकाशन 1737 ई. में, जब वह केवल 26 वर्ष का था हुआ। मात्र ती यह ह्यूम का सर्वश्रेष्ठ सुन-निर्माता काम समझा जाता है, किन्तु प्रकाशन के समय इसे बहुत कम आधिकारी ने खरीदा, उनके की कम आधिकारी ने इसे पढ़ा और समय तो कोई भी न था। इस समझौदा से ह्यूम का उत्साह कम नहीं हुआ। सन् 1771 में दूसरा काम 'Essays Moral and Political' प्रकाशित हुआ। ह्यूम के इन

विद्वानों का अपनी पूर्व पुस्तक को समेकित कुछ अधिक समग्र रूप से और उसे बन तथा सम्मान भी मिला। कुछ समय बाद ह्यूम ने अपने विद्वान पूर्व-ग्रन्थ को 'Enquiry Concerning Human Understanding' शीर्षक से प्रकाशित करवाया। इस पुस्तक के सम्पादन ने काण्ट (Kant) के उस समय के प्रचलित विचारों का सामाजिक चर्चाया और उसके सामाजिकवादी दर्शन के विकास में निर्णायक योग दिया। ह्यूम ने कुछ और भी ग्रन्थ लिखे, जैसे—

History of England, Enquiry Concerning the Principles of Morals, Political Discourses, Original Contract, and A Natural History of Religion.

ह्यूम के लेख सामाजिकवादी हैं, राजवादी नहीं। उसके सभी ग्रन्थों में, विशेषकर अपने और नीति सम्बन्धी ग्रन्थों में, वह एक विप्लवकारी सामाजिक के रूप में प्रकट हुआ है। लोकप्रिय विद्वानों पर सत्प्रभाव करने के क्षमताएँ ही उसे राजनीतिक समझदार, अपने विरोधी आदि विप्लवकारी उपस्थिति के समस्त किया गया है। अपने विरोध को देखकर ही अपने सभी विप्लवकारी एक विप्लव के सामने इन ग्रन्थों में नहीं थी, "न ही एक ऐसा व्यक्ति है जिसने उस विप्लव पर, जिस पर समाज ने कुछ विवाद उस समस्त है, लिखा है। मेरे, मेरे टीरिनी, जिसी और ईसाई के प्रतिष्ठित और कोई ग्रन्थ नहीं है।"¹

ह्यूम का संशयवाद (Hume's Scepticism)

ह्यूम संशयवादी (Sceptic) का अर्थ है वह व्यक्ति सामाजिक बात के बारे में महत्वपूर्ण प्रश्न पूछता था।² उसकी प्रकृति सामाजिक और सामाजिकवादी थी। अपने सामाजिक, अपने, सामाजिक आदि सभी क्षेत्रों में जनता के सामाजिक विचारों और विचारों पर प्रहार किया, छात्रों के और उसकी बहुत सामाजिक हुई। उसने सामाजिक सामाजिकवादी दर्शन और अपने-आप में कोई समस्या प्रकट नहीं की, छात्र अपने-विरोधी नष्टकर उसकी प्रकृति की गई। उसने समझा दिया गया यदि सामाजिक समझाओ, अपने, नष्ट आदि के सम्बन्धित विचारों का उपलब्ध ज्ञान।

"सामाजिक विचारों की सामाजिक और अधिक जटिल की परिस्थिति ह्यूम की 'द्वितीय शक्ति ह्यूमन नेचर' ग्रन्थ में दृष्टिगत होती है। यह ग्रन्थ 1739-40 ई. में प्रकाशित हुआ था। सामाजिक दर्शन में इस ग्रन्थ का सामाजिक महत्व है। ह्यूम के दर्शन का एक विशेष महत्व प्रसार सामाजिक विचारों का। यदि इस विचारों को समझाए दिया जाए, तो वह सामाजिक विचारों की सामाजिकता के समस्त ज्ञान का

1. *Quoted by Macfar : Political Philosophy*, p. 327.

2. "Hume was a sceptic, which meant that he asked doubting questions about every thing imaginable."

समझ कर देता है। नीतिशास्त्र, धर्म और राजनीति में प्राकृतिक विधि का जिन प्रकार प्रयोग होता था, छूम ने उसकी भी समीक्षा की।¹ दृढ़ पुस्तक का धार्मिक दर्शन के इतिहास में बहुस्तरीय स्थान है, किन्तु राजनीतिक सिद्धान्त से उसका अधिक सम्बन्ध नहीं है। इस पुस्तक में बुद्धि के स्वल्प के सम्बन्ध में जो बारम्बार विमर्शित की है उनका नवीन सामाजिक शास्त्रों से बन्धित सम्बन्ध है।

छूम ने बुद्धि के स्वल्प सम्बन्धी जिन नवीन सिद्धान्त में धारणा रखी उसी के फलस्वरूप उसने आध्यात्मवाद और धर्मशास्त्र के प्रति घनांधा केस हो गई। ईश्वर और ईश्वर प्रदत्त धर्म में उनका विश्वास जाता रहा तथा धर्म को भी उसने ऐतरेयिकवाद पर आधारित कर दिया। इतना ही नहीं, उसने सामान्य-मानव के क्षेत्र में इस बलु-प्रधान तथा मार्क्सवादी नैतिक कानून की बारम्बार जो निरस्त किया जो धर्म के स्वल्प है तथा हमारे नैतिक अनुभव की मादरी कपरेखा का निर्धारण करती है। छूम का तर्क था कि नैतिक धर्म के स्वल्प को वैज्ञानिक नहीं बल्कि आध्यात्मिक और दृष्टा-उपान मानना चाहिए। छूम का तर्क था कि नैतिक निर्णयों की बाह्य तथ्यों पर नहीं बल्कि अवस्थाओं पर आधारित करना चाहिए। मानव स्वभाव के मुख्य भाग को है—आत्मवाद एवं बुद्धि। बुद्धि द्वारा प्रति प्राप्त होती है और मानवों के मानों का केन्द्र है। मानवों के मन में दृष्टाओं के ही मानव का उद्देश्य निश्चित होता है और जब विचारधारा बुद्धि उन उद्देश्यों की शक्ति के लक्ष्य पर स्थान देती है। अतः मानवों या मनुष्यों का ही मानव जीवन में प्रधान है। छूम की विशेषता इस बात में है कि यहाँ बर्ले और मारखेवा तत्त्वों ने विचारकता तर्क और बुद्धि की अतिमत्ता प्रकट कर रहे थे यहाँ छूम ने मानवों और दृष्टाओं का ही मानव-समस्या की समाधान की शक्ति में अनुचित स्थान स्वीकार किया। इन दृष्टि के छूम और हॉमि में समानता थी। छूम ने कहा कि कोई भी कार्य प्रथम भाव प्रथम या धर्ममय समझ होना है क्योंकि उनके देखने से हमारे हृदय में एक विशेष प्रकार के गुण का गुण की उत्पत्ति होती है। छूम के इस विचार पर राजनीति-शास्त्र के क्षेत्र में यह धर्म था कि सामाजिक विवाद और वैयक्तिक गुण के सिद्धान्तों की समानता ठहरा कर राजनीतिक कर्मों की उपयोगिता पर आधारित किया जाए।

छूम ने मानव बुद्धि के स्वल्प का जो विवेचन किया उसके मुख्य परिणामों पर विचार करने से हम यह पाते हैं कि उनके 'विचारों के सम्बन्धों' (Relations of Ideas) तथा 'तथ्यों के विषयों' (Matters of Fact) में अन्तर रखा है। विचारों के सम्बन्धों का सर्वोच्च उदाहरण गणित शास्त्र में मिलता है और 'तथ्यों के विषयों' के उदाहरण भौतिक शास्त्रों में। जब हम यह कहते हैं कि एक वृक्ष के लम्बी छड़—झाड़ बगल में होते हैं तो हम केवल एक 'सम्बन्ध' ही स्थापित करते हैं जो बुद्धि द्वारा जो विचारों—वृक्ष तथा छड़—झाड़—के सम्बन्ध

हमारे देश में कभी राज्य का रूप नहीं बहू कलुह है कि दो और दो बार होते हैं तो हम को विविधता इसादमी में 'समानता का सम्बन्ध' सिद्ध करते हैं। स्पष्ट है कि इन सभी उदाहरणों में 'सम्बन्ध' सम्बन्धित विचारों के उत्पन्न होता है और प्रतिस्पर्धित तब एक प्रतिस्पर्धित तथा अपरिपक्वता का रूप को प्रकट करता है जिसके विपरीत व्यवस्था ही नहीं की जा सकती। इस बहू सोच ही नहीं सकते कि किसी दल के सर्वोच्चता बराबर नहीं होने के कारण दो और दो बार नहीं होने। यहाँ जो भी प्रतिस्पर्धित हैं वे सभी पर निर्भर नहीं हैं और न ही उनका स्वरूप अनुभव-प्रधान है। इसकी मान्यता है कि अनुभव-सिद्ध सामन्तों के रूप 'विचारों का सम्बन्ध' कभी प्रमाणित नहीं कर सकते। इसी तरह विचारों की तुलना से कोई 'तथ्य' सिद्ध नहीं किया जा सकता। इसका यह भी उक्त है कि "विचारों के मान्य तार्किक सम्बन्ध सिद्धता अपरिपक्वता और मान्यता होता है उसका 'तथ्य' का मान्य 'सम्बन्ध' नहीं हो सकता।"

इसका विवरण है कि बुद्धि गणितीयशास्त्री में ही 'विचार सम्बन्ध' (Relations of Ideas) पाए जाते हैं, यथा: साधारणतः एक सांख्यिकीय कल्प ही ध्यान तक सीमित है। इस भौतिक पदार्थों के सम्बन्ध में सांख्यिकीय कल्प ही विचार-व्यापक मान्य नहीं हो सकते। भौतिक विज्ञान, साधारणतः, राजनीतिक शास्त्र, धर्म एवं साध्यात्म शास्त्र, धर्मशास्त्र आदि जो भी सामाजिक विज्ञान है उनमें हम केवल सम्भावनाओं पर ही अनुभव सिद्ध कल्प को ही दृष्ट करते हैं।

ह्यूम के राजनीतिक विचार (Hume's Political Ideas)

1 अनुभववादी और कल्पवादी होने के बावजूद ह्यूम का दृष्ट मत था कि राजनीतिशास्त्र को एक गणितीयशास्त्रिक विज्ञान का रूप दिया जा सकता है तथा उनके देने व्यापक उपसिद्ध विज्ञान हो सकते हैं जिसकी तुलना गणितीयशास्त्रीय सिद्धान्त से की जा सके। ह्यूम ने राजनीति को वैज्ञानिक रूप देने का सर्वप्रथम करने हुए भी उन प्राकृतिक नियमों के सिद्धान्त का कटु विरोध किया जो सचद्वी सत्ताधी में मान्य था।

2 17वीं और 18वीं सताब्दी के बुद्धिवादियों का विचार था कि 'प्रजा' मानव-वर्ग का मान्य और उसके सम्बन्धों का निर्धारण करती है। इसके विपरीत ह्यूम की मान्यता थी कि प्रजा साम्य को निर्धारित नहीं करती, बहू भावनाओं का साक्षात्-मान्य मान करती है, उसका निर्धारण भावनाओं और प्रवृत्तियों द्वारा होता है; फलस्वरूप बौद्धिक मूल्य सम्बन्धित होते हैं। यथा: एकरीयाम, वैधियम, न्यायको पारि द्वारा वर्णित प्राकृतिक कानून और प्रजा की पारलौकिक विरोध है। मान्य-वर्ग का निर्धारण धर्मशास्त्रों द्वारा होता है। अपनी इसी धारणा को राजनीति शास्त्र के क्षेत्र में प्रयोग करते हुए ह्यूम ने कहा कि सत्ता का कोई बौद्धिक आधार नहीं होता। हम सत्ता में दृष्टिपूर्व रखते हैं क्योंकि समाज में रहने हमारे लिए बुद्धिवादी और दृष्टिकारी है। हमारी मान्यता और सत्ता प्रवृत्ति हमें केवल मान्य

के सिद्ध प्रेरित करती है। इसके मूल में किसी दैविक स्वीकृति यापना सुविचारमक आधार की कल्पना करना व्यर्थ है।

3. ह्यूम अनुभववादी था, यतः उसके चिन्तन में अनुभव, ऐतिहासिक परम्परा, सम्प्राप्त या प्राप्त, सद्बुध प्रवृत्ति, यौक्ति-विज्ञान आदि की प्रधान भूमिका। 13वीं सताब्दी के प्रतिपाद लक्ष्मण और बुद्धिवाद के विरोध में उसने ऐतिहासिकवाद का अनुस्यूत किया। उसने कहा कि सरकार का आधार मत बरका अभिज्ञान (Opinion) है। सरकार तीन प्रकार के मत पर आधारित होती है— (i) जनहित सम्बन्धी मत, (ii) सत्ता का अधिकार सम्बन्धी मत, एवं (iii) साम्प्रतिक अधिकार सम्बन्धी मत। जन, जेम् आदि दूसरे तत्वों से इन तीन आधारभूत मतों की दृढ़ता प्राप्त होती है। मनुष्य परिवार में जन्म लेता है और इन तत्वों के कारण समाज की कलाएँ रखने की बाध्य होता है। आवश्यकता, सद्बुध प्रवृत्ति और धारण—इन तत्वों द्वारा समाज व्यवस्थित और सञ्चालित होता है। मानव-स्वभाव के अन्य तत्वों के आधार पर जिस व्यवस्था में कथानक रहती है मरका कबजोरी रहती है उसे धारण मरकृत बनाती है। धारण ही के कारण व्यक्ति में धारण-बालन की धारणा आती है और कलस्वरूप वह अपने पूर्वजों की नीक से ज्ञान, नहीं इतना पाकृत। सामाजिक क्रिया के अध्ययन में सम्प्राप्त धारणा धारण की आधारभूत और प्रथम सम्प्रेष देने के कारण ह्यूम की दैविक मूल तथा सामाजिक तथित के सिद्धान्तों में धारणा नहीं हुई। उसे सामाजिक तथित की धारणा धर्मैतिहासिक और तथित तथी।

4. सत्यवादी प्रवृत्ति के कारण ह्यूम ने सर्वत्र धारणा और व्यवस्था का मरुत किया। उसने धारणन को कोई विशिष्ट देन प्रदान नहीं की, किन्तु एक मरुत देना धारण दी। राज्य के प्रारम्भ के विषय में उसने दैवी सिद्धान्त (Divine Theory) और सतिता सिद्धान्त (Contract Theory) की मरुत धारणा की। दैवी सिद्धान्त का उसने निम्नलिखित तथी के आधार पर मरुत किया—

- (क) ईश्वर के धर्मित्व को यौक्तिक आधारों से प्रमाणित किया जा सकता है।
- (ख) ईश्वर राज्य के मरुतर्त, यथानुगत धारण, एक सामान्य धारणा और धारणधर्म धर्म को—सर्वोच्च तथित ईश्वरीय धर्म मरुत है एवं उसकी रक्षा करता है।
- (ग) दैवी सिद्धान्त धारण को दृढ़ता धर्मित्व बना देता है कि वह धारणा और धारण के धर्म हो जाता है मरुत वह धारणा और धारणा की धर्म न हो ?

5. सतिता सिद्धान्त पर ह्यूम ने ऐतिहासिक और धर्मित्व धर्मों की धर्मित्व से धारण किया। ऐतिहासिक रूप से धारण मरुत ने सतिता सम्प्रेष नहीं की क्योंकि उनमें दृढ़ता धर्मित्व नहीं की कि वे सतिता के मरुत पर धारण कर सकते और एक मरुत धारणा करने के बाद उस पर धर्मित्व रहते। ऐसे किसी

भी समझते का इतिहास में उल्लेख नहीं मिलता । इसके प्रतिरिक्त यदि वह स्वीकार भी कर दिया जाए कि मुझ मनुष्यों ने समझीता किया तो उनके उत्तराधिकारी उन समझीते को मानने के लिए बाध्य नहीं हो सकते । दस विषय में ह्यूम के ये शब्द निश्चय ही बड़े तर्कपूर्ण हैं कि—“निश्चय के प्रतिबोध भावों में यदि घाप यह उद्देश्य दें कि राजनीतिक सम्बन्धों का आधार पूर्णतया स्वेच्छाकारी सम्मति या पारस्परिक समझौता है तो व्यवस्थित चिन्तन ही मानवी राजशास्त्र के आधार को हिलाने वाले राजदोह के समरूप में बनने लगा होगा, यदि घापके निशानों में उसके पूर्व ही घसपट भावों पर या ऐसी उद्घोषणाओं करने पर दीवाना समझकर मानवी व्यवस्था बन गई होगी ।” ह्यूम ने सविदा-विद्वान्त का अन्य आधार पर भी खण्डन किया । उसने कहा कि यह विद्वान्त राजनीतिक कर्तव्य-कालन की कोई समुचित व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता । उसी के शब्दों में—“सरकार की शक्तियों का हमें जो पालन करना पड़ता है, उसका यदि मुझ से शरह पूछा जाए तो मैं यह उत्तर दूँगा कि ‘कौनसे समाज इसके बिना जीवित नहीं रह पाएँगे’ और मेरा यह उत्तर इतना स्पष्ट है कि सम्पूर्ण मानव-जाति इसे समझ सकती है । सुम्हारा उत्तर यह है कि हमने अपने बचन का पालन करना चाहिए । लेकिन इस उत्तर को केवल राजनैतिक विद्या प्राप्त स्थिति को छोड़कर अन्य कोई न तो समझ सकता है और न ही पकड़ कर सकता है । इसके प्रतिरिक्त मेरा जो यह भी कहना है कि घात उस समय बनकर में पड़ जायँ कि जब घातके यह प्रश्न किया जाएगा कि हम अपने बचन का पालन करने के लिए विवश क्यों हैं ? कारण में कोई भी स्थिति ऐसा उत्तर नहीं दे पाएगा जो सीधे सीधे हमारे राजनैतिक कर्तव्य की व्याख्या कर दे ।” राजनीतिक कर्तव्य-कालन और राज्य के स्वरूप के विद्वान्त के रूप में सविदा-विद्वान्त की झुठली बातलाते हुए ह्यूम के विचार हैं—“यह कहना व्यर्थ है कि समस्त सरकार जन-सन्मति के ऊपर आधारित होती है यथार्थ होती चाहिए ।” उसका यह स्पष्ट और वास्तव में सही विश्वास है कि यथार्थ जीवन में हम जन-सन्मति का कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं हैं । ह्यूम का कहना है कि यदि राज्य सविदा पर आधारित होता ही बनूँ तो कभी भी उस सविदा की भंग कर सकते थे । परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है । “अनेक वर्तमान सरकार, यह सरकार जिसका इतिहास में कोई विद्वान्त ऐसा यह कहा है, कुछ रूप में सविदा-समरूपता प्रकट विवश या दीनी का इतिहास है जिसने जाति की स्वेच्छापूर्ण सन्मति का बताना तक नहीं किया गया ।” मनुष्य राजशास्त्र का पालन इसलिए करते हैं कि ऐसा करने में वे अपनी भलाई देखते हैं । गुप्त तथा शक्ति की व्यवस्था बनाए रखने के लिए मनुष्य राज्य की शक्ति मानना आवश्यक समझते हैं । सरकार प्रकट राज्य के लिए मनुष्य भविष्य रखते हैं । यह उनके सम्बन्ध की बात है । गया मनुष्यों की उन आवश्यकताओं की पूर्ति करता है जिसकी वह सुतकाश में अनुमति करता रहा है । स्पष्ट है कि राजनीति में ह्यूम ने सम्बन्ध एवं उपबोधित के महत्व को स्वीकार करते राज्य की समझौता व्याख्या प्रस्तुत की है ।

6. ह्यूम अनंततन्त्र शासन-दशावली के विरुद्ध था क्योंकि उसके विचार में स्वतन्त्र शासन बहुत अधिक मात्रा में प्रान्तों को नष्ट करने वाला होता है। गणतन्त्र-कासन में विचारों को सीधेताइय विरुद्ध है तथा राजतन्त्र-कासन में कला की। ह्यूम अपनेबानों की स्वतन्त्रता तथा धार्मिक सहनशीलता के पक्ष में था। यह नागरिक स्वतन्त्रता का प्रोत्साहन था। किन्तु समाज की सुरक्षा के लिए स्वतन्त्रता प्रतिबंधित है, यह मानते हुए अधिकार के साथ राजनीति को भी समाज की रक्षा के लिए आवश्यक लगभगता था। उसका यह भी विश्वास था कि शासन मात्र को व्यवस्थित करने के लिए राज्य को मिश्रणवी होना चाहिए। जनता के मन का प्रभाव करने में प्रचार-जनता पर गुलाबी नालनी पड़ती है। उसकेउनीन है कि स्वतन्त्रता का स्वर्णक होते हुए भी ह्यूम अनुदारवादी परम्परा का हितावली था। सामाजिक व्यवस्था और स्वाधित्य का बीज ऐतिहासिक परम्परा और प्रभाव में होना मानकर इन्हें वह प्राकृतिक नीतिशास्त्र की कल्पना का उपहास उठाता जो मानती थी कि मानवता के लिए स्वातन्त्र मानवत शासनशासन के नियम बनाए गए हैं। स्वातन्त्र नीति-शास्त्र के बदले समाज-विरोध के लिए उपयुक्त नीति-शासन सिद्धान्त का उसने समर्पण किया।

7. ह्यूम ने धार्मिक सिद्धान्तों पर भी कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले। उसने व्यापार, वाणिज्य, इन्ध, मूद-सोरी आदि पर अपने नीतिगत विचार प्रस्तुत किए। उसने कहा कि मुद्रा की मात्रा में बाह्य बाजार-दर का निर्धारण होता है। विनियम के लिए जिसकी मुद्रा बाजार में उपलब्ध है, उसकी मात्रा में परिवर्तन होने पर वस्तुओं की दर पर प्रभाव प्रभाव पड़ता है। ह्यूम ने कहाथा कि मुद्राप्रद और मूद प्रभावप्रतिष्ठ है। उसने राज्य द्वारा वृद्धि के निवर्तन का विरोध किया और व्यापार-व्यापार का पक्ष लिया। उसने व्यापारियों और वाणिज्यकारों की प्रवृत्ति की क्योंकि वे 'प्रचुर मात्रा में पूर्ण उत्पन्न करते हैं और मूद की दर भी पड़ते हैं। पूर्णवाद की हितावध करते हुए ह्यूम ने कहा कि इसके धार्मिक और नीतिक मुद्दे उत्पन्न होते हैं। व्यापार-वाणिज्य में धन धाता है, पतनकन पूर्ण-पथ मुद्राप्रदप्रवृत्ति हो पड़ता है। वाणिज्य-व्यापार में मिश्रणविता का मुद्दा पड़ा जाता है जबकि भू-व्यापारियों में व्यापार और व्यवस्था के प्रचुर होते हैं। ह्यूम ने व्यापार और सम्पत्ति में बहुत सम्मान माना है। व्यापार उपरोचिता पर आधारित है और इसीलिए वह जनता की हिम होता है। सम्पत्ति के व्यापार के प्रति व्यवधानों में व्यापार की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यह भी सम्मान है। मूल के विरुद्ध ह्यूम व्यापार की प्रवृत्ति में सम्पत्ति की परिचालित करता है।

प्राकृतिक विधि का विनाश (The Destruction of Natural Law)

ह्यूम ने अपनी आलोचना को प्राकृतिक विधि प्रथम कानून (Natural Law) की विधि-शास्त्रावली के अन्तर्गत किया। उसने अनिच्छा विधय पर पूरी

वस्तुतः मानते थे लेकिन छूम का ऐसा कोई विचार नहीं था। उसने कहा है कि मनुष्य अपने स्वार्थ की सिद्धि में या अन्य किसी में बहुत अधिक लोच-विचार नहीं करते। वे उसी समय दूरदृष्टि से काम लेते हैं जबकि उनको भावनाएँ घोर ईर्ष्याएँ सीधे प्रभावित नहीं होती। लेकिन मनुष्य की प्रकृति स्वार्थ में भी उतना ही हितवीर्य करती है जितना कि उदात्तता में। छूम के उपभोगितावाद ने बहुतायत को नियंत्रण महत्व नहीं दिया था। उसने मानवीय बुद्धि को भी बहुत ऊँचा दर्जा नहीं दिया। इस दृष्टि से यह वैश्वव्यवस्था जहाँ मनुष्य ईश्वर के अधिक नज़दीक था। जहाँ मनुष्य ईश्वर ने मानव प्रकृति को अधिक करल माना था। धर्म के उपभोगितावादियों का भी बहुत-कुछ ऐसा ही विचार था।

छूम ने महत्त्व के सिद्धान्त को भी कठोर आलोचना की और कहा कि राजनीतिक व्यवस्था केवल इसलिए सम्भवकारी होता है कि यह ऐच्छिक रूप से स्वीकृत हो जाता है। यद्यपि छूम बर्क की भक्ति यह स्वीकार करने की तैयार था कि सम्भवतः गुहुरपूत-काल में पहला आदिम-कालीन समाज सम्भोजी द्वारा बना ही, पर उक्तका तर्क था कि वर्तमान समाजों में ऐसे सम्भोजी का कोई सम्बन्ध नहीं होता। छूम का कहना था कि कोई भी सरकार अपने प्रशासकों से यह नहीं कहती कि वे मनुष्य हैं। सरकार राजनीतिक सम्भोजी और कविता की सम्भोजी में भी कोई रस स्वाहित नहीं करती। मनुष्य की ईर्ष्याओं में मानव के प्रति निष्ठा मरका भक्ति भावना उल्टी ही पाई जाती है जितनी कि वह प्रकृति कि सम्भोजी का वापस होना चाहिये। सम्पूर्ण राजनीतिक तत्त्व में वे निरंकुश सरकारों को महत्त्व के सिद्धान्त को एक मात्र भी नहीं मानती, स्वतन्त्र सरकारों की प्रेरणा अधिक पाई जाती है। उनके प्रशासन अपनी सरकारों के अधिकार की आलोचना भी नहीं करते। यदि वे आलोचना करते हैं तो केवल उन्हीं समय जबकि प्रशासकीय शासन बहुत समय करने लगता है। प्रत्यक्ष इस दोषी बीबी का उद्देश्य भिन्न-भिन्न है। राजनीतिक निष्ठा व्यवस्था कायम रखती है और शान्ति तथा सुरक्षा को बनाए रखती है। कविताओं की अधिकता अद्विष्ट व्यक्तियों के बीच पारस्परिक विश्वास में जन्म देती है। छूम का निष्कर्ष था कि नागरिक आदेश पालन का कर्तव्य और सम्भोजी की कायम रखने का कर्तव्य यह दो-भिन्न चीजें हैं। एक को दूसरे पर बाधित नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा किया भी जाए, तो एक-दूसरे की प्रेरणा अधिक सम्भवकारी नहीं है। जब फिर कोई भी इस सम्भवकारी है ? यह इसलिए सम्भवकारी होना चाहिए क्योंकि उसके बिना एक ऐसे मानिसपूर्ण तथा पालनपूर्ण समाज का निर्माण नहीं हो सकता जिसमें प्रथम तीन रहे, सम्भोजी की रक्षा हो और पदाधीन का विनिमय किया जा सके। दोनों प्रकार के वास्तव इस एक मूल में घटते बहते हैं। यदि प्रथम कुछ जाए कि मनुष्य व्यवस्था कायम रखने और सम्भोजी की रक्षा करने के लिए क्यों तैयार होते हैं तो इसके दो उत्तर हैं—कुछ तो वे उन्मिष्ट होते हैं क्योंकि इसके मनुष्य की स्वार्थ बुद्धि में सहायता मिलती है और इसे इसलिए कि निष्ठा एक ऐसी वास्तव है जो विश्वास के द्वारा मानु की जाती है

और इन्हें यह समझ दिली जैसा उद्देश्य की प्रति ही समुदाय की प्रकृति का एक घटक बन जाती है।

छद्म का प्रभाव (Influence of Home)

राजनीतिक विचारों की छद्म का कोई विशिष्ट अनुभाव नहीं है तथापि राजनीतिक कर्तव्य की विस्तृत रूप से मानवीय एवं सार्वत्रिक व्याख्या करके उसने राज-दर्शन को एक नवीन विधा प्रस्तुत करने की है। राजनीति की भावना के पोषण में सम्प्रदाय और उपयोगिता पर बल देकर उसने राजनीतिक समस्याओं के प्रति समाजवादी दृष्टिकोण की नींव रखी। इस प्रकार यह उपयोगितावादी विचारधारा का पूर्व-सूचक बन गया। कैम्ब्रिज के जर्मनों ने "यदि छद्म के तर्क की बुनियादी बातों को स्वीकार किया जाए तो इस बात की सुविधा से ही प्रकीर्ण किया जा सकता है कि अपने प्राकृतिक अधिकार, स्वतन्त्र स्वयं सन्तुष्टि और सम्पूर्ण समाजवादी नीतिकला के विचारों के सम्पूर्ण विवेकाधीन दर्शन को नष्ट कर दिया। अविश्व अधिकारी समाज प्राकृतिक भाव और स्वतन्त्रता के स्वतन्त्र पर बल देकर उपयोगिता रह जाती है। यह उपयोगिता वांछनीय के रूप में समाज सामाजिक विचारों के रूप में प्रकट की जा सकती है और साधारण के कुछ ऐसे विचारों को के रूप में प्रकट होती है जो मानवीय प्रयोजनों की विधि करती है।" सामाजिक अनुभवों और वैश्विक अधिकारवाद का सम्भव करने छद्म में समाजवादी राजनीतिक विचारधारा के सम्पूर्ण प्रसारण की ही हिता विता और विचारों को यह सिरे से नीचे के लिए प्रकट कर दिया।

यद्यपि राज-दर्शन में छद्म का सीमांत विवेकात्मक न होकर सम्भवतः एक ही और दृष्टि, जैसा तथा जैसी के समान उसने कोई कल्पना मोलिक रूप नहीं दिया है, तथापि उसके कुछ निम्नलिखित सिद्धांतों से उसका स्वरूप प्रतीयमान है। ब्रिटिश अनुभववादी दर्शनियों में उसका स्वरूप प्रतीयमान है। जैसा तथा जैसी के विचार अनुभववाद की प्रकृति की भी, उसकी परिपक्व छद्म में देखने की मिलती है। छद्म के तीव्र अनुभववाद और समाजवाद परिरूपों में कदापि समाजवाद, समाजवाद और समाजवाद को अपने में प्रकट किया, तथापि एक ही परिरूप यह निम्नलिखित विचारों का सम्भवतः एक ही परिरूप है जैसा तथा जैसी के विचारों में प्रकट किया जा कि छद्म के विचारों में उसे (कल्पना को) सम्भवतः ही निम्नलिखित के समान है। यदि छद्म अपने परिरूपों में प्रकट तो उसका सामाजिक प्रभाव कम नहीं होता। पर समाजवादी नीतिकला सामाजिक विचारों और समाजवाद के विचारों में उसने उसकी प्रभाव प्रकट की कि बुद्धिजीवी रूप जैसा विचारों में, सम्भवतः करने में प्रकट रहा।¹

एडमण्ड बर्क (Edmund Burke)

एडमण्ड बर्क अपने समय की ब्रिटिश राजनीति में भाग लेने वाला महान् विचारक था। उसके महत्त्व की इजित करती हुई सेबाइय ने लिखा है, “दर्शन की भारी भरपूर किन्तु अन्ध प्रवृत्तिका, जो जीवन के आदर्शवाद में परिणति को पहुँची थीर जिम्मे 18वीं सताब्दी में आधुनिक विधि का स्थान ग्रहण किया, बर्क की महत्त्वपूर्ण है। 18वीं सताब्दी का बड़ी एकमात्र ऐसा विचारक था जिम्मे राजनीतिक परम्पराओं की धर्म की आस्था से ग्रहण किया तथा उसे (राजनीतिक परम्परा की) एक ऐसी देव-वाणी माना जिससे राजकर्मियों को प्रेरणा हो परामर्श करना चाहिए।”¹

बर्क की जीवनो और कृतियाँ

बर्क का जन्म, यह विचारालय है। पर अधिकांशतः उनका जन्म आयरलैंड में 12 जनवरी सन् 1729 को डबलिन में हुआ माना जाता है। बर्क का पिता प्रोटेस्टेंट था और माँ कैथोलिक। उन पर माँ का ही बड़ा प्रभाव पड़ा। पारिवारिक सन्धिमुक्त और सुधारवादी गुण बर्क की अपने माता-पिता में विद्यमान थे मिले। ट्रिनिटी कालिज में स्नातक होने के बाद उसे बनारस की प्रेषा पाले के लिए 1750 ई. में लम्हा भेजा गया। किन्तु बर्क की धर्म साहित्य में थी। सन नाराज होकर पिता ने उसे आर्थिक सहायता बन्द कर दी और बर्क लेखन तथा पत्रकारिता में अपनी आजीविका चलाने लगा। सन् 1756 में उसके दो निबन्ध ‘A Vindication of Natural Society’ तथा ‘Philosophical Inquiry into the Origin of our Ideas on the Sublime and Beautiful’ सुप्रसिद्ध प्रकाशित हुए। अपने राजनीतिक और आर्थिक चिन्ताओं का अधिष्ठान्ति विवरण देने वाले ‘Annual Register’ नामक वार्षिकी का प्रकाशन आरम्भ किया। इसके बर्क की आजीविका तथा साहित्यिक स्वाति प्राप्त हुई और साथ ही राजनीतिक क्षेत्र में प्रेषा सम्पन्ने पड़ा।

सन् 1759 के आस-पास वह आयरलैंड के बन्नी डिमिशन हेमिन्टन का और सन् 1765 में प्रथमकायी लॉर्ड रालिफ का निजी सचिव बना। 1765ई. में ही वह ब्रिटिश लोकसभा का सदस्य चुन लिया गया और उसी 30 वर्षों तक द्विप पार्टी का नेतृत्व करता रहा। अवसरतः भाषण-कर्ता और अपने दल के ‘सहितक’ के रूप में उसने भारी स्वाति पाविया की। गुण की सुनु और पारिवारिक अतात्ति के कारण 1794 ई. में उसने सदस्य की पदव्यता से त्यागपत्र दे दिया। जीवन के लेप जीवन बर्क उसने आतिपूर्वक व्यतीत किया, किन्तु अन्ध राज्य-प्राप्ति की चिन्ताओं से वह अप्रभावित न रह सका और 3 जुलाई सन् 1797 को सुनु तक उसकी नेतृकी अन्ति के निरुद्ध लिखी गई।

कर्म एक लेखक के रूप में उतना सफल नहीं हुआ जितना व्याख्यान-दाता के रूप में। उन्होंने जो कुछ भी लिखा, जल्दी अधिकांश उसके भाषण ही हैं। इसी में हम उसके राजनीतिक विचारों का आभास होता है। उसके भाषणों और कृतियों में निम्नलिखित प्रत्येकीय हैं—

- (1) Speech on Conciliation with America, 1775.
- (2) Speech on American Taxation.
- (3) Vindication of Natural Society, 1756.
- (4) Causes of our Present Discontents, 1770.
- (5) Reflections on the Revolution in France, 1790.
- (6) Appeal from Old to New Whigs, 1791.
- (7) Thoughts on French Affairs, 1791.

वर्क ने ऐतिहासिक एवं सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों का अध्ययन किया।
 मनेक कर्मकाण्ठी के समाधान के लिए उन्होंने ऐतिहासिक के दृष्टी का निरीक्षण किया।
 उन्होंने विचार किया कि ऐतिहासिक अध्ययन द्वारा हमारी समस्याओं की मूलभूत
 का क्या है। वर्क मनुस्मृतियों में भी विचारों का प्रयोग या भीर इस तरह की
 व्यवस्थितताओं में था।

बर्क की समकालीन परिस्थितियों और उनका प्रभाव
(*Barker's Contemporary Conditions & Their Influence*)

यहाँ पर अपनी सचकातीय परिस्थितियों का बड़ा प्रभाव पड़ा। विशेष रूप से निम्नलिखित बातों के उसके राजनीतिक जितना को प्रभावित किया—

प्रथम, जिस समय बर्मे ब्रिटिश नीतिमता का मद्देन बना, उसमें और राजा के सम्बन्ध में कुछ नहीं है। राजा मन्सू की प्रधानशुल्क बढ़ावा चाहता था और विरोधी सख्त सरकार राजा की इस प्रवृत्ति के समुच्च है। उससे स्पष्ट ही कि अन्तर्धत्तर विस्तृत किया जाए और राजा अपने सम्बन्धों से वह-साथ पहुँचाने के अधिकार का दुरुपयोग न करे। दुर्भाग्यवश इस समय जिन वक्त की नई पीढ़ी के युवकों में पुरानी पीढ़ी की-सी नैतिकता नहीं रही थी। राजा के पूर्व और लातन देकर सख्त के अपने सम्बन्धों का बहुधा स्थानित कर लिया था। बर्मे इस सम्पूर्ण वातावरण से बहुत ही दुःखी हुआ। एक और उसके लिए राजा का मानवता का प्रतिबन्धन का तो दूसरी ओर उसे यह भी विचार्य था कि अखिर सख्त देव और नक़्क़ा के प्रति कृपण से अपना कर्तव्य नहीं निभा रहा है। बर्मे का विचार था कि विरोधी पक्ष की मति भी बहुत-कुछ जल्दी ही पालक की विजयी राजा की दृष्टिसे। वह राजतन्त्र और लोकतन्त्र दोनों के समिवादी विचार के सितारक था और मध्यम मार्ग का समर्थक था।

द्वितीय, तात्कालीन ब्रिटिश नीति अमेरिकन उपनिवेशों के प्रति उन्नीसवीं सदी के अन्त्य तक के कारणों के कारण ही अमेरिकनियों के विरोध भयंकर रहता था। उन्हें को अन्त्यान्त और अन्त्यान्त से पूछा भी, अतः उसने उपनिवेशों का पक्ष लिया तथा ब्रिटिश सरकार की नीति की प्रालोकना की।

राजनीतिक प्रार्थी है। धर्मशास्त्रीय जाल में भी यह समाज और राज्य में समष्टि नहीं। हम राज्य धर्मवा समाज के बाहर उसके प्रतिस्तर की सम्भावना स्वीकार नहीं कर सकते। बर्क ने राज्य और समाज के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं खींची। व्यक्ति समाज में रहकर ही अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता है। बर्क के ही शब्दों में, 'समाज धर्मवा राज्य एक सार्वभौमिक है जो सभी विज्ञानी में, सभी कलाओं में, अनेक कर्तुषु में और समस्त पूर्णत्व में होती है। इस प्रकार की सार्वभौमिक के लक्ष्य की प्राप्ति एक जो क्या अनेक पीढ़ियों के भी नहीं की जा सकती, भले राज्य केवल पीढ़ित व्यक्तिओं के बीच की ही नहीं, बल्कि कृतकों और माने माने जाते के बीच की भी एक सार्वभौमिक हो जाती है।'

बर्क राज्य और व्यक्ति धर्मवा समाज और व्यक्ति के सम्बन्ध की प्रति प्राचीन जाल में चलता या रहा मानता है। समाज धर्मवा राज्य एक जागरण मरवा है तथा व्यक्ति की समस्त साम्प्रदायिक सम्पदाएँ समष्टि समाज की सारभरता में ही प्राप्त होती है। प्राप्ति में जब तक जो कुछ प्रविष्ट किया है, चाहे वह वैदिक प्राचीन हो या कला ही या ज्ञान-विज्ञान ही, उस सबका प्रसार समाज और सामाजिक परम्परा द्वारा होता है। समाज की सारभरता का अर्थान है कि "मनुष्य मनुष्य के समस्त कोरी तक पहुँच जाए। नही सम्पत्ता और सर्वदा के बीच का घन्तर है। यह कोई भार या बोझ नहीं है बल्कि मानव-वृद्धि का शुभा द्वार है।"

बर्क के राज्य के माध्यमिक विद्या की कारण उन वैदिक विद्वान् से भेद नहीं जाती की जिसे गुरु जल राज्य के वैदिक अधिकार को दो-आध्या के उत्तर में प्रस्तुत करते थे। द्विज होने के नाते बर्क ने यद्यपि भविष्य विद्या विद्या की पूरी तरह नहीं दूखवाया तथापि अपने विचार इन इन के अनुसार कि वह विद्वान् विद्वेक और महत्वहीन ही गता। इस सम्बन्ध में स्पष्ट बर्क के ही अन्त उत्तेजनीय है—

"समाज मानव में एक सम-सीता है। सामाजिक स्थान की वृत्ति के लिए लिए जाने जाते छोटे छोटे सम-सीतों को दृष्टानुसार जब किया जा सकता है। लेकिन, राज्य की जाली निर्धे और कटुता, पाप या सम्पत्ति धर्मवा ऐसे ही पाप परिवार कारीबार के द्विभेदारी की सम-सीत के समान नहीं सम्भवा चाहिए जिसे मोह बरसाई स्वार्थ के लिए कर लेते हैं और जब दोनों पक्षों में के कोई बाधता है तो मन कर देते हैं। इस प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखना चाहिए। इसका कारण यह है कि यह बरसाई और परिवार पक्ष जीवन के लिए पक्षों में रहने वाली वस्तुओं के द्विभेदारी नहीं है। यह द्विभेदारी पूर्ण वैधानिक है। यह द्विभेदारी पूर्ण कर्मात्मक है। यह हर प्रकार में और हर वयास में पूर्ण द्विभेदारी है। पूर्ण इस प्रकार की द्विभेदारी का लक्ष्य कई पीढ़ियों के भी प्राप्ति नहीं किया जा सकता इसलिए यह द्विभेदारी व केवल उन लोगों के ही की जाती है जो जो रहे हो बौद्ध जन्मे भी की जाती है जो मर चुके हैं अपना जिन्दे जन्म देता है। अनेक विविध राज्य का अनेक सम-सीत

सामयिक समाज के महान् प्रादिकालीन समझौते में एक भार-भार है। एक स्थिर समझौते के अनुसार यह निम्न प्रकृति को उच्च प्रकृति से, दुःखमान जन्म को सुखमान जन्म से जोड़ देता है। यह स्थिर समझौता एक ऐसी सार्वभौमिक व्यवस्था द्वारा स्वीकृत होता है जो समस्त भौतिक तथा समस्त नैतिक प्रकृति को अपने-अपने नियत स्थान पर स्थिर रखती है।¹

स्पष्ट है कि इस व्यवस्था में बर्क समाज के विचार को समाज के लिए ही और वह भी अपनी ही पर व्यवस्था है समाज व्यवस्था में ही वह उसका व्यवस्था ही करता है और सामयिक व्यवस्था को स्वीकार करता है। यह समझ कि राज्य की हितकारी न केवल उन लोगों के ही जाती है जो जो रहे हो बर्क अपने भी की जाती है जो मर चुके हैं समाज किन्हे जन्म देता है और वह स्वीकार करता कि मनुष्य जन्म और मरण की प्राप्ति हेतु, न कि क्षणिक भौतिक हित-साधना की दृष्टि से सामयिक हितकारी करता है, समाज (Contract) समझ की पूर्णतः निरर्थक कर देता है। इससे ही राज्य के सामयिक स्वरूप का प्रतिष्ठापन होता है।

हमने देखा है कि बर्क राज्य को एक व्यवस्था की भाँति मानता है। उसके अनुसार राज्य का विकास भी व्यवस्था की भाँति होता है और उसमें एक प्रकार का जीवन होता है जो समयानुसार एवं परिस्थितियों के अनुसार विकसित एवं परिवर्तित होता रहता है। प्राचीनकाल की मर्यादें प्राचीनकालीन परिस्थितियों के अनुकूल थीं। वर्तमान काल की समस्याओं की वर्तमानकालीन परिस्थितियों के अनुकूल होना चाहिए। उनमें नवीन वातावरण, नवीन समस्याओं एवं नवीन परिस्थितियों के अनुसार सुधार और परिवर्तन हो जाना आवश्यक है। सभी समस्याओं, कानूनों और मनुष्यों के अधिकारों में वर्तमान काल की परिस्थितियों के ही अनुकूल परिवर्तन किए जाने चाहिए। किन्तु वे परिवर्तन व्यवस्था के प्रतिष्ठापकों द्वारा ही होकर हीरे-हीरे होने चाहिए। बर्क मानते परिवर्तन में महती प्रकट नहीं करता। यह व्यवस्था के अनुसार हीरे-हीरे का व्यवस्था है क्योंकि पूर्ववर्ती विचारों में कुछ न कुछ समा समाज द्वारा करता है, चाहे वे विचार बर्क ही हो जाएँ। इसी दृष्टि से उनमें मानते एवं प्रतिष्ठापकों परिवर्तन करना अपना विचार करता है। बर्क का कहना है कि प्रत्येक समस्या एवं समाज का आधार देवी होता है और उनमें प्रतिष्ठापकों परिवर्तन करना देवी व्यवस्था के विरोध में जाना है। सुधारन व्यवस्थाओं एवं समाजों को एकदम विरुद्ध कर देना किसी प्रकार भी उचित नहीं है। उनमें ही व्यवस्था के अनुसार हीरे-हीरे सुधार करने का प्रयत्न करना चाहिए। बर्क के इन विचारों में हम उसे अनुसारकों सुधारकों की ओरों में रख सकते हैं। इन विचारों के कारण ही उनके बर्क समाज द्वारा की गई समस्त व्यवस्था के सामयिक विकास की रद्द करने की नीति का विरोध किया और प्रतिष्ठापकों

विचारों का प्रभाव था कि वह उनका ही था कि नहीं था।

की नष्ट करके एक तुर्कवा नवीन सरकार और समाज का निर्माण करना चाहते थे। बर्क के अनुसार राजनीतिक कला ही एक बात है कि एक घटना में परिवर्तन करके उसे कायम रखा जाए और जो लोग परिवर्तनों की योजना बनाते हैं तथा उनका निर्देशन करते हैं, वे अपने विद्वान् भूतकाल के अनुभव से हैं।

बर्क ने समाज व्यवस्था कायम की एक दिव्य नैतिक व्यवस्था का भाग माना और इस प्रकार 'दिव्य कला की देवी योजना' (The Divine Tactics of History) प्रस्तुत की। इस सम्बन्ध में बर्क के विचारों का स्पष्टीकरण मानते हुए हेनरिड ने लिखा है कि—

“बर्क राज्य के प्रति अद्भुतपूर्ण दृष्टिकोण के कारण हुए तथा उपरोक्तवादिनों से निरन्तर प्रभावित थे। उनके छोटी-से बड़े-साधारण सम्बन्ध व्यवस्था रहना था लेकिन इसका सर्वोपर्योक्ति नहीं था। बर्क ने आश्चर्यजनक राजनीति का धर्म के साथ सम्बन्ध कर दिया था। यह बात केवल इसी बर्क से नहीं गयी थी कि वह खुद एक धार्मिक व्यक्ति था, उसका विचार था कि सर्वोपर्योक्ति धार्मिक प्रतिभता से प्रभावित है। उनके घरेलू धर्म की रचनाओं को राज्य के लिए प्रभावित दृष्टिकोण माना था। यह बात इस धर्म से उदाहरण नहीं थी कि वह सामाजिक व्यवस्था, उसके इतिहास, उसकी समस्याएँ, उनके बहुमुखी कर्तव्यों और विधायी की धार्मिक धर्म के भाग से देखता था। उसमें यह भावना केवल धर्मवाद के प्रति ही नहीं थी, प्रामुख्य किसी भी प्राचीन समस्या के प्रति थी। उनमें इसी विचारों के कारण ईश्वर दृष्टिकोण कल्पना और धर्म, दृष्टिकोण की कड़ी-कड़ी प्रतीति थी। बर्क के मन में भारत की प्राचीन समस्या के प्रति आदर का भाव था और वह चाहता था कि भारतीयों का जीवन उनके अपने विद्वानों के अनुसार होना चाहिए, धर्मों के विद्वानों के अनुसार नहीं। बर्क का यह भी विचार था कि ईश्वर दृष्टिकोण कल्पना ने केवल जीवन को दिया है और प्राचीन समस्याओं की नष्ट किया है। जीवन की समस्या के प्रति भी बर्क ने बड़ी सावधानी भाव था। यद्यपि ईश्वर केंद्रित धर्मोपदेशों का और बर्क ने यह कभी नहीं माना कि कोई भी समाज व्यवस्था कायम केवल मानवीय विचारों का ही विषय है। वह उसे एक ऐसी दिव्य नैतिक व्यवस्था का भाग मानता था जिसका अविच्छेद्यता ईश्वर है। यह यह भी नहीं समझता था कि प्रत्येक राष्ट्र पूर्ण तरह से सम्पूर्ण है। जिस प्रकार प्रत्येक अनुभव का अपने राष्ट्र की रचना और समस्याएँ व्यवस्था में स्थान होना चाहिए, उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र का उस विश्व-व्यापी समस्या में एक स्थान होना चाहिए जो 'देवी योजना' के अनुसार व्यवस्था उत्पादन करती है। इतिहास की इस देवी योजना में बर्क की यह भावना नहीं गयी थी। जब वह व्यक्तिगत धार्मिक की साधनेना करते-करती यह बना, तब एक स्थान पर इतिहास की देवी योजना से उसकी यह भावना अन्तिम के प्रति उभर प्रारम्भ प्रारम्भ-भाव में भी आये वह यह और उसके बड़ी निर्णय के साथ लिखा, “जहाँ कोई बहुत परिवर्तन आने की ही है ता जो लोग मानक-मान

साधारणों को इस तल्लिवाली धारा को रोकने की चेष्टा करते हैं, वे केवल मनुष्य की योग्यताओं का ही नहीं, प्रगल्भ मान्य की साक्षरियों का भी विरोध करते हैं।" सामाजिक व्यवस्था और उसके विकास से बड़ी चुनिकार के बारे में बर्क के विचार हीनन के विचारों से बहुत मिलते-जुलते थे।¹

वास्तव में बर्क ऐसा उत्तार कटिनादी विचारक था जिसके हृदय में यूरोपन के प्रति श्रद्धा के भाव से घोर की उस ब्रिटिश प्रजाती का सर्वोच्च या निम्न से सल्लि भविष्यवाणी कुली के बुद्धिमान स्थितियों के हामी में निहित थी लेकिन जो साथ ही अन्धता की स्वतन्त्रता का हिमालयी या घोर रात, घनरातार तथा भ्रष्टाचार का तानु था। बर्क ने हिंसक और विचारक जैसे आन्तरिकारियों की जिन कठोर शब्दों में अग्रगण्य की, उनमें होने उसके कटिनाद के सुन्दरतम दर्शन होते हैं और ब्रिटिश प्रजापारी नीति के प्रतिक्रियात्मक रूप उत्पन्न हुए पथेतिन भौतनिधेतिन निरीह का भी उसने समर्थन किया तथा भारत में ईस्ट इन्डिया कम्पनी के काले कारनामों पर भी उसने कठारे प्रहार किए, उनमें हम उसके उदारवाद को साकार कर रहे हैं।

संविधान, संसदीय प्रतिनिधित्व और राजनीतिक दल (Constitution, Parliamentary Representation and Political Parties)

बर्क ने संविधान के एकत्र, संसदीय प्रतिनिधित्व और राजनीतिक दलों के महत्व के बारे में भी विचार प्रकट किए हैं। उसका कहना था कि संविधान तथा समाज की परम्परा की बर्क-भावना से चलना चाहिए क्योंकि उनमें सामुदायिक बुद्धि और सम्पदा निहित है। ब्रिटिश संविधान के विषय में वह लॉक के सहमत था कि यह संविधान आज़न, कोई सभा और लोकमान का सम्पुनन है। उसी के शब्दों में "हमारा संविधान प्रयोग-विज्ञ (Pragmatism) है। यह ऐसा संविधान है जिसका एकमात्र प्रमाण यह है कि यह विरचना से हमारे परिणाम में रहा है। आधे गेज, मॉर्डे, स्वाभाविक, गुरी-छोटे और बड़े के सब परम्परा पर आधारित हैं। विर-भोगाधिकार समस्त अधिकारों में महत्वपूर्ण है। यह बात केवल सम्पत्ति के सम्बन्ध में ही नहीं है बल्कि सामन के सम्बन्ध में भी रही है। यदि कोई सामन-प्रजाती विर है तो उसके सम्बन्ध में यह बारम्बार की जा सकती है कि उसके सभी राष्ट्र कापी दीर्घकाल में रहा है और उसके उत्पत्ति की है। यह बात उस सामन-प्रजाती के विरोध में विशेष रूप से जानू होती है जिसकी साक्षरता न की गई हो। सामाजिक निर्देशनों द्वारा केवल स्वाधी शासनो का निर्माण होता है। अतः राष्ट्र भी प्रयोग-विज्ञ संविधान को ही सम्मद करता है। इसका कारण यह है कि राष्ट्र केवल स्थानीय महत्व का ही विचार नहीं है। उसमें स्थितियों के पक्षकारिक सम्पुनन का भाव नहीं है। राष्ट्र में विरचना का भाव होता है। राष्ट्र समय, सत्ता और स्थान इन तीनों में फैला होता है। यह एक दिन सत्ता

एक राष्ट्र के लोगों की पसन्द नहीं है। वह किसी अनुशासनहीन और बेचर घान्त के परिणामस्वरूप नहीं बनता। इतिहास ऐसी चीजों से मिलकर बनता है जो पसन्द के 10 हजार गुनी बेहतर होती हैं। वह कुछ निश्चित परिस्थितियों, अवसरों, स्वभावों, प्रवृत्तियों और अन्यता की नैतिक, वापरिक तथा सामाजिक आदतों के फलस्वरूप बनता है। वे सभी चीजें बीजकाजावधि से ही अपने विचार स्वभा कर चली हैं। जब अनिष्ट और समुदाय दोनों ही बिना बीच-बिचार के कार्य करती हैं तो कुछ होती है। लेकिन जाति सदैव बुद्धिमान होती है। जब उसे समय मिल जाता है और वह जाति के रूप में कार्य करती है तो सदैव ही सही होती है।¹ बर्क के इतिहास सम्बन्धी विचार, उस परम्परा में से जो मॉक ने हफर से ग्रहण की थी।

बर्क सांविधानिक विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया की अवरोध करने का समझती नहीं था। इसलिए उसने जर्मन दूतों के ऐसा करने केन्द्रवादी का विशेष विरोध किया। अपने प्रतिरोध में बर्क ने जो शब्द बड़े से निम्न हो महत्वपूर्ण हैं—“हमारा इतिहास एक ऐसे मूल्य अनुपम पर लक्ष्य हुआ है जिसके बारे में और धारु बहुत हैं और समाज सावर हैं। यदि हम इसे एक और कुछ अधिक भुजने के लक्ष्य में बचाते हैं तो इसके दुखी और मुक्त जाने का लक्ष्य रखा हो जाता है। हमारी रीति अति सामान्य-व्यवस्था में कोई आधारभूत परिचय करना ऐसी कठिनाई से परिपूर्ण है जिसमें कोई विचारहीन व्यक्ति उसका विरोध करने की और कोई दूरदर्शी व्यक्ति इसे कियाविलय करने की और कोई ईमानदार व्यक्ति उसका बचन देने की एकदम तैयार नहीं हो सकता।” बुरे (Murray) का कहना है कि “एक शब्दों में बर्क ने अपने इस मौलिक विचारों को संक्षुप्त किया है कि राज्य में कोई मानव-कृत व्यवस्था होकर एक प्रति अतिरिक्त ऐसा कारण है जिसके स्वरूप को निर्धारित करने में व्यक्तियों के समूहों ने निम्न हो लक्ष्य बना रहेका है किन्तु जिसके विकास का लक्ष्य की कोई व्यक्ति पूर्णतः नहीं समझ सकता। बर्क का विचार था कि राज्य के विकास का रूप एक नहीं होता तक ऐसी शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है जिसे कोई भी व्यक्ति पूर्णतः नहीं समझ सकता और जब व्यक्ति किसी परिवर्तन के सम्मुख होते हैं तो उन्हें चाहिए कि वे ऐसा कार्य करें बीच-बिचार कर तथा समय के साथ करें क्योंकि वह कोई नहीं कह सकता कि उनके कार्यों के क्या परिणाम होंगे—हो सकता है कि उनके परिणाम अनुपम लक्ष्य के समान आधारभूत हिली के विपक्ष हो।”²

उल्लिखित का अनुमान करने के बावजूद भी बर्क मानता था कि निम्न-व्यवस्था का निम्न स्वी होता चाहिए। विरोधियों की मर्जी का समझना देते हुए जो उसका विचार था कि सब्द में मौलिक सुधारों की आवश्यकता नहीं है। उसने

1. वेयरन। राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृष्ठ 570-571.

2. Murray: Introduction of Political Philosophy, p. 141.

ब्रिटिश संविधान में मौलिक परिवर्तन करने वाले ऐसे सभी प्रस्तावों का विरोध किया जिसमें मज़दूरों को स्थावर बनाते, ज़मीन खेती का प्रतिनिधित्व करने और उनकी बीमारियों (Medical Blemishes) के संदर्भ में दो प्रतिनिधित्व देने की व्यवस्था की स्थापना करने पर मत बिता गया था। संसद में एक भाषण ऐसे हुए उसने यह स्पष्ट कर दिया—“यह ही एक समय और न किसी समय में यह बात दुरुस्तितपूर्वक होगी कि हम अपने संविधान के मौलिक सिद्धान्तों और प्राचीनकाल से सुपरिचित परम्पराओं में कोई सुधार करें। हमारे प्रतिनिधित्व की व्यवस्था नगण्य उतनी ही पूर्ण है जितनी मानवीय मामलों में आवश्यक अनुज्ञा के साथ सम्भव है।”¹ बर्क के अनुसार प्रतिनिधित्व का अर्थ यह नहीं होता कि जनता के अधिकतम भाग को प्रतिनिधियों का निर्वाचन करने के लिए मतदान का अधिकार प्राप्त हो। “व्यक्तिगत अधिकारों का प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता और देश के परिवर्तन लोकमत में तथा सम्बन्धी बहुमत का कोई स्वाध नहीं होता। उसका कहना था कि वास्तविक प्रतिनिधित्व यह है जिसमें किसी की इच्छा हो और भावनाओं तथा इच्छाओं की सहानुभूति हो।”² संक्षेप में बर्क ने एक ऐसे संसदीय शासन की कल्पना की जो एक सुव्यवस्थित वैश्व सार्वजनिक व्यवस्था में अनुज्ञापूर्वक मतसम्बन्ध बन के केन्द्र में स्थापित हो।³ बर्क ने जिसका के निर्वाचकों के सम्मेलन को भाषण दिया था उसमें उसने बताया कि निर्वाचित शासन अपने निर्णय तथा कार्य में बाधित होता है। जब प्रतिनिधि एक बार निर्वाचित हो जाता है तो वह सम्पूर्ण राष्ट्र और साम्राज्य के हितों के प्रति उत्तरदायी होता है। उसका यह अधिकार होता है कि वह अपनी बुद्धि का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग करे, चाहे वह उसके निर्वाचकों की इच्छा के अनुकूल हो या न हो। सदाचरने निर्वाचकों के साथ विधि तथा शासन के सिद्धान्तों को सीखने के लिए नहीं जाता। सदस्य का निर्वाचन-क्षेत्र उसके लिए वाज्यमाना नहीं है।⁴

राजनीतिक दलों के बारे में बर्क के विचारों का इतना ही उल्लेख कर देना पर्याप्त है कि उसने संसदीय शासन-प्रणाली में राजनीतिक दलों के महत्व को पहचाना और जॉन लुकीन को उन बीजगणियों का उद्धार कर विरोध किया जिसने वह गण-प्रणाली पर बाधक पड़ करवा पाहुता था। वह द्विपक्ष दल का भीर्षस्व नेता था जिसने दल को समुचित रूप से व्यवस्थित किया। बर्क ने राजीव सरकार का क्षेत्र सम्पूर्ण राष्ट्र का कक्षाया बताया। उसने राजनीतिक दल की यह सुविधाएँ परिभाषा की—“दल उन व्यक्तियों का एक समुदाय है जो अपने समुदाय प्रणाली में किसी विशिष्ट सिद्धान्त पर एकमत होकर राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि का उपाय करते हैं।”

बर्क ने राष्ट्रीय प्रणाली के दल आधारित सिद्धान्त को स्थापित किया कि दल के सभी सदस्यों को एक-दूसरे के रूप में कार्य करना चाहिए तथा ऐसे किसी

1. Marry : The History of Political Science from Plato to the Present, p 395.

2. वैराग्य : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 373.

समझना हमें नेतृत्व की स्वीकार नहीं करना चाहिए जो दलील विद्वानों के विपरीत हो। इन के प्रति अपनी निष्ठा के मार्ग में व्यक्तिगत विचारों को बाधक नहीं बनने देना चाहिए। राजनीतिक दलों की मान्यताओं पर जब देखें हुए वहाँ ने कहा कि व्यवस्थापिका के सदस्य अपने समझत प्रवासों से ही राष्ट्रीय हितों को प्रतिबुद्धि कर सकते हैं। यदि समान विचार वाले व्यक्ति परस्पर मिल जाते हैं तो वे राष्ट्रीय समस्याओं पर प्रभावपूर्वक एवं वे विचार व्यक्त कर सकते हैं। अपने की समान विचार बाधों से कुछ रक्तकर तो व्यक्ति अपनी प्रतिभा और सफलता का स्वयं विनाश ही करते हैं। वहाँ ने चेतावनी दी कि दली का निर्माण स्वयं-हिंस्र के लिए किया जाना पाठक हीना। सर्वत्र नहीं वंशित है कि सामान्य विद्वानों के आधार पर और इन विद्वानों को निवारणक रूप देने के लिए ही इन संगठित किए जायें। वहाँ ने युद्धों का विरोध किया क्योंकि उनका आधार-विद्वान्त वैम नहीं बल्कि व्यक्ति-भक्ति होता है। वहाँ ने विद्वान्ताहीनता से भिन्न थी। अतः उसने समुदाय सरकारों का भी विरोध किया। उसने कहा कि संघीयता (Coalition) ने प्रायः विद्वान्ता का परिणाम कर दिया जाता है। विद्वान्त लोक बैठने पर संघीयता प्रभावपूर्ण और कमितीहीन हो जाता है। दुर्भाग्यवश यदि उनका ध्येय जीवित करना हो तब तो वह राष्ट्र और समाज के लिए अक्षरणाक बन जाता है।

अधिकार, सम्पत्ति, उन्नति आदि पर वहाँ के विचार (Barks on Rights, Property, Revolution etc.)

अधिकार

वहाँ के अनुसार मानव स्वभाव से राजनीतिक होता है और राज्य से बाहर रहकर अपना जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। इस निश्चिती से उसके सभी अधिकार राज्य द्वारा सीमित हैं। हम ऐसे किसी प्राकृतिक अधिकारों की कल्पना नहीं कर सकते हैं जो राज्य की परिधि से बाहर हों। अधिकार वे ही हैं जो राज्य की ओर से प्राप्त होते हैं। केवल यह यह है कि राजकीय नियम ईश्वरीय नियमों के विरुद्ध नहीं होने चाहिए। ईश्वरीय नियम सर्वोपेक्ष और सर्वोच्च होते हैं।

वहाँ ने कहा कि व्यक्ति को प्राकृतिक अधिकार और समस्त राज्य के अधिकार दोनों प्राप्त नहीं हो सकते, क्योंकि प्राकृतिक अधिकारों का आधार तो राज्य का अभाव था। वह राज्य की स्थापना से पूर्व मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों की चर्चा आधारहीन मानता है। मनुष्य के जो कोई भी प्राकृतिक अधिकार हैं वे राज्य के ही विहित हैं। वह इस विचार की भी स्वीकार नहीं करता कि राज्य के निर्माण से पूर्व मनुष्य को भी प्राकृतिक अधिकार प्राप्त थे वन्हे राज्य की रचना द्वारा धीरे धीरे अपने अधिकारों की स्वीकृति प्रदान की गई। राज्य प्राकृतिक अधिकार जैसे किसी भी अधिकार का व्यक्ति को प्राप्त करने नहीं देता और समाज के बाहर व्यक्ति के अधिकारों का कोई परिचय नहीं होता। प्राकृतिक अधिकार राज्य-विरोधी हैं वन्हे पूर्व स्वीकृति देने का अधिकार प्रदानकता व व्यक्ति और समाजकता को निरस्त देता है। और ही राज्य-व्यक्ति के नेता प्राकृतिक अधिकारों के कभीत कल्पित विद्वान्ता की

सुई रूप देने के प्रयत्नों ने ही सम्पूर्ण देश की मातृक और हृदयाकान्ठ की प्रजाता से भग्न कर रहे थे ।

बर्क व्यक्ति के अधिकारों का सम्पूर्ण परिस्मरणों से मानता है । परिस्मरणों के अनुकूल ही व्यक्ति को अधिकार प्रदान किए जाते हैं । राजकीय विधियों पर निर्भर रहने वाले अधिकार ही वैध हैं । राजकीय विधियाँ, देशी विधियों के अनुसरण हैं ।

बर्क ने दो प्रकार के अधिकारों की पची की है—(1) नागरिक अधिकार (Civil Rights), तथा (2) राजनीतिक अधिकार (Political Rights) । नागरिक अधिकार सभी व्यक्तियों को समान रूप से मिलने चाहिए । राज्य की ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिसमें प्रत्येक व्यक्ति इन अधिकारों का उपयोग कर सके । राज्य को यह भी देखना चाहिए कि व्यक्ति इन अधिकारों के उपयोग के प्रति जवाबदार हो सके । राजनीतिक अधिकार बहुत ही प्रभावशाली और महत्वपूर्ण होते हैं। वे कुछ ही व्यक्तियों को दिए जाने चाहिए । समीप्य व्यक्तियों के हृदय से इन अधिकारों के जन्म होने से समाज और राज्य की हानि पहुँचने का डर है । बर्क ने अधिकारों के स्वाधिन का भी विरोध किया है । अधिकार समय और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित तथा उद्योषित होते रहने चाहिए ।

धर्म

• बर्क बर्क-जाल व्यक्ति या जिसका इन्हीं के बर्क से पूर्ण विस्तार था । बर्क प्रत्येक क्षेत्र में धार्मिक भावना का महत्व स्वीकार करता था । राजनीति को भी वह बर्क से निराला था । उसकी मान्यता थी कि धार्मिक भावना के ही कोई व्यक्ति अपना नागरिक नहीं बन सकता । धर्म-भावना समाज के लिए उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार, श्वास और व्यवहार-सुखकटा । धर्म का भावनात्मक अनुपान मानवीय व्यवहारों को सीमित करता और परिचरणा प्रदान कर है । समाज, सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक भिन्न-कल्पों आदि के प्रति इसे धार्मिक भ्रष्टा रहनी चाहिए । दोष-काय के जलती या रही सामाजिक व्यवस्थाओं और परम्पराओं का अनुसरण करने की प्रेरणा प्रभावित कृति है । बर्क ने कहा कि प्रत्येक सरकार और समाज जिस की दैनिक नैतिक व्यवस्था का धर्म है । धर्म धार्मिक कृति-कोल के कारण ही बर्क उपयोक्त-वर्तियों से बहुत भिन्न हो गया ।

अन्ति

बर्क के अन्ति सम्बन्धी विचार 1790 से प्रकाशित उसके पुस्तक 'Reflections on the Revolution in France' में मिलते हैं । इसमें उसने फ्रेंच क्रांति का और विरोध किया है । धार्मिक भावनाओं से प्रेरित बर्क गतिमान का विरोधी था और सत्ता की दृष्टि का समर्थन चाहता था । वहीं उसके धर्म-राज्य शास्त्रियों ने फ्रेंच राज्य और समाज दोनों को सुकट में डाल दिया था तथा सम्पूर्ण राष्ट्र के जीवन की गतिशील बना दिया था । इन अन्ति-विरोधी विचारों के कारण ही बर्क को उनके शाही प्रतिनिधियों समझने लगे थे ।

बर्क का विश्वास था कि प्रभुत्व-क्रान्ति की उद्दाम माहौल और प्रतिक्रियात्मक प्रयोग पर रोक लगाना अनिवार्य है। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति उसे एक विनाशकारी मानव के समान तनीत हुई थी चाहे भीर, अपराधकता तथा अपमानशीलता का प्रसार कर रही थी। वह क्रान्ति राज्यतन्त्र और अभिजाततन्त्र के नाश पर तुली हुई थी और इस प्रकार समस्त भूतकालीन संस्कृति के संचयन कर रही थी। स्वतः, न कि निर्मातु, ही इसका मूल उद्देश्य हो गया था। बर्क के साथ भी क्रान्ति ने खेड़-झड़ की थी। इस प्रकार क्रान्ति अनीतिपरवाद की ओर बढ़ रही थी। बर्क को क्रान्तिकारियों के सभी कामों से घृणा थी। उनका कोशिश हृदय कीसीसी आतंकवादियों के नजरानाओं से की गई। उन्होंने कोमल क्रान्तिकारियों की भावमहाकावी, हिंसक, दम्ब, दुष्ट और आचरणहीन तक बढ़ाया। अपने कहे कि वे क्रान्तिकारी अपने पुकारों को दिवाने के लिए नीति और आचार का नीति या रहे थे। तब, विमुक्त बुद्धि और ऐकाग्रित का आशय लेकर वे नए सिरे से कोमल समाज का निर्माण करने के लगे थे, जो विनाशकारी काल था। बर्क ने यह दुःखद प्रकट किया कि एक सदन में बैठकर पूर्व निर्दिष्ट बौद्धिक इति पर नूतन समाज का निर्माण नहीं किया जा सकता। कोरे सपनापुम्बी वैज्ञानिक आदर्शों पर समाज की रचना का प्रयास दुस्साहस है जो कभी सफल नहीं हो सकता।

यदि हम गहराई से बर्क के विचारों का अध्ययन करें तो स्पष्ट है कि उसे क्रान्तिकारी विचारों से दूर नहीं थी बल्कि विचारमग्न सत्य-तथ्यों के प्रयोग से दूरा थी। वह सामान्य परिचर्य का विरोधी था। वह नहीं चाहता था कि किसी भी परिस्थिति में सत्ता प्रयोग का समूल नाश करके नए सिरे से स्थापन किया जाए। दुर्भाग्य की एकमात्र लक्ष्य कोकने के प्रयास स्वाधीन नहीं कहे जा सकते। अमेरिकन नीति का समर्थन करने केवल इतिहास किया था कि उपनिवेशवासियों की नीति स्वाधीन और आत्मसमक थी तथा उस नीति ने देश निर्देश द्वारा की गई नहीं हुआ था जैसा कोमल नीति थे।

बर्क का भूतपूर्विक एवं प्रभाव (Estimate and Influence of Burke)

आलोचकों के अनुसार बर्क के राजनीतिक विचार यह बताते हैं कि उसने राज्यतन्त्र की सुसंरचना का प्रस्ताव करने की कभी भी। केवल ने लिखा है कि "बर्क के राजनीतिक दर्शन की सुसंरचना के बारे में काफी वाद-विवाद हुआ है। बर्क के विचारों को मानने वाला था लेकिन इसके साथ ही उसने नीति की नीति का विरोध किया था। उसकी इन दो प्रवृत्तियों में क्या समझ थी, इस प्रश्न की लेकर भी काफी वाद-विवाद हुआ है। बर्क के नीति नीति के सम्बन्ध में इस उद्दिष्टना ने उसके विचारों पर के सम्बन्धों और विचारों को समझ कर दिया। उसके समाजवादी यह न समझ सकें कि जिस व्यक्ति ने अमेरिकन स्वतन्त्रता का समर्थन किया था, उसने के ऊपर राजा के नियन्त्रण की आलोचना की थी और

शैल इम्पिया कम्पनी के विहित अधिकारों को सम्मान करने की कोशिश की थी, वही व्यक्ति बहुत जल्दीसे जर्मन के नज़े विरुद्ध हो गया। किन्तु वास्तव में यह गजब धारणा है। बर्क का दर्शन कोई कमजोर दर्शन न था। उसके कुछ रुढ़िवादी विद्वान् थे। उसने जिन विद्वान्‌ओं से प्रेरित होकर जर्मिनि पर आरोप किया था, उन्हीं विद्वान्‌ओं से प्रेरित होकर उसने जर्मिनि की भावना से पहले जारे कार्य किए थे। यह नहीं है कि जर्मिनि की घटनाओं ने उसे डरा दिया था, उसकी बुद्धि को असंतुलित कर दिया था, ऐसी धृष्टता को प्रकट किया था जो सब तक कभी सु-बख्त से छिपी हुई थी और इसके कारण उसकी देखनी के ऐसा मानवसमक मतभार भा गया था जिसने उसकी निष्पक्षता, इतिहास-बोध और उसकी पर अधिकार की नष्टता कर दिया था लेकिन जर्मिनि ने उसे न तो कुछ नए विचार दिए और न उसके पुराने विचारों को बदला। उसके मुख्य राजनीतिक विचार हमेशा एक से रहे।¹

बर्क के विरुद्ध एक गम्भीर आरोप यह लगाया जाता है कि वह परम्पराओं का पुराणी या और ऐसे परिवर्तनों का समर्थन न था जिन्हें पुनरुत्थन परम्पराओं इन परम्पराओं को डेह पहुँचे। किन्तु इस सम्बन्ध में हमें उसके से जम्द नहीं भूलने चाहिए कि "मेरे वास्तव के पूरे उत्तरों वाले राजनीतिक में प्रार्थन की गुरमिष्ठ रखने की प्रवृत्ति तथा साथ ही सुधार करने की कोशिश होनी चाहिए।" पुनश्च, उसने यह भी कहा था कि यदि किसी प्रार्थन मन्त्रा, का विशेष नष्ट हो जाता है तो उसके सम्मान की बनाव रखना धूर्तता है। वास्तव में बर्क डेह रुढ़िवादी नहीं था बल्कि उदार रुढ़िवादी था।

बर्क ने राजनीतिक और साम्प्रतिक अधिकारों का जो विभाजन किया वह व्यावहारिक नहीं कहा जा सकता। पर साद ही यह भी है कि सम्प्रति सम्प्रति उसके विचार पक्षों की भूमि पर डिके थे। सम्प्रति के क्षेत्र में समारता का इतिहास अनुस्य में अभी तक दुर्भाग्यवश साकार रूप में नहीं देखा है। बर्क ने प्रजासत्ताक शासन को प्रोत्साहित करने अपने सम्मान को डेह पहुँचाई है। अपने इन विचारों से अपने वर्तमान जगतकीय गुण के लोभों को भगना विरोधी बना दिया है। बर्क ने अपने विचारों से यह प्रकट कर दिया कि उसने इस बात को कभी नहीं समझा कि वह किन गुण में रहता है। बर्क के गुण में प्रजासत्ताकीय विचार दिन-प्रतिदिन तीव्र होते जा रहे थे किन्तु वह फिर भी राजतन्त्र और अधिपत्यशासन के पीत ना था।

यदि बर्क में ये कमियाँ न होती तो निस्संदेह उसका स्थान सामान्य ही खींच होता। बर्क में लक्ष्मि दोषों की कमी न थी किन्तु राजतन्त्र के क्षेत्र में उसका अनुस्य और जगत कम महत्वपूर्ण नहीं है। उसकी बुद्धि और उसके विचारों से प्रभावित होकर ही जर्मिनि ने दुर्भाग्य के शासन में व्यवस्था लाने का प्रयास किया और जर्मनी ने उसके अनुदारवादी विचारों से प्रेरणा ग्रहण की। बर्क ने

ऐतिहासिक पद्धति को अपने द्रवित स्थान पर पुनः प्रतिष्ठित करके राजनीतिक इतिहास और सामुहिक काल की महान् सेवा की। उसने सामाजिक सम्बंधों के सिद्धान्त का अध्ययन करके राज्य के स्वरूप की सावधानिक विवेचना की। उसने विकासवादी और उत्पत्तिवादवादी विचारधारा का मार्ग प्रशस्त किया। उसने मध्यम मार्ग और सहिष्णुता व समर्थ का प्रतिपादन किया और बताया कि सुधार करते समय कठोरता की तथा उदारता की दोनों धर्मियों (Extremes) से बचते हुए मध्यमार्गी मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। बर्क का अन्य प्रगल्भतापूर्ण कार्य प्राकृतिक तथा धार्मिक अधिकारों के सिद्धान्त का अध्ययन करना था। उसने कहा कि उन्हीं अधिकारों का महत्व है जो दोष हो और जो समाज के अधिकार्यों से उत्पन्न हों। हेनराइत ने बर्क की एक मान्यता की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि "धर्म की क्रांति के विपक्ष उसने जिन्हें प्रतिष्ठित का भ्रम छोड़ा किता उससे एक नवीन परिवर्तन का सुझाव हुआ जिसके कारण सम्बन्धीय प्रकीर्ण सामाजिक दर्शन को साकल्य छोड़कर अपना बचाव करने के लिए विवश होना पड़ा और इसीलिए विपक्षा के मूल तथा परम्परा की शक्ति पर, जिसके ऊपर विपक्षा निर्भर करती है, एक नया बल बिना गया।"¹

बर्क से सुधारवादी विचारों के जिन्हें नवीन सुधारवादी भावना का बीजरोम हुआ, उसका प्रभाव अंग्रेजन पर भी पड़ा। रॉबर्ट्स और कॉलरिज जैसे साहित्यकार बर्क से प्रभावित हुए। फेल्लरसन काहित्य ने, 'Romantic Reaction' की धारा का विकासवाहक हुआ। रॉबिन्सन ने तो यहाँ तक कह दिया है कि, "उत्तरी मानसिक धारा मानव है।" बर्क से प्रभावित होकर बॉर्डे मैकाले ने कहा था—“जिह्म के बाह्य बड़ी हमार देव का महान्तर पुत्र है और कोई मोर्ने के परभाव बड़ी हमार देव का प्रथम भेड़ी का निर्माता है।” मैकाले ने लिखा है—“यह प्रभावों की ओर कीर्तनी प्रभावों के अनुसरवादी तथा ऐतिहासिक सम्प्रदाय का मूल प्रेरणा-स्रोत है। मेन, बीकेन, सीसे, मिचिक, मोरवे बंदि अनुसरवादी विचारों की कृतियों पर उसका बहुत प्रभाव पड़ा।”² मैकाले ने बर्क के महत्व को इन शब्दों में व्यक्त किया है—“बर्क की प्रशंसा करना सरल है और उसके प्रभाव के महत्व को समझना आसान भी सरल है। उसके पूर्ण सुधीन को छोड़ भी दिया जाए तो भी इतना विविध है कि एक विचार-पद्धति के रूप की अपेक्षा उसे कुछ ऐसी लोकोक्तिों के रचयिता के रूप में अधिक धार दिया जाएगा जिन्हें मुता देने का साहस बहुत कम राजनीतिकों को होगा। उनकी विचार-पद्धति अपनी बहुत अधिकवक्तियों में भी हृष्टि एवं संभव की उदाहरणों में कुछ कम महान्तर नहीं है।” मैकाले ने ही धार लिखा है—“बर्क के शेष भी हमें समझ दिये हैं। उसका यह न देखना कि सम्प्रति का कुछ हर्मों में केन्द्रीकरण इतना फलदायक होता है, इन बात का स्पष्ट प्रमाण है कि उसने अनुभव प्रत्यक्ष का निर्लभ अपनी निजी दृष्टियों के माध्यम से करने के

लिए मिलना सामुक्त रहता है ।-----जन-दण्ड का जो उसने निरादर किया है वह उस पातक उपेक्षा की ओर संकेत करता है जिसके साथ हम उन लोगों की दण्ड की सम्मेलन कर देते हैं जो राजनीतिक संघर्ष के सक्रिय केन्द्र से बाहर होते हैं ।¹⁰ मास्को की मान्यता है कि इन सब मामलों के सम्बन्ध हमें हमारे के राजस्वों के इतिहास से बर्त से महान् व्यक्ति और कोई नहीं दिखाई सकता । अपने समकालीन राजस्वों को उसने ऐसी दिशा, आबता तथा सी-विविधता प्रदान की जैसी किसी भी राजनीति से नहीं की ।¹¹ बलिदान पर वैदिक प्रतिबन्ध लगाने का मान्यता समर्थन करते रह कर बर्त ने उदारवाद के वैदिक सम्बन्ध को बहुत कमजोर प्रदान किया । वह अनुसंधान बर्त की बहुत बड़ी देन है ।

उपयोगितावादी : जर्मी बेन्थम

(The Utilitarians : Jeremy Bentham)
(1748-1832)

अपने मौलिक रूप में उपयोगितावाद ब्रिटिश राजनीतिक दार्शनिकता की उपज है। इसके सभी मूल लेखक इंग्लैण्ड के निवासी थे। 19वीं सताब्दी के प्रारंभ में इस दर्शन की इंग्ली महत्त्वपूर्ण भूमिका रही कि इस युग की उपयोगितावादी युग (The Utilitarian Age) कहा जाता है। इंग्लैण्ड में 19वीं सताब्दी के अधिकांश भाग में उपयोगितावादी विचार की प्रधानता रहने के मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान और नैतिक तर्क-वितर्क से लोगों की रचि बढ़ी तथा स्वाभाविक राजनीति के क्षेत्र में सामाजिक सुधार-कार्य और कल्याणकारी विधायन इतने बढ़े पैमाने पर हुआ किना पहले कभी सोचा भी नहीं गया था। डॉ. वेयर के अनुसार, "उपयोगितावाद के प्रवर्तक जेम्स ह्यूम, जोहान्नी और हुचिंसन थे। वेने ने इसका प्रतिपादन किया तथा हेनरिबेस्मिथ और बर्केटिया के विदेशी विचार-स्रोतों के दृष्टका पोषण हुआ।" किन्तु इसकी वास्तवीय और व्यवस्थित रूप देने तथा राजनीति के क्षेत्र में इसे लागू करने का श्रेय जर्मी बेन्थम की ही था। उपयोगितावादियों ने सर्वोच्च विद्वान् और प्रतिभा-सम्पन्न केवस ने ही राज्य द्वारा 'सबिकत्तम सुखा के अधिकतम हित' के पूर्णतः सिद्धान्त की लोकप्रिय और प्रतिष्ठापनी बनाया। वही कारण है कि इसे कई बार केवस के नाम से 'के-यन्थवाद' की भी उता दी जाती है।

उपयोगितावाद का विकास (Development of Utilitarianism)

उपयोगितावाद अपने मूलन रूप में 19वीं सताब्दी का ही दर्शन है तथापि सामाजशास्त्र के एक सिद्धान्त के रूप में इसका सम्बन्ध प्राचीन ग्रीस के ऐपीक्युरियन स्कूल (Epicurean School) से माना जा सकता है। ऐपीक्युरियन विचार के अनुसार मनुष्य सुखोत्तम सुखवादी है, वह सुख की ओर खींचता है तथा दुःख से बचना चाहता है। ग्रीसियों ने राज्य की एक नैतिक सभा मान कर भी उसके उपयोगी रूप की समीक्षा नहीं किया तथा उसे मानक-साधनकलापी की पृष्ठ के लिए पालम्बक माना। 17वीं सताब्दी में सामाजिक-अनुसन्धानियों ने उपयोगितावादी परम्परा का मूल निवास निरूा। ह्यूम ने मनोवैज्ञानिक भौतिकवाद के आधार पर

से साक्षित नहीं होता अतः ऐसे लोग युवाओं का समर्थक है जिससे मानव-कल्याण की अभिवृद्धि हो, मानव के आत्म-निर्माण में सहायता मिले ।

उपयोगितावाद के आधारभूत सिद्धान्त बहुत सरल और स्पष्ट है—

1. उपयोगितावाद एक ऐसा दर्शन है जो किसी वस्तु के दैतिक और भावनात्मक पक्ष पर ध्यान न देकर उसके उपयोगवादी पक्ष को ही देखता है । इसमें सुखवाद (Hedonism) से वैराग्य भी है जिसका आशय है—प्रत्येक व्यक्ति व्यक्तिगतिक सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करता है और दुःख से सर्वत्र बचना चाहता है । उपयोगिता की कुछ-कुछ की व्याख्या से स्पष्ट होता है । किसी कार्य के सन्तोष या दुःख होने की परीक्षा उसके प्राप्त होने वाले सुख या दुःख की मात्रा से की जाती है । दुरा कार्य बुरा है जिसके करने से दुःख होता है और सदाका काम बुरा है जिसके करने से सुख मिलता है । दण्डित जीवन में दूसरी बातों का भी सम्पत्त महत्त्व है तथापि सुख-सम्पत्त सुख और दुःख में ही है । उपयोगितावादी सिद्धान्त 'व्यक्ति के आनन्द' के आधार-विन्दु पर ही खड़े रहता है । व्यवस्थापकी और राजनीतिकी का कर्तव्य ऐसे नियमों का निर्धारण करना है जिनसे व्यक्तिगतिक स्वार्थियों की सुख पूर्ति और उनके दुःख कम हो । स्पष्ट है कि उपयोगितावाद 'साधनानुवृत्तिवाद' (Intuitionism) से भिन्न है जिसके अनुसार कुछ कार्य अपने परिणामों से उत्तर की सम्भावना सन्तोष बचना बुरे होते हैं ।

2.

2. उपयोगितावाद, प्रयोगात्मक और व्यवहार-प्रधान (Pragmatic) है । इसकी पद्धति वाचनानुवृत्ति की निगमनात्मक पद्धति (Deductive Method) न होकर आनमनात्मक (Inductive) और अनुभूतिमूलक (Empirical) है । अनुभव ही इसका मुख्य आधार है । उपयोगितावाद का सम्बन्ध नीति-शास्त्र के क्षेत्रों और जीवन की हीन वास्तविकताओं से है, कल्पनिक स्थितियों तथा अवर्त सिद्धान्तों से नहीं । यह जीवन-समर्थ और कर्मजीवता का प्रतीक है, जो प्रत्येक वस्तु की वास्तविक उपयोगिता की कसौटी पर कसता है और प्रत्येक विचार व्यवसाय सिद्धान्त को व्यावहारिकता की पराख में डालता है । इसका व्यावहारिक नीति-शास्त्र और राजनीति से घनिष्ठ सम्बन्ध है ।

3. उपयोगितावादी सिद्धान्त की मानने वाले सभी लोग व्यक्तिवादी हैं जो यह मानते हैं कि 'एक व्यक्ति के लिए है, न कि व्यक्ति-समूह के लिए ।' उनके मतानुसार राज्य का घोषित धर्म भी है कि वह अपने नागरिकों को शान्ति और सुखता प्रदान करता है तथा दुःखार्थों की दृष्टि में दुःख सहनकर होता है । मानव की शान्तिताओं और उसके अस्तित्व तत्त्व 'आनन्द' व 'दुःख' के विचार-कल्याण से घनिष्ठ सम्बन्ध है । किसी भी राजनीतिक कार्य का महत्त्व तभी है जब उससे जन-सम्पत्त होता हो । उपयोगितावाद के व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के अनुसार सामाजिक व्यवस्था लोगों के वैयक्तिक सुखों का संरक्ष-साध है । उपयोगितावादी दर्शन में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर केवल सामूहिक व्यवस्था और शान्ति की सीमा है ।

4. उपयोनितावाद की सीमा है कि राज्य नागरिकों के विकास के मार्ग में माने वाली बाधाओं के निराकरण के लिए विधि-निर्माण करे। उस विधि का कोई मूल नहीं है जिससे राज्य के अधिकतम सीमा का आकार न होता हो। उपयोनितावादियों के अनुसार विधियों के दो परा हैं—निषेधात्मक और विधेयात्मक। जिन विधियों के द्वारा परिस्थितियों और विपक्ष वातावरण का प्रभु हो वे निषेधात्मक (Negative) हैं और जिनके निर्माण मार्ग सम्भव होते हो, वे विधेयात्मक अथवा रचनात्मक (Positive) हैं।

5. उपयोनितावाद की मान्यता है कि व्यक्ति दूसरी से सर्वथा स्वतन्त्र रहकर चुनी चली रह सकता है। यह मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरी के साथ मानव-सम और सह-व्यक्तित्व के बन्धनों में बंधा रहे। व्यक्ति के विकास के लिए समाज का अस्तित्व आवश्यक है। कास्ट है कि उपयोनितावाद का समवाद (Associalism) पर मत है। मानव के सर्वोत्तम विकास के लिए समवाद की आवश्यकता बहुत महत्वपूर्ण है।

6. उपयोनितावाद एक यथोचितानुसंगिक विज्ञान है जो यथोचितानुसंगिक विधि से मानव-व्यक्तित्व के तरीके का विश्लेषण करता है। इसके अनुसार मनुष्य की बाहरी वस्तुओं का ज्ञान परिलक्ष में उपलब्ध अनेक-विधों की अवस्थाओं (Sensations) प्राप्त होता है। वे संवेदनाएँ या ही सुखदायक होती हैं या दुःखदायक और सम्भावित मनुष्य सुखदायक वस्तुओं की पसन्द करता है तथा दुःखदायक वस्तुओं से घृणा। चूँकि कोई भी व्यक्ति पूर्ण रूप से दुःख मुक्त नहीं हो सकता, वह इसे सहन नहीं प्रयत्न करता चाहिए कि अधिकतम मात्रा में सुख और कम से कम दुःख मिले।

मान्यता सभी उपयोनितावादों यह मानते हैं कि नीचे सुख ही धर्मोपदेश रखते हैं तथा कुछ सचने में ही एवमात्र यथोचित वस्तु है। बुद्धि जीवन के साध्य का निर्धारण न कर उन साधनों का निरूपण करती है जिन्हें अन्ततः हम साध्य की शक्ति कर सकते हैं। यह कार्य कष्ट है जो दुःख की अनेक अधिक सुख देने वाला है और यह अर्थ है जो दुःख की बुद्धि करता है। सामंजसिक नीतियों एवं प्रशासकीय विधियों के सीक्विन्स की कमीसे उपयोनिता अथवा 'अधिकतम सुखियों का अधिकतम सुख' (Greatest good of the greatest number) का विज्ञान है। राज्य एक माध्य (End) न होकर नागरिकों के आकार में सहायक न होने वाला साध्य (Means) है।

वेपर (Weyper) के अनुसार, "उपयोनितावादी सर्वेध धारणता में रहते हैं और वे कभी भी नीकतम नहीं हुए। वे बहुत ही आन्धवीन, बुद्धिहीन, प्रयत्न कमी और निरुत्साहवादी हैं तथा मानव-समाज सम्बन्धी अपनी आरक्षण लोगों को आरक्षित करने वाली नहीं की, पर कभी तब तक उभरता कोई सम्बन्ध उचितानुसंगी पैदा नहीं हुआ। उनके सम्बन्धीन बहुत विचारों—कमी, कास्ट, कष्ट आदमन, मानव की धर्मोपदेश में कोई आदर नहीं मिलता। धर्मोपदेश में ही इसके आलोचक अपनी

किसी बात को सर्वोपरि विचारण में न ले सके। इसके परिणामस्वरूप उनका प्रभाव उनकी मरणा के अनुपात में बढ़ी अधिक रहा।¹

उपयोगितावाद के इतिहास में भी विकास के जिन प्रमुख विचारकों का योगदान रहा और जिनका इस पुस्तक में अध्ययन किया गया है, वे हैं—

- (1) जर्मी बेंथम (Jeremy Bentham, 1748-1832)
- (2) जेम्स मिल (James Mill, 1773-1836)
- (3) जॉन ऑस्टिन (John Austin, 1790-1859)
- (4) जॉर्ज ग्रोटे (George Grote, 1794-1871)
- (5) जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill, 1806-1873)
- (6) एलेक्जेंडर बेन (Alexander Bain, 1818-1903)

जर्मी बेंथम (Jeremy Bentham)

जीवन-परिचय

जर्मी बेंथम का जन्म 15 फरवरी, 1748 को लन्दन के एक प्रतिष्ठित वकील परिवार में हुआ था। परिवार की परम्परा के अनुसार बेंथम ने उच्च शिक्षा प्राप्त की। 15 वर्ष की अवस्था में ही सन् 1763 में उसने स्नातक की उपाधि प्राप्त करली और लन्सडाइ 'लिकन इन' (Lancolin's Inn) में कानून का अध्ययन करने के लिए प्रवेश लिया। बैरिस्ट्री पान करने के उपरान्त उसने सन् 1772 में वकालत शुरू कर दी। परीक्षाओं में सार्वजनिक सफलता प्राप्त करने पर भी उसने नोकरी करना स्वीकार नहीं किया।

बेंथम अपने पुत्र का एक बौद्धिक-आयत्तवं या जो वकालत करने के कुछ ही समय बाद इस निष्कर्ष पर पहुँच गया कि प्रचलित कानूनों में भारी त्रुटियाँ हैं और उनके रहते लक्ष्मीन व्याप-व्यवस्था निरर्थक है। सन् 1776 में प्रकाशित उनकी पुस्तक 'Fragments on Government' में, जिसमें स्पेन्सटोन की इंग्लिश कानून की 'टीकाओं' (Commentaries) में प्रतिपादित सिद्धान्तों की धरिक्तता उजाई गई थी, लक्ष्मीन कानूनी-क्षेत्र में हस्तक्षेप किया। विधि-शास्त्र के इन प्रकाशक परिणत में विधि-सुधार के अत्यन्तुष्ट प्रयत्नों का उल्लेख किया जिसमें उसे सफलता भी मिली। वह एक ऐसा सुधारवादी सिद्ध हुआ जिसने इंग्लैंड के सामाजिक, प्राथमिक एवं राजनीतिक क्षेत्र की सामाजिक प्रभावित किया। उसकी रचित धारणा के ही सामाजिक सुधारवादी के रूप में जाने में रही थी अतः वह एक स्पष्ट समाज-सुधारक बन गया। उसने अपने विचारों की विवर्धित रूप में लेखकता किया। उसका लगभग सम्पूर्ण जीवन ही धर्म-रचना, व्यापार और के क्षेत्र-व्यवहार तथा कानूनी-सुधार के लिए सामूहिक के एकत्रीकरण में व्यतीत हो गया। बेरी पी. कैक के अनुसार सन् 1770

से 1832 तक मर्याद अपनी मूल-पर्यन्त बह प्रतिदिन लगभग 15 गेड़े घुमट निकला रहा ।¹ मनुमान्तः उसके अपने ओवन-हाथ से एक साथ से भी अधिक घुमट लिये । उनके सेली की पारदर्शिकता, जो 148 बरसों से बन्द है, आज भी लन्दन विश्वविद्यालय और ब्रिटिश म्यूजियम में सुरक्षित है । बेन्थम ने निश्चित रूप से लिखा, किन्तु अपने सेली के निविबद्ध संकलन और उनकी उपयोक्तज्ञा के प्रति बह उपसीन रहा । प्रतिदिन लिये जाने वाले घुमटों का स्थान बह अपनी बीटना में द्धित कर देता था और फिर उन्हें उठा कर एक छोटे रथ देता था । उसके सेलों के चपर, पुनरावलीकन, प्रकाशन आदि का कार्य उसके कुछ बनिष्ठ सेवासो व्यक्तियों, विष्णो आदि द्वारा किया गया ।

बेन्थम ने यूरोप का अमल तथा कई के उपयोक्तज्ञावादी से प्रभावित होकर अपने विचारों में सुधार किया । जातीय और वर्गीय विरोधों से प्रभावित रहने वाले इस विद्वान् ने इंग्लैण्ड, फ्रांस, अमेरिका, भारत, मैक्सिको, चिली आदि के लिए एक विधि-कडिता (Legal Code) निर्माण करने का सर्वथा सक्रिय करने का प्रयास किया । बेन्थम के विचारों का सर्वत्र सम्मान किया गया और प्रत्येक क्षेत्र में उसे सम्मान तथा सङ्घीय प्राप्त हुआ । सन् 1792 के क्रांति की राष्ट्रीय सभा ने उसे 'ऑसीडी नापरिक' की उपाधि से विभूषित किया । विधि (कानून) और वास्तुशास्त्र के सुधार सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ लिखने के कारण बह यूरोप में ही नहीं, अन्य देशों में भी प्रसिद्ध हो गया । सन् 1820-21 में पुर्तगाल के विचारक दस में वैधानिक व्यवस्थाओं पर उसके सुझाव सम्मिलित किए । सन् 1828 के अपने मित्र की स्नेह गहर के निर्माण का सुझाव दिया । उसने बार हाथ कम के लिए विधि-विषयावली बनाने की दृष्टा व्यक्त की ।

अपने 84 वर्ष के दीर्घकालीन जीवन में बेन्थम ने उपयोक्तज्ञावाद के साथ ही सुधारवाद की नींव सुद्ध की । उपयोक्तज्ञावाद की परम्परा उसकी मृत्यु के बाद भी सकलतापूर्वक चालू रही । उपयोक्तज्ञावादी विद्वान्त का आधि-प्रकर्षक न होते हुए भी बह उसका संस्थापक माना गया क्योंकि उसने उसके महान्त की समझ कर उसे अपने विन्दन का मूल सिद्धान्त बनाया और उस पर एक सुविधित एवं सुव्यवस्थित विचार-प्रणाली का अमल सद्ध किया । बेन्थम के बहूते उपयोक्तज्ञावादी विद्वान्त का प्रभावान्त इंग्लैण्ड में ह्युम एवं प्रीस्टले द्वारा हो चुका था । बेन्थम ने ह्युम के ग्रन्थ 'Treatise of Human Nature' का अध्ययन किया और मानव-व्यवहार के लिए उपयोक्तज्ञावादी भाषणा के महान् सूत्र की समझ । प्रीस्टले के ग्रन्थ 'Essay on Government' के 'प्रतिक्रियम सत्ता का प्रतिक्रियम मुख' नामक पटक उसका दूसर मान-विधौ हो गया । प्री. प्रीस्टले (Gordley) ने इस विचार से प्रसङ्गति तर्क की है कि बेन्थम ने बह कानूनी प्रीस्टले से लिया था पर यदि इस विचार की भीत दिया जाए तो भी दूसरे कोई कथन नहीं कि बेन्थम ने 'उपयोक्तज्ञा' एवं

‘अधिकतम व्यक्तिओं के अधिकतम सुख’ की पूर्वनिश्चित धारणा को विकसित किया और उसके आधार पर उपयोक्तृवादी राजकार्य का विचार बट-बूट सजा कर दिया।

केन्थम स्वयं अपने लेखों के प्रति बेपरवाह था, किन्तु उसके शीघ्र सहस्रावियों और शिष्यों ने उसकी विचारों का पूर्ण सम्पादन और प्रचार किया। उसने प्रमुखतम शिष्य जेम्स मिल (James Mill) था। प्रसिद्ध कबीन् सर हेनरिफ रीविने ने भी केन्थम की सेवा की। महान् धर्मशास्त्री रिचार्ड की उसका अनुयायी था। रिचार्डों के बारे में केन्थम ने लिखा है, “मैं मिल का साध्यात्मिक पिता था और मिल रिचार्डों का साध्यात्मिक पिता था, इस प्रकार रिचार्डों केरा साध्यात्मिक पीत था।” केन्थम के तासाही शिष्यों ने विश्व नागरिक द्धुभीष्ट (Democrat) का नाम भी उत्प्रेषणीय है जिसने केन्थम की पुस्तकी का अनुवाद यीहीदी भाषा में किया, उन्हें सशित रूप दिया और उनमें यह जाने वाली साव्ययक मातो की पुति की। द्धुभीष्ट ने केन्थम के वक्त की सम्पूर्ण मूर्ति में जीताया।

केन्थम 18वीं शताब्दी के अपने जीवनकाल में उपयोक्तृवादी विचारधारा पर आधारित अपने मनीन दर्शन के प्रकाश में प्रचलित विचारों के लूकता रहा और कटिवादी बना रहा, किन्तु 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में वह मनीनतावादी बन गया। उसकी स्वाधिक सुधार-जीवनवादी और आदर्श कायधार की स्थापना के विचारों का विशेष किया गया जिससे उसके हृदय की बड़ी शैव कर्तुकी और वह इस परिस्थल पर पहुँचा कि शिशन का नासक-वर्ग गतिशील के दिनों का ध्यान न रखकर स्वर्णिती का ध्यान रखता है। केन्थम और जेम्स मिल के सहयोग से ‘दार्शनिक मनीनतावादी’ नामक एक मनीन समलन का उदय हुआ जिसके माध्यम से केन्थम ने उन सुधारों की, जिसका वह प्रचार कर रहा था, विमानित रूप देने का प्रयत्न किया। अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में कटिवादी केन्थम अनतन्त्रवादी बन गया और देश के राजनीतिक जीवन में साधिकधिक भाग लेने लगा। 6 जून, 1832 के जब इस महान् दार्शनिक निधारक की मृत्यु हुई तो डोयल (Doyle) के शब्दों में, “उसके शिष्य-कर्मरू ने एक पितामह और एक साध्यात्मिक नेता के रूप में उसका सम्मान किया। उसकी एक वेपता के रूप में प्रतिष्ठा हुई।”

केन्थम की रचनाएँ (Works of Bentham)

केन्थम एक महान् लेखक था, जिसने अपनी मृत्यु से पूर्व एक वेपता कार्य जारी रखा। उसने सबसे पहले साधिकिक चर-व्यवस्थाओं (जहाँ ‘मन्दन रिम्बू’, ‘वेस्ट विनस्टन रिम्बू’ आदि) में निरूपण लिये जिससे उसका सम्पादन बड़ा और उसे स्वाधि प्राप्त हुई। 1776 ई. से 1824 ई. तक उसकी लगभग सभी महत्वपूर्ण रचनाएँ प्रकाशित हो गईं। उसके मूल रचनाओं के प्रचार के साथ ही उनका विभिन्न भाषाओं में अनुवाद भी हुआ और बहुत-सी प्रकाशनीय सामग्री उसकी मृत्यु के बाद प्राप्त हुई। मन्दन के मुनिविपरीत कलिज में बहुत-सी मनुष्यार्थ उसकी पाम्बुतिरिचों से भरी हुई मुद्रित है, जिसमें से बनेक सभी एक प्रकाशित नहीं हो पाई हैं। ब्रिटिश संसद्धान्त में भी उसके प्रकाशित रचनाओं की पाम्बुतिरिचों मुद्रित हैं। उसके अन्य विभि,

पर्यटन, शिक्षासार, धर्म, वैक-द्वन्द्व, अर्थशास्त्र, मन्त्रालय, आन्तरिक शासन
आदि विविध विषयों पर है। उसके प्रमुख ग्रन्थों में इनकी सूची दी जाती है—

- (1) *Fragments on Government*, 1776, (2) *A Defence of Usury*, 1787,
- (3) *An Introduction to the Principles of Morals and Legislation*, 1789,
- (4) *Discourses on Civil and Penal Legislation*, 1802, (5) *A Theory of*
Punishments and Rewards, 1811, (6) *A Treatise on Judicial Evidence*,
- 1813, (7) *Papers Upon Codification of Public Instruction*, 1817,
- (8) *The Book of Fallacies*, 1824, (9) *Rational Evidence*, 1827,
- (10) *Constitutional Code*, 1830, (11) *Essay on Politics and Tactics*, 1791,
- (12) *Catechism of Parliamentary Reforms*, 1809, (13) *Radicalism not*
Dangerous, 1819, (14) *A Table of Springs of Action*, (15) *Manual of*
Political Economy, (16) *Principles of International Law*.

इनमें 'An Introduction to the Principles of Morals and Legislation' केन्थम की सर्वोत्कृष्ट कृति मानी जाती है। केन्थम ने इसकी कृतियों में न्याय, अर्थशास्त्र, आर्थिक प्रक्रिया, धर्म, अधिकार, संघर्षीय सरकार आदि पर उपयोगितावाद पर आधारित विभिन्न लोकिक मुद्दों पर प्रस्तुत किए। केन्थम के अनुसार 'केन्थम की कृतियाँ बहुतमूर्त, सरल तथा समोपलब्ध हैं। उनकी लेखनी में आशय और प्रभाव है। आचार्यताद्वारा शिक्षाप्रविष्ट तथा व्याख्या के आधिक्य के कारण अल्पज्ञानियों की समझ तथा प्रत्यक्ष बन गया है। वैज्ञानिक प्रक्रिया की दृष्टि से इनके उद्देश्य विज्ञान आचार्यक समझ में आने बहुत 'नवीन भाषा' (New Language) की उद्देश्य देता है। इनके आलोचकों ने इसका 'महान् कला की एक प्रक्रिया, विविध भाषा के पुनरावर्णन' के रूप में उल्लेख किया है। उनकी रचनाओं में निष्पत्ति, परिणत तथा भीड़-ग्रस्तों की प्रभाव है। भाषा के सम्बन्ध में इनके आलोचकों द्वारा की गई आलोचनाएँ बहुत गहरी हैं।"¹

केन्थम का उपयोगितावाद एवं मुल्यवादी मानक मान (Bentham's Utilitarianism and Hedonistic Calculus)

केन्थम के उपयोगितावाद की नींव मुल्य-मुल्य की भाषा पर आधारित है। जिस कार्य से मानव-मुल्य में वृद्धि होती है वह उपयोगी और शक्ति है; जिस कार्य से मानव की दुःख प्रत्यक्ष होता है वह अनुपयोगी और अनुचित है। मानव के सभी कार्यों की समीचीन उपयोगिता है। यह व्यक्ति के मुल्य में वृद्धि या कमी, कार्य के प्रक्रिया-अनुचित, आनन्ददायक या आनन्दप्रति व्यक्ति की निर्णय आदि का निर्णय करने का प्रभावकारी सिद्धान्त है। इसका सम्बन्ध व्यक्ति के जीवन से ही नहीं, बल्कि प्रभावकारी कार्यों के भी है। अनुचित के कार्य मुल्य-मुल्य पर आधारित हैं और यही मुल्य-मुल्यवादी उपयोगिता है। यदि भौतिक कार्य उपयोगिता के ही निर्धारित होते हैं। उपयोगितावादी सिद्धान्त को समझने हुए केन्थम का कथन है कि "उपयोगितावादी सिद्धान्त के द्वारा मानव उस सिद्धान्त से है जिससे सम्बन्धित

व्यक्ति की प्रगतिशील बढ़ती या घटती है और जिसके आधार पर वह प्रत्येक कार्य को उचित या अनुचित कहता है। प्रगतिशील बढ़ती के अर्थों में जिससे कुछ मिलता है या कुछ नष्ट होता है। मैं यह बात प्रत्येक कार्य के लिए कहता हूँ और इसलिए मेरी यह बात केवल किसी व्यक्ति पर ही नहीं, बल्कि प्रत्येक सरकारी कार्य के सम्बन्ध में लागू होती है।¹ केन्थम के अनुसार, "मुख्य और दुःख ही मानव-जीवन की गति प्रदान करते हैं। प्रकृति ने मानव-समाज की दो सार्वजनिक-सम्बन्ध स्थापित की—मुख्य और दुःख के सम्बन्धित रूप दिया है। इन स्थापितों का सही अर्थ है कि वे हमें निर्देश देते हैं कि हमें क्या करना चाहिए तथा निर्णय करें कि हमें क्या कर सकते हैं।"²

प्रकट है कि केन्थम के अनुसार किसी वस्तु की उपयोगिता का एकमात्र मानदण्ड यह है कि वह कहीं तक कुछ में वृद्धि करती है और दुःख को कम करती है। केन्थम और उसके अनुयायियों ने उपयोगिता की एकदम सुखवादी (Hedonistic) व्याख्या की है। केन्थम के अनुसार, "उपयोगिता का सिद्धान्त इस बात से है कि हम अपने तर्कों की प्रक्रिया में कुछ और दुःख के तुलनात्मक अनुमान की अपेक्षा आत्म-हित मान कर चलते हैं। जब मैं अपने किसी कार्य (व्यक्तिगत सचवा कार्यवर्गिक) की सम्बन्धित अपेक्षा कुछ ही का निर्णय इस बात से करता हूँ कि उसकी प्रगतिशील सुख-वृद्धि की है या दुःख की, जब मैं स्वास्थ्यपूर्ण, सम्बन्धपूर्ण, नैतिक, सार्वजनिक एवं सच्चे सचवा बुरे कामों को प्रयुक्त करता हूँ जिससे किसी निश्चित सुख के तुलनात्मक लाभ का ही बोध होता है और जिसका कोई दूसरा लाभ नहीं होता तो मैं उपयोगितावादी सिद्धान्त का ही अनुसरण करता हूँ। इस सिद्धान्त का अनुयायी किसी कार्य-विशेष को केवल इसलिए प्रयुक्त सम्भवता है कि इसके फलस्वरूप सुख की वृद्धि होती है और इसी भाँति वह किसी कार्य-विशेष को बुरा भी इसलिए सम्भवता है कि उसका परिणाम दुःख होता है।" स्पष्ट है कि उपयोगितावादियों के विचारों में सुख स्वयं ही जीवन का सार्वभौम है, यद्यपि तब भी तब भी तब तक कि समाचार भी सुख-वादी के सम्बन्ध-मात्र है।

केन्थम के अनुसार सुख चार प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है—(1) चर्च द्वारा, (2) राजनीति द्वारा, (3) नीति द्वारा, एवं (4) भौतिक साधनों द्वारा।³ यदि किसी वस्तु को चर्च में निर्यात करने में सुख मिलता है तो उसे 'चर्च-प्रदत्त' सुख कहा जाएगा; यदि किसी व्यक्ति को राजनीति में सुख की उपलब्धि होती है तो उसे 'राजनीति-प्रदत्त' सुख की उल्लेख दी जाएगी। इसी प्रकार यदि किसी को नैतिक कार्य करने में सुख की अनुभूति होती है तो उसे 'नैतिक सुख' कहा जाएगा एवं यदि किसी, जग, वर्षा आदि से कोई लाभ होता हो तो वह 'प्रकृतिक सुख' कहा जाएगा। केन्थम की मान्यता है कि अपने-आप में कोई भीन मनी-बुरी नहीं होती, उपयोगिता के आधार पर वह मनी-बुरी हो जाती है। वस्तु के कार्य करने का प्रयोजन सुख की प्राप्ति है। वस्तु के कार्य सुख से प्रेरित होता है और दुःख में बचना चाहता है।

1-2 Bentham : Principles of Morals and Legislation, p. 2.
Jones : Masters of Political Thought, Vol. 2, p. 372.

केन्थम की यह भी मान्यता है कि व्यक्ति के गुण की पुष्ट्यात्मकता से कोई भयंकर नहीं होता, सुख-दुःख के द्वेद केवल व्यापक है । उनका समर्थन है कि "सुख की भाषा बराबर होने पर बच्चों का खेल और काम्य का अध्ययन एक ही मोटि के है ।"¹

उस प्रथम अवस्था वैज्ञानिक पद्धति अपनाते के कारण केन्थम की चारणा है कि जिस प्रकार एक भौतिकशास्त्री भौतिक व्यापार की सुनिश्चित मान-नीय करता है उसी प्रकार प्रत्येक सामाजिक घटना की भी मान-नीय की जानी चाहिए । केन्थम की दार्शनिक दृष्टि की कि मुख्य-शक्ति के लिए मानवीय कार्यों की अनुशासन करने वाले नियमों की खोज की जाए और उन्हें एक यथार्थीय सुख की तरह सुनिश्चित रूप प्रदान किया जाए । केन्थम ने इसी दिशा में प्रयास किया जिसके अन्तर्गत उपनीषद्वादी विद्वान् ने भौतिक एवं राजनीतिक घटना-व्यापार के मापन-प्रमाण निर्धारण को जन्म दिया ।² केन्थम की यह चारणा सभी उपनीषद्वादीयों के विचारों का केन्द्र बन गई कि मानव-समाज के सम्पूर्ण कार्यकलापों का संचालन पूर्णतः वैज्ञानिक मान-नीय द्वारा होना चाहिए । इसी चारणा से केन्थम अपना मूलवादी मापक-कण (Hedonistic Calculus) विकसित करने की दिशा में प्रेरित हुआ ।

सुख-दुःख का वर्गीकरण और उनका मानदण्ड

हीरोनिट्ट व्यापारमात्रिमों की भाँति केन्थम का भी यह मत था कि सुख और दुःख की मापन का सफा है । एक की दुःख निश्चित मापन दूसरे की उसी तरह की भाषा का विचारण कर सकती है । सुख और दुःख की सीमा भी का सकता है । इस तरह से हम सुखों की पहचान कर सकते हैं जिससे व्यक्ति के अधिकतम सुख की भी सम्बन्धित होती और मानव समुदाय के अधिकतम सुख की भी । इस महाना में केन्थम ने सुख घटना सुख के चार रूप बताये हैं—पहल, अवधि, निश्चयना जिससे वह किसी कार्य को करता, तथा समय की दूरी जिसके अनुसार वह घटित होता । चूँकि एक का सुख या दुःख दूसरे को प्रभावित करेगा, घट, इससे घोर भी व्यापक दिया जाना चाहिए । सामाजिक महाना में हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि सुख घटना सुख का जिससे व्यक्तिों पर प्रभाव करता है । केन्थम प्रथम इस तरह की बात किया करता था अपनी उनसे वह विचारों की कि बहुत सदैव ही सुख और दुःख की माननिक तन्त्रियों से प्रेरित होकर कार्य करते हैं । लेकिन, अपनी-अपनी वह यह भी कहना था कि सुखों को जोड़ने की बात और विशेषकर विभिन्न व्यक्तियों के सुखों की जोड़ने की बात कार्यात्मक है, तथापि यह निश्चित है कि वह इस बलना को "एक प्रकार की व्यापकता सम्पन्नता या जिसके बिना परमेश्वर राजनीतिक चिन्तन का ही, जाना है ।" उससे क्लोर्गेनार्थिक निरीक्षण की वही कोई विशेष सीमा ही की और व विशेष रवि है । लेकिन, वह "मापन-विज्ञानों का मूलन बनना चाहता था । वह अपनी मर्यादात्मिक बलवादी की उन कार्यवाही में अधिक उद्योग नहीं करना था जो सम्बन्धित में उपनीषद्वादीयों की प्रेरित हुई थी ।"³

1 "Quantity of Pleasure being equal painless is as good as poetry."

2 भाषा : राजनीतिक भाषा का परिचय, पृष्ठ 637.

केन्थम ने कुछ और कुछ को को मानने में विचारित किया है—

(1) सामान्य, एवं (2) जटिल ।

केन्थम ने सामान्य गुण के अन्तर्निहित 14 बिंदु बतलाए हैं—(1) भार के भौतिक सम्बन्धी गुण, (2) संपत्ति सम्बन्धी गुण, (3) प्राचा-जन्य गुण, (4) काल्पनिक गुण, (5) स्मरण गुण, (6) निर्देयता सम्बन्धी गुण, (7) दया सम्बन्धी गुण, (8) धर्म के उत्पन्न गुण, (9) शक्ति-गुण, (10) यश का गुण, (11) निष्ठा का गुण, (12) कुशलता का गुण, (13) सम्पत्ति-जन्य गुण एवं (14) ऐन्द्रिक गुण ।

केन्थम के अनुसार सामान्य गुण के अन्तर्निहित 12 बिंदु हैं—(1) सम्पत्ति, (2) प्राचा, (3) कल्पना, (4) स्मरण, (5) निर्देयता, (6) दया, (7) पारमिता, (8) कुशल, (9) शान्ति, (10) चरित्राती, (11) दुर्भावना एवं (12) परिष्ठा ।

केन्थम के अनुसार परिष्ठाया व्यवसाय भाषा को स्थान में रखते हुए गुण का गुण उसी अनुपात में कम या अधिक हो सकता है । गुण-गुण की मात्रा निर्धारित करने के लिए केन्थम ने एक सूचकांकी मानक-वर्ण प्रस्तुत किया है जिसके अनुसार मानवीय करके सरकार यह ज्ञात कर सकती है कि उसके प्रत्येक कार्य की सामान्य प्रवृत्ति गुण-वृद्धि है अथवा नहीं । गुण-गुण का मापदण्ड स्थापित करने के लिए उसके निम्नलिखित बातों के ज्ञान पर बल दिया है—

(1) तीव्रता (Intensity), (2) बालावधि (Duration), (3) निश्चितता (Certainty), (4) समय की निकटता (Proximity), अथवा दूरी (Remote ness), (5) जनन-शक्ति (Fecundity), (6) विपुलता (Purity), तथा (7) विस्तार (Extent) ।

गुण-गुण के इन मापदण्डों के आधारों में जनन-शक्ति (Fecundity) और विपुलता (Purity) विशेष महत्वपूर्ण हैं । किसी गुण की जनन-शक्ति का आकलन है उसके पीछे उसी प्रकार के अन्य गुण भी हो । बौद्धिक गुणों में यह गुण एक बड़ी चीजों तक होता है, ऐन्द्रिक गुणों में नहीं । किसी गुण की विपुलता का अन्विष्टाव है उसके पीछे उसकी विपरीत भावनाएँ उत्पन्न न हो । बौद्धिक गुण ऐसे प्रकार का विपुल गुण है क्योंकि उसके गुण उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं होती । इसके विपरीत ऐन्द्रिक गुण अल्प होते हैं क्योंकि उनका अधिक भोज करने से स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है । उनका अधिक उत्पन्न होना हमारी वाचन-शक्ति को दुर्बल करता है ।

केन्थम के अनुसार, प्रथम 6 बातें ही स्पष्टिमत गुण-गुण की मापदण्ड हैं, किन्तु समूह अथवा अनेक स्पष्टियों के गुण का अब परिमाण ज्ञात करना होता है तो उसके लिए 'विस्तार' (Extent) पर ध्यान देते हैं । व्यक्ति की नीति-ज्ञान कार्य करना उसकी हीमा—इसके लिए उसके उपर्युक्त बातों आधारों पर धन लेकर, अधिक धन करने आधार से कार्य करना होता । केन्थम के अनुसार उपर्युक्त कारणों का प्रयोग करके हम न केवल गुण-गुण मान सकते हैं, बल्कि उनके द्वारा धार्मिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं वैज्ञानिक विचारों तथा प्रवृत्तियों का विश्लेषण भी कर सकते हैं । गुण-गुण की वस्तुता करने में केन्थम के इन विधानों की आवश्यकता

के इतिहास में 'Hedonistic Calculus' कहते हैं। केन्दम की मान्यता है कि अधिक का बढ़ते-घटते अधिकतम मुक्त प्रत्यक्ष करना है, यान् उन्ने सर्वेन देवा धामराज्य करना चाहिए जिसके निमित्त, विमुक्त, आनन्ददायक, शिवर और हीन मुक्त उत्पन्न हो।

केन्दम ने मुक्त-दुःख का व्यापक ध्यान करने के लिए 32 लक्षणों के आधार पर लक्षण वर्गीकरण किया है। इनमें प्रमुख नैतिक रचना, सर्वोत्तमता, करिब-निर्णय, विद्या, वासि, विषय वसति हैं विनय मुक्त की मान्यता पर प्रभाव पड़ता है।

पार्थी मान्यताओं को स्पष्ट करने हुए केन्दम ने माने कहा है कि मुक्त कुछ ऐसे होते हैं जिनमें तीव्रता होती है किन्तु समर्थता नहीं होती यान् उनके कुछ दुःख उत्पन्न होता है इसके निमित्त कुछ मुक्त विमुक्त होते हैं और उनका स्थापित भी अधिक होता है, उनमें तीव्रता अधिक नहीं होती। इन विमुक्त मुक्तों का परिणाम मात्र, दुःख नहीं होता यान् हमें मुक्त की विशेष मूल्यवान् करने की ओर ही सर्वे प्रवर्तनीय होना चाहिए। मुक्त-दुःख की प्रत्यक्ष करने के बिना एक निमित्त परिणाम पर पहुँचने के लिए केन्दम ने जो प्रक्रिया बताई है वह इस प्रकार है—

"समस्त मुक्तों के समस्त मुक्त की एक ओर तथा समस्त दुःखों के समस्त मुक्त की दूसरी ओर एकत्रित कर देना चाहिए। यदि एक की दूसरी में से घटाकर मुक्त शेष यह बाव तो उसका अधिकार यह होता कि प्रत्यक्ष कार्य हीन है (यद्यपि सम्बन्धित कार्य की प्रवृत्ति मुक्त की ओर है) और यदि दुःख शेष रहे तो वह समझ देना चाहिए कि प्रत्यक्ष कार्य हीन नहीं है, क्योंकि उसका परिणाम दुःख होता है।"¹ केन्दम के अनुसार, यदि किसी कार्य का प्रभाव दूसरी पर भी पड़ता हो तो यह स्थिति है कि हम अनर्गल प्रक्रिया की उनमें से प्रत्येक पर भी लागू करें और उनके द्विती को भी ध्यान में रखें। यही 'मुक्त का विचार' (Dilemma of Happiness) है।

इस प्रत्येक सम्बन्धित और सम्बन्धित स्थिति पर इस प्रक्रिया का प्रयोग कर लिया जाए तो दुःखों के बीच की मुक्तों में से घटा देने पर जो मुक्त शेष रहेगा, वह इस बात का प्रमाण होगा कि प्रत्यक्ष कार्य मुक्त और कल्याणकारी है। इसके विपरीत यदि मुक्त की प्रवृत्ति दुःख अधिक निकले तो इसका सम्बन्धित कार्य होता कि प्रत्यक्ष कार्य या घटता प्रत्यक्ष और प्रवृत्तिहीन है। निष्कर्ष (Legislation) की कल्पना करने के लिए चाहिए कि वह मुक्तों के सम्पूर्ण महत्त्व की एक ओर तथा दुःखों के महत्त्व की दूसरी ओर रखकर उनकी परस्पर तुलना करें। जो शेष रहे, यदि वह मुक्त के शेष के है तो वह मान्यता चाहिए कि कल्याण प्रत्येक नैतिक के लिए मूल्यदायक है। इसके विपरीत शेष दुःख के शेष में हो तो वह समझ देना चाहिए कि कल्याण अन-आधारण के लिए कल्याणकारी है। केन्दम की यह भी मान्यता थी कि "यह वाक्य 'यही की जानी चाहिए कि इस पद्धति को एक प्रकार के प्रधान, नैतिकानिष्ठ व्यवहार आधार-प्रणाली प्रणाली से अधिक महत्त्व दिया जाए। यह सदा ध्यान में रखना होगा कि इस पद्धति को ऐसे व्यवहारों पर जिसका अधिक प्रभाव आयेगा उसका ही अधिक इसके आधार पर किया गया निर्णय नहीं होगा।"

बेन्थम ने व्यक्तिगत सुख को अधिक महत्त्व देने के बाद सामाजिक सुख को भी महत्त्व दिया। इस प्रकार उसने उपयोक्तृतावाद की अवधि में उपर उठाकर विकसित किया बमोदि व्यक्ति ही सब कुछ नहीं है, उसे सर्वसुखधारण की क्षमता का भी ध्यान रखना चाहिए। एक व्यक्ति के सुख की प्रतीक्षा अधिक लोगों का सुख अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। राज्य का उद्देश्य एवं लक्ष्य 'अधिक व्यक्तियों का अधिकतम सुख' (Greatest Happiness of the Greatest Number) होना आवश्यक है। उपयोक्तृता का सिद्धान्त ही सब कार्यों के घोषित का मानक है। राज्य के सभी कार्य उपयोक्ती हैं की अधिकाधिक व्यक्तियों को सुख पहुँचाते हैं।

बेन्थम का राजदर्शन

(Bentham's Political Philosophy)

बेन्थम कोई राज-सार्थनिक नहीं था और न ही उसका ध्येय किसी राजदर्शन की प्रतिपादित करना था इसलिए एक महान् सार्थनिक की अपेक्षा उसे एक व्यावहारिक 'राज्य-सुधारक' कहना अधिक उपयुक्त है, जिसने अपने सुधारवादी कार्यक्रम की प्रथमधुनि के लिए राज्य सम्बन्धी कतिपय विचारों का प्रतिपादन किया। उसके इन राज्य-विमर्श विचारों की ही हम उसके राजदर्शन के मूल तत्व की गूँथ ले सकते हैं। राज्य के सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हुए बेन्थम ने राज्य के स्वतन्त्र, सम्प्रभुता, विधि एवं सत्य आदि विषयों को स्पर्श किया।

बेन्थम के राजदर्शन के दो भाग—बेन्थम के सम्पूर्ण राजदर्शन की दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—विवेकात्मक एवं विवेकात्मक। विवेकात्मक भाग का सम्बन्ध उन विचारों से है जिनके द्वारा उसने अपनी पूर्ववर्ती राजनीतिक आराखडों का लक्षण किया है। इस भाग में हम उसे एक कान्तिवादी विचारक के रूप में देखते हैं और इसीलिए उसे कान्तिवादी 'Radical' तक पहुँचा दिया जाता है। विवेकात्मक भाग का सम्बन्ध उन विचारों से है जो उसने वर्तमान राज्य सम्बन्धी विषयों पर प्रकट किए हैं। इस भाग में विधि, सम्प्रभुता आदि के सम्बन्धित विचार सम्मिलित हैं।

प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का खण्डन

की आदर्शवादी और कान्तिनिक सिद्धान्त के बेन्थम कोई शत्रु नहीं थी। उसने जीवन की व्यावहारिक समस्याओं की अधिक महत्त्व दिया और अपने समकालीन समाज की समस्याओं का हल "लोकसे की चेष्टा की।" उसने विधिक कानून और व्यावहारिक प्रक्रिया की प्रत्येक समस्याओं और अनुसंधानों की व्यावहारिकता को बने और निकाला और उन्हें दूर करने की क्षमता की पर धन्यो उचित मर्तो का उसे बड़ी प्रशुद्धि मिला कि ब्रिटिश कॉमन लॉ (British Common Law) प्रति प्राचीन और सार्वभौमिकों के विकास का फल है तथा विस्मय मानवियों ने उसे विकसित करने में योग दिया है, अतः ऐसे कॉमन लॉ के बारे में सार्वजनिक उद्घाटन आवश्यक है। बेन्थम की आत्मा विद्रोह कर उसी क्रांतिक उसकी मान्यता थी कि किसी कल्याण की प्राचीनता तथा उसके सम्बन्धित व्यक्तियों की स्वाति उस कल्याण की प्रेरणा का

स्वायत्त-संरक्ष एवं निरालस प्रयत्न नहीं हो सकती। उसने चीपहा की कि विधियाँ क़ानून की वर्तमान आवश्यकताओं के अनुकूल होनी चाहिए। प्राचीन विधियों के सुन्धी-न घोर नवीन विधियों के निर्माण की उचित क़ानूनी सामाजिक दित है।

मकनी इस स्वायत्तारिक बुद्धि एवं कारणा से प्रेरित होकर केन्थम ने लॉक द्वारा विवेक रूप से प्रतिपादित प्राकृतिक अधिकारों (Natural Rights) के सिद्धान्तों की पूर्णतः समान्य दृष्टि दित। उसने प्राकृतिक अधिकार सम्बन्धी विचारधारा को 'पूर्वजगत्', 'निराल तथा स्वायत्तारिक अधिकार' एवं 'सामाजिक तथा विभन्न घोर प्रभाव का एक बहुबद्ध-स्रोत' बताया। लॉक ने प्राकृतिक अधिकारों की कल्पना करते हुए उस दशा को 'अज्ञात', 'सहयोग' और 'स्वतन्त्रापूर्ण' माना था। उसके अनुसार प्राकृतिक अधिकारों से कुछ प्राकृतिक नियम (Natural Laws) तथा प्राकृतिक अधिकार (Natural Rights) प्रचलित थे। ये व्यक्ति की आरम्भिक दशा के मौलिक अधिकार थे। लॉक की मान्यता थी कि प्राकृतिक अधिकार सार्वभौम हैं और उनकी रक्षा करने के लिए ही मनुष्य ने राज्य की कल्पना दित। राज्य द्वारा प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त के विरुद्ध आचरण करने पर व्यक्ति की यह भी अधिकार हैं कि वह राज्य के प्रति विद्रोह कर-दे पर केन्थम ने लॉक के सिद्धान्त का विरोध करते हुए कहा कि इनके व्यक्तियों के मूल में कोई बुद्धि नहीं होती। प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का खण्डन करने से केन्थम ने 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम मूल' वाले उपवीथितावादी मूल का आशय दित। अनुसार केवल वही सिद्धान्त मान्य और उचित है जो क़ानून के अधिकाधिक व्यक्तियों को अधिकतम मूल प्रदान करे। 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम मूल' से कोई एकतरफ़ा दित न है उसने बताया सिद्धान्त अपने और मान्य है। केन्थम ने कहा कि अधिकारों का निर्माण ही सामाजिक परिस्थितियों से होता है। "अधिकार मानव के मूलभूत जीवन के निरूप हैं जिन्हें राज्य के क़ानून द्वारा मान्यता प्रदान की जाती है। राज्य ही क़ानून अधिकारों का स्रोत है और नागरिक राज्य के विरुद्ध अपने किसी भी प्रकार के प्राकृतिक अधिकारों का दावा नहीं कर सकते। कोई भी अधिकार राज्य के भोला-भोव से बाहर नहीं है। सभी अधिकार राज्य के अन्तर्गत ही सम्भव हैं। केन्थम का कहना था कि वही अधिकार स्पष्ट है जो क़ानून के अधिकाधिक व्यक्तियों के लिए उपयुक्त हो।"¹

सैद्धांतिक रूप से प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त बहुमत की विरुद्धता को स्वीकृत करने वाला प्रतीत होता है, किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं है। ज़ॉस में मानव-अधिकारों की संरक्षा उन दुकरी व्यक्तियों से से किसी की भी प्राण-रक्षा नहीं कर सभी जिन्हें ज़ॉस के क़ानूनीकारी आचार्यों के समक्ष प्रस्तुत दित गया था। इसी प्रकार अमेरिका की स्वाधीनता की घोषणा ने भी एक दुकरी की दालता से बुद्धि प्रदान नहीं की। आदर्शवादी सामाजिक विचारों के भिन्न हुए केन्थम ने 'सामाजिक' के सिद्धान्त पर आश्रय करते हुए लिखा है, "पूर्ण सार्वभौम सिद्धान्त असम्भव है और यह सब प्रकार के सामाजिक-रूप की विरोधी है। क्या मान्य में सब मनुष्य सार्वभौम

उत्पन्न होते हैं ? क्या वास्तव में एक मनुष्य स्वतन्त्र रहते हैं ? वास्तव में एक मनुष्य, बिना एक भी अवधारणा के वास्तव की स्थिति में अन्य भेदे हैं ।¹

अनुसन्धवादी धारणा का स्पष्टन

बेन्थम ने राज्य की उत्पत्ति के मनुसन्धवादी और सामान्य सिद्धान्त की प्रतीति कर दिया । समझौता-सिद्धान्त द्वारा वास्तव-वास्तव के कर्तव्य का कोई विनिर्णय प्रतिपादन नहीं होता । व्यक्ति राजाशासक का वास्तव इसलिए नहीं करता है कि उसके पूर्वजों ने इसके लिए कोई समझौता किया था । व्यक्ति इसके लिए किसी ऐतिहासिक समझौते द्वारा बाध्य नहीं है । वह राज्य की भावना इसलिए मानता है क्योंकि ऐसा करना उसके लिए उपयोगी है । राजनीतिक समाज, राज्य, अधिकार, कर्तव्य आदि किसी समझौते या सहमति से उत्पन्न नहीं हुए हैं । उनके उत्पन्न होने वाले होने और सफल होने में वर्तमान क्षण तथा उपयोगिता की भावना प्रबल रही है । सामाजिक उपयोगिता के विचार से ही राज्य का जन्म हुआ । मनुष्य राज्य और उसकी भावना को इसलिए धिरोपाई करता है जिससे उसके द्वारा उसकी सुख-आप्ति का मार्ग प्रशस्त हो । इसीलिए वह विविधों का पालन करता है । इस प्रकार राजाशासक-पालन की वह एक भावना मान लेता है ।² जिस समूह में इस प्रकार की भावनाएँ बन जा रही हैं, धर्मवादी बनती जाती हैं, वह राजनीतिक समाज कहा जाने लगता है । वास्तव में वास्तव ही समाज और राज्य का आधार है, समझौता नहीं ।

बेन्थम की राज्य-सम्बन्धी धारणा का उपयोगितावादी आधार

बेन्थम के राज्यवादी का निर्माण उपयोगितावादी आधार पर हुआ है । वह राज्य की मनुष्यों का ऐसा समूह समझता है, जिसे मनुष्य ने अपनी सुख-वृद्धि के लिए सृजित किया है । वह राज्य के उद्देश्य की भावना सर्वप्रथम मनुष्यित रूप में करता है । उसके अनुसार राज्य का उद्देश्य है 'अधिकतम व्यक्तिों का अधिकतम सुख' (The Greatest Happiness of the Greatest Number) । व्यक्ति के जीवन का सर्वोत्कृष्ट विचार करना राज्य का कोई कर्तव्य नहीं है । इस प्रकार बेन्थम, जोड़े एवं धर्म की इस धारणा का विरोधी है कि राज्य का उद्देश्य एक अन्धे धर्मवादी नैतिक जीवन का विकास करना है । साथ ही, वह कभी के इस विचार से भी सहमत नहीं है कि राज्य का सर्वव्यक्ति की 'अधिकतम वास्तविक स्वतन्त्रता' प्रदान करना है ।

बेन्थम की राज्य सम्बन्धी धारणा में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि "अधिकतम सुख राज्य के सदस्यों के व्यक्तिगत सुखों का एक योग मात्र है जिससे समाज समाज का सामूहिक हित प्राप्त नहीं है ।" इस प्रकार बेन्थम ने, लिए व्यक्ति ही व्यक्तिगत हित है । समाज उसकी दृष्टि में एक ऐसा सामाजिक विकास है जिसकी लक्ष्य पक्ष सामाजिक के व्यक्तिगत अर्थों के लिए किसी भी व्यक्ति नहीं है । राज्य का अधिकतम व्यक्ति के लिए है व्यक्ति का राज्य के लिए नहीं । मनुष्य बेन्थम का मनुष्य की सामाजिक अर्थव्यवस्था में विचार नहीं है, तथापि वह देन, कभी धर्मवादी

1 Jones : *Masters of Political Thought*, Vol. II.

2 *Principles of Political Economy* from Rousseau to Spencer, p. 218.

नकि धर्म के सार के व्यक्तिवाद का सम्पर्क है। उसके लक्ष्य में, "समाज एक इष्टिम सङ्गठन है जो इसके सदस्य माने जाने वाले व्यक्तिों से बना है। व्यक्ति के कल्याण की बात समझे बिना समाज-कल्याण की चर्चा करना व्यर्थ है। किसी भी कानून की हितकारी व्यवस्था किसी व्यक्ति के लिए लाभदायक नहीं कहा जाता है जब वह उसके दुष्टी के योगफल से वृद्धि करे, जबकि दूसरे शब्दों में उसके दुष्टों के पीनपन से कमी करने में सहायक हो।"¹

केन्थम के अनुसार राजाशा के शासन का वास्तविक कारण यह नहीं है कि "हमारे दुर्बलों में छाता-बालन करने का कोई समझौता हुआ था, और न ही उसका कारण हमारी अनुमति है।" उसके अनुसार राज्य की शाखा का शासन अनुमति इसलिए करते हैं कि ऐसा करना उनके लिए उपयोगी है और छाता-बालन के सम्भावित दोष व्यवस्था के सम्भावित दोषों की क्षतिपूर्ति नहीं करेगा।

केन्थम के मत में कोई भी सरकार नहीं तक अस्तित्व में रह सकती है जब तक प्रजा उसका साथ देती है। राज्य नागरिकों की सामान्य हित में किसी हित प्रतिष्ठान करने के लिए पुरस्कार एवं दण्ड-व्यवस्था द्वारा प्रेरित कर सकता है। यदि सरकार अपने प्रमुख कर्तव्य अर्थात् समाज के सामान्य सुख का ध्यान करने का वाचन नहीं करती तो जनता की उसकी भाषा की अवहेलना करने का अधिकार है। केन्थम का यह मत है कि राज्य एक विधि-निर्माता निवास है, न कि एक वैयक्तिक अनुमान जिसका ध्येय जनता का वैयक्तिक कल्याण हो।

कानून सम्बन्धी धारणा (Theory of Law)

केन्थम के अनुसार राज्य एक विधि-निर्माता निवास है, यद्यपि जनता के साथ इसका सम्बन्ध कानून द्वारा स्थापित हो सकता है। इस प्रकार कानून सम्बन्ध का धारण है। सम्बन्ध की दृष्टि ही कानून के रूप में उभरती है। उसकी यह धारणा हमारे के अनुकूल ही है। केन्थम का कथन है कि सम्बन्ध के निमित्त धारणी अर्थात् कानूनों का शासन करना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है क्योंकि इस छाता-बालन में ही उसका और सबका कल्याण निहित है। हमारे लक्ष्य में कानूनों की उपयोगिता स्पष्ट-निष्ठ है, यद्यपि उनका शासन होना चाहिए। प्राकृतिक कानूनों की धारणीकार करते हुए केन्थम ने मुख्यतः दो ही कानून माने हैं—कैसी तथा मानवीय। कैसी कानून या तो पुरस्कार है या दण्डनीति। उनका स्वरूप भी निर्दिष्ट नहीं है। यद्यपि मानवीय कानूनों का निर्दिष्ट रूप राज्य के लिए आवश्यक है। केन्थम की परिभाषा के अनुसार, "कानून एक राजनीतिक समाज के व्यक्तियों के रूप में सम्बन्ध की दृष्टि की प्रतिबिम्बित है जिसका उद्देश्य समाज में शासन करने है।"² प्रत्येक राज्य में सम्बन्ध मानव मनुष्य द्वारा निर्मित कुछ कानून अवसर होने चाहिए।

1 Bentham : op. cit., p. 1.

2 "Law is the expression of the sovereign will in the form of a command of a political society which gets the natural obedience of its members."

बेन्थम की दृष्टि में "कानून एक आदेश है, एक प्रतिबन्ध है और इतकिए वह स्वतन्त्रता का शत्रु है।" जीवन की उपयोगितावादी योजना में स्वतन्त्रता का कोई विशेष स्थान नहीं हो सकता। स्वतन्त्रता कुछ का कोई सामान्यतः तत्त्व नहीं है, परन्तु इसे कुछ के सामने समर्पण कर देना चाहिए। मनुष्य की सुरक्षा की आवश्यकता है स्वतन्त्रता की नहीं, इसीलिए स्वतन्त्रता को 'एक स्वाभाविक तथा अथवा धर्मिक' बनाने की ज़रूरत नहीं करनी चाहिए। यद्यपि यह है कि कोई, मॉन्टेस्क्यू, क्यो वगैरह ने जिस वैयक्तिक स्वतन्त्रता को स्वीकृत किया, बेन्थम ने उसे अपने चिन्तन में कोई महत्व प्रदान नहीं किया। बेन्थम के लिए "कुछ ही एकमात्र अन्तिम नतीजा है और स्वतन्त्रता को जहाँ नतीजा पर बना जाना चाहिए। राज्य का ध्येय अधिकतम सुख है, अधिकतम स्वतन्त्रता नहीं।"¹ बेन्थम की विचारधारा में स्वतन्त्रता को जो नीति स्थान प्राप्त है, उसे सो. सोसिटी (Society) में बड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है—

"कानून का मुख्य उद्देश्य सुरक्षा है और सुरक्षा के सिद्धान्त का आशय यह सभी आकांक्षों को कायम रखना है जिन्हें स्वयं कानून उत्पन्न करता है। सुरक्षा सामाजिक जीवन और कुली जीवन की एक आवश्यकता है जबकि समता (Equality) एक प्रकार की विलासिता है जिसे कानून केवल तभी सीमा तक प्रदान करा सकता है जहाँ तक उसका सुरक्षा से कोई विरोध न हो। जहाँ तक स्वतन्त्रता का सम्बन्ध है वह कानून का कोई मुख्य उद्देश्य नहीं है, बल्कि वह ही सुरक्षा की एक ऐसी शाखा मात्र है जिसमें कानून काट-छाँट किए बिना नहीं रह सकता।"²

बेन्थम ने विधि-निर्माण के लिए अपने उपयोगितावादी सिद्धान्त की प्रयोग करने की राय दी है। प्रत्येक विधि को सर्वाधिक लोगों के सर्वोच्च कल्याण के उद्देश्य से ही बनाना चाहिए। डेसाइन (Desire) के अनुसार, "बेन्थम का विश्वास था कि अधिकतम सुख का सिद्धान्त एक सुभक्त विचारक के हाथों में एक प्रकार का सर्वोच्च सामान्य प्रदान करता है। इसके द्वारा वह 'विशेष तथा विधि के हाथों सुख के अर्थ' बनाना सकता है।"³ बेन्थम ने राजघराना द्वारा निर्दिष्ट प्रत्येक विधि को उसकी उपयोगिता की नज़रों से बनाया है। विधियों की उपयोगिता तीन प्रकार के सिद्ध होती है—(1) वह राज्य के प्रत्येक नागरिक को सुरक्षा प्रदान करती है या नहीं, (2) उसके लोगों की आवश्यकता की अनुरूप संशोधन यात्रा में उपयोग होने वाली है या नहीं, एवं (3) प्रत्येक नागरिक एक दूसरे के साथ समानता पर अनुपम करता है या नहीं। यदि विधियाँ इन नतीजों पर उपयोगी सिद्ध होती हैं, तो विधि का महत्व प्राप्त हो जाता है। विधियाँ अपने स्थायित्व और अपनी सामाजिकता मान्यता

1 "Happiness is the only ultimate criterion and liberty must submit itself to that criterion. The end of the state is the maximum happiness not the maximum liberty."
—Wagner: op. cit., p. 96.

2 Sartre: History of Political Philosophy, p. 271.

3 डेसाइन: उपयोगितावाद का इतिहास, पृष्ठ 2, पृष्ठ 638.

ये साधनको को मुख देती हैं। किसी विधि की उपसोधिता की जीव करने के लिए यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि (क) जिस बुराई को दूर करने के लिए विधि-निर्माण होता है वह वास्तव में बुराई है, और (ख) यदि एक बुराई को रोकने के लिए दूसरा साधन अपनाया ही नदे, तो साधन की बुराई अपेक्षाकृत कम होनी चाहिए। केन्थन का विचार था कि प्रत्येक विधि व्यक्तिही की, जिन्हें वह प्रभावित करती है, कुछ न कुछ अनुविधा को पहुँचाती ही है—जबकी सम्बन्धिता में कभी होती है जिससे उन्हें कुछ होता सामाजिक है। इस दृष्टि से प्रत्येक विधि एक बुराई है।¹ लेकिन चूँकि इस अनुविधा में भी सीधी की कलाई निहित है और एक नयी बुराई इससे दूर होती है, अतः विधि-निर्माण उपसोधी है। राज्य का उद्देश्य यही होना चाहिए जो व्यक्ति के जीवन का है यहाँ उपसोधिता में वृद्धि।²

केन्थन ने 'सबसाध्यम्' या बहुलधन की नीति' (Laissez Faire) की समझकर मुक्त-व्यापार एवं स्वच्छन्द प्रतिस्पर्धिता आदि का समर्थन किया है। कला का साधारण उपसोधिता है, अतः लोकसम्बन्धमय राज्यो में कानून की जरूरत होना चाहिए ताकि लोग इसे समझ सकें। साथ ही ऐसे कानूनों में लोगों के अधिकतम सुख का ध्यान रखा जाना चाहिए। केन्थन ने कानून के दो कार्य बताए हैं—संरक्षित तथा पराहित। कानून का सर्वप्रमुख कार्य "नर्बद्धि की भाषना की एक प्रकार अनुशासित करना है जिससे वह अपनी इच्छा के विरुद्ध भी अधिकतम सुख प्राप्त में योग दे सके।" यदि कोई कार्य समाज-हित के विरुद्ध है तो वह दण्डनीय है। अधिकारी और कर्मियों का निर्धारण करते समय केन्थन ने यह स्पष्ट कहा है कि विधायक को राज्य के हितों को भी अपने हितों के समान ही समझना चाहिए। इसे विधि-निर्माण में निम्नलिखित चार बातों पर विशेष रूप में ध्यान देना चाहिए—(1) साक्षीविता (Subsistence), (2) प्रचुरता (Abundance), (3) समानता (Equality) और (4) सुरक्षा (Security)। विधि-कार्य को इनके अन्तर्ग में ही देना चाहिए यहाँ व्यक्तिगतिक लोगों के हित में इन बातों का ध्यान रखते हुए ही विधि-निर्माण करना चाहिए। केन्थन 'सबसाध्य' की दृष्टि में ही निहित मानता है। इन चार बातों में से कर्मों की व्यवस्था में वह निर्लक्ष्य करना विधायक का काम है कि उपानयता जिसे दी जाए। बड़े केन्थन के अनुसार इन प्रथाओं का कम सामान्य होना चाहिए—साक्षीविता, सुरक्षा, प्रचुरता, समानता।

केन्थन ने दार्शनिक के उपसोधनी कानूनी की सामोचना कर उन्हें तथा रूप देने का प्रयास करते हुए कानूनों का वर्गीकरण चार भागों में किया था—सामर्थ्यपूर्ण कानून, सामाजिक कानून, नगरिक कानून और सौख्यकारी कानून। उनमें 'कानून में सुधार' का सम्बोधन सीधे कर लेख कानून के निम्न चार लक्ष्य बताए—(1) कानून जनता की भाषा-भाषाओं का निरर्थक-वृद्धि के विपरीत नहीं होना चाहिए, क्योंकि ऐसे कानूनों के प्रचलन से सामाजिक सम्बन्धन बिगड़ कर बिछीड़ते

1 Jones : op. cit., p. 377.

2 .. edition : Theory of Legislation, p. 28.

की मानविक गृष्टभूमि तैयार होनी है। (2) कानूनों की जल्दी का काम होना चाहिए। इसके लिए प्रचार, उपक्रम, अवसर-निर्माण आदि का प्राथम्य देना चाहिए। (3) कानूनों में विरोधाभास नहीं होना चाहिए और उपयोगिता का लक्ष्य कायम रहना चाहिए। (4) कानून-निर्माण सरल, स्पष्ट एवं सुवीच भाषा में प्रकाश भाषाओं में होना चाहिए। (5) कानूनों की व्यावहारिक होना चाहिए, तथा (6) कानूनों का पूर्ण रीति से पालन होना चाहिए और कानून का के लिए आवश्यक दण्ड-व्यवस्था भी होनी चाहिए क्योंकि कानून मजबूत करके सब निरतना समाज में सहायकता का प्रभाव फैलाए।

न्याय-व्यवस्था (Administration of Justice)

केम्ब्रिज के न्याय-व्यवस्था में महान् सुधार किए। उसे न्याय के प्रतिपादन और दण्डित करने के लोगों को सुधी देखने की सीख सन्निताया थी। उन्होंने तत्कालीन ब्रिटिश न्याय-व्यवस्था की सीख आलोचना की। अपने बाह्य कि न्याय-व्यवस्था निर्णयक विधियों की स्पष्ट कर दे, व्यावहारिक विधियों को त्याग दे एक नैतिक सुव्यवस्थित रूप से सरल, सुवीच तथा स्पष्ट शब्दों में व्याख्या करे। केम्ब्रिज ने अपने देश की विधियों का अध्ययन जल-साधारण (जिनके लिए वे विनिर्दिष्ट बनाई गई थी) के दृष्टिकोण से किया। सेबाइन (Seaborn) ने लिखा है कि केम्ब्रिज के अनुसार, "सभी व्यवस्थाओं में विधान की उपयोगिता बरकरार का आधार यह है कि वह किस सीमा तक उपयोगी होता है, उसकी कार्यक्षमता करने में कितना व्यवसाय है और उसमें किस सीमा तक विधियों की एक ऐसी व्यवस्था स्थापित होती है जो समुदाय के सन्निहित सार्वभौम के लिए लाभदायक सिद्ध हो। किसी कार्य की सन्निहितपूर्ण बनाने के लिए उपयोगिता ही एकमात्र उचित आधार है। सम्पत्ति सम्बन्धी सन्निहित सामान्य रूप से इसलिए उचित होते हैं क्योंकि वे सुरक्षा की भावना प्रदान करते हैं। जिस व्यक्ति के पास सम्पत्ति होती है, वह अपना अधिक कानून-सम्बन्धित करता है तथा सन्निहितता और निराशा से उत्पन्न होने वाली उत्पत्तियों से बच जाता है। सम्पत्ति के सन्निहित से कुछ हद तक सामाजिक सुरक्षा का भाव उत्पन्न होता है। केम्ब्रिज के मत में सम्पत्ति की सुरक्षा सन्निहित रूप में प्राप्त करने की एक प्रणाली नहीं है, लेकिन इसका विचार है कि वह एक सार्वभौमिक सन्निहित सिद्धांत है। इसका सन्निहित यह है कि सम्पत्ति के वितरण की कानून द्वारा रक्षा हो। उसकी यह दृष्टि नीति थी कि विधि द्वारा एक बात का प्रमाण होना चाहिए जिससे सम्पत्ति का समान वितरण हो या कम से कम समान की व्यवस्थाओं का निर्माण न हो। व्यवहार में उसे सुरक्षा और सहायता के बीच कामकाज सन्निहित स्थापित करना चाहिए।"¹

ब्रिटिश न्याय-व्यवस्था की बहुत आलोचना करते हुए केम्ब्रिज ने आरोप लगाया था कि "ब्रिटेन में न्याय देना जाता है और वह व्यक्ति, जो इसका काम नहीं करता करता, न्याय से वंचित रह जाता है।" केम्ब्रिज की यह दृष्टिकोण बड़ा शोक होता था कि तत्कालीन ब्रिटिश न्याय-व्यवस्था में व्यापारियों से छात्राधार का कोई साधन

कहीं था। शासन केवल वर्कित से किन्हीं बड़ी-बड़ी रखने पड़े के रूप में बेनी पकती थी। जन-साधारण को न्याय बहुत विरुद्ध से मिलता था। न्याय व्यवस्था का धीरे-धीरे धीरे के बीच में विनिर्दिष्ट रहते थे। मुकदमों में बाड़ी और प्रक्रियाओं दोनों पक्षों के लिए न्याय-प्रक्रिया के माध्यम से न्याय काचार्य काही कर दी जाती थी।

डेन्मार्क 'महालालों की कार्य-विधि' की स्थापना करना चाहता था और जनकी कार्य-प्रणाली की स्थापना चाहता था। इसके लिए पहले जन का प्रतिक्रिया और परिणामों की हानि का सुधार दिया था। जन-साधारण के अधिकारों की रक्षा के लिए आवश्यक समझे गए थे। डेन्मार्क ने 'सोवियट सोनियट' में संविधानिक विधि के बारे में दिन-दिनांशों की स्थापना की थी, उसने प्रक्रिया विधि के ऊपर किताबों को मान्य किया। पहले यह ठीक ही कहा कि शासन की स्थापना से सम्बन्धित वैधिक प्रक्रिया-कार्य और प्रक्रिया विधि इन विचारों पर आधारित है कि मौलिक विधि निरूपित है और शासन कायम रहता है। डेन्मार्क का तर्क था कि यदि यह विचार सही है तो उचित उपचार प्रदान करने की आवश्यकता नहीं बल्कि विधि से सुधार करना है। उनका कहना था कि विधि से प्रक्रिया-विधि, प्रणाली और प्रक्रिया-विधि होने के कारण सभी बलता है, देरी होती है, मुकदमों की स्थापना मिलता है, बहुत से लोगों को न्याय नहीं मिल पाता और वैधिक प्रक्रियाओं का परिणाम सदैव धीरे-धीरे तथा अनिश्चित रहता है। डेन्मार्क इस पद्धति की प्रक्रिया-विधि कहता था और उसका विचार था कि "यह जनता की समझ के लिए सभी का एक प्रकार का प्रणाल्य है।" उल्लेखनीय है कि डेन्मार्क ने 'सोवियट सोनियट' में ही सभी लोगों के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की थी और अपने सम्पूर्ण जीवन-काल में यह उनके प्रति इसी प्रकार के विचार प्रकट करता रहा।

डेन्मार्क की मान्यता थी कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना अधिकार बनना चाहिए। यह एक विचारों के माध्यम प्रक्रिया-विधि के स्थान पर प्रक्रिया-विधि कार्यवाही का समर्थक था। उनका कहना था कि विचारों को सभी पक्षों के बीच समझौता करने का प्रयास करना चाहिए। मुकदमों में कोई भी शासन सम्बन्धित किए जाने की आवश्यकता नहीं चाहिए और सम्बन्धित के निवारण के लिए कठोर नियमों की अपेक्षा न्यायिक विवेक का प्रयोग किया जाना चाहिए। प्रणाली के समर्थन के बारे में डेन्मार्क का विचार था कि न्यायाधीशों और प्रदातकों के सम्बन्धित प्रक्रियाओं के स्थान पर सीधे ही जाएं। डेन्मार्क को यह भी पता नहीं था कि प्रणाली के क्षेत्राधिकार एक दूसरे का प्रतिस्पर्ध करे। डेन्मार्क दूरी-उत्था के विरुद्ध था। यह एक ही न्यायाधीश द्वारा किसी मुकदमे का निर्णय किए जाने का समर्थक था। डेन्मार्क (Dansk) के मन्त्री ने, "डेन्मार्क न्यायाधीशों के बारे में पक्षों पर एक नया उत्तरदायित्व होने का समर्थक था और इस विषय में यह 'डिम्बुलन' की अपेक्षा एक ही न्यायाधीश रखने के पक्ष में था। उनकी मान्यता थी कि किसी मामले पर तीन न्यायाधीशों का निर्णय करना लोगों के ही उत्तरदायित्व में करी करवा है।"

डेन्मार्क के द्वारा न्यायाधीशों के प्रति सम्मान के भाव नहीं थे। न्यायाधीशों के बारे में उनका कहना था कि, "वे लोग विधिक और प्रदातक प्रति के हैं जो सब

अपमानों को सहन कर लेते हैं तथा किसी भी बात पर झुक जाते हैं। इनकी बुद्धि न्याय और अन्याय के भेद की सम्मति से अक्षम है और उदासीन रहती है। वे सोम बुद्धि-मूढ़, अल्पबुद्धि, दुराचारी और आलसी हैं। वे भूँड़े धन से नाप जाते जाते, विरक्त एवं सार्वजनिक उपलोपिता की आवाज के प्रति बहुरे, शक्ति के अग्रे नतमस्तक और साधारण से स्वार्थ के लिए वैयक्तिकता का परिचय करने जाते हैं।¹⁷

केन्सम के विधि सिद्धान्त ने विशेषज्ञतात्मक म्याक्सिमम का दृष्टिकोण स्थापित किया। 19वीं सताब्दी में प्रवेश और अमेरिकी विधि-वेत्ता इस विधि के परिचित थे। यह सम्प्रदाय विशेषतः जॉन कार्लिन के नाम से प्रसिद्ध है। "लेकिन कार्लिन ने केवल केन्सम के विचारमलय चर्चा में बिहारे हुए विचारों को व्यवस्थित रूप दिया था। राजनीतिक सिद्धान्त में कार्लिन के कार्य का प्रभाव यह था कि उसने प्रमुखता के सिद्धान्त को प्राथमिक महत्व दिया। यह सिद्धान्त भी एक प्रकार के केन्सम की ही देन है। यह सिद्धान्त केन्सम की उस सीढ़िया का एक भाग था जिसके द्वारा यह अदालती पर सफाई का निम्नस्थ स्थापित कर जनता सुधार करना चाहता था।"¹³

बेन्धम के विचार उसके जीवनकाल में समुचित आधार नहीं था, किन्तु उसके द्वारा प्रतिपादित मध्यम सभी सुधार काल-तर में अपना लिए गए। बेन्धम के मध्यमकाल के आधार पर इंग्लैण्ड की म्याम-मध्यमता में सामूल सुधार हुआ और 19वीं सताब्दी में उसे पूर्णरूप से स्वीकृत कर सामुहिक रूप दिया गया। यद्यपि उनके विचारों को एक साथ ही व्यवस्थित रूप देकर कार्यक्रम में परिणत नहीं किया गया और उसके विचार, विशेषकर अधिजीवि-विधि की सहितामय करने सम्बन्धी विचार सभी स्वीकार नहीं किए गए, किन्तु इंग्लैण्ड में एक के बाद एक अविनिवार्य का निर्माण कर विधि और सदासत्यता का पूर्ण सुधार दिया गया तथा समाजिक व्यवस्थाओं में बेन्धम द्वारा निर्दिष्ट कार्य अपनाया गया। बेन्धम में जोकर की प्रत्येक दिशा में प्रेरणा प्रदान की। म्याम-प्रणाली और विधि-सुधार के इतिहास में जो बेन्धम का स्थान बहुत ही ऊँचा है। सर हेनरी मेन के अनुसार—“बेन्धम के समय के सामुहिक काल तक विधि-मध्यमता में जितने भी सुधार हुए हैं, उनमें से मुझे एक भी ऐसा नहीं लगता जिसकी प्रेरणा बेन्धम से प्राप्त न हुई हो।” यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि बेन्धम ने उपनिषद् को, समाजशास्त्र को, समाजशास्त्र को, सर्वत्र प्रमुख स्थान दिया था। बेन्धम के काल में “बेन्धम का मध्यमकाल विचारक कार्य उसका सबसे महान् कार्य था। यह 19वीं सताब्दी की सबसे महत्वपूर्ण नीतिगत उपलब्धियों में से था। म्यामकाल की बेन्धम की मुख्य देन यह है कि उसने अपने सम्बन्ध में प्रतिपादित इतिहास की विधि की समस्त सामाजी, दीनारी तथा औद्योगिक विधि, प्रक्रिया विधि और म्याम-मध्यमता के कठिन परताप दिया। सभी व्यवस्थाओं में उसका प्रयोग जैसा कि उसने मध्यम में ही सर्वोच्च प्रयोग के विरोध में कहा था,

¹ Preface ed. R. C. Munneger, p. 104.

2. **केन्द्रित** : पारम्परिक दार्शनिक का दृष्टिकोण, भाग 2, पृष्ठ 642

विवक्षात्मक न होकर स्वाधीनतावाक, स्वातन्त्र्यवाक तथा विस्थापक था। उसने न्याय-शास्त्र की सभी शाखाओं में प्राविधिक पद्धति के स्थान पर स्वाभाविक पद्धति को प्रतिष्ठित किया। प्राविधिक पद्धति का प्रतिपादक यह है कि विधि के परम्परागत नवीकरण और प्राविधिक प्रक्रियाओं, प्रभावशाली समझौतों, घातों और उपक्रमों को व्यवसाय माने। इसके विपरीत स्वाभाविक पद्धति समस्त विधियों, प्रतिपक्षों और प्रक्रियाओं की उपयोनिता की सम्भावनाओं में व्यक्त करती है। वह समस्त कानूनों की अधिकतम संख्या के प्रतिस्तरण दित की कठोरता पर बलती है। इस दृष्टिकोण के अनुसार न्यायिक स्वातन्त्र्यवाक यह है कि बीवनीय परिस्थितियों की प्राप्ति करने के लिए उचित रूप में व्यवस्था स्थापित की जाए।¹

केन्वम के कानून सम्बन्धी विचारों के स्पष्ट है कि वह राज्य की प्रमुखता का पक्षधर है। वह सम्प्रभुता की विशेष एवं सशर्तित मानता है। उसकी दृष्टि में सम्प्रभुता का प्रत्येक कार्य-व्यवस्था है। राज्य अपने प्रमुख से ही व्यक्त की अधिकतम शक्ति के अधिकतम दित में कार्य करने के लिए समस्त अपना पुरस्कृत करता है। सम्प्रभुता के सम्बन्ध में केन्वम ने सशर्तीय, सम्प्रभु, सर्वोच्च शक्ति का प्रत्येक नहीं किया क्योंकि राज्य की प्रत्यक्ष-व्यक्ति या सम्प्रभुता शक्ति न बनकर विस्थापक नहीं था। वह राज्य की विधि-विमर्श सम्बन्धी क्षमता की सम्प्रभुता मानता है, किन्तु उसे भी उपयोनिता की कठोरता पर बलता है। वह उसकी दृष्टि में अनुचित है कि राज्य की सम्प्रभुता पर कोई सीमा ही नहीं मान सली। लोकमत प्रस्थापन सम्प्रभुता की प्रस्थापना है। राज्य की सम्प्रभुता पर जिस सीमा की बलता की जा सकती है वह है 'जब द्वारा सत्य विरोध की सम्भावना।' केन्वम के विचार में, "यदि विस्थापन प्रत्यक्ष किसी विधि का विरोध करता है तो सम्प्रभुता का कार्य-व्यवस्था है कि उसे कानून का रूप बदल दे।"² सम्प्रभुता अपने घातों या प्रमुखों द्वारा ही व्यक्त के अधिकारों का अनुसूचित प्रस्थापन करता है। केन्वम सम्प्रभुता के स्वातन्त्र्यवाक और कानूनों के प्रति सम्मान की व्यक्तियों से उसी सीमा तक प्रस्थापन करता है जहाँ तक उसे लाभ हो, अपना उपयोनिता की प्रति हो। यदि कानूनों की उपयोनिता स्पष्ट है और और अन्य दृष्टि होने से तो उपक्रम प्रतिरोध करना सर्वथा उचित है। जहाँ प्रतिरोध सामान्य से लेकर व्यक्त तक का रूप धारण करता है, किन्तु प्रत्येक क्षेत्र में उपयोनिता का दृष्टिकोण प्रस्थापन मान्यक है। इन विचारों के प्राप्ति ही केन्वम यह भी प्रस्थापन करता है कि राज्य के सभी (भीतरी या बाहरी) कोई दूसरी ऐसी शक्ति नहीं है जो राज्य की किसी अधिकार की मानने या उत्पन्न के लिए बाध्य कर सके। केन्वम की यह धारणा सम्प्रभुता की सशर्तित शक्ति-सम्प्रभुता बना देती है। केन्वम सम्प्रभुता के सशर्तित प्रभाव दूसरे शब्दों में स्वातन्त्र्य अधिकारों का समर्थन प्रतीत होता है जहाँ कि स्पष्ट परम्परागत विधियों से उन्हें सीमित न किया गया हो। इन प्रकार केन्वम के विचारों में एक और भी सम्प्रभुता के प्रयोनिता

1 केन्वम : वही, पृ. 639.

2 *Murray: Political Philosophy*, p. 364

घोर भविष्यत भविकारों का भयक खोप लघावित किया गया है और दूसरी ओर परम्परागत तरीकों की रक्षा भी की गई है। सम्प्रभु पर प्रतिबन्ध केवल जनहित के धारणा पर ही जगाना उपयुक्त है। यदि जनवादी हितों पर आधारीत सामूहिक प्रतिरोध की सम्भावना हो तो सम्प्रभु इसे स्वयं समझ सकता है।

बेन्थम की दण्ड-सम्बन्धी धारणा

बेन्थम की मान्यता है कि सरकार की भाषा के अनुसार दण्ड दिया जाना चाहिए। छोटे-छोटे अपराधों के लिए ही सम्भीर अपराध गुरु-दण्ड देने से अपराधी की सज्जा कम नहीं होती बल्कि बढ़ जाती है। दण्ड का उद्देश्य व्यक्ति में सुधार लाना होना चाहिए ताकि सामाजिक सुधार हो सके। केवल बदला देने की भावना से दण्ड नहीं दिए जाने चाहिए। गुरु-दण्ड किसी को केवल डरो दिया जाना चाहिए जब उसके भवित्तिक समाज-सुधार का कोई उपाय योग्य न हो। दण्ड की भावने का पैमाना समाज-सुधार होना चाहिए। दण्ड अपराध की सम्भीरता के उपरान्त और परिस्थितियों के अनुसार होना चाहिए। साथ ही अपराधी को सार्वजनिक रूप से दण्ड दिया जाना चाहिए ताकि सार्वसाधारण को अपराधी से भय और घबराहट हो।

बेन्थम ने कुछ नीतिक सिद्धान्त प्रतिपादित किए जिनको दण्ड का निर्णय करते समर्थन प्राप्त हो सकता था। इनमें से प्रमुख ये हैं—

1. दण्ड की मात्रा अपराध के अनुपात में हो तथा दण्ड समान भाव से दिए जाएं।

2. दण्ड द्वारा अपराधी को अपराधक एवं निर्दयतापूर्ण पीका न पहुँचे। एवं जैसे अपराध के लिए दण्ड की मात्रा समान हो।

3. अपराध की गुरुता के अनुसार ही दण्ड का निर्धारण होना चाहिए। दण्ड घातक होना चाहिए क्योंकि इस प्रकार का हो तथा इस तरह किया जाए कि अपराधी एवं अन्य लोगों की उचित शिक्षा मिल सके।

4. दण्ड में सुधार की भावना निहित हो। दण्ड द्वारा अपराधी को भविष्य में अपराध करने के अवसर कम दिया जाए, किन्तु उपर्युक्त सिद्धान्त का प्रतिफल न हो।

5. अपराधी से क्या सम्भव उस व्यक्ति की सतिष्ठा कराई जाए जिसको उसके कारण दण्ड पहुँचा हो।

6. दण्ड जनमत के अनुकूल हो तथा अपराधी के प्रति सहानुभूति का साक्षात्करण उत्पन्न न होने दिया जाए।

7. दण्ड उद्देश्य प्राप्त होना चाहिए कि मूल का पता लगने पर उसे निरस्त किया जा सके अथवा पटारा जा सके।

8. गुरु-दण्ड सभी दिया जाना चाहिए जब वह सामाजिक सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक हो।

बेन्थम, वास्तव में उपरोक्तता के आधार पर दण्डों के निर्धारण के बल में था। तेजाइन की व्याख्या के अनुसार—“बेन्थम के विचार से दण्ड-विधि के क्षेत्र में

उपयोगिता के आधार पर दण्डों के एक उचित सिद्धान्त का निर्धारण किया जा सकता था। प्राथमिक पद्धति का आधार यह है कि भी शक्ति प्रदर्शित करता है, उसे दण्ड मिलना चाहिए। इस सिद्धान्त को केवल वर्तमान प्रणाली और विचारों के समर्थन में ही समझा जा सकता है। इसके विपरीत स्वाभाविक पद्धति यह है कि दण्ड सर्वत्र ही एक मुद्राई होता है क्योंकि वंश के कष्ट होता है। यह उही बीमा एक लाभ होता है वहीं एक बहु चरित्र की किसी भी मुद्राई को रोक्ता हो प्रकाश करने की किसी मुद्राई को दूर करता हो। दण्ड-विधान द्वारा व्यवस्थाओं का समर्थन करीकरण होना चाहिए। व्यवस्थाओं का परम्परागत करीकरण परम्पर विरोधी है और दुर्भाव है। तथा करीकरण इस आधार पर होता चाहिए कि किस कार्य से क्या चीज पहुँचती है, निम्नी चीज पहुँचती है और किस-किस की चीज पहुँचती है। व्यवस्थाओं के करीकरण के साथ ही दण्डों का भी करीकरण होना चाहिए जिससे विशिष्ट व्यवस्थाओं के लिए विशिष्ट दण्डों की आवश्यकता की जा सके और व्यवस्था की वही एक ही सके रोका जा सके या उक्त नियंत्रण किया जा सके। सामान्य रूप से नियम यह होता चाहिए कि दण्ड की बीमा व्यवस्था के साथ से अधिक हो, लेकिन इसे व्यवस्था की मुद्राई से बीमा हो बनाया होना चाहिए।¹

इंग्लैण्ड के उत्तरीय दण्ड-सामन्दी कादुनी के कट्टा मालीचक वैश्वम की दण्ड व्यवस्था 'निवारक सिद्धान्त' (Deterrent Theory) तथा सुधारवादी सिद्धान्त (Reformative Theory) का मिश्रण थी। दण्ड के प्रत्येक वस्तु पर अधिक वस्तु देने के साथ ही वैश्वम ने व्यवस्थाओं के सुधार पर ध्यान देने की भी परम्परा की थी। उसके अनुसार, "तभी प्रकार के दण्ड तब से एक मुद्राई है। यदि उपयोगिता के हित में इनको प्रयोग में लाया जाए तो वह उभी लाया जाए जब इसे द्वारा किसी मुद्राई का निवारण होता हो।" वैश्वम की मान्यता थी कि शक्ति के जीवन में जीवन का हस्तक्षेप कर से बन होता चाहिए क्योंकि प्रत्येक शक्ति अपने भले-बुरे को सभी अधिक उपयुक्त है। यह उपयोगिता के आधार पर ही दण्ड और व्यवस्था को नियंत्रित करता है। दण्ड का उद्देश्य प्रभावनी और सुधार-वादा है। केसाद्व के विचार है कि "वैश्वम पर प्रमुख रोमिनी की शक्ति व्यवस्था में उन बर्बर और प्रभावहीन दण्डों को हटा देने के पक्ष में था किन्तु 19वीं शताब्दी के मारम्भ में इंग्लैण्ड की दण्ड-नियम को विकृत रखा था। ऐसा प्रतीत होता है कि वैश्वम अपनी अन्य सुधार योजनाओं की तरह दण्ड-विधान के सुधार में भी लोकहित की दृष्टि से नहीं कायुद्-मान्यता-और कार्यप्रणाली की दृष्टि से प्रवृत्त हुआ था, क्योंकि वह मानता था कि वैश्वम ने अपना बहुत-सा समय और मन देशों के सुधार पर व्यय किया। वैश्वम के व्यक्तित्व की प्रेरक-शक्ति मायोहीन थी। उसे गरीबी की समस्याओं समझा व्यवस्थाओं वास्तविक के सुधार की प्रेरणा सामान्य जनता के हितों की अधिक विचार थी।"²

बेन्थम के अन्य सुधारवादी विचार

बेन्थम एक महान् सुधारवादी था जिसने घोर भी अनेक राजनीतिक तथा सैद्धांतिक सुधारों का समर्थन किया था। राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और लोकतन्त्र के प्रचलित कर्षाकरण को स्वीकार करते हुए उसने राजतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र को निरुपेक्ष उद्घाटा करके वे इतने अधिक दौलत हैं कि इनका सरलता से कदाचित् नहीं हो सकता। राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र के अधिकतम व्यक्तिओं के अधिकतम सुख की चारणा साकार नहीं की जा सकती। बेन्थम ने लोकतान्त्रिक शासन-व्यवस्था का समर्थन किया और चाहा कि कदाचित् कदाधिकार, अधिक सार्वभौम निर्वाचन, गुप्त मतदान, सार्वजनिक सेवाओं के नियुक्तियों के लिए प्रतिपक्षिता परीक्षा आदि सैद्धांतिक उपायों द्वारा स्वयं लोकतान्त्रिक व्यवस्था की स्थापना की जाए। वह ब्रिटिश प्रजापति का इसलिए विरोध करता था कि 'ब्रिटेन कुलीनतन्त्र से बस 'राजतन्त्र' था। बेन्थम की तरकसीन राजा और राष्ट्रीय के भावराज से बड़ा सीमा था और इसलिए उसने ब्रिटेन के लिए कण्टन्टीन व्यवस्था का समर्थन किया। उसने कुलीनतन्त्री लॉर्डकता को, जो उसकी दृष्टि में सार्वजनिक हितों के प्रति उदासीन रहने वाली थी, भग करने का सुझाव दिया। चाहे बेन्थम के सुझाव अविनाशित न हुए हों, लेकिन उसकी दूरदृष्टिता इस तथ्य से प्रमाणित होती है कि सांविधानिक संसदीयता द्वारा लॉर्डकता के घर काट दिए गए और विधि-निर्माण के क्षेत्र में उसे एक तरह से 'पंख' बना दिया गया। बेन्थम ने विधायकों के अधिकारों में वृद्धि का समर्थन किया ताकि वे नागरिकों के अधिकारों को सुरक्षित रखने में सहायक हों। बेन्थम के अनुसार विधायक 'नैतिक दोषरहित और निर्दोश' होते हैं।

बेन्थम ने श्रम-व्यवस्था में सुधार के रूप में बंदियों के श्रम-विभाग का सुझाव दिया ताकि वे औद्योगिकीकरण के योग्य बन सकें। बंदियों के सांविधिक सुधारों के लिए उसने नैतिक और धार्मिक शिक्षा का समर्थन किया। साम जनता के लिए उसने दो प्रकार की शिक्षा-योजनाएँ प्रस्तावित की—ग्राम, गरीबों और बनावों के लिए; तथा द्वितीय, मध्य एवं उच्च वर्गों के लिए। बालकों के लिए उसने परिवर्धित, कला-कौशल एवं व्यावसायिक शिक्षा प्रदान करने की योजनाएँ प्रस्तुत की। यह चाहुता था कि शिक्षा का भार राज्य बहुत करे ताकि सर्वसाधारण के लिए शिक्षा की व्यवस्था हो सके। उसका विचार था कि शिक्षा का उद्देश्य केवल मात्र ज्ञान की अभिवृद्धि ही न होकर जीवन की सुधारों और अनुशासित बनाना भी होगा चाहिए।

बेन्थम की अधिकार-सम्बन्धी चारणा

बेन्थम के अनुसार, "अधिकार, मनुष्य के सुखमय जीवन के वे नियम हैं जिन्हें राज्य के कानूनों द्वारा मान्यता प्राप्त होती है।" अर्थात् बेन्थम विधि-शास्त्र अधिकारों के अस्तित्व में ही विश्वास करता था एवं प्राकृतिक अधिकार के विद्वान्त को बरकात मानता था। बेन्थम की दृष्टि में अधिकार अभिव्यक्ति या संप्रतिबन्धित नहीं हो सकते, उनका निर्धारण उन्पेक्षिता के आधार पर होना चाहिए। बेन्थम के

अनुसार वेदा कि ऐसाइन ने लिखा है, "एक व्यक्ति के अधिकार का अधिपत्य यह है कि यदि दूसरा कोई व्यक्ति उसकी स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करेगा तो उसे दण्ड मिलेगा। दण्ड के भय से ही दूसरा व्यक्ति पहले व्यक्ति की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप से रोका जा सकेगा। इस प्रतिबन्ध का औचित्य इस आधार पर प्रमाणित होता है कि प्रतिबन्ध न रहने पर सम्भवतः दोनों अपनी मनमानी कर सकते हैं और दोनों को दण्ड हो सकता है। सभी अन्वेषार्थी ने विधान की अनवीक्षिता को परामर्श का आधार यह है कि वह किस सीमा तक अनवीक्षी है, उसको अन्वेषित करने के कितना श्रम होता है और वह किस सीमा तक विनिमयी की एक ऐसी आवश्यकता स्थापित करता है, जो समुदाय के अधिकांश सदस्यों के लिए लाभदायक होती है। किसी कार्य को सम्पन्नपूर्व करने के लिए अनवीक्षिता ही एकमात्र उचित आधार है।"

केन्थम ने सम्पत्ति के आधार की अवहेलना न करके सामान्य अनवीक्षिता के आधार पर उसका समर्थन किया है। निजी सम्पत्ति को सुरक्षित रखने के लिए केन्थम भी उसका ही विनिश्चित उद्देश होता है जिसका लक्ष्य। मुख्य अन्तर यही है कि यहाँ केन्थम निजी सम्पत्ति की अनवीक्षिता की कमी की पर कसता है यहाँ लक्ष्य उचित एक प्राकृतिक अधिकार मानता है। केन्थम के मत की व्याख्या करते हुए वेसाइन ने लिखा है कि सम्पत्ति के अधिकार सामान्यतः इसलिए दीक होते हैं क्योंकि वे सुरक्षा की आवश्यकता प्रदान करते हैं। जिस व्यक्ति के पास सम्पत्ति होती है, वह अपना प्रत्येक काम सोच-समझ कर करता है। वह अनिश्चितता और निराशा से उत्पन्न होने वाली उत्तरदायी से बच जाता है। सम्पत्ति के अधिकार से कुछ हद तक सामाजिक सुरक्षा का भाव पैदा होता है। केन्थम के मत में सम्पत्ति की सुरक्षा अधिकतम सुख प्राप्त करने की एक प्रभावशाली है, लेकिन उसका विचार है कि वह एक पक्षधर अनुसार विद्वान् है। इसका अधिपत्य यह है कि सम्पत्ति-वितरण की वैधानिक पर्याप्त प्राप्त हो। उसका यह दृष्ट मत था कि निम्न सम्पत्ति के समान वितरण के लिए विवादास्पद होती चाहिए ताकि मनमानी असमानताएँ उत्पन्न न हो सकें। अतएव में उसे सुरक्षा और समानता के बीच सम्बन्धनात्मक अनुमान स्थापित करना चाहिए। अन्वेषार्थ के उपलक्षण (Transcendentalism) की सीति सामान्यतः में सक्ति की पवित्रता की एक प्रकार का सम्मोहन माना गया है। केन्थम सक्ति की पवित्रता को इसलिए महत्व देता था क्योंकि वह पारंपरिक धर्म-धर्म के विचार स्थापित करती है।

केन्थम : अधिकारी का निम्न सामाजिक दृष्टिकोण में आवश्यकताओं और परिस्थितियों का आधार पर किया। उसने भी तब के अधिकारों का उल्लेख किया है—(1) वैधानिक समीक्षा के अधिकार जो अन्तर्गत अधिकारों द्वारा निमित्त विधि से प्राप्त होते हैं, और (2) वैधानिक अधिकार। वैधानिक अधिकारों से बाह्य आधारों के क्षेत्र में स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य किया जाता है। वैधानिक अधिकारों का नियम पारंपरिक आधारों है। पूर्ण स्वतन्त्रता और समानता के अधिकारों की बात करना निरर्थक है क्योंकि पूर्ण स्वतन्त्रता या पूर्ण समानता होना असम्भव है। एक ही व्यक्ति

ऐसा नहीं है जो अन्य के ही स्वप्न बना हुआ हो। यह मनुष्य पराधीन ही पैदा होते हैं।

केम्ब्रिज अधिकारी के साथ कर्त्तव्यों का भी समावेश करता है। कर्त्तव्यरहित अधिकार निर्मूल्य हैं। अधिकारों का निर्धारण सामयिक परिस्थितियों द्वारा होता है और अधिकार तथा कर्त्तव्य सम्बन्धित हैं। वैधानिक और नैतिक अधिकारों में राजनीतिक, नैतिक और सामयिक कर्त्तव्य भी मिश्रित होते हैं।

केम्ब्रिज के सिद्धान्तों की आलोचना (Criticism of Bentham's Theories)

केम्ब्रिज 18वीं सताब्दी के संसत्-मन्त्रालय का विचारक था, यतः इसने कोई आश्चर्य की बात नहीं कि उसके विचारों में साम्यवाद और विरोधाभास दिखाई देते हैं। मध्ययुग के प्राथमिक युग के राजनीतिक चिन्तन के मध्ययुग में कुछ विद्वानों ने वैयक्तिकता की प्राथमिकता का उचित माना है, जो कुछ ने खोई की। कुछ का यह विचार है कि 18वीं सताब्दी के अन्त और 19वीं सताब्दी के आरम्भ में केम्ब्रिज ने राजनीतिक समस्याओं के बीच में जो फिलान्थ्रोपानी अपनाई, उसके कारण केम्ब्रिज की प्राथमिक चिन्तनधारा का प्रथम विचारक माना जा सकता है। जेम्स मैथ्रिज ने लिखा है, "हम कई दृष्टियों से केम्ब्रिज के अधिक निकट हैं, कई दृष्टियों से हम वैयक्तिकता की दृष्टि से केम्ब्रिज से नहीं समिक दूर हैं। कुछ दृष्टियों से केम्ब्रिज 18वीं सताब्दी का चिन्तक है जो कुछ दृष्टियों से उसका राज-समन 19वीं और 20वीं सताब्दियों का परिचायक है।"¹ इन सभ्यों के द्वाारा से यदि केम्ब्रिज के विचारों से विरोधाभासों, असों और भ्रमों का समावेश है, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में केम्ब्रिज की रंग मनुष्य है, यद्यपि इस रंग पर विचार करने से पूर्व केम्ब्रिज के चिन्तन की आलोचनाओं का व्यवस्थित उपयुक्त होना—

1. केम्ब्रिज ने अपने उपनीतिशास्त्रीय सिद्धान्त को इतनी भीतिकारी बना दिया है कि उसे अपनाये से व्यक्ति की उन्नति नहीं होती, बल्कि व्यक्ति और समाज दोनों की साम्यवाद करना करता है। उसने वैयक्तिकता के सिद्धान्तों को फिलार्थि से री है। नीतिक मानव की महत्त्व देते हुए उसने सन्तुष्ट, बर्ष-बर्ष, सद्-सन्तुष्ट का कोई स्थान नहीं दिया है। यदि कुछ कदमास एक समय की मूल्य समझा तब करने से कुछ पाले हैं जो केम्ब्रिज के सिद्धान्त के अनुसार हमने कोई अर्थिकता नहीं होती क्योंकि हमने केवल एक को दुःख मिलता है जबकि व्यक्ति दोनों को सुख। इसीलिए आलोचकों ने यहाँ तक कह दिया है कि केम्ब्रिज ने मनुष्यों को पशु मान लिया है। गुरे (Murray) के हक में, "यदि हम केम्ब्रिज के अनुसार मनुष्य की विवेक-शक्ति समझा उसके सन्तुष्ट-करता की समझ नहीं करते तो समाज में सदाचार और सनाचार के बीच कोई फेर नहीं रहेगा, केवल पशुधोरी तथा मनुष्यधोरी कार्य ही रहेंगे। व्यक्ति के विवेक-कुल हो जाने पर समाज में सामाजिक विवेक भी गल्ट

ही जाएगा। सरकारकी की सामाजिक सहिष्णुता का अब ही नहीं होगा।¹ इस प्रकार की निष्पत्ति सामान्य में और सम्भवतया और भव्यतरता का प्रसार करने में महत्वपूर्ण होगी।

2. केन्थम का अपवोधितावाद केवल सामाजिक सुख का समर्थक है, सुखसमक सुख का नहीं। यह एक अव्यक्त निष्पत्ति है। केन्थमिता (Pushpin-theory) सुख के अनुसार केन्थम सुखी की कमीकी के लिए एक ही तरह का मापदण्ड लेकर बैठ गया प्रतीत होता है। इस सुख का अभिप्राय यह है कि लाभ सेनने या विनयेन देनने में यदि अत्यधिक सुख प्राप्त होता है तो यह पुष्टक करने या निशने से कम महत्वपूर्ण नहीं है। किन्तु वास्तव में खेल की कमीता के कारण नहीं माना जा सकता और कमीकी के खेल का मान्य 'हाकुमाल' के मान्य की बराबरी नहीं कर सकता। मिय (Mial) ने इसे सुधार कर इस प्रकार प्रस्तुत किया है— "सुख-मात्र से अनुप्राप्त करने की अपेक्षा मानक-आय से अनुप्राप्त रहना अच्छा है।" केन्थम ने अपवोधिता की भाषा पर विचार करने में देश-सेन आदि की कोई महत्व नहीं दिया है। अपवोधितावादी यह सब कर सकते हैं कि सरकार की सभी महत्वपूर्ण काम में महत्वपूर्ण हैं। प्रत्येक का महत्व अपनी-अपने अर्थ में है, लेकिन केवल भाषा का भेद मानना सम्भाव्यतावैतिका और कौटुकि विज्ञानित है।

3. केन्थम का सुखवादी मापदण्ड नितास्त दोषपूर्ण है। उसकी यह मान्यता स्वीकार नहीं की जा सकती कि किसी भी कार्य को करने में पूर्व इस कार्य के अधिपति या अधीनित का सुखवादी मापदण्ड से परीक्षण कर लेना आवश्यक है। राज्य मनुष्य के स्व-अवर्तन के लिए तो मान्य रीति-रिवाज, प्रथाएँ, नियम-विनियम होते हैं, जिसे उन्हें अपने-कार्य के अपने-सुरे स्वरूप का ज्ञान प्राप्त हो जाता है और उन में उसकी सामाजिक प्रवृत्ति से परिचित हो जाते हैं। केन्थम की मान्यता है कि सुख और दुःख माने जा सकते हैं, इसका सामाजिक विनिर्माण और मापन ही सकता है। धार्मिक प्रयोगात्मक मनोविज्ञान की मान्यता है कि ऐसी वस्तु मानविक घटनाओं के अध्ययन में प्रयुक्त हो सकती है, किन्तु इसका सेन अत्यन्त सीमित होता है। केन्थम द्वारा प्रस्तुत कुछ विचारण उसकी कल्पना के वैतिक परिष्ठ-मान्य की सम्भाव्यतावैतिका को सिद्ध नहीं करता। केन्थम का सुखवादी मापदण्ड इस दृष्टि से भी अस्वीकार्य है कि यह कला के उद्देश्य की ओर ध्यान न देकर केवल कर्म के बाहरी परिणाम पर ध्यान देता है। सब इस मापदण्ड का सूत्र विधि-निर्माता के लिए भले ही हो, साधारण-मानवी-के लिए कुछ भी नहीं है। सुख-दुःख के मापन में केन्थम ने अतिमत्त मान्यता की पूर्ण उर्वीक्ष-हो-है।

4. केन्थम ने सुख-दुःख का मापक अन्तर प्रकट करने के लिए कारीरिच रचना, परिच, पिता, मिय आदि 32 अध्यायों के अन्तर्गत पर औरका स्वीकारण किया है। केन्थम ने इस स्वीकारण को देखकर प्रवृत्तता न होती है, लेकिन लाभ ही

बहाली की पुस्तक बाद का जाती है। केन्थम बतलाता है कि कौन-सा कार्य करना चाहिए—इसका निर्णय करने के लिए कुछ-कुछ की भाषा निर्धारित करने वाले नारसो के निम्नलिखित शब्द देकर उनका पूरा योग निकालना चाहिए और जिस कार्य की अधिक शक्त निर्दिष्ट नहीं करना चाहिए। किन्तु केन्थम की यह सम्पूर्ण प्रक्रिया जटिल ही नहीं, आमक और नवीन-रूप में भी है। इस प्रकार का निर्णय करने के अति गतिशील कार्यविधि का उपयोग ही किया जाता है तथापि परिणाम सदिग्ध हो जाता है। परिणत नैती निम्नलिखित तथा यथार्थता मानसिक सामाजिक प्रक्रिया में कदापि सम्भव नहीं है। केन्थम के अनुसार, “राजनीति में प्रयोजित का प्रयोग करना ही निरर्थक है जैसे प्रयोजित में राजनीति का।”

3. केन्थम अपनी पुक्ति ‘इन्टीरकान टू दी प्रिन्सिपल ऑफ मारशल एण्ड मैथिसेयस’ का प्रारम्भ इस प्रकार करता है—“प्रकृति के मानव-शक्ति की दो अनुस्यूत शक्तियाँ, कुछ तथा कुछ के नियन्त्रण में रख छोड़ा है। ये ही शक्तियाँ कहे जा रही हैं कि हमें क्या करना चाहिए और ये ही विषय कहती हैं कि हम क्या करेंगे। ये हमारे प्रत्येक कार्य पर शासन करती हैं। यद्यपि हमें का अनुस्यूत यह तो कहता है कि यह किसी साधन के अधीन नहीं है, किन्तु वास्तव में यह इसके अधीन है। उपयोगिता के सिद्धान्त में इस प्रकार के शासन के लिए पूरी गुंजाइश है।” केन्थम के इस विचार की केपर ने आलोचना की है कि यद्यपि यह वास्तविक है पर “यह इसका विरोधक किया जाता है जो आसुर्य होने के स्थान पर यह एक धैर्य की भाँति गौर हो जाता है। कुछ और कुछ के शासन के तात्पर्य क्या है? क्या अनुस्यूत को अपने कुछ का किसी धर्म के कुछ के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए? यह कहते समय कि हमारे सभी कार्यों को कुछ तथा कुछ शासित करते हैं, क्या केन्थम का आशय है कि सभी लोग सर्वत्र अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं? और, इसका तात्पर्य क्या है कि उपयोगिता के सिद्धान्त में इस प्रकार के शासन के लिए पूरी गुंजाइश है? यदि अनुस्यूत अपने कुछ के लिए प्रयत्नशील है तो यह कहना पार्थ नहीं है कि उसे कुछ और भी करना चाहिए। अनुस्यूत स्व-कुल तथा मानव-शक्ति के कुछ की अन्तर्गत एक साथ होने कर सकता है?” केपर के अनुसार केन्थम ऐसे विचारों की प्रशंसा का उत्तर देता है। उनका कारण है कि “हर मानवीय इन दो शक्तियों में से केवल एक ही कुछ का महत्व देता है, कोई भी एक से अधिक शक्तियों को महत्व नहीं दे सकता।” केपर की आलोचना है कि केन्थम का यह सिद्धान्त किसी भी प्रकार सामान्य से उद्भूत नहीं कहा जा सकता। व्यक्तिगत हित जन-कार्य में कैसे परिणत किया जा सकता है? यह कैसे निश्चित किया जा सकता है कि केन्थम के कथन के अनुसार कोई स्थायी विधि-विधान अपने व्यक्तिगत हितों के साथ-साथ लोकहित का भी ध्यान रखेगा? जो असुर्य कुछ में अन्तर्गत है, उनकी भाषा में सुरक्षा कैसे निश्चित की जा सकती है? और यदि केन्थम के सभी विचारों की सही ध्यान दिया जाए तो भी उनका वास्तविक और सिद्धान्त दोनों निरर्थक हैं।¹

6. केन्स अपने विद्वान्त के प्रतिपादन में सामाजिक नज़र लाता है। "अपने सामाजिकी व्यक्ति के नियंत्रण में केन्स वास्तविक जीवन में मिलने होकर जाने बढ़ा प्रतीत होता है। लीन द्वि (स्वार्थ) तथा कर्तव्य के बीच भिन्न मानते हैं, परन्तु केन्स इसे स्वीकार नहीं करता। अपने प्राथमिक व्यक्ति के सम्बन्ध में केन्स समाज तथा इतिहास को सम्मिलित नहीं करता। इसी कारण यह उन सर्वोच्च समस्याओं को छोड़ देता है जो मनुष्य की मनुष्य बनाती हैं। वह केवल तीन घनो, समा-व्यक्ति, समाज तथा सरकार को ही ध्यान में रखता है, राज्य को ध्यान में नहीं रखता। यही नहीं, अपने सर्वोच्च व्यक्ति के उपाय भी वह भावनाओं को पकड़ के निकल जाने देता है और वह कार्य इस सीमा तक करता है कि हम केन्स के मनुष्य को कठिनाई के ही अपनी जाति का मनुष्य बनने के संसार ही पाते हैं।"²

7. केन्स के उपयोक्त्यायी विद्वान्त के अनुसार राज्य में केवल ऊँची विधियों का निर्माण ही सकता है जिनके द्वारा साधारण स्वार्थ की प्राप्ति सम्भव हो, क्योंकि विरोधी तरकीबों विरोधी परिस्थितियों में इनका प्रयोग सम्भव नहीं है और इस स्थिति में व्यवस्था के स्थापन पर ध्यान होने की सम्भावना ही शक्ति है। इस परिस्थिति में पूँजीपति अधिकधिक लाभ उठा कर अपने ही पक्ष में विधि-निर्माण करने की प्रवृत्ति होती है।

8. केन्स का उपयोक्त्यायी विद्वान्त समन्वयतात्मक है क्योंकि मानव मानवीय विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न होती है। अतः कुछ-कुछ की समान न होकर भिन्न-भिन्न होती है। किन्तु दो मनुष्यों की अनुभूति परस्पर समान नहीं होती। यह सम्भव है कि जो बात एक व्यक्ति को सुखदायी प्रतीत हो, वही बात दूसरे व्यक्ति को दुःखदायी प्रतीत हो। यदि एक ही अनुभूति सबको सुखदायक नसे की भी निश्चय ही कुछ की अनुभूति किसी को तीव्र होती और किसी को मन्द।

9. यह कारण भी प्रस्तुत है कि मनुष्य द्वारा कोई कार्य कुछ की प्राप्ति के लिए ही किया जाता है। परन्तु मनुष्य किसी कार्य को कुछ के लिए नहीं करता बल्कि कुछ को उसे कार्य करने पर लगाने ही प्राप्त हो जाता है। इसके प्रतिरिक्त धर्म, काम, परिस्थितियों आदि के कारण सर्वोच्च कुछ-कुछ की भाषा में विस्तार परिवर्तन होता रहता है।

10. केन्स का उपयोक्त्यायी विद्वान्त समाज के बहुमत के मतानुसार की प्रेरणादायक करने वाला है। केन्स ने प्रत्येक व्यक्ति के कुछ पर बात न लेकर बहुसंख्या के कुछ पर बात किया है। यदि केन्स की बात मान ली जाए तो एक सामाजिकी राजा स्वयं को अधिकतम व्यक्ति के प्रतीक मानते हुए स्वयं के कुछ की ही सबसे अधिक मर्यादा है। उन कारण, एक मानवी स्थिति (Diabolic Monstrosity) पैदा हो सकती है। केन्स का हृदय 'अधिकतम व्यक्ति का अधिकतम कुछ' न केवल अस्वभाविक है, बल्कि मरिण भी है। केन्स की अस्वभाविक,

सुनसृष्टि, तंत्रिका व्याख्या के कारण व्यावहारिक क्षेत्र में अनुचित तरीकों का प्रयोग सम्भव हो सकता है।

11. बेन्थम केवल मूल धर्म या धारणा की प्राप्ति पर ही बल देता है। यह वह मूल अड़ता है कि मूल की मूल कभी नहीं मिलती। इसलिए धर्मिण कब से कभी मुक्त नहीं हो सकती। इन धर्मों इच्छाओं को मिटना पुरा करते हैं, वे उत्पत्ती हो अधिक बढ़ती हैं।

12. बेन्थम का राजनीतिक चिन्तन से पूर्ण है। उसमें धर्मविरोध पाया जाता है। सरकार की परीक्षाप्रति और विरोध सम्मन्धित परंपरा प्रसंगत है। बेन्थम का उपयोगितावाद केवल सामान सम्बन्धी सिद्धान्त है, राज्य के बारे में वह मौन है। बेन्थम ने राज्य सरकार के बीच कोई अंतर नहीं किया है। उसने राज्य और व्यक्ति के नागरिक सम्बन्धों का भी कोई विशेषता नहीं किया है। उसका मान्य व्यक्ति द्वारा मूल की प्राप्ति मात्र पर है। वह केवल इतना ही कहता है कि राज्य की भुनडम हस्तक्षेप करना चाहिए। उसकी सभिकार सम्बन्धी धारणा भी दोषपूर्ण है। उसने स्वतन्त्रता और समानता के अधिकार की प्रेरणा की है। अधिकारी को उसने केवल तीन श्रेणियों में विभाजित किया है जो एक अलग समीक्षा नहीं करण है। उसने शरीर और समुदाय की प्रत्यक्षता को भी मान्यता नहीं दी है। उसके अनुसार समाज व्यक्तियों का समूह-भाव है जबकि वास्तव में समाज एक स्वाभाविक और विकासमान संस्था है। बेन्थम के ये सभी विचार समाज के पुन में पाए नहीं हैं।

13. केयर के अनुसार बेन्थम के दर्शन में नीतिकला का अभाव है। "यह अपने पूर्वजों सिद्धान्तों को पूरी तरह गले के नीचे उतार ले गया था, परन्तु अपने बना नहीं बना। उसने अपने ज्ञान का सिद्धान्त (Theory of Knowledge) सौं क तथा ज्ञान से, मूल-दुःख का सिद्धान्त इन्डिस्टिन्ग (Indistinctness) से, समुदाय तथा विरोध का विचार ज्ञान से तथा उपयोगिता का विचार अपने दूसरे सिद्धान्तों से उधार लिया था। अतः उसमें नीतिकला का अभाव है और ईश्वर की अधिकता। उसके अपने विचार अपने तथा मूलों से परिलक्ष्य हैं।"

वास्तव में बेन्थम की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि उसने मानव-जीवन की आवश्यकता से अधिक जरा व्याख्या कर डाली और इस प्रकार समस्याओं का समुदाय निराकरण किया।

बेन्थम को राजनीतिक चिन्तन को देन

(Bentham's Contribution to Political Thought)

धर्माधी, दुःखों और विरोधामाओं के वास्तव दर्शन और राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में बेन्थम को सर्वत्र सम्मानित स्थान प्राप्त है। यद्यपि हम उसे 'उपलब्धीय पुन का सबसे बड़ा आलोचक विद्वान्' नहीं कह सकते और उसका दर्शन 'अर्थ से द्रव तथा परम्परा से सुहा करने वाला है', यद्यपि 'राजनीतिक चिन्तन के विभिन्न क्षेत्रों में उसका प्रभाव महामारण है और उसकी उपलब्धियों का निरालपर करता बुद्धिमानी की बात नहीं होगी। एक विविध-मुधारक और मानव-कल्याण के

विचारक के रूप में केन्पन की कभी पुनराज्ञा नहीं का सकेगा। राजदरबान की उसकी महत्वपूर्ण रोल संशोधन में निम्नवत् है—

1. उपयोगितावाद के दार्शनिक सम्प्रदाय की स्थापना करने और उसे एक वैज्ञानिक रूप देने का श्रेय केन्पन की ही है। हालेयी (Halley) के अनुसार केन्पन की यह बहुमुख्य रोल है कि उसने “उपयोगिता के सिद्धान्त द्वारा एक वैज्ञानिक नियम एक विभागीय प्रकाशन, वास्तविकता और बर्तव्य की कोश की है।”

2. केन्पन ने उपयोगिता को सर्वोपरि स्थान दिया और कहा कि राज्य मनुष्य के लिए है, मनुष्य राज्य के लिए नहीं। जिस राज्य के नागरिक सुखी और प्रसन्न होते हैं, वही राज्य श्रेष्ठ होता है। केन्पन का प्रश्न है कि समुदाय का हित क्या है, और उसका उत्तर है कि यह “उन सदस्यों का हित है जो समुदाय की रचना करते हैं।” राजदरबान के श्रेष्ठ में केन्पन की यह महत्वपूर्ण रोल है कि उसने प्रत्येक प्रश्न का उत्तर पुरानी और नित्यी दोनों की ही ध्यान में रखकर दिया है। उसने धनार्थ के दानों की भुक्ति के मतलब करके हवाई साधने रखा है। हम उनकी महत्वपूर्ण रोल की कभी नहीं भूल सकते। यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि केन्पन ने शासन के स्वतंत्र प्रति की सम्मान में न पहुँकर इस बात पर बात दिया कि शासन उपयोगिता की दृष्टि के दृष्ट-निर्माण के लक्ष्य की दृष्टि में कहीं तक सफल होता है। व्यावहारिक जीवन में अन्तर्गत भी उद्देश्य की दृष्टि के मतलब रखती है, तरीकी के प्रति नहीं चाहती। केन्पन ने जीवन के इसी आधार का समर्थन किया। काल्पनिक तथा व्यावहारिक राजनीतिशास्त्र के स्थापन पर वह निम्नोक्त की प्रति परीक्षणवादी राजनीतिक विज्ञान का सुझाव करने के श्रेष्ठ का प्रतिकारी है। चाहे उसे अपने प्रभाव में पूरी सम्मति न मिली हो, पर वह निश्चित है कि उसने 16वीं और 17वीं सताब्दियों में विकसित हो रही राजनीतिक समर्थवाद की परम्परा को परिष्कृत किया। केन्पन के अनुसार, “कट्टर धार्मिकता और स्वार्थ द्वारा अपने सामाजिक मनुस्मरणद्वारा इतिहास तथा उन्हें के श्रेष्ठ साधारण प्रति निश्चित राज्य-सिद्धान्त की प्रतिस्पर्धी उठा दी और ह्यूम एवं स्पिनोज़ा के भी प्रतिक प्रति उठा स्पष्टता से वह उत्तरादि किया कि राजनीतिक शासन का आधार सदैव एक स्वतंत्र-निर्णय की प्रतिस्पर्धी होती है।”¹

3. केन्पन ने स्वतंत्र लोकतन्त्र और लोकतान्त्रिक सरकारों का समर्थन किया है। केन्पन के अनुसार, “केन्पनवाद अन्तर्गत के प्रतिनिधियों में विस्तार नहीं करता। उन्हें ही वह अन्तर्गत की सुझने वाला ही मानता है। इस प्रकार उसने ऐसे प्रतिनिधियों की आधार के सम्मान दी है जो स्वार्थी हैं, लोकतन्त्रवादी तथा समानता के परमकर्ता हैं तथा केवल अपने निजी-स्वार्थ की ही विज्ञा करने में विस्तार रखते हैं।” केन्पन (Hagheba) ने निर्वाचन-सिद्धि द्वारा बनाई जाने वाली सरकार को समर्थनी का दृष्टिक्रम रखा है, क्योंकि ऐसी सरकार सार्वभौम सरकार का विरोध ही नहीं है। केन्पन के अनुसार, “ऐसी सरकार केन्पन की आधार होती है परन्तु

केन्द्रीय में सख्तरीय प्रथा में सुधार करके उसे बेमहौल की सख्तताक चोट से बचाया है।¹

4. केन्द्रीय में अपने विचारों की व्यावहारिक रूप देने की चेष्टा की। आदर्श शासन के अनुसार उसने इंग्लैण्ड को सुन किन् प्रकार चिन्ते—इसके लिए केवल बातें ही नहीं की बल्कि इंग्लैण्ड को सुनी बनाने के लिए परिश्रम भी किया। केन्द्रीय में हाकानीय विधि न्याय-व्यवस्था और विधि-व्यवस्था में व्यावहारिक सुधार का तीव्र आन्दोलन चला दिया। केदाद्व के अनुसार, “केन्द्रीय के न्यायशासन के आधार पर इंग्लैण्ड की न्याय-व्यवस्था में सामूल सुधार हुआ और 19वीं सताब्दी में उसे पूर्णतः संशोधित करके प्राधुनिक रूप दे दिया गया। यद्यपि केन्द्रीय के विचारों की एक साथ ही व्यावहारिक रूप में कार्बेक में परिणत नहीं किया गया और उसके कुछ विचार, विशेषकर विधि विधि को ऐतिहासिक करने से सम्बन्धित विचार, अभी स्वीकार नहीं किए गए, तथापि इंग्लैण्ड में एक के बाद एक अधिनियम बनाकर विधि और न्यायालयों में पूर्ण सुधार किया गया तथा प्राधिकारी व्यवस्थाओं में केन्द्रीय की प्राचीनता द्वारा निविष्ट मान्य प्रपन्नता गया। सर जे. हरिक पीलर ने ठीक ही कहा है कि अन्तीमकी सताब्दी में इंग्लैण्ड में विधि के क्षेत्र में जो सुधार हुए, उन पर केन्द्रीय का प्रभाव देखा जा सकता है।² केन्द्रीय के प्रदर्शों के सामूल में सरलता और स्पष्टता का समावेश हुआ। विधियों के संहिताकरण पर बल देने से 19वीं सताब्दी में अनेक देशों में विधि-संहिताएँ बनाई गईं। केन्द्रीय के प्रदर्शों से ही शासन पर में सत्कार्यकता का पदो जडा और सामन्य प्राधिकार सुधार एक साधारण व्यवस्था बन जाना जाने लगा। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि विदेश के अनुकरण के कारण पर में अनुशास सत्ताओं को सुधार की प्रेरणा मिली। केन्द्रीय का यह विचार सोचों के मत में घर करने गया कि राज्य कतिपय लोगों की स्वायत्तिका का शासन नहीं होना चाहिए, बल्कि उसे जन-व्यवस्था का शासन बनाया जाना चाहिए। केन्द्रीय के उपरोक्तवाद का भारत पर भी प्रभाव पड़ा। लॉर्ड विलियम बैंटिक ने भारत में प्राधिकारी सामाजिक, राजनीतिक और सांख्यिक सुधार केन्द्रीय के विचारों से प्रभावित होकर ही किए। उसने केन्द्रीय की विद्या या कि “भारत में भारत का समर-व्यवस्था होकर मैं ही नहीं बल्कि मान जा रहे हैं।”

5 केन्द्रीय ने संविधानों की प्रति राजनीति को प्रतिबल के प्रथम किया। उसने संविधान के आधार पर प्रकाश द्वारा राजाशा-शासन प्रथा विरोध का समर्थन नहीं किया। उसने कहा कि उपरोक्तवादों विद्यान्त के आधार पर ही यह निर्णय किया जाना चाहिए कि प्रकाश कब तक राजाशा का शासन करे और कब विरोध के लिए प्रयत्न हो। केन्द्रीय की ही यह सोच है कि शासन और सम्प्रभुता पर विचार कर उसने सर्वप्रथम विधि-शासन (Jurisprudence) के मौलिक सिद्धान्तों की विवेचना प्रारम्भ की। केदाद्व ने केन्द्रीय के विधि-शासन को 19वीं सताब्दी की एक महान् बौद्धिक उपलब्धि बताया है।

1. केर: सी, पृ. 132

2. केदाद्व “इंग्लैण्ड दर्शन का इतिहास, भाग 2, पृ. 643

६ केन्थम ने सुधारवादी आन्दोलन प्रेरित कर श्रद्धित राजनीतिक जीवन में कार्यवाही की जैसा सुधारों के प्रति विस्मय उत्पन्न किया । लोगों के हृदय में यह बात प्रविष्टा अधिक दृढ़ होती उरझ बैठ गई कि शक्ति की तुलना में सुधार अधिक शक्तिशाली और उचित है । विविध जगह समझ गई कि विरोध को तोड़ने की जैसा उन्हें विष जैसा अधिक दृढ़ है ।

७. केन्थम ने राजनीति-समय के क्षेत्र में अनुसंधान और संशोधन की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया । यहाँ यह पद्धति हमें स्वाभाविक लगती है, किन्तु केन्थम के पहले इस पद्धति का अनुसरण नहीं किया जाता था । केन्थम ही यह पहला प्राथमिक लेखक था जिसने राजनीतिक नीति के क्षेत्र में संशोधनात्मक पद्धति मानू की ओर अनुसंधानवादी तथा आलोचनात्मक पद्धति का सुझाव दिया । केन्थम के विचारों के विकास तथा समीक्षण द्वारा एक सम्प्रदाय की स्थापना हुई जो "आधुनिक उपचार" कहलाया और जिसने केन्थम के विचारों के साथ मान्यता के जनसमूह सम्बन्धी सिद्धान्त और हार्दिक के समझ-झान का सम्बन्ध किया । केन्थम के विचार राजनीति-शास्त्रियों के लिए प्रेरणास्त्रोत रहे । वेम्बल मिल, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन स्टुअर्ट मिल, ओट, वेन, वेल्स आदि विचारक केन्थम के बहुत अधिक प्रभावित थे ।

केन्थम के राजनीतिक अनुसंधानवाद को स्पष्ट करते हुए जी वेल्सी ने ठीक ही कहा है कि "जबकि विवेक तर्क द्वारा केन्थम ने नवीनवादी और कठिनाई विचारों की प्राचीन धारणाओं को एकदम भुला दिया तथा संशोधन तथा निरनुसंधान राजनीति के वैज्ञानिक सम्बन्धों का उद्घाटन किया । उन्होंने यह घोषित कर दिया कि ईश्वरी अधिकार, ऐतिहासिक अधिकार, नैतिक अधिकार, अधिपत्य अधिकार तथा मर्यादात्मक अधिकार सभी मूर्खतापूर्ण हैं । उसने घोषणा की कि शासन करने का किसी की कोई स्वतन्त्र अधिकार नहीं है । सब तो केवल एक बात है और वह है तर्क तथा वे परिमितचित्तों जिन्होंने इस शक्ति को बल बनाया है । किसी निरपेक्ष शक्ति के विनाश करना सही है । एक जिम्मेदार मानव-जन्तु और नागरिकता के लिए हमें शक्ति के प्रयोग और कानूनी को समझना चाहिए और उनका सम्बन्धकारी उद्देश्य के लिए प्रयोजन करना चाहिए ।"

केन्थम की कहने वाली बात नहीं है कि उनमें इस महान् सिद्धान्त को कुल किया कि प्रत्येक मानव-जन्तु का अपनी सम्बन्धिता निरूपण करने चाहिए और मानव समाज की अधिपत्य अधिकारों के अन्तर्गत अधिकारों को घोषित करवाना चाहिए । केन्थम ने अपनी प्रविष्टा के केवल उद्देश्य को ही प्रभावित नहीं किया बल्कि उसकी प्रविष्टा की शक्ति बल, सुविधा, शक्ति, वैश्विकता, शासन तथा शक्ति के अन्तर्गत सभी तक पहुँची । आन्तरिकीय क्षेत्र में केन्थम की जैसी सम्मान प्राप्त हुआ था । आन्तरिक शासन में केन्थम की राष्ट्रीय शक्ति करते हुए कहा कि यदि "केन्थमवाद में इसका महान् विकास किया जाए तो उसमें फिर निरनुसंधान मानववाद के अन्तिम और नष्ट प्रभाव नहीं देगा ।"

जीवन-परिचय

विश्वात केम्पबरी केम्प मिल के पुत्र जॉन स्टुअर्ट मिल ने उपबोधितावाद के दर्शन की एक नई दिशा प्रदान की। 20 वर्ष, 1806 की सन्धन में उत्पन्न मिल को उसके पिता ने बचपन से ही केम्प के साक्षरों के अनुसार डालने का पूरा प्रयत्न किया था। केम्प के कठोर अनुशासन में स्टुअर्ट मिल ने वागवायवा से ही बहुत अध्ययन के प्रति लगे। मात्र 8 वर्ष की अवस्था तक उन्होंने जेनीसीन, हेरोडीइस, आइसीकैइस के ग्रन्थों का और प्लेटो के छ सहायों का अध्ययन पूर्ण कर लिया था। 11 वर्ष की अवस्था में उसे जिवी द्वारा मेडिन में लिखित 'रोमन शासन का इतिहास' पढ़ने को दिया गया। 13 वर्ष की अवस्था में उसने एडम स्मिथ और रिकार्डों की अर्थशास्त्र सम्बंधी पुस्तकों, तर्कशास्त्र तथा मनोविज्ञान के जटिल विषयों का बहुत अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। वह बचपन से ही अपने कठोर बौद्धिक अनुमानन में रहा कि उसकी आत्मशासनक साक्षरकलाओं की प्रति नहीं हो पाई, वह प्राकृतिक सीधों से दूर रहा और बात-बुझ मनोरंजन भी उसे नहीं मिल पाया। 14 वर्ष की आयु में उसे केम्प के छोटे भाई के साथ एक वर्ष के लिए भेजा गया। वहाँ उसे बुद्धि और प्राकृतिक सीधों का आनन्द लेने का अवसर मिला। बाद में प्रकृति के प्रति सदाय प्रेम, भावा के प्रति आकर्षण और जीव जन्तु के प्रति अनुमान—ये सब बातें जीवन-वर्षों उसके साथ रही।

अति कृपाव-बुद्धि और मेधावी मिल ने अध्ययन और कार्य करने की तीव्र प्राकृतिक थी। धीरे से औरकर उसने जॉन ऑक्सिड के रोमन वादुन तथा अन्य कानूनों की विरात प्राप्त की। वह विभिन्न सभा-सोसाइटियों में भाग लेने लगा और सीध ही उसने वाक्प-कला में निपुणता प्राप्त करली। 16 वर्ष की अवस्था में वह 'उपबोधितावादी सोसाइटी' (Utilitarian Society) का सदस्य बन गया और लगभग साढ़े तीन वर्ष तक वह वाद-विवादों में प्रमुख बल्य रहा। 17 वर्ष की अवस्था में वह ईस्ट इन्डिया कम्पनी में एक क्लर्क के रूप में नियुक्त हुआ और मन् 1856 में

अपने विचार का अध्यास बन गया। दो वर्ष बाद ही वह पद-निवृत्त हो गया। नीकरी के अभाव मात्र में भी उसके अपनी राष्ट्रियक प्रतिबिम्बों में कोई निमित्तता नहीं पाने दी।¹

अनवरत अम और बौद्धिक व्यापार के फलस्वरूप पुत्रावस्था में ही मिल को इनके हृदय-रीज का सामना करना पड़ा। इसने बर्द्ध-कर्म, कौन्सिल आदि का बहुत अध्ययन किया। इन महाकारियों की रचनाओं को पढ़कर मिल में जीवन की अधिक मार्मिक अनुभूति और मानव-व्यक्तिगत की सूक्ष्म क्रियाओं के प्रति आकर्षण पैदा हुआ। उसके रचनाएं और चिन्तन में एक आन्तरिक का नूतनता हुई। डेविडसन के अनुसार "इनके हृदय में एक नवीन मानव का आन्तरिक हुआ जिसने अधिक गहरी सहानुभूति की, जिसका बौद्धिक दृष्टिकोण अधिक स्वाधेय था, जिसने मानव की आकांक्षकताओं को अधिक समझा था और जिसने बुद्धि के साथ-साथ भावनाओं की दृष्टि के महत्त्व को भी अनुभव किया था।"²

सन् 1830 में 25 वर्ष की अवस्था में मिल का परिचय प्रति प्रतिभाशालिनी और वैज्ञानिक सुन्दरी श्रीमती हेरिस्ट टैलर (Harriet Taylor) के हुआ। उनकी मैत्री लगभग 20 वर्ष तक चली। इनके रचनाओं में दोनो प्रतिभाओं ने परस्पर सहयोग किया। श्रीमती टैलर के प्रति की प्रीति के बाद सन् 1851 में दोनो विवाह-सूत्र में बंध गए। 7 वर्ष बाद ही सन् 1858 में उनकी की प्रीति ही गई। मिल ने अपना विद्यालय निकाल 'On Liberty' उनकी (श्रीमती टैलर) की समर्पित किया। उसके प्रति मिल का अनुमान और आदरभाव जीवन-वर्षान्त बना रहा। लॉस के 'एन्सिक्लोपिड' नामक कर्ष में उनकी की वक्त के प्राप्त ही एक छोटे के काल में मिल ने जीवन के अन्तिम दिन समर्पित किए। चली सन् 1873 में उनकी प्रीति ही गई और उनके की अवस्था उनकी के प्राप्त ही वक्त में अपना दिया गया।

उनकी मृत्यु 59 वर्ष की अवस्था में सन् 1873 में अवस्था निर्धारित हुआ। वह सन् 1865 से 1868 तक पद-समय के रूप में आदर्श में भूमि-सुधार, किसानों की शक्ति, महिला सत्ताधिकार, बौद्धिक कार्यकलाओं की प्रति प्रति के सम्बन्ध में भावना प्रियाकील रहा। लोकसभा में वह विचारक के रूप में अपने विशेष स्थिति प्रकट की। उसने समस्याओं पर स्वतन्त्र और निर्भीक विचार व्यक्त किए। साक्षर और विरोधी बलों में उसे बुरा सम्मान दिया। अथवा उनकी मोहकता में एक बार बहुत बार, "अब मिल का आदर्श होता था, जो खुद के लिए वह आदर्शों के लिए की, कि वे किसी मनुष्य का अवलोकन नहीं रहा है।"

रचनाओं और प्रवृत्ति

मिल ने अपने सम्पूर्ण जीवनकाल में व्याप-सार, अध्यापन-सार, आचार-सार, धर्म-सार, राजनीति-सार—जो महत्त्वपूर्ण विचारों पर बहुत-कुछ

1 William Chambers : Great Political Thinkers, p. 530-31.

2 Davidson : op. cit., p. 162.

विश्वास। उसकी बहुत-सी कृतियों को उसके जीवनकाल में ही प्रकाशित हो गई थीं और कुछ उसकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुईं। उसके नाम की श्रद्धा कर देने वाले कुछ ग्रन्थ में हैं—

1. *Plato's Dialogues*, 1834.
2. *The System of Logic*, 1841.
3. *Some Unsettled Questions in Political Economy*, 1844.
4. *The Principles of Political Economy*, 1848.
5. *Emancipation of Women*, 1853.
6. *On the Improvement in the Administration of India*, 1858.
7. *A Treatise of Liberty*, 1859.
8. *Parliamentary Reform*, 1859.
9. *Considerations of Representative Government*, 1860.
10. *Utilitarianism*, 1861.
11. *Examination of Hamilton's Philosophy*, 1863.
12. *Auguste Comte and Positivism*.
13. *Subjection of Women*, 1869.
14. *Autobiography*, 1873.
15. *Three Essays on Religion*, 1874.
16. *Letters*, 1910.

मिल का ग्रन्थ 'The System of Logic' न्यायिक-बहुमतवाद में एक पुनः का सूचक है जो 'A Treatise of Liberty' राजनीतिशास्त्र पर उसकी एक प्रति बहुसंख्यक कृति है जो नौवें वर्ष के परिचय के बाद प्रकाशित हुई थी। मिल की रचनाओं के अध्ययन के प्रकट होता है कि उनके विचारों के बाद वैश्विक का उस पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा था। वैश्विक मिल की सर्वनिष्ठता ने बहुमत मिल में वास्तविक बहुसंख्यक की बहुत ही गहरी छाप गड़ी रहने दी, यहाँ उसके व्यक्तिगत व समाजवाद की भावना उदात्त विद्यमान रही तथा उसकी रचनाओं व ग्रंथों की राजनैतिक अनुसूति का पूर्ण अध्ययन रहा। वैश्विक के ग्रंथों के बहुसंख्यक के विचारों की मानसिक शक्ति को प्रेरणा मिली। जॉन स्टुअर्ट मिल उसकी भाई ने जो आधुनिक व्यवस्था में बहुमत मिल के वैश्विक जीवन को सबसे अमान्य विचार। एक मिल, विचारों, मान्यता, मुख्य बहुमत आदि के वास्तविक व्यवस्थापक ने जो उसकी प्रभावित किया। राजनीतिक विचारधारा के विचारों की सर्वोच्चता का जो उस पर उत्प्रेरणात्मक प्रभाव पड़ा। वैश्विक के राजनीतिक एकाग्रता और विचारों के महत्त्व सम्बन्धी विचारों को भी उस पर गहरी छाप रही। अपनी पत्नी (सीमोन्टी डेविस) से वह बहुत अनुसूचित हुआ कि उसने 'On Liberty' नामक विचारों की सर्वोच्चता किया जो उसके ग्रंथों में, "मेरे मनो के जो जो सर्वोच्च है उसकी वह प्रेरणा की और वैश्विक रूप के उसकी लेखिका भी थी। वह मेरी विचारों और बातों की जिनकी छाया और विचार की उत्प्रेरणा-भावना मेरी सबसे प्रबल प्रेरणा रही थी जिसकी प्रभाव ही मेरा प्रथम प्रेरणाकार था।" जीवन के वास्तविक जिन में बहुमत मिल ने वैश्विकी का प्रतिष्ठित और जीवन का विशेष प्रभावित किया

तथा वह कभी भी और छोट साइमन से प्रभावित हुआ। विभिन्न विचारधाराओं का सम्पर्क कर स्टुअर्ट मिल ने अपने अपनी विशिष्ट बौद्धिक प्रतिभा का फुट दिखा और एक विशद सर्व-व्यापक की रचना की। उसकी बौद्धिक प्रतिभा ने विभिन्न लोगों ने स्वाभाविक सुधार के भी अनेक सुझाव प्रस्तुत किए।

मिल की रचनाओं पर अंतःस्मृत करते हुए डेबार्डन ने लिखा है—“अपनी सम्पूर्ण सब कृतियों में, विशेषकर उसकी व्यापक-व्यापक एवं राजनीति-व्यापक सम्प्रदायों कृतियों में, मिल ने पुराने उपनिवेशवादी सिद्धान्त का एक भयानक अपूर्ण कर्तुण किया है, किन्तु सिद्धान्त को स्पष्ट करने के उपरान्त अपने कुछ रिश्तामंद देना और कुछ बातों की इस प्रकार स्पष्ट करना आवश्यक किया कि अन्त में पुराना सिद्धान्त समाप्त हो गया और उसके स्थान पर किसी नवीन सिद्धान्त की भी स्थापना नहीं हुई।”¹ इसी कारण की स्पष्ट करते हुए मैन्सि (Mansie) ने लिखा है कि अपने व्यापक-व्यापक एवं राजनीति सम्प्रदायों दिशाओं में, “मिल ने हमें एक समर्थ दिखाई देता है और वह समर्थ है उसकी बौद्धिक सामर्थ्य जो उसने अपने उन उपनिवेशवादी सुझावों से निराशत के अन्त की भी उनके लिए उसके हृदय में जोन का और जिस पर वह खुले सार्वजनिक तथा सर्वव्यापक परीक्षण के कारण नहीं था।”²

मिल ने विभिन्न पद्धतियों (Methods) का सम्प्रदान और विवेचन करते बतलाया कि पद्धतियाँ मुख्यतः चार तरह की होती हैं—(1) रसायनिक पद्धति (Chemical Method), (2) ज्यामितीय पद्धति (Geometrical Method), (3) भौतिक पद्धति (Physical Method), एवं (4) ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method)। रसायनिक पद्धति का केवल रसायन शास्त्रियों के लिए उपयुक्त मानते हुए राजनीति और राजवर्त्मन के क्षेत्र में मिल ने इसे निरर्थक बताया। उसने कहा कि प्रयोगशाला में विभिन्न तराहों और पदार्थों के मिश्रण से परीक्षण किया जाता है, लेकिन सामाजिक तराहों के परीक्षण में अल्प पदार्थों की तरह उनका मिश्रण करके प्रयोग नहीं किया जा सकता। ज्यामितीय पद्धति को मिल राजवर्त्मन, सर्व-व्यापक आदि विषयों के क्षेत्र में इस आधार पर अस्वीकार करता है कि यह पद्धति निरूपणात्मक (Deductive) आधार पर चलती है और सामाजिक क्षेत्र में यह तो है ही निरर्थक विषय नहीं होते। मिल के अनुसार भौतिक एवं ऐतिहासिक पद्धतियों का प्रयोग राजनीति-व्यापक में किया जा सकता है। भौतिक पद्धति में निरूपणात्मक (Deductive) और साधनात्मक (Inductive) दोनों प्रणालियों का काम होता है और ऐतिहासिक पद्धति साधनात्मक (Inductive) होती है। भौतिक पद्धति में सर्वप्रथम प्रकृति के पदार्थों का परीक्षण किया जाता है और उनसे प्राप्त परिणामों के द्वाा प्रयोग में निरर्थक निरूपण करते हैं। समाजशास्त्र में मानव-प्रकृति के आधारभूत विषय होते हैं जिसके परीक्षण से कुछ सिद्धान्त निर्धारित किए जाते हैं। उन सिद्धान्तों का विवेक परिनिष्पत्तियों में परीक्षण कर उनकी निरूपणात्मक

1. See : A History of Political Theory, p. 635.

2. Mear : Political Philosophy, p. 472.

कम दिया जाता है तथा उन पर प्रयोग किए जाते हैं। समाज-विज्ञान के साथ एक बहिर्बाई यह है कि यह समाज-विज्ञान की तरह सर्वत्र अपने पूर्व-विचार नहीं देखता फिर भी इस विधि का राजनीति-शास्त्र के अध्ययन में प्रयोग किया जा सकता है। ऐतिहासिक पद्धति के मानव-व्यक्ति के नियम खोज निकाले जाते हैं।

मिल ने अपनी रचनाओं में भौतिक और ऐतिहासिक पद्धति का मिश्रित प्रयोग किया है। इन दोनों के सम्मेलन की समाजशास्त्रीय पद्धति भी कह सकते हैं, जिसमें सामाजिक और निम्ननात्मक पद्धतियों का सम्मिश्रण और मनोविज्ञान का प्रयोग है। इसकी विशेषता यह है कि साधू या गुरुता के बिना ही मिल बुद्धिपूर्वक अपने विचारों की सहाय्य प्रायोगिकता सिद्ध करता है। मिल ने अनुभूति और पर्यवेक्षण पर भी बल दिया है। मिल की पद्धति के बारे में सेराइन (Serafin) के ये शब्द उद्धृत करने योग्य हैं—

“मिल ने अपने ग्रन्थ ‘सॉजिक’ की छोटी पुस्तक में सामाजिक शास्त्रों की वैज्ञानिक पद्धति के बारे में विचार किया है। सर्वोत्तम समझती एक शब्द में जिसमें मुख्य रूप से सामाजिक-प्राकृतिक विद्वानों की पद्धति के बारे में विचार किया गया है, इस विषय का समावेश महत्वपूर्ण है। इससे यह प्रकट होता है कि मिल सामाजिक शास्त्रों के क्षेत्र के विस्तार की आवश्यकता अनुभव करता था। यह कह सकता था कि सामाजिक शास्त्रों की पद्धति की अधिक कठोर बनाना आए और उन्हें प्राकृतिक विज्ञानों के समकक्ष स्थान दिया जाए। सामान्य रूप से उसका विचार यह था कि सामाजिक विज्ञानों में मानव और निम्न दोनों की सक्रियता है। यह बात लही की लेकिन इसके आधार पर सामाजिक शास्त्र अन्य विधियों से पुनर्बन्धी हो जाने थे। यह निष्कर्ष दार्शनिक उपपत्तियों की निम्ननात्मक पद्धति की मान्यता के प्रति एक विरोध के रूप में था। इसके साथ ही हमने एक प्रक्रिया की आवश्यकता और कार्यक्षमता की बात भी कही गई थी।” मिल ने ‘सॉजिक’ में दोनो एकता की दृष्टिकोणों को स्थापित कर यह दृष्टिकोण अपनाया था कि सामाजिक और निम्ननात्मक दोनों पद्धतियों का प्रयोग होना चाहिए। उनका कहना था कि राजनीति शास्त्र के मनोवैज्ञानिक नियमों का अनुसरण करनी है। यह मनोवैज्ञानिक शास्त्र केवल सामाजिक पद्धति पर प्राकारित हो सकता है। लेकिन राजनीतिक पद्धतियों की व्याख्या अधिकतर निम्ननात्मक होती है क्योंकि उनकी व्याख्या का कार्य मनोविज्ञान का आधार होता है। मिल ने अपनी प्रक्रिया की सीढ़ी की प्रक्रिया के अनुक्रम बनाने के लिए ही इस तर्क का प्रयोग किया था। बसने यह स्वीकार किया कि ऐतिहासिक विज्ञान के कुछ नियम सामाजिक पद्धति के आधार पर निर्धारित किए जा सकते हैं। यद्यपि उसे इन प्रक्रिया के विस्तार और इसकी निश्चिन्ता के बारे में संदेह था, फिर भी वह यह अनुभव करता था कि मनोविज्ञान के आधार पर इन नियमों की व्याख्या की जा सकती है। इसलिए मिल का सामान्य निष्कर्ष यह था कि सामाजिक शास्त्रों के अध्ययन के लिए दोनों पद्धतियाँ उपयुक्त हैं और इन दोनों पद्धतियों की एक दूसरे

का दूरक होना चाहिए । एक पद्धति की बहु प्रशंसा निम्नमात्रक पद्धति और दूसरी को प्रशंसा निम्नमात्रक पद्धति कहता था । वह दूसरी पद्धति का खेद काँटे की देता था ।¹

मिल के उपयोक्तिवादी विचार

(Mill on Utilitarianism)

जेम्स मिल के जमाने और जेम्स के प्रति उसकी श्रद्धा ने स्टुअर्ट मिल को बहुत उपयोक्तिवादी बना दिया । जेम्स के उपयोक्तिवादी सिद्धान्त पर आलोचकों ने निकृष्टता और हेतुता के आरोप लगाए थे । मिल ने आलोचकों के प्रहारों का जोरदार उत्तर देते हुए उपयोक्तिवाद में अनेक महत्त्वपूर्ण संशोधन किए तथा उसमें अनेक नए सुझावों तथा क संशोधन कर दिया जिसके फलस्वरूप मूल सिद्धान्त प्रायः सम्पाद्य-ता हो गया । बर्बरता, कॉलरिज, कॉन्टे, कामिज, स्नेह आदि के प्रभाव तथा दुर्लभता की परिवर्धित परिस्थितियों के कारण मिल के प्रारम्भिक जेम्सवादी विचारों में उर्ध्व-उर्ध्व परिवर्धन आता गया और उसने अनेक सिद्धान्तों पर बल देना शुरू कर दिया । उपयोक्तिवाद की रक्षा करने के प्रयत्नों में उसने इतने संशोधन कर दिए कि उसका स्वरूप ही बदल गया । वेबर के अनुसार, "उपयोक्तिवाद पर लागू गए आरोपों के उसकी रक्षा करने की इच्छा से मिल ने लगभग उपयोक्तिवाद को ही एक तरफ धीक दिया ।"² उसने उपयोक्तिवाद के स्थान पर स्थितिवाद पर अधिक बल दिया और इसीलिए राजनीतिक विज्ञान के क्षेत्र में उसे प्रायः 'स्थिति उपयोक्तिवादी' तथा 'प्रथम स्थितिवादी' दार्शनिक माना जाता है । मिल ने उपयोक्तिवाद पर जो विचार प्रकट किए थे उसके सम्मत निष्कर्ष 'Utilitarianism' में उपलब्ध है ।

मिल द्वारा उपयोक्तिवाद की पुनर्स्थापना

(Mill's Restoration of Utilitarianism)

आरम्भ में मिल जेम्स के सिद्धान्त के आधार पर ही कामे करता । उसने जेम्स के मतानुसार ही मूल की शक्ति और दुःख की विमुक्ति की स्थिति का अध्येत प्रयास । उपयोक्तिवाद की परिभाषा देते हुए उसने लिखा—“यह मत, जो उपयोक्तिवादी अथवा अधिकतम सुख के सिद्धान्त की वैधिका का आधार समझता है, यह मानता है कि प्रत्येक कार्य उसी अनुशास में सही है जिस अनुशास में वह मूल की वृद्धि करता है और जो भी कार्य मूल से निपटीय विज्ञान के अन्तर्गत है वह सत्य है । मूल का कार्य है मानव की शक्ति और दुःख का अभाव । दुःख का कार्य है पीड़ा का अन्त तथा मानव का अभाव । इस सिद्धान्त द्वारा स्थापित वैधिका मानक की अधिक स्पष्ट करने के लिए हमें अधिक स्पष्ट अन्तर्भाव करना पड़ेगा, विशेष रूप से यह कि मूल और दुःख की परिभाषाओं में क्या कार्य सम्मिलित है और उनका उद्देश्य क्या है ? यह एक

¹ वेबस्टर : राजनीतिक शक्ति का दृष्टिकोण, पृष्ठ 2, पृष्ठ 675-76.

² Hoggan : Op cit. (Mill), p. 141.

सुना प्रसन्न है। परन्तु वे पूर्ण व्यावसायिक जीवन के उच्च शिक्षण को प्रभावित नहीं करती जिस पर संतुष्टता का यह सिद्धान्त आधारित है कि सुख और दुःख के मुक्ति ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है तथा समस्त बौद्धिक वस्तुएँ, जिनका उपयोगितावादी योजना में भी नहीं स्थान है, जिसका अन्त किसी योजना में, बौद्धिक इसलिए है कि या ही उनमें ही सुख का विपत्ता है यथार्थ के मूल-वृद्धि द्वारा दुःख-निवृत्ति का साधन है।¹

स्पष्ट है कि मिल ने वेन्थम के सुखवाद को स्वीकार किया, किन्तु कालान्तर में उसके विचारों के सन्दर्भ-बदलने एक अन्तिम हुई तथा उसका विवरण ऐसा हो गया जिसमें वेन्थम तथा उसके उपयोगितावादी विचारों में बड़े अन्तर उभर आए। यह वेन्थम उल्लेख होता कि कहीं तक वह वेन्थम के साथ और कहीं तक उसके पूर्व-रहा। उसके द्वारा किया गया वेन्थम के सिद्धान्त का कालान्तर विमल-निमित्त बर्णन के स्पष्ट ही संकेत—

1. सुखों के साक्षात्कार ही नहीं, दुःख-समक अन्तर भी हैं—वेन्थम सुखों और दुःखों के साक्षात्कार के ही स्वीकार करता था, दुःख-समक के ही नहीं। किन्तु मिल ने इन दोनों में ही स्वीकार किया। उन्होंने कहा कि सुख और दुःख के दुःख-समक अन्तर की मानना पुरातन, उचित है। यदि सुख माना में कम होने पर भी हमें प्राप्त करने योग्य है क्योंकि वे वेन्थम और अग्र-रहित हैं। निरन्तर ही सुखों और दुःखों के साथ ही मान्य मूल्य-समक के मान्य से अधिक उत्तम है। सांसारिक सुखों की तुलना में मानसिक सुख अधिक श्रेष्ठ होते हैं क्योंकि वे अधिक स्वाधीन और सुरक्षित होते हैं। मिल ने बताया कि सुखों के केवल कम या अधिक का ही अन्तर नहीं होता, बल्कि उनके पुरातन का भी अन्तर होता है। वे अपने महत्त्व के आधार पर उच्च प्रथम-मिल भी हो सकते हैं। एमरसन और हरिमाजित रबिनी वाले व्यक्तियों को जिन बातों से सुख मिलता है वह सुख मूल-वृद्धि के इतिहास-सुख मान्य के निरन्तर ही अधिक श्रेष्ठ होता है। सुखों के दुःख-समक अन्तर की हम उल्लेख नहीं कर सकते। सुख का सामाजिक केवल मान्य के ही आधार पर करना अनुचित और अव्यवहारिक है। मिल के ही शब्दों में, “एक समुद्र-सूकर की संवेत्ता एक समुद्र-सूकर से सुख होता नहीं सकता है, एक समुद्र-सूकर की संवेत्ता एक समुद्र-सूकर से सुख होता नहीं सकता है और यदि सुखों और सूकर का मत इसके विपरीत है तो इसका कारण यह है कि वे केवल अपनी वस्तु ही जानते हैं, जबकि सूकर वस्तु (सूकर, मानव) दोनों ही वस्तु की समझता है।” मिल ने सुख और दुःख के मध्य दुःख-समक के मान्य उपयोगितावाद को अधिक सर्वप्रथम प्रथम कहा दिया किन्तु इसके केवल का उपयोगितावादी संकेत दिश-निर्ण हो गया।

2. सुखों की महत्त्व-वृद्धि में परिवर्तन—मिल द्वारा सुखों के दुःख-समक के मान्य से वेन्थम का सुखवादी मान्य-समक पुरातन मान्य हो जाता है। सुखों की अपने प्रथम निरन्तर रूप में उनका मूल-वृद्धि करने के वेन्थमवादी प्रथमों का कोई सुख नहीं रहता। वेन्थम सुख की मान्य की सुखवादी महत्त्व-वृद्धि में मान्य

बाहुता का जबकि मिल का मत था कि विद्वानों के प्रसार ही सुखों की जाँच अपना निर्णय के लिये आधार है। "यों सुख प्रदान करने वाली विधुतिमो की प्रमाणा का निर्णय कहीं व्यक्तिमो द्वारा हो सकता है जिन्हें दोनी अनुसुखियो का ज्ञान हो।"¹

3. बेन्थम के सिद्धान्त का उद्देश्य सुख या आनन्द-आनन्द का और मिल का शांतीनता और सम्मान पर बल—बैर के अनुसार, "मिल की धारणा थी कि आनन्द कुछ तथा माया दोनों में मिल होते हैं।" उनके अनुसार जीवन का अन्तिम उद्देश्य उपयोगितावादी नहीं, बल्कि शालीनता (Dignity) है। अपनी पुस्तक 'जॉन मिल' में यह लिखा है कि व्यक्तिवाद का प्रभाव लाभान्व विचारधारा द्वारा कठिनाई से ही पहुँचाया जाता है। यह हम्बोल्ट (Humboldt) के 'अन्य अनुसुखि' (Satisfactions) के सिद्धान्त की स्वीकार करता है। मिल का कथन है, "केवल यही महत्वपूर्ण नहीं है कि अनुसुख क्या करता है, यह भी महत्वपूर्ण है कि उसके यह मात कब करने के लिये क्या है।" बेन्थम धारि के सिद्धान्तों का उद्देश्य आत्मानुसुखि नहीं बल्कि आनन्द-आनन्द है, जबकि मिल इसके विपरीत यह बताता है कि "यह आनन्द, जो शांतीनता अपना सम्मान की वृद्धि करे, दूसरे आनन्द से श्रेष्ठ है। इस प्रकार श्रेष्ठता का मापदण्ड उपयोगिता का सिद्धान्त नहीं। अतः हमें यह बहुत चाहिए कि शालीनता अपना सम्मान की वृद्धि करने वाले श्रेष्ठ होते हैं। मिल यही श्रेष्ठ जीवन का विचार प्रस्तुत कर रहा है। उसके लिए जीवन आनन्द-आनन्द के साधन से कुछ अधिक है।"² बैर के अनुसार, "मिल नैतिक उद्देश्यों की सुख का प्रकल्पता से जीना मानता है। जब कोई व्यक्ति नैतिक उद्देश्यों की प्राप्ति कर सता है तो प्रसन्नता स्वयं उसके करम चुकती है। उपयोगितावाद ने मिल की नैतिकवाद की धारधारण से बेन्थम की विचारधारा में एक प्राणिकारी परिवर्तन हुआ है। मिल ने राजन की नैतिक उद्देश्यों की वृद्धि के लिए एक नैतिक सारवान कोष्ठित किया है। राज्य का उद्देश्य उपयोगितावादी नहीं, बल्कि व्यक्ति में नैतिक सुखी का विकास करता है। इस प्रकार मिल उपयोगितावाद की रता हमें पूर्ण परिवर्तन आकर ही कर सता है।"

4. मिल की नैतिकताएँ बेन्थम से अधिक सम्मोचक—सम्मान अपना शांतीनता का अनुसुखितावादी विचार मिल की नैतिक भाषा के अनुसुखितावादी निवेदन की भी प्रेरणा देता है। "बेन्थम ने नैतिक भाषा का कारण केवल अनुसुख की स्वीकारता की माना है, बल्कि मिल का विचार इसके मिल् है। उनके अनुसार धर्म, श्रुति, स्वीय नैतिकता में उन्ही प्रकार काया पहुँचाने हैं जिन प्रकार प्रेम, सहानुभूति तथा धार्मिक आनन्द। मिल कुछ अधिक यथासंवादी प्रतीत होता है। वन डी. एच. जॉन के विचार की स्वीकार करता है जिसके अनुसार प्राथमिक कर्तव्य तथा उपरदासियों का अन्य नैतिक आधार पर व्यक्तिगत अधिकारी तथा

1. *Mill: Utilitarianism*, p. 10.

2. बैर : वही, पृ. 137.

हितों से नहीं हो सकता । मिल के अनुसार नैतिक भाषा की भाषा उपयोक्त्यावादी सिद्धान्त द्वारा स्पष्ट नहीं की जा सकती । इस प्रकार उत्तरी नैतिकताई वैश्व के अधिक सम्बोधनक है ।

5. स्वतन्त्रता उपयोक्त्या से अधिक उच्च और मौलिक—वैश्व के उपयोक्त्यावाद में मिल एक और भी परिवर्तन के लिए उत्तरदायी है । ईसाई केर ने लिखा है—“मनुष्य की भाषा की स्पष्ट बनाने का विचार उसे स्वतन्त्रता के अनुपयोक्त्यावादी विमोक्षण की ओर प्रवृत्त करता है । सभी उपयोक्त्यावादियों के लिए स्वतन्त्रता उपयोक्त्या के विपरीत है, परन्तु मिल के लिए स्वतन्त्रता उपयोक्त्या के अधिक उच्च और अधिक मौलिक है ।”

6. सुखों की प्राप्ति अत्यन्त ही से होती है—मिल ने ‘अधिकतम व्यक्ति के अधिकतम सुख’ की भाषा की स्वीकार करते हुए इसके वैश्व की भाषा की मुक्ति को दूर करने की चेष्टा की । वैश्व ने कहा था कि राज्य के कार्यों की भाषा को करते समय अन्य बातों के साथ ही विचार पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए अर्थात् वह देखना चाहिए कि राज्य की विभिन्न अधिक जनसंख्या को उन कार्य से सुख पहुँचा । वह यह मान प्रवृत्त रह गया था कि एक व्यक्ति के सुख की सीमा में लगे रहने पर वह अन्य व्यक्तियों को सुख किस तरह पहुँचा सकेगा । मिल ने इसका समाधान करते हुए बताया कि यदि अपना ही अधिकतम सुख प्राप्त करने की भाषा व्यक्ति का एकमात्र उद्देश्य रहता है, तब ही सुख ही वह सामाजिक हित के रूप में अत्यन्त व्यक्ति के अधिकतम सुख का रूप धारण कर लेता है । प्रारम्भ में व्यक्ति किसी कार्य की इच्छा करता है कि उसे उसके सुख प्राप्त होना है, किन्तु बाद में वह सुख प्राप्त बन जाता है । उदाहरण के लिए, किसी व्यक्ति को कष्ट से देखकर मनुष्य उसकी सहायता करता है और इस कार्य के उत्तरी स्वयं ही प्राप्त होता है । इसके उसे दूसरे व्यक्ति की सेवा में सुख मिलने सकता है और आकाश में वह किसी सुख को मुक्तकर भी दूसरी की सेवा में लगे रहता है ।

7. मिल का सिद्धान्त नैतिक, वैश्व का राजनीतिक—एक अन्य दृष्टिकोण से भी मिल की धारणा वैश्व की धारणा से भिन्न है । वैश्व अधिकतम सुख के सिद्धान्त की एक राजनीतिक सिद्धान्त समझता था, नैतिक नहीं । उत्तरी यदि इस बात में अधिक की कि “विधि-निर्वाह और शासक सामाजिक नीतियों के निर्धारण तथा विधि-निर्वाह में इसका प्रयोग करें ।” उसे इसे व्यक्तिगत धारणा का सिद्धान्त बनाने में विशेष रुचि नहीं थी । वैश्व की भाषा की कि यदि कानून की निर्धारण होना है तो वह मनुष्य के हित की दृष्टि से नहीं जा सकती । एक ईमानदार और नैतिक विधि-निर्वाह के सामने इसके सवाब और कोई उपाय नहीं है कि वह वह मान कर चले कि विभिन्न व्यक्तियों के सुखों की तुलना केवल भाषा की दृष्टि से ही की जा सकती है । पर मिल के हस्तों में स्थिति कटती ही गई । उपयोक्त्या का सिद्धान्त विधि-निर्वाह के लिए व्यक्तिगत नैतिकता का एक-अद्वैत सिद्धान्त बन गया । इसके

द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं यह निर्णय करना है कि उसके लिए क्या करना उचित है। इस प्रकार हम सिद्धान्त का राजनीतिक चरम, गुणित होकर वृत्तभूमि में पड़ गया।

सपने निवार को मिल ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—“जहाँ तक व्यक्ति के अपने और दूसरों के हितों की तुलना का प्रश्न है, उपरीतितावाद की मान है कि व्यक्ति को पूर्णतया के विपरीत रहना चाहिए जैसे कि एक निष्काय तथा वस्तुवादी कर्तव्य की। ईसा मसीह के कर्त्तव्य नियम के इसे उपरीतिवादी व्यापार-शास्त्र की पूर्ण मान्यता के दर्शन होते हैं। जैसा व्यापारशास्त्र दूसरे में चाहते हैं वैसे ही व्यापारशास्त्र दूसरी के साथ करना और अपने पक्षधर्मों से वैसे ही प्रेम करना वैसे साथ स्वयं अपने से चाहते हैं, नहीं उपरीतिवादी वैयक्तिकता का मनीषण चाहती है।”

उपरीति विचारों में इस सिद्धान्त के राजनीतिक चरम का, जिसमें वैयक्तिक हितों का अधिक रक्षित भी, उत्पन्न तक नहीं दिया गया है। वास्तव में मिल के उपरीतिवाद में वैयक्तिक राजनीतिक चरम प्रकट पड़ गया है। वैयक्तिक के “व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकतम मूल” का राजनीतिक सिद्धान्त मिल के द्वारा ने चर्च कर व्यापक वैयक्तिकता का सिद्धान्त बन गया है।

8. मिल द्वारा सत्याकरण के तहत चरम—वैयक्तिक के उपरीतिवाद के भीतिक पक्ष पर बल देने हुए बाह्य चरम पर अधिक ध्यान दिया जबकि मिल ने सामाजिक पक्ष को अधिक महत्व दिया। अपने वैयक्तिक के व्यक्तिगत और सामाजिक हितों में एकता एवं सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया। वैयक्तिक के व्यक्ति की मूल प्रवृत्ति के लिए प्रेरित करने वाले चार बाह्य चरमों—सांकेतिक, सामाजिक, व्यक्तिगत और वैयक्तिक की चर्चा की थी। उसने यह सब चर्चा विवेक तर्कों और दुर्गो तथा व्यक्तिगत एवं सामाजिक हितों में एकता स्थापित करने की सम्भावना के विचारण के लिए किया था। किन्तु मिल ने इस विचारण को अस्वीकृत मानते हुए विचारण प्रकट किया कि इस प्रकार दुर्गो सामर्थ्य द्वारा स्थापित की हुई हितों की एकता स्थापनी नहीं हो सकती। उसने ऐसा कारण देने के प्रयास में, जो व्यक्ति को अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए सामाजिक हित-साधना की ओर उन्मुख करे, सत्याकरण के तहत पर विवेक बल दिया। जहाँ वैयक्तिक ने इन तर्कों की प्रेरणा की नहीं मिल ने स्वतन्त्रता कहा कि हमारा सत्याकरण मूल-दुर्गो का अनुभव करना है। नैतिक एवं मूल कर्तव्य से हमारे सम्बन्ध करण को व्यक्ति और मूल द्वारा होता है जबकि बीच और सामर्थ्य कर्तव्य से उसे सम्बन्ध की चर्चा में उत्पन्न पड़ता है। मूल केवल सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांकेतिक ही नहीं, बल्कि सामाजिक, सामाजिक और सामाजिक भी होता है। व्यक्तिगत मूल ऐसा कर्तव्य की ही-ही-ही-ही मूल पर चरम के बीच-का मूल मिला ? क्या के बाह्य मूल की प्रवृत्ति के लिए मूल पर चरम ? नहीं, उनका मूल सामाजिक का और नहीं सामाजिक मूल होता है।

मिल ने सत्याकरण का अपने सामर्थ्यव्यक्तिगत (liberalism) की तहत चर्चा मूल नैतिक चर्चा से नहीं किया। उसने कहा कि सत्याकरण ही सामर्थ्य

का एक चिन्ह है जिसे हमारे पाश्चात्य के कारण दुःख पहुँचता है व सदाचार के नियमों का उत्सर्जन करने से हमें पाश्चात्य की धार में जलना पड़ता है। यही धन्तःकरण का उल्लेख है चाहे उसके स्वरूप और मुख के बारे में हमारे विचार कुछ भी हों। मिन ने धन्तःकरण के उल्लेख को 'भावना के कल्याण की भावना' की संज्ञा दी और इसे दूसरी के दुःख-मुख की चिन्ता कहकर गुहारा। उतने इसे एक स्वाभाविक भावना माना।

मिन द्वारा धन्तःकरण के उल्लेख पर बल दिए जाने से निहित अर्थ यह है कि व्यक्ति को केवल स्वार्थी समझना भ्रमक है, यह परस्पर-भावना से भी कर्म के लिए प्रेरित होता है। मिन का यह विचार केन्थम की इस चारुता के विपरीत है कि समाज स्वार्थी लोगों का समूह है और मनुष्य अपनी बहुवादिका के कारण अपने किसी लाभ के लिए ही कर्म करता है। मिन ने केन्थम के समान वैयक्तिक हित पर अधिक ध्यान देकर सामाजिक हित को उच्चतर माना और सामाजिक मुख की स्थिति से ही व्यक्तिगत मुख की उत्पत्ति की है। मुख साम्य है और उसकी प्रगति का लक्षण है नैतिकता। नैतिकता पूर्णतः सामाजिक है। साम्य और गूढ़ानुगुण उनके आधार हैं। स्वयं सामाजिक आवाहनेश से ही 'अधिकतम व्यक्ति की अधिकतम सुख' सम्भव है। यद्यः एक व्यक्ति को यदि अपना मुख वसित है तो उसे सामान्य मुख के लिए प्रयत्न करना चाहिए। एक व्यक्ति का मुख सम्पन्न है, दूसरे व्यक्ति का मुख सम्पन्न है और इसीलिए सामान्य मुख सभी व्यक्तियों के लिए सामूहिक रूप से सम्पन्न है। अपने विचार को अधिक स्पष्ट करने हुए उमज 'Letters' में एक स्थान पर लिखा है, "जब मैं यह कहता हूँ कि सामान्य मुख मनुष्य रूप से सभी व्यक्तियों का मुख है, तो यह मेरा मतलब नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति का मुख प्रत्येक अन्य व्यक्ति का मुख है। यद्यपि मैं अच्छे समाज और निश्चित व्यवस्था में इसे ऐसा मानता हूँ, तथापि मेरा अभिप्राय केवल यह है कि 'य' का मुख सम्पन्न है, 'व' का मुख सम्पन्न है, 'न' का मुख सम्पन्न है; और इस प्रकार इन सभी की सम्पन्नताओं का योग व्यवस्था ही सामान्य रूप से सम्पन्न होगा।"

मिन के उपयोगितावादी विचारों का सुस्पष्टीकरण

स्पष्ट है कि मिन और केन्थम के उपयोगितावादी विचारों में बहुत अन्तर है। मिन केन्थम के विचारों से परिष्कार और संशोधन करते हुए केन्थम की मौलिक मान्यताओं पर ही कुलपरायण कर देता है। मिन ने उपयोगितावाद के राजनीतिक स्वरूप को मुलाकर उसे नैतिक जीवन के अधिक अनुकूल बनाने की चेष्टा में केन्थम के मुखवाद के मौलिक विचारों को ही कासीकार कर दिया। उपयोगितावाद की पुनर्मौल्यता करने से उतने उच्चतम स्वरूप ही सिद्ध कर दिया। यद्यपि मुलात्तक पहलू पर और देने से उपयोगितावादी विचारप्रवाह में मानवीयता का अधिक समावेश हुआ, तथापि इससे केन्थम का मानक बच बरत-स्पर्श हो गया। सुखों के गुणमयक प्रसार को बिना प्रसार माना जाय, यह भी एक जटिल प्रश्न बन गया। प्रो. मेब्राइन ने इस पर शिष्टाशी करते हुए लिखा है कि—

“उसने अपने सुलदास से कुछ के उष्ण घोर निम्न स्तर का नैतिक सिद्धान्त घोर जोड़ दिया । इसका परिणाम यह था कि मित एक मानक को मानने के लिए एक मानक की भाँव कर रहा था । यह एक तरह का विरोधाभास था और अपने उपयोगितावाद का पूर्णतया से एक प्रतिनिधित्व सिद्धान्त बना दिया । सुखों के कुछ की परतने का कभी कोई मानक निर्धारित नहीं किया गया था और यदि यह किया भी जाता तो यह गुरु न होता ।” दूसरी जगहों में केदारन का कथन है कि—

“इस जग की यह यह थी कि मित केन्द्र के अधिकतम कुछ के सिद्धान्त के व्यावहारिकता का ही स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं था । केन्द्र का व्यावहारिकता यह था कि उसके आधार पर विचार की उपयोगिता की परता जा सकता था । यह अधिकतम कुछ के सिद्धान्त की मुख्य रूप से विचार पर ही लागू करना चाहता था । उसे एक बात की चिन्ता नहीं थी कि व्यक्तिगत नैतिकता से किन मानकों का प्रयोग किया जाता है । इनके विपरीत मित के उद्देश्यवितावाद की विवेचना यह थी कि उनमें अपने व्यक्तिगत चरित्रवाद के अनुसार ही नैतिक चरित्र की एक उत्कृष्टता प्रस्तुत की । केन्द्र का कहना था कि “पुष्पिन (बन्धों का एक प्रकार का खेल) जगता ही अच्छा है जिसका कारण; यह यह है कि यह समय कुछ देता हो ।” मित के अनुसार यह कथन सुनतागुणों है । उनका मत यह था कि एक सम्पूर्ण भूरी की घरेला एक सम्पूर्ण सुकरात भेद्य है । मित का कथन एक सामान्य नैतिक प्रतिनिधिता की व्यवस्था करना करना है, मितन यह सुनकर नहीं है । मित के नीतिशास्त्र का उद्धारवाद के लिए महत्व यह है कि उसने सहकारिता का स्थापित किया और यह स्वीकार किया कि सामाजिक सम्बन्ध एक ऐसा विषय है जिसके बारे में सभी सम्बन्ध लोगों की चिन्ता होनी चाहिए । मित स्वतन्त्रता, ईमानदारी, सामान्यमान और व्यक्तिगत सम्पूर्ण की अपने-आप में ही अच्छी चीजें मानता था । से चीजें मानकर ही मित की वृद्धि करती है । यदि इनसे कुछ की वृद्धि न भी हो तो वह भी वास्तव है । मित का इस तरह का नैतिक विश्वास उद्धारवादी सम्बन्ध की सम्पूर्ण संरचना में निहित है ।”

अन्तिम मोन्दमवाद की रक्षा के प्रयत्न में मित अपने पत्रिकाओं में वास्तव में उसे बख्त करने की घोर प्रवृत्ति होता है, तथापि यह भी कथ है कि मित मोन्दमवाद में एक प्रतिनिधिता प्रतिनिधित्व मानता है जो मोन्दमवाद से नहीं अधिक उपयोगितावादी है । केन्द्र के अनुसार, “उसकी रचनाओं में राज्य का सकारात्मक चरित्र जोष हो जाता है । अपनी ‘व्यक्तिगत इच्छाओं’ में वह स्पष्ट कहता है कि व्यक्तिगत उत्तमता के अनुपपन्न का चरित्रात्मक सामाजिक प्रयत्नता ही होती है । यह कथन मनुष्यों की व्यक्तिगत विविधताओं तथा वैयक्तिक प्रयत्नों की गहनता कर देता है । यदि मनुष्यों का सामाजिक विचारों से सम्बन्ध है, तो वे प्रतिरोधिता की बौद्ध में बराबर नहीं पा सकते । मित, उच्च और उच्च पर चरित्र-कथनों का एकान्वित होता है । विभिन्न मोन्दमवादी सम्पूर्ण मोन्दमवादी नहीं चरित्र-कथनों के द्वारा निर्धारित होती है । इस कारण

मिल सत्तावाद के प्रति बहुत महानुभूति रखता है और चाहता है कि राज्य की शक्ति के विकास की बाधाओं को हटाकर अत्याचारों के जीवन को सुलभ बनाए या दूर सामने बनाए रखिए । मिल बेन्थम के मन या गणनी के महत्व को कोई ग्वाह नहीं देता । जमींदारी में उसे कोई मजदूरी दिखाई नहीं देती । मिल प्रतिस्पर्धा शिक्षा का समर्थन करता है । वह उत्तराधिकारकम अधिकार को सीमित करने को महत्त्व दे । वह निजुमों के लिए औद्योगिक कानून का समर्थन करता है । उसकी धारणा है कि प्रयोगात्मक स्वाधिकारियों पर राज्य का नियंत्रण होना चाहिए । धार्मिक विषयों में वह मजदूरी के कार्य करने के कष्टों को सीमित कर देना चाहता है । इन सब में वह बेन्थम से धार्मिक उपयोगितावादी भिन्न हुआ है ।¹

यदि देखा जाए तो बेन्थम का उपयोगितावाद परम्परागत नैतिक मान्यताओं के भूतशोकन की बमौटी है जबकि मिल का उपयोगितावाद एक ऐसा सिद्धान्त है जिसने उनके बौद्धिक-नवकष की स्थापना की जा सकती है । एमीलिए मैकडी (Meady) ने लिखा है कि "मिल की उपयोगितावाद की पुनर्जीवना में बेन्थम की मान्यताओं का बहुत कम ध्यान रखा गया है ।"² यद्यपि ही मिल ने अपनी विद्यालय हृदयता से उपयोगितावाद की नैतिक जीवन के धार्मिक अनुभूत बनाया और कुछ बात के लिए जगता को मुग्ध कर दिया, किन्तु धन में इसके कारण उत्पन्न असफलताओं ने उसकी शक्ति को बहुत कम कर दिया है । उपयोगितावाद की रक्षा में सर्वसाधन का खयाल पाली करने वाले मिल ने उपयोगितावाद का यह प्रयत्न न हो सका । उसने बेन्थम द्वारा प्रतिपादित उपयोगितावाद के प्रालोचनों को सतत कर दिया, वस्तु बढ़ने में बहुतकरक सत्ताधियों को धन्य दिया जो इस परिस्थिति और सम्बन्धित उपयोगितावाद के विरुद्ध लड़ने की कोशिश करने लगे । मिल ने बेन्थम के उपयोगितावाद में नैतिक सिद्धान्तों का समावेश कर अपने मानवीय बनाने का सराहनीय कार्य करवा दिया, लेकिन दार्शनिकता की और बढ़ने का दुष्परिणाम वह हुआ कि उपयोगितावाद की व्यावहारिकता ही समाप्त हो गई ।

मिल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा (Mill's Conception on Liberty)

मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों का समावेश उनकी पुस्तक 'On Liberty' में है । मिल के समय राज्य का कार्यक्षेत्र बहुत धार्मिक कर तथा या और सरकार अनिष्ट के नाम पर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को नियंत्रित करने वाले कानून बनाने लगी थी । सामाजिक व्यवस्थापन द्वारा सामान्य जगता की सुख-बुद्धि के प्रयास में ब्रिटिश सरकार जिस प्रकार वैयक्तिक स्वतन्त्रता से हस्तक्षेप करने लगी थी उसने मिल को यह भय ही गया था कि जनता का बहुमत सत्ता लोकप्रिय जीवन को कड़ी अनुपयोगी निरनुक साक्षर के समान आसताओं और स्वेच्छाधारी न बन जाए । उसका विश्वास था कि राज्य द्वारा धार्मिक धर्मनिरपेक्षों के निर्माण का कार्य है—

1. केर : दुर्लभ पुष् 141.

2. Meady: op. cit., p. 487.

व्यक्ति और उसकी स्वतन्त्रता पर अधिक प्रतिबन्ध लगाना तथा अधिक प्रतिबन्धों का संचय या राज्य के समक्ष नागरिक के व्यक्तिगत का हस्त । उसकी मान्यता थी कि राज्य की वैयक्तिक स्वतन्त्रता का हनन करने का कोई अधिकार नहीं है । 'जनता के शासन' के नाम पर बहुमत द्वारा अल्पमत पर मनचाहे प्रतिबन्ध लगाना यथवा लोकमत के नाम पर अनुचित कानूनों की घोषणा सर्वथा अव्ययनीय है । अपने इसी विचारों के कारण मिल ने मानव-स्वतन्त्रता के व्यक्तिवादी रूप का प्रतिपादन किया । व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के पक्ष में निम्न वर्ग उसके तर्कों की वजह से स्पष्ट आश्चर्य होता है कि उपरोक्तवादी तर्कों का अधिकमण हो गया है । इसलिए केवलानु ने लिखा है—“मिल का व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का समर्थन उपरोक्तवादी समर्थन से कुछ अधिक है ।”

मिल के चिन्तन में व्यक्ति का स्थान

मिल व्यक्ति का दुबारा है । उसका सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन व्यक्ति के मूल्य पर आधारित है । मिल व्यक्ति को सामाजिक प्राप्ति स्वीकार करता है, लेकिन साथ ही यह विचारधारा भी व्यक्त करता है कि व्यक्ति समाज के हित में स्वेच्छा से जीव नहीं देता । “व्यक्ति के हितों को व्यक्ति ही सम्भाल सकता है, न कि समाज । अपने सर्वोत्तम हित को व्यक्ति ही सर्वोत्तम रूप से जानता है और वही उसे सर्वोत्तम रूप से प्राप्त कर सकता है ।”

मिल का विश्वास है कि व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत की विकसित करने और सुधार बनाने की स्वतन्त्रता है । इसके लिए आवश्यक है कि उसे विचार एवं अतिव्यक्ति की स्वतन्त्रता प्रदान की जाती चाहिए । मिल के अनुसार व्यक्ति अपने शरीर और मस्तिष्क का स्वामी है और इसलिए उसे अपने सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए । इस क्षेत्र में समाज यथवा राज्य को व्यक्ति के आचरण पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिए । व्यक्ति का सर्वोत्तमपुत्री विकास अभी सम्भव है जब उसे अपने लिए आवश्यक परिस्थितियों को स्वयं ही निर्धारित करने का अधिकार प्राप्त हो । व्यक्ति स्वयं स्वयं है । सामाजिक व्यवस्था का अस्तित्व व्यक्ति के हित-आचरण के लिए ही है । सामाजिक व्यवस्था की कमीसी वही है कि वे व्यक्ति का हित-आचरण किस सीमा तक करती हैं ।

व्यक्ति की राज्य और समाज के हस्तक्षेप से रक्षा होना आवश्यक है

मिल की दृष्टि धारणा थी कि अपने व्यक्तिगत का विकास करना ही मनुष्य का धर्म है, किन्तु इस धर्म की प्राप्ति में राज्य और समाज द्वारा कुछ बाधाएँ उपस्थित की जाती हैं जिसका निराकरण आवश्यक है । इन बाधाओं के निराकरण की आवश्यकता ही स्वतन्त्रता है । समाज और राज्य द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन अनुचित है । होता यह है कि समाज यह कदापि बर्दाश्त नहीं करता कि कोई उसकी मान्य परम्पराओं की तोड़कर नवीन परम्पराओं की स्थापना करे । यदि कोई ऐसा कृतघ्न करता है तो समाज के पक्ष में उसे पकड़ने के लिए तैयार रहते हैं । पर समाज को ऐसा कोई अधिकार नहीं होना चाहिए । समाज को तो व्यक्ति के आचरण के

केवल उस भाव का निरूपण करना ही उचित है जो दूसरों से सम्बन्धित हो। व्यक्ति स्वतन्त्र, अपने शरीर का उखाड़ने व्यक्तिगत का स्वयं स्वीकृति है। इसी कारण की निर्भरता से व्यक्ति की उन्नति होती है। समाज का वह अपने स्वतन्त्र और आनन्द द्वारा व्यक्ति को एक विशिष्ट व्यवस्था की योजना का प्रयत्न करने व्यक्ति के विचारों को प्रभावित कर देता है। कभी-कभी जो सामाजिक विचारों के कारण व्यक्तिगत का विकास विरुद्ध हो एक बात है। समाज व्यक्ति को व्यक्तिगततया चाहते नहीं करते देता और साथ करता है कि वह सामाजिक दृष्टिकोण के अनुसार ही अपने चरित्र का निर्माण करे। यह निमित्त नहीं है कि समाज किताबें बनाता है। समाज के समाज ही समाज की जो कोई व्यवस्था नहीं है कि वह व्यक्ति की स्वायत्तता का हनन करे। जिस के अनुसार, "सामाजिक व्यक्तिगत रूप से समाज के प्रति उत्तरदायी है।" राजनीतिक क्षेत्र में बहुमत के प्रत्याचार नहीं चुनने से चर्चा करना आवश्यक है।" समाज की व्यक्ति के जीवन में कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिए। वह व्यक्ति के जीवन में केवल सामाजिक के लिए हस्तक्षेप कर सकता है। यदि हमने कभी सोच कोई व्यक्ति दूसरी की स्वायत्तता में बाधक हो, तो समाज का हस्तक्षेप आवश्यक है।

जिस की स्वायत्तता का हनन

केवल कि समाज का युवा है, जिस के लिए स्वायत्तता आवश्यक है अधिक उच्च और अधिक व्यक्तिगत। इसी भावना में उनके 'Essay on Liberty' की प्रारम्भ बना दिया। जिस के लिए स्वायत्तता का एक-दोहरा किया है, वह एक व्यक्तिगत स्वायत्तता है। उनका विचार है कि स्वायत्तता के अभाव में किसी प्रकार का काल विकास नहीं हो सकता। स्वायत्तता और स्वायत्त-विकास का वही सम्बन्ध उनके समाज का केन्द्र-बिन्दु है और उनका कहना है कि समाज की उत्पत्ति के लिए स्वायत्तता अनिवार्य है। 'जो व्यक्ति' में स्वायत्तता के हनन को समाज कभी हुए जिस के विचार है कि—"समाज यदि किसी भी प्रकार की स्वायत्तता में केवल एक आधार पर ही हस्तक्षेप कर सकता है और वह है प्रत्यक्ष। समाज समाज के किसी भी प्रकार के विरुद्ध व्यक्ति का प्रयोग केवल इसी उद्देश्य के लिए हो सकता है कि जो दूसरों को हानि पहुँचाने से रोकता है। उसका अपना भौतिक या वैतिक हित इसका पूर्णतः धर्मनिरपेक्ष नहीं है। किसी भी व्यक्ति को कोई हानि करने या न करने के लिए विवश करना इस आधार पर उचित नहीं माना जा सकता कि ऐसा करना उस व्यक्ति के हित में है या ऐसा करने से उसके हित में कुछ होती या ऐसा करना व्यक्तिगततया है।" समाज अपने आनन्द के केवल उन्हीं पक्ष को निर्दिष्ट कर सकता है जो दूसरे व्यक्ति को सम्बन्धित हो। समाज अपने ही कानों में उन्हीं स्वायत्तता अधिकार, विस्तृत है। जिस के विचारों का और अधिक स्पष्टीकरण केवल के इन कानों में होता है कि—

हानि पहुँचाने वाले कार्यों से रोकना उचित ही है। मिल सभी तरह के कार्यों को दो श्रेणियों में विभाजित करता है—एक से सम्बन्धित करने तथा पर-सम्बन्धी कार्य। यह कहता है कि एक से सम्बन्धित कार्यों पर कोई भी नियन्त्रण नहीं होना चाहिए। परन्तु पर-सम्बन्धी कार्य को दूसरों की हानि तथा दुःख पहुँचाते हैं, वे नियन्त्रित होने ही चाहिये। चिन का यह मत अनुभवोचिततावादी है। यह इस अनुमान पर स्थापित है कि नियन्त्रण एक दुर्घट है। यह मत सम्बन्धितावादी सिद्धान्त द्वारा उचित नहीं कहलाता जा सकता। यह सिद्धान्त सम्बन्धिता का नहीं, साधनविकास का है।¹¹

'मिल की दूसरी परिभाषा के अनुसार अपनी इच्छानुसार कार्य करने की छूट ही स्वतन्त्रता है। मान यदि वह जानते हैं कि बहुत व्यक्ति का बहुत पुत्र को पार करना असम्भव है और इसलिए मान उसे पुत्र पार करने से रोक देते हैं तो मान उचित ही करते हैं। स्वतन्त्रता व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर होती है तथा किसी व्यक्ति की इच्छा नदी में डूबने की नहीं हो सकती। स्वतन्त्रता की यह परिभाषा नियन्त्रण के लिए दरवाजा खुला रखती है। यदि एक बार यह मान लिया जाए कि कोई दूसरा व्यक्ति आपकी इच्छा को आपसे सम्बन्धी तरह जान सकता है और स्वतन्त्रता उसी को लाते हैं जो आपकी इच्छा होती है, तब तो सन्विष्टाधिकारी अनुभव की नक में जाने से बचाने के कार्य और उसे मुक्ति दिलाने के प्रयत्न की अभिन है। चिन कहता है कि व्यक्ति पर स्वतन्त्र होने के लिए दबाव भी डाला जा सकता है। यहाँ यह भविष्यवादी हो जाता है। उसकी ये परिभाषाएँ भी बेन्थम की परिभाषाओं से भिन्न हैं।¹²

मिल की स्वतन्त्रता का स्वयं इस और भी सतिशायी बन जाता है जब हम देखते हैं कि यह धन-संपन्न दुखी और निचरी की उन्नति चाहता है क्योंकि हमारा विचार है कि सभी छादों और तर्कसंगत वस्तुएँ व्यक्तियों से ही जाती हैं और व्यक्तियों से ही जाती चाहिये।¹³

मिल को स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों को दो प्रकार

मिल के अनुसार स्वतन्त्रता के दो प्रकार हैं—

- (1) विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता (Freedom of Thought and Expression), तथा
- (2) कार्यों की स्वतन्त्रता (Freedom of Action)।

1. विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता (Freedom of Thought and Expression)—विचारों की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में मिल के तर्क उक्त प्रकारवादी हैं। मिल के अनुसार समाज और राज्य की व्यक्ति की वैचारिक स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाने का कोई अधिकार नहीं है। किसी भी व्यक्ति को किसी भी प्रकार के विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए चाहे वे विचार समाज के अनुकूल ही या प्रतिपुल। औद्योगिक तथा वैचारिक स्वतन्त्रता न केवल उस समाज के लिए हितकर है जो उसकी अनुमति देता है बल्कि उस व्यक्ति के लिए भी हितकर है जो

जसका उपयोग करता है। यदि सम्पूर्ण समाज एक मोर हो और व्यक्ति अनेकाने कूटले मोर, तो भी उस व्यक्ति को विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। मिल के ही बन्दों में, "यदि एक व्यक्ति के सांसारिक सम्पूर्ण मानव-जाति स्वतन्त्र हो जाए तो भी मानव-जाति को उसे अनवरतही चुन करने का उसी प्रकार अधिकार नहीं है जिस प्रकार यदि वह व्यक्ति-व्यक्त होता तो उसे मानव-जाति को चुन करने का अधिकार नहीं था।"

मेगाइन ने मिल के इस विचार पर लिखती करते हुए लिखा है कि, "जब उसने यह कहा कि सम्पूर्ण मानव-जाति को एक सङ्घनित व्यक्ति को चुन करने का अधिकार नहीं है तब वह निर्दोष की स्वतन्त्रता का समर्थन कर रहा था। इस स्वतन्त्रता का धारक यह है कि मानव अपनी बात मनवाने के लिए किसी व्यक्ति के साथ जोर-जबरदस्ती न कीविए बल्कि उसको अपनी बात समझाए और उसको विनम्रता दिखाए कि बातचीत ठीक है। यह विशेषता परिणत व्यक्ति का लक्षण है। उदाहरणों के साथ यह है जो इस अधिकार को स्वीकार करता है और अपनी सहायता को इस तरह करता है कि इस अधिकार को सिद्ध किया जा सके। व्यक्ति और व्यक्ति-निर्णय की अनुमति देने को सहज की जाने वाली कुराई मानना पर्याप्त नहीं है। उदाहरणों के साथ उनकी कारागारिक स्वतन्त्रता है। यह उन्हें मानव-जाति के स्वतन्त्र के लिए आवश्यक समझता है तथा स्वतन्त्र-सम्पत्ति का लक्षण मानता है। स्वतन्त्र व्यक्ति के इस सुसंयोजन ने मिल के उदाहरणों के सुसंयोजन को सामाजिक प्रभावित किया था।"

मिल ने दुर्भाग्यवश कहा कि मगर अपनी किसी विचारधारा के दम से सामाजिक प्रगति संभव नहीं होती है। यदि व्यक्ति मूल्य के पहले धर्म-सुधार के बजाए उसी जातिके आन्दोलनकारियों का ध्यान किया जाता तो धर्म-सुधार आन्दोलन बहुत पहले ही सफल हो गया होता और 16वीं सताब्दी के बाद होने वाली प्रगति काफी समय पूर्व ही सम्भव हो जाती। धर्म से पहले का सम्पूर्ण नहीं किया जा सकता और न विचारों को कम में धनवाना या संभव है। विचार और व्यक्ति-निर्णय की स्वतन्त्रता धर्म की प्रति और संसार की प्रगति की सीमा होती है।

मिल ने कहा कि विचार एवं मानव की स्वतन्त्रता सामाजिक स्वतन्त्र के लिए आवश्यक साधन है। इससे अधिकतम मनुष्यों को वेकन अधिकतम सुख की अनुमति दी नहीं होती, यदि इसके द्वारा संसार की प्रगति भी की जा सकती है। इस राजनीतिक स्वतन्त्रता से उच्च नैतिक स्वतन्त्रता का जन्म होता है। सामाजिक प्रगति पर अनुकूल चर्चा हो, राजनीतिक निर्णयों में उच्चता प्राप्त हो, नैतिक विनम्रता हो और उच्च नैतिक विचारों की सामाजिकता करने के लिए उत्तरदायित्व का भाव हो—जब ये बातें होती हैं, तभी विवेकशील मनुष्यों का जन्म होता है। इस तरह का चरित्र-निर्माण सिर्फ इसलिए संभव नहीं है कि उसके किसी स्वार्थ की पूर्ति

होती है। वह इसलिए भी शकरी है क्योंकि वह मानवीयित है, क्योंकि वह सम्म है। "यदि वह अनुभूति हो जाए कि व्यक्तिगत का स्वतन्त्र विकास कुन्दास की एक प्रमुख गति है तथा वह सम्मति, उपदेव, विद्या और लोकहित का सहयोगी तत्व ही नहीं बल्कि इन सब का एक सामयिक सब भी है तो स्वतन्त्रता की मन कीमत मानने का कोई सतरा नहीं रहेगा।"

मिल् ने वैचारिक स्वतन्त्रता के बाद से धीरे-धीरे सर्वप्रथम मूल प्रकट किया है उसे निम्नलिखित रूप में दस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

1. विचारों पर प्रतिक्रिया नमाने का सर्व प्रथम पर प्रतिबन्ध लगाया है और राज्य पर प्रतिक्रिया का सर्व समाज की जवाबदारी का इनका कर्तव्य है जिसके परिणामस्वरूप समाज का स्वतन्त्र व्यवस्थापनी हो जाता है।

2. व्यक्तिगत द्वारा राज्य विचारों की पुष्टि होती है। समन्वय की जवाबदारी द्वारा राज्य की बाधित नहीं किया जा सकता। उसे केवल विलम्बित किया जा सकता है। हाँ, इस विलम्ब के कारणस्वरूप सामयिक प्रगति प्रचलन प्रचलित होती है।

3. राज्य के धर्मिक पक्ष होते हैं। सामान्यतः एक पक्ष राज्य के एक पक्ष की वेष्टता है और दूसरा पक्ष एक दूसरे पक्ष की। राज्य के समय रूप को समझने के लिए उसे जिसके अधिक दृष्टिकोणों के देखने की स्वतन्त्रता की जाएगी कलका ही प्रचलित होता है। ये विभिन्न दृष्टिकोण एक दूसरे के दूरक होते हैं जिसके समन्वय से सामयिकता का पता चलता है और समन्वय पर निर्मितता समाप्त होती है।

4. यदि कोई व्यक्ति व्यक्तिगत रूप कोलता है नहीं तक कि विद्या भाग्य भी करेता है तो भी राज्य की उसके विचार-व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। समाज समझा जाता जब उसके धर्म को समाप्त जाएगी, तब उसका समर्थन नहीं करेगी। यदि कोई व्यक्ति समझी है तो उसे भी अपने विचारों को व्यक्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता की जानी चाहिए क्योंकि हो सकता है कि उसकी व्यक्ति भी किसी नई विचार-व्यक्ति का आविष्कार करने में सफल हो जाए।

5. यदि किसी व्यक्ति का विचार प्रगट है, तो उसकी व्यक्त होने देने में समाज की हानि नहीं है। इससे तो समाज द्वारा प्रकीर्ण राज्य का स्वरूप और अधिक निश्चयेगा। विद्या भाग्यो की तुलना करके हम सम्म को प्रगट सकते हैं। विद्या और राज्य में द्विदोषाभास है, यद्यपि राज्य की एक सजीव रूप से समाज में प्रमुख किया जा सकता है।

6. सर्व-धर्म के राज्य की प्रगट होती है, मान का विकास होता है और विद्या एवं सम्मविचारधर्मों परम्पराओं का प्रगट होता है।

इस प्रकार मिल् के अनुसार किसी भी व्यक्ति को किसी भी वस्तु में विचार व्यक्त करने से रोकना अनुचित है क्योंकि, "विचार व्यक्तिगत की रोकने से जारी होय वह है कि ऐसा करना सामयिकता की वर्तमान तथा भावी नस्लों को स्वतन्त्रता के बाधित करना है।" स्वतन्त्रता की रोकने के भीतर परिणामों का उद्घाटन देने के लिए दिन सुकल और ईसा मसीह की हलकें का उल्लेख करता हुआ कहता है—

“जब मानव-जाति कभी मूल तकली है कि कभी किसी जमाने में मुकरात मान का एक अनुभव हुआ था जिसकी सम्पाधिकारियों और लोकमत से एक स्वरहीन स्वरक हुई थी। विचारों का तब तो तिरस्कार ही हुआ था, मगर 2000 वर्ष से अधिक समय बीत जाने पर भी उसके विचार स्वर ही और अधिक ने भी रहते हैं।”

मिल ने इस बात पर बल दिया है कि एक ऐसे लोकमत का निर्माण होना चाहिए जो सहिष्णुतापूर्ण हो, जो सामग्री मतभेदों को महान देता हो और जो नए विचारों का स्वागत करने के लिए तैयार हो।

2. कार्यों की स्वतन्त्रता (Freedom of Action)—संचारिक स्वतन्त्रता का महत्वपूर्ण पक्ष कार्यों की स्वतन्त्रता है। मिल का दृढ़ मत है कि “विचारों की स्वतन्त्रता अनुरूप है यदि जन विचारों को क्रियान्वित करने की स्वतन्त्रता न हो।” दुष्टि, सकल, सृष्टि—ये अनुभव के अभिव्यक्त्य पक्ष हैं और कार्यों द्वारा अनुभव प्रकट अनुदाय समाज को देता है। यह अनुदाय उसके स्वतन्त्रता का मानकीय तत्व है, साथ ही सामाजिक प्रगति का सत्यतम मापन है। यदि कोई व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक केवल सोचता ही है, पर साधारण में सदा दूसरों की भांति का अनुभवों रहता है, तो वह बीबित दास (Slave) है क्योंकि उसके मन और शरीर वृक्क है, वह अनुरूप मानव है। “सोचने, समझने, सोचने और कार्य करने की स्वतन्त्रता एक ही प्रमाण तत्व के साधन हैं, इनके से किसी की उन्नता नहीं की जा सकती। स्वतन्त्र कार्य के अभाव में स्वतन्त्र चिन्तन संसा ही है जैसा कि सभी उन्नत ही चाहता है, पर उसके पक्ष उभरे नहीं।”

मिल ने कहा कि लोकमत के नाम पर मानव मानव की स्वतन्त्रता में बाधा पहुँचाता है, अतः यह साधारण है कि संचारिक जीवन में राज्य द्वारा किए जाने वाले हस्तक्षेप समाप्त किए जाएँ, पर कार्य-स्वतन्त्रता में सरोदा का स्थान अत्यन्त उच्च माना चाहिए। राज्य के विभिन्न-निर्माणकारी अधिकार-क्षेत्र की सीमा निश्चित करने हुए उसने लिखा है, “मानव-जाति व्यक्तिगत प्रकृति सामुदायिक रूप से अपने किसी भी सदस्य की स्वतन्त्रता में केवल अत्यन्त-रक्षा के क्षेत्र में हस्तक्षेप कर सकती है। मानव मानव के किसी भी पक्ष के विरुद्ध व्यक्ति का प्रयोग केवल उसे दूसरों को हानि पहुँचाने के सोचने के लिए उचित ही सकता है।” व्यक्ति के कार्यों पर, चाहे वे सही हो या गलत, समाज प्रकृति राज्य की अतिव्यक्त लगाने का कोई अधिकार नहीं है। पर व्यक्ति के ऐसे कार्यों पर अत्यन्त अतिव्यक्त लगाए जा सकते हैं जिनके द्वारा समाज के अन्य व्यक्तियों पर कोई अस्वाभाविक प्रभाव पड़ता हो। उदाहरणार्थ, यदि अतिव्यक्त-मान एवाण्ड में हो तो कोई बात नहीं, लेकिन सामाजिक रूप से यह मान्य नहीं हो सकता। यदि व्यक्ति दुष्टा मनना है और इसका सामाजिक प्रभाव गंभीर है तो व्यक्ति के इस कार्य में राज्य द्वारा हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति अपने घर में शान्त लगा के और दूसरों को उत्तमकर कर बड़े कि घायल लोग सुखाने वाले लोग होते हैं तो यह कार्य स्वतन्त्रता का नहीं सुर्वता का सीधन कहनाएगा, क्योंकि उसके घर की शान्त पड़ोसियों के करो करो की जला सकती है। सामाजिक

जीन के गणनीयन बाबों में राज्य की हस्तक्षेप करना ही पड़ता है, लेकिन यह हस्तक्षेप भी वहीं तक उचित है जहाँ तक उसके सामाजिक कार्यों की रीज काता ही । जनता में मित यह स्पष्ट करना चाहना था कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सामाजिक जीवन के लिए अधिकारी तथा अधिकारी पर निर्भर है । जनता में मित के विचारों पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि—

“निधान की उचित समझाई के बारे में मित के विचार बहुत स्पष्ट थे । उसने कुछ वास्तविक बाधों पर मित इन के विचार किया उनके यह बात प्रभावित हो जाती है । उनके निष्कर्ष किरी निधन पर आधारित नहीं थे । वे निर्लक्ष्य की सामान्यता बाधों पर निर्भर थे । जहाँ-जहाँ के लिए, मित के मादक दृष्टि की किसी के निर्णय की स्वतन्त्रता का अधिकारता जाना है लेकिन उसने अनिवार्य शिक्षा की स्वतन्त्रता का अधिकारता नहीं माना । उसके ये दोनों विचार कुछ समझ में हैं । इस समझ की इस आधार पर स्वीकार नहीं किया जा सकता कि मनुष्य की निधन उनके निजी व्यक्ति की संवेदा दूसरे व्यक्तियों की अधिक प्रभावित करती है । यह सामाजिक स्वतन्त्रता एक स्वतन्त्र की दृष्टि के आधार तथा उसी पर सरकार का अधिकार निधन स्वीकार करने के लिए आधार था । उसने इन निधन की डीके-डीके बीबाओं का उल्लेख नहीं किया । मित का विद्वान्त बाई किताब ही समझ की न रहा ही, इसका एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष—सांख्यिक निर्णयों का लक्षण था । केवल का कहना था कि विधान समझ में ही लक्षण होता है और उसका उपयोग कम से कम होता बाहिर । केवल के इस कथन का सामाजिक आधार जो केवल के लिए था, वह मित के लिए नहीं था । मित ने सामाजिक उधारवाद के इस विद्वान्त को लक्षण दिया कि अधिकतम स्वतन्त्रता उसी समझ सम्मिल हो सकती है जबकि विधान न हो । उसने कहा कि नल-प्रयोग की विधान में प्रतिरिक्त और भी अधिक विचार ही तकनी हैं । वो परिणामों में दाखर एक परिणाम ही तकता है—या तो विधान का नल-प्रयोग कम करने के उधारवादी प्रयोजन के रूप में नहीं परना जा सकता या उधारवादी विद्वान्त का इस तरह विस्तार किया जाना चाहिए कि उनमें वैयक्तिक नल-प्रयोग तथा निधि के बाह्य-नल-प्रयोग के सम्मिल पर विचार ही तक । बाह्य-नल-प्रयोग राज्य के निष्कर्ष करने से उत्पन्न होता है, जीन ने नकासामक स्वतन्त्रता के विद्वान्त द्वारा इन प्रश्न पर अपने नलकद विचार किया । जहाँ तक मित का सम्मिल है उसने सामाजिक आधारों पर सामाजिक विधान की सामाजिकता की स्वीकार किया, तथापि उसने उसकी उचित बीबाओं का निर्धारण नहीं किया ।”

मित के इन विचारों में यह निष्कर्ष निजता है कि सामाजिक-जीवन के दो चरम हैं—व्यक्तिगत और सामाजिक । इनमें मनुष्य नई व्यक्ति के बाबों की दो बाधों में प्रभावित करता है—

(1) स्व-सम्बन्धी कार्य (Self-regarding Actions)

(2) पर-सम्बन्धी कार्य (Others-regarding Actions)

व्यक्ति के स्व-सम्बन्धी कार्य वे हैं जिनसे अन्य व्यक्ति प्रभावित नहीं होते। इन कार्यों की परिधि व्यक्ति स्वयं है, जैसे कपड़े पहनना, शिक्षा प्राप्त करना, सिगरेट पीना, पान खाना आदि। व्यक्ति को ऐसे कार्यों की अपनी इच्छानुसार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इसमें राज्य का कोई भी हस्तक्षेप बांझीपन नहीं है। व्यक्ति को स्व-सम्बन्धी कार्यों की स्वतन्त्रता न देना उसे पशु बनाना है। व्यक्तिगत कार्यों की स्वतन्त्रता का सम्भाव समाज की प्रगति के लिए साधन बन जाता है। मिल के अनुसार, "जिस प्रकार विज्ञान की प्रगति का आधार मनीषात्मकता है, उसी प्रकार समाज में भी जीवन और गति का आधार नवीनता में निहित है। नवीनता (Variety) के सम्भाव में जीवन मूल्य हो जाता है। यद्यपि इस नवीनता की रक्षा के लिए भी यह आवश्यक है कि व्यक्तिगत कार्यों में व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो।"

पर-सम्बन्धी कार्य व्यक्ति के वे कार्य हैं जिनसे समाज अथवा अन्य व्यक्ति प्रभावित होते हैं। ऐसे कार्यों में राज्य द्वारा हस्तक्षेप किया जा सकता है, क्योंकि यद्यपि व्यक्ति की स्वतन्त्रता आवश्यक है तथापि इसके द्वारा दूसरों की स्वतन्त्रता का खिलवाव नहीं किया जा सकता। यदि व्यक्ति समाज में अशान्ति और अनैतिकता को प्रोत्साहन देता है अथवा ऐसे उद्यमों का निर्वाह करता है जिनसे सामाजिक शान्ति और सुरक्षा भंग होती हो, राज्य को अधिकार है कि वह उसके कार्यों में हस्तक्षेप करे, लेकिन बड़े एक बहु हस्तक्षेप व्यक्ति के सामाजिक कार्यों को रोकने के लिए आवश्यक ही। अपना पूर्ण अधिकार करने वाले व्यक्तिगत कार्य भी, मिल के अनुसार, राज्य द्वारा प्रतिबन्धित हो सकते हैं—जैसे सार्वजनिक कार्य।

मिल ने कार्यों की स्वतन्त्रता को परिण-निर्वाह और सामाजिक विकास की दृष्टि से व्यापकपूर्ण बताया है। परिण-निर्वाह में व्यक्तिगत अनुभव तथा परीक्षण के बाद लिया गया सकल कार्य रूप में व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों ही लाभ देता है। दुर्घटनाओं अथवा विघातों को रोकने के लिए राज्य को परीक्षण रूप में हस्तक्षेप करना चाहिए। इन परीक्षण रूपों में निवारणात्मक उपकरण, शिक्षा-प्रचार, प्रोत्साहन, विन-वर्तन आदि मशरूम हो सकते हैं। मिल की जीवना के अनुसार "मन-निवेष्ट के लिए कानून बनाकर सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती और न राज्य को सफलता बन्द करानी चाहिए। मन-निवेष्ट सभी सफल हो सकता है जब हमारी सक्षमता के पास जाकर अपने सीधे-बैमाने खड़े हैं और आत्म-समय एवं विचार-व्ययन द्वारा यह निश्चय करेंगे कि उसे हमारे छोड़नी ही है।" मिल तथा, परम्परा, सामाजिक कठिनों आदि के निवारण में भी व्यक्ति को मुक्त करना चाहता है क्योंकि इनसे समाज विकास बन जाता है। इस प्रकार की चीज़ें यदि एकता समाज-सत्त्वों की भावना के विरुद्ध हैं। मिल ने अनुसन्धानकर्ता तथा आविष्कार को अधिक श्रेष्ठ दिया है क्योंकि वह पर-पर्याप्त होता है। मिल कार्यों की स्वतन्त्रता का उद्घोष करते समय व्यक्तिगत विविधता तथा विविधता पर जोर देता है। वह आदर्शन एकरूपता

(Dull and Dead Uniformity) का खीर विरोधी है। प्रतिपादित होने के लिए आवश्यक है कि समाज में अनिवार्य-अनिवार्य पारस्परिकता का सम्बन्ध करने की सामर्थ्य हो।

मिल की स्वतन्त्रता के मूलभूत तत्त्व—मिल के व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के सिद्धान्त की प्रो. डेविडसन (Prof. Davidson) ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

(क) व्यक्ति की भावनाओं और दृष्टियों की उचित स्थापना दिया जाए। बौद्धिकता द्वारा इनका सम्यक्त्व न होने पर इनका धर्म यह नहीं है कि बौद्धिकता के सहज को किसी प्रकार बढ़ाया जा रहा है।

(ख) सार्वजनिक और सामाजिक कल्याण की दृष्टि के व्यक्तिगत दृष्टिकोण को भी उचित महत्व दिया जाना चाहिए। इसमें मानव कल्याण में वृद्धि होने की और योग्य प्रवृत्ति के लिए प्रेरित होमे। विभिन्न दृष्टिकोणों को प्रोत्साहित करने से जीवन में अनेक विविधता और सामाजिक नीतिकला उत्पन्न होती।

(ग) समाज की ऐसी परम्पराओं का विरोध किया जाना चाहिए जिनसे विचार और भावना की स्वतन्त्रता बाधित होती हो; ऐसे कानूनों को निरस्त कर देना चाहिए।

इस प्रकार मिल द्वारा प्रतिपादित की गई स्वतन्त्रता के प्रमुख तत्त्व ये हैं—

- (1) यह नकारात्मक स्वतन्त्रता है, विधेयानक नहीं। कानून का अभाव ही स्वतन्त्रता माना गया है।
- (2) मिल द्वारा स्वतन्त्रता की एक साम्प्रदायिक व्याख्या प्रस्तुत की गई है।
- (3) समाज में पुष्प-रहकर व्यक्ति स्वतन्त्रता का उपयोग कर सकता है। मिल की स्वतन्त्रता की प्रेरणा समाज की व्यक्तिवादी पारस्परिकता पर आधारित है।
- (4) मिल द्वारा स्वतन्त्रता के पक्ष में दिए गए नये उपयोगितावादी सिद्धान्तों का प्रतिवचन करने हैं। जब मिल कहता है कि एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा समूची मानव-जाति के भित्तु भी की जानी चाहिए तो उनका उपयोगितावादी आधार से कोई सम्बन्ध नहीं रहता।
- (5) मिल पिछड़े हुए राष्ट्रों के लोगों की स्वतन्त्रता प्रदान करने के पक्ष में नहीं है।
- (6) राष्ट्रीय धर्म और सामाजिक उद्देश्य के लिए स्वतन्त्रता का सम्यक्त्व दिया जा सकता है।

मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों की आलोचना

धार्मिक तथा आध्यात्मिक पक्ष द्वारा मिल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा की पूर्ण आलोचना की गई है। कहा गया है कि स्वतन्त्रता और उसके पक्ष में नये की दीवार नहीं बनने के प्रयास में मिल स्वयं आध्यात्मिक में बहुत गया है और दीवार उठाने के बजाय नीचे ही नीकता रह गया है।

1. मर्नेस्ट बार्बर के अनुसार "मिल उसकी अर्थात् के लिए पर्याप्त मु'आदम होना देना पर भी, हमें कोरे स्वातन्त्र्य और साम्यिक व्यक्ति का ही संभव प्रतीत होता है। व्यक्ति के अधिकारों के सम्बन्ध में उसका कोई दंतर्द नहीं था। वह समाज की कोई ऐसी पूर्ण रूपता नहीं कर पाया जिसमें 'राज्य और व्यक्ति' के मध्यम मन्तर अपने-आप सुप्त हो जाते हैं।" भारत में मिल ने व्यक्ति की समाज के पूरक देखा है और समाज के निदर्शों को व्यक्ति की स्वातन्त्र्यता से कोई विशेष नहीं होता। वे तो व्यक्ति की स्वातन्त्र्यता को सम्भव बनाने में सहायक होते हैं।

2. मित ने स्वतन्त्रता के लक्ष्ये धीरे संवैधानिक उपदेश का कोई प्रचार नहीं किया है । यह ठीक है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए धीरे बहुमत का राज्य किसी की दमने हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, पर ऐसा क्यों ? व्यक्ति की व्यक्तिगत क्षेत्र में, विचार अभिव्यक्ति के क्षेत्र में, अपने व्यवसाय या अभिरूचियों के चुनाव के क्षेत्र में समाज के समस्त अधिकार क्यों विवर्धित ? मित अपने निरूप में इन प्रश्नों का उत्तर नहीं देता ।

3. मिला ये बनने द्वारा प्रतिकारित स्वतन्त्रता का कोई घोषणा मित्र नहीं किया है। केवल उसी तरह स्वतन्त्रता का स्वामी साकार प्राप्त नहीं किया जा सकता मिला की स्वतन्त्रता का आधार उपयोगिता है लेकिन इसमें उत्तरदायित्व का अभाव है। किसी अधिकार का अधिकार के अभाव में कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। मान लिया कि निजी क्षेत्र में व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जाए, लेकिन इन क्षेत्र में यदि व्यक्ति ऐसा कार्य करे जो दूसरों के लिए हानिकारक मित्र हो तो हमका उत्तरदायित्व किन तरह का किन प्रकार निश्चित होगा? उत्तरदायित्व के अभाव में स्वतन्त्रता अनेकधाकारिता का रूप में होती। मिला इन बात का कोई उत्तर नहीं देता कि यह कौन सीर किस प्रकार देखेगा कि व्यक्ति अपने निजी क्षेत्र में ही अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग कर रहा है।

४. जिस ने व्यक्तियों के लक्ष-समूहभी धीरे-धीरे-प्राकृतिकी कानों में जो सम्भार किया है, वह धर्मसाधनिक है। उसमें उन्हीं का समावेश है। पञ्चांगीय व्यक्ति का कोई कार्य ऐसा नहीं होता जिसका प्रभाव केवल उसी घर, वही धीरे-धीरे समाज के समस्त सदस्य तक ही फैलता रहे। व्यवहार में प्रत्येक व्यक्ति के प्रत्येक कार्य का एक सामाजिक पहलु होता है और ऊपर से पूर्णतः व्यक्तिगत विचारों देने वाले कार्य भी समाज के दूसरे व्यक्तियों को प्रभावित करते हैं।

3. मिल ने संसाधारण, सबकी विस्तृत की समतावादीक महत्व दिया है । यह भविष्य की संरक्षितों को समतावादी देने का समतावादी है क्योंकि समतावादी है जिस इस समतावादी में से एक इतिहासवादी 'सुखी का मत' निम्न बातों को समतावादी के समतावादी नीतिक विचार प्रदान कर सके । मिल यह भूत जाना है कि ऐसे समतावादी को समतावादी समतावादी के होते हैं और समतावादी समतावादी समतावादी का

परिष्कार होता है जिसकी उद्देश्य करता ही सम्पत्ती है।¹¹ एक 'सिवा रान' नामे की स्वनिष्ठ छात्रा ने अनेक सम्पत्तियों को प्रोत्साहन देना समाज के लिए परिष्कार है। यदि यह स्वतन्त्रता की गई हो सामाजिक सामंजस्य (Social Harmony) का प्रभाव हो जाता।

6. मिल के अनुसार व्यक्ति के ये सब कार्य, जिसका प्रभाव दूसरी पर पड़ता है और जिसके किसी का अधिक होता है, प्रतिस्पर्धा हो पड़ते हैं; किन्तु इस प्रकार तो राज्य व्यक्ति के सभी कार्यों को पर-सम्बन्धी सिद्ध करके हस्तक्षेप कर सकता है।

7. सार्वजनिक और औद्योगिक व्यवस्था में मिला का यह विचार प्रचित नहीं है कि मिला उनके और अनुभव के कोई प्रत्यक्ष स्वीकार नहीं करता चाहिए। वह तो एक और मतप्रवाह की स्थिति होगी जिसमें व्यक्ति 'ये हूँ या नहीं हूँ'—इस द्वन्द्व में ही दूबा पड़ेगा। समाज में ऐसे अनेक क्षेत्र और विषय हैं जहाँ उनके को प्रोत्साहित किया जा विवश हो उपयुक्त रहता है। यह भी देखा जाता है कि "उनके-विषयों में उत्तमसे वाले अधिकतम कुशल ही करते हैं और स्वयं के विश्वासवाद में अपनी कृति का श्रम करते हैं।" यदि दिन-प्रतिदिन की छोटी-छोटी बातों की उनके को समझी पर कभी कोई भी प्रभावशालक बलह और सम्पत्तिसम्वय बढ़ने की ही अधिक सम्भावना रहेगी।

8. स्वतन्त्रता के अनेक पहलू हैं जो अनेक स्थानों पर परस्पर विरोधी भी हो सकते हैं। मिल उन्हें देखने में सक्षम नहीं हो सका है।

9. मिल का यह कथन कि विद्यार्थी देशों के लोगों की स्वतन्त्रता नहीं देनी चाहिए, सम्भवतः-सत्य है। इसका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। केवल विद्यार्थियों के साक्षर पर ही किसी व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत के विकास के अवसरों से वंचित कर देना सर्वथा अनुचित है।

10. मिल समाज में समानता का पुराणी है। वह मानता है कि समाज जिन्हे भस्मी और समझी सम्पत्ति है, वे विद्वान् और सार्वजनिक हो पड़ते हैं। निम्नोद्देश कुल मामलों में मिल का यह दृष्टिकोण सत्य हो सकता है, किन्तु इसका आलस्य यह नहीं है कि यह सर्वत्र ही सत्य है। समझीपन को हम सार्वजनिकता का प्रतीक नहीं कह सकते।

11. मिल की स्वतन्त्रता व्यावहारिक है, नैतिक-व्यावहारिक नहीं। उसके अनुसार मानव विज्ञान के माने में मानव जन्मी क्षमताओं को पूरा करना ही स्वतन्त्रता है। स्वतन्त्रता की ऐसी सीमित परिभाषा उसके महत्त्व को घटाती है।

12. मिल द्वारा प्रतिपादित कार्य-सम्पादन की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त भी नृसिद्ध है। यह मानक-परिचय की मिश्रता की ही सामाजिक विकास का मापदण्ड मानता है। लेकिन यद्यपि यह है कि सामाजिक पहलु का आधार यह उनके सार्वजनिक की सार्वजनिक उपलब्धता होती है, पर मिल की निर्धारणक एवं 'उपलब्ध' की सीमा के स्थान पर नागरिकों की शिक्षा का उचित अवलोकन किया जाना आवश्यक है।

व्यक्ति मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी सिद्धान्तों की अनेक प्रकार से आलोचनाएँ की गई हैं, लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि मिल का 'स्वतन्त्रता' का सिद्धान्त निरस्त ही हो गया है। मिल की कल्पना मनोरञ्जक और प्रभावशाली है। व्यक्तिवाद के पक्ष में एक ही महत्वपूर्ण उमील मिल के ग्रन्थ का आधार है। मिल के स्वतन्त्रता दर्शन में व्यक्तिवाद से निम्नतम और उच्चतम उन्नति में बहुत मोल दिया है। स्वतन्त्रता की भावना मात्र न केवल विचार, भावना, काम तक ही सीमित है, बल्कि उसके विनाश का प्रयत्न कर दिया है। शास्त्रकारण की स्वतन्त्रता, धार्मिक-सांस्कृतिक स्वतन्त्रता, वैचारिक स्वतन्त्रता, सम्पत्ति तथा जीवन की स्वतन्त्रता, सांविधानिक उपचारों की व्यवस्था, आदि की कल्पना मात्र साधारण ही गई है। मिल का मान सीधे-साधे अर्थ के सब एक सम्मान का अधिकारी रहना जब तक सरकार 'व्यक्ति' को मान्यता देता रहेगा। मिल सीवतन्त्र के आधार-सम्बन्धों में प्रयुक्त है। अपने सीवतन्त्र के यह सीधे दिया कि बहुमत की विरुद्ध हो, सकता है। इस सीध का व्यावहारिक महत्व है। दुर्भाग्य, मिल ने जिस स्वतन्त्रता की सराहना की है वह केवल न्यायात्मक न होकर एक बहुत बड़ा सकारात्मक आधार है। मिल की सकारात्मक राज्य और उसके सकारण के नहीं है बल्कि नागरिकों की सकारात्मक तथा सकारण भावना के है। मिल तो ऐसे राज्य की कल्पना करता है जिसके नागरिकों की अपने व्यक्तिगत और अपनी विविधता पर गर्व हो और जो अपने तथा दूसरों के व्यक्तिगत का सम्मान करते हो। मिल को विश्वास है कि साम्प्रदायिक विकास के ही व्यक्ति ऐसे आदर्शों के निरादर हो सकते हैं।

मैकसी (Macsey) का यह कथन व्यक्तिवादियों की नहीं है कि "मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी सम्मान की राजनीतिक साहित्य के बहुत ही उच्च स्थान प्राप्त है। यह धारणा उसे विचार, निष्पक्षता, आलोचना, कठोर, दैन, वैयक्तिक तथा स्वतन्त्रता के अन्य महत्वपूर्ण की योगी के मा परा करता है। मिल विचारों की हम दवाता चाहते हैं, उनके बारे में हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि वे सर्वनाशक हैं, और यदि हम बात का निश्चय हो भी जाए तो भी उन विचारों की दवाता दुरा है। आह-विवाद एवं व्यक्तिवाद पर कोई भी प्रतिक्रिया उभाना अपनी दुर्बलता की प्रकट करना है। जो व्यक्ति किसी विषय में केवल अपने ही दृष्टिकोण से परिचित है, उसे उस विषय का दुरा ज्ञान कभी नहीं हो सकता। यदि समाज के नेता किसी विषय का उपाय ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं तो उन्हें व्यक्तियों की केवल और विचार व्यक्तिवाद की पूर्ण स्वतन्त्रता देनी चाहिए। हमें सुकरात का उदाहरण आह रचना चाहिए जिसके विचारों का सकारात्मक अधिकारियों तथा जनमत के बीच विरोध था। उन समय सुकरात का यह कह दिया गया, लेकिन बाद में उनके विचार-स्वतन्त्रता के सम्पूर्ण विचार प्रभावित हुआ।"

मिल की राज्य सम्बन्धी धारणा
(Mill's Conception of the State)

अधोनिम्नलिखित और स्वतन्त्रता-विद्यालय की आकाश में मिल द्वारा मनीषन -

संविधान नहीं मानता। यह सार्वजनिक स्वतन्त्र्य के कल्याण की दृष्टि से व्यापार तथा उद्योगों पर सरकार का व्यापक नियन्त्रण स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत है, लेकिन उन नियन्त्रणों की ठीक-ठीक सीमाएँ उसने स्पष्ट नहीं की हैं। यह कारखानों के लिए कानून और कार्य के पक्षों की सीमा भंगि का समर्थन करता है। इस प्रकार यह समाज के धार्मिक जीवन में राज्य के हस्तक्षेप करने के अधिकार को स्वीकार करता है। मिला के राज्य का यह विधेयक्रमक स्वरूप उसके द्वारा दी गई संविधान की परिभाषा से भी स्पष्ट होता है। उसके अनुसार, "संविधान यह स्थापन है जिसके आध्यात्म से व्यक्ति की बुद्धि और ईमानदारी के सामान्य-स्तर पर लाया जाता है तथा समाज के धार्मिक बुद्धिमान सदस्यों का सामान-कार्य में उपयोग किया जा सकता है और उससे उन्हें उससे कहीं अधिक प्रभाव प्रदान किया जा सकता है जो अन्य किसी समूह में सम्भव है।"

स्पष्ट है कि मिला राज्य के रचनात्मक और नियंत्रात्मक दोनों प्रकार के कार्यों की व्याख्या करता है। राज्य का रचनात्मक कार्य यह है कि यह ऐसे स्वतन्त्र कारागारों का निर्माण करे जिसमें विचार-मगन, माध्याम्यता, अनुभव-बुद्धि, परिणामिता आदि सम्मिल हो सकें। व्यक्ति जबका समाज पर प्रतिक्रिया करता है राज्य का नियंत्रात्मक कार्य है। विश्व सामाजिक व्यवस्था, सत्ताशक्तता, लक्ष्यिता आदि के समस्त राज्य के हस्तक्षेप की व्यापकताओं और समाज-हित में मानता है। यह व्यक्तिगत एवं सामाजिक कार्यों की समीक्षा में होने पर भी राज्य के हस्तक्षेप का समर्थन करता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति राज्य में साक्षरता के लिए कार्य करे या देशी हो कोई अन्य दूरकाल करे जिससे देश की पैदाई में बाधा उपस्थित हो, तो राज्य का कर्तव्य है कि यह उस व्यक्ति को ऐसा कार्य करने से रोके। बुद्ध, उपवास, धार्मिक, राजनीतिक संघटन समस्त किसी प्रकार के विधेय जाने वाले राज्यकोट प्रतिबन्धी को भी मिला उचित मानता है।

... अतः मिला के अनुसार राज्य की मर्यादात्मक केवल निम्नलिखित कार्यों के समूह सम्मिल रहना चाहिए—

- (1) राज्य बाह्य आक्रमण अपना आन्तरिक अशांति से रोक भी रक्षा के लिए सेवा की व्यवस्था करे।
- (2) सार्वजनिक सुरक्षा की व्यवस्था के लिए पुलिस का प्रवर्धन करे।
- (3) सत्ताशक्त उपयोगी एवं कम के कम कानून बनाने के लिए विधानमण्डल का निर्माण करे।
- (4) कानून के विरुद्ध कार्य करने वालों को दण्डित करने के लिए न्यायमयी की स्थापना करे।
- (5) व्यक्ति की उसका महत्व बनाए और इनके लिए प्रचार करे।
- (6) पैदावनी देने का काम करे और दम तरह सम्मानित दुष्परिणामी की ओर संकेत करे।

मिल के मतानुसार उपर्युक्त कार्यों के सार्वजनिक सेवा कार्य अर्थात् अर्थशास्त्र की प्रकाश कर सकता है। मिल का यह विवेचन राज्य के कार्यक्षेत्र की बहुत सीमित बना देता है जबकि सर्वमान्य रूप से राज्य के कार्यों की सीमा का इतना विस्तार हो गया है कि चाहेद ही कोई कार्य उसके कार्यक्षेत्र से बाहर हो और विस्तार को इस अर्थिका में गतवृद्धि होती जा रही है।

शासन की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली (Best Form of Government)

मिल के अनुसार शासन की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली यह नहीं है जो सार्वजनिक सुख हो, बल्कि यह है जो नागरिकों की राजनीतिक शिक्षा प्रदान करने के महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हो और सर्वसाधारण को नागरिक अधिकारों तथा कर्तव्यों का ज्ञान कराती हो। श्रेष्ठ शासन की प्रथम विशेषता यह है कि वह जनता के पुरोहि और वृद्धि का विचार करने वाली हो। शासन सार्वजनिक कर्म के लिए सगठित व्यवस्था का मान ही नहीं है, बल्कि एकत्र मानव-संस्थित पर उत्तम और सहज प्रभाव भी होना चाहिए। शासन का मुख्य उसके कार्यों द्वारा माना जाना चाहिए। शासन की कार्यक्षमता अनुष्ठी एवं अन्य कर्मियों पर पड़ने वाले प्रभाव से मापी जानी चाहिए। शासन की उत्तमता की प्रथम कमीसी यह जानना है कि वह नागरिकों के सार्वजनिक एवं वैयक्तिक पुरोहि का कहीं तक जवाब देती है, उनके आर्थिक एवं शैक्षिक विकास के लिए कितना प्रयास करती है। इन बातों की सर्वश्रेष्ठ रूप से विचारित करने वाली शासन-प्रणाली हो 'शासन की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली' मानी जायेगी। उत्तम शासन की एक ही कमीसी है कि उसके द्वारा नागरिकों के सार्वजनिक एवं सामूहिक कर्म के पुरोहि की वृद्धि होती है। केवल प्रशासन के क्षेत्र में शासन की महत्ता उसकी उत्तमता का निरूपण नहीं है।

इसी शासन-प्रणालियों का निर्माण और संचालन व्यक्तियों द्वारा होता है। व्यक्तिगत शिक्षा में इसकी महत्ता इन व्यक्तियों की योग्यता एवं भावनाओं पर निर्भर करती है जो उन्हें विचारित करते हैं। प्रत्येक समाज के लिए निश्चित प्रकार का शासन उपयुक्त हो सकता है। हम किसी एक ही प्रकार के शासन को सर्वोत्तम नहीं कह सकते। स्वयं मिल के शब्दों में, "ऐसा कहते हैं कि यह है कि सब प्रकार के समाजों के लिए किसी एक प्रकार की शासन-प्रणाली उपयुक्त होती, यह होना कि राजनीतिक विचार पर एक विशद सामान्य विचार आए।"

मिल की प्रतिनिधित्वमय शासन सम्प्रदायी धारणा (Mill's Conception of Representative Government)

मिल के समस्त प्रजातन्त्रवाद प्रवृत्ति पर था, किन्तु शासन की सम्पूर्ण वृद्धि तथा संशुद्ध का उत्तमवर्तीय अभिप्रायकत्व विचार के विषय में। व्यक्ति-समाजवाद का प्रथम उद्घरण करने के बाद मिल ने अपना ध्यान ऐसे शासन की ओर केन्द्रित किया जिसमें व्यक्ति का सच्चा प्रतिनिधित्व सम्भव हो और प्रजातन्त्रिक विधियों के अनुसार प्रत्येक योग्यता-वास्तव्य व्यक्ति दूसका सकार प्रत्यक्ष कर सके।

मिल ने कहा कि सच्चा प्रजातन्त्र यह है जिससे सभी नागरिक प्रत्यक्ष रूप से शासन-कार्य में भाग लें। सर्वोत्तम शासन वह है जिससे सर्वोच्च नियन्त्रण¹ व्यक्ति या समुदाय पूरे समाज की योग्यतायुक्त इनाई में निर्मित हो और इसके व्यक्तिगत सम्बन्धों के निर्माण में केवल धीम हो न वे बरन् समय-प्राने पर नार्थविक वर दहल कर तथा शासन में भाग लेकर अपना कर्तव्य पूरा करें। पर व्यक्ति यह प्रयोग सम्भव नहीं है और धीम के विनाश जनसङ्घना वाले राज्यों में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र नहीं चल सकता, अतः मिल की दृष्टि में सर्वोत्तम शासन सङ्घप्रति प्रजातन्त्र अथवा प्रतिनिधि शासन (Representative Government) ही होना चाहिए। अर्थात् प्रजातन्त्र की यह रूप दीक्षमुक्त नहीं है, पर मिल का विश्वास है कि शासन का स्वरूप मनुष्य द्वारा ही निर्धारित होता है, अतः "मनुष्य द्वारा निर्धारित कार्य-धीमो की भाँति इसकी अन्तर्ध भी बनाया जा सकता है और कुछ भी।" प्रजातन्त्र में, धीम का व्यवहार अधिकाधिक प्रजातान्त्रिक है, इसलिए प्रतिनिधि-शासन सम्बन्धी वर्तमान प्रजातन्त्र के धीमो की बहुत सीमाबद्धा करता हुआ यह सुधार के उपाय बलवाना है। उनके अनुसार व्यक्ति-शासन का अधिकार परित्याग प्रतिनिधि-शासन है और इसी के द्वारा राजनीतिक जीवन के धीमो का दूर होना सम्भव है। राज्य का शासन जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा ही किया जाना चाहिए।

प्रतिनिधि-शासन का सिद्धान्त—मिल के अनुसार प्रतिनिध्यात्मक सरकार यह है जो निम्नलिखित तीन चीजों को पूरा करे—

1. वे लोग जिनके लिए ऐसी सरकार का निर्माण किया जाय, ऐसी सरकार को स्वीकार करने के इच्छुक्त हो या इनके प्रतिच्छुक्त न हो कि इनकी स्थापना में बाधा पैदा करें।

2. ऐसी सरकार के स्थापित के लिए जो कुछ भी करना आवश्यक हो वह सब करने के लिए वे इच्छुक्त और योग्य हो।

3. ऐसी सरकार के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए ऐसे लोगों में जो कुछ सरकार चाहिए वह करने के लिए वे तैयार और योग्य हो। शासन की जो आवश्यकताएँ सर्वे हो के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए तैयार हो।

प्रतिनिध्यात्मक-सरकार में उपर्युक्त तीन के अतिरिक्त कुछ और भी शर्तें होने हैं। मिल के अनुसार, "प्रतिनिधि-शासन का अर्थ है कि मनुष्यों नागरिक या उनका अधिकांश भाग जो समय-समय पर अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा शासन नवाना करते हैं और शासन की अन्तिम सत्ता की विषय प्रत्येक मानव के कहीं न कहीं अन्तिम अधिकार है, अपने नियन्त्रण में रखते हैं।"²

इन परिभाषा के अनुसार मिल की प्रतिनिध्यात्मक-सरकार के प्रमुख उद्देश्य के हैं—

- (1) सम्पूर्ण वा उनकी सख्या के बहुत बड़े भाग के लोगों का सरकार के कार्यों में सहयोग,
 - (2) सम्पूर्ण वा उनकी सख्या के बहुत बड़े भाग के लोगों के हित में नियन्त्रण शक्ति,
 - (3) समय-समय पर चुने गए प्रतिनिधियों द्वारा लोगों का प्रतिनिधित्व,
 - (4) प्रत्यक्ष नियन्त्रण शक्ति का अधिष्ठान में स्थान और यदि अधिष्ठान निश्चित न हो तो व्यावहारिक रूप से जनता द्वारा जनता प्रयोग ।
- मिल ने इन तरीकों में कुछ और भी उल्लेख किये हैं जो इस प्रकार हैं—
- (5) राज्य की सक्रिय राजनीति में नैतिकता या स्वतन्त्र परम्पराएँ,
 - (6) के सभी तत्त्व जो एक अच्छी सरकार के लिए आवश्यक होते जिसका पर्यन्त उपर किया जा चुका है,
 - (7) सरकार के कार्यों में कार्यों का निश्चित बंटवारा,
 - (8) एक सशक्ति विरोधी दल,
 - (9) सामुदायिक प्रतिनिधित्व,
 - (10) -कार्यकारी सहायिका,
 - (11) विपक्ष साधनशक्ति, एवं
 - (12) सत्यमन्त्रों की रक्षा ।

यही रूप में प्रतिनिधित्व करने वाली सरकार की विचार रखने के लिए मिल ने उनके पीछे उदाहरणों के निर्माण की आवश्यकता पर बल दिया है । यदि जनता सावरनाह है और सही नीतियों के प्रति उदासीन है तो सर्वोत्तम प्रजासत्ताक रूप की सम्भवतः जननी भी नहीं होना । इसलिए जनमत को हमेशा हाथ में रखना चाहिए तथा सरकार पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण आवश्यक रहना चाहिए । सेवान के अनुसार, "प्रति और सरकार के बीच एक उदाहरणों के निर्माण की मुख्य शक्ति में मिल की शक्ति थी । मिल ने ऐसी प्रतिनिधि सरकार के निर्माण में निर्माण प्रकट किया जिसमें प्रत्यक्ष की व्यवस्था सुरक्षित रह सके । उसकी मान्यता थी कि केवल सत्य में ही प्रतिनिधित्व के ही मूल्य नहीं बचता, हमने बहुत ही निरक्षरता का भय विद्यमान रहता है । इसलिए जनमतधर्म के संरक्षण के लिए यह पूर्ण आवश्यकता चाहता है और सरकार पर एक उदाहरणों के निर्माण का नियन्त्रण आवश्यक सम्भवता है । यह प्रतिनिधित्व के बारे में भी निश्चित हो जाना चाहता है और सभी रूप में समाज के प्रत्येक भग्न व व्यवस्था के प्रतिनिधित्व का समर्थन करता है । यह व्यवस्था के सुझावों को केवल इतिहास वाली करके के पक्ष में है कि उनके सुझाव कार्यों में जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करते । मिल सत्य में सशक्ति विरोध के पक्ष में है क्योंकि ऐसा न होने पर सरकार नहीं रूप में प्रतिनिधित्व न कर केवल निर्दुष्ट बहुमत पर आधारित हो जाती । प्रजासत्ताक व्यवस्था कार्यकारी की निरक्षरता पर बहुत रक्षित के लिए यह एक मूल्य एवं ताकत व्यवहारिक चाहता है जो-कार्यकारिता के कार्यों की सुव्यवस्था करने

घोर जबरन बंदने पर धक्काबाज प्रस्ताव पास कर उसे चंग करने में भी सक्षम हो।" मिल ने लिखा है—

“प्रतिनिधि सभा (पार्लियामेंट) यह है जिसमें राष्ट्र के सामान्य मत का ही प्रतिनिधित्व नहीं, बल्कि उसके प्रत्येक वर्ग के मत का प्रतिनिधित्व हो, सम्भवतः राष्ट्र के प्रत्येक वर्ग के घोर योग्य व्यक्ति के विचारों का भी प्रतिनिधित्व हो, जहाँ विचारों पर स्वच्छन्द वाद-विवाद और उनका मन्थन हो, जहाँ देश का प्रत्येक व्यक्ति अपने विचारों के सही प्रतिनिधित्व के लिए उपयुक्त वाक्ता प्राप्त कर सके, जहाँ लोगों के विरोधों को केवल धमिन्दा के कारण न टुकरा कर विवेक और तर्क तथा सत्यता के आधार पर चुनौती दी जाए, जहाँ राष्ट्र का प्रत्येक वर्ग या जनमत अपनी-अपनी शक्ति का पूर्ण उपयोग कर सके और सही या गलत विचारों की परख करने का अवसर प्राप्त कर सके, जहाँ राष्ट्र के साम्य विचारों की प्रत्यक्ष रूप से सरकार के सम्मुख अभिव्यक्ति हो सके, जहाँ सरकार की चकती धुटियों के लिए झुकाया जा सके और सरकार बिना शक्ति प्रयोग किए अपना ही स्वीकार करे तथा जिसमें प्रत्येक प्रतिनिधि सही रूप में ईमानदारी के साथ चुना गया हो।”

मसद् में प्रतिनिधियों की निष्ठा के बारे में मिल के विचार बर्तों से मिलते-जुलते हैं। वह प्रतिनिधियों को अपना का प्रत्यावृत्त (Debt) मान नहीं मानता बल्कि उसकी राय में वह एक स्वतन्त्र पक्ष-प्रदर्शक और शिक्षाप्रद शक्ति होना चाहिए। यदि उसे सक्रिय बहुत्वपूर्ण समस्याओं पर विचार करने के लिए किसी छोटी-छोटी समस्याओं पर सम्भ्रंश करना पड़े तो उसे निर्वीर्य रूप से अपनी सम्मति प्रकट कर देनी चाहिए। प्रतिनिधि-शासन-प्रणाली का उच्चतम योग्य भूरी प्रतिपाद करना है और मिल इस योग्य की दूर कल्पना चाहता था।

मिल की मान्यता है कि परिष्कृत व्यक्ति ही राज्य की जीवन शक्ति होते हैं और जिस शासन-व्यवस्था में व्यक्तियों के विकास के समुचित अवसर उपलब्ध नहीं हैं वह शासन-व्यवस्था उपयुक्त नहीं करी जा सकती। चाहे प्रसादनिक दृष्टि से वह विपत्ती ही सतत घोर दुःखदायी न हो। विरक्त राजनयन शक्ति-रूप्य और समतापूर्ण होने पर भी इसीलिए घातक नहीं माना जा सकता है कि उसने व्यक्तियों के पारिवारिक विकास की उद्देश्य की जाती है। प्रतिनिधि-शासन का वास्तविक श्रेष्ठ इसलिए है क्योंकि मान्य किस्म की शासन-व्यवस्था की संवेष्टा उसमें व्यक्ति के शैक्षिक और नैतिक विकास की सक्रिय सम्भावना होती है।

प्रतिनिधिशासन-कारण के कार्य

मिल के अनुसार, “निर्वाचित प्रतिनिधि-परिषद् का कार्य शासन का निष्पादन और निरीक्षण करना मान्य है। इस परिषद् की सक्रिय रूप से कानून-निर्माण करना आवश्यक नहीं करने चाहिए।” मिल ने प्रतिनिधिशासन-कारण के दिन मुख्य कर्तव्यों का उल्लेख किया है, वे इस प्रकार हैं—

1. प्रतिनिधि-शासन व्यक्तियों के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करे जिसमें व्यक्ति स्वतः की जीवन करके उदरगुल अपने विचारों का निर्माण कर सके

2. शासन ऐसे कानूनों का निर्माण करे जिससे व्यक्तियों के नारिबिक विकास के बीच बाधाएँ न बन सकें ।

3. इस सम्बन्ध में राज्य द्वारा कानूनों का निर्माण कम से कम किया जाए क्योंकि कानून व्यक्तियों पर प्रतिबन्ध लगाते हैं । शासन को अधिक कानून लगाकर नागरिकों के वैयक्तिक जीवन में अनावश्यक रूपों अधिक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए । जीवन के अधिकतर पहलु सरकार के विनिर्णयों में मुक्त हो रहने चाहिए । कानून-निर्माण का कार्य स्थानिक-स्तरों को दिया जाना चाहिए ।

4. प्रतिनिधि-शासकों को इन महत्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन करना चाहिए— सरकार पर दृष्टि रखकर उस पर पूर्ण नियन्त्रण रखना, सरकार के कार्यों पर प्रभाव डालना, उनके व्यवहार-यन्त्रण कार्यों की समीक्षा करना एवं उनका घोरित्व निन्द करना, निष्ठासमर्थता जातकों को परखना कर उनके उत्तराधिकारियों को नियुक्त करना, सरकार के ऐसे कार्यों की निन्दा करना, धारि । सफ़ा में जनता की का इसके किसी रूप की विकासशील पर विचार-विमर्श एवं वाद-विवाद भी होना उपयोगी है । सार रूप में मिल के अनुसार सफ़ा का कार्य है—वाद-विवाद एवं विचार-विमर्श द्वारा शासन को व्यवस्था में व्यवस्था रखना । मिल के 'ही सम्यो ह, "प्रजासत्ताकीय कार्यों में प्रतिनिधि-शासकों का यह कर्तव्य नहीं है कि वह स्वयं विस्तृत करें, बल्कि यह आवश्यक है कि जो व्यक्ति किसी भी कार्य का निर्णय करें, वह सोचें हो ।" मिल को याता की कि इस प्रकार भी-करनाही द्वारा कति के दुर्लभता की रीति जा सकता है ।

5. मिल ने केम्प की इस चारणों का सम्बन्ध किता कि निर्वाचित सफ़ा का प्रभाव पर प्रभाव कर के नियन्त्रण होना चाहिए । यह एक घोर दुर्लभता घोर बनना चाहता है घोर दूसरी घोर जन-सामोचना का मायौसी है । इसनिद प्रदान कर्नी एवं कर्नियों की नियुक्ति का अधिकार सफ़ा को देकर घोर स्वाधी कर्नकारियों को कर्नियों की कर्नय रखकर यह मोकलन्य एवं मोकलन्य-कृतकता का सम्बन्ध बनना चाहता है । उसके अनुसार, "प्रतिनिधि-कार्यों के कार्य को इन विवेकमयकन भी-कर्मों के सम्बन्ध रखकर लोचनिय नियन्त्रण का काम उठाना जा सकता है घोर सार हो उठने ही महत्वपूर्ण कृतक सम्बन्धमयकन रूपों प्रभावना भी प्राप्त हो सकता है । इन दोनों की मिलने का इसके अधिकार घोर कोई उपाय नहीं है कि नियन्त्रण एवं सामोचना सार को वास्तविक प्रभावना सार के सारन रना जाए, पहले की कर्नता के प्रतिनिधियों की कौष दिया जाए तथा दूसरे की विशेष ज्ञान एवं कृतकता प्राप्त कीने में व्यक्तियों के लिए सुरक्षित रना जाए—को रक्ष के परि पूर्ण रूप के उत्तरदायी हो ।"

निर्वाचन के सम्बन्ध में मिल के विचार

प्रतिनिधि-शासन का निर्माण निर्वाचनों द्वारा होता है । सार. मिल ने प्रतिनिधि-शासन पर विचार व्यक्त करते समय निर्वाचनों को बहुत महत्वपूर्ण स्थान दिया । उसने कहा कि निर्वाचन-व्यक्ति होती होती चाहिए जिसमें सरकार के सम्बन्धन के लिए सर्वश्रेष्ठ, बुद्धिमान और समझदार व्यक्ति हो पहुँच सकें । सोच व्यक्ति हो

शासन का संचालन अभीष्ट प्रकार कर सकते हैं। मिल ने एक स्थान पर लिखा है, "बौद्धिक विपत्ति भी सरकार का सर्वोत्तम सुख यह है कि यह अपने नागरिकों के बौद्धिक तथा नैतिक विकास के साहायक हो, इसलिए एक सच्ची और कुशल सरकार को इस बात का पूर्ण प्रयास करना चाहिए कि सामाजिक जीवन के संचालन पर उसके सबसे अधिक सुविमान सदस्यों की बुद्धि और सदाचार का प्रभाव रहे।"

मिल ने केम्ब्रिज के इस विचार के समर्थन में प्रकट की है कि निर्वाचन वास्तव होने चाहिए और संसद के सदस्यों को जनता, या प्रत्यायुक्त (Delegate) समझा जाना चाहिए। मिल की मान्यता है कि केम्ब्रिज बुद्धि के लोगों को कम प्रतिभाशाली जनता के साथीन रखा जाना उचित नहीं है। रॉबिन्स के शब्दों में, "उसका (मिल का) राजनीतिक सिद्धान्त हर अग्रगण्य-निष्पत्ता एवं योग्यता की विविधता से प्रभावित था। हर अग्रगण्य बहु-भूतियों की सजात शक्तियों के विकास की सुधार करता था। यह स्थानीय शासन के प्रसार को मान्य करता था ताकि अधिकारिक शक्तियों पर उत्तरदायित्व का लोके, के लोके विचारों को बहुत कर सही और उनकी प्रतिष्ठित शक्तियों का विकास सम्भव हो सके। केम्ब्रिज की वाक्चार्य-वाक्चार्यों और उसके राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त के उत्कर्ष कुशल मतभेद था।"¹

मिल ने निर्वाचन सम्बन्धी ऐसे महत्वपूर्ण मुद्दों पर प्रस्तुत किए जिनसे शासकों का चुनाव प्रभावी एवं विवेकाधीन जनता के हाथों में न बर लगे और जिनसे प्राचुरिक सामान्य बुद्धि द्वारा शासन के दोष भी कम हो जाएँ। मिल ने इन्हीं उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्राचुरिक प्रतिनिधित्व (Proportional Representation) और बहुल मतदान (Plural Voting) का सुझाव दिया। मिल की मान्यता थी कि "प्राचुरिक प्रतिनिधित्व द्वारा एक उम्मीदवार के लिए आवश्यक बहुमतों की समुचित महत्व मिल सकेगा और विवेकाधीन जनता के बहुमत के कुछ दोष दूर हो सकेंगे।" प्राचुरिक प्रतिनिधित्व के लिए मिल ने सुझाव दिया कि कुल मतदाताओं की संख्या में संसद की प्रतिनिधि संख्या का भाग देकर सभी की सीमा संख्या निकाल लेनी चाहिए और सभी की एक ऐसी संख्या निर्धारित कर देनी चाहिए जिसकी प्राप्ति करने के बाद ही कोई प्रत्यासी संसद की सदस्यता प्राप्त कर सके।

मिल ने निर्वाचन सम्बन्धी जो महत्वपूर्ण विचार प्रकट किए हैं, उन्हें निम्नानुसार प्रकट किया जा सकता है—

1. सदाधिकार एक ऐसा महत्वपूर्ण अधिकार है जो सभी को नहीं दिया जाना चाहिए। प्रजातन्त्र की सर्वोच्च सदा सत्यता अनपेक्ष और पूर्ण शक्तियों से है; यद्यः आवश्यक है कि सदाधिकार सभी लोगों को प्राप्त हो जो एक निश्चित नैतिक दायित्व रखते हैं। केवल आवश्यक हो जाने से ही कोई मत देने का अधिकार नहीं हो सकता। मिल के ही शब्दों में, "वे इस बात को कभी स्वीकार नहीं कर सकते कि किसी एक व्यक्ति को सदाधिकार प्राप्त हो जो निष्पत्ता, प्रजा

घोर सामान्य परिधि भी न जानता हो।" मिल का तो यही तक कहना था कि "उचित तो यही होता कि जिसने-बड़े घोर साधारण ज्ञान के प्रतिरिक्त मतदाता को भुलीस, इतिहास घोर राजनीति का बीड़ा-बहुत ज्ञान भी सम्भव हो।"

2. असाधिकार प्रदान करने में मिल के साधारण पर कोई केदभाव नहीं किया जाना चाहिए। मिल महिला-असाधिकार (Right of Vote to Women) की प्रस्तावना करने वाले प्रथम कोर्ट के विचारको से से है। उसे यह बहुत सम्मानपूर्ण प्रतीत होता था कि महिलाओं को मतदान अधिकार के अधिकार दया जाए। उन दिनों ग्रेट-ब्रिटेन में नारी का स्थान घर की माइली-मायी तक ही सीमित था। मिल नारी को समाज के यही स्थान प्रदान करना चाहता था जो पुरुषों को प्राप्त था। उसने कहा कि "महिलाओं की सम्पत्ति किसी भी प्रकार उनकी बौद्धिक प्रतिभा की कमी का लक्षण नहीं है बल्कि यह उनकी समीचीनता की दक्षता का परिणाम है। यदि नारी घोर चुनाव में कोई अन्तर है तो भी चुनाव की सम्पत्ति नारी को मतदान का अधिकार की आवश्यकता अधिक है क्योंकि नारीय दृष्टि से चुनाव की दृष्टता में निर्णय होने के कारण उसे अपनी सुरक्षा के लिए समान और समान पर निर्भर रहना पड़ता है।" मिल के इन विचारों पर मिलेन केसर का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। मिल के तर्क असाध्य के घोर इन कारणों उनका सम्पत्ति असर हुआ।

3. निर्वाचन सामुदायिक प्रतिनिधित्व एवं बहुत मतदान के आधार पर होना चाहिए। बहुत मतदान (Plural Voteage) की विचारित मिल ने इसलिए की क्योंकि विभिन्न स्थितियों को प्रतिनिधित्व स्थितियों की दृष्टता में यदि अधिक नहीं तो कम से कम बराबर का अनुपात तो मिल ही रहे।

4. विधान को सूर्य से अधिक बोट देने का अधिकार मिलना चाहिए। प्रत्येक समस्त स्थिति को कम से कम एक तथा अधिक से अधिक पाँच मत देने का अधिकार प्रकृत है। मिल ने समान को सभी में विभक्त कर यह भी निश्चित कर दिया कि जिस वर्ग को मिलने अधिक मत देने का अधिकार मिलना चाहिए।

5. मिल ने-मूल्य मतदान का विरोध करते हुए नुस्ते मतदान को उचित कहाया। मत देने का अधिकार एक पवित्र अधिकार है जिसका प्रयोग नहीं कुटिमता एवं सम्पत्ति के किया जाना चाहिए। जब यह कुटिमता और सम्पत्ति के किया जाने वाला एक पवित्र कार्य है, तो हमसे सीधे-सीधे रखना 'किसी सुन-सुन किए जाने वाले अनुचित कार्य' के समान है।

6. मिल ने चुनाव दिया कि ऐसे सम्पत्ति स्थिति को बौद्धिक दृष्टि के योग्य हो, सम्पत्ति केसक वा सामाजिक कार्यकर्ता हो, किन्तुने अपने पाँचों के कारण हुए मिल में बीड़ी-बहुत प्रसिद्धि प्राप्त कर गी हो पर जो किसी राजनीतिक दल के सदस्य न हो, यदि एक ही क्षेत्र में चुनाव लड़ने के लिए सहज न हो तो उनका चुनाव पूरे राज्य में होना चाहिए और यदि राज्य भर के मतों की सकल प्रतिनिधित्व की आवश्यक मत-संख्या के बराबर हो जाए तो उनका चुनाव कर लिया जाना चाहिए। यह आवश्यक है मतदाताओं को ऐसा स्थिति चुनने के लिए किया गी होना पड़ेगा

जिसे किसी राजनीतिक दल ने अपने, प्रत्याक्षों के रूप में लड़ा किया हो और वह प्रतिनिधित्व के योग्य न हो। मिला का यह धारणा था कि संसद् का बहुमत स्थानीय प्रतिनिधियों का बहुमत और देश के योग्य व्यक्तियों का सम्मेलन होता है, मतः मतों की केवल गणना ही नहीं होनी चाहिए, उनका वजन भी होना चाहिए।

7. संसद् की संरचनाही प्रवृत्तियों पर अधिकार रखने की दृष्टि से द्वि-सदनीय संसद् उपरीची होती है। इसके प्रतिरिक्त समतावाय के कारण निम्न सदन पर जो कार्यभार होता है वह उच्च सदन द्वारा हलवा किया जा सकता है। मिला द्वितीय सदन में कुछ सुधार चाहता था।

8. उसका विचार था कि मतदाताओं के निर्-विज्ञता की योग्यता के सामान्य कारकायी सम्पत्ति की योग्यता (Property Qualification) भी निर्धारित होनी चाहिए क्योंकि सम्पत्तिधन मतदाता सम्पत्तिहीन मतदाताओं से अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से अपने मत का प्रयोग करेंगे। मिला के अनुसार, "यह महत्वपूर्ण बात है कि जो मता कर सकता है वह केवल उन्हीं लोगों की बनी होनी चाहिए जो इन कार्यों का भार वहन करेंगे। जो मता कर नहीं देते और अपने मतदान द्वारा राज्य नागरिकों का मन मन करते हैं उनका भ्रमशयी होना स्वाभाविक है, उनके निष्पक्षी होने का प्रश्न ही नहीं उठता। हम प्रकार के व्यक्तियों के हाथ में मतदान की शक्ति देना मौलिक सिद्धान्तों का हनन तथा सत्यता का विरोध होगा।"

मिला के इन विचारों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उसने प्रजातन्त्र के बीजों को दूर करने का भयानक प्रयत्न किया और उसे धार्मिकतात्मक बनाने के बुझाव दिए। वह प्रतिनिधि-शासन की दुर्बलताओं और तत्परो से परिचित था। प्रथम महापुष्ट के बाद से लगभग प्रत्येक देश में प्रजातन्त्र मिला प्रकार कार्य कर रहा है वह मिला के विचारों को सहायक सिद्ध करने के लिए प्रयत्न है। यद्यपि हम मिला में प्रजातन्त्र के प्रति इसका धार्मिकतावादी दृष्टिकोण से हैं और उसका यह भावार्थ भी था कि सत्यता की प्रति ही प्रजातन्त्र सभी लोगों के लिए अनुसृत नहीं है तथापि उसका यह विश्वास उसे प्रजातन्त्रवादी घोषित करता है कि जहाँ भी सम्भव हो उनके प्रजातन्त्र ही शासन का सर्वोत्तम रूप है। मिला प्रजातन्त्रवादी था क्योंकि वह उसी शासन की सर्वोत्तम सम्पत्ति था जिसमें सम्पन्नता धर्मिता रूप में पूर्ण समाज में बिहिन हो और जिसमें प्रत्येक नागरिक को अपनी दुर्गता हलवा करने तथा सामाजिक कार्यों में भाग लेने का अधिकार हो। मिला की मान्यता थी कि प्रजातन्त्र से अनुसृत न केवल अधिक सुखी, बल्कि अधिक सम्पत्ति भी बनता है।

अपने प्रतिनिधित्व-प्रणाली सम्बन्धी विचारों के लिए मिला का राजदरशन के इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है।

मिला के प्रतिनिधि-शासन में विचारों की आलोचना

1. मिला द्वारा प्रायः मतदाता की योग्यता से सम्बन्ध की परिभाषा किया जा रहा तो भारत जैसे विभाग जनसंख्या वाले देश में भी कुछ ही हद तक व्यक्तियों की मतदान का अधिकार मिला समझता। यह सम्भव नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति इतिहास, नीति एवं वस्तुतः धार्मिक विषयों का व्यापक ज्ञान रखता हो।

2. मिल सिखा तो ही बोधला की एकमात्र कर्तव्यी मानता है। इसमें सन्देह नहीं कि सिखा बोधता के विकास का एक स्पष्ट माध्यम है, तथापि यह सम्भाव्यार्थिक है कि अनुभवजन्य बोधला की कोई गहराई ही न दिया जाए। अनुभवजन्य बोधता तो जीवन में सकलता की अपेक्षाकृत घनिक स्पष्ट कुछही है। मूल, सुलझी और कबीर की आज के परिस्थितों की ही संश्लेषक क्षमिका प्राप्त नहीं थी। उनका समस्त ज्ञान अनुभवजन्य था, तथापि आज के सार्वजनिक जीवन की रचनाओं के विनाश साध-सागर में बीजा लगाकर भी उनके ज्ञान और सन्निधय की पूर्ण माह नहीं पा सके हैं।

3. मिल ने सत्यसम्बन्धों के हितार्थ सामुदायिक प्रवृत्तियों का प्रतिपादन किया है, पर घटिर्वाचक, एक सार्वजनिक मत द्वारा ही सामुदायिक प्रतिनिधित्व सम्भव है और इस विधि को प्रवृत्त करना सामान्य मतदाता के मन की बात नहीं है। फिर, इस प्रवृत्तियों के सम्बन्धित छोटे-छोटे राजनीतिक दलों को सर्वोच्चतम प्रोत्साहन मिलने से देश में राजनीतिक दलों की श्रद्धा में अनावश्यक कृद्धि और देश के राजनीतिक आशावरण के दुषित होने का भय रहता है।

4. मिल द्वारा खुले मतदान का समर्थन किया जाता उचित नहीं है। खुले मतदान के कारण प्रतिरोधी व्यक्तियों में अनावश्यक तीव्र सन्धर्ष और विरोध उत्पन्न हो सकता है। मनुष्य स्वभावतः खुले रूप में सत्यता विरोध यह नहीं पाता। सत्यत्व दल के विरुद्ध खुला मत-वर्षण तो निरर्थक ही घाघति की निमग्नता देता है। प्रत्यक्ष मतदान में सर्वोच्चतम प्रोत्साहन मिलने का क्योंकि तीव्र विचार से प्रलोभन कार्य में उबर ही शायद उलझने।

5. मिल द्वारा प्रस्तावित सामुदायिक प्रतिनिधि-प्रवृत्तियों इसकी देखीका है कि साधारण जनता उसे समझ नहीं सकती। जितनी भी बड़े देश में सामुदायिक प्रतिनिधित्व के स्थापित होने पर भी उनकी स्वातन्त्र्यिक रूप देना बहुत कठिन है। मिल ने प्रतिनिधि-सामान के नियन्त्रण के लिए एक उत्तरदायी समान का निर्धारण चाहा है, पर इसका निर्माण कैसे किया जाए, यह स्पष्ट नहीं किया है। समर्थ में बहुमत की विरुद्धता को निवर्तित करने के लिए अनुदेष्टित प्रत्यक्ष (Insured Majority) के प्रतिपादन की बात भी समर्थ में नहीं जाती।

6. मिल का यह विचार कि कलों की वेतन वृद्धि ही नहीं की जाय उनका वजन भी दिया जाए, बका उचित मान्य होना है। पर यह तभी सम्भव है जब जनता का नैतिक स्तर बहुत ऊँचा हो, ये स्वार्थी न हो तथा राजनीतिक दलों की समर्थन कर दिया जाए। मिल विरोधी दल के समर्थन के लिए समर्थ भी राजनीतिक दलों की उपयोक्तृता को स्वीकार करता है।

7. मिल ने सत्य के कर्मों को स्वीकृत करके उसके कानून बनाने और प्रकाशन करने के अधिकारों को नकार दिया है। सत्य को केवल 'बात-विवाद' पधिति (Talking Shop) बना देना उचित नहीं कहा जा सकता।

8. मिल सार्वजनिक विचारों के सम्मानता के पीछे जाता है। सभी व्यक्तियों को छोड़ मत का अधिकार देने और विचारों को पूर्ण की अपेक्षा अधिक

सत्तारूढ़ता का अधिकारी बनाने की बात सामंजस्यपूर्ण है। मिल भूल जाता है कि प्रजातन्त्र का आधार ही 'समानता' है और वह इसी पर कुठाराघात कर रहा है।

यद्यपि मिल की प्रतिनिध्यात्मक-शासन-प्रणाली कई दृष्टियों से वृत्तिपूर्ण और सामंजस्यपूर्ण है तथापि उसमें घनेक प्रजातन्त्रात्मिक गुण भी निहित हैं। मिल द्वारा स्वी-सहायिकार का समर्थन दूरदृष्टि का परिचायक है। मिल का यह विचार भी उचित है कि शासन में समता और प्रजातन्त्र का सम्बन्धित किया जाना चाहिए तथा दोनों व्यक्तियों को शासनाधिकार दिया जाना चाहिए। मैकली ने ठीक ही कहा है कि "एक व्यक्ति वर्षों के इतिहास का समर्थन नहीं है कि प्रजातन्त्रात्मिक देशों में कुछ गुणों का सम्बन्ध है।" मिल द्वारा प्रतिपादित समर्थन की ही यह प्रजातन्त्र का आधार बनाना चाहिए।

जॉन स्टुअर्ट मिल एक असंतुष्ट प्रजातन्त्रवादी के रूप में-वेयर के विचार (John Stuart Mill as the Reluctant Democrat—Wayner's Views)

जॉन स्टुअर्ट मिल के प्रतिनिधि-शासन सम्बन्धी विचारों की हम देख चुके हैं और उसके प्रजातन्त्रवादी स्वरूप का विश्लेषण भी हुआ है, तथापि सुविस्मृत राजनीतिशास्त्री श्री. एन. वेयर ने मिल का 'एक असंतुष्ट प्रजातन्त्रवादी' के रूप में जो कृतार्थक प्रस्तुत किया है उसे जानना राजनीतिक चिन्तन के प्रबुद्ध पाठक वर्ग के लिए सुलभ है।

वेयर के अनुसार, "यद्यपि 'निम्नलिखित तथा रिजर्वेटिव समर्थन' के मिल ने अपनी समझना ही प्रस्तुत की है, तथापि वह प्रजातन्त्रवादियों और प्रजातन्त्रवाद का महानतम बल है और प्रजातन्त्र में उससे कम और देखने वाला घन कोई नहीं दिखाई देता। साथ ही उसके अधिक औरकार समर्थन में वह भी किसी ने नहीं कहा कि प्रजातन्त्र हर प्रकार के लोगों के लिए उपयुक्त नहीं है। फिर उसके अधिक तर्कों के साथ वह भी किसी ने नहीं कहा कि ऊर्ध्व प्रजातन्त्र सम्भव है, वहाँ उसके समर्थन सहित सम्भव नहीं।"

मिल प्रजातन्त्रवादी या और बेमन्य की भाँति अपना विश्वास था कि बहुसंख्यक वर्गों के अधिकार और हितों को स्वयं ही सबसे अच्छे रूप में सुरक्षित रख सकता है। मिल का मत था कि अल्पसंख्यकों के हित-रक्षण के लिए बहुसंख्यक की सहायता आवश्यक है। उसने इस बात से सहमत प्रकट की कि 'सावक अपने पक्ष की प्रजातन्त्रों और अपने वर्ग की भावनाओं द्वारा प्रभावित होने से बचने चाहिए हैं जिससे अपने स्वार्थपूर्ण हितों द्वारा। बेमन्य की भाँति मिल ने भी यह स्वीकार किया कि स्वतन्त्रता सम्प्रदाय का स्थापन है और, बिना सम्प्रदाय के सत्ता गुप्त नहीं रह सकती। यह विचार भी उसे प्रजातन्त्रवादी के रूप में मान्यता देता है। मिल प्रजातन्त्रवादी इसलिए ही नहीं था कि वह प्रजातन्त्र को बहुसंख्यक की सुनी बनाने वाली मान्य-व्यवस्था मानता था, बल्कि वह इसलिए भी कि उसकी दृष्टि में प्रजातन्त्र बहुसंख्यक को उत्तम समझता है। स्वयं मिल ही के शब्दों में, "प्रजातन्त्र का एक साथ यह भी है कि इसमें सावक जनता के अधिकारों के दूर नहीं रह सकना और उसके

परिवर्तन लाए बिना वह उसके बरतों के भी समर्थ नहीं था सकता। वह जानता है कि चरित्र का विकास चरित्र के आस्था पर अवलम्बित है और नागरिकों पर नागरिकता के उपयोगी प्रभाव के कारण ही ऐसा होता है। नागरिकता की वास्तविकता नागरिक बनना है।" केयर के अनुसार मिल की मान्यता थी कि प्राकृतिक वस्तु के लिए जोर देना जिसका आवश्यक है उसका ही सामाजिक राजनीतिक वस्तु के लिए मतदान का अधिकार है। केयर का विचार है कि राजनीतिक क्लियर के लिए सम्पूर्ण इतिहास में मतदान के सम्बन्ध से जॉन स्टुअर्ट मिल ने बेहतर उत्तर विचार और किसी भी विद्वान के नहीं है। मिल के इस मत से प्रभावित होता एडमि है कि किसी भी राजनीतिक चुनाव के समय मतदाता पर एक वैधित सम्पत्ति होता है कि वह अपने दिनों की सुखता में जनहित को ध्यान में रखे और अपनी दृष्टि अपने निजकानुसार सर्वश्रेष्ठ उत्प्रेषण की हो दे। मतदाता को इन प्रकार सोचना चाहिए मानो सम्पूर्ण निर्वाचन उस अपने घर ही सम्पन्नित है और अपने की मतदान है तथा उसका कर्तव्य है कि वह खुद सोच-विचार कर और जन-मतदाता की स्थिति में एकतरफा मत दे।

केयर की शिष्या की अनुसार, "मिल की यह निश्चित धारणा थी कि प्रजातन्त्र के लिए लोग चाहें जिसने ही कम उपयुक्त क्यों न हो, फिर भी वे पानी में तैरना सीख सकते हैं। यह विचार अपने मूल रूप में उपयोगितावादी विचार ही है। मिल के विषय में यह कहना उचित ही है कि किसी भी व्यक्ति हुए की अपने के लिए उसके पास पर्याप्त साधन हुए हैं। यदि उसके कानुनसार सभी स्थानों (जगहसुही) के लिए प्रजातन्त्र उपयुक्त नहीं है, तो भी यदि समाज प्रजातन्त्र की अवस्था के लिए तैयार है, तो बहुत समाज के सभी वर्गों की और सुखों की हमारे मान देना ही चाहिए। मिल का स्थान गरीब-गरीब की मतदाता की और भी था। जिसकी के हित के लिए मनु में सर्वोत्तम उत्तरे ही सामान्य उत्तर ही था, मिल को प्रजातन्त्रवादी कहना हर दृष्टि से उचित है।"

जॉन स्टुअर्ट मिल की दीनदुहिते की पुस्तक 'डेमोक्रेसी इन अमेरिका' के, जिसका प्रथम भाग सन् 1835 के और द्वितीय भाग 1847 के प्रकाशित हुआ था, बहुत अधिक प्रभावित हुआ था और अपने इसे 'प्रजातन्त्र के प्रभाव की प्रथम विलेपणालम्बक जानकारी' बताया था। जी. दीनदुहिते का विचार था कि प्रजातन्त्र का प्रादुर्भाव अनिवार्य है, यह दुनिया के अन्तर्गत अवस्थित होता, निम्न इससे प्रत्यक्ष और सुरा बनाना नागरिकों पर निर्भर है। जॉन स्टुअर्ट मिल, जैसा कि केयर ने लिखा है, की दीनदुहिते के मतान्वय परिष्कारों से प्रभावित दिखाई देता है जिसके अनुसार, "मानव जाति नवी-नवी प्रजातन्त्र की ओर अग्रसर होती, रही-रही नहीं महान् स्वतन्त्रता के स्वरूप पर सम्पूर्ण प्रजातन्त्रता के स्थान पर केवल तथा सीधे परिवर्तन के स्थान पर समाधिष की स्थापना होगी। अतः यह है कि नती अनुभव अपना वैदिक साधन तथा स्वतन्त्रता-अभिमान स्थापन न दे। यह राज्य की सामाजिक शक्ति के पक्ष में नहीं

होना । यह राज्य को विचार और भावना की सामान्य दृष्टि का सब मानव-जाति का कुछ विचारों तथा मानव के दून अधिकारों का रक्षक मानेगा । वास्तव में प्रजातन्त्र एक नवीन शास-धर्म की सुमिका है ।”

डी. टोम्बुविने ने लिखा था कि अमेरिका में प्रजातन्त्र में बहुसंख्यकों के हितों की रक्षा की है, उनकी शान्तिकारी प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है और जन-कार्यकारिणियों के कार्य-सञ्चालन में बाधाएँ उत्पन्न की हैं । विख्यात उपन्यासकार डिक्सेन (Dickens) ने भी अमेरिकी प्रजातन्त्र की प्रशंसा की और कहा कि प्रजातन्त्र में प्रायः “अल्पसंख्यता अपना सौमिल अपनी बाँझों पर बात लेती है तथा अपनी सहीदरा दासता को स्वच्छन्द सावरण की अनुमति प्रदान कर देती है ।” जॉन स्टुअर्ट मिल का भी विचार था कि अमेरिका के बारे में जो मत है वह ‘इर्लैण्ड के विषय में भी उठना ही लायक है । केपर के अनुसार मिल का विश्वास था कि “मानव-प्रकृति परमत्त अधिकृत होती है ।” ‘Essay on the Subjection of Women’ में मिल ने लिखा है कि “दुनिया में ऐसे लोगों की संख्या बहुत है जो पशुओं से कुछ ही बेहतर हैं ।” मिल ने अपने विषय में बताया कि सम्पूर्ण मानव जाति के निर्वाता पुरुष और स्त्री बर्ग में से एक में सामक के गुण विद्यमान हैं तो दूसरे में कमता के । मिल के अनुसार इर्लैण्ड के यूबीवादी बर्ग तथा मजदूर बर्ग की भावनाएँ भी शान्त और दास की भावनाएँ हैं ।

केपर के अनुसार जॉन स्टुअर्ट मिल लोकमत के सम्योद् ग्रन्थ से अवसीत था । उन्होंने कहा था कि आज के लोकमत का आधार अविश्वहीनता है और इर्लैण्ड सब बहुत व्यक्ति उत्पन्न नहीं कर रहा था बल्कि समाज के उदात्त से समानवीय बनता जा रहा था । मिल ने कुछ प्रकट किया कि “इर्लैण्ड की जनता के पास कोई भी स्वाभाविक आदर्श नहीं है बल्कि वह अपनी प्रकृति के अनुसार रही चल रही है । उसकी मानवीय बलि मूल से उत्पन्न रही है, उसकी भावनाएँ बदन कर रही हैं और उसकी सामान्य की दृष्टाएँ ‘मृत्यु से व्याकुल है ।” डी. टोम्बुविने की केलन्निनों के इस प्रकार के भरो से मिल ने और अधिक बढ़ा दिया ।

मिल ने इस बात पर विचार किया कि प्रजातन्त्र को विश्व के लिए सुरक्षित कैसे रखा जा सकता है और कैसे इस बात के प्रति ध्यायस्त हुआ जा सकता है कि प्रजातन्त्र की प्रणामी मानव-जाति के लिए शान्त किटन होकर सुखदायक ही सिद्ध होवी । केपर ने लिखा है कि मिल की इस प्रकार की भावना लोविषन (Latham) के इन शब्दों में निहित है जो एक पत्रकार से बड़े बड़े थे—“प्रजातन्त्र वह उत्पन्न नहीं जो किसी की प्रदान किया जा सके, यह तो एक आदत है जो स्वयं डाली जाती है और वह तब तक शान्त नहीं हो सकती जब तक कि वह कुलीनतन्त्रियों का एक वर्ग उत्पन्न नहीं कर लेगी—और, कुलीनतन्त्री नहीं है जो जीवन से लेने की चनेला जीवन को पैदा अधिक है ।” केपर के अनुसार, ‘मिल का निश्चित विचार था कि प्रजातन्त्र इस प्रकार के कुलीनतन्त्रियों की अवस्था उत्पन्न करेगा । उसका विश्वास था कि किसी द्वारा ही मनुष्यों का निर्वाण होता है और अधिक किया कुलीनतन्त्री के कारण है । मिल औद्योगिक और राजनीतिक दोनों प्रकार के प्रजातन्त्रों का

सर्वप्रथम या और मिथा के प्रतिष्ठित सामाजिक कर्मों में भी उसकी भाग्यता थी।" यह बात यह है कि यदि अनुपम प्रजातन्त्र का सम्मान करना ही प्रजातन्त्र मनुष्य का सम्मान करना। प्रजातन्त्र इन देशों के बिना जीवित नहीं रह सकता जिन्हें मार्गसर्वस्व प्रथा नेतृत्व के बिना कोई भी जनसमूह या सरकार नाक के बर्त में जा सकती है। मिल के अनुसार ऐसे कुलीनतन्त्रियों की महत्त्व तभी मिलेगा जब उनका झुठे और सच्चे प्रजातन्त्र के बीच अन्तर स्थापित कर सकेंगे। सच्चा पर आधारित प्रजातन्त्र भूला प्रजातन्त्र होता है जिसमें 'एक व्यक्ति एक के लिए' वाला सिद्धान्त अपनाया जाता है। यह मिल के मतानुसार गलती प्रजातन्त्र है क्योंकि इसका परिणाम नहीं होता कि एक व्यक्ति उसका ही सम्बन्ध होता जितना दूसरा। इसके गुल और प्रतिभा के बीच अन्तर कर सकना सम्भव हो जाएगा। सर्व-प्रथा पर आधारित आधारित प्रजातन्त्र अवधारणा होता है। एक व्यक्ति या एक मत की मानने वाले सिद्धान्त के अनुसार या स्वाभाविक परिणाम यह होता कि प्रतिष्ठित तथा शारीरिक शक्तों की सरकार कायम होती।

सच्चा प्रजातन्त्र समाज के सभी तत्वों को उचित महत्त्व प्रदान करेगा। यह नीच व्यक्तियों को महान का अधिकार प्रदान करेगा। मानुषात्मिक प्रतिनिधित्व का सुवर्ण करेगा और 'बैलट वोट' प्रथा को खारिज करेगा क्योंकि ईसाई, जैव तथा व्यक्तिगत समुदाय के कारण इस प्रकार के मतदाना वैधानिक करेंगे। इसका एक दूसरा सदन भी होता जो राष्ट्रीय जीवन के उन तत्वों का प्रतिनिधित्व करेगा जिनका प्रतिनिधित्व प्रथम सदन में सम्भव नहीं होता। सच्चा प्रजातन्त्र समस्त के सदस्यों की नीच स्थापित करने की आज्ञा नहीं देता क्योंकि उसके मूलानुसार हमारे प्रतिनिधि सच्चे प्रतिनिधि होते प्रत्याभूत प्रतिनिधि (Delegates) नहीं। इनके अनुसार मतदान का सर्वोच्च प्रजातन्त्र करना नहीं बल्कि निर्दिष्ट तथा प्रभाव करना होता। यह राज्य की शक्तियों को सीमित करना बलवत् करेगा और व्यक्तियों को उन कर्मों के करने की सलाह देता जिन्हें वे राज्य की सहायता नहीं अधिक सज्जी पक्ष कर सकते हैं। यह नीकरशाही (Bureaucracy) के तत्वों के प्रति कभी ध्यान नहीं होता। यह इस बात का ध्यान रहेगा कि "सर्वप्रथम अपने सगठन के अपने ही साथ होते हैं जिनमें कि व्यक्ति आमतौर के।"

सन् 1832 के पूर्व प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में उपरोक्त का सिद्धान्त यह था कि प्रतिनिधित्व संस्था का न होकर द्विती का होना चाहिए। 18वीं सताब्दी के सर्वप्रथम प्रतिनिधित्व की इस सिद्धान्त से बहुत असन्तुष्ट थे। वे इसे बदलना चाहते थे। बर्क, कारमेल, कैनिंग, कैमिलिज हार्नेर ने रिचार्ड मिल के इन प्रतिपादनों को धीरे-धीरे प्रथा की जिन्होंने प्रतिनिधित्व के इस सिद्धान्त को परिष्कृत कर दिया 'मिल रिचार्ड-मिल का समर्थन करते समय प्रतिनिधित्व के पुराने सिद्धान्त की व्याख्या कर देना चाहता था। इसके बिना यह कभी भी प्रजातन्त्रवादी नहीं कहा जा सकता था। इससे भूते तथा सच्चे प्रजातन्त्र के बीच अन्तर करने के कारण भी 20वीं सताब्दी का वास्तविक उसे असन्तुष्ट प्रजातन्त्रवादी की कहा जाता है।"

जॉन स्टुअर्ट मिल का राजनीतिक सर्वव्यवस्था का सिद्धान्त (John Stuart Mill's Political Economy)

जॉन स्टुअर्ट मिल के धार्मिक विचारों का विवेचन करने पर एक विचित्र निष्पत्ति प्रकट होती है कि उसके व्यक्तिवाद ने धार्मिक क्षेत्र में पूँजीवाद का रूप ले लिया है। उसके धार्मिक व्यक्तिवाद ने एक धार्मिक विकास प्रवाह सीमित व्यक्तिवाद के सीमित समाजवाद के रूपान्तरण दिखाई देता है। आरम्भ में मिल ने व्यक्ति की शिक्षा, ईमानदारी, उनके धार्मिक मन्त्रों निवास और धार्मिक मन्त्रों जीवन स्तर आदि के बारे में अपने विचार व्यक्त किए थे, किन्तु कुछ इस तरह कि उससे पूँजीवादियों के हितों पर कोई विचरीत प्रभाव न पड़े। उससे बाद मिल पर कुलरिज और कॉन्ट के प्रभाव दिखाई देता है और समाजवाद की सिद्धान्तगत समीक्षा करते हुए भी वह उसके कुछ तथ्यों की स्वीकार कर लेता है और इस प्रकार उसके व्यक्तिवाद पर समाजवादी छाप दृष्टिगोचर होती है। इसीलिए बार्कर ने स्टुअर्ट मिल की 'व्यक्तिवादी और समाजवादी दुय की जोड़ने वाली कड़ी' कहा है।

मिल ने विदेशी सम्पत्ति, उत्तराधिकार, भूमि पर स्वामित्व, आदि पर विचार किया और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि व्यक्ति की अपनी स्वयं की समताओं का उपयोग करने और इच्छानुसार उपभोग करने का अधिकार है। व्यक्ति को दूसरे के नाम अपनी स्वयं की सम्पत्ति की कमीकत करने या उसे देने का अधिकार (Right to bequeath) है और उस दूसरे व्यक्ति को अधिकार है कि वह उसे स्वीकार कर उसका उपयोग करे। सम्पत्ति (Property) एक सामाजिक शब्द है नया मानव-जाति की उत्पत्ति के लिए आवश्यक है। व्यक्तियों की समताएँ विभिन्न होती हैं, घट घटमानता एक सामाजिक आवश्यकता है, विभिन्न सम्पत्ति पर अधिकार अनेक सीमाओं से घिरा हुआ है जैसे समता की उत्पत्ति जिसका वास्तव चिन्ता को करता पड़ता है।¹

मिल कुछ जगहों के साथ भु-सम्पत्ति की व्यापकता उल्लेख करता है। भूमि भूमि को उत्पादक बनाने के लिए जोड़ना पड़ता है, उस पर जो शक्ति व्यय की जाती है उसका प्रतिफल भी सुरक्षित न मिले पर एक निश्चित समय के बाद ही मिलता है, यद्यपि पूँजीवादियों का सन्तुष्टि समय के लिए भूमि पर वर्तमान का आनन्दान नही होगा तो उनके भूमि के सुधार के लिए व्यय करने की कोई प्रेरणा उत्पन्न नहीं होती। मिल ने राष्ट्रियकरण का, विशेषकर भु-सम्पत्ति के राष्ट्रियकरण का समर्थन नहीं किया, हालाँकि वह समर्थन स्वीकार किया कि भूमि एक ऐसी चीज है जिसका मन्त्र के हित से सम्बन्ध है, यद्यपि राज्य वास्तव में वास्तविक भु-सम्पत्ति को सामाजिक प्रयोग के लिए हस्तगत कर सकता है जैसे किसी सड़क बनाने से या लाइन के निर्माण के लिए या सामाजिक सेवा की कोई अन्य चीज कराने के लिए।² मिल ने अपने पक्ष पर ऐसे समाजवाद के सार्वभौमिक प्रवृत्ति की जो व्यक्तियों के हितों को प्रतिष्ठित बिना सामाजिक हित को प्रोत्साहित करे। अपने जीवन के

1 P. Vekins : A History of Political Theories, p. 426

2 Dandies : op. cit., pp 112-113.

प्रतिष्ठा करने में मिल ने यह भी कहा कि राज्य की भूमि का सम्पूर्ण स्वामित्व अपने हाथों में ले लेना चाहिए ।¹

मिल ने बुनियादीसँ घोर धर्मिकी के हिस्से के बीच सामंजस्य पैदा करने का प्रयत्न किया । उसने प्रतिस्पर्धी व्यापार (Competitive Trade) का समर्थन किया । उसका तर्क था कि प्रतिस्पर्धा से घनेक उपभोगी वस्तुओं पर स्वार्थी व्यापारियों का एकाधिकार समाप्त हो जाएगा और बाजार में वस्तुएँ न केवल सस्ती बिकेंगी बल्कि उनकी क्तिम भी बढ़ेगी होगी । मिल सामंजसिक स्वास्थ्य और वसन्तक की दृष्टि से व्यापार तथा उसीसे घर सरकार के व्यापक नियन्त्रण के लिए तैयार था, यद्यपि उसने दृढ़ नियन्त्रण की शीम-सीक सीमाएँ नहीं बताई ।² यद्यपि मिल ने धार्मिक क्षेत्र में राज्य के कम-से-कम नियन्त्रण की बात नहीं की और वह पाता कि राज्य द्वारा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा क्षेत्रों की प्रतिनिधित्व नहीं करना चाहिए और व्यापार में वसन्तक लाने या घन्य प्रकार के निवर्तित करने का उसे तब तक कोई अधिकार नहीं होता चाहिए जब तक कि उस कार्य से कोई बहुत बड़ा नुकसान होने वाला न हो, तथापि वह स्वीकार करता होता कि उसकी धार्मिक सिद्धांतोंन सम्बन्धी कारणों वृद्धी महत्त्व नहीं रही । यद्यपि वहन सर्वप्रथम सिद्धान्त नहीं था कि "लोगों को खाने व्यापार की क्षेत्राधिकार रखना ही करने दो" तथापि, ऐसा कि सेवाएँ में निष्ठा है—उसने धार्मिक सिद्धांतोंन की रक्षा किया । मिल ने धार्मिक उदारवाद की दृढ़ सिद्धान्त की छोड़ दिया कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सभी सम्भव हो सकती है जब विधान न हो ।³ मिल के धार्मिक सिद्धान्त की उसकी स्वतन्त्रता के सिद्धान्त की 'निजीय परिवारण' (Amo-theism) कहा जा सकता है ।

जॉन स्टुअर्ट मिल के धार्मिक विधान पर सेवाएँ ने उदारवाद के लक्ष्य में जो सुसंगत प्रस्तुत किया है वह बढनीय है । सेवाएँ ने निष्ठा है—

"मिल के धार्मिक सिद्धान्तों ने लौकिक स्वच्छता का दोष है और इसलिए उनकी आलोचना की जा सकती है । मिल ने रिक्तों के सर्वप्रथम और प्राचीन धर्मशास्त्रियों के सिद्धान्तों के विचार शुरू किया था । सिद्धान्तक उन्होंने अपने बुनियादी धर्मिकीय की नहीं नहीं रखा । लेकिन उसे यह विश्वास हो गया था कि वसन्तक सर्वप्रथमों ने उदारवाद की कुछ धर्मिक धर्मिकियों की कसती से विवरण की के धर्मिकियों का न दिया था जो धार्मिक तथा सामाजिक सम्बन्धों के ऐतिहासिक विकास के प्रत्यक्ष रूप उत्पन्न होती हैं । मिल इन धर्मिकियों की सामंजसिक नीति का विधान करता था और उसका विधान था कि इन पर विधायी नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है । वसन्तक सर्वप्रथम की दृढ़ आलोचना के लिए मिल धार्मिक उदारवादियों के सामाजिक दर्शन की दोषी ठहराना था । धार्मिक उदारवादियों ने समाज के सर्वप्रथम स्वच्छ और सम्बन्धों के ऐतिहासिक विकास की उपेक्षा की थी । वसन्तक सर्वप्रथम के बारे में मिल की यह आलोचना नहीं की कि उसने स्वच्छ

1. K. Pankhurst 1 op. cit., p. 427.

2-3 सेवाएँ : वही, पृष्ठ 663.

मानविक कल्पनाओं को बिल्कुल सामान्य माना गया था और उनके ऐतिहासिक आधार की उल्लेख की गई थी। आरम्भिक उदारवादिनों ने इन कल्पनाओं के मानव-प्रकृति की कार्यभोग विशेषताओं और मानव-जीवन के सामान्य मनोवैज्ञानिक नियमों के बीच सम्बन्ध स्थापनाओं और अद्वितीयताओं की ऐतिहासिक परिस्थितियों के बीच फेद किया था। यह उत्पादन और वितरण के आर्थिक घट्टर से साम्य नहीं रखता था। फलतः उसने उत्पादन की पूँजीवादी व्यवस्था को वितरण की समाजवादी व्यवस्था के साथ समुक्त करने की बलिदानों पर विचार नहीं किया। मिल के कार्यवाहों की मुख्य विशेषता यह थी कि अपने प्राकृतिक एवं आर्थिक नियमों की मर्यादा को और इसके परिणामस्वरूप स्थितिगत प्रतिरोधी आर्थिक व्यवस्था के सिद्धान्त को त्याग दिया था। इस प्रकार उसने विधान और कार्यव्यवस्था के सम्पूर्ण धर्म के सम्मान को, एक स्वतन्त्र बाजार के सरासरी के साथ खोज दिया। लेकिन इस परिवर्तन के व्यावहारिक निष्कर्ष स्पष्ट नहीं थे। सामान्य रूप से उदारवादियों की भाँति मिल कामन और उनकी रीतियों की कटौती की दृष्टि से देखता था। उनका विचार था कामन जो भी कार्य करेगा, नरत करेगा। इसलिए वह व्यक्तिगत उत्तम की पता लगाता था। उसे राज्य के प्रतिभाकारण से भी भय लगता था क्योंकि इस तरह से उसकी सामान्य मानव न होकर वैज्ञानिक थी। सामाजिक दर्शन की भाँति मिल के आर्थिक चिन्तन पर भी वैज्ञानिकता का प्रभाव था। पूँजीवादी समाज के प्रयासों के प्रति उसके मन में वैज्ञानिक शोक की भावना थी। उसका विचार था कि पूँजीवादी समाज धर्म के उत्पादन का वितरण धर्म के उसके अनुपात में करता है।”

मिल का योगदान (देन) और स्थान

(Mills' Contribution and Place)

राजनीतिक विचार के क्षेत्र में मिल का निम्नलिखित स्थान होता है। एक ओर उसकी प्रणाली के शीत गलत रूप है, उसकी मूलकों वास्तविकता से खींची गई हैं, उसे एक राजनैतिक, व्यावसायिक और कार्यवाही का दर्जा दिया गया है तो दूसरी ओर उसकी महत्ता की गई है और वह सारी व्यवस्था करता है कि उपयोगितावादी के सरासरी के रूप में उसने उपयोगितावाद की हत्या कर दी है तथा प्रवृत्तियों के शीत और नमियों के विधान उसने और कुछ नहीं देता है। केवल और शक्ति जैसे विचारों ने उसके 'सारी व्यवस्था' सम्बन्धी विचारों का भी विरोध किया है।

यह बहुत कुछ सत्य है कि मिल ने किसी नए सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया। उसके सिद्धान्त में बहुत अधिक कमि नहीं है और उसके चिन्तन में अनेक दरदर विरोधी तत्वों का स्थान है। पर केवल इसी बाधों पर हम उसकी उल्लेख नहीं कर सकते। यह देवता अधिक सिद्धांत होता कि उसने जो कुछ किया है उसमें अत्यंत श्रुति है, उसकी निष्कर्षात्मक देन क्या है और अपने पुन की उसने किन तत्त्वों प्रभावित किया है। “और यदि हमारी की योग्यता का निर्धारण हम गलत से होता है कि उसका नीति पर क्या प्रभाव पड़ा है तो मिल का स्थान निम्नलिखित रूप से ऊँचा है। एक व्यावसायिक, कार्यवाही और राजनीतिक दर्शन के रूप में उसे उसके समय में एक प्रभावशाली माना जाता था।”

मिल ने एक बीड़ी के भी धूमक समान तक 'सामूहिक चिन्तन' के दूर होन की सम्भावित एता और उसके कन्धों को निम्नविद्यालयों के पाठ्यक्रम में स्थान प्राप्त हुआ। मिल ने उपयोगितावाद के सर्वसाधन की विवक्षित विधा और सामयसाधक के पद्धति (Inductive Method) की चुटियाँ दूर की। केवल के उपरान्त उपयोगितावाद बहुत से सामूहिक उत्पन्न हुए और इस विचारधारा के सम्बन्ध में तरह-तरह का भ्रम पैदा हुए। मिल ने उन-उन सामूहिकों को विस्तार दिया तथा उनके द्वारा फैलाए भ्रमों का भंग किया। आज उपयोगितावादी सर्वसाधन बहुत विपन्न बन गया है। मिल ने उपयोगितावाद की एक बहुत बड़ी चुटि को दूर किया। केवल ने पूर्व की सुशासनिक नहीं केवल साधारणक मतलबों का था। मिल ने कहा कि सुखों में सुशासनिक घन्टार भी होता है। उपयोगितावादी विचारधारा को मिल की यह एक बर्बाद देन थी। केवल के समये में—

“जब हम मिल की सामूहिकताओं का विवेचन करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि वह उपयोगितावादियों के सर्वोच्च सामूहिकताक था। वह उस गहराई तक पहुँचा जिससे उसके निष्कर्षों तथा केवल सर्वथा अपरिचित रहे। उसके साथ अपनी निजी सम्पत्ति की परन्तु वह उन लोगों की धर्मशा नीति के अभिव्यक्ति है। वह उपयोगितावादी की सम्पत्तिता, समुदायता, नैतिक दुर्बलता तथा इससे सम्बन्धित भावनाओं के प्रति जाए जाने वाले अज्ञान की मित्रता है।”

“वह उपयोगितावाद की सामूहिकता की भी हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है। राज्य के निर्वाह के और नागरिकों को वह सर्वोच्च स्थान में रखता है। राज्य के सामयक तथा सामाजिक विद्यालय उसके लिए स्वयं हैं। वह एक समूह की नीति समर्थ होता है नीति ही समर्थ है और अपनी दृष्टि में यह समूहों के लिए नीति समर्थ है। जिन कदावायों में वह सम्बन्धित है, वे सामूहिक सम्बन्धों हैं। वह सामूहिक विद्यालय की सीमा निर्धारित करना चाहता है। उसका कानों का सम्बन्धनी तथा पर-सम्बन्धी विभाजन भी सामय महत्वपूर्ण है। वह हमारी नीति ही नीति के विकास तथा सुरक्षा को भी महत्व देता है। Ricardo अपने सन् 1891 के लेख में मिल को सामूहिकतापूर्ण या सामयवादी बताता है, परन्तु हम उस ऐतिहासिक और विवेका का महत्व समझ चुके हैं। हमने नीति के समूहों में, सामाजिक-नीति की अपनी निष्पत्ति की सम्बन्ध बना लिया है और हम नीति को महत्व समझते हैं, पर मिल हमारे लिए सामूहिकतापूर्ण नहीं है। मिल प्रजासत्ता की सुरक्षाओं से हमारी रक्षा करना चाहता था क्योंकि वह सामूहिकतावाद की नीति के विकास के लिए बहुत कुछ देता है। उसका महत्व विवेकावादी और उसका सामूहिक विवेकावादी है।”

मिल इस बात के लिए प्रस्ताव का पान है कि अपने सम्बन्धनी की उपयोगितावादी सम्पत्ति अस्तुतः की। प्रजासत्ता सम्बन्धी मिल के सामूहिकतावाद विचारों का महत्व आज भी अभी का अभी बना हुआ है। सामूहिक प्रजासत्तावादियों में वे दोष जाए जाते हैं जिसकी नीति मिल ने खोला दिया था। मिल के इस दशन को भी चुनौती देना उचित है कि “सुख साधारण के लिए प्रजासत्ता का अर्थ

अधिक दिन कहा नहीं जा सकता तथा सामाजिक विज्ञान के बिना उनके लिए मताधिकार निरर्थक है।" प्रजातन्त्र की सफलता के लिए किए गए उसके शुभाव निश्चय ही प्रगतिशील हैं क्योंकि उनका स्वाभाविक फल स्वतन्त्र है। प्रजातन्त्र की प्रयोगात्मक विज्ञान में मिल ने बहुमूल्य योगदान किया है।

इसी प्रकार नारी-स्वतन्त्रता सम्मानों उनके विचारों की सत्यता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि सर्वप्रथम सभी देशों ने उसके विचारों पर स्वीकृति की सीढ़ी लगा दी है।

राजनीतिक विज्ञान की मिल की सर्वोच्च देन उसका व्यक्तिवाद है जिसे उदारवाद कहना अधिक उपयुक्त होगा। वॉन ह्यूबोल्ट (Von Humboldt) के ये शब्द मिल के पुन विचारों की झलक करते हैं—“इन पृथ्वी के विकसित प्रायिक पुनित एक ही महान् और प्रधान सिद्धान्त की ओर प्रत्यक्ष रूप से रुकेज करती है और वह है अपनी विविधता के साथ मानव-व्यक्तता का महान्।” मिल ने विचार एक व्यक्तिगत की स्वतन्त्रता के समर्थन में जो कुछ लिखा है, वह इस विषय पर अनूठे राजनीतिक साहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचना है। मिल का यह विचार भी सही था कि कुछ ही ऐसे प्रतिपादनों पर केवल ही व्यक्ति होते हैं जो समझ-समय पर मानव सम्बन्धों को प्रगतिशील बनाते हैं। उनके इस कथन में मिले सार की हम अपना नहीं कर सकते कि, “वे जोड़ने-तोड़ने साथ पृथ्वी के समस्त हैं, इनके बिना मानव-जीवन अनिर्वाह हो जाता।”

इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रजातन्त्रवाद, प्रतिनिधि-शासन और महिला-स्वतन्त्रता के वर्तमान स्वरूप पर मिल का काफी प्रभाव है।

कल्प में, उदारवादी के रूप में मिल के मूलनीति पर हम जॉर्ज एच. हेबार्ड के विचारों का अवलोक किए बिना नहीं जा सकते जो एक प्रकार में मिल की देन का निबोध है। हमने लिखा है—

“मिल के उदारवाद का मूलनुरूप और इसके साथ ही महानुभूतिपूर्ण मूलनीति बहुत गहिरा है। वह यह देना समझने बहुत योग्य होगा कि मिल ने नई शराब को पुरानी बोतलों में रख कर प्रस्तुत किया। मिल के मानव-व्यक्ति, महानार, समाज और उदारवादी समाज में जीवन के कार्यों के सम्बन्धित समस्त सिद्धान्त इस भार को सहन करने के लिए अनुपयुक्त थे जो मिल ने उनके सिर पर टाल दिया था। लेकिन इस तरह का भावपूर्ण विरोध और घालीबला नहीं महानुभूतिपूर्ण है और न ऐतिहासिक दृष्टि से उचित है। मिल की रचनाओं में एक संपत्तिता पाई जाती है। जिस की उदारता और भावप्रवणता उनकी बहुत-सी कमियों की क्षमा करती है। जिस उदारवादियों की बहुतों पीढ़ी का स्वाभाविक उत्तराधिकारी था। इन्हीं सब बातों ने उनके विचारों को काफी बहुत और प्रभाव प्रदान किया था, क्योंकि मिल अपने सभी के पास में इस प्रभाव के अनुपात में सामाजिक निष्पक्ष प्रस्तुत नहीं कर सके। मिल नदी ही सारक के बहुत पर और देता था; किन्तु व्यवहार में वह नैतिक अन्तर्दृष्टि पर बहुत अधिक निर्भर रहता था। मिल की नैतिक नदीका बहुत व्यापक थी। सामाजिक दायित्व के प्रति भी

उसके मन में बहरी चेतना थी। यद्यपि मिल को बिस्मस में व्यवस्था और संगति का समाज है, तथापि उदारवादी दर्शन के प्रति उसकी रस की चार आदतों के रूप में व्यक्त किया जा सकता है—(1) मिल ने उपयोक्तिवाद में बहुव्युत्पत्ति समीपन किया। उसके पूर्व उपयोक्तिवाद का नैतिक दर्शन केवल मुख और दुःख की तराजू से बना हुआ था। मिल ने उसे इस अन्वय से सुधर दिया। कौल्ट की भाँति मिल का नीतिशास्त्र सम्बन्धी मुख्य विचार भी मानव-व्यक्ति के प्रति सम्मानपूर्वक था। मिल का कहना था कि हमें मनुष्य के प्रति प्रविष्टि का भाव रखना चाहिए; अभी हम उससे नैतिक उत्तरदायित्व की अपेक्षा कर सकते हैं। मिल का नीतिशास्त्र इस धर्म में उपयोक्तिवादी था कि वह व्यक्ति के जीवन की साम्प्रदायिक रुढ़ि के रूप में नहीं देखता था। उसका विचार था कि व्यक्तिगत को स्वतन्त्र समाज की वास्तविक परिमितिची में सिद्ध किया जा सकता है। (2) मिल ने उदारवाद के राजनीतिक और सामाजिक स्वतन्त्रता को धर्म में ही एक निहित माना था। मिल का मत था कि स्वतन्त्रता का महत्व इसलिए बड़ी है कि वह किसी भौतिक स्वार्थ की निहिता करती है, बल्कि इसलिए है कि उत्तरदायित्व मनुष्य की एक सहज और स्वाभाविक भावना है। धर्मने इस से जीवन व्यतीत करना, धर्मनी सहज प्रविष्टि का विकास करना, गुण प्रत्यक्ष करने का साधन नहीं है, वह शुद्ध मुख का एक घट है। इसलिए एक श्रेष्ठ समाज वह है जो स्वतन्त्रता का आत्मस्वरूप स्थापित करता है तथा विविध जीवन-प्रवृत्तियों के निर्वाह को उचित अवसर प्रदान करता है। (3) स्वतन्त्रता केवल एक व्यक्तिगत हित नहीं है, वह एक सामाजिक हित भी है। स्वतन्त्र विचार विनिमय के द्वारा समाज को भी लाभ पहुँचता है। यदि किसी मत को बलपूर्वक दबा दिया जाता है तो इसके व्यक्ति को जो नुकसान पहुँचता है, इससे समाज का भी नुकसान होता है। जिस समाज में विचार स्वतन्त्र धर्म की प्रविष्टि के द्वारा नीवित रहते हैं और मरते हैं वह समाज न केवल एक प्रगतिशील समाज है, बल्कि ऐसा समाज भी है जो स्वतन्त्र विचार का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों को भी पैदा करता है। (4) स्वतन्त्र समाज में उदारवादी राज्य का कार्य नकारात्मक नहीं बल्कि सकात्मक है। वह विधि-निर्माण के विषय रहकर या वह मानकर कि भूमि का पूर्ण अधिकारों को हटा दिया गया है, इसीलिए स्वतन्त्रता को धर्मपूर्वक निश्चय है, नागरिकों को स्वतन्त्र नहीं बना सकता। विधि द्वारा धर्मदारी का निर्माण किया जा सकता है, उनका विकास किया जा सकता है और स्वतन्त्रता की स्थापना की जा सकती है। उदारवाद उसके उपयोग पर धर्मपूर्वक नियन्त्रण नहीं लगा सकता। उसकी सीमाई जिसे एक आचार पर निश्चित की जा सकती है कि वह इस तरह के धर्मदारी को नहीं एक मुक्त पाता है और उसके पास उसके लिए कोई एक साधन है जिसे व्यक्ति अधिक मानवोचित जीवन व्यतीत कर सके एवं उन्हीं नियन्त्रिता से पूर्ण हित लके।¹

आदर्शवादी परम्परा : इमेनुअल कॉण्ट

(Idealist Tradition : Immanuel Kant)

उपयोनितावाद इमैन्युअल के आदर्शवादी चर्चित के बदल दिवसि का सामना करने के प्रथमच पड़ा । जब पुरुरित सम्युतिवाद की ओर की ओर इतकत कोई समाधान उपयोनितावाद के पास न था । परिचित परिस्थितियों में उपयोनितावाद राजनीतिक दृष्टि में विफल हो चुका था । विचारशील व्यक्ति यह अनुभव करने लगे थे कि राज्य के स्वरूप और उसके व्यक्ति के सम्बन्ध विषयक कोई उपयुक्त सिद्धान्त प्रतिपादित करने में पूर्व नष्ट होने में मुश्किल कम्ती होगी । उन्हें विचारित हो गया था कि राज्य-सम्बन्ध की समस्याएँ सीधे-सीधे धारणा की जगह एक व्यक्ति सभी ओर अनुचित धारणा प्रकाशित करने की होगी । यह कार्य टॉमस ह्युन डीन (T.H. Green) ने 'राजनीतिक कर्तव्य' (Political Obligation) पर अपने आपसी द्वारा सम्बन्ध बनान का प्रयत्न किया । डीन धर्मनिरपेक्ष रूप से यह अनुभवपूर्ण आदर्शवादी (Idealist) था ।

राजनीतिक रूप से आदर्शवाद में आदर्शवादी विचारधारा का प्रभाव जर्मन आदर्शवाद के सामने के आगम हुआ था । जर्मन आदर्शवाद का सुरुवात इमेनुअल कॉण्ट (Immanuel Kant) ने हुआ और इससे बाद परिणति होगी (Hegel) में देने की विधि । इमैन्युअल के पक्ष में आदर्शवादी धारा को प्रभावित होने का एक नया कारण जर्मन आदर्शवाद था, क्योंकि यह जान लेना मूल होती कि प्रत्येक आदर्शवादी आन्दोलन पूर्णतः जर्मन आदर्शवाद की ही देन थी । आदर्शवाद के आदर्शवादियों ने धारणा और प्रतीति की समन्वितता से रूप प्रेरणा प्रदान नहीं की थी ।

आदर्शवाद का समिन्धाय और उसकी ऐतिहासिक परम्परा (Meaning and History of Idealism)

राजनीति के इतिहास में आदर्शवाद का सिद्धान्त अनेक नामों से विख्यात है। अन्तर्वादी सिद्धान्त (Abolitionist Theory), आदर्शवादी सिद्धान्त (Philosophical Theory), आदर्शवादी सिद्धान्त (Metaphysical Theory) और अन्तर्वादी के सभी के 'अन्तर्वादी सिद्धान्त' (Mystical Theory) आदि एक ही आदर्शवादी सिद्धान्त

के विभिन्न नाम हैं। यथार्थ से ये अनेक नाम आदर्शवादी विचार के प्रकटन के नीचे बहने वाली उन धाराओं की ओर संकेत करते हैं जो अर्थन तथा अर्थो विचारक होमन, कैंट, रीन, रोसो के बाद राजनीतिक दर्शनों से प्रभावित होकर आदर्शवादी कमी सत्ता को बना देती हैं। राज्य का आदर्शवादी विद्वान् राज्य तथा समाज का एक आदर्श बिन्दु प्रस्तुत करता है जो व्यावहारिक दृष्टि से कुछ कठिनाइयों से पूर्ण होते हुए भी दार्शनिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। वह विद्वान् अत्यन्त भावनात्मक (Abstract) तथा तर्कपूर्ण (Logical) है। राज्य की एक वास्तविक तथ्य (Actual Fact) न मानकर वह यहाँ एक आदर्श (Ideal) अपना पूर्ण (Perfect) वास्तु मानकर चलता है जिसके दृढ़ परिणामों का आधार अनुभव तथा निरीक्षण न होकर बुद्धि तर्क और व्यावहारिक बन जाता है। आदर्शवादियों की इस बात की निन्दा नहीं है कि वर्तमान राज्य का स्वरूप क्या है? वे इसे उसकी यथार्थताओं (Realities) से भलग रहा वह केवल इस बात पर विचार करते हैं कि आदर्श राज्य की कंठा होना चाहिए। इसीलिए उनके दर्शन में राज्य का स्वरूप वैश्विक महत्ता तक पहुँच गया है और, व्यक्ति एवं उसकी स्वतन्त्रता की निर्धन उल्लेख कर दी गई है।

राजनीति में आदर्शवादी परम्परा का इतिहास कहीं-कहीं पर स्पष्ट होते हुए भी बहुत प्राचीन और लम्बा है जो यूनानियों के सेरर धातु तब ग्रीसवासिद रूप में दृष्टा जा सकता है। राजनीतिक आदर्शवाद के अनेक उदाहरण (Aristotle) और प्लेटो (Plato) के दर्शन में उपलब्ध हैं। अरस्तु का यह सूच कि 'अनुभव एक सामाजिक प्राणी है' आदर्शवादी परम्परा का आधारभूत सिद्धान्त है। अरस्तु ने राज्य की उपयोगिता व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए स्वीकार की है। अरस्तु की मर्तिन ही प्लेटो ने भी नैतिक प्रकृति में विचार प्रकट किया है।

प्राचीन यूनानी दार्शनिकों की राज्य के सम्बन्ध में नैतिक पुरुष की प्रकृति तथा-पुनः से चर्चे और राज्य के संघर्ष के अनुसरण करने यहाँ तक पुगे नहीं। 17वीं शताब्दी के यूनानीयवादा काय में एक बार फिर यूनानी दर्शन के इति विद्वानों के ज्ञानता प्रकट की। दक्षिण गूर ने प्लेटो के आदर्शवादी राज्य की कल्पना के प्रभावित होकर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Utopia' की रचना की। 'विद्यवि उस समय तक व्यक्ति के विद्वान् का प्रतिपादन ही हुआ था जो अपने मतकर आदर्शवादी विचारधारा की आधारविज्ञा बना, समाधि यह काय आदर्शवादी परम्परा के लिए अधिक कुछ सिद्ध नहीं हुआ।"

आधुनिक युग में यूनानी विचारधारा का पुनरुत्थान कभी द्वारा हुआ। उसकी 'सामान्य इच्छा' (General Will) इसी दर्शन यथार्थ आदर्शवाद पर आधारित है। कभी के उपरान्त जर्मनी आदर्शवाद का गढ़ बन गया जहाँ इस दर्शन का विकास मुख्यतः 19वीं शताब्दी के आरम्भ में हुआ। आरम्भ में "कीर्ति की राज्य-वर्तिन में प्रभावित जर्मन जगता के केन्द्रीय व्यवस्था सम्बन्धी विचारों से केवल आदर्शवादी दार्शनिकों के विचार ही सम्पुष्ट कर करते थे।" जर्मनी के आदर्शवादी येलनी के कौट (Kant), फिशर (Fischer) तथा होमन (Hegel) के नाम प्रत्येकनीय है।

कॉण्ट की इस दार्शनिक कार्य-मान्यता को मानक माना जा सकता है। उनका आदर्शवाद उदारवादी था। यह उदारवादी तथ्य किस्से में कम होकर हीनम में पूर्णतया समाप्त हो गया। आदर्शवादी जर्मन स्कूल के साथ इससे पहले की आदर्शवादी विचारधारा विनियमित हुई। इससे पहले के आदर्शवादी लेखकों में हीन, जे. डेल, मोर्गेंस, मोर्गेंस आदि अधिक उल्लेखनीय हैं। यदि जर्मनी का आदर्शवाद उदारवादी था तो इससे पहले का उदारवादी।

आदर्शवाद का सिद्धान्त

(Principle of Idealism)

राज्य एक नैतिक संस्था है—आदर्शवादियों के अनुसार राज्य एक नैतिक संस्था (An ethical institution) है और राजकीय संरचना द्वारा ही व्यक्ति को श्रेष्ठ, विवेकशील तथा नैतिक बनने के अवसर प्राप्त होते हैं। अस्तु के इस मत से आदर्शवादी कहते हैं कि “राज्य राज्य जीवन की प्रथम आवश्यकता है और केवल यही प्रथम आवश्यकता की ही राज्य की आवश्यकता नहीं होती।” आदर्शवादियों के अनुसार राज्य का उद्देश्य एक-वृद्धि न होकर सब परिस्थितियों को कायम रखना है जो नागरिकों के अग्रतम जीवन के लिए आवश्यक है। मोर्गेंस राज्य को “नैतिक विचारक का पुत्रिक” (An embodiment of ethical idea) मानता है। एक स्थल पर यह कहता है “राज्य विश्वव्यापी मनन का सब न होकर समस्त नैतिक संसार का परिचायक (The guardian of whole moral world) है।” आदर्शवादियों की मान्यता है कि राज्य का काम नहीं बहुर से नहीं हुआ है यद्यपि यह हमारे नैतिक विचार की ही अनुकूलि (Realization of moral idea) है जो हमारे पूर्ण विकास के लिए परमावश्यक है। कॉण्ट के विचारों की विकसित करते हुए हीनल भी इसी परिणाम पर पहुंचा कि राज्य सामाजिक संरचना की वृद्धि के लिए कायम है। हीनल के ही शब्दों में, “सामाजिक व्यवस्था की उत्कृष्टतम कला राज्य में व्यक्त होती है। राज्य विवेक का सर्वोच्च रूप है और नही संपादना का संसार है।”

राज्य एक अनिवार्य संस्था है—आदर्शवादियों के अनुसार नैतिक संस्था होने के कारण राज्य का संसार में अनिवार्य आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। “अनुभव एक सामाजिक प्रणाली है” इसलिए यह संसार प्रथम राज्य में प्रथम रहकर सभी मान्य प्राप्त नहीं कर सकता। हेमिन्स, मोर्गेंस आदि की भांति आदर्शवादी यह नहीं मानते कि संसार के विकास में कोई प्राकृतिक दशा जैसा राज्यविहीन मान भी रहा होगा, राज्य से पूर्व अनुभव प्रथम करने में एक विरोध (Contradiction in development) है। राज्यविहीन अवस्था में प्रथम राज्य की अनुपस्थिति में न केवल संसार प्रथमविनियमित एक कानूनव्यवस्था हीनल बल्कि राज्यविहीन समुदाय के बीच प्रथम अनिवार्य एक अवसर व्यवस्था करने वाले होते हैं। अतः आदर्शवादियों की निम्नलिखित धारणा है कि “एक राज्य, सुनैतिक, नैतिक एवं परिपूर्ण रूप से विनियमित संसार की कल्पना के बिना राज्य एक विचारमूक संस्था है।”

राज्य सर्वशक्तिमान है—राज्य के सम्बन्ध में आदर्शवादियों की कल्पना

सर्व-सत्तावादी है। उस घार्ल्सवादी द्वायन के लक्ष्य में, "राज्य स्वयं ईश्वर है। वह कृष्ण पर स्थित देवी विचार (Divine Idea) है।" पुनः द्वायन के ही कथनानुसार "राज्य कृष्ण पर साक्षात् ईश्वर का आवलम्बन है। वह एक ऐसी देवी इच्छा है जो विश्ववादी व्यवस्था में वास्तविक रूप में प्रकट होती है।" इस प्रकार राजसत्ता की परम जीवा की निरनुपस्था तथा व्योम्निकता की सम्प्रेष होने के कारण सादर्यवादी राज्य की कल्पना गुराँत, एक सर्वोच्चारवादी राज्य (Totalitarian State) की कल्पना है जिसके विरुद्ध विरोध करने का अधिकार किसी को नहीं हो सकता। वीन जैसे उदार घार्ल्सवादी ने व्यक्ति को कुछ विशेष परिस्थितियों में राज्य के विरुद्ध खान्ति करने का अधिकार प्रदान किया है।

राज्य और व्यक्ति में कोई वास्तविक विरोध नहीं है—घार्ल्सवाद व्यक्ति और राज्य में कोई विरोध नहीं मानता। राज्य बनाम व्यक्ति (State Versus Individual) जैसे किसी भी सम्भवित विवाद को वह एक भ्रान्त धारणा मानता है। राज्य का प्रत्यक्ष मानव-व्योत्पन्न का पूर्ण तथा व्योम्न्य विकास करना है, यह राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के अधिकारों और व्यक्ति की स्वतन्त्रता के विरुद्ध राज्य की शक्ति के सम्पूर्ण विचार की ही स्थापना चाहिए। घार्ल्सवादियों की मान्यता है कि राज्य ही सभी बड़े व्यक्ति के हृदय में है और एक सत्त्व, बरकर एक सूर्य पशुवत् सावरण करने वाले समुच्च का सुसज्ज मानव एवं दिव्य बनाने वाली वह सत्ता निश्चय ही व्यक्ति की सभी दिव्य है। व्यक्ति का सदाचार भी इसी बात में निहित है कि वह अपने सामर्थ्यक वर्तमान के वास्तव के विमुख न हो। इसमें शक्य है कि दो घार्ल्सवादी घार्ल्सवादी विचार जगत् में व्यक्ति की शीतक है। बाकीर के कथनानुसार—"एक ऐसे केन्द्रीय व्यक्ति में घार्ल्स करने के स्थान में, जिसने लिए सत्ताधिकार समस्त ज्ञान तथा साधन ज्ञान है, घार्ल्सवादी एक केन्द्रीय सामर्थ्यक कथन में घार्ल्स करता है जिसमें व्यक्ति को अपना विशिष्ट वर्तमान-सौजन्य चाहिए।"¹

राज्य का अपना उद्देश्य तथा व्योम्न्य है—व्यक्तिवादियों के विपरीत घार्ल्सवादी की मान्यता है कि राज्य का अपना वृक्ष एवं व्योम्न्य व्योम्न्य तथा सम्पन्न होता है। राज्य के मध्यों के वृक्ष, राज्य की अपनी एक इच्छा होती है जो नागरिकों की सामुच्चिक इच्छा में सम्पन्न होने हुए जो अपने भिन्न नहीं होती। राज्य के व्योम्न्य की धारणा की पूर्ण व्योम्न्यिक द्वायन में हुई है जो राज्य की "एक सामर्थ्यक वैदिक सत्ता, सामर्थ्यवादी और सत्तानुवर्ती व्यक्ति" मानता है। "राज्य अपने मध्यों के शीत में कुछ व्योम्न्य है और अपनी अपनी साधन है।" घार्ल्सवादी विचार की वह एक साधारण व्योम्न्य है।

1 "The state is the march of God on earth. It is the Divine Will unfolding itself to the actual shape and organisation of the world."

2 Barker: Political Thought in England, p. 11.

राज्य मनुष्य की सामाज्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है—कभी का सामाज्य इच्छा का विद्वान् आदर्शवादी वर्णन का केन्द्र-बिन्दु है। आदर्शवादियों के अनुसार विभिन्न सच, सम्मान एवं सत्कार, विभिन्न निर्मित सामाज्य चर्चों की पूर्ति हेतु किया जाता है, साधुद्विक सत्तिष्क का प्रतिनिधित्व करते हैं, परन्तु इन सबके बीच सामाज्य राज्य द्वारा ही स्थापित किया जाता है। राज्य हमारी सन्त-प्रेमना प्रमदा वास्तविक इच्छा की अभिव्यक्ति होने के कारण सामाज्य इच्छा का प्रतीक है। राज्य नहीं कार्य करता है जो हमारा कुछ धन, करण चाहता है प्रमदा जो हमें सामाजिक शांति होने के लाले करता चाहिए। स्वातंत्र्य विकास की परिपक्वता एवं परिपूर्णता का ही दूसरा नाम राज्य है।

राज्य की आधार शक्ति नहीं, इच्छा है—आदर्शवादी विद्वान् के अनुसार राज्य का आधार इच्छा है, शक्ति नहीं। इसका अभिप्राय राज्य द्वारा सब-सबों का पूर्ण नियंत्रण नहीं है। इसका अर्थ यह है कि शक्ति-प्राप्ति करने का अधिकार राज्य का शैविक पुत्र है जैसी कि केवल, शक्ति-प्राप्ति की सम्मति की। विद्वान् आदर्शवादी ही एक हीन के अनुसार राज्य के विद्वान् शक्ति की शक्ति रखने वाला सम्मति तथा राज्य के जीवन का सम्मति और वास्तविक आधार बन या शक्ति (Force) न होकर इच्छा (Will) है। यदि राज्य अब उत्पन्न करते प्रमदा आकाशों का शासन करता है तो वह राज्य सभी भी स्वामी नहीं हो सकता। राज्य की शक्ति करने से हम प्रमदा उत्पन्न प्रमदा के आदेश का ही पालन करते हैं। हम राज्य की आकाश का शासन इच्छा करने हैं क्योंकि हम जानते हैं कि राज्य हमारी सभी और उत्पन्न प्रमदा का प्रतिनिधि है और इसके द्वारा ही वह सामाज्य-हित प्राप्त किया जा सकता है, हमारा स्वयं का हित प्रमदा एक अभिन्न धन है।

राज्य की आकाश-शासन करता ही स्वतंत्रता है—आदर्शवादी स्वतंत्रता का रूप प्रकारात्मक है। राज्य के सभी कानून शक्ति की पूर्णता के लिए एक आकाश-पुत्र का जीवन करते हैं प्रमदा प्रमदा वर स्वतंत्रता का उपभोग कर सकता है। प्रमदा राज्य के सभी भी कानून की प्रमदा करता प्रमदा ही स्वतंत्रता के धर्म को प्रमदा करता है। आदर्शवादी पूर्ण स्वतंत्रता के उत्पन्न नहीं हैं। वे पूर्ण स्वतंत्रता की स्वाधीनता का नियंत्रण (Negation of Liberty) मानते हैं। प्रमदा की अनुपस्थिति में स्वतंत्रता केवल शक्तिशाली व्यक्ति का ही नियंत्रणकार रह जाती है। आदर्शवादियों का कहना है कि राजनीय आकाशों का शासन करने समय हम सभी आकाश का नहीं प्रमदा स्वयं की ही शक्तिशाल इच्छा के आदेश का पालन करते हैं। प्रमदा हीन (Liberty) के प्रमदा में, "मनुष्य की स्वतंत्रता में हमारा अधिकार उक्त प्रमदा के प्रति कर्तव्यों के पालन करने में है प्रमदा द्वारा शक्ति प्रमदा में प्रमदा प्रमदा स्वयं प्राप्त कर सकता है।" आदर्शवाद के अनुसार स्वतंत्रता एक निश्चित वस्तु है। प्रमदा प्रमदा के धन में, "केवल में स्वतंत्रता उत्पन्न नहीं है, स्वतंत्रता प्रमदा उपभोग के लिए कुछ अधिकार प्रमदा है और अधिकार राज्य की शक्ति करते हैं।"

राज्य अधिकारों का प्रकारात्मक है—आदर्शवादी व्यक्तिवादियों एवं सामाजिक

एक साम्य है, एक सर्वोत्तम तत्त्वा और ईश्वर को देन है, जिसके अधिकार और उद्देश्य मानविकी के अधिकार और उद्देश्यों से भिन्न हैं ।

जर्मन आदर्शवादी कॉन्ट

(German Idealist Kant, 1724-1804)

जीवन-परिचय

जर्मन आदर्शवादी कॉन्ट के निम्न इमेनुएल कॉन्ट का जन्म 1724 ई. के जर्मनी के कोनिग्स्बर्ग प्रदेश में हुआ था और सन्-1804 में उसका देहान्त हो गया था । जीवन-वर्षांत परिवर्तित रहकर उसने अपनी पानु दर्शन, क्रांति और नीति-शास्त्र के गहन अनुसन्धान में व्यतीत की । उसका जीवन कृषिों के लक्षण था । वह प्रत्येक काम को निश्चित समय पर करने का धर्म्यस्त था । होन (Hörsing) के शब्दों में, "उनके जीवन का इतिहास निम्नता बड़ा कहिन है क्योंकि वे ही उसका जीवन था न इतिहास । वह जर्मनी की उत्तरी-पूर्वी सीमा पर कोनिग्स्बर्ग नामक एक पुराने कस्बे की सान्ध पत्ती में एक शर्मिक रूप में स्थायित्व और जीवन व्यतीत करता था । मुझे विश्वास नहीं कि विरसापर का महान् पन्था भी अपना काम इमेनुएल कॉन्ट की प्रेरणा अधिक निश्चय भाव तथा नियमित रूप से करता हो । सोकर उदया, कॉन्टी, मिलान-पाना, कलित में व्याख्यान देना, पाना, पीना, पृथक् सज्जा एक निश्चित समय था और इमेनुएल कॉन्ट जब अपना छात्री रूप का कौट रहन कर लीला छोड़ी हुए में विद् करने पर वे प्राथम ही नामक सङ्क के लिए खाना ही खाता था जो पत्तीनी लम्बक बाले के कि एक समय डीक पाड़े ली-बने हैं । "—और जब निश्चित समय पर पुनरागत था तो वे विपत्तापूर्ण भाव से उनका परिवर्तन करते और उनकी अपनी पत्ती निकाले थे ।"

जबकि वे ही कृताद-दुष्टि कॉन्ट केवल एक शैक्षणिक राजनीतिज्ञ था जिन्होंने राजनीति में कभी भाग नहीं लिया । अपनी जिज्ञा शुरू करने के उपरान्त कोनिग्स्बर्ग विश्वविद्यालय में कॉन्ट की माध्यमिक के पर पर विद्युक्ति हुई और यही पर बाद में उनमें आचार्य का पद सम्प्राप्त । उसने अपने जन्म स्थान से बाहर कभी प्रस्थान नहीं किया । वह 30 वर्ष से भी अधिक समय तक कोनिग्स्बर्ग के विश्वविद्यालय में ही व्याख्यान और माध्यमिक-शास्त्र का शिक्षक रहा । यहाँ की राज्य-शास्त्र तथा अमेरिका के स्वाधीनता संग्राम में कॉन्ट की विचारधारा को अत्यधिक प्रभावित किया था । अन्तराष्ट्रीय दर्शन की स्थिति का भी उसे गहुर ज्ञान था । कॉन्ट ने नीतिज्ञता के नाम पर अपने दर्शन में कोई लक्ष्यता व्यक्त नहीं की । कभी एक मॉन्टेस्क्यू के राजनीतिक दर्शन से ही उसने प्रेरणा प्राप्त की और उनके विचारों को ही उसने अपने रूप में समर्थ किया । अग्रिम इतिहासकार कनिज के शब्दों में — "राज्य के उद्भव और स्वरूप के सम्बन्ध में कॉन्ट का विद्वान्त डीक नहीं था कि जो करते न था और उसी की उसने अपनी लक्ष्य गंतो के अपने शब्दों में व्यक्त किया है । इसी प्रकार संसार का विवेचन करने में उसने मॉन्टेस्क्यू का अनुसरण किया है ।" कॉन्ट की माध्यमिक अनुष्ठी की नीतिक दृष्टि का मन्त्रेण कभी के कभी के समर्थन में जान

हमा या घोर इस कारण उसने कभी को 'वैदिक जगत् का मूठन' कहकर सम्बोधित किया। मानव स्वभाव का सम्मान करने से वह कभी से स्थिरता प्रभावित या इसका आभाव उसकी निम्नलिखित स्थितियों से मिलता है जो उसने एक निबन्ध के द्वारा पर विभी की—

“एक समय या जब मैं यह सोचता था कि केवल यही (मान के लिए जीव ज्ञान घोर उसने बुद्धि करने की अधिमान्य भावना) मानव-जाति के लिए सम्मान-प्रद हो सकती है घोर मैं उस साधारण मनुष्य से घुला करता था जो कुछ नहीं जानता। कभी मैं मुझे वही मान का दर्शन कराया। केवल यह धन्यविचार मिल गया। मैंने मानव-स्वभाव का सम्मान करना सीखा घोर यदि मुझे यह विश्वास न होता कि मानव-अधिकारी को प्रतिष्ठित करने के लिए इस विचार से दूसरों का भी मूठन बढ़ सकता है तो मैं करने वाले एक साधारण अधिक से भी कहीं अधिक बेकार सम्भला।”

काँट ने यह घोषणा की कि मानव क्याहि साधन नहीं हो सकता, इसे सर्वथा साम्य हो चुका है। यह घोषणा प्रक्राणिक घादगीवाद की आधारभूत है। काँट ने वौदिक सुखी को मान्यता न देकर आत्मिक स्थिति की महत्ता पर बल दिया।

काँट की रचनाएँ

काँट ने सन् 1743 से अपनी मृत्यु-वर्ष 40 से भी अधिक ग्रन्थ घोर निबन्ध लिखे। मसलि काँट की वैधानिक रचनाएँ विस्मृति के गर्भ में विहीन हो चुकी हैं, तथाहि उसकी दार्शनिक कृतियों को घब भी बड़े सम्मान के साथ पढ़ा जाता है।

काँट की ये महान् कृतियाँ, जिनके कारण उसे अपनी क्वालि प्राप्त हुई, जीव हैं—

1. मुक्त-बुद्धि बीमाला (The Critique of Pure Reason) (1781)—
इसमें काँट ने ज्ञान-ज्ञान घोर वौदिक सचित्त-सारण को विवेचना की है। काँट की यह सम्भवतः नवीतम घोर सर्वोच्च महत्त्वपूर्ण रचना है। 13 वर्ष के कठोर परिश्रम से प्रस्तुत इस रचना के सन् 1781 से प्रकाशित होने की सम्पूर्ण दार्शनिक जगत् में हलचल मच गई। इस ग्रन्थ में काँट ने यह सिद्ध किया कि इन्द्रियों से प्रतीत होने वाले वस्तु-जगत् (Phenomena) के अतिरिक्त एक आत्मनिक जगत् भी है जिसे इन्द्रियों से नहीं बलिक मुक्त-बुद्धि (Pure Reason) से ही मन-का जा सकता है। मनुष्य, जड़ता, ईश्वर, आत्मा, स्वतन्त्र इच्छा आदि सभी विचार हमारे इन्द्रिय-जनित ज्ञान का परिणाम हैं वत इन विचारों का सम्मान आत्मनिक, जगत् से नहीं है। काँट ने कहा कि मुक्त-बुद्धि द्वारा ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती। उसने ईश्वर घोर सभी सम्भवों की प्रचलित सम्भावनाओं का अन्तन किया। इससे आत्मनिक वादों को घब हो बह कि ये काँट की कृति की सारी देने वाले घोर सुर्गों का नाश भी काँट रचने लगे।

2. आत्मनिक बुद्धि बीमाला (The Critique of Practical Reason) (1788)—
इस ग्रन्थ में काँट ने नैतिकज्ञान का विवेचन किया है। इसकी सुरुवात

रचना में ईश्वर का सम्बन्ध करने के बाद इस कृति में कॉण्ट ने ईश्वर की व्यावहारिक आवश्यकता सिद्ध करने का प्रयास किया है। इस ग्रन्थ में यह प्रतिपादन किया गया है कि धर्म और ईश्वर की सत्ता का आधार नैतिक भावना (Moral) है, बुद्धि नहीं। हम जम्हू के यदि कोई वास्तविक सत्ता है तो वह नैतिक भावना और नैतिक कर्तव्य की ही सत्ता है। कॉण्ट ने इस नैतिक भावना और नैतिक कर्तव्य की सत्ता को 'निष्पेक्ष नैतिक कर्तव्यदेश' (Categorical Imperative) की सत्ता दी। कॉण्ट के अनुसार वही नैतिक भावना हमें सच्चाई और सत्यता का विवेक करने में सक्षम बनाती है। हमारा धर्म करने वाला हमारी नैतिक भावना व्यावहारिक बुद्धि (Practical Reason) का विषय है, शुद्ध बुद्धि (Pure Reason) का नहीं। हमारी नैतिक भावना हमको हमारे धर्म करने के पक्ष-व्यतिरेक पक्षों का बोध कराती है। यही भावना स्वतन्त्र इच्छा (Free Will) की सत्ता सिद्ध करती है। यदि हमारे स्वतन्त्र इच्छा न हो तो नैतिक कर्तव्य सम्पादित करने का प्रयास सच्चाई का अनुसरण करी हुए सच्चाई का प्रतिपादन करने का कोई धर्म नहीं रह जायगा। कॉण्ट के अनुसार 'नैतिक की नैतिक भावना यह भी सिद्ध करती है कि मृत्यु के बाद भी जीवन की गंगा कायम रहती है। मृत्यु पर्वण्य धर्म करने की प्रेरणा से ऐसे कार्य भी करता है जिनका फल इसलोक में पाने की शक्ति नहीं की जा सकती।"

3. निर्णय कीमती (The Critique of Judgment)—इस ग्रन्थ में कॉण्ट ने इतिवृत्त धर्म का विवेक कर उपयोग-शक्ति का अनुसन्धान किया है। अपनी प्रथम रचना शुद्ध बुद्धि की कीमती (Critique of Pure Reason) में कॉण्ट ने ईश्वर की सत्ता की सम्पीकन किया था, अपनी दूसरी रचना व्यावहारिक बुद्धि की कीमती (Critique of Practical Reason) में उसने ईश्वर की सत्ता का व्यावहारिक आवश्यकता के आधार पर सिद्ध किया था और अपनी इस तीसरी रचना में उसने प्रकृति की सुन्दर योजना में ईश्वर के दर्शन किए हैं। कॉण्ट के अनुसार किसी भी सत्ता के लिए उसने निर्माता ईश्वर की सत्ता का प्रयत्न प्रयास है। कॉण्ट के मतानुसार, "ईश्वर की सत्ता की महान् व्यावहारिक वस्तुओं से सम्बन्ध सिद्ध हो रही है—जब, गहराई से विचारित धनमन्त्र (Sunny Heavens Above) है और निर्णय, धर्म धर्म करने के भीतर यह जाने वाले नैतिक नियम (Moral Law Within) है।"

कॉण्ट की या धर्म महत्वपूर्ण रचनाएँ ये हैं—

4. कानून के सिद्धान्त की प्रथम तार्किक कीमती (Metaphysical First Principles of the Theory of Law) (1799)—इसमें कॉण्ट ने कानून तथा मन्त्र धर्म की विचार प्रकाश किया है। इस ग्रन्थ की रचना उसने 70 वर्ष के भी अधिक की अवस्था में की थी।

5. धर्म तार्किक (Eternal Peace) (1796)—इसमें कॉण्ट के धर्म और बुद्धि सम्बन्धी विचारों का महत्त्व है।

कॉन्ट से पूर्ववर्ती विचारधारा

कॉन्ट के दार्शनिक और राजनीतिक विभागों के विवेचन में पूर्व उक्त परम्परा विरोधी विचारधाराओं का प्रलिप्त परिचय प्राप्त करना उपयुक्त होगा जो कॉन्ट ने पूर्व प्रचलित थी और दार्शनिक जगत् में बड़ी घम्यवादी और उत्तममनुर्लु स्थिति देना कर रही थी। इन विचारधाराओं में से पाँच प्रमुख थी—(i) नैतिक का अनुभववाद (Empiricism), (ii) बर्कले का सादरवाद या साध्यात्मवाद (Idealism), (iii) ह्यूम का भौतिकवाद (Materialism), (iv) बान्तेयर का बुद्धिवाद (Rationalism) एवं (v) क्ले के भावप्रयुक्तवाद (Emotionalism)। इन दार्शनिकों के सम्मुख विचारशील्य प्रश्न थे कि—“ज्ञान का उद्गम किस प्रकार होता है, संसार के वास्तविक सत्ता क्या है और उसका स्वरूप क्या है?”

नैतिक (1632-1704) अनुभववाद का समर्थक था। उसकी मान्यता थी कि हमारा सम्पूर्ण ज्ञान इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होने वाले अनुभवों पर आधारित है। आरम्भ में हमारा मन शिथिल बोरी स्लेट (Tabula Rasa) की भाँति होता है। इन्द्रियजन्य अनुभवों से हम धर्म, संकेत वर हमारी भाँति निश्चित करते जाते हैं। इन प्रक्रिया से स्पृष्टि का ‘उद्गम’ होता है और स्पृष्टि विचारों को गुरुवाद करती है। ‘चूँकि हमारा इन्द्रियों पर से प्रत्यक्ष प्रकृति के पदार्थों (Matter) से पड़ते हैं, मन मन की वही धारणा स्लेट पर चरित्र होने वाले सभी विचारों ‘मन मूल भौतिक पदार्थ (Matter) होते हैं। नैतिक के’ अनुसार, इस प्रकृति द्वारा मन के भावों का विविध रूप प्राप्त होते हैं, यथा अनुभववाद के आधार पर इसी को वास्तविक समझा जाता था।

सादरवाद के विद्वान जॉर्ज बर्कले (1684-1753) ने सादरवाद का साध्यात्मवाद (Idealism) का प्रतिपादन किया। उसने नैतिक के अनुभववाद को घमेलीकरण करते हुए उसके भिन्न और विरोधी दार्शनिक मत प्रवृत्त किया। बर्कले ने कहा कि ज्ञान का स्रोत बाह्य वा जड़-प्रकृति नहीं है बल्कि हमारा साध्यात्मिक मन है। मन के बिना हम किसी भी पदार्थ को नहीं समझ सकते, यनः वास्तविक सत्ता का ही पदार्थ (Matter) नहीं है, बल्कि मन है।

भौतिकवादी विचार शैलिक ह्यूम (1711-76) ने भौतिकवाद (Materialism) का प्रतिपादन किया। बर्कले ने जड़-प्रकृति (Matter) का समझ करने मन (Mind) का समर्थन किया था। ह्यूम ने बर्कले की समझ प्रकृति का अनुसरण करते हुए मन की भी समझ किया। ह्यूम ने कहा कि मन हमारे विचारों, स्पृष्टियाँ और अनुभवों के पुनर् पुनर् स्थापन करता नहीं है। हमने विचरीत मन की विचारधारा वास्तविक सत्ता है। वास्तव में हमारे विचार, हमारे स्पृष्टियाँ और हमारे अनुभव ही मन है। इनके पुनर् स्थापन करने वाली कोई धारणा नहीं है। ह्यूम ने केवल मन का ही समझ नहीं किया बल्कि विज्ञान पर भी गुरुवाद का किया। उसने कहा कि इन कारणों धारणा निश्चयों की सभी नहीं देना। इन की केवल प्रकृति और उनके मन को देखते हैं और उनमें वास्तव का अनुमान कर लेते हैं, यनः वैज्ञानिक

नियम कोई शास्त्रबद्ध सत्य नहीं है। वे हमारे मानसिक अनुभवी का प्रतिफल बन जाते हैं। केवल गणितशास्त्रीय नियम ही सत्य ही शास्त्रबद्ध सत्य हैं। उदाहरणार्थ यह कभी संभव नहीं हो सकता कि दो और बार होते हैं। गणितशास्त्रीय नियमों और सूत्रों के प्रतिष्ठित द्वारा हमारी ज्ञान प्रतिष्ठित है। ह्यूम के इन विचारों ने दार्शनिक जगत् के भारी हलचल मचा दी। उन्होंने धर्म और विज्ञान के बीच वास्तविकता पर कुतराघात कर उग्र समकाल (Agnosticism) का प्रतिपादन किया। कॉल्ट ने जब ह्यूम की पुस्तक 'Treatise on Human Nature' का जर्मन अनुवाद बना तो उन्होंने बड़ी उत्कण्ठा से यह अनुभव किया कि ह्यूम द्वारा व्यक्त किए गए धर्म और विज्ञान की पुनर्स्थापना की जाती चाहिए।

वास्तेंडर ने बुद्धिवाद (Rationalism) और नास्तिकता की विचारधारा प्रतिपादित की। उन्होंने धर्म का उच्छेद करते हुए नास्तिकता का प्रचार किया। उन्होंने बताया कि मनुष्य बुद्धि और विज्ञान द्वारा सभी समस्याओं का समाधान कर अनन्त प्रगति कर सकता है।

बीचवी विचारधारा कठो के भावजनकतावाद (Emotionalism) की थी। कठो ने बुद्धिवाद के प्रबल प्रभाव का तीव्र विरोध कर यह प्रतिपादित किया कि केवल बुद्धि की ही प्रतिष्ठा प्रसारण एवं स्व-प्रदर्शन मात्र लेना अनुचित है। मानव-जीवन में ऐसे अनेक अंक उपस्थित होते हैं जब बुद्धि कुछ नहीं कर पाती, वह विकर्षणविशुद्ध हो जाती है। ऐसे अंकों के समय मनुष्य अपनी भावनाओं से ही स्व-प्रदर्शन प्राप्त करता है। कठो ने बुद्धिवाद और नास्तिकता का प्रबल खण्डन करते हुए यह प्रतिपादित किया कि विद्या और बुद्धि की उत्पत्ति के साथ मनुष्य का पतन होने लगता है। विद्या मनुष्य की नैतिक दृष्टि के उत्थान न बना कर पूर्ण और नालाक बना देती है। बुद्धिवाद के आधार पर धर्म का विरोध करने वालों को कुर्बानी देते हुए कठो ने अपने विचारों एवं 'Emile' में लिखा—“बाढ़े बुद्धि ईश्वर और समझने के विचारों का सम्मान करें, लेकिन अनुभूति (Feeling) इनका प्रबल समर्थन करती है। इन दो विषयों में बुद्धि कर नहीं लेती अपनी अनुभूति पर अधिक निर्भार करना चाहिए।”

कठो के विचारों ने कॉल्ट को प्रभावित किया। 'Emile' एवं वे उसे अपनी छात्रवर्गों का उत्तर दिया कि बुद्धि की प्रेरणा अनुभूति की अधिक महत्त्व देकर नास्तिकता के प्रभाव से धर्म की रक्षा किए बिना ही जाए। बुद्धिवाद से धर्म को बचाने के लिए, महाकाव्य में विज्ञान की रक्षा करने के लिए और बर्सेले तथा ह्यूम के विचारों का कठो के विचारों से सम्मिलन करने के लिए कॉल्ट ने अपने आत्मिकारण दार्शनिक विचार प्रकट किए।

कॉल्ट के दार्शनिक विचार (Philosophical Ideas of Kant)

कॉल्ट ने, जॉर्ज और ह्यूम के विचारों को अपने एवं 'शुद्ध बुद्धि की जाँच' (Critique of Pure Reason) में प्रमाणित उद्घोषा है। जॉर्ज ने सम्पूर्ण ज्ञान

का श्रेष्ठ इन्द्रियजन्य अनुभवों की कल्पना धीरे-धीरे मन, धारणा तथा चिन्तन का सम्पन्न किया का। कॉन्ट ने इन धारणाओं को भ्रष्ट कल्पनाओं पर आधारित बताया है हुए कहा कि हमें ज्ञान-प्राप्ति के साधनों तथा स्वल्प का उपयोग परिचय प्राप्त करना चाहिए। शुद्ध बुद्धि का परिचय उस ज्ञान से है जो मन की स्वाभाविक शक्ति के कारण प्राप्त होता है, इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होने वाले अनुभवों से नहीं। अनुभवों से दूषित न होने के कारण ही इसे शुद्ध बुद्धि (Pure Reason) कहा जाता है। अपने कर्म से कॉन्ट ने ज्ञान-प्राप्ति के दो साधनों पर उल्लेख किया है— (i) इन्द्रियाँ, एवं (ii) मन (Mind) या बुद्धि। कॉन्ट के अनुसार इन्द्रियों का कार्य है विभिन्न प्रकार के संवेदन (Sensation) प्राप्त करना। मन का कार्य है इन संवेदनों से सम्बन्ध स्थापित करना और उन्हें व्यवस्थित करना। अपने अपने बात को एक सेनापति के उत्तरदायी द्वारा स्पष्ट किया है। शुद्ध-मन से सेनापति के पास विभिन्न स्वाधों से विभिन्न प्रकार के समाचार पहुँचते रहते हैं। सेनापति इन सब समाचारों को, एकत्र कर इनसे सम्बन्ध स्थापित करता है और अपने आदेश प्रेषित करता है। ठीक वही बात इन्द्रियों और मन के साथ है। इन्द्रियाँ विभिन्न अनुभवों को प्राप्त करती हैं जिन्हें मन सम्बन्ध स्थापित करता है। दूसरे तन्मों से विभिन्न अनुभवों की विशेष उद्देश्य के साथ व्यवस्थित किया जाता है और इसी उद्देश्य के कारण प्रत्यक्ष अनुभवों से व्यवस्था स्थापित होती है।

कॉन्ट की मान्यता है कि मानव-बुद्धि की कुछ मर्यादें हैं। उस पर देश (Space), काल (Time) तथा कारण-कार्य सम्बन्ध (Causation) का प्रभाव पड़ता है। इन तत्वों की मर्यादों से रहते हुए ही इनको वास्तु का ज्ञान होता है। अतः ये तत्व (Space, Time and Causation) हमारे लिए नियत तत्व हैं, इन्द्रियजन्य ज्ञान से इनकी पुष्टि होना आवश्यक नहीं है।¹ जिस प्रकार लोहे में धरे पानी का लोहे का आधार धारण कर लेना विज्ञान स्वाभाविक है, उसी प्रकार हमारे बुद्धिजन्य विचारों से उत्पन्न तत्वों (Space, Time and Causation) का सम्बन्ध धारणात्मक है। वहाँ ज्ञान की समयावस्था की कोई पुँजावृत्ति नहीं है। इन तत्वों के आधार पर हमारा ज्ञान हर प्रकार के संदेह और अनिश्चितता से मुक्त होता है। यह ज्ञान धीरे-धीरे प्राप्त होता है। इन्द्रियजन्य अनुभवों के आधार पर असुलभता का जो ज्ञान हमें प्राप्त होता है, वह 'अनुभव-साधक' (A posteriori) कहलाता है, वह दूसरे प्रकार का ज्ञान 'अनुभव-निरीक्षक' (A priori) होता है जिसमें किसी प्रकार के अनुभव की आवश्यकता नहीं होती।

कॉन्ट के अनुसार इस दुनव जगत् (Phenomenon) के इन्द्रियस्वरूप का ज्ञान ही ज्ञानना सम्भव है। हम कुछ धारणा आस्तिक जगत् (Thing as it is) का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते क्योंकि वह अनुभव-निरीक्षक है और इसलिए वह हमारे अनुभव का विषय नहीं बन सकता। उत्तरदायी, वह वह नहीं जानते

कि मनुष्य वास्तव में क्या है। हम मनुष्य के बारे में केवल इतना ही जानते हैं कि उसके सम्बन्ध में हमारी इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले अनुभवों के आधार पर हमारे मन में क्या कल्पना की है। कर्नेट छद्म की तरह बाह्य जगत् की सत्ता की सम्बन्ध नहीं स्मरता, परन्तु यह कहता है कि हम बाह्य जगत् के सम्बन्ध में इससे अधिक कुछ नहीं जानते कि उसकी सत्ता है। कर्नेट के सादरवाद या साध्यात्मवाद का प्रभाव यह है कि बाह्य जगत् की वास्तविक सत्ता से सब परिचित हैं। हमें तो उसका केवल नहीं रूप मात्र है जो उसके द्वारा प्राप्त अनुभवों से हमारे मन पर प्रकट होता है। जसादरवाद, एक पुस्तक का ज्ञान हमको उसकी वास्तविक वास्तविकता से नहीं हो सकता, बल्कि उस विचार (Idea) से होता है जो हमारे मन में उस पुस्तक को देखकर बनता है।

कर्नेट के अनुसार बुद्धि में इतनी वास्तविकता नहीं है कि वह हमें बाह्य जगत् के मूल स्वरूप को प्रकट कर सके। बुद्धि तो केवल उसी बात को प्रकट करती है जिसका उसे अनुभव होता है। भौतिक ईश्वर, परमात्मा, भावी जीवन आदि कुछ बातें ऐसी भी हैं जो अनुभवयोग्य हैं। बुद्धि केवल अनुभव-जन्य ज्ञान तक सीमित है, यतः वह अनुभवयोग्य वस्तुओं के बारे में कुछ नहीं कह सकती। वास्तव में वास्तविक जैसा बुद्धिवादी को कर्नेट का यह सकारण उत्तर था। वास्तविक ने बुद्धिवाद के आधार पर धर्म और ईश्वर का खण्डन किया था जबकि कर्नेट का मुँह तोड़ जवाब यह था कि ईश्वर का खण्डन बुद्धि से नहीं किया जा सकता क्योंकि ईश्वर तो बुद्धि से परे है। ईश्वर बुद्धिजन्य नहीं है, बल्कि अज्ञानजन्य है। कर्नेट ने अपने मत द्वारा उन अव्यक्त बुद्धिवादी की सीमाओं विस्तार कर दिया जो सर्वज्ञान द्वारा ईश्वर की बुद्धि के लिए प्रस्तुत की जा रही थी। यतः वादों और पुरोहित उससे आधुनिक दृष्टि हो कर और विविधता कर उसका खण्डन करने की दृष्टि से ही अपने कुतों का नाम कर्नेट रखने लगे।

परन्तु कर्नेट ईश्वर की बुद्धिजन्य नहीं मानता, क्योंकि वह ईश्वर के अस्तित्व के मत में सुन्दर आधार प्रस्तुत करता है। कर्नेट का यह आधार उन नैतिक नियमों पर आधारित है जो उसके अनुसार अनित्यतासमय विचारों की भाँति पूर्ण (Absolute) एवं अविनाशक सत्य हैं। कर्नेट का मत यह है कि नैतिक कर्तव्यों की भावना मानव प्रकृतिकरण में जन्म से ही इनकी सुन्दर होती है कि इसे निश्चित करने के लिए उन्हें अपनी बुद्धि का आधार देने की आवश्यकता नहीं है। सभी व्यक्तियों को इन नैतिक भावना का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। यही नैतिक भावना मनुष्यों को सर्वज्ञ कर्तव्य ज्ञान के लिए प्रेरित करती है और उन्हें अपने-अपने जगत्-सत्त्व का भीषण करता है। यदि कोई व्यक्ति अपने कर्तव्य के अन्तर्गत अपनी व्यवहारिता कर कुछ काम करता है तो उसकी प्रकृतिकरण उसे प्रेरित करती है और कहती है कि वह कार्य अनुचित था और उसे नहीं करना चाहिए था। नैतिक भावना ही, सर्वज्ञ कर्तव्य और मानव को प्रेरित करती है। नैतिक भावना का मानव प्रकृतिकरण के लिए प्रेरण, प्रेरण या परम (Absolute) होता है। मनुष्य नैतिक भावनाओं का प्रमाण इसलिये करता

है कि वह उसके अन्तःकरण की आकांक्षा होती है। नैतिक भावना का आदेश सब परिस्थितियों के उपाय होता है। उदाहरणार्थ, प्रत्येक परिस्थिति में नैतिक भावना निर्णायक रूप में सलाह देने का आदेश देती है। हो सकता है कि व्यक्ति झूठ बोलने की इच्छा करे अथवा झूठ बोलें, लेकिन वह यह नहीं चाहता कि झूठ बोलना एक सार्वभौम नियम बन जाए। कहने का मतलब यह है कि नैतिक नियमों का अन्तर्गत न कर लाने पर भी व्यक्ति इसके प्रतिफल की स्वीकार करता है। नैतिक नियम मनुष्य के हृदय में इस रूप में अंकित रहते हैं कि इनका सभी अवस्थाओं में पूर्णतः चालन किया जाना चाहिए। इसीलिए ये नैतिक नियम निरन्तर नैतिक कर्तव्य-आदेश या 'परमादेश' (Categorical imperative) कहे जाते हैं। कौण्ट का मतलब है कि इस आदेश की धीरे-धीरे नैतिक भावना की माध्यम अन्तःकरण में उत्पन्न करने वाला ईश्वर है। यह आदेश ईश्वर और धर्म की सत्ता का अन्तर्गत प्रमाण एक गुरुत्व आधार है जिसमें व्यक्ति को बहुत आस्था रखनी चाहिए।

कौण्ट ने नैतिक भावनापरक आदेशों की कर्तव्यों की अतिरिक्त विशेषताओं का उल्लेख किया। समीचीन विशेषता यह है कि कर्तव्य-बुद्धि से किए जाने वाले कार्य इसलिए भ्रष्ट नहीं होते कि इसके अन्तर्गत परिणाम निकलते हैं। इसलिए कि अन्तःकरण की नैतिक भावना के आदेशानुसार किए जाते हैं। इस प्रकार की नैतिक भावना किसी वैज्ञानिक अनुभव का परिणाम नहीं होती। यह तो अनुभव-निषेध (A priori) है जो सभी कानों में अन्तर्गत रूप में अपने आदेश अन्तर्गत करती है और हमें हमारे कर्तव्यों का बोध करती है। अन्तर्गत में अन्तर्गत बात रही है कि हम हमारे अन्तर्गत आदेश की निष्ठा किए बिना अपने नैतिक भावना का अनुसरण करें। नैतिक भावना की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता यह कि यह करने में है कि मनुष्य में स्वतन्त्र इच्छा (Inclination of Will) को बताता है। यदि हम में स्वतन्त्र इच्छा को बता न होती तो हम कर्तव्य-भावना की अनुवर्तन भी नहीं कर सकते थे। स्वतन्त्र इच्छा को बता को बुद्धि अथवा उसके में नहीं परन्तु व्यावहारिक अनुभव से सिद्ध किया जा सकता है। जब मनुष्य किसी काम में स्वतन्त्र-व्यक्तिगत हो जाता है और वह नहीं समझ पाता कि उसे क्या करना चाहिए तो उसके सामने विभिन्न मार्ग खुले होते हैं और उसे किसी भी मार्ग को चुनने की स्वतन्त्रता होती है। ऐसे समय उसे कर्तव्य का ज्ञान बुद्धि अथवा बलिष्ठता द्वारा नहीं बल्कि अन्तःकरण में निहित नैतिक भावना से अन्तर्गत हृदय से प्राप्त होता है। स्पष्ट है कि कौण्ट के अनुसार, "हृदय बलिष्ठता से अन्तर्गत है और नहीं अनुभव का अन्तर्गत मार्गदर्शक है।"

कौण्ट के अनुसार राजनीति का अन्तर्गत नैतिक इष्टि-बोध के ही द्वारा बोधा चाहिए। इसलिए राजनीति का नैतिकतापूर्ण अन्तर्गत हो 'नैतिक-प्रणाली' नहीं जानी है। कौण्ट के अनुसार नैतिकता मनुष्य की पूर्णतः का माध्यम है, नैतिकता से पूर्णतः राजनीति - अन्तर्गत मनुष्यीय रहती है जबकि नैतिक आदेशों के आधार पर ही राजनीति का अन्तर्गत पूर्णतः अन्तर्गत एक सार्वभौम होता है।

कॉण्ट के नैतिक विचारों की इस पुष्कमूर्ति के उपरान्त सब हुए कॉण्ट के नैतिक दृष्टा तथा नैतिक स्वातन्त्रता तथा राजनीतिक विचारों पर विचार से चर्चा करेंगे।

कॉण्ट के नैतिक दृष्टा तथा नैतिक स्वातन्त्रता सम्बन्धी विचार (Kant's Conception of Moral Will and Moral Liberty)

कॉण्ट की विचारधारा में उसकी नैतिक दृष्टा तथा स्वातन्त्रता सम्बन्धी धारणा सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इसी के आधार पर उसने अपने सभी विचारों को निरूपित किया है। यह उसी के 'नैतिक दृष्टा' तथा 'सामान्य दृष्टा' के सिद्धान्त में पूर्ण विस्तार देकर पाये गइता है। यह सिद्धान्त ही उसके मनुष्य दर्शन की आधारभूत है। कॉण्ट के अनुसार मनुष्य की वे केवल वही शक्ति स्वतन्त्र है जो नैतिक रूप से स्वाधीन है। स्वातन्त्रता का अर्थ यह भवमानी तथा अनिवार्य कार्य करने की स्वच्छन्दता नहीं मानता। एक व्यक्ति के उपरान्त योग्य सभी स्वातन्त्रता नहीं है जो दूसरों के समान तथा सार्वभौमिक कानून द्वारा नियंत्रित है। स्वातन्त्रता अधिकारों के साथ सम्बद्ध है। स्वातन्त्रता व्यक्ति की दृष्टा का अधिकार है जिसे स्व-प्राप्तित्त आदेशात्मक कर्तव्य (A self-imposed imperative duty) भी कहा जा सकता है। इस प्रकार अधिकार और स्वातन्त्रता के साथ एक सम्बन्धित सम्बन्ध स्थापित कर कॉण्ट नैतिक दृष्टा की स्वातन्त्रता पर बल देता है।

कॉण्ट मानवीय दृष्टाओं की दो भगो में विभाजित करता है—(1) के दृष्टार्थ उनके द्वारा मनुष्य वास्तव की प्रकृति की ओर झुकता है। वे वास्तवपूर्ण दृष्टार्थ अनैतिक होती हैं और मनुष्य की अपार्य दृष्टाओं का प्रतिनिधित्व नहीं करती, एवं (2) के दृष्टार्थ जो नैतिक पर आधारित होती हैं। इनका आधार नैतिकता होती है और वे कानून की अपार्य दृष्टाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। कॉण्ट का कहना है कि स्वातन्त्रता इसी नैतिक या अपार्य दृष्टा का गुण है। उसी ने नैतिक दृष्टा को 'गुण दृष्टा' (Good Will) के नाम से पुकारा है। कॉण्ट ने 'गुण दृष्टा' का प्रयोग प्राचरित (Ethical) के रूप में किया है और बताया है कि नैतिक स्वातन्त्रता इसी बात में निहित है कि मनुष्य अपनी 'गुण दृष्टा' के ही अनुकूल काम करे।

कॉण्ट नैतिक स्वातन्त्रता की धारणा को स्पष्ट करने हुए बताया है कि मनुष्य कुछ साम्य सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करता है जो बुद्धि-प्रधान और स्वातन्त्रता से सम्बन्धित है। वे स्वतन्त्र दर्शाते हैं कि इनके पालन में व्यक्ति किसी बाह्य नियम का पालन न कर उन नियमों का पालन करता है जो स्वयं उसके अन्तःकरण की आज्ञा हैं। कॉण्ट ने इस प्रकार के नियमों को 'कर्तव्य के घटन आदेश' (Categorical Imperative of Duty) की आज्ञा दी है। कर्तव्य के घटन आदेश की व्याख्या से कॉण्ट की नैतिक स्वातन्त्रता की धारणा और स्पष्ट हो जाती है क्योंकि इन दोनों का अन्तर्गत सम्बन्ध है।

दूसरे अधिकारों का भी वे स्पष्ट संबंध ही 'चरित्र' की शक्ति सभी कहती है।

उदाहरणार्थ, हम कहते रहते हैं 'यदि मैं प्रेम में हूँ तो मैं प्यार होना चाहता हूँ तो मुझे परिश्रम करना चाहिए।' यदि मैं चाहता हूँ कि मुझे प्रार्थना और व्यायाम दोनों के लिए समय मिले, तो मुझे बात: उठना 'चाहिए'। स्पष्ट है कि परिश्रम करना और बात: उठना मेरे लिए तभी आवश्यक होते जब 'मैं' प्रेम में हूँ तो मैं प्यार होने एवं प्रार्थना तथा व्यायाम दोनों के लिए समय चाहूँ। यदि मेरे प्रेम में कर्तव्य के वे दोनों उदाहरण उपस्थित न हों तो मेरे परिश्रम करने और बात: उठने का कोई मूल नहीं होगा। चूँकि यह आदेश मेरी मान्य इच्छाओं की पूर्ति के लिए अभीष्ट है, अतः इसे सापेक्ष आदेश (Hypothetical Imperative) कहा जा सकता है। कॉन्ट का कथन है कि कर्तव्य भी एक आदेश है जो एक विशेष प्रकार के कार्य की माँग करता है, लेकिन 'सर्तर्' की अपेक्षा यह 'विरल' (Categorical) है। वास्तव में हमारा कर्तव्य-चालन का कर्तव्य न तो किसी विशेष वस्तु की इच्छा पर निर्भर करता है और न किसी 'यदि' की शर्त से ही प्रतिक्रियित होता है। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने कर्तव्य का नैतिक नियम के अनुसार चालन करे। ऐसा बड़े दृढ़तापूर्वक नहीं करना चाहिए कि वह स्वाभाविक, अथवा, या प्रयत्न प्रकृति आदि की आवश्यकता करता है, बल्कि केवल इसलिए कि वह उसके सामाजिक स्वयं के नियम से और ऐसा करने ही वह मानव रूप की प्राप्त कर सकता है। हमारी इच्छा उस रूप तक मूल है जहाँ तक हमारे 'कर्तव्य' के सापेक्ष आदेश से निर्धारित होती है, इसलिए नहीं कि वह क्या करनी है या क्या प्राप्त करनी है। कॉन्ट के शब्दों में, "हमारे में का हमारे के बाहर भी रूप किसी ऐसी चीज की कल्पना नहीं कर सकते जो विरल रूप की संज्ञा सम्पत्ति हो। विरल रूप की अपेक्षा केवल सदात्मकता ही मूल होती है। बुद्धि, चातुर्य, निर्लज्ज-वृत्ति तथा मलिनता के अन्य गुण निश्चित रूप से बहुत-सी बातों से मूल और वैयक्तिक होते हैं, परन्तु यदि इनका प्रयोग करने वाली इच्छा अथवा चरित्र मूल नहीं है तो प्रकृति के वे ही उद्धार मानव अस्तित्व और मानविकता हो सकते हैं।"

स्पष्ट है कि कॉन्ट के अनुसार, "मनुष्य की नैतिक स्वतन्त्रता का वास्तव यह है कि नैतिकतापूर्ण मानवता से ही स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है क्योंकि नैतिकता अति बुराबाद के बोधी गई वस्तु न होकर उनके स्वयं के मान्यकरण का ही आदेश है।"

कॉन्ट की सम्पूर्ण चारणा का मत यह बात पर है कि मानव-जीवन का मूल-तत्त्व नैतिक स्वतन्त्रता है जो नैतिक नियम का पालन करने से सिद्ध है। अतः प्रेम संज्ञा है कि 'इस नैतिक नियम के अनुसार हमें क्या करना चाहिए।' कॉन्ट की मान्यतानुसार इसका निश्चय निरुद्ध बुद्धि के द्वारा है, इसका कोई विविधता नहीं हो सकता। यदि इस प्रकार का कोई विशिष्ट तत्त्व होता तो वह सामाजिक और परमात्मक नहीं हो सकता था। इसलिए नैतिक नियम की माँग केवल यही हो सकती है कि हम बिना किसी बाहरी बातों पर विचार किए सदैव अपने कर्तव्य-चालन में स्थित रहें। हम स्वयं ही एक ऐसी इच्छा उत्पन्न करें जो अपने मान में स्वयं मूल

हो। कान्ट ने नैतिक नियम के शासनार्थ कुछ सुविधाएँ नियमित की हैं जो एक करो सोमा तक हमारे आचरण का पच-पदार्थ कर सकती हैं। ये इस प्रकार हैं—

1. व्यवहार सार्वभौमिक होना चाहिए। मनुष्य को नहीं बचें करना चाहिए जिसे सब कर सकें जो सबके लिए उचित हो।

2. अपने से प्रत्येक किसी भी दूसरे व्यक्ति के-को मानवता है, उसे सर्वत्र मान्य मानते हुए आचरण करना चाहिए। उसे साधन कभी नहीं मानना चाहिए क्योंकि वह साधन कभी नहीं बनती। इस प्रकार के आचरण से मानवता उच्चतर बनती जाती है।

3. आचरण इस प्रकार किया जाना चाहिए जिससे मनुष्य साम्यों के राज्य का उत्पन्न बना रहे। आचरण के सबब होने मानव जाति के प्रति भक्तित्व की भावना रखनी चाहिए।

इन सुविधों का सम्मिलित भाव नहीं है कि वही कार्य पूर्ण रूप है जिसका कर्ता (Doer) वह इच्छा उत्पन्न कर सके कि संभव मनुष्य उही सिद्धान्त पर चलें जिन पर वह आचरित है। साथ ही सभी मनुष्य इच्छाओं की पूर्ति के लिए साधन बनाने की कामना का प्रतिपाद कर मनुष्यों मानव-जाति को एक महान् भावुत के रूप में स्वीकार करें।

कान्ट के राजनीतिक विचार (Political Ideas of Kant)

कान्ट का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण (Kant as an Individualist)—
सादरवादी होने के साथ ही कान्ट व्यक्तिवादी भी था। उसने व्यक्ति के नैतिक स्वतन्त्रता पर बार-बार बल दिया। होने के सर्वथा विपरीत उसने व्यक्ति की परिणत एवं महत्ता को पराधीन साम्राज्य की दृष्टि से देखा। वास्तुतः व्यक्ति की स्वतन्त्र व्यक्ति प्रत्येक उद्देश्य स्वयं ही धार करती थी किसी अन्य साम्य का साधन नहीं मानता था समता। कान्ट ने वहाँ परम्परागत सादरवादी दर्शन (Classical Idealism) से कुछ अवलोकित उत्पन्न की है, किन्तु इसका धर्म यह नहीं कि व्यक्ति केवल साधन स्वार्थ-साधन तक ही सीमित रहे। कान्ट ने व्यक्तिगत स्वार्थ के साथ सार्वजनिक हित का भी ध्यान रखा है। यह वह नहीं चाहता कि व्यक्ति समाज की सर्वथा उपेक्षा कर केवल निजी स्वार्थ के लिए ही कार्य करे प्रत्येक निजी स्वार्थ ही उसका एक मात्र लक्ष्य हो। उसके अपने शब्दों में—“उद्देश्य के प्रतिष्ठित मन्त्र के वा उससे बाहर किसी ऐसी वस्तु को नष्टता नहीं की जा सकती जिसे निर्विशेष रूप से कहा जा सके।”

कान्ट उस युग का प्रतिनिधित्व करता है जब व्यक्तिवाद पुरातन युग नहीं हो गया था। वह स्वतन्त्रता की इच्छा बहुमुख्य रूपधारा है कि राज्य की चेती पर उत्तम प्रतिपाद नहीं करना चाहता। व्यक्ति पर राज्य का नियन्त्रण उसे पसन्द नहीं, यद्यपि यह मानता है कि वैयक्तिक स्वतन्त्रता सामूहिक प्रत्येक सार्वजनिक हित

के कहीं माननी चाहिए, किन्तु होश की भाँति वह उसे निर्दयतापूर्वक कुचलने को तैयार नहीं है। वाइडन (Vasubandhu) के अनुसार, "म्यात्र तथा भक्षित्यत स्वाधीनता के बीच उसके बलिष्ठ के लक्ष्यतः एक सांख्यिक समर्पण रहा है और उसे दोनों में समान्य स्थापित करने का कोई मार्ग नहीं सूझता। वह इतना अधिक ईमानदार है कि दोनों के से किसी एक का भी बलिदान करने को प्रस्तुत नहीं है।"¹

राज्य की आवश्यकता के बारे में कान्ट के विचार (Kant's ideas about the necessity of the State)—कान्ट ने व्यक्ति के स्वतन्त्रता पर जो दृष्टांत बत दिया है, उसका व्यक्ति की राज्य की सदस्यता के राज्य सामंजस्य स्थापित करना प्रथम दृष्टि में विचित्र लगता है क्योंकि यदि नैतिक नियम के अनुसार व्यवहार करने की व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता त्याग कर सकता है तो उसके जीवन में स्पष्ट ही राज्य के बिना कोई स्थान नहीं रह जाता; तो फिर राज्य की आवश्यकता क्यों है? कान्ट का उत्तर है कि मनुष्य के स्वार्थ की प्रवृत्ति पाई जाती है। वह अपने स्वयं की अधिकारिक सुखी बनाता चाहता है चाहे अपने दूसरों की हानि ही क्यों न हो? बाह्य रूप से मनुष्य समान है किन्तु उसकी प्रवृत्तियों में बहुत अधिक असमानता है। राज्य ही एकमात्र ऐसी सत्ता है जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए उचित करने की जवाबदारी प्रदान करती है। इसके बिना राज्य प्रत्येक व्यक्ति की अधिकार प्रदान करता है।

कान्ट के अनुसार व्यक्ति की स्वतन्त्र नैतिक इच्छा के अनुष्ठान एवं कार्यक्रम में बाधित होने के लिए कुछ विशेष अवस्थाओं की आवश्यकता होती है। यह आवश्यक है कि दूसरे नागरिकों के कार्यों के सुव्यवस्था में मनुष्यों की रक्षा की जाए। राज्य इस नीति को पुष्टि करता है। राज्य स्वतन्त्रता का पोषक है—यह स्वतन्त्रता का जो नैतिकता और कर्तव्य-वाक्य के लिए आवश्यक है। कान्ट राज्य के प्रतिष्ठान में जन-दम्पत्य की महत्त्व देता है। उसका द्वारा राज्य को यह अधिकार दिया गया है कि वह उसे नियंत्रित और व्यवस्थित रहे। पर उसका को नियंत्रण का विशेष करने का अधिकार नहीं है क्योंकि जनता की कोई ऐसी-हुत इच्छा नहीं होती, बल्कि विभिन्न और विरोधी इच्छाएँ होती हैं। राज्य ही वह सर्वोच्च इच्छा है जिसके सम्यक् जनता की अपना समर्पण करना चाहिए।

कान्ट की मान्यता है कि व्यक्ति जिस कानून की कामना करे वह असाध्यमान्य ऐसी होनी चाहिए जिसे कार्यवैयर्थिक नियम का रूप दिया जा सके। बाईर के कानून में, "जब वह वह नियम प्रतिपादित करता है कि 'तु जोरी नहीं करेगा' तब वह वास्तव में एक सामान्य नियम का प्रतिपादन करता है और अन्ततः सम्पूर्ण प्रजापति का निर्माण कर एक ऐसे कानून की जन्म देता है जो प्रतिपादितः राज्य में प्रतिष्ठित होना चाहिए एवं राज्य द्वारा लागू किया जाना चाहिए।"²

स्पष्ट है कि कान्ट के अनुसार राज्य नैतिक जीवन के लिए एक आवश्यक तत्व है। नैतिक नियम से निर्धारित किए जा सकने वाले सम्बन्धों का कानून की राज्य

ही भली प्रकार स्वीकारित कर सकता है और इसीलिए वह निश्चित रूप से एक सकारात्मक घटनाई (Positive good) है न कि एक आवश्यक घटनाई (Necessary evil)। कॉन्ट ने स्पष्ट और स्पष्ट दोनों को ही महत्व दिया है और वास्तव में वह कथन दोहराता प्रस्तुत है कि 'स्वायत्तता' स्वतंत्रता स्वाधीनता के बीच उसके सम्बन्ध में स्पष्ट। एक मानसिक सत्य ही होता है और इन दोनों में सम्भव स्थापित करने का उसे कोई मार्ग नहीं प्रकट। वह दूसरा ईमानदार है कि दोनों में से एक का भी अनिवार्य करने को तैयार नहीं।"

कॉन्ट और सामाजिक समझौता (Kant and Social Contract)—
 व्यक्तिवादी धारणा में प्रभावित कॉन्ट ने राज्य के सार्वभौमिक (Organic Nature) पर अधिक ध्यान नहीं दिया है। उसने राज्य की उत्पत्ति की विशेषता न कर उसका स्वरूप सविशेष (Contractual) माना है। कविता अथवा सामान्य समझौते का वह विचार उसने कभी से लिया है, क्योंकि उसके अनुसार, "राज्य की दृष्टि से राज्य किसी भी व्यक्ति को कोई भी ऐसा कानून मानने के लिए बाध्य नहीं कर सकता जिसके लिए उसने अपने सहमति (Consent) न दे दी हो।" सभी की भाँति कॉन्ट भी सविशेष की धारणा को एक विशेषज्ञता विचार के रूप में स्वीकार करता है। उसके अनुसार सविशेष द्वारा ही "वह समझा जा सकता है कि मनुष्य बाह्य स्वतंत्रता का सर्वश्रेष्ठ कर देते हैं, लेकिन राज्य के पक्ष में अपना मतदान के रूप में वे उसे दुरुस्त ही मानने भी मान्य कर लेते हैं। पूर्ण स्वतंत्रता एक ऐसी स्वतंत्रता है जिसे मान्य करने से मनुष्य के अपनी अपनी कानूनहीन स्वतंत्रता का परिधान कर देते हैं। ऐसा करने से अपनी स्वतंत्रता कम नहीं होती क्योंकि यह परिवर्तन उनकी स्वयं की इच्छानुसार होता है, बल्कि यह स्वतंत्रता एक वैधानिक प्रकृति का रूप में लेती है क्योंकि यह परिणामों तथा कानूनों के दायरे में आती है।" कॉन्ट के अनुसार, "राज्य व्यक्तियों का एक समूह है जो मनुष्यों द्वारा एकता के रूप में बंधे जाते हैं। राज्य एक प्राकृतिक समुदाय है जिसके अन्तर्गत प्रत्येक मनुष्य अपनी बाह्य स्वतंत्रता मान्य देता है और दुरुस्त ही मनुष्यों सार्वभौमिक रूप से सामूहिक स्वतंत्रता मान्य कर लेता है। ऐसा समुदाय 'राज्य' कहलाता है।"

कॉन्ट सविशेष सिद्धान्त को ऐतिहासिक तथ्य के रूप में न मानकर धार्मिक रूप में स्वीकार करता है। उसका विश्वास है कि समझौते की धारणा ही व्यक्ति और राज्य की प्रकृति के रूप में बंध सकती है। कॉन्ट की सामाजिक सविशेष एक सांख्यिक प्रक्रिया है जिसके अनुसार सामान्य यह स्वरूप और कारण एवं प्रकृति के बीच सम्बन्ध स्थापित होते हैं। वह मानता प्राकृतिक प्रकृति की सविशेष राज्य में परिवर्तित नहीं करती। सामाजिक सविशेष एक ऐसा वैधानिक समझौता है जिससे राज्य का निर्माण नहीं होता बल्कि 'सामाजिक जीवन की एक कम संगठित स्थिति से अधिक संगठित स्थिति में विकसित होता प्रकट होता है।' दूसरे शब्दों में स्पष्ट एक कानूनहीन स्वाधीनता को छोड़कर एक अन्तर्गत स्वाधीनता को मान्य करते हैं। जिस मौलिक राजनीतिक तथ्य से कॉन्ट की धारणा प्रेरित, वह यह था कि

अतिरिक्त इच्छाओं को एक सामान्य (General Will) में सिक डबकर स्थापित किया जाए, ताकि दुम्पद् इच्छाओं की स्वाधीनता स्पष्ट न होकर उनका प्रभाव पूर्वनिर्दिष्ट अधिक बढ जाए तथा उनके एक नए रूप में साम्यता प्राप्त हो जाए। काण्ट के अनुसार, स्वतन्त्र व्यक्तियों की इच्छा पूर्ण स्वाय का स्रोत है और स्वाय का अर्थ सब व्यक्तियों की स्वतन्त्रता की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर इस सीमा तक प्रतिबन्ध है कि वह स्वतन्त्रता सामान्य नियमों के अन्तर्गत सा सके।¹

सम्पत्ति पर कॉण्ट के विचार (Kant's Views on Property) — सामान्य आदर्शवादियों की भांति कॉण्ट भी व्यक्तिगत सम्पत्ति की व्यवस्था स्वीकार करता है। सम्पत्ति के विषय में उसके विचार पूर्ण व्यक्तिवादी हैं। उसकी मान्यता है कि सम्पत्ति के बिना मनुष्य का पूर्ण विकास नहीं हो सकता क्योंकि सम्पत्ति उसकी इच्छा की ही अभिव्यक्ति है।² फिर भी वह सम्पत्ति का अधिकार देते समय व्यक्ति पर अपने पड़ोसी के अधिकारों के सम्मान का अन्ध प्रयत्न लगाता है। इस विचार के मूल में उसकी यह मान्यता है कि सम्पत्ति का अधिकार समुक्त प्राकृतिक न होकर समाज-द्वारा है।³ अतिरिक्त सम्पत्ति के लिए किसी व्यक्ति की दूसरे के अधिकारों का हनन नहीं करना चाहिए। सम्पत्ति के अधिकार के प्रयोग के लिए इन समस्त व्यक्तियों की स्वीकृति की आवश्यकता होती चाहिए जिसकी उसने स्वीकृति दी है।

कॉण्ट का दण्ड सम्बन्धी विचार (Kant's Views on Punishment) — कॉण्ट समाज में छाति व्यवस्था स्थापित रखने और कानून के समुचित वातावरण के लिए दण्ड-व्यवस्था को आवश्यक मानता है। कानून लचीली भली प्रकार लागू किए जा सकते हैं। जब उनके पीछे एक बाध्यकारी शक्ति हो। "प्राविधिक व्यवस्था (Constitutional Order) को स्थापना के लिए स्वतन्त्रता और कानून (Freedom and Law) के साथ, जो विधान (Legislation) के दो भाग हैं, शक्ति (Power) का सम्मिश्रण होना चाहिए। यदि कानून और शक्ति न हो तो समाज स्वाभाविक अवस्था में अराजकता (Anarchy) और स्वतन्त्रता के अभाव में शक्ति का अभाव होगा अवस्था (Barbarism)। इसलिए शक्ति, स्वतन्त्रता और कानून का सम्मिश्रण ही समाज का आधार बन सकता है।" कॉण्ट प्रति को राज्य का प्राविधिक ढांचा मानते हुए राज्य द्वारा अपराधी को दण्ड देना उचित समझता है। उसके लिए दण्ड का उद्देश्य केवल दण्ड है। दण्ड अपराधी को डराने और सुधारने के लिए नहीं बल्कि अपराधी को दण्डित करने के लिए दिया जाता है ताकि समाज में शांति की गहला बनी रहे और नियम तथा न्यायवादी की मन कानूनी को अपना लिए का फल प्राप्त जाए। दण्ड का औचित्य इस बात में नहीं है कि दण्ड से अपराधी को न्याय हो जाएगा अथवा व्यक्ति के अपराधों की क्षमा में कोई कमी या न्याय की अपराध की पुनरावृत्ति नहीं होगी। दण्ड ही अपराध करन वाले व्यक्ति के

काय का फल है। स्पष्ट है कि दण्ड सम्बन्धी सुधारवादी (Reformative) तथा विरोधार्थक (Deterrent) दोनों ही सिद्धान्त कॉण्ट को पसनीकार हैं। उसके अनुसार जो दण्ड मान्य भी रहा है किन्तु आवश्यक है। उसका विरोध दण्ड के प्रतिरोधार्थक (Retributive) सिद्धान्त में है।

कॉण्ट के अधिकार और कर्तव्य सम्बन्धी विचार (Kant's Views on Rights and Duties)—कॉण्ट के अनुसार अधिकार और नैतिक स्वाधीनता दो पर्यायवाची शब्द (Synonymous terms) हैं। उसके ही शब्दों में, “स्वाधीनता के नाते जो एकमात्र नैतिक अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त है वह है स्वाधीनता।” इसी स्वाधीनता की परिभाषा करते हुए एक अन्य स्थल पर उसने लिखा है—“स्वाधीनता का अर्थ है ऐसा कोई भी कार्य करने का अधिकार जिससे किसी को किसी प्रकार की हानि न पहुँचे।”

इस तरह कॉण्ट अधिकारों को उसके अनुरूप कर्तव्यों से समुक्त मानता है। अधिकारों और कर्तव्यों के बिना एक सुखकरिष्ठ राज्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अधिकार व्यक्ति के विकास का एक साधन है और मुख्य अधिकार स्वतन्त्रता है। अधिकारों की अनेकता कर्तव्य अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि व्यक्ति यदि अपने कर्तव्यों का पालन करे तो अधिकार स्वतः ही प्राप्त हो जायेंगे। अधिकार और कर्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। कर्तव्य एक साम्यवादीपित कर्तु (Self-interest) है जिसे स्वीकार करने के लिए समुच्च को साम्यवादि चेतना उसे विवश करती है। दूसरे शब्दों में, वैयक्तिक उसकी साम्यवादि चेतना के अनुरूप अपने स्वयं अनुच्च पर लागू होता है। कॉण्ट ने व्यक्ति के कर्तव्यों को तीन भागों में विभाजित किया है—स्वयं के प्रति कर्तव्य, अन्य मानविकों के प्रति कर्तव्य, एवं राज्य के प्रति कर्तव्य।

कॉण्ट ने विशेष अवस्थाओं में उल्लान्न कुछ निश्चित कर्तव्यों का निर्देश नहीं किया है, घट घालीचर्चों में उसकी धारणा को ‘एक व्यापारहीन धारणा’ (Accept without exception) बताया है। कॉण्ट ने व्यक्ति को कर्तव्यों के साथ अधिकार प्रदान नहीं किए हैं। केवल स्वतन्त्रता के स्वाभाविक अधिकार के कारण उसने व्यक्ति को शासन के प्रति विद्रोह करने का भी अधिकार नहीं दिया है चाहे सामान्य रूप किन्ना ही सामान्यारी क्यों न हो।¹ विधान के परिचालन का एकमात्र अधिकार शासक को है, अन्तर्गत नहीं। वह जन-वर्णित शास विधान परिचालन में उद्योग को लोचनीय नहीं मानता। व्यक्ति को राज्य का दास न बनने का विचार उसके करते और व्यक्ति के स्वतन्त्रता पर बल देकर यह छोड़ उसने स्वयं की स्थितिवादियों की श्रेणी में ला सहा किया है और दूसरी ओर राज्य की सर्ववर्धमान भी बना दिया है। इसके एवं व्यक्तों के इस विचार में वह महत्त्व है कि राज्य का निर्माण करते समय मनुष्यों में अपने अन्तर्गत अधिकार राज्य की समर्पित कर दिए थे किन्तु

राज्य के अधिकार विशेष एवं निरहुन बन गए थे। अपने ग्रन्थ 'Philosophy of Law' में कान्ट ने लिखा है कि "जनता की इच्छा स्वाभाविक रूप से सनेहीकृत होती है, यथा परिणामस्वरूप वह कानून सम्मत नहीं होती है।" कानून द्वारा समस्त व्यक्तिगत इच्छाओं को एकीकृत करने वाली एक सभ्यत्व इच्छा के सम्मुख उसका बिना कर्तव्यपूर्ण एक ऐसा उत्तर है जिसका जन्म केवल सर्वोच्च प्रतिबुद्धि द्वारा ही हो सकता है और इस प्रकार "सार्वजनिक अधिकार" की नींव रखी जाती है। जन विरोध का अधिकार प्रदान करना और उसकी शक्ति को सीमित कर देना परस्पर विरोधी बातें हैं।

एक अन्य स्थल पर कान्ट ने यह घोषित किया है कि नैतिक उद्देश्य की निधि के लिए राज्य परमावश्यक है और इसलिए उनके निरहुन नाशित या कोई अधिकार मान्य नहीं हो सकता। राज्य के आदेशों का पालन करना ही उचित है क्योंकि ऐसा करने से व्यक्ति किसी दूसरे आदेशों का पालन न कर अपनी सदैव्यताओं का ही पालन करेगा है।

राज्य के कार्य-क्षेत्र के बारे में कान्ट के विचार (Kant's Views on the Sphere of the State)—राज्य को सर्वप्रथम एवं सर्वोच्चतम बतलाते हुए भी और राज्य के निरहुन अधिकार के अधिकार का निर्देश करते हुए भी कान्ट राज्य का कार्य-क्षेत्र बहुत सीमित नहीं करता। अपने विचारों में कुछ व्यक्तिवादी होने के कारण वह राज्य की अधिक कार्य सीमा नहीं चाहता। उसके अनुसार राज्य का कार्य-क्षेत्र बहुत अनुचित तथा निरुपयोग (Ingratious) है। राज्य प्रत्यक्ष रूप से "नैतिक स्वाधीनता के विकास तथा प्रसार" के लिए कुछ नहीं कर सकता। वह नाम की स्वाधीनता को स्वयं ही करता होता। राज्य का कर्तव्य तो होता ही है कि वह व्यक्ति की स्वाधीनता के मार्ग की बाधाओं पर रोक लगाए (To remove the hindrances of freedom) तथा ऐसी बाधा सामाजिक परिस्थितियों की स्थापना करे जिससे नैतिक विकास सम्भव हो सके। नैतिकता कर्तव्य-भावना से पैदा होने वाले एक जीवन का पालन करने से निहित है, यथा प्रत्यक्ष रूप से उसकी बुद्धि राज्य द्वारा नहीं की जा सकती। इस विचार को कि राज्य का प्रमुख कार्य शुभ जीवन के मार्ग में बाधा वाली बाधाओं को दूर करना है, जीवन एक कोमल से ही बनना, जीवन ने मारी।

पालनन के विवेक में अधिकतम का अनुसरण करते हुए कान्ट ने पालन-काओं की तीन आओं में विभक्त किया है—विभागी, कार्यकारी एवं न्यायिक। न्यायिक की नैतिक स्वतंत्रता की रक्षा के लिए वह बहुत ही आवश्यक है कि न्यायपालिका और न्यायपालिका विभाग एक-दूसरे में कुछ और स्वतंत्र रहें। तीन और अधिकतम की प्रतिबुद्धि भी नैतिक-विकास के सिद्धान्त में विद्यमान करण था। वह न्यायपालिका की स्वतंत्रता के अधिकार रखने का समर्थन था। न्यायपालिका, न्यायपालिका और न्यायपालिका की यह तीन स्वतंत्र नैतिक दशाओं मानते हुए कहता था कि किसी में कोई भी एक-दूसरे की शक्ति नहीं हान करण।

शासन के विधेय (Forms of Government)—कांट ने राज्य के तीन प्रकार बताए हैं—(1) राजतन्त्र (Autocracy), (2) कुलीनतन्त्र (Aristocracy), एवं (3) प्रजातन्त्र (Democracy)। इसी प्रकार वह सरकार को भी दो भागों में विभाजित करता है—(1) गणतन्त्रात्मक (Republican), और (2) निरंकुश (Despotic)।

कांट ने सरकार के दो विधेय इस आधार पर किए थे कि नागरिक में विभाजित तथा कार्यवाहिका समक-समक हैं या नहीं। शासन के स्वरूपों के नियम में कांट के विचारों में कोई लचीलता नहीं थी। शासन के इन वर्गीकरणों की धारणा भी बहुत पहले ही प्रकट कर चुका था।

सबसे अधिक कांट की राजतन्त्र के विरुद्ध भी स्वरूप से प्रेम नहीं था। उसका कहना था कि सामन्यतया का कोई भी स्वरूप ही, उसके द्वारा जनता की दुष्प्रभावों का प्रतिनिधित्व निभा जाता चाहिए। जनता की दुष्प्रभावों का प्रतिनिधित्व राजा, सामन्त या प्रजा के प्रतिनिधि कोई भी कर सकते हैं। प्रकट है कि कांट सामन्यतया से अपने समीप की दृष्टि चाहता था, उसे उसके स्वरूप से कोई संशय नहीं था। शासन का समीप नहीं था कि वह व्यक्ति को राज्य में नैतिक उत्थानता प्रदान करे। कांट ने प्रतिनिध्यात्मक सरकार का समर्थन करते हुए राजा को भी जनता का प्रतिनिधि माना है। इसके उसके राजतन्त्रवादी होने का स्पष्ट आभास मिलता है। इस सम्बन्ध में जो कनिन ने लिखा है कि “प्रतिवा राज्य के एक राजकीय विमर्शविद्यालय में बसोबस प्रोफेसर होने के लिये वह राजतन्त्र के प्रति अपनी सम्मति प्रदान करने में असमर्थ था।”

कांट पर कांट के विचार (Kant's Views on Revolution)—कांट के बारे में कांट के विचारों पर प्रभाव ‘अधिकारों एवं कर्तव्यों’ के प्रश्न में डाला जा चुका है। यहाँ उक्त ही निष्कर्ष पर्याप्त है कि नीति के उसे बहुत भी, प्रकट: “उत्तम एक ऐसी परिचर्चनीयता (Disagreement) का उपदेश निभा जिसे कर्तव्य भी दृष्टा की दृष्टि से देखता था।” नैतिक विकास के लिए ‘राज्य की अधिकारता होने के कारण उनके प्रति विद्रोह को वह ‘धर्मशास्त्र पर आधारित अधिकारों के प्रति विचारमत्त’ के समान समझता था जिसके लिए दार्शनिक तथा परलोक दोनों में क्षमा नहीं मिल सकती। यहाँ कांट अपने आदर्शवादी परम्पराओं का अनुसरण करते हुए कहता है कि “प्रति विधान में कोई परिवर्तन होना है तो वह केवल ‘आत्मक द्वारा ही हो सकता है, जन-आन्दोलन द्वारा नहीं।”

शासन में वह आत्मनिर्भरता बात है कि नीतिवादी राज्य-कांट का उक्त समर्थक कांट जनता जनता द्वारा विद्रोह के अधिकार का दृष्टा ही विरोध करता था। कनिन (Dunning) ने इसके मुख में दो बारहों का उल्लेख किया है। अपने बारहों की दार्शनिक परिस्थिति थी। “वह प्रतिवा से एक राजकीय विमर्शविद्यालय में बहुत प्रोफेसर था। महान् नैतिक और उसके उत्तराधिकारियों के मतानुसार के कोई राजतन्त्र प्रजातन्त्र जनता द्वारा विद्रोह की कल्पना भी नहीं कर सकता था। जनता और राष्ट्र या राज्य की सर्वोच्च-शक्ति का प्रकट समर्थन करने वाले दार्शनिक की धर्म की इस विचार में कर्तव्य मुक्त नहीं कर सकते थे कि प्रमुक्तता राज में ही

होती है'।¹ दूसरा कारण यह था कि कान्ट ने उनको और व्यवस्था के प्रति स्वाभाविक दृष्टा थी।

सम्प्रदाय और कानून पर कान्ट के विचार (Kant's Views on Society and Law)—राज्य का अस्तित्व अनुसंधान के बिना सम्भव नहीं है—इसे कान्ट स्वीकार करता था। यह सामान्य दृष्टा द्वारा अभिव्यक्त होने वाली जनता की दृष्टा की सम्प्रदाय को मान्यता देता है, परन्तु सामान्य दृष्टा काव्यतिक होती है, यतः उसका कोई न कोई भौतिक स्वरूप स्वरूप होना चाहिए। कान्ट के अनुसार, "सामान्य दृष्टा को एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों के समूह या बहुत से व्यक्तियों द्वारा प्रकट किया जा सकता है।"² सामान्य दृष्टा-जन्य सम्प्रदाय को वह किसी एक स्थान पर स्थिर नहीं मानता।

कान्ट को कानून सम्बन्धी चारणा सम्प्रदाय की वैधानिक विधि की चारणा के अनुसरण है। वह इस विचार का विस्तार करता था कि कानून सम्प्रदाय का चरित्रात्मक है। वह कानून को राज्य के ऊपर मानता था, किन्तु उसे देनी दृष्टा की अभिव्यक्ति न मानकर विद्वद् बुद्धि की उपर्यक्त मानता था। उसके अनुसार केवल वही कानून सत्य है जो न्यायिकी की भक्ति का दावा कर सकते हैं जो विद्वद् बुद्धि के अनुसरण हैं। वही कान्ट परम्परा के निकट था जाता है। विभिन्न प्रकार के कानूनों का अंत जनता को मानते हुए वह कहता है कि जनता ही समस्त सम्प्रदाय होती है, इसलिए वही सर्वोच्च विचार-विधि का भी प्रयोग कर सकती है। सामान्यतया व्यक्तियों के किसी एक संघटन का समूहों में अधिक मान्य नहीं होता, लेकिन अधिकार व्यक्तियों को राष्ट्र की वक्ता देता है। राज्य की परम्परा प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार द्वारा ही प्राप्त होती है। कान्ट के अनुसार विधि का अन्त राज्य के अन्तर्गत जनता की स्वतन्त्रता के बीच सम्भव स्थापित करना है। व्यक्ति को सर्व विधि के अनुसरण ही कार्य करना चाहिए क्योंकि विधि मनुष्य की स्वतन्त्रता में बाधा नहीं देती है।

विश्व-शांति और प्रगति के विषय में कान्ट के विचार (Kant's Views on World Peace and the Law of Progress)—कान्ट ने स्पार्टाई शांति और प्रगति के विषय को राजनीतिक रूप देते हुए उस पर विवेक प्रकट जाता है। स्पार्टाई शांति एवं प्रगति के विचार का अन्वयण करते वही बोर्डा (Borda) ने किया था। उन्होंने कहा था कि "मानव-जाति का इतिहास प्रगति का इतिहास है, यान का नहीं।"³ इसी सरी के टर्गो एवं कंडोरे (Turgot and Condorcet) नामक दो फ्रांसीसी लेखकों ने भी इस विषय पर बात किया था, किन्तु इसे एक निश्चित तथा बुद्धि-सम्मत रूप देने एवं राजनीतिक विचार के इतिहास में इसे एक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करने का योग कान्ट को ही है। हीनम विकसित होकर यह विचार बाद में मार्क्स की विचारों की आधारभूत बन गया।

कॉन्ट्रिड के अनुसार स्वतन्त्रता का विस्तार करने से उसके प्रभाव में एक निश्चित चारा दृष्टिगोचर होती है। प्रगति का नियम (Law of Progress) एक ऐसी शक्ति है जो इस विश्व की सम्पूर्ण घटनाओं को नियन्त्रित करता है। यह शक्ति मानव की उत्तरोत्तर प्रगति के लक्ष्यक होती है। जातिगत अधिकतम प्रयत्न में मनुष्य सफल रहता था। उस स्थिति से उत्पन्न होकर उसके प्रयत्न में विवेक का विकास हुआ जिसने नैतिकता को जन्म दिया। इस विवेक और नैतिकता के कारण मनुष्य ने कानून बनाए थे और उनके अनुपालन में ही सुख-सन्ति के दर्शन किए। प्रगति के नियम का सुन्दर वर्णन कॉन्ट्रिड ने इन शब्दों में किया है—

“जब मानव-सतन्त्रता की भीड़ का मानव-इतिहास के बड़े पैमाने पर परीक्षण किया जाता है तो इसकी शक्तियों में एक निश्चित चारा के दर्शन होते हैं और इस प्रकार जो चीज शक्तियों की स्थिति से उत्पन्न हुई और अनिवार्य दिखाई पड़ती है, वही चीज सम्पूर्ण इतिहास के अपनी मूल शक्तियों की निरन्तर प्रगति के रूप में अपनी आदमी प्रगति इसका विकास मन्दर गति से होता है। स्थितिगत रूप से शक्ति और राष्ट्र अपने निजी उद्देश्य की प्राप्ति के संगम एक निश्चित दिशा में और जब एक दूसरे की विरोधी दिशा में प्रवृत्त होते हुए यह नहीं सोचती कि वे सब प्रयत्न ही प्रकृति के उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हो रहे हैं, और एक ऐसे मध्य की प्राप्ति के लिए कार्य कर रहे हैं जो यदि उन्हें प्राप्त हो जाता तो भी उसका कोई विशेष महत्व न होता।”

कॉन्ट्रिड के प्रगति के नियम का सार रूप में सर्व्व यह है कि एक ऐसी सार्व्वत्रिक विद्यमान है, चाहे उस रूप परमात्मा कहें या प्रकृति, जो इस प्रकार के घटना-चक्र को नियन्त्रित करती है और यह देखती है कि शक्तियों की निश्चित शक्तियों का निरन्तर विकास होता रहे तथा मानव जाति प्रकृति द्वारा उपकृत-स्तर पर पहुँचती जाए। सम्पूर्ण प्रकृति मानव-शक्तियों के प्रकट-रूप की दिशा में ही प्रवृत्त है।

कॉन्ट्रिड का विश्वास था कि “प्रकृति द्वारा मानव में प्रकटित सम्पूर्ण शक्तियाँ वातावरण में अपने उद्देश्य के अनुसार प्रयत्नों द्वारा पूर्ण विकास कर लेंगी। मानव निरन्तर प्रगतिशील शक्ति है और प्रकृति में ही उसका पूर्णतम विकास सम्भव है। प्रभाव में सामाजिक जीवन की प्रतिक्रिया विद्यमान रहती है, किन्तु इस प्रयत्न का प्रतिफल प्रगतिगत रूप ही होता है क्योंकि इस कारण मानव अपनी शक्तियों का विकास करता है और प्रगतिशीलता इस प्रयत्न का दमन करने के लिए विधि द्वारा नियन्त्रित प्रयत्नशील की प्रवृत्ति होती है। मानव-जाति के सामने सबसे बड़ा और सबसे कठिन प्रश्न यह है कि ऐसे सामाजिक-व्यवस्था की व्यवस्था किस प्रकार हो जिसमें निरन्तर रूप से विधि-सम्मत प्रतिक्रिया का विकास हो। किन्तु सामाजिक दृष्टि से पूर्ण सामाजिक-व्यवस्था की व्यवस्था ही ही नहीं सकती जब तक प्रकृति के बाह्य सम्पूर्ण विधि-सम्मत नहीं लगे। मानव-जाति के इतिहास पर विचार करने में ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति सामाजिक और बाह्य दृष्टियों के पूर्ण रूप सामाजिक-व्यवस्था के निर्माण के लिए प्रयत्नशील है जिसके मनुष्य की सम्पूर्ण शक्तियों का निर्माण रूप में विकास हो सके।”

कौन्सिल के अनुसार व्यक्ति अकेला ठीक तरह नहीं रह सकता। यह प्रकृति के विरुद्ध है। अकेले में वह मूढ़ सोचता है और सोचा देने की कोशिश करता है। किन्तु समाज में रहकर वह ऐसा नहीं करता क्योंकि उसे सामाजिक जिम्मा का भव बना रहता है। मनुष्य स्वभावतः मूर्ख नहीं है, फिर भी एकाकीवन में वह मूर्ख की ओर जम्बुल होता है। उसके बीच यह अन्तर्द्वन्द्व के रूप में घटकर होता है। इस तरह समाज में रहकर उसमें, नैतिकता का विकास हो जाता है।

कौन्सिल के निरन्तर-शान्ति और उसके मार्ग की वापसी पर भी प्रकाश डाला है। अपने इतिहास-दर्शन द्वारा उसने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि विश्व का विकास शान्ति की दिशा में ही हो रहा है। कौन्सिल का विश्वास था कि यूरोपीय साम्य-वादावादी शक्ति-सन्तुलन के विद्वान्त पर आधारित है, मतः इससे स्थायी शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती।

कौन्सिल विश्व-सन्तुलन के विद्वान्त का उपासक था और मनुषी मानवता की एक दृष्टि के रूप में देखता था। उसने बहुत पहले से ही एक सार्वभौमिक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की कल्पना की थी जिसे वह 'इंटरनैशनल एजेंसी' का नाम देता था और यह कामना करता था कि इसका मानव-जाति एवं सन्तुलित विश्व-राज्य के अन्तर्गत मुख-शान्ति से रहे। कौन्सिल की मान्यता थी कि जिस प्रकार अनिश्चितित स्वतन्त्रता के व्यक्तिगत जीवन में कुछ-कुछ उत्पन्न होती है, उसी प्रकार राज्यों के लिए भी अनिश्चितित स्वतन्त्रता मूर्ख की जड़ है। जिस प्रकार व्यक्ति में स्वाधीन प्रकृति आई जाती है, उसी प्रकार वह अज्ञान राज्यों में छिपी रहती है। किसी राज्य के नागरिकों का भाव उसके सामाजिक संरक्षण पर ही निर्भर नहीं रहता, बल्कि दूसरे राज्यों के साथ पारस्परिक सम्बन्धों पर भी निर्भर करता है। जो राज्य ऊँचे अपने राज्य की सीमाओं का विस्तार करने में लगा रहता है, वही नैतिकता का अभाव रहता है। राज्य एक अलग सार्वभौम संस्थान नहीं है अतः उसका सम्बन्ध अन्य राज्यों के साथ भी है, जो उसकी सामाजिक और बाह्य नीति पर प्रभाव डालते हैं। कौन्सिल के अनुसार सबसे शान्तिपूर्ण नीति-संस्थात्मक राज्य है। इन देशों में कुछ तभी हो सकता है, जब कहता उसके लिए उत्पन्न हो। विश्व अज्ञान की राह के कुछ नहीं किया जा सकता।

कौन्सिल के अनुसार विश्व-शान्ति तीन प्रकार से प्राप्त की जा सकती है—

- (1) किसी सामाजिक पटल से, किन्तु इस प्रकार की भावना दूरजता पात्र है,
- (2) प्रकृति के स्वाभाविक विकास-उद्देश्य के व्यावहारिक विचार-विवरण से, अथवा
- (3) यदि वर्तमान समयों के कारण उपरान्त राष्ट्र एक विश्व-व्यापक निरन्तर-सर्व-समय के धर्म हो जाए।

विश्व-शान्ति (Perpetual or Permanent Peace) की स्थापना के पूरा जोरों की विवेचना करते हुए कौन्सिल का कथन है कि कोई भी शान्ति रीति (Legal) नहीं जानी जानी चाहिए यदि इसमें भावी कुछ होने की सामग्री भी कुछ इन से मुक्ति की जा रही हो। विश्व-शान्ति भी स्वाभाविक के लिए नहीं भी स्वाभाविक

हीनी चाहिए कि किसी स्वतन्त्र राज्य को कोई अन्य राज्य दायमान, विनिमय प्रस्ताव दान के रूप में प्राप्त न कर सके क्योंकि ऐसा होने से अन्य राज्यों की स्वतन्त्रता खतरों में पड़ जायेगी। विस्क-मॉन्टि को स्थाई बनाये की दिशा में यह भी आवश्यक हीना कि विस्तर सेना (Standing Army) को हटा दिया जाए। विस्तर सेना से व्यापक युद्ध की उत्पत्तिना निश्चयी है। राज्यों द्वारा बाह्य सम्बन्धों (External Affairs) के सम्बन्ध में बाह्यी दृष्टिसे से राष्ट्रीय श्रुति सेना भी कॉन्ट के अनुसार विस्तरवादी मॉन्टि के लिए पालक है। यह उत्तरा मुक्त और मॉन्टि की सीढ़ में लगे, इसके लिए आवश्यक है कि कोई भी राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के मामलों में हस्तक्षेप न करे और प्रत्येक राष्ट्र के अधिपत्य एवं शासन में हस्तक्षेपक हस्तक्षेप करनेवा अधिकार दे दिया जाए। मॉन्टि की दिशा में यह भी एक महत्वपूर्ण कदम हीना कि युद्ध-काल में भी नृमयता और विश्वासपात्र का प्रयोग न हो। ये बातें मॉन्टि की स्थापना में बाधा डालती है। वास्तव में मॉन्टि का एक अन्य मूल धृष्ट यह है कि प्रत्येक देश का अधिपत्य संप्रसारणक हो और स्वतन्त्र राज्यों का एक विशाल रूप बने जिसमें सम्पूर्णद्वारा बाधन कार्यान्वित हो।

सम्यक् है कि कॉन्ट ने शासनद्वारा मॉन्टि (Perpetual Peace) के अधिपत्यिक और भावनात्मक आधारों की प्रति मुख्य और मानिक विवेचना प्रस्तुत की है।

कॉन्ट के दर्शन की आलोचना और उसका मूल्यांकन (Criticism of Kantian Philosophy and its Estimation)

आलोचक कॉन्ट के आधारों की राजनयिक तथा सम्मानद्वारा मानते हैं। केवल राजनयिक परिचारों और कर्मियों का जीवन में कोई विशेष महत्त्व नहीं है। कभी समाज का कोई विकास नहीं होता। कॉन्ट इस बारे में कोई निश्चय नहीं कर सका कि आधारालय रूप के व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्रदान की जाए प्रत्येक मानव की उच्च प्रकृतियों के विकास के लिए सुविधाएँ प्रदान की जाएँ।

कॉन्ट के विचारों में व्यक्तिवाद और समरसवाद दोनों का ही दृढ़ है, परन्तु उसके विचार में प्रत्येक विरोधाभास प्रवेश कर गए हैं और प्रत्येक समस्याओं उत्पन्न हो गई हैं। कॉन्ट के दर्शन में स्वतन्त्र-मान पर ऐसी मान्यताएँ प्रकट हुई हैं जो परस्पर विरोधी हैं और जिनमें सम्यक्त्व (न्याय) नहीं हो सकता। कदाचरुत्तरार्थ, 'स्वाधीनता' की परिभाषा करते समय सभी यह व्यक्तिवादी विचारधारा से प्रभावित होता है जो सभी उसे 'उच्चतर व्यक्ति' के वैयक्तिक विचार के लिए आवश्यक परिस्थितियों' कहते जनता है। इसी तरह एक और भी यह जनता की सम्प्रभुता पर विशेष बल देता है और दूसरी ओर भी ऐसे शासन को उचित मानता है जिस पर किसी भी प्रकार का वैधानिक नियन्त्रण न हो। सम्प्रति, दण्ड, राज्य का कार्य-क्षेत्र घाटि, सभी स्थलों पर उसके विचार परस्पर टकराते हैं। काटन ने ठीक लिखा है कि "कॉन्ट इसीलिए अक्षम्य हुआ क्योंकि वह राज्य सम्बन्धी दो मुख्य कारणावली के बीच चलकर फँसता रहा।" राज्य की एक वैयक्तिक मन्त्र कभीसे हुए कॉन्ट का दृष्टिकोण उसके प्रति स्थायी ही रहा। यह राज्य के शासनसे रूप भर पूरी तरह नहीं निक सका।

कान्ट के सामन सम्बन्धी विचारों में कोई नवीयता नहीं है। उसी सामान्य और शुभ इच्छा का वर्णन भी प्रामाण्य है। विशेष रूप से उनका यह कहना कि सामान्य इच्छा एक स्थान पर केन्द्रित हो सकती है, यथार्थ है। कान्ट समुच्चय की कल्पना को स्पष्ट करने में भी सफल रहा। एक ओर तो यह कह कहता है कि सामन जनता की सहमति पर निर्भर है और दूसरी ओर यह भी मानता है कि जो सामन जनता की समुचित के बिना चलता जाता है उसमें जनता की नैतिक स्वतन्त्रता कदरे में गहरी है।

सादर्यकारी के समुच्चय कान्ट का दर्शन एक समुच्चयहीन दर्शनवादी दार्शनिक का दर्शन है जिसमें व्यावहारिक राजनीति का न तो अध्ययन किया और न उसमें कोई मान उठाया। उसके दर्शन में व्यावहारिकता है जो उसे यथार्थ से दूर कर देती है। डेवी (Dewey) के समुच्चय, "नैतिक दर्शन और चिन्तन में केवल कर्तव्य का दर्शन बुद्धि को कुण्ठित करता है।"

सम्यक् दर्शन दार्शनिकों की नीति कान्ट भी राज्य को एक ऐसी सत्ता मानता है जिसमें जन-भावना पूर्ण होती है। याने मतभेद हीनता काटि के दर्शन में राज्य की यही परिभाषा उसे सर्वव्यापकता (Omnipotence) क्या देती है, याने वह एक सत्ता परिभाषा है। यथार्थ, जो सादर्यकारी विचारवादा यूरोप में फैली यह व्यक्तिवादी दर्शन की प्रतिक्रिया थी, लेकिन 'सामुदायिक जीवन' (Corporate Life) का समुच्चय न होने तथा स्वतन्त्रता पर बहुत अधिक जोर दिखाने के कारण कान्ट का दर्शन व्यक्तिवाद की तरह ही भुक्त पड़ा था।

कान्ट की बहुत अधिक सादर्यकारी की गई है, पर उनके सिद्धान्तों में अभी तक भी विरोध है। कान्ट जैसे दार्शनिक विचारक के दर्शन में कुछ दुर्लभताओं का होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि जिस युग का वह प्रतिनिधित्व करता है वह राजनीति के युग में एक सफल काल (Transitional Stage) था। रसेल (Russell) जैसे विचारक कान्ट के कदम को बाधे 'एक दुर्लभ' (A last misfortune) मानें, किन्तु राजनीति का कोई भी सम्भीर विचारों यह स्वीकार नहीं कर सकता कि वह सादर्यवाद का एक सत्ता साक्षात्कार था।

कान्ट के विचार नीतिक नहीं थे, परन्तु उसने जो कुछ भी किया उनके कारण उसका दर्शन में महत्वपूर्ण स्थान है। डॉ. क्लिफ (Kliff) का मत है कि "कान्ट ने एक नए दर्शन-शास्त्र का प्रारम्भ किया। दर्शन के इतिहास में उसकी दार्शनिक रचनाओं में सीमा का कहर रहा। वह उन महान् एवं सम्भीर विचारकों में से था जिन्होंने न केवल अपनी रचनाओं में बल्कि अपने जीवन में भी समुच्चय बुद्धिनीतिक और साम्य नीतियों की प्रवर्धन किया।" उसकी विमूढ़ बुद्धि सीमाता (Critique of Pure Reason) दर्शन-शास्त्र के क्षेत्र में एक महान् देन है।

कान्ट के दार्शनिक और नैतिक विचारों का बहुत व्यापक प्रभाव रहा। समुच्चयवाद और सम्यक्वाद का विचारकाल करके उसने समुच्चयवाद की पुष्टि की। दुर्लभ-जन्य और सत्ता-जन्य में जिस द्वैत की कान्ट ने कल्पना की थी उसका परिष्कार

694 सामाजिक राजनीतिक विचारों का इतिहास

वर होश ने विज्ञानवादी चर्चोत्साह का समर्थन किया। कॉन्ट द्वारा प्रतिपादित विरोधवाद और अन्वेषण के चरित्र (Separation) का सिद्धे (Fictive) की लोक-न्याय पर भी प्रभाव पड़ा। कॉन्टवादी के अन्वेषवाद और मार्क्स के अन्वेष प्रत्यक्ष विज्ञानवाद पर भी कॉन्ट के विचारों का प्रभाव है। कॉन्ट जैसे सिद्धे की कुछ अन्वेषवादी विचारों के लिए कॉन्ट का चरित्र है। कॉन्ट मार्क्स ने कॉन्ट कॉन्ट राजनीतिकवादी नहीं था, क्योंकि उसके अन्वेष राजनीतिक विचारों का यूरोपीय सामाजिक विज्ञान पर बहुत प्रभाव पड़ा।

कॉन्ट की राजनीतिक दृष्टि को चर्च के नहीं पड़ता या समझ। उसके अन्वेषण अन्वेषवादी विचारवादी अन्वेषण नेतिवादी का विरोध किया और कॉन्ट कॉन्ट की अन्वेषा सामाजिक दृष्टि को कॉन्ट अन्वेषवादी बताया। उसके अन्वेष की अन्वेष के अन्वेष कावादा और विचार अन्वेष को मात्र एक अन्वेष अन्वेषवादी को अन्वेषवादी का समर्थन था। कॉन्ट ने सामाजिक दृष्टि विधि एक अन्वेषवादी की समर्थन की। सामाजिक दृष्टि का चर्च अन्वेषा विचारवादी का अन्वेष सामाजिक की समर्थन की। कॉन्ट के सामाजिक विचारों के कारण अन्वेषी के अन्वेषवादी विचारों की समर्थन हुई, सामाजिक की समर्थन नहीं था और सामाजिक दृष्टि की समर्थन की। कॉन्ट (Wright) के एक कथन ने कॉन्ट अन्वेषवादी विचारों नहीं देते कि "कॉन्ट 1781 के बाद एक अन्वेष अन्वेषवादी सामाजिक विचारों न सिद्धे अन्वेष अन्वेषवादी का के समर्थन समर्थवादी का है, अन्वेष-अन्वेषवादी कॉन्ट और अन्वेष अन्वेषवादी के चरित्र नहीं है।"

जीवन-परिचय

जर्मन सादर्यवादियों में राजनीतिक विचारधारा को सबसे अधिक प्रभावित करने वालों में हीगल का नाम प्रथम है। वह राज्य के शासन-विज्ञान का प्रबल समर्थक और वर्तमान दार्शनिक का उत्कृष्ट विद्वान् था। सन् 1770 में बर्लिन जर्मनी में वुर्टेम्बर्ग (Württemberg) में उसका जन्म हुआ और उसकी कुशाग्रबुद्धि काँचीली शक्ति के द्वारा ही और वे बीबी। यौंग की 'शक्ति के प्रति' उसने गहरी महानुभूति की, किन्तु मृत्यु ने वह उसके विरुद्ध हो गया। हीगल रचन में ही बहुत कुशाग्र-बुद्धि था, सदा परिहार के बड़ी आवश्यकता से उसका जीवन-पीपल हुआ। मृत्यु ने वास्तव हीगल में अपने कार्लोविक पीपल और आरी खीबर में भी वह उत्तरोत्तर प्रतिफलित गया। "एक सामान्य शिक्षक, जीवन-वृत्तिविहीन का सम्बन्धक तथा न्यूरनबर्ग का अध्यापकालक विज्ञान तथा सर्वकार पर लिखे, वह अपने तीन ग्रन्थों के प्रकाशन के बाद जर्मनी का महान् दार्शनिक समझा जाने लगा। हीबेलबर्ग में प्रोफेसर के पद पर नियुक्त होने के पश्चात् उसने अपना एक 'एन्साइक्लोपीडिया ऑफ़ दी फिलोसॉफिकल साइन्स' (Encyclopaedia of the Philosophical Sciences) की रचना की। इसके बाद वह बर्लिन विश्वविद्यालय में दर्शन-विभाग का अध्यक्ष बन गया तथा प्रतिभा के दर्शनशास्त्र के सम्बन्धित पर-पर हो उसने काम किया। प्रतिभा में दर्शन की वह ऐसी महान् तथा प्रसिद्ध जगह बन गया जहाँ कि बॉन स्न तथा मोन मोटे- (Motte) सेना की बाली में, वा बिमार्क (Bismarck) राजनीति की बाली था। वहीं उसने 'अधिकार-दर्शन' (Philosophy of Rights) तथा 'इतिहास-दर्शन' (Philosophy of History) की रचना की। दूसरे रूप में उसने राज्य सम्बन्धी विज्ञान पर प्रकाश डाला।"¹

हीगल ने अपने राजनीतिक विद्वानों को एक व्यापक दर्शन-अनुसंधान के रूप के रूप में विकसित किया। उसने एक व्यापकवादी दार्शनिक के रूप में बिल्कुल नवीन रूप में निम्न दार्शनिक का सम्बन्धन किया जिसकी परत परिच्छिन्न होइन-मोल्न

प्रतिष्ठा में मानी जाती है। हीगल केवल दार्शनिकों का ही राजा नहीं बल्कि राज्यश्री का दार्शनिक भी था और इसी कारण उसका प्रधान व्यावहारिक राजनीति पर बहुत अधिक पड़ा। ऐसा विद्वान बिना जाता है कि बिमार्ले (Bismarck) ने हीगल के सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप प्रदान किया। मैक-नबर्न (Mc Gowan) ने लिखा है—“बिमार्ले का चर्चित वा वास्तविक मानव-विश्वों के सम्बन्धन सम्बन्ध के रूप में राष्ट्रीय-राज्य पर बल देता, उसका यह विश्वास कि राज्य केवल व्यक्तियों का एक समूह मात्र नहीं है बल्कि एक सामकरी पूर्णता है, उसका जोरसम्बन्ध के विरुद्ध एक सर्वसम्मतिमान राज्यस्य तथा नीतिरक्षाही का सम्बन्ध इन सबका मूल हीगल के सिद्धान्तों में निहित था।”¹ हीगल राज्यवादी माननाओं से प्रेरित-प्रेरित था। यह अपने समय के सर्वप्रथम एकीकरण मान्यता (Unitarian Movement) में इसका अधिक प्रभावित था कि राज्य की ईश्वरीय सर्वात् ईश्वरी प्रतिक्रिया तक मान बैठा। निःसन्देह हीगल के गुण में वास्तविक राजनीतिक समस्या एक सुदृढ़ एवं सर्वसम्मतिमान राज्य की स्थापना की थी और उसी के प्रतिपादन के लिए अपने अपने राजनीतिक दर्शन का उपयोग किया। इस प्रकार हीगल ने अपने गुण का दार्शनिक प्रतिनिधि का और सर्वप्रथम राज्य की प्रतिष्ठित मूर्त्ता तथा चर्चित की सर्वप्रथम प्रतिष्ठित करने के लिए अपने ऐसे दार्शनिक तर्कों का आधार किया जिसके अनुसार राज्य एक रहस्यमय सम्बन्ध बिचार पर पहुँच जाता है।

हीगल ने अपने समय की राजनीतिक वास्तविकताओं को प्रस्तुत किया, जहाँ न केवल उसके समयकालीन नेता बल्कि उसके बाद के राजनता और दार्शनिक भी उसके आखिरी रहे।² केवल के अनुसार “बिमार्ले की चर्चित-प्रदायिनी रचनाएँ राज्य के सामान्य-विद्वान् पर हीगल की रचनाओं से सम्बन्धित प्रभावित हैं। राज्यस्य तथा यह राज्यवादी ही हीगल से प्रभावित है। उनका धर्मराष्ट्रवाद, उनकी युद्ध-विमर्श, उनकी राज्य-वर्तिका की मान्यता, उनका शक्तिवाद, उनकी राज्यस्य का राजा की सामर्थ्य काय देने की योजना, उनका समूहों तथा समुदायों की महत्त्वदान तथा उनके द्वारा रिटर्नर एवं मुझीविनी की प्रवृत्ति, यदि सभी भावनाओं का अन्य प्रवृत्ति ही हीगल के विचारों से हुआ है। हीगल का प्रधान बिमार्ले तथा सामान्य-राष्ट्रवाद के जोर से मान्यता तथा इस राज्यवाद की कारणों से होना हुआ मार्क्स तथा एन्गल्स की महात्म्य विचारधाराओं को अपने में समाहित करता हुआ लेनिन, स्टालिन तथा कम के कम्युनिज्म के समय पर का चिन्ता है।³ मार्क्स हीगल के दर्शन की “सामर्थ्य तार्किक तथा सर्वोच्च समुदाय मानता है।⁴ यमनी, इसी और आपात के बाद वर्तमान यह हीगल के सामान्य-विद्वान् का सजीव उदाहरण है।”

हीगल ने अपनी विधि की सदा वैज्ञानिक माना और इसीलिए बहुत तक निज दिया कि “जदि कोई विधि वैज्ञानिक विधि नहीं है, तो यह वैज्ञानिक विधि नहीं है।” हीगल का विश्वास था कि उसके विश्व की सभी समस्याओं को सुलझा दिया है।

उसकी मृत्यु के बाद उसका दर्शन महान् विद्वद् युवा और चर्चेकी दर्शन भी जिनसे वह प्रेरित करता था और जिसे वह केवल दुकानदारों के राष्ट्र के मानक समझता था, उसके दर्शन से प्रभावित हुआ। हीगेल, बोरले और बोथरिक मर्देव इन कठिन समस्या में उनसे रहे कि हीगेल के दर्शन को चर्चेकी दर्शन में कैसे विरोधा जाए। वास्तव में हीगेल के दर्शन के महान् प्रभाव को धर्मोद्धार नहीं किया जा सकता पर दुर्भाग्यवश वह बहुत क्लिष्ट है और उसकी भाषा प्रायः वादों के साथ-साथ सम्पुर्ण है। उनके विचार और भाषा दोनों ही स्पष्ट हैं। उसकी पुस्तक 'फिलॉसोफी ऑफ राइट्स' वास्तव में स्पष्ट पुस्तकों की श्रेणी में आती जाती है।

हीगेल दार्शनिक के रूप में इतना विश्रुत हो गया था कि बहुत से साधक तथा नरेश राजनीतिक मामलों में उनके परामर्श लेने आते थे। वह घन तक उनसे हुए दार्शनिकों से सबसे अधिक प्रभावितवादी था। उनसे कभी भी अपने विचार में कभी नहीं की तथा व्यक्तिगत धारणाओं और भावनाओं को दूर रखकर निर्णय प्राप्त थे अपने विचारानुसार राय का निर्धारण करने का प्रयत्न किया। उनके प्रसक्त भाव भी वह विश्वास करते हैं कि वह दार्शनिक विचारों की पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। मानव इतिहास में कभी बार उनके दार्शनिक दार्शनिकता की अनुपम व्याख्या की। हीगेल ने दार्शनिक विषय की तर्क के आधार पर समझने का प्रयत्न किया। उनके विवेक और ज्ञान (Reason and Reality) को बहुत महत्व दिया। उनके दर्शन का महत्व ही ही आती पर निर्भर करता है—प्रथम, इन्द्रात्मक पद्धति (Dialectic Method) और द्वितीय, राज्य का आदर्शोक्त (Idealisation)। इन्हीं दो बातों को बाद के दार्शनिकों ने भी अपनाकर अपने दर्शन का आधार बनाया।

मन् 1831 में इस महान् आदर्शवादी की हेरे की बीमारी से ब्रिजिन में मृत्यु हो गई।

रचनाएँ

हीगेल के दर्शन का ज्ञान उनके निम्नलिखित ग्रन्थद्वारा ज्ञानों से होता है—

1. The Phenomenology of Spirit, 1807.
2. Encyclopaedia of Philosophical Sciences.
3. Logic, 1816.
4. The Philosophy of Rights, 1821.
5. The Philosophy of History, 1837 (यू. के. से. में अनतिर्यक्त भाषा)

हीगेल की राजनीतिक विचारधारा की मुख्यतः उनके ग्रन्थ 'The Phenomenology of Spirit' में है जो कोई राजनीतिक ग्रन्थ न होकर 'दार्शनिक साधन की शोध' अधिक है। हीगेल के विचारों की दुरुहता से आलोचकों की मन्देह है कि क्याविद् वह सत्य भी अपने दर्शन की आन्धी तरह नहीं समझता था। हीगेल के एकही कृतिमें वे अनेक वैज्ञानिक समस्याओं का निरूपण किया और दर्शनशास्त्र को अपने रूप का 'आध्यात्मिक मार्ग' माना। डॉ ई. सी.सी. ने हीगेल की 200वीं जयन्ती पर 'श्रीविद्युत चर्चिका' में लिखा था कि "हीगेल ने महान् दर्शनशास्त्री हीगेल के गहरे आध्यात्मिक रूप में अनेक प्रबल शक्तियों की अनुपम किया।" युनय

"साज भी हीमल की हतिमें के सम्पन्न थे हवे उनके बहुत-सी वैज्ञानिक उपकरणों के प्रयुगीकरण की विधि, बहुत घोर तुर्यवत विरोधरूप तथा व्यापक क्षाम्यवीकरण के उदाहरण उपलब्ध हो सकते हैं। निर्भीक, नवीनतावादी की लीन घोर निष्कर्ष निकालने में उसका साहसपूर्ण एवं साहसानीपूर्ण दृष्टिकोण, हीमल की विपन्न जिवा-वैली में सब उसके (हीमल के) हरेक पक्षक की साज भी पुनः कर लेते हैं।"

हीमल की द्वन्द्वात्मक पद्धति (Hegelian Dialectical Method)

द्वन्द्वात्मक प्रणाली में प्रतिपादित (The Meaning of Dialectical System) — हीमल के अनुसार सब सम्पन्न का विकास कभी भी एक सीधे रैका में नहीं होता। जिस प्रकार एक प्रकट तूफान के झटके छाया हुआ एक सदान बनना शुरू करता है उसी प्रकार सम्पन्न भी अपने-अपने रास्ते में होती हुई साथ बढ़ती है।

हीमल मानता है कि वह जिस एक स्थाई वस्तु (Static) व होकर गतिशील (Dynamic) बना है, सब पक्षों सम्पन्न अपने एक विकासवादी (Evolutionary) दृष्टिकोण से बिना जाना चाहिए। जिस के समस्त पक्षों का विकास प्रतिक्रिया तथा एकतापूर्ण स्थिति की ओर होता है जिसके कारण विरोधी सम्पन्न (Contradictory Forms) की स्थापना होती है। विकासवाद की इस विधा में निम्नकोटि की वस्तुओं में सम्पन्न की वस्तुओं में विकसित होकर पुनर्जात प्राप्त करती है। उस प्रक्रिया में सम्पन्न की निष्पत्ति स्पष्ट होकर सम्पन्न बहुत कर लेती है। जिसमें हीम के बाद कोई भी वस्तु वह नहीं उठती जो पहले थी, वह कुछ उपलब्ध हो जाती है। इस विकासवादी विधा की हीमल ने 'द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया' (Dialectic Process) का नाम दिया है। वस्तुतः हम 'द्वन्द्वात्मक' या 'द्वन्द्ववाद' स्पष्ट की उत्पत्ति दूसरी भाषा के शब्द 'Dialectic' से हुई है जिसका अर्थ साह-विवाद करना होता है। इनमें सब तरह चर्चने के लिए तर्क-वितर्क की प्रक्रिया, स्थापना होती है। दूसरी ओर वे सब विकास-विषयों में सर्वप्रथम हम तर्क-वितर्क प्रणाली (Dialectic) की व्यवस्था का। इस प्रणाली में सावनी स्वीकृति, तर्क और तर्क द्वारा वे सब की कब प्रमाणित हो नहीं करने के लिए सब की गई सोच भी सत्य है। हीमल इस प्रणाली की विचारों पर भी जानू करता है। उसके अनुसार समस्त द्वन्द्वात्मक (Dialectic) प्रणाली इस प्रकार है—"सर्वप्रथम प्रत्येक पक्ष या इन मौलिक रूप (Things) होता है। विकासवाद के अनुसार वह बढ़ती है और इनके विरुद्ध सब सामान्य में इसके मौलिक रूप में विपक्ष विपरीत हो जाता है जिसे विपरीत रूप (Antithesis) कहते हैं। सामान्य के विकासवादी सिद्धान्त के अनुसार वे मौलिक रूप तथा विपरीत रूप सावनी के विपक्ष में और इन दोनों के मेल से सम्पन्न या नया सामान्य (Synthesis) स्थापित होता है। वह सामान्यपूर्ण रूप पुनः दिन में फिर मौलिक रूप बन जाता है और फिर वही विकासवाद होने लगती है।" उदाहरण के लिए, दुग्ध का गायु रूप में वह विकासवादी

अण्डा एक घन (Egg) जैसी या कण्टी है। घन के एक जीव होता है। यह जीव यौनिक रूप (Thesis) है। धीरे-धीरे वर्षाव (Fertilization) के पश्चात् इसके निरुपस्थान गुण (Negative Property) नष्ट हो जाते हैं। यह उलट निरुपस्थान रूप (Anathesis) है, किन्तु इन गुणों के नष्ट हो जाने से घन के जीव की वृद्धि नहीं होती बल्कि एक नए प्रकार के जीव का जन्म होता है जो पहले के जीव की वृद्धि से भिन्न है। यह इनका सामंजस्यपूर्ण रूप (Synthesis) है।

विचार-जगत् में 'Thesis, Antithesis and Synthesis' की द्विती में बाद, प्रतिवाद और संश्लेषण या समन्वय कहा जाता है। कोई भी वस्तु जो कम होती है, 'बाद' है और उसकी विरोधी बात 'प्रतिवाद' होती है। बाद तथा प्रतिवाद दोनों में ही कुछ धीरे धीरे होता है और वा-ओ परस्पर-विरोधी होते हैं। जब उनमें समन्वय होता है तबलें संश्लेषणपरमकर 'संश्लेषण' या 'समन्वय' के रूप में एक नई चीज की उत्पत्ति होती है। विचार-जगत् में मनुष्य की धीरे धीरे प्रतिक्रिया द्वारा इस तरह होती है। मान लीजिए आरम्भ में जीवन स्थानीय करने के कोई नियम नहीं थे। ऐसी स्थिति में मनुष्य में यह अनुभव होता कि जीवन स्थानीय करने के लिए नियम होने चाहिए। इस अनुभूति के साथ धीरे धीरे नियम देने जैसे कार्य की जाती, धारा, धारा, धारा। जीवन-साधन के लिए नियम होना चाहिए-यह 'बाद' (Thesis) हुआ। मनुष्य सामान्यतः के ये नियम धीरे धीरे प्रतीत होने लगे और इनमें परस्पर विरोध दिखाई देने लगा। एक नियम का सामना करने पर स्वतः ही दूसरे नियम के उद्भव पर और दूसरे नियम का बाधन बाधन पर स्वतः ही पहली नियम के उद्भव की स्थिति उत्पन्न हो गई। तब लोगों में यह भावना जाग्रत हुई कि नियम धीरे धीरे हैं, ऐसा उचित मान्य हो, ऐसा करना चाहिए। यह दशा या स्थिति पहली स्थिति की सीक उभरी हुई। जब यह प्रतिवाद (Antithesis) है तबलें नियमहीन (Lawless) बनकर जाती भंगकर जाती है तबलें दूसरी को बनाने करने का प्रयत्न मिलता है। इस संश्लेषण प्रतिवाद की प्राप्तिमान होने लगती है और उनके धिरे प्रतिक्रिया आरम्भ हो जाती है। लोग सोचते हैं कि नियम होने चाहिए, तबलें नियमों का प्रसारण पालन करने की जगह उनकी मान्यता की रक्षा करने चाहिए। यह 'संश्लेषण' या 'समन्वय' (Synthesis) हुआ। यह संश्लेषण प्रतिवाद का उत्तर है और ऐसा लगता है कि इस धिरे बाद पर पहुँच गए लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है। इसमें बाद धीरे प्रतिवाद दोनों का सामन्वय हो गया है और यह उन दोनों का उद्भव मात्र है। इनमें नियमों की प्राप्तिमानता (बाद) और इसके साथ ही विरोध (प्रतिवाद) दोनों निश्चयमान हैं। इस तरह हम सत्य की ओर के चलकर चल कर लगे नहीं पहुँच जाते हैं। वे लगे हैं, बल्कि बाद और प्रतिवाद के लगे होने हुए संश्लेषण पर पहुँचने पर हम एक समन्वय स्तर पर पहुँच जाते हैं। जो स्तर या संश्लेषण है वह धिरे बाद बन जाता है, उसका प्रतिवाद होता है और धिरे दोनों के संश्लेषण को लेकर नया संवाद या संश्लेषण बनता है। इस प्रकार विकास-क्रम चलता रहता है और प्रगति होती रहती है। यह विकास-क्रम दृश्य या बाह्य जगत् और विचार-जगत् दोनों में चलता है।

होमल की इन्द्रात्मक प्रणाली की राइट (Wright) ने स्पष्ट करते हुए निष्कर्ष है कि, "इन्द्रात्मक विमुक्त तत्त्व की सत्यतः नियन्त्रण प्रणाली से प्रारम्भ होता है और इसकी सम्बन्धित विचार के प्रत्यक्ष साक्षर रूप प्रतीति परन्तु पूर्ण व्यापकता तथा साक्षात्कार के साथ निरन्तर प्रति के समान में होती है।"¹

जिबन में इन्द्रवाद की इन प्रसिद्धियों में व्याप्त किया है—“इन्द्रात्मक इन्द्राणी द्वारा हीवन में ऐसी व्यवस्था लागू की जिसके द्वारा मस्तिष्क विज्ञान की प्रक्रिया का अध्ययन का संकल्प है। हीवन में ही बताया जा कि किसी भी वास्तु की वास्तविकता एक वास्तु की उसकी प्रतिकूल वास्तु से तुलना द्वारा ही जान की जा सकती है। अतः भलाई का प्रतिफल इसलिये है क्योंकि दुःख ही का प्रतिफल है, गर्मी का प्रतिफल क्योंकि ठंडी का प्रतिफल है, एवं जीवन का प्रतिफल मरण के कारण है। हीवन प्रथम की बात तथा दूसरे की प्रतिवाद मानता है। यह प्रतिकूलता ही प्रकृति का नियम है। यह यह भी कहता है कि एक बार मस्तिष्क में जब बात तथा प्रतिवाद का संभाव ही जाता है तो उसका भी प्रभाव अनिवार्य रूप से होना है। इन दोनों के संघर्ष के परिणामस्वरूप उसे मस्तिष्क का ज्ञान होता है और फिर वह निज ही प्रकार कोहराती रहती है।”

सङ्ग्रहण काय और स्थान में होता हुआ है। इसी प्रकार, मानव विवेक भी विकसित है। हीमन के दर्शन में समस्त विशेषात्मक तर्क हैं। इसी के द्वारा अन्तिम मनुष्य तक पहुँचा जा सकता है। अन्तिम केवल एक विचार (idea) है। सङ्ग्रहण भी मनुष्य एक विचार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सङ्ग्रहण के विचार में (In common development) विचार (Triads) एक सीधी दिशा में एक के बाद एक (One another in a simple linear series) के रूप में होते हैं। "वे समस्त विचार अपने में बड़े विचारों के अन्तर्गत होते हुए भी अपने में छोटी के घनत्व होते हैं। हीमन में अनुसार, अनेकों विचार, निरंतर श्रृंखला समस्त धारणाओं का एक क्षेत्र बनाते हैं। यह सम्पूर्ण क्षेत्र जिसमें बहुत से साधन-विचार और सम्मेलन होते हैं, स्वयं एक साधन समझा जाता है। इसके प्रतिवाद तथा सम्मेलन समस्त श्रृंखला के क्षेत्र होते हैं जिनके अन्तर्गत छोटे विचार होते हैं। सम्पूर्ण प्रणाली का एक विचार, विचार, प्रकृति तथा धारणा होती है। व्यावहारिक विचार का अपने विस्तृत रूप में व्यवहार करता है। प्रकृति विचार का दूसरा रूप है। यही विचार के विस्तृत रूप का विस्तार है। यह प्रतिवाद है। व्यावहारिक विचार तथा प्रकृति का स्तुत रूप है। यह सम्मेलन है।"

हीरेल द्वारा समान तथा राज्य के विकास का इन्डिआनक प्रणाली द्वारा प्रमाणन (Hegelian Study of the State by Dialectical Method) — एवं इन्डिआनक प्रणाली द्वारा ही हीरेल समान और राज्य के विकास का प्रमाणन होता

1. Wright: *A History of Modern Philosophy*, p. 138.

1. *Jaurea: The Philosophy of Hegel*, p. 113.

रचनात्मक था। यह पूर्णरूप से अनुसार था। उसे एक प्रकार से आत्म-निराशा भी कहा जा सकता है। उसकी दृष्टात्मक पद्धति (Dialectical Method) वास्तु और पुनरुद्धार की प्रतीक है। इस पद्धति के अनुसार समाज की जीवन शक्तियाँ पुनर्जीवित करने को मजबूर होती हैं, विप्लव राष्ट्र की सृजनात्मक शक्तियाँ विप्लव कायम रखती हैं। हीगल के दर्शन के विचारों और जीवन के निर्माण के व्यक्तियों को कोई महत्व नहीं दिया है। उसका निष्कर्ष था कि समाज ने निर्बनक्तिष्ठ तत्त्व अपनी नियति का स्वयं ही निर्माण करते हैं।

मेबाइन के अनुसार, "हीगल ने राष्ट्रीय राज्य की बहुत महत्व दिया है। उसने इतिहास की जो व्याख्या की उसमें मुख्य इकाई, व्यक्ति अपना व्यक्तित्व का कोई अनुदान न होकर राज्य का। हीगल के दर्शन का उद्देश्य दृष्टात्मक पद्धति के माध्यम से विश्व-व्यवस्था के विकास के प्रत्येक राज्य की देन का सुन्यासन प्रस्तुत करना था।"¹

हीगल के राज्य-दर्शन में दो ही तत्त्व सबसे महत्वपूर्ण थे—एक तत्त्व दृष्टात्मक पद्धति का था और दूसरा तत्त्व राष्ट्रीय राज्य का। हीगल के विचारों में ये दोनों विद्वान्ता सम्मिश्रित थे। हीगल दृष्टात्मक विचारों द्वारा राष्ट्रीय राज्य के महत्व का प्रतिपादन करता था लेकिन वस्तु-निवृत्ति यह है कि इन दोनों में कोई तर्कवृत्त मजबूत नहीं था। यदि दृष्टात्मक पद्धति की एक शक्तिकारिणी बौद्धिक उपकरणों को मान लिया जाए तो भी यह तथ्य के नहीं माना कि मजबूत राजनीतिक और सामाजिक अनुशासनों के राष्ट्र को ही ऐसा समुदाय क्यों माना जाय जिनमें इतिहास की परिणति हुई है। दूसरे शब्दों में, सामुहिक राजनीतिक इतिहास में राज्यों के आंतरिकतात्मकता का ही मुख्य प्रेरक शक्ति कौन माना जाए? हीगल के राष्ट्रीयता सम्बन्धी विचारों का मुख्य कारण उसकी दृष्टात्मक पद्धति नहीं थी, बल्कि उसकी जर्मन राष्ट्रीयता की भावना थी।

हीगल ने दृष्टात्मक विद्वान्ता का प्रयोग समाज और सामाजिक व्यवस्थाओं के विकास के भी किया। कुटुम्ब को सामाजिक विकास का प्रारम्भिक रूप मानकर उसके राज्य की सामाजिक विकास का सर्वोच्च रूप बताया। उसने कहा कि जब कुटुम्ब विस्तृत होता है तो यह विकास-क्रम के जाने लगता है। कुटुम्ब के सभी सदस्यों में यह भावना विद्यमान रहती है कि 'हम सब एक हैं'। व्यक्ति का नैतिक विकास कुटुम्ब से ही आरम्भ होता है। एक प्रकार की आरम्भिक नियति 'जगत्' (Theoria) है, लेकिन यही जगत् जाने बलकर 'प्रतिपाद' (Anti-theoria) की रचना कर जाता है। कोई भी अनुस्यू अपने दृष्टिकोण से एक ही रचना पर टिक कर या कुटुम्ब पर ही धारित होकर प्रवृत्ति नहीं कर सकता। केवल अपने ही कुटुम्ब के संघर्षों की भावना, जो पहले सिंह की, बाद में बौद्ध बन जाती है और धीरे-धीरे का मान उत्पन्न कर देती है। इस तरह आत्मन्याय से ऐसे समाज का निर्माण होता है जिसमें प्रत्येक

1. केवल: राजनीतिक दर्शन का इतिहास, भाग 2, पृष्ठ 314.

हीमन के राजनीतिक दर्शन ने मानववाद को एक ऐसे रूप में व्यक्त किया था कि जिसने व्यक्तिवाद तथा मनुष्यों के अधिकारों की सार्वभौमिकता की मजबूत उभेक्षा की है। उसने राज्य की संरचना को एक ऐसा विष्ट धर्म दिया जो 19वीं शताब्दी के मजबूत वर्ग वर्मनी के राजनीतिक-दर्शन की विशेषता बना रहा।”

युनयन, “चूंकि इण्डाल्फक पद्धति का प्रयोजन एक ऐसे तात्त्विक उपकरण की रचना करना था जिसके द्वारा इतिहास की ‘सांख्यिकता’ का ज्ञान हो जाय, अतः इण्डाल्फक पद्धति का प्रविधान हीमन परत ऐतिहासिक सांख्यिकता के अंतिम धर्म पर निर्भर है। इस विषय पर उसका विचार इस विचार के साथ मारम्भ हुआ कि राज्य के इतिहास में एक राष्ट्रीय मनोवृत्ति के विकास का लेखा-जोखा होता है। यह अपने अपने जीवन के परिणाम में ही प्रकट कर लिया था। यह राष्ट्रीय मनोवृत्ति उसकी सांस्कृतिक के समस्त पक्षों में व्यक्त होती है। इतिहास के इस दृष्टिकोण के विरोध में हीमन ने एक दूसरा दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जो मानवुन के दृष्टिकोण के निकट था कि दर्शन धर्म और मनोवार्त्त आत्मद्वारिक प्रयोगों के लिए आवश्यक कर सांख्यिकता की गई थी है। उसका विचार था कि यह प्रश्न केवल इस कारण पैदा हुआ क्योंकि इतिहास को राज्येता की एक साहायक कला माना जाता रहा है।”

“हीमन इतिहास को युनयन: “इतिहासिक दृष्टि विवेक-निर्णय नहीं मानता था। उसके विचार में इतिहास न अविवेक का नहीं, बल्कि विवेकसात्विक विवेक से पूर्ण विवेक के एक नए रूप का विधान होता है। ‘वास्तविक ही विवेकसात्विक है और विवेक-सम्पन्न ही वास्तविक है।’ इतिहास के सम्बन्ध में हीमन की एक विनिष्ट धारणा थी। इतिहास के विकास को वह सांख्यिकता पक्षों का विधान नहीं बल्कि एक सक्रम विकास मानता था। इन दृष्टि से इतिहास की प्रक्रिया को समझने के लिए एक विशिष्ट वर्ग-वर्द्धन की आवश्यकता प्रस्तुत हुई। इण्डाल्फक पद्धति ही सांख्यिकता की वृत्ति के लिए थी। आवश्यक दृष्टि से यह एक सांख्यिक प्रतिन प्रश्न का समाधान करने के लिए सांख्यिक कारण रीति थी। हीमन न विशिष्ट विचार-धर्म को ग्रहण किया था वह बहुत पुराना था। अपने इण्डाल्फक पद्धति तब केही न प्रस्तुत किया था।”

हीमन के अनुसार इण्डाल्फक पद्धति केवल दर्शन के विकास का ही मागु नहीं होती, बल्कि यह ऐसी प्रत्येक विषय-वस्तु पर लागू हो सकती है जिसमें व्यक्तिगत परिवर्तन और विकास की आवश्यकता निर्दिष्ट होती है। यह पद्धति सामाजिक शासनों पर बहुत प्रभावी तरह लागू हो सकती है। “इण्डाल्फक पद्धति की सब सामाजिक परिवर्तन के विधान का गुण माना जाता है, सब एक ही को मानवार्त्त विकल्पों के और के आत्मार्त्त एक-दूसरे की विरोधी हो सकती है। इण्डाल्फक पद्धति के विचार न अनेक धर्म में ही प्रवृत्ति होती है। एक और तो वह स्वाभाविक होता है। और प्रत्येक समय में कुछ ऐसे व्यक्तियों निर्दिष्ट होते हैं जो स्पष्ट हो जाते हैं और स्पष्ट होने पर युनयन को स्पष्ट कर देते हैं। दूसरी और वह सांख्यिक और सांख्यिक

भी होती है। यह एक उच्च चरमता पर जाह का पुनर्जनन होती है—ऐसा पुनर्जनन जिसमें ध्वन्यविरोधी को उदात्त रूप दे दिया जाता है और वे एक नए व्यक्तित्व के रूप में प्रस्तुत होते हैं। चूंकि होयल सम्पूर्ण सामाजिक विकास को 'विचार' का विकास समझता था, इसलिए इन्द्रात्मक पद्धति की यह दिशुओं विशेषता सामाजिक समस्याओं से होने वाले उत्पत्तिशील परिवर्तनों से भी दिखाई देती है। प्रत्येक परिवर्तन ध्वन्यविज्ञान भी है और विधिज्ञान भी। यह मूलकाय की धारणा भी से जाता है और नई चीज को बनाने के लिए उसके सम्पन्न-विरुद्ध भी करता है।..... कोई विचारक इन्द्रात्मक पद्धति के किन पहलु पर और देता है, यह उसकी सम्पूर्ण विचार-पद्धति और विवेकपर उसकी कल्पना पर निर्भर है। होयल और उसके पुस्तकवादी अनुयायियों ने ध्वन्यविज्ञानता पर और दिखाया। होयल का विचार था कि परिवर्तन मूलकाय से हुए है। कार्य मात्रों से शुरू करते हैं, पहलु पर और दिया था। उनका विचार था कि परिवर्तन भविष्य में होने।"

इन्द्रात्मक पद्धति का दूरदर्शन (Estimate of Dialectic Method) —
होयल की इन्द्रात्मक पद्धति की परीक्षा करने पर बहुतों बार यही प्रकट होता है कि यह व्यापक धारणा है। होयल की इस पद्धति की धारणाता विशेषतः दो बातों से प्रकट होती है—

प्रथम, होयल ने विभिन्न पारिभाषिक शब्दों का बड़ा व्यवस्था से प्रयोग किया है। इन शब्दों की परिभाषा करना कठिन है। उदाहरण के लिए दो शब्दों 'विचार' और 'व्यतिरेक' की लिया जा सकता है। होयल का कहना है कि इत्येक उत्पत्तिशील सामाजिक परिवर्तन वैचारिक उत्पत्ति के कारण होता है। समस्त परिवर्तन विचार की प्रेरणा के अनुरूप होते हैं और उनका उद्देश्य ध्वन्यविज्ञान ध्वन्यविरोधी का विचारण करना होता है। यदि इन शब्दों का सही धर्म बताया जाय तो फिर सिद्धान्त ठीक नहीं बैठता। विज्ञान व्यवस्था दर्शन से होने वाले निम्न नए परिवर्तनों का कारण यह नहीं होता कि वे धार्मिक विद्वानों के ध्वन्यविरोधी के कारण ही सम्भव हुए हैं। जब विज्ञान और दर्शन पर यह बात लागू होती है तो ध्यान सामाजिक समस्या के बारे में क्या कहल जा सकता है। होयल ने विचार को धार्मिक रूप देने की जो कोशिश की उसका उसकी नीति के इतिहास-लेखन पर दो प्रश्न से प्रभाव पड़ा—यह तो प्रकटत रूपों की समझने इस से उर्ध्वतमता माना गया था सामान्यता का मुख्यतः जैसे शब्दों का ऐसा व्यवस्था धर्म दिया गया कि उनका कोई उपयोग ही नहीं रहा। ठीक इसी तरह होयल द्वारा प्रयुक्त 'ध्वन्यविरोध' शब्द का भी कोई निश्चित धर्म नहीं है। इस शब्द का बड़ी धारणा रीति से विरोध व्यवस्था प्रयोग किया गया है। कभी-कभी इसका धर्म ऐसी भौतिक कठिनाई है जो विरोधी विचारों समझा पाएंगे की ओर सकारित होनी हैं और जिनके कारण विरोधी परिणाम प्रकट होते हैं। कभी-कभी विरोध का अभिप्राय वैज्ञानिक गुणाऽकुरु होता है। धार्मिक व्यवहार के इन्द्रात्मक पद्धति के सम्बन्ध विभिन्न पारिभाषिक शब्दों का समझने इस से प्रयोग किया गया है। यह किसी भी प्रकार से कोई

राजनीतिक चिन्ता है। जीवन के हाथों में पहुँच कर इन्द्रजित् चिन्ता में कुछ ऐसे विचारों विकास में आता है जो उसके बिना भी पहुँच गया था। इन्द्रजित् चिन्ता में उनका कोई प्रमाण नहीं दिया।¹

द्वितीय, इन्द्रजित् चिन्ता की ऐतिहासिक विकास की आवश्यकताओं को स्पष्ट करने वाला उपकरण माना जाता था, लेकिन 'आत्मवक्ता' नाम उसका ही संशय उत्पन्न रहा जिससे कि इसमें वे उसे सम्प्रेषित कर दिया था। जीवन में इतिहास में जिस आवश्यकता का दर्शन किया था, वह भौतिक आवश्यकता थी और नैतिकता भी। जब उसके बहुत कुछ कि जर्मनी की एक राज्य उत्पन्न आवश्यक है तो उसका साक्ष्य वह था कि उसे ऐसा करना चाहिए। अतः और उसके राष्ट्रीय जीवन के द्वितीय की दृष्टि में वह संवेचित है और कुछ ऐसी सामाजिक स्थितियों भी हैं जो उसे एक विचार में प्रेरित कर रही हैं यथा इन्द्रजित् चिन्ता में नैतिक नियम भी सम्मिलित है और ऐतिहासिक विकास का एक सामाजिक नियम भी। नैतिक नियम, आवश्यकता और सामाजिक नियम का आधार सम्बन्ध है। इन्द्रजित् चिन्ता का एक विशिष्ट भाग यह है कि वह नृति और इच्छा को एक कर देती है। इस पर शिवाजी करते हुए जोशिया रोनेर ने ठीक ही कहा है कि वह आत्म का एक-मात्र भाग विचार एक कार्य का सम्बन्ध है। अतः इन्द्रजित् चिन्ता की सम्बन्ध की प्रेरणा नैतिकता के रूप में सम्बन्ध नैतिक सम्बन्ध था। इसमें सम्बन्ध की भावना नहीं थी। यह एक मुख्य और प्रमुख नैतिक सम्बन्ध के रूप में थी।

सामाजिकी के जीवन की इन्द्रजित् चिन्ता की आवश्यकताओं की सम्पूर्ण गूँथ का परिणाम यह है। इसका कारण यह है कि एक चिन्ता में एक ऐसा नैतिक दृष्टिकोण निहित है जो जिसमें कार्य भी है और नतीजा भी। यह स्पष्ट की केवल एक ही कमी प्रदान करता है और यह है सम्बन्ध।

इन्द्रजित् चिन्ता में सर्वथा की कुछ निमित्त व्यवस्था की गई है। बाद की अतिवाद प्रतिफल द्वितीय और दूसरी को उत्पन्न करते हैं। इसमें अपने और विशेष का सम्बन्ध होता है। बाद के अतिवाद का चरण विचार होने पर ही सम्बन्धित सम्बन्ध के रूप में निरूपित हो सकते हैं। सम्बन्ध और सम्बन्धित निमित्त रूप में होते हैं। वे विचार के विकास के साथ ही उत्पन्न होते हैं, लेकिन यदि सम्बन्ध उत्पन्न सम्बन्ध वहमें से कर तो और उनके लिए प्रयत्न करने में वह सम्बन्ध सम्बन्धी और सम्बन्धित है। यह निमित्त की सम्बन्ध के द्वितीय में एक प्रकार का सम्बन्ध है। इसके सम्बन्ध सम्बन्ध की ऐसे सम्बन्ध सम्बन्धों के एक सम्बन्ध के रूप में निमित्त सम्बन्ध और सम्बन्ध सम्बन्धित किया जाये, ऐसी विरोधी स्थितियों को उत्पन्न कर एक सम्बन्ध के रूप में उत्पन्न किया गया है जो सम्बन्ध ही एक सम्बन्धित परिणाम में पहुँच जाती है। इन्द्रजित् चिन्ता के आधार पर सम्बन्धित बहुत स्थिति हो जाता

है क्योंकि कोई भी प्रभावना न हो पूर्ण रूप से नहीं होती है और न कदापि । उसका सर्व विनाश प्राप्त न होता है उसने यह करने ही अधिक प्रयत्न किया होता है ।

डॉ. मैकगुगन (Dr. MacGugan) के अनुसार, "पश्चिमी इस्लाम की प्रक्रिया विज्ञान रूप से ठीक है, परन्तु विभिन्न प्रक्रियाओं के स्वरूपों में इस विज्ञान को लागू करने में बहुत अनुभव की आवश्यकता होती है । इस विज्ञान के विमान्यत्व में तीन कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं—(1) बाद, प्रतिवाद और सम्मेलन एक दूसरे के सम्मुख के सिवाय किसी अन्य प्रकार से नहीं पहुँचाने जा सकते, (2) धर्म, इतिहास, कानून तथा दर्शन में इस्लाम की प्रक्रिया के बहुत अंतरांतरण का भी प्रभाव पड़ता है, और (3) प्रकृतिक तथा सामाजिक विज्ञान के विषय में इस्लाम की प्रक्रिया को लागू करने में बड़े सम्मुखित्व और अति विरोध के साथ उपस्थित पड़ना । इन तीन कठिनाइयों के कारण इस्लाम प्रक्रिया व्यवहार में अधिक कठिन सिद्ध नहीं होती ।"

हीनस की इस्लामिक पद्धति पर आलोचनात्मक टिप्पणी करते हुए केमरन ने लिखा है—

"हीनस की इस्लामिक पद्धति में ऐतिहासिक दृष्टि और समाजवाद, नैतिक धर्म, सामाजिक आदर्श और धार्मिक रहस्यवाद का कुछ था । मूल्य की दृष्टि से वह विवेक-सम्बल था और आर्थिक पद्धति का विस्तार था, लेकिन इन मूल्य की दृष्टि से स्पष्ट नहीं किया जा सकता था । व्यवहार में होने वाले आर्थिक और सामाजिक, सामाजिक और आर्थिक, आर्थिक और सामाजिक आदर्शों का सम्मुखित्व करने में प्रयत्न किया । हीनस के ऐतिहासिक विवेक और नैतिक मूल्यों का धर्म, कानून और पाप की परिस्थितियों से उत्पन्न हो प्रभावित थे जिनसे अन्य किसी आर्थिक के होते । इस्लामिक पद्धति हीनस के विवेकों को कोई अनुपपन्न आधार नहीं दे सकती थी । इनसे विभिन्न तत्वों और प्रयोगों का एक सामाजिक आर्थिक पद्धति का रूप देना सम्भव नहीं था । इस्लामिक पद्धति की उपस्थिति यह थी कि इनसे ऐतिहासिक विवेकों को एक आर्थिक रूप प्रदान किया । यदि वे निर्लक्ष्य नहीं होते, तो उन्हें व्यावहारिक तत्व पर आधारित किया जा सकता है । इस्लामिक पद्धति में नैतिक विवेकों को भी आर्थिक आधार पर प्रतिष्ठित किया । नैतिक विवेक नैतिक दृष्टि पर निर्भर होते हैं जो दूसरे के लिए खुली होती है । इन दोनों को समुचित करने की कोशिश में इस्लामिक पद्धति किसी के धर्म को स्पष्ट न कर सभी बलिष्ठ इन दोनों के धर्म को उत्पन्न दिया ।"

समस्या, दुर्बलता और दोषों से कींचित होते हुए भी हीनस की इस्लामिक पद्धति का अभी प्रभाव और उन्मेष महत्व है । यह पद्धति समुदायों का स्वरूप स्पष्ट करने में बहुत सहायक है । मुझ की अन्तर्गत अनुभूति दुःख से, प्रकाश की अनुभूति प्रभावित से और समुदाय की आवश्यकता करीबी भावने से ही हो सकती है । किसी बहरी को जान बिना इन तत्वों का ठीक-ठीक नहीं पहुँचाने सकते । जीवन रूपों का स्वरूप है और इन सभी तथा विरोधों में सम्मुख का विनाश महत्व है, यह

नित्यता की आवश्यकता नहीं। हीगल का इन्द्रजाल इसी लक्ष्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है। हीगल का यह विचार भी विशेष धेरारुणायक है कि व्यक्ति व्यक्ति और व्यक्ति होते हुए भी विकासमान है, ऊर्ध्वमुखी है। हीगल की इन्द्रजालक पद्धति मानव-वन की कार्य-प्रणाली को विवृत करती है। मानव-वन विरोधी कार्य से कामे बढ़ने को लालायित रहता है।¹

हीगल की इन्द्रजालक पद्धति के महत्व और प्रभाव की वसुधे 200वीं वर्षशोध के दशमस्र पर डॉ. ई. कोलोव ने 'ओरियन्ट यूनि' में इन शब्दों में व्यक्त किया है—

“इन्द्रजालक विधि हीगल के दर्शनशास्त्र की समुल्लेख उपलब्धि है। हीगल ने इन्द्रजालक चिन्तन के जिन निरूपों को विवृतित किया और उन्हें सुस्पष्टीकृत रूप से प्रतिपादित किया उनके वैज्ञानिक ज्ञान के सारे धारणीय विकास पर और इसी के साध्यन से सारे व्यवहार पर, विशेषकर सामाजिक पुनर्निर्माण सम्बन्धी कार्यों पर अत्यधिकारी प्रभाव रहा। कुछ हीगल ने भी नहीं सोचा था कि उसकी सोचों का ज्ञान व्यापक व्यावहारिक उपयोग हो सकता है। हीगल के इन्द्रजालक विचारों की अद्वितीयतावादी व्याख्या के साथ-साथ उनका व्यावहारिक लक्ष्य भी बरतत चुलता हा रहा था जिसका मार्क्सवाद-लेनिनवाद की क्रियाओं में विस्तारपूर्वक उपयोग किया गया है।”

“यह सच है कि ऐसी व्याख्या हीगल की तरह व्यवधारणा सम्य में नहीं, बल्कि वास्तविक सम्य में उन निरूपों की ओर विकासने के समान थी। लेनिन के कथनानुसार, “हीगल ने सभी व्यवधारणाओं और सदाओं के सम्यविवर्तन और उसकी सम्यविवर्तनता में, सम्यविवर्तन की समानता में, एक व्यवधारणा से दूसरी व्यवधारणा में परिवर्तन तथा व्यवधारणा के चिन्तन, परिवर्तन और उसकी बलि मे-कातुर्धर्म, वृद्धि के ऐसे ही सम्बन्धों का अत्यन्त प्रभावशाली रूप से सम्यवन किया था। इन्द्रजाल की वैज्ञानिक ज्ञान वास्तविकी व्यवहार का वास्तविक आधार और साधन बनने के लिए सही आधार पर सदा करता और भौतिक पुष्टकृति पर विकसित करना बनती था।”

हीगल का व्यक्तिवाद तथा राज्य का सिद्धान्त

(*Individualism, Individualism and the Theory of the State*).

हीगल ने अपने राजनीतिक विद्वानों को एक व्यापक प्रदर्शन-प्रणाली के रूप के रूप में विकसित किया है। उसके राजनीतिक विचार मुख्यतः उसकी रचना ‘*Philosophy of Rights*’ में उपलब्ध है जो वर्ष 1821 में प्रकाशित हुई थी। राज्यतन्त्र के विचारों के लिए उसका एक इतिहास-ग्रन्थ (*The Philosophy of History*) भी महत्वपूर्ण है। ‘निर्वाणशीली धर्म राष्ट्र’ ग्रन्थ का अन्तर्गत महत्व ‘राजनीतिक वास्तविकताओं’ के निर्देश पर विवृत है। इसमें मूल महत्व के दो

विपरीत—व्यक्ति एवं सामाजिक तथा धार्मिक परिवर्तनों के सम्बन्ध, तथा इन परिवर्तनों एवं राज्य के सम्बन्ध पर विचार किया गया। हीनल राज्य को सब परिवर्तनों के अनुकूल मानता है। उसके राज्यदर्शन का सीमित अर्थ में प्रयोजन यह है कि वह सामाजिक इतिहास के अध्ययन से राजनीतिक सिद्धान्त की परीक्षा करता पाछता है। व्यापक अर्थ में वह व्यक्तिवाद का सामूहिक विशेषण करता है और राज्य के सिद्धान्त के रूप में इसकी वैधता की परीक्षा करता है। सामाजिक दर्शन में जो भी मनोवैज्ञानिक और नैतिक समझाएँ जाती हैं, हीनल के दर्शन में इन सबको शामिल करने का प्रयास किया गया है।

राज्य का विकास (Evolution of State)

हीनल के अनुसार सब वस्तुएँ, आसमान की जगह के भाग में अवतार आकरा द्वारा आरम्भ किए गए अनेक रूप हैं। वे भौतिक संसार से व्यवस्था और वस्तुओं के भौतिक संसार में प्रगति करती हुई आती हैं और वह प्रगति उस समय तक निरन्तर चलती है जब तक सामान्य मानक-जीवन की वस्तुओं केतना की स्थिति में नहीं पहुँचती है। मानव-जीवन में सामान्य की प्राथमिक और प्राथमिक स्थितियों का प्रथम उत्कर्ष प्राप्त होता है, बाह्य जगत् में विकास के अनेक स्तरों को पार करते हुए सामान्य सामाजिक संसार (Social Maturity) की अवस्था में प्रकट होती है। इन अवस्थाओं में मुख्य सर्वप्रथम है जिसका आधार पारस्परिक प्रेम तथा वृद्धों के लिए अल्प-व्यय की भावना है। मुख्य अर्थवाद (Theism) की बुद्धि के साथ समाज का प्रादुर्भाव होता है जो मुख्य का प्रतिवाद (Atheism) है। मुख्य में तो पारस्परिक प्रेम, समानुभूति और दुष्ट का काम करते हैं, किन्तु समाज में प्रतिरोध और अर्थवाद दिखाई देते हैं। अनेक व्यक्ति अपने हित की बात सोचता है और इस तरह अपने अपने लक्ष्य लेते हैं। सामाजिक अर्थ में व्यक्तियों को सामान्य-निरंतर रहना पड़ता है जिससे व्यक्ति उत्पन्न करता है। लेकिन वह निरन्तर और असीमित अर्थ में अर्थवाद के विकास के भाग में बाधक बन जाता है। ऐसी अवस्था में वह आवश्यक प्रतीत होता है कि अर्थवाद की अवस्था स्थापित हो और पारस्परिक प्रेम एवं समानुभूति का जीवन-संसार में स्थान हो। इस आवश्यकता की अनुभूति के साथ राज्य का प्रादुर्भाव होता है जो मुख्य और समाज का 'संयोजक' (Syntesis) है। राज्य मुख्य और समाज दोनों के दुष्टों का 'समाधान' है। राज्य के रूप में सामान्य का बाह्य विकास प्रथम सीमा पर पहुँच जाता है। इसीलिए हीनल ने राज्य की अनेक विशेषताओं के प्रस्तुत किया है,— राज्य विचारणा अर्थवाद ईश्वर का प्राथमिक रूप है, वह पूर्ण पर विद्यमान ईश्वरीय विचार है, संसार के अर्थवाद में अर्थ ईश्वरीय ईश्वर है, वह पूर्ण नीतिकता की अधिकारिता है, आदि। परिवार की बुद्धि समाज द्वारा करने और दोनों को राज्य में सम्मिलित कर देने के कारण की केनर (Wayfarer) ने निम्नलिखित चर्चा में व्यक्त किया है—

“परिवार की विशेषता पारस्परिक प्रेम है, किन्तु पूर्णतया समाज अनुभव

समाज की विशेषता सामंतीयमिक प्रतिबद्धता है। परिवार की तुलना न पूँजीवादी समाज पाते किताब भी मिलि एन अनाकरीक नवी न विताई है, फिर भी उन्ने एवं परिवार दोनो मे कृष्ण-कृष्ण बार अन्तर है। पूँजीवादी समाज मे व्यापार एव उद्योग की सम्पूर्ण प्रविद्या मानवीय साधनकलाओं की सातुर्गि के लिए एक नवीन गणन बन जाती है, यहा उस समाज मे व्यक्ति परिवार के लिए ही उत्पन्न करता है। इस प्रकार वह मानवी साधनकलाओं की सृष्टि के साथ ही मानव-सेवा भी करता है जिससे पूँजीवादी समाज बुद्धि-वर्धन हो जाता है और उसका सामंतीयमिक महुरण हो जाता है। इसके अलावा पूँजीवादी समाज कानुनों का निर्माण करता है, यद्यपि वह मानवक नही कि वे मानवगत हो हों। वह पुनिन का लक्षण करता है और उसका रूप धर्मिकतामिक राज्य देस हो जाता है। अन्त-अन्त इसका विकास होना जाता है किंतु और विमो की स्थापना होती है जो अपने घरों को निजी स्वामी के परिवारक द्वारा उस सम्पूर्ण समुदाय के बारे में बीचना लिखते हैं जिसके के बलक होते हैं और जो प्रविण्डीयमक साधनिक भावना को नही बलिक राज्य की गणनीय भावना की धर्मिकता करती हैं। येन के पाले मे आबद्ध और सब प्रकार के धेरी मे मुक्त इस परिवार कमी बार (Ties) के सम्मुख पूँजीवादी समाज का प्रतिपाद (Anti-ties) उपस्थित हो जाता है जो अलग-अलग व्यक्ति की कोन-मान होता है। वे व्यक्ति प्रतिस्पर्धा के कारण दुर्बल होते हैं और अपने कोई एकता नही होती, यद्यपि इस प्रतिपाद मे सभी तक अग्रगण्य एक महत्तर एकता के लिए अर्थ होता है वह सर्व्व या संश्लेषण (Synthesis) जो बार और प्रतिपाद दोनो के समन्वित लक्ष्य की सुनिश्चित करता है, जो न तो परिवार को लुप्त करता है और न पूँजीवादी समाज को, बलिक जो उन्हें एकता और सामन्तवाय प्रदान करता है, वह राज्य है। वह अन्त-अन्त है कि साधनकलाओं की सतुर्गि के लिए परिवार के अंदर किंतु विकास समाज मे सम्मिलित होते हैं उस समाज या प्रकार की ही हीनता मे पूँजीवादी या बुद्धिवा समाज (Bourgeois Society) बहा है।

राज्य के उद्भव विषयके हीनता के इन विचारों मे स्पष्ट है कि राज्य एक अन्त प्रकार का नीतिक शरीर है जो समाज और परिवार की गणन कर हनें ऐसे अन्त बार पर उठा देता है जिसमे अन्त-अन्त इसमें समुद्र के हिन की अन्त हिन मानकर व्यवहार करती है। हीनता की विकासवादी प्रविद्या मे राज्य के नी तथा राज्य के अन्त और धर्मिक पूर्ण अन्त कोई अन्त नही है। वह राज्य की बुद्धि के इत्यात्मक विकास (Dialectical Evolution of Mind) की चरम सीमा समझता है और इसी प्रकार हिन अन्त कि नीतिक अन्त नीतिक रूप मे (On the Physical or Organic side) अनुप है। यही प्रकार विकास समाप्त हो जाता है। राज्य वैयिक (Dias) है।

हीनता के अनुसंधार राज्य अन्त के उन्त-अन्त विकास का प्रतीक है, ईश्वर की महत्तवा का धर्मिक प्रदान है, यह इसके पाले कोई विकास नही है। हीनता मे राज्य की 'पूँजी पर चरमाहता का अन्त-अन्त' कहा है।¹ अन्त कि अन्त मे विकास। *1. Hegel: Philosophy of Right, p. 247.*

है, "हीनल की दृष्टि में राज्य ईश्वरीय है जो कोई मनुषी नहीं कर सकता, जो सर्वथा अतिशयोक्तिपूर्ण प्रभाव है तथा नागरिकों के अपने हित में प्रत्येक बलिदान का अधिकारी है। अपने अधिकार के कारण और जिस त्याग एवं बलिदान के लिए राज्य अपने नागरिकों को आदेश देता है उसके समझने में वह न केवल व्यक्ति का उत्पन्न करता है बल्कि उसे अधिकार भी प्रदान करता है।" ¹ "हीनल के मते में, "हीनल का राज्य-विचारण राज्य का एक महत्वपूर्ण अंग है, एकलव्य और एक अधिकृत कला मानता है जिसमें व्यक्ति, उनके अधिकार, उनके दायें तथा अधिकार, उनके हर्ष और दुःख—ये सब केवल हीनल द्वारा हैं।" ² केवल की व्याख्या के अनुसार हीनल के राज्य की कई विशेषताएँ हैं जिनमें एक यह है कि "राज्य दबी है। यह आत्म-विकास के अन्तर्गत निरंतर की अवधि है। यह पूर्णतः पर विद्यमान है। यह आत्म-विकास है।" ³ अपने इसी विचारों के कारण हीनल ने सभी के सामाजिक समझौते को कोई महत्व नहीं दिया।

राज्य और व्यक्ति के हितों में कोई विरोध नहीं

(No opposition between the interests of individual and those of the State)

हीनल की स्पष्ट मान्यता है कि आत्मा जिन वस्तुओं के रूप में उत्पन्न होती है, उनमें राज्य सर्वोच्च है और राज्य तथा व्यक्ति के हितों में परस्पर कोई विरोध नहीं है। "इतिहास की दृष्टि में राज्य ही व्यक्ति है और जीवन-चरित्र में व्यक्ति का ही स्थान है, इतिहास में नहीं स्थान राज्य का है।" राज्य अधिकार एवं समाज की सुरक्षा तथा पूर्णता के लिए अधिकृत है। राज्य द्वारा स्थापनता का प्रदर्शितकरण है, हमारी विवेकशीलता का पूर्ण रूप है और हमारे पूर्ण ज्ञान की साकार प्रतिभा है, यह सम्भव है राज्य तथा व्यक्ति में कोई विरोध नहीं हो सकता, दोनों के हित एक हैं। राज्य हमारी सम्पत्ति, निष्पक्ष एवं निःस्वार्थ सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है। व्यक्ति की पूर्ण आत्म-सुख राज्य के पक्ष के रूप में ही सम्भव है।

चूंकि राज्य और व्यक्ति के हितों में किसी आत्मपरिक विरोध की कल्पना नहीं की जा सकती, यह व्यक्ति की सम्पत्ति सम्पन्नता राज्य की धारा का समान करने में ही निहित है। "राज्य ही सम्पन्नता का अधिकारी है।" राज्य के प्रधान में व्यक्ति सम्पन्न है। जैसा कि केवल ने लिखा है "यह राज्य ही है, जो स्वयं सम्पन्न है, जो अपने धर्मों की अनेकों पूर्ण रूप में महान् है तथा जो नैतिकता का नियन्त्रण है, हीनल के महानुसार सम्पन्नता की प्रतिबोधित करने का नहीं बल्कि उनकी वृद्धि का कारण है। इसका अर्थ है कि केवल राज्य में ही महान् सम्पन्नता प्राप्त कर सकता है। सम्पन्नता वर्तमान राज्य की महत्वपूर्ण विशेषता है। हीनल न्यायिनी की घोषणा करता है क्योंकि वे व्यक्ति के अधिकार को महत्व नहीं

1. Mahabharata : Metaphysical Theory of the State, p. 23.

2. केवल की, पृ. 165

देते। भारत की स्वीकृति उनकी स्वतन्त्रता का प्रमाण है। हीनर कहता है कि भारत स्वतन्त्र होनी है क्योंकि इसका केन्द्र-विन्दु स्वतन्त्रता ही है। भारत का विकास स्वतन्त्रता का विकास है और इस प्रकार मानव-इतिहास स्वतन्त्रता का इतिहास है। मत. पूर्ण राज्य वास्तव में स्वतन्त्र राज्य ही है तथा जो वास्तविक पूर्ण राज्य के पूर्ण कानूनों के शासन के दबाव में है, वे स्वतन्त्रता का उपयोग करते हैं।¹⁷

अर्थात् और राज्य के द्विती में किसी भी विरोध का जो विरोध हीनर ने किया है, उसे स्पष्ट करते हुए प्रो. स्टेक (Stack) का जवाब है—

“इस प्रकार राज्य स्वयं एक व्यक्तिगत है जिसके, सर्वोच्चतम और अर्थात् गुरुओं के स्थान पर सामान्य गुरुओं का समन्वय कर उसका निर्माण किया गया है। व्यक्तिगत रूप से सर्वोच्चतम है। राज्य यथार्थ रूप में सर्वोच्चतम (The state is actually sovereign) है और इस प्रकार राज्य व्यक्तिगत का ही यथार्थ एक वास्तविक रूप है। यह कोई बाह्य व्यक्ति नहीं है जो बाह्य से व्यक्ति पर चीनी गई हो और उसके व्यक्तिगत को कुचलती हो। इसके विपरीत उसके व्यक्तिगत की अनुमति केवल राज्य में रहकर ही हो पाती है।”¹⁸ राज्य द्वारा व्यक्ति अर्थात् रूप से कभी ही भारत की अनुमति प्राप्त करता है। वास्तविक वास्तव के माध्यम के रूप में व्यक्ति के द्वितीय सामाजिक द्वितीय के विपरीत हो जाते हैं किन्तु जब व्यक्ति अपनी निम्न-प्रत्यक्षता का जीवन कर उसके-मानव को मान्य करता है तो उसके और राज्य के द्विती में कोई विरोध नहीं रह जाता।¹⁹

राज्य व्यक्ति से उच्च एवं सर्वोच्च नैतिक समुदाय है
(The State is higher than the individual and is
superior ethically institution)

अर्थात् और राज्य के द्विती में किसी विरोध का अनुमति न करते हुए हीनर राज्य को सर्वोच्च नैतिक और व्यक्ति से उच्चतर मानता है। समस्त नैतिकता, कानून आदि राज्य के अन्तर्गत हैं। उस पर किसी कानून अथवा नैतिकता का नियंत्रण नहीं हो सकता। नैतिकता की सर्वोच्चतम अभिव्यक्ति राज्य में ही होती है और राज्य ही नैतिक मानदण्ड का संचालक है। यह स्वतन्त्र है, प्रतिस्पर्धा से पूर्णतया मुक्त है और स्वयं अपना नियंत्रण है। यह अपने नागरिकों की सामाजिक नैतिकता की पद्धति में समेटे हुए है तथा उनका प्रतिनिधित्व करता है। यह दूसरी ओर नैतिकता के मानदण्ड निर्धार करता है, स्वयं उसके कार्य उस मानदण्डों से नहीं जाने जा सकते। उसकी नैतिकता का स्वयं अपना मानदण्ड है, अर्थात् यह अपने ही संस्थापक के मानदण्ड का पालन करता है। श्रेष्ठ या विकृत—इन नैतिक शब्दों का प्रयोग सामान्यतः धर्म में राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में नहीं किया जा सकता। राज्य को नैतिक शब्दों से पूरी मुक्ति मानने में हीनर नैतिकवादी से भी घाटे में रहता है

घौर उतने बलिष्ठ तथा नैतिकता की बलिष्ठ बना दिया है।¹ राज्य की नैतिकता का चाड कोई नहीं चडा सकता। राज्य किसी नैतिक नियम या कानून के बाबिल नहीं हो सकता वरन् राज्य ही नागरिकों के लिए सभी प्रकार के नैतिक नियमों, सामाजिक रीति-रिवाजों, प्रथाओं और परम्पराओं का निर्धारण करता है और समझ-समझ कर उनका स्विकारण करता है।²

हीगल के अनुसार "राज्य धार्मिकतात्मक अर्थात् धौर भौतिक अर्थात् दोनों ही का केन्द्र है" अर्थात् राज्य के द्वारा व्यक्ति अपने भौतिक और मनोविक दोनों ही उद्देश्यों की प्राप्ति करता है। राज्य की कलवता प्राप्त कर बहु धरनी गुणता की प्राप्ति करता है। मनुष्य के अन्दर से उतका धार्मिकतात्मक स्वकल विद्यमान है। इस धार्मिकतात्मक स्वकल का विकास ही उतका उद्देश्य है। उतकी उपलब्धि या आत्मोपलब्धि के लिए मनुष्य की बाह्य कर्तव्य करने पड़ते हैं। उतकी इस उपलब्धि में उतकी अपूर्णताएँ और उतका अज्ञान बाधक बनते हैं। धार्मिकता विकास यदि 'थेसिस' (Thesis) है तो व्यक्ति की बाह्य कीर्तव्य उतके विकास में 'प्रतिथेसिस' (Antithesis) है। राज्य 'संवाद' या 'संश्लेषण' (Synthesis) है क्योंकि बहु व्यक्ति की बाधकता केतना, अज्ञानता और अपूर्णता को निवन्धित कर सही कल में उतके स्वकल कर देता है। राज्य स्वकलता का प्रतीक है क्योंकि व्यक्ति के लिए आत्मोपलब्धि करने बड़ी स्वकलता है। राज्य व्यक्ति की अपूर्णताओं और स्वेच्छाप्रवृत्तियों का समन कर उतके निवन्धित कर देता है। इस तरह बहु व्यक्ति के लिए ऐसी परिस्थितियों का निर्धारण करता है जिनसे उतका धार्मिकतात्मक विकास सम्भव हो जाता है। इस तरह राज्य व्यक्ति में सेक्टर और अन्तर है।

हीगल की मान्यता है कि राज्य स्वयं में एक राज्य है, उतने किसी राज्य के लिए बाधन मानना एक अपमानपूर्ण गणनी है। "बहु व्यक्ति में अन्तर है क्योंकि बहु व्यक्ति के विमुख और सर्वोपेय कल का कारण कल है जिनसे व्यक्ति के अन्तर गुण विकास लिए कर है।" व्यक्ति पर राज्य का सर्वोपेय अधिकार है और व्यक्ति का सर्वोपेय कर्तव्य राज्य का पटक बनना है।

हीगल की दृष्टि में एक नैतिक समाज होने के नाते राज्य अधिकारों का सम्पदाता भी है। व्यक्ति राज्य के लिए जीता है, अतः बहु राज्य के विपक्ष कोई अधिकार नहीं जीव सकता। राज्य एक स्वाधी कला है जो अपने नैतिक गुणों के कारण व्यक्तियों के राज्य की सन्धी निरुत्थिक है। व्यक्ति को राज्य की अज्ञातों का सम्पदन करने का अधिकार नहीं है। राज्य के विपक्ष व्यक्ति के किसी प्रकार के अधिकारों की कलना भी नहीं की जा सकती। राज्य पूर्ण निरुत्थित सामाजिक आचार (Social Ethics) का वृत्तिस्व कल (Embodiment) है, बहु स्वयं-साध्य है, उतके अपने अधिकार है, कोई कर्तव्य नहीं। यदि व्यक्तियों के अन्त उतके

1. Spahr : Readings in Recent Political Philosophy, p. 185.

2. Eberstein : Great Political Thinkers, p. 525.

व्यक्तिगतों के समर्थ होता हो। जो यह व्यक्तिगतों के अधिकारों का प्रतिपक्ष कर सकता है, पर ऐसा समर्थ हो ही नहीं सकता क्योंकि व्यक्ति के अधिकार नहीं हो सकते हैं जो राज्य उसे प्रदान करता है।

हीगल के अनुसार सामाजिक नियमों के रूप में बहुत होती है अपने राज्य का प्रभाव सर्वोच्च है। इस सामाजिक नियम का दुरुपयोग दुरुपयोग ही है जो स्वतंत्र है पर राज्य प्रतिपक्ष प्रदान करता है। उसकी दुरुपयोग सामाजिक दुरुपयोग ही है जो निरर्थक है और यह सभी सामाजिक नहीं हो सकती। उसकी दुरुपयोग अनेक व्यक्ति की दुरुपयोग का प्रतिनिधित्व करती है। यहाँ तक व्यक्ति की दुरुपयोग दूसरी की दुरुपयोग के समुच्चय है यह सबके द्वितीय की दुरुपयोग करती है। इसी कारण उसकी दुरुपयोग का अर्थ उसके समर्थों (समर्थों) का सामाजिक अर्थ व्यक्ति का अर्थ है। समर्थ विरोध सभी व्यक्ति नहीं हो सकता। यह दूसरी बात अर्थ का अर्थ है। यह सामाजिक और व्यक्तिगत दुरुपयोग का अर्थ है और स्वतंत्र के ही एक नियम है। हीगल नागरिकों की विरोध का अधिकार प्रदान नहीं करता, प्रत्युत यह की विरोध का अधिकार नहीं प्रदान करता है। हीगल दावा इस प्रकार व्यक्तिगत अधिकारों और व्यक्ति के विरोध की दुरुपयोग की विरोध सभी दुरुपयोग इस नियम के जो, हेगल का कहना है कि—

“जर्मनी की राजनीति में ऐसी चीजें बहुत कम थी जो जर्मनी की व्यक्तिगत अधिकारों के विचारों के प्रति साक्ष्य करती। एक विद्वान के रूप में राष्ट्रीय अधिकारों का और जर्मनी की दुरुपयोग का अर्थ, लेकिन उसके विपक्ष यह व्यक्तिगत की ही समुच्चय थी, सामाजिक दुरुपयोग जैसे कि यह 1848 में जर्मन साम्राज्य का अर्थ था। और और इसके बाद हीगल का विचार सामाजिक नहीं के इस तथे के कारण पर हुआ था कि बहुमत के विरोध के तथे की व्यक्तिगत दुरुपयोग प्रभाव होती चाहिए। इनके विरोध जर्मनी एक ऐसा देश था जिसने व्यक्तिगत अधिकारों राजनीतिक विचारों के कारण-कारण पर प्रभाव में। और और इसके बाद हीगल व्यक्तिगत अधिकारों के कारण पर राज्य के विरोध के राष्ट्रीय अधिकारों का समर्थन प्रदान करता था, लेकिन जर्मनी में कोई व्यक्ति नहीं हुई थी। जर्मनी को एक बात की सभी सामाजिक समुच्चय नहीं हुई थी कि वे राज्य के विरोध के विरोध विरोध और व्यक्तिगत सामाजिक की सामाजिक पर जोर देते। इस के राज्य के विरोध विरोध व्यक्तिगत नहीं राज्य के वे हीगल, हीगल के विरोध के ‘राज्य’ अर्थ की प्रतिपक्ष विरोध। जर्मनी को यह बात की सभी सामाजिक नहीं हुई थी, लेकिन जर्मनी की दुरुपयोग के यह सामाजिक और व्यक्तिगत राजनीतिक विचारों को प्रभाव करने वाली थी।”

रॉस की राजनीति के अर्थ में हीगल के विचारों के जो ‘जोड़’ (Joist) के प्रतिपक्ष विरोध विरोध है—

1. राज्य कभी प्रतिनिधित्वपूर्ण रूप से कार्य नहीं करता। यहाँ वह निमित्त किसी व्यक्ति की निरपेक्षा करती है। और व्यापक रूप से कहा जाता है कि कारण यह है कि वह व्यक्ति की कल्पना नहीं है कि उसे क्या मिले।

2. व्यक्ति एक एकलौती दृष्टि नहीं है। यहाँ वह जिस समाज में रहता है उसका एक प्रतिभाज्य रूप है।

3. राज्य अपने नागरिकों की सामाजिक वैयक्तता को अपने में लपेटे हुए है तथा उनका प्रतिनिधित्व करता है यहाँ राज्य वैयक्तता से ऊपर है।

इस प्रकार होम के राज्य की कल्पना एक निरनुगत, सर्वव्यापक, वरम सत्तावादी तथा आभास राज्य की कल्पना है जिसे हमने 'पृथ्वी पर ईश्वर का शासन' (March of God on Earth) की कहा थी है।

आलोचकों का विचार है कि होम के सिद्धान्त में व्यक्ति की पूर्ण रूप से राज्य से यहाँ कर दिया गया है। हब्सबार्ग (Hobbes) के अनुसार होम का राज्य-सिद्धान्त "राज्य को एक पराजित शक्ति, एकलौती तथा एक प्रतिभाज्य सत्ता मानता है जिसमें व्यक्ति, उनके धर्म, कारण, उनके नाम तथा अधिकार, उनका हर्म, उनका दुःख से सब छोड़ दिया है।"¹ इसी तरह प्रो. जोड (Joad) ने कहा है कि— "समस्त-राज्य की एक सामाजिक व्यक्ति होने के कारण अपने में ही एक साम्य सत्ता का रहता है जिसके अपने अधिकार हैं। और जो व्यक्ति के स्वातंत्र्य अधिकारों के साथ होने वाले संघर्ष में विजयी होता है। सिद्धान्तः हर समय और व्यवहार-सुद्ध के समय वह अपने नागरिकों के जीवन पर पूर्ण अधिकार का प्रयोग कर सकता है और उनका देश काया विधि-सम्पन्न होता है। सिद्धान्त यहाँ वास्तविक रूप से राज्य के अंदर यहाँ विधियों के विरोध के लिए कोई सीमा नहीं हो सकता क्योंकि विरोध ऊपर राजसत्ता का प्रयोग किया जाता है और जो लोक राजसत्ता का प्रयोग करते हैं, वे अपने कोई धर्म नहीं है।"²

प्रो. हब्सबार्ग के अनुसार "पुनर्जन विचारवादी का मान्य इस बात पर कि राज्य स्वयं-शासन नहीं है। अतः एक राज्य के लिए साधन मात्र है, साधन है जनता की भावना और सत्ता। इसके विपरीत होम ने यह घोषित किया कि राज्य स्वयं एक साधन है और व्यक्ति इस साधन के लिए साधन मात्र है।"³

स्पष्ट है कि होम के लिए राज्य व्यक्ति की सुरक्षा एवं भावना का केवल साधन न होकर स्वयं एक साधन है। होम के स्वयं के अपने में, "व्यक्ति अपने स्वयं, अपने सामाजिक अस्तित्व और वैयक्तिक रूप से व्यक्ति राज्य का प्रत्यक्ष होकर होकर रहता है।"⁴ आदर्शवादी सिद्धान्त के इस उद्देश्य का होम यहाँ और यहाँ के हमें यह है कि राज्य स्वाधीन रहता है। यदि राज्य स्वाधीन है तो वह अपने नागरिकों के लिए समस्त मानव-व्यय के बराबर हो जाता है। इस मत का स्वाभाविक

1. Hobbes : Metaphysical Theory of the State, p. 37.

2. Joad : Introduction to Modern Political Theory.

3. Mr. Geyer : From Luther to Hitler, p. 259.

साम्प्रदायिक व्यक्ति के नागरिक के रूप में राज्य के प्रति सम्बन्ध तथा व्यक्ति के रूप में समस्त मानव-समाज के प्रति सम्बन्ध—इन दोनों प्रकार के विभिन्न सम्बन्धों की बराबर एकता कर देता है। व्यक्ति की समस्त प्राकृतिक और सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए राज्य पर्याप्त माना जाता है। राज्य की सहायता के अभाव में कोई वस्तु नहीं है जिसकी व्यक्ति प्राकृष्ट कर सके। इस स्थिति से निरंकुशता के सिद्धान्त पर पहुँच जाया समझ है। चूँकि राज्य व्यक्ति की समस्त सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, इसलिए वह नियंत्रण सत्ता के प्रति नागरिकों की पूर्ण व्यक्ति की शक्ति कर सकता है। राज्य हीनतात्मक रूप से नागरिकों पर सदैव अपनी पूर्ण सत्ता का प्रयोग कर सकता है। हीनता की दृष्टि से इस स्थिति में व्यक्ति की किसी शक्ति होती है, उसके कहीं अधिक मान होता है क्योंकि उसे केवल राज्य से ही सम्पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, उसी से वह नैतिकता प्राप्त करता है और अपने अधिकारों को प्राप्त करता है।

हीनता के राज्य सम्बन्धी विचारों से यह प्रान्ति हो गई है कि वह व्यक्ति को राज्य का दास बन देना चाहता है। हीनता पर यह आरोप लगाया एक हीमा तक सम्भव नहीं होता कि वह व्यक्ति पर राज्य के नागरिकों के सम्बन्धों को मान देता है अपना वह व्यक्ति को पूर्णतः राज्य के अधीन कर देता है क्योंकि हीनता के मतानुसार राज्य व्यक्ति पर कोई बाह्य से योही हुई सत्ता नहीं है, वह ही व्यक्ति की धारणा है और व्यक्ति के सर्वोत्तम भाव की अभिव्यक्ति है। हीनता का कथन है कि राज्य सत्ता भी सम्पूर्ण नहीं है किन्तु वह व्यक्ति की बुद्धि से वेष्ट करता होता है क्योंकि वह व्यक्ति की बुद्धि का निवर्तित रूप है। इस प्रकार उसने राज्य का सामर्थ्य रूप प्रकट किया है तथा व्यक्ति और राज्य के बीच किसी प्रकार का विरोध नहीं माना है। ऐसी दशा में व्यक्ति को अपने निवर्तित रूप को राज्य के सामर्थ्य धारण करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए। उसने ही राज्य में सर्वोच्च नैतिकता की निहित किया है और वह स्पष्ट किया है कि राजाका शासन करने में व्यक्ति स्वयं अपनी धारणा की धारणा का प्रयोजन करता है, वह राज्य में और राज्य द्वारा अपनी ही धारणा की अनुमति करता है तथा राज्य की धारणा स्वीकार करने में अपनी ही धारणा का अधिकार मानता है। परन्तु इस विचार को स्वीकार करने पर यह मानने का कोई प्रसन्न नहीं उठना चाहिए कि हीनता व्यक्ति की दास बना देता है। राज्य को व्यक्ति के सेवा राज्य मान लेने का अर्थ यह नहीं हो जाता है कि व्यक्ति राज्य की सत्ता के लिए एक दास-मान बन कर रह गया है।

हीनता का राज्य विचार सिद्धान्त कहीं तक उचित है और कहीं तक नहीं, इस पर विचार से विशेष अधिकार गुणों में हीनता के राज-धर्मों की साम्यव्यवस्था समीक्षा के अन्तर्गत किया जाएगा।

राज्य और नागरिक समाज में अन्तर—

(Distinction between Civil Society and State)

हीनता राज्य और नागरिक समाज में अन्तर करता है। यह निम्न प्रकार है—

विज्ञान का एक मुख्य घन है। हीनस का विचार है कि विचार-धर्म में नागरिक समाज की मरुता राज्य के बढ़ते होते हुए भी कालक्रम में उसकी मरुता राज्य के बाद है।

हीनस के अनुसार नागरिक समाज की तीन अवस्थाएँ होती हैं—(क) न्याय-प्रशासन, (ख) पुलिस, एवं (ग) निगम। दूसरी अवस्था को अर्थात् पुलिस एवं निगम का राज्य से अनिष्ट सम्बन्ध है। हीनस समाज की राज्य पर आधारित और निश्चित रूप से मानता है अर्थात् उसका मत है कि नागरिक समाज राज्य के बिना अस्तित्व नहीं रह सकता। वह एक बात के लिए भी यह स्वीकार नहीं करता कि न्यायालय, पुलिस, जेल और नागरिक समाज की अन्य संस्थाएँ राज्य के अस्तित्व के अभाव में सम्भव हैं। नागरिक समाज राज्य के बिना अस्तित्व नहीं रह सकता।

नागरिक समाज विचार-धर्म में राज्य से बढ़ते प्रतीत होता है किन्तु कालक्रम में (In time) वह राज्य के बाद है। यह "राज्य का वह स्वयं है जिसमें समाज की ऐसे स्वाधीन व्यक्तियों का समूह माना जाता है जो सम्पूर्ण समाज के सम्यक् षटकी की सहायता से अपने-अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में सक्षम हैं। नागरिक समाज में एक व्यक्ति दूसरी के साथ आत्मसम्मान के रूप में बैठा होता है। वह अपनी तथा अपने प्रशासकों द्वारा कार्य करता है। राज्य में उसका दूसरी से सम्बन्ध शायदही हो जाता है। वह फिर अपने लिए कार्य नहीं करता बल्कि राज्य के सर्वेस्वाधी अर्थ में निरर्थक हो जाता है। उसकी स्वाधीनता का स्वयं सामान्य हित में लेता है। इस प्रकार नागरिक समाज एक पूर्ण विकसित राज्य के लिए मार्ग प्रशस्त करता है।"

वास्तव में हीनस का राज्य-विज्ञान राज्य और नागरिक समाज के सम्बन्धों के विविध स्वरूप पर आधारित है। यह सम्बन्ध विरोध का भी है और परस्पर निर्भरता का भी। मेगादन के अनुसार, "हीनस के विचार के राज्य कोई ऐसी उपयोजितावादी संस्था नहीं है जो सामंजसिक संबंधों, विधि-प्रशासन, पुलिस-कर्मियों के पालन और औद्योगिक तथा आर्थिक हितों के सामंजस्य में रत हो। के सारे कार्य नागरिक-समाज के हैं। राज्य आत्मसम्मानानुसार उनकी निर्देशन और नियमन कर सकता है, लेकिन वह कुछ इन कार्यों को नहीं करता। नागरिक-समाज बुद्धिमत्तापूर्ण पर्यवेक्षण और नैतिक महत्त्व के लिए राज्य पर निर्भर रहता है। यदि हम समाज पर पुनश्च रूप के विचार करें तो ज्ञात होता कि समाज कुछ इन आर्थिक विषयों द्वारा चालित होता है जो बहुत से व्यक्तियों के सर्वप्रथम और सर्वोच्च उद्देश्यों की प्रतिक्रिया में उत्पन्न होते हैं, लेकिन राज्य अपने नैतिक प्रयोजनों की पूर्ति के क्षमता के लिए नागरिक समाज पर निर्भर रहता है। यद्यपि नागरिक समाज और राज्य दोनों एक-दूसरे पर निर्भर हैं, फिर भी वे एक-दूसरे के अलग हैं। राज्य अपने न होकर साम्य है। वह विकास के विवेक-सुख आदर्शों की और सम्बन्ध में साम्प्रदायिक तथ्य की प्रवृत्ति करता है। इस दृष्टि से वह अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नागरिक

समान का प्रयोग करता है या एक विशिष्ट साम्प्रदायिक धर्म में उद्योग, निर्माण करता है।¹⁻²

मुदाब, सेबाइन के ही शब्दों में, "जब हीमान ने राज्य की नैतिक दृष्टि से समस्त उच्च बना तो उसका यह समझना नहीं है कि उसे नागरिक समाज समझा उसकी सम्झना के चुरा थी। अस्तुस्थिति इससे उलटी थी। हीमान अपने व्यक्तिगत चरित्र और राज्यनीतिक चिन्तन दोनों की दृष्टि से कुर्बाना था। स्थिरता और सुरक्षा के प्रति उसके मन में बहुत सम्मान था। उसका विचार था कि राज्य और नागरिक समाज के बीच पारस्परिक सम्बन्ध है। यह दूसरी बात है कि यह सम्बन्ध उच्च सिद्धि और निम्न सिद्धि का है और राज्य की उदा निरालेख है। राज्य और उसका सांस्कृतिक मिशन समान पर निर्भर है। इसके समझ के मानिक जीवन का वैश्विक महत्त्व बढ़ जाता है।"³ हीमान ने नागरिक समाज का भी विवरण दिया है, उसमें निरालेख और निम्न, एस्टेट और बर्गों, सम्झना और स्थानीय समुदायों का विस्तार से वर्णन किया गया है। हीमान इन सम्झनाओं को का इनसे मिलती-जुलती कुछ अन्य सम्झनाओं की मानवीय दृष्टि से समझाकर सम्झता था। उसका विश्वास था कि इन सम्झनाओं के बिना योग्य मूल भेद-भाव का कार्य क्या व्यक्ति की स्थिति एक दूसरे की प्रति होती। इसका कारण यह है कि समुदाय का व्यक्तिगत केवल सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन के चरम में ही सम्भल होता है। इसानि हीमान के दृष्टिकोण के राज्य का निर्माण मुख्यतः व्यक्तिगत नागरिकों से मिलकर नहीं होता। उनकी विभिन्न निम्न और समुदायों का समझ होता चाहिए। इसके बाद ही वह राज्य की योग्यपूर्ण नागरिकता प्राप्त कर सकता है।⁴

राज्य में परिवार एवं समुदाय का विनीचीकरण किस भीति होता है इसकी व्याख्या करते हुए प्रो. बीकाके ने लिखा है कि, "साधारण के रूप में राज्य की पारिवारिक समीक्षित और वैश्विक प्रवृत्ति व्यक्त है जिसमें व्यापार-उद्योग की स्पष्ट पैलावा और उद्योग समाहित होते हैं। राज्य के सम्बन्ध में, धर्मात् जहाँ तक हम नागरिकों की भीति महसूस करते और सोचते हैं, मानना, स्नेहपूर्ण भक्ति और स्पष्ट केलावा राज्यनीतिक मूल मन आती है। नागरिकों के गति हम वह समुदाय करते और देखते हैं कि राज्य हमारे स्नेहपूर्ण केलावा अधिकारवाणी को प्राप्त करता है और उन्हें कायम रखता है। ऐसा वह समुदाय द्वारा एक जगह फैली हुई मानव-मानव बातुओं के रूप में न कर सामान्य मूल के मान्य अपने सम्झनाओं द्वारा विहित उद्योगों के रूप में करता है। वही मानना और दृष्टि देन-भक्ति का सम्झा कर है।"⁵

नागरिक समाज एवं राज्य के मूलभूत धारार को स्पष्ट करते हुए प्रो स्टैंक (Frost, State) का कहना है कि "नागरिक समाज में व्यक्ति केवल अपने हित-साधन का इच्छुक होता है, यतः उसका यह हित एक विशेष हित है। इसके विपरीत राज्य

1-2 सेबाइन 'राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृ. 619

3. *Essays on Philosophical Theory of the State*, p. 261-62

के हित एवं लक्ष्य बहुत ऊँचे होते हैं। और इनहीं की प्राप्ति के लिए सब निषाधों प्रयोग करते हैं, सब। इसमें एक नागरिक के विविध हित सार्वजनिक हित होते हैं।¹

हीनल के अनुसार नागरिक समाज एकलपक्षी है। राज्य में उसका समन्वय होता है। हीनल तथा उसके बाद-बहु सिद्धान्त कि राज्य व्यक्ति की सबसे अधिक अलाई कर सकता है, संपूर्ण है। हीनल के सिद्धान्त द्वारा हम इसे पचसी तरह समझ पाते हैं। हीनल और उसके विश्व राज्य की कल्पना करते हैं, उसे हीनल सार्वजनिक समाज कहता है। हीनल और उसके राज्य तथा व्यक्ति को विशेषी मानते हैं। उनके मतानुसार राज्य का कोई सार्वजनिक हित नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति का हित पुनर्-पुनर् होता है और राज्य का उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति का हित करना होता है किन्तु हीनल राज्य के सार्वजनिक के विरोधी भी हित की स्वीकार नहीं करता। वह व्यक्ति और राज्य के सार्वजनिक हितों में किसी विशेष की कल्पना नहीं करता। वह तो कहता है कि राज्य के अभाव में व्यक्ति कुछ नहीं कर सकता। २।

हीनल के अनुसार राज्य बहुत का विशिष्ट रूप है जो परम-विचार है। राज्य उसी की प्रतिबिम्बित है। परिवार और नागरिक समाज राज्य में ही सफलता-एक पूर्णता प्राप्त करते हैं क्योंकि वही सब समुदायी का समुदाय (An association of associations) है।

हीनल ने नागरिक समाज का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है और राज्य के साथ उसका जो सम्बन्ध स्थापित किया है, उसमें ही उसके नीतिबान्धक सिद्धांत के स्वरूप का निर्धारण होता है। हीनल के विचार के राज्य की प्रति-विरुद्ध जो है, किन्तु स्वेच्छावादी नहीं। राज्य को अपनी निष्ठापक शक्ति का विधि के अनुसार प्रयोग करना चाहिए। राज्य विवेक का प्रतीक है और विधि विवेकपूर्ण होती है। नागरिक समाज का नीतिबान्धकी गहराई और स्वरूप होता है। इस स्तर पर समाज राज्य की सम्बन्ध स्थापना से सम्बन्ध स्थापित करता है। हीनल राज्य-व्यक्ति और जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व की इसलिए एकदम विरुद्ध मानता है कि व्यक्ति पहले नागरिक समाज द्वारा सम्बन्ध एक वा एक में अधिक सरकारी का सदस्य होता है और उसके बाद ही उसका राज्य से सम्बन्ध स्थापित होता है। निष्ठापक-मण्डल ही वह स्थल है जहाँ ये सम्बन्ध राज्य में निम्नी है। हीनल का स्पष्ट मत था कि नागरिक समाज की और में बहुसंख्यकों की-से अथवा आध्यात्मिक इकाइयों का प्रतिनिधित्व होता चाहिए।

राष्ट्रीय-राज्य, अन्तराष्ट्रीयतावाद और युद्ध

(National-State, Internationalism and War)

हीनल के राज्य सम्बन्धी विचारों से स्पष्ट है कि वह राष्ट्रीय-राज्य (National-State) का समर्थन करते हुए उसे मानव-संरक्षण का सर्वोच्च रूप मानता है। वह किसी भी अन्तराष्ट्रीय अथवा विश्ववादी संरक्षण के राष्ट्रीय-राज्य के ऊपर होने

की कल्पना नहीं करता। होमर के इस प्रकार के विचार निम्न ही प्रतिबिम्बकारी और भयंकर परिणामों को जन्म दे सकते हैं क्योंकि इनसे राष्ट्रीय राज्य पारस्परिक सम्बन्धों में गन्धर्वग्राह्य आचरण कर निज में सम्भवतया और अमानि का प्रसार कर सकते हैं।

होमर की दृष्टि में राज्य के लिए सबसे महत्वपूर्ण बात धान-रत्ता है, अतः धान्य अस्तित्व कायम रखने के लिए राज्य कोई भी कार्य करने में पूर्ण स्वतन्त्र है। इसीलिए होमर के मन्दी में, "राज्य स्वयं पूर्ण मस्तिष्क है जो धान्यार्द्र और गुराई, लम्बा घोर दुन्दुता, सम्पत्ता और कोयलाजी आदि के मात्रात्मक नियमों की स्वीकार नहीं करता।"¹ राज्य की धन्य राज्यों के सम्बन्ध स्थापित करने में कोई आपत्ति नहीं होती बल्कि कि उससे उसकी सुरक्षा कायम रहती हो।² अन्तराष्ट्रीय सम्बन्ध ऐसे अनुगम्य राज्यों के साथ होते हैं जो वह निश्चाय करते हैं कि अपना हित ही अधिक है तथा अपने हित के विरुद्ध कार्य करना पाप है, अर्थात् जब राज्यों की विरोध इच्छाएँ आपसी सम्बन्धों के पूर्ण नहीं हो, पातीं तो निजों को केवल युद्ध द्वारा ही समाप्त किया जा सकता है।

होमर का मत है कि युद्ध की एक पूर्ण गुराई नहीं मानना चाहिए। 'मानव-जाति का विश्व-भवापी पैग' को एक 'सुधर्मपूर्ण धार्मिकार' है। युद्ध तब एक सुधारक कार्य है और यदि एक्शन (Action) के उद्देश्य का दुष्प्रयोग निज जाय को मरु कड़ा जा सकता है कि "होमर की मानि समाज की पक्-भ्रष्ट करती है तथा चिरकालिक मानि उसे सदा पक्-भ्रष्ट करती रहेगी।"³ होमर मानिपूर्ण उपायों और सम्बन्धों को अस्वीकार करता है। वह युद्धकारी होकर स्थायी मानि का विरोधी बन गया है। दुनिया पाहे युद्ध को लईव होय समझती रहे, किन्तु होमर के विचार के युद्ध के अनेक लाभदायक परिणाम होते हैं। युद्ध मानि के मरु का नाश करता है और मानव-जाति की पड़न में रक्षा कर उसमें निजानीलता का बवार करता है। होमर के अनुसार, "एक क्षण में केवल एक ही मानि में परमात्मा की पूर्ण धर्मिभक्ति हो सकती है, इसलिये युद्ध में किसी राज्य की लज्जता दैवी कोजता क धन (Irony of divine idea) को धाक करती है।"⁴ दूसरा धर्म यह है कि निजयी राष्ट्र ईश्वर का कृपावाच सिद्ध हो जाता है। युद्ध राज्य की मानि का कोक है।

होमर का निश्चाय है कि युद्ध को घोर दुष्कर्म नहीं मानना चाहिए। मानव के विश्व-प्रेम की भावना एक निजी धार्मिकार है। युद्ध स्वयमेव एक वैदिक कार्य है। मानि भ्रष्टाचार का प्रसार करती है और मानव मानि अनन्त भ्रष्टाचार फैलाती। युद्ध यह बतलाता है जो दृष्टीगत स्थायी और धर्मिता के धर्मिक

1-2 पैर : पृष्ठ 126.

3 Op. cit., p. 186 (Lord Acton's famous aphorism was "Power corrupts, and absolute power corrupts absolutely." like to misquote him "Peace corrupts and enervating peace corrupts overwhelmingly.")

करती है। कुछ दायर गोलों का वार्षिक स्वाभ्यन्त सुरक्षित रहता है और वे दृष्टान्तिक व्यवस्थाओं की सुरक्षा के प्रति उत्साही हो जाते हैं। जिस प्रकार बांग्लादेश के प्रजापति ने समुद्र के जल का तापमान के उत्पन्न करने की दूर होती है, उसी प्रकार गतिहीन समानता के राष्ट्रीय में जैसे भ्रष्टाचार को कुछ दूर बढ़ता है। समान बुद्धि ने नैतिक विद्रोहों को रोककर राज्यों की आन्तरिक तापमान को बढ़ाकर और बलवर्धन करवाता है। और कोई आन्तरिक आन्तरिक नहीं है और यही तथ्य बाकूद पर भी लागू होता है। 'मानव-जाति की इसकी स्वाभ्यन्तता भी और इसका सुरक्षित प्रभावों का होता है। गोपी और बाकूद पर सम्मान की छाया है। सम्मान जाति के अधिकार केवल औपचारिकता मात्र है। यम्मा राष्ट्र यह भी प्रकार समझते हैं कि अपने जाति के अधिकार उनके समान नहीं हैं और वे इसकी स्वाभ्यन्तता (Autonomy) को केवल एक औपचारिकता (Formality) मानते हैं।'

हीरोन प्रतिराष्ट्रीय होने के कारण किसी अन्तराष्ट्रीय व्यवस्था एवं कानून का समर्थन नहीं करता। अन्तराष्ट्रीय कानून सम्मान मात्र है जिसे कोई भी प्रमुख-सम्मान राज्य दृष्टान्तुसार स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है। अन्तराष्ट्रीय होने के इस बात की विज्ञा नहीं करनी चाहिए कि एक राज्य का दूसरे राज्य के राज्य नैतिक व्यवहार हो। अपनी सुरक्षा का ध्यान रखना राज्य का सर्वोपरि अधिकार है। अन्तराष्ट्रीय होने के दृष्टिकोण के आधार पर राज्य पर कोई कानून नहीं लगाया जा सकता। राज्य की दृष्टि को नीतिगत करने वाले अन्तराष्ट्रीय कानून जैसे किसी तरह का कोई अधिकार नहीं हो सकता। अन्तराष्ट्रीय कानून केवल उन कतिपय जातिजातों का एक मात्र एक प्रतिनिधित्व करते हैं जब तक कि वे राज्य की सर्व-समिति (Supreme Personality) के दृष्टिकोण नहीं करते। वर्तमान विश्व-आस्था के अनुसार राज्य के अन्तर्गत अधिकारों के समान अन्य राज्यों को कोई अधिकार प्राप्त नहीं होते। जो अन्तराष्ट्रीय सम्मान बन जाते हैं वे अन्तर्जातीय होते हैं, यही तक कि समानों की परिचयनशील होती है।

हीरोन के अन्तराष्ट्रीय सम्मानों के विचारों पर असाधारणता की छाया है। उसका स्पष्ट मत है कि राज्य की सम्पूर्णता के समान (The absoluteness of the State) कोई भी अन्य वस्तु अधिक सम्पूर्ण (More absolute) नहीं है। तब उसके मते से, "राज्य कोई विशिष्ट व्यक्ति नहीं है परन्तु स्वयं से ही पूर्ण स्वतन्त्र सम्पूर्णता है, यही राज्य के आन्तरिक सम्मान किसी प्रकार नैतिकता मात्र नहीं है। बहुतों देशों को बताया जाता है कि राज्य की नैतिकता और किसी अधिकारों के दृष्टिकोण से देखा जाए पर अधिकारों की विषय कुछ इस प्रकार की है कि उनके सम्मानित आचार्य इस बात का निर्णय करता है कि उनके कोसों बार्न बाकूद कब से उत्पन्न है। राज्यों के आन्तरिक सम्मानों को भी वचन कब से दीक लेना चाहिए, लेकिन राज्य के सम्मान में ऐसी कोई भी व्यक्ति नहीं है जो एक ही एक बात का निर्णय कर सके कि वचनार्थ कब दीक है तथा दूसरे अपने निर्णय की विज्ञापित कर सके। यही राज्य पूर्ण अधिकार-सम्मान है, किसी अन्य व्यक्ति को राज्य पर कानून

प्रधिकार प्राप्त नहीं है। राज्य पारम्परिक सम्बन्धों में पूर्णतः स्थापित है और पारम्परिक नियमों की केवल सामयिक और घटनाधी मांगें हैं।”

हीगल के इस कथन के सम्बन्ध में भी यह नहीं है कि राज्य एक जातिवादी विश्व-भावना (World-spirit) के द्वारा ही प्रभावित रूप से निर्माण और अपने व्यवसाय में है, तथा राज्य के कार्यों का अन्तिम निर्णय केवल विषय के आवश्यकताओं में ही हो सकता है।

दण्ड तथा सम्पत्ति

(Punishment and Property)

दण्ड की भाँति हीगल भी दण्ड के प्रश्न की नैतिक दृष्टि में देखता है। उसकी मान्यता है कि किसी भी अधिकार के उत्पन्न होने पर राज्य का कर्तव्य हो जाता है कि वह व्यवसायी को दण्डित करे। उसकी दृष्टि में दण्ड का उद्देश्य सार्वजनिक सुरक्षा नहीं है बल्कि दण्ड का अधिकार केवल यह है कि जिस अधिकार की अवज्ञा द्वारा जिस व्यक्ति के प्रति तथा समाज एक गम्भीर-विचार के प्रति व्यवहार हुआ है, उसका बदला लिया जा सके। दण्ड समाज और व्यवसायी दोनों का समान अधिकार है और इसी के द्वारा दोनों को व्यवसाय उचित ग्वाह मिल जाता है। हीगल के अनुसार जब किसी अधिकार का प्रतिफल ही, तो इन अधिकार की स्थापना का एकमात्र उपाय है—“प्रथम, पौष्टिक व्यक्ति पर निर्णय व्यवहार का सार्वजनिक विचारकर्ता और द्वितीय, उसके माध्यम से समाज और ग्वाह के नियमों पर अन्तिमकार केन्द्र का विचारकर्ता।”

सम्पत्ति के विषय में हीगल की मान्यता की कि व्यक्ति की पूर्णता के लिए इसकी आवश्यकता है क्योंकि इसके द्वारा ही व्यक्ति की इच्छा निष्ठाहीन रह सकती है। अन्तिम सम्पत्ति के समाज में व्यक्ति का विकास सम्भव नहीं है। हीगल के अनुसार सम्पत्ति का निर्माण राज्य समाज द्वारा नहीं करना चाहता बल्कि यह व्यक्ति-व्यक्ति की परिवर्तन आवश्यक है।

संविधान पर हीगल के विचार

(Hegel on Constitution)

हीगल के अनुसार संविधान कोई सांस्कृतिक कृति नहीं होती, बल्कि उसका निर्माण समान सामाजिक और राजनीतिक सम्बन्धों के भीतर अनेक पीढ़ियों तक निर्यात करने वाले जनसमुदाय की कार्य के अनुसरण में होता है। अपने पूर्ववर्तियों की प्रति राज्य की सांस्कृतिक उत्तराधिकारी की हीगल के भी तीन भागों में ही विभाजित किया है, पर वह विभाजन कुछ नैतिक अन्तर लिए हुए है। प्रथम, मुख्य अन्तर यह है कि सार्वजनिक जाति में राज्य की तीन शक्तियाँ—सार्वजनिक, व्यवसायिक और व्यवसायिक अर्थात् हीगल के अनुसार ये तीन शक्तियाँ हैं—विधान

1. "Public address of the outrage done to the individual in the first place and, through him, to the community and the Law of Justice in the second."

(Legislative), प्रशासनिक (Executive) तथा न्यायन्यायमक (Judicial)। उन्होंने अपनी व्यवस्था में न्यायपालिका को कार्यपालिका की जगह मानते हुए उसके स्थान पर राजतान्त्रिक शक्ति का उल्लेख किया है। दूसरी मौलिक समस्या यह है कि हीमन ने जीनो शक्तिशाली को एक दूसरे से स्वतन्त्र और एक दूसरे को नियन्त्रित करने वाली न मानते हुए उन्हें परस्पर पूरक और एक बड़ा न समीट के सदस्य मान ले कर ले माना है।

हीमन ने राज्य की नीची शक्तियों के राजतन्त्रप्रणमक शक्ति की प्रमुख माना है क्योंकि वह राज्य के एकता उत्पन्न करती है। शक्ति के प्राचीन राजतन्त्र के पतन तथा राज्य-शक्ति का सबसे बड़ा कारण बड़ी भाँति कि प्रजासत्ताकी और विधायी शक्तियों दुष्क-दुष्क भी। यदि व्यवस्थापिका-शक्ति कार्यपालिका की शक्ति के रूप में होती और राजतन्त्रप्रणमक शक्ति व्यवस्था में सर्वोच्च होती तो तब राज्य-शक्ति के पथ पर अडसर न होता। हीमन का विश्वास है कि संविधानिक राजतन्त्र (Constitutional Monarchy) में ही पूर्ण विवेकशीलता (Perfect Rationality) उपलब्ध हो सकती है क्योंकि इसमें राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और प्रजातन्त्र जीनो के तत्त्व मिश्रित होते हैं। इस व्यवस्था में राजा एक, प्रशासन कुछ और विधान-मण्डल बहुमत का प्रतिनिधित्व करता है।

हीमन के अनुसार अनुभवा (Sovereignty) अवसाधारण की न ही साधारण राजा के हाथों में रहनी चाहिए। विधान-मण्डल में चाहे जगह का प्रतिनिधित्व हो और उसके द्वारा निर्मित कानूनों की कार्यपालिका देश में लागू करे, लेकिन उन्हीं प्रतिष्ठित कर देने का अधिकार राजा को होना चाहिए ताकि देश में एकता बरकरार रह सके। दार्शनिक धारणा के अनुसार सर्वविध-सम्पन्न सम्पूर्ण राज्य की सम्पत्ति है, किन्तु सर्व-रूप में इसका प्रत्यक्ष किसी एक व्यक्ति का कुछ विश्वस्त होता है और वह व्यक्ति राजा ही हो सकता है। विधान-मण्डल में राजा, प्रशासन और प्रजा सभी सम्मिलित हैं। राजा और प्रशासन के अभाव में राज्य की एकता नहीं रह सकती।

हीमन राज्य-शक्ति और जनतन्त्र के आधार पर विधान-मण्डल में प्रतिनिधित्व की निरर्थक समझता है, क्योंकि व्यक्ति पहले नागरिक-समाज द्वारा सम्पन्न एक व्यक्ति एक से अधिक वक्ताओं का सदस्य होता है और उसके बाद ही उसका राज्य में सम्पन्न सम्पत्ति हो जाता है। विधान-मण्डल ही वह स्थल है जहाँ ये सम्पन्न राज्य में सम्पन्न होती हैं। हीमन का मत है कि नागरिक समाज की ओर से बहुमतपूर्ण क्षेत्रों अथवा व्यावहारिक इकाइयों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, विधान-मण्डल में जनता का प्रतिनिधित्व राज्य के विभिन्न वर्गों एवं व्यवसायिकों द्वारा होना चाहिए, सीधे व्यक्तिओं द्वारा नहीं। हीमन ने अपने विधान-मण्डल के एक सदस्य का निर्माण जमींदारों के वर्ग से किया है और दूसरे सदस्य का निर्माण राजा के आदेश से विभिन्न व्यवसायों और व्यवसायों द्वारा चुने हुए व्यक्तियों से किया है। सारांश में यह कहना है कि हीमन की यह व्यवस्था सम्पूर्ण विधिक शक्ति की

प्रचारा में विद्यार्थी-मुक्तों है क्योंकि उस समय कॉलेजों के सराफ बड़े जमींदार और सादरी होते थे जबकि लोकशासन ने जमीनों के व्यापारी, अन्य नगर-निवासी और किसानों तथा देशांतों के साइड (Kamighat) सम्मिलित होते थे।¹ कार्यपालिका पर हीमल ने बहुत बल दिया है।। केसाइन के समी में, "बहु बहु धर्मवाचक समझता था कि विधान-मण्डल में मन्त्रियों को राज्य कर्मचारी बनें का, जो नागरिक समाज का नियमन करता है, प्रतिनिधित्व करता चाहिए लेकिन उन्होंने मन्त्रियों को विधान-मण्डल के प्रति उत्तरदायी विस्तृत नहीं माना है। हीमल के मत में विधान-मण्डल का कार्य मन्त्रिमण्डल को परामर्श देना होना चाहिए और मन्त्रिमण्डल राजा के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। हीमल के अनुसार राजा को कोई विशेष शक्ति प्राप्त नहीं है। उसे जो भी शक्ति प्राप्त है, वह राज्य के सम्पत्ति की अपनी ईमानदारी के कारण प्राप्त है।"²

वह उत्प्रेषणीय है कि हीमल ने नागरिक समाज का जो सिद्धान्त प्रस्तुत किया था और राज्य के साथ उनका जो सम्बन्ध निर्धारित किया था, उसके ही उसके साम्प्रदायिक मानस के स्वरूप का निष्कर्ष हुआ है। हीमल के विचार के राज्य की शक्ति निरर्थक प्रत्यक्ष है, लेकिन सम्प्रदायवादी नहीं। राज्य की अपनी नियामक शक्ति को विधि के अनुसार प्रयोग करना चाहिए। "राज्य विवेक का प्रतीक है और विधि विवेकपूर्ण होती है। हीमल के लिए इसका अभिप्राय यह था कि सार्वजनिक सत्ता के कार्यों के बारे में बढ़ते से भविष्यवाणी की जा सकती है क्योंकि वे राज्य विवेक के अनुसार संचालित होते हैं। निम्न अधिकाधिकारी की स्वतंत्रता शक्तियों को मर्यादित करते हैं और अधिकाधिकारी के रूप की सत्ता को प्रभाव करते हैं, पराधिकारी की स्वतंत्रता सम्पत्ति प्रत्यक्ष निर्णय को नहीं। विधि का सम्बन्धन सब शक्तियों के साथ समान होता चाहिए। चूंकि विधि का रूप सामान्य होता है इसलिए स्वतंत्रता विवेकवादी की ओर ध्यान नहीं दे सकती। निरंकुशता का उच्च विधि-विहीनता है और सम्पूर्ण तथा साम्प्रदायिक सामर्थ्य का उच्च विधि-विहीनता की दूर करता है और सुरक्षा को जन्म देता है।"³ हीमल के स्वयं के अनुसार, "निरंकुशता विधि-विहीनता की वह स्थिति है जिसमें राजा अपना जलता की निजी सम्पत्ति विधि का रूप धारण करती है प्रत्यक्ष यह कि राजा बहुत अधिकारी मानी जाती है। यह तथ्य कि राज्य के प्रत्येक समुद्र दूर धारा मुखिल है, परिवर्तन तथा राजनीतिक मत के विपरीत एक तरह की प्राचीन है।"⁴

केसाइन ने अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि "हीमल का राज्यवाद की अपने साम्प्रदायिक की सम्पत्ति में एक प्रकार का रोड़ा था। उसे अपना साम्प्रदायिक मान्यता दूर और कुछल रचना था, उसकी साम्प्रदायिक कार्य प्रभावित होती थी, उसे हीमल तथा सम्पत्ति के अधिकारी की रक्षा करनी थी क्योंकि

1. Leacock : Master of Political Thought, Vol. III, p. 24.

2-4. केसाइन "साम्प्रदायिक जीवन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 624.

हीगल इन अभिव्यक्तियों को सार्वजनिक समाज के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक समझता था। इस प्रकार हीगल के सामाजिक मान्यता में उदारवाद की भांति ही वैयक्तिक तथा समाज आनन्दपूर्ण चरण में वेद किया गया था, लेकिन उन्होंने विधि, शासन तथा लोकतन्त्रात्मक राजनीतिक अभिव्यक्तियों के सम्बन्ध को कोई मान्यता नहीं दी।¹

हीगल के इतिहास पर विचार (Hegel's Ideas on History)

हीगल के मते वे, "इतिहास मानव-जाति के आत्मज्ञान के लिए की गई एक तीर्थयात्रा (The pilgrimage of the spirit in search of itself) है।" इतिहास का मार्ग मानव विवेक द्वारा प्रकट होता रहता है और "विश्व इतिहास विवेक का निर्णय है" (World History is the world judgment)। निर्णय के यहाँ धर्म है एक जाति की दूसरी जाति पर विजय जो एक जाति में दूसरी जाति में 'विश्ववैतना' के स्थानान्तरण होने का प्रमाण है। हीगल ने विश्व-इतिहास की स्वाधीनता की अनुभूति के आधार पर चार अवस्थाओं में विभक्त किया है—

- | | |
|------------------------|---------------------|
| 1. ओरिएण्ट (Orientals) | 2. ग्रीक (Greeks) |
| 3. रोमन (Romans) | 4. जर्मनी (Germans) |

हीगल के अनुसार इतिहास की सभी अवस्थाएँ होती हैं जिनके लिए उसके अपने समाधान होते हैं। बुद्धिमान लोग न इतिहास का निर्धारण करते हैं और न निर्देशन, बल्कि अवस्थाओं की प्रकृति के अनुसार उन्हें भी भुक्तता करता है। वे केवल यह समझने का प्रयास करते हैं कि क्यों-यही आवश्यकता विनाशकारी है। हीगल के ही मते वे, "इतिहास बुद्धिमानों का एक-दूसरे का चरण है तथा सृष्टि को प्रकट करता है।" इतिहास का मार्ग समाज-व्यवस्थाओं का विकास स्वयं प्रकटित होता है। साथ ही वास्तविकता के दर्शन किसी एक निश्चित चरण में सम्भव नहीं होते बल्कि चरणों की एक श्रृंखला के साथ प्रतिक्रिया तथा सम्बन्ध में प्राप्त होते हैं। इतिहास का विकास केवल समय का परिवर्तन नहीं है और न ही मानव-बुद्धि द्वारा प्रकट मार्ग निर्देशन हुआ था, बल्कि बहुत ही स्वाधीन रूप से चरणों की प्रतिक्रिया तथा सम्बन्ध का परिवर्तन था।

हीगल के मतानुसार इतिहास का प्रवाह और मानव-समाज की आवश्यकताओं का विकास निश्चित नियमों के अनुसार होता है। प्रकृति में जो परिवर्तन होते हैं, चाहे उनकी लम्बा कितनी ही अधिक हो, उनका भी एक चक्र (Cycle) होता है जो निरन्तर चलता रहा है। कोई विकास कब पूर्ण होता, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। विकास का निर्धारण प्रकृत परिवर्तन और मन के अनुसार होता है। साथ ही साथ किसी चक्र विवेक में प्राप्त नहीं होते, बल्कि प्रकृत परिवर्तन

1. Philosophy of the Right, Sec. 379, note 370.

2. "History leads man and drags the foot."

प्रतिक्रियाओं के द्वारा कम, व्यक्तिगत और सम्मेलन सम्पन्न बाद, प्रतिवाद और मवाद (Thesis, anti-thesis and synthesis) के चक्र के विवर्धित चरण पर स्थित होते हैं।¹

इप्पल के विषय में हीगल की कल्पना (Hegel's Conception of Will)

हीगल ने इप्पल-विज्ञान सभी के बहुत विद्या है। यह कॉन्स्ट की धर्मि मनुष्य की इप्पल की स्वाधीन वाक्यता है जो कुछ मुख्य-ज्ञान का एक पक्ष होने के कारण वाक्यता, सर्वव्यापी, स्वयं-विस्तृत तथा सार्वक-निर्जुनिक (Eternal, Universal, Self-conscious and Self-determining) है। यही स्वतन्त्रता तथा पूर्ण इप्पल मान्य प्रकार के विचारों में अधिक्यता होती है। इसका प्रथम रूप कानून (Law), दूसरा धार्मिक सदाचार (Inward Morality) है और तीसरा रूप है "उन व्यवस्थाओं और प्रथाओं का समूह-व्यव विच्छेद राज्य में ग्राह्य प्रसारित होता है।"² हीगल कानून के सार्वभौम व्यक्तित्व (Personality), सम्पत्ति (Property) तथा कुविदा (Contract) को सम्पत्तित करता है। वे समस्त सम्पत्तई स्वतन्त्र इप्पल (Free Will) के ही प्रदर्शन के प्रकट रूप हैं। हीगल कानूनों और व्यवस्थाओं का निर्माण किसी एक निश्चित मान का स्थिर विज्ञान के नहीं करता बल्कि इतिहास द्वारा प्रदर्शित संरक्षित और सार्व-ज्ञान के आधार पर उनकी तुलना करता है। धार्मिक सदाचार और नैतिकता के सम्बन्ध हीगल ने "धारम-निर्णय के उन पहलुओं पर विचार किया है जिनमें कोई व्यक्ति अपने जैसे अन्य व्यक्तियों की कार्यवि में प्रभावित होता है।" इप्पल की सीढ़ी रूप में हीगल ने 'Sittlichkeit' के नाम से पुकारा है, जिसका अर्थित्व है सामाजिक नैतिकता (Social Ethics)। ऐसे धार्मिक व्यवस्था, सदाचारों जीवन, सन्निवृत नैतिकता यदि भी कहा जा सकता है। यह पहलु के सार्वभौम हीगल ने 'सदाचार की सामाजिकता' (Inwardness of Morality) और 'कानून की वाक्यता' (Externality of Law) का सम्मिलन किया है। इसमें प्रदर्शित नैतिक प्रकट, ऐति-विधान, कानून, सामाजिक स्वतन्त्रता और नैतिक इप्पल विहित है। 'Sittlichkeit' के पर्यायुक्त पहलु परिवार, नागरिक समाज और राज्य हैं।

हीगल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा (Hegel's Conception of Freedom)

हीगल के राजनीतिक चिन्तन का कर्णात्मक विद्यासालय विषय उसका वैयक्तिक स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार है। इसकी कमीसा करते समय मनुष्यधर्मि के रूप में यह सही तुलना चाहिए कि जब यह प्रथम राजनीतिक दर्शन का विवर्धित कर रहा था तब जर्मनी घनेक भाषा में विवर्धित था और विवर्धित हुआ था। इस कारण हमने इसे

1. गेगल : 'राजनीतिक दर्शन का इतिहास', भाग 2, पृष्ठ 621-22.

2. "The whole system of institutions and measures that make for righteousness in the State."

दु सगुलें कर्मो मे जर्मनी की राजन्योत्थिक कमजोरी का उल्लेख किया है और इनका प्रतिपक्ष जर्मनी को तगठिठ करने की व्यवस्था आचना से भर गया । इसी कारण उसने व्यक्ति को राज्य मे घलघलात् कर देने मे तनिक भी कसोब नही दिया । हीमल इन तथ्य से पूरी तरह घबरात था कि यद्यपि जर्मनी की जनता एक स्वतन्त्र राज्य बनना चाहती थी, तथापि उसने (जर्मनी ने) यह कभी भी अनुभव नही किया कि स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए राज्य का निर्माण सर्वप्रथम आवश्यकता है । प्राधुनिक मनुष्य के लिए स्वतन्त्रता केवल राष्ट्रीय राज्य मे ही स्थित रह सकती है और केवल राज्य ही पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए परिस्थितियों का निर्माण कर सकता है । इसीलिए हीमल ने राज्य का महत्त्व जोरदार शब्दों मे घोषित किया ताकि जर्मनी एकीकृत हो सके । उसके द्वारा प्रतिपादित स्वतन्त्रता के सिद्धान्त मे यही मूल विचार निहित था ।

हीमल स्वीकार करता था कि स्वतन्त्रता का सारा प्राधुनिक मनुष्य का मूल मान्य है । अपनी निजीआयक्षा मे वह यथोचित व्यक्ति, तथा हुई आन्नात्मक उपस्थिति का भी अनुभव कर चुका था, उसकी मान्यता थी कि कर्त्तव्यो का पालन । वृत्ति का साममतासाहकार सम्भव है । फिर भी अपने "राज्य वर्तन द्वारा उसने उस मानव स्वातन्त्रता का सर्वथा हानि हो किया जिसका प्रवर्तन सिव्हिल, लोक आदि ने किया था ।"

हीमल का कहना था कि पूर्व मे एक सर्वोन्मत्त सत्ताधारी राज्य ही स्वतन्त्र था । पूर्व के लोग इस बात से अभिभूत थे कि मनुष्य का आत्मा स्वतन्त्र है । युवान के सामनियुक्त स्वतन्त्रता का उदय हुआ और रोम मे समूर्ण मान्यता की प्रधानता हुई । युवान और रोम मे कुछ ही शक्ति स्वतन्त्र थे क्योंकि वही दास-द्रव्य विद्यमान थी; किन्तु मानव-स्वतन्त्रता का उदय जर्मनी मे ही हुआ । जर्मन राष्ट्रो ने ही सर्वप्रथम यह अनुभव किया कि मनुष्य-मनुष्य के लिये स्वतन्त्र है ।

हीमल के अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ और कॉन्ट की स्वातन्त्र्य-धारणा की धारणा—हीमल ने स्वतन्त्रता का व्यक्ति के "जीवन का सार" मानते हुए कहा था कि—"स्वाधीनता मनुष्य का एक विशिष्ट गुण है जिसे सर्वोत्तम करना उसकी मनुष्यता की आवश्यकता करता है । इसीलिए स्वधीन होने का अर्थ है अपने अधिकारी और कर्त्तव्यों की पहिचानि से देना क्योंकि राज्य के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु स्वाधीनता का प्रतीक नही हो सकती ।"

हीमल के अनुसार राज्य समय मे एक बाध होति हुए भी स्वतन्त्रता की प्रमाणित करने का एक साधन है । विचारणा का सार-सत्य स्वातन्त्रता ही है और स्वतन्त्र चेतना की प्रगति ही विश्व का इतिहास है । जर्मन जाति को ही सर्वप्रथम इस चेतना की अनुमति हुई कि मनुष्य एक मनुष्य के लिये स्वतन्त्र है ।

स्वतन्त्रता सम्बन्धी चार्लस का हीमल व कान्ट (Rawls) और कॉन्ट (Kant) ने बहुत कहा था, किन्तु इनका मन बहुत कुछ मौनिक है । उसने कॉन्ट की मान्यता की समझावट, सीमित चीज या-समरक (Negation, Limited

and Subjective) मानते हुए वह भी स्वीकार किया है कि राजनीतिक क्षेत्र में व्यक्तिवादी विचारों का प्रभाव है। राज्य सामाजिक रूप से व्यक्तिवादी नहीं है। स्वतन्त्रता अधिक विवेकात्मक और वस्तुपरक (More positive and objective) है।

हीमल के मतानुसार कॉन्ट की स्वतन्त्रता की धारणा स्कारात्मक इसलिए है, क्योंकि उसमें व्यक्ति की स्वातन्त्रता के लिए कोई स्थान नहीं है। कॉन्ट के लिए स्वतन्त्रता व्यक्ति के विषय का चर्चा करने में है। व्यक्ति का विषय मनुष्य के अस्तित्व में विद्यमान रहता है, पर स्वतन्त्रता एक मनोदशा है जिसकी अभिव्यक्ति विचारों के माध्यम से नहीं होती। मनुष्य स्वतन्त्रता विवेकात्मक होती है। उसकी स्वतन्त्रता का उपयोग करते समय व्यक्ति यह धन्यवाद करता है कि मानव-ज्ञान की प्राप्ति हो रही है।

हीमल कॉन्ट की स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारधारा को व्यक्तिवादी एवं सीमित मानता है। कॉन्ट की स्वतन्त्रता व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्धों की कोई महत्त्व नहीं देती। कॉन्ट के अनुसार व्यक्ति स्वतन्त्रता का उपयोग समाज के सहित रहकर ही कर सकता है। वह व्यक्ति को मान्य मानता है। किन्तु हीमल इसे अस्वीकार करते हुए कहता है कि स्वतन्त्रता एक सामाजिक तत्त्व है। कॉन्ट नहीं भी खोले नहीं देता है कि "मनुष्य स्वतन्त्रता की प्राप्ति समाज की भौतिक और सामाजिक सम्बन्धों के माध्यम से ही हो सकती है, जबकि हीमल की मान्यता है कि स्वतन्त्रता की प्राप्ति समाज के वैयक्तिक जीवन के माध्यम से ही सम्भव है।" वह व्यक्ति एक समाज में सम्बन्ध स्थापित करता है। उसकी मान्यता के अनुसार प्राकृतिक व्यवस्था में कोई स्वतन्त्रता नहीं हो सकती। इस सम्बन्ध में सैबिए (Sabiak) का रूपन है—

"हीमल की दृष्टि से वह मान्यता मान्यता ही एकमात्र मान्यता है जिसका अर्थ है वह प्रमाण कि व्यक्ति सामाजिक रूप से व्यक्ति है, उनके और केवल सामाजिक व्यवस्थाओं के विषय में ही है, परन्तु और सामान्य स्वतन्त्रता का मान्यता मान्यता है और व्यक्तिगत रूप से स्वतन्त्रता एक व्यक्ति से दूसरे सम्बन्ध में ही है तथा के सामाजिक व्यवस्था के अस्तित्व में है। हीमल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा-के मतानुसार वह है कि मान्यता व्यक्ति को मान्य-व्यक्तिगत को मान्य करने वाली नहीं है। सामाजिक व्यवस्था के अस्तित्व में ही है तथा के व्यक्तिगत का विकास होता है। व्यक्ति के विकास के लिए किसी न किसी प्रकार के सामाजिक व्यवस्था में मान्यता मान्यता है और विचार एक मनुष्य सामान्यता स्वतन्त्रता के मान्यता है।"

"स्वतन्त्रता" के बारे में हीमल और कॉन्ट की तुलना में निम्नलिखित विचारों का विकास है—

(क) हीमल स्वतन्त्रता की एक व्यक्ति विवेकात्मक एवं व्यवस्था-व्यवस्था विभागा प्रमाण करता है जो कॉन्ट के व्यक्ति सामाजिक है।

(ख) कॉन्ट के अनुसार स्वतन्त्रता एक मनोदशा है जिसका अर्थ है वह सामाजिक व्यवस्था के कोई प्रमाण सम्बन्ध नहीं है। इसकी स्वतन्त्रता अभिव्यक्ति विचारों

जीवन में नहीं होती। हीमल के अनुसार स्वतन्त्रता का उपयोग करते समय मनुष्य यह समझता है कि यह ध्यान-ज्ञान प्राप्त कर रहा है। उसके मत में स्वतन्त्रता का मूल ध्यान मनुष्य के धन्यकरण में न होकर सामाजिक उत्थापन में रहता है। उसकी स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति मर्यादा जल में होती है।

कॉन्ट के विरुद्ध हीमल इस कथन पर बल देता है कि वैयक्तिक स्वतन्त्रता की अनुमति सामाजिक क्षेत्र में भाव देने पर ही हो सकती है।

कॉन्ट और हीमल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी चारणा में मूलभूत अंतर यही है कि कॉन्ट के लिए विवेक व्यक्ति के धन्यकरण में निहित है और हीमल के लिए इसका साकार रूप राज्य है और यह उसके कानूनों के रूप में अभिव्यक्त होता है। बैसे दोनों ही इस बात पर पूर्ण रूप से सहमत हैं कि स्वतन्त्रता केवल अल्पकाल का समान नहीं है बल्कि स्व-निर्णय की शक्ति है और उसकी निधि (स्वतन्त्रता) बुद्धि द्वारा उन्नततर धारणा द्वारा नियंत्रित होने में है।

हीमल की स्वतन्त्रता सामाजिक जीवन में सम्मिलित है—हीमल के अनुसार स्वतन्त्रता सामाजिक है जिसकी शक्ति सामाजिक कार्यों में भाव देने से होती है। समाज और व्यक्ति के उपयोग के बिना कोई स्वतन्त्रता सम्भव नहीं है। सेबाइन (Seaborn) के शब्दों में, “हीमल का विश्वास था कि स्वतन्त्रता की एक सामाजिक व्यवस्था सम्पन्नता चाहिए। वह उस सामाजिक व्यवस्था की एक विशेषता है जो अनुमान के वैयक्तिक विकास के आधार पर उत्पन्न होती है। वह व्यक्तिगत प्रगति की चीज नहीं है। वह ही एक प्रकार की निधि है जो व्यक्ति की अनुमान की वैयक्तिक और वैयक्तिक क्षमताओं के सम्मिलन में प्राप्त होती है, यद्यपि उसे ऐसी प्रगति व्यक्तिगत अनुमति नहीं माला जा सकती। स्वतन्त्रता अभिव्यक्त इच्छा और व्यक्तिगत प्रगति की महत्त्वपूर्ण सामाजिक कार्य के निर्धारण में सहा देने में है।”¹ यही और चारण की भाँति हीमल का भी स्वतन्त्रता नामक विवेकन सिद्धान्त व्यक्तिगत अधिकारों पर नहीं, बल्कि सामाजिक कार्य पर आधारित था। हीमल का विश्वास था कि “सामुहिक राज्य में ईसाई आधार के सामाजिकता के विकास के अभिव्यक्त अधिकार और कार्यवन्तित कार्य के बीच ऐसा पूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जैसा सत्यता पर आधारित समाज में कभी सम्भव नहीं था। सामुहिक राज्य में सभी मनुष्य स्वतन्त्र हैं। राज्य की सेवा करते वे उन्नततम सामाजिकता को प्राप्त कर सकते हैं। व्यक्तिगत महत्त्वपूर्ण स्वतन्त्रता के स्थान पर राज्य में सामाजिकता की सामाजिक स्वतन्त्रता स्थापित होती है।”

हीमल का मत है कि धार्मिक राज्य के धार्मिक कानूनों का पालन करने में ही स्वतन्त्रता निहित है क्योंकि राज्य स्वतन्त्रता की सर्वोच्च और सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है। स्वतन्त्रता का विकास ध्यान का विकास है और ध्यान-वेतना की शक्ति राज्य में ही सम्भव है, इसीलिए राज्य स्वतन्त्रता की उन्नततम अभिव्यक्ति होगा चाहिए।

राज्य वृद्धि के विरोधी है । इसकी दृष्टि स्वतन्त्रता और श्रेय है । इसी श्रेय में स्वतन्त्रता सम्पन्न अधिकार प्राप्त करती है । व्यक्ति पर इस श्रेय का सम्पन्न अधिकार होता है और व्यक्ति का सर्वोच्च कर्त्तव्य राज्य का सर्वस्व होना है । व्यक्ति और राज्य के सामाजिक हितों में कोई अन्तर नहीं है । व्यक्ति स्वतन्त्रता को अभी प्राप्त करता है जब वह सामर्थ्य राज्य के प्रादुर्भाव नियमों का पालन करे । यह उसी क्षीमात्मक स्वतन्त्रता की प्राप्ति कर सकता है जिस क्षीमात्मक वह अपने सामर्थ्य राज्य और उसकी समस्याओं से अनिश्चितता प्राप्त करने के लिए एकत्र कर लेता है । इस तरह व्यक्ति की स्वतन्त्रता राज्य के उद्देश्य की ही अन्तर्गत उद्देश्य सम्बन्ध में है । इसी प्रकार व्यक्ति वैयक्तिक गरिमा और स्वतन्त्रता प्राप्त करता है । राज्य की सेवा के लक्ष्य की अन्तर्गत होने पर और राज्य के उद्देश्य की अन्तर्गत उद्देश्य सम्बन्ध में ही व्यक्ति की गरिमा का विकास हो सकता है कि उसकी दृष्टि विवेकपूर्ण है । व्यक्ति की बुद्धि सम्पूर्ण और उसकी मान्यताओं और भावनाओं से सम्पूर्ण ही बनती है । दिव्यमान्यता प्राप्त करने और मान्यताओं की मान्यता के स्वतन्त्रता प्राप्त करने का लक्ष्य एक ही कार्य है और यह है राज्य के सामर्थ्य सम्बन्धपूर्ण सम्बन्ध कर देना जिसमें विवेक बुद्धि की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है ।¹

होगल की मान्यता है कि "मानव द्वारा वे स्वतन्त्रता की ही सर्वोत्कृष्ट कल्पना है, उसी का लक्ष्य रूप राज्य है ।" राज्य के बिना स्वतन्त्रता की मान्यता का ही सिद्ध नहीं होता । होगल का तर्क इन प्रकार है—"स्वतन्त्रता विवेकपूर्ण मान्यता का पालन करने में है, पर एक व्यक्ति का निश्चय स्वाधीनता ही मान्यता नहीं होता । कभी-कभी वह सामाजिक और समस्याई कारणों से प्रभावित हो जाता है और किसी निश्चित हित की और झुक जाता है । किन्तु राज्य के कारणों द्वारा व्यक्ति विवेक में ही दीप्त नहीं होता । यह सर्वोच्च होता है, निश्चित नहीं । यतः, सभी स्वतन्त्रता राज्य की मान्यता का पालन करने में ही है । व्यक्ति स्वतन्त्रता का सम्बन्ध स्वतन्त्रता के सामर्थ्य मान्यता की अन्तर्गत राज्य के सामर्थ्य के रूप में अधिक सामर्थ्य रूप में करता है ।" राज्य कभी सामर्थ्यमान्यता रूप में कार्य नहीं कर सकता । राज्य का मुख्य ही करता है, वह सामर्थ्य दृष्टि की अभिव्यक्ति होती है और इस प्रकार वह प्रत्येक व्यक्ति की सामर्थ्य दृष्टि के सम्पूर्ण होती है, यतः कि जब और केवल की ओर के मान्यता जाता है या राज्य का वह कार्य अपनी सामर्थ्य दृष्टि के सम्पूर्ण ही होता है । वह न तो मान्यता के अपनी स्वतन्त्रता की प्राप्ति करता है । स्वतन्त्रता राज्य की नियमों का पालन करने में है । स्वतन्त्रता और सम्पूर्ण दृष्टि है, क्या होगल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा प्रामाणिक है ?

होगल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों से यह कारण उत्पन्न हुई है कि निम्न के द्वारा वे अधिक स्वतन्त्रता एक प्रति मान्यता नहीं है क्योंकि उ कि द्वारा प्रतिपादित राज्य में व्यक्ति सम्पूर्ण, स्वतन्त्र नहीं, व्यक्ति सम्पूर्ण है । होगल व्यक्ति पर राज्य के

सार्वभौम नियन्त्रण की ताद देता है और स-कल: उसका विद्यालय वैयक्तिक स्वतन्त्रता के विरोध हो जाता है। इस कारण के बोधे, कि होगल व्यक्ति को राज्य का दास बना देता है, निम्नलिखित कारण है—

1. होगल के अनुसार राज्य एक सर्वव्यक्तिमान समुदाय है और कोई भी व्यक्ति राज्य की सक्ति को पर्याप्त नहीं कर सकती यहाँ तक कि बिना द्वारा शासन की स्थापना करने वाला व्यक्तिमान भी राज्य की सर्वोच्च सक्ति को प्रत्यक्षन भी सीमित नहीं कर सकता।

2. होगल राज्य के विरुद्ध नागरिकों के किसी अधिकारी की कल्पना नहीं करता और राज्य को सर्वोच्च व्यक्ति की सक्ति दृष्टिकोणों के ऊपर मानता है। अतएव और लेखन की स्वतन्त्रता, जल्दा द्वारा अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन और स्वयं बिधि-निर्माण के अधिकारों का साथ स्वतन्त्रता के साथ प्रतिष्ठ सम्बन्ध सम्भल जाता है, लेकिन होगल इन अधिकारों को व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए रबीकार नहीं करता। उसके मतानुसार ही राज्य के कानून प्रत्येक दशा, प्रत्येक परिस्थिति और प्रत्येक रुद में वैयक्तिक बुद्धि से सम्बन्धित है तथा व्यक्तियों के सामने इनके प्रतिनिधित्व कोई विचार नहीं है कि वे इन कानूनों का पालन करें और राज्य के प्रत्येक के समक्ष अपना पूर्ण मान-समर्पण कर दें। होगल राज्य को विरुद्ध व्यक्ति के अधिकार को प्रतीकार करता है और ऐसी किसी भी परिस्थिति का अन्वेष नहीं करना जिसके राज्य की क्षयता करता वचित हो।

3. होगल ने राज्य और उसके सदस्यों के हितों में विरोध की किसी भी कल्पना को अपनी विचारधारा में स्थान नहीं दिया है।

4. होगल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा में 'व्यक्ति' शब्द के अर्थ को समझने में भ्रम की गई है।

5. राज्य में व्यक्ति को प्राप्त होन स्थान देने के आरोप में बोधे एक कारण होगल की यह मान्यता है कि व्यक्ति को प्राप्तस्विक स्वतन्त्रता राज्य के कानूनों के पालन में है। जल्दा कानूनों का निर्माण नहीं करती बल्कि उन्हें पार पीटियों के द्वारा करती है।

आलोचकों ने उपर्युक्त कारणों के आधार पर ही होगल की स्वतन्त्रता की एक भेदति माना है। उनका आरोप है कि होगल ने मान्य एक कथार्थ राज्यों के भेद की ठीक तरह से न समझ कर राज्य के कानूनों और स्वतन्त्रता की एक मात्र किया है। होगल कानूनों को जल्दा की दृष्टि की सम्मिश्रित नहीं मानता जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि सम्पूर्णक बादे गए कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता की सम्मिश्रित नहीं कर सकते।

किंतु वे सब आरोप जल्दा समय आलोचक भ्रम जाते हैं कि होगल राज्य को व्यक्ति पर ऊपर से बोधे हुई सत्ता नहीं समझता, बरन् उसका निराधार है कि राज्य स्वयं 'व्यक्ति' के ही सर्वोच्च रूप की व्यक्त करता है। 'व्यक्ति' की सच्ची आत्मा ही राज्य के रूप में प्रकट होती है और राज्य की आधीनता स्वीकार करने में

यह खन्ने ही घातमा की मधीनता स्वीकार करता है। हीमल ने राज्य की घातमा में व्यक्ति की सम्बन्धत इच्छाओं के दर्शन किए हैं। व्यक्ति की इच्छाओं तथा राज्य की इच्छाओं में सम्यक् नही है क्योंकि दोनों में एक ही घातमा का विकास है। एक का विकसित रूप दूसरे में निहित है। यद्यः इस दृष्टि से यह स्वीकार करने में कोई क्लेश नही होनी चाहिए कि हीमल के विषय यह धारणा कि यह व्यक्ति को राज्य का पूर्ण दास बना देता है, उचित नही है। उनके सिद्धान्त की समझने में भ्रंश होने के कारण ही उसके विषय ऐसा समझा जाया जाता है। लेकिन जब यह समझ लिया जाता है कि राज्य व्यक्ति के कर्तव्य रूप की ही अभिव्यक्त करता है और राज्य के समक्ष जिस नीति का बलियान किया जाता है वह व्यक्ति का मात्र स्वार्थ-पूर्ण एवं शक्तिपूर्ण रूप है तो घातमा तथा विभिन्न यह जाती है फिर यह भी समझनीय है कि "यह राज्य जिसे हीमल ने 'पुष्पी पर ईश्वर का सम्बन्ध' कहा है कोई स्वार्थ-जर्मनी का दृष्टी का राज्य, यथवा और कोई विशिष्ट ऐतिहासिक राज्य नहीं है, बल्कि यह एक विशाल-वस्तु का राज्य है जिसका किसी देश और काल में नहीं समित्व नही था। ऐसे पूर्ण राज्य में व्यक्ति को राज्य की वेदी पर बलियान किए जाने का प्रश्न ही नहीं उठता।" हीमल जैसा धार्मिक राज्य इस स्वार्थकारी विश्व में उत्पन्न नही है। पुनः, इस तथ्य को ध्यान कर देना हीमल के प्रति सम्मान हीमा कि राज्यविहीन समा में स्वतन्त्रता की सम्पत्ता करना कठिन है। राज्यविहीन समा सत्ताशक्ति की दशा होगी जिसमें स्वतन्त्रता के स्वप्न पर उपद्रुत्यता का साम्राज्य होगा। व्यक्ति को सभी स्वतन्त्रता ही राज्य ही प्रदान करता है। हीमल के लिए राज्य का उद्देश्य बल रूप से व्यक्ति की स्वतन्त्रता का क्षेत्र विस्तृत करना है, न कि उसे सीमित करना।

हीमल के मन्थन यद्य में घटना कहने पर भी यह नही भुलाया जा सकता कि हीमल के राज्य की कल्पना एक निरंकुश, सर्वसक्तिमान तथा सर्वव्यापक राज्य की कल्पना है जिसमें व्यक्ति की स्वातन्त्रता का अस्तित्व सभी सम्भव होगा जब यह राज्य के धारकों का सील भीय कर पालन करे। हीमल व्यक्तिगत विचारों को कोई महत्व नही देता, चाहे वह कितना ही सम्मान-युक्तकर किया गया हो। यह कर्तव्य की केवल आज्ञा-पालन मात्र सम्पन्न है। उसके लिए भेद-भावविमता का अस्तित्व कर्तव्य-क्रिया की सीमाएं करना सर्वोत्तर सरकार द्वारा निर्धारित नियमों का पालन करना है। अपने अधिकार-संगत पन्थ (Ethnology of Rights) की मूलिका में हीमल ने राज्य की सत्तीयता की राजनीतिक दर्शन का अविचार क्षेत्र नही माना है। हेकाइन के मतानुसार "हीमल द्वारा उदात्त राज्य की साम्प्रदायिक एकीकृतता तथा नास्तिक सम्प्रदाय के राजनीतिक कक्षों में किसी प्रकार का उचित सम्बन्ध नही मान्य रहता। हीमल के स्वतन्त्रता-मिशन में किसी भी प्रकार की नगरित यथवा राजनीतिक स्वतन्त्रताओं का समावेश नही है।"¹

हीगल के राज्य और स्वतंत्रता सम्बन्धी विचार उनके दर्शन की सामोचन के प्रथम पे और भी अधिक स्पष्ट हो सकते हैं।

हीगल के दर्शन की सामोचन (*Criticism of Hegelian Philosophy*)

हीगल विचार का बहुमूल्य दार्शनिक माना जाता है और कहा जाता है कि अपने दार्शनिक विचारों में उन्होंने अन्तिम सत्य को प्राप्त कर लिया था, किन्तु कुछ अन्य विचारकों द्वारा उनके दर्शन की बहुतम सामोचन की गई है।

1. हीगल का इन्द्रजाल बहुत घमण्ड है। उसकी सबसे प्रशंसनीय दृष्टि और प्रत्यक्ष दुष्ट है। अन्ततः सच्ची की मनमाने रूप से वर्ण-सम्मत बताया गया है और अनेक पारिभाषिक शब्दों का ऐसा प्रयोग प्रयोग किया गया है कि जगत् कोई उपयोग ही नहीं रहा है। उसकी स्वैच्छाचारिता तथा प्रवैयक्तिकता ने हीगल की पद्धति की बहुत ही कोमिल और निरुपद्रव बना दिया है। उनके इन्द्रजाल के अनेक उपकरण 'ऐतिहासिक आवश्यकता' की पुरोयः स्वीकार करना पड़ता है क्योंकि अपने ऐतिहासिक में विश्व साक्षरता का दर्शन किया है, वह भौतिक व्यवस्था भी है और वैयक्तिकता भी। जब हमने कहा कि जर्मनी के लिए एक राज्य का रूप प्रस्तुत करना आवश्यक है तो उसका मान्य था कि सम्पत्ता और राष्ट्रीय जीवन के हित की दृष्टि से वह सर्वोत्तम है और कुछ ऐसी साक्षरता दृष्टिगत की है जो उसे इस ओर प्रेरित कर रही है। इन्द्रजाल पद्धति में इस प्रकार वैयक्तिक निर्णय तथा ऐतिहासिक विचार के साक्षरता विषय की सम्मिलित विधायी पद्धति गई है। वैयक्तिक निर्णय, प्रत्यक्षता और विश्व का आधार स्पष्ट है।

2. हीगल के द्वारा समाज और उसकी व्यवस्थाओं की व्याख्या करने के लिए इन्द्रजाल सिद्धान्त का प्रयोग अनुपयुक्त और अव्यक्त सिद्ध हुआ है। आत्मा प्रकटी दार्शनिक विचारधारा ने अपने कला की 'वाद', धर्म की 'प्रतिवाद' और दर्शन की 'कला' या 'प्रत्यक्षता' माना है। पर धर्म को कला के विपक्ष मानने और कला तथा दर्शन के सम्बन्ध की ओरानु और आदि के सम्बन्ध ज्ञान करने की बात समझ में नहीं आती। नेटलिन (Carr-Saunders) के अनुसार, "जीवन के अनुभवों की वाद, प्रतिवाद और समाज के अनुसार प्रकृत कला एक कथोरक मानविक आनाम है। इन्द्रजाल मानविक आनाम के रूप में महत्वहीन नहीं है, किन्तु विवेक-विज्ञान (Interpretative Principles) के रूप में अविश्वसनीय है।"¹

3. हीगल ने अपने इन्द्रजाल पद्धति द्वारा राज्य की निरूपणता को प्रकट किया है। इन पद्धति का प्रयोग यह सिद्ध करने के लिए किया गया है कि राज्य वैयक्तिक प्रज्ञा (Divine Reason) की सर्वोच्च और सम्पूर्ण अभिव्यक्ति है, यह दो सम्पूर्ण राष्ट्रीय विकास का उद्देश्य माना जाता चाहिए। हीगल ने तो इन्द्र और राज्य साक्षरकरण में एकता होने का प्रत्यक्ष किया, नेटलिन वाद ने कार्य मासों के दोनों

को पुनर्कृ कर दिया। उसने इन्द्रजात को सपनासे हुए हीनता से एक सर्वथा भिन्न परिणाम निकाला। मार्क्स के हाथों से यह सपना के एक बड़े टुकड़ दूसरे बड़े के सीधे-सीधे और सतत बनाने के मन्त्र से राष्ट्रीय राज्य के विरोध का आधार बन गया।

4. हीगल परम राष्ट्रीयतावादी धार्मिक या जिनसे व्यक्तित्व तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता का राज्य की बेटी बन प्रतिदान कर दिया। यह एक सर्वव्यक्तिमत्ता निरन्तर राज्य का पुत्रों का। मार्क्स के जन्मे से उसने "राष्ट्रीय राज्य की एक रहस्यमय स्तर (To a mystical height) तक पहुँचा दिया है।"¹ वास्तवों तथा सत्ता के दार्शनिकों ने राजाओं के देवी अधिकार की बात कही थी, लेकिन हीगल ने राज्य के देवी अधिकार की स्थापना की। हीगल का सर्वव्यक्तिमत्तावादी राज्य (Totalitarian State) अन्तर्गत के राज्य बन नहीं जाता। फ्राइबर ब्रॉउन (Ivan Brönn) के अनुसार आन्तरिक दुष्टि से हीगल के सिद्धान्त का आधार है धार्मिक दार्शनिक, वैदिक दार्शनिक, दार्शनिक वैयक्तिक भक्ति, राष्ट्रीय विरोध के लिए युद्ध, धार्मिकता से वैयक्तिक-पन ईश्वर की ओर युद्ध-काल में 'मालोच' (Maloach) की उद्घाटन।² दार्शनिकों ने हीगल की 20वीं शताब्दी की दो बड़ी सर्वव्यक्तिमत्तावादी विचारधाराओं-वासीकर और साम्यवाद का मूल हीन माना है। ऐबेनहोर्न (Ebenhorst) का धारणा है कि "हीगल ने सक्ति और वैयक्तिकता को परिचित बना दिया है।"³

5. हीगल ने स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को लोड-गोड कर 'स्वतन्त्रता' की 'आत्मकारिता' का रूप दे दिया है और इसी प्रकार स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को ध्वस्त कर 'अनुमान' का पर्यायवाची बना दिया है। उसने व्यक्तित्व के व्यक्तित्व के सिद्धांत को परिचित कर अनुभवों की वैयक्तिक सक्ति की प्रवृत्ति का मतिका बनाकर उन्हें राज्य में धारणा कर दिया है। लोड (Load) के संदर्भ में, "राज्य का निरन्तर विद्रोह व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता का अनु है क्योंकि जब भी व्यक्तित्व और राज्य में कोई संघर्ष होता है तो इसके अनुसार राज्य ही सही होता चाहिए।" हीगल किसी भी बात में राज्य के विद्रोह विद्रोह का अधिकार प्रदान नहीं करता।

राज्य और स्वतन्त्रता के बारे में हीगल पर आरोपों की जो बीछन की गई है, उसके बावजूद हीगल के मतों में यह बहुत बड़ा सपना है कि उसने राज्य और व्यक्तित्व को एक-दूसरे के विद्रोह सदा नहीं किया है बल्कि राज्य की धारणा से व्यक्तित्व की उच्चतर दृष्टियों के दर्शन किए हैं। एक का विकसित रूप दूसरे के विद्रोह है, बात यह प्रमाण ही नहीं पड़ता कि व्यक्तित्व राज्य का दाता है। हीगल के अनुसार राज्य की सक्ति निरन्तर ही है, लेकिन पक्का नहीं है। राज्य विद्रोह का प्रतीक है। इसके बावजूद विद्रोहपूर्ण होते हैं। निम्न राज्य के अधिकारियों की व्यक्तिगत पर आधारित सक्तिों की परीक्षा करते हैं और अधिकारियों के पद की सत्ता को व्यक्त

1. Barker : Political Thought in England, p. 20-21.

2. Ivan Brönn : English Political Theory, p. 143.

3. Cheyenne : Great Political Thinkers, p. 135.

कर्मों है, यदि उसकी व्यक्तिगत दुःखों धारणा निर्मूल्य हो। निरनुपमता का उत्पन्न विधि-विहीनता और हीनता के रास्तों पर व्यक्तिगतिक साधन का उत्पन्न इन विधि-विहीनता ही दूर कर सुरक्षा को उच्च देता है। हीनता की दृष्टि में राज्य व्यक्ति पर कोई बाह्य से बोझी हुई पड़ता नहीं है। व्यक्ति व्यक्ति की साधना है। राज्य व्यक्ति के सर्वोत्तम रूप की अभिव्यक्ति है। राजासाधन मान्य करने के व्यक्ति स्वयं अपनी ही साधना का पालन करता है। हीनता की दृष्टि में राज्य स्वयं रूप से व्यक्ति की स्वतंत्रता का क्षेत्र निरनुपम करने के लिए है, सीमित करने के लिए नहीं। हीनता के सिद्धान्त के राज्य की वह कटकर टुकड़ा देना उचित नहीं है कि कर्षार्थ राज्य हीनता के साधने राज्य से बहुत दूर है और हीनता का सिद्धान्त कल्पना-अवयव में ही नहीं ही सकता है, व्यावहारिक अवयव में उसे लागू नहीं किया जा सकता। इसे उच्च ध्यान में रखना हीनता कि किसी भी विचार धारणा विषय को दृष्टि साधारण पर चलत नहीं कटता जा सकता कि कर्षार्थ जीवन में दिखाई नहीं देता। पति के प्रथम विषय को किसी ने दृष्ट साधारण पर नहीं दुर्कटाया कि वास्तविक जीवन में उपकार पूर्ण रूप दुष्टिमीवर नहीं होता। हीनता का सिद्धान्त दृष्ट साधारणभूत राज्य की ओर खींच करता है कि मनुष्य की सामाजिक वैयक्तिकता, जिसकी अभिव्यक्ति राज्य की विधियों द्वारा होती है, राज्य की विधि के अनुकूल साधारण में है। वेद भी समझीय है कि हीनता राज्य के वास्तविकता का विनियम करने के पालन करने को स्वतंत्रता नहीं मानता व्यक्ति वह कटता है कि स्वयं स्वतंत्रता की अनुभूति के लिए उन्हें स्वेच्छा से राजाशाही का पालन करना चाहिए, धारणा वह धारम-निर्णय नहीं होता। हीनता का दोष नहीं है कि वह व्यक्ति के राज्य की स्वतंत्रता के अभिव्यक्ति को स्वीकार नहीं करता और उसका सिद्धान्त जीवन के सभी पर लागू नहीं होता।

सेनापति ने अपने एक 'राजनीतिक दर्शन का इतिहास' में एक स्थान पर लिखा है कि—

“होम का विनाश वा (कदाचित् उसने अपने इस विचार को कही स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं किया है) कि प्राथमिक सन्निधानिक शासन मुक्तकाल के किसी भी क्षण की असीमा अनिश्चितता के निमित्त वा सन्निक सागर करता है और यह स्थिति के माध्यमियों के अधिकार को अधिक महत्व देता है। इसका अभिप्राय यह भी निगमना है कि मनुष्य के अधिकारों का सम्मान दिया जाना चाहिए। लेकिन यह निगमना कि मनुष्य वा मनुष्य के मते सुलभ है, इस विचार से मेल नहीं खाता कि उनके नैतिक निर्णयों केवल मन की तरफ हैं। यद्यपि उन सब महत्व समान के अन्तर्गत भिन्न के कारण है तथा ऐसे मामलों का नैतिक साध्य राष्ट्रीय राज्य द्वारा प्राप्त किया जाना है।”

सूत्रम्, "इसी प्रकार का प्रतिपादन और भव हीमल के इस विचार के निहित है कि राज्य व्यवस्था नैतिक मूल्यों को प्रकट करता है। हीमल के इस ग्रन्थ का साम्प्रदायिक आधार पर समाधान करने का प्रयास किया था। यह बात साम्प्रदायिक पर आधार भी स्पष्ट नहीं है कि एक राज्य, जो विचारणा की केवल एक प्रतिपादित

है, कला और धर्म के समस्त मूल्यों को निज-प्रकार व्यक्त कर सकता है। यद्यपि इन मूल्यों के एक राष्ट्रीय संस्कृति से दूसरी राष्ट्रीय संस्कृति में स्वामान्तर की कितने प्रकार व्याख्या कर सकता है। हीगल के कला और धर्म के बारे में वक्तव्य बड़े सफल थे। कभी-कभी वह उन्हें राष्ट्रीय स्वतंत्रता की सृष्टि मानता था, किन्तु वह ईसाई धर्म को न तो किसी एक राष्ट्र का परमाधिकार समझता था, न उसका वह विचार था कि कला और साहित्य सर्वत्र राष्ट्रीय ही होते हैं। दूसरी ओर उसके दृष्टिकोण से ऐसा कोई सामान्य यूरोपीय या मानव समाज भी नहीं था जिसने अपना सम्बन्ध ही सकता था, क्योंकि राष्ट्र के बिना प्राकृतिक संस्कृति व परम्परा विशेष-भाषा मान है। इस तथ्य का कारण शायद यह है कि हीगल के पास विद्वत् राजनीतिक दृष्टिकोण पर और धर्म के सम्बन्धों के बारे में सशक्त ज्ञानरामा की स्वतंत्रता के बारे में बहने के लिए कोई फल वाला नहीं था।¹

6. हीगल ने विचार-इतिहास एवं देवी-कविता दोनों की ही व्याख्याएँ किसी एक विशिष्ट उद्देश्य के समर्थन के लिए की हैं, यद्यपि उन्हें निम्नतः व्याख्या नहीं माना जा सकता। हीगल अपनी व्याख्याओं द्वारा जर्मनी के गौरव में सार्वभौमिकता का बहाना था।

7. हीगल राज्य एवं समाज में किसी प्रकार का अन्तर नहीं मानता। राज्य की निरनुपमता का प्रतिपादन करने की भीषण में वह दोनों की एक मानने की बात कर बैठा है। उसने यह समझने का प्रयत्न ही नहीं किया है कि राज्य और समाज की बिना इकाईयाँ हैं और उसने सम्बन्धोन्मादित सम्बन्ध है। यदि दोनों में यह भेद न रहे तो अलगाव का निरूपण प्रकार के राज्य की स्वेच्छाचारिता से दमन ही जाना, व्यक्तिगत स्वतंत्रता नष्ट हो जाना और राज्य की मानव जीवन के प्रत्येक पहलू पर नियन्त्रण प्राप्त हो जाना आवश्यकताओं हैं।

8. हीगल का राष्ट्रीय-राज्य का सिद्धान्त अन्तराष्ट्रीय सार्वभौमिकता (internationalism) की सीमा का उत्थान है। हीगल की दृष्टि में अन्तराष्ट्रीय कानून केवल परम्परा मात्र है जिसे कोई प्रकृत-नियम राज्य इच्छानुसार स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है। वैयक्तिकता और अन्तराष्ट्रीय सार्वभौमिकता के आधार पर अन्तराष्ट्रीय क्षेत्र में राज्य पर वह किसी भी प्रकार के-नियम की परीक्षा कर सकता है। उसकी मान्यता है कि जो भी अन्तराष्ट्रीय क्षेत्रों में स्थापित हो जाते हैं वे अत्यन्तकालीन होते हैं, यहाँ तक कि कभी-कभी परिवर्तनीय होती हैं। जोर्ड (Joerd) के अनुसार, "हीगल का राज्य-सिद्धान्त वैयक्तिकता के अन्तर्गत हीगल के विचारों है एवं परराष्ट्र नीति के क्षेत्र में वर्तमान राज्यों के सिद्धान्त-विहीन कालों की इसमें मान्यता मिल सकती है।"²

वास्तव में हीगल के अन्तराष्ट्रीय सम्बन्धों के विचार सफलता की सीमा को छूटे हैं। हीगल की विचारधारा के आधार पर राज्य अपने अंतर्गत एवं अन्तराष्ट्रीय मामलों की भी वैयक्तिकता और व्यक्तिगत का ज्ञान रहता सकते हैं। परराष्ट्र

1. मैकलर : राजनीतिक विचारों का इतिहास, भाग 2, पृष्ठ 668.

2. Joerd : Modern Political Thought, p. 17.

नीति के क्षेत्र में राज्यो के सिद्धान्तहीन कार्यों की मान्यता प्राप्त होने का प्रतिबन्धन परिणाम विभव-शान्ति और कल्याण का बड़ा पोट देता है। ऐसी कितनी भी पाठशाला को स्वीकार करने का कार्य स्पष्ट हो बिनाश और क्षयान्ति को निम्नकर देता है। यह ठीक है कि राज्य की सुरक्षा सर्वोच्च है, लेकिन इसके समर्थन करने के लिए ऐसी पाठशाला को अन्य देना उचित नहीं कहा जा सकता, जिससे राज्य की इच्छा को सीमित करने वाले अन्तराष्ट्रीय कानून और सदाचार आदि के प्रतिबन्धन का ही चुनौती दे दी जाए। हीनत बुद्ध का पुत्रादी है और बुद्ध को एक प्रतिबन्धन मानता है। वह बुद्ध को मानव-सम्बन्ध के विकास एवं राज्य की सर्वोच्च नीति का परिचय देने के लिए एक एवं उपयोगी साधन समझता है। उसका बुद्ध और अन्तराष्ट्रीय कानून की उद्देश्य की शिक्षा देने का सिद्धान्त भ्रष्ट, विनाश एवं संहार की ओर ले जाने वाला है। सच्चाई तो यह है कि उसका सिद्धान्त जीवन की सकारणताओं से बहुत दूर दार्शनिक कल्पना का एक घट है।

9. "नीति के तथा ईश्वर की दृष्टिकर अन्य सर्वोच्च विचारों पर हीनतवाद का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। यह बाद उनके राजनीतिकन की पद्धति का उद्घाटन करता है और उनके सांप्रदायिक प्रसिद्ध राज्य सम्बन्धी प्रयोगों की हेतु दृष्टि में देखाता है। वे इसे अपने तथा पाठक मानते हैं। बुद्ध पहले की विचार है कि इसका मत कर देना चाहिए। होमरुद्ध-ने अपनी पुस्तक 'द मेटाफिजिकल थ्योरी ऑफ़ दी स्टेट' (The Metaphysical Theory of the State) में हीनतवाद की अपनी का मतन की विचार के लिए जेफ़रिथ (Zepherus) द्वारा देना गया काम मानता है। उनके अनुसार यह बुद्ध ऐसी चीज है जिसका प्रभाव बुद्धों के कही अधिक होता है।"¹

10. "हीनत के कानून तथा उनके सम्बन्धी-विचार उलझे हुए हैं। उसका लक्ष्य-सिद्धान्त सर्वोच्चता का कोई तथा सिद्धान्त नहीं है। उसके लक्ष्य-सम्बन्धी अन्तर्गत एक दुर्घटना के लक्ष्य ही विशेषी है जिसने दण्ड और अपराध। जो सिद्धान्त हीनत के अनुसार राज्य की देखा बताता है, और मानव के अनुसार उसी राज्य की राजत, यह अधिक मुख्यवान नहीं हो सकता। हम यह कह सकते हैं कि जिस प्रकार 18वीं शताब्दी में प्राकृतिक विषय का सिद्धान्त दार्शनिक प्रसिद्ध हुआ कि वह सभी मनुष्यों की प्रकृति द्वारा कल्पाने ग्राह्य के सिद्धान्तों की प्रतिपादित करने (Declaration) की माता देता था, उसी प्रकार 19वीं तथा 20वीं शताब्दी में सर्वोच्च का हीनतवाद 'दार्शनिक-प्राकृतिक' हुआ कि अपने मनुष्यों की हीनत में राज्य के मानव-सम्बन्धी मान्यताओं की हीनत सिद्धान्तों के अन्तर्गत की अनुमति दे दी।"²

11. हीनत एक जादू-र की नीति करने जातुई अपने से नीचे की लक्ष्य-देखने बतल देता है। यह कहता है कि विज्ञान का लक्ष्य वस्तुपरक (Objective) है और 'जादू में' भिन्न कहता है 'राज्य की बाह्य राज्य की रक्षा करनी चाहिए।' इसके प्रतिरिक्त वह स्पष्टता तथा साक्षात्-मानव में उपायता स्थापित करता है।

साथ ही वह समानता का आदात्म्य अनुमान से भी करता है। व्यक्तिों की वह बड़ी शक्ति के हाथ की कठपुतली मानता है। इस प्रकार स्वतन्त्रता, कमानता तथा व्यक्ति, सभी का उसके आहुति कण्डे में पिघोव कर दिया।¹

12. होमर का राजदरजेन आचलकता से अधिक बुद्धिवादी है। वह एक अनुभवशून्य और शुष्क दार्शनिक के रूप में प्रकट होता है। भयवश वह यह मान बैठा है कि 'विवेकशीलता ही वास्तविकता है और वास्तविकता ही विवेकशीलता है' (Rational is real and real is rational)। यदि दार्शनिकता के कारण होमर का दर्शन कसबा मान रह गया है। बौद्ध के मत में होमर की इस दार्शनिकता का प्रमुख कारण स्वार्थित व्यवस्था के प्रति उसका एक अनुभववाक्यपूर्ण सम्मान तथा परिश्रम समझा समझाव करने वाली प्रत्येक दुकाई के प्रति अविश्वास था।

13. होमर उत्कृष्टीय व्यवस्था की कसबा के संदेश में अपनी अधिक तीव्रता लाध गया है कि उसका आदर्शवाद अज्ञानवाद का अनुवाद बन गया है। होमर ने अपनी सर्वज्ञता की उत्तीर्ण बड़ी कठिनाई का दिया क्योंकि वह उत्कृष्ट ही नहीं थी। जर्मन निरुत्कृष्टता एवं सर्वज्ञतावाद होमर के विद्वान का ही एक परिणाम था—वह कहता अनुचित न होता।

पर इन सब आलोचकों के साथ ही देखाए के इस अनुचित विचार को ध्यान में रखना चाहिए कि—'होमर का दर्शन एक प्रकार से शक्ति के आदर्शिकरण का दर्शन था। इसमें शक्ति से कुछ न मान्य किसी की धारण के प्रति एक प्रकार की प्रवृत्ति का भाव था। इसमें शक्ति को एक प्रकार का वैदिक और व्यावहारिक आदर्श माना गया था। इसमें राज्य की एक ऐसी आध्यात्मिक पराजित पर प्रतिष्ठित किया की अन्तराधीन विधि के नियन्त्रण के परे था और जिसकी वैदिक दृष्टि से भी धारणना नहीं हो सकती थी। राजनीतिक विषयों की दृष्टि में होमर का राज्य-विद्वान्त उदात्त-विरोधी था। इसमें स्वतन्त्र उत्कृष्टवाद की उपासना रूप में दिया गया था तथा अनुवाद में राजवर्गीय और राज्यता का रूप धारण कर लिया था। लेकिन वह अविद्यान-विरोधी नहीं था। इसमें अविद्यानवाद के बारे में एक ऐसी दृष्टि के विचार किया था जो उन देशों के रूप में मिल था जहाँ उदात्तवाद तथा अविद्यानवाद एक ही राजनीतिक आन्दोलन के बहुत थे। इसका धर्म था 'अनुभवों का नहीं, बलिक विधि का शासन।' होमर के अविद्यान में लोकतन्त्रवादी प्रविष्टियों के स्थान पर मुख्यधर्मित औरताही-शासन का भाव निहित था। इसमें जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा का आकाशमन दिया था तथा इस बात पर भी जोर दिया था कि शासन की लोक-कल्याण की व्यवस्था होती चाहिए, लेकिन इस बात के लिए वह आवश्यक नहीं है कि शासन लोकतन्त्र के प्रति उत्तरदायी हो। वह कार्य एक ऐसा राजकर्मकारी-वर्ग कर सकता है जो आर्थिक भावना के अनुप्राणित हो और जो धार्मिक तथा सामाजिक द्विती के समर्थ से उत्तर हो। इसका व्यावहारिक अर्थ यह था कि राजनीति

की ऐसे लोगों के हाथ से जोड़ दिया जाना चाहिए जो कुल तथा व्यावसायिक दक्षता द्वारा साक्ष्य करने योग्य हैं। यह प्रभाव एक ऐसे समाज की समझ में आ सकता था जिसने राजनीतिक एकता के निर्माण और राजनीतिक शक्ति के विस्तार की दिशा में राजनीतिक स्वतन्त्रता की भावना को दब कर रखा था।¹

हीगल का प्रभाव एवं मूल्यांकन (Hegel's Influence and Estimate)

विभिन्न बुद्धियों और दुर्बलताओं के बावजूद हीगल की कुल-परिचर्चाकारी विचारधारा का अवलिखित कारणों से विशेष महत्व है—

1. राजनीति तथा नीतिशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्धों की हीगल ने सर्वाधिक स्पष्ट एवं सूक्ष्म रूप में समझा था।

2. 'राज्य व्यक्ति की उपस्थिति के लिए अनिवार्य है तथा व्यक्ति राज्य का एक परिवर्तनशील घटक है' हीगल ने इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करके राजनीति की एक महत्वपूर्ण सीमा प्रदान किया है।

3. हीगल ही बहु महत्वा विचारक था जिसने ऐतिहासिक प्रक्राप्ति की कमी-बालि समझा।

4. हीगल ने अपने दर्शन में इस अव्यक्त नैतिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि 'विवेक द्वारा प्रगति' (Progress by reason) होती है।

5. हीगल ने व्यक्ति की चेतना पर समाज की प्रेरणादायक बुद्धि के प्रारु की समझने और स्वीकार करने का बहुमूल्य प्रयास किया है।

6. हीगल की शिक्षा मनुष्यत्वं है क्योंकि इसके माध्यम से सामाजिक स्वतन्त्रता को विशेष रूप मिलता है। व्यक्तिवाद मनुष्य के सामाजिक परिण का परिणाम कर देता है। व्यक्तिवादियों के लिए व्यक्ति को वे बने छोटे-छोटे समुदाय की उन कसौ का महत्व अधिक है जो राज्यको ध्वंस का निर्माण करते हैं, परन्तु हीगल समुदायवादी है। यह वह ही प्रतिपादित करता है कि मनुष्य समाज से कितना प्रभावित रहता है। उसके स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार को कहीं अधिक औरतन्त्रित किया। उसका धारणावाद वास्तविक तथा मनोवैज्ञानिक था। उसने राजनीति को उसके हिस्से के समझने के कुछ ऊँचा और कानून की धारणा मान से कुछ अधिक स्थान दिया। वह कहीं धारणावाद विचार नहीं है कि पुलिस-राज्य वर्णित होता है और राज्य की मनुष्य के नैतिक कल्याण का एक घटक माना जाना चाहिए।²

हीगल के विचार के मूल तत्त्व तीन हैं—(1) इन्द्रवाद, (2) राष्ट्रीय राज्य का सिद्धान्त, (3) प्रगति की धारणा। ये तीनों बातें हीगल की विचारधारा के परस्पर-सम्बद्ध और किन्तु बाद के विचारकों ने हीगल की इन तीन बातों को पुनर्-कर दिया। हीगल के इन्द्रवाद की नीतिकवादी रूप प्रदान कर कार्य मान्य के

1. केसरल : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 626.

2. गैर : वही, पृष्ठ 191.

साम्प्रदायी समाजवाद के दर्शन का विकास किया और हीगल के राष्ट्रीय-राज्य के सिद्धान्त के आधार पर सुशोषितभी ने साम्प्रदायी दर्शन को निर्धारित किया। हीगल के प्रभाव को उचित करते हुए प्रो. केपाइन ने लिखा है कि—

“हीगल के विचारों के आधार पर राजनीतिक सिद्धान्त में दिन विविध प्रवृत्तियों का विकास हुआ, जिनमें से हीगल पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। विकास की छोटी रेखा दृष्टिस्थि रूप से हीगल से मार्क्स और बाद के साम्प्रदायी सिद्धान्त की थी। यही इन्ध्यात्मक चरित्र की ओरने वाली लड़ी थी। मार्क्स ने इन्ध्यात्मक चरित्र की हीगल के दर्शन की सुझावकारी खोज कही थी। मार्क्स हीगल के राष्ट्रवाद और राज्य के धारणीकरण को केवल देती ‘इन्ध्यात्मकता’ मानता था। जिसने इन्ध्यात्मक चरित्र को अपने साम्प्रदायिक धारणावाद से अनुशासित किया था। मार्क्स का विचार था कि वह इन्ध्यात्मक चरित्र की इन्ध्यात्मक भौतिकवाद का रूप देकर और उसके आधार पर इतिहास की साम्यिक व्याख्या कर सामाजिक विकास की वैज्ञानिक तरीके से व्याख्या कर सकता है। कार्लिक समाज राज्य से पृथक् एक समझ है, मार्क्स वह निष्कर्ष भी हीगल से बहुत कर सकता था। दूसरे मोक्षपीन विचारविचार के आधारकारी ने स्वतंत्र के उद्धारवाद से जो समीक्षण किया था, उसमें भी हीगल की विचारधारा एक महत्वपूर्ण खल थी। यही इन्ध्यात्मक चरित्र का कोई विशेष बहुत नहीं था बल्कि यही हीगल की शिक्षा और व्यक्तिवाद की धारणा का महत्वपूर्ण प्रभाव था। भौतिक उन्नति ने इस प्रश्न की आवश्यक बना दिया था। हीगल के राजनीतिक सिद्धान्त का उद्धारवाद-विरोधी खल सिद्धि राजनीति की वास्तविकताओं से इतना दूर था कि उसकी ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया गया। खल ने इटली ने फासिज्म ने अपने धारमिक चरित्रों ने हीगलवाद से धार्मिक आधार बहुत किया। यद्यपि फासिज्म ने अपने ज्योत्न की सिद्धि के लिए हीगल के कुछ सिद्धान्तों को अपने अनुक्रम खल दिया था।”

हीगल का दर्शन बड़ा विचार है और इसमें अनेक तानों के नामाभ्युद्धार और निष्कर्षों के समन्वय का विराट् व्यवस्था किया गया है। हीगल ने कठिन विचारविचार में दर्शन के प्राप्तात्मक के रूप से बहुत स्वाधि चरित्र की थी। 19वीं सताब्दी में हीगल का नाम सत्ताधीन विचार-विचार धार्मिकों ने खरी प्रकार प्रसिद्ध हो गया जिस प्रकार अरस्तू (Aristotle) तथा सन्ट थोमस एक्वीनास (St. Thomas Aquinas) के नाम उनके समय में प्रसिद्ध हो गए थे। हीगल ने अरस्तू और एक्वीनास के समान समुदाय ज्ञान का विश्लेषण करने की चेष्टा की और भौतिक नियमों की खोज की। वह बौद्धिक नियम के अधिकांश के समुदाय का अधिष्ठित करता रहा था और उनके सिद्धों से जो विचार व्यक्त किए और जिस बात की मूल की उसे निर्माता ने विचारित किया।

हीगल के सिद्धान्तों का न केवल निर्माता की नीति पर ही प्रभाव पड़ा,

1. केपाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृष्ठ 627.

2. McGovern : From Luther to Hitler, p. 263.

बौद्धिक दृष्टिकोण से (Treatise) तथा दार्शनिक (Droystem) जैसे महान् इतिहासकार भी उनके विचार-दर्शन से प्रभावित हुए, हालाँकि इतिहास की व्याख्या में वे उनसे महसूस नहीं थे। विधि और विधिशास्त्र के लेखक भी हीनल से प्रभावित हुए थे। बर्नियर विश्वविद्यालय के हीनल के छात्री और विधिशास्त्र की ऐतिहासिक प्रणाली के प्रवर्तक सेविन्गी (Sevigny) ने अपने अनेक विचार हीनल के राज्य-विज्ञान से ही बहुत लिए थे। उनके कामों का अनेक भाषाओं में अनुवाद किया गया। अपने विश्व विचार-वृद्धि की धन्यता, वह उसी के नाम से 'हीनलवादी विचारधारा' कहलाएँ। ग्रीन, बोर्लाके, ब्रैडले उनसे बहुत प्रभावित थे। इसी लॉरा यूरोप के अन्य देशों में भी हीनल का प्रभाव पड़ा था। इसका ही नहीं, महाद्वीप के बाहर भी अनेक देशों में उसकी महत्ता की स्वीकार किया था।

[illegible]

तत्त्वों का अधिक होना सम्भव होने लगा, जो राजनीति समृद्ध होकर वहीं अधिक समर्थपरक हो गई।¹

"हीगल की अपनी समकालीन राजनीतिक वास्तविकताओं में पराभारण प्राप्त हुई थी। उसने उस समय जीवन-दर्शन में उभरे हुए भौतिक और वैचारिक राज्य के भावी उद्भव का बहने ही अनुमान लगा दिया था। हीगल का उद्देश्य जर्मनी के राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में जाने वाली बौद्धिक बाधाओं का निराकरण करना था, लेकिन उसने इससे भी अधिक प्रभावकारी कार्य किया। उसने ऐसे दर्शन प्रस्थापित किया कि उसके द्वारा राष्ट्रवाद जर्मनी में ही नहीं बल्कि प्रत्येक दूसरे देश में भी धार्मिक स्तर तक पहुँच गया। उसके विचारों ने महान् इतिहासी राष्ट्रीयता की भावना को बल दिया और यह उसके दर्शन का बहुत बड़ा महत्व है।"²

निष्कर्ष रूप में वही कहा जा सकता है कि हीगल का विद्वान्ता निःसन्देह महान्ता है और अधिकतर प्रायोगिकताएँ उसे ठीक तरह न समझने के कारण हुई हैं। उसका विद्वान्ता इतना उच्च है कि सबकी बुद्धि नहीं तक नहीं पहुँच पाती। उससे व्यावहारिकता की प्रतिष्ठा कमो है और वह इतना निरापेक्ष एवं शुद्ध है कि जनसाधारण के लिए उसे महान्ता असम्भव-सा बन गया। हीगल आदर्शवाद के प्रसार के स्वयं की प्रवृत्तियों की कारण हीमा में गुना बँटा है।

1 कसार्न : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, भाग 2, पृष्ठ 626.

2 *Maxer i Political Philosophy*, p. 393-94.

इससे भी आदर्शवादी दर्शन की आलोचन कृष्णाजी दर्शन और जर्मनी के आधुनिक आदर्शवाद के आधुनिक प्रेरक विचारों में आदर्शवाद के आदर्शवाद के आदर्शवाद की पुस्तकों का पठन-पाठन आदर्शवाद, तथा ही नहीं आदर्शवाद के विचारों का जन्म होने लगा । कृष्णाजी दर्शनवादी के इस विचार का कि "ननुम् स्वभावतः राजनीतिक समुदाय का लक्षण है और राज्य एक ऐसा व्यवस्थापन है जिसमें दण्ड-शक्ति निरूपण है और जिसका अस्तित्व केवल शक्ति की शक्ति के लिए है" दर्शन के दर्शनवादी पर बहुत प्रभाव पड़ा । उन्होंने इसी विचारों का अपने सिद्धान्त का मुख्य आधार बनाया ।

सोसलफोर्ड ने आदर्शवादी दर्शन पर निहित विकास के तुरंत ही कोसलिक और कार्ताइल द्वारा इंग्लैंड को विचारधारा बदलने पर आदर्शवादी दर्शन का प्रभाव पड़ना शुरू हो गया था। आदर्शवादी धर्म के विचारकों ने बाद में विचारधारा बदलने पर आदर्शवादी दर्शन का प्रभाव देखा। प्राचीन यूनानी सिद्धान्त में राज्य की श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति का सर्वोच्च साधन माना गया था और इसका नैतिक महत्व उनके धार्मिक, कानूनी और राजनीतिक सभी की तुलना में बहुत अधिक दर्शाया गया था। इस सिद्धान्त ने 19वीं सदी के यूरोप में जर्मन वर्तमानवादी का पुनरुद्धार किया और सोसलफोर्ड के धार्मिकों की समझाव, पद्धति और उनके विचारों में जर्मन धार्मिक छात्र और हीबन के प्रभाव की स्पष्ट छाप दिखाई दी। जर्मन आदर्शवादी सिद्धान्त ने कुछ वर्गीकरण द्वारा उसे अपने अनुसूचक बनाकर धर्म आधारवादी ने अपने सिद्धान्त की स्थापना की। जर्मन आदर्शवादी स्पेन्सरवादी राज्यतन्त्र में विश्वास करते थे, लेकिन धर्म की आधारवादी में वैधानिक राज्यतन्त्र का मत दिया गया। जर्मन आधारवादी ने अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की अवहेलना की थी, किन्तु धर्म की आधारवादी ने इसे समझाने की दृष्टि से देखा गया और अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्यों का वास्तव मान्य स्वरूप दिया। 18वीं सदी की इंग्लैंड की धार्मिक दवा और धार्मिकवादी समझाव ने भी वहाँ के आधारवादी की काफी प्रभावित किया।

इन छह प्रभावों के परस्परकर्म कोस्रपोर के घातकोश के मुखान्त हुआ। सबसे राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं नैतिक मुद्दा, सारवाद, राष्ट्रीयता विधि-विज्ञान, कोस्रपोर के घातकोश के मुखान्त हुआ। सबसे राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं नैतिक मुद्दा, सारवाद, राष्ट्रीयता विधि-विज्ञान, कोस्रपोर के घातकोश के मुखान्त हुआ।

पेरों और घराने के राजदरबारी, कॉम्प्लेक्स और होमल के दर्जन तृतीया साम्राज्यिक अनुसंधान के विचारकों के दर्शन के दृष्टिकोण में जो धारणावादी विचारधारा अनुसंधानित हुई, उसके दर्शनिकी को बरम्परा में सबसे पहला नाम दीर्घकालीन हित वीन (Theodore Hall Green) का दिया गया है। ब्रिजले (F. H. Bradley) तथा बोनाडुले (Bonald) उनके अनुसंधानों के। सामुदायिक रूप में इस परम्परा का प्रतिनिधित्व ए. डी. लिंडले (A. D. Lindley), एर्नेस्ट बार्कर (Ernest Barker) आदि के

किया। ग्रीन का दार्शनिक प्रतिपाद या नवीन धार्मिकवाद के नाम से विख्यात है।

टॉमस हिल ग्रीन

(Thomas Hill Green, 1836-1882)

संक्षिप्त जीवन-परिचय

ब्रिटेन के यार्कशायर दार्शनिक टॉमस हिल ग्रीन का जन्म यार्कशायर (Yorkshire) के एक मध्यमवर्गीय व्यापारी परिवार में हुआ और सन् 1882 ई. में केवल 46 वर्ष की आयु में ही वह इस संसार से चमक गया। 14 वर्ष की आयु तक ग्रीन ने घर पर ही विद्योपाध्वन किया। उत्तराध्याय चौप वर्ष उसने रम्बी (Rugby) में प्रवेश किया। सन् 1855 में ग्रीन यॉर्कशायर के जेनिवोज हाइज में प्रवेश करके वहाँ पर महान् बेंजामिन जोन्स (Benjamin Jones) के सम्पर्क में आया। इन महान् विद्वान् के प्रभाव से ग्रीन को बौद्धिक क्षेत्र में प्रवेश करने की प्रेरणा मिली। जेनिवोज में ग्रीन सन् 1860 में फेलो (Fellow) नियुक्ति प्राप्त करके सन् 1866 में ट्यूटर (Tutor) नियुक्त हुआ। इस वर्ष पर अपने सन् 1878 तक कार्य किया। उत्तराध्याय यॉर्कशायर के जेनिवोज के प्राध्यापक पद (Whyte Professor of Moral Philosophy) पर उनकी नियुक्ति हुई। इस वर्ष पर वह मृत्युवर्धन रहा। सन् 1871 में ग्रीन ने प्रसिद्ध धार्मिक तथा कवि जॉन ऐडिंग्टन सायमन्ड्स (John Addington Symonds) की दम्पती कुमारी चार्लेट सायमन्ड्स (Miss Charlotte Symonds) के साथ विवाह किया। सायमन्ड्स-कन्ये ने ग्रीन में अत्यन्त प्रभाव डालित की। उसने इतिहास, तर्कशास्त्र, धर्मशास्त्र, विज्ञानशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, दार्शनिकशास्त्र आदि विषयों का गहनतापूर्वक अध्ययन कार्य किया।

एक प्रोफेसर का जीवन सामान्यतः शैक्षणिक एवं बौद्धिक प्रतिपत्तियों से घातक रहने के कारण एकान्त होता है, किन्तु ग्रीन एकमात्र मानवतावादी विचार-विधान के समस्त एवं प्रत्यक्ष प्रभावपूर्ण में ग्रीन ने धार्मिकतावादी का भीरुपूर्ण किंस और व्यावहारिक राजनीति के कार्य में सक्रिय भाग लिया। वह अनेक वर्ष तक यॉर्कशायर राज्य-सम्मेलन में सम्मेलन रहा। वह स्वयं समर्थ के लिए चुनाव के लड़ा नहीं हुआ, किन्तु स्वतंत्र दल (Liberal Party) का एक प्रभावशाली सदस्य रहा। उसने दल के विभिन्न सम्बन्धी प्रचार-कार्य में महत्वपूर्ण योग दिया और दल को विजयी करने के लिए अनेक प्रभावशाली कार्य किए। वह कई महत्वपूर्ण व्यक्तियों का सहाय भी रहा। सन् 1876 ई. में ग्रीन को 'यॉर्कशायर वेद यॉर्क टेंपलरीय युनियन' (Oxford Band of Temperance Union) के समस्त वर्ष पर प्रतिष्ठित किया गया।

ग्रीन अपने विचारों द्वारा अपने समय की राजनीति और राजनीतिक विचारधारा पर कोई प्रभाव नहीं डाल सका, पर उसकी मृत्यु के बाद दूसरे ५०

विशेष रूप से ब्रिटेन में, स्पष्टतः उसका प्रभाव विस्तृत होने लगा। वर्तमान काल के अनेक विचारक भी रीन के दर्शन से प्रभावित हैं।

रचनाएँ (Works)

कीजर के अनुसार "रीन ऐसा दार्शनिक था जिसने अपने किसी, किसी और व्याख्याता द्वारा उस समाज की, जिसने वह पढ़ा था, विस्तार में नैतिक तथा राजनीतिक सम्प्रदायों में अनेक अनिवार्य प्रवृत्तियों की ओर ध्यानपूर्वक तथा अनुसंधान की सीखता के कारण बहुत तक सम्भव हो सका, उसने अनेक रूपों में अपने उस समय के प्रति अपनी विपदा प्रकट की, जिसने उसके राजनीतिक तथा नैतिक सिद्धान्त का निर्धारण किया, अर्थात् उन समस्त प्रथाओं का निवारण किया जिन्हें वह सैद्धांतिक के स्वतन्त्र विकास के मार्ग से बाधित हो सकता है।" रीन के व्याख्याता की अत्युत्तराधिकार प्रकाशित किया गया। रीन ने कोई ऐसी पुस्तक नहीं लिखी जिसके उसकी विचारधारा का समुचित निवारण प्राप्त हो सके। इसने समय-समय पर जो अनेक भाषण दिए उनकी का संग्रह तीन वर्षों में किया गया। कुछ पुस्तकें भी उसने लिखी जिनमें महत्वपूर्ण हैं—

- (1) राजनीतिक दायित्वों के सिद्धान्तों पर भाषण (Lectures on the Principles of Political Obligation, 1882)
- (2) साधारण न्याय की भूमिका (Prolegomena to Ethics, 1883)
(मृत्यु के बाद प्रकाशित)
- (3) उदार व्यवस्थापन और अनुसंधान स्वतन्त्रता पर भाषण (Lectures on Liberal Legislation and Freedom of Contract)
- (4) अंग्रेजी क्रांति पर भाषण (Lectures on the English Revolution)
- (5) ह्यूम पर प्रतिपाद (Hume's Treatise, 1874)

रीन के राजनीतिक दायित्वों के सिद्धान्त (Principles of Political Obligation) के व्याख्याता का उद्देश्य था राज्य, समाज तथा व्यक्ति के सारस्वतिक सम्बन्धों की व्याख्या करते हुए जन-नीति के सिद्धान्त का समर्थन करना। इसमें उदार व्यवस्थापन और अनुसंधान स्वतन्त्रता (Liberal Legislation and Freedom of Contract) में उन व्याख्याओं का समावेश है जो रीन द्वारा सन् 1881 में दिए गए और जो अत्युत्तराधिकार के अनुसार अनुसंधान की स्वतन्त्रता की ओर ध्यान करते हैं। इस रूप में वह प्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत करता है कि वर्तमान युग में विधि-निर्माण-प्रक्रिया से बहुत तक अनुसंधान की स्वतन्त्रता सीमित हो जाती है। अपने तीसरे एवं अन्तिम भाषण की भूमिका (Prolegomena to Ethics) में, जिसका प्रकाशन सन् 1883 में हुआ था, रीन ने व्याख्यात्मक सम्बन्धी सिद्धान्त की व्याख्या की है।

सातवां में चीन का विचार-दर्शन एक कमजोर इकाई है जिसे तीन भागों में बाँटा जा सकता है—सांख्यिकशास्त्र, सांख्यिकशास्त्र तथा राजनीतिक दर्शन (Metaphysics, Ethics and Political Philosophy)। अपने सार्वजनिक भाषणों और विचारों के माध्यम से चीन ने दर्शनशास्त्रियों को महत्वपूर्ण प्रभावित किया। द्वितीय चीन का दर्शन (Philosophy of Hui Kuan) के रचनाकार William Henry Fairbrother के अनुसार 19वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में चीन की शिक्षाई दर्शन में सर्वाधिक प्रतिभाशाली सार्वजनिक प्रभाव (Most potent philosophical influence) बन गई। यह उल्लेखनीय है कि चीन के सम्पूर्ण विचारों का केन्द्र सांख्यिकशास्त्र (Ethics) माना जा सकता है। उसके राजनीतिक सिद्धान्त की कुँजी उसके सामान्य नैतिक सिद्धान्तों में मिलती है जिसकी अभिव्यक्ति उसकी उपनिषद्वादी तथा परम्परागत निरतिबादी विचारों की व्याख्यान में तथा नैतिक मनुष्य और नैतिक व्यवहार की प्रकृति के सम्बन्ध में स्पष्ट उनके विचारों की व्याख्या द्वारा हुई है। उसका मुख्य उद्देश्य है मनुष्य के अपने स्वयं की शान्त करना और उसे दूर करने के लिए सर्वोत्तम साधन का चयन करना।

चीन के विचार-दर्शन की स्रोत (The Sources of China's Philosophy)

1. मूलवी आधारित—चीन के दर्शन का प्रथम स्रोत मूलवी आधारित, विशेषतः श्रेष्ठ और धर्म के विचार हैं। मूलवी आधारितों से यह एक बात पर सहमत है कि राज्य स्वाभाविक और सामाजिक है और व्यक्ति का जीवन समाज के जीवन का अभिन्न भाग है। व्यक्ति को अपना निश्चित कर्तव्य पूर्ण कर सामाजिक उत्तरि में योग देना चाहिए। लेकिन मूलवी आधारितों और चीन के सांख्यिक सिद्धान्तों के कुछ विरोध भी है। यह विरोध मूलवी आधारितों को यह धारणा से है जो उन्होंने जीवन के कुलीनतावादी दृष्टिकोण के सम्बन्ध में बहुत की थी। मूलवी विचारक सामाजिक और सामाजिक का जीवन कुछ ही व्यक्तियों के लिए सम्भव मानते थे। बाह्य और विदेशियों (Aliens) को सामाजिक अधिकार प्राप्त नहीं थे और न भीतरी भी श्रेष्ठ, सामाजिक और सामाजिक उत्तरि की ओर ही अधिक ध्यान दिया जाता था। लेकिन चीन का प्रजातन्त्रीय दृष्टिकोण यह था कि सामाजिक उत्तरि उन सब व्यक्तियों द्वारा प्राप्त की जा सकती है जो एक सार्वजनिक हित की धारणा से प्रभावित हैं। राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक, नैतिक और सामाजिक उत्तरि करने का अधिकार है। राज्य में सब व्यक्ति समान हैं, उनके किसी प्रकार का भेदभाव नहीं होना चाहिए। चीन पर श्रेष्ठ की धारणा धर्म का अभिन्न प्रभाव था। धर्म की भाँति अपने भी अपने नीतिशास्त्र की पूर्ण राजनीति में भी उसका विचार था कि "राज्य का सर्वोपरि कर्तव्य अपने स्वयं के लिए ऐसे वास्तु की निर्माण सम्भव बनाया है जो सार्वजनिक कल्याण हो।" अपने नीतिशास्त्र में यह 'सामाजिक' या 'सामाजिक' (Self-satisfaction or self-reliance) को सामाजिक का मुख्य उद्देश्य है और अपनी राजनीति में सार्वजनिक (Common good) की चरम कल्याण (Supreme good) की उपाय देता है।

2. **कमी का दर्शन** — हीन के लिए प्रेरणा का दूसरा बड़ा स्रोत कमी का दर्शन था। कमी के संपन्न उभने की इस भाव पर बल दिया कि मनुष्य की नैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। नैतिक स्वतन्त्रता प्रत्येक व्यक्ति का नैतिक अधिकार है। किंतु हीन की यह स्वीकृति कुछ दुर्लभता से सीमित है। वह 'नकारात्मक' और 'सकारात्मक स्वतन्त्रता' (Negative and Positive Freedom) के सामर्थ्य और विविष्ट स्वतन्त्रता (Freedom in the general sense and Freedom in the particular sense) के तथा न्यायिक और साम्प्रदायिक स्वतन्त्रता (Juridical Freedom and Spiritual Freedom) का भेद करता है। हीन ने कमी के इस विचार को बहुत बिना है कि राज्य का सामर्थ्य (Sovereignty) सामर्थ्य दुर्लभ (General Will) का प्रतिनिधित्व करता है और इसी कारण उसे जनता से साक्षात्पान करने की शक्ति प्राप्त है; पर साथ ही वह कमी के इस विचारों का समर्थन करता है जो निरंकुश राज्य की स्थापना की ओर संकेत करते हैं।

3. **सर्वत्र सादृश्यता** — दुर्लभ स्रोत, जिससे हीन ने प्रेरणा ग्रहण की है, सर्वत्र सादृश्यता है जिसका प्रतिनिधित्व कॉन्ट, बिन्टे और हीगेल करते हैं। निरुद्ध सादृश्यतावादी क्षेत्र (The purely metaphysical field) के हीन ने बिन्टे और हीगेल की विचारधारा को स्वीकार किया है, किंतु साम्प्रदायिक और राजनीतिक क्षेत्रों (The Ethical and Political Fields) में हीन का मुख्य प्रेरणास्रोत कॉन्ट ही उनके विचार-दर्शन का साधन सिद्ध है। कॉन्ट की भांति हीन का विश्वास है कि सदैवज्ञ ही एकमात्र सत्य है। व्यक्तिगत स्वाधीनता, मुक्त और अन्तर्दीर्घीय नैतिकता के विवेचन में भी हीन हीगेल की समेकित कॉन्ट के अधिक विवक्षित है। प्रतिनिधि सामर्थ्य के सदृश, नैतिकता में सत्य का स्थान, एक ही सर्वज्ञान करति (The rational of philosophy) धारि पर बहुत केंद्र और हीगेल के लिए है लेकिन राज्य के नीचे की नैतिक सत्ता पर बल देकर यह हीगेल का अनुसरण करता है। हीन के दर्शन को निमित्तता प्रदान करने में हीगेल का निरुद्धिगत हान रहा है। अपने हीगेल के इस विचार की भी स्वीकार बिना है कि राज्य का उद्देश स्वतन्त्रता की प्राप्ति है, पर ऐसा करते-समय उसने कुछ सीमाएँ लगाई हैं। साम्प्रदायिक क्षेत्र में अपने हीगेल के दर्शन को अपनाया है, लेकिन हीगेल के इन्द्रिय की साधना नहीं की है। कुछ बिनाकर यह कहा जा सकता है कि हीन कदापि कॉन्टवादी है, पर अपने कॉन्ट की हीगेलवादी पैक से ऐसा है।

हीन ने हीगेलवाद (The Hegelian Creed) को स्पष्ट और तार्किक भाषा में करते हुए वेबर (Weber) का कथन है कि—

“हीन की स्थायी हीगेलवाद से मोलमोल है। हीन हीगेल की देरी प्राप्त प्रथम तर्क के प्रतिभाव में पूर्णकेंद्र विस्तार करता था, जब हीगेल की भांति हीन के लिए भी इतिहास एक विस्तृत निमित्तवादी-प्रक्रिया है जो ‘सत्य के लक्ष्य’ को जन्म देती है। हीगेल की भांति उसने भी कहा है कि सभी मनुष्य, सदैवज्ञ तथा समस्त ईश्वर-प्राप्ति को ही साकार कर हैं। यह हीगेल के इस विचार की भी स्वीकार

करता है कि देवी-आत्मा का प्रत्येक नवीन अवतार नई अवतार की अपेक्षा अधिक पूर्ण था तथा जिसका-मात्र पर देवी-आत्मा द्वारा उठाया गया प्रत्येक नव पक्षों से अधिक वास्तविक था। समिति परिवार से अधिक वास्तविक थी, परन्तु राज्य समिति से भी अधिक वास्तविक है। उसने यह भी स्वीकार किया कि मनुष्य अधिक रूप से इस देवी-आत्मा का ही अवतार है। चीन के मतानुसार, राज्य के सभास में मानव वास्तविक मानव नहीं बन सकता। केवल राज्य में ही वह स्वयं की पूरी तरह व्यक्त कर सकता है तथा अपनी इच्छा का पूर्ण विकास करने में समर्थ हो सकता है। मत: यह राज्य को एक आवश्यक सुपुर्दा न मानकर सम्पूर्ण मानता है। उसके लिए राज्य सभास का ज्ञान नहीं, बल्कि देवता द्वारा दी गई मुक्ति है। हीमल के विचार की ही यह अपने मन्त्रों में पुनः व्यक्त करते हुए कहता है कि मनुष्य का राजनीतिक जीवन देवी विचार का प्रतिक्रम है।¹

चीन सभास हीमल को ही राज्य की स्थापना तथा नीति की स्वीकार करते हैं। चीन के मतानुसार केवल राज्य ही वास्तविक अधिकारों का स्रोत है। राज्य से बाहर "आदर्श अधिकारों का ही विधान किया जा सकता है, परन्तु राज्य में समाविष्ट होकर वे अधिकतर बन जाते हैं।" हीमल की नीति, चीन का राज्य भी मनुष्यों का अनुपात है तथा सभी मनुष्यों के सर्वोन्म है। हीमल की नीति स्वतन्त्रता की समस्या से चीन भी व्यापक सम्बन्धित है। उसके स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार हीमल के विचारों के समान ही हैं। चीन के मतानुसार मनुष्य सभी व्यापक स्वतन्त्र होता है जब वह देवी आत्मा से तत्कालम्ब स्पर्शित करता है। दूसरे मन्त्रों में मनुष्य सभी स्वतन्त्र होता है जब वह वास्तविक-अपराध नव का अनुभव करता है। वास्तविक कलहाल समाज-कलहाल है, मत: इसकी विधि सभी हो सकती है जब दूसरों के कलहाल को ध्यान में रखा जाए। इस प्रकार चीन के मतानुसार स्वतन्त्रता एक सकारात्मक नीति है और समाज-कलहाल के लिए मनुष्यों की सभी गरिमा की मुक्ति है।² परन्तु केवल देवी-आत्मा के कारण ही मनुष्य समाज-कलहाल का अनुभव करने में समर्थ है। स्वतन्त्रता व्यक्ति भी देवी आत्मा से तत्कालम्ब स्पर्शित करती है। चूंकि चीन यह मानता है कि देवी-आत्मा की उन्मत्तन व्यक्तिगत राज्य में ही होती है, मत यह स्पष्ट है कि यह हीमलवाद के इस सिद्धान्त से प्रभावित है कि 'वास्तविक स्वतन्त्रता राज्य में ही प्राप्त होती है।'³

चीन के समाज को बहुत देवी जाने विचार भी हीमल से मिलते-जुलते हैं। उसके विचार है कि "समाज के बिना मनुष्य नहीं। हीमल की नीति उसका भी विचार है कि प्रत्येक समाज का अन्त-अन्त वैदिक सार होता है।" एक चीनी के लिए जो कार्य वैदिक है, वही एक मंत्रों के लिए सर्वेधिक हो सकता है। मत, यह मान्यता नहीं किया जा सकता कि चीन के समाज सम्बन्धी विचारों में हीमल ही हीमल के रहस्यवाद की मूल है। चीन अपने इतिहास, मानव समाज तथा राज्य

सम्बन्धी विचारों में हीमल से ही पूर्णतया प्रभावित नहीं है वरन् उसके हीमलवाद में हेरिस्टादिलवाद भील-धील है।¹

4. परम्परा विरोधियों के विचार—चीन के राजनीतिक दर्शन का चीन और अल्पविक महान्पूर्व अरेंडो-सोड परम्परा-विरोधियों (Non-conformists) के विचार है। यदि हीमल में चीन के दार्शनिक आदर्शवाद (Philosophical Idealism) को और कॉन्ट में उसके नैतिक विचार (Ethical Thought) को आधार प्रदान किया है तो परम्परा-विरोधियों ने उसके राजनीतिक विचार पर गहरा प्रभाव डाला है। 'स्वतन्त्रता' (Freedom) तथा 'नैतिकता' (Morality), इन दो शब्दों के लिए चीन के हृदय में प्रेम परम्परावादियों ने ही जगह बिठाया। वे चीन अपने चर्चों को स्वतन्त्र चर्च (The Free Churches) कहते हैं और इस प्रकार मानते हैं कि साम्प्रदायिक एवं राजनीतिक जीवन में स्वतन्त्रता सर्वोपेक्ष महान्पूर्व चीन है। परम्परावादियों ने काउन से यह भीष की थी कि सत्य, सुषा सुखदोष आदि स्वतन्त्रों पर रोक लगाई जानी चाहिए। परन्तु परम्परावादी होने और नैतिकता को बहुत महत्व देने के कारण चीन चाहता था कि राज्य को इन कल्याणों और स्वतन्त्रों को सम्पन्न कर देना चाहिए जो स्वतन्त्रता को बढ़ावा देनी है। उनका कहना था कि राज्य चाहे किसी भीर पर नैतिकता नाव न पके, किन्तु वह उन स्वतन्त्रों को मिटा सफटा है जो स्वतन्त्रों को स्वतन्त्र करने के लिए साक्षरित करती है। परम्परावादी सु-सम्पत्ति पर विश्वास नहीं करते वे पर स्वतन्त्रता वृद्धि स्वतन्त्र करने के भी विरोधी नहीं हैं। चीन ने भी सु-सम्पत्ति का विरोध किया स्वतन्त्र करने स्वतन्त्रता सम्पत्ति प्राप्त करने के सिद्धान्त को भी मानता ही है।

5. चीन पर बर्न, कार्लिज, सॉन्कवोर्ड के बौद्धिक सापेक्षता, हायर्मन, मैक्सवेली आदि का भी प्रभाव था।

चीन का साम्प्रदायिक सिद्धान्त (Green's Metaphysical Theory)

चीन के साम्प्रदायिक विचारों पर कॉन्ट की स्पष्ट छाप है। उसके इस सिद्धान्त का साम्प्रदायिक ही कॉन्ट का यह विश्वास था कि विमुक्त बुद्धि (Pure reason) एवं मदाकदा साम्प्रदायिक (Occasional flashes of intuition) द्वारा अन्तिम सत्य का परम सत्य (Ultimate truth) को जाना जा सकता है। अनुभव प्रधान अथवा साम्प्रदायिक पद्धति (Empirical or Inductive Method) द्वारा इस सत्य का पता नहीं लगाया जा सकता। चीन ह्यूम के अनुभववादी (Empirical) और स्पेंसर के विकासवादी सिद्धान्त (Spencerian Evolutionary Approach) का विरोधी है। हम अनुभव की भौतिक प्रकृति (Physical Nature) का एक सत्य मानकर तथा उसकी अन्य विचारों को केवल प्राकृतिक घटनाएँ (Natural Phenomena) मानकर उसके नियम (विशेषा यह एक सत्य है) के सांख्यिक स्वतन्त्र

(True Nature) को नहीं जान सकते। वह व्यापारमय विन्दु जिससे हीन मानव-स्वभाव का विस्लेषण सम्भव करता है, मनुष्य की आत्म-चेतना (Self-consciousness) है। मनुष्य में आत्म-चेतना विद्यमान है जबकि विम्वर्योक्ति के प्राणिमो में केवल 'चेतना' (Consciousness) ही होती है। मनुष्य में विचार-क्षमिण होती है। वह सोचने और अनुभव करने के लक्ष्य यह बात जानता है कि वह कुछ सोच रहा है और अनुभव कर रहा है। निम्न कोटि के प्राणी जिनमें केवल चेतना होती है, दुःख, मुक्त, भूत, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि का अनुभव तो करते हैं और उन पर इन बाह्यी बातों की प्रतिक्रिया भी होती है, लेकिन इस लक्ष्य से वे अपरिचित ही रहते हैं कि वे सुखी है प्रथवा दुःखी। उन्हें अपने सुख, दुःख, भूत आदि का विचारानुकूल ज्ञान नहीं होता। इस दृष्टि में आत्म-चेतना प्राप्त करने का योग केवल मनुष्य को ही प्राप्त है। दूसरी मानव आत्मा इसी पुरुष की सहायता से दूसरों के अनुभवों और विचारों को अपने अनुभवों और विचारों में समुक्त करती है। "आत्म-चेतना में यह बात निहित है कि मानव-मनुष्य में एक आत्मा होती है जिसे चेतना की अस्तित्व स्थितियों के प्रकार नहीं विना या करता। यह वह केन्द्र है जो चेतना की अस्तित्व स्थिति का आधार है। मैं सोचता हूँ, मैं अनुभव करता हूँ, मैं निर्णय करता हूँ, आदि वाक्यों में 'मैं' का अतिशयोक्ति इसी केन्द्र में होता है। यदि यह सत्य है जो सोचता है, अनुभव करता है, निर्णय करता है और इन सब में विद्यमान रहते हुए इन सबमें एक इकाई के रूप में स्वीकृत करता है। इस 'मैं' की सन्तुष्टिपूर्ण विद्या (Synthesizing Activity) के अभाव में किसी भी वस्तु का एक एकीकृत सम्पूर्ण इकाई (A Unified Whole) के रूप में, जिसका कि ज्ञान-आत्मा तथा ज्ञान-वस्तु (The Knowing self and the Known world) की सम्पूर्ण वस्तुओं के साथ सम्बन्ध है, कोई ज्ञान नहीं हो सकता है। दूसरे अनुभवों को एक-दूसरे से आत्मसात् कर सम्बन्ध करने का येन आत्मा को ही है। जिस प्रकार एक घरे में अनेक कुत्तों निर्देशी होती हैं उसी प्रकार आत्मा में भी अनेक अनुभव होते हैं। इस सन्तुष्टिपूर्ण विद्या (Synthesizing Principle) की हीन आध्यात्मिक (Spiritual) बतलाता है क्योंकि यह सम्बन्ध दूसरे विचारों को परस्परिक सम्बन्धों से जोड़ देता है।" इससे स्पष्ट है कि अनुभवकर्ता के रूप में हीन की आत्मा की कल्पना कोटि की मानव आत्मा की आत्मा से मूलतः भिन्न नहीं है।

द्वैतसिद्धि टीका की अंतिम टीका भी यह मानता है कि सत्ता और आत्मा में एक ही सत्य भाव है। यह सत्य बुद्धिमत्ता होता है। इस बुद्धिमत्ता के कारण ही ज्ञान हो जाता है। यदि सत्ता की कोई वस्तु बुद्धिमत्ता नहीं होती तो उसे नहीं जाना जा सकता। इसलिए हीन मानता है कि सत्ता की सभी वस्तुओं तथा आत्म बुद्धिमत्ता होती है अथवा दूसरे शब्दों में हमारे चारों ओर का सत्ता (The cosmos or the real universe around us) एक बुद्धिमत्ता (Intelligible) - अथवा आदर्श सत्य (Ideal Reality) है, यहीलिए इसका स्वरूप (Nature) आध्यात्मिक (Spiritual) होना चाहिए। सत्ता का यह ज्ञान बुद्धि प्राप्त हो सकता

है। मनुष्य विशेष का मल्लिक इस कार्य में कार्य नहीं करती है, लेकिन जिस परम बुद्धि में क्षमता की वस्तुओं के मध्य सम्बन्ध स्थापित किया है, वह मानव-बुद्धि के मनुष्य होती है। तभी तो हम वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध को समझ पाने में कार्य करते हैं।

इस परम विवेक या बुद्धि (The Supreme Intelligence) को ही जिसके द्वारा मौलिक वस्तुओं के मध्य सम्बन्ध स्थापित होता है, परमात्मा का नाम दिया जाता है। चीन ने इसे आत्मज्ञ चेतना (Eternal Consciousness) की उपाधि दी है। चूंकि यह स्रष्टा की शक्ति है और इसकी ज्ञाना या शक्ति है, इसीलिए यह सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त और इसकी चेतना हमें प्रियमान रहती है। एकता और स्वयंसा स्थापित करने वाला यह एक कमबद्ध विद्वान् है। क्षमता की इसके वस्तु इसी आत्मज्ञ चेतना की ओर बढ़ने का प्रयास करती है। इस विश्व में मेज (Mind) ने लिखा है—

“यह वह कमबद्ध विद्वान् है जो एकता और स्वयंसा स्थापित करता है, यह वह सम्पूर्णता है जिसने प्रत्येक भाग की अपनी सुनिश्चित स्थिति प्राप्त की है। यह आत्मज्ञ प्रकाश विश्वव्यापी है जिसकी ओर बढ़ने का प्रत्येक विशिष्ट वस्तु प्रयास करती है, जिसकी प्रत्येक शक्ति की पूर्ण बनाने के लिए आवश्यकता है और जिसके अभाव में यह दुःख नहीं है। यह एक ऐसी वैश्व शक्ति है जिसने प्रत्येक वस्तु का निर्माण तथा प्रकाश किया है।”

चीन की आत्मज्ञ चेतना का कल्प के आत्मज्ञान में प्रकट होता है जो इसकी आत्मज्ञ चेतना होम के परम विवेक (Absolute Reason or Ideal) में प्रकट होती है। चीन में समान चीन का विश्वास प्रत्येक और आत्मज्ञ के ही है। होम के इस मत में भी चीन सहमत है कि विश्व में प्रत्येक मनुष्य की ओर सम्बन्धों में आत्मा की अभिव्यक्ति होती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि चीन के मनुष्यों के क्षमता में चीन शक्तों की महत्ता है, मनुष्य शक्ति या मानव-आत्मा (The Human Soul), जगत्-वस्तु (The World) और परम शक्ति (The God)। इन तीनों शक्तों में अन्तर एक दूसरे बनती है। इनका सम्बन्ध मौलिक न होकर सांख्यिक होता है, अर्थात्, इनमें भी अन्तर होता है। इसकी स्पष्ट करती हुए मेज (Mind) का कथन है कि—

“वैश्विक आत्मज्ञान की आत्मज्ञानिक आत्मज्ञान का माध्यम बताया गया है और यह इसके विकास में महत्वपूर्ण योगदान करती है, पर यह योगदान किस प्रकार का होता है (अर्थात् चीन के बीच में यह सम्बन्ध कैसे स्थापित होता है) इस बारे में हमें केवल एक ही बात है कि प्रत्येक शक्ति के आत्मज्ञ आत्मज्ञ आत्मज्ञान का चेतना विद्यमान रहती है।”

बीन का पुरां विचार है कि ज़ावेक मनुष्य में मानवत् वेतना का विवास रहता है। यही विचार उसे राजनीतिक एवं नैतिक विचारों का जन्मदाता है। मनुष्य की अपनी पूर्णता तथा वेतना भी होती है जो विवास-वेतना के साथ मिलकर काम करती है। मनुष्य मानवत् वेतना में विवरण करना और देवी तरवी का साक्षात्कार करना चाहता है। बीन के अनुसार मनुष्य का कर्तव्य केवल सुखदायी विचारधारा को अपनाएने से ही नहीं होना। वह केवल सुख की कामना नहीं करता, बल्कि वह नरक सुख का इच्छुक होता है। वह नैतिक जीवन में अनेक मध्यों को पार करते हुए एक पूर्णता की ओर बढ़कर होता है और इस पूर्णता को प्राप्त करने की पुन में भीतिक सुख को भी चून जाता है। मनुष्य यदि अपने जीवन की वास्तव में सुखी बनाना चाहता है तो उसे पूर्णता की प्रशिक्ष का लक्ष्य स्थिर करना चाहिये। स्पष्ट है कि बीन सुखवाद (Hedonism) की पारखण का खण्डन कर नैतिकता का समर्थन करता है।

बीन के अनुसार मनुष्य स्वयं मानवत् वेतना का मय है, अतः स्वाभाविक रूप से वह भी स्वतंत्र है। मानवत् वेतना के कारण ही वह सामाजिक व्यवस्था के मार्ग पर बढ़कर होता है। वह वेतना ही मानव-व्यवस्था में पर-हित और सामाजिक कल्याण की भावना जगृत करती है। लेकिन मनुष्य का स्वयं के प्रति भी कुछ कर्तव्य है। मानव-जीवन का एक लक्ष्य यह भी है कि वह अपने व्यवहार करे। बीन यह बताना चाहता है कि मनुष्य के अपने व्यवहार में समाज का कल्याण भी निहित है। यही कारण बीन और होब्स के राज्य लक्ष्यों विचारों में भिन्नता उत्पन्न करती है। बीन के अनुसार राज्य साध (End) न होकर साधन (Means) है जबकि होब्स की दृष्टि में राज्य स्वयं में एक साधन है। बीन ने व्यक्ति के सुख की स्वीकार करते हुए राज्य का उद्देश्य व्यक्ति का विकास माना है। व्यक्ति को योगदानित करने के कारण उसके विचार कोष्ट और मानव में निहित हैं। बीन मनुष्य का वह नैतिक कर्तव्य मानता है कि वह दूसरों के अधिकार को सम्मान दे पार्श्व स्वयं के हित के लिए दूसरों के हितों पर दुष्कारधारा न करे। मानवत् वेतना का मय होने के कारण उसे कभी अनैतिक कार्यों में प्रवृत्त नहीं होना चाहिये। उसके निजी ध्यान की मीन है कि वह समाज और आनुवंशिक की भावना का अनुसरण करे। इसी विचारों से प्रभावित होकर बीन ने राज्य के कार्यों की नकारात्मक रूप में स्वीकार किया है। यह चाहता है कि राज्य मनुष्य के नैतिक जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर कर उसे व्यक्ति और सोष्ट कार्यों के लिए प्रवृत्त प्रदान करे। राज्य आनुवंशिक के मत पर मनुष्यों को नैतिक नहीं बना सकता। उसका कार्य तो नैतिक जीवन के लिए आवश्यक वातावरण तैयार करना है अर्थात् ऐसी व्यवस्थाएँ उत्पन्न करना है जिसके अन्तर्गत नागरिक अपने नैतिक विचारों के लिए प्रवृत्त हो सकें।

बीन के अनुसृत विचार का सामाजिक राज्य को व्यक्ति के लिए अनावश्यक कहना नहीं है, मनुष्य वह तो राज्य की व्यक्ति के लिए आवश्यक मानता है क्योंकि

उन्के प्रधान ने व्यक्ति स्वयं नैतिकता प्राप्त नहीं कर सकता । राज्य अन्य सभी नस्लवादी में श्रेष्ठतम है और नैतिक जीवनवाचन के लिए समुचित परिस्थितियों उत्पन्न करने में परम सहायक है । चीन के ये विचार हीनन के समान हैं । लेकिन व्यक्ति के व्यक्तिगत ही महत्त्व देने वाली उसकी धारणा सामान्य ही हीनन के विपरीत है । यह विचार इंग्लैंड के प्रधान के कारण बन गया प्रतीत होता है । चीन के नैतिक धारणों के सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि नैतिक आदर्श सामान्यमूर्ति का विषय होने पर भी सामाजिक होता है । उसकी नहीं धारणा सामाजिकता के राजनीतिशास्त्र में समाविष्ट करनी है ।

चीन का स्वतन्त्रता सम्बन्धी सिद्धान्त

(Green's Theory of Freedom)

चीन में भी सभी इस सोच की भाँति अपने समुचित व्यावहारिक दर्शन की 'सत्य नैतिक इच्छा' पर आधारित निम्न है । अपने स्वतन्त्रता की महानतम वर्णन माना है जिसकी प्राप्ति इस मनुष्य ही नागरिकों के समुचित प्रयत्नों का अन्तिम लक्ष्य होता है । चीन के अनुसार मानव का परम लक्ष्य परमात्मा में आत्म-वर्धन करना है । जब मनुष्य अपनी आत्मा को पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं तो वे परमात्म-वेदना की व्यवस्था में प्रवेश करते हैं और इस व्यवस्था में उसकी छद्म बोध होता है कि हम सब समान स्वभाव वाले हैं, हमारी सबकी दयान भुकेच्छाएँ हैं और सबका एक ही लक्ष्य है, परमात्मा में आत्म-वर्धन । इस प्रकार मानव-वैतन्य धर्मात् आत्मा की सामाजिक व्यवस्था का बोध होता है जिसमें सब उसका भी कल्याण निहित है । जब यह इस सामाजिक-व्यवस्था की पूर्णता प्राप्त कर लेता है तो उसकी आत्म-बोध ही प्राप्ति है । इस आत्म-बोध के निमित्त मानव-वैतन्य स्वतन्त्रता चाहती है । यह स्वतन्त्रता ही प्रकार की होती है—वचन, व्यावहारिक स्वतन्त्रता जिसका अर्थ है सभी मनीषियों का वह में राज्य को सामाजिकता का विषय है; द्वितीय, बाह्य स्वतन्त्रता जिसका अर्थ ऐसी बाह्य परिस्थितियों का होना जिनमें व्यक्ति निर्वाह कर में अपने आस्तित्व के निमित्त नियोजित हो सके । यह राज्य शासन का विषय है । चीन के मानव-वैतन्य सम्बन्धी विचार नैतिक और व्यावहारिक है । स्वतन्त्रता सिद्धान्त राजनीतिक होने के कारण हमारे अध्ययन का विषय है ।

चीन में पूर्व की व्यवस्था कॉन्फे और हीनन द्वारा की जा चुकी स्वतन्त्रता भी । कॉन्फे ने स्वतन्त्रता को राज्य विहित सर्वमान्य कर्तव्यों का पालन बताया था और कहा था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सामान्य के सर्वमान्य आदेशों का पालन करते हुए स्वयं को राज्य बना लेना चाहिए । हीनन ने इस व्यवस्था को नगरात्मक, सीमित और आत्मगत माना क्योंकि उसके अनुसार कर्तव्य का पालन किए बिना व्यक्ति की स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती । यह स्वतन्त्रता प्रत्येक व्यक्ति को अपने-पार में राज्य बनाने के कारण सीमित है, चेष्टा में निहित होने के कारण प्राप्तिगत है । हीनन ने स्वतन्त्रता की सामाजिकता और बाह्य व्यवस्था के राज्य में गहरा और उसके साथ पूर्ण दृष्टा दर्शाते करके ही लक्ष्य निम्न या बताया है, जबकि चीन ने यह

कि "स्वतन्त्रता किसी कार्य के करने या उपभोग करने की क्षमता की प्रतीति (A passive power of capacity of doing or enjoying something) है।" वीन के अनुसार व्यक्ति के नैतिक जीवन का सर्व नैतिक कार्यों को सम्पन्न करना ही धीरे धीरे का कर्तव्य व्यक्ति के स्वातन्त्रित्व की स्वतन्त्रता तथा आदर्श चरित्र के निर्माण के मार्ग में बाधा उत्पन्न न कर उसके व्यक्तित्व के विकास की बाधाओं का दूर करना है।

वीन ने जिस स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया है उसके प्रधान लक्षण ये हैं—

1. स्वतन्त्रता करने योग्य कार्यों की ही होती है—वीन के मतानुसार स्पष्ट करते हुए बार्कर का कथन है कि "मानव-वैतना में स्वतन्त्रता निहित है, स्वतन्त्रता में प्रतिबन्ध निहित है और प्रतिबन्धों के लिए राज्य आवश्यक है।"¹ वीन का मतलब है कि स्वतन्त्रता का अर्थ केवल कुछ दम्भों की स्वतन्त्रता ही हो सकती है। वह केवल उन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने की स्वतन्त्रता ही समझी है जो स्वतन्त्र ऐसी दम्भों प्रस्तुत करती है। इसका अन्विष्टार्थ यह है कि स्वतन्त्रता न तो केवल प्रतिबन्धों का अभाव ही है और न ही इसका अर्थ निरन्तर अथवा अनुशासन में सुविधा प्राप्त करना मान माना जा सकता है। जिस तरह दुष्कृपा का अभाव जीवन नहीं होता, उसी तरह प्रतिबन्धों का अभाव स्वतन्त्रता नहीं कहा जा सकता। इन उद्देश्यों की स्वतन्त्रता नहीं वह समझे जब कोई व्यक्ति अथवा वर्ग दूसरों की स्वतन्त्रता की सीमा पर धुन की स्वतन्त्रता का उपभोग करता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है जिसके कार्य समाज के दूसरे लोगों से सम्बन्धित हैं। यह स्वतन्त्रता इसी बात में निहित है कि हमें उन्हीं कार्यों को करने की छूट हो जिनके द्वारा हम उस कुछ अथवा वस्तु को प्राप्त कर सकें जो सामाजिक और नैतिक दृष्टि-बोझ में प्राप्त करने योग्य हो तथा जिसकी प्राप्ति हम समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ मिलकर करें। हमें कुछ दूरे कार्य करने से भी शक्ति कुछ मिल सकता है, लेकिन इन कार्यों को करने की छूट देना स्वतन्त्रता नहीं बल्कि जा सकती। ये कार्य समाज के विकास में बाधा होती हैं क्योंकि ये कुछ-दम्भों से उत्पन्न नहीं होते। यह ऐसे कार्यों को न करने देना स्वतन्त्रता है जबकि करने देना परतन्त्रता होती। अस्वतन्त्रता ही इन कार्यों को करने या आनन्द प्राप्त करने की तत्कारणमक शक्ति है जो लिए जाने अथवा आनन्द-लाभ करने योग्य हो।

बार्कर ने वीन द्वारा प्रतिपादित इस स्वतन्त्रता के दो लक्षणों का उल्लेख किया है—

(क) सकारात्मक या सकार्य स्वतन्त्रता (Positive Liberty)—सर्वप्रथम स्वतन्त्रता सकारात्मक होती है। वह हमलोग का अभाव भाव नहीं है। इसका अर्थ यह है नाहित कार्यों को करने की सुविधा शक्ति व्यक्ति अथवा नैतिक विकास कर सकने में सक्षम हो। वीन के दूरे उपबोधितावादी और व्यक्तिवादी विचारों राज्य के कानूनी

ज्या व्यक्ति की स्वतन्त्रता को परस्पर विरोधी मानते थे। उनका कहना था कि ईश्वरकृत स्वतन्त्रता पर प्रतिस्पर्ध लपाने वाले राजकीय कानून समाप्त कर दिए जाने चाहिए। चूंकि इन विचारों का कम प्रतिशतों परका कानूनों के समर्थन को दूर करने पर था, यहाँ ऐसी स्वतन्त्रता को 'निश्चयवाक स्वतन्त्रता' कहा गया। चीन ने स्वतन्त्रता की इस धारणा को स्वीकार न कर यह स्वीकार किया कि राज्य की शक्ति का प्रयोग व्यक्तियों की सौम्यता और उनके गुणों के विकास के लिए किया जा सकता है, यहाँ व्यक्ति की स्वतन्त्रता और राज्य में कोई विरोध नहीं होता। राज्य ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता का सौम्य मानना चाहिए। यदि प्रत्येक कार्य को करने की छूट दे दी जाए तो स्वतन्त्रता उन्मुख-समता और सम्पूर्णता में परिवर्तित हो जाएगी। स्वतन्त्रता प्रारम्भ-समुद्रि में ही निर्मित नहीं है। स्वतन्त्रता और प्रारम्भ-समुद्रि दोनों एकदम भिन्न हैं। स्वतन्त्रता समान का अर्थान नहीं है, वह ही राज्य के नियन्त्रण में ही साम्य भू सकती है। कानून व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का प्रदाय नहीं बल्कि रक्षण है, केवल साम्यवादीय यह है कि इस दृष्टि से राज्य का हस्तक्षेप कम से कम हो। स्पष्ट है कि चीन की स्वतन्त्रता साम्यवाक एवं साम्यवाक होने के साथ-साथ साम्यवाक और साम्यवाक भी है। स्वतन्त्रता एक साम्य है और साम्यवाक कल्याण में चीन देने वाली सबसे शक्तिशाली को प्रेरित करना साम्य है। राज्य की उचित साम्यवाक विधिमा व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सीमित नहीं करती बल्कि उसे अपनी शक्ति के प्रयोग की सुविधा देकर स्वतन्त्रता प्रदान करती है। चीन के ही मन्त्री थे, "हमारा साम्यवाक कानून, जो सम, विद्या, स्वास्थ्य आदि से सम्बन्ध रखता है और जिसके कारण हमारी स्वतन्त्रता में परिवर्तित हस्तक्षेप प्रतीत होता है, इस आधार पर स्वाधीनता है कि राज्य का कार्य प्रचलित प्रदाय कम से बल्कि अन्तर्गत में वृद्धि करना नहीं है, हमारा उन परिवर्तितियों का नियंत्रण करना है जिनके बिना मानव-शक्ति को स्वतन्त्र रूप से कार्य करना सम्भव है।" राज्य को चाहिए कि वह उत्तम जीवन के मार्ग में चले वाली साम्यवाक को दूर करे, (Hindstang Liberty to Good Life)।

(ख) निश्चयवाक स्वतन्त्रता (Determinate Liberty)—स्वतन्त्रता कार्य करने का अन्तर्गत प्रदान करती है, लेकिन इन कार्यों पर स्वतन्त्र निश्चयवाक होता है यहाँ निश्चित कार्य करने की स्वतन्त्रता—ऐसे कार्य जो किए जाने योग्य हैं, न कि प्रत्येक कार्य। कार्यों का परिभाषा यह नहीं होता कि व्यक्ति अपने-गुने सभी कार्य करने के लिए स्वतन्त्र है। कुछ वेमन, ज्ञान चीन, थोड़ी करवा आदि के लिए छूट देना स्वतन्त्रता नहीं है। एक व्यक्ति को पतन की ओर ले जाने वाले कार्यों को करने की स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती। नेपल व्यक्ति कार्य को, ऐसे कार्यों का जो हमारे प्रारम्भ-जीवन में गहनक हो, करने की स्वतन्त्रता हो सकती है। ऐन कार्य करने की एक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का दूसरे किसी व्यक्ति की ऐसी ही स्वतन्त्रता से कोई विरोध नहीं हो सकता क्योंकि नेपल स्वतन्त्र एक ही है। यहाँ यह स्वतन्त्रता दूसरी में साम्य

मिलकर कार्य करने की स्वतन्त्रता है। इस प्रकार प्रश्न के अनुसार—“स्वतन्त्रता दूसरों के साथ मिलकर करने की स्वतन्त्रता है।”

2. स्वतन्त्रता मानव-चेतना की एक विशेषता—प्रश्न के अनुसार मनुष्य की मानव-चेतना के विकास के लिए स्वतन्त्रता का होना अनिवार्य है। मानव-चेतना विवेक-चेतना का एक भाग है और विवेक-चेतना का सार स्वतन्त्रता है, इसलिए मानव-चेतना भी स्वतन्त्र होती है। यह मानव-चेतना स्वतन्त्रता के लिए राज्य की नींव रखती है। बाकी के सभी में “मानव-चेतना स्वतन्त्रता चाहती है। स्वतन्त्रता में अधिकार निहित और अधिकार राज्य की नींव करते हैं।”

3. स्वतन्त्रता में अधिकार निहित हैं—स्वतन्त्रता की भावना स्वयं अधिकार युक्त होती है। एक व्यक्ति जिस कार्य की अपने लिए सम्पूर्ण समझता है, अन्य मनुष्य की उसे अपनी पूर्णता के लिए उपयोगी समझते हैं और इस तरह सम्पूर्ण समाज ही उन्हें अपने विकास में सहायक समझते लगता है जिसका परिणाम यह होता है कि सामाजिकता की भावना पैदा होती है। “एक व्यक्ति का अपनी भलाई की आकांक्षा के साथ अन्य व्यक्तियों की भलाई की कामना करना समाज की भलाई की इच्छा होती है। ऐसा सम्पूर्ण समाज की रचना करता है जिसका सर्व अधिकार होता है।” यह तरह स्वतन्त्रता में अधिकार निहित होते हैं।

स्वतन्त्रता का अधिकार यह करता है नहीं होता कि कोई व्यक्ति जायत अधिकारी का दुरुपयोग करे। स्वतन्त्रता शब्द अपने साथ में ही स्वतन्त्र है और दूसरों की भी इसी स्वतन्त्रता प्रदान करता है जिसका यह स्वयं स्वतन्त्र है स्वतन्त्रता का वास्तविक उपयोग तभी किया जा सकता है जब वह अधिकारयुक्त हो। अधिकार निहीन स्वतन्त्रता उच्छ्वस्यमानता में परिणत हो जाती है। यदि हमें व्यक्तिगत की स्वतन्त्रता के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता की समझ है तो वह स्वाभाविक है कि हमें जीवन का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार, स्वतन्त्रतापूर्वक भयान का अधिकार, व्यवसाय, विद्या एवं कार्य का अधिकार सार्वभौम हो, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि हम अपने मार्ग में जाने वाली बाधाओं की इस रूप में हटाने की प्रवृत्ति हो जाएँ—जिसके दूसरे लोगों के अधिकारों का हान हो। इस प्रकार स्वतन्त्रता के साथ अधिकार युक्त होता है। स्वतन्त्रता शब्द में ही अधिकार निहित होते हैं। अधिकार रहित स्वतन्त्रता की कल्पना करना मूर्खों के असार में पड़ना है।

कॉन्ट, होब्स और प्रश्न

कॉन्ट की अंतिम प्रश्न की मान्यता है कि असार में विराम लक्ष्यमाना हो प्येड होती है। मनुष्य के दैनिक जीवन का सार नैतिक कार्य करना है, न कि सामाजिक भोग-विभोग में पड़ना। व्यक्तिगत का विकास नैतिक कार्यों के करने से हो सकता है, परन्तु स्वतन्त्रता केवल नैतिक कार्यों के संचालन में ही निहित हो सकती है। धनैतिक कार्य करने की छूट स्वतन्त्रता न होकर स्वेच्छाचरिता है। प्रश्न की नैतिक स्वतन्त्रता की आधारता कॉन्ट के किनारी-युगली धारणा है, किन्तु एक बात

में उससे बहुत अलग है। कॉन्स्ट ने कहा था कि नैतिक स्वतन्त्रता मनुष्य के अन्तर्जगत में ही निवास करती है जबकि चीन की मान्यता है कि व्यक्ति को स्वतन्त्रता की अनुभूति बाह्य जगत में ही हो सकती है। कॉन्स्ट का विश्वास था कि राज्य से मूलक अधिकार बना-करार के घारेबों के अनुसार कार्य करने से ही मनुष्य स्वतन्त्रता का उपयोग कर सकता है जबकि चीन के अनुसार राज्य के प्रभाव में स्वतन्त्रता सम्भव नहीं है, क्योंकि नैतिक विचार के लिए आवश्यक परिस्थितियों का निर्मित राज्य के कानूनों द्वारा ही सम्भव है। स्पष्ट है कि कॉन्स्ट की स्वतन्त्रता घरेलू घोर आवश्यकपूर्ण है जबकि चीन की स्वतन्त्रता अस्तु-वसान घोर विविधात्मक है।

हीकल घोर चीन में भी इस विषय में समानता घोर-विभिन्नता दोनों है। चीन हीकल के राष्ट्रपति मकट पर कहता है कि स्वतन्त्रता राज्य में ही सम्भव है घोर व्यक्ति के हित तथा समाज के हित में परस्पर कोई विरोध नहीं है पर हीकल का कहना है कि स्वतन्त्रता तथा राजाशा की पर्यायवाची नहीं माना जाना चाहिए। राज्य का प्रत्येक कार्य घोर कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता में अनिवार्यतः वृद्धि करने वाला नहीं होता। चीन का विचार है कि हीकल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी प्रारम्भ की पूर्ति केवल आदर्श-राज्य में ही हो सकती है, नकार्य राज्य में नहीं। चीन की मान्यता है कि आत्मानुभूति के सिद्धान्त घोर राज्य द्वारा विवेक के आधार पर विभिन्न कानून प्रभाव होते हैं, क्योंकि दोनों की विषय-वस्तु के अलग हैं। व्यक्ति घोर राज्य में मुख्य, कोई विरोध नहीं है किन्तु राज्य यदि अपने कर्तव्यों से धन्य हो जाता है तो व्यक्ति की अधिकार है कि वह उसकी प्रार्थना का उत्तर देकर दे। हीकल चीन के इस विचार के सहमत नहीं है। उसके अनुसार स्वतन्त्रता तथा राजाशा का पुनर्वास वास्तव एकलव्य समझा जा सकता है।

निष्कर्ष रूप में चीन में हीकल घोर कॉन्स्ट दोनों के जीव का महर्षि प्रस्ताव है। चीन ने एक घोर तो कॉन्स्ट के अधिपतिप्रभावतः व्यवस्थापकता की छोड़ा है तथा दूसरी घोर हीकल पर लक्ष्य जाने वाले इस प्रारम्भ से स्वयं को बचाया है कि अपने स्वतन्त्रता को राजाशा-वास्तव में अनुकूल करने उसे निर्बल, नष्ट दिया है।

चीन की अधिकार सम्बन्धी धारणा

(Green's Conception of Rights)

चीन का विश्वास है कि राज्य द्वारा व्यक्तिगत सत्यता की आत्मानुभूति (Self-realization) में सहायता पहुँचाने का सर्वोत्तम साधन यह है कि उनके लिए वह निष्पक्ष घोर कार्यहीन अधिकारों की व्यवस्था करे। अधिकार मनुष्य के सामाजिक विकास के लिए आवश्यकतापूर्ण परिस्थितियाँ हैं। प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति को सर्वोच्च अधिकार यह है कि वह स्वयं ईश्वर तक जाके मनुष्य को हीनता बाह्य, अपने अधिकार के विषय की कुछ करीब कुछ उसे जो कुछ करना है, वह सब सेके। अन्य सभी अधिकार सभी अधिकार के प्रारम्भ होती हैं। समाज के पूर्ण स्वतन्त्रता अधिकारों के सर्व में प्रगतिश्रम अधिकारों की अन्ततः एक सर्वहीन प्रारम्भ है, पर वैश्विक व्यवस्था

सादरी अधिकारों के रूप में प्राकृतिक अधिकार साधुरी हैं।¹ जिस उद्देश्य की पूर्ति मानव-समाज का लक्ष्य है, उसके लिए यह आवश्यक है। अधिकारों का आधार केवल वैधानिक स्वीकृति नहीं है। यह सार्वजनिक नैतिक चेतना है। अधिकार विधान मानव न होकर नैतिकता से सम्बद्ध होते हैं। मनुष्य के नैतिक लक्ष्य की सिद्धि के लिए अधिकार आवश्यक गर्त है।²

डीन की सम्यक्ता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उचित कार्य करने की स्वतन्त्रता चाहता है और इस दृष्टि से उसे कुछ आवश्यकताओं की अपेक्षा होती है। इन आवश्यकताओं और सुविधाओं के द्वारा ही वह सामान्यतः प्राप्त कर सकता है, समन्वय की व्यवस्था में पहुँच सकता है। ये परिस्थितियाँ और सुविधाएँ ही अधिकार हैं। इन अधिकारों की दृष्टि तब होती है जब प्रथम ही व्यक्ति एक नैतिक प्राणी होने के नाते अपना नैतिक लक्ष्य प्राप्त करने के लिए सुविधाओं की माँग करता है और तब ही निवेकमोल होने के कारण यह भी स्वीकार करता है कि जिस तरह उसे इन सुविधाओं की आवश्यकता है, उसी तरह दूसरे लोगों को भी उनकी आवश्यकता है और उन्हें भी वे प्राप्त होनी चाहिए, तथा द्वितीय, जब समाज इन माँगों की स्वीकार कर लेता है। इस तरह अधिकार का निर्माण दो तरीकों से भिन्न हो जाता है—(1) व्यक्ति की माँग, और (2) समाज की स्वीकृति। इनमें से किसी भी एक तत्व के न होने पर अधिकार का अस्तित्व नहीं हो सकता। समाज में डीन के इस विचार को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—

“उसका (डीन का) कहना था कि अधिकार में दो तत्व होते हैं। सर्वप्रथम; वह कार्य की स्वतन्त्रता के प्रति एक प्रकार का दावा होता है। एकदा अधिकार यह है कि वह व्यक्ति की इन प्रवृत्ति का साधन होता है कि व्यक्ति अपनी सामाजिक अधिकारों और क्षमताओं का विकास करना चाहता है। उसका उर्थ था कि मुझवादी दर्शन मूलतः झूठा होता है क्योंकि मानव-प्रकृति ऐसी दृष्टियों और प्रवृत्तियों की प्रतीक होती है जो कुछ की भावना से प्रेरित न होकर हीन दृष्टि की भावना से कार्य को और उन्मुख होती है, किन्तु वह दावा नैतिक रूप के केवल दृष्टियों के आधार पर ही कार्यक नही है। वह जो निवेकपूर्ण दृष्टियों के आधार पर ही कार्यक होता है। वह निवेकपूर्ण दृष्टियाँ दूसरे व्यक्तियों के दावों की भी अपेक्षा समान में रखती हैं। उसी कार्यकता की प्रमाणित करने वाला तत्त्व यह तथ्य है कि सामान्य हित इस प्रकार की कार्य-स्वतन्त्रता की अनुमति देता है। यह भाव लेने और संतुष्टान देने का दावा है। परिणामतः अधिकार में दूसरा तत्व वह सामान्य स्वीकृति है कि वह दावा मान्यकर होता है तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सामान्य में समान हित के प्रति योगदान करती है। इसलिए डीन के अनुसार नैतिक अनुसंधान यह है जिसमें व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता के दावे की सामाजिक हितों की व्यापक में रखकर साधितपूर्वक इन से सीमित

कर देता है और जिसने समुदाय उसके कानों का इतिहास समर्थन करता है कि उसके प्रवास और स्वतन्त्रता के द्वारा ही सामान्य हित की निधि हो सकती है।”

रॉबर्ट पीन के लक्ष्यो से—

“हिसी भी व्यक्ति को समाज-कल्याण की महत्वपूर्ण मानने वाले समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त अधिकारों के समान्य दूसरे कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। प्राकृतिक अधिकार समर्पित प्राकृतिक स्थिति में अधिकार, व्यक्तित्व अधिकारों के विपरीत हैं क्योंकि प्राकृतिक स्थिति व्यवस्थित समाज की स्थिति नहीं है। समाज के सदस्यों द्वारा सार्वजनिक कल्याण की भावना के अभाव में अधिकार का प्रतिपाद नहीं हो सकता।”

“प्रत्येक समाजारी व्यक्ति अधिकार प्राप्त करने का अधिकारी है समर्पित समाज के दूसरे सदस्य उसके अधिकारों की मजबूती देते हैं क्योंकि एक सदस्य द्वारा प्राप्त अधिकारों के समान ही अन्य सदस्यों को भी वे अधिकार प्राप्त होते हैं। व्यक्ति अधिकार प्राप्ति के योग्य है—इस कारण का कारण यह है कि उसे प्रतिभाही रूप से अधिकार मिष्टने चाहिए। अधिकारों के कारण ही व्यक्तियों की तन्मियों का इस प्रकार विकास सम्भव है कि वे जन-साधारण के हित को समर्थ हित समर्थ हैं।”

वास्तव में पीन के नीतिशास्त्र का मूल उद्देश्यवादी लक्ष्य यह है कि यह ऐसे किसी भी सामाजिक हित की मजबूती कर देता है जो उसका समर्थन करने वाले व्यक्तियों के अभाव-भाव की मान करता है। समुदाय का अधिकार और अधिकार व्यक्ति के अधिकार और अधिकार में सम्मिलित होता है।

पीन की अधिकार सम्बंधी धारणा से स्पष्ट है कि “केवल ऐसे समुदायों के लिए ही अधिकारों की स्वीकृति हो सकती है जो नैतिक दृष्टि से समुदाय हैं। एक लक्ष्य नैतिक व्यक्ति अधिकार प्राप्त करके सार्वजनिक कल्याण को समर्थ कल्याण कर देता है। अधिकारों का निदान सामाजिक स्वीकृति द्वारा होना चाहिए।”

जब पीन समाज की स्वीकृति की चर्चा करता है तो उसका सर्व समाज की नैतिक चेतना की स्वीकृति होता है, राज्य का कारण भी स्वीकृति नहीं। ऐसे अधिकार जिन्हें समाज की नैतिक चेतना स्वीकार करती है, वे समाज जिन्हें राज्य की स्वीकृति प्राप्त नहीं है, प्राकृतिक अधिकार कहलाते हैं। वे प्राकृतिक रूप से नहीं हैं कि समुदाय की वे प्राकृतिक समर्थना में समाज में जैसा कि समाज-विज्ञान के प्रतिपादकों का मत है। सामाजिक समुदाय-विज्ञान (Social Contract Theory) की प्राकृतिक अधिकारों की धारणा पीन के लिए एक निरर्थक अभाव है। कोकर के अनुसार “पीन ने प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का समर्पित इस कारण का कारण दिया है कि समुदाय कार्य की कुछ स्वतन्त्रताओं तथा अपने उद्देश्यों की वस्तुओं में कुछ स्वतन्त्र स्वाधीन की केवल अभाव होता है अथवा ‘समाज’ में प्रवेश करने में पूर्व की अवस्था में इसकी कुछ ऐसी स्वतन्त्रताएँ और कुछ ऐसे व्यक्ति में जो समर्थ समाज में प्रवेश करने के बाद भी समुदाय नैतिक अधिकारों के रूप में वास्तव में तथा

समाज में मनुष्य के अधिकार उसी सीमा तक रूढ़ या उचित हैं जित सीमा तक वे समाज के पूर्व की व्यवस्था में प्राकृतिक अधिकारों के अनुकूल लगते हैं। वीन इस बात की स्वीकार नहीं करता कि समाज के पूर्व के और समाज के स्वतन्त्र कोई अधिकार है।¹

वीन के मतानुसार अधिकार प्राकृतिक इस कार्य में है कि उनके बिना मनुष्य की पूर्ण उन्नति अर्थात् परममानुष्य, जो उसकी नैतिक प्रकृति की पूर्णता में मान है, सम्भव नहीं है। वे अधिकार नैतिक हैं क्योंकि इनकी आवश्यकता नैतिक तत्त्व की पूर्ति के लिए होती है। जब इन अधिकारों की रक्षा की स्वीकृति प्राप्त हो जाती है अर्थात् उन्हें कानून का सुरक्षा मिल जाता है तो वे कानूनी अधिकारों का रूप ग्रहण कर लेते हैं। उदाहरणार्थ, हमारा समाज यह स्वीकार करता है कि अवैध भक्ति को जीविनीयार्थ के लिए काम मिलना चाहिए, लेकिन जब तक यह बात राज्य द्वारा स्वीकार नहीं की जाती तब तक यह हमारा प्राकृतिक अर्थात् नैतिक अधिकार ही रहेगा, कानूनी अधिकार नहीं कहना सगता। इस तरह वीन 'प्राकृतिक अधिकार' शब्दों की दूसरी व्याख्या देता है। वे अधिकार (स्थानात्मिक) इसलिए हैं क्योंकि वे इस उद्देश्य के लिए आवश्यक तथा अनिवार्य हैं जो मनुष्य के लिए स्थानात्मिक हैं।

जो केबाइन का कथन है कि "वीन के लिए व्यक्तिगत यावे और सामाजिक स्वीकृति की यह आवश्यकता अत्यन्त महत्वपूर्ण एक स्वाधिक संरचना नहीं, अनुकूल नैतिक कारणों की। यह अधिकारों के सम्बन्ध में केन्द्रीय की इस परिभाषा की स्वीकार नहीं करता कि वे 'विधि' (कानून) की श्रृष्टि हैं।" दूसरा कारण वीन का यह विश्वास था कि "अधिकारों का अर्थ केवल ऐसे समाज में ही सम्भव हो सकता है जहाँ विधान और सार्वजनिक नैतिकता लोकमत के प्रति निरन्तर राजन हो। यह लोकमत अनुकूल भी होना चाहिए और नैतिक दृष्टि से सम्बन्धित नहीं भी। उनके विचार के प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त में यही कहाँ भी।"²

वीन के मतानुसार अधिकार स्थानात्मिक (Natural) तब कार्य में है जिस कार्य में सामान्य राज्य की स्थानात्मिक सम्बन्धता था। उन्हें सामान्य अधिकार कहना अधिक प्रिय होता। इन अधिकारों की सम्बन्धता के आधार पर मुख्यतः समाज द्वारा चले रहस्यों की प्रदान करना चाहिए और यह प्रदान करेगा भी। वे सामान्य अधिकार स्वयं विवेक पर राज्य द्वारा स्वीकृत यथार्थ अधिकारों (Actual Rights) की संस्था निश्चित रूप से अधिक व्यापक और विस्तृत हैं क्योंकि वे यथार्थ अधिकारों के सम्बन्धी हैं। बार्बर (Barber) के अनुसार, "किसी समाज के वास्तविक कानून द्वारा प्रतिष्ठित यथार्थ अधिकार एक आदर्श प्रणाली के सभी अनुकूल नहीं होते।"³ स्थानात्मिक या आदर्श अधिकार (Natural or Ideal Rights) हमारे

1. Cohen: Recent Political Thought, p. 429.

2. केबाइन: राजनैतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृ. 637.

3. Barber: Political Thought in England.

समझ यह मापदण्ड प्रस्तुत करते हैं जिसकी कसौटी पर हमारे अधिकारी को परखा जा सकता है। वे एक ऐसा मापदण्ड प्रस्तुत करते हैं कि हमारे अधिकार उनके अनुकूल हों। आदर्श अधिकार कानूनी अधिकारी से इसलिए भी भिन्न हैं कि उनका वैधिकाय से निकट सम्बन्ध होता है। चीन जब समान द्वारा अधिकारी की मान्यता की बात करता है तो उसका अभिप्राय समान की वैयक्तिक भावना द्वारा मान्यता है, न कि कानून द्वारा मान्यता है।

चीन यह नहीं कहता कि अधिकार का कानून से कोई सम्बन्ध नहीं है। "समान द्वारा किमानिकृत होने के लिए उसका कानूनी रूप ग्रहण करना आवश्यक है। प्रत्येक समान को अपने कानूनों को अधिकधिकार आदर्श अधिकारों के अनुकूल बनाने की चेष्टा करनी चाहिए। एक समान की प्रगति का मापदण्ड यह है कि उसके कानून आदर्श अधिकारों के कहीं तक अनुकूल हैं।" अधिकारों की प्राप्ति के लिए राज्य की आवश्यकता है। कुछ सामाजिक अन्तर्गत तरीक़ार करने पर ही अधिकार प्राप्त होते हैं। अधिकारों के उपयोग के लिए एक ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जो यह देखे कि कहीं व्यक्ति अपने अधिकारों की प्राप्ति में दूसरों के अधिकारों का प्रतिक्षेपण नहीं कर रहे हैं। इसलिए अधिकारों की प्राप्ति के साथ ही राज्य की आवश्यकता भी हमारे सामने उपस्थित है जिसके बिना अधिकारों का भूषण नहीं रह जाता। अधिकारों का उपयोग सभी ही सकता है जब राज्य उनकी रक्षा करे और उनका उत्पन्न करने वाली की रक्षा दे। व्यक्ति प्रायः अपनी अनिवार्यता सामाजिक दृष्टि के प्रभाव में काम करते हैं और व्यक्ति-अनुचित का ध्यान न रखकर दूसरों का अधिकार करने लगते हैं। ऐसी व्यवस्था में किसी ऐसी निष्पक्ष सेवा का होना आवश्यक है जो उनके अधिकारों की रक्षा का अधिकार ग्रहण करे। ऐसी संस्था राज्य है जो सबसे अधिक निष्पक्षता के साथ समान अधिकारों की व्यवस्था करके और उनको कार्यक्षम में परिणत कर व्यक्तियों को अपने अधिकारों की प्राप्ति में सहायता करता है। समान द्वारा व्यक्ति की प्राप्ति की मान्यता प्रदान करने के साथ उसे किमानिकृत करने वाली एक व्यक्ति की आवश्यकता को राज्य भूषण करता है। यह नहीं भूलना चाहिए कि जब हम अधिकारों की बात-करते हैं तो 'कर्त्तव्य' सम्बन्ध ही सम्मिलित हो जाता है। अधिकार और कर्त्तव्य एक नदी के दो किनारे हैं। जो एक व्यक्ति का अधिकार है वही दूसरे का कर्त्तव्य है। दोनों परस्पर सम्बन्धित तथा एक दूसरे के पूरक हैं। यदि हम समाज के दूसरे सदस्यों के इस बात की प्राप्ति करते हैं कि हम अपने अधिकारों का उपयोग क्षान्तिपूर्वक करने दें तो दूसरा भी कर्त्तव्य है कि उन व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा में हम सहायक सिद्ध हों। किन्तु अधिकारों और कर्त्तव्यों की यह व्यवस्था सभी जगह सफल है जब उन पर नियन्त्रण रखने वाली एक सर्वोच्च शक्ति विद्यमान हो। इस प्रकार की व्यवस्था ही हमारा सही व्यवहार कर सकती है और हमें प्राप्ति उपराय से बचा सकती है। यह शक्ति स्वतन्त्रता: राज्य ही हो सकती है। बिना स्वतन्त्र समाज और राज्य के हम अपने अधिकारों की रक्षा नहीं कर सकते। स्वतन्त्रता की

अधिकारविहीन होकर उन्मुखता में परिणत होने से रोकने वाली प्रकृति साम्य हो है।

बीन यहाँ अधिकारों की विधानविधि के लिए साम्य के उचित हस्तक्षेप की बात करता है, यहाँ व्यक्तियों की कुछ दशाओं में साम्य की व्यवस्था करने का अधिकार भी देता है। यदि साम्य उस उच्च नैतिक उद्देश्य (जाने नागरिकों की साम्योपस्थिति की सम्पन्न गन्तव्य) की वृद्धि नहीं करता जिसके लिए वह विद्यमान है, तो वह नागरिकों की साम्य-प्रकृति का दावा नहीं कर सकता। ऐसी दशा में नागरिकों को साम्य का विरोध या कम से कम उस सरकार के आदेशों का विरोध करने का अधिकार है किन्तु "बीन ने यह चेतावनी दी है कि राज्य के विरुद्ध अधिकारों का दावा बहुत सोच-विचार के बाद किया जाना चाहिए। नागरिक उसके विरुद्ध ऐसे किसी अधिकारों का दावा नहीं कर सकते जो कथित साम्य-हीन प्रकृति की व्यवस्था या किसी दूसरी कथित व्यवस्था में विद्यमान वे जिसमें ऐसा माना जाता था कि व्यक्ति एक दूसरे का अधिकार किए बिना काम कर सकते थे; और न वह उद्देश्य परम्परागत विशेषाधिकार का दावा को ही ऐसा अधिकार या ऐसी व्यवस्था मान सकते हैं जिसे वे भोगते या रहे हैं और माने भी भोगते रहना चाहते हैं। यहाँ नवीन व्यवस्थाएँ उसके कार्यों के विधान के लिए नूतन साम्यगताओं की जगह देती हैं, यहाँ इस प्रकार के विधान के विरुद्ध परम्परागत अधिकार का तर्क नहीं दिया जा सकता और न इसका निरर्थक करने के लिए करने व्यक्तिगत विचार को ही सर्वोच्च महत्त्व दिया जा सकता है कि किस मामले में आदेश-नाशन उलका कर्तव्य है और किस मामले में उसकी उत्पत्ति करने का अधिकार है। किसी को कानून का प्रतिरोध करने का इस आधार पर अधिकार नहीं है कि वह कानून उसे कोई ऐसा काम करने के लिए बाध्य करता है जो उसकी इच्छा या वृद्धि के विरुद्ध है।"¹ स्पष्ट है कि एक व्यक्ति को साम्यगता का साम्य के विरुद्ध कोई अधिकार नहीं है क्योंकि उसके सभी अधिकारों का श्रेष्ठ साम्य है। साम्य के कानून सत्ता की नैतिक वेतना (*Moral consciousness of the community*) का प्रतिनिधित्व करते हैं। "जब कानून कहीं भी और किसी भी समय साम्य के लक्ष्य विचार की वृद्धि करते हैं उनकी व्यवस्था करने का अधिकार नहीं मिल सकता।" व्यक्ति का साम्य के प्रति विरोध उसी दशा में व्यापकित हो सकता है जब किसी कानून का उत्पत्ति करने से साम्यनैतिक व्यवस्था की अविशुद्धि स्पष्ट होती हो। इस प्रकार बीन के आदर्श अधिकारों के सिद्धान्त का अन्तिम स्तर इस रूप में है कि "साम्य में एक ऐसी नैतिक प्रकृति विद्यमान रहती है जो साम्य से स्वतन्त्र होती है और जो व्यक्ति को एक ऐसा साम्यगता प्रदान करती है जिसके द्वारा वह साम्य को भी प्राप्त सकता है।"²

1. बीन - नागरिक साम्यनैतिक विचार, पृ. 451-452.

2. *Wesley : Political Thought*, p. 183.

प्राकृतिक कानून पर धीन के विचार (*Genesis of Natural Law*)

धीन के राज्य-विद्वान्त पर चर्चा से पहले प्राकृतिक कानून के प्रति उसके दृष्टिकोण की बात लेता चलिये। हम एक प्राकृतिक कानून की भी व्याख्या की गई थी धीन ने उसकी व्याख्या की। पहले प्राकृतिक कानून ऐसे माने जाते थे जिनके द्वारा सभी कानूनों की परीक्षा की जाती थी। लेकिन धीन ने प्राकृतिक कानूनों को उक्त धर्म से बहुत दूरी किया जिससे हमें, जैसे यदि समझी-बुझी ने किया था। उसने 17वीं शताब्दी के प्राकृतिक कानून के इस विद्वान्त का अध्ययन किया कि प्राकृतिक कानून का सामाजिक चेतना से स्वतन्त्र अस्तित्व है। धीन ने 'प्राकृतिक कानून' शब्दों की पुनः परिभाषा करते हुए कहा कि "वह वह कानून है जिसका वाचन मनुष्य को एक नैतिक प्राणी होने के नाते करना चाहिए वह राज्य के कर्त्तव्य कानून के समुदाय हो या न हो।" प्राकृतिक कानून नैतिक पर आधारित होते हैं। इनकी धीन कानूनन द्वारा नहीं की जा सकती। धीन के अनुसार कानून इस दृष्टि से प्राकृतिक बड़े जाते हैं कि वे सामाजिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक हैं। समाज की नैतिक भावना के विकास के साथ प्राकृतिक कानूनों में भी परिवर्तन हुआ करता है। प्राकृतिक न्याय शास्त्र (Natural Jurisprudence) को ही एक बात का निर्णय करना चाहिए कि कितने कानूनों की प्राकृतिक समझें जायें। तभी वे लागू होने और लागू करने योग्य होंगे, फिर चाहे वे राज्य द्वारा निर्मित कानूनों का मन हो बचपा न हो।

धीन का यह भी कथन है कि नैतिकता का साम्प्रदायिकता सामाजिक मानसिक व्यवस्था है और स्वतन्त्रता उसका मुख्य लक्ष्य है। नैतिकता की बाह्य दृष्टि द्वारा प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। नैतिक का प्रयोग करते ही इसका मुख्य लक्ष्य 'सामाजिक' स्पष्ट हो जाता है और वह (नैतिकता) जब प्राकृतिक कानून की ओरों से या जाती है जिससे मनुष्य के बाह्य कार्य नियमित होते हैं। सामाजिक कानून से वह ज्ञात होता है कि कौन से कार्यों पर राज्य का नियंत्रण है, अर्थात् सामाजिक कर्त्तव्य है जो 'होने चाहिए', किन्तु उनसे बाहरी दबाव नहीं होता। प्राकृतिक कानून ने 'नो कर्त्तव्य होने चाहिए' सम्मिलित है, किन्तु इनके नैतिक द्वारा लागू किया जाता है तथा सामाजिक कानून से उनके अस्तित्व और उनकी क्रियाविधि का पता चलता है।

धीन ने साथ प्राकृतिक कानून और नैतिक कर्त्तव्य का विषय इन शब्दों से प्रकट किया है—“प्राकृतिक कानून और नैतिक कर्त्तव्य में अन्तर है क्योंकि प्राकृतिक कानून और विधिपरिचित कानून में अन्तर-रूप विहित है तथा नैतिक कर्त्तव्यों में किसी बाह्य नैतिक का दबाव नहीं होता।” कभी-कभी यह अर्थ पूछा जाता है कि क्या नैतिकता की कानून द्वारा लागू किया जाता चाहिए। ऐसा अर्थ निरर्थक है क्योंकि इनकी वास्तव में अनपेक्षित लागू नहीं किया जा सकता। नैतिक कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिए बाहरी दबाव, जिसकी नीव अधिपक्ष कटौती की पूर्ति पर निर्भर है, उन

कानूनों की पूर्ति असम्भव कर देता है और इसी कारण राज्य द्वारा कानून किए गए कानूनों की सीमा निर्धारित होती है। यहाँ प्राकृतिक कानून, अधिकार और कर्तव्यों का अनुसंधानात्मक वैधता से निम्न है, किन्तु यह इससे सम्बन्धित अवस्था है।¹ इस सम्बन्ध से डॉ. लेबाइन के विचार विषय की स्पष्टता की दृष्टि से अत्यन्त ही है—

“रीन द्वारा प्राकृतिक विधि की पुनर्स्थापना का अभिप्राय यह नहीं था कि वह विधि के दो प्रेसी पर और देना चाहता था। उसका अभिप्राय कि वह या कि वह विधि की प्रकृति-आवेदना पर, उसके सामाजिक महत्त्व पर तथा साधारण के साथ उसके परिच्छिन्न सम्बन्धों पर और देना चाहता था। लेबाइन के समान रीन का यह विचार भी नहीं था कि विधि को मुक्त-मुक्त की कमीटी पर देना या एकता है यथा विधि तथा साधारण के बीच मूल भेद यह है कि विधि के अन्तर्गत पर एक मिलता है और साधारण के अन्तर्गत पर कोई एक नहीं मिलता। रीन के विचार से विधि तथा साधारण के अन्तर्गत की ऐसी सामाजिक अवस्थाओं का अन्तर्गत है जो एक-दूसरे के समान निम्न है। एक ओर ही परिण, नैतिक भावना और सामाजिक दृष्टिकोण है जो निर्मित और राज्य मानव प्रकृति का मूल है, दूसरी ओर व्यवहार के कुछ निमित्त और नियम रहनु है। इस व्यवहार की लागू किया जा सकता है और वह नैतिकता सन्निधि की सीमाएँ निर्धारित करता है। रीन की सकारात्मक स्पष्टता से वे दोनों नीचे निहित हैं।”

साम्प्रभुता पर रीन के विचार

(*Green on Sovereignty*)

राज्य अधिकारों की क्रियात्मक करने वाली एकलव्य संस्था है। इसके पास शासकरी शक्ति है जिसके माध्यम से राज्य समाज में अधिकारों एवं कर्तव्यों की व्यवस्था कायम रखता है। इस शासकरी शक्ति को राज-वर्धन से राज्य की ‘सर्वोच्चता’, ‘परम शक्ति’, ‘सम्प्रभुता’, ‘राजवर्धन’ आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। यही सम्प्रभुता राज्य का वह गुण है जो उसे अन्य मानव-समुदायों से पृथक् करता है और अन्तर्गत समाज प्रदान करता है।

रीन से पूर्व कभी एक डॉस्टिन द्वारा सम्प्रभुता की विचार व्यवस्था की गई थी। कभी ने सम्प्रभुता का विचार ‘सामान्य दण्ड’ (*General Will*) से बढनाया था। डॉस्टिन की सम्प्रभुता की अन्तिमार्थ ‘निम्नी ऐसे निमित्त मानव श्रेष्ठ’ (*Determinate Human Superior*) से की की जिसकी शक्ति का वास्तव समाज में सर्वोच्च शक्ति स्वाभाविक रूप से करते हैं और जिसे किसी अन्य श्रेष्ठ मानव की शासनात्मक की शक्ति नहीं होती। यद्यपि वे दोनों धारणाएँ एक दूसरे से निपटित हैं, किन्तु रीन के अनुसार वे दोनों ही विचार सम्प्रभुता की पूर्ण धारणा की स्पष्ट करने के लिए आवश्यक हैं। रीन का विचार है कि दोनों धारणाएँ एक

दुसरे की प्रकृति है। समाज की सामुहिक चैतिक योजना अधिकारी की स्वीकार करनी है और वही अधिकारी की रक्षा के लिए सर्वोच्च प्रतिमान पर राज्य का निर्माण होता है। इस तरह राज्य का निर्माण ही सामान्य हित की अधिकारिता करने वाली सामान्य इच्छा पर आधारित है। साथ ही कानून यदि सच्चा कानून है तो उसे एक निश्चित निमित्त एवं सामान्य साम्यता प्राप्त सरकार के किसी एक द्वारा निर्मित और निर्धारित किया जाना चाहिए। चीन साम्यवाद के सिद्धांत के एक अनुसंधान को स्वीकार करता है कि एक पूर्ण रूप से विकसित समाज में कोई ऐसा निश्चित माध्यम या मूल्य-समूह होता चाहिए जिसके पास सम्पत्तीधरता कानूनों को लागू करने और मनवाने की शक्ति हो। जब पर किसी राज्य का सामुहिक नियंत्रण स्थापित नहीं हो सकता।

राज्य की सम्पत्तीधरता के अर्थ में चीन के सिद्धांत की सीमा और राज्य का स्वरूप—चीन यह स्वीकार करता है कि सम्पत्तीधरता राज्य का एक सामान्यतः अर्थपूर्ण है, यह उसकी सर्वोच्च धर्मकारी शक्ति है। सामान्य अधिकारी की रक्षा सम्पूर्ण रूप से सभी सम्भव है जब राज्य शक्ति का साधन से और कुछ कार्य में सम्भोज करे। प्रत्येक समाज में ऐसी शक्ति होनी चाहिए जो ऐसे व्यक्तियों के विरुद्ध अधिकारों को लागू कर सके जो साम्य स्थितियों के अधिकारी की दायरे से न केवल प्रकार ही करते हैं बल्कि उनके उपयोग के मार्ग में बाधाएँ भी उत्पन्न करते हैं। यदि अधिकार को स्थापित न किया जा सके तो यह अधिकार नहीं है, यह ही केवल एक चैतिक आशा मात्र है। इस विचार का यह स्वाभाविक अधिकार है कि अधिकार राज्य की सीमा करने हैं—उस राज्य की जो इसे सम्भोज का समान सर्वोच्च अधिकारी है। बर्कर (Barker) के अनुसार, “यही वह विशेषाधिकार उत्पन्न होता है जिसे हम राज्य नहीं कहते। यह विशेषाधिकार है राज्य का कार्य। यह सम्पत्तीधरता के लिए शक्ति का प्रयोग करता है। इन विशेषाधिकार का सम्भोज करने के लिए पहले ही इसे यह जानना चाहिए कि शक्ति का प्रयोग करने वाली शक्ति क्या है और दूसरे यह कि उसके कार्य को समाज के सदस्यों की सक्रिय इच्छा का सम्भोज नहीं कर पाया है।” इस विशेषाधिकार का जो अर्थ चीन प्रस्तुत करता है, यह उसके सम्पत्तीधरता का केवल किन्तु है।

चीन का मत है कि राज्य की सम्पत्तीधरता शक्ति उन सम्पत्तीधरों की शक्ति करने के लिए सम्भव है जो सम्भोज है जिसमें किसी कारणवश सम्पत्तीधर सम्भोज का सम्पत्तीधर सम्भोज नहीं होता है। इसी शक्ति कभी-कभी दूसरों में कानून सम्भोज की सम्भोज की दृष्टि करने के लिए भी यह सम्भव है जो सम्भोज है। प्रत्येक शक्ति का यह कार्य है कि यह दूसरों के अधिकारों की रक्षा के लिए उत्तर रहे और उनके सम्भोज न करे। किन्तु अधिकार सम्भोजों के सम्भोज में सम्भोज कुछ व्यक्ति सम्भोज सम्भोज को पूरा नहीं है। ऐसे स्थितियों को राज्य सम्भोज सम्भोज शक्ति द्वारा ही सम्भोज के

रखता है। मतः सम्प्रभूता यह जगित है जो कानुनों का निर्धारण करती है और उनके पालन के लिए जनता को बाध्य करती है।

यह चीन यह स्वीकार करता है कि राज्य का यह प्रावश्यक गुण उसकी सर्वोच्च दमनकारी शक्ति है और सामान्य अधिकारों की रक्षा हेतु राज्य द्वारा जन-प्रयोग प्रकृति है जो उसके विद्वान्त के अनुसार समय राज्य का रचनात्मक उत्पन्न नहीं है और न ही राज्य शान्तिपूर्ण रूप से उस पर निर्भर है। जब अधिकारों का समर्पण करता है, उनकी सृष्टि नहीं। सर्वोच्च दमनकारी शक्ति का हीना इसलिए अनिवार्य है कि वह राज्य के अस्तित्व की कायम रखने वाला साधन-सम्पन्न है और उसके कर्मियों के प्रभावकारी पालन के लिए पर्याप्त उत्पन्न है। लेकिन इससे राज्य का निर्माण नहीं होता। "समयित बल" अपनी प्रकृति में उसी समय राजनीतिक होता है जब उसका प्रयोग कानून के अनुसार अधिकारों की रक्षा के लिए किया जाता है और जनता सामान्यतया यह समझती है कि उसका प्रयोग उचित है। राज्य ऐसे व्यक्तियों का समूह है जिसमें सामान्य हितों तथा अधिकारों की लीन परस्पर स्वीकार करते हैं। समाज एक राजनीतिक समाज के रूप में उस समय एक सत्ता अधिकार कायम नहीं रख सकता, जब तक वे अधिकार एक ही बिना राज्य के सम्पूर्ण हस्तक्षेप के स्वभावतः स्वीकार नहीं किए जाते। राज्य में भय जन प्रभावशाली नागरिकों के नियंत्रण के लिए, जिसमें नागरिक भाषणा का प्रधान है, और कभी-कभी दूसरे व्यक्तियों में कानून के पालन की भावना की दृष्ट बनाने के लिए आवश्यक होता है। इस प्रकार चीन के अनुसार शासन का अधिकार उन प्रयोगों में सीधेता चाहिए जो लोगों को उसके प्रति सामान्य भावना-पालन की ओर प्रेरित करते हैं।¹⁹

स्पष्ट है कि राज्य के जन-प्रयोग की कबलत करते हुए चीन यह नहीं कहता कि वह ही राज्य का प्रधान है। "जब एक बार साधनकारी शक्ति जो सम्प्रभूता का एक प्राथमिक भाग है, नागरिकों के द्वारा अपने साधनरत में राज्य की एक विशेषता बन जाती है तो सम्प्रभूता चाहिए कि राज्य में जनता के हस्त पर से सत्ता अधिकार जो दिया है और उनका अन्त निकट है।" सारीय यह है कि चीन के अनुसार सम्प्रभूता एक सर्वोच्च राज्यकारी शक्ति की उद्भव सम्प्रभूता एक सुनिवार्य धर्म है। सम्प्रभूता का गुण जो सामान्य दम्पन्न है। चीन निश्चय है कि—“हमें सम्प्रभू की बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग करने वाली एक समूह समुह नहीं समझना चाहिए, बल्कि राजनीतिक समाज की सम्प्रभू की सम्पूर्ण अस्तित्व के सम्प्रभू में ही हम पर विचार किया जाना चाहिए। यह अवकाश शीघ्र है और इस प्रकार सामान्य दम्पन्न का अधिकारी है।” स्वाभावतः, कदाचित् सामान्यता प्राप्त करने के लिए सम्प्रभू-शक्ति का उपयोग के हस्तों पर अधिकार होना चाहिए। सामान्यता यदि निष्ठा न होकर सम्पूर्णता वाली गई है तो वह स्वाभाविक नहीं हो सकती। राज्य की जन-प्रयोग की शक्ति का गुणभाव प्रकट करते हुए चीन पुनः कहता है कि

“स्वेच्छापूर्वक स्वाजापालन होने पर भी यदि राज्य नागरिकों पर बल-प्रयोग करता है तो केवल इसलिए कि वे अपने परीक्षकों के अधिकारों तथा हितों के लिए आवश्यक व्यवस्थाओं को, जिन्हें राज्य अती-मजिब समझता है, बनाए रखना नहीं चाहते।”

इस तरह हम देखते हैं कि चीन के अनुसार राज्य का मूल उसकी बाध्यकारी शक्ति नहीं है। उसकी वास्तविक शक्ति-शक्ति तो सामान्य इच्छा है—यह सामान्य इच्छा जिसके द्वारा अधिकार उत्पन्न होते हैं और जो ‘सामान्य उद्देश्य की सामान्य पैठरा है जिससे समान का निर्माण होता है।’ शक्ति राज्य का मूल तत्व नहीं हो सकती। ‘राज्य का आधार शक्ति नहीं, इच्छा है’ (Will, not force, is the basis of the State)। ‘राज्य का कार्य आवश्यक रूप से नैतिक कार्य ही है। उसके कानूनों और उसकी व्यवस्थाओं का उद्देश्य उद्देश्य शक्ति की ऐसे समुदाय के सदस्यों की हितसिद्धि है, जिसका प्रत्येक सदस्य दूसरे समस्त सदस्यों के प्रत्येक जीवन में सहायक होता है, अपनी सामर्थ्यपूर्णता की सिद्धि में सहायता देता है। राज्य का कार्य उसी सीमा तक उचित है जिन सीमा तक वह विवेकपूर्ण लोगों की और प्रेरित स्व-निर्धारित बाधकता के कार्य में वैयक्तिक स्वतन्त्रता की अधिकृति करता है। जो कार्य किसी प्रकार के बाहरी दबाव के अधीनस्थ किए जाते हैं उनमें नैतिक कार्यों के दुश्मन का प्रभाव होता है।

चीन का मत है कि निरंकुश शासन का आधार भी प्रत्यक्षः ‘सामान्य इच्छा’ होती है। जब राज्य या समूह का आधार सामान्य इच्छा न होकर शक्ति हो जाता है तो उस राज्य का अन्त निकट था जाता है। शक्ति के आधार पर कोई भी राज्य स्थायी नहीं हो सकता। समूहों की भांति शक्ति उसकी बाध्यकारी शक्ति मात्र के कारण नहीं मानता। वह समूहों की भांति का शासन नहीं करता है क्योंकि उसे समूहों की स्वायत्तता नहीं करनी चाहिए, इसका कारण बताते हुए चीन का कहना है कि—“यह प्रकृतिक कि मैं राज्य की शक्ति के सामने नहीं मुड़, यह प्रकृतिक है कि मैं अपने जीवन की उन समस्याओं द्वारा विनियमित नहीं होने देता हूँ जिनके जिज्ञा करना करने के लिए वेरा प्रतिष्ठित हो न होता और न ही जो कुछ मुझमें करने के लिए कहा जाता है उसका मैं भीतिव्यव प्रथ सकता। इस बात के लिए कि वेरा एक जीवन ही जिसे मैं प्रथता कह सकूँ, मुझे न केवल अपनी और और सम्य की स्वतन्त्रता भी होनी चाहिए और उसकी प्राप्ति सभी सम्भव है जब समान के सदस्य एक दूसरे की स्वतन्त्रता की मान्यता दें क्योंकि यह सामान्य हित के लिए आवश्यक है।”

प्रतिरोध का अधिकार

(Right of Resistance)

राज्य के प्रतिरोध के अधिकार को, यहाँ ‘राज्य का अधिकार शक्ति नहीं, इच्छा है’—तीर्थक के अन्तर्गत आधुनिक रूप से भी आ चुकी है। चीन के अनुसार

नागरिकों द्वारा राज्य के कानूनों का विरोध करने का प्रयत्न इसलिए उत्पन्न होता है, क्योंकि कभी-कभी समाज और राज्य द्वारा स्वीकृत अधिकारों के कुछ प्रकरण उत्पन्न हो जाती है। उदाहरण के लिए एक नागरिक दास-प्रथा का विरोधी है, वह यह अनुभव करता है कि कदापि राज्य के कानूनों के अन्तर्गत दास-प्रथा वैधानिक है, समाज समाज की रचना इसे स्वीकार नहीं करती। इसी अवस्था के कारण राज्य और नागरिकों में विरोध उत्पन्न होता है। डीन की मान्यता है कि समाज की इसकी रचना यदि राज्य द्वारा कानून किसी कानून प्रणाली तथा की अनुचित एवं अविचारक समझी है तो नागरिकों को राज्य के विरुद्ध सामान्य उठाने का अधिकार है। जोकर के शब्दों में, "यदि राज्य उस उच्च दैतिक उद्देश्य (जैसे नागरिकों की आरक्षकता को समर्थन बनाता) को पूर्ति नहीं करता जिसके लिए वह अस्तित्व में है तो वह नागरिकों की राज्यभक्ति का दावा नहीं कर सकता। ऐसी रता में नागरिकों की राज्य का कम से कम उस सरकार के आदेशों की श्रद्धा या विरोध करने का अधिकार है जिसने राज्य का प्रभुत्व बन कर रहता है। अपनी इस विचारधारा में डीन हीबेनियम न हीकर कुछ व्यक्तियों को तथा उनके दर्शन पर इंग्लिश उदारवाद (English Liberalism) की धारा स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।"

डीन राज्य का विरोध करने के विरुद्ध में नागरिकों की कई प्रकार की चेतावनी देता है। वह इस बात पर गम देता है कि राज्य का विरोध करने का अधिकार किसी को नहीं है क्योंकि राज्य स्वयं अधिकारों का स्रोत है। वह इस सम्बन्ध में भी दृढ़ विश्वास है कि विरोध केवल इस बात पर नहीं किया जा सकता कि राज्य की विधियाँ किसी व्यक्ति की व्यक्तिगत प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं हैं। राज्य की शक्ति न मानने का विधि का उल्लंघन करने का अधिकार केवल इस आधार पर प्राप्त नहीं हो सकता कि उसके किसी व्यक्ति के शर्त करने की स्वतन्त्रता में या उनके शब्दों की श्रद्धा करने के अधिकार में हस्तक्षेप होता है। समाज में कभी-कभी नागरिकों के उत्पन्न होने के कारण या समाज-हित की आवश्यकता के कारण, यदि राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर निरन्तर कटा कर देता भी व्यक्ति को राज्य के विरोध का अधिकार प्राप्त नहीं हो जाता क्योंकि जिसने भी अधिकार प्रदान किए गए हैं वे इस सामाजिक नियंत्रण पर आधारित हैं कि वे सामान्य हित के लिए उपयोगी हैं। डीन मान्यता करता है कि राज्य का विरोध करने वाला व्यक्ति स्वतः ही करता है क्योंकि राज्य बुनाने के अनुभव और बुद्धिमत्ता के द्वारा ही काम करता है। राज्य की बुद्धि कुछ व्यक्तियों की बुद्धि से विशुद्ध हो सकती है। विरोध के एक कम करने के भी डीन इसे समर्थन कर देता है कि राज्य के विरोध का परिणाम प्रभावशाली की बुद्धि हो सकता है। जोकर के शब्दों में, "कानून के राज्य के स्थान पर प्रभावशाली की स्वाध्याय के अनुचित कानूनों की मानने की अवस्था अधिक प्रभावशाली होने।" डीन की मान्यता है कि सविविधनात्मक शासन वाले राज्यों की बुरी विधियों का विरोध प्रभावशाली सविविधनात्मक उपायों द्वारा ही होने चाहिए और वह विरोध तब तक रहता चाहिए जब तक कि राज्य उस अन्याय विधियों को रद्द न कर दे।

घात के अनुसार सामान्य द्वन्द्व विरोध का आधार जनता के सामान्य मतमतेन होना चाहिए। परन्तु कभी-कभी व्यक्ति अपने स्वयं के दृष्ट डोल निर्णय के आधार पर कि राज्य सामान्य द्वन्द्व के विरोध में कार्य कर रहा है, राज्य का विरोध कर सकता है। घात के मतानुसार व्यक्ति विरोध का अधिकार नहीं है, परन्तु यह ही कहना है कि विरोध नहीं हो। ऐसी स्थिति में राज्य का विरोध करना एक कर्तव्य ही जाता है। केवल के कथनानुसार, "विरोध या प्रतिवाद के विरुद्ध नहीं जाने वाली यह बातों की जाते हुए घात कहता है कि यदि तुम्हें प्रतिरोध करना ही है तो तुम करो और इस सम्बन्ध में अपनी समझ के निर्णायक तुम स्वयं हो। तुम्हें प्रतिरोध का अधिकार नहीं है, परन्तु यह ही कहना है कि प्रतिरोध करते समय तुम नहीं हो और यदि तुम नहीं हो तो प्रतिरोध करना तुम्हारा कर्तव्य होना और यदि तुम इस स्थिति में प्रतिरोध नहीं करते तो तुम अपने नागरिक नहीं हो।"

‘सामान्य द्वन्द्व’ पर घात के विचार (General on General Will)

सामान्य द्वन्द्व की धारणा के सम्बन्ध में घात दृष्टि, जहाँ कहा करते हैं बहुत प्रभावित है क्योंकि उनके मतानुसार उनके विद्वानों में एक समीचीन दृष्टि यह है कि वे सामान्य और प्रजा की धारणा करने के कारण समाजों के दूर चले जाते हैं। प्रजा के सम्बन्ध में आधुनिक अधिकारों की उनकी धारणा दोषपूर्ण है क्योंकि आधुनिक अधिकारों का प्रतिरोध समाज के समझ में नहीं रह सकता। सर्वोच्च अधिकारों धर्म की समझों की बाह्य बाधु बताते हैं। सामान्य और प्रजा के दृष्ट सामान्य स्थापित करने के लिए प्रजा दूसरे समीचीन में, "सामान्य के अपने प्रति सामान्यता के अधिकार और प्रजा के सामान्यता के कर्तव्य की उचित विधि करने" की समझ की मुन्यता के प्रयत्नस्वरूप उन्होंने कविता सिद्धान्त (Contract Theory) की रचना की है, पर उनकी मान्यताएँ एक प्रत्यक्षीय धारणाएँ हैं क्योंकि समाज के बिना अधिकार की धारणा निराधार है।

घात का विश्वास है कि सामान्य द्वन्द्व की चेतना समाज की काम होती है। सामान्य द्वन्द्व की जो सामान्य चेतना होती है, उसकी घात 'सामान्य द्वन्द्व' (General Will) की कहा करता है। सामान्य चेतना अधिकारों और कर्तव्यों को काम देकर उनकी धारणा कथनों की जो स्थापना करते हैं। राज्य कल्प के लिए एक स्वाभाविक समस्या है और सामान्य द्वन्द्व के अधिकार के रूप में कार्य करता है। सामान्य द्वन्द्व ही राज्य की धारणा का आधार है। नहीं वह सम्बन्ध की मुक्ति करती है जिसका सर्व अधिकारों की नियमित करना एक इस सम्बन्धों की पूर्ण स्थापना आवश्यक है करना है जो प्रतिगर्भ और अनुभवों के मुक्ति हैं। घात के अनुसार राज्य का सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्धों द्वारा न होकर अनुभवों के सामान्य द्वन्द्व की विधि के लिए होता है। राज्य के बिना सामान्य द्वन्द्व की धारणा नहीं की जा सकती और सभी के सिद्धान्त में स्वयं का करना ही घात है कि राज्य का आधार नहीं है, बल्कि सामान्य द्वन्द्व है।

रीन ने भी इच्छा के दो रूप बानि हैं—(1) वास्तविक इच्छा (Actual Will), एवं (2) समर्पण इच्छा (Real Will)। वास्तविक इच्छा स्वार्थपूर्ण होती है। इसका निर्माण मनुष्य की काम, जीवन, मर, मोह आदि आकांक्षों के योजीत होता है। यह इच्छा निरुद्धहीन होती है और समर्पण इच्छा समर्पण इच्छा (Real Will or Good Will) के मार्ग से आधारित उत्पन्न करती है। इसके विपरीत समर्पण इच्छा प्रकृत गतिमान व्यक्ति के सम्म-करण की भाँति की प्रकट करती है। इन इच्छाओं के सामूहिक रूप को ही रीन ने 'सामान्य इच्छा' की शब्दा दी है। ये इच्छाएँ ही राज्य का वास्तविक आधार हैं और राज्य इनका प्रतिनिधित्व करता है। यदि वास्तविक इच्छाओं (Actual Wills) समर्पण आत्मनात्मक इच्छाओं के अनुसार मनुष्य की आचरण करने दिया जाए तो मानव के नैतिक विकास के आचरण का निर्माण कभी नहीं होता। यही कारण है कि सामान्य चेतना (Common Consciousness) किसी ऐसी नैतिक समस्या को आवश्यक समझती है जो स्वतन्त्र कार्यों के लिए आवश्यक अधिकारों की रक्षा कर सके। इन नैतिक समस्या का नाम ही राज्य है। रीन लिखता है कि—'नैतिक जीवन के लक्षण का मूल रूप यह बात है निहित है कि मानवीय इच्छा और विवेक की नैतिक समस्याओं को समर्पण रूप से दिया जाए।'

'राज्य सामान्य इच्छा का अभिव्यक्तिकरण है'—इस परिणाम पर रीन जिस तरह पहुँचा उस तरह पूर्ववर्ती पृष्ठों में काफी कुछ कहा जा चुका है। उसे दुहराते हुए शब्दों में कहना ही कह देना पर्याप्त होना कि रीन का यह मूल विश्वास है कि समाज में एक चेतना व्याप्त है जिसका लक्षण स्वतन्त्रता है। मानव-चेतना एक चेतना का ही एक अंग है। मानव-चेतना का लक्षण है कि प्रत्यक्ष-विकास द्वारा विश्व-चेतना के साथ एकाकार हो जाना चाहिए। ऐसा तभी ही संभव है जब मानव का नैतिक विकास हो क्योंकि मानव-चेतना बुद्धि के आधार पर ही विश्व-चेतना का एक अंग बन सकती है। मानव-चेतना विश्व-चेतना का ही एक अंग होने के कारण यह अनुभव करती है कि यह दूसरी के साथ रहकर ही अपना विकास करती है। इस आकांक्षा के योजीत होकर व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों के सम्पर्क में आते हैं। व्यक्तियों के विकास के लिए कुछ मुश्किलों की आवश्यकता होती है जिन्हें उत्पन्न करने के लिए और अपनी कुछ व्यक्तियों से रक्षा करने के लिए विधि-प्रणालियों की जरूरत पड़ती है। इस प्रकार की विधि-प्रणाली राज्य ही प्रदान कर सकती है। अतः यह निश्चित होता है कि राज्य मनुष्य की समर्पण इच्छा के कारण ही अस्तित्व में आता है।

अब बताना है कि व्यक्ति राजाशा का पालन क्यों करते हैं—क्यों वे अवधीत होकर प्रकृत सामान्य हित की आकांक्षा में। रीन का उत्तर है कि व्यक्ति राजाशा का पालन सामान्य हित की आकांक्षा के ही करते हैं। राज्य व्यक्तियों की सामान्य हित-आकांक्षा का ही रूप है। राज्य के कानून की सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः उनका पालन इसलिए नहीं करती कि उत्पन्न करने पर उन्हें का भय होता है बल्कि इस अनुभूति के फलस्वरूप करती है कि राज्य और उनके कानून

सामान्य हिन की सामान्य दम्छा पर आधारित है। प्रत्येक कानून अधिकारी की रक्षा में एक कड़ी का कार्य करता है। यहाँ राज्य शक्ति का नहीं, दम्छा का प्रतीक है। सोन राज्य की बल-शरीर का अधिकार इसलिए देता है कि 'राज्य में सामान्य दम्छा का निवास होता है। सोन की सामान्य दम्छा 'राज्य की दम्छा' नहीं बल्कि 'राज्य के लिए दम्छा' है। सामान्य दम्छा वह दम्छा नहीं है जिसके नाम पर सामान्य जनता पर अत्याचार करते आए हैं। बार्कर के शब्दों में—“सामान्य दम्छा का तात्पर्य है कि राजनीतिक कार्य को प्रेरित एवं नियन्त्रित करने वाली शक्ति प्रशिक्षण रूप में एक प्रारम्भिक शक्ति है। वह एक सामान्य शक्ति-कारण है जिसके सहायक का उद्देश्य होता है। वह एक सामान्य शक्ति-कारण है जो समाज के अधिकारी एवं अधिकारियों को शक्ति प्रदान कर सकता है—” वह उस समय को सृष्टि करता है जिसका कार्य उन सब मनुष्यों को पूर्ण शक्ति एवं सामान्यत्व के साथ सम्मान रखना है जो अधिकारी और विधियों के साकार रूप हैं।”¹

सोन का मत यह निवास है कि दम्छा ही राज्य का आधार है, बल नहीं; तथापि उसके अन्तर्गत देश भी राज्य में अर्द्ध पर दम्छा के स्थान पर बल प्रयोग को अधिक महत्व दिया जाता था और इसी कारण सोन “राज्य की ईश्वरीय आत्मा (Divine Spirit) की सर्वोच्च व्यक्तिगत शक्ति मानते हुए भी वह स्वीकार करता है कि राज्य वास्तविक रूप में अपने विभिन्न सदस्यों का केवल आर्थिक रूप से ही पूर्ण करते हैं।”

‘सामान्य दम्छा’ पर विचार करते समय एक प्रश्न यह उठता है कि क्या निरकुल एवं अराजकरी राज्यों का आधार भी सामान्य दम्छा ही होती है। सोन इसके उत्तर में सोन बार्कर प्रस्तुत करता है—(i) इन राज्यों को विकृत राज्य की शक्ति देनी चाहिए, (ii) इन राज्यों को जो कुछ भी सामान्य दम्छा का समर्थन प्राप्त है, उसे अत्याचार के मानस्य के कारण प्राप्त हुआ सम्मान जमा चाहिए, एवं (iii) व्यक्ति एवं ईश्वरीय आत्मा के अतिक्रम होते हैं, अतः नृणादयो के होते हुए भी उनमें विद्यमान ईश्वरीय आत्मा उनकी नृणादयो में से अत्याचारों का निवारण करती है। इत्यादिप्रकारे बार्कर ने सम्राट की रोमन विधि (Roman Law) को महत्व देने की बातें बहुत शक्ति का अर्थ-क और आकाशों ही नहीं न रहा हो। सोन की इस आत्मा के कड़ी प्रतीक होता है कि व्यक्तिगत शक्ति के राज्य बनना सम्भव में किसी न किसी संज्ञ में सामान्य दम्छा का निवास सम्भव रहता है। वेबर (Weber) के अनुसार, “सोन उक्त शब्दों के इस विचार का समर्थन करता है कि विद्यमान राज्यों में सामान्य दम्छा पूर्णतया मृदा है तो साथ ही हीनम के इस विचार का भी समर्थन करता है कि विद्यमान राज्यों में विभिन्न सामान्य दम्छा को सर्वोपकारी है।” पुनश्च, वेबर ही के शब्दों में, “इस प्रकार हम हीनम की तरह सोन पर व्यक्ति को राज्य पर अधिकार कर देने का आरोप नहीं लगा सकते।”

सामान्य दृष्टि पर विचार करते समय एक अन्य बात यह भी उठता है कि सामान्य हित की रचना क्या सामाज्य के अधिक सदस्य में विद्यमान रहती है। चीन के अनुसार सामान्य हित की सामान्य रचना गरीबी, भविष्य की और दैनिक कार्यों के जैसे हुए व्यक्तियों में प्राक् नहीं पाई जाती जबकि, भविष्य, गरीबी, डॉक्टरों और राजकीय कार्यकर्ताओं में सामान्य हित का व्यक्तिगत ज्ञान पाया जाता है। सामान्य हित की पूर्ण रचना का पाया जाना व्यक्ति में दुर्लभ है, पर इससे हमें यह नहीं पता चाहिए कि सामान्य हित का व्यक्ति को कोई सम्भाव ही नहीं होता। यह हमने प्रारम्भिक रूप में सभी नागरिकों में पाया जाता है और इसलिए राज्य का अस्तित्व कायम रहता है। यदि इसका सम्प्राप्त होना तो राज्य का अस्तित्व ही सम्भव न होता। यह कहा जाता है कि सामान्य हित की भावना नैतिक कर्तव्य के विचार के प्रधान ही सीधे में विद्यमान रहती है यद्यपि इससे पूर्ण रचना कभी व्यक्तिगत केवल कुछ ही व्यक्तियों में यदाकदा देखी जाती है।

राज्य के कर्तव्यों पर चीन के विचार (Green on the Functions of the State)

चीन के राज्य सम्बन्धी विचार पूर्णतया नीतिक हैं। उसने राज्य के कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए ऐच्छात्मक सम्बन्धों पर बल दिया है। उसने यद्यपि एक घातक राज्य की कल्पना की है पर राज्य के जिन कार्यों का उल्लेख किया है वे यथार्थ राज्यो के ही कार्य हैं। हीनन का एक उदाहरण यह था कि वह नकारे राज्य के विवेचन से दूर रहा। चीन का विश्वास था कि राज्य का उद्देश्य व्यक्ति का नैतिक विकास है, यह उसके कार्य इसी उद्देश्य में प्रेरित होने चाहिए। डी. वाईर के हामी में—“राज्य का साम्यतम उद्देश्य नैतिक सुख होता है और यह एक सफल गौरवपूर्ण सुख है। यह एक नैतिक प्रार्थना है जिसे इसके नैतिक उद्देश्य ही जोड़ित रहते हैं।”

चीन परमतावादी राज्य (Absolute State) का विश्व नहीं कीच्छता। यह राज्य की बाह्य तथा आन्तरिक दोनों दृष्टियों में जीवित मानता है। राज्य के कार्य सकारात्मक (Positive) तथा नकारात्मक (Negative) दोनों प्रकार के होने चाहिए। सकारात्मक दृष्टि से यह कहता है कि राज्य व्यक्ति को यह कार्य करने से जो कार्य करने योग्य है और इसके करने में जहाँ यह कोषाओं के कारण बाधमय हो, उन बाधाओं को दूर करे। चीन राज्य को यह विचार देता है कि नैतिकता के विकास के लिए उचित होने पर यह नागरिकों के कार्य में हस्तक्षेप करे तथा आवश्यक होने पर सत-अभेय से भी न हिचके।

नकारात्मक दृष्टिकोण के अनुसार हीनन के मत में राज्य का यह कर्तव्य किसी भी व्यक्ति को आन्तरिक कभी नैतिक सहायता प्रदान करना नहीं है, यद्यपि समुदाय कार्य की बाह्य हस्तक्षेप द्वारा ऐसा वातावरण उत्पन्न करना है जिससे व्यक्ति के अधिक के अधिक सामाजिक कल्याण नैतिक-वैयक्तिक उत्पन्न हो। राज्य ऐसे व्यक्तियों के लिए दण्ड की व्यवस्था करे जो सामाजिक उत्पत्ति के मार्ग में बाधक हो। राज्य उन सब स्थितियों को दूर करने हेतु प्रयत्नशील हो, जो नैतिकता के विकास में बाधक हो। राज्य का कार्य स्पष्ट जीवन-निर्वाह की बाधाओं को दूर करना है।

कीन की मायका है कि राज्य नैतिकता की लावू नहीं कर सकता । यह ती व्यक्ति के सम्बन्धित से सम्बन्धित बनने से जो व्यक्ति द्वारा धारणीय कर्तव्यों के निम्नतम सम्बन्धित से ही विहित है । नैतिकता का स्वरूप ही ऐसा है कि उसे बाह्य साधनों द्वारा स्थापित नहीं किया जा सकता । राज्य व्यक्तियों की लावू द्वारा प्रत्यक्ष सम्बन्धित नही बना सकता । सामान्य हित की सामान्य चेतना की विधि के द्वारा प्रोत्साहित नहीं किया जा सकता । राज्य के कर्तव्यों के सम्बन्धित से हीन व्यक्ति प्रत्यक्ष का विरोधी है । तत्त्व के प्रयोग से पत्रिका धीरे नैतिक भावनाओं की अभिवृद्धि से कोई सहायता नहीं मिलती, बल्कि तानि ही होती है । कोकर के अनुसार, "कीन की दृष्टि के साथ इस विद्वान्त की मानका का कि राज्य का कार्य व्यक्ति के लिए पद सम्भव कर देना है कि वह स्वयं थोड़ा जीवन प्राप्त करे, परन्तु कारण निम्नो व्यक्ति की जीवन वानन के निरूपण करने की अपेक्षा थोड़ा देने की प्रयत्न करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता ।" कीन के हस्तों में, "व्यक्ति के बाहरी साधन-साधन पर प्रत्यक्ष रूप से निम्न प्रकार के रूप की समीची देकर कोई प्रतिक्रिया पाना सामान्य हित के विरुद्ध है । व्यक्ति के साधन की वारी निम्नतम सामान्य हित की दृष्टि से स्वाभाविक रूप से चलनी चाहिए । सरकारों प्रतिक्रिया सामान्य हित के स्वाभाविक मन्त्रालय में हस्तक्षेप है और उस समता के विचार में स्थापित है की व्यक्तियों के लाभकारी प्रयोग की मायका कर्त है ।-----अतः, राज्य का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप स्थापित दूर करने तक ही सीमित रहना चाहिए ।" कोकर का मत है कि "कीन के विचार से इस विद्वान्त के निर्हस्तक्षेप के मत में कोई तर्क नहीं मिलता । ऐसी भी परिस्थितियाँ होती हैं जिनमें बहुत से व्यक्ति राज्य के हस्तक्षेप के बिना कोई निर्यक्तपूर्ण लक्ष्य नहीं पुन सकते, जिससे ऐसा साधनरूप उत्पन्न हो उनके निम्नतम कर्तव्य बौद्धिक तथा नैतिक दृष्टि से अधिकतम उत्पन्न करने का अवसर प्राप्त हो सके । एक ऐसे व्यक्ति के सामने जिसने उपपन्नोक्ति की बहुत प्रतीक्षा है, उसकी पूर्ण साधनोक्ति के मान में अपेक्षा प्रत्यक्ष की ऐसी साधन या सकती है जो उसकी साधनता तथा उसके निम्नतम के साधनों के साधन के कारण या दूसरों के साथ या साधनवाही के कारण उत्पन्न होती है । सम्बन्धित विज्ञा की व्यवस्था, कारणों का निम्नतम तथा प्रत्यक्ष का निम्नतम साधनवाही की वही भी परिभाषा करने में तथा साधन-साधनों में निम्नतम पर प्रतिक्रिया करने में राज्य साधन-विज्ञाओं, कारणों के मायका, जमीनारी तथा जीवन-साधनों का प्रत्यक्ष करने वाली में सम्बन्धित साधन चेतना उत्पन्न करने का प्रयत्न नहीं करता, यह तो साधनों, साधनवाही के मजदूरी, विज्ञाओं तथा साधनोक्ति में साधन चेतना की सम्बन्धितों की सम्बन्धित करने की प्रयत्न करता है ।"¹

राज्य का हस्तक्षेप व्यक्ति के जीवन में बहुत तक होता तथा साधनों की दूर करने के लिए राज्य क्या-क्या करेगा, कीन ने इसकी कोई निम्नतम सीमाई निर्धारित नहीं की है, किन्तु उसने अपनी सम्बन्धित साधनवाही परिस्थितियों की देखते

इस कुछ उदाहरणों द्वारा इस और संकेत दिया है। नकारात्मक दृष्टि से यह मानता है कि अज्ञानता, सर्वोत्ता दार्दि के निराकरण द्वारा राज्य को व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए उचित शिक्षा का प्रयोग करना चाहिए, राज्य को बुद्धि-व्यवस्था का कार्य करने द्वारा सेना चाहिए, व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा करना चाहिए, सक्षमता का नियंत्रण करना चाहिए, शिक्षावृत्ति को विस्तार चाहिए, धर्म : और इन्हें मानव-विकास के मार्ग को बाधार्थ मानता है और इसलिए इन्हें दूर करने के लिए राज्य के उपस्थिति को नकारात्मक करता है। बाकी के अनुसार, "हीन स्वाधीनता की पुष्टि के लिए मन का प्रयोग करता है।"

हीन का यह दृष्टिकोण कि राज्य का कार्य श्रेष्ठ जीवन के मार्ग में बाधे वाली बाधाओं को प्रतिषेधित करना है, नकारात्मक प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में बाकी का मत है कि "हीन की पारणा के अनुसार राज्य का कार्य प्राथमिक रूप से नकारात्मक है। यह उन बाधाओं को हटाने तक ही सीमित है जो मानवीय सभ्यता की कारणीय कार्य करने में रोकती हैं। राज्य का सबसे सरली की संघर्ष करने का कोई नकारात्मक नैतिक कार्य नहीं है। उसका कार्य तो उन बाधाओं को दूर करना है जो व्यक्ति को संघर्ष करने में रोकती हैं और यह एक नकारात्मक कार्य है।"¹ हीन के विचारों के प्रकाश है कि "राज्य अपने किसी कार्य द्वारा यह निमित्त नहीं कर सकता कि कार्य कर्माध्य की भावना से किए जाएं। यह केवल कर्मस्थिति का ही सुनिश्चित करने का प्रयास करता है। जनता, यह कर्मस्थिति की भावना से किए जाने वाले कार्यों का क्षेत्र सीमित कर देता है। इसलिए नैतिक कार्य के क्षेत्र को सुनिश्चित छोड़ देने तथा उसकी वृद्धि करने के लिए राज्य को स्वतन्त्र इच्छा में हस्तक्षेप करने का प्रयास नहीं करना चाहिए, बल्कि उसके मार्ग को सरल बनाना चाहिए।"

बाहे बाह्य रूप से देखने पर राज्य के ये कार्य नकारात्मक प्रतीत हो, लेकिन वास्तव में ऐसा है नहीं। ऐसा करने के लिए राज्य को नकारात्मक कार्य करने ही पड़ते हैं। बाकी के अनुसार राज्य के कार्यों का उपर्युक्त दृष्टिकोण से कारणीय से नकारात्मक है—"अथवा, व्यक्तिगतियों के विचारों और बाधाओं को दूर करने के लिए। इसके मार्ग में अपने वाली अवैध बल के सम्बन्ध में राज्य का सविन इस्तरीय व्यवहार है तथा राज्य को बल-प्रयोग द्वारा स्वतन्त्रता विरोधी शक्ति का प्रतिकार करना चाहिए। इसके राज्य का सर्वोच्च उद्देश्य सदा नकारात्मक होता है। जो सम्मान्य हित की प्राप्ति हेतु सामर्थ्यपूर्ण करने के लिए मानव-प्रतिष्ठा की, स्वतन्त्र करना है इसमें सन्देह और कोई नकारात्मक लक्ष्य नहीं हो सकता।"

बाकी की सीधीता का तार यह है कि नैतिकता के सम्बन्ध में राज्य का कार्य केवल इसका ही है कि यह नैतिकता के लिए अनुकूल वातावरण का निर्माण करे, बल्कि नैतिकता किसी पर लायी नहीं जा सकती। हीन के अनुसार सामन्य की ऐसी व्यवस्था करनी है जिसमें अनुकूल नैतिकता के विस्तार पर चला हुआ करने

कर्तव्यों का निष्ठाव भावना के दान कर सके । इन कर्तव्यों को निभाने के लिए उपयुक्त व्यवस्था का निर्माण ही अधिकार है । राज्य के इस प्रकार के हस्तक्षेप से स्वतन्त्रता में कभी न होकर वृद्धि होती है क्योंकि इस हस्तक्षेप में ही मन्दाय का हित निहित है—“स्वतन्त्रता-विरोधी शक्तिों को दबाने के लिए राज्य की बन-बसोय आवश्यक करना होगा ।”

चीन के अनुसार राज्य का कार्य विभिन्न सत्तों के पारस्परिक सम्बन्धों को सुव्यवस्थित करना भी है । बहु-अर्थक संघ की आन्तरिक अधिकार-आवस्था का समुल्लेख करता है और ऐसी प्रत्येक अधिकार-आवस्था का लेख राज्य व्यवस्थाधी के साथ बाह्य सम्बन्ध करता है । सम्बन्ध स्थापित करने के अधिकार के कारण राज्य की अन्तिम सत्ता प्राप्त है । बहुलवादी सिद्धान्त की पूर्णरूप से न धनाने के कारण मेकाइवर ने चीन की आलोचना करते हुए लिखा है—

“भारम्भ से अन्त तक वह पूरी बात का विवेचन करता है कि जिन परिस्थितियों में व्यक्ति एक स्वतन्त्र नैतिक प्राणी के रूप में कार्य कर सकता है उन परिस्थितियों को सुलभ बनाने के लिए राज्य क्या कर सकता है और इसके लिए उसे क्या करना चाहिए । पर उसके विचार के आधार-सम्बन्ध फिर भी राज्य और व्यक्ति ही बने रहते हैं । वह इस बात पर विचार नहीं करता कि राजनैतिक विधान के बिना राज्य शासन-सम्बन्ध सत्तों के प्रतिष्ठान का व्यक्ति और राज्य पर क्या प्रभाव पड़ता है । यदि उसने इसका विचार किया होता तो उसे यह स्पष्ट हो गया होता कि प्रश्न केवल यही नहीं है कि राज्य को क्या करना चाहिए, बल्कि यह भी है कि राज्य को क्या करने की अनुमति है; क्योंकि राज्य सत्ता शक्तियों से परावृत्त है, दूसरी शक्ति के सहायों के सीमित है जो अपने ढंग से अपने उद्देश्यों को पूरा कर रहे हैं । चीन प्रभुवादा की प्राकृतिक समाप्ति के विचारों तक पहुँचकर उसे धुँकर ही रह जाता है, उसका हल नहीं दे पाता ।”

ऐसे द्वारा निर्धारित राज्य के कार्य निम्नलिखित रूप में इस प्रकार हैं—

1. नैतिकता में बाधा उपस्थित करने वाली परिस्थितियों का दमन करना ।
2. सहायक, अविनय तथा अव्यय को प्रोत्साहित करना ।
3. उन शासकों की व्यवस्था करना जिनसे नागरिकों में अधिकाधिक नैतिक भावनाधी एवं अर्थ का विकास हो ।
4. ऐसे लोगों के लिए दण्ड की व्यवस्था करना जो नैतिक नियमों के अधिकारी हैं ।
5. शिक्षा-प्रसार द्वारा सभ्यता की सामाजिक अधिकार को समर्थन देना ।
6. सामान्य दण्ड एवं बन-बसोय से प्रतिरोध उपस्थित करने वाले अत-नियम देवु कानून लागू करना । राज्य को यह अधिकार है कि वह अपने नागरिकों की नायक सत्तों के कम-विक्रम की स्वतन्त्रता को प्रतिवन्धित करके समग्र पूर्णरूप से समाप्त करे ।

7 अतिमूल्य सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों को रखा करता एवं सुवि-निर्वाह लावू करता ।

8 विभिन्न वर्गों एवं स्तरों में सामंजस्य स्थापित करना और बहुलता वर्ग के साथ के सम्बन्ध करता ।

9 नैतिकता की अभिवृद्धि के लिए प्रयास करने में बल-योगदान करना ।

10. अन्तर्राष्ट्रीय भावना को प्रोत्साहित कर अन्तर्राष्ट्रीय भावना की स्थापना में सहायक बनना । युद्ध का विरोध करना राज्य का प्रमुख कर्तव्य है ।

राज्य के ये कार्य केवल निवेद्यतात्मक ही प्रतीत नहीं होते, अपितु व्यावहारिक रूप में हीन से राज्य के निवेद्यतात्मक कार्यों पर भी बहुत बल दिया है । अपने सम्पत्ति सम्बन्धी विचारों के कारण यह पुँजीवाद और समाजवाद के मध्यवर्ती कार्य का विचारक सिद्ध होता है ।

राज्य और समाज (State and Society)

चीन में राज्य की समस्या का समाधान माना है । इन समस्याओं का निर्धारणकारी राज्य नहीं है किन्तु इन सबके बीच एक निश्चित सम्बन्ध स्थापित करने का राज्य को अधिकार (Rights of Adjustment) है । मार्शर के शब्दों में, "राज्य अनेक रूप की सामाजिक अधिकार-सम्बन्धता का समुदाय और ऐसी अधिक अधिकार-सम्बन्धता का क्षेत्र राज्य अधिकारियों के द्वारा सम्भाल करता है ।" इसी सम्बन्ध स्थापित करने के अपने अधिकार के कारण राज्य एक अन्तिम राजमता प्राप्त करता है । स्पष्ट है कि चीन का सिद्धान्त बहुत कुछ बहुलताओं (Pluralistic) है । लेकिन बहुलताओं सिद्धान्त को पूर्णतः न मानना इसके के कारण ही वह लोकतन्त्र की उस सामान्यता का विचार बना है जिसका पूर्व युद्धों में जलेश किता जा चुका है ।

आधुनिक काल में परम्परा में राज्य की अविवर्धन एवं स्वतन्त्रतात्मक मतवादी हुए उसे 'समुदायी का समुदाय' (Association of Associations) कहा जा । ये समुदाय विभिन्न अविवर्धन हैं अर्थात् उद्देश्य तथा स्वतन्त्र के आधार पर व्यक्ति का समुदाय चीन में चलने वाला सामुदायिकता—राज्य के पूर्व वाले थे । बाह्य में राज्य के कारण न जाने हो, लेकिन इनके मरम्मत में राज्य का योगदान प्रमुख रहा था और रहता है । कथित में राज्य की सामाजिक, सांस्कृतिक तथा वैयक्तिकता एवं सुरक्षा में सहायक बनना माना जा । कथित के विचारों के आधार पर चीन में भी राज्य की लोकतन्त्र पर आधारित मौलिक समुदाय माना है और उसे व्यक्ति एवं समाज के बीच की सहायक कड़ी के रूप में स्वीकार किया है ।

चीन में राज्य अनेक विचारों की प्रति राज्य और समाज के बीच प्रति प्रतिष्ठान नहीं की है, उल्टा चीन की विचार-विचार स्वतन्त्रता में प्रमाण दिया है । अपने वह अविवर्धन करने की चेष्टा की है कि राज्य और समाज परस्पर-विरोधी न होकर भी एक दूसरे से मिले हैं—

(i) राज्य स्वयंनिष्ठ शक्ति (बाह्य बल समाज या बहुसंस्कृत समाज की हूँ) का प्रतीक है, शक्तिसम्पन्न होने से वह शक्ति का प्रयोग भी कर सकता है। इसके विपरीत समाज शक्तिहीनता का प्रतीक है क्योंकि समाज की रचना विविध और विभिन्न वर्गों, लक्ष्यों, स्थानों और व्यक्ति (Heterogeneous Elements) से होती है।

(ii) समाज में व्यक्ति और राज्य के बीच परिवार, धर्म-तथ्य, धार्मिक-तथ्य, आस्थाद्विक एवं पौष्टिक तथ्य, शिक्षण तथ्य आदि अनेक उपयोगी समुदाय होते हैं जिन्होंने सहायता व्यक्ति प्रदान करता है, लेकिन राज्य की मददगारता सर्वोच्च नहीं होती है। राज्य का कार्य इन सब समुदायों में विकास प्रदान तथा समन्वय कायम करना है, इसके बिना या हीनता राज्य का उद्देश्य नहीं होता।

(iii) समाज के सम्पूर्ण एक आत्मिक उद्देश्य होता है। वह उद्देश्य सदस्यों का सामाजिक जीवन में आत्म-विकास के लिए पूरी तरह से नैतिक भाग लेना है किन्तु इन उद्देश्यों की प्रत्येक मात्र ही समीचीन नहीं होती। इसके समुदाय आत्मिकता एवं सदस्यों का निर्माण करना राज्य का ही काम है, इसलिए समुदायों की सुलभता में राज्य की ही प्राथमिकता हो जाती है।

(iv) समाज में नागरिकों की शक्ति नहीं होती। समाज व्यक्ति के मार्ग के प्रयोगों को दूर करने में भी असमर्थ है। उसमें वह कार्य करने के लिए आत्मिक शक्ति रखता नहीं है। राज्य के नागरिक से ही समाज के उद्देश्यों की पूर्ति होती है। राज्य ही सब तरह के अधिकारों, विधियों, नियमों आदि का स्रोत है।

चीन राज्य और समाज का केन्द्र करने समय भी वह मान कर चलता है कि वे व्यक्ति की नैतिक और भौतिक समृद्धि में सहायक होते हैं। समुदाय बहुसंस्कृत है क्योंकि वे मानव की पूर्णता प्रदान करते हैं।

विश्व-समन्वय एवं युद्ध पर चीन के विचार (*China on Universal Brotherhood and War*)

चीन विश्व-समन्वय एवं विश्व-शान्ति के समर्थकों में है। उसकी विश्व-शांति की धारणा इस विचार पर आधारित है कि प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है कि वह युद्ध की निम्न और विश्व-शान्ति की प्रवृत्ति करता है क्योंकि युद्ध एवं सन्तुष्ट जीवन के अधिकार में समान है। जीवन के अधिकार पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति ही विश्व-समाज का निर्माण करती है। चीन के अनुसार मानवता के सामूहिक हित में ही व्यक्ति का हित निहित है और इसलिए कानून की शक्ति वह भी एक अन्तर्राष्ट्रीय समाज की स्थापना का समर्थक है और चाहता है कि वह समाज स्वतंत्र राष्ट्रों की ऐच्छिक स्वायत्तता पर आधारित हो। हीनता के संबंध में विपरीत चीन का विश्वास है कि राष्ट्रों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय आचार संहिता (International Code of Morality) सम्भव है और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की धारणा को ही स्वीकार नहीं है। राष्ट्रीय ईश्वरों में कभी और युद्ध के सम्बन्ध में धारणा के दूर हो जाने से वे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का स्थापन चाहते हैं जिसकी शक्ति

स्वातन्त्र्य राज्यो की स्वीकृति पर निर्भर हो। वहाँ का रज-वेद की नीति विरुद्ध-व्यति के लिए शासक सिद्ध होती है। चीन के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय आतृष का धारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो की पूरी मान्यता दी जाए और अंतर्गत सम्प्रभुता (Territorial Sovereignty) की सीमा स्वीकार की जाए। दूसरे शब्दों में, बाह्य रूप में (Externally) राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधान के क्षेत्र में सर्वोच्च रहे। वहीं चीन स्पष्टतः हीमन से सर्वथा भिन्न है और मानव-व्यति के सर्वश्रीम अन्तुष पर विश्वास करने के कारण कौण्ट के निकट है। वेबर के शब्दों में चीन के शासकीय अन्तुष का प्रतिपादन यह है कि "जहाँ चीन का राज्य अपने अन्तर्गत कब नई समानों के अधिकारों की रक्षा करता है तो इसे अपने से बाहर के नई समानों के अधिकारों का सम्मान करना चाहिए।"¹ अर्थात् चीन के अनुसार राज्य न तो दुर्ग है और न सर्वव्यक्तिमान। यह बाह्य तथा आन्तरिक दोनों रूप में सीमित है।

इस दृष्टिकोण से धारणा के कारण ही मुद्र के प्रति चीन के विचार हीमन और उसके अर्थों विधियों की कारण से विस्तृत भिन्न हैं। चीन के अनुसार "मुद्र कभी भी पूर्ण अधिकार (Absolute Right) नहीं हो सकता, अधिक से अधिक यह एक सापेक्ष अधिकार (Relative Right) हो सकता है। मुद्र अन्तुष के स्वाधीन जीवन-धारण के अधिकार का प्रतिफल करता है। पहले की (Previous) किसी मुद्राई या अन्तुष की मुचारे के लिए एक दूसरी मुद्राई के रूप में उसका प्रतिपादन माना जा सकता है, अर्थात् मुद्र एक निर्वय धारणकता (Crucial necessity) के रूप में ही उचित माना जा सकता है, अर्थात् यह एक अन्तुष हो है।"²

चीन के अनुसार मुद्र एक नैतिक अन्तुष है। मुद्र कभी भी एक सही यह हो सकता है। यह संपूर्ण राज्य (Imperial State) का प्रतीक है। "हमारा निष्कर्ष यह है कि मुद्र में जीवन का निवास सर्वत्र निन्दनीय कार्य है (अनेक अन्य अधिकारों से जो मुद्र के प्रथम में होते हैं, यहाँ उनके अन्तुष कोई सम्मान नहीं है), इसका दोषी पाएँ जो कोई हो। इस मुद्राई में आधीधारी के मुद्र के केवल में ही वह मुद्र नई जा सकते हैं जो अन्तुष के यह अन्तुष करते हैं कि उनके लिए अन्तुष के नैतिक विकास की आधुनिक स्थितियों की कारण अपने का एकमात्र साधन मुद्र है। अन्तुष ऐसी बहुत कम स्थितियों मानने पाई हैं जिनमें यह कारण सत्य सिद्ध हुई हो। इस कारण में यह नहीं बताया गया है कि केवल मुद्र के कारण अनेक अन्तुषों का प्रयोग होता है, अर्थात् मुद्रों के कारण के साधन प्राप्त होते हैं जिनके मानन का विकास होता है, जो उसमें हित के प्रति व्यति का कारण माना जा सकता है। के इस सब कार्य की मुद्राई की रूप नहीं करते जो मुद्र में निहित है।"³

चीन का निष्कर्ष है कि सम्प्रभु के विचार के साथ मुद्र नैमी पुनित अन्तु स्वतः ही मृदा हो जाती है। यह हीमन की मुद्र-धारण की कारण का यह धारणा है

1. *Wang : Political Thought*, p. 186.

2. *Green : Principles of Political Obligation* (Revised ed.) p. 169.

है और कुछ की आवश्यकता के प्रतिपादन में वह उसके (हीमन के) एक-एक तर्क का उत्तर देता हुआ यह निष्कर्ष निकलता है कि कुछ अनेक व्यक्ति के जोड़ित रहने के मुख्यतः अधिकार पर आधारित है, जब वह किसी भी दृष्टि से स्वायत्त नहीं है। कुछ के लोगों के सम्बन्ध में हीमन के तर्कों का इस प्रकार उत्तर दिया है—

१. यद्यपि हीमन के कथनानुसार विवाही हमारे से भिन्न है, फिर भी कुछ एक सामुदायिक हावा के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता।

२. यद्यपि कुछ-धूमि में कोई व्यक्ति किसी विशेष व्यक्ति को मारने के लिए सामर्थ्यवान्, शक्तिशाली, और भी कुछ-संज्ञ की हवाओं का जिम्मेदार कोई न कोई व्यक्ति ही होता है।

३. हीमन का यह कथन असत्य है कि कुछ में विवाही स्वेच्छा से स्वयं सेवक की भाँति आलो का वर्तमान करते हैं। यह ही सचता है कि लोग सेना में स्वेच्छा से नहीं होते हैं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं होता कि कर्मचारी करने के लिए ही सेना में प्रवेश लिया है। राज्य ही सभी की भलाई चाहता है। बेनिमी को भी स्वतन्त्र जीवन का अधिकार है। जब यदि राज्य बेनिमी को खतरे में डालता है तो वह उनके जीवन रहने के अधिकार का उत्पन्न करता है। इस दृष्टि से कुछ में कुछ हवा के ही आधार है, क्योंकि यह कोई आकस्मिक दुर्घटना नहीं होती, बल्कि इसमें ही आनन्द कर व्यक्तियों को मृत्यु के मुख में डकेला जाता है।

४. कुछ के सम्बन्ध में यह तर्क दीजता है कि इसके द्वारा मनुष्यों में बीरता और साहस-बलिदान जैसे कुछ विशिष्ट गुणों का विकास होता है तथा यह मनुष्य के नैतिक विकास के अनुरूप सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप रहने का (कुछ) एकमात्र साधन है। कुछ प्रायः उच्च पादरों की संख्या कुछ तथाभी के लिए ही बढ़े जाते हैं और कुछ में जीवन का महार, तथा ही एक सम्पन्न-कार्य है। मानव-जीवन को बचत करना एक परिस्थितियों में दुर्लभ है। यह सच है कि कौन से सौन्दर्य के नियम-समिधानों और भारत में अनेको-कुछों के साथ नियमों ही लाभदायक परिवर्तन हुए, लेकिन हीमन का तर्क है कि ये परिवर्तन अन्य साधनों से भी हो सकते हैं और इन में लाभ का सम्बन्ध है। कुछ ही मनुष्य की दुष्ट-वृत्ति की उत्पत्ति है। मानव-सत्त्व की दृष्टि ही कुछ का उत्पन्न साधन है।

५. कुछ कभी अपरिहार्य नहीं हो सकते। यह कुछ इसलिए हुआ कि सरकारों ने अपने कर्तव्यों का पालन ठीक ढंग से नहीं किया।

६. हीमन के अनुसार एक राज्य की विजय अधिकांश रूप से दूसरे राज्य की हानि नहीं होती। कुछों का मतिलाल तो इसलिए है कि दूसरे राज्यों का प्रतिरूप भिन्न रहता है। कुछों का मतिलाल इसलिए है कि राज्य सर्वसाधारण के अधिकारों की सुरक्षा नहीं करते। कोई भी राज्य कुछ द्वारा मान्यता के साथ बुराई करने से स्वायत्त नहीं कहा जा सकता। किन्तु विशेष परिस्थितियों में ही किसी राज्य विशेष का यह कार्य स्वायत्त ही ही माना जा सके।

7. "युद्ध की स्थिति राज्य की सर्व-प्रतिमानता की सीमा नहीं है" वगैरह इस राष्ट्रीयता और निरुद्ध कोटि की वैयक्तिक (Chauvinism) की प्रोत्साहित करती है। वास्तविक राष्ट्रीयता 'निम्न-स्वार्थक राष्ट्रीयता' है। निम्न-स्वार्थ के भाव आकर होने पर ही उचित राष्ट्रीय प्रवृत्ति हो सकती है। देश-प्रति अन्य राज्यों के प्रति ईर्ष्या-भावना या उनके विरुद्ध सड़ने की भावना नहीं होती। देश भक्ति को ऐनिक रूप देने की कोई आवश्यकता नहीं है। युद्धों में युद्ध भी जाना नहीं होता, इनमें केवल विनाश और रक्त की ही वृद्धि होती है।

चीन के विचारों का सार नहीं है कि यदि राज्य अपने सिद्धान्त के प्रति निष्ठावान है तो वह दूसरे राज्यों के साथ संधि कर मनुष्य के मानवीय अधिकारों का उत्तमचन नहीं कर सकता। राज्य की पूर्ण स्थिति में युद्ध जसका आवश्यक युद्ध नहीं है।

सिन्सनेह चीन के युद्ध-विरोधी विचारप्रवृत्त से एक एवं पूर्ण हार्न-सम्मत है। मार्कर ने ठीक ही कहा है कि चीन द्वारा युद्ध की निम्न उसके व्यावसायी का सर्व-ध्वज और धीरे-धीरे बना है।¹

दण्ड पर चीन के विचार (Guilt or Punishment)

चीन का दण्ड दृष्टान्तीय विचार उसके राज्य के कार्य दृष्टान्तीय सिद्धान्त का एक घटक घटक है। व्यवस्था की समाज-विरोधी दृष्टान्त स्वतन्त्रता-विरोधी भक्ति है। ऐसी स्थिति में दण्ड उस भक्ति का विरोध करने वाली भक्ति बन जाता है। अधिकारों का अनुरक्त प्रयोग सम्भव बनाने के लिए ही दण्ड-विधान आवश्यक है। यदि कोई मनुष्य अन्य मनुष्यों के उचित अधिकारों पर आघात करता है तो राज्य को दण्ड द्वारा ऐसे व्यक्ति को स्वतन्त्रता से हटका देने का अधिकार है। मनुष्य "युद्ध के रहने का अधिकार एक सीमा पर प्राप्त होता है कि मनुष्य सामान्य हित के लिए कार्य करेगा तथा इसमें वह अधिकार निहित है कि किसी और आवासी में उसकी रक्षा की जाएगी।"² चीन के मनुष्य दण्ड-विधान का महत्त्व यह है कि यदि व्यक्ति सदैवदा से नयी समाज के विनाश पर उत्ताक हो जाए तो समाज का भंग करने के पूर्व ही उस व्यक्ति को पाली पर चढ़ा देना चाहिए।

दण्ड आवश्यक है, इस बात से ही कोई इनकार नहीं करता, किन्तु दण्ड के स्वरूप और उद्देश्य के बारे में राजनीति-विचारों में मतभेद है। कुछ दण्ड को प्रतिरोधक (Retributive) मानते हैं, तो कुछ प्रतिरोधक (Deterrent or Preventive) और कुछ सुधारक (Reformatory) मानते हैं। चीन के दण्ड-सिद्धान्त के प्रतिरोधक, प्रतिरोधक और सुधारक तीनों ही तरफों का सम्मिश्रण है। प्रतिरोधक नरक दण्ड रूप में विद्यमान है कि दण्ड नरक व्यवस्था

1. Parker : Political Thought in England, p. 96

2. Guise : op. cit., p. 177

के मन में यह भावना उत्पन्न होती है कि दण्ड उनके लिए दुएँ कर्म का ही प्रतिकार है। प्रतिरोधरत्मक तत्त्व का सम्बन्ध इस कर्म में है कि दण्ड का उद्देश्य जनता में अपराध के प्रति मन का प्रचार करना है ताकि मनुष्य अपराधी बर्तव्यता का परिपालन करे। सुधाररत्मक तत्त्व का उद्देश्य है कि दण्ड द्वारा अपराधी में सामरिक सुधार की भावना कायम होनी चाहिए। दीन ने इन दोनों ही तरीकों पर व्यापक बात किया है, किन्तु सार्वजनिक मान्यता प्रतिरोधरत्मक व्यवस्था निवारणरत्मक (Deterrent or Preventive) सिद्धान्त की ही ही गई है।

(i) प्रतिरोधरत्मक तत्त्व—इन सिद्धान्त का अभिप्राय अपराधी के अपराध का बदला लेना है, किन्तु दीन के अनुसार यह विचार गृहीत है। बदला एक विशेष स्थिति है जबकि बिना एक सार्वजनिक वस्तु है। जब व्यक्ति अपराध करता है तो उसके प्रति प्रतिरोध जैसे निम्न स्तर की भावना उत्पन्न नहीं है। प्रतिरोध में वैर-भाव विहित है, किन्तु जब राजबंश की शाखाया करता है तो उसने अपराधी के प्रति कोई वैर-भावना विहित नहीं होती। राज्य वैर-भाव में लगी दण्ड नहीं देता। राज्य का उद्देश्य प्रतिरोधरत्मक न होकर केवल अधिकारी की मन होने से रोकना है। “दण्ड-विधान का व्यापकतम दृष्टिकोण यह है कि दण्ड द्वारा अपराधी को इस बात का भान होता है कि अधिकार कम है और उसने कोनसे अधिकार का उपयोग किया है इसके कारण उसे दण्ड मिला है।” मायब्रक केवल यह है कि अधिकार सामान्य हित पर आधारित हो। यदि ऐसा है तो अपराधी को स्वयं ही यह भान ही जागा कि दण्ड उसके कार्यों का ही प्रतिकार है और इस कर्म में दण्ड प्रतिरोधरत्मक कहा जा सकता है, न कि इस कर्म के विचार के कि ‘आँख के बदले आँख और दाँत के बदले दाँत’ (An eye for an eye and a tooth for a tooth) निकलती। दण्ड का यह लक्ष्य एकदम सत्य और समीचीन है। दण्ड के इस लक्ष्य का परिपालन दक्षिण किया जाता है कि अपराधी को अपराध की तीव्रता के अनुसार में पीटा देनी चाहिए। लेकिन इन दृष्टिकोण से भी यह बात पतल है। दण्ड की मान-नीत वैज्ञानिक अपराध के अनुसार करना एक असम्भव कार्य है। विभिन्न व्यक्तियों के पीडा का परिमाण नापा नहीं जा सकता। उदाहरणार्थ, एक महानगर को पूँछा मारने से उसकी पीडा नहीं होती किन्तु एक साधारण व्यक्ति को। राज्य न ही दण्ड द्वारा होने वाले दण्ड को मान सकता है और न अपराध के वैज्ञानिक दाय को ही। यदि दण्ड में होने वाली पीडा और अपराध के वैज्ञानिक दाय के मध्य कोई अनुपात निर्धार करता राज्य के लिए सम्भव भी हो तो ज्ञानेय अपराध के लिए निम्न-लिखित प्रकार के एन्डो की आवश्यकता करनी होगी और इसका व्यापकिक धर्म होगा दण्ड सम्बन्धी सभी सामान्य नियमों की व्याप्ति।

(ii) प्रतिरोधरत्मक या निवारणरत्मक तत्त्व—दीन ने इसी तत्त्व को सार्वजनिक महत्त्व दिया है क्योंकि इन सिद्धान्त के आधार पर दण्ड का मुख्य उद्देश्य अपराधी को पीडा के लिए पीडा देना नहीं है और न ही मुख्यतः अल्प में उसकी फिर से अपराध करने से रोकना है, बल्कि उन व्यक्तियों के प्रतिष्ठा में मन का

संचार करना है जो संप्रदाय के लिए उचित है। दण्ड का उद्देश्य उन बाह्य स्थितियों को सुरक्षित रखना है जो स्वतन्त्र दण्ड्य वर साधारित कार्यों के लिए आवश्यक हैं। चीन के अनुसार दण्ड की भावना में निहित बात यह है कि दण्डित व्यक्ति में अपने कामों को सामान्य हित की आवश्यकता पर निर्धारित करने की सामर्थ्य है और दण्ड देने वाले अधिकारी के हित में व्यवहित वर साधारित अधिकार का विचार है। उस स्थिति में भी दण्डित करना न्यायोचित नहीं हो सकता जब व्यक्ति किसी मान्य अधिकार को भंग न करता हो। दण्ड का मुख्य रूप तो प्रतिरोधात्मक व्यवस्था नियंत्रणालयक है, समर्पद समाज में दण्ड से भय का ऐसा द्वापार कर देना है कि दूसरे व्यक्ति को संप्रदाय करने को उचित हो, एक जाएँ। दण्ड प्रतिरोधात्मक केवल इसी धर्म में है कि संप्रदायी की वह अनुभव हो जाए कि उसे दण्ड के रूप में जो कष्ट मिला है उसका वह पाव है और दण्ड उसके ही कर्म का प्रतिफल है।

चीन के मतानुसार प्रतिरोधात्मक विद्वान्त में एक सुराई है। इससे किसी व्यक्ति को सत्य स्थितियों की शिक्षा देने का साधन बना लिया जाता है जबकि कालात्त में व्यक्ति स्वयं वास्तव है, समझ नहीं। वर इस कमी के वास्तव्य प्रतिरोधात्मक विद्वान्त का महत्व कम नहीं है। दण्ड-विधान के इस विद्वान्त की ग्यानपूर्ण कथने के लिए वह साधारण है कि संप्रदायी को जिस अधिकार के उत्पन्न करने के लिए दण्डित किया जा रहा है वह काल्पनिक न होकर वास्तविक हो। वह भी मान्यकर है कि केवल उल्ला हो दण्ड दिया जाए जिसका पर्याप्त हो। उदाहरण के लिए एक ककरी चुराने के संप्रदाय में मृत्यु-दण्ड देना ग्यानपूर्ण नहीं है। प्रतिरोधात्मक विद्वान्त के अनुसार कठोर दण्ड का धर्म देना दण्ड द्वारा जिसके सभ्य लोगों के मन में अधिक भय उत्पन्न हो। संप्रदाय की वाञ्छीला हम बात वर निर्भर होती कि जिस अधिकार का उत्पन्न किया गया है वह निराला महत्वपूर्ण है। इसी अनुपात में भय का संचार किया जाना चाहिए। दण्ड देने का और उसके द्वारा भय उत्पन्न करने का उद्देश्य संप्रदाय की सार्वजनिक कथने के रोकना है। दण्ड का कार्य नकारात्मक है, धनः दण्ड का प्रतिरोधात्मक विद्वान्त ही सबसे अधिक अनुसृत है।

(ख) सुधारालयक तत्त्व—सुधारालयक विद्वान्त का उद्देश्य संप्रदायी के सुधार करना होता है, क्योंकि सुधार भी संप्रदायों को रोकने में प्रत्यक्ष कदात्मक होता है, धनः इस विद्वान्त का प्रतिरोधात्मक विद्वान्त के साथ सम्बन्ध है। जहाँ तक दण्डित व्यक्ति वह अनुभव करता है कि जो दण्ड उसे दिया गया है उसका वह पाव या और वह करने कार्य से समाप्त-निराधी रूप की उत्पन्नकर तदनुसार पराकाष्ठा करता है, जहाँ तक दण्ड का प्रभाव सुधारालयक हो जाता है। दूसरे शब्दों में, "जहाँ सुधारालयक उसी कीला एक होता है जहाँ तक वह वास्तव में प्रतिरोधात्मक होता है।" स्पष्ट है कि दण्ड का सुधारालयक प्रभाव उसके प्रतिरोधात्मक कार्य का ही सुलभ है। इस प्रकार संप्रदायी संप्रदाय करने की अपनी भावना के मुक्त हो जाता है संप्रदायी में भी सुधार की समता होती है, एकीतिव चीन मृत्यु-दण्ड या सार्वजनिक कायदाय की उचित नहीं मानता। मृत्यु-दण्ड केवल उसी परिस्थितियों में दिया

जाना चाहिए जब राज्य यह विवक्षित करे कि समुक्त भूमि को दुरु-उत्पन्न देना समाज द्वितीय की दृष्टि से उचित है और उस व्यवस्था में सुधार की कोई सम्भावना नहीं है।

रज्य सुधारवाचक इस घड़ी में नहीं होता कि इसका अन्तर्गत उद्देश्य व्यवस्था की नैतिक सुधार करना हो। रज्य का उद्देश्य व्यवस्था रूप के नैतिक होना है क्योंकि यह व्यवस्था रूप से व्यवस्था की दृष्टि में सुधार करता है। रज्य के पीछे राज्य का प्रयत्न नहीं, बल्कि समाज का नैतिक बन होना है। राज्य का नैतिक कार्य व्यवस्था के नैतिक बन को न ही देना है और न देना हो सकता है। "व्यवस्था में निहित नैतिक पक्ष को माना का सम्बन्ध व्यवस्था के पीछे और बरिष्ठ से होता है जिसे व्यापकता नहीं जान सकता।" राज्य को व्यवस्था के नैतिक पक्ष पर ध्यान भी नहीं देना चाहिए क्योंकि उसका कार्य दुष्टता को दमित करना नहीं है, बल्कि समाज के उत्थान को रोकना है, एवं उन स्वयं बाह्य स्थितियों को सुरक्षित रखना है जो स्वतन्त्र दृष्टि पर व्यापक कार्य के लिए आवश्यक हैं। हीन ही के समर्थ में—

"राज्य की दृष्टि मुख्य और मात्र नहीं, बल्कि अधिकारी और व्यवस्था पर रहती है। जिस व्यवस्था के लिए वह रज्य देना है वह उसमें निहित पक्षों को देखता है, किन्तु करता लेने के लिए नहीं बल्कि अधिकारी में अधिकारी को रक्षा करने के लिए तथा नष्ट करने की भावना के साथ व्यवस्था के भी सम्बन्ध करने के लिए।"

सार्वजनिक जीवन के अनुसार रज्य का प्रचार उद्देश्य अधिकारी में व्यवस्था का निवारण है और इस उद्देश्य प्राप्त के लिए माध्यम यह है कि सार्वजनिक जनता में व्यवस्था के साथ दृष्टि के सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाय जिससे कि वह व्यवस्था-निवारण के लिए आवश्यक हो। रज्य के अन्तर्गत एवं व्यवस्था प्रभाव होते हैं जो अपने मान में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। कार्लो के सम्बन्धवाचक—“उत्पन्न रज्य अधिकार-विहीन शक्ति को रोकने वाली एक ऐसी शक्ति है जिसकी मात्रा दूसरी शक्ति के अनुसार में होती चाहिए जिसका मतलब उन अधिकारों का विनाश है जिन्हें वह सुरक्षित रखता है और जिसका उद्देश्य उसका अन्त करना तथा उसके अन्त द्वारा वह अधिकार-भोजना को पुनः प्रतिक्रिया करना होना चाहिए जिसका विरोध किया गया हो। व्यवस्था रूप से रज्य दृष्टि में सुधार है और व्यवस्था की रूप से उत्तिरोधवाचक होने के लिए उसे ऐसा होना भी चाहिए, अपना क्योंकि दृष्टि में सुधार सम्बन्ध के ही किया जा सकता है वह एक ऐसा व्यवस्था है जो व्यवस्था की दृष्टि में सुधार करना सम्भव बनाता है। अपने एक दूसरे रूप में भी रज्य व्यवस्था को दूर करता है क्योंकि वह तथा, जिससे व्यवस्था विरोध करता है, केवल शक्ति ही नहीं, दृष्टि भी है।”

सम्पत्ति पर जीवन के विचार

(Green on Property)

सम्पत्ति पर भी जीवन के अपने मूल की मृत्यु में एक व्यवस्था की दृष्टिकोण

प्रस्तुत किया है। न तो यह व्यक्तिगत सम्पत्ति का पूर्ण रूप से समर्पण करता है और न ही प्रारम्भ में अन्त तक उसकी सन्तुष्टि करता है। इस प्रकार न तो यह व्यक्तिवादी है और न समाजवादी। अपने सामान्यतः सम्पत्ति का समर्पण इस आधार पर किया है कि यह मनुष्य के व्यक्तित्व के लिए अनिवार्य है। सम्पत्ति मनुष्य के स्वाधीन जीवन के अधिकार की एक उपसिद्धि (Corollary) है क्योंकि सम्पत्ति का अधिकार स्वतन्त्र जीवन के अधिकार का ही एक उपसिद्धान्त है जो प्रत्यक्ष ही उसके उत्पन्न होता है। सम्पत्ति के स्वाधिन्य से नैतिक व्यक्ति की सामान्य हित के लिए अहित करने की और अपने सामाजिक कर्तव्यों को पूरा करने की शक्ति बढ़ती है। सम्पत्ति-हर्षण की व्यक्तिगत विचारों का आधार मानते हुए भी एक सच्चे समाजवादी की भाँति रीन ने इस सम्बन्ध में सामाजिक हित पर जोरपाठ नहीं किया है। उसके मत से सम्पत्ति की सर्वोत्तम परिभाषा यह होती है कि "सम्पत्ति उन समस्त वस्तुओं का योग है जो मनुष्य के आत्मसुख के सिद्धान्त की सफल विचारों और सामान्य हित के योग देने के लिए आवश्यक है। स्वतन्त्र व्यक्ति की योग करने हुए विचारवादी विचारों ने जिन वस्तुओं को प्राप्त कर लिया है, वह यही का योग है।"

रीन की सम्पत्ति-नियमक धारणा के बारे में तीन बातें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं—(१) रीन व्यक्तिगत सम्पत्ति पर इसलिए जोर नहीं देता कि उसका प्रयोग सर्वत्र सामान्य हित के लिए हो किया जाए, (२) यह सम्पत्ति की समतुल्यता को स्वीकार करता है, जब (३) सम्पत्ति की समतुल्यता को सर्वोत्तम करने के लिए यह अनिवार्य बन-बनाने की शक्ति नहीं सम्पन्नता।

व्यक्तिगत सम्पत्ति का समर्पण करते हुए रीन यह स्वीकार करता है कि सम्पत्ति मानव-योग्यता की शक्ति का प्राकृतिक साधन है, स्वतन्त्र जीवन का एक आवश्यक साधन है और यह अनिवार्य नहीं है कि व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को सर्वत्र ही सामान्य हित के लिए प्रयुक्त करे। रीन केवल इस बात पर जोर देता है कि सम्पत्ति का सम्मानित तत्त्व सामाजिक हित होना चाहिए। उसका विचार था कि सम्पत्ति के माध्यम से मनुष्यों की अपने अधिकार में कर एवं उन्हें मानव की आवश्यकताओं के अनुकूल रूप देकर मनुष्य नहीं एक और अपनी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है, नहीं दूसरी ओर सामाजिक दृष्टि से सुखान् उत्तम मनीषाओं की भी शक्ति कम करता है। "सम्पत्ति का सर्वोत्तम इस बात से है कि प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि-पूर्ति के लिए सामान्य साधनों को प्राप्त करने और उन्हें अपने अधिकार में रखने की शक्ति विद्यमान सामाजिक हित-सम्बन्ध की सम्पन्नता ही द्वारा प्राप्त होती चाहिए। व्यक्ति की दृष्टि-विनिर्मुक्त रूप से इस तथ्य की ओर अनुकूल होती है या नहीं—इससे उसके अधिकार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रत्येक व्यक्ति की यह शक्ति ही एक समान रूप सुरक्षित होती ही चाहिए जब तक वह सामान्य व्यक्तिओं द्वारा इसे प्रसार करने के प्रयत्न में हस्तक्षेप न करे। अतः व्यक्तिगत सम्पत्ति के प्रयोग में जोर देना चाहिए कि इसका व्यक्तिगत

प्रयोग मनुष्य द्वारा उस स्वतन्त्र नीतिकला की प्राप्ति की शक्ति है जो कि सर्वोच्च बुद्धि है।¹

इस बात पर विचार व्यक्त करते हुए कि सम्पत्ति की असमानता सम्भव और उचित है, चीन ने लिखा है कि—“सामाजिक हित के लिए यह आवश्यक है कि समाज में विभिन्न-विभिन्न व्यक्ति विभिन्न-विभिन्न स्थितियों में रहें। विभिन्न स्थितियों के लिए विभिन्न साधन आवश्यक हैं। इस प्रकार सम्पत्ति सम्बन्धी असमानताएँ सामान्य रूप से समाज के हित में हैं बाढ़े सामाजिक रूप से देखा न हो।”²

चीन की मान्यता है कि सामाजिक हित की पूर्ति के लिए विभिन्न व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती है, सामाजिक हित का पूर्ण सम्पादन कोई एकल व्यक्ति नहीं कर सकता। यह भी सर्वथा स्वाभाविक है कि विभिन्न व्यक्ति किसी एक ही परिस्थिति में न रहकर विभिन्न-विभिन्न परिस्थितियों में रहते हैं और इसीलिए उनके साधन भी विभिन्न होते हैं। वे अपने विभिन्न साधनों के अनुसार ही सामाजिक हित की सहायता रख सकते हैं। अतः सम्पत्ति की विषमता उचित हो है। इस विषय में प्रो. हार्कर का कथन है कि—“सम्पत्तिवाद स्वतन्त्र एवं वृद्धिमान नागरिकों की सहानुभूति से हम प्रकृति पर भी विजय पा सकते हैं। ऐसी परिस्थितियों में विभिन्न नागरिकों के पास विभिन्न माया में सम्पत्ति होनी चाहिए, किन्तु यह एक ही प्रकार होनी चाहिए जिससे इसका सच्ची राज्य में अपने कर्तव्यों का वास्तविक भली-भाँति कर सकें।”³

चीन व्यक्तित्व सम्पत्ति का आदर करते हुए और सम्पत्ति की असमानता की व्यक्ति एवं समाज-हित की दृष्टि में उचित समझे हुए भी किसी भी स्थिति में सम्यक्स्थित मन-संभव की उचित नहीं उल्लेखता। अतः यह बात है कि यदि समाज के व्यक्तियों की स्वतन्त्र-वृद्धि की पूर्ति में बाधा पड़े, तो व्यक्तियों द्वारा मन-संभव पर रोक लगनी चाहिए। यदि कोई किसी अन्य व्यक्ति के अधिकार में बाधा पहुँचाता है तो उसे ऐसा करने से रोकना उचित ही है। “राज्य का यह विधिकृत कर्तव्य है कि वह पक्षानुभव उसके दुर्लभों की रोकें। जहाँ कुछ स्वामी अपनी सम्पत्ति का निरन्तर ऐसा उपयोग करते हैं जिससे हमारे भी सम्पत्ति के सम्मिलित में हस्तक्षेप होता है, वहाँ सम्पत्ति की प्राप्ति तथा उसके वितरण याचना परिधान पर सरकार सर्वाङ्गीर्य स्थापित कर सकती है।”

चीन ने व्यक्तित्व सम्पत्ति के लोगों के प्रति उदासीनता नहीं दिखाई। अपने व्यक्तिगत सम्पत्ति के लोगों का मुक्त छोड़ भूमि-स्वामित्व की उत्पत्ति तथा भू-स्वामियों की प्राप्त स्वतन्त्रताओं से देखा। चीन ने यद्यपि भूमि-मुक्तों के लिए कोई पूर्ण एवं विस्तृत कार्यक्रम प्रस्तुत नहीं किया और न ही भूमि की प्राप्ति के असाध्य वृद्धि की जगहों का ही समर्थन किया, तथापि अपने सम्यक्स्थित प्रकार के कानूनों के निर्माण का प्रस्ताव किया—

1 Green : Lectures on the Principles of Political Obligation, p. 220.

2 Barker : Political Thought in England, p. 33.

3 Green : Lectures on Political Obligation, p. 221.

निररीत नहीं देखने की मिलती है जिससे सम्भव करना बड़ा कठिन है। इन विचारों के कारण ही चीन जहाँ राज्य की एक निश्चित शुभ (A positive good) मानते हुए उसके कार्य-क्षेत्र के विस्तार का प्रयासों से, वहाँ राज्य के कार्यों का निष्पादन करना बर्तान करके हुए करता है कि राज्य का कार्य शुभ जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं का निषेध करना है। पर वास्तविकता यह है कि बाधाओं को दूर करने में राज्य को सकारात्मक रूप में ही काम करना पड़ता है। बाधाओं को दूर करने के लिए राज्य निष्पादन को करता है, समस्या की बाधा को दूर करने के लिए राज्य स्वाभाविक और वैसी की व्यवस्था करता है तथा बाधाओं को दूर करने के लिए उसे पुनर्निर्माण एवं अन्य सेवाओं की व्यवस्था करनी पड़ती है। ये सभी कार्य सकारात्मक हैं, फिर राज्य के कार्य निष्पादनक कैसे माने जाएँ ? राज्य की महान् देन को देखते हुए और उसके वर्तमान वास्तविकताएँ स्वयं की ध्यान में रखते हुए बड़ा प्रश्न उत्पन्न होता है कि राज्य के कार्यों की सकारात्मक माना जाए। धर्म, विज्ञान, भौतिक सम्पन्नता आदि तो शुभ एवं नैतिक जीवन की अनिवार्यताएँ हैं। चूंकि राज्य इनकी व्यवस्था में योग देता है, अतः उसका योगदान वास्तव में सकारात्मक है। लेकिन यह ध्यान देने योग्य बात है कि चीन ने केवल 'निष्पादनक' काम का नहीं बल्कि 'निष्पादनक नैतिक कार्य' (Negative Moral Functions) सभी का प्रयोग किया है। राज्य सकारात्मक कार्य करेगा, किन्तु नैतिक क्षेत्र में वह सकारात्मक दृष्टि के कुछ भी करने का अधिकारी है। वह व्यक्ति का स्वतंत्रता का प्रयोग करेगा। एक बार यह विचार ही जन्मे पर कि नैतिक कार्य क्या है, राज्य इनकी निष्पादन में सकारात्मक रूप से बहुत कुछ करता है चीन उसके लिए ऐसा करना अनिवार्य भी है।

2. चीन राज्य के कार्य सम्बन्धी विचारों व स्वयं के तात्कालीन विचारों के प्रभाव से मुक्त नहीं रहे तथा और इसी कारण वह उस समय के प्रचलित विचारों के अनेक दोषों पर ध्यान नहीं दे पाया है। इनके विपरीत अपने इन दोषों को अपने अपने द्वारा चर्चित सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। परन्तु दास-वशा में कोई अनौचित्य इसलिए नहीं देख पाया था क्योंकि वह उसे स्वयं प्रचलित थी। इसी प्रकार चीन ने, जो पूँजीवाद को केवल इसीलिए समर्थन दिया क्योंकि ऐसा है कि उसके समय में वह प्रचलित था। प्रथम तो समाजवादी प्रभाव के कारण और इसीसे अपने उत्तरवादी दृष्टिकोण एवं आर्थिक के क्षेत्र में विकास के कारण वह इन बातों की नहीं ध्यान देता है जो कुछ व्यक्तियों के हाथों में पूँजी के एकत्रीकरण का कारण हो सकते हैं उसके आर्थिक विचार बगुन और समाजवादीयक है क्योंकि वह कृषि-भूमि के मूधारों के ही सम्मुख हो गया और पूँजी के कुछ बुरी पर हावी में बड़ा होने से उसे किसी विशेष वर्गों का प्रभाव नहीं हुआ। अपने भूमि-मधिकारों का प्रभाव में मूधार की भूमि को प्रभाव की, लेकिन अपने पूँजीवाद को निन्दित करने का कोई प्रयास नहीं किया। अपने भूमि-मूधार के लिए भी कोई दुरुँ एवं विमर्श कार्यक्रम सम्भूत नहीं किया और न ही भूमि को ध्यान में प्रचलित दृष्टि की किसी का सम में दिया। यह वह मानकर ही सम्मुख हो गया कि वह मानता अपना

जटिल था कि उसकी व्यवस्था इस प्रकार के व्यापक रूप में नहीं हो सकती थी। चीन ने केवल पुँजीवाद का समर्थन ही नहीं किया, बल्कि अपनी नैतिक धारणा का पुरा देकर यह सिद्ध करने का भी प्रयास किया कि पुँजीवाद एक प्रादुर्भाव स्थिति है। इस सम्बन्ध में चीन के विचारों में यह कहा जा सकता है कि उसके अनुसार राज्य का यह निश्चित कर्तव्य है कि यह समाजमूलक सम्पत्ति के स्वाभिव्यक्ति के दुरुपयोग को रोकने या उसे समाप्त कर दे। लेकिन विचारों का यह एक निरन्तरक तर्क है जिसके पीछे प्रचारों का बल नहीं है।

3. मानव प्रकृति के सम्बन्ध में चीन मरिक्म धार्मिकवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार मनुष्य विवेकशील एवं सदैव्य है विवृणित प्राणी है। चीन का यह विचार एकलौकी है। मनुष्य में यदि बौद्धिक तत्त्व विवृणित है तो राज्य ही मानव-मस्तिष्क का मन, जोष, दुःख, छल-कपट आदि मनोद्विक तत्त्वों की भी एक-सपत्नी है। यदि मनुष्य के वास्तवीयिक कार्य-कलाओं पर दृष्टि डालें तो बौद्धिक तत्त्वों का सामान्य रूप स्पष्ट है। वेयर (Wayner) के अनुसार, "चीन इस विहित प्रायः विवृणित चेतना के रूप में मनुष्य कहता ही स्वाभाविक है जिसका उपशोपितावाचियों का कुल-प्रभाव मनुष्य प्रकृति पुराने सम्यक्-चिन्तितों का मानिक मनुष्य।" डॉ. लकास्टर (Dr. Lancaster) ने इस सम्बन्ध में बड़ी ही ठाठिक काशीयता प्रस्तुत की है। उसके शब्दों में—“चीन की यह धारणा कि मनुष्य एक ऐसा नैतिक प्राणी है जो हमेशा साम्याधिक पूर्णता की ओर से व्याप्त रहता है, एक ऐसा मानक विचार है जिसके लिए कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया है और जिसका कर्तव्य इस तरह किया गया है कि हम इसे धारणा एवं प्रकृतिक तत्त्व कह सकते हैं। इसके विचारों की यदि मनुष्य सिद्ध तत्त्वों की कसौटी पर परखा जाय तो तब धारणा में उन्मूलन हो सकता था। प्रत्येक परिस्थिति में यदि कोई मनुष्य के व्यक्तित्व के प्रति ऐसी भावना रखता है तो स्पष्ट है कि उसे इस बात में समर्थ सहानुभूति है कि राज्य (या समाज या जाति) ही व्यक्ति की सभी दृष्टा व्यक्त करता है। चीन किन्हीं बातों में यह विचार स्वीकार करता है, लेकिन यह ऐसे तर्कों के परिणामों से यह कहकर बच निकलता प्रकृतिक है कि व्यक्ति की साम्याधिक एवं सभी दृष्टा प्रायः एक ही होती है। उसका निष्कर्ष है कि साम्याधिक पूर्णता का प्रकाश करने वाले व्यक्ति ‘समाज’ के प्रकाश होने के साथ यह प्रकाश करते हैं। प्रत्येक कुल के बाद समाज में एक व्यक्ति सम्बन्ध का निर्माण किया है जो समर्थ रूप में ‘समाज जीवन’ का परिणामक है और इस प्रकार के साम्याधिक मानकों का निर्माण है कि व्यक्तियों की दृष्टा समर्थ इनके अनुकूल बन जाती है।”

युनान, डॉ. लकास्टर के अनुसार ही “साम्याधिक तत्त्व यह है कि मानव प्रकृति के बारे में चीन की धारणावादी धारणा ठीक वैसी ही बहिर्वादी में से निकलने का एक मार्ग है जैसी चीन मनुष्य के लिए मनुष्य की भी कि यदि मनुष्य प्रकृतिक तत्त्व ही धारों की से प्रकृतिक करने तक जायें। इस प्रकार की परिस्थितियों में जोड़ी-जोड़ी

स्वतन्त्रता और स्वायत्तार के मेल के रूप में समाज-विरोधी कानूनों को रोकने के अधिकारों को सम्मिलित करने कोई उपाय अयोग्य चाहिए। वीन की कृत्या में मिला मानव-व्यवसाय के बारे में अधिक निराशाजनक या जिसके अन्तर्गत हमने कुछ परिस्थितियों में राज्य द्वारा हस्तक्षेप के विषय में व्यक्त नहीं की। उनके वास्तविक दृष्टा और सम्बन्ध दृष्टा के बारे में भी कल्पना नहीं की। वीन ने ही यह कल्पना की है कि नगुप्त धार्मिक-मूल्यपूर्णता की शोच करता है और यह भी माना है कि व्यक्ति की धार्मिक-मूल्यपूर्णता या धार्मिक धर्म लोगों की धार्मिक-मूल्यपूर्णता भी है। इस प्रकार हमारे लिए सर्वसाधारण की और व्यक्ति की दृष्टा का एकीकरण करने की शक्ति का सम्बन्ध किन्हीं विषयों की शक्ति हो गया है।¹

4. वीन के विचारों में व्यक्तिगत प्रवृत्तियाँ हैं। वह अन्तर्द्वैतवादी रूप और मर्यादित है दूर है। उसे समाज की वास्तविक स्थिति का व्यावहारिक ज्ञान नहीं है और अपनी स्वतन्त्रता धारणा की ही वह कुछ समीक्षण के साथ स्वीकार कर देता है। इस प्रकार वह यथार्थवादी है। धार्मिक-मूल्यपूर्णता की शोच में वैयक्तिकता के अन्तर्गत में भरकटा हुआ वीन भौतिक समृद्धि की पूरी विवेचना नहीं कर पाता। वीन के अन्तर्गत ही उनका धर्म भी नग्न और निष्पक्ष है। उसके 'संवेदन', 'भावना धर्म-वैयक्तिकता', 'सामान्य दृष्टा की सामान्य वैयक्तिकता' आदि के विचार हमारे अधिक अन्तर्द्वैतवादी है कि उन्हें एक प्रकार समझना चाहिए है।² इनके कारण वीन का दर्शन बहुत सीमित बन गया है। दृष्टा सम्बन्धी वीन के विचारों की धार्मिकता में हीनता (Hilkenheit) का कारण है कि यहाँ तक दृष्टा का सम्बन्ध है, वह धार्मिक नहीं होती, और यहाँ तक अन्तर्द्वैतवादी होती है वह दृष्टा नहीं रह जाती।³ वीन ने वीन और धर्मिता के सम्बन्धों सम्बन्धी विचारों में तुलनात्मक समीक्षण करने का प्रयत्न तो किया है किन्तु 'सामान्य दृष्टा' सम्बन्धी व्यावहारिक सम्बन्धों का वह कोई उदाहरण नहीं कर सका है। वीन सामान्य दृष्टा को इतना अधिक महत्व देने के बाद वीन यह कह कर कि "नगुप्त स्थितियों में धार्मिकों के होना हुए भी ईश्वरीय आस्था उनके कुतूहल के भी अन्तर्गत निकलना देती है" सामान्य दृष्टा का महत्व गम्य कर देता है। वीन की इन चारों ओर स्वीकार नहीं किया जा सकता कि महापुरुषों के गुणों के साथ-से उनके धर्मियों को भूल जाता चाहिए। वह ही धार्मिक महान् के इन वक्तों की पुनर्जाति है कि किसी समय की व्यक्ति धर्मिता किसी कार्य की शक्ति के लिए बाह्य स्थिति भी धार्मिक धर्मियों का उपयोग करी न किया जाए, लेकिन कोई न कोई देश धार्मिक धर्मिता देता होगा जो इन पर नज़र डाल देता।

3. वीन सामान्य में जनता के अधिक रूप के साथ लेने का सम्बन्ध है, अर्थात् हीनता (Hilkenheit) जैसे धार्मिकों के अनुसार उनके विद्वान् में विरक्त स्थितिधारी सामान्य के बीच विद्वान् हैं। वीन के दर्शन में ऐसा कोई भौतिक धर्मिता नहीं है

और राज्य की अपनी हुई स्वेच्छाभाविता को रोकने का उपायकारी माध्यम प्रस्तुत कर सके। चीन में यह मायावाद नहीं समझता कि उत्तम शासन के लिए लोकशासन होना चाहिए। इसके विपरीत उसे यह मान्य है कि निरंकुश शासन ही शासनायुक्त राष्ट्र के समुदाय काई कर सकता है क्योंकि राज्य का उद्देश्य तो 'शासनायुक्त हित' की प्राप्ति है और इस उद्देश्य की निधि निरंकुश या अधिपत्यनिक दोनों ही प्रकार के शासनों द्वारा की जा सकती है।

6. चीन के शासितक अधिकार के सिद्धान्त ने उनके कठिनात्यों में सीमा दिया है। उसमें एक हद में अधिकार देकर दूसरे हद में शक्ति के प्रयोग में निष्ठा है। उसने केवल यह स्वीकार नहीं किया है कि शासनायुक्त हितों का हवा न्याय ही नैतिक रूप से समुचित का आधारभूत है, बल्कि इस बात पर भी बल दिया है कि व्यक्ति को शासनायुक्त के विरुद्ध कोई अधिकार प्राप्त नहीं है और व्यक्ति का सर्वोच्च समान्य की प्राप्ति करना है। यह एक तथ्य तो स्वीकार है कि अधिकार स्वीकृति द्वारा विहित हैं और दूसरी तथ्य मानता है कि ऐसे भी कुछ अधिकार हैं जिनकी स्वीकृति शासनायुक्त ही मिलनी चाहिए। वे दोनों ही समय पर समय पर समान्य हैं। यदि अधिकारों के पीछे शासनायुक्त तथ्य राज्य की स्वीकृति है तो व्यक्तियों के शासनायुक्त के देने देने की अधिकार कहना अनुचित है जिसकी राज्य की स्वीकृति प्राप्त नहीं है।

7. इस का सिद्धान्त प्रस्तुत करते समय भी चीन मानव-भावनाओं की सम्बोधना करता है। समुदाय का यह विशिष्ट सामाजिक है कि यह समान्य अधिकारों का स्वरूप है।

8. चीन विशेष परिस्थिति में व्यक्तियों द्वारा राज्य का अधिकार करने के अधिकार की मान्य करता है। पर शासनायुक्त ही इसमें इतने प्रतिबन्ध लगा देता है कि सामाजिक दृष्टि में प्रतिरोध का यह अधिकार सर्व-सा हो गया है। चीन हमें कोई ऐसा स्पष्ट आधार नहीं बताता किनसे यह स्पष्ट सिद्ध हो सके कि समुदाय विधि के राज्य का विरोध करने में कोई सम्मान्य हित के विहित होते हैं।

9. चीन के समुदाय राज्य सर्वोच्चिकरण न होकर सामाजिक और सामाजिक हद में सीमित है। शासनायुक्त के भीतर विभिन्न समान्य हदों की अपनी एक सामाजिक अधिकार व्यवस्था होती है और राज्य का अधिकार उसमें केवल सम्भव्य स्थिति करने का है। उसने इस अधिकार के शासनायुक्त राज्य की सीमा तय करता है। अतःवासी सिद्धान्त को पूरी रूप में न समझने के कारण वे कहावत में चीन की शासनायुक्त करीब ही कहते हैं कि "शासनायुक्त के अन्त तक चीन नहीं विवेचना करता है कि किन परिस्थितियों में व्यक्ति एक सम्मान्य नैतिक शासनायुक्त के रूप में कार्य कर सकता है, उन परिस्थितियों की मुख्य बलाके लिए राज्य बना कर सकता है और इसलिए इसे का करना चाहिए। पर उसके विचार के आधार शासनायुक्त फिर भी राज्य और व्यक्ति ही बने रहते हैं। यह हमें यह पर विचार नहीं करता कि सामाजिक विधि न केवल शासनायुक्त के सम्मान्य दूसरे समान्य के अधिकार का अधिकार और शासनायुक्त पर विधि प्रसार प्रभाव करता है। यदि यह हमें यह पर विचार करता तो हमें स्पष्ट हो

जाता कि प्रान केवल यही नहीं है कि राज्य को बना करना चाहिए बल्कि यह भी है कि राज्य को बना करने की अनुमति है, क्योंकि राज्य दूसरी शक्तियों से पिछा हुआ है तथा दूसरी शक्तियों के सगठनों से सीमित है, जो अपने इस से अपने उद्देश्यों की पूर्ति में सक्षम हैं। चीन अनुसूता की सामुनिक समस्या के धोर तक पहुँच कर-उसे छू कर हो चहुँ जाता है, उसका हम नहीं दे पाता।^१

१०. चीन धरात्मिक बुद्धिवादी दृष्टि से अब समानाधिकार का समाधान करता है। यह स्पष्ट जाता है कि व्यक्ति अपने अधिकारों का प्रवेक्षण मन धोर मनो-भावनाओं के प्रान धारियों से चहुँकर करता है।

चीन का दर्शन यद्यपि सम्भोर खेवों से प्रस्त है, तथापि यह स्वीकार करना होता कि मूल रूप से उसके सिद्धान्त ध्या भी ठीक नामून पड़ते हैं। उदारवादी सिद्धान्त का जो सशोधन धर्मसफोर्ड के धार्यवाधियों ने किया था उनमें चीन समझे-अनुसू था—कम से कम राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र में।^२ हम इससे इकार नहीं कर सकते कि व्यक्ति के मुख्य, तथाज के बहुत्व, स्वाधीनता के सम्मान धोर धन्यताधीनता की उपरोधिता को चीन ने मूलक काल्पनिक धार्यनिक दृष्टि से नहीं बल्लि एक अनुसूची, ध्यावहारिक तथा सम्भोर विचारक की मुख्य दृष्टि से देना है। उसके सम्पत्ति के अधिकार तथा निरकुल राज्य विरोधी विचार की उदार धोर दोष हैं। धुँबीवादी सम्पत्ति के सम्पूर्ण राज्य द्वारा धन्यजित दृष्टि के विविधोप का विरोध, धन के प्रतिरोधार्यक सिद्धान्त ध्याि पर ध्यावह ध्या भी सम्भव है। मार्कर के अनुसार, “बाह्य हमें उचित प्रतीत न हो,” पर किन्ही विवेक परिस्थितियों का जो विस्लेषण करने दिया धनका दिगी नीति-विवेक के जो सुधाव उपले लिए, उन तककी धवेक्षा धनिक बहुत्वपूर्ण से सिद्धान्त है जिनकी अपने स्थापना की। यदि उनके सिद्धान्त सत्य हैं तो अनेक धुन धनकी ध्यावहारिकताओं के अनुसूत उनकी धन्यकीन ध्यावना कर सकता है। व्यक्ति के मुख्य पर उसका दृष्ट धितान्य, व्यक्ति की स्वाधीनता पर उसकी चहुँरी धारणा, उसका यह विधान कि व्यक्ति का कर्तव्यता सामाजिक कर्तव्यता का एक धन है, राज्य की धन्यवादी धितर पर चहुँवाने की धनकी धन्यकीन, एक धार्यधीन धन्यत्व धोर धन्यकीन विधान की धन्यकीन, धनिक धनकी की धन्य-धन्यता की सीमित धनके के उद्देश्य में राज्य की कति धा धरिनीधन करने की उसकी धन्यता, धनिकधरी पर धनका धन, धनका यह विचार कि धन्यतम धन्यति धन्यतम की धन्यतम है धोर धनकी यह धान्यता है कि कति धरिस्थितियों में व्यक्ति को राज्य की कति धा धरिनीधन करने का अधिकार है—यह धन धन की उपले ही नहीं हैं जितने सन् १९१९-२० में उस धनके से उस चीन में धनका धन्यतम धिया था।^३ डॉ सकारटर के अनुसार चीन में हम तबक का दर्शन धिया है कि “राजनीतिक धन्यतम की धन्य-धन्यता सामाजिक धोर धन्यतम धन्यतम का होता भी उसी धन्यतम धन्यतम है। धन्य धन्यतम राजनीतिक धन्यतम-

१. Micher : The Modern State, p. 421.

२. धन्यतम : राजनीतिक धन्यतम का धन्यतम, धन्य २, धन्य 680.

—व्यक्ति में सर्वसाधारण के लिए समान व्यवहार की प्राप्ति एक प्रमुख सिद्धान्त है। राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्थाओं की व्यवस्थाओं के आधार पर इन करने के प्रयत्न में हीन ने कम से कम उस प्रकार की बातों का भी अनुभव किया है जिनका अनेक नागरिक की वस्तुतः समाज की दुइता के लिए ध्यान रखना चाहिए।¹

राजदरजे की चीन को बहुलपूर्ण देन लोचन में निम्नानुसार प्रस्तुत की जा सकती है—

प्रथम, चीन ने उपरोक्तानुसार और उदारवाद में समानानुसूल समीक्षण कर अपने नवनीयन का व्यवहार किया और जो उपरोक्तानुसार मिल के समान एक निष्पक्ष हो चुका था, उसे अपने नवीन सिद्धान्तों द्वारा प्रतिष्ठापित बनाया। उन्होंने इस उपरोक्तानुसार की वृद्धि की कि अनुभव और ऐतिहासिक गुण का समीक्षापूर्ण नहीं बरिक्त अपनी साम्राज्य के विकास का समुद्र और समाज का हितभी है।

दूसरे, चीन ने बहुत ही सुन्दर रूप से अपने सार्वभौमिक अधिकार के साथ सम्बन्ध किया। हीन ने व्यक्ति को सामन्य बनाकर उसके हितों को राज्य की समीक्षा पर बना दिया था जबकि चीन ने राज्य को सार्वभौमिक बनाते हुए भी व्यक्ति की गरिमा को बहुत दिया और उसे व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए एक सामन्य माना। हीन ने युद्ध का समर्थन किया और सार्वभौमिक चीन ने राज्य पर कोई नैतिक बन्धन न मानकर उन्हें मनमाना कार्य करने की छूट दे दी थी। चीन ने इन दूधिन विचारों में समीक्षण किया। उन्होंने इस बात पर नज़र दिया कि राज्यों की वस्तुतः युद्धों में नहीं उलझना चाहिए। उन्होंने युद्ध को अनेक दशा में नैतिक माना और सार्वभौमिक कानून द्वारा राज्यों के सम्बंधों का समर्थन करने की आज्ञा की।

तीसरे, चीन ने राज्य के कार्यों का निर्धारण उपरोक्तानुसारियों की समीक्षा अधिक स्पष्ट रूप से किया। राज्य के कार्यों की नैतिक आधार प्रदान कर उन्होंने सार्वभौमिक की नैतिकता और सामाजिकता का साथ देना दिया और नैतिकता की दृष्टि से मान्य बना दिया कि सामाजिक उद्भावना सभी युगों के व्यक्तियों के लिए उपरोक्तानुसार हो सकती है। वेबर के शब्दों में—“चीन ने उदारवाद की एक अधिकतर विषय की समीक्षा एक विचारों में परिचित कर दिया। उसने व्यक्तिवाद को सामाजिक तथा सामाजिक रूप प्रदान किया और सार्वभौमिक की सम्य एक सुरक्षित समाज में परिचित कर दिया। कम से कम समीक्षा उसकी इस देन को सुन्दर नहीं समर्थ करते।”² भूयस्व—“चीन की बहुलता इसमें है कि उसने समीक्षा की एक ऐसी बहुल प्रदान की जो नैतिकवाद से अधिक सार्वभौमिक है। उसने उदारवाद (Liberalism) की एक दृष्टि के साथ एक विचारों का रूप दिया है। उसने व्यक्तिवाद की नैतिक तथा सामाजिक एवं सार्वभौमिक की सम्य तथा सुरक्षित बनाया है। अनेकों के लिए उसके कार्य का बड़ा महत्त्व है।”³

1 *Masters of Political Thought*, Vol. III, p. 222.

2 बीकर - नैतिक राजनीतिक विचार, पृ. 453.

समय में हम प्रीन के मूलचिन्तन में मैकन (Macdonald) के इस विचार से सहमत हैं कि "यदि प्रत्येक राजनीतिक आन्दोलन में मानव-हित को महत्व देना और सत्ताधी तन्त्राधी राज्य-विवाद में वास्तविकों के कुछ-कुछ के आधार पर निर्णय करना ही व्यक्तिवाद है तो राजनीतिक दर्शन में बहुत कम व्यक्तिवादी ऐसे होने लगे प्रीन से अधिक प्रसिद्ध हो ।" जोकर के शब्दों में, "प्रीन के अधिक सर्वाधिक विचारों का सबसे वर्तमानकालीन प्रसिद्ध लेखकों, मुख्यतया इटली में मेनेटेटी क्रोच (Menéndez Croci), इर्मैन्ड में सर हेनरी मोन्स, जॉन कोट्टन, जे.एन. मैकेंजी, जर्नेस्ट बार्कर, हेडरिगटन, इन्होंने तथा विचार और समुदायों में अमेरिका में प्रो. मिनिम, ई. हाकिम तथा नार्मन वाइल्ड (Norman Wilder) ने अनुसरण किया है । ये विद्वान् प्रीन के समान साधारणतया यह मानते हैं कि—(i) समुदाय केवल राजनीतिक सम्राज का फलस्फुट होने के कारण ही सबसे पहले सर्व में समुदाय प्रभाव ऐसा प्रतीत है जिसका साधारण, समुदाय के साधारण को निर्धारित करने वाली सार्वजनिक प्रवृत्तियों या इच्छाओं के विभिन्न विवेकपूर्ण तथा नैतिक आधारों पर निर्धारित होता है, (ii) ये साधारणतया इस बात में भी सहमत हैं कि कदापि राज्य के लक्ष्य केवल नैतिक हैं और अपनी शक्ति के बिना वह अपने सदस्यों में नैतिक आधारों की निम्नी प्रकार की एकता पर निर्भर रहता है, तथापि उसे अब अनेक, विविधकर साधक, कार्य और करने होते हैं—उन्हे अनिवार्यतः प्रतिबोधिता के कारण उत्पन्न भयकर सामाजिक प्रतियोगिताओं को दूर कर सार्वजनिक जीवन को सुस्थ बनाता है, एवं (iii) ये यह मानते हैं कि राज्य का लक्ष्य ऐसी सामाजिक व्यवस्थाओं को कायम रखना है जिनमें सभी स्वभाव वाले व्यक्ति तथा बौद्धिक उपरति में कम से कम बाधाएँ उपस्थित हों ।"

हॉमिन्स हिल ग्रीन ने धार्मिकवाद एवं उदारवाद में जो संकल्पन स्थापित किया, वह अधिक गहन तक नहीं जाता तथा क्योंकि ग्रीन के परकीर्ण सादरशंकादी विचारको ने उसके दर्शन को उदारवादी तरंग को गूँथभुवि में दास दिया एवं धार्मिकवादी तरंग को अग्रसर कर के हीनमतावाद की दशा में अग्रसर हुए। फ्रांसिस हर्बर्ट ब्रैडले तथा फ्रांसीस बोसॉके नामक दो प्रमुख अंग्रेज विचारको ने एक दिना में उदरिच्छरीय मोन किया। मैत्र (Maitre) के सम्बन्धानुसार—“ब्रैडले के नाम ब्रिटिश हीनतावाद पूर्णतः गूँथ हुआ और उदरिच्छरीय उदाम के लिए पथ उद्गम है।”

फ्रांसिस हर्बर्ट ब्रैडले

(Francis Herbert Bradley, 1846-1924)

ब्रैडले पैरिस विमलर के एक उच्च पादरी (Dean) का पुत्र था। उसका जन्म सन् 1846 में हुआ था। उसकावात् वह मैग्डन कवित्र, मॉक्लिफोर्ड का कैपे निवसित हुआ। उसका दर्शन ग्रन्थ ‘आचारिक अध्ययन’ (Ethical Studies) सन् 1876 में प्रकाशित हुआ था। अपने इस ग्रन्थ ‘My Station and its Duties’ के आशय में ब्रैडले ने राज्य-विद्वान्त का विवेकन किया है।

ब्रैडले ने राज्य की धारणा को एक नैतिक साधनवी, के रूप में विद्वसित किया है। नही राज्यनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में उसकी प्रमुख देन है। राज्यनैतिक शास्त्री धर्मशा शासनवी (Moral organism) है क्योंकि प्रथम ही वह नैतिक उपनि के मातृश्री व्यक्तियों का समुदाय है और दूसरे, व्यक्तिवों के नैतिक विकास का मुख्य साधन है। ब्रैडले पर हीनता का बहुत अधिक प्रभाव है, किन्तु उसके अपने दर्शन की व्याख्या बहुत ही सम्बन्धित रूप में की है। दोरी का व्याप-विद्वान्त भी उसके दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है।

ब्रैडले के राज्यनीतिक विचार

ब्रैडले के अनुसार मनुष्य समाज ही स्वयंसे के ही नैतिक है। नैतिक अपने के लिए आवश्यक है कि हम अपने देश और समाज की नैतिक परम्पराओं का अनुसरण

करें। समाज के कर्तव्यों की पूरा करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। इस कर्तव्य-पालन में वह अपने प्रतिभाव के विधान का ही पालन करता है। कोई भी व्यक्ति प्रकृतिवा नहीं रह सकता। वह समाज के एक सदस्य के रूप में जन्म लेता है और पन-पन पर समाज उसे प्रभावित करता है। "जिस वातावरण के व्यक्ति गर्भ लेता है, वह यदि से घन्य तक सर्वथा सामाजिक है।" व्यक्ति के वातावरण के प्रत्येक घट में समाज का सम्बन्ध निहित है। वह जो कुछ भी है, स्वयं में सामाजिक स्तर के समावेश के कारण ही है और यदि नैतिकता का परिचायक कारण की पूर्णता है तो उस सामाजिक सम्बन्धों की पूर्णता ही नैतिकता है। ईडले की मान्यता है कि "व्यक्ति जन्म से ही किसी राष्ट्र का सदस्य होता है क्योंकि एक संघ के घर पैदा होने का ही सम्बन्ध परिवार के साथ, जिस राष्ट्र का एक सम्बन्धित सदस्य होता है।"

ईडले का विश्वास है कि व्यक्ति के विकास के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति राज्य के प्रति पूर्ण बद्धा और भक्ति रहे। राज्य एक नैतिक प्राणी (Moral organism) है जिसमें समाज की दूसरी सभी दृष्टि से सम्बन्धित है। राज्य एक अव्यक्त सृष्टि है जो समस्त ईश्वर और कर्तव्य से अनुप्राणित है। ईडले ने राज्य के बाह्य और आन्तरिक दो स्तरों की कल्पना की है। बाह्य रूप से राज्य संस्थाओं का विकास (Body of institutions) है, किन्तु आन्तरिक रूप से उसकी एक आत्मा है जो उस विकास की जीवित रहती है। इस नैतिक सृजन के प्रत्येक घंटे की अपनी पुनर्-आत्मा और चेतना है। राज्य की भी अपनी इच्छा और चेतना है जो उनके सभी की इच्छाओं तथा चेतनाओं को धारण करती है। इस दृष्टि से राज्य का अपना जीवन है, अपना विकास है। इस नैतिक सृजन में विशेष स्थान प्राप्त करने पर ही व्यक्ति पूर्णता का जीवन निरूपित करता है। पूर्णता का वह जीवन उसी क्षण तक विस्तार जा सकता है जिस क्षण तक व्यक्ति राज्य की नैतिक सृजन में अपना विनिष्ट होन स्वीकार कर लेता है।

ईडले के अनुसार बुद्धि, भाव आदि विधान राज्य के विभिन्न घट हैं जो पूर्ण रूप से जानते हैं कि उन्हें क्या कार्य करना है, जानें और इच्छा से सम्पन्न एवं सभी के कारण ही राज्य 'निःशुल्क और स्वेच्छापूर्वक' कार्य करने वाली संस्था है। राज्य की इच्छा सामाजिक नैतिकता का प्रतिनिधित्व करती है। नागरिकों के प्रतिभाव का विकास उन समुदायों और वातावरणों की उन दृष्टियों पर निर्भर करता है जो राज्य अपने सदस्यों को प्रदान करता है। ईडले पर हीनता की धार स्पष्ट है। हीनता का विचार था कि राज्य एक 'सामयिक-समय' नैतिक कर्तव्य तथा व्यवस्था (Self-consciousness) और व्यवस्था के स्वयं सम्पन्न को प्राप्त करने वाला व्यक्ति (Self-actualising individual) है जिसकी इच्छा और जान उसके (राज्य के) विधानों की इच्छा और जान है। व्यक्ति सर्वत्र वही अनुभव करता है कि राज्य का सब कार्य वह स्वयं कर रहा है। वह राज्य की ही अपना सब कार्य करता है और करने में उसे किसी प्रकार की बाधा नहीं होती। ईडले ने हीनता के इसी विचारों का अनुसंधान किया है। उनका विश्वास है कि राष्ट्र की आत्मा की

स्पष्ट करने के लिए इसे राज्यकी समर्थता की किसी नैतिक व्यवस्था को अवश्य स्वीकार करना होगा। इसी नैतिक व्यवस्था को यह राज्य की नैतिक मान्यता (Moral organism) मानता है। हीगल की भाँति उसकी निम्न राज्य के सर्वसत्त्विकत्व स्वरूप में है। जीवन के सभी पहलुओं और समाज की सभी समस्याओं पर राज्य का पूर्ण विधानशक्त होता है। ब्रँडले हीगल का बहुत अनुयायी था और उसने अपने ग्रन्थ 'Ethical Studies' में हीगल की सुझावों से लम्बे-लम्बे उद्धरण दिए हैं।

ब्रँडले यह भी अनुभव करता है कि विश्व धर्म की कल्पना उसने कदाई है उसको उसके धर्मों का पूर्ण सुवर्णन नहीं कहा जा सकता। किसी भी निश्चित समय में राज्य की नैतिकता लोगों की जन-चेतना अथवा धर्म नैतिकता की अपेक्षा एक निम्नस्तर पर हो सकती है। फिर भी सम्भवतः व्यक्ति समाज में अपनी संकीर्ण स्थिति से ऊपर उठकर विश्व-सम्पूर्ण की नैतिक भावना प्राप्त करने की इच्छा करता है। इसका यह परिणाम हो सकता है कि "सम्पूर्ण मान्यता एक समग्र 'दीर्घ' समय का रूप प्राप्त करे।"

ब्रँडले के विचारों की आलोचना

ब्रँडले खुद रूप से एक राजनीतिक विचारक न होकर एक आचारशास्त्री और आध्यात्मवादी था, अतः कोई आश्चर्य नहीं कि उसके राजनीतिक विचारों में परिष्कृतता नहीं थी। आलोचकों ने ब्रँडले के राजनीतिक विचारों पर मुख्यतः निम्ननिर्णीत आक्षेप किए हैं—

1. सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि ब्रँडले राज्य और समाज में कोई भेद नहीं करता। इस तरह उसके हीगलवादी चरमपन्थ को अपनाकर राज्य की सर्वोच्च स्थिति में रख दिया है। राज्य की समाज से पुनर्जन्म करने का परिणाम यह होना कि राज्य का व्यक्ति पर घनीकृत विकार हो जाएगा, वह व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन का नियामक बन जाएगा। बार्कर का कहना है कि ब्रँडले की धारणा जर्मन राज्यनिकी को मान्य हो सकती है, किन्तु रूसों को मान्य नहीं हो सकती जहाँ राज्य और समाज के बीच सर्वत्र भेद रखा जाता रहा है। ब्रिटिश मान्यता के अनुसार समाज की अपनी 'आध्यात्मिक समस्या' होती है, उसका समाज 'आध्यात्मिक आशावरण' होता है जबकि राज्य की अपनी 'राजनीतिक समस्या' होती है और इसी तरह उसके अपने कानून तथा अधिकार होते हैं। राज्य और समाज दोनों बहुत कुछ मानव नैतिक जटिलता रखते हुए और परस्पर परिच्छिन्न रूप में सम्बन्धित होते हुए भी एक दूसरे से पूर्ण हैं। बार्कर के ही शब्दों में, "भेद और पर हम कह सकते हैं कि समाज का क्षेत्र वैयक्तिक सहयोग है, जबकि राज्य का क्षेत्र सामूहिक सहयोग है। इसी प्रकार समाज की शक्ति सम्भावना और पद्धति लचीली है जबकि राज्य की शक्ति का प्रयोग भी और पद्धति कठोरता की है।" ब्रँडले ने दोनों के बीच के अंतर पर ध्यान न देकर राज्य को इसी सर्वोच्च स्थिति प्रदान करती है कि यह राजनीतिक

सामाजिक, धार्मिक सभी क्षेत्रों में सर्वोपरि स्थिति प्राप्त कर जीवन के सभी व्यापारी क्षेत्रों में कार्य-कलाओं का विकास करना चाहता है ।

2. ईडले ने व्यक्तिगत और सामाजिक नीतिगतता का जो विवेकपूर्ण प्रस्तुत किया है वह भी भ्रामक है । उसने व्यक्तिगत नीतिगतता की राह की नीतिगतता में बिन्तीन कर दिया है और इस तरह समाज के पृथक् व्यक्ति का कोई व्यक्तित्व नहीं रहता । यद्यपि व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है जिससे सर्वत्र यह घनेछा की जाती है कि वह सामाजिक नीतिगतता की सम्झौता नहीं करेगा तथापि 'सामाजिक' होने के साथ वह 'व्यक्ति' भी है । व्यक्ति को हम जैसा भी चाहते हैं उसके मुख में केवल समाज का ही छाप नहीं है, यद्यपि अन्यथात वैयक्तिक मौखिक कर्तव्यों का भी छाप है, यह सामाजिक राज्य के अन्तर्गत व्यक्तिगत को इस तरह मिलीन कर देता कि उसका कोई पृथक् व्यक्तित्व ही न रहे, अनुचित है ।

3 ईडले का यह वाक्य कि "सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि के लिए मुझे अपना स्थान और इसके कर्तव्यों (My station and its demands) का स्थान रखना चाहिए" बड़ा अस्पष्ट है। इसकी सीक-सीक व्याख्या करना बड़ा कठिन है । यह एक ऐसा अस्पष्ट वाक्य है जिसकी अनेक व्याख्याएँ हो सकती हैं । उदाहरणार्थ, इसका अर्थ 'व्यक्ति की अपने धर्म में समुचित' भी दिया जा सकता है और ऐसी कोई भी व्याख्या आदर्शवाद की 'छिपी-छिपी कठिनाई' (Hidden-bound Conservatism) का स्वाभाविक बना देती ।

4 ईडले का यह विचार भी उपयुक्त नहीं है कि समाज सर्वत्र सही होता है, व्यक्ति गलत हो सकता है । ईडले का भाव है कि व्यक्ति यदि पूरी तरह नैतिक और-विकसित बन जाए तो उसकी दृष्टि समाज की दृष्टि के साथ सम्मेलन हो जाएगी । इस भाव का असत्यता का अर्थ है कि व्यक्ति सर्वत्र समाज की दृष्टिनुसार कार्य करे क्योंकि समाज की दृष्टि के समस्त व्यक्ति का अपना व्यक्तिगत और उसकी अपनी दृष्टि समुचित है । व्यक्ति को अपना बोध स्थापन देना सर्वथा अनुपयुक्त है क्योंकि समाजोत्तरता व्यक्ति ही वह कर्तव्य है जिससे समाज का निर्माण होता है । समाज राज्य की अपनी कोई पृथक् केवलता अपने दृष्टि नहीं हो सकती । उसकी केवलता और दृष्टि को उसके निर्माण के बोध की केवलता और दृष्टिओं का ही बोध है । दूसरे शब्दों में, यदि हम समाज को नैतिक कहते हैं तो इसका स्वाभाविक अर्थ है कि उसकी वह नैतिकता उसके निर्माण के बोध की व्यक्तियों की नैतिकता का ही बोध है ।

अपरिचित विचारों के कारण ही ईडले की नीति और नीति की तुलना में विद्विग्न जगत् पर बहुत कम प्रभाव डाल सका । विचारों में मौखिकता और प्रोडता के न होने के ही सम्भवता अपने अपनी पुस्तक (Ethical Studies) को मई 1876 के बाद पुनः प्रकाशित नहीं कराया । उसके विचारों का प्रचार इसका कम हुआ कि 76 वर्ष की आयु होने पर जब उसका नाम डॉ. हार्डिंग द्वारा इस बात के लिए प्रस्तावित किया गया कि उसे विद्विग्न समाज 'Orator of Mankind' की उपाधि में

अपमानित करें तो प्रधान मंत्री बीर सभाद ने सारथी प्रकट किया और कहा कि उन्होंने बं डले का नाम पहली बार सुना है ॥

बेर्नार्ड बोसार्ने

(Bernard Bosanquet, 1848-1933)

संक्षिप्त जीवन-परिचय और रचनाएँ

जूर, 1848 में इर्नार्ड में उत्पन्न बीसार्ने ने पॉलिटेक्नीक और हेरो में शिक्षा प्राप्त की। उत्पन्न 1871 के 1881 तक वह विभक्तिविद्यालय कॉलेज में प्रिंसिपल और शिक्षक रहा। इसके बाद वह सेंट एन्ड्रूज कॉलेज, लन्दन में दार्शनशास्त्र का प्राध्यापक बन गया और सन् 1908 तक इसी पद पर रहा। उत्पन्न 1911 के पॉलीटेक्नीक बीसार्ने ने सन् 1911 और 1912 में इतिहास विज्ञानविद्यालय में 'Principles of Individuality and Value' तथा 'Value and Destiny of the Individual' नामक दो प्रसिद्ध भाषण दिए।

बोसार्ने कर्पो, कौण्ट, हीगल और डीन से बहुत प्रभावित था। उसने बीसार्ने के दर्शन का भी समीक्षित सम्मेलन किया था। वह कहा जाता है कि उसके दर्शन का आधार हीन और कर्पो के दृष्टा तथा परिचय हीगल से हुई। अपने अतिम और कुछ दार्शनिक सिद्धान्तों को उसने उत्पन्न और कर्पो के उदाहरणों से सरल बनाया तथा सामाजिक अनुसृतियों और कर्पोवर्तमानिक अनुसृत्यान्वी का प्रयोग किया। दार्शनिकता हीने के नाते इसने हीन के सिद्धान्तों को प्रवृत्त किया, लेकिन वह उनके उदाहरण से दूर रहा। हीन ने राज्य पर जो सीमाएँ लगायी थी उन्हें बीसार्ने ने एकदम हटा दिया। उसने हीन के दर्शन को ऐसे स्तर पर ला पतन जहाँ वह राज्य की हीनताकी आस्था के अधिकृत था गया।

बोसार्ने की मन्दन ने सन् 1933 में शुरू हो गई, किन्तु व्यावसायिक योगदान, सम्पादन, राजनीतिशास्त्र आदि पर विहित उनके प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रभाव हैं। उसकी कुछ प्रमुख रचनाएँ ये हैं—

- (1) ज्ञान और वास्तविकता (Knowledge and Reality) (1885),
- (2) तर्कशास्त्र (Logic) (1888),
- (3) सौन्दर्यशास्त्र का इतिहास (History of Aesthetics) (1892)
- (4) राज्य के दार्शनिक सिद्धान्त (Philosophical Theory of the State) (1899),
- (5) वैयक्तिकता का मूल्य सिद्धान्त (Principles of Individuality and Value) (1911),
- (6) मूल्य का मूल्य तथा कर्पो की स्थिति (Value and Destiny of the Individual) (1912),
- (7) सामाजिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय आदर्श (Social and International Ideals) (1917).

बौद्धिक के राजनीतिक विचार उसके सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'Philosophical Theory of the State' में मिलते हैं। उसने अपने 'राज्य-सिद्धान्त' का 'पारंपरिक' (Philosophical) कहा है। यहाँ हम उसके विविष्ट सिद्धान्त का परिचय देने।

बौद्धिक का दृष्टा सिद्धान्त

(Bonanquet's Doctrine of Will)

बौद्धिक के शास्त्रज्ञानी सिद्धान्त का आधार कसो का 'दृष्टा सिद्धान्त' है। उसने अपने सिद्धान्त में कसो की स्वतन्त्र नैतिक दृष्टा की व्याख्या की है और इसी आधार पर अपने शास्त्रज्ञानी सिद्धान्त की स्थापना की है। बौद्धिक के शास्त्रज्ञानी दर्शन को अपनी प्रकार समझने के लिए उसके 'दृष्टा सिद्धान्त' की समझना आवश्यक है।

बौद्धिक के अनुसार मनुष्य सत्त्वों की शक्ति राज्य भी एक सत्त्वा है, मत इसका एक मौलिक विचार अद्वय होना चाहिए। यह विचार सब लोगों की वास्तविक दृष्टा (Real Will) अथवा सामान्य दृष्टा (General Will) का स्वरूप है। कसो के अनुसार ही बौद्धिक का भी विश्वास है कि हमारी दृष्टार्थ की प्रकार की है—यथार्थ दृष्टा (Actual Will) तथा वास्तविक दृष्टा (Real Will)। यथार्थ दृष्टा (Actual Will) स्वार्थपूर्ण और व्यक्ति होती है जो दूसरे सत्त्वों हितों की अनिश्चित नहीं करती। लोगों की यथार्थ अथवा स्वार्थपूर्ण दृष्टाओं में समानता नहीं होती। ये दृष्टार्थ वैयक्तिक हितों और सामाजिक हितों में समर्थ उत्पन्न करती है। यथार्थ दृष्टा व्यक्ति की अनिश्चित और दुरावस्थापूर्ण दृष्टा है जिससे उसका और समाज का कल्याण नहीं हो सकता। इसके विरोधी वास्तविक दृष्टा (Real Will) व्यक्ति के सत्त्वों हितों को छोड़कर होती है। यह समाज-कल्याण की भावना प्रेरित करती है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति की वास्तविक दृष्टाओं में समानता होती है। यह सामाजिक दृष्टा है जो प्रत्येक पर प्राथम्य होती है और जिससे समष्टि में विरोध और अर्थ की स्थिति उत्पन्न नहीं होती।

यथार्थ दृष्टा (Actual Will) और वास्तविक दृष्टा (Real Will) में समर्थ बलता रहता है। यथार्थ दृष्टा लोगों को प्रेरित करती है कि वे कल्याण-विधना छोड़कर मरणावस्था करे पर्याप्त वास्तविक दृष्टा बढ़ाई-लगाई का प्रतिपादन करती है। दोनों दृष्टाओं के इन अर्थ में व्यक्ति का कर्तव्य है कि वास्तविक दृष्टा के अनुसार साधना करे। वास्तविक दृष्टा के अनुसार कार्य करते ही व्यक्ति वास्तविक स्वतन्त्रता का उपयोग और नैतिक-प्रतिबुद्धि कर सकता है। इस एक और की नैतिक दृष्टि के स्वतन्त्र नहीं यह मानने क्योंकि छोटी करता वास्तविक दृष्टा के अनुकूल नहीं है। यह तो अपने यथार्थ अथवा स्वार्थपूर्ण दृष्टा है। व्यक्ति की वास्तविक दृष्टाओं का योग ही समाज की सामान्य दृष्टा है, मत स्वाभाविक है कि समाज के प्रतिबुद्ध अर्थ पर यह कभी भी सत्त्वपूर्ण जीवन व्यतीत नहीं कर सकता।

बोनाफे के अनुसार व्यक्ति की वास्तविक दृष्टि एकलकी नहीं होती। वह समाज के अन्य व्यक्तियों की वास्तविक दृष्टि से प्रभावित होती है और वास्तविक दृष्टि बन जाती है। इसलिए व्यक्ति केवल समाज में रहकर ही अपना सर्वोत्तम रूप प्राप्त कर सकता है। समाज और वास्तविक दृष्टि के संबंध में समाज दृष्टि नष्ट हो जाती है और वास्तविक दृष्टि योग रह जाती है जिसके द्वारा सामाजिक व्यवस्था का विमल होता है। समष्टीय है कि 'सामान्य दृष्टि' और समाज की दृष्टि' में भेद है। समाज की दृष्टि में समाज दृष्टि की सम्मिलित रहती है। इसी प्रकार दृष्टि और व्यवस्था में भेद है। यहाँ सामान्य दृष्टि में सामान्य दृष्टि पर ध्यान दिया जाता है जिससे बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक दोनों ही वर्गों के दृष्टि सम्मिलित होती है वहीं व्यवस्था में व्यवस्था को महत्व दिया जाता है। सामान्य दृष्टि में व्यक्ति की बुद्धिमान नहीं होती वह तो भेद, गुण और व्यवस्था दृष्टिओं का सार है।

बोनाफे की मान्यता है कि राज्य इसी सामान्य दृष्टि का साकार रूप है। वह सामान्य दृष्टि का प्रतिनिधित्व करता है। इसका संकलन सामान्य दृष्टि द्वारा ही होता है। अतः व्यक्ति की राज्य के नियमों का निराकरण मान्य करना चाहिए। राजाशासकत्व में वरीयता रूप से व्यक्ति की अपनी ही शक्ति का प्रयोग निहित है।

राज्य की सामान्य दृष्टि का साकार रूप स्वीकार करने के फलस्वरूप बोनाफे ने उसे एक 'नैतिक विचार' (Ethical Idea) माना है और निम्नलिखित मूलभूतपूर्ण परिणाम निकाले हैं—

1. राज्य का शासन स्वशासन (Self-Government) है क्योंकि राज्य के सभी कार्यों का व्यवस्था सामान्य दृष्टि द्वारा होता है जिसका अर्थ यह है कि हम सभी द्वारा व्यक्ति की दृष्टि से नहीं बल्कि अपनी ही दृष्टि से शासित होते हैं।

2. राज्य और समाज का बहुत सम्बन्ध है। राज्य प्रत्येक पर आधारित एक राजनीतिक व्यवस्था है जिस समाज की सभी समस्याएँ निम्नलिखित व्यक्तियों के द्वारा हल होती हैं। राज्य को यदि समाज के विचार रूप में देखा जाए तो कल्पना होगी कि वह अनेक समूहों का समूह (Group of Groups) और समुदायों का समुदाय (A Community of Communities) है जिसका और समूहों मानव-समाज में व्याप्त है।

3. राज्य सर्वोच्च प्रजातन्त्र व्यवस्था नैतिक विचार और मानवीय रूपों है जिसमें समाज की विभिन्न समस्याओं में नैतिक विचारों का सम्बन्ध होता है। समाज की विभिन्न समस्याओं के नैतिक विचार एकलकी व्यवस्था विशेषी ही उत्पन्न है, अतः राज्य मानव व्यवस्था के विशेषों को दूर कर अपने सामान्यतम स्थापित करता है। राज्य का दृष्टिकोण एकलकी नहीं होता।

बोनाफे ने राज्य की दृष्टि के प्रत्येक में व्यक्ति की स्वतन्त्रता की निहित माना है। इस प्रकार राज्य के स्थापन वह भी इस सिद्धान्त पर पहुँच गया कि व्यक्ति द्वारा वह वे सामान्य दृष्टि से प्रभावित है और अपने अपने व्यक्तित्व की प्रति समाज

का संग बनकर ही कर सकता है भी सावकबी सम्पूर्ण (Organic Whole) है। बौद्धिक ने सामान्य दृष्टि की अभिव्यक्तवादी रूप दे दिया है। उसके अनुसार अभिव्यक्त भी सामान्य दृष्टि का प्रतिनिधित्व करता है, यतः उसकी दृष्टि के अनुसार जीवन-भावन करने के लिए शारीरिकी को बाधन दिया जा सकता है तबकि के वास्तविक स्वतन्त्रता का उपयोग कर सकें। अपने इस धर्म में बौद्धिक ने सामान्य दृष्टि को विरुद्ध रूप में प्रस्तुत किया है और इसी आधार पर उस आदर्शवाद की रचना की है।

बौद्धिक ने बौद्धिक के सिद्धान्त का विश्लेषण करते हुए निम्न है कि "बौद्धिक का कार्य कुछ इस प्रकार है कि मनुष्य के सभी व्यक्तित्व की सिद्धि उसकी वास्तविक दृष्टि की अभिव्यक्ति द्वारा ही होती है और उसकी वास्तविक दृष्टि आवश्यक रूप में सामान्य दृष्टि से भिन्न है जिसकी सिद्धि केवल राज्य द्वारा ही होती है। दूसरे शब्दों में मनुष्य मनुष्य के रूप में नैतिक प्राणी है और नैतिक प्राणी के रूप में उसे ऐसी अवस्थाओं की दृष्टि करनी चाहिए जिसमें उसका नैतिक जीवन सम्भव हो सके, किन्तु समस्त के पुनर् स्थापित के लिए नैतिक आधार नाम की कोई चीज नहीं है। यतः राज्य केवल जीवन के लिए आवश्यक सामाजिक अवस्थाओं को वास्तविक रूप में प्रत्येक नैतिक व्यक्ति की दृष्टि की पूर्ति करता है यतः बौद्धिक के विचारों के अनुसार मनुष्य का सर्वोच्च कार्यम् अपनी सामाजिक योग्यताओं का विकास करना है। किसी व्यक्ति के जीवन का राज्य में छोटी मरणा के कार्य का पुनः उसने सामान्य हित के दृष्टि राज्य होने के कारण ही है।"¹

बौद्धिक का संस्था-सिद्धान्त (Bosanquet's Theory of Institutions)

बौद्धिक ने संस्थाओं के नैतिक विचारों का सूत्ररूप (Enablers) माना है। इस मान्यता के पीछे समाज के सार्वजनिक जीवन की कल्पना निहित है। मानव-जीवन आरम्भ से सदा एक सामाजिक है। समाज व्यक्तियों का ऐसा समूह है जो किसी सार्वजनिक सामान्य उद्देश्य के सम्बन्ध में है। इन शब्दों धर्म यह है कि सामान्य यतः या सार्वजनिक दृष्टि का समस्त एक जीवन-धर्म है। असाधारण, हम किसी स्मृत या केवल या रिपोर्ट के क्षेत्र को ही तो उनमें से प्रत्येक एक समान अनेक व्यक्ति की जिम्मा का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार संस्थाएँ नैतिक विचारों का ही आधार बन हैं। स्वयं बौद्धिक के शब्दों में, "एक संस्था में एक से अधिक व्यक्तियों का उद्देश्य या उनकी भावना निहित रहती है और यह एक भावना या उद्देश्य का नैतिक एक सार्वजनिक होता है। संस्थाओं में व्यक्तिगत व्यक्तियों का यह सम्मिलन होता है जिससे हम सामाजिक चेतना (Social Mind) की रचना करते हैं यतः यह कहना चाहिए कि संस्थाओं में हमें

मानने तथा मिलता है जो अपनी व्यापक संभरणा में सामाजिक है, लेकिन विभक्त रूप में व्यक्तित्व मस्तिष्क (Individual Mind) है।¹

बोसॉके के इस कथन के उसके द्वारा समझनी विन्ननिश्चित विद्वान्ता स्पष्ट होते हैं—

- (i) अत्यंत सामाजिक संस्था या समुदाय मानव-व्यक्तिगत की एक जटिल निहित क्रियाशीलता (Complicated inter-working of the mind of the individual) है।
- (ii) समुदाय की साधुदिकता (The totality of the group) व्यक्ति के मस्तिष्क में प्रतिबिम्बित होती है।
- (iii) प्रत्येक सदस्य में सम्य सदस्यों पर अपने विचारों की सामने की प्रकृति होती है।

बोसॉके के अनुसार परिवार, दलीली, समुदाय, राष्ट्रीय राज्य आदि समाज की विभिन्न वैश्विक संस्थाएँ हैं। इनमें राज्य सर्वोत्तम है। यही संस्था वास्तव में वैश्विक सादरी है। राज्य सब प्रकार के समुदाय का समुदाय-स्रोत है और सभी संस्थाओं की एक प्रभावकारी प्राप्तिभरता है। यह राज्य सब संस्थाओं का संचालन करता है और शांति तथा व्यवस्था बनाए रखता है। सभीई सर्व में राज्य एक राजनीतिक समूह है जो शक्ति का प्रयोग करता है एवं सामंजस्य सामाजिक उद्योगों पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगाता है। व्यापक सर्व में राज्य का उद्देश्य जीवन का सामाजिक समूह एक सम्भव है। राज्य सामाजिक रूप में समाज का वर्गीय है।

बोसॉके का राज्य-सिद्धान्त

(Bosquet's Theory of State)

बोसॉके ने राज्य-सिद्धान्त की 'दार्शनिक' (Philosophical) कहा है। उनके राज्य का अर्थ निम्नी स्वरूप है जो सब अपने निम्नी ही विचार का वाच है। बोसॉके का उद्देश्य राज्य का उसके सामाजिक स्वरूप में सम्भव बनाना है, एक सादरी समाज की रचना करना यही। राज्य की उत्पत्ति और इसके इतिहास की शीघ्र करने से दार्शनिक सिद्धान्त का कोई सम्भव नहीं है। राज्य सादरीवादियों के समान उद्दी की राज्य की वैश्विक एवं सामाजिक समुदाय मानता है। राज्य एक सर्वोत्तम वैश्विक समूह है, एक वैश्विक कल्पना का प्रतीक है। "राज्य एक वैश्विक सिद्धान्त है, यद्यपि इसी में समुदाय सामाजिक रूप में सब की उत्पत्ति एवं वैश्विकता की अन्तिम विधि में जाता है।" बोसॉके के अनुसार दार्शनिक मान्यता एक निश्चित विचार और उद्देश्य की प्रकृति करती है जिसमें उत्तम स्तर निहित होता है। उसादृश के निम्नी सादरी का स्तर समाज और कार्यपर में नहीं यद्यपि एक सामाजिक विचार में होता है। नतिज की स्थापना के पूर्व एक निश्चित उद्देश्य का सुव्यक्त होता है जिसका मूर्तरूप हमें दार्शनिक में देखने की मिलता है। इस प्रकार समाज बनाने में पूर्व कार्यपर के

परिस्थित में एक भावना होती है जिसका पूर्णतः प्रभाव है। इस विचार को सामान्य भावना या सामान्य परिस्थित कहा जा सकता है। इन उदाहरणों से जोशों के स्पष्ट करता है कि राज्य की स्थिति एक विचार के रूप में ही होता है।

जोशों के मत है कि राज्य एक भावना है, यद्यपि समाज नागरिकों : परिस्थित का सम्बन्धित रूप है। इसके माध्यमा सामूहिक परिस्थित (Group Mind) पर आधारित होती है। राज्य सबसे बड़ी शक्ति है और इसके सामूहिक भावना का धर्म भी अन्य समाजों की अपेक्षा अधिक व्यापक है। राज्य में रहने वाले सभी नागरिक उनके सदस्य होते हैं। राज्य एक सर्वोच्च एवं सर्वोच्च संगठन है जो अन्य सभी समुदायों से उच्च है। राज्य के अन्तर्गत अन्य सभी समुदायों समाविष्ट हो जाती हैं। राज्य का सामूहिक मन सभी समाजों से अधिक व्यापक होता है। राज्य सर्वोच्च है। समुचित दृष्टि से राज्य ऐसा राजनीतिक संगठन है जो शक्ति का प्रयोग करता है। यह समस्त सामाजिक व्यवस्था को आत्मता प्रदान करता है या समाज के लिए आवश्यक है। विस्तृत रूप में राज्य "एक सामान्य संगठन तथा जीवन का सहयोग (Syntesis) है जिसमें परिवार के लेकर व्यापार तक और व्यापार के लेकर चर्च तथा निम्नलिखित तक के सभी सदस्यों सम्मिलित हैं जो जीवन को निर्धारित करती हैं। इसमें एवं सबसे बड़ा (More Collection) मात्र ही नहीं होता बल्कि यह एक ऐसी संरचना होती है जो राजनीतिक संगठन को जीवन और सर्व प्रदान करती है जबकि यह स्वयं अपने पारम्परिक सामान्यतः प्रदान करता है जिसका परिणाम होता है प्रत्यक्ष तथा एक अधिक उदार अभिव्यक्ति।" स्पष्ट है कि सम्पूर्ण मानव-जीवन राज्य के अन्तर्गत है। राज्य मानव-जीवन का पूर्ण अभिव्यक्ति करता है। समस्त जीवन के लिए यह निश्चित आवश्यक है। स्वयं जोशों के अनुसार—

“राज्य में हमारा अभिप्राय समाज की एक ऐसी इकाई के है जो अपने सदस्यों पर निरन्तर भौतिक शक्ति द्वारा नियंत्रण रखती है। ऐसा कि पहले हम यह पूछें हैं राष्ट्रीय राज्य एक बृहद् संगठन है जो सामान्य जीवन के लिए आवश्यक है। एक बड़े समाज के प्रति हमका कोई विनिर्दिष्ट वर्तमान नहीं है। यह सब एक सर्वोच्च समाज है। यह समस्त वैश्विक नियंत्रण का एक है, परन्तु एक संगठन वैश्विक नियंत्रण का एक मात्र नहीं है। वैश्विक सम्बन्धों के एक महाठन जीवन की आवश्यकता है। ऐसा जीवन केवल राज्य में ही सम्भव है, दूसरे समाजों में नहीं।”

जोशों के राज्य की जीवन का व्यावहारिक वर्णन मानता है। राज्य समस्त समुदायों के पारम्परिक सम्बन्धों का पर्यवेक्षण कर अपने मुखर करता है। यह समुदायों के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है और उनके पारम्परिक सम्बन्धों को निर्धारित करता है। “राज्य समुदायों का समुदाय, सम्बन्धों की शक्ति तथा सभी का रूप है” इससे यह स्पष्ट-सङ्गो भी कर सकता है। राज्य संगठित शक्ति का प्रतीक है जो सुन्दर जीवन को प्रोत्साहन देता है, किन्तु बुद्धि एवं धर्म मार्ग पर

जानने वाले व्यक्तिओं की वक्त-प्रयोग द्वारा सम्मान के लिए वाक्य करता है। राज्य सर्वोच्चतम कथना है। इसका कार्योच्च सर्वोच्चता है। राज्य व्यक्तिओं की स्वतन्त्रता के लिए प्रतिबद्ध है। उसकी उपस्थिति में ही व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग करता है। राज्य के आदेशों का पालन करने से ही व्यक्ति का कल्याण सम्भव है। राज्य की माताएँ व्यक्ति की सामान्य दृष्टि की प्रतीक होती हैं जिनके व्यक्ति को की वास्तविक दृष्टिपूर्ण व्यक्त होती हैं।

सोसलि राज्य को सर्वोच्च नीतिकृता का प्रतिबन्ध स्वरूप मानकर राज्य की सुझाव में व्यक्ति की कम महत्त्वपूर्ण स्थान देता है। उसने हीमान के समान ही राज्य का आदर्शोन्मुख किया है। व्यक्ति को राज्य की दवा पर छोड़ दिया गया है। राज्य किसी एक व्यक्ति या कल्पना का प्रतिनिधित्व न कर समान रूप के समुच्च जगता का प्रतिनिधित्व करता है। हीमान की भाँति राज्य को सर्वोच्चता एवं कार्योच्च मानते हुए सोसलि राज्य के विपक्ष व्यक्ति को कोई अधिकार नहीं देता क्योंकि राज्य का अधिकार में ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता का प्रतिबन्ध है। सोसलि के मतानुसार ऐसे किसी भी नीतिक विधान की कल्पना नहीं की जा सकती जो राज्य के ऊपर हो। यौन इस बात की गहरी मांगता। यौन का राज्य की अवस्था करने का व्यक्ति का अधिकार प्रकृतिक मानून की कल्पना पर आधारित था। सोसलि इस विचार के विरोधी हीमान में यह मत है कि राज्य के कार्यों को किसी उपाय की नीतिकृता की बनौटी पर नहीं बना जा सकता। "नीतिक व्यवस्था के लिए एक समष्टि जीवन पूर्ण आवश्यक है, जिन्से इस प्रकार का जीवन केवल राज्य के ऊपर ही सम्भव हो सकता है, उसके बाद अन्य समुच्चों के बीच सम्बन्धों के रूप में नहीं।" ग्रे (Murray) का कथन है कि "राज्य एक प्रकार का समुच्च का रूप बन जाता है और इसकी स्वतन्त्रता एक बहुत साम्प्रदायिक समुच्च के प्रतिष्ठित और दुष्ट नहीं है। कथन में हीमान की भाँति सोसलि के लिए भी राज्य सामरिक के लिए व्यक्तिगत नीतिक प्रतिबद्ध है और यह वास्तविकी के अन्तःकरण का सारथक है।" इस तरह राज्य सोसलि के लिए एक सातकपूर्ण एवं रहस्यमयी वस्तु है जिसके प्रति हमने निष्ठा रखनी चाहिए फिर भी यह हीमान की साम्प्रदायिक इस आधार पर करता है कि इसका राज्य विद्वान्त समान जीवन के तथ्यों के कथना समुच्च नहीं है। उसका एक था कि यदि कोई व्यक्ति व्यक्ति के दास में रहता है कि व्यक्ति राज्य स्वतन्त्रता की समुच्च है तो यह एक निर्मम उपद्रव होता। ठीक इसी भाँति सामुक्तिक कथनों की तरह-व्यक्तियों (Murray) ने हमें बताने निम्नरूप एवं युक्त के पीछे के समुच्चों की भी राज्य की स्वतन्त्रता की प्रतिष्ठित मानने के लिए कहकर नहीं किया जा सकता।

सोसलि के राज्य-विद्वान्त और हमने निम्न उपर के वास्तविक कथन की समीक्षा करते हुए नीचे निम्नता है कि—

"सोसलि के इस कथना के महत्त्व पर अधिक और देने की आवश्यकता समुच्च की 'विपक्ष सम सम' किसी एक समुच्चों का समुच्च है और जो समुच्च बनाती है।' छोटी समुच्च व्यक्ति है जो हमारे जीवन के समुच्च क्षेत्रों और हमारे

नागरिकों के समूह समुदाय को समाकृत नहीं करने। राज्य अपनी सार्वभौमता तथा सौम्यता की दृष्टि से अधिक सर्वांगीण होने के कारण इन छोटी-से-छोटी नीतियों की व्यवस्था नीतिगत दृष्टि से अधिक श्रेष्ठ है, यह 'संश्लेषण समाज' (Synthesis Society) है। यह व्यवस्था सामाजिक समस्याओं के ऊपर है और यह स्वयं नीतिगत नीतिगत नीतिगत नीतिगत के लिए ही नहीं बल्कि नीतिगत दृष्टि से भी सार्वभौम है। राज्य तथा नागरिकों के बीच मतभेद की स्थिति में राज्य को ही आवश्यक रूप से सही माना जाता है। समुदाय की अपनी नीतिकृता तथा उसका समूह मुक्त मुक्तता सार्वभौमता ने अपने नियत कर्तव्यों का सन्तोषजनक रूप से पालन करने में ही है। मानवीय श्रेष्ठता इत्यादि में है कि अनेक व्यक्ति एक नागरिक होने के नाते अपना कर्तव्य पालन करें। उनकी सार्वभौमता नागरिक कर्तव्यों के पालन के पालन बुद्धि हुई है और उसका सबसे महत्वपूर्ण कर्तव्य राज्य द्वारा स्वीकृत सामाजिक-व्यवस्था (Modes of Conduct) के अनुकूल व्यवसाय जीवन चलाना है। यह राज्य समाज के सर्वोच्च जीवन की रक्षा एवं सुधार के लिए जो कुछ भी आवश्यक समझे कर सकता है और वही इसकी सार्वभौमताओं का दृष्टान्त प्रमाण है। यह सार्वभौमता (जिसका वह स्वयं ही निरूपण है) अपने पर उस समय के प्रति व्यक्ति के अधिकार, निष्ठा वह प्रतिनिधि है, किसी भी व्यक्ति निष्ठा की प्रतिनिधि पर लोक व्यवहार उत्तम निवेदन कर सकता है और वह ऐसा व्यवहार करेगा।¹

राज्य एवं व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक कार्यों पर बोनाकुरे का विचार
(Boniquet on State Action and Public and Private Acts)

बोनाकुरे की इस विचार के समुदाय है कि राज्य का कार्य मुख्य जीवन के कार्य के पालन वाली नागरिकों का हस्तान्तरण नहीं स्थिति है। उनमें ही कहा अनुसार— "यह हम कह सकते हैं कि सर्वोच्च जीवन के लिए राज्य राज्य कुछ नहीं कर सकता, प्रत्युत केवल उनके कार्य की सहायता कर सकता है।"² और ही नीति ही बोनाकुरे की सार्वभौमता कहता है कि मनुष्य राज्य के कार्य का सामाजिक रूप सार्वभौमता होता है, तथापि अपनी सामाजिक क्रियाओं एवं अपने व्यक्तिगत उद्देश्यों में वह सार्वभौमता होता है। प्रतिपक्ष शिक्षा द्वारा निष्ठा तथा नीति करना, अधिक के सम-विषय की निष्ठा कर सकेबादी की रोकना यदि राज्य के सार्वभौमता कार्य हैं नीतिगत इनका उद्देश्य व्यक्तिगत रूप से नीतिगत है। इसका प्रत्येक मूलतः नीति के उन मुद्दों की अनुमति करना है जो सहायता की प्रतीक्षा निष्ठा ही बहुततर हैं। राज्य द्वारा ऐसे कार्यों पर निष्ठा की उद्देश्य से निष्ठा करना किन्तु न करने की प्रतीक्षा ही प्रतीक्षा ही है तथापि राज्य द्वारा ऐसे कार्य किए जाया अनुमति नहीं है जिसका मूल सार्वभौमता द्वारा निष्ठा होने पर ही होता है। यह तरह

1. बोनाकुरे का दृष्टिक दार्शनिक विचार, पृष्ठ 459-60.

2. *Reconstruction* : op. cit., p. 113.

राज्य के कार्य-सिद्धान्त में बोझोंके घीन से मिश्र नहीं है। यह घीन भी सरसु स्वीकार करता है कि "राज्य के कार्यों का केवल माध्यम होता है। यह अपने कार्यों द्वारा मनुष्य के समुदायन की प्रशिक्षण कर प्रत्यक्ष रूप से इसको नैतिक नहीं बना सकता बल्कि प्रत्यक्ष रूप से ही नैतिकता की वृद्धि के लिए कार्य कर सकता है।"

राज्य के कार्य सम्बन्धी विचार में घीन के कार्यों सहमत होते हुए भी बोझोंके राज्य के कार्यों की नैतिकता का मौलिकत्व करते समय हीरात के निकट जा पहुँचता है। यह किसी ऐसी नैतिक प्रवृत्तियों की शक्ति में निश्चय नहीं करता जिसका उद्देश्य म राज्य के अस्तित्व परितः ही कभीकि राज्य ही एक सम्पूर्ण नैतिक अवस्था का प्रत्यक्ष है, इसी अवस्था नैतिक अवस्था का तत्त्व नहीं है। घीन एक नैतिक मनुष्य की शक्ति में निश्चय करता था जो अपनी वृद्धि में एक ऐसा अवस्था बनना कभीकी भी इनके आधार पर मानविकी द्वारा राज्य की प्रशिक्षण की जा सकती है और निरीय लिया जा सकता है। इसको मान्यता भी कि राज्य में राज्य के अस्तित्व एक नैतिक प्रवृत्तियों का अस्तित्व होता है जिसके आधार पर स्थिति राज्य के कार्यों की समीक्षा कर सकता है। साथ ही यह राष्ट्रीय विदेश में पूर्ण तथा नैतिक सेवाओं से मुक्तिदाता दुरीय राज्य की शक्ति में एक प्रत्यक्ष अवस्था का प्रत्यक्ष होता था और राज्य की मनुष्यिक पर आधारित अवस्थाओं से सम्पूर्ण एक सम्पूर्ण राष्ट्रीय स्वायत्तता की प्रत्यक्ष करता था। निम्न-प्रकार की प्रवृत्तियों की शक्ति में अवस्था बोझ के अस्तित्व का अस्तित्वान्त मोर इसके विचारों का सैद्धांतिक आधार था। जिसने बोझोंके इस विषय में घीन से सहमत नहीं था। यह हम बात पर बात होता था कि "नैतिक सम्बन्धों के लिए एक नैतिक जीवन की पूर्ण आवश्यकता है, लेकिन ऐसा जीवन केवल राज्य के सम्बन्ध ही उपलब्ध हो सकता है, राज्य तथा सम्पूर्ण मनुष्यत्व के बीच सम्बन्धों में नहीं।" इनके विचारों की आधारभूमि ही नहीं थी कि इसे मनुष्यत्व में राज्य के मोड़ निश्चित रूप नहीं है। राज्य इस सम्बन्ध सम्पूर्ण है जो नैतिकता का परम प्रत्यक्ष है, किन्तु यह नैतिक नैतिक विषय का सम नहीं है।

इसी विचारों के अस्तित्वान्तरण बोझोंके में सार्वजनिक और निजी कार्यों (Public and Private Acts) में सम्पूर्ण रूप से किया है। यदि व्यक्ति द्वारा करता है तो यह एक व्यक्तिगत कार्य है। यदि पूरा राज्य दूसरे राज्य से कुछ लेता है या कुछ और देने के द्वारा कर देता है तो यह सार्वजनिक कार्य है। इन दोनों स्थितियों में किष्ट पूरा सम्बन्धों की भाषा में चलता है। बोझोंके यह तर्क है कि व्यक्ति स्वार्थ के कभीकृत हीकर नीचे कार्य करता है, किन्तु राज्य व्यक्तियों के नैतिक हित के सम्बन्धों की भाषा में चलकर कार्य करता है, मगर यह कुछ भी मतलब है तो सम्पूर्ण नहीं करता। इसी आधार पर बोझोंके कुछ का सम्बन्ध करता है और हीनेसियन विचार-प्रकार के बहुत कभीकृत पहुँच जाता है। बोझोंके के व्यक्तिगत और सार्वजनिक कार्यों के इस सम्बन्ध से स्पष्ट है कि बोझोंके करना, हत्या करना, भ्रष्ट चलना, व्यक्तिगत हित

रखना यदि सार्वजनिक कार्य नहीं हो सकते क्योंकि ऐसे कार्यों में समाज की कोई रुचि नहीं हो सकती और न ही ऐसे कार्य करने वाला व्यक्ति इस समाज पर उनसे टीक खाता करता है कि वे उसके कार्य न होकर राज्य के कार्य हैं किन्तु गुप्त, भारत के सुमतान के इन्कार यदि सार्वजनिक कार्य हैं जो चोरी तथा हत्या के समाना भिन्न हैं। ये कार्य व्यक्तिगत रूप के कारण नहीं किए जाते। इन कार्यों में नैतिक व्यवस्था को किसी एक व्यक्ति के द्वारा, जो अपने जीवन तथा समाज के लिए समाज पर निर्भर होता है, बन नहीं किया जाता। सार्वजनिक कार्य राज्य द्वारा होते हैं जो समाज का रक्षक होता है। समाज के कार्यों का इस तरह नैतिक निर्णय नहीं हो सकता जिस तरह व्यक्तिगत कार्यों का होता है। समाज को व्यक्तिगत अनैतिकता का व्यवहार नहीं बहोसा जा सकता। व्यक्तिगत आधार पर समाज के कार्यों की आलोचना करना बुद्धिपूर्वक है। यह धारणा है कि अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण करने के लिए समाज को कार्य करता है, उनकी आलोचना की जा सकती है। सार्वजनिक कार्य को अनैतिक कार्य तब कहा जा सकता है जब समाज के मन अपने सार्वजनिक कार्यों में स्वार्थ तथा स्वार्थता की भावनाएँ प्रदर्शित करें। यदि सार्वजनिक कार्य "समाज के सक्रिय समर्थन के साथ किए जाते हैं और वे अनैतिक होने के कारण भिन्न हैं तो हमारा निर्णय मान्यता तथा इतिहास के आधारालय के सामने होता है।" समाज के कार्यों का निर्णय व्यक्तिगत मान्यता से नहीं हो सकता। समाज के कार्यों की आलोचना हो सकती है, लेकिन यह स्वीकार्य नहीं है कि उनका भी उसी प्रकार निर्णय किया जाएगा जिस तरह नागरिकों के व्यक्तिगत कार्यों का। संशोधन में समाज के अधिकारियों या अधिकारियों के अनैतिक कृत्यों के लिए समाज को दोषी नहीं बहोसा जा सकता।

बीबीके के कुछ सम्बन्धी विचार (Bosnquet on Positivism)

सह-नीति के विद्वान् ने बीबीके का दृष्टिकोण दोन की संवेष्टा सविक क्ताचारमक (Positive) है। दोन के अनुसार दण्ड का मूल स्वसन प्रतिरोधालय (Deterrent) होने के साथ ही प्रतिस्तरालयक (Retribution) तथा सुधारालयक (Reformation) भी है जबकि बीबीके के क्ताचारमक दण्ड के प्रतिस्तरालयक, प्रतिरोधालयक तथा सुधारालयक विद्वान् को वेद करना और उससे के किसी एक को दो सही मान लेना निरर्थक है। "दण्ड काकालु के विषय प्रतिविषा है। काकालु एक काकात है और काप ही एक क्ताच भी है तथा काकालु का दोषक भी है, इसलिए उसके विषय प्रतिविषा, क्ताच दण्ड द्वारा क्ताच का प्रतिस्तर, क्ताच का प्रतिरोध तथा काकालु की सुधारने का प्रयास एक ही काप होना चाहि।"

बीबीके की मान्यता है कि व्यवस्थाओं द्वारा आलोचना का मार्ग बहल करने की रिमति में समाज के पास प्रचुर शक्ति होती है। वह बहले पैठाकनी और समझौते की नीति का काकाल होता है किन्तु क्ताच न होने पर क्ताच का प्रयोग करता है। क्ताच और निवन्धक प्रविषय क्ताच है जिसका प्रयोग काप काकालों की विषयता के

बाद ही किया जाता है। बीसोंके के अनुसार मॉरिटन ने समाजवाद को दण्ड-नैतिक के उद्घरण बना दिया है जबकि नागराज ने यह समझ सरायाओ की नियामकता के ही निवास करती है।

बीसोंके का निष्कर्ष है कि समाज-विरोधी उत्पन्न दण्ड द्वारा ही नियंत्रित किए जा सकते हैं। दण्ड से जनता की का सुधार होना चाहिए। यह उसके नियंत्रणक कला से महत्व नहीं है। यह दण्ड के उद्देश्य तथा स्वयं की लक्ष्यपरक मानता है। इसका दण्ड-विज्ञान एक बौद्धिवादी आधार पर आधारित है। व्यक्ति के शरीर के भीतर एक सूक्ष्म गतिशीलता का प्रतिफल होता है। व्यक्ति के शरीर में जो कार्य प्रदर्शित-प्रभावकता में होता करते हैं उनकी प्रतिफलित बाह्य क्षेत्र में होती है। मान लीजिए कि आप विचारों में निम्न किन्हीं चरित्र पर चले जा रहे हैं। अभी आपकी एक छोटी संपत्ति है। इस संपत्ति का प्रभाव आपके प्रतिफल के चेतन भाग पर पड़ता है। प्रतिफलस्वरूप आप कुछ उस चरित्र पर जाने के पूर्व सम्भव हो जाते हैं। दण्ड की भी यही प्रवृत्ति है। यह भी इसी प्रक्रिया को बाध करता है। जब कोई व्यक्ति अन्याय करता है या किसी के साथ कोई दुर्व्यवहार करता है तो उसके प्रतिफलस्वरूप जो दण्ड उसे मिलता है उसके चेतन प्रतिफल पर एक प्रकार का प्रभाव लगता है। इस प्रभाव के लगने से जनता की प्रतिफल चिकित्सा पर जा जाता है और यह संपत्ति की पुनरावृत्ति न करने का निश्चय कर लेता है। स्पष्ट है कि बीसोंके के मतानुसार दण्ड इसलिए नहीं दिया जाता कि दण्डित मनुष्य भविष्य में बुरी वृत्तियाँ नहीं करेगा, बल्कि इसलिए कि चेतन के आधार पर के कारण मनुष्य पुनः वैसी गलती करने के प्रति आभास होता है।

इस तरह बीसोंके ने दण्ड में नियंत्रण कला से एक सकारात्मक मूल के दर्शन दिए हैं, लेकिन उनका कोई कारण नहीं हो सकता कि राज्य द्वारा दिए गए दण्ड बाध्यकारी कार्यों में यह कुछ योगदान न हो। बीसोंके ने उदाहरणार्थ, 'यह सोचना आगे भूत है कि राज्य द्वारा मनुष्य व्यक्ति केवल जनताओं को बहुत करने तक ही सीमित है। इसका उसके चरित्र के मन पर प्रवृत्तिवत्त प्रभाव पड़ता है।' इसे प्रतिफल बीसोंके राज्य-वाद के उस अवधारणात्मक स्वरूप में समीक्षण करता है जिस पर चीन ने इतना बल दिया है।

बीसोंके के दर्शन की आलोचना और सुझाव

(*Criticism and Estimate of Bonasquet's Thought*)

इतिहास के अनुसार बीसोंके की सबसे बड़ी एक आलोचना दण्ड में कोई स्पष्ट प्रभाव दिखाई नहीं देता।¹ यह संपत्ति की वास्तविक तथा आलोचना की कदाई मानने का बीबी है। बीसोंके के अनुसार वैयक्तिक वास्तविक दण्ड सामाजिक दण्डों की एक ही एकता में व्यक्त होती है, किन्तु इतिहास इस बात से सहमत नहीं है। उसे बीसोंके का यह कथन बड़ा उपहासजनक लगता है कि एक चीन की वास्तविक दण्ड (Actual Will) राज्य-कार्यवाही के हाथों जिस में दण्ड

होने की है और उसकी वचार्थ दृष्टि (Actual Will) उसे जोरी के लिए प्रेरित करती है। हॉब्सहॉब्स के अनुसार निम्नलिखित दृष्टि इसके विस्तृत ज्ञाती है। जोरी की जो दृष्टि उसे जोरी करने के लिए प्रेरित करती है वही उसकी पूर्ण दृष्टि है, फिर चाहे उसे वचार्थ दृष्टि कहा जाए या वास्तविक। इन दोनों दृष्टियों में कोई भी स्पष्ट विभाजन नहीं किया जा सकता। दृष्टि को 'वचार्थ' और 'वास्तविक' दो विभिन्न रूपों के मानना समझ के साथ निम्नलिखित करता है। हॉब्सहॉब्स की मान्यता में यह है पर वह पूर्णतः व्यापक नहीं मानती या करता। बीबी ने इन समझ का प्रयोग परिभाषित करने के लिए है। इस जीवन में यह अनुभव करते हैं कि हमारे कोई एक कार्य ठीक वैसा ही नहीं होता वैसा दूसरा होता है मत. बीबी के का यह उचित ही कहा जा सकता है। अपनी पुस्तक 'The Metaphysical Theory of the State' में स्वयं हॉब्सहॉब्स ने अपनी मान्यता में उल्लेख कर बीबी द्वारा किए गए समझ को स्वीकार किया है यद्यपि 'वचार्थ' और 'वास्तविक' के स्थान पर 'मान्यता' और 'वास्तव' (Tendency and Persistence) समझ का प्रयोग किया गया है।

बीबी ने राज्य की सर्वोच्च समुदाय और वैधता का पूर्ण अर्थ मानकर उसे अनुसरणीय कहा दिया है। उसने राज्य की महत्ता पर इतना बल दिया है कि व्यक्ति एवं उसकी उत्तरदायी कृष्ण ही गई है। बीबी के अनुसार राज्य के अधिकारियों का अधिकारों द्वारा किए गए वैधता के कारणों के लिए राज्य की जोरी नहीं बढ़ाया जा सकता, पर वास्तव में राज्य के कार्य और राज्य के अधिकारों के कारणों के साथ यह करता उचित और वास्तविक है। निम्नलिखित मान्यता राज्य का अधिकार है, किन्तु राज्य अनुरोध करता है जबकि वास्तव वास्तविक तथ्य है। इस तरह मान्यता के द्वारा समुदाय राज्य के ही कृत्य है। मत यदि कोई वास्तविक प्रश्न राज्य की अधिकारिता होने के लिए उत्तरदायी दृष्टि करना है, तो फिर ऐसा राज्य जिस पर वैधता उत्तरदायी है, वैधता उत्तरदायी के साथ ही समुदाय नहीं रख सकता, यद्यपि कि राज्य के वैधता उत्तरदायी स्थापित किए जा सकते हैं।¹ बीबी का राज्य यदि अपने अधिकारों के द्वारा के लिए उत्तरदायी नहीं है, तो वह अनुसरणीय और वास्तविक ही जाएगा, निम्नलिखित दृष्टि कि बीबी ने राज्य और समझ के बीच यह नहीं किया है। बीबी के एक ऐसे समझवादी राज्य की मान्यता करता है जो व्यक्ति के वैधता उत्तरदायी के अपने अपने विकास को सुनिश्चित कर देता है।

हॉब्सहॉब्स के अनुसार बीबी का यह बल मान्यता है कि राज्य सामान्य दृष्टि (General Will) का प्रतिफल है। राज्य व्यक्तियों के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का प्रतिनिधि नहीं होती एकता। ऐसा समझ या करता है जबकि वास्तविक दृष्टि (Real Will) ही विरोधी बन जाए। बीबी के राज्य और समझ के अन्तर को स्वीकार नहीं करता तथा अपने व्यावहारिक दृष्टि के व्यक्ति को राज्य के विरोधी कर

दिखा है। यह विचार प्रतिक्रियावादी है और मानव स्वतन्त्रता एवं प्रगति-विरोधी है। राज्य और समाज को मिल करपाने हैं निम्ने समाजवादीक मानना चलत है।

बीलाके के सामाजिक बुद्धि अथवा समझ सम्बन्धी विचारों पर प्रालेप करते हुए फ्राइबर काउन (1904 Bowles) का कथन है कि "साम्य के ऐसे सामाजिक समझ का स्थापन देना जो उनका निर्माण करने वाली व्यक्तिगत संस्थाओं से उत्पन्न स्थिति में हो मुख्यतः में एक अंधकारान्वित बोधो परास्ता है।" इसी लेखक के शब्दों में "बहि सामाजिक समझ के सिद्धान्त का दृष्टांतपूर्वक प्रयोग किया जाय तो उसका परिणाम होता राज्य की अशून्यपूर्व समाप्ति।" यद्यपि फ्राइबर हावर काउन की प्रालोचना में पूर्णतः कम है, तथापि बीलाके के विचार इस दृष्टि से अधिक परिचित प्रतीत होते हैं कि समाज के अन्तिम आधुनिक दृष्टि से पुनर्द् है। वे एक दूसरे से पुनर्द् हैं, लेकिन बुद्धि की परास्ता की स्वीकार कर लिया प्रतीत होता है। इसका नव विचार डीक है कि समाज के बिना मनुष्य बहुतर जीवन प्राप्त नहीं कर सकता मानव प्रकृति का निर्माण समाज के अन्तर्गत ही सम्भव है।

बोर्लाहे अन्तर्राष्ट्रीयवाद में विश्वास रखता नहीं करता। वह केवल राष्ट्रीय राज्य की भावना की अन्तर्गत उद्देश्य मानकर मान्य करता है जो अनुचित है। राष्ट्रीय राज्य की मान्यता का अन्तिम ध्येय (Final Goal of Humanity) नहीं माना जा सकता। बोर्लाहे मान्यता है कि सम्पूर्ण के विकास के लिये मानवता की एक दिन अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना उद्देश्य बनना ही है। राष्ट्रवाद, समुदाय राष्ट्रवाद मान्यता के अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण के प्रमाण हैं।

इन आलोचनाओं के बावजूद कोहले का आदर्शादर्श दार्शनिक में अपना प्रतिष्ठ स्थान है। उसके अन्य पण्डित और सम्यक्कारी प्रतिभा के लक्षण उदाहरण हैं। अपने पुष्प (The Philosophical Theory of the State) के कृतीय मन्तराल में उसने जीव शक्ति मैकनल का बहुत ही स्वीकार कर इस बात का उद्दिष्ट दिया कि उनका प्रतिष्ठ नवन विज्ञानी का बहुत ही अवकाश था ।

बीबीके ने सबसे बड़ी देन एक उम्मीद कहकर यह है कि वह काफी हद तक इस बात को स्पष्ट करने में सफल हो गया कि व्यावहारिक मामलों में राज्य सामाजिक योजना का प्रतिनिधित्व करता है और सामाजिक योजना केवल व्यक्ति की नैतिक योजनाओं का सांख्यिक संकलन है और कुछ नहीं। बीबीके ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि राज्य एक ऐसा संस्था है जो हमकी अधिकतम सुरक्षा प्रदान कर सकता है और चाइल्डली मिथारवाय ऐंटी-मानसिक समिति है जिसने हम यह विचार नहीं करी कि संवेधान परिनिर्वाहों और गवाह क्या है, बरिक्त यह विचार नहीं करी कि उन्हें कैसा होना चाहिए। मतदर्शनवादियों के देना बीबीके ने वही दिया, घरानु ने वही किया, हीमल और कौन्ट ने वही किया तथा बीन, जॉनने और पोल्कीने ने भी इसी परम्परा का अनुसरण किया। बीबीके ने वहीन का महत्व

इसलिए भी है कि उसने राज्य और समाज में एक गृहद घन्तर की स्थापना की है। उसके दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए बार्कर ने लिखा है कि "राज्य का हीन नीतिक किरा है, उसकी स्मृति का आधार बल है, उसकी कार्य-व्यवस्था में कठोरता है; जबकि समाज का हीन स्वतन्त्रतापूर्ण सद्व्यवस्था है, उसकी स्मृति का आधार सद्व्यवस्था है और उसकी कार्य-व्यवस्था में नवीनता है।" ⁽¹⁾ राज्य और समाज की सामन्तवाद पद्धतिवादी समझने हुए भी बौद्धिक इन दोनों में विवेक स्थापित करते हुए हीनता प्रादि विचारों की तरह हथ-उपर धकता नहीं है। वास्तव में हीनतावाद की विचारधारा के विकास में बौद्धिक का महत्वपूर्ण स्थान है। यह हीन के सिद्धांतों के प्रारम्भ करता है और उन्हें अधिक पूर्ण हीनतावाद की दिशा में विकसित करता है। उसका यह प्रयत्न हीनता, नीति, वैयक्तिक, विन तथा स्वतन्त्र के व्यक्तिवाद और उदारवाद के विरुद्ध राज्य की शक्ति को कुचर्चित करने का एक सफल प्रयास है।

हीन और बौद्धिक

(Great and Good)

हीन और बौद्धिक ये दो प्रमुख विचारक आदर्शवाद के दो छोटे का प्रतिनिधित्व करते हैं। समय की दृष्टि से जयति हीन पहले आता है, वह विचारों की कलकलता के अनुसार उसका दर्शन बौद्धिक के हीनतावादी दर्शन में अधिक स्पष्ट, सुन्दर तथा प्राथमिकता के अधिक निकट है। इन दोनों आदर्शवादियों में अनेक स्थानी पर कुछ विचार-साम्य है, किन्तु ऐसे स्थानों की भी कमी है जहाँ इनमें हीन विशेष विचार देता है।

हीन विचारों में मुख्य समझदार सभ्य में ये हैं—

1. दोनों ही विचारकों ने हीन के दर्शन से प्रेरणा ली है तथा कभी, कभी, हीनता प्रादि आदर्शवादी दृष्टिकोण से भी दोनों ही काफ़ी प्रभावित हैं।

2. दोनों ही राज्य की अधिकारी और स्वाधीनता मानते हैं जिसका उद्देश्य सभ्य का नैतिक विकास करना है।

3. राज्य को एक नैतिक सत्ता मानने के परिणित दोनों ही राज्य के विवेकपूर्ण कामों की मान्यता करते हैं जिससे अन्ततः हीन के राज्य का स्वतन्त्र तथा कार्यक्षेत्र बहुत कुछ विन होने हुए भी काफी समान है।

4. वे दोनों ही जर्मन आदर्शवादियों द्वारा कल्पित निरंकुश राजतन्त्र (Absolute Monarchy) के विरोधी हैं। स्वतन्त्रता, कार्यक्षेत्र होने के लिये दोनों ही हीन अपनी प्रतिनिधित्व के दृष्टिकोण से प्रेरित हैं।

हीन के विचारों में मुख्य अन्तर ये हैं—

1. हीन राज्य के आदर्शवादी तथा पक्ष-अपक्ष हीन वह नीतिगतों की उनके विरुद्ध विरोध करने का अधिकार देता है जिससे उनका राज्य निरंकुश समता सर्व-सत्तावादी नहीं कहा जा सकता जबकि बौद्धिक हीनतावाद विचारधारा में शिवाह करते हुए राज्य की अधिकारिता अधिकारों का स्थायी करता है।

2. दोनों दल के निरोधवादी सिद्धान्त (Detention Theory) ने विवाद करते हैं, किन्तु बोलीने दल के मनोवैज्ञानिक पक्ष (Psychological Aspect) पर अधिक बल देता है।

3. कुछ तथा अन्तर्राष्ट्रीयवादी के सिद्ध में चीन उदारवादी तथा विश्व-सम्बन्धी के प्रतिद्वन्द्व में विन्यास करते वाला है, किन्तु बोलीने हीमन से प्रभावित होने के कारण राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय सभ से सम्बन्धित होने की आज्ञा नहीं देता।

4. बोलीने का मत है कि जीवन तथा महत्तर जीवन के मध्य लईव सभ्य की भावना विद्यमान रहती है और इस सभ्य की टालना कोई सरल कार्य नहीं है। अतः किसी निश्चित व्यवस्था में सुरक्षित होने की अपेक्षा विप्लवपूर्ण अधिक है, अतः वे किसी विप्लव-सभ की स्थापना नहीं कर सकते। चीन पर विचार इसके विपरीत है।

5. बोलीने राज्य को समस्त नैतिक विषय का पराजित मानते हुए कहता है कि वह नागरिकों के प्रति नैतिक रूप से उत्तरदायी है अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के न होने पर भी नागरिकों की रक्षा करना उसका कर्तव्य है, किन्तु चीन राज्य की समस्त नैतिक विषय का एक तत्त्व मान मानता है जिसे अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों की निष्ठा के साथ शासन करना चाहिए।

बोलीने तथा हीमन (Bolshevik & Hegel)

बोलीने कई बातों में अपने कुछ चीन की समेता हीमन के अधिक निकट है। वह हीमन की भांति राज्य को पराजित महत्तर प्रदान करता है और उसे सर्वथा निरक्षर बना देता है। वह वैयक्तिक हितों की राज्य के लिए बलिदान कर देता है। कुछ एवं अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध में भी उसके विचार हीमन की ओर अधिक नुते हुए प्रतीत होते हैं फिर भी दक्षिण आजागरण और परम्परा का उस पर स्पष्ट और स्थापक प्रभाव है, इसीलिए वह कुछ और अन्तर्राष्ट्रीय अभावकता का उत्तरदायी अभावकता नहीं हीमन की तरह करता। अपने राज्य के राजनीतिक सिद्धान्त के दूसरे उत्तरदायी की मूर्ध्ति में राज्यवाद के प्रति विचार स्पष्ट सिद्ध है।

कार्ल मार्क्स

(Karl Marx, 1818-1883)

जीवन-परिचय—सांख्यिक समाजवादी विचारधारा के उत्पादक कार्ल मार्क्स का जन्म एक जुड़ी सम्पत्तिपूरी यहूदी परिवार में पश्चिमी जर्मनी के ट्रियर (Trier) शहर में 3 मई, 1818 को हुआ था। उसका पिता एक सामान्य बकील और पैसापस इतिवृत्त का और माता एक यहूदी महिला थी। मार्क्स जब केवल 6 वर्ष का था, उसके पिता ने कुछ ही कॉपीसी प्रबेतन्त्रवादी राजनैतिकों के प्रभाव में और कुछ तत्कालीन जर्मनी की सचहित्पुता से जर्मन के लिए यहूदी मत का परिहाय कर दिखाई वर्ष में दीक्षा ले ली। इस सर्व-परिवर्तन ने मार्क्स के भाव-जगत् में एक क्रांति का बीज बो दिया। उसने, जो पहले से ही धार्मिक चेतना का विरोधी था, यहूदियों की कटु घालोचना की और दलित वर्ग की वर्गीय और उत्पादन शक्तियों के अनुकूल 'मजदूर' की उतावे डाली।

मार्क्स राज्याध्यक्ष से ही उस प्रतिभावाली और बहुत सम्पत्तिवादी का। सन् 1835 में कार्ल को गेन विश्वविद्यालय में न्यायशास्त्र का अध्ययन करने के लिए भेजा गया। वहाँ एक वैधानी छात्र के रूप में उसने बहुत स्वाति प्राप्त की। लेकिन होनहार विद्यार्थी होते हुए भी वहाँ वह किसी विषय में मन लगाकर नहीं कुछ पाया। उसने सम्पत्ति की अपेक्षा एक उच्च परिवार की लड़की जेनी वान वेस्ट-फैलेर (Jenny Von Westphalen) के साथ प्रेमालाप पर अधिक ध्यान दिया। जेनी के माता-पिता अपनी लड़की का विवाह मार्क्स से करने के पक्ष में नहीं थे, लेकिन दोनों के दृढ़ निश्चय के सम्मुख उन्हें झुकना पड़ा। 7 वर्ष की छात्रा-विद्यार्थी की सहरी को पार करने के पश्चात् उसका विवाह हो गया। सन् 1836 में मार्क्स ने अपने माता-पिता की दृष्टानुसार न्यायशास्त्र के अध्ययन के लिए बर्लिन के विश्वविद्यालय में प्रवेश ले लिया। इस विषय में उसका मन नहीं लगा, यतः उसने इतिहास और सर्वशास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। वहाँ पर मार्क्स हीबेल के वर्तनशास्त्र की ओर आकर्षित हुआ। उन दिनों जर्मनी के विश्वविद्यालयों में हीबेल के वर्तन का बहुत प्रचार था और जगद्-जगद् उनके नाम से होछियाँ (Hegelians Circle) होती थी। मार्क्स विश्वविद्यालय की 'युव हिरेनिकस' (Young Hegelians) नामक लोथी का प्रमुख सदस्य बन गया। सन् 1841 में जेना विश्वविद्यालय (Jena University) के अपने डॉक्टर की उपाधि प्राप्त की। उसने वहाँ सम्पादक बनने का सम्पन्न प्रयत्न किया। यदि उसे वह काम मिल जाता तो वह निश्चित था कि मार्क्स एक सम्पन्न वैधानी सम्पादक सिद्ध होता और वर्तनशास्त्र पर उन्मत्त हमलों की रचना करता। लेकिन वह भी सत्य है कि उस वह धर्मवादी समाजवाद के जनक (Father of Proletarian Socialism) के रूप में उस ऐतिहासिक क्षण को सम्भवतः प्राप्त न कर पाता जो मार्क्स उसे निश्चिन्त रूप

के प्राप्त है और 'नव गढ़ सम्प्रदाय' 'Communist Manifesto' एवं 'Das Capital' जैसे ग्रन्थों की रचना भी न कर पाता। आध्यात्मिक पद प्राप्त करने में प्रयत्न करने पर मार्क्स ने एक चण्डाल के रूप में जर्मनी के सार्वजनिक उत्तरदायीत्वों में जान लेना प्रारम्भ कर दिया। अपने सक्रिय जीवन के प्रारम्भकाल में ही मार्क्स इस निष्कर्ष पर पहुँच चुका था कि सामाजिक तथा राजनीतिक दुश्खी का उपाय न तो कोई दार्ष्टिक मरु-विवाद से होता है और न सुन्दर सामाजिक मान्यताओं का काल्पनिक कोससाघो से ही, क्योंकि किसी भी समय में उनका अनुचित उपाय प्रतिष्ठित सामाजिक व्यवस्था की निष्ठित एवं साधारणतः व्यवस्थाओं पर निर्भर रहता है। तदनुसार उसने सामाजिक दार्ष्टिक समाज का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। उसने दार्ष्टिक ग्रन्थों की प्रवृत्ति का, उसके कमसम्बन्ध हुई पूँजीवादी व्यवस्था के विकास का तथा उसके मूल्य और वैधन निर्धारित करने के विशेष विषयों का अध्ययन किया तथा इस व्यवस्था के कारण उत्पन्न अन्याय को विरोधी वर्गों में विभाजित हो गई थी—उन विपत्ति का भी अध्ययन किया। एक और तीसरी तथा उत्तराधन के कल्पे मान के मानिक में और दूसरी और उत्तराधन की को केवल इन वर्गों एवं वर्गों की सहृदयता से मानिकों द्वारा निर्धारित व्यवस्था में कार्य करके अपना जीवन निर्वाह करती थी। उसने सीधे ही समाजवाद के मूल सिद्धान्त ईद निकाले और अपना तेज जीवन उसकी सैद्धांतिक एवं ऐतिहासिक सीमाओं करने तथा उसका दूरीय के अधिको न प्रचार करने में निर्यात।

मार्क्स 'ऐतिहासिक दार्ष्टिक' का जन्म लेना निम्नलिखित बातों सम्पादन का तथा और बाद में उसका मूल्य सम्पादन ही था, किन्तु मानिकों की प्रविष्टि-सरकार के साथ समन्धिता-नीति से वह सहृदय न ही रहा और उसने उस पक्ष से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया। उसने 6 वर्ष तक कोलोन, डेरिड, ब्रुसेल्स में अपने पक्ष के सम्पादन और व्यवस्था का कार्य किया। उसे अपना स्थान परिवर्तित इतिहास करना चाहता था कि वह राजनीति नीतियों की तीव्र प्रतीति करने के कारण राज्य की ओर से निर्धारित कर दिया जाता था।

डेरिड और ब्रुसेल्स में अपने उत्तम-मान में मार्क्स का अनेक प्रविष्टि समाजवादियों एवं उस सुधारवादियों से निकट सम्पर्क स्थापित हुआ जिनमें फार्डर शम्पराधी कैबेट (Cabet), सार्वजनिक प्रयत्नकलाधी प्रोबो (Proudhon), सामन्तवादी धराजगलभादी मैथुलिन (Malthus), आर्थिकज्ञा की हिरोन (Hieron), आर्थिकज्ञा के समन्ध मैथुलिन (Malthus) का मन्थी बुद्ध (Wolff) और फ्रेडरिक ऐंगेल्स (Friedrich Engels) चुन थे। ऐंगेल्स काफ़े के एक वर्ग उद्योगपति का पुत्र था जिसके ईर्ष्या और जर्मनी दोनों में प्रचलित थे। मार्क्स और ऐंगेल्स की मेट जून् 1844 में डेरिड में हुई और सीधे ही वह प्रगाढ़ मित्रता में परिवर्तित हो गई। वह 19वीं शताब्दी की अपने बड़ी और महत्त्वपूर्ण दार्ष्टिक मित्रता कहो जाती है। इसमें मार्क्स सिद्धान्त-निर्माता का और ऐंगेल्स उनका उपायक तथा सहस्रकर्ता था। ऐंगेल्स के उपाय के कारण ही मार्क्स नामपत्र की ओर झुकता था। ऐंगेल्स ने मार्क्स का स्थान जर्मनी पर ही केन्द्रित न कर इंग्लैंड की ओर भी आकर्षित किया तथा पूँजीवादी व्यवस्था के विरोध में दोनों ने मिलकर कार्य किया। उदाहरित ऐंगेल्स ने मार्क्स की दार्ष्टिक विचारधारा का सर्वत्र सम्पादन किया जिसके बिना वह विविध मुविषय और पुस्तकालयों में अध्ययन करके अपने समय तक 'Das Capital' के लिए 'मार्क्स' दार्ष्टिक नहीं कर सकता था। मार्क्स

है और प्रत्येक मजिदवादी व्यवस्था कुल में एक विशेष प्रकार की उत्पादन-ध्वस्तता रही है। वह सभी प्रक्रिया इन्धनमय है; परन्तु इन्धनमय प्रक्रिया के पीछे जो आर्थिक गतिशीलता रही है वे ही सामाजिक है और विचारवादी सम्बन्ध (Ideological Relations) केवल ऊपरी व्यवस्था दिखाने की है।

मानस के अपने इन्द्रियों में तीव्र मुखमूलात्मक परिवर्तन द्वारा मानस का प्रोत्थित मिश्र किया था। मानस के व्यवस्थाओं कि मन्द गति सामाजिक परिवर्तन के स्थान पर तीव्रगति से मुखमूलात्मक परिवर्तन इन्द्रियों की मन्दगति से उत्पन्न है। प्रोत्थित वर्ग वर्ग-वर्ग उत्पत्ति न कर मानस के रूप में तीव्रगति से परिवर्तन करेगा। मानस इस प्रकार प्रोत्थित उत्पत्ति और व्यवस्था ही आती है। मानस प्रोत्थित उत्पत्ति के प्रोत्थित वर्ग की उत्पत्ति की ओर बढ़ने के लिए मानस की अनिवार्य उत्पत्ति है। इसलिए प्रत्येक की नीति में बुद्धि लिए बिना मुखमूलात्मक न होकर मानसकारी होता चाहिए।

इन्द्रियों द्वारा मानस वर्ग-वर्ग की व्यवस्थाओं की मानस है। इन्द्रियों जड़ों के प्रत्येक पदार्थ की सामाजिक विशेषगुण मानता है। सामाजिक विशेष ही व्यवस्था का कारण और उत्पत्ति का मुखमूलात्मक है। मानस इसी विचारों के आधार पर वर्ग-वर्ग की उत्पत्ति उत्पन्न है। प्रोत्थित वर्ग में सामाजिक विशेष व्यवस्था वर्ग की प्रोत्थित वर्ग के साथ व्यवस्था रहता है। इसलिए के अनुसार, "मानस की व्यवस्था प्रत्येक ही बात में ही कि वह इन्द्रियमय व्यवस्था की ही परिवर्तितों में मानस, विशेषकर इस उत्पत्ति में विचारों के आधार पर मानसकारी व्यवस्था वर्ग के लिए किसी कार्यकार की नीति की आ लगे, वन् 1848 में उत्पत्ति और प्रोत्थित के सम्बन्ध में नीति के में, जो समस्त दुनिया की एक बड़ी मानसकारी बुद्धिमान वर्ग गई है, वर्ग-वर्ग की व्यवस्था के समस्त व्यवस्था का मुख मूलात्मक माना।"

मानस के रूप में कहा जा सकता है कि मानस के अनुसार इन्द्रियमय प्रोत्थितवादी का बाद, प्रतिकार और नयेवर्ग सामाजिक वर्ग है, विचार नहीं। जिस तत्त्व की ओर मानस का इन्द्रियमय प्रोत्थितवादी व्यवस्था हो रहा है वह ऐसे व्यवस्था की व्यवस्था का तत्त्व है जिसमें न कोई वर्ग-वर्ग होता और न कोई प्रोत्थित। वह सामाजिक व्यवस्था (Syntesis) होता जिसमें 'प्रतिवाद' (Antithesis) का जन्म नहीं होता। वर्गहीन समाज की स्थापना के साथ वर्ग-वर्ग की इन्द्रियमय प्रक्रिया एक आदमी।

हीमल और मानस

मानस के इन्द्रियों का वर्णन समान करने से पहले हीमल और मानस के इन्द्र के समार और मानस पर कुछ और विचार कर लेना उचित होगा। वस्तुतः इस प्राकृतिक व्यवस्थाओं का उद्देश्य कर दिया गया था जो इन्द्रियमय व्यवस्था के सामाजिक व्यवस्था के कारणवश उत्पन्न होती है, सामाजिक नीति के विचारों में बहुत अन्तर था। इसलिए के मन्त्रों के—

अस्तुत किन्ना या कहता था । इन्द्रात्मक पद्धति की भौतिकवादी व्याख्या का यह परिणाम था कि धार्मिक कल्पितों और धार्मिक राज्य के प्रतीकात्मक वर्गों से मुक्त होकर यह समझा जाए कि वर्ग समाज की एक बहुत बड़ी प्रतिक्रियावादी तथा अनुसार शक्ति नहीं है ।

‘मार्क्स ने हीमन की इन्द्रात्मक पद्धति के व्यावहारिक प्रयोग का केवल नहीं एक निष्कर्ष नहीं निकाला कि वर्गों को त्याग दिया जाए, उसका यह भी निष्कर्ष था कि हीमन ने क्रांतीवादी क्रांति और अनुपम के क्रांतिकारी विचारों का जित्त इस से विरोध किया था वह भी इन्द्रात्मक पद्धति के ध्यान में रखते हुए सम्भवा प्रमाणित होता क्योंकि वे चीजें भी उसी तरह निरोध नहीं हो सकती जिस प्रकार धार्मिक विस्वास निरोध नहीं होते । वे चीजें भी निराश की किसी विभिन्न व्यवस्था की अभिवक्ति होती हैं । मार्क्स इन्द्रात्मक पद्धति की क्रांतिकारी मानता था, इसलिए उसके लिए हीमन की साम्यवाद की पुनर्स्थापना करना जरूरी था । साम्यवादीक राज्य प्रतिष्ठन का मतलब प्रतिष्ठन समाप्तरण नहीं हो सकता । इन्द्रात्मक पद्धति के अनुसार यह आवश्यक है कि एक उन्मत्तर स्तर पर राजनीतिक क्रांति के विरोध में सामाजिक क्रांति हो ।”^१

इन्द्रात्मक भौतिकवाद का मार्क्स का सारांश

(Marx's Summary of his Dialectical Materialism)

मार्क्स का इन्द्रात्मक भौतिकवाद का निश्चित उसकी अनेक रचनाओं में विस्तार हुआ मिलता है । मार्क्स ने एक सचवरण में अपने विचारों का सारांश दिया है जो सम्पत्ता और शक्ति की दृष्टि से बेकार है । एक ही बेकार ने अपने ग्रन्थ ‘राजनीतिक दार्शनिक का इतिहास’ में न केवल उल्लेख ही किया है बल्कि इसकी विस्तारपूर्ण व्याख्या भी की है । यहाँ मार्क्स के सचवरण की बेकार की व्याख्या, दोनो का ही वर्गों का वर्ग प्रस्तुत किया जा रहा है—

सचवरण—“मनुष्य सामाजिक उत्पादन-वर्गों के बीच साम्य में एक विभिन्न प्रकार के सम्पत्त उपभोग कर लेते हैं । इन सम्पत्तों के बिना उनका काम नहीं चल सकता, परन्तु वे उपरिहारा के और मनुष्यों की उपजा पर निर्भर होते हैं । उत्पादन के ये सम्पत्त उपभोगों के भौतिक उत्पत्ति के विज्ञान की विभिन्न व्यवस्था के अनुकूल हुआ करते हैं । इन उत्पादन के सम्पत्तों के सम्पूर्ण योग से ही समाज का सामाजिक जीवन चलता है और यही सामाजिक जीवन होता है जिस पर विचारों और राजनीतिक व्यवस्थाओं का निर्माण होता है और इसी आगे के अनुकूल मनुष्यों की सामाजिक व्यवस्था निर्मित का कारण बनती है । भौतिक जीवन की उत्पादन पद्धति से ही जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और सामाजिक क्रियाओं का सामान्य रूप निर्धारित होता है । मनुष्यों का जीवन उनकी व्यवस्था से निर्धारित न होकर उनके सामाजिक जीवन में उनकी व्यवस्था का निर्माण होता है । समाज के विकास में एक

ऐसी व्यवस्था घाली है जब उत्पादन के भौतिक तत्वों और सांस्कृतिक उत्पादन के सम्बन्धों में सर्वोत्तम सम्बन्धित नियामक सम्बन्धों के बीच उनके सम्बन्धों में तत्त्व पहले से कार्यशील रहते पाए हैं, समर्थ उत्पन्न हो जाता है। दूसरे शब्दों में वे व्यवस्था उत्पादन के तत्वों के विकास में वाता उत्पन्न करने लगते हैं। एक सामाजिक क्रांति का युग आरम्भ होता है। इस प्रकार, सामाजिक नीति के बदलने से सम्पूर्ण व्यवस्था नीति हो बदल जाती है। इस परिणती पर विचार करते समय उत्पादन की सामाजिक परिवर्तनियों का भौतिक परिवर्तन जो प्राकृतिक विज्ञान की सुझाव के साथ निर्धारित हो सकता है और विषयी राजनीतिक, धार्मिक, लैंगिक सम्बन्धों तथा दार्शनिक रूपों के परिवर्तन के बीच कड़ी हो पैदा रहना चाहिए। इनके मादगी इस शर्तों की सम्बन्धें लक्ष्य है और उनके समर्थ करता है। — “किन्तु स्वतन्त्र रहना चाहिए कि कोई सामाजिक व्यवस्था जब तक किन्तु नहीं होती जब तक उत्पादन के तत्व, उनके लिए उसमें सुचारु होती है, पूर्णतया विकसित नहीं हो जाते, और उत्पादन के नए उपकरण सम्बन्ध जब तक बकल नहीं होते जब तक पुराने तत्त्वों की कोल में ही उनके क्षमता के लिए आवश्यक भौतिक परिवर्तनियों परिवर्तन नहीं हो जाती। इसलिए मनुष्य क्रांति उन्ही सम्बन्धों को अपने हाथों में लेती है किन्तु वह हम का सकती है, बलिक अधिक ध्यान से देखने पर स्थिति हमें कि कोई व्यवस्था उठती ही जब है जब उनके रूप के लिए आवश्यक परिवर्तनियों उत्पन्न हो सकती है अपना उत्पन्न होने सकती है।”

मानव के इस व्यवस्था की व्याख्या केलाइन में इस तथ्यों में की है—

“मानव ने उपर्युक्त व्यवस्था का सामाजिक विज्ञान के विषय में जो विज्ञान प्रस्तुत किया है उसमें बार सुनने करते हैं। तब, वह विभिन्न व्यवस्थाओं का अनुभव है। प्रत्येक व्यवस्था में मनुष्यों के उत्पादन और विविधता की एक विशिष्ट व्यवस्था द्वारा करती है। उत्पादन शक्तियों की वह व्यवस्था सभी विविध और उपयुक्त विचारधारा का निर्माण करती है। इस विचारधारा में विभिन्न राजनीति की शामिल है जो, सम्बन्धों के कालाधिकार सामाजिक तत्व भी शामिल होते हैं जैसे धारण, धर्म, कला और दर्शन। एक बार ही उचित के रूप में प्रत्येक व्यवस्था पूर्ण और सम्बन्धित होती है। वह एक सम्बन्धित इकाई होती है जिसमें वैचारिक तत्व उत्पादन की शक्तियों के साथ प्रकटित होते हैं। सामाजिक व्यवस्था में उत्पादन के लिए ‘कैपिटल’ के विचारधारा और ऐतिहासिक सम्बन्धों के मानव ने अपने विज्ञान की शक्ति कठोरता को कम कर दिया है। उत्पादन की शक्तियों एक ही तत्व में विभिन्न देशों में विभिन्न तरीकों से करने करती हैं। वे एक ही देश के विभिन्न तरीकों में विकसित रूपों में होती हैं। अपने पुरानी व्यवस्था के स्तरों और नई के बहुत होते हैं। फलतः एक ही व्यवस्था के विभिन्न तरीकों की विकसित विचारधारा होती है। दूसरे, सम्पूर्ण प्रक्रिया सम्बन्धित है। उत्पादन की सम्बन्धित प्रक्रिया तब पुरानी प्रक्रिया के बीच जो सामाजिक सम्बन्ध होते हैं, नही इसकी प्रत्येक शक्ति होती है। उत्पादन की नई वृद्धि साथ ही एक विशिष्ट वैचारिक विचारधारा में पाती है।

नई उत्पादन शक्ति के विकास के लिए यह आवश्यक होता है कि पुरानी वैचारिक शक्ति नष्ट हो जाए। पुरानी शक्ति की विचारधारा नई शक्ति का अधिकतम सहिष्णुता करती है। इसके परिणामस्वरूप सामाजिक अस्थिरता और अशांति नहीं बढ़ जाती है कि वे दृढ़ते जाते हैं। उत्पादन की नई व्यवस्था के अनुकूल ही एक नया सामाजिक ढांचा पैदा हो जाता है और उसकी अपनी सामाजिक स्थिति के अनुसार अपनी एक नई विचारधारा बन जाती है। इस नई विचारधारा का पुरानी विचारधारा के साथ संबंध होता है। विकास का साधन बन नहीं रहता है। उत्पादन की नई व्यवस्था के अनुकूल ही एक नवीन विचारधारा बनती है जिससे पुरानी विचारधारा के साथ संबंध होता है। इस संबंध के परिणामस्वरूप एक भाव विचारधारा का उदय होता है और यह बन जाती रहता है। तीसरे, वास्तविकी के अभाव और इसके विरुद्ध की शक्ति वैचारिक विचारों की तुलना के मध्य महत्वपूर्ण होती है। शैक्षिक व्यवस्था शैक्षिक दृष्टिकोण सर्व सामाजिक व्यवस्था सामाजिक होती है। इसके विपरीत वैचारिक व्यवस्था सर्व सामाजिक व्यवस्था सामाजिक होती है। इसका अर्थव्यवस्था यह नहीं होता कि वैचारिक व्यवस्था का अर्थव्यवस्था नहीं होता व्यवस्था के सामाजिकता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, उनका सामाजिक व्यवस्था सामाजिक होता है, केवल सर्व-कारण सामाजिक नहीं। यह वेद ही हीनता की व्यवस्था के सामाजिकता व्यवस्था बढ़ता की वैधुत्व के बीच है। अन्तर्गत यह है कि सामाजिक व्यवस्था के उदय पर शैक्षिक व्यवस्था के वैधुत्व सामाजिक है। चौथे, इन्द्रियत्व शक्ति अनुकूल होने की सामाजिक व्यवस्था है। व्यवस्था की सामाजिक शक्ति नहीं पुरी शक्ति विकसित हो जाती है। इसके बाद उनमें इन्द्रियत्व विकसित होता है। चूंकि विचार सामाजिक अपनी व्यवस्था सामाजिक सामाजिक व्यवस्था के सामाजिक विकास की ही उद्देश्य करती है, यह, व्यवस्था के अपनी व्यवस्था पर की व्यवस्था अन्तर्गत होती है उनकी व्यवस्था की और नहीं गुणों पर सर्व ही व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था है। इन सामाजिक व्यवस्था पर कोई सामाजिक व्यवस्था नहीं विकसित।"

इन्द्रियत्व शैक्षिकव्यवस्था की सामाजिकता

(Criticism of Dialectical Materialism)

सामाजिक का समुदाय सर्व सामाजिक इन्द्रियत्व शैक्षिकव्यवस्था के अन्तर्गत पर होता है, सामाजिक व्यवस्था के एक सामाजिक के सामाजिक विचारों की व्यवस्था के नहीं की व्यवस्था नहीं होता है। सामाजिक के इन्द्रियत्व की सामाजिकता के सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत पर होता है —

१. वेद के अनुसार—“इन्द्रियत्व की व्यवस्था सामाजिक गुण एक व्यवस्था है। इसकी सामाजिक के नहीं की व्यवस्था नहीं होता है।”^१ इसमें यह सिद्ध करने का उद्देश्य नहीं होता है कि सामाजिक व्यवस्था सामाजिक होता है। लेकिन वे इस व्यवस्था के नहीं है कि सामाजिक के सामाजिकता का सामाजिक किंवदन्ती सामाजिक के इन्द्रियत्व

भौतिकवाद को नहीं अपनाया जा सकता। अस्तुतः, मार्क्स का इन्द्राज्य ही भौतिकवाद का अन्त हो रहा नहीं है। ऐतिहासिक तथा अन्य बड़े साम्यवादी लेखक अपनी रचनाओं में इसे स्पष्टीकृत करते हैं तथा सभी स्तरों पर इसे निष्पात करने का प्रयत्न करते हैं, लेकिन विस्तृत रूप से वे नहीं उसकी विवेचना नहीं करते।

2. सामान्य रूप से यह माना जा सकता है कि संपूर्ण मानवीय विषयों में महत्वपूर्ण मान दिया जाता है, किन्तु इसे एक विशिष्ट-व्यक्ति निम्न मानना समया ऐतिहासिक विचार में उस मानक-व्यक्ति का भेद देना न उपयुक्त है और न आवश्यक है। केन्सुइस के अनुसार, "इन्द्राज्य वस्तु ही मानव विकास के इतिहास में मुख्यवान् शक्तियों का निर्धारण करता है, तथापि मार्क्स का यह दावा स्वीकार नहीं किया जा सकता कि सार का अनुसंधान करने के लिए यही एकमात्र शक्ति है।" केवल एक प्रकार मानव-वादी ही हैर्न के दावे के सम्मुख होने, उससे इच्छा उठाने और सार में हैर्न पैदा होने में इन्द्राज्य की बीजा के दर्शन कर सकता है तथा अनुसंधान की यह दावे का निवेद और दावे की उत्पत्ति को यह 'निवेद का निवेद' समझ सकता है। लेकिन एक सामान्य व्यक्ति के लिए हैर्न के बीजे के विकास में प्रयत्न ऐसी ही किसी अन्य किताब में नहीं लपका है और न कोई विरोध इसलिए कोई डाढ़ नहीं है। ऐसी पटन को को बिना इन्द्र को सहजता के भी नहीं प्रसार सम्भव या सकता है।

3. मार्क्स ने भौतिकवाद को अपनी शक्तियों का आधार माना है; किन्तु सत्कार का विचार उत्पादन शक्तियाँ (Productive Forces) ही हैं, वह कैसे मान लिया जाए? यह सही है कि सामुहिक रूप से विकास की शक्ति भौतिकता की ओर उन्मुख है, लेकिन सर्वव्याप्तिक विकास की ध्यान में रखने से विरहित होना कि मनुष्य का उद्देश्य सर्वव्यक्तिक या भौतिक शक्ति ही नहीं रहा है। हीमन ने इन शक्तियों की सामुहिकता माना था और यह कहा था कि इन्द्राज्य द्वारा सत्कार का विकास भौतिकता से सामुहिकता की ओर हो रहा है। मार्क्स ने हीमन के इन्द्राज्य को सत्कार के सामुहिकता के स्तर पर उसकी भौतिकता में परिवर्तित कर दिया है, किन्तु यह स्पष्ट नहीं किया है कि 'सामुहिक शक्तियाँ' (Spiritual Forces) के स्थान पर उत्पादन शक्तियाँ (Productive Forces) कैसे अधिक गयी हैं। केवल यह कह देने मात्र से तार्किक शक्ति नहीं हो जाती कि हीमन सार पर, उसका सिद्धान्त सार के सार सार था। इस सम्भावना से इनकार नहीं किया जा सकता कि सार के भौतिकवादी विकास का एक बार पुनः सादरवाद प्रयत्न सामुहिकवाद की ओर उन्मुख हो सकता है। वर्तमान इतिहास के सिद्ध एत सम्भावना के सहमत हैं।

"सामुहिक, स्वेचर, सीरोकिव और भारत के भी सारवाद ने इन्द्राज्य में सार की ओर के सार ही इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सत्कार का सामुहिक भौतिकवाद उन सीमों पर सार के एक ही ओर सार में पहुँचे हैं। सीरोकिव उन्हें 'Super Systems' कहता है जिसके अनुसार सत्कारवाद (Ideative),

आदर्शवाद (Idealistic) और विज्ञानवाद (Scientific) के युग में समाचार एक वृत्त में घूमते रहते हैं। जब एक तत्त्व सामने पड़ता है तो बाकी के दो पीछे चले जाते हैं पर अस्तित्व दोनों का रहता है। बायीं-बायीं से प्रत्येक की प्रमाणाता का गुण पड़ता है और विकास तीनों के बीच का परिणाम होता है। प्राचीन भारत के सांस्कृतिक-दर्शन द्वारा प्रतिपादित इन्द्रवाद का सबसे प्राचीन सिद्धान्त इन तीनों को तत्त्व, तत्त्व के रूप में व्यक्त करता है और दुष्टी के साधारण पर भारतीय दर्शन में सभी तक पहुँचने सिद्धान्त की मान्यता है। श्री धर्मदत्त की मूर्ध्ति के विकास के बाद तत्त्वों की बीच इसी आधार पर है। ये हैं प्राथमिक तत्त्व, माध्यमिक तत्त्व, जीवन तत्त्व और भौतिक तत्त्व (Spirit, Mind, Life and Matter)। ये चारों तत्त्व पुनरावृत्ति करते हुए इन्द्रायमक प्रति से प्रसरण होते हैं और विकास की प्रति एक देश के बहिष् की भाँति हो जाती है जो अपने स्थान पर चरकर काटती हुई घाने बहती है। जिस प्रकार मानस ने सत्त्व के विकास हेतु भौतिकता का विकास और जीवन ने माध्यमिकता का विकास प्रभावक माना है, उसी प्रकार श्री धर्मदत्त ने चारों तत्त्वों का विकास पुनः-प्रवृत्ति का उद्देश्य माना है। ये चारों ही तत्त्व भावपूर्ण तत्त्व हैं और पूर्णत्व की अवस्था, वह है जिसमें इन चारों का समन्वय होता जिसमें प्राथमिक तत्त्व की प्रमाणता होती। भौतिकता ही केवल एक अवस्था की अवस्था है जिसमें उसका अधिक विकास हो रहा है। इसके बाद प्राथमिक युग का प्रादुर्भाव होता और वह उसका अधिक विकास दृष्टिपूर्वक होता है।

4. मानस की मान्यता है कि पदार्थ केन्द्रवाचक नहीं होता, बल्कि एक आन्तरिक आकाशमयता के कारण उसका विकास स्वयं ही होता है और वह अपने विरोधी की जगह देता है, किन्तु मानस की यह मान्यता ठीक नहीं है। वह नहीं कहा जा सकता है कि पदार्थ अपनी चेतना के कारण अपने विरोधी तत्त्व की जगह दे सकता है। वास्तविकता यह है कि पदार्थ ने परिवर्तन बाधा प्रति की द्वारा होते हैं। इस विरोध परिस्थिति के प्रभाव में न तो कोई का बीच बीच के रूप में परिवर्तित हो सकता है और न पीछा पछा बीचों में। इसके अतिरिक्त एक पक्षर मुँदा पक्षर हो रहता है। अन्तर्निहित प्रतिबीमता के कारण उसका परिवर्तन नहीं होना और यदि एक विधि के लिए वह मान भी लिया जाए कि जगहों में परिवर्तन आन्तरिक प्रतिबीमता के कारण होता है तो वह मानने का कोई कारण नहीं दिखाई देता कि वह विकास विरोधी तत्त्वों में अर्थ के द्वारा होता है।¹

5. अनुसन्धेक का कथन है कि भौतिकवादी सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य परिवर्तित और विज्ञान के अनुसार बलका है। इस प्रकार मनुष्य में परिवर्तन परिवर्तितियों में परिवर्तन के कारण होते हैं, किन्तु इन कथनों की आलोचना करते हुए मानस बिलका है कि अनुसन्धेक यह भूल जाता है कि परिवर्तितियों में परिवर्तन मनुष्य के द्वारा ही होता है। माने मानस कहता है कि "मनुष्य अपने इतिहास का स्वयं निर्माण करता है यद्यपि यह ऐसा स्वयं की खुशी हुई परिवर्तितियों के द्वारा नहीं करता।" इस प्रकार इन दोहों हैं कि मानस ने अन्तर् इन्द्रायमक भौतिकवाद का

मे ऐजिप्त् के शुरु को स्वीकार करते हुए अपने समाजवादी सिद्धान्त को 'उन्माद सिद्धान्त' (Our Theory) को मजा दी है। हमने कोई सन्देह नहीं कि ऐजिप्त् की सहायता के बिना मे मार्क्स का जीवन सम्भवतः अपनी फासीबिरा ही समाप्ती में ही बीत जाता। बीत बहुत अपने वर्तमान रूप में मरार के लम्बे नहीं था पा पाता।

बेरिग में रूढ़कर मार्क्स ने हीबल के विधिशास्त्र के विरोध में रचित अपने प्रामोक्षणात्मक विचार में लिखा कि 'जर्मनी की भुक्ति में सर्वप्रथम जर्मन जीवन-गण का कार्य करेगा। इससे प्रथमा की सरकार बड़ी बूढ़ हुई। यदि ही सरकार की रण-कठोर विरोध-रथ भेजा गया जिसके परिणामस्वरूप मार्क्स को बेरिग में निष्कासित कर दिया गया। वहीं में वह कुवेरल गया वहाँ वह साम्यवादी नीग (Communist League) का प्रारम्भ कर दिया। वहीं पर मार्क्स और ऐंगेल्स ने मिलकर सन् 1847-48 में साम्यवादी नीग के कार्य के प्रकार के लिए सुत्रसिद्ध 9-9 'Communist Manifesto' तैयार किया। उसने साम्यवादीक प्रामोक्षणात्मक, साम्यवादी, दुरोहितवादी और पूर्वोक्त की विभिन्न-विभिन्न शाखाओं की प्रामोक्षणात्मक कर-कर-मर्क के लक्ष्य में इतिहास की व्याख्या द्वारा क्रान्ति का मार्ग सुस्पष्ट किया और यूरोप में साम्यवादी लक्ष्य को हितात्मक क्रान्ति के लिए प्रोत्साहित किया। सन् 1848 की क्रान्ति में मार्क्स ने अपने रण के माध्यम के लक्ष्यवादीक साम्यवादीक राजनीति की प्रामोक्षणात्मक की और कर-कर-मर्क तथा सैनिक प्रतिरोध का समर्थन किया। वह क्रान्ति में भाग लेने के लिए स्वयं भी बेरिग गया, लेकिन वह वहाँ देर में पहुँचा और तब तक क्रान्ति विरोधी प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो चुकी थी। क्रान्ति का राजनीतिक शाखावरण अपने विद्वानों के प्रतिकूल पाकर वह जर्मनी पहुँचा क्योंकि उसका विचार था कि जर्मनी में क्रान्ति के लिए अधिक अनुकूल शाखावरण है। वहाँ उसने एक प्रारम्भ क्रान्तिवादी रण 'The New Rhenish Times' प्रकाशित किया जो केवल 6 नाम ही बन गया। राजनीति के कारणों से मार्क्स पकड़ा गया और निर्वासित प्रथमा में पश्चिमी यूरोप में प्रपन्ना हुआ प्रारम्भ सन् 1849 में सन्दर्भ में कर गया। उसने अपने जीवन के लेख 34 वर्ष वही विद्वान् जिसमें प्रारम्भ प्रतिक्रियात्मक रण वही परिणाम में होता। "उपमा जीवन प्रतिक्रियात्मक, एक क्रान्तिवादी विद्वान् के प्रारम्भ प्रतिक्रियात्मक हुआ प्रथम सन् 1864 में जो प्रथम साम्यवादी प्रतिक्रियात्मक रूप प्रकाशित हुआ उसकी प्रमुख प्रतिक्रिया मार्क्स में ही मिली और तब से साम्यवादी प्रतिक्रियात्मक का वही प्रमुख नेता रहा। सन्दर्भ प्रथम प्रथम प्रथम-प्रथम से उसके अपने लेख जीवन में प्रकाशित लेख, साम्यवादीक प्रतिक्रियात्मक, प्रथम-प्रथम एक रण-प्रथम द्वारा प्रथम प्रथम में साम्यवादी प्रतिक्रियात्मक तथा साम्यवादी प्रथम-प्रथम के प्रतिक्रियात्मक लेख के रूप में अपनी प्रतिक्रिया प्रथम रही।" सन्दर्भ रूढ़कर ही प्रतिक्रियात्मक प्रथम के प्रथम प्रथम का वही अनुकूल कर उसने 'Das Capital' के तीन प्रथम प्रथम 'प्रतिक्रियात्मक प्रथम के प्रतिक्रियात्मक' के तीन प्रथम की प्रथम प्रथम की।

1. **संज्ञा :** अर्थपूर्ण वाक्यांश के रूप में, पृष्ठ 41.

मानव समाजवाद पर कार्य करता हुआ जर्मन में ही सन् १८४३ में ऐक्यनैतिक विचार गया। इनका व्यापक प्रभाव उसकी मृत्यु के बाद भी आरम्भ रहा। यह निश्चय है कि आज भी जहाँ करोड़ों व्यक्ति इसे अपना ही तरह चुनते हैं वहाँ करोड़ों मनुष्य इस रास्ते बढ़कर उसकी निष्ठा करते हैं। प्रथम विश्व युद्ध के परिणामस्वरूप समाजवाद में अनेक नवीनी मतधाराएँ के उत्पन्न हो जाने पर भी मानववाद का प्रभाव अधूनम्ल रहा। साम्यनैतिक समाजवाद तथा साम्यवाद दोनों का सम्मिश्रण एक ही मूल जोर से हुआ।

रचनाएँ (Works)—मानव ने अपने जीवनकाल में प्रचुर रचनाएँ की हैं—

1. The Poverty of Philosophy (1847)
2. The Communist Manifesto (1848)
3. The Critique of Political Economy (1859)
4. Inaugural Address to the International Working Men's Association (1864)
5. Value, Price and Profit (1865)
6. Das Capital (1867)
7. The Civil War in France (1870-71)
8. The Gotha Programme
9. Class Struggle in France.

मानव के सभी ये दार्शनिक निर्यात 'ईविट्य' हैं जो पूँजीवादी वर्ग-सत्ताधीन तथा असाधन-व्यवस्था का विस्तृत विस्लेषण करते हुए उसकी अनिवार्य परिणति की ओर संकेत करता है। मानववाद का पुरा परिचय इसी ग्रन्थ में मिलता है। इस पुस्तक की समाजवादी साहित्य पर सर्वश्रेष्ठ प्रायोगिक ग्रन्थ, साम्यवादी सिद्धान्तों की व्यापारविद्या, अधिजी की का सर्व-ग्रन्थ (Bible of the Working Class) तथा अधिजी का दिमाग ठहरा करने वाला पुस्तक (Prescription for Tranquillisation of the Bourgeois Mind) कहा जाता है। इस ग्रन्थ का मूल विचार है कि "उत्पत्ति के साधनों के केन्द्रिकरण के फलस्वरूप मजदूरों का स्वाधीनकरण उस स्थिति पर गर्वित होता है कि पूँजीवादी वर्ग ने उसका फल नहीं देखा। यह हींवा वह साधारण बात फिर जाता है किन्तु अतिरिक्त सम्पत्ति की समर्पित हो जाती है, हीमल करने वाले राज्य बर सिद्ध होते हैं, पूँजीवादी युग की अत्यन्त औद्योगिक समाज का निर्माण होता है किन्तु अधिजी और उत्पत्ति के साधनों पर सामूहिक स्थापित होता है।"

मानव का दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'Communist Manifesto' साम्यवादी युद्धों और उत्पत्ति उत्पत्ति का मूलधार है जिसमें 'कर्मकर वर्ग' (Proletarian Revolution) की परिणतिवादी की गई है। इस इतिहास-वर्णित ग्रन्थ का पहला भाग ही यूरोप के उत्पत्ति के अन्तर्गत न भव का संसार कर देता है—"साम्यवाद का मूल अन्तर्गत पर में उत्पत्ति हो रहा है। इस युद्ध की अन्तर्गत के निम्न तीन चीजें उत्पत्ति, उत्पत्ति और हीमल, उत्पत्ति के अन्तर्गत की ओर आसुत सब मिल गए हैं, उत्पत्ति

रह सकता हो या रहा है।" उसके अन्तिम शब्द की अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए मन्द है—"दुनिया के मजदूरों, सहजित हो जाओ। अपनी बेहिमी और दावता के विनाय गुप्त कुछ नहीं छोड़ो। एक नई दुनिया प्राप्त करो।" यह अन्त साम्यवादियों के लिए आज भी प्रामाणिक बना हुआ है।

मार्क्स का 'Critique of Political Economy' आर्थिक सिद्धान्तों का दूसरा ग्रन्थ है। यूरोपीय इतिहास तथा आर्थिक-व्यवस्था पर 'Civil War in France', 'Class Struggle in France', 'Revolution and Counter-Revolution' आदि ग्रन्थ हैं। कार्यक्रम सम्बन्धी ग्रन्थ 'Critique of the Gotha Programme' ने मार्क्स ने यह स्पष्ट लिखा है कि एक सर्वत्र कार्यक्रम और कार्यरत रहने की कार्यरत आर्थिक रूप ने आन्दोलन की बढ़ावा अधिक होकर है।

मार्क्स ने अनेक लेख, सम्बन्ध, गुप्तपत्र, समाद, अन्तर्राष्ट्रीय, लिख्य आदि भी लिखे।

मार्क्स के स्रोत-स्रोत (The Sources of Marx's Thought)—मार्क्स के आर्थिक तथा वैज्ञानिक आधारों का प्रकार के कामें यह है—एक ही इतिहास की भौतिकवादी या आर्थिक व्याख्या (Materialistic or Economic Interpretation of History) जिसके लिए उनके दार्शनिक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) का प्रयोग किया; दूसरा वर्ग-युद्ध का सिद्धान्त (Theory of Class Struggle) जो मानव इतिहास का एकमात्र आधार सिद्ध तथा परिवर्तन प्रदान है, एवं तीसरा अधिकृत मूल्य का सिद्धान्त (Theory of Surplus Value) जो पूँजीवाद की अन्ततम व्याख्या करते हुए अर्थियों की उनके सामर्थिक प्रतिकारों से परिचित कराता है। मार्क्स ने सर्वप्रथम वर्ग के अधिकृत तथा नियन्त्रण का महत्त्व समझा करते हुए वर्ग के बीच का आर्थिक मार्ग समझा दिया है। अपने विचारों में यह भौतिक तथा आर्थिक है, लेकिन आर्थिक, ऐतिहासिक, आर्थिक विचारों में यह अपने गुण के अनुकूल रूपों से प्रभावित हुआ है।

मार्क्स पर सर्वप्रथम की अर्थ आर्थिक होना और फीडबैक (Feedback) का प्रभाव रहा। होना से मार्क्स ने यह विचार ग्रहण किया कि इतिहास का नियन्त्रण और पुनर्निर्माण किया हो रहा है, किन्तु अपने इसे एक नया निर्देश दिया जो होना से भिन्न था। होना के अनुसार इतिहास 'पूर्ण विचार का ही प्रतीक-रूप' (Realisation of the Absolute Idea) है और इसके विकास में स्थिर, सत्त्वता, स्थिर तथा विकासता सम्बन्धी विचार प्रधान रहे हैं विचार आर्थिकता और अनुभव से गुप्त प्रदान है। होना ने दार्शनिक-व्यक्ति (Dialectical Method) द्वारा इतिहास का निर्देश दिया है। मार्क्स ने भी इतिहास का निर्देश दिया है और दार्शनिक-व्यक्ति की प्रवृत्ति है, किन्तु दोनों के निर्देश में अन्तर्गत अन्तर है। होना ने इतिहास का आर्थिक-व्यक्ति निर्देश दिया है अर्थ मार्क्स का निर्देश भौतिक है अर्थ मार्क्स व्यक्ति द्वारा हुआ है। इस मार्क्स ने उनके मानववादी

(Humanitas) मनुष्यत्व के दर्शन के बहुत सहायता मिली वहीं होमन के अनुयायी प्रकृति विचारों (Abstract Ideas as Subject and Object) का प्रतिपादन करते थे, वहीं उद्यम 'मै' और 'दुम' मूल प्रारम्भों का प्रयोग हीमन के पाठ्यक्रम के स्थान पर मानववाद का प्रतिपादन किया, किन्तु मनुष्यत्वक न पानी निवारण का दियान्वित नहीं किया। वास्तव में यह कार्य मानव द्वारा शुरू हुआ किन्तु दर्शन के विकास पर व्यवहार को प्रधानता दी। मानव के सामाजिक इतिहासों में दो प्रतीक स्पष्ट हैं—ग्राम, मानव का दर्शन हीमन के दर्शन की तरह इतिहास का दर्शन है। हीमन यह मानता था कि यूरोपीय इतिहास जर्मन राष्ट्र के उदय द्वारा पराकाष्ठा तक पहुँचा। मानव का निवास था कि सामाजिक इतिहास सर्वद्वारा वर्ग के उदय व पराकाष्ठा तक पहुँचा। अतः, हीमन के अनुयायी उद्यम का साधन राष्ट्रीय के बीच युद्ध था, किन्तु मानव के अनुयायी यह वर्ग-वर्ष था। मानव पर हीमन के प्रभाव की जाँच दृ. सेवादन (Service) में इन सभी में प्रकट किया है—

“मार्क्स का दर्शन दो दृष्टियों से होमन के दर्शन से मिलता था । मार्क्स ने होमन की उन्मात्तक चरित्र को सामन रख और उसकी वास्तविक स्थितिवा (Economic Determinism) के रूप में व्याख्या की । विचार सामाजिक परिस्थितियों पर निर्भर होते हैं, होमन के चिन्तन के यह धारणा कुछ बिजने हुए रूप में मिलती है । मार्क्स ने इन धारणा को कमजोर किया और उसे आधुनिक चिन्तन से प्रतिष्ठित स्थान दिया । होमन के दर्शन के उदात्ताचार विरोधी तत्त्व मार्क्स के कथनार में समाविष्ट हो गए ।”³

सैबानन ने ही एक घण्टा स्वयं पर लिखा है, "होमन के विचारों ने इन्धानम विचार्य सीपेशन कर रहा था, मार्क्स ने घादरेवादी ज्ञानिना दूर करके उसे साङ्कृतिक सिपति के पीछे के मत पर खड़ा किया। मानव न अपने स्वयं Das Capital के प्रथम भाग की सुनिषा में स्वीकार किया है कि उसका प्रथम इन्धान 'होमन के न केवल मित्र है, वलिक उक्ता ओक उपद्रव है।' मोरवे ने नि सन्देह होमन के किमन के लान उक्ताया, किन्तु होमन की बल्लो को उक्ते उक्ता का लो प्रदुष्ट नहीं किया। उक्ते होमन के विमन का कायकाकल्य कर उसके विद्वान के दन पापुता को निमान दिया कि एन्डु के साङ्कृतिक इतिहास की कारण इन्धान होती है, उक्ते एन्डु के सुपर्य के क्वात पर नर्भ-नर्भ की कारण को प्रस्तुत किया। इस प्रकार मानव ने होमनवाद की विविधताओं का प्रपहरण कर दिया। के निवेपताएँ थी—एन्डुवाद, एन्डुवाद तथा ज्ञानि-निरीवी स्वर। उक्ते होमनवाद को ज्ञानिवादी उपवाद का एक नया घोर जलिकवादी दर्शन कता दिया। मार्क्सवाद 19वीं जलिकी के दमनत उक्तावाद का घोर विर दुक्क नदलनशील परिकरवी बहिष्ट साङ्कृतिक कायवाद का प्रवर्तक बन गया।" 2

साथ ही वर कीर्तीश्री समाजवादी का भी समर्थन प्रभाव पड़ा। बट गैट साइमन,

कार्ल कोरियर, प्रूथी आदि की विचारधारा से पूर्ण परिचित था। यद्यपि मार्क्स की भक्ति ही सेट साइमन भी वह अनुभव करता था कि मार्की सोशलिज्म बुद्धि के महत्व और उसकी सम्भावनाओं को केवल उनके धार्मिक निवेदनण द्वारा ही सही रूप में समझा जा सकता है, और यद्यपि मार्क्स कोरियर का विश्वास था कि एक नवीन समाज की-रचना के लिए मानव सम्भाव में परिवर्तन के लक्षण मनुष्य की आध्यात्मिक स्थितियों में सुधार की आवश्यकता है, तथापि मार्क्स कल्पनाविधियों की अपेक्षा 19वीं सताब्दी के प्रारंभ की साम्यवादी परम्परा और कैबेट (Cabet) के साम्यवाद की और अधिक आकर्षित हुआ। वह कैबेट के ग्रंथ अधिक सहानुभूतिपूर्ण था। वह इस बात से स्पष्ट है कि ब्रूक्स ने रचाना 'Communist League' की मार्क्स और ऐंग्लिस के 'समाजवादी' की अपेक्षा 'साम्यवादी' कहते अधिक उपयुक्त समझा। कैबेट के अनुसंधान ही मार्क्स का भी विश्वास था कि समाज के स्थायी पर राज्य का निष्पत्ति होता चाहिए। सेट साइमन न धन के महत्व को स्पष्ट किया था और बताया था कि धन करने वाले का ही अधिकार रहन का अधिकार है और वा धन नहीं करते तथा दूसरों के धन पर निर्भर रहन है उनका विचार होता चाहिए। सर्वोच्च समाज की स्थापना का विद्वान् मार्क्स ने उन्ही विचारों के अध्ययन द्वारा प्रतिपादित किया। प्रूथी और विहॉलिन इन दो सर्वशुभावर्ष के विचारका ने भी मार्क्स की कार्य प्रभावित किया था। प्रूथी के ग्रन्थ 'Philosophy of Poverty' का प्रस्तुत में मार्क्स ने 'Poverty of Philosophy' ग्रन्थ की रचना की जिसका उद्देश्य समाजवादी दर्शन विचारधारा को 'वैज्ञानिकी' स्वरूप देना था। मार्क्स पर ब्रिटिश समाजवादीयों और कार्यवाहियों ने भी नवीं शीघ्र तक अपना प्रभाव डाला। पौलसन, हीनरिक तथा अन्य ब्रिटिश समाजवादीयों ने धन की मूल्य का एकमात्र स्रोत बताया। इन कारणों का प्रभाव मार्क्स के अतिरिक्त श्रम (Surplus Value) के विद्वान् पर स्पष्ट दिखाई देता है। जे (Geyer) के अनुसार सामान्य व्यक्ति के लिए मार्क्स का अतिरिक्त श्रम का विद्वान् रैमार्की के श्रम-विद्वान् के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मोहन (Owen) की वह धारणा कि चरित्र परिवर्तण (Enlightenment) की सृष्टि है, मार्क्सवादी विद्वान् की एक सुनिश्चित पूर्वधारणा है।

— इस प्रकार वह कहना उपयुक्त होता कि पु'सोवाद की नियम लेवल परस्पर का घीन कर औद्योगिक क्रान्ति के दुष्परिणामों की दूर करने के लिए मार्क्स ने जिन विद्वानों की 'साम्यवाद' के नए नाम के समुद्र किया, के हीमत, पशुपदेक, एडम स्मिथ, रिचार्ड, सेट साइमन आदि के विचारों से प्रभावित है। मार्क्स ने अपने मत की पुष्टि के लिए इन विचारों का बार बहुत किया और सम्भावित करने के लक्षण अपने विचारों की लॉजिक दृष्टि के सिद्ध करने के लिए अपना प्रयोग किया। इन सिद्धे हुए विचारों की एकत्रित कर उनमें सर्वसम्बन्ध (Logical Coherence) उत्पन्न की। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि मार्क्स ने अपने विद्वान् की आत्मपक्ष और वैज्ञानिक बताया। जो मार्की के शब्दों में "मार्क्स के साम्यवाद की सम-व्यवस्था स्थिति में जाता और उसे एक साम्यवाद का रूप दे दिया। उनके द्वारा

उसे एक दर्शन मिला और एक विचार मिली।" निःसन्देह मार्क्स के विचारों की एकदम मौलिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि "उसके विचारों का आधार बहुत से सातों ने छोड़ा था सकता है। उसने अपनी ईश्वर को घनेक स्थानी से एकन किया था।" किन्तु हमने "हम उसे द्वितीय भेग्ली का दार्शनिक नहीं कह सकते और न ही हमने उसका महत्त्व कम होता है।" मार्क्स की उक्तिों का बहुतेक उनकी मौलिकता नहीं बल्कि उत्प्रेरकत्वकता है।

मार्क्स का वैज्ञानिक समाजवाद (The Scientific Socialism of Marx)

मार्क्सवादी समाजवाद को नाम: प्रोलेटारियत समाजवाद (Proletarian Socialism) तथा वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific Socialism) के नाम से सम्बोधित किया जाता है। मार्क्स अपने समाजवाद की इसलिए वैज्ञानिक कहता है कि वह इतिहास के अध्ययन पर आधारित है। उसके पहले आइज़न, पोरियर तथा प्रोबन का समाजवाद वैज्ञानिक इसलिए नहीं था क्योंकि वह इतिहास पर आधारित न होकर केवल कल्पना पर आधारित था। केयर के शब्दों में, "कहींके केवल सुन्दर गुनाह के बजाये लिए के, गुलाब के पौधों के लिए जमीन तैयार नहीं की थी।"

मार्क्स का दर्शन बड़ा विराट् तथा सुस्पष्ट है। कैटलिन (Catalin) के अनुसार समाज जातिकारी कर्म वर्ग-वर्ग के विद्वान्त पर स्थित है; वर्ग-वर्ग प्रतिष्ठित नृत्य के धार्मिक विद्वान्त पर, धार्मिक विद्वान्त इतिहास की धार्मिक व्याख्या पर, व्याख्या मार्क्स-हीनत्व के इन्द्रियमक पर और इन्द्रियमक भौतिकवादी व्याख्यात्मक विद्या पर स्थित है। वह तरह स्पष्टता मार्क्स की विचारधारा के आधार-तन्त्र पर है—

- (1) इन्द्रियमक भौतिकवाद (Dialectical Materialism)
- (2) इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या (Materialistic Interpretation of History)
- (3) वर्ग-वर्ग का विद्वान्त (Theory of Class Struggle)
- (4) धार्मिक नृत्य का विद्वान्त (Theory of Surplus Value)

के शरीर सम्प्र, जिन पर मार्क्स ने अपने दर्शन का भवन निर्मित किया है, एक दूसरे से जुड़े हुए हैं तथा उनसे विचारधारा की एक प्रतिष्ठापन इकाई है।

इन्द्रियमक भौतिकवाद (Dialectical Materialism)

मार्क्स मार्क्स का सम्पूर्ण राजनीतिक दर्शन इन्द्रियमक के विद्वान्त पर आधारित है। इसी विद्वान्त के आधार पर उसने इतिहास के परिवर्तन और अध्ययन का भौतिकवादी दर्शन, वर्ग-वर्ग और साम्यवाद की रचनाया आदि के विचार निर्धारित किए हैं। इन्द्रियमक भौतिकवाद मार्क्स के दर्शन की वह आधारभूत है जिसका

साथ ही कमरे साम्यवादी लेने हैं। 'Short History of the Communist Party of the Soviet Union' में प्रविष्ट कथ के अनुसार कहा है कि "इन्द्रवाद की प्रकाश से वह प्रत्येक स्थिति के प्रति नये दृष्टिकोण बना सकता है, सामयिक घटनाओं के सामाजिक सम्बन्धों को समझ सकता है, उनकी दिशा की जान सकता है और वह न केवल यह जान सकता है कि वे वर्तमान में किस प्रकार और किस दिशा में चल रही हैं, बल्कि यह वह भी देख सकता है कि अधिक में उनकी दिशा क्या होगी ?"।

यह सोचकरना प्रामाणिक न होना कि मानवों का इन्द्रवाद अपने इन्द्रमयक भौतिकवाद हीनत्व के इन्द्रवाद पर आधारित है बल्कि हीनत्व के इन्द्रवाद की मानवों के विरुद्ध प्रकाश कर दिया है। हीनत्व ने समाज की गतिमय तथा परिवर्तनशील प्रकृति के रूप में विशालता (World Spirit) या सामुदायिक मानव-तत्त्व की उत्पत्ति निवारक कारण माना था। उनके अनुसार दृष्टि के विभिन्न स्तर पर घटनाओं का ज्ञान का प्रमाण वह प्रत्यक्ष मानव-व्यक्ति द्वारा ही सम्भव था। हीनत्व बुद्धिवादी या और सामाजिक आधारों प्रकाश कर दिया था। परिवर्तन का कारण दृष्टि के वर्तमान प्रकृति के निरन्तर परिवर्तन का प्रकाश कर दिया। पुरानी चीजें समय बाकर नष्ट होती हैं और उनकी जगह नई चीजें उत्पन्न होती हैं, यह वह निरन्तर प्रकृति रहता है। हीनत्व ने इन्द्रमयता के मानवों होने वाले बुद्धि का 'बाल्य में होना' (Being), 'बाल्य में न होना' (Non-being) और 'बाल्य में जाना' (Becoming) के रूप में 'वाद' (Thesis), 'प्रतिवाद' (Antithesis) और 'संश्लेषण' (Synthesis) की प्रकाश की। इस विषय भी प्रकृति (Abstract) विचार की 'वाद' के प्रारम्भ करते हैं। स्वाभाविक रूप के विचार में विरोध (Contradiction) उत्पन्न होता है जिसे हम 'प्रतिवाद' कहते हैं। वाद और प्रतिवाद में इन्द्र के प्रकाशकन सम्बन्ध ही जाता है जिससे एक नवीन विचार की उत्पत्ति होती है। इसे हीनत्व समाजवाद या समाज संश्लेषण (Synthesis) का नाम देता है—नयी नवीनता वाले बनकर एक 'वाद' ही जाता है जो फिर 'प्रतिवाद' का रूप ग्रहण करता है तथा अपने नवीनता द्वारा पुनः एक नया विचार उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह रूप निरन्तर चलता रहता है। इस प्रक्रिया में पहले किसी वस्तु का निषेध (Negation), तत्पश्चात् निषेध का निषेध (Negation of Negation) होता है जिसके द्वारा एक उत्पन्न वस्तु संश्लेषण में जाती है। "यही चर्चा में इन्द्रमयता विरोधी वस्तु का प्रकाश है। विकास विरोधी वस्तु के बीच कथों का परिवर्तन है।"—हीनत्व ने ऐतिहासिक और सामाजिक परिवर्तनों के प्रति अपने इस नवीन दृष्टिकोण के कारण यह निष्कर्ष निकाला कि इन्द्रवाद प्रकाशों की केवल श्रुति मात्र मान नहीं है बल्कि विकास की एक प्रक्रिया है और विरोध प्रकाश केवल प्रेरक सिद्धांत है।

मानव हीनत्व के इन्द्रवाद के प्रामाणिक प्रमाण द्वारा, लेकिन अपने हीनत्व के प्रकाशवाद की प्रकृति के द्वारा। मानव कट्टर भौतिकवादी या, ऐतिहासिक

उनका भौतिकवाद इन्द्रजमक भौतिकवाद कहलाता है। वहीं हीमन के इन्द्रजमक भौतिकवाद का आधार विचार (Idea) है और समस्त जगत् एक निरपेक्ष विचार (Absolute Idea) की प्रविष्टिगत है, वहीं मार्क्स के अनुसार विचार नहीं, बल्कि भौतिक पदार्थ ही इन जगत् का आधार है। भौतिक जगत् की वस्तुएँ तथा घटनाएँ परस्पर व्यवस्थित हैं। भौतिक जगत् ने परिवर्तन होता रहता है—कुछ प्रकृतिक शक्तियाँ विकसित होती हैं, कुछ नष्ट होती हैं जो कुछ की पुनर्प्राप्ति होती हैं। यह विकास-क्रम निरन्तर चलता रहता है। मार्क्स यह भी कहता है कि विकास की पुष्कलूमि में समस्त प्राकृतिक पदार्थों में एक साम्प्रदायिक विरोध रहता है, जिससे भौतिक जगत् का विकास होता है। इनके तीन तत्त्व होते हैं—कर्म, प्रतिकार और समतुल्य का प्रसार। इन प्रकार मार्क्स का भौतिक इन्द्रवाद का सिद्धान्त विकासवाद का सिद्धान्त है। उदाहरणार्थ, यदि पेड़ के दल (फल) के इन्द्र का सम्बन्ध करें तो यह कहेंगे कि उसका विकास हो रहा है। इन तत्त्वों में पाठ देने से हमका मत स्पष्ट हो जाता है यह सचुर के रूप में उभरती है, सचुर भी अपनी स्थिति पर कसई नहीं रहता, उसका विकास एक नष्ट-प्राप्ति चक्र के रूप में होता है। इन तत्त्वों-पुष्कलूमि का परिणाम यह होता है कि एक पेड़ के दल के विकास में प्रायः अधिक मात्रा होती है। विकास का पूरी इन्द्रजमक सिद्धान्त भौतिकवादी है। यदि पेड़ का बीज 'वाद' है तो बीज उनका 'प्रतिकार' है और बीज का नष्ट होकर नई बीजों का जन्म 'समतुल्य' है। यहाँ तो समस्त विकास के बीजों के रूप में जन्म-मरण रहता है यह कहेंगे न हीकर प्राकृतिक है।

विरोधताएँ

मार्क्स के भौतिकवादी इन्द्रजमक सिद्धान्त की विमर्शित विरोधताएँ हैं—

प्रथम विरोधता यह है कि यह प्रकृति की सामाजिक एकता की हुई परतुष्टी का नष्ट नहीं मानता। प्रकृति का प्रत्येक पदार्थ एक दूसरे से सम्बन्ध तथा परस्पर निर्भर है। इन प्रकार इन्द्रजमक सिद्धान्त निम्न में प्राकृतिक सामाजिक एकता का नष्ट करता है। मार्क्स के इन्द्रजमक सिद्धान्त की दूसरी विरोधता वस्तुओं की परिवर्तितता है। भौतिक पदार्थ परिवर्तित नहीं हैं। प्रकृति के प्रत्येक कण, यहाँ तक कि रेत के छोटे से छोटे कण से लेकर सूर्य जितने बड़े तत्व परिवर्तित हैं और उनके परिवर्तन होता रहता है। प्रकृति में निम्न प्रति इन्द्र के आधार पर परिवर्तित होते रहते हैं और वे परिवर्तित बीजों से ऊपर की और ऊर्ध्वगामी होते हैं। प्रकृति के इन्द्र के आधार पर पदार्थ विकासमूल है। ग्रीक पदार्थों का निर्माण बीज प्राचीन का विकास विकास-क्रम है। यह-मार्क्स का इन्द्रवाद परास्पर जगत् के सम्बन्धी व्यवस्था के साथ जीवन की परिवर्तितता का सम्बन्ध-ही है। इन्द्रवाद की तीसरी विरोधता यह है कि परिवर्तन सामाजिक एवं पुरातात्विक बीजों के आधार के होते हैं। पेड़ के एक सचुर का बीज बीजों में परिवर्तित हो जाता यदि सामाजिक परिवर्तन है तो विरोध के विरोध (Negation of Negation) प्रायः बीजों का नष्ट में परिवर्तित होना पुरातात्विक परिवर्तन है। प्रकृति के भौतिकवादी, पुरातात्विक-बीज एवं भौतिकवादी-बीजों के नष्ट में परिवर्तित

प्रतिपादन किया है, उसानि यह स्पष्ट इन विरोधी विचारों में भटक गया है कि मनुष्य परिस्थितियों का निर्माता करता है अथवा परिस्थितियाँ मनुष्य का निर्माता करती हैं।

6. मार्क्स के इन्द्रावाद व विकास की दृष्टि पशुवत् है और ज्ञानि ही विकास का हेतु है। ज्ञानि यदि इन्द्रिय तरीकों से भी नहीं आए तो भी समाज अपनी उन्मादप्रवृत्तियों को शास्य करेगा। लेनिन के अनुसार अपने ही प्रतिष्ठों को एक बार पहचान लेने के बाद उसे खींच करके उस ज्ञानि को जिसे धारण में हमारे बर्तन नये हैं, कुछ ही वर्षों में लाया जा सकता है। इन तरह समाज की उन्मादप्रवृत्तियों के लिए ज्ञानि की जरूरत सीमा को ध्यानरहित मानने का परिणाम बर्तक और हिमा का प्रतिपादन प्रयोग हुआ है। निम्न ज्ञानि प्रतिपादन ही, ऐसी बात नहीं है। श्री अरवि का विचार है 'अज्ञानवाद' (Agnosticism) की दृष्टि पहचान कर उसका निराकरण करते रहना और 'आदर्श' (Idealism) की दृष्टि का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं 'अज्ञेयवाद' (Gnosticism) की अवस्था स्वतः या सकती है। उन्होंने समाज के विकास की दो भागों में बाँटा है—अज्ञेय और अज्ञेय। मनुष्य के दोषों तक का विकास अज्ञेय है क्योंकि अज्ञेय प्रारंभिक समाज के अज्ञेय से अज्ञेय होते हैं। "इसलिए वे अज्ञेयताप्रवृत्तियों में प्रवृत्ति की इन्द्रात्मक परिधि में अज्ञेयता प्रवृत्तियों हैं।" किन्तु मनुष्य अपनी आत्मा और विकास के अज्ञेय से परिचित है, वह उसके विकास के लिए ज्ञानि जल्दी नहीं है। इसके लिए तो आवश्यक यह है कि यह इस ज्ञानि का निराकरण कर समाज में अज्ञेय दृष्टि की परिभाषित करे। "एक प्रकार सामाजिक जीवन में 'एकता में अज्ञेयता' और 'अज्ञेयता में एकता' के सिद्धान्त के अनुसार इस ज्ञानि की उत्पत्ति समाज अज्ञेयताप्रवृत्तियों में प्रारंभिक नकल है। ज्ञानि समाज का अज्ञेय नहीं है, बर्तक प्रारंभिक की अज्ञेयताप्रवृत्तियों के कारण यह प्रवृत्ति की 'विशेष आवश्यकता' (Crucial Necessity) है और उसके बचा जा सकता है।"

मार्क्स के इन्द्रात्मक भौतिकवाद की आलोचना के संलग्न में यह नहीं भूल जाना चाहिए कि मार्क्स का इन्द्रात्मक भौतिकवाद में अनुसंधान दर्शन-प्रवृत्तियों के रूप में नहीं था। उन्होंने उसका केवल इसलिए उपयोग किया क्योंकि उसे अपने कार्यक्रम को प्रस्तुत करने के लिए यह सुविधाजनक मान्य हुआ। उन्होंने इसे अज्ञेयता, वैश्विक हीनता की प्रवृत्तियों में विद्यमान आदर्शवाद के रूप का प्रतिपादन कर दिया क्योंकि आदर्शवाद के प्रति उसे कोई आस्था नहीं थी।

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या

(Materialistic Interpretation of History)

- मार्क्स का द्वितीय महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या है। मार्क्स ने इन्द्रात्मक भौतिकवाद की व्याख्या से अपने समाजवाद की एक वैज्ञानिक विवशताप्रवृत्तियों प्रदान की और उसका प्रयोग ऐतिहासिक तथा सामाजिक विकास की व्याख्या करने में किया। इतिहास की इन्द्रात्मक भौतिकवादी व्याख्या को उनके ऐतिहासिक भौतिकवाद (Historical Materialism) या 'इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या' (Materialistic Interpretation of History) की कहा जाये।

8.3.4 शास्त्रात्मक राजनीतिक विचारों का इतिहास

इस विद्वान्त के नामकरण पर विचार करते हुए प्रो. बेरर ने कहा है कि "इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के विद्वान्त के अन्तर्गत मार्क्स ने जो कुछ कहा है उनके लिए वह नाम अत्युत्तम है। इस विद्वान्त की भौतिकवाद नहीं कहा जा सकता क्योंकि भौतिक शब्द का सर्व सम्बन्धन पर्याप्त होता है जबकि इस विद्वान्त में मार्क्स सम्बन्धन पर्याप्त की कोई बात नहीं करता। इस विद्वान्त के अन्तर्गत मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध में कहा है कि यह परिवर्तन व्यापक कारणों से होता है। अतः मार्क्स के विद्वान्त का नाम इतिहास की व्यापक व्याख्या (Economic Interpretation of History) होना चाहिए था।" अतः इतिहास की व्यापक व्याख्या नामकरण ही अधिक उपयुक्त है क्योंकि मार्क्स के अनुसार भौतिक वस्तुएँ जो इतिहास के विकास में निर्धारक तत्व हैं, वे वास्तव में उत्पादन शक्तियाँ हैं। मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद का मुख्य तत्व है, 'व्यापक नियतिवाद' (Economic Determinism) अर्थात् भूगर्भ जो कुछ करता है उसका निर्धारण व्यापक या भौतिक कार्यों द्वारा होता है। भूगर्भ जहाँ कब से व्यापक शक्तियों का दाग है। उत्पादन की शक्तियों के तीन चीजें सम्मिलित हैं—(1) प्राकृतिक तत्त्व अर्थात् भूमि, जलवायु, मृत्ति की उर्वरा शक्ति, खनिज पर्याप्त, जल, विद्युत् शक्ति आदि, (2) मशीन, यन्त्र एवं यन्त्रों के विद्यमान में मिली हुई उत्पादन कला, तथा (3) इन विशेष में मनुष्यों के मानसिक तथा नैतिक गुण। उत्पादन के विकास के साथ मानव-बुद्धि में उत्पन्न मशीन, यन्त्र और उत्पादन-कला भूगर्भ की प्रकृति पर विजय प्राप्त करने में व्यापकशक्ति प्राप्त होते हैं। दाँदे भौतिक वस्तुओं के नाम से सम्मिलित करना और यह कहना कि ऐतिहासिक प्रवाह की निवृत्ति में भूगर्भ का कोई भाग नहीं होता, भाषा का अनुचित प्रयोग है। सम्भवतः मार्क्स ने 'इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या' नाम इसीनिष्ठ दिया होगा क्योंकि यह ऐतिहासिक विद्वान्त में अपनी धारणा को हीमेनिजम धारणा से व्यापकशक्ति भिन्न रखना चाहता था। हीमेनिजम अर्थात् 'सादरवादी' थी, जबकि मार्क्स अपनी व्याख्या को 'भौतिकवादी' सिद्ध करना चाहता था। इसी कारण जबकि मार्क्स अपने विद्वान्त को इस ईशवादी (Idealism) आधार पर अत्यन्तव्यक्त करता चाहता था कि ऐतिहासिक विकास मानव-बुद्धि और भौतिक पर्यावरण की सादरवादी शक्ति-प्रतिष्ठा का परिणाम है, उसने इसी व्याख्या की प्रयोग किया जिससे यह प्रत्यक्ष हो गया कि उनके अनुसार मानव इतिहास की कल्पना की केवल भौतिक पर्यावरण ही निर्धारित करता है। ऐतिहास में इस निवृत्ति को यह कहकर और भी विवृत कर दिया कि मानव-मानव (The study of man) भौतिक विश्व का ही एक भाग है क्योंकि यह भौतिक वस्तुओं पर केवल प्रतीक द्वारा ही किया कर सकता है।

विद्वान्त की व्याख्या

भूगर्भवादी व्याख्या की सम्बन्धित दृष्टि—उत्पन्न सन्दर्भित मार्क्स ने इतिहास में जोया। इसीनिष्ठ उसने इस विद्वान्त की इतिहास की भौतिकवादी धारणा का आधार का नाम दिया है जिसके अनुसार समस्त ऐतिहासिक घटनाओं की, जीवन की

भौतिक व्यवस्थाओं के सुन्दर में व्याख्या की जा सकती है। मानस कहता है—“बंध सम्बन्धी और साथ ही राज्य के ऊँचे को न स्मृत, उनके द्वारा समझा जा सकता है, न ही मारक-वर्तिलय की सामान्य प्रवृत्ति द्वारा उनकी व्याख्या की जा सकती है, बल्कि वह दो जीवन की भौतिक व्यवस्थाओं के मूल में स्थित होती है। . भौतिक जीवन में उत्पादन की विधि जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और साम्प्रदायिक विधियों के सामान्य स्वरूप का निरूपण करती है। मनुष्यों की चेतना उनके प्रतिष्ठित का विषय नहीं करती, बल्कि उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना का विषय करता है।” प्रत्येक देश की राजनीतिक व्यवस्था उसकी सामाजिक व्यवस्था, उसके व्यक्तित्व, उद्योग और कला दर्शन और रीतिरिवाज, धारणाएँ, परम्पराएँ, विषय, धर्म और नीतिकथा, मानस के अनुसार जीवन की भौतिक व्यवस्थाओं द्वारा प्रभावी रूप प्रदर्शित करती है। जीवन की भौतिक व्यवस्थाओं से उसका सामान्य वातावरण, उत्पादन, वितरण और विनिमय से है और इससे भी उत्पादन सर्वाधिक बहुमुखी है। इस सिद्धान्त के अनुसार, “सामाजिक और राजनीतिक अन्तिम जीवन की भौतिक व्यवस्थाओं के कारण प्रवृत्ति उत्पादन तथा वितरण के तरीकों में परिवर्तन के कारण होती है, एवं तथा व्यापक के अनुसार विचारों या भवमान की दृष्टि के कारण नहीं। उनके कारण उनके मूल की सामाजिक व्यवस्था से पार्श्व जा सकते हैं, उनके दर्शन से नहीं। मनुष्यः सामाजिक उत्पादन के प्रत्येक चरण के अनुसार एक समुचित राजनीतिक स्वरूप और समुचित वर्ग का आकार है।” इसलिए मानस का दर्शन वह ऐतिहासिक सिद्धान्त है जो विकास के सामाजिक रूप को उद्घोषित करता है।

मानस अपने सिद्धान्त को विशेषतः दो चालियों पर लागू करता है, एक को मूलकाल की और दूसरी अन्तिम की। मूलकाल की चालि सामन्तवादियों के विरुद्ध चालीया वर्ग की थी। मानस के अनुसार वह चालि की चालि में दुष्टिनीचर हुई। मानस ने विश्व भावी चालि की अन्तिमकाली की है, वह दुष्टिनी के विरुद्ध सर्वद्वारा वर्ग की होती है। “वह अन्तिम समाजवादी कॉमनवेल्थ (Socialist Commonwealth) की स्थापना करेगी।” मानस के अनुसार जिस चालि से दुष्टिनी वर्ग ने सामन्तवाद को मरणावादी किया था, वही वर्ग दुष्टिनी वर्ग के विरुद्ध प्रयुक्त होने लग गए है।

मानस के सिद्धान्त का विशेषतः निम्नलिखित जीवनियों के सम्बन्धित किया जाना उपयोगी होगा—

(1) जीवन की सामाजिकता—मानस अपने ऐतिहासिक नीतिकथाव का कारण इस सामान्य तथ्य से करता है कि ‘मनुष्य की जीवन रखने के लिए जीवन की सामाजिकता है।’ मानस वह मानकर जाता है कि व्यक्ति की जीवन रखने के लिए जीवन साम्य करना चाहिए और इसलिए मनुष्य का जीवन बहुत कुछ इस तथ्य पर निर्भर है कि वह किस प्रकार उस मनुष्यों का उत्पादन करे कि वह बहुविध से जाहूँ है। इस तरह कमसे कम किताब-कथाओं की सामाजिकता उत्पादन से जाहूँ है। मनुष्य का अस्तित्व इस बात पर निर्भर करता है कि वह प्रकृति से अपने लिए सामाजिक मनुष्यों का उत्पादन कर पाने में कहीं तक सफल होता है ?

(ii) उत्पादन की शक्तियाँ—यह यह है कि जब मनुष्य को सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनों के विस्तारिक कारकों की धीरे-धीरे जीवन की भौतिक स्थितियों में कमी आती है कि परम्परागत या विस्थापन की नीतियों अपना सामर्थ्य खो देती हैं। जीवन की समृद्धि धारणियों में, जो फिर जीवन की भौतिक वस्तुओं में परिवर्तन का प्रभाव बना है ? वे भौतिक वस्तुओं जिन्हें मानव ऐतिहासिक विकास के लिए निर्धारक मानता है, उत्पादन की शक्तियाँ हैं। मानव के मनुष्यत्व मानव और सामाजिक इतिहास को निर्धारित करने वाली वे शक्तियाँ सामाजिक हैं, सामाजिक प्रणाली राजनीतिक नहीं। किसी युग की सामाजिक और राजनीतिक समस्याएँ तथा मनुष्य उत्पादन के साधनों की उत्पत्ति होती है। मानव के ये शब्द कि "जीवन के भौतिक साधनों के उत्पादन की प्रकृति सामाजिक, राजनीतिक तथा बौद्धिक जीवन की मनुष्य प्रकृति की स्थिति निर्धारित करती है, मनुष्य की केवल उनके परिवर्तन को निर्धारित नहीं करती बल्कि उनको सामाजिक चेतना को निर्धारित करती है," इस बात को स्पष्ट करते हैं कि सामाजिक कारक मनुष्य उत्पादन की शक्तियाँ प्रत्यक्ष रूपसे मनुष्य का निर्धारण करती हैं। इसी से वे केवल सामाजिक ही नहीं बल्कि सामाजिक विचारों और दर्शन की कल्पना का भी विभव होता है। मानव के मनुष्यत्व यह विचार आम है कि सामर्थ्य, ज्ञान, धर्म, मानवता, राजनीयता आदि मनुष्य धारणियों सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं। जगत् केवल यह है कि उत्पादन की शक्तियाँ उत्पादन के सम्बन्धों की स्वरूप प्रदान करती हैं और उत्पादन के सम्बन्धों पर सामाजिक सम्बन्धों तथा दर्शन का हीना बड़ा होता है। जैरिक ऐतिहास के अर्थों में, "इतिहास के प्रत्येक क्षण में सामाजिक उत्पादन और विचारों की प्रकृति तथा तत्परिणित सामाजिक प्रणाली यह प्रमाण प्रदान करते हैं जिस पर उत्तर निर्धारण होता है और केवल इसके द्वारा ही उन्हें युग के राजनीतिक और बौद्धिक जीवन की प्रकृति को जान सकते हैं।" इतिहास में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जिससे यह सिद्ध होता है कि एक युग में उत्पादन और विचारों की प्रणाली में परिवर्तन के मनुष्य सामाजिक, राजनीतिक और सामाजिक सम्बन्धों में भी परिवर्तन हुए हैं।

सामाजिक विचारों में 'सामाजिक परिवर्तन का सामर्थ्य सिद्धान्त' बताते हैं कि मानव उत्पादन की शक्तियाँ (Productive Forces) और उत्पादन के सम्बन्धों (Relations of Productions) में विभेद करता है। उत्पादन की शक्तियों में प्राकृतिक सामर्थ्य, मशीन तथा औजार, उत्पादन करना और मनुष्य की मानविक तथा नैतिक शक्तियाँ सम्मिलित हैं जिन्हें सामाजिक शक्ति के सामर्थ्य तथा नैतिक शक्ति कहा जा सकता है। इन 'उत्पादन की शक्तियों' के आधार पर सामाजिक और राजनीतिक हीना बड़ा किया जाता है। यह सामाजिक और राजनीतिक हीना मनुष्य के परम्परागत सम्बन्धों को निर्धारित करता है और इसी परम्परागत सम्बन्धों को मानव ने 'उत्पादन के सम्बन्ध' कह कर चुकाया है। श्री एन्ड्रयू (Prof. E. Andrews) ने अपने पुस्तक 'आज का दिन' (Today's Issue) में यह मुख्य विचार

है कि इन उत्पादन के सम्बन्धों की 'सामाजिक संस्थाएँ' (Social Institutions) कहा जाना चाहिए ।

(iii) परिवर्तनशील उत्पादन-शक्तियों का सामाजिक सम्बन्धों पर प्रभाव — मानव के सम्बन्ध में, "जीवन के भौतिक साधनों की उत्पादन-वृद्धि सामाजिक, राजनीतिक तथा बौद्धिक जीवन की सम्पूर्ण विधा निर्धारित करती है ।" निरन्तर परिवर्तित होती रहने वाली उत्पादन और उत्पादन-शक्तियाँ सामाजिक सम्बन्धों में भी परिवर्तन करती हैं । यही कारण है कि "दस्तावेजित मनो के युग में हमें साम्यवादी समाज दिखाई देता है और साम्यवाजित मनो के युग में औद्योगिक पूँजीवादी समाज की स्थापना होती है ।" इस प्रकार हम देखते हैं कि यही द्विगुण वृद्धि में समस्त परिवर्तनों के 'वीर्य' आत्मा की ही प्रमुख शक्ति मानवता या यहाँ मानव के अनुसार सामाजिक व्यवस्था का एक रूप से दूसरे रूप में परिवर्तन उत्पादन के साधनों के अनुसार होता है ।

मानव का विश्वास है कि उत्पादन एवं उत्पादन-शक्तियों का विकास समानांतर चलता है और हरिष साधनों द्वारा इस विकास की गति में प्रचल करने पर स्वाभाविक रूप से सकट उत्पन्न हो जाने का भय रहता है । इस प्रकार का सकट पूँजीवाद में उत्पन्न होता है क्योंकि उत्पादन जब सीधे ही कम-शक्ति से अधिक हो जाता है तो मानव की कोई मानवता न रहने के कारण पूँजीवादि उत्पादित मानव को नष्ट कर देते हैं और मानवता की रीति लेकर पुनर्जीवन करने के लिये उसे 'कान्ति' अधिक दामी पर देखते हैं । मानव की मान-वृत्ता है कि ऐसा सकट समाजवादी व्यवस्था में उत्पन्न नहीं होता क्योंकि इस व्यवस्था में उत्पादन मानव के लिए नहीं बल्कि सामाजिक मानवसम्बन्धों की पूर्ति के लिए होता है ।

(iv) उत्पादन एवं उत्पादन-शक्ति के विकास की इन्द्रजाली भावना — मानव कहता है कि उत्पादन और उत्पादन-शक्ति के विकास का एक निश्चित नियम है जिसकी द्राष्टि इन्द्रबाद से हो सकती है । उत्पादन की व्यवस्थाओं में परिवर्तन जब तक चलता रहता है जब तक उत्पादन की सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था नहीं आ जाती । इन्द्रबाद के साक्षर पर मानव इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इतिहास के विषय में दत्त निष्कर्षात्मक रूप से समाजवाद की ओर अनुसृत है । इस तरह मानव का यह ऐतिहासिक भौतिकवाद डेयर (Weyper) के सम्बन्ध में, "एक साम्यवादी विज्ञान है जो मानव की उत्तरोत्तर प्रगति में विश्वास रखता है जिसमें अन्तिम रूप से मानव की निजता होती है ।"

(v) जातिक व्यवस्था और धर्म — मानव के अनुसार, "धर्म धर्मपूर्ण जातिक व्यवस्था का प्रतिबिम्ब मात्र है और वह जातीय के लोके के लक्षण है ।" दत्तक धर्मिष्ठ है कि ऐसे समाज में यहाँ मनुष्यों की मानवसम्बन्धी पूर्ण नहीं होती और धर्म धर्म व्यवस्थाओं द्वारा रहता है यहाँ धर्म ही अन्तिम आधार होता है । धर्म के लोके में व्यवस्था दुःख-दुःख मूल आती है और दुखी समाज की स्थापना करने लगते हैं । मानव धर्म का पूर्णतया खण्डन करते हुए केवल उत्पादन पर ही धर्मधिक बना देता है ।

(ii) इतिहास की अनिवार्यता से निश्कास—हीनत और मानस दोनो ही का इतिहास की अनिवार्यता से निश्कास है। दोनों ही की सम्बन्ध है कि इतिहास का निर्माण मनुष्यों के प्रयत्नों से सम्बन्धित प्रयत्न का होता है। इतिहास के प्रवाह की मानक-प्रमाणों द्वारा रोका नहीं जा सकता। दूसरे शब्दों में मानस इस बात पर निश्कास करता है कि “उत्पादन की क्रियाओं के अनुसृत जिस प्रकार के उत्पादन-सम्बन्धों की आवश्यकता होगी, वे सम्बन्ध ही पैदा होंगे। मनुष्य के मन में केवल इतना ही है कि वह उनके मन में कुछ निश्कास कर दे या अपने प्रयत्नों के उन्हें कुछ जोड़ दे जाए।”

(iii) इतिहास का सात-विभाग—मानस के इन्द्रियिक भौतिकवाद के सिद्धान्त के अनुसार इतिहास की सात प्रत्येक व्यवस्था वर्ग-सम्बन्ध का इतिहास है। इतिहास की सात प्रत्येक परिवर्तन सांख्यिक साधनों का परिवर्तन है। मानस उत्पादनसम्बन्ध सम्बन्धों सम्बन्धों सांख्यिक साधनों के आधार पर इतिहास को सात-विभागित करके निम्न में विभाजित करता है—

- (1) प्राथमिक साम्यवाद का युग या प्राचीन साम्यवाद (Primitive Communism)
- (2) दास युग (Slave Society)
- (3) सामन्तवादी युग (Feudal Society)
- (4) पूँजीवादी युग (Capitalistic Society)
- (5) समाजवादी युग (Socialistic Society)

प्राथमिक युग की मानस प्राथमिक साम्यवाद की शता देता है जिसमें मनुष्य कदमूल, फल या पिकार आदि के द्वारा जीवन-निर्वाह करता था। मनुष्य तब कृषि, मनुष्यत्व आदि से परिचित नहीं था। समाज में वर्ग-भेदता नहीं थी। दूसरे शब्दों में, प्राथमिक समाज वर्ग-सम्बन्धों से रहित था बल्कि इसमें प्राथमिक व्यक्ति स्वयं उत्पादन और स्वयं उपभोग करता था।

दास-युग में कृषि में मनुष्य मनुष्यत्व युग और कृषि-वर्गों का विकास होने के कारण व्यक्तिगत सम्पत्ति विकसित होने लगी। कृषि-युग के समाज की सम्पत्ति में सामन्ती वर्ग का जन्म हुआ। इस तरह का समाज दो वर्गों में विभाजित हो गया। एक वर्ग जो भूमि और सम्पत्ति का स्वामी था और दूसरा जिसे उसने अपना दास बना लिया था। दास-वर्ग के काम दास की उत्पादन होता था उसका उपभोग स्वामिनी वर्ग करने लगा। इस तरह समाज में सम्पत्ति: धनी-निर्धन का जोषक और गोपित, अधिकारयुक्त और अधिकारविहीन का वर्ग-भेद सामने आया। वर्गों के प्रतिष्ठान में आते ही सम्बन्ध साम्य हो गया।

सम्बन्धों के सम्बन्धों एक वर्गों साम्यवाद व्यवस्था के साम्यवादी युग का जन्म हुआ। इस समाजों के दास में साम्य था गया। उन्होंने अपने साम्यवाद को भूमि प्रदान की, बदले में साम्य दास की सांख्यिक एवं वैयक्तिक सहायता देने लगे। छोटे-छोटे विभाग साम्यों के भूमि लेकर छोटी करते के और बदले में

उनकी समझ देखेंगे। सामन्त-वर्ग स्वयं भी कुल्हो के अपनी भूमि पर काम लेता था और बदले में उन्हें कुछ केंद्रन दे देता था। उत्पादन के साधनों का स्वाधिकार सामन्ती के हाथ में था, लेकिन उत्पादन-क्रिया में बाकी पर उनका पड़ते जैसा मार्गनाम नहीं रहा। वे उन्हें सरीर या बेच सकते थे, किन्तु उनका बच नहीं कर सकते थे। सामन्तवादी युग के समाज में लोगों पर राजा का स्वाम्य था, उनके नीचे पड़ते हुए वर्ग के सामना होते थे और सबसे नीचे किसान होते थे जिन्हें 'सर्क' कहा जाता था और जिसकी रक्षा दानों के कोई विशेष व्यवस्था नहीं थी। इस व्यवस्था में भी एगुन वर्ग के सामन्त और कुल्हो के दो वर्ग थे और दोनों का स्वयं स्वाधिकार था।

सामन्तवादी भगवानकेले पर पूँजीवाद का विज्ञान भयान निमित्त हुआ। यह वैज्ञानिक युग था। इसका निमित्त कर्मों का स्वयं व्यवसायिक कर्मों के ले लिया। सभी कर्मों के निर्माण के साथ बड़े-बड़े उद्योग-धंधों का विकास हुआ और उत्पादन अधिक गुण बढ़ गया। विचारकत्व कर्मों की प्रतिस्पर्धा के न हिल जाने के कारण मनुष्य और मनुष्य ही गए। वे उद्योग-धंधे पीछे-पीछे उन व्यक्तियों के विचारों के जाने लगे जिसके पास मनुष्य वर्गों के लिए पूँजी थी। इस प्रकार उत्पादन के कारण पूँजीपति वर्ग के हाथ में चले गए और समाज दो भागों में विभक्त हो गया— (1) सम्पत्तिवादी व्यक्तियों का पूँजीपति वर्ग, और (2) सम्पत्तिहीन श्रमजीवियों का श्रमिक वर्ग। पूँजीपती वर्ग ने श्रमिकों की व्यवस्था का अनुचित नाम उठाया और उनका भारभूत बोधण किया जिसके अनुसार पूँजीपति दिन प्रतिदिन अधिक सम्पत्तिवादी बनते गए और श्रमिक दिन-बदिन निर्धन होते गए। श्रमजीवियों द्वारा श्रमिक वर्ग का मनुष्य ही एक नवीन व्यक्ति का आह्वान करता है।

मार्क्स का विश्वास है कि पूँजीपतियों के व्यापक बोधण के कारण श्रमिकों ने आन्दोलन उत्पन्न होनी और वह उनके वर्गों के बीच अपने एक ऐसी शक्ति को जान देना जिसमें पूँजीपति वर्ग की विविध रूप के द्वारा होनी और निरन्तर श्रमिक वर्ग का उत्पन्न करने। इन वर्गों में पूँजीवाद 'वर्ग' (Class) है और उनकी श्रमिकों की 'प्रतिवाद' (Antithesis)। इनके 'संश्लेषण' (Synthesis) के एक 'वर्ग-निहीन समाज' (Classless Society) प्रतिष्ठान में आएगा किन्तु इस मार्क्स विचार के अनुसार के पूर्व, एक अन्तर्महान्वीय युग आएगा जिसमें 'श्रमजीवी वर्ग' का प्रतिस्पर्धक (Dialectic of the Proletariat) स्वाधिकार होगा। उत्पादन के उत्पन्न कर्मों का सामाजिकता कर दिया जाएगा। श्रमजीवी वर्ग का प्रतिस्पर्धक और निरन्तर समाज तब तक स्थापित होगा जब तक कि वह पूँजीपति वर्गों का पूर्ण विनाश नहीं हो जाएगा। इनके विनाश के बाद श्रमिक वर्ग का प्रतिस्पर्धक समाज हो जाएगा और वैज्ञानिक समाज की स्थापना होगी। इस व्यवस्था समाज में राज्य का मोन हो जाएगा नवीन वर्ग-वर्गों के विचार के साथ ही राज्य की कोई आवश्यकता नहीं होगी। इस 'वैज्ञानिक और वर्गहीन समाज' (Scientific and Classless Society) में 'वैज्ञानिक व्यक्ति अपनी बोधकतापूर्ण कार्य करेगा और अपनी आवश्यकतापूर्ण कार्य करेगा।' यह व्यवस्था स्थापित रूप और चीज में सभी तक नहीं था नहीं है।

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के इस नाम-विभाजन के मूल में मानने की यह धारणा निहित है कि जब तक पूर्ण उत्पादन की स्थिति नहीं आती, सभी समाज नष्टमते रहेंगे। प्रत्येक स्थिति दूसरे के लिए एक कदम है। प्रत्येक समाज की ऐसी समस्याओं का समाधान करना पड़ता है, जिसके कारण या तो वे समाचार्य सुगम जाती हैं अथवा वे समाज हासकर घुटने टेक देते हैं। प्रत्येक स्थिति वर्गहीन समाज के लिए एक आवश्यक कदम है। मार्क्स के शब्दों में—

“यह बिना का बुरा यहू है जिसके कारण मानवोत्थान प्रतिधीन होता है तथा निम्ने इतिहास का निर्माण होता है। इसके कारण सचने हीवता ज्ञान करता है। किन्तु यदि जातीयता के प्रभुत्व के समर्थ के अपने नृवीर्यापूर्ण सुखों के उत्साह में प्रतिकारी तथा कर्तव्यों के मध्य सुन्दर एकता के लिए; नगरी के विलय जीवन के लिए; देश में समुद्रियाली बनें, उद्योगों के लिए; निगमों, कर्मस्थिती तथा व्यवहारी के रूप में संगठित उद्योगों के विकास के लिए; एक शब्द के प्रत्येक उस कर्म के लिए जो जातीयता का सुन्दर बिना ज्ञानुत करता है, सर्वशक्तिव्यो ने अपने मान्यो उन सब कर्मधुओं के हृदये में अक्षत किया होता, जो उस बिना पर किसी प्रकार की छाया फेंक सकते—वासुधैवि, विवायर्त, अत्यन्तता सब इन सब की मान्यता नहीं होती? उन लोगों ने उन सभी तथ्यों की मध्य कर दिया होता जिनके कारण सचने समुद्रियत हुआ। उन लोगों ने कर्म क्षेत्रों के विकास का मूल में ही उद्योग कर दिया होता। उन्होंने अपने मान्यो हृदये इतिहास की नमस्कृत करने व्यर्थ की समारम्भों में प्रवृत्त किया होता। कोई भी स्थिति समाप्त नहीं होती, जब तक वह उत्पादन की शक्ति के लिए ऐसी (उत्साह) की अपेक्षा बाधा न बन गया हो। व्यक्ति इतिहास के रकारण नहीं उत्पन्न कर सकते तथा न ही वे विकास की स्वाभाविक निमित्तों का उत्पन्न कर सकते हैं।”

(III) मानव इतिहास को कुम्भी वर्ग-संघर्ष—मानने द्वारा प्रस्तुत इतिहास के नाम-विभाजन के ही यह स्पष्ट है कि समाज का इतिहास वर्ग-घुट का इतिहास है। यद्यपि वर्ग-घुट का यह विचार भौतिक नहीं है तथापि मार्क्स मान्य में ही इस वर्ग-घुट घटना वर्ग संघर्ष के विचार को उत्पन्न कर में प्रस्तुत किया। हर युग में दो वर्गपर विरोधी वर्ग नियमान रहे हैं और उनके पारस्परिक संघर्ष के ही उस युग के इतिहास का निर्माण हुआ है। इतिहास के इस प्रकार उत्पन्न के कारण ही समाज में परिवर्तन और विकास होता है। सभी युग में पूँजीवति और निम्न मजदूर वर्ग के संघर्ष जलज होता है। पूँजीवाद पूर्णता के रूप में प्रस्तुत होता है तथा कर्मजि श्रम उत्पन्न का रूप धारण करता है। इन दोनों के मध्य संघर्ष के परिणामस्वरूप वर्गहीन समाज के रूप में एक समन्वय घषवा एक नई रचना होती है।

मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद का आलोचनात्मक मूलमौलन
(A Critical Estimate of Historical Materialism)

मार्क्स ने इतिहास की जो भौतिकवादी व्याख्या प्रस्तुत की है, उसमें उसके दृष्टान्तक भौतिकवादी वर्ग-संघर्ष एवं घटितिक मूल्य के विद्वानों की अपेक्षा अधिक

8.4.2 पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास.

उप राष्ट्रवाद या । मानते इतिहास में केवल धार्मिक तत्व को ही निर्णायक मानने की धृति ने यह भूल देखा था कि प्रत्येक परिवर्तन में कोई एक कारण कार्य नहीं करता । घनेकी कारणों के योग से एक कारण विनयायी बन जाता है और व्यवसा बनव जाती है । उन्हे इतिहास के निर्माता के सम्यक्तर कारणों को भी उचित स्थान देना चाहिए था ।

मानते के ऐतिहासिक भौतिकवाद पर इस आधार के उत्तर में मानसवादो यही कह सकता है कि विद्वान् मानस के उन्ना एकीको नहीं है ब्रिताना इसे धनमाना जाता है । धार्मिक कारणों में विचारों का योग भी सम्मिलित है । वैज्ञानिक और प्राविधिक ज्ञान उत्साहन के साथही का महत्वपूर्ण भाग है । सन् 1890 में ऐंग्लन के स्वय एक पत्र में सम्पादकत्व करते हुए लिखा था कि मैं और मानस धार्मिक रूप के इस बात के लिए उत्तरदायी है कि कभी-कभी "हमारे विचारों में धार्मिक कारण पर धर्म के धार्मिक बल विरा है । हमारे भी विरोधो उन्से दकार करते थे, उनके विरोध में हम उनके आधारभूत धर्म पर बल देने की विनया हो और ऐतिहासिक विनया में धर्म तत्वों की परस्पर विनया-वर्तिकाया की सम्मिलित व्याख्या करने के लिए हमारे पास सदैव न ही समय था, न स्थान और न कोई व्यवहार ही ।"²

ऐंग्लन ने जिस धर्म कारणों का उल्लेख किया है यदि मानसवादो उन्में विविध मानवीय भावनाओं को, बाह्य में निरूपित ही हो, सम्मिलित करने के लिए सहमत हो तो मानस की कारण का विरोध पर्याप्त सीमित हो जाता है । लेकिन जब ऐंग्लन अपने पत्र में यह दावा करता है कि 'धार्मिक विनया आधार है और मानस तत्व सहो है' तो महत्वपूर्ण अन्तर स्पष्ट विनयाय रहता है । वह नहीं माना जा सकता कि सृजनिक केवल धार्मिक तत्व है और जब सब तत्व निर्रोतात्मक (Derivative) हैं तथा सृजन की दृष्टि में द्वितीय पेशी के हैं और धार्मिक सम्मन्धों के आधार पर धार्मिक उन्में धर्म के मान हैं । धार्मिकों की यह मान्यता सृजन कुछ सहो है कि धर्म, नीति, दर्शन, मानवीय भावनाएँ, व्यक्तित्व प्रतिक्रियाएँ धर्म और स्वतन्त्र और समान तत्व हैं । यह धर्म है कि विविध कारणों में उनका प्रधान एक-दूसरे के परता बढ़ता रहता है । नही धार्मिक प्रभावितो विचारधाराओं की जन्म है, नही विचारधाराएँ भी धार्मिक प्रभावितो की उत्पत्ति कारण है । उदाहरणार्थ, सन् 1917 की पन्थि के बाद सब ने जन्म लेने वाली सोवियत पद्धति धार्मिकों विचारधारा की सृष्टि की ही दृष्टी में जन्म लेने वाली आधिष्ठ प्रभावितो पद्धिधन की उत्पत्ति थी ।

2. मानते का यह कथन कि उत्साहन-वर्तिकाया से उत्साहन-हो-कथन निर्धारित होते हैं, सही नहीं है । मात्र इस वैज्ञानिक धृति में धर्मिकों और सब में लगभग एक समान उत्साहन सब और प्राविधिक आधार होने पर भी उत्साहन के सम्मन्धों में काफी अन्तर है । धर्मिकों में उन्हीं बड़े-बड़े उत्साह-माने नृजीवितो के हान में हैं नही सब के इन पर मानस का स्वाभिव है ।

3. मार्क्स का यह कहना भी ठीक नहीं है कि पिछले बात धार्मिक शक्ति होती है, वही राजनीतिक शक्ति का उपयोग करता है। शक्ति प्राप्त करने का साधन नैसर्ग धार्मिक नहीं होता। प्राचीन काल में भारत में ब्राह्मणों और मध्यकालीन यूरोप में पोंप ने धर्मोत्तर कारणों से शक्ति प्राप्त की थी तो वर्तमान युग में समाजवाद की स्थापना मुख्यतः सैन्ध-शक्ति द्वारा होती है। बुद्धिबल, ज्ञान, जनशक्ति आदि तत्व भी शक्ति प्राप्त करने में महत्वपूर्ण योग देते हैं।

4. मार्क्स ने यूरोप के लगभग 2000 वर्षों के इतिहास को ही अपने अध्ययन का शोध बनाया था। साम्यवाद भारत, चीन और भिन्न की जातीय सम्प्रदायों पर किसी दृष्टि नहीं रखे। मादिय साम्यवाद आदि का वर्णन उसकी एक कल्पना है जिसके पक्ष में कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है।

5. मार्क्स द्वारा इतिहास का मुख्य भार मनुष्य (अर्थात् मादिय युग, दास-युग, साम्य युग और पूँजीवादी युग) में विशालत्व नुतिपूर्ण है। अपने ऐतिहासिक विकास की व्याख्या की बुद्धिबल बनाने के लिए उसने राजाधियों के इतिहास की हीन-वरीक दिया जो उसके इन्द्रात्मक विद्वान्त के अतिरिक्त दिखायी देता है। मानव-मानव (Anthropology) मार्क्स के मादिय साम्यवाद (Praxis or Communism) की व्याख्या के प्रमुख नहीं है। यदि ऐतिहासिक भौतिकवाद के विद्वान्त के अनुसार ऐतिहासिक विकास की अवस्थाओं में पूँजीवादी अवस्था भी निश्चित है तो इतिहास की भौतिक व्याख्या करने वालों से पूछा जा सकता है कि "पूँजीवाद का विकास विशेष रूप से परिचयी देशों में ही नहीं हुआ?"

6. -मार्क्स ने इतिहास की 'धार्मिक व्याख्या' में 'धर्म' की वला निम्न स्तर प्रकाश दिया है। मार्क्स ने धर्म की वला और एक भूरी संज्ञकता माना है और इस प्रकार धर्म के प्रति, अविश्वास एवं सञ्ज्ञान प्रकट दिया है। यह भूल जाता है कि मार्क्स ने उपनगर साम्यात्मिक मूल्यों के विकास के लिए धर्म ही एकमात्र साधन है और तब हीविमत रूप में भी मान्य एक धर्म का अन्त नहीं हो पाया है।

7. मार्क्स की ऐतिहासिक व्याख्या उसने अपने विचारों की बुद्धि का इतिहास है। "विश्व प्रकार हीनत में ऐतिहासिक विकास की मानसिक पूर्णता अपने ही समय की वर्तन परिवर्तितियों में सीमित कर देने के लिए प्रकृति की वाप्य किया है उसी प्रकार मार्क्स ने भी अपने समय की परिवर्तितियों में वर्तनी में ही प्रकृति के भौतिक विकास को पूर्णता देखने के लिए प्राकृतिक शक्तियों की वाप्य करने की वेष्टा की है।" मार्क्स ने अपनी उत्पत्त-शक्तियों का अन्तिम उद्देश्य साम्यवाद को बनाना है जिसके प्राप्त होते ही विकास का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। लेकिन बुद्धि का विकास न करने वाला है और न किसी एक और बुद्धि वाला है। साम्यवाद विकास का भारतीय अनुपूर्व दर्शन धर्मों तक भी ऐतिहासिक व्याख्या में धर्मभित्त प्रमत्तित मान्य होता है।

8. मार्क्स के इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के विद्वान्त में धर्मोत्तरोप भी है। एक स्तर पर यह कहता है कि इतिहास का रूप एक धार्मिक साम्यकता

मानकों के अनुसार सर्व-मुक्त का सिद्धान्त विपक्ष-इतिहास की व्याख्या के लिए समुक्त सीमाएँ हैं। सर्व-समर्थ का इतिहास ही मानव-व्यक्ति का इतिहास है। विपक्ष-इतिहास धार्मिक और राजनीतिक शक्ति के लिए विरोधी बलों के समर्थों की श्रृंखला है। इतिहास का निर्माण करने वाले सामाजिक आन्दोलन सर्व-आन्दोलन होते हैं। प्रत्येक काल में और प्रत्येक देश में धार्मिक और राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने के लिए निरन्तर महान् आन्दोलनों को जन्म देते रहे हैं। "प्राचीन रोम में कुमीन सरकार, साम्राज्य समुच्च तथा राज्य होते थे। मध्य-युग में सामन्त, सरदार, आधीनदार, सफलवासी, काजदार, उपर्युक्त तथा श्रेष्ठ होते थे। आज, इन समस्त बलों में इनकी उपस्थिति नहीं होती थी। वे समुच्च समर्थ समन करने वाले तथा दलित, निरन्तर एक दूसरे का विरोध करते थे। इनमें कभी सुनहर और कभी हिलकर निरन्तर समर्थ अवसर रहता था। प्रत्येक समय इस युद्ध के परिणामस्वरूप या तो समाज की अस्थिरता पुनर्प्राप्त होती थी या सुवर्णरत्न दोनों को नष्ट हो जाते थे।"

मानकों के सामाजिक बलों के समर्थों तथा विरोधों में इतिहास की व्याख्या की कुछ सीमाएँ और सीमाएँ निर्दिष्ट करने नहीं किया है। उसकी विशेषता को इस बात में है कि उसने सर्व-विरोध के केवल एक ही कारण—धार्मिक विपक्ष—पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया है। सर्व मानकों में यह सीमाएँ किता है कि समाज का विपक्ष-विपक्ष बलों में विभाजन का सिद्धान्त उसके पूर्व-वर्ती यूरोपीय इतिहासवेत्ताओं की विविध या, किन्तु उसने सामाजिक सर्व-विभाजन को ऐतिहासिक दृष्टिकोण के आधार पर समझती हुई उत्पन्न-किया की दृष्टि-भूमि में रखा और यह भी विशेष रूप में कहा कि सर्व-द्वारा का अधिनायकत्व यूरोपीय समाज का नाश करेगा। सर्व-विभाजन के सिद्धान्त का बीच में ही और सरल में विचारण है तथा विचारण, उचित और मध्य रास्ते के अनुपातों में भी पाया जाता है, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टिकोण दृष्टिकोण अपना कर मार्क्सवादीयों द्वारा उत्पन्न-किया पर धार्मिक बलों के समस्त इतिहास की व्याख्या का प्रयास व्यापक है। उसकी दृष्टि में समाजवाद का लक्ष्य बलों के मध्य विरोध-विचारों को ही नहीं बल्कि समस्त बलों का ही सुनो-सुनो करना है।

बलों के विरोध सामुहिक समाज में भी विद्यमान है। विरोध का केवल यह है कि इस युग में नवीन सर्व है, समन के नवीन रूप है और उनकी नवीन प्रवृत्तियाँ हैं तथा समर्थ के नवीन रूप हैं। प्राचीन और नवीन बलों में मुख्य अंतर यह है कि सामुहिक रूप में सर्व-विरोध दृष्टिकोण बहुत सरल हो गया है। सामुहिक समाज को बड़े मुठों—यूरोपीय और अमेरिका में विभाजित है और वे मुठ एक दूसरे के सामने-सामने पूरी शक्ति के बड़े हुए हैं। यह सामुहिकता सर्व-धार्मिक दृष्टिकोण यूरोपीयों और अमेरिकी के बीच समर्थ साम्राज्य साम्राज्य की दृष्टिकोण महत्वपूर्ण विशेषता है। इस समर्थ का मार्क्स ने बड़ा महत्व विशेषता किया।

मानकों का महत्त्व है कि यूरोपीय बलों और अमेरिकी बलों को एक दूसरे की आत्म-व्यक्ति है। अमेरिकी के अभाव में यूरोपीयों के कारणों के कारण बड़े बड़े

और यदि बुद्धिवादी धर्मियों को आस्थाओं में विपुल गहो करे तो वे बेरोकथार ही जादूँ और भूनी मारें लगेगे । लेकिन चाहे दोनों को एक दूसरे की हितनी भी प्राप्तवता हो, दोनों के हितों में मग में अनिश्चय है जिसमें अनिश्चित विपक्ष अवस्थीको बर्द की हो शोकी है । मार्क्स के अनुसार, "जिन जगहों में मुजुं की वे मान्यतावाद का मन्त्र दिया, वे ही मन्त्र मन्त्र सम्पत्तिमाली वर्ग के विपक्ष प्रयुक्त हो रहे हैं ।"

[illegible][illegible]

(i) पूँजीवाद में व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से ही उत्पादन—पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादन समाज के हित और उपभोग को ध्यान में न रख कर विशेष रूप से व्यक्तिगत लाभ के लिए होता है जिसके फलस्वरूप समाज की भाँग और उत्पादित माल में सामंजस्य स्थापित नहीं हो पाता ।

(ii) पूँजीवाद में विनाश उत्पादन तथा एकाधिकार की और प्रवृत्ति—पूँजीवादी व्यवस्था में बड़े पैमाने पर उत्पादन एवं एकाधिकार की प्रवृत्ति होती है जिसके परिणामस्वरूप छोटे से व्यक्तिगत के हानो में पूँजी एकत्र हो जाती है और अधिको की कक्षा बढ़ती जाती है । इस तरह पूँजीवादी वर्ग अपने विनाश के लिए स्वयं क्षमताओं को स्वयं प्रदान करता है ।

(iii) पूँजीवाद आर्थिक संकटों का जन्यता—पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली समय-समय पर आर्थिक संकट उत्पन्न करती है । बहुधा उत्पादन अधिक बर्ब की मात्रा-शक्ति से अधिक हो जाता है, उन माल की कोई मांग न रहने से पूँजीपति उत्पादित माल को बन्द करके माल का कुत्रिम अभाव पैदा करते हैं और इस तरह मालवाही आर्थिक संकटों को जन्म देते हैं । पूँजीवाद की इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप अधिक बर्ब एवं सामान्य व्यक्तों में और सामंजस्य स्थापित होता है जो पूँजीवाद द्वारा अपनी मीलों की स्वर धामनित करता है ।

(iv) पूँजीवाद में प्रतिरिक्त मूल्य पर पूँजीपतियों का अधिकार—पूँजीवाद में उत्पादन वैयक्तिक लाभ के लिए किया जाता है, यह पूँजीपति प्रतिरिक्त मूल्य को अपने पास रख लेता है जबकि म्हाय की दृष्टि से वह मूल्य अधिक को विनाश काहे । प्रतिरिक्त मूल्य वह मूल्य है जो अधिक द्वारा उत्पादित माल की वास्तविक कीमत और उस मूल्य की बाजार कीमत का अंतर होता है । पूँजीपति इसे अधिको से छीनकर स्वयं कोचल करता है ।

(v) पूँजीवाद में व्यक्तिगत तत्त्व की सम्मति—पूँजीवादी प्रणाली में अधिक के वैयक्तिक चरित का लोच लेकर उसका सम्पीकलण हो जाता है । इस प्रणाली में अधिक स्थापित करीकर कर्मों का वेतन दाव माग बन जाता है और इसके उसकी सुव्यवस्था करि की भी सम्भव लगता है । इस पतनान्तरण से अन्ततः अधिक बर्ब में पैतन का उदय होता है और पूँजीवाद के विनाश के लिए कोशिश हो जाता है ।

(vi) पूँजीवाद अधिको की एकता से सहायक—पूँजीवाद अधिको में सामंजस्य पैतकर उन्हें प्रशंसा की और सहाय करता है । इसके प्रतिरिक्त पूँजीवादी प्रणाली में अनेक छोटी-एक स्थान पर एकत्र हो जाते हैं जिनसे लक्षो अधिक काम करते हैं । वे अधिक परस्पर मिलने-जुलने हैं जिससे उन्हें पारस्परिक कष्टों की सम्भल व अपने समकक्ष की सुदृढ सम्बन्ध की प्रेरणा प्राप्त होती है । इस तरह पूँजीवादी विरोधीकरण सुदृढ अधिक सम्भल की काम देता है जो पूँजीवाद का प्रलय विरोध करता है ।

(iii) पूँजीवाद अन्तर्राष्ट्रीय धर्मिक अन्तर्द्वेष का कारण बनता है— पूँजीवाद के होने वाला तीव्र विकास विश्व के अनेक देशों की एक दूसरे के समीप लाता है। जब पूँजीपति उत्पादित माल को अपने देश में नहीं खा पाते तो वे दूसरे देशों में बिक्री की कोशिश करते हैं। इसके परिणामस्वरूप विभिन्न देशों के धर्मियों की सम्पर्क स्थापना के माध्यम से सम्पर्क का व्यवहार मिलता है। इस तरह राष्ट्रीय सीमाओं की तोड़ कर धर्मिक-आधेतरण अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लेता है और जब धर्मिक धर्मों के साथ विश्व के सभी धर्मिक मिलकर पूँजीवाद के विरुद्ध एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय फाल्गुन का प्रयास करेंगे तो पूँजीवाद की जड़ें खोखली कर समाजवाद की स्थापना करेंगे।

मार्क्स के अनुसार इन सभी कारणों के पूँजीवाद स्वतः अपने विनाश की ओर बढ़ता जाता है। मार्क्स का विश्वास था कि धर्मियों की वर्ग की जाति के साथ सम्पर्क की वजह से धर्मियायक-तन्त्र स्थापित हो जायेगा जिसमें सर्व-जन सम्मिलित वर्ग के धर्मिक अन्तर्द्वेष भी समाप्त कर दिए जायेंगे और इसके फलस्वरूप एक वर्गीय और साम्यवादी समाज की स्थापना होगी। पूँजीवाद के विनाश के लिए धर्मिक वर्गों के अन्तर्गत संघर्ष होता और जिस तरह समाजवाद की स्थापना होगी— इन वर्गों के अन्तर्गत संघर्ष होता और जिस तरह समाजवाद की स्थापना होगी— इन वर्गों का अन्तर्गत मार्क्स ने 'कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो' में किया है। लान्की (Lanka) के अनुसार 'कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो' एक सर्वव्यापक सर्वाधिक बहुलपूर्ण राजनीतिक दस्तावेज है। लान्की ने इसकी तुलना सन् 1776 के 'अमेरिकी स्वतंत्रता घोषणा' (American Declaration of Independence) और सन् 1789 के 'फ्रांसीसी धर्मियों की घोषणा' (French Declaration of Rights) के की है। 'कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो' में मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त की विस्तृत विवेचना आधुनिक रूप में की है, यद्यपि इस पर कुछ छेड़ छुड़ निषेधना आवश्यक है।

मैनीफेस्टो (Manifesto) के प्रारम्भ में इस सामान्य कथन के होता है कि "आज तक के पूँजीय समाज का इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास है।" मार्क्स और एंगेल्स ने इस घोषणा-पत्र के सर्व-प्रथम के सिद्धान्त का प्रयोग वर्तमान समाज के समस्त नियमों की समझने की कुञ्जी के रूप में किया है। इसमें पूँजीपति वर्ग (Bourgeoisie) तथा सर्वद्वारा वर्ग (Proletariat) के बीच 19वीं सताब्दी के संघर्षों का सर्वद्वारा वर्ग के है। इसमें केवल इन संघर्षों का ही वर्णन नहीं है, बल्कि फाल्गुनकारी सर्वद्वारा वर्ग के लिए एक कार्यक्रम की रूपरेखा भी प्रस्तुत की गई है और उन्हें पूँजीपति वर्ग पर विरुद्ध विश्व का साम्राज्य दिया गया है। मैनीफेस्टो में यह घोषणा की गई है कि वर्तमान युग में वर्ग-संघर्ष बहुत ही तेज हो रहा है। हमारा समाज दो विभागों में विभक्त हो रहा है— पूँजीपति वर्ग तथा सर्वद्वारा वर्ग। दोनों विभागों दोनों में विभक्त हो रहा है— पूँजीपति वर्ग तथा सर्वद्वारा वर्ग। दोनों वर्गों के विकास की विविध अवस्थाओं में से गुजर रहे हैं। पूँजीपति वर्ग के वर्तमान और पूँजीपति वर्गों की विविध अवस्थाओं का वर्णन करते हुए मार्क्स कहता है कि—

1. पूँजीपति वर्ग उत्पादन-धर्मों में उत्पन्न हुए बिना और इसके द्वारा उत्पादन के सम्पत्तियों में साथ ही समाज की सामाजिक सम्पत्तियों में परिवर्तन लाए बिना जीवित नहीं रह सकते हैं।

2. उत्पादन के माध्यमों ने निरन्तर परिवर्तन लाभ की दृष्टि से किया जाता है। 'लाभ के लिए उत्पादन' पूँजीवादी चरित्र की आधारभूत विशेषता है।

3. अपने अधिकार की कानून राज्य के लिए पूँजीपति वर्ग राजाओं का विस्तार करने की ओर प्रवृत्ति होता है। पूँजीवाद ने दुनिया के कच्चा माल खरीदने और उन्हें तैयार-बात बेचने के कारण एक विश्व-व्यापी स्वरूप धारण कर लिया है। "प्रतिस्पर्धा के द्वारा वे तीव्र रूप उत्पादन करते हुए इससे उद्योग के नीचे से यह राष्ट्रीय आधार निकाल लिया है जिस पर यह खड़ा हुआ था। समस्त प्रचलित राष्ट्रीय उद्योग भंग कर दिष्ट कर है अपना नियंत्रण-शक्ति बंध कर रहे हैं।"

4. पूँजीपतियों के उत्थान के रूप का एक घन सारांश उनकी केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति है। व्यवसाय की अधिकधिक वृद्धि के साथ ऐसे व्यक्तियों की संख्या कम होती जाती है जो कारोबार में काफी पूँजी तथा उन्हें। इस प्रकार बड़े पूँजीपति छोटे पूँजीपतियों की बाहर निष्कास कर रहे हैं। परमेश्वर पूँजी पीढ़े से बड़े पूँजीपतियों के हाथों में एकत्र हो जाती है और उद्योग-व्यवसाय का रूप धारण कर लेते हैं। "पूँजीवादी व्यवस्था के कारण ही बड़े स्तरों में जनसंख्या का केन्द्रीकरण हुआ है, उद्योगों का केन्द्रीकरण हुआ है तथा मजदूरी का पूँजीपति द्वारा व्यक्तियों के हाथों में एकत्रीकरण हुआ है।"

5. उत्पादन-लाभों में हुए सुधारों एवं कल्पनापूर्ण और आतापान की सुविधाओं के विकास द्वारा पूँजीवाद ने निम्नलिखित राज्यों की मजदूरी की परिधि में घटा दिया है और उन्हें पूँजीवादी उत्पादन-वृद्धि घटाने की विवश कर दिया है।

6. महान् उत्पादन-शक्ति तथा 'धार्मिक एवं वैज्ञानिक विज्ञान की जगह देने के माध्यम पूँजीवादी प्रजाती की उपभोक्ता घन सङ्ग्रह हो चुकी है। पूँजीवादी समाज की शक्ति घन उस आदुर्गम के समान है जो उस मादारी सतह की सतियों पर विरलण करने में स्वयं घटती है जिन्हें हमने स्वयं के जलू द्वारा जलन दिया है। पूँजीवादी समाज घन पतनोन्मुख है, स्वयं द्वारा उत्पन्न किए हुए विनाश घन की क्षति में समेट करने में असमर्थ है। अक्षय्यता से अधिक उत्पादन के कारण बार-बार कठोर लकड़ उत्पन्न होते हैं। स्वयं ही अपने अधिक घन को विनाश घन में लकड़ करके इन लकड़ों को दूर करने के प्रयत्न किए जाने हैं। लेकिन इन बार-बार घटने वाले लकड़ों का सामना करने के लिए जो भी साधन उपलब्ध होते हैं, वे उन 'लकड़ों' की ओर भी अधिक तीव्र तथा तीव्रण कर लेते हैं। के लक्षण पूँजीवादी की धार्मिक अधिकारों की प्रवृत्ति करते हैं। सामान्य में निश्चित यह है कि पूँजीवाद घन में जिन लकड़ों का निर्माण किया है उन्हें से उपलब्ध विनाश होता है। "पूँजीवाद ने ऐसे मनुष्यों को जगह दिया है जो उन लकड़ों का उपयोग करने और वे मनुष्य हैं सामुहिक धार्मिक।" सामान्य में सर्वोच्च अधिकतम पूँजीपतियों तथा अधिकतम मजदूरों के बीच होता है। परन्तु बीच ही यह दोनो वर्गों के बीच मजदूर लकड़ों का रूप धारण कर जाता है।

१. धार्मिक वर्ग भी उन्नी सन्तुलन में बढ़ता है जिस सन्तुलन में पूँजीवादी वर्ग का विकास होता है। पूँजीवादी प्रजाती के प्रसार के माध्यम धार्मिक वर्ग को नष्ट, धर्म और कल्याण की दृष्टि से नष्ट होती हो जाता है क्योंकि—

(१) पूँजीवादी पद्धति में कर्मिकरण की वृद्धि होती है, कर्मिकरण में वृद्धि में कार्यकुशलता की उन्नति होती है तथा धार्मिक एक मात्र मान बन जाता है। जिसकार, छोटे दुकानदार एवं निम्नतर चेतने के मध्य वर्ग के लोग उन्नीकरण के लगन परिस्थितियों के कारण अपने व्यवसाय छोड़ने के लिए बाध्य हो जाते हैं और कर्मिकीय वर्ग में सम्मिलित हो जाते हैं। 'सेविंग' धर्मिक भी, जिसे धर्म में विश्वास होता बढ़ता है, धर्म-बोली वर्ग को नष्ट करता है।

(२) अपनी बढ़ती हुई सम्पत्ति एवं व्यक्तिगत धर्मिक के कारण धर्मिकों में वर्ग-वेदना का उदय होता है जिसके परिणामस्वरूप उनको धर्मिक का विकास होता है।

(३) पूँजीवादी पद्धति में उत्पादन का केन्द्रीकरण होता है, यह हमारी धार्मिक छोटे-छोटे लोगों के एकत्र हो जाते हैं और इन निम्नति में उन्हें अपनी स्थितिवादी और धार्मिकताओं का पुनर्निर्माण धार्मिक मान होता है, वे धार्मिक गहनता की ओर प्रवृत्त होते हैं, उनकी वर्ग-वेदना बलवती होती है और इन सब कारणों का पूँजीवादी-कर्मिकों के साथ संघर्ष में उत्पन्न प्रभाव पड़ता है। धार्मिक पद्धति होकर अपने लिए धार्मिक सुविधाओं और धार्मिक क्षेत्र की रीति बनते हैं। उनके व्यवसाय का स्वरूप राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय हो जाता है। इन संघर्ष व्यक्तिगत पूँजीवादी के विरुद्ध न रह कर सम्पूर्ण पूँजीवादी प्रजाती के विरुद्ध हो जाता है। वर्ग-वेदना जिस गति से बढ़ता और सन्तुलन में विकसित होती है उसे सन्तुलन में धार्मिक वर्ग की धार्मिक में भी वृद्धि होती है। उन्नीयों के केन्द्रीकरण धार्मिक वर्ग के साथ उत्पादन-प्रकार बनाने की सम्पूर्ण बोली को धर्म-व्यवस्था करने की आवश्यकता हो जाती है।

(४) निम्नतर जाते हुए जादो, उन्नीकरण और जादोकार के कारणों की पूँजीवादी व्यवस्था का पूर्ण विनाश के धर्मिकों में निम्नतर-धर्मिक व्यवस्था बना देने के लिए धार्मिक-आन्दोलन को अन्तर्राष्ट्रीय बन प्रभाव करती है। जब धर्मिक-देशों के लिए धार्मिक-आन्दोलन को अन्तर्राष्ट्रीय बन प्रभाव करती है। जब धर्मिक-देशों के धर्मिक-आन्दोलन को अन्तर्राष्ट्रीय बन प्रभाव करती है। जब धर्मिक-देशों के धर्मिक-आन्दोलन को अन्तर्राष्ट्रीय बन प्रभाव करती है। जब धर्मिक-देशों के धर्मिक-आन्दोलन को अन्तर्राष्ट्रीय बन प्रभाव करती है।

'कैरी-कैरी' उपग्रह धार्मिक के परिणामों की धर्मिककारी करने हुए उत्पादन करता है कि धर्म में पूँजीवादी वर्ग अपने निम्नति को प्रभाव होता तथा सर्वोच्च वर्ग का धर्मिकीय धर्मिकीय व्यवस्था होता जिसका उद्देश्य कार्य में पूँजीवादी की व्यवस्था के धर्मिकीय के धर्मिक कर उन्हें धर्मिकीय सम्पत्ति-धर्मिक कर देता होता। जब उत्पादन के धर्मिकीय के धर्मिक कर उन्हें धर्मिकीय सम्पत्ति-धर्मिक कर देता होता। जब उत्पादन के धर्मिकीय के धर्मिक कर उन्हें धर्मिकीय सम्पत्ति-धर्मिक कर देता होता। जब उत्पादन के धर्मिकीय के धर्मिक कर उन्हें धर्मिकीय सम्पत्ति-धर्मिक कर देता होता। जब उत्पादन के धर्मिकीय के धर्मिक कर उन्हें धर्मिकीय सम्पत्ति-धर्मिक कर देता होता।

उस समय समस्त वर्गीय संघर्ष का केंद्र हो जाएगा और इसके साथ ही उस समयकारी राज्य की भी समाप्ति हो जाएगी जिसका हृत् स्पष्ट है।

पूँजीवादी विप्लव प्रकार उस परिस्थितियों का मूल्य होता है जो स्वयं उसी का विनाश कर देती है इसका कारणों कोकर ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

“इस तरह पूँजीवादी व्यवस्था धर्मिकी की सहाय में वृद्धि करती है, उन्हें मजदूरी में समझित करती है, उनमें वर्ग-वेदना उत्पन्न करती है, उन्हें विरोध-भावों स्तर पर सहयोग करने तथा परस्पर विरोध-कुलने के साधन प्रदान करती है तथा उनकी विरोध-वर्तिका को कम कर और उनका धार्मिकतात्मिक तोषण कर उन्हें समझित विरोध करने के लिए प्रेरित करती है। पूँजीवादि, जो अपनी स्वाभाविक सामर्थ्यशक्तियों के अनुसार तथा उस साथ-पर साधारण प्रस्तावों को कायम रखने के लिए प्रतिष्ठाएँ ऐसी परिस्थितियों को कम दे रहे हैं जिनमें एक ऐसे समाज का निर्माण करने के सामर्थ्यशक्तियों को (धर्मिकी के) वृद्धि तथा बल मिलता है जो एक धर्मिक समाज की सामर्थ्यशक्तियों के अनुकूल होता है।”

“मैनीफेस्टो” में समाज के भावी रूप का विस्तृत वर्णन नहीं है। केवल इतना ही कहा गया है कि समाज के कोई विरोध नहीं होगा व कोई केन्द्रीय समस्यारी सत्ता ही होगी। उनमें मजदूरों का उत्पन्न उपयोग के लिए किया जाएगा, मुक्तों के लिए नहीं। दूसरे शब्दों में उसमें सर्वाधिक सामर्थ्यशक्तियों की मजदूरों के उत्पन्न पर जोर दिया गया है। योगदान-रूप में भावी राज्य के विषय में कहा गया है कि “जब विकास-क्रम में वर्गीय भेद-भाव समाप्त हो जाएँ और समस्त उत्पन्न सम्पूर्ण राष्ट्र की विनाश सत्ता के हाथों में केन्द्रित हो जाएगा, तो लोकसत्ता राजनीतिक नहीं रहेगी। राज्यसत्ता एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग पर सत्तावाद करने की समझित सत्ता का ही रूप है। यदि सर्वप्रथम वर्ग पूँजीवादियों के विपक्ष सर्व-सत्ता में परिवर्तितमान अपने वर्ग का उत्पन्न करने के लिए कार्य होता है और यदि सत्ता के साधन द्वारा वह सत्ताक वर्ग बन कर उत्पन्न उत्पन्न-व्यवस्था का सर्वपूर्ण कर्म कर देता है, तो इस प्रकार वह इसके साथ ही सर्व-विरोध के प्रतिपक्ष के लिए सामर्थ्यक व्यवस्थाओं का तथा सामर्थ्यशक्तियों वशों का ही विनाश कर देता है और साथ अपना प्रकृत स्वार्थ कर देता है। पुराने पूँजीवादी समाज के स्थान पर (जिसमें वर्ग-वेद तथा वर्ग-वेद निश्चयान होते हैं) हम एक ऐसी सत्ता स्थापित कर लेते हैं जिसमें उसके स्वतन्त्र विकास का साधारण प्रत्येक का स्वतन्त्र विनाश होता है।”

मार्क्स का कार्यक्रम (Marx's Programme of Action)

“मार्क्स के धार्मिक निवर्तितव्य धर्मिक मूल्य, वर्ग-वृद्ध सभी तथा धर्मिक के सामर्थ्यक विकास एवं सत्ता की धर्मिक सत्ताओं विचारों के उसकी व्यावहारिक समाजवाद की प्रस्तावों संबंधी उसके कार्यक्रम के लिए सार्थक साधारण प्राप्त होता है। यदि समस्त सामर्थ्यक व्यवस्था का निर्माण उत्पन्न के साधनों के होता है, तो उपनिर्भर सामर्थ्यक व्यवस्था के दोनों का विनाशस्तु इन सामर्थ्यों में परिवर्तित द्वारा ही हो सकता है। यदि धर्मिक व्यवस्था में पूँजीवादि व्याज-भावे तथा मुक्तों के

रूप में मजदूरों के श्रम के उत्पादन का अधिकारी बन जायेंगे। जो व्यक्तिगत सम्पत्ति के स्वामित्व की प्रणाली का चयन कर उत्पादन से ऐसी व्यवस्था स्थापित करना उचित है जिसमें भाई, मुलाके तथा मजदूरों के लिए कोई खान ही न रहे यदि पूँजीवादी व्यवस्था में विकास की प्रक्रिया में प्रगति ऐसी है जिससे स्वयं वह व्यवस्था निर्मूल होती और उसका विनाश होता तो वह मजदूर उत्पादन साधनों का उपयोग ऐसी स्थिति प्राप्त करने में करते हैं जिसमें उत्पादन के साधनों पर वे पूँजीपतियों का नियन्त्रण हटाकर उन्हें अपने नियन्त्रण में ले लें, तब वे केवल 'पटनाओं की राजनीतिक प्रगति' की ओर प्रवृत्त हो रहे हैं—वे सामाजिक विकास के रास्ते पर हैं, उसके विरुद्ध नहीं। इस प्रकार उन्हें और हमें तथा पटनाओं से प्रगति में मजदूरों को अपना कार्यक्रम प्राप्त होता है।"

मार्क्स के इस राजनीतिक कार्यक्रम का स्पष्टतम विवरण 'मैनीफेस्टो' में दिया गया है। इसके द्वितीय भाग में समाजवाद की स्थापना के लिए मार्क्स ने एक निश्चित कार्यक्रम प्रस्तुत किया है जिसे अपनाकर धर्मिक 'छद्म की साम्राज्यिक धोखा की सामाजिक भ्रष्टता में परिणत कर सकते हैं, अपने साम्यवादी साधन मजदूरों के व्यवस्थापन कर निर्धारित राजनीतिक मजदूरों के रूप में व्यवस्था के लिए अपने मार्गों से प्रवृत्त कर सकते हैं और अन्ततः पूँजीवादी वर्ग पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकते हैं।

मार्क्स के कार्यक्रम का पहला चरण है 'राज्यीय वर्ग की तात्कालिक वर्ग के रूप में प्रतिष्ठित करना' यानी 'प्रजातन्त्र-समाज' में परिवर्तन होना। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए धर्मियों को अपना वचन एक उत्पीड़ित वर्ग के रूप में करना चाहिए और तब की सेवा करके 'तात्कालिक वर्ग' की स्थिति में ले जाना चाहिए। हर देश के धर्मियों को चाहिए कि वे प्रजातन्त्र के विरुद्ध सर्वत्र में विद्रोह प्रारम्भ करने के लिए स्वयं को तालक वर्ग की स्थिति में पहुँचाने के लिए स्वयं को एक राजनीतिक दल में सम्मिलित करें और सामान्य निर्वाचन-प्रणाली द्वारा निर्वाचन-समय एवं राष्ट्रीय मजदूर में बहुमत प्राप्त करने का प्रयत्न करें। यदि किसी देश में तात्कालिक वर्ग की आधार पर बहुमत प्राप्त सर्वहारा वर्ग को राजनीतिक नियन्त्रण का अधिकार प्राप्त करने में सक्षम करने का प्रयत्न करें तो धर्मियों को चाहिए कि वे अधिकार प्राप्त करने में सक्षम करने का प्रयत्न करें। "इस प्रकार अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए सक्षम होकर दल प्रयोग करें।" "इस प्रकार सामान्य-तन्त्र और आन्तिपूर्वक या दल-प्रयोग द्वारा नियन्त्रण प्राप्त करने पर उन्हें अपनी जनसंख्या की सुरक्षित करना चाहिए और यह कार्य उन्नत जनतन्त्र के परिणत रूपों द्वारा होना चाहिए जैसे सार्वभौमिक सार्वजनिक (Universal Suffrage), प्रत्यक्ष लोक निर्वाचन (Direct Popular Election) और बहुमत (Recall) की प्रस्तावना, स्थायी केस के स्थान पर 'समान जनता का प्रस्तावना (Recall) की प्रस्तावना, स्थायी केस के स्थान पर 'समान जनता का प्रस्तावना, सार्वभौमिक निर्वाचन, राजनीतिकारियों की धर्मियों के समान ही देश से हटाना' जैसी राजनीतिक योजना की नयी समाजवादी विशेषता है।"

अन्य राजनीतिक सर्वोच्चता सुरक्षित कर लेने के उपरान्त धर्मियों को अपने प्रमुख कार्य पूँजी के सामाजीकरण (Socialization) की ओर उन्मुख होना चाहिए। पूँजी के सामाजीकरण की यह प्रक्रिया धार्मिक होयी क्योंकि पूँजीवाद इतना भीषण नहीं है कि उसे एक ही चोट से समाप्त किया जा सके। इन प्रक्रिया के सम्बन्धित पूँजीवादी राज्यों में साम्यवाद प्रत्यक्ष एवं संरक्षित सम्पत्ति के अधिकारी तथा उत्पादन की पूँजीवादी शक्तियों पर कर्तव्य-कर्तव्य नियन्त्रण करता होता। इसके लिए किए जाने वाले उपाय सभी राज्यों में समान नहीं हो सकते। 'साम्यवादी घोषणा-पत्र' के अनुसार 'समाप्त जनताधिकार देशों' के लिए राजनीतिक उपाय वे हैं—

(1) भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व का अन्त एवं भूमि के सभी प्रकार के उत्पादन का सामूहिक सर्वस्व के लिए प्रयोग, (2) वातावरण तथा संचार-साधनों का राज्य द्वारा केन्द्रीकरण, (3) ऋण (Credit) तथा बैंकों पर राज्य का एकाधिकार और एक राष्ट्रीय बैंक की स्थापना, (4) उद्योगिकी के अधिकारों का अन्त, (5) उद्योगों पर कठोर तथा भाँटे मालकर, (6) देश से जाने हुए और देशों-देशों की सम्पत्ति की लूट, (7) कारखानों के बालकों की काम में लगाने पर प्रतिबन्ध एवं सब बालकों के लिए निःशुल्क शिक्षा व्यवस्था, (8) सबके लिए मजबूत रूप से काम की व्यवस्था, औद्योगिक सेवाओं विशेषकर कृषि सेनाओं की स्थापना, (9) कृषि का सर्वोच्च के साथ सम्मिश्रण, एवं (10) राज्य के कारखानों और उत्पादन के साधनों का नियंत्रण।

'साम्यवादी घोषणा-पत्र' ने कहा गया है कि अधिक सामाजिक सुधार का यह कार्यक्रम सभी साम्यवादी देशों-देश धर्मियों का राज्य पर अधिकार स्थापित हो जाएगा। किन्तु मार्क्स के भाषणों से प्रतीत होता है कि यदि किसी समाजवादी मानने में सरकार उन्मुख कार्यक्रमों को करे तो उसने अधिक बने सरकार को ध्यान दे सकता है। सन् 1947 के 19 मई काम का दिवस कानून (Machete Test Holiday Act) की माध्यम से धर्मियों के लिए महत्त्वपूर्ण और धार्मिक रूप से सामाजिक उत्साह था।

मार्क्स सामाजिकता धर्म के सम्बन्ध में वैज्ञानिक दृष्टिकोण देने के लिए कहें। उसका विचार था कि अपने साम्यवाद को अधिककारी बनाने के लिए मजदूरों के माध्यम राष्ट्रीय में, जगह पर ही है। सन् 1871 में उसने कहा था कि "मजदूरों के पास कोई ऐसा संसार नहीं है जिन्हे वे अपना ही धर्म पर प्रयोग में ला सकें। वे यह जानते हैं कि उन्हें अपनी मुक्ति प्राप्त करने और इसके साथ समाज की उन्नति स्थिति में जाने के लिए, जिसकी ओर वह दुनियाँ धर्म के अपने ही धार्मिक सामर्थ्य द्वारा बढ़ रहा है, धीरे-धीरे सपनों, परिश्रमियों एवं मनुष्यों की अनेक परिवर्तनशील ऐतिहासिक प्रक्रियाओं में से गुजरना होगा।" और फिर बाद सोच-विचार की प्रतीकण करते हुए उसने स्पष्ट करते में कहा कि "दर्शनो सामर्थ्यों की अनेकता धर्माध्यम साम्यवाद का एक कथन नहीं धार्मिक दृष्टिकोण है।"

मार्क्स ने अपना कार्यक्रम अवलम्बित करते हुए यह स्पष्ट कर दिया था कि समाजवादी धर्म सभी हो सकती है जब उत्पादन की सामूहिक शक्तों और पूँजीवादियों की उत्पादन-शक्तियों के विरोधी हो अपना बहुसंख्यक संवेदना बने के

सकती एवं कष्टों के कारण उनमें विरोध उत्पन्न हो जाए। कोहर के अनुसार "मानस के घनेक उत्तरजालीन भावस्थी में गुण बहु-अन्यकारी कार्यों के प्रति सदैव तथा निष्ठा, धान्दोलन, सहृदयता, सुखद और राजनीतिक कथन कार्यों की सकलता में आभा एवं निष्ठा की भावना प्रकट होती है। इसकी बहु-अन्यकारी के लिए राजनीतिक परिणामता एवं कति प्राप्त कर सकने के क्षेत्रों में साधन समझने तथा या जिनकी सहायता से वे उपयुक्त समय पर साधनजन्य को प्रकट कर सकेंगे।"

मानस की द्वारा मानसिकता प्राप्त करने के समझ में मानस के घनेक वस्तुओं, जेवों और घनेक में विभिन्न और कही-गही घनेक विचार प्रकट किए हैं, यह उसके विचारों की एकदम ही अभिव्यक्ति करता कहते हैं। जैसे मानस के साधारणतया यह स्वीकार किया था कि राजकला प्राप्त करने के साधन विभिन्न देशों और विभिन्न समयों में अलग-अलग हो सकते हैं। किसी काल और स्थान में सीधी आर्थिक कार्यवाही को किसी स्थाव के फलित और कही राजनीतिक साधनवाद की कही-कही प्राप्ति हो और तरीका हो सकता है। मानस का दृष्टिकोण अनुभव-पूर्ण था। यह समझ कि साधन के समर्थन के निधि में करता था जब समाजवादी जीव विचारक इन में राजकला प्राप्त कर सकने को किन्तु समस्त प्रकृतित सामाजिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन साधन साधनक होने पर ही साधनिक मत प्रयोग द्वारा न होकर बीच साधन द्वारा राजनीतिक कथन की कति से होगा जिनके प्रकार राजनीतिक (किन्तु साधारण कथ के बीच या कानूनी) साधन द्वारा पूर्णतः भीरे-भीरे समझ में अभिष्ट कर दिए जाएंगे। मानस की मान्यता थी कि साधन विचारक को दिया न करना चाहिए जबकि स्थिति उसके अनुकूल हो और उसके सकलता हो जाता हो। मानस जब जानते तथा दृष्टिकोण का 'अन्यकारी विचार' समझे ता साधन करता था जब उसका हवाओं तथा साधनिक में साधन कति नहीं था। एक और उसमें समय के पूर्व कति न विरोध किया और दूसरी और जब एक परिस्थिति अनुकूल न हो तब तक समाजवादी व्यवस्था की स्थापना का विरोध किया, चाहे वह बीच कथनों के ही नहीं न हो जब तक नहीं। उसने कहा, "जि घनेक विचार के साधनिक विचारों का साधनिक करने के लिए समझ के साधनिक कथन उत्तर कर एक कति मानस पर साधन हो जो गया हो जो भी यह कानूनी द्वारा साधनिक विकास की व्यवस्थाओं में उत्पन्न साधनों की दूर नही कर सकता।"

मानस कति विचारक का विरोधी या और कथनी अनुकूलता में घनेक प्रकार के समझों करने के लिए भी उत्तर का कति उनसे विचार के विकासवादी और कतिकारी दोनों नही में कही-कथने सुकृत है। यह काल में उनके दृष्टिकोण और साधनिक होने प्रकार की विचारों का केंद्र-विन्दु है। यद्यपि, यद्यपि मानस का विचार था कि घनेक की राज्य पर कथना साधनिक जहा जहा चाहिए और 'अन्यकारी कथ का कतिकारी या कथी अभिव्यक्ति' (Revolutionary or Class

[illegible][illegible][illegible]

प्रती-सूचक के सिद्धांत का व्यापकनामक भूगोलीय

महलों की वही-वही का विद्यालय अपनी कक्षाएँ हैं। कक्षा में प्राथमिक स्तर के बच्चों को ही कोई उपहार नहीं कर सकते। इसा प्रत्येक कक्षा कक्षा के स्वयं, कक्षा, घर, बच्चे, बच्चा बच्चे के आधार पर वेद विद्यालय रहे हैं। वही ही कक्षा

है कि राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति के लिए विभिन्न वर्ष-समय ऐतिहासिक घटनाओं के निर्धारण में योग देते रहे हैं। प्राचीन भारत में राजनीतिक प्रभुता की प्राप्ति के लिए ब्राह्मणों और क्षत्रियों के विभिन्न वर्गों में संघर्ष होता रहता था; प्राचीन यूनान में भक्तजनवादियों और जनतन्त्रवादियों के शक्ति के लिए संघर्ष चलता रहता था और प्राचीन रोम तथा अन्य देशों में भी बहुत कुछ ऐसी ही परिस्थितियाँ थी। मानस के इतिहास के सामाजिक वर्गों के बदलते पर बल देकर समाजशास्त्र की एक बहुत बड़ी सेवा की है। वही प्रथम विचारक है जिन्होंने ऐतिहासिक घटनाओं की वर्ण-रहित और वर्ग-प्रभुत्वियों के संदर्भ में व्याख्या की है। मानस के वर्ण-समय के सिद्धान्त के पक्ष में यह एक बड़ा प्रमाण है कि इतिहास में सम्भवतः ऐसे उदाहरण बहुत कम होने जब समाज के शोषित वर्गों की ओर से संघर्ष हुए जिसे ही वास्तविक वर्गों में अपने अधिकारों का प्रतिपादन कर दिया हो। जो कुछ भी अधिकार शोषित वर्गों में प्राप्त हुए है वे उनके कठिन संघर्षों के फलस्वरूप ही मिल गए हैं।

लेकिन यह सब हुंसे हुए भी मानस का वर्ण-समय का सिद्धान्त बहुतम प्रासंगिकता का विषय रहा है। इस सिद्धान्त के विस्तार में लिए जाने वाले तर्क मुख्यतः निम्नलिखित हैं—

1. समाज में केवल दो ही वर्ग नहीं हैं। सामाजिक दृष्टि में एक शक्तिशाली और महत्त्वपूर्ण मध्यवर्ग का भी विकास हुआ है। इन वर्गों में उदात्तक, कुलम, कारीगर, श्रमिक, बगील, डॉक्टर, इन्जीनियर आदि सम्मिलित हैं। इन तरह मानस की यह घोषणा कि समाज में सदा ही दो वर्ग रहते, कमजोर सिद्ध हो रही है। मेकार्डन के शीघ्र ही निष्कर्ष है कि—“अति मानस दमोन्त की घटना घातों मानस (दमोन्त के पुँजीवादी कृति-व्यवस्था और मध्यम वर्गों की प्रचलना रही है) को सम्भवतः उसका वर्गों का मिलेपण यह न होता।”¹ पुँजिक मानस के वर्ण-समय को विरोधी तत्त्वों के दृष्टान्तक विरोधी में देखा, हम कारण यह केवल दो मुख्य विरोधी वर्गों की विरक्ति के लिए मान्य था परन्तु इसके परिणामस्वरूप उसकी कई भविष्यवाणियाँ गलत सिद्ध हुईं। मानस के जिन दो वर्गों को वर्णों की है, उनकी कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं दी है, यद्यपि शक्तिशाली शक्ति मध्यवर्गीय शक्ति (Social) के तो मानसवादी वर्गों को ‘एक प्रभुत्व व्यवस्था’ तक की जगह दे दी है।

2. मानस का यह कठिन ऐतिहासिक दृष्टि के समर्थ सिद्ध होता है कि विभिन्न मध्यम वर्गीय और छोटे-छोटे कुलम या वर्गों के मध्यवर्गीय वर्गों के घान सिद्ध आएँगे। उद्योग-प्रधान समाजों में केवलमोमी कर्मचारियों, विप्लवियों, मध्यवर्गीय लोगों और छोटे दुबानदारों की वृद्धि हुई है जिन्हें मानस की योजना में छोटे कुलम ही कहा जा सकता है। लेकिन फ्राइड ने यह प्रमाणित कर दिया है कि इन प्रकार के लोग सर्वप्रथम वर्गों में शामिल होने का इरादा तोत्र विरोध करते हैं जिसकी मानस कल्पना की नहीं कर सकता था।

3. मार्क्स ने यह मुद्दा भी है कि उनके सामाजिक वर्गों और धार्मिक वर्गों को एक ही तत्वता तथा वर्ग-समर्पण की घोषणा एवं प्रोत्साहित वर्गों के बीच बृद्ध बनाना बाह्यता एवं धर्मियों का चरित्रगुणधर्मियों का वैयक्तिकताओं और व्यक्तिगतों की धार्मिक वर्ग मान लेने के पहले वर्ग एवं वर्ग-वेतन की धारणाओं का उचित अधिक स्पष्ट एवं निश्चित विवेचन आवश्यक है जिसका मार्क्स ने किया है। वास्तव में वर्ग-समर्पण की धारणा में एकदम विप्लव होने के कारण और अपने कम्युनिस्ट उद्देश्य के लिए उसका प्रयोग करने की धारणा असुलता के कारण मार्क्स ने सीमित सम्मोच निमित्त यह किया बल्कि इसका सामाजिक सत्यीकरण कर दिया। यह नहीं मुक्तता चाहिए कि इतिहास में किसी भी समय सामाजिक वर्गों ने यह दुष्टता और उद्देश्य की एकता नहीं रहती को वर्ग-समर्पण के लिए आवश्यक है, उनमें सामाजिक विरोध रहते हैं। पोपर के तर्कों ने—

"वास्तव में साधक और साधित वर्गों के द्विष्ट में सामाजिक विरोध इतना गहरा है कि मार्क्स के वर्ग-सिद्धान्त को एक सत्यता एवं सामाजिक सत्यीकरण मानना चाहिए चाहे हम यह मान लें कि धर्म और धर्म के मध्य समर्पण का हमें साधारणतः गहरा है। मध्यकालीन इतिहास का एक महत्वपूर्ण विषय धर्म और साम्राज्य के बीच बृद्ध साधक वर्ग के सामाजिक विरोधों का एक उदाहरण है। इन समर्पण की घोषणा और प्रोत्साहित के बीच समर्पण की सहा देना गलत होता है।"¹

4. मनुष्य, मानवता का सामाजिक तत्त्व वर्ग-समर्पण न होकर सामाजिकता की भावना है। समाज के अनेक वर्ग विभिन्नताओं के होते हुए भी एकता के गुण में बंधे रहते हैं। हर वर्ग में सामाजिकता की भावना विद्युत होती है और सभी वर्ग समाज के दिन के लिए कुछ न कुछ कार्य करते हैं। मनुष्य व सहयोग, स्वयं एवं सहानुभूति आदि के श्रेष्ठ गुण भी निरन्तर होते हैं, इनके इन्कर नहीं किया जा सकता। यह मानना कि विकास वर्ग-समर्पण न होकर सामाजिकता, सामाजिकता एवं एकता की भावना से होता है। मार्क्स ने इस विचारों को खोजा कर निःसन्देह मानना का प्रति एक सत्य प्रदर्शन किया है।

5. मार्क्स की मान्यता है कि पूँजीवाद के विकास के सा-समय अधिक वर्गों को हीन होते जाएँगे जिसके परिणामस्वरूप उनमें वेतन का प्रादुर्भाव होगा। किन्तु इतिहास ने मार्क्स की इस मान्यता को गलत सिद्ध कर दिया है। वास्तविकता यह है कि प्रथम महायुद्ध के बाद के दशक में पूँजीवाद के विकास के सा-समय अधिक वर्गों की समृद्धि में भी इतनी तेजी से वृद्धि हुई है कि वे प्रायः पूँजीवादियों की समृद्धि में सामीप्य बने हुए हैं। साथ ही मार्क्स की यह धारणा भी गलत सिद्ध नहीं हुई है कि अधिक वर्गों में भी वेतन दृष्टर होती जाएँगी और वस्तुतः कार्यकारी लोग एक ही जाँचें। हम स्पष्ट देखते हैं कि समाज के सभी वर्गों की व्यक्तिगतों में तो अधिकतम वेतन ही पाई है और न उनमें अधिक वर्गों के प्रति कोई सहानुभूति ही उत्पन्न हुई है।

6. कार्ने-मवर्ले के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय मावर्ले सम्भवतः यह कल्पना नहीं कर सका था कि पूँजीवाद स्वयं को बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार ढाल लेगा। इस बात के कारण आज मावर्ले की पूँजीवाद के विनाश की धारणा केवल एक सुनसुनाता बनकर रह गई है। आज पूँजीवाद ने उत्पादन-शक्ति में सुधार कर स्वयं को मजदूरों से कुछ कर लिया है और परिस्थितियों के अनुसार स्वयं को ढालकर धर्मियों का बहुत कुछ लपर्पेन प्राप्त कर लिया है।

7. मावर्ले और ऐंजिल्स ने यह निष्कार प्रकट किया था कि अधिक वर्ग की 'कान्ति' सम्भवतः या नहीं है क्योंकि पूँजीवाद अपने विनाश के लिए पक्का चुका है। मावर्ले ने यह भी कहा था कि कान्ति सर्वप्रथम सर्वाधिक औद्योगिक-प्रधान देशों में होगी। किन्तु मावर्ले का यह विश्वास अभी तक तो सत्य ही प्रमाणित हुआ है। औद्योगिक दुष्टि के विकसित किसी भी देश में अभी तक कोई धर्मिक कान्ति नहीं हुई है।

8. मावर्ले ने यह भविष्यवाणी की थी कि पूँजीवादी उत्पादन की विधि में धीरे-धीरे आविष्कारों का रूप निहाल हो जाएगा और मालरॉय्डीज दुष्ट तथा कार्टेन (Cartel) बन जाएंगे। इस प्रकार पूँजी उत्पादक और छोटे के व्यक्तियों के पास सम्पत्ति होगी जाएगी। इस सिद्धान्त के विरोधियों का कहना है कि इस भविष्यवाणी का भवन भाग तो निराश हो चुका है क्योंकि आजकल बड़े विज्ञान औद्योगिक एवं व्यापारिक मानदण्डों का निर्माण हो गया है तथापि पूँजी-वादी व्यक्तियों के हाथों में केंद्रित नहीं हो रही है। बड़े पूँजीपतियों के साथ-साथ छोटे पूँजीपति भी बने हुए हैं। मध्यम वर्ग का अस्त नहीं हो रहा है और इस मध्यम वर्ग के लोग सर्वद्वारा वर्ग में सम्मिलित कर उसका विनाश नहीं कर रहे हैं, बल्कि वे मैनीफेस्टो में उल्लेख है। सामूहिक काल में मध्यम वर्ग सर्वद्वारा वर्ग की घरेलू पूँजीवादी वर्ग की ओर धर्मिक सहानुभूतिपूर्ण है।

9. मावर्ले की यह धारणा कि समाज समस्त पूँजीपतियों का समान रहेगी एवं हिस्से में सम्भालि होने वाला एक ही वर्ग है, नहीं सही है। सारे विश्व की बात तो छोड़िए, एक ही देश के असम्बन्धित व्यक्ति, कारखानों के स्वामियों और उद्योगपतियों को एक ऐसा समस्त पूँजीवादी वर्ग नहीं समझा जा सकता जो वर्ग-चेतना से वञ्चित प्रेषित हो और निम्न वर्ग की एकता की भावना विकसित हो। यदि मालरॉय्डीज दुष्टि से देखा जाए तो विदेन के पूँजीपतियों और मावर्ले तथा आल्बर्ट के पूँजीपतियों के कुछ भी हिस्से की समानता नहीं है, बल्कि वह कहना धर्मिक मात्र होगा कि उनके हिस्से में समर्थ है। पूँजीपतियों की एकता तो स्पन्दुलान्त है ही, विभिन्न देशों के व्यक्तियों के हिस्से में और भी कम एकता है। एक देश के कुछ और नहीं धर्मिक, कुशल तथा समुदाय व्यक्तियों और भेद तथा काले व्यक्तियों या वर्गभेद के आधार पर व्यक्तियों में जो सम्बन्ध पाए जाते हैं वे कार्ने मावर्ले की धर्मिक-एकता की धारणा को बलवत् सिद्ध करते हैं। तथा मावर्ले और ऐंजिल्स और उनके सामूहिक अनुयायियों की व्यक्तियों की समझित होने की बार-बार समीचीन यह

सिद्ध करता है कि धर्मिकों ने कोई स्वाभाविक एकाता नहीं है। विश्व के धर्मिकों ने मन्तरात्मिक एकाता की धारणा और 'धर्मिकों का कोई राष्ट्र नहीं होता' की विचारधारा दोनों ही कल्पनाएँ मान ली सिद्ध हुई हैं। चित्त दोनों विश्व-बुद्धों ने विश्व के सारे धर्मिक तथाकथित सर्व-वेतना की उपेक्षा कर अपने-अपने राष्ट्रीय की रक्षा करने में उत्तर रखे हैं और आज भी वे राष्ट्र की सीमाएँ तोड़ नहीं पा रहे हैं। वे सब कारण हमें मानव-इतिहास की समझने की एक नुस्खी का काम कर सर्व-सर्पों के सिद्धान्त को दुकराने की दिशा करते हैं।

१०. मार्क्स की एक मान्यता के विरुद्ध सम्झौतम मार्कोप किया जाता है कि जगत के धर्मिक वर्गों की पूँजीवादी वर्गों पर नियंत्रण होती और सर्वहारा वर्गों का अधिपत्य स्थापित हो जाता। वर्ग-सर्पों का जगत निश्चित रूप से पूँजीवाद के विनाश और समाजवाद की स्थापना में होता। इसका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। यह धारणा केवल धार्मिक और आत्मा की धर्मिकता है, तथ्यों पर आधारित, कार्यवाही पर निर्धार नहीं। यदि यह स्वीकार कर लिया जाए कि धर्मिकों और पूँजीवादियों के बीच वर्ग-सर्पों होता और उनकी धर्मिक परिस्थिति पूँजीवाद के कमजोर में होती, तो यह मान्यता नहीं है कि सत्ता धार्मिक धर्मिकों के हाथ में पहुँचती, धर्मिक अधिपत्य स्थापित हो जैसे सम्म विचार भी है। यह भी हो सकता है कि "पूँजीवाद के विनाश का परिणाम साम्यवाद न होकर धार्मिकता हो जिसमें वे एक ऐसी तात्कालिकता का जन्म हो जाए जिसमें सैद्धांतिक रूप से साम्यवादी धार्मिकों ने कोई सम्भव नहीं है।" यह मानने के लिए भी कोई आधार नहीं है कि सर्वज्ञ देवों ने वर्ग-बुद्ध के एक में परिणाम हो होते हैं। जो बुद्ध रूप में सम्भव हुआ वह धर्मिक या धर्म में सम्भव नहीं हो सके हैं। धर्मिक तथा धार्मिकता का काम मार्क्स और ऐंग्लिक की जिज्ञा के विरुद्ध हुआ। साम्यवाद की निरुद्ध उन्नी निश्चित नहीं है जिसकी मार्क्स और उनके साथी सोचते थे। इसके धर्मिक मार्गों यह नहीं भी सिद्ध नहीं करता कि धर्मिक निश्चित रूप से प्रजापति बनाने की योग्यता से सम्भव होते।

११. वर्ग-सर्पों का सिद्धान्त एक दुर्घित और धर्मिक सिद्धान्त है जो महानुभूति, महयोग एवं धार्मिक के रूप पर धर्म के प्रकार की जिज्ञा देता है। धर्म विश्व की उन्मादक नहीं बन सकती। केटलिन का तो नहीं तक कहना है कि "मार्क्स का वर्ग-सर्पों का सिद्धान्त ही धार्मिक कृष्ण, रोटी, नहीं तक कि धार्मिकता का भी सम्भव है।" तर्क विचार का उत्तर है, निर्णय का नहीं। यह बुद्ध का एक ऐसा मार्ग है जो एकदम 'निर्दोष' है। यह सिद्धान्त प्रजापति धार्मिकता के समान स्थापित होता ज्ञान कि प्रजापति धर्म और साम्यवादी धर्म के स्थापित हुआ। यह सिद्धान्त रूप से धर्मिकों की स्वाभाविकता धर्मों को तथा उन्नी धर्मिक के पूर्ण धर्मिक के लिए उत्तरदायी है।

प्रो. कोल (Cole) का विचार है कि 'सेमीफैक्टरी' ने अधिक कर्म की शक्ति का मार्ग निर्धारित करते समय मार्क्स पर दुर्भाव के उत्पत्तीय परिस्थितियों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। उस समय दुर्भाव से उत्पादन-वृद्धि के कारण पूँजीपति की समृद्धिशाली और अधिक कर्म बढ़ित होना का रस था। औद्योगिक शक्ति ने उत्पादन-शक्ति का विस्तार कर दिया था, उपार्जन पर की दृष्टि वृद्धि ने शक्तियों की सुख-सुविधा देने की अपेक्षा उनके दुःख और उनकी सारथी की हो अधिक बढ़ावा का। अतः अधिक अपने सुखों का निर्माण करके एकदमकु होने का प्रयत्न करने लगे थे। सन् 1845 में रोबर्ट ओबन के नेतृत्व में निर्मित 'Grand National Consolidated Trade Union' की विफलता के बाद उदित होने वाले 'कार्डिस्ट' प्रन्दोलन ने और सकट के कारण सुलभरी के समस्त गल्ले गोचर थे। ऐसी परिस्थितियों ने मार्क्स की दृष्टि धारणा को जल मिलना प्रभवता उसका इस परिणाम पर बढ़ावा स्वाभाविक था कि पूँजीवाद का विकास अधिक कर्म की दशा को निरन्तर पतनोन्मुख करता है और वृद्धितया समस्तपुष्ट अधिक कर्म न कभी एक ऐसा वस्तुताली राजनीतिक जन-प्रान्दोषन करके जो पूँजीवाद को नष्ट कर देना। यदि 'काम्युनिस्ट सेमीफैक्टरी' दस वर्ष बाद की बरती हुई परिस्थितियों ने सँवार, बिना आता प्रभवता समोचित हो जाता तो सम्भवता मार्क्स की धारणा कुछ भिन्न होती।

मार्क्स का मुख्य एवं प्रतिष्ठित मुख्य का सिद्धान्त (Marx's Theory of Value and Surplus Value)

'प्रतिष्ठित मुख्य सिद्धान्त' (Theory of Surplus Value) का प्रतिपादन मार्क्स ने बहु दिक्कतों के लिए किया है कि पूँजीवादी प्रणाली में पूँजीपतियों द्वारा अधिक की किस प्रकार होयता किया जाता है। इस सिद्धान्त का विवेचन 'काल केविलन' में है। यह स्पष्ट कर देता मानवक है कि इन सिद्धान्त में मार्क्स यह दर्शन नहीं करता कि कसबुदों की कीमत क्या होती या उनमें उत्पन्न-बढ़ाव काय क्या होती है। मार्क्स का मुख्य-सिद्धान्त सीमालो का सिद्धान्त नहीं है। इन सिद्धान्त का मुख्य उद्देश्य तो यह प्रकट करना है कि पूँजीपति अधिक की क्यायोग्य परिस्थितिक नहीं देते। वे अधिकों के धन का सम्माना मुख्य धर्मित कर उनका होयता करते हैं और स्वयं देता करते हैं।

मार्क्स के मुख्य-सिद्धान्त पर रिकार्डी के सिद्धान्त का प्रभाव है। अपने मर्मदानन की नीचाया की अपूर्ति बढ़ति उनमें (मार्क्स) रिकार्डी में बहुत की : मुख्य का धन-सिद्धान्त (Labour Theory of Value) भी रिकार्डी से लेकर उनमें उसे समाजवादी रूप दिया। फिर भी अपनी सीमिकता-प्रवृत्ति करने के लिए मार्क्स बहुत था कि रिकार्डी की धन के मुख्य के बढ़ते धन-शक्ति (Labour Power) के लिए में विचार करना चाहिए। वोकर ने लिखा है कि, "मार्क्स ने पूँजीवाद के के लिए में विचार करना चाहिए। वोकर ने लिखा है कि, "मार्क्स ने पूँजीवाद के विकास और सामाजिक परिस्थितियों की जो व्याख्या की है, उसका मुख्य तत्त्व उसका प्रतिष्ठित मुख्य (Surplus Value) का सिद्धान्त है जिसे उसके मुख्य के धन-सिद्धान्त (Labour Theory of Value) के आधार पर स्थिर किया था। मुख्य

के अन्तर्गत वास्तु का मूल्य यह है कि अन्त में किसी वस्तु का विनिमय-मूल्य उसके उत्पादन पर अन्त की मात्रा पर निर्भर है। यह सिद्धान्त मार्क्स से बहुत पहले अनुमान तथा उद्योग-प्राप्त सिद्धान्त-कारिगरी से व्यक्तित्व था। यह मान्य है एक घरेलू सिद्धान्त या श्रमिक प्रतिपादन १७वीं सदी में सर विनियम वेरी ने किया था। उसके बाद अन्य व्यापक ग्रन्थ कार्यकारिगरी—मुकरर एडम स्मिथ और डेविड रिक्साडों ने भी इस पर अनेक प्रकार से और दिया और अपने मतों में दिया।^१ मार्क्स के मूल्य-सिद्धान्त पर रिक्साडों के प्रभाव को दर्शाते हुए जो. वेयर (Wayss) का कथन है कि “मार्क्स का प्रतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त रिक्साडों के सिद्धान्त का ही व्यापक रूप है जिसके अनुसार किसी भी वस्तु का मूल्य उसमें निहित श्रम की मात्रा के अनुपात में होता है, यानी कि यह श्रम-उत्पादन की क्षमता के वर्तमान स्तर के मूल्य हो।”

मार्क्स के मूल्य के सिद्धान्त की व्याख्या करने के लिए उपयोग दो शब्दों—उपयोग-मूल्य (Use Value) तथा विनिमय-मूल्य (Exchange Value) का सर्वप्रथम प्रयोग किया जा रहा है। उपयोग-मूल्य का अर्थ वस्तु की उपयोगिता से है। किसी वस्तु में विनिमय-मूल्य तब होता है जब उसमें मानव-श्रम की कुछ मात्रा लगी होती है।

मार्क्स का मत है कि प्रत्येक वस्तु का उपयोग-मूल्य (Use Value) इस बात पर निर्भर नहीं होता कि उस पर कितना मानव-श्रम व्यय होता है। बरदाहरण के लिए चाय और जल पर कोई मानव-श्रम व्यय नहीं किया जाता, परन्तु उनका प्रयोग मनुष्य उपयोग-मूल्य होता है। किन्तु किसी वस्तु का विनिमय-मूल्य (Exchange Value) इसलिए होता है क्योंकि उन वस्तु के उत्पादन में मानव-श्रम व्यय होता है। बरदाहरण के लिए एक घड़ी बनाने के लिए एक मजदूर की काफी श्रम करना पड़ता है, परन्तु उसका विनिमय-मूल्य होता है। इन दोनों को स्पष्ट करते हुए मार्क्स ने लिखा है कि—“एक वस्तु का मूल्य इसलिए होता है कि उसमें मानव-श्रम का उपयोग हुआ है। तब इस मूल्य की मात्रा को कैसे मापा जाए? स्पष्टतः मूल्य की दृष्टि करने वाले श्रम की मात्रा का मापन के निहित अर्थ से है। श्रम की मात्रा का मापन इसकी मात्रा से होता है और श्रम-मात्रा का मापन मात्रा, दिनों और घण्टों से होता है। जब यह स्पष्ट है कि जिसके द्वारा किसी वस्तु का मूल्य निर्धारित होता है, वह श्रम-मात्रा का श्रम की मात्रा है जो उत्पादन में लिए सामाजिक दृष्टि से आवश्यक है। इस सम्बन्ध में प्रत्येक वस्तु को उसकी अपनी-अपनी मात्रा में मापा जा रहा है। दो वस्तुओं के मूल्य का अनुपात उस पर अपने अपने मापन के अनुसार होता है।”

मार्क्स के मूल्य-सिद्धान्त के अनुसार श्रम की मात्रा के वास्तविक मूल्य का मूल्यांकन है।

मार्क्स ने औद्योगिक वर्ग और श्रमिक वर्ग के बनने वाले अन्तर्गत मूल्य का मूल्य कारण अपने प्रतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को माना है। उसका तर्क है कि प्रत्येक वस्तु का मूल्य उस पर किए गए श्रम के अनुपात में होता है। जिस वस्तु पर श्रम कितना

(iii) कर्षों की वृद्धि का सिद्धान्त (The Law of Increasing Miscoy)

जिसके अनुसार प्रतिव्यक्ति के कारण पूर्वीयता अधिकता का प्रत्यक्ष योगदान करने निकले कर्षों में बहुत अधिक वृद्धि हो जायेगी, किन्तु इसके साथ-साथ अधिक दान भी शामिल होगी। पूर्वीयता की व्यवस्था में अधिकता की दशा कोषणीय होगी और वे अपनी सुरक्षा के लिए समर्पित होकर वस्तु द्वारा पूर्वीयता की व्यवस्था का प्रभाव करने में सफल होंगे।

4. लोचनारमक मूल्यवर्धन

मानव के मूल्य तथा अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का महत्व आर्थिक ज्ञान की दृष्टिसे एक राजनीतिक तथा सामाजिक ज्ञान के रूप में अधिक है। धर्मशास्त्र के दृष्टिकोण से यह सिद्धान्त समस्त मानवजाती पर प्राथमिक है। यदि यह ज्ञान है कि धर्म के बिना पूर्वी का उत्पादन नहीं हो सकता, तो यह बात भी उतनी ही सत्य है कि बिना पूर्वी के धर्म भी उत्पादन नहीं कर सकता। उत्पादन में धर्म की हो एकमात्र सक्रिय और प्राथमिक तत्त्व मानता तथा धर्म की समझौते की ही उत्पादन का मुख्य नियंत्रण करने में ग्राह्यविषय धर्म सम्बन्धित समस्त प्रारम्भ है। धर्म के अतिरिक्त बहुत से ऐसे तत्त्व हैं जिसके कारण एक वस्तु का मूल्य निर्धारित होता है जैसे बुद्धि, पूर्वी तथा समस्त व्यवस्था सम्बन्ध। मानव की यह भी सम्झौते मूल है कि हमने केवल प्राथमिक धर्म की ही धर्म माना है। और प्राथमिक धर्म की प्रेरणा की है। गुणवत्तात्मक रूप से उत्कृष्ट बौद्धिक धर्म की प्राथमिक धर्म का गुणवत्तात्मक मानना हास्यास्पद है। गुणवत्ता, जब पूर्ण प्रतिव्यक्ति का प्रभाव हो तब यह धर्म-मूल्य सिद्धान्त विचारित नहीं हो सकता। मूल्य के हीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त के अनुसार उपयोग-मूल्य की ध्यान में रखा होगा।

अतिरिक्त मूल्य-सिद्धान्त की आलोचना

1. यह सिद्धान्त सभी वस्तुओं पर लागू नहीं होता। यह प्रभाव और प्राथमिक नहीं है और न ही हमारे पर प्राथमिक है। पूर्वीयता में अधिकता के प्रभाव की प्रवृत्ति करने के सिद्धान्त इसकी और कोई उपयोगिता नहीं है।

2. मानव के सिद्धान्त का यह भौतिक विचार ही समस्त है कि वस्तु के मूल्य में अधिकता की ही जाने वाली समझौते के सिद्धान्त समझौते अतिरिक्त मूल्य पूर्वीयता द्वारा की जाने वाली प्रेरणा है। मानव मूल्य जानता है कि धर्म मूल्य की निर्धारित करने वाले प्रत्येक तत्त्वों में से एक है। बिना पूर्वी के धर्म स्वयं ही रहता है। धर्म की प्रेरणा प्रतीति में पूर्वी मानने में अधिक लाभ होता है। समझौते के उत्पादन के लिए पूर्वी, प्रतीति, सम्बन्ध, वैज्ञानिक ज्ञान, प्रत्यक्ष-कोषण, समस्त-धर्मता प्रादि प्राथमिक रूप से प्रेरित हैं क्योंकि इन सबके सहयोग के प्रभाव में अधिक केवल अपने धर्म के कोई वस्तु उत्पादन नहीं कर सकता। वस्तु के मूल्य-निर्धारण में धर्म के प्रभावों में तब भी प्रभाव निर्धारित प्रभाव सम्बन्धित है।

3. मानव ने केवल प्राथमिक धर्म की ही धर्म माना है, प्राथमिक धर्म की प्रेरणा

३. इन साम्यवादीयों के उद्देश्य में यद्यपि मार्क्स का प्रतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त शास्त्र नहीं है, तथापि यह स्वीकार करना होगा कि यह सिद्धान्त एक ऐसा मूल्य तत्व है जो पूँजीवाद का हृदय हिता देने वाली विभोजिकाओं का उद्घाटन करता है। इस बात से हमारा करना कठिन है कि पूँजीपतियों ने अमिको की मेहनत पर अपनी विरासिता के महत्व लगे किए हैं। चाहे उन्हें चाहा होवे वाता सम्पूर्ण लाभ प्रतिरिक्त मूल्य न हो, परन्तु उनके लाभ का एक बहुत बड़ा भाग ऐसा होता है जिसके वे किसी भी प्रकार के अधिकारी नहीं हैं। अमिको और दरिद्रों की दमनीय व्यवस्था देखते हुए कहा जा सकता है कि उनकी इस व्यवस्था का बहुत बड़ा उत्तराधिकार पूँजीपतियों पर है। मार्क्स का प्रतिरिक्त-मूल्य का सिद्धान्त इस, तत्व को पुष्टि करता है। यद्यपि साम्यवाद यह मानते हैं कि मजदूर अपने समस्त लो लोभित भले ही होता है, लेकिन बाद में स्वरूप हो जाता है। इसके उत्तर में मार्क्स ने कहा है कि मजदूर की दति बड़ी खराबी। अमिको का मीमश उपयोग के रूप न भी होता है क्योंकि पूँजीपति द्वारा अधिक मूल्य पर वाजारी के विषय की हुई कसूरें मजदूरों की भी खरीदनी पड़ती हैं। इस तरह कारणाने, वाजार यदि सब जगह मीमश-वच चलता रहता है। मार्क्स के मूल्य-सिद्धान्त की दुकराते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि पूँजीवाद की व्यवस्था ने अमिको को अपने लाभ का अनुचित मूल्य नहीं मिलेगा।

मार्बल का राज्य-सिद्धान्त
(The Marbale Theory of State)

माकर्त के दर्शन पर सब तक तो कुछ कहा गया है उसमें मार्क्स का राज्य-विज्ञान बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। माकर्त का राज्य-विज्ञान उनके इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की-एक उपनिधि (Concept) मात्र है। इस विज्ञान द्वारा पूँजीवाद के साम्यवादी स्वरूपों में शासक के पक्ष में अन्धकारों स्वरूप पर और भी चर्चित प्रकाश पड़ता है। माकर्त इस बारे में सोच रहे हैं कि जर्मन के बाद कृषाज की क्या रचना होगी और राज्य के क्या कार्य होंगे, उपनिधि उनकी और ऐतिहास की रचनाओं राज्य-विज्ञान को प्रकाश ही स्पष्ट करती है।

राज्य का परम्परागत व्यवस्था काशीन विद्यालय राज्य को एक निरालात्मक समूह (A Corporative Group) मानता है जिसमें विभिन्न समूह व्यवस्था वर्ग समूह के सामान्य कल्याण के लिए परस्पर सहयोग करते हैं। सरकार के बहुवचनिक दली में, "राज्य का जन्म जीवन के लिए हुआ है और गुण जीवन के लिए जनता प्रतिष्ठान है।" राज्य जन परिवर्तनशीलता की साथ होता है जिसमें यह कर अधिक सामाजिक व्यवस्था व्यवस्था का पूर्ण और सन्तुष्ट विकास करता है। राज्य एक ऐसा पराजित जमाना करता है जिस पर समुदाय कार्यालयों के रूप में सामान्य कल्याण की बुद्धि के लिए कारागारिक समुदाय की और समुदाय होते हैं तथा जाति, वर्ग, धर्म, धर्म, धर्म, धर्म की समुदाय भावनाओं के ऊपर उठने का प्रयत्न करते हैं। कार्यालय में, राज्य एक 'कार्यालय समुदाय व्यवस्था परिवर्तनीय समूह' (A Universalist Association) है जो

‘समाज के विभिन्न तत्त्वों में उचित अनुकूल व्यवस्था करने’ का प्रयास करता है। लॉरेन्स (Lassie) के शब्दों में, “राज्य अपनी नीति से नागरिकों के सम्बन्धों को एक भक्ति सम्बन्धित करने का प्रयत्न करता है कि प्रत्येक नागरिक यदि चाहे तो मानव-व्यक्तित्व का पूर्णतम विकास कर सके।”¹

किन्तु कार्ल मार्क्सो विद्यालय राज्य के इस परम्परावादी विद्यालय के अवलोकन है। मार्क्स के अनुसार राज्य सर्व-व्यवस्था को अपना उद्देश्य बनाने वाला अनुशासन नहीं रहा है और न कभी हो सकता है। ‘यह तो सर्वत्र एक ऐसा व्यवस्था रहा है और सर्वत्र ऐसा ही रहेगा जिसके द्वारा प्रधान धार्मिक वर्ग दूसरे धार्मिक वर्गों पर आचल करता है और वर्गगत कोषागार करता है।’² पूंजीवादी युग के प्रारम्भ में पूंजीवादी वर्ग ने वर्तमान इतिहास-राज्यों में राजनीतिक शक्ति पर अपना सत्त्व अधिकार (Economic Supremacy) स्थापित किया हुआ है। ‘कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो’ में यह उल्लेख है कि सामुदायिक राज्य की कार्यवाहिका सभी पूंजीवादी के सामान्य नागरिकों के प्रत्यक्ष के लिए एक नीति बना है। रेजिमेन के अनुसार राज्य “एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के व्यवस्था के लिए एक मात्र मात्र” है। मार्क्स और ऐंगेल्स राज्य की ऐसी और परम्परा के सामान्य समाचारिक अनुशासन (Universal Association) नहीं मानते। उनके मत में राज्य का जन्म इतिहास की प्रक्रिया में एक समय हुआ है जब समाज ऐसे दो विरोधी गुटों में विभक्त हो गया है जिनके हित परस्पर टकराते हैं और जिनमें-कोई सामान्यतः समाचार नहीं हो सकता। इन दो गुटों में राज्य ‘वर्ग-सम्बन्धों’ की व्यवस्था है। यह “आचारधर्म धार्मिक नीति बनाई व्यवस्था के सम्बन्धों पर समाचार के नीतिक आधारों के स्थापितों द्वारा वर्गों के गुणों के लिए प्राप्त किया हुआ जनरी शक्ति है।” राज्य के उद्देश्य ‘प्रधान वर्ग की अधीनस्थ वर्गों का कोषागार करना, अपनी सम्पत्ति की रक्षा करने और इसे पूंजीवादी वर्ग के सामान्य विकास की कुशलता की शक्ति प्रदान करता है। सामुदायिक पुनर्स्थापन की जारी जारी और अन्त में राज्य की नीतिक शक्ति, पूंजीवादी वर्ग के उत्पादन-सामान्य पर नियंत्रण की सुरक्षा करने के लिए ही है।”

मार्क्स की परम्परा है कि व्यवस्था द्वारा सामान्य वर्ग अपनी व्यवस्थाओं को शक्ति की पर-नीति है। सामान्य का प्रयोग सुबुद्धि या नीति विम्वर वर्ग का कोषागार के लिए करते हुए रहे है। राज्य एक ऐसी व्यवस्था है जो धर्मियों के सत्तरिक्त युग की व्यवस्था में पूंजीवादी की व्यवस्था है। पूंजीवाद का हिरो की रक्षा के लिए राज्य न केवल युद्ध और वैश्विक शक्ति की व्यवस्था करता है बल्कि राज्य की सामान्य-व्यवस्था की व्यवस्था भी होती है। राज्य के राज्योत्तर नियंत्रण अनुसार ऐसे व्यवस्था करते हैं जिनके धर्मियों का पूंजीवादी के विरुद्ध विरोध करना सक्षम हो जाता है। और तो और, निम्न एक वर्ग वैश्वी सामुदायिक व्यवस्था का प्रयोग भी धर्मियों के समय हेतु किया जाता है। सामुदायिक पूंजीवादी राज्य सर्व-व्यवस्थाओं का माध्यम है

अधिकारी की चेतावा की रखते हैं और उनके मन में यह भावना भरने की चेष्टा करते हैं कि राज्य के विरुद्ध विद्रोह ईश्वर के प्रति पाप है। पूँजीवादी राज्य की वैधानिक संस्थाएँ अधिकारी से व्यापारान्न और समर्पण की भावना भरने का कार्य करती हैं।

मासर्स ने इन राज्य-विद्वान् के कुछ निम्नलिखित निहितार्थ (Implications) प्रस्तुत होते हैं—

1. राज्य धन-मय की उत्पत्ति एवं अभिव्यक्ति है। यह सर्वत्र ऐसा समुदाय रहा है और रहेगा जिसके द्वारा एक व्यक्ति अपने पर नियंत्रण और नियंत्रण होता है। “कहाँ, कब और किस रूप तक राज्य का जन्म होता है यह प्रत्यक्ष रूप से इन बात पर निर्भर करता है कि कब, कहाँ और किस रूप तक एक राज्य, विशेष के विरोधी में सामंजस्य स्थापित नहीं हो सका, और एग्री के व्यक्तिगत से राज्य का अभिव्यक्ति यह सिद्ध करता है कि बने समुदायी विरोधी में कभी सामंजस्य स्थापित नहीं हो सका।”¹

2. वर्तमान पूँजीवादी राज्य में अमरीकी बने कभी आस्था नहीं एक समुदाय वर्गीकृत इसमें पूँजीवादी द्वारा समुदाय नियंत्रण होता है। संसद रूप मारने की दुष्काय है और समुदाय-समय पूँजीवाद के पक्षीय। ऐसी स्थिति में अधिकारी राज्य के प्रति बेकायद विरोध की रखता है। समुदाय करती हैं।

3. राज्य एक समुदायी समुदाय है जो बने-बेदी की सामान्य रखकर वर्गी-विरोधाधिकारी का नियंत्रण करता है। वर्तमान पूँजीवादी राज्य में अव्यवस्थायी प्रतीत होने वाले कार्य, जैसे न्यायपालिका, सार्वजनिकता में समुदाय वारतुन में समुदाय रूप से अधिकारी की समुदाय के लिए ही है। राज्य का यह समुदायी स्वरूप एक पूर्णतः, एकदम ही जाता है जब यह राज्यवादी का समुदाय समुदाय अधिकारी की हस्तगत कार्य का समुदाय है।

4. समुदाय के विद्वान् के समुदाय पर मासर्स ने समुदाय है कि अधिकारी में राज्य नहीं रहेगा और एक बने विहीन। राज्य-विहीन समुदाय की स्थापना होती है। जब अमरीकी बने की विरोध के परिणामस्वरूप पूँजीवादी समुदाय के रूप में राज्य समुदाय ही जाता है। सार्वजनिक वारतुन का ‘राजनीतिक स्वरूप जाता रहेगा और समुदाय समुदाय विहीन की समुदाय करने के लिए समुदाय समुदाय समुदाय बन जायेगी।”

3 पूँजीवादी समुदाय बने समुदाय एक अधिकारी के समुदाय का समुदायिकता समुदाय करने के लिए एकदम समुदाय कायम है और समुदाय पूँजीवादी समुदाय में राज्य समुदाय बने की समुदाय करता है और इसके लिए यह समुदाय समुदाय करता है, इसलिए राज्य का समुदाय समुदाय समुदाय समुदाय द्वारा समुदाय का समुदाय है। समुदाय के समुदाय राज्य की समुदाय करने के लिए समुदाय समुदाय के समुदाय समुदाय पूँजीवादी का समुदाय समुदाय समुदाय समुदाय और समुदाय समुदाय समुदाय समुदाय

का पूर्णतया विनाश न हो जाए, राज्य पर व्यक्तियों का अधिनायकत्व रहे क्योंकि सत्ति की रक्षा के लिए सत्ति का उपयोग आवश्यक है।

6. व्यक्तियों का अधिनायकत्व वर्गविहीन समाज की स्थापना के पूर्व की सन्निवृत्तकालीन (Transitional) अवस्था है। मार्क्स ने अपने 'Criticism of the Gotha Programme' में लिखा है, "पूँजीवादी और साम्यवादी समाज के बीच एक या दूसरे में परिवर्तित होने का क्रान्तिकारी काल रहता है। इसी के अनुकूल एक राजनीतिक अक्रान्तिकाल भी होता है जो केवल क्रान्तिकारी समझौते के ही मान्यताहीन ही हो सकता है।"

सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के अन्तर्गत राज्य के वर्ग-वर्चस्व का अन्त हो जाएगा और समाज में सभी के स्वतन्त्र विकास के लिए सभी लोगों पर एक सत्ति का शासन बिकाने। इस अन्तर्वादी अधिनायकत्व के चलते मार्क्स यह भर्त्सा करता है कि राजनीतिक अक्रान्त के अन्तर्गत भी जब तक अक्रान्त के साधनों पर कोई सही क्रांतिकारी का स्वाभाव रहता है, सर्वहारा सत्ता प्रसार का (वर्गीय) अधिनायकत्व आवश्यक रहता है। मार्क्स के अनुसार सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व एक प्रकार के अक्रान्त के अक्रान्त का रूप धारण कर लेता है। जहाँ पहले अक्रान्त के राज्य में वर्ग-विरोध दायम रहते हैं और पूँजीवादी शासन का स्वाधिकार ऐसे ही बेरो पर निर्भर रहता है, जहाँ दूसरे अक्रान्त के अधिनायकत्व का उद्देश्य सभी वर्गों का अनुकूल कर देने के लिए मार्क्स प्रयत्न करना होगा। सर्वहारा-वर्गीय अधिनायकवाद के द्वारे व समाज के दो वर्ग अस्तित्वहीन हैं—

"वर्गविहीन समाज के भी अन्तर्गत अस्तित्व का प्रत्यक्ष सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकवाद है जो मार्क्स और ऐंगेल्स के अनुसार सर्वहारा-वर्ग की क्रांति के मुख्य कार्य स्थापित होता है। इन अवस्था में यह कल्पना की जाती है कि सर्वहारा-वर्ग सत्ति अस्तित्व में एक ऐसे राज्य का निर्माण करता है जो वर्ग का प्रयोग करता है। इससे सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकवाद की मुख्यतः राज्य की सत्ति की वर्ग-सत्ता का माध्यम होता है। उसका कार्य यह होता है कि यह स्थापित पूँजीवादी राज्य की नीकरकारी को नष्ट करे, अक्रान्त के साधनों को मार्क्सवादी सत्ता के रूप में परिवर्तित करे जो यदि पूँजीवादी वर्ग अस्तित्व में प्रयोग करे तो उसे समाप्त करे। जब वे कार्य ही शुरू करने लगे अक्रान्त के अन्त होने की प्रक्रिया आरम्भ होती है। सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकवाद कितने समय तक दायम रहेगा, यह बात पूरी तरह से अनिश्चित पर स्पष्ट की गई है। मार्क्स तथा ऐंगेल्स ने सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का सबसे सामूहिक विद्यमान के एक महत्त्वपूर्ण मौलिक रूप में विकास नहीं किया। सन् 1848-50 के बीच के क्रान्तिकारी अक्रान्तों में सम्मिलित रहती है क्योंकि यह बात निश्चित थी कि यदि वर्गविहीन समाज को एक वास्तविकता बनना है, तो यह एक दिन में नहीं हो जाएगा। इसके लिए एक अक्रान्त काय की आवश्यकता होती है। सन् 1850 के बाद यूरोप की राजनीति में क्रांति का अस्तित्व अब ही गया था और यह क्रांतिकारी पथ पर अग्रसर होने लगी

घी । फलतः, इस विषय का माने विवेचन आवश्यक हो गया था । इस संकल्पना को मई १९१७ में लेनिन ने प्रह्लाद किया और उसे राजिवादी मार्क्सवाद के पुनरुत्थान का एक साधन बनाया । लेनिन की कर्ति की सफलता में इसे सामुनिक-राजनीतिक किल्ले के लिए एक बहुसंयुक्त विषय बना दिया है ।^१

जब राज्य राज्य में सम्पूर्ण समाज का प्रतिनिधि बन जाएगा और कार्य-वेग में रहे, तो राज्य समाजवादी हो जाएगा । इस स्वरूप में 'वाद' और 'प्रतिवाद' का प्रतिष्ठित 'न्याय' और 'सांस्कृतिकता' के राज्य के उठकर मनुष्य समाजवादी स्वतंत्रता के राज्य में प्रवेश कर जाएगा ।

राज्य-सिद्धान्त की आलोचना

मार्क्स के राज्य-सिद्धान्त का समर्थन उसके वर्ग-समर्थ के सिद्धान्त के समर्थन में ही निहित है। इसका ही निष्कर्ष वर्णित है कि राज्य-सिद्धान्त ही इस मार्क्सवादी धारणा को मान्य नहीं करता कि राज्य वर्ग-संयुक्त और समतल या सम है । मार्क्सवादी सिद्धान्त राज्य के अधिक पूर्ण और अधिक समर्थ स्वरूप की खोज कर केवल एक रोक-रोक राज्य का समर्थन करता है । यद्यपि यह मान्य है कि मार्क्स वर्ग वर्ग ही लक्षित करने की शक्ति नहीं रखे हैं और यद्यपि समर्थ पर अपने वर्ग वर्ग के द्विती की सिद्धि का प्रकाश किया है, तथापि अभी उदाहरणों का अध्ययन लेकर राज्य के सम्पूर्ण सिद्धान्त का निर्माण कर देना एक ऐसी ही बात है जैसी कोरी, काहुली, टुल्कारी जति की घागाड़ी बुद्धि के आधार पर मार्क्स समाज के सिद्धान्त की रचना करना । यद्यपि मार्क्स अपनी व्याख्याओं और उदाहरणों के लिए विश्व में प्रसिद्ध हुए हैं । उन्होंने अपना समय बीहड़ मार्क्स-समाज के प्रकाश में लगा दिया था ।

मार्क्स का मूल्यांकन (An Estimate of Marx)

मार्क्स की प्रज्ञा और समीक्षा के पुनर्निर्माण हैं । मार्क्सवादी ने इसे एक प्रकार की प्रतिष्ठा दी है जो बुद्धिमान मूल में इसे समर्थ और वैसी का अनुभव करता है । लेनिन उनके सामर्थ्य की यह समीक्षा करते हैं कि मार्क्स एक ऐसी आलोचना विचारधारा का जनक या विचारक सामुनिक विचार । राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक संरचना पर राजिवादी प्रभाव डाला है; जिसका नाम समर्थ के करोड़ों लोगों की उन्नति पर है, जो समर्थ की एक बड़ी जनसंख्या का लक्ष्य है और जिसकी रचनाओं की करोड़ों लोग समर्थ और समर्थ में आते हैं । इसके अलावा यह कि मार्क्स सिद्धान्त की व्याख्याओं और समर्थियों के अनुसार मार्क्स १९वीं शताब्दी का सामर्थ्य प्रभावशाली व्यक्ति "म । इस प्रतीति की भी या वर्णमान की, यह समर्थन करता होता है कि मार्क्स की विचार के सामर्थ्य बहुसंयुक्त राजनीतिक आलोचना की प्रति में समर्थ प्रभाव है जिसने विश्व की न केवल एक बड़ी सामर्थ्य विचारधारा

के द्वारा विभिन्न इतिहास की रचना की करता रही। यद्यपि की प्रत्यक्ष वैज्ञानिक समाजवादी होने पर भी प्राप्त है। एक सामान्य के मानस की दूरदर्शिता और सकलता तथा प्रभाव का मूलनीक-करते हुए केर के के विचार उत्प्रेक्षणीय हैं—

[illegible]

प्रदर्शन करते मिलते हैं और कभी विरोध।¹⁰¹
- 'संस्कृतशास्त्राचार्य' विवेकानन्द का खोज नहीं होती। शास्त्रों के घन और विज्ञान के समीप के पुनर्जीवना के लिए वे हैं। पुरातन के जेमियों के लिए उनके पास कर्म की उपाय नहीं। शास्त्रों के पुनर्जीवनों के लिए उनके पास विज्ञान की विरासत है। उसका सामाजिक प्रकाश की नवीन विरासत है। अपने अनुयायियों के लिए उनके पास का नवीन स्तर था। मुक्ति का ज्ञान-दमन उनके सुनिश्चित किया है। उनके एक ऐक्य के माध्यम से समाज के पुनर्जीवित कर ही है।¹⁰²

मालवे संशोधन पुर्णवस्त्रों और कृष-साधकियों के पूर्णतः मुक्त या, अर्थात् उन्नत वैज्ञानिक उद्यम से अपने विचारों का प्रसिद्धकर कर आधुनिक जगत् को एक सम्मान देन थी । जो सम्राजवाद भारत के पूर्ववर्ती विचारों के हाथों से एक उच्छ्वास की वस्तु बन गया मा उन्ने मालवे से एक समीर और साधकपूर्ण विषय बनाकर विश्व में प्रचारित किया । मालवे के धारणन से हुये एक सम्मेलन के पूर्व ही है और हम एक बात की मूर्तता यही मालवे कि उन्ने सम्राट की इतिहास के एक कदम के अन्तर्गत की एक सर्वसम्मत, वैज्ञानिक और मान की मूर्तता दिया प्रदान की । मालवे से

स्वतन्त्र शैक्षिक एवं सामाजिक विकास के लिए समय और सुविधाएँ मिल सकें। मानस के साम्राज्यवाद का मध्य धर्म अपने-ही पारम्परिकी राजनीतिक सिद्धान्तों की भाँति एक ऐसे समाज की रचना है जिसमें अत्यधिक स्थिति का पूर्ण एवं स्वतन्त्र विकास ही प्रमुख मध्य होता है।¹

मानस की एक महत्वपूर्ण देन उसकी निम्नलिखितप्रकार पद्धति का विज्ञान (Analytical Methodology) है जिसके पक्ष पर राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीयता की समन्त व्याख्या सम्भव है। मानस ने सांस्कृतिक स्वाधीनता, राष्ट्रीयता आदि का समर्थन करते हुए अन्तर्राष्ट्रीयता के साथ उनका सामंजस्य बँटाया था। इस पक्ष की महत्वपूर्ण व्याख्या स्थानिय ने अपने सिद्धान्तों में की और राष्ट्रीयता की ऐतिहासिक स्वरूप प्रदान कर उसका भाषा, क्षेत्र, धार्मिक जीवन, संस्कृति आदि के साथ स्थाई सम्बन्ध किया। मानस-निर्णय का सिद्धान्त (Right of Self-determination) हमका सामाजिक परिणाम था। पारम्परिकी व्यवस्था के परम्परागत सत्ता की राजनीतिक स्थिति का र्थावर्तन करने में धार्मिक उदात्त धर्म हमारे का विचार मूल्य ही बना।

साम्प्रदायवाद और उपनिवेशवाद के विरुद्ध आवाज उठाकर मानस ने सत्ता का सबसे बड़ा उद्घाटन किया। मानस की इस दृष्टि से कुछ-समर्थक नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह कुछ को सम्मिलित प्रत्यापी था। अनिर्वाह अधिजात मान्यता या और इसलिए उन कारणों की ही समुप नष्ट करना चाहता था जिनसे कुछ की सम्भावना बनी रहती है। मानस की नई साम्यवादी व्यवस्था उसका के सामने जन-संस्कारकारी रूप में प्रस्तुत होती है इसलिए अवस्था का साथ देने का ही न्यय विचारोन्मुख होकर "पुराने का बहिष्कार और नए का स्थापन करते हैं।"²

मानस ने धार्मिक धर्म के महत्त्व-दीक्षा के रूप में मोनोडिक्ता प्रस्तुति की जिसमें उसने उद्योगिक वाक्य करने की विमलस्य स्थिति की विकास उसके अनुमानियों ने बहुतरा से प्रयोग किया। धर्म के प्रति दया और अनादृश की विवेकता पर अपने नैतिक विधायन के कारण उसने पूँजीपतियों के विरुद्ध आरोप की उद्दिष्टियों की और दमित वर्ग की पुँजीवाद के विनाश तथा समाजवाद की स्थापना के प्रति धार्मिक विधान के समान धर्म विधान से प्रोत्साहित कर दिया। मानसवाद प्रायः एक धर्म ही बन गया और उसने सीधिय ही जाना एक धर्म-दीक्षा की ही गई।

पुँजीवाद और सामाजिक प्रतिपादों के निम्नलिखित के ऐतिहासिक विकास की विधियों की बहुस्वीकार्यता ने तथा समाजवाद के उपदेश ने मानस को उद्योगी बहुल सामाजिक स्थिति नहीं बनाया जिसका सामाजिक, वैज्ञानिक तथा उपदेश के सम्मिलित रूप है।

ए. लैडी (A. Lady) नामक लेखक ने जो यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि मानसवाद और उपनिष्ठा की सम्मिलता में अन्तर नहीं है। उसके मतानुसार अन्तराष्ट्रीयता परम्परा का जन्म काल में हुआ (जैसे धर्म की कालि) और इसका विकास अन्तराष्ट्रीयता के समर्थों द्वारा हुआ। अन्तराष्ट्रीयता परम्परा की कुछ विशेषताएँ यही हैं—समाज में समान्यता प्रस्तुतकारक, दुष्टिनीय में अन्तर्राष्ट्रीय और इसी की अन्तर प्रति एवं अन्तराष्ट्रीय तथा अन्तराष्ट्रीय के लिए धर्म की पुनः

की परम्परा। मैथवी की दृष्टि में, "मार्क्सवाद 17वीं और 18वीं सताब्दी में हुए प्रजातन्त्रवादक, प्रचलनों का ही ऐतिहासिक फल है। यह कम स्वयंसेवीय एवं समाजवादीयों के मानकतावादी प्रचलनों की ओर भी विस्तृत पैमाने पर बदलत चला है।"¹

मार्क्स की महान् देन और उनके विमर्शपूर्ण प्रभाव के विवेचन के इतिहासिक विषय का मुख्य पट्टा भी है। मार्क्स के विचारों के प्रत्यक्षता, विशेषकर उनमें, महत्ता, इतिहासवादी और सत्य तथा प्रामाण्य भविष्यवाणियों हैं। मार्क्स के विभिन्न विचारों का विवेचन के प्रश्न के आलोचनात्मक तथा पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है, तथापि संक्षेप में—(क) मार्क्स का भौतिकवाद व्यक्तिवादी नहीं है। मार्क्स व्यक्तिवादी का विचार ही उनकी शिक्षा का मार है। जहाँ भी वह उन्मादन की शक्तियों काया सांवाहिक चेतना की कार्य करता है, उसकी भाषा निश्चयवादी ही जाती है, और, जब वह मनुष्यों की विवेक चेतनाओं की कार्य करता है, तब वह मजबूत मान-प्रदर्शन ही जाता है। अतः में वह इसी निश्चय पर पहुँचता है कि मनुष्य के विकास के लिए भौतिकवादी तथा सामाजिक दोनों ही विचार मान-महत्त्वपूर्ण हैं।

(ख) मार्क्स का वर्ग-विरोधतामय दृष्टि दृष्टिकर्त है, तथा पाठकान्त सम्पन्न इस मत का समर्थन नहीं करने की सामाजिक तथा ही कार्य सामाजिक स्तर का निर्धारण करती है। मार्क्स के वर्ग-सम्बन्धी स्वीकृति विचार भी विमर्शपूर्ण हैं। उन्हें स्वीकृति नहीं, परिष्करणशील होता है। एक वर्ग का दूसरे वर्ग से परिष्करण-सम्बन्ध बना रहता है, जब सामाजिक वर्गों की उनके सभी विवेचना यह है कि व्यक्तिगत रूप से परिवारों का आमान-व्यवस्था होता रहता है। (ग) मार्क्स के वैज्ञानिक तरीके से सिद्ध कर दिया है कि पूँजीवाद के विकास के परिणामस्वरूप दो वर्गों की श्रेय रहेगी। परन्तु यह बात सत्य नहीं है। इसमें प्रत्यक्ष तथा प्रक्षिप्त-समाजवादी के वर्गों की स्वीकृति नहीं दिया। इसमें उसमें कोई दोष नहीं, क्योंकि इसमें वह निर्भर करने सतीतकालीन मनुष्यों के आधार पर ही लिया जा। उनका यह दृष्टिकर्त कि व्यक्तिगत विकास के इतिहास में एक निर्धनतर होने जायें, सत्य नहीं है। आज की मजदूरी को अपनी पर एक सताब्दी पूर्व की मजदूरी दलों के ऊँची हो है। उसमें कहा जा कि जति वह समय कम हुआ में ही। मार्क्स ने आधुनिक-युग तथा समाज-केम-राज्य के विकास के विषय की ओर स्थान नहीं दिया। इसमें लिखा है कि मध्य-कालिक वर्ग विन-वर्तिष्ठ प्रजातन्त्रवादी हुआ जा रहा है, और व्यक्तिगत दृष्टी देखी में पूँजीवादी होने जा रहे हैं कि एक दिन कुलीनतामयी पूँजीवर्ग वर्गों की ओर व्यक्ति पूँजीवर्ग वर्गों की हलना ही जायगी। समझी करता आज वर्ग-व्यक्तिवों के भाव में ही लिखा गया है। इसके विषय के "न्यू पार्क" में लिखा है—"ये लोग पूर्ण मनुष्यों को मजबूत विज्ञान कर रहे हैं।" परन्तु मार्क्स की व्यक्तिवादी महत्त्वपूर्ण है। उनका विचारवादी कि व्यक्ति में एक वर्गहीन समाज की स्थापना होगी क्योंकि वर्गों के पारस्परिक सम्पर्क के पारस्परिक पूर्ण व्यक्ति में पूर्ण-वर्गहीन समाज सत्य हो जायगा और पूर्ण वर्गों का

1. A. L. London: Marxism and the Democratic Tradition, pp. 24-29.

2. H. L. London: op. cit., pp. 220-222.

विनाश कभी नहीं हुआ है, यतः वर्तमान समाज की कल्पना करना मान साधारणतः पारम्परिक है। (घ) इसके प्रतिरिक्त मार्क्सवाद ने कुछ ऐतिहासिक दोष भी हैं। मार्क्स के इतिहास की चार भाषों में बोल देना उचित नहीं है। उसके प्राचीन इतिहास सम्बन्धी विचारों के लिए उसे क्षमा नहीं किया जा सकता। एन्गोसाइन्स युग की बहुत उत्पत्तिवादी का मान मार्क्स के समय अत्यन्त सृष्टि की था। यतः यह कहना निश्चयहीन हो या कि ईसाई मन धर्म और पवित्र ग्रन्थों की क्षति नहीं की। ऐस्तन के मतानुसार इतिहास का यह वर्णन सम्पूर्णतः नहीं हो सकता जो केवल 100 वर्षों के अनुभव पर आधारित है तथा 100 वर्षों की विज्ञानों की ओर कोई ध्यान नहीं देता। यह जति मानने पर भी परित्याज्य होती है। मार्क्स ने इस ज्ञान का उत्तर नहीं दिया कि पूँजीवाद का विकास केवल पश्चिमी यूरोप में ही क्यों हुआ। यदि इतिहास का निर्माण केवल भौतिक कारकों से ही होता है तो पूँजीवाद का यह विकास सम्पूर्ण विश्व भी सभी समयों के होना चाहिए। परन्तु वास्तविकता यह है कि पूँजीवाद सम्पूर्ण विश्व में विकसित नहीं है। (क) मार्क्स द्वारा राजनीति का मनोवैज्ञानिक रूप की समझना की उचित प्रतीति नहीं होती। मार्क्स राज्य की व्याख्या सत्ति के रूप में करता है, परन्तु सत्ति की समझ का वर्गीय समाधान नहीं करता। उसकी रचनाओं में यह कभी भी अनुभव नहीं किया गया कि मनुष्य अपने अभिमान और घटक-न-सृष्टि के लिए सत्ति की अभिप्राया करते हैं और कुछ मनुष्यों के लिए सत्ति स्वयं पर लाभकारी हो जानी चाहिए। यह मानव-प्रकृति के वास्तविक स्वरूप को नहीं भी प्रदर्शित नहीं करता। उसके पहले ज्ञान योग्य कुछ के हैं जिनमें यह भावनापूर्ण भविष्यद्वक्ता बन जाता है, परन्तु यह मनुष्य की स्वाधीनता की ओर कोई ध्यान नहीं देता। केनिन ने एक बार लिखा "कि वर्तमान समाज की समस्या अपने साथ समाजवादी सामरस्य मनुष्य की ओर ध्यान नहीं देते। मार्क्स द्वारा मानव-प्रकृति की समझना दण्ड का प्रमाण है कि यद्यपि वह एक महान् व्यक्ति था, तो भी उसे मार्क्सवाद का ज्ञान नहीं था।

समाज के रूप में, राज्य और व्यवस्था का भी विचार होकर मार्क्स को वर्तमान इतिहास की एक शुरुआत तथा प्रथम सत्ति प्रमाणित करते हैं। "जैसे युग की प्रकृति और प्रजातन्त्र मार्क्स को किसी; निरनुकूल और अत्यन्तनीय दोनों सरकारों ने उसे अपनी शक्ति में नियंत्रित किया, जन्म देने, मनुष्य के रूप, उस व्यवस्थावादी करने उसके निम्न उत्तर जलने में प्रतिस्पर्धा की। उनमें इन सबसे मजबूती के जालों की तरह भाव का प्रत्यक्ष रूप दिया, इसी उद्देश्य की ओर उत्तर उन्हें सभी दिया जब तक ही गया। जब यह चला करोंकी कार्यकारी अधिकारी ने अपना देन, समाज, व्यवस्था सब कुछ उसे सुटाया। साम्यवाद की लड़ाई के केवल नेतिश्रीविद्या के तट तक सभी इसके मतम न दुर्भी हुए और ये सत्यपूर्णतः यह सत्य है कि उसके नेतिश्रीवत् प्रतिद्वन्द्वी पाई, जन्म रहे, पश्चिम व्यवस्था का समर्थन ही कोई था। उसका काम और नाम यद्यपि इस प्रकार रहेगा"—कोई वैज्ञानिक के इन शब्दों में मार्क्स की महानता प्रकटित हो रही है।

M.A. (Pr.)

I

Pol. Sc. I (P)

M A. (Previous) EXAMINATION, 1980

POLITICAL SCIENCE

First Paper—History of Political Theory from
Plato to Marx

Time allowed : Three hours

Maximum marks—100

Answer only five questions. All questions carry equal marks.

केवल पाँच प्रश्नों के उत्तर दीजिये। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

1. On what grounds did Aristotle object to the Communism of Plato? Is Platonic Communism consistent with human freedom and individuality or is it destructive of them?

अरस्तू प्लेटो के साम्यवाद की आलोचना किन आधारों पर करता था? क्या अरस्तू का साम्यवाद मानवीय स्वतन्त्रता तथा वैयक्तिकता का प्रतिरोधक है या उदरगन्तव्यक है?

2. Why is Aristotle and not Plato, regarded as the father

PTO

of Political Science ? What is the fundamental difference between the political thought of Plato and that of Aristotle ?

अरस्तु की राजनीति चारों का जन्म क्यों माना जाता है और प्लेटो को क्यों स्वीकार नहीं किया जाता है ? प्लेटो तथा अरस्तु के राजनीतिक दर्शन के बीच क्या आधारभूत अन्तर है ?

3. Examine critically the views of St. Thomas Aquinas on the nature and functions of Government and the relation between the State and the Church.

सरकार की प्रकृति तथा कार्य और राज्य तथा चर्च के सम्बन्धों के प्रति सेंट थॉमस एक्विनास के विचारों की समीक्षा कीजिए ।

4. Estimate the importance of the political ideas of the Conciliar Movement. How far was Marsilio of Padua responsible for shaping these ideas ?

कन्सिलियर मूवमेंट के प्रमुख राजनीतिक विचारों की समीक्षा कीजिए । इन विचारों के निर्माण में मार्सिलियो ऑफ पैदुआ कहीं तक उत्तरदायी थे ?

5. "Machiavelli was the father of Modern Political Thought." Discuss. Also describe briefly the contribution of Machiavelli to political thought.

‘मैकिवावेली आधुनिक राजदर्शन का जनक था ।’ इस कथन की व्याख्या कीजिए । राजदर्शन की मैकिवावेली की देन के विषय में भी बताइए ।

6. "Rousseau's political theory aimed at reconciling the sovereign individual of Locke with sovereign state of

Hobbes." Explain and examine the statement.

"हमों के राजदरबान का उद्देश्य हमों के साम्राज्य का सम्पूर्ण राज्य तथा लोक के सुख-सुविधा में सामञ्जस्य स्थापित करना था।" इस कथन की समीक्षा कीजिये।

7. "Benthamism shorts of credities is simply humanism."
—Ivor Brown

Examine this statement critically

"यदि बेन्थम की विचारधारा में उनके असंगत सिद्धांत (Credities) निकाल दिये जायें तो वह मानवतावाद की सम्पूर्ण परिभाषिका सिद्ध होती है।"
—आइवर ब्राउन

इस कथन की विवेचना कीजिये।

8. John Stuart Mill has been described by C. L. Weyper as a 'Reluctant Democrat'. Do you agree with this estimate. Give reasons in support of your answer.

सी.एल. वेपर ने जॉन मील को 'एक असंगत प्रजातन्त्रवादी' के रूप में सूत्रांकन प्रस्तुत किया है। क्या आप इस सूत्रांकन से सहमत हैं? कारण सहित उत्तर दीजिये।

9. "Burke is both liberal and conservative." Examine this statement.

"बर्क उदारवादी तथा सन्निवादी दोनों हैं।" इस कथन की विवेचना कीजिये।

10. "Will, not force is the basis of state." Explain this statement and discuss under what conditions does Green justify rebellion against the state?

“राज्य का आधार यहि नहीं, दमन है।” इस कथन की व्याख्या कीजिये और बताइये कि चीन किस दमनो से राज्य निर्दोह मान-सम्मान प्राप्त करता है ?

11. “Hegel is the father of totalitarian ideologies.” Examine and discuss this statement carefully.

१. “हीगल कुलविचारवादी विद्वानों का पिता है।” इस कथन की कसेला और कमीचा मान्यताओं से कीजिये।

12. “Until Marx, it is true to say that most political Speculation was inadequate because it failed to understand the dominating influence of the property relation in determining the purpose of the state.”

Discuss and in the light of this statement assess the importance of Marx.

“यह कहना वास्तव में सत्य है कि मार्क्स तथा अधिकांश राजनीतिक विद्वान, क्योंकि यह राज्य के उत्पत्ति के निदधपीकरण में साम्यिक सम्मान के समुक्त महत्व की नहीं समझ बाधा, अनवीक्ष्य था।”

इस कथन की विवेचना कीजिये और इसके आधार पर मार्क्स के महत्व को बताइये।

M.A. (PREVIOUS) EXAMINATION, 1981
POLITICAL SCIENCE

First Paper

History of Political Theory from Plato to Marx

Time : Three Hours

Maximum Marks : 100

Answer any five questions

All questions carry equal marks

किसी भी पाँच प्रश्नों का उत्तर दीजिये।

सभी प्रश्नों के एक उत्तर दें।

1. Critically discuss Plato's *Republic* as a solution of the contemporary Greek predicament

प्लेटो के 'रिपब्लिक' का समकालीन यूनानी राज्य के राज्य के रूप में सामंजस्यपूर्ण विश्लेषण कीजिये।

2. Critically examine Plato's criticism of contemporary theories of Justice.

प्लेटो की समकालीन न्याय के सिद्धांतों की समीक्षा या सामंजस्यपूर्ण विश्लेषण कीजिये।

3. "The *Politics*, taken as a whole, is disappointing—that is, disappointing from Aristotle. The fact is, he was not politically minded. Plato was, and it makes all the difference"—(Thomson) Do you agree with the view?

Turn over

“पौलिटिकल की समझ रूप से देखा जाय तो विरादाजनक हो है, इसका अर्थ है, अरास्तू से विरादाजनक है। वास्तविकता यह है कि अरास्तू की मानसिक संरचना राजनीतिक चिन्म की नहीं थी, जबकि प्लेटो की थी, और इसी से दोनों ने सारा अन्तर प्रकट हो जाता है।” (पाठनसत्र)

क्या आप इस बात से सहमत हैं ?

4. Discuss St. Thomas Aquinas as a representative medieval thinker.

सन्त थॉमस एक्वीनास की मध्यकालीन प्रतिनिधिक विचारक के रूप में विवेचन कीजिये।

5. How far do you agree with the view that Hobbes's model of Society was that of bourgeois market society ?

आप इस विचार से कहीं तक सहमत हैं कि हॉब्स का मान्य बुर्जुआ विचारन समाज का था ?

6. Bring out the individualist and the collectivist elements in Rousseau's political philosophy.

रूसो के राजदर्शन में व्यक्तिवादी तथा समाजवादी तत्वों का निरूपण कीजिये।

7. "Mill and Green, between them, set the pattern of English liberal democratic political theory from their time on." (Macpherson). Discuss.

“मिल और ग्रीन प्रत्यक्ष ने अपने समय से आये सर्वोच्च अरास्तू की राजनीतिक राजनीतिक चिन्म का नमूना बनाते हैं।” (मैकफर्सन) विवेचन कीजिये।

8. Do you agree with the view of Popper that Hegel represents a missing link as it were between Plato and modern forms of totalitarianism.

क्या आप सार से इस विचार से सहमत हैं कि हीगल प्लेटो और आधुनिक तानाशाहीवादियों के बीच सीढ़ी हुई कड़ी है ?

9. Critically examine Machiavelli's anarchism.

मैकिावेली के राजतन्त्र का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये।

10. "Marx's theory of the state, despite of its abstract and philosophical character, undoubtedly furnishes an enlightening interpretation of his own historical period." (Pepper). Discuss.

“मार्क्स का राज्य सिद्धान्त, बहुत हीर दार्शनिक ढंग के बावजूद भी, वनशामोय ऐतिहासिक युग की प्रबुद्ध व्याख्या करता है।” (पेपर) विवेचन कीजिये।

11. Bring out the liberal elements in Locke's political philosophy.

लॉक के राजनीति के स्वतन्त्रवादी तत्वों का निरूपण कीजिये।

12. Discuss the contribution of Enoch to the development of liberal political theory.

इसाकवादी राजनीतिक विचारों की केनन के योगदान का मूल्यांकन कीजिये।

M.A. (Pr.)

I

, Pol. Sc. I (P)

M.A. (PREVIOUS) EXAMINATION, 1982

POLITICAL SCIENCE

First Paper

History of Political Theory from Plato to Marx

Time : Three Hours

Maximum Marks : 100

Attempt any five questions.

All questions carry equal marks

किसी पांच प्रश्नों के उत्तर दीजिये :

सभी प्रश्नों के एक बराबर हैं :

1. In what grounds Plato is called the first fascist?
Evaluate these arguments.

प्लेटो को किस आधारों पर प्रथम फासीवादी कहा जाता है ? उन तर्कों का परीक्षण कीजिये ।

Or

अथवा

Examine Plato's philosophy and scheme of education.

10+10

प्लेटो के शिक्षा दर्शन और योजना का परीक्षण कीजिये ।

अरस्तू के "सर्वोत्कृष्ट सम्भव राज्य" का विवेचना कीजिये।

Or

प्रश्नवा

What are the causes and cures of revolution according to Aristotle ?

12+8

अरस्तू के अनुसार क्रांतियों के क्या कारण और उनसे बचने के क्या उपाय हैं ?

3. What is Augustine's doctrine of the "Two Cities" ? What relationship does he establish between Church and the State on this basis.

10+10

ऑगस्टिन का "दो नगरों" का क्या विज्ञान है ? इसके आधार पर वह चर्च और राज्य के बीच क्या सम्बन्ध स्थापित करता है ?

4. Discuss Macnaghto's political ideas and show the place of Church according to him.

मार्सीनघो के राजनीतिक विचारों की विवेचना कीजिये और वह दिखाइये कि उसके अनुसार चर्च का क्या स्थान था ?

5. What was Congress Movement ? What was its contribution to political thought ?

12+8

परिषदीय आन्दोलन क्या था ? राजनीतिक विचारों को इसका क्या योगदान रहा ?

6. "Machiavelli more than any other political thinker created the meaning that has been attached to the State as modern political stage" (Sabunc).

Discuss the modern elements in Machiavelli's thought.

“किसी भी राज्य राजनीतिक विचारक की अपेक्षा मैकियावेली ने राज्य की वह सर्व दिशा है जिस सर्व में उसका प्रयोग आधुनिक राजनीतिक व्यवहार में होता है।” (नेवाहन)।

मैकियावेली के विचारों में आधुनिक तत्वों की व्याख्या कीजिये।

Or

अथवा

“His (Hobbes) work is the first statement of complete Sovereignty in the history of political thought.” (Wapser)

Discuss Hobbes Sovereign.

20

“हाम्ब की कृति राजनीतिक विचारों के इतिहास में सम्पूर्ण सम्प्रभुता की प्रथम व्याख्या है।” (वेपर)

हाम्ब के सम्प्रभु की व्याख्या कीजिये।

7. Discuss the features of the limited government as Locke.

20

लॉक के विचारों में सीमित सरकार की विशेषताओं की व्याख्या कीजिये।

8. Show how and to what extent does General Will solve the problem of authority and liberty to which Rousseau had addressed himself.

वह दिखाइये कि सामान्य दृष्टि ने कैसे और कितना तक सक्ति और स्वतन्त्रता की समस्या, जिसका समाधान करने का प्रयास था, का समाधान किया ?

Or

अथवा

“Rousseau's General Will is Hobbes Leviathan with its head chopped off” Discuss.

16+4

“रूसो की सामान्य दृष्टि हाम्ब का गिरकटा नेवाहन है।” व्याख्या कीजिये।

9. What modifications did Mill make in Bentham's utilitarianism and with what results? 12+8

मिल ने बेन्थम के कसौतीवाद में क्या संशोधन किये और उसका क्या परिणाम निकला ?

10. Discuss the Marxian concept of the State. 20
राज्य की परिकल्पना की मार्क्सवादी व्याख्या कीजिये।

Or

अथवा

Write essays on any two of the following :—

- (i) Liberty in Mill and Green
- (ii) "Will not force is the basis of the State" (Green)
- (iii) The Dialectics in Hegel
- (iv) Conservation of Burke. 10+10

निम्न में से किन्हीं दो पर निबन्ध लिखिए :—

- (i) मिल और ग्रीन में स्वतंत्रता की अवधारणा
- (ii) "राज्य का आधार शक्ति नहीं बलितु इच्छा है"
(ग्रीन)
- (iii) हेगेल की द्वन्द्वपरिकल्पना
- (iv) बर्क की पद्धतिवादिता।

M.A. (PREVIOUS) EXAMINATION, 1983

POLITICAL SCIENCE

First Paper

History of Political Theory from Plato to Marx

Time : Three Hours

Maximum Marks : 100

Attempt any five questions

All questions carry equal marks.

किसी दो प्रश्नों के उत्तर दीजिये :

सभी प्रश्नों के एक उत्तर दें :

1. Comment on any two of the following statements :—

- (a) "State is the individual West large." (Plato)
- (b) "Man by nature is a political animal." (Aristotle)
- (c) "Man can forget the murder of his father but he can never forget the confiscation of his patrimony." (Machiavelli)
- (d) "Capitalism digs its own grave." (Marx). 10,10

निम्न प्रश्नों में से किसी दो की व्याख्या कीजिये —

- (घ) "राज्य व्यक्ति का विस्तार रूप है।" (प्लेटो)
- (ङ) "मनुष्य स्वाभाविक रूप से राजनीतिक प्राणी है।" (मार्क्स)

(क) "मनुष्य अपने पिता की हत्या को पूरा सकता है परन्तु वह पैतृक सम्पत्ति का छोना जाना कभी नहीं पूरा सकता है।" (बेडियावली)

(द) "पूर्वीयार्ध स्वर्ग को कम सोचता है।" (चार्ल्स)

2. "Aristotle's best State is the Plato's Second best State." Comment. 20

"अरस्तु का सादर राज्य प्लेटो का चक-सादर राज्य है।" इस कथन की व्याख्या कीजिये।

Or

अथवा

Why is Aristotle and not Plato, regarded the father of Political Science? What is the fundamental difference between the Political thought of Plato and that of Aristotle? 8,12

अरस्तु को राजनीतिक विज्ञान का जनक क्यों माना जाता है जब कि प्लेटो को नहीं माना जाता? प्लेटो तथा अरस्तु के राजनीतिक विचारों के बीच क्या साधारणतः प्रकार है?

3. "St. Thomas Aquinas represents the totality of the Medieval Thought." Comment. 20

"सन्त थॉमस ऐकिनवास धर्मतन्त्र-मन्दिर-विचारों का प्रतिनिधित्व करता है।" उपर्युक्त कथन की समीक्षा कीजिये।

4. Discuss the Political ideas of Conciliar movement. How far was this movement a success? 12,8

कन्सिलियर समन्वयन के राजनीतिक विचारों की व्याख्या कीजिये। यह समन्वयन कहीं तक सफल रहा?

5. How far do you agree with this view that Jean Bodin, not Machiavelli is the pioneer of modernity? 10

मान इस विचार से कहीं तक सहमत है कि लोग सोचें व कि
वैयक्तिकता प्राधुनिकता का प्रसूत या ?

6. "Being an absolutist, Hobbes was the first individualist." Examine the statement. 20

"हाम्म निरकृपावादी होते हुए भी, प्रथम व्यक्तिवादी था ।" इस
कथन की समीक्षा कीजिये ।

7. "Rousseau's Political theory aimed at reconciling the sovereign individual of Locke with sovereign state of Hobbes." Explain and examine the statement. 20

"कभी के राजनीतिक दर्शन का उद्देश्य हाम्म के समुदाय सम्मन
राज्य तथा लॉक के समुदाय व्यक्ति के राज्यवाद स्थापित करना था ।" इस
कथन की जाँच कीजिये ।

8. Estimate Burke as a Political thinker Was he consistent in his views ? 12,8

राजनीतिक विचारक के रूप में बर्क का मूल्यांकन कीजिये । क्या
उसके विचार सार्वजनिक थे ?

9. "T.H. Green's political philosophy is a unique combination of idealism and liberalism." Examine the statement. 20

"टी.एच. ग्रीन का राजनीतिक दर्शन आदर्शवाद और स्वतंत्रतावाद
का समुदाय मिश्रण है ।" इस कथन की जाँच कीजिये ।

Or

अथवा

Discuss the contribution of Bentham to the development of Liberal Political theory. 20

स्वतंत्रतावादी राजनीतिक विचार के विकास में बेंथम के योगदान
का मूल्यांकन कीजिये ।

10. "Marx found Communism a chaos and left it a movement." Assess the contribution of Marx in the light of this statement.

"मानवों ने राज्यवाद को संसदवाद स्थिति में बाधा देना शुरू एक दान्तेयन का कर दिया।" जर्मन कवन के अन्तर्ग वे मार्क्स के योगदान का मूल्यांकन कीजिये ।

M.A. (PREVIOUS) EXAMINATION, 1984

POLITICAL SCIENCE

FIRST PAPER

History of Political Theory from Plato to Marx

TIME THREE HOURS

Maximum Marks—100

Attempt any four questions

All questions are of equal marks

कोई से चार प्रश्न कीजिये ।

सबके भंड समान है ।

1. Comment on any two of the following statements —

(a) 'History leads the wise and drags the fool'—(Hegel)

(b) 'Green is more of an Aristotelian than a Platonist, and more a Kantian than a Hegelian'—(Barker)

(c) 'Marx found Communism a chaos and left it a movement'—(Laski)

(d) 'Mill had departed fundamentally from Bentham's premises and his theory of the state'—(Doyle)

[Turn over]

निम्न कथनों में से निम्नही दो की व्याख्या कीजिये :—

(अ) ' इतिहास बुद्धिवादी का पक्षप्रदर्शन करता है तथा सूची को पसीछता है '—हीगन ।

(ब) ' जीन 'फैटोबादी होने की अपेक्षा अस्त्यवादी अधिक है और हीगनबादी होने की अपेक्षा काम्यवादी अधिक है '— वाकर ।

(स) ' मानस ने साम्प्रदाय की असम्भव विपत्ति में पाया तथा उसे एक आन्दोलन का रूप प्रदान किया '—लाररी ।

(द) ' विन नीतिक रूप से रोमन के गृहीपात्र (Patriarch) और उसके राज्य के सिद्धान्त से विभिन्न हो गया था '—हाम्ल ।

2. ' Hobbes begins as an individualist but ends as an absolutist '—Discuss

' हाम्ल एक व्यक्तिवादी के रूप में आरम्भ करता है किन्तु निरंकुशवादी के रूप में समाप्त करता है । '—विवेचना कीजिये ।

3. ' Burke's political philosophy is a unique combination of liberalism and conservatism '—Discuss.

' बर्क का राजनीतिक दर्शन उदारवाद तथा कटिवाद का विभिन्न मिश्रण है । '—विवेचना कीजिये ।

4. What did Montesquieu mean by the ' Spirit of the Laws ' ? Why is he known as Aristotle of 18th century ?

मण्टेस्क्यू का ' स्पिरिट ऑफ लॉस ' से क्या आशय था ? 'उसे 18 वीं सताब्दी का अरस्तू क्यों कहा जाता है ?

5. ' In all the philosophical writings of Hume none of his ideas is so profoundly original and exceedingly interesting as his doctrine of philosopher-king. '—Discuss

' हीगो की समस्त दार्शनिक रचनाओं में इसका अधिक महत्त्व नीतिक तथा अत्यधिक गृहस्थीय अन्य कोई विद्वान् नहीं है किन्तु कि राजनीतिक रचना का । '—विवेचना कीजिये ।

6. ' Bodin represents the beginning of modern political thought much better than does Machiavelli '—(W T Jones) Justify the truth of the statements

' आधुनिक राजनीतिक चिन्तन की शुरुआत का प्रतिनिधित्व मैकिावेली की अपेक्षा बोटी ड्राफ अधिक सुन्दर रूप से करता है '—(डब्लू टी जोन्स) । इस कथन की समझता स्पष्ट कीजिये ।

7. Why is Marquis of Padua regarded as the greatest political thinker in Europe after the death of Aristotle?

मार्क्विनो आफ पैदुआ की अरस्तू की मृत्यु के पश्चात् बोटीफ का सबसे बड़ा राजनीतिक चिन्तक क्यों कहा जाता है ?

8. ' Marxism has gone out of date '—Discuss

' मार्क्सवाद अब पुराना पद चुका है । '—विवेचना कीजिये ।

9. ' Green (T H) is an idealist but he can also be hailed as an individualist '—Examine the veracity of the statement

10. Explain in brief the following statements —

(a) ' Hegel is the father of totalitarian ideologies '

(b) ' Aristotle's best state is Plato's second best state '

निम्न कथनों की व्याख्या कीजिये :—

(अ) ' हीगल सार्वजनिककारी सिद्धान्तों का पिता है । '

(ब) ' अरस्तू का आदर्श राज्य प्लेटो का उच्च आदर्श राज्य है । '